

ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

SANTINIKETAN
VISWA BHARATI
LIBRARY

46

D491

144715

ॐ

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क १७]

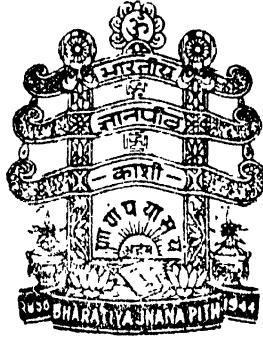
पूज्यपाददेवनन्दिविरचितं

जैनेन्द्रव्याकरणम्

तस्य टीका

आचार्य-अभयनन्दिप्रणीता

जैनेन्द्रमहावृत्तिः



सम्पादक

पण्डित शम्भुनाथ त्रिपाठी, व्याकरणाचार्य, सप्ततीर्थ

सहायक

पण्डित महादेव चतुर्वेदी, व्याकरणशास्त्राचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ कशी

प्रथम आवृत्ति
६०० प्रति

मार्गशीर्ष वीर नि० सं० २४८३

वि० सं० २०१३

नवम्बर १९५६

मूल्य १५ रु०

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिनारायणदजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

संस्कृत ग्रन्थाङ्क १७

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय,

एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ

दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

मुद्रकः—शारदासुदण तथा संसार प्रेम, बनारस।

स्थापनाब्द
फाल्गुन कृष्ण ९
वीर नि० २४७०

सर्वाधिकार सुरक्षित

विक्रम सं० २०००
१८ फरवरी सन् १९४४



स्वर्गीय मुनिदेवी, मातेश्वरी साहू शान्तिपम्पार जैन

JNANAPITHA MURTIDEVI JAINA GRANTHAMALA

SAMSKRIT GRANTHA NO. 17

JAINENDRA VYĀKARANAM

BY

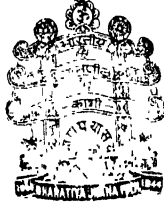
PUJYAPĀDA DEVANANDI

WITH

JAINENDRA MAHĀVRITTI

OF

SHRI ABHAYANANDI



Editor

Pandit SHAMBHU NATH TRIPATHI, *Vyakaranacharya*

Assistant

Pandit, MAHADEO CHATURVEDI, *Vyakaranashastracharya*

Published By

BHĀRATĪYA JNĀNAPĪTHA KĀSHĪ

First Edition }
600 Copies. }

MARGSHIRSHA, VIR SAMVAT 2483
VIKRAMA SAMVAT 2013
NOVEMBER 1956

{ *Price*
{ *Rs. 15/-*

BHĀRĀTIYĀ JÑĀNA-PĪTHA KĀSHĪ

FOUNDED BY.

SETH SHĀNTI PRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

**BHĀRĀTIYĀ JÑĀNA-PĪTHA MŪRTI DEVĪ
JAIN GRANTHAMĀLĀ**

SAMSKRIT GRANTHA NO. 17

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC PHILOSOPHICAL,
PAURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS
AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAMSHA, HINDI,
KANNADA AND TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN
THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT
SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED

General Editors

Dr. Hiralal Jain M. A., D. Litt.
Dr. A.N. Upadhye M.A., D. Litt

Publisher

AYODHYA PRASAD GOYALIYA
Secy., BHARATIYA JNANAPITHA
DURGAKUND ROAD, BANARAS

Founded on
Phalguna Krishna 9.
Vira Sam. 2470

All Rights Reserved.

Vikrama Samavat 2000
18 Febr. 1944

सम्पादकीय

जैन साहित्य जिस प्रकार साहित्यकी अन्य विविध धाराओंसे परिपुष्ट है, उसी प्रकार उसमें वैज्ञानिक व शास्त्रीय साहित्यकी भी कमी नहीं है। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, गणित आदि विषयोंपर अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थ पाये जाते हैं जो भारतीय साहित्यके अभिन्न अंग हैं और जिनका अध्ययन किये बिना किसी भी विषयका ज्ञान परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। किन्तु दुर्भाग्यतः वह सब साहित्य अभी तक भी सुप्रकाशित व सुलभ नहीं किया जा सका। इस दिशामें भारतीय ज्ञानपीठ जो प्रयत्न कर रहा है वह स्तुत्य है।

भारतीय व्याकरण शास्त्रमें जैनेन्द्र व्याकरणका एक प्रमुख स्थान है। जैन साहित्यमें तो इसकी ख्याति है ही, किन्तु अन्य मतावलम्बी शास्त्रकारोंने भी उसका उल्लेख, शाकटायन और पाणिनि जैसे अति-प्राचीन और सुविख्यात व्याकरणोंके साथ-साथ किया है। इसकी दो सूत्र-परम्पराएँ पाई जाती हैं और उसपर बारह महस्र श्लोक प्रमाण महावृत्ति भी उपलब्ध है। किन्तु यह इतिहास-प्रसिद्ध व्याकरण अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हो सका। लगभग चालीस वर्ष पूर्व काशीसे इसका एक संस्करण निकला था जिसमें इसके पाँच अध्यायोंमेंसे केवल तीन अध्याय ही प्रकाशित हुए थे। बहुत कालसे वह संस्करण भी अप्राप्य है। इस प्रकार जिज्ञासु संसार इस ग्रन्थकी परिपूर्ण आवृत्तिके लिए दीर्घकालसे तृषातुर हो रहा था। हर्षका विषय है कि इस महान् त्रुटिकी प्रस्तुत संस्करण द्वारा भले प्रकार पूर्ति हो रही है। इसमें पाठ-संशोधनार्थ काशी और पूनासे प्राप्त अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका उपयोग किया गया है और अभयनन्दि कृत पूरी महावृत्ति भी सम्मिलित है।

इस व्याकरणके सम्बन्धमें समस्त ज्ञातव्य विषयोंका परिचय इसके साथ प्रकाशित श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीके लेख एवं विद्वद्दर डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवालकी भूमिकामें आ गया है। प्रेमीजीका लेख मूलतः बहुत पहले, जब वह काशीका प्रथम संस्करण निकला था तब ही (सन् १९२१ में) लिखा गया था। इसका संशोधित रूप सन् १९४२ में उनके 'जैन साहित्य और इतिहास' शीर्षक संकलनमें प्रकाशित हुआ था। जिसका द्वितीय संस्करण सन् १९५६ में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत लेखमें इस समय तक इस ग्रन्थ व ग्रन्थकर्ताके विषयमें जो कुछ ऐतिहासिक बातें ज्ञात हो चुकी हैं उनका निर्देश आ गया है। डॉ० अग्रवाल जी व्याकरणशास्त्रके, विशेषतः उसके ऐतिहासिक पक्षके, प्रकाण्ड पण्डित हैं, जिसका प्रमाण उनका 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ विद्यमान है। उन्होंने जैनेन्द्रमहावृत्तिके सूत्रों और उनकी महावृत्तिका सूक्ष्म आलोडन करके जो अनेक ऐतिहासिक तथ्य-रत्नोंका आविष्कार किया है वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी ओर हम पाठकोंका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित करना चाहते हैं।

हीरालाल जैन
आ० ने० उपाध्ये

ग्रन्थ-लागत

८७५-॥ कागज़ २२ x २९ - २८ पौण्ड
४३ रीम १५ जिस्ता १० शॉट
१८२६) छपाई ७०॥ फार्म
५४०) जिल्द बँधाई
३२३) कवर कागज़
२८) कवर छपाई

३६७१३) सम्पादन
२००) कार्यालय-व्यवस्था
७५०) भेंट आलोचना
४००) प्रूफ-संशोधन
७५) पोस्टेज ग्रन्थ भेंट भेजनेका
३५५०) कमीशन, विज्ञापन, बिक्री-व्यय आदि

कुल लागत ११९४७॥

६०० प्रति छपीं • लागत मूल्य १९॥३॥ • मूल्य १५)

प्रति-परिचय

‘मु०’ प्रति

यह प्रति सरस्वतीभवन, काशीसे प्रकाशित हुई है। इसमें अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तक ही लूपे हैं।

‘अ०’ प्रति

यह भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनाकी प्रति है। इसमें पत्र संख्या ४०२, पङ्क्ति प्रति पृष्ठ १५ और अक्षर प्रति पङ्क्ति लगभग ४६ हैं। साहज साँची सुपर रायल। पुस्तकके अन्तमें लेखनकाल तथा लेखक आदिका नाम निम्न प्रकार है—

“फागणमासे शुक्लपक्षे तिथौ ३ बुधवासरे संवत् १८८३ का। लीखकृतं माहृतमा पनालाल वासी सवाई जयपुरका। लिखी आगरा मध्ये। लिपायतं चम्पारामजी पुस्तक मथुराको।”

‘ब०’ प्रति

यह श्रीस्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय काशीकी प्रति है। इसमें कुल पत्र ४०३ हैं, प्रत्येक पृष्ठमें १० पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ३२ अक्षर हैं। प्रति पूर्ण है। पुस्तकके अन्तमें समय आदिका निर्देश निम्न प्रकार है—

“अथ संवत्सरस्मिन् विक्रमांकसमयातीत् सं० १९२६ वर्षे श्री मच्छालिवाहन शाके १६६४ प्रवर्तमाने उत्तरायने वशंतर्तौ [?] आपादमासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ शुक्रवासरे समासमिति।.....ऐन्द्रपुरी नगरमध्ये।”

‘स०’ प्रति

यह भी श्रीस्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय काशीकी ही प्रति है। इसमें पत्र संख्या ३९४ है। पत्र संख्या १ से २७० तक प्रतिपृष्ठ १३ या १४ पंक्तियाँ और प्रति पङ्क्ति लगभग २५ अक्षर है। उसके आगेके पत्र दूसरे लेखकके लिखे हुए प्रतीत होते हैं जिनमें प्रत्येक पृष्ठमें १६ पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ३४ अक्षर हैं। प्रति सुवाच्य तथा प्रायः शुद्ध है किन्तु इसके ३५० से ३६२ तक पत्र नहीं हैं। यह प्रति अध्याय ५ पाद १ सूत्र ३४ में जाकर समाप्त हो जाती है। इससे आगेके पत्र नष्ट प्रतीत होते हैं।

‘द०’ प्रति

यह प्रति भी श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय काशीकी है। इसके २७५ पत्रोंमें अध्याय ४ पाद १ सूत्र १२५ तककी वृत्ति उपलब्ध है। इसके प्रारम्भके ४९ पत्रोंमें प्रतिपृष्ठ ११ पङ्क्तियाँ तथा प्रतिपङ्क्ति लगभग ३८ अक्षर हैं तथा उसके आगे पत्र संख्या ५० से २७५ तक प्रति पृष्ठ १२ पंक्तियाँ तथा प्रतिपङ्क्ति लगभग ४६ अक्षर हैं।

‘पू०’ प्रति

यह प्रति भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनाकी है। यह दो भागोंमें विभक्त है। प्रथम भागमें पत्र संख्या १ से ३१४ तक तथा दूसरेमें १ से ७४ तक है। इसके प्रत्येक पृष्ठमें १४ पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ४२ अक्षर हैं। दूसरे भागमें चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादका कुछ अन्तिम भाग तथा पञ्चम अध्याय पूर्ण है। लेखन काल आदिका परिचय लेखकके शब्दोंमें निम्नप्रकार है—

“पंडित जन सु बिनती है परोक्ष मम एह।

हीनाधिक लखि सोधियो हंसियो मति धरि नेह ॥

मिति चैत्र-शुक्ल २ भौमवासरे शुभ सम्वत् १९३३ का।”

इन सभी प्रतिवोंमें अध्याय ४ पाद ३ से पञ्चम अध्यायके अन्त तक बीच बीचमें कुछ सूत्रोंकी वृत्ति नहीं लिखी गई है जो यत्न करनेपर भी उपलब्ध न हो सकी और इसीलिए जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीके आधारसे सूत्र-क्रममें केवल सूत्रमात्रका निर्देश कर दिया गया है।

भूमिका

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

भारतवर्षमें व्याकरणशास्त्रका अध्ययन लगभग तीन सहस्र वर्षसे चला आ रहा है। भाषाके शुद्ध ज्ञानके लिए व्याकरणका महत्त्व सर्व सम्मतिसे स्वीकृत हुआ, अतएव व्याकरणको 'उत्तरा विद्या' अर्थात् अन्य विद्याओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कोटिमें माना गया। किसी भी भाषाके इतिहासमें धातु और प्रत्ययोंकी पहचान उस गौरवपूर्ण स्थितिकी सूचक है जिसमें सूक्ष्म दृष्टिसे भाषाके आन्तरिक संगठनका विवेक कर लिया जाता है, और शब्दोंकी उत्पत्ति और निर्माणकी जो प्राणवन्त प्रक्रिया है उसके रहस्यको आत्मसात् कर लिया जाता है। यों तो सभी मनुष्य अपनी अपनी मातृभाषामें बोलकर अपना अभिप्राय प्रकट कर लेते हैं; किन्तु व्याकरणकी प्रक्रियाका जन्म उस राजपथका निर्माण है जिसपर चलकर निर्भय भावसे हम भाषाके विस्तृत साम्राज्यमें जहाँ चाहें पहुँच सकते हैं और शब्दोंमें भावप्रकाशनकी जो अपरिमित क्षमता है उसको भी प्राप्त कर सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणोंने संसारमें सर्वप्रथम इस प्रकारका महनीय कार्य किया। शब्दोंके विभिन्न रूपोंके भीतर जो एक मूल संज्ञा या धातु निहित रहती है उसके स्वरूपका निश्चय और प्रत्यय जोड़कर उससे बननेवाले क्रिया और संज्ञा रूपी अनेक शब्दोंकी रचना एवं प्रत्ययोंके अर्थोंका निश्चय—इस प्रकारके विविध विचारकी पद्धतिका जिस शास्त्रमें आरम्भ और विकास हुआ उसे शब्दविद्या या व्याकरणशास्त्र कहा गया।

संस्कृत साहित्यमें पाणिनिकी अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्रका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन है। उसके लगभग चार सहस्र सूत्रोंमें लौकिक और वैदिक संस्कृतका जैसा अद्भुत विचार किया गया है, वह विलक्षण है। पाणिनिने संस्कृत व्याकरणका जो स्वरूप स्थिर किया उसीका विकास अनेक वृत्ति, वार्तिक, भाष्य, न्यास, टीका, प्रक्रिया आदिके रूपमें लगभग इस शती तक होता आया है। किन्तु पाणिनिके अतिरिक्त, पर मुख्यतः उन्हींकी निर्धारित पद्धतिसे और भी व्याकरण-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। इस विषयमें एक प्राचीन श्लोक ध्यान देने योग्य है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥

यह श्लोक मुग्धबोधके कर्ता पं० नोपदेवका कहा जाता है। इस सूचीमें वैयाकरणोंकी दो कोटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। पहली कोटिमें इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न और पाणिनि, ये पाँच प्राचीन वैयाकरण थे। दूसरी कोटिमें अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र इन नवीन शाब्दिकोंकी गणना है। पाणिनीय सूत्र 'ऋतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' [१।२।६०] के एक वार्तिकपर काशिकामें 'पञ्चव्याकरणः' यह उदाहरण पाया जाता है; इसका अर्थ था पाँच व्याकरणोंका अध्ययन करनेवाला या जाननेवाला विद्वान् [तदधीते तद्वेद]। इसमें जिन पाँच व्याकरणोंका एक साथ उल्लेख है, वे यही पाँच प्राचीन व्याकरण होने चाहिए जिनकी सूची मुग्धबोधके इस श्लोकमें है। इसपर सूक्ष्म विचार करनेसे यह तथ्य सामने आता है कि पाणिनिसे पूर्वकालमें व्याकरणका अध्ययन-अध्यापन व्यापक रूपसे हो रहा था, जैसा कि पाणिनीय व्याकरणके इतिहाससे ज्ञात होता है। प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायीमें लगभग ६४ आचार्योंके नाम आये हैं जिन्होंने शब्द-शास्त्रके सम्बन्धमें उस प्राचीनकालमें उहापोह किया था। इनमेंसे इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि और काशकृत्स्नके व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु पाणिनिसे पहले वे अवश्य विद्यमान थे। ज्ञात

होता है कि उन प्राचीन व्याकरणोंकी अधिकांश सामग्रीके आधारपर एवं स्वतः अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा लोकसे शब्द-सामग्रीका संग्रह करके पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीका निर्माण किया। वह शास्त्र लोकमें इतना महान् और सुविहित समझा गया [पाणिनीयं महत् सुविहितम्, भाष्य ४।३।६६] कि पाणिनिके उत्तर कालमें नये व्याकरणोंकी रचनाका क्रम एक प्रकारसे बन्द सा हो गया। उसके बाद व्याकरणका परिष्कार केवल वार्तिक, भाष्य और वृत्तियों द्वारा चलता रहा। कात्यायन जैसे प्रखर बुद्धिशाली आचार्यने पाणिनि व्याकरणपर लगभग सवा चार सहस्र वार्तिकोंकी रचना करके उस महान् शास्त्रके प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त की, पर कोई स्वतन्त्र व्याकरण रचनेका उपक्रम नहीं किया। इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलिका महाभाष्य भी पाणिनीय व्याकरणकी सोमाके भीतर एक अद्भुत प्रयत्न था। पाणिनि लगभग पाँचवीं शती विक्रम पूर्वमें नन्द राजाओंके समयमें हुए थे। यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्यपर आश्रित जान पड़ती है जैसा कि हमने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक ग्रन्थमें प्रदर्शित किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि पाणिनिके बाद लगभग एक सहस्र वर्षतक नूतन व्याकरणकी रचनाका प्रयत्न नहीं किया गया।

भारतीय साहित्यिक इतिहासका यह सुविदित तथ्य है कि कुषाण कालके लगभग संस्कृत भाषाको पुनः सार्वजनिक रूपमें साहित्यिक भाषा और राजभाषाका पद प्राप्त हुआ। कनिष्कके समयमें अश्वघोषके काव्योंकी रचना और रुद्रदामाके जूनागढ़ लेखसे यह स्पष्ट विदित होता है। वस्तुतः इस समय भाषाके क्षेत्रमें जो क्रान्ति घटित हुई उसका ठीक स्वरूप कुछ इस प्रकार था—ब्राह्मण साहित्यमें तो संस्कृत भाषाकी परम्परा सदासे अक्षुण्ण थी ही, पर उसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन आचार्योंने भी संस्कृत भाषाको उन्मुक्त भावसे अपना लिया और उसके अध्ययनसे दोनोंने अपने अपने क्षेत्रमें विपुल साहित्यका निर्माण किया जिसमें किसी समय सहस्रों ग्रन्थ थे। कुषाण कालसे जो भाषा सम्बन्धी नया परिवर्तन आरम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर सबल होता गया, यहाँ तक कि लगभग चौथी-पाँचवीं शती ईस्वीमें संस्कृत भाषाको न केवल भारतवर्षमें अखण्ड राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, वरञ्च मध्य एशियासे लेकर हिन्द एशिया या द्वीपान्तर तकके देशोंमें पारस्परिक व्यवहारके लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बन गई।

इस पृष्ठभूमिमें शब्दविद्याका पुनः वह छूटा हुआ सूत्र आरम्भ हुआ और नये व्याकरणशास्त्र लिखे जाने लगे। स्वयं पाणिनीय व्याकरणों पर वामन जयादित्य कृत काशिका वृत्ति और जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यासकी रचना हुई। यह टीकाके मार्गसे प्राचीन व्याकरणका ही विशदीकरण था; किन्तु बौद्ध और जैन जो दो बड़े समुदाय संस्कृत भाषाकी नई शक्तिसे परिचित हो रहे थे, उन्होंने अपने अपने क्षेत्रमें दो नये व्याकरणोंका निर्माण किया। बौद्धोंमें आचार्य चन्द्रगोमी कृत चान्द्र व्याकरण और जैनोंमें आचार्य देवन्दी पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण गुप्त युगमें अस्तित्वमें आये। ज्ञात होता है कि दोनोंकी ही रचना लगभग ५ वीं शती ईस्वीके उत्तरार्धमें हुई। चान्द्र व्याकरणकी स्वोपज्ञ वृत्ति में 'अजयद् जर्तो हूणान्' [१।२।८१] उदाहरणसे सिद्ध है कि पाँचवीं शतीके मध्यमें स्कन्दगुप्तने हूणोंपर जो बड़ी विजय प्राप्त की थी उसकी समकालीन स्मृति इस उदाहरणमें अवशिष्ट है। इससे चान्द्रव्याकरणके रचनाकाल पर प्रकाश पड़ता है। पूज्यपाद देवन्दीने दो सूत्रोंमें प्रसिद्ध आचार्य, सिद्धसेन [वेत्तेः सिद्धसेनस्य, ५।१।७] और समन्तभद्र 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' [५।४।१४०] का उल्लेख किया है, ये दोनों देवन्दीसे कुछ समय पूर्व हो चुके थे। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकरका समय भी सर्वथा निश्चित नहीं है; किन्तु अनुश्रुतिके अनुसार उन्हें विक्रमादित्यका समकालीन माना जाता है। विक्रमके नवरत्नोंकी सूचीमें जिस क्षणकका उल्लेख है उन्हें विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर ही मानते हैं। श्री राइसेने सिद्धसेनका समय पाँचवीं शतीके मध्यभागमें माना है; किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य [३७५-४१३] और सिद्धसेनकी समसामयिकताका आधार यदि सत्य हो तो सिद्धसेनको चौथी शतीके अन्तमें मानना ठीक होगा। लगभग यही समय समन्तभद्रका होना चाहिए। श्री प्रेमीजीने अपने पाण्डित्यपूर्ण लेखमें देवन्दीके

समयके विषयमें जो प्रमाण संगृहीत किये हैं उनकी सम्मिलित साक्षीसे भी यही सूचित होता है कि आचार्य देवनन्दी लगभग पाँचवीं शतीके अन्तमें हुए हैं। इस सम्बन्धमें एक विशेष प्रमाणकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसके अनुसार संवत् ६६० में बने हुए दर्शनसार नामक प्राकृत ग्रन्थमें कहा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने दक्षिण मधुरामें ५२६ विक्रमीमें [४६६ ई०] द्राविड़ संघकी स्थापना की। इससे भी पूज्यपादका समय ५ वीं शतीके उत्तरार्धमें सिद्ध होता है। इसीका समर्थन करनेवाला एक अन्य प्रमाण है—कर्नाटक-कविचरित्र के अनुसार गंगवंशीय राजा अविनीत [वि० सं० ५२३] के पुत्र दुर्विनीत [वि० सं० ५३८, ईस्वी ४८१] आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे; अतएव पूज्यपाद ५ वीं शतीके उत्तरार्धके सिद्ध होते हैं। महाराज पृथिवीकोंकणके दानपत्रमें लिखा है—श्रीमत्कोंकणमहाराजाधिराजस्याविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतानिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपंचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन...; अर्थात् अविनीतके पुत्र दुर्विनीतने शब्दावतारनामक ग्रन्थकी रचना की थी। जैसे प्रेमीजीने लिखा है शिमोगा जिलेकी नगर तहसीलके शिलालेखमें देवनन्दीको पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यासका कर्ता लिखा है। अनुमान होता है कि दुर्विनीतके गुरु पूज्यपादने वह ग्रन्थ रचकर अपने शिष्यके नामसे प्रचारित किया था।

जैनेन्द्र व्याकरण उस शृंखलाकी पहली कड़ी है जिसमें गुप्तकालसे लेकर मध्यकाल तक उत्तरोत्तर नये नये व्याकरणोंकी रचना होती चली गई। जैनेन्द्र [पांचवीं शती], चन्द्र [पांचवीं शती], शाकटायन [नवमी शती का पूर्वार्द्ध], सरस्वतीकण्ठाभरण [ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध] और प्रसिद्ध हैमशब्दानुशासन [बारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध] इन सबने उन्मुक्त मनसे और अत्यन्त सौहार्द भावसे पाणिनीय व्याकरणकी मूल सामग्रीका अवलम्बन लिया। इनमें भी जैनेन्द्र-व्याकरणने भोजके सरस्वतीकण्ठाभरणको छोड़ कर अपने आपको पाणिनीय सूत्रोंके सबसे निकट रखा है। किसी भी प्रकरणके अध्ययनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनेन्द्रने पाणिनि सामग्रीकी प्रायः अविकल रक्षा की है। केवल स्वर और वैदिक प्रकरणोंको अपने युगके लिए आवश्यक न जानकर उन्होंने छोड़ दिया था। जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताने पाणिनीय गणपाठकी बहुत सावधानीसे रक्षा की थी। मूल व्याकरणमें पाणिनिके गणसूत्रोंको प्रायः स्वीकार किया गया है। यद्यपि वैदिक शाखाओंवाले और गोत्र सम्बन्धी गणोंसे सिद्ध होनेवाले नामोंका जैन साहित्यके लिए उतना उपयोग न था, किन्तु जिस समय इस व्याकरणकी रचना हुई उस समय भाषाके विषयमें लोककी चेतना अत्यन्त स्वच्छ और उदार भावसे युक्त थी; अतएव जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रवृत्ति पाणिनि सामग्रीके निराकरणमें नहीं, वरन् उसके अधिकसे अधिक संरक्षणमें देखी जाती है। जैनेन्द्र व्याकरणके साथ उसका अलग गणपाठ किसी समय अवश्य ही रहा होगा, यद्यपि अब वह पृथक् रूपसे उपलब्ध न होकर अभयनन्दी कृत महावृत्तिके अन्तर्गत ही सुरक्षित है। कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यकी इष्टियोंमें जो नये नये रूप सिद्ध किये गये थे उन्हें देवनन्दीने सूत्रोंमें अपना लिया है; इस लिए भी यह व्याकरण अपने समयमें विशेष लोकप्रिय हुआ होगा। यह प्रवृत्ति काशिकामें भी किसी अंशमें आ गई थी और चन्द्र आदि व्याकरणोंमें भी बराबर पाई जाती है।

जैनेन्द्र व्याकरणके दो सूत्रपाठोंकी परम्परा इस समय पाई जाती है—एकमें तीन सहस्र सूत्र हैं; दूसरेमें लगभग ७०० सूत्र अधिक हैं। इस विषयमें श्रीप्रेमीजीका निष्कर्ष यथार्थ है कि मूल जैनेन्द्र सूत्रपाठकी संख्या ३ सहस्र ही थी जिसपर अभयनन्दीकी टीका पाई जाती है।

अभयनन्दी कृत महावृत्ति लगभग १२ सहस्र श्लोक परिमाणका बड़ा ग्रन्थ है। कश्मीर १६१८०में इसके प्रथम ३ अध्यायोंका एक संस्करण प्रकाशित हुआ था। किन्तु वह केवल एक प्रतिके आधारपर तैयार किया गया था, अतएव इस बातकी बहुत आवश्यकता थी कि सम्पूर्ण जैनेन्द्र व्याकरण तथा उसकी महावृत्तिका एक संशोधित संस्करण प्रकाशित किया जाय। हर्षकी बात है कि भारतीय ज्ञानपीठके सत्ययत्नसे इस मूल्यवान् ग्रन्थका यह संशोधित संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है जिसके तैयार करनेमें पूनाके भण्डारकर ओरिएण्टल इंस्टीट्यूटमें सुरक्षित प्रतियोंका और काशीमें ही प्राप्त ३ प्रतियोंका उपयोग किया गया है। आशा है, व्याकरण-

शास्त्रके तुलनात्मक अध्ययनके लिए जैनेन्द्रका यह वर्तमान संस्करण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, विशेषतः गणपाठसे तुलनात्मक अध्ययनके लिए इस संस्करणका विशेष उपयोग हो सकेगा।

आचार्य अभयनन्दीकी महावृत्ति लगभग काशिकाके समान ही बृहत् ग्रन्थ है। इसके कर्ताने काव्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यसे बहुत अधिक उपादेय सामग्रीका अपने ग्रन्थमें संकलन कर लिया है। महावृत्तिकाल आठवीं शताब्दीका प्रारम्भ माना जाता है और सम्भावना ऐसी है कि अभयनन्दीने काशिका वृत्तिका उपयोग किया था। वस्तुतः किसी भी पाठकसे यह तथ्य छिपा नहीं रह सकता कि अष्टाध्यायी और काशिकाका ही रूपान्तर जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी और उसकी महावृत्तिमें प्राप्त होता है। फिर भी काशिका और महावृत्तिकी सूक्ष्म तुलना करनेपर यह प्रकट हो जाता है कि अभयनन्दीने कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जो काशिकामें उपलब्ध नहीं होते और फलस्वरूप ऐसी सामग्रीकी रक्षा की है जो काशिकासे प्राप्त नहीं हो सकती। उन्होंने जहाँ सम्भव हो सके वहाँ जैन तीर्थङ्करोंके, महापुरुषोंके, या ग्रन्थोंके नाम उदाहरणोंमें डाल दिये हैं। जैसे, सूत्र १।४।१५ के उदाहरणमें 'अनु शालिभद्रम् आख्याः, अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः; सूत्र १।४।१६ के उदाहरणमें 'उपसिंहनन्दिनं कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः'; सूत्र १।४।२० की वृत्तिमें 'आकुमारेश्यो यशः समन्तभद्रस्य'; सूत्र १।४।२२ की टीकामें 'अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति'; सूत्र २।१।६८ की टीकामें 'भरतगृह्याः, भुजबलिगृह्याः'; सूत्र १।३।१० की वृत्तिमें 'आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य' ऐसे उदाहरण हैं जो वृत्तिकारने मूलग्रन्थके अनुकूल जैन वातावरणका निर्माण करनेके लिए अपनी प्रतिभासे बनाये हैं। सूत्र १।३।५ की वृत्तिमें 'प्राभृतपर्यन्तमधीते' उदाहरण महत्वपूर्ण है, उसीके साथ 'सबन्धम्, सटीकम् अधीते' भी ध्यान देने योग्य हैं। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृतसे तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृतसे था जिसके रचयिता आ० पुष्यदन्त तथा भूतबलि मनि जाते हैं [प्रथम-द्वितीय शती]। इसीका दूसरा नाम पट् खण्डागम प्रसिद्ध है। इसीका भागविशेष 'बन्ध' या महाबन्ध [महाधवल सिद्धान्तशास्त्र] था जिसके अध्ययनसे यहाँ अभयनन्दीका तात्पर्य ज्ञात होता है; अर्थात् उस समय भी विद्वानोंमें प्राभृत या पट् खण्डागमसे पृथक् महाबन्धका अस्तित्व था और दोनोंका अध्ययन जीवनका आदर्श माना जाता था। 'सटीकमधीते' में जिस टीकाका उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेनने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतारके अनुसार महाकर्मप्राभृतपर आचार्य कुन्दकुन्दने भी एक बड़ी प्राकृत टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। संभवतः वही टीका प्राभृत और बन्धके साथ पढ़ी जाती थी। इनके स्थान पर पाणिनि सूत्रके उदाहरणोंमें किसी समय इष्टि, पशुबन्ध, अग्नि, रहस्य नामक शतपथ ब्राह्मणके तत्त्वं काण्डोंका अध्ययन विद्याका आदर्श माना जाता था। देवनन्दीने सूत्र १।४।३४ में जिन श्रीदत्त आचार्यका उल्लेख किया है उन्हें कुछ विद्वान् काल्पनिक समझते हैं, परन्तु अभयनन्दीकी महावृत्तिसे सूचित होता है कि श्रीदत्त कोई अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनका लोकमें प्रमाण माना जाता है। 'इतिश्रीदत्तम्', यह प्रयोग 'इतिपाणिनि' के सदृश लोकप्रसिद्ध था। इसी प्रकार 'तच्छ्रीदत्तम्', 'अहोश्रीदत्तम्' प्रयोग भी श्रीदत्तकी लोकप्रियता और प्रामाणिकता अभिव्यक्त करते हैं [श्रीदत्तशब्दो लोके प्रकाशते; महावृत्ति १।३।५]। सूत्र ३।३।७६ पर 'तेन प्रोक्तम्' के उदाहरणमें अभयनन्दीने श्रीदत्तके विरचित ग्रन्थको श्रीदत्तीयम् कहा है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीदत्तका बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था। सूत्र १।४।४ की वृत्तिमें 'शरदं मथुरा रमणीया, मासं कल्याणी काञ्ची' ये दोनों उदाहरण अभयनन्दीकी मौलिकता सूचित करते हैं। पाणिनि सूत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' [२।३।५] की काशिका वृत्तिमें 'मासं कल्याणी' उदाहरण तो है किन्तु 'मासं कल्याणी काञ्ची' यह ऐतिहासिक सूचना अभयनन्दीने किसी विशेष स्रोतसे प्राप्त की थी। जिस काञ्चीपुरीके मासव्यापी उत्सवोंकी विशेष शोभाकी ओर इस उदाहरणमें संकेत है वह महेन्द्रवर्मन्, नरसिंह वर्मन् आदि पल्लवनरेशोंकी राजधानीके सम्बन्धमें होना चाहिए। अतएव सप्तम शतीसे पूर्व यह उदाहरण भाषामें उत्पन्न न हुआ होगा। सूत्र ४।३।११४ की वृत्तिमें अभयनन्दीने माघके 'सटाछटाभिन्नघनेन विभ्रता...' श्लोकका उद्धरण दिया है। माघके दादा सुप्रभदेव वर्मलातके मंत्री

ये जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है। अतएव माघका समय सप्तम शतीका उत्तरार्ध होना चाहिए। उसके बाद ही अभयनन्दीने महावृत्तिका निर्माण किया होगा। सूत्र १।४।६९ पर 'चन्द्रगुप्तसभा' उदाहरण तो पाणिनीय परम्परामें प्राप्त होता है किन्तु उसके साथ काशिकामें जो 'पुष्यमित्रसभा' दूसरा उदाहरण है उसकी जगह महावृत्तिकारने 'सातवाहनसभा' उदाहरण रक्खा है। उसी प्रकार काशिकामें [१।४।२३] में केवल 'काष्ठसभा' उदाहरण है, किन्तु अभयनन्दीने 'पाषाणसभा और पक्वेष्टकासभा' ये दो अतिरिक्त उदाहरण दिये हैं। कहीं-कहीं अभयनन्दीने काशिकाकी अपेक्षा भाष्यके उदाहरणोंको स्वीकार किया है। जैसे सूत्र १।४।१३७ में 'औद्दालकः पिता, औद्दालकायनः पुत्रः' यह भाष्यका उदाहरण था, जिसे बदलकर काशिकाने अपने समयके अनुकूल 'अर्जुनिः पिता, अर्जुनायनः पुत्रः' [काशिका २।४।६६] यह उदाहरण कर दिया था। 'अर्जुनायन' काशिकाकारके समयके अधिक सन्निकट था जैसा कि समुद्रगुप्तकी प्रयागस्तम्भ प्रशस्तिमें अर्जुनायनगणके उल्लेखसे ज्ञात होता है। कहीं-कहीं महावृत्तिमें काशिकाकी सामग्रीको स्वीकार करते हुए उससे अतिरिक्त भी उदाहरण दिये गये हैं जो सूचित करते हैं कि अभयनन्दीकी पहुँच अन्य प्राचीन वृत्तियों तक थी, जैसे सूत्र १।४।८३ की वृत्तिमें 'उद्धरोरावति' तो काशिकामें भी है किन्तु 'विपाट्-चक्रभिदम्' [विपाशा और चक्रभिद, नदीका संगम] उदाहरण नया है। ऐसे ही सूत्र २।४।२९ में मयूरिकाबन्ध, क्रौञ्चबन्ध, चक्रबन्ध, कूटबन्ध उदाहरण महावृत्ति और काशिकामें समान हैं, पर चण्डालिकाबन्ध और महिषिकबन्ध उदाहरण महावृत्तिमें नये हैं। काशिकाका मुष्टिबन्ध महावृत्तिमें दृष्टिबन्ध और चोरकबन्ध चारकबन्ध हो गया है। सूत्र १।३।३६ में भी चारकबन्ध पाठ है। सूत्र ५।४।९६ 'पानं देशे' की वृत्तिमें काशिकाके 'क्षीरपाणाः उशीनराः' को 'क्षीरपाणाः आन्ध्राः' और 'सौवीरपाणा वाह्नीकाः' को 'सौवीरपाणाः द्रविणाः' कर दिया है। 'द्रविणाः' द्रमिल या द्रमिडका रूप है। ये परिवर्तन अभयनन्दीने किसी प्राचीन वृत्तिके आधार पर या स्वयं अपनी सूचनाके आधारपर किये होंगे। आन्ध्र देशमें दूध पीनेका और तामिल देशमें काँजी पीनेका व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध रहा होगा। कहीं-कहीं महावृत्तिमें कठिन शब्दोंके नये अर्थ संग्रह करनेका प्रयास किया है इसका अच्छा उदाहरण सूत्र २।४।१६ का 'अपडक्षीण' शब्द है। पाणिनि सूत्र ५।४।७ की काशिका वृत्तिमें 'अपडक्षीणो मन्त्रः' उदाहरण है अर्थात् ऐसा मंत्र या परामर्श जो केवल राजा और मंत्रीके बीचमें हुआ हो [यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः]। 'पट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः' के अनुसार राजा और मुख्य मंत्रीकी 'चार आँखों' या 'चार कानों' से बाहर जो मन्त्र चला जाता था उसके फूट जानेकी आशंका रहती थी। अभयनन्दीने काशिकाके इस अर्थको स्वीकार तो किया है, किन्तु गौण रीतिसे। उन्होंने 'अपडक्षीणो देवदत्तः' उदाहरणको प्रधानता दी है। अर्थात् कोई देवदत्त नामका व्यक्ति जिसने अपने पिता, पितामह और पुत्रमेंसे किसीको न देखा हो। अर्थात् जो स्वयं अपने पिता पितामहकी मृत्युके बाद उत्पन्न हुआ हो और स्वयं अपने पुत्र जन्मके कुछ मास पहले गत हो गया हो। इसके अतिरिक्त गेंदको भी अपडक्षीण कहा है [येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडतः सोऽप्येवमुक्तः]। या तो ये अर्थ अभयनन्दीके समयमें लोकप्रचलित थे या उनकी कल्पना है। महावृत्तिमें 'अपडक्षीण'का एक अर्थ मछली भी किया है पर उसमें खींचतान ही जान पड़ती है। सूत्र ३।४।१३४ में 'अयानयीन' शब्दके अर्थका भी महावृत्तिमें विस्तार है।

महावृत्ति सूत्र २।२।६२ में इतिहासकी विशेष महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित रह गई है। उसमें ये दो उदाहरण आये हैं—

'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम् । अरुणद् यवनः साकेतम्'

व्याकरणकी दृष्टिसे यह आवश्यक था कि कोई ऐसा उदाहरण लिया जाता जो लोकप्रसिद्ध घटनाका सूचक हो, जो कहनेवालेके परोक्षमें घटित हुआ हो किन्तु जिसका देख सकना उसके लिए सम्भव हो अर्थात् उसके जीवन कालकी ही कोई प्रसिद्ध घटना हो, पर जिसे सम्भव होने पर भी उसने स्वयं देखा न हो। भाष्यकार पतञ्जलिने इसका उदाहरण दैते हुए अपनी समसामयिक दो घटनाओंका उल्लेख किया था—'अरुणद्

यवनः साकेतम् , अरुणद् यवनो मध्यमिकाम् ।' इनमें शाकलके यवन राजाओं द्वारा किये हुए उन दो हमलोंका उल्लेख है जिनमेंसे एक पूर्वकी और साकेत पर और दूसरा पच्छिममें मध्यमिका पर। मध्यमिका चित्तौड़के पासका वह स्थान था जिसे इस समय नगरी कहते हैं और जहाँ खुदाईमें प्राप्त पुराने सिक्कों पर मध्यमिका नाम लिखा हुआ मिला है। ये हमले किस राजाने किये थे उसका नाम पतञ्जलिने नहीं दिया, किन्तु यूनानी इतिहासलेखकोंके वर्णनसे ज्ञात होता है कि उस राजाका नाम मिनन्दर था जिसे पाली भाषामें मिलिन्द कहा गया है। उसके सिक्कों पर तत्कालीन बोलचालकी प्राकृत भाषामें उसका नाम मेनन्द्र मिलता है। महावृत्तिके 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' इस उदाहरणमें दो महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। इसमें राजाका नाम महेन्द्र दिया हुआ है, पर हमारी सम्मितमें इसका मूलपाठ 'मेनन्द्र' था। पीछेके लेखकोंने मेनन्द्र नामकी ठीक पहचान न समझ कर उसका संस्कृत रूप महेन्द्र कर डाला। इस उदाहरणसे संस्कृत साहित्यकी भारतीय साक्षी प्राप्त हो जाती है कि पूर्वकी और अभियान करनेवाले यवनराजका नाम मेनन्द्र या मिनन्दर था। यवनराज मेनन्द्रने पाटलिपुत्र पर दाँत गड़ा कर पहले घक्केमें मथुरा पर अधिकार जमाया और फिर आगे बढ़कर साकेतको छेँक लिया। साकेत पहुँचनेके लिए मथुराका जीतना आवश्यक था। अब यह सूचना पक्के रूपमें अभयनन्दीके उदाहरणसे प्राप्त हो जाती है। इससे यह भी पता लगता है कि काशिकाके अतिरिक्त भी अभयनन्दीके सामने पाणिनि व्याकरणकी ऐसी सामग्री थी जिससे उसे यह नया ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुआ। सूत्र १।३।३६ की वृत्तिमें आरण्यक पर्व १२६।८-१० का यह श्लोक पठित है—

उल्लखलैराभरणैः पिशाची यदभापत् । एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तं तु द्रक्ष्यसि ॥

काशिका २।१।४५ में यह श्लोक किन्हीं प्रतियोंमें प्रक्षिप्त और किन्हींमें मूलके अन्तर्गत माना गया है, किन्तु महावृत्तिसे सिद्ध हो जाता है कि वह काशिकाके मूलपाठका भाग था। श्लोकके उत्तरार्धमें जो 'दिवा-नृत्तं रात्रौ नृत्तं' पाठ है उसका समर्थन महाभारतकी कुछ प्रतियोंसे होता है पर कुछ अन्य प्रतियोंमें 'नृत्तं' पाठ है जैसा कि काशिकामें और महाभारतके पूना संस्करणमें भी स्वीकार किया गया है। आचार्य अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिको जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरणकी पुष्कल सामग्रीसे भर दिया है वह सर्वथा अभिनन्दनके योग्य है। आशा है जिस समय काशिकावृत्ति, अभयनन्दीकृत महावृत्ति और शाकटायन व्याकरणकी अमोघवृत्ति इन तीनोंका तुलनात्मक अध्ययन करना सम्भव होगा तो यह बात और भी स्पष्ट रूपसे जानी जा सकेगी कि प्रत्येक वृत्तिकारने परम्परासे प्राप्त सामग्रीकी कितनी अधिक रक्षा अपने अपने ग्रन्थमें की थी। यह सन्तोषका विषय है कि इन कृतियोंने सावधानीके साथ प्राचीन सामग्रीको बचा लिया।

आचार्य देवनन्दीने पाणिनीय अष्टाध्यायीको आधार मानकर उसे पञ्चाध्यायीमें परिवर्तन करते समय दो बातोंकी ओर विशेष ध्यान रखा था—एक तो धातु, प्रत्यय, प्रातिपादिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओंको भी जिनके कारण पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरणमें इतनी स्पष्टता और स्वारस्य आ सका था, इन्होंने बीजगणितके जैसे अतिसंक्षिप्त संकेतोंमें बदल दिया है जिनकी सूची परिशिष्टमें दे दी गयी है। दूसरे जितने स्वर सम्बन्धी और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्र थे उनको आ० देवनन्दीने छोड़ दिया है। किन्तु ऐसा करते हुए इन्होंने उदारतासे काम लिया है, जैसे आनाय्य, धाय्या, सानाय्य, कुण्डपाय्य, परिचाय्य, उपचाय्य, [२।१।१०४-१०५]; प्रावस्तुत् [२।२।१५६] आदि वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंको रख लिया है। इसी प्रकार सास्य देवता प्रकरण [३।२।११-२८] में शुक्र, अपोनप्तु, महेन्द्र, सोम, द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वात्तोस्पति, यहमेघ आदि गृह्यसूत्रकालीन देवताओंके नामोंको पाणिनीय प्रकरणके अनुसार ही रहने दिया है। प्रत्ययोंमें आनेवाले फ, ट, ख, छ घ और यु, वु, एवं उनके स्थानमें होनेवाले आदेशोंको भी ज्योंका त्यों रहने दिया है। [५।१।१: ५।१।२]। 'तेन प्रोक्तम्' प्रकरण [३।३।७६-८०] में वैदिक शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थोंके नाम भी ज्योंके त्यों जैनेन्द्र व्याकरणमें स्वीकृत कर लिये गये हैं। कहीं कहीं जैनेन्द्रने उन परिभाषाओंको स्वीकार किया है जो प्राक् पाणिनीय व्याकरणोंमें मान्य थीं और जिनका

उल्लेख भाष्य या वार्तिकोंमें आया है। उदाहरणके लिए जैनेन्द्र सूत्र १।३।१०५ में उत्तरपदकी वृत्तसंज्ञा मानी गई है। पतञ्जलिके महाभाष्यमें सूत्र ७।३।३ पर श्लोकवार्तिकमें घु पाठ है और वहां 'किमिदं घोरिति-उत्तर-पदस्येति' लिखा है। सूत्र ७।१।२१ के भाष्यमें अघुको अनुत्तरपदका पर्याय माना है पर कीलहार्न का सुभाष्य था कि घु का शुद्ध पाठ घु होना चाहिए। वह बात जैनेन्द्रके सूत्र १।३।१०५ 'उत्तरपदं घु' से निश्चयेन प्रमाणित हो जाती है। और अब भाष्यमें भी घु ही शुद्ध पाठ मान लेना चाहिए।

सबसे आश्चर्यकी बात यह है कि पाणिनिके 'पूर्वत्रासिद्धम्' [८।२।१] सूत्र और उससे संबंधित असिद्ध प्रकरणको भी जो पाणिनिके शास्त्रनिर्माण कौशलका अद्भुत नमूना है, जैनेन्द्र व्याकरणमें 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र [५।३।२७] में स्वीकार किया है। तदनुसार जैनेन्द्रके साढ़े चार अध्यायोंके प्रति अन्तके लगभग दो पाद असिद्ध शास्त्रके अन्तर्गत आते हैं। देवनन्दीने अपनी पञ्चाध्यायीमें पाणिनीय अष्टाध्यायीके सूत्रक्रममें कमसे कम फेरफार करके उसे जैसेका तैसा रहने दिया है। केवल सूत्रोंके शब्दोंमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके सन्तोष कर लिया है। जैनेन्द्र और पाणिनीय व्याकरणोंकी तुलनात्मक पाद सारणीसे यह स्पष्ट हो जाता है। विशेष तुलनात्मक सूत्रसूची ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट रूपमें दी गयी है।

जैनेन्द्र	पाणिनि	जैनेन्द्र	पाणिनि
१।१	१।१-२	३।३	४।३-४।४।१०६
१।२	१।३-४	३।४	५।१-५।२।४७
१।३	२।१-२	४।१	६।२।४८-५।३।११०
१।४	२।३-४	४।२	५।४
२।१	३।१	४।३	६।१-३
२।२	३।२	४।४	६।४
२।३	३।३	५।१	७।१-२।११३
२।४	३।४	५।२	७।२।११४-७।४
३।१	४।१	५।३	८।१-२
३।२	४।२	५।४	८।३-४

पूज्यपाद देवनन्दीने आचार्य गृहपिच्छ उमास्वतिके तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि नामक टीकाका निर्माण किया था जो ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थमें उन्होंने कई स्थलोंपर व्याकरणके सूत्रोंका उद्धरण दिया है। उनमें बिना पक्षपातके जैनेन्द्र सूत्रोंको भी और पाणिनीय सूत्रोंको भी उद्धृत किया गया है। उदाहरणके लिए अध्याय ४ सूत्र १६ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें दो सूत्रोंका उल्लेख है—'तदस्मिन्नस्तीति' और 'तस्य निवासः'। इनमें पहलेके विषयमें यह कहना कठिन है कि वह किस व्याकरणसे लिया गया है किन्तु दूसरा पाणिनीय व्याकरणका ही है [४।२।६९] क्योंकि उसका जैनेन्द्रगतपाठ 'तस्य निवासादूरभवौ' रूपमें मिलता है [सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृष्ठ ५०]। पूज्यपादने न केवल नवीन व्याकरण सूत्रोंकी रचना की, वरन् उनपर जैनेन्द्रन्यास भी बनाया था। उन्होंने पाणिनीय सूत्रों पर शब्दावतार न्यास भी लिखा था किन्तु अभी तक ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनीय व्याकरण, कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यके पूर्ण मर्मज्ञ थे, एवं जैनधर्म और दर्शनपर भी उनका असामान्य अधिकार था। वे गुप्तयुगके प्रतिभाशाली महान् साहित्यकार थे जिनके तत्कालीन प्रभाव कोंकणके नरेशोंपर था, किन्तु कालान्तरमें जो सारे देशकी विभूति बन गये।

काशी विश्वविद्यालय

५ जून १९५६

दो शब्द

मुग्धबोध व्याकरणके रचयिता बोपदेवके नामसे एक श्लोक प्रसिद्ध है; यथा—

“इन्द्रश्चन्द्रः काशकृस्नापिशाली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥”

इसमें मुख्य आठ व्याकरणोंके साथ जैनेन्द्र व्याकरणका भी उल्लेख है। इस समय यद्यपि इस व्याकरणका पूर्ण रूपसे अध्ययनाध्यापन आदिमें उपयोग नहीं दिखाई देता तथापि ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिसे इसका अपना विशेष महत्त्व है। इतना होने पर भी जैनेन्द्रव्याकरणका कोई प्रामाणिक संस्करण अद्यावधि उपलब्ध न हो सका। लाजरस कम्पनी बनारसकी ओरसे इसका प्रकाशन हुआ भी तो भी वह अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तकका ही हो सका। और इसलिए इस ग्रन्थके सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर प्रकाशनकी आवश्यकता बनी रही।

लगभग ८-१० वर्ष भारतीय ज्ञानपीठके अधिकारियोंका ध्यान इस कमीकी ओर आंकृष्ट हुआ। फलस्वरूप इसके सम्पादनका गुरुतर कार्य इसके अधिकारी विद्वान् श्री पं० शम्भुनाथ जी त्रिपाठी व्याकरणाचार्य समतीर्थको सौंपा गया। श्री त्रिपाठीजीने इसका पूरा प्रामाणिक सम्पादन करनेका प्रयत्न तो किया किन्तु प्रेसमें देनेके पूर्व ही वे यहाँसे चले गये और उन्होंने यहाँ आनेका विचार ही त्याग दिया। तब भी ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीयने अपने प्रयत्नमें कमी न आने दी। उन्होंने सूचित किया कि यदि त्रिपाठी जी यहाँ नहीं आ सकते हैं तो आप इसे उनके पास ले जाकर सम्पादन सम्बन्धी सारी बातें समझ लीजिए और इसे पूर्ण निर्दोष बनाकर प्रकाशनके लिए दे दीजिए। तदनुसार मैं त्रिपाठी जीके मूल निवासस्थान दोस्तपुर [फैजाबाद] भी गया किन्तु उनसे साक्षात् भेंट न हो सकनेके कारण मन्त्री जीकी सम्मतिसे मुझे ही इस कार्यमें लग जाना पड़ा। अभी तक सम्पादित होकर मेरे नामसे कोई ग्रन्थ प्रकाशित तो नहीं हुआ है फिर भी ज्ञानपीठमें रहते हुए मैंने जो सम्पादन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया है उसपर विश्वास करके मैंने माननीय मन्त्रीजी, श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री एवं डा० वासुदेवशरण अग्रवालके उत्साहपूर्ण आदेशसे यह कार्य अपने हाथमें ले लिया। ‘अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्’ इस वचनके अनुसार यह शब्दशास्त्र अनन्त और अगाध है—इसका पार पाना कठिन है; फिर भी त्रिपाठी जी द्वारा किये गये सम्पादनरूप सेतुके रहनेसे उसपरसे चलनेमें मुझे विशेष कठिनाईका अनुभव नहीं करना पड़ा। इन सब प्रयत्नोंके फलस्वरूप जो भी कार्य हुआ है वह सामने है।

रख्यादृष्टी विशेषताएँ

यह तो पहले ही निर्देश कर आये हैं कि इसका सर्वप्रथम सम्पादन श्रीमान् त्रिपाठी जीने किया था। उन्होंने भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूना और स्याद्वाद विद्यालय काशीकी हस्तलिखित प्रतियों तथा लाजरस कम्पनी बनारसकी मुद्रित प्रतिके आधारसे प्रस्तुत संस्करणका सम्पादन किया है। प्रतियोंका परिचय ग्रन्थमें अन्यत्र दिया है। यद्यपि उपर्युक्त सभी प्रतियोंमें वृत्तिमें आये हुए सूत्रोंकी अध्याय व पादके अनुसार संख्याका उल्लेख नहीं किया है तथापि आवश्यक समझकर [] कोष्ठकमें उन्होंने उसका निर्देश कर दिया था जिसमें हमें बहुत कुछ संशोधन भी करना पड़ा है।

प्रायः सब प्रतियोंमें कुछ पाठ त्रुटित व अशुद्ध हो गये हैं। इस सम्बन्धमें वहाँ अशुद्ध पाठको वैसा ही रखकर उसके सामने अन्य ग्रन्थोंके आधारसे शुद्ध पाठ देनेका प्रयास किया गया है; यथा—‘अनियता [नियतवृत्तयः] उल्लेखजीविनः’, ‘दशोर [दशमानेन] सम्भाव्यमानेन’ [पृष्ठ १०३] आदि।

वृत्तिमें प्रायः वार्तिकों और परिभाषाओंका उल्लेख किया गया है। उनके परिज्ञानके लिए वार्तिकोंके अन्तमें [वा०] तथा परिभाषाओंके अन्तमें [प०] या [परि०] ऐसा संकेतात्मक निर्देश कर दिया है।

यह तो मानी हुई बात है कि श्रीमान् त्रिपाठीजीने इसके सम्पादनमें बहुत श्रम किया है तथापि हमें जो अन्य विशेषताएँ लानी पड़ी हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

१. किसी भी उपलब्ध प्रतिमें अध्याय व पादके साथ सूत्रसंख्या नहीं दी गई थी, किन्तु आवश्यक समझकर हमने अध्याय तथा पादकी संख्याका प्रत्येक सूत्रके साथ उल्लेख कर दिया है।

२. अध्याय ४ तथा ५ में अनेक स्थलों पर सूत्र तथा उनकी वृत्ति खण्डित है। हमने उन स्थलों पर मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीके अनुसार सूत्रपाठ देकर उमे पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

३. श्री त्रिपाठीजीने परिशिष्ट तैयार नहीं किये थे जिनकी पूर्ति हमें करनी पड़ी है। जो परिशिष्ट दिये गये हैं वे ये हैं—[१] जैनेन्द्र सूत्रोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [२] जैनेन्द्र वार्तिकोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [३] जैनेन्द्र परिभाषाओंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [५] जैनेन्द्र गणपाठ सूची, [५] जैनेन्द्र संज्ञा सूची [इस सूचीमें विद्वानोंकी जानकारीके लिए जैनेन्द्र संज्ञाओंके साथ तत्समकत्वा पाणिनि संज्ञाओंका भी उल्लेख कर दिया है], [६] जैनेन्द्र तथा पाणिनिके सूत्रोंकी तुलनात्मक सूत्र-सूची और [७] जैनेन्द्रघुपाठ।

प्रत्याहार-विचार

उपलब्ध किसी भी प्रतिमें प्रत्याहार-सूत्रोंका उल्लेख नहीं मिलता। मालूम पड़ता है कि जैनेन्द्र व्याकरणमें लेखक-परम्पराकी भूलसे उनका उल्लेख होना छूट गया है, क्योंकि शब्दानुशासनके सूत्रोंमें प्रत्याहारोंका आश्रय लेकर शास्त्रोंकी प्रवृत्ति दिखलाई गई है। इस समय हमारे सामने दो प्रकारके प्रत्याहार-सूत्र उपस्थित हैं—प्रथम पञ्चाध्यायीके आरम्भमें आये हुए और दूसरे शब्दार्णवचन्द्रिकाके आरम्भमें आये हुए।

पञ्चाध्यायीके आरम्भमें आये हुए प्रत्याहार-सूत्र ये हैं—

“अइउण् १। ऋल् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। जमङ्गणम् ७। ऋभञ् ८। घढधप् ९। जवगडदश् १०। खल्लठथचटतव् ११। कपय् १२। शपसर् १३। हल् १४।”

किन्तु शब्दार्णवचन्द्रिकामें आये हुए प्रत्याहार-सूत्रोंमें पञ्चाध्यायीके प्रत्याहार-सूत्रोंसे कुछ अन्तर है। यहाँ पर द्वैविव्यका ठीक तरहसे ज्ञान करानेके लिए शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रत्याहार-सूत्र भी दिये जाते हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरलण् ५। जमङ्गणम् ६। ऋभञ् ७। घढधप् ८। जवगडदश् ९। खल्लठथचटतव् १०। कपय् ११। शपस अं अः ऋक् ऋपर १२। हल् १३।”

शब्दार्णवके ये प्रत्याहार-सूत्र शाकटायनके प्रत्याहारसूत्रोंसे बहुत कुछ साम्य रखते हैं। जानकारीके लिए शाकटायनके प्रत्याहार-सूत्र भी यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरलण् ५। जमङ्गणम् ६। जवगडदश् ७। ऋभञ्घढधप् ८। खल्लठथट् ९। चटतव् १०। कपय् ११। शपस अं अः ऋक् ऋपर १२। हल् १३।”

यह तो सुनिश्चित है कि महावृत्तिके आधारसे पञ्चाध्यायीमें जो सूत्रपाठ उपलब्ध होता है उससे शब्दार्णव चन्द्रिकाका सूत्रपाठ बहुत अंशमें भिन्न है और इसी सूत्रपाठके अनुसार प्रत्याहार-सूत्रोंमें अन्तर हुआ है; उदाहरणार्थ—सन्धि-सूत्रोंमें पञ्चाध्यायीमें ‘शश्छोऽटि’ [५। ४। १७३] सूत्र आता है उसके अनुसार अट् प्रत्याहारके परे रहते ‘श’ के स्थानमें ‘छ’ आदेश होता है किन्तु शब्दार्णवकारने उसके स्थानमें ‘शश्छोऽमि’ [५। ४। १५६] सूत्रको रखकर अट् प्रत्याहारको नहीं माना है और इसलिए ‘हयवरट्’, ‘लण्’ इन दो सूत्रोंके स्थानमें शब्दार्णवकारने ‘हयवरलण्’ यह एक ही प्रत्याहार-सूत्र माना है। इसी प्रकार अन्यत्र भी अट् प्रत्याहारके निमित्तसे होनेवाले कार्योंमें शब्दार्णवकारने अन्य प्रकारसे निर्वाह करनेका प्रयास किया है।

अट् और लृ में अभेद मानकर ‘ऋल्’ के स्थानमें शब्दार्णवकारने ‘ऋक्’ प्रत्याहार सूत्र रखा है।

अनुस्वार, विसर्ग, जिह्ममूलीय, उपध्मानीय तथा यमकी व्याकरण शास्त्रमें अयोगवाह संज्ञा है। पाणिनिके प्रत्याहार-सूत्रोंमें तथा जैनेन्द्र-पञ्चाध्यायीगत प्रत्याहार-सूत्रोंमें इनका उल्लेख नहीं है किन्तु शब्दार्णव-वाले पाठमें अयोगवाहका भी शर् प्रत्याहारके अन्तर्गत समावेश किया है। शाकटायन-व्याकरणके प्रत्याहार-सूत्रोंसे शब्दार्णवके प्रत्याहार-सूत्र बहुत कुछ साम्य रखते हैं। ज्ञात होता है कि शब्दार्णवकारने शाकटायन व्याकरणके सूत्रोंके आधारसे ही अपने प्रत्याहार-सूत्रोंकी रचना करके तदनुसार ही जैनेन्द्र शब्दानुशासनके सूत्रोंमें परिवर्तन या परिवर्धन किया हो। सिद्धान्तकौमुदीके हल्सन्धि प्रकरणमें एक वाक्य मिलता है—“अनुस्वार-विसर्गजिह्ममूलीयोपध्मानीययमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यानत्वेन...”। ज्ञात होता है कि शाकटायन तथा शब्दार्णवके प्रत्याहार-सूत्रोंको ध्यानमें रखकर ही भट्टोजिदीक्षितने उपर्युक्त वाक्य लिखा हो।

सात विभक्तियोंका विचार

साधारणतया पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठमें ७ विभक्तियोंके लिए प्रथमा, द्वितीया, तृतीया आदि शब्दोंका ही निर्देश किया है। पृथक् किन्हीं संज्ञाओंका निर्देश नहीं किया है, किन्तु जैनेन्द्रकारने 'विभक्ती' शब्दके प्रत्येक अक्षरको अलग करके स्वरके आगे 'प्' और व्यञ्जनके आगे 'आ' जोड़कर सात विभक्तियोंकी संज्ञा निर्दिष्ट की है: यथा—'वा' [प्रथमा], इप् [द्वितीया], भा [तृतीया], अप् [चतुर्थी], का [पञ्चमी], ता [षष्ठी] और ईप् [सप्तमी]। इस प्रकार 'विभक्ती' शब्दके आधारमें ही इन संज्ञाओंका उल्लेख अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता।

जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ

१. पाणिनीय अष्टाध्यायीमें वैदिक एवं स्वरप्रक्रिया इन दो प्रकरणोंके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है किन्तु जैनेन्द्रकारने इन दोनों प्रकारणोंके सूत्रोंका उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि वैदिक शब्दों व प्रयोगोंकी सिद्धि और स्वरविधानका प्रश्न जैनेन्द्रकारके समक्ष उपस्थित नहीं था।

२. पाणिनीय व्याकरणमें एकशेष प्रकरणके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है। किन्तु जैनेन्द्रकार इस प्रकरणके सूत्रोंकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करते हुए मालूम देते हैं। उन्होंने इस प्रकरणको ध्यानमें रखकर 'स्वाभाविकत्वाद्भिधानस्यैकशेषानारम्भः' इस सूत्रकी रचना की है। इससे विदित होता है कि उनका मत रहा है कि लोक-व्यवहारमें जो चीज आवाल वृद्ध प्रचलित है उसे सूत्रबद्ध निर्देश करके शास्त्रके कलेवरको बढ़ाना उचित नहीं है। और इसी लिए उन्होंने एकशेष प्रकरणको नहीं रखा है।

३. पाणिनीय व्याकरणसे सम्बद्ध स्वतन्त्र रूपसे चार प्रकरण मिलते हैं—लिङ्गानुशासन, पाणिनीय शिक्षा, धातुपाठ और गणपाठ। यह कह सकना तो कठिन है कि इन सबका निर्माण स्वयं पाणिनिने किया होगा। उदाहरणार्थ—पाणिनीय शिक्षाको ही लीजिए। इसके प्रारम्भके प्रथम श्लोकमें कहा है—'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।' अर्थात् पाणिनिके मतानुसार शिक्षाका निरूपण करते हैं। तथा इसी प्रकरणके अन्तमें एकाधिक बार पाणिनिके लिए नमस्कार भी किया गया है। इसलिए बहुत सम्भव है कि इस प्रकरणका संकलन पाणिनीय व्याकरणको आधार मानकर किसी अन्य समर्थ विद्वान्ने किया हो। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने विक्रम संवत् १६३६ में 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नामसे भाषानुवाद सहित एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, उसमें उन्होंने किसी प्राचीन प्रतिके आधारसे पाणिनीय शिक्षा-सूत्रोंका संकलन किया था। बहुत सम्भव है कि ये शिक्षासूत्र ही वर्तमान श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षाके आधार रहे हों।

४. पाणिनीय लिङ्गानुशासनका समावेश अष्टाध्यायीमें नहीं किया गया है। उपलब्ध पाणिनीय लिङ्गानुशासनमें कुल १८१ सूत्र हैं। उनमें कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जो अष्टाध्यायीमें भी उपलब्ध होते हैं; परन्तु अधिकतर सूत्र अष्टाध्यायीसे सम्बन्ध नहीं रखते। इन सूत्रोंका निर्माण किसने किया यह प्रश्न विचारणीय है। बहुत सम्भव है कि पाणिनि व्याकरणमें शब्दसिद्धिके आधार पर अन्य किसी विद्वान्ने लिङ्गानुशासनको सूत्रबद्ध कर-दिया हो।

जैनेन्द्र व्याकरणमें लिङ्गानुशासन तथा जैनेन्द्र शिक्षा नामके तो प्रकरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

५. 'भूवादयो धात्वः' [१।३।१] 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' [२।४।७२] इत्यादि सूत्रों द्वारा गणशः प्रत्यय-विधान तथा 'इदितो नुम् धातोः' [७।१।५८], 'ह्यन्तक्षणश्वसृजागुणिश्वेदिताम्' [७।२।५], 'रुदश्च पञ्चभ्यः' [७।३।६८] आदि सूत्रों द्वारा अनुबन्ध तथा गणपाठका आश्रय लेकर धातुओंसे कार्य विधान किया गया है। इसी प्रकार गणपाठका आश्रय लेकर भी प्रकृति-प्रत्ययका विधान किया हुआ है। इससे यह सुनिश्चित है कि पाणिनिके समक्ष उनके स्वनिर्मित गणपाठ और धातुपाठ अवश्य ही विद्यमान थे।

यही स्थिति जैनेन्द्र धातुपाठ तथा गणपाठके विषयमें भी है। वहाँ भी 'भूवादयो धुः' [१।२।१] 'उज्जुहोत्यादिभ्यः' [१।४।१४५] 'इदिदोर्नुम्' [५।१।३७] आदि सूत्रों-द्वारा धातुओंसे संज्ञा, प्रत्यय और आगम एवं आदेश आदिका विधान किया गया है। तथा गणपाठके निमित्तसे भी शास्त्र प्रवृत्ति देखी जाती है।

अतः सुनिश्चित है कि जैनेन्द्रके समस्त भी अपने स्वरचित धातुपाठ तथा गणपाठ अवश्य रहे होंगे किन्तु काल-क्रम वे आज अनुपलब्ध हो गये हैं।

६. पाणिनि व्याकरणमें उणादि-सिद्ध कार्योंके लिए “उणादयो बहुलम्” [३।३।१] सूत्र आता है। जैनेन्द्र व्याकरणमें भी इसी रूपमें इस सूत्रका उल्लेख है [२।२।१६]। इन दोनों मूल व्याकरणोंमें इस प्रकरणमें आये हुए प्रयोगोंकी सिद्धिके विषयमें इससे अधिक कुछ नहीं कहा गया है। मात्र जैनेन्द्र महावृत्तिमें इस सूत्रकी व्याख्या करते समय कुछ सूत्रोंके उल्लेखके साथ उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले प्रयोगोंके कतिपय प्रकार दिखलाये गये हैं। यह निश्चित कहना कठिन है कि जैनेन्द्र महावृत्तिमें ये उणादि सूत्र कहाँ से आये। यदि इन्हें जैनेन्द्रकारका माना जाय तो शंका होती है कि पञ्चाध्यायीमें इनका संकलन क्यों नहीं हुआ? यद्यपि महावृत्तिमें उल्लिखित उणादि सूत्रोंमें कहीं-कहीं जैनेन्द्रव्याकरणकी संज्ञाओंका प्रयोग किया हुआ दिखाई देता है यथा ‘असु सर्वधुभ्यः’ [पृष्ठ १७]; पर जबतक कोई निश्चित आधार नहीं मिलता तबतक इन सूत्रोंको स्वयं जैनेन्द्रकारका मान लेनेको मन नहीं होता। उणादि प्रकरणका संकलन करते हुए भट्टोजिदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीमें ७५५ सूत्र प्रमाण पञ्चपादी उणादि सूत्रोंकी सोदाहरण व्याख्या दी है। किन्तु पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें ये सूत्र उपलब्ध नहीं होते। उणादिका निर्देश करनेवाला ‘उणादयो बहुलम्’ [३।३।१] सूत्र अष्टाध्यायीमें उपलब्ध होता है किन्तु उसका संकलन भट्टोजिदीक्षितने उणादि प्रक्रियामें न करके उत्तर कुदन्तमें किया है। विद्वानोंका मत है कि ये उणादिसूत्र शाकटायन प्रणीत हैं जिनके समयका उल्लेख करते हुए श्रीयुधिष्ठिर मीमांसकने लिखा है कि ‘इस्का काल विक्रमसे लगभग ३१०० वर्ष पूर्व होगा’। [संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास पृष्ठ ११६]

पातञ्जल महाभाष्यमें एक वाक्य मिलता है; यथा—‘नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकः ।’

इसका आशय यह है कि ‘निरुक्तमें सभी संज्ञाशब्दोंको धातुज कहा है और व्याकरण शास्त्रमें शकटके पुत्र [शाकटायन] भी ऐसा ही कहते हैं।’ इससे मालूम पड़ता है कि शाकटायन विरचित कोई ऐसा प्रकरण अवश्य रहा होगा जिसमें धातुओंके निमित्तसे प्रत्यय विधान करके संज्ञाशब्दोंकी सिद्धि की गई हो। वह प्रकरण उणादिके सिवा और क्या हो सकता है? उणादिके दशपादी तथा त्रिपादी पाठ भी उपलब्ध होते हैं। [विशेष विवरणके लिए इसी ग्रन्थमें प्रकाशित श्री युधिष्ठिर मीमांसकका ‘जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिलपाठ’ शीर्षक निबन्ध देखिए]।

श्री डा० वामुदेवशरणजी अग्रवालने ज्ञानपीठके अनुरोधसे इसकी अनुसन्धानपूर्ण भूमिका लिखकर इसके महत्त्वको बढ़ानेकी कृपा की तथा इनके ही अनुरोधसे ऐतिहासिक सामग्रीकी पूर्णताके लिए श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जेन साहित्य और इतिहास’ में मुद्रित ‘देवनिन्द तथा उनका जैनेन्द्र व्याकरण’ शीर्षक गवेषणापूर्ण निबन्ध छापनेकी अनुमति-पूर्वक उसके दूसरे संस्करणके फार्म भिजवानेकी कृपा की जिससे ग्रन्थ-कारके विषयमें ऐतिहासिक अन्वेषणके कठिन कार्यसे मुझे छुट्टी मिल गई। श्री युधिष्ठिर मीमांसकने भी ‘जैनेन्द्रशब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ’ शीर्षक अनुसन्धानपूर्ण निबन्ध लिखकर हमारी बहुत बड़ी सहायता की है। इतना ही नहीं, उन्होंने, प्रस्तुत संस्करणमें जो थोड़ी बहुत त्रुटियाँ रह गई हैं, उनका उल्लेख करके आत्मीयतापूर्वक सौहार्द भी प्रदर्शित किया है। अतः उक्त तीनों विद्वानोंका विशेष आभारी हूँ।

श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीने भी समय समय पर उपयोगी सुझाव देकर इस ग्रन्थको शुद्ध, सर्वाङ्गपूर्ण तथा सर्वोपयोगी बनानेमें सहायता दी तथा मेरे उत्साहको बढ़ाया इसलिए मैं उनका भी विशेष आभारी हूँ।

कार्य बहुत बड़ा था और सम्पादनका मेरा यह पहला अवसर है, इसलिए सम्भव है कि इसमें अभी भी कुछ दोष रह गये हों। मेरा विश्वास है कि विद्वान् पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे।

वाराणसी
दीपावली
वि० सं० २०१३

—महादेव चतुर्वेदी

देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण

लेखक :- श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी

जैनेन्द्र और ऐन्द्र

मुग्धबोधकर्ता बोपदेवने जिन आठ वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उनमें एक 'जैनेन्द्र' भी है। ये जैनेन्द्र अथवा जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ता कौन थे इस विषयमें इतिहासज्ञोंमें कुछ समय तक बड़ा विवाद चला था। डॉ० कीलहार्नने इसे जिनदेव अथवा भगवान् महावीरद्वारा इन्द्रके लिए कहा गया बतलाया^१ और इसके सुबूतमें उन्होंने कल्पसूत्रकी समयसुन्दरकृत टीका, और लक्ष्मीवल्लभकृत उपदेशमाला-कर्णिकाका यह उल्लेख पेश किया था कि जिनदेव महावीर जिस समय आठ वर्षके थे उस समय इन्द्रने शब्दलक्षणसंबंधी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तररूप यह व्याकरण बतलाया गया, इसलिए इसका नाम जैनेन्द्र पड़ा^३।

श्वेताम्बरसम्प्रदायके और भी कई ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्रकी विनयविजय-कृत सुबोधिका टीकामें लिखा है कि भगवान्को माता-पिताने पाठशालामें गुरुके पास पढ़नेके लिए भेजा है, यह जानकर इन्द्र स्वर्गसे आया और पण्डितके घर, जहाँ भगवान् थे वहाँ, गया। उसने भगवान्से पण्डितके मनमें जो जो सन्देह थे, उन सबको पूछा। जब सब लोग यह सुननेके लिए उत्कर्ण हो रहे थे कि देखें यह बालक क्या उत्तर देता है, तब भगवान् वीरने सब प्रश्नोंके उत्तर दिये, और तब 'जैनेन्द्र व्याकरण' बना।

परन्तु इस प्रसंगके वे सब उल्लेख अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं जिनमें भगवान्के उत्तररूप इस व्याकरणका नाम 'जैनेन्द्र' बतलाया है। प्राचीन उल्लेखोंमें इसका नाम जैनेन्द्रकी जगह 'ऐन्द्र' प्रकट किया है; जैसा कि आवश्यकसूत्रकी हारिभद्रीयवृत्तिके पृष्ठ १८२ में लिखा है^४।

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रके प्रथम प्रकाशमें लिखा है कि भगवान्ने

१. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृस्नापिशली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥—धातुपाठ

२. इंडियन एन्टिक्वेरी १०, पृ० २५१ ।

३. यद्विन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितम् । ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम् ॥

४. [शक्रः] यत्र भगवान् तिष्ठति तत्र पण्डितगोहे समाजगाम । आगत्य च पण्डितयोग्ये आसने भगवन्तमुपवेश्य पण्डितमनोगतान् सन्देहान् पप्रच्छ, श्रीवीरोऽपि बालोऽयं किं वक्ष्यतीत्युत्कर्णेषु सकललोकेषु सर्वाणि उत्तराणि ददौ, ततो 'जैनेन्द्रव्याकरणां' जज्ञे । यतः—

सक्यो य तस्समक्खं भगवंतं आसणे निवेशित्ता । सहस्स लक्खणां पुच्छे वागरणाव्वयवा इंदं ॥

५. शक्रः तस्समक्षं लेखाचार्यसमक्षं भगवन्तं तीर्थकरं आसने निवेश्य शब्दस्य लक्षणं पृच्छति । भगवता च व्याकरणां अभ्यधायि । व्याक्रियन्ते लौकिक-सामायिकाः शब्दाः अनेन इति व्याकरणां शब्दशास्त्रम् । तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः, ततश्च ऐन्द्रं व्याकरणां संजातम् ।

६. मातापितृभ्यामन्येषुः प्रारब्धेऽध्यापनोत्सवे । आः सर्वज्ञस्य शिष्यत्वमितीन्द्रस्तमुपास्थितः ॥ ५६ ॥
उपाध्यायासने तस्मिन्वासवेनोपवेशितः । प्रणम्य प्रार्थितः स्वामी शब्दपारायणं जगौ ॥ ५७ ॥
इदं भगवत्प्रेम्नाय प्रोक्तं शब्दानुशासनम् । उपाध्यायेन तच्छ्रुत्वा लोकेऽवैन्द्रमितीरितम् ॥ ५८ ॥

इन्द्रके लिए जो शब्दानुशासन कहा, उपाध्यायने उसे सुनकर लोकमें 'ऐन्द्र' नामसे प्रकट किया। अर्थात् इन्द्रके लिए जो व्याकरण कहा गया, उसका नाम 'ऐन्द्र' हुआ।

प्राचीन कालमें इन्द्रनामक आचार्यका बनाया हुआ एक संस्कृत व्याकरण था^१। उसका उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। ऊपर दिये हुए बोपदेवके श्लोकमें भी उसका नाम है। हरिवंशपुराणके कर्त्ताने देवनन्दिको 'इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षिणः' विशेषण दिया है। शब्दार्णवचन्द्रिकाकी ताडपत्रवाली प्रतिमें, जो १३ वीं शताब्दीके लगभगकी लिखी हुई मालूम होती है, 'इन्द्रश्चन्द्रः शकटतनयः' आदि श्लोकमें, इन्द्रके व्याकरणका उल्लेख किया है। बहुत अधिक समय हुआ यह नष्ट हो गया है^२। जब यह उपलब्ध ही नहीं है तब इसके विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यद्यपि आजकलके समयमें इस बातपर कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं कर सकता है कि भगवान् महावीरने भी कोई व्याकरण बनाया होगा और वह भी मागधी या प्राकृतका नहीं, किन्तु ब्राह्मणोंकी खास भाषा संस्कृतका। तो भी यह निस्सन्देह है कि वह व्याकरण 'जैनेन्द्र' नहीं था। यदि बनाया भी होगा तो वह 'ऐन्द्र' ही होगा। क्योंकि हरिभद्रसूरि और हेमचन्द्रसूरि उसीका उल्लेख करते हैं, जैनेन्द्रका नहीं। जान पड़ता है, विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभने पीछेसे 'ऐन्द्र' को ही 'जैनेन्द्र' बना डाला है। उनके समयमें भी 'ऐन्द्र' अप्राप्य था, इसलिए उन्होंने प्राप्य 'जैनेन्द्र' को ही भगवान् महावीरकी कृति बतलाना विशेष सुकर और लाभप्रद सोचा।

हरिभद्रसूरि विक्रमकी आठवीं शताब्दिके और हेमचन्द्रसूरि तेरहवीं शताब्दिके विद्वान् हैं जिन्होंने 'ऐन्द्र' को भगवान्का व्याकरण बतलाया है; परंतु 'जैनेन्द्र' को भगवत्प्रणीत बतलानेवाले विनयविजय और लक्ष्मी-वल्लभ विक्रमकी आठारहवीं शताब्दिमें हुए हैं।

भगवद्वाग्वादिनी

विनयविजयजीके इस उल्लेखका अनुसंगण करके उनके कुछ समय बाद वि० सं० १७६७ में किसी विद्वान्ने साक्षात् महावीर भगवान्का बनाया हुआ व्याकरण तैयार कर दिया और उसका दूसरा नाम 'भगवद्वाग्वादिनी' रक्खा!

इस भगवद्वाग्वादिनीकी एक प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें है, जो तक्षक नगरमें रत्नपि नामक लेखक द्वारा वि० सं० १७६७ में लिखी गई थी। इसकी पत्रसंख्या ३०, और श्लोकसंख्या ८०० है। प्रति बहुत शुद्ध है। जैनेन्द्रका सूत्रपाठ मात्र है और वह सूत्रपाठ है जिसपर शब्दार्णवचन्द्रिका टीका लिखी गई है। इस वाग्वादिनीके आविष्कारकने शक्ति भर इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि इसके कर्त्ता साक्षात् महावीर भगवान् हैं, दिग्भ्रारी देवनन्दि नहीं। उनको सब युक्तियाँ हमने इस ग्रन्थके अन्तमें उद्धृत कर दी हैं। उन सबपर विचार करनेकी यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

हमारा अनुमान है कि डॉ० कीलहार्नके हाथमें यह 'भगवद्वाग्वादिनी' की प्रति अवश्य पड़ी होगी और इसीकी कृपासे प्रेरित होकर उन्होंने अपना पूर्वोक्त लेख लिखा होगा। उनके लेखमें जो श्लोकादि प्रमाणस्वरूप दिये गये हैं वे भी सब इसी परसे लिये गये जान पड़ते हैं।

१. ऋकूतन्त्र (१-४) के अनुसार इन्द्रने प्रजापतिसे शब्दशास्त्रका अध्ययन किया था और यह उसीका अनुकरण मालूम होता है।

२. डॉ० ए० सी० बर्नेलने इन्द्रव्याकरणके विषयमें चीनी तिब्बतीय और भारतीय साहित्यमें जो उल्लेख मिलते हैं उनको संग्रह करके 'ग्रोन दि ऐन्द्रस्कूल ऑफ संस्कृत ग्रामेरियन्स' नामकी एक बड़ी पुस्तक लिखी है।

३. "तेन प्रणष्टमैन्द्रं तदस्माद्व्याकरणं भुवि"—कथासरित्सागर, तरंग ४

४. जयपुर राज्यके 'टोबा रायसिंह' का पुराना नाम तक्षक नगर है।

डॉ० कीलहार्नके इस भ्रमको सबसे पहले स्व० डॉ० के० बी० पाठकने दूर किया और अब तो जैनेन्द्र व्याकरण काफी प्रसिद्ध हो गया है ।

देवनन्दि और पूज्यपाद

श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० (६४) में लिखा है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ ।

मंगराज कविके शकसंवत् १३६५ के शिलालेखसे भी यही दो नाम प्रकट होते हैं ।

जिनेन्द्रबुद्धि नामके एक और वैयाकरण हो गये हैं जिनका बनाया हुआ पाणिनि व्याकरणकी काशिका-वृत्तिपर एक न्यास है । वे बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य या बौद्ध साधु थे ।

देवनन्दिका संज्ञित नाम 'देव' भी था । जिनसेन^३ और वादिराजसूरिने इन्हें इसी संक्षिप्त नामसे स्मरण किया है ।

अनेक लेखकोंने उन्हें केवल देवनन्दि नामसे और केवल पूज्यपाद नामसे स्मरण किया है और दोनों नामोंसे उन्हें वैयाकरण माना है ।

महाकवि धनंजयकी नाममालामें एक श्लोक है जिसमें पूज्यपादको लक्षण-ग्रन्थ (व्याकरण) का कर्ता माना है ।

जैनेन्द्रकी प्रत्येक हस्तलिखित प्रतिके प्रारंभमें जो श्लोक मिलता है, उसमें ग्रन्थकर्ताने 'देवनन्दितपूजेश' पदमें जो कि भगवान्का विशेषण है अपना नाम भी प्रकट कर दिया है^६ । संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंके मंगलाचरणोंमें

१. यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥

श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा

सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिपेकः स्वकः ।

छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिगतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-

माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

२. श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः ।

यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥ १५ ॥

धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः ।

जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहस्तस जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥ १६ ॥

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमोषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।

यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥ १७ ॥

३. कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते । विदुषां वाङ्मूलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ ५२ ॥

—आदिपुराण प्र० पर्व

४. अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंधो हितैषिणा । शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुस्त्वं प्रतिलंबिताः ॥१८॥

—पार्श्वनाथचरित प्र० सर्ग

५. प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् । धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपभ्रिमम् ॥ २० ॥

६. लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते । देवनन्दितपूजेशं नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

यह पद्धति अनेक विद्वानोंने स्वीकार की है। इससे स्वयं ग्रन्थकर्ताके वचनोंसे भी जैनेन्द्रके कर्ता 'देवनन्दि' ठहरते हैं।

गणरत्नमहोदधिके कर्ता वर्धमान और हैम शब्दानुशासनके लघुन्यास बनानेवाले कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताका नाम देवनन्दि ही बतलाते हैं। अतः अब इस विषयमें किसी प्रकारका कोई सन्देह बाकी नहीं रह गया कि यह व्याकरण देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ है।

दो तरहके सूत्र-पाठ

जैनेन्द्र व्याकरणके मूल सूत्र-पाठ दो प्रकारके उपलब्ध हैं—एक तो वह जिसपर आचार्य अभयनन्दि की 'महावृत्ति' तथा श्रुतकीर्तिकृत 'पञ्चवस्तु' नामकी प्रक्रिया है; और दूसरा वह जिसपर सोमदेवसुरिकृत 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' और गुणनन्दि कृत 'प्रक्रिया' है। पहले प्रकारके पाठमें लगभग ३००० और दूसरेमें लगभग ३८०० सूत्र हैं, अर्थात् एकसे दूसरेमें कोई ७०० सूत्र अधिक हैं, और जो ३००० सूत्र हैं वे भी दोनोंमें एकसे नहीं हैं। अर्थात् दूसरे सूत्रपाठमें पहले सूत्र-पाठके सैकड़ों सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित भी किये गये हैं। पहले प्रकारका सूत्र-पाठ पाणिनीय सूत्र-पाठके ढंगका है, वर्तमान दृष्टिसे वह कुछ अपूर्ण सा जान पड़ता है और इसी लिए महावृत्तिमें बहुतसे वार्तिक तथा उपसंख्यान आदि बनाकर उसकी पूर्णता की गई दिखलाई देती है, जब कि दूसरा पाठ प्रायः पूर्ण-सा जान पड़ता है और इसी कारण उसकी टीकाओंमें वार्तिक आदि नहीं दिखलाई देते। दोनों पाठोंमें बहुत-सी संज्ञाएँ भी भिन्न प्रकारकी हैं।

इन भिन्नताओंके होते हुए भी दोनों पाठोंमें समानताकी भी कमी नहीं है। दोनोंके अधिकांश सूत्र समान हैं, दोनोंके प्रारंभका मंगलाचरण बिलकुल एक है और दोनोंके कर्ताओंका नाम भी देवनन्दि या पूज्य-पाद लिखा हुआ मिलता है।

असली सूत्रपाठ

अब प्रश्न यह है कि इन दोनोंमेंसे स्वयं देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ असली सूत्र-पाठ कौन-सा है ?

हमारे खयालमें आचार्य देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समयतक तो ठीक समझा जाता रहा जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना। शायद शाकटायनको भी जैनेन्द्रके होते हुए एक जुदा जैन व्याकरण बनानेकी आवश्यकता इसीलिए महसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है, और इसलिए बिना वार्तिकों और उपसंख्यानों आदिके उससे काम नहीं चल सकता, परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण बन चुका, तब जैनेन्द्र व्याकरणके भक्तोंको उसकी त्रुटियाँ खटकने लगीं और उनमेंसे आचार्य गुणनन्दिने उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनानेका प्रयत्न किया। इस प्रयत्नका फल ही यह दूसरा सूत्र-पाठ है जिसपर सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिका रची गई है। इस सूत्र पाठको बारीकीके साथ देखनेसे मालूम पड़ता है कि गुणनन्दिके समय तक व्याकरण-सिद्ध जितने प्रयोग होने लगे थे उन सबके सूत्र उसमें मौजूद हैं और इसलिए उसके टीकाकारोंको वार्तिक आदि बनानेके भ्रंशोंमें नहीं पड़ना पड़ा है। अभयनन्दि की महावृत्तिके ऐसे बीसों वार्तिक हैं जिनके इस दूसरे पाठमें सूत्र ही बना दिये गये हैं।

१. क-नीतिवाक्यामृतके मंगलाचरणमें सोमदेव कहते हैं—

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम् । सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रूवे ॥

ख-आचार्य अनन्तवीर्य लघीयस्त्रयकी वृत्तिके प्रारंभमें कहते हैं—

जिनाधीशं मुनिं चन्द्रमकलंकं पुनः पुनः । अनन्तवीर्यमानौमि स्याद्वादन्यायनायकम् ॥

२. शालातुरीय शकटाङ्गज-चन्द्रगोमि-दिग्बन्ध-भर्तृहरि-बामन-भोजमुख्याः ।

१—शब्दार्णव-चन्द्रिकाके अन्तिम पद्यमें सुपसिद्ध गुणनन्दि आचार्यके शब्दार्णवमें प्रवेश करनेके लिए सोमदेवकृत वृत्तिको नौकाके समान बतलाया है। इससे जान पड़ता है कि आचार्य गुणनन्दिके बनाये हुए व्याकरण ग्रन्थकी यह टीका है और उसका नाम शब्दार्णव है। इस टीकाका 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' नाम भी तभी अन्वर्थक होता है, जब मूल सूत्र-ग्रन्थका नाम शब्दार्णव हो। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि प्रक्रियाके अन्तिम श्लोकसे और भी अच्छी तरहसे हो जाती है जिसका आशय यह है कि गुणनन्दिने जिसके शरीरको विस्तृत किया है, उस शब्दार्णवको जाननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए तथा आश्रय लेनेवालोंके लिए यह प्रक्रिया साक्षात् नावके समान काम देगी। इसमें 'शब्दार्णव' को जो 'गुणनन्दितानितवपुः' विशेषण दिया है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। उससे साफ समझमें आता है कि गुणनन्दिके जिस व्याकरणपर ये दोनों टीकाएँ—शब्दार्णव-चन्द्रिका और प्रक्रिया—लिखी गई हैं उसका नाम 'शब्दार्णव' है और वह मूल (असली) जैनेन्द्र व्याकरणके संक्षिप्त शरीरको तानित या विस्तृत करके बनाया गया है।

शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रारम्भका मंगलाचरण भी इस विषयमें ध्यान देने योग्य है^३ जिसमें ग्रन्थकर्ताने भगवान् महावीरके विशेषणरूपमें क्रमसे पूज्यपादका, गुणनन्दिका और अपना (सोमामर या सोमदेवका) उल्लेख किया है, और इससे वे निस्सन्देह यही ध्वनित करते हैं कि मुख्य व्याकरणके कर्ता पूज्यपाद हैं, उसको विस्तृत करनेवाले गुणनन्दि हैं और फिर उसकी टीका करनेवाले सोमदेव (स्वयं) हैं। यदि यह चन्द्रिका टीका पूज्यपादके व्याकरणकी ही होती, तो मंगलाचरणमें गुणनन्दिका नाम लानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। गुणनन्दि उनकी गुरु-परम्परामें भी नहीं हैं, जो उनका उल्लेख करना आवश्यक होता। अतः यह सिद्ध है कि चन्द्रिका और प्रक्रिया दोनोंके ही कर्ता यह समझते थे कि हमारी टीकाएँ असली जैनेन्द्रपर नहीं किन्तु उसके 'गुणनन्दितानितवपुः' शब्दार्णवपर बनी हैं।

२—शब्दार्णव-चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रियाँ इन दोनों ही टीकाओंमें 'एकशेष' प्रकरण है; परन्तु अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति' वाले सूत्रपाठमें एकशेषको अनावश्यक बतलाया है—“स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः।” [१-१-२६] और इसीलिए देवनन्दि या पूज्यपादका व्याकरण 'अनेकशेष' कहलाता है। चन्द्रिका टीकाके कर्ता स्वयं ही “आदावुपज्ञोपक्रमम्” [१-४-११४] सूत्रकी टीकामें उदाहरण देते हैं “देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्।” यह उदाहरण अभयनन्दिकृत महावृत्तिमें भी दिया गया है। इससे सिद्ध है कि शब्दार्णव-चन्द्रिकाके कर्ता भी उसी व्याकरणको देवोपज्ञ या देवनन्दिकृत मानते हैं, जो अनेकशेष है, अर्थात् जिसमें 'एकशेष' प्रकरण नहीं है और ऐसा व्याकरण वही है जिसकी टीका अभयनन्दिने की है।

३—आचार्य विद्यानन्दि अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ २६५ में 'नैगमसंग्रह-' आदि सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, “नयश्च नया च नयाश्च नया इत्येकशेषस्य स्वाभाविकस्याभिधाने दर्शनात् केषाञ्चित्तथा वचनोपलम्भाच्च न विरुद्ध्यते।” इसमें स्वाभाविकताके कारण, एकशेषकी अनावश्यकता प्रतिपादन की है और यह अनावश्यकता जैनेन्द्रके वास्तविक सूत्र पाठमें ही उपलब्ध होती है। “स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः” [१-१-२६] यह सूत्र शब्दार्णववाले पाठमें नहीं है, अतः विद्यानन्द भी पूर्वोक्त सूत्रवाले

१. श्रीसोमदेवयतिनिमित्तिमादधाति या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दवाधौ।

सेयं सताममलचेतसि विस्फुरन्ती वृत्तिः सदा नुतपदा परिवर्तिषीष्ट ॥

२. सल्लंघि दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोक्तं, निर्ज्ञातं बहुतद्धितं कृतमिहाख्यातं यशःशालिनम् ।

सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णये, नावित्याश्रयतां विविधुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥

३. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतपूजितपादयुग्मम् ।

सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥

४. इस प्रक्रियाका भी नाम 'शब्दार्णव-प्रक्रिया' होगा, जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं।

जैनेन्द्र-पाठके माननेवाले थे। पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिए कि उपलब्ध व्याकरणोंमें 'अनेकशेष' व्याकरण केवल देवनन्दिकृत ही है, दूसरा नहीं।

४—तत्त्वार्थ-टीका 'सर्वार्थसिद्धि' के कर्ता स्वयं पूज्यपाद या देवनन्दि हैं। इस टीकामें अध्याय ५, सूत्र २४ की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, " 'अन्यतोऽपि' इति तसि कृते सर्वतः । " और इसी सूत्रकी व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार लिखते हैं, " 'दृश्यतेऽन्यतोऽपीति' तसि कृते सर्वेषु सर्वत इति भवति । " जान पड़ता है कि या तो सर्वार्थसिद्धिकारने इस सूत्रको संक्षेप करके लिखा होगा, या लेखकों तथा छपानेवालोंने प्रारम्भका 'दृश्यते' शब्द छोड़ दिया होगा। वास्तवमें यह पूरा सूत्र 'दृश्यतेऽन्यतोऽपि' ही है और यह अभयनन्दिवाले सूत्र-पाठके अ० ४ पा० १ का ७९ वाँ सूत्र है। परन्तु शब्दार्णववाले पाठमें न तो यह सूत्र है और न इसके प्रतिपाद्यका विधानकर्ता कोई दूसरा सूत्र है। इससे सिद्ध है कि पूज्यपादका असली सूत्रपाठ वही है जिसमें उक्त सूत्र मौजूद है

५—भट्टाकलंकदेवने तत्त्वार्थराजवार्तिकमें 'आद्ये परोक्षम्' [अ० १, सू० ११] की व्याख्यामें "सर्वादि सर्वनाम" [१-१-३५] सूत्रका उल्लेख किया है, इसी तरह परिणत आशाधरने अननगरधर्माभृतटीका [अ० ७ श्लो० २४] में "स्तोके प्रतिना" [१-३-३७] और "भार्थे [१-४-१४] इन दो सूत्रोंको उद्धृत किया है और ये तीनों ही सूत्र जैनेन्द्रके अभयनन्दिवृत्तिवाले सूत्रपाठमें ही हैं। शब्दार्णववाले पाठमें इनका अस्तित्व ही नहीं है। अतः अकलंकदेव और पं० आशाधर इसी अभयनन्दिवाले पाठको ही माननेवाले थे। अकलंकदेव वि० की आठवीं नौवीं शताब्दिके और आशाधर १३ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं।

६—पं० श्रीलालजी शास्त्रीने शब्दार्णव-चन्द्रिकाकी भूमिकामें लिखा है कि "आचार्य पूज्यपादने स्वनिर्मित 'सर्वार्थसिद्धि' में 'प्रमाणनयैरधिगमः' [अ० १ सू० ६] की टीकामें यह वाक्य दिया है— "नयशब्द-स्याल्पाचत्तरत्वात् पूर्वनिपातः प्राप्नोति ? नैष दोषः; अभ्यहितत्वात्प्रमाणस्य तत्पूर्वनिपातः ।" और अभयनन्दिवाले पाठमें इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला कोई सूत्र नहीं है। केवल अभयनन्दिका 'अभ्यहितं पूर्वं निपतति' वार्तिक है। यदि अभयनन्दिवाला सूत्र-पाठ ठीक होता तो उसमें इस विषयका प्रतिपादक सूत्र अवश्य होता जो कि नहीं है। पर शब्दार्णववाले पाठमें 'अर्च्यम्' [१-३-११५] ऐसा सूत्र है जो इसी विषयको प्रतिपादित करता है। इसलिए यही सूत्र-पाठ देवनन्दिकृत है।" इसपर हमारा निवेदन यह है कि "अल्पाचत्तरम्" [२-२-३४] यह सूत्र पाणिनिका है और इसके ऊपर कात्यायनका "अभ्यहितं च" वार्तिक तथा पतंजलिका "अभ्यहितं पूर्वं निपतति" भाष्य है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि-टीकाके इस स्थलमें पाणिनि और पतंजलिके ही सूत्र तथा भाष्यको लक्ष्य करके उक्त विधान किया है। यह निश्चित है कि उन्होंने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें अन्य वैयाकरणोंके भी मत दिये हैं और अनेक बार पतंजलिके महाभाष्यके वाक्य^३।

सर्वार्थसिद्धि अ० ४ सूत्र २२ की व्याख्यामें लिखा है— "यथाहुः—द्रुतायां तपरकरणे मध्यमबिलम्बित-योरुपसंख्यानमिति ।" इसकी अन्य पुरुषकी 'आहुः' क्रिया ही कह रही है कि ग्रन्थकर्ता यहाँ किसी अन्य पुरुषका वचन दे रहे हैं। अब पतंजलिका महाभाष्य देखिए। उसमें १-२-१ के ५ वें वार्तिकके भाष्यमें बिलकुल यही वाक्य दिया हुआ है—एक अक्षरका भी हेरफेर नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिके कर्ताने अन्य व्याकरण-ग्रन्थोंके भी प्रमाण दिये हैं।

१. 'संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास' में श्री युधिष्ठिर मीमांसकने लिखा है कि जैनेन्द्रसे कई शताब्दि पूर्वके चान्द्र व्याकरणमें भी एकशेष प्रकरण नहीं है।

२. तत्त्वार्थराजवार्तिकमें इसी 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्रकी व्याख्यामें पतंजलिका यह भाष्य ज्योंका त्यों अक्षरशः दिया है। अभयनन्दिका भी यही वार्तिक है। परन्तु तब तक अभयनन्दिका अस्तित्व ही न था।

३. राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें भी यह वाक्य उद्धृत किया गया है।

सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सूत्र १६ की व्याख्यामें लिखा है, “शास्त्रेऽपि ‘अश्ववृषयोमैथुनेच्छायामित्येवमादिषु तदेव गृह्यते ।” यह पाणिनिके ७-१-५१ सूत्रपर कात्यायनका पहला वार्तिक है । वहाँ “अश्ववृषयोमैथुनेच्छायाम्” इतने शब्द हैं और इन्हींको सर्वार्थसिद्धिकारने लिया है । यहाँ कात्यायनके वार्तिकको उन्होंने ‘शास्त्र’ शब्दसे व्यक्त किया है ।

सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र ४ की व्याख्यामें ‘नित्य’ शब्दको सिद्ध करनेके लिए पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं, “नेः ध्रुवे त्यः इति निष्पादितत्वात् ।” परन्तु जैनेन्द्रमें ‘नित्य’ शब्दको सिद्ध करनेवाला कोई सूत्र ही नहीं है, इसलिए अभयनन्दिने अपनी वृत्तिमें “ङ्येस्तुट्” [३-२-८६] सूत्रकी व्याख्यामें “नेध्रुवः इति वक्तव्यम्” यह वार्तिक बनाया है और ‘नित्यं सर्वकालं भवं नित्यं’ इस तरह स्पष्ट किया है । जैनेन्द्रमें ‘त्य’ प्रत्यय ही नहीं है, इसके बदले ‘य’ प्रत्यय है । अतः सर्वार्थसिद्धिकारने पूर्वोक्त बात स्वनिर्मित व्याकरणको लक्ष्यमें रखकर नहीं कही है । अन्य व्याकरणोंके प्रमाण भी वे देते थे और यह प्रमाण भी उसी तरहका है ।

कुछ स्थानोंमें उन्होंने अपने निजके सूत्र भी दिये हैं । जैसे पाँचवें अध्यायके व्याख्यानमें लिखा है “विशेषणं विशेष्येण” इति वृत्तिः ।” यह जैनेन्द्रका १-३-५२ वाँ सूत्र है । यह सूत्र शब्दार्णव-चन्द्रिका [१-३-४८] वाले पाठमें भी है ।

इन सब प्रमाणोंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि जैनेन्द्रका असली सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिकृत वृत्ति है । शब्दार्णव-चन्द्रिकावाला पाठ असली सूत्र-पाठको संशोधित और परिवर्धित करके बनाया गया है और उसका यह संस्करण संभवतः गुणनन्दि आचार्यकृत है ।

अब प्रश्न यह है कि जब गुणनन्दिने मूल ग्रंथमें इतना परिवर्तन और संशोधन किया, तब उस परिवर्तित ग्रन्थका नाम जैनेन्द्र ही क्यों रक्खा ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक तो शब्दार्णव-चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रियाके पूर्वोक्तलिखित श्लोकोंसे गुणनन्दिके व्याकरणका नाम ‘जैनेन्द्र’ नहीं किन्तु ‘शब्दार्णव’ मालूम होता है । सम्भव है कि अर्ध-दग्ध लेखकोंकी कृपासे इन टीका ग्रंथोंमें ‘जैनेन्द्र’ नाम शामिल हो गया हो । दूसरे यदि ‘जैनेन्द्र’ नाम हो भी, तो ऐसा कुछ अनुचित नहीं है । क्योंकि गुणनन्दिका प्रयत्न कोई स्वतंत्र ग्रंथ बनानेकी इच्छासे नहीं किन्तु ‘जैनेन्द्र’ को सर्वांगपूर्ण बनानेकी सदिच्छासे है और इसीलिए उन्होंने जैनेन्द्रके आधेसे अधिक सूत्र ज्योंके त्यों रहने दिये हैं, तथा मंगलाचरण आदि भी उसका ज्योंका त्यों रक्खा है ।

जैनेन्द्रकी टीकाएँ

पूज्यपादस्वामीकृत असली जैनेन्द्रकी इस समय तक केवल चार ही टीकाएँ उपलब्ध हैं—१. अभयनन्दिकृत ‘महावृत्ति’, २. प्रभाचन्द्रकृत ‘शब्दाभोजभास्करन्यास’, ३. श्रुतकीर्तिकृत ‘पंचवस्तुप्रक्रिया’ और ४. पं० महाचन्द्रकृत ‘लघुजैनेन्द्र’ । परन्तु इसके सिवाय इसकी और भी कई टीकाएँ होनी चाहिए । पंचवस्तुके अन्तके श्लोकमें जैनेन्द्रशब्दागम या जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी है । वह मूलसूत्ररूप स्तम्भोंपर खड़ा किया गया है, न्यासरूप उसकी भारी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके किवाड़ हैं, भाष्यरूप शय्यातल है, टीकारूप उसके माल या मंजिल हैं और यह पंचवस्तु टीका उसकी सोपानश्रेणी है । इसके द्वारा उक्त महलपर आरोहण किया जा सकता है । इससे मालूम होता है कि पंचवस्तुके कर्ताके समयमें इस व्याकरणपर १ न्यास, २ वृत्ति, ३ भाष्य और ४ कई टीकाएँ, इतने टीका-ग्रन्थ मौजूद थे ।

१. तत्त्वार्थराजवार्तिकमें भी है “शास्त्रेऽपि अश्ववृषयोमैथुनेच्छायामित्येवमादौ तत्रैव कर्माख्यायते ।”

२. सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रबिलसन् न्यासोरत्नक्षितिश्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्योऽथ शय्यातलम् ।

टीकामालमिहारुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं प्रासादं पृथु पंचवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात् ॥

न्यास—उक्त टीकाओंमेंसे 'न्यास' तो शाब्द स्वयं पूज्यपादका ही होगा जो अभी तक अनुपलब्ध है। शिमोगा जिलेकी नगर तहसील के ४६वें शिलालेखमें लिखा है कि पूज्यपादने एक तो (अपने व्याकरणपर) जैनेन्द्र-संज्ञक न्यास और दूसरा पाणिनि व्याकरण पर शब्दावतार नामक न्यास बनाया। इसके सिवाय वैद्यक-शास्त्र और तत्त्वार्थ-टीका भी लिखी।

यह निश्चय है कि पूज्यपाद केवल सूत्र-ग्रन्थ बनाकर ही न रह गये होंगे। अपनी मानो हुई अतिशय सूक्ष्म संज्ञाओं और परिभाषाओंका स्पष्टीकरण करनेके लिए उन्हें कोई टीका या वृत्ति अवश्य बनानी पड़ी होगी जिस तरह शाकटायनने अपने व्याकरणपर अमोघवृत्ति नामकी स्वोपज्ञटीका बनाई।

विद्यानन्दने अष्टसहस्री (पृष्ठ १३२) में 'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानात्' यह वचन उद्धृत किया है। यह किसी व्याकरण ग्रन्थका वार्तिक है; परन्तु पाणिनिके किसी भी वार्तिकमें यह नहीं मिलता। अभय-नन्दिकी महावृत्तिमें अवश्य ही "प्यखे कर्मणि का वक्तव्या" [४-१-३८] इस प्रकारका वार्तिक है; परन्तु अभयनन्दिकी वृत्ति विद्यानन्दसे पीछे की बनी हुई है, इसलिए विद्यानन्दने यह वार्तिक अभयनन्दिकी वृत्तिसे नहीं किन्तु अन्य ही किसी ग्रन्थसे लिया होगा।

भाष्य—जैनेन्द्रके भाष्यका अभी तक पता नहीं लगा।

आगे हम उपलब्ध टीकाग्रन्थोंका परिचय देते हैं—

१-महावृत्ति—इसकी एक प्रति पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूटमें मौजूद है और एक प्रति बम्बईके सरस्वती-भवनमें भी है। पूनेकी प्रतिमें इसको श्लोकसंख्या १२००० के लगभग है। प्रारंभके ३१४ पत्र एक लेखकके लिखे हुए और शेष ७४ पत्र, चैत्र सुदी २ मं० १६३३ को किसी दूसरे लेखकके लिखे हुए हैं। प्रतिके दोनों ही भाग जयपुरके लिखे हुए मात्राम होते हैं। कई स्थानोंमें कुछ पंक्तियाँ छूटी हुई हैं^३ और अन्तमें कोई प्रशस्ति आदि नहीं है^३।

इस महावृत्तिके कर्ता अभयनन्दि मुनि हैं। उन्होंने न तो अपनी गुफपरम्पराका ही परिचय दिया है और न ग्रन्थ रचनाका समय ही। परन्तु सूत्र ३-२-५५ की टीकामें एक जगह उदाहरण दिया है— "तत्त्वार्थवार्तिकमर्थायते।" इससे मालूम होता है कि भट्टकलङ्कदेवके बाद अर्थात् वि० की आठवीं नवीं शताब्दिके बादकी यह वृत्ति है—और पंचवस्तुके पूर्वोल्लिखित श्लोकमें इसी वृत्तिका उल्लेख जान पड़ता है, इसलिए श्रुतकीर्तिके अर्थात् विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके पहले किसी समयमें वे हुए हैं। जैनेन्द्रकी उपलब्ध टीकाओंमें यही टीका सबसे प्राचीन मालूम होती है।

२-शब्दाभोजभास्करन्यास—बम्बईके सरस्वती-भवनमें इसकी दो अपूर्ण प्रतियाँ मौजूद हैं। एक प्रतिमें १४ वें पत्रसे २६६ तक और फिर ६२० वें पत्रसे ७०३ तकके ही पत्र हैं। १४ वें पत्रपर पहले

१. न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।

यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपादस्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णहृद्यो धवृत्तः ॥

२. नं ५६० A और B सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट ।

३. ओं नमः । श्रीमत्सर्वज्ञवार्तारागतद्वचनतदनुसारिगुरुभ्यो नमः ।

देवदेवं जिनं नत्वा सर्वसत्त्वाभयप्रदम् । शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विरच्यते ॥ १ ॥

यच्छब्दलक्षणमसुब्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ द्रिद्वैः ।

तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥ २ ॥

शिष्टाचारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मंगलमिदमाहाचार्यः ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

समाप्तश्चायं पञ्चमोऽध्यायः ।

अध्यायके पहले पादका १६ वाँ सूत्र है। यह प्रति बहुत प्राचीन और शुद्ध है परन्तु आगसे भुलसी हुई है। दूसरी प्रतिमें केवल तीन अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या १२००० है। इससे जान पड़ता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ १६००० के लगभग होगा।

अभयनन्दिकी वृत्तिसे यह बड़ा है और उससे पीछे बना है। इसमें महावृत्तिके शब्द ज्योंके त्यों ले लिये गये हैं और तीसरे अध्यायके अन्तके एक श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार भी किया है।

इसके कर्ता प्रभाचन्द्र हैं और वे प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके ही कर्ता मालूम होते हैं। क्योंकि इसके प्रारंभमें ही यह कहा गया है कि अनेकान्तकी चर्चा उक्त दोनों ग्रन्थोंमें की गई है, इसलिए यहाँ नहीं करते। अत्रय ही इसमें उन्होंने अपने ही ग्रन्थोंको देखनेके लिए कहा है, “अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यासामान्याधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनैकान्तः, अनेकान्तात्मक इत्यर्थः। तत्र च प्रतिष्ठितमित्थ्याविकल्पकल्पिताशेषविप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिप्रमाणमेव प्रत्यस्तमयतीति (?) तद्विततया तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानदिश्च यथा सिद्ध्यति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रतिरूपितमिह द्रष्टव्यम्।”

इसके मंगलाचरणमें पूज्यपाद और अकलंकको नमस्कार किया गया है।

३—पंचवस्तु—भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें इसकी दो प्रतियाँ मौजूद हैं, जिनमें एक ३००—४०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई है और बहुत शुद्ध है और दूसरी^३ संवत् १६२० की। पहलीपर लेखकका नाम और प्रति लिखनेका समय आदि नहीं है। इसके अन्तमें केवल इतना लिखा हुआ है—“कृतिरियं देवनद्याचार्यस्य परवादिमथनस्य ॥६॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयोः ॥ श्रीसंघस्य ॥”

दूसरी प्रति रत्नकरएडभावाकाचारवचनिका आदि अनेक भाषाग्रन्थोंके रचयिता सुप्रसिद्ध पण्डित सदासुखजीके हाथकी संवत् १९१० की लिखी हुई है^४।

यह टीका प्रक्रिया-बद्ध है और बड़े अच्छे ढंगसे लिखी गयी है। इसकी श्लोकसंख्या ३३०० के लगभग है। प्रारंभके विद्यार्थियोंके लिए बड़ी उपयोगी है।

इस ग्रन्थके आदि-अन्तमें कहीं भी कर्ताका नाम नहीं है। केवल एक जगह पाँचवें पत्रमें नाम आया है, जिससे मालूम होता है कि इसके रचयिता श्रुतकीर्ति है^५।

१. नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने । प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥

२. नं० १०५६ सन् १८८७-६१ की रिपोर्ट ।

३. नं० ५६० सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट । इस ग्रन्थकी एक प्रति परतापगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरके भंडारमें भी है। देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५।

४. अन्ते नभश्चन्द्रविधिस्थिरांके शुद्धे सहस्र्यम (?) युक् चतुर्थ्याम् ।

सत्प्रक्रियाबन्धनिबन्धनेयं सद्वस्तुवृत्तीरदनात्समाप्ता (?) ॥

श्रीमन्नारायामधिपेशराज्ञि श्रीरामसिंहे विलसत्यलेखि ।

श्रीमद्भुधनेह सदासुखेन श्रीयुक्फतेलालनिजात्मबुद्धयै ॥

शब्दीयशास्त्रं पठितं न यैस्तैः स्वदेहसंपालनभारवद्भिः ।

किं दर्शनीयं कथनीयमेतद् वृथागसंधावपलापवद्भिः ॥

यह प्रति भी प्रायः शुद्ध है।

५. याम-वैर-वर्ण-कर-चरणादीनां संघातानां बहूनां संभवत्वात् संशयानः शिष्यः संपृच्छति स्म ।

कस्सन्धिरिति ।

संशास्वरप्रकृतिहृज्जविसर्गजन्मा संधिस्तु पंचक इतीत्थमिहाहुरन्ये ।

तत्र स्वरप्रकृतिहृज्जविकल्पतोऽस्मिन्संधिं त्रिधा कथयति श्रुतकीर्तिरार्यः ॥

कनड़ी भाषाके चन्द्रप्रभचरित नामक ग्रन्थके कर्ता अगल कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है—“इदु . परमपुरुनाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिन्नाथ—श्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्री मद्गलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते—” इत्यादि । और यह चरित शक संवत् १०११ (वि० सं० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ है । अतएव यदि श्रुतकीर्ति और श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती एक ही हों तो पंचवस्तुको भी अभयनन्दि महावृत्तिके पीछेकी—विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके प्रारंभकी—रचना समझना चाहिए । नदिसंघकी गुंवावलीमें श्रुतकीर्तिको वैयाकरण-भास्कर लिखा है ।

४—लघुजैनेन्द्र—इसकी एक प्रति अंकलेश्वर (भरोच) के दिगम्बर जैनमन्दिरमें है और दूसरी अधूरी प्रति परतापगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरमें । यह अभयनन्दिकी वृत्तिके आधारसे लिखी गई है । परिणत महाचन्द्रजी विक्रमकी इसी बीसवीं शताब्दिमें हुए हैं ।^३ इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और भाषामें कई ग्रंथ लिखे हैं ।

५—जैनेन्द्र-प्रक्रिया—यह पं० वंशीधरजी न्यायतीर्थ न्यायशास्त्रीने हाल ही लिखी है । इसका केवल पूर्वार्ध ही छपकर प्रकाशित हुआ है ।^५

शब्दार्णवकी टीकाएँ

जैनेन्द्र सूत्र-पाठके संशोधित परिवर्धित संस्करणका नाम—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है—शब्दार्णव है । इसके कर्ता गुणनन्दि हैं । यह बहुत संभव है कि सूत्र-पाठके सिवाय उन्होंने इसकी कोई टीका या वृत्ति भी बनाई हो जो कि उपलब्ध नहीं है ।

गुणनन्दि नामके कई विद्वान् हो गये हैं । एक गुणनन्दिका उल्लेख श्रवणबेलगोलके ४२, ४३ और ४७ वें नम्बरके लिखालेखोंमें मिलता है । ये बलाकपिच्छके शिष्य और गृध्रपिच्छके प्रशिष्य थे । तर्क, व्याकरण और साहित्य शास्त्रोंके बहुत बड़े विद्वान् थे । इनके ३०० शास्त्रपरंगत शिष्य थे और उनमें ७२ शिष्य सिद्धान्तशास्त्री थे । आदि पंपके गुरु देवेन्द्र भी इन्हींके शिष्य थे । कर्नाटक-वचनचरितके कर्ताने इनका समय वि० संवत् ६५७ निश्चय किया है । क्योंकि इनके प्रशिष्य देवेन्द्रके शिष्य आदि पंपका जन्म वि० सं० ६५६ में हुआ था और उसने ३६ वर्षकी अवस्थामें अपने सुप्रसिद्ध कनड़ी काव्य भारतचम्पू और आदिपुराण निर्माण किये हैं । हमारा अनुमान है कि ये ही गुणनन्दि शब्दार्णवके कर्ता हैं ।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यके कर्ता वीरनन्दिका समय शक संवत् ९०० के लगभग निश्चित होता है । क्योंकि वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें उनका स्मरण किया है और वीरनन्दिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार

१. त्रैविद्यः श्रुतकार्णवयो वैयाकरणभास्करः ।

२. देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५ ।

३. महावृत्ति शुभन्सकलबुधपूज्यां सुखकर्त्रीं, विलोक्योद्यद्ज्ञानप्रभुविभयनन्दिप्रवहिताम् ।

अनेकैः सच्छब्दैर्भ्रमविगतकैः संदृढभूतां (?) प्रकुर्वेऽहं (टीकां) तनुमतिमहाचन्द्रविबुधः (?) ॥

४. जैनेन्द्रकी एक टीका प्रक्रियावतार नामकी और है जिसके कर्ता नेमिचन्द्र हैं । डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ दि सं० मे० गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मेनु० लायब्रेरी मद्रास, वोल्यूम III में उसका परिचय दिया है—
सर्वज्ञाय नमस्तस्मै वीतक्लेशाय शान्तये । येन भव्यात्मनश्चेतस्तमस्तोमश्चिकित्सितः ॥

किं वाणीचतुरानः किमथवा वाचस्पतिः किं न्वसौ, विद्यानां विभवात्सहस्रवदनस्साक्षादनन्तः किमु ।

इत्थं संसदि साधवः समुदितास्सशेरते सादरं, विद्वत्पुङ्गवनेमिचन्द्रभवति व्याख्यानामातन्वति ॥

५. तच्छिष्यो गुणनन्दिपण्डितयतिश्चारित्रचक्रेश्वरः, तर्कव्याकरणादिशास्त्रनिपुणः साहित्यविद्यापतिः ।

मिथ्यात्वादिमदान्धसिन्धुरघटासंघातकण्ठीरवो, भव्याम्भोजदेवाकरो विजयतां कन्दर्पदर्पापहः ॥

है—१ श्री गुणनन्दि, २ विबुध गुणनन्दि, ३ अभयनन्दि और ४ वीरनन्दि । यदि पहले गुणनन्दि और वीरनन्दिके बीचमें हम ७८ वर्षका अन्तर मान लें, तो पहले गुणनन्दिका समय वही शक संवत् ८२२ या वि० सं० १५७ के लगभग आ जायगा । इससे यह निश्चय होता है कि वीरनन्दिकी गुरुपरम्पराके प्रथम गुणनन्दि और आदि पम्पके गुरु देवेन्द्रके गुरु गुणनन्दि एक ही होंगे ।

गुणनन्दि नामके एक और आचार्य शक संवत् १०३७ [वि० सं० ११७२] में हुए हैं जो मेघचन्द्र त्रैविद्यके गुरु थे ।

* शब्दार्णवकी इस समय दो टीकाएँ उपलब्ध हैं और दोनों ही सनातनजैनग्रन्थमालामें छप चुकी हैं—

१-शब्दार्णवचन्द्रिका, और २-शब्दार्णव प्रक्रिया ।

१-शब्दार्णवचन्द्रिका—इसकी एक बहुत ही प्राचीन और अतिशय जीर्ण प्रति भाण्डारैकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें है । यह ताडपत्रपर नागरी लिपिमें है । इसके आदि-अन्तके पत्र प्रायः नष्ट हो गये हैं । छपी हुई प्रतिमें जो गद्य-प्रशस्ति है, वह इसमें नहीं है और अन्तमें एक श्लोक है जो पूरा नहीं पढ़ा जाता—

इन्द्रश्चन्द्रः शकटतनयः पाणिनिः पूज्यपादो

यत्प्रोवाचापिशलिरमरः काशकृत्स्न'.....शब्दपारायणस्येति ।

इसके कर्ता श्रीसोमदेव मुनि हैं । ये शिलाहार वंशके राजा भोजदेव [द्वितीय] के समयमें हुए हैं और अर्जुनिका नामक ग्रामके त्रिभुवनतिलक नामक जैनमन्दिरमें—जो कि महामण्डलेश्वर गंडरादित्यदेवका बनवाया हुआ था । इसे शक संवत् ११२७ [वि० सं० १२७२] में बनाया है । यह ग्राम इस समय आजरें नामसे प्रसिद्ध है और कोल्हापुर राज्यमें है । वादीभवज्रांकुश श्रीविशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयावृत्यसे इस ग्रन्थकी रचना हुई है ।

इस ग्रन्थके मंगलाचरणके पहले श्लोकमें पूज्यपाद, गुणनन्दि और सोमदेव ये विशेषण वीर भगवान्को दिये हैं और दूसरे श्लोकमें कहा है कि यह टीका मूलसंघीय मेघचन्द्रके शिष्य नागचन्द्र (भुजंगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यतिके लिए बनाई गई^३ ।

गुणनन्दिकी प्रशंसा चुरादि धातुपाठके अन्तमें भी एक पद्यमें की गई है, जिसका अन्तिम चरण यह है—
“शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधिगुणनन्दिव्रतीशस्सुसौख्यः ।” इसमें शब्दब्रह्मा विशेषण देकर गुणनन्दिको शब्दार्णव व्याकरणका कर्ता ही प्रकट किया गया है ।

ये मेघचन्द्र आचारसारके कर्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तिके गुरु ही मालूम होते हैं । इन्हें श्रवणबेल्लोलके नं० ४७ के शिलालेखमें सिद्धान्तज्ञतामें जिनसेन और वीरसेनके सटश, न्यायमें अकलंकके समान और व्याकरणमें साक्षात् पूज्यपादसटश बतलाया है । श्रवणबेल्लोलके नं० ५० और ५२ नम्बरके शिलालेखोंसे मालूम होता है कि इनका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ [वि० सं० ११७२] में और उनके शुभचन्द्रदेव नामक शिष्यका स्वर्गवास शक संवत् १०६८ [वि० सं० १२०३] में हुआ था । इसके सिवाय उनके दूसरे शिष्य प्रभाचन्द्रदेवने शक सं० १०४१ [वि० सं० ११७६] में एक महापूजाप्रतिष्ठा कराई थी । जब सोमदेवने शब्दार्णवचन्द्रिका मेघचन्द्रके प्रशिष्य हरिचन्द्रके लिए शक सं० ११२७ [वि० सं० १२६२] में बनाई थी, तब मेघचन्द्रका समय वि० सं० ११७२ के लगभग माना जा सकता है ।

१. नं० २५ सन् १८८०-८८ की रिपोर्ट ।

२. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपूजितपादयुग्मम् ।

सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥ १ ॥

३. श्रीमूलसंघजलजप्रतिबोधभानोर्मेघेन्दुदीक्षितभुजङ्गसुधाकरस्य ।

राद्धान्ततोनधिबुद्धिकरस्य वृत्तिं रेभे हरीन्दुयतये घरदीक्षिताय ॥ २ ॥

नागचन्द्र नामके दो विद्वान् हो गये हैं, एक पम्प रामायणके कर्ता नागचन्द्र जिनका दूसरा नाम अभिनव पम्प था, और दूसरे लब्धिसारटीकाके कर्ता नागचन्द्र । पहले गृहस्थ थे और दूसरे मुनि । अभिनव पम्पके गुरुका नाम बालचन्द्र था जो मेघचन्द्रके सहाध्यायी थे और दूसरे स्वयं बालचन्द्रके शिष्य थे । इन दूसरे नागचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए यह वृत्ति बनाई गई है । इन्हें जो 'राद्धान्ततोनियधिवृद्धिकर' विशेषण दिया है उससे मालूम होता है, कि ये सिद्धान्तचक्रवर्ती या टीकाकार होंगे ।

२—शब्दार्णव-प्रक्रिया—यह जैनेन्द्र-प्रक्रियाके नामसे छपी है, परन्तु वास्तवमें इसका नाम शब्दार्णव-प्रक्रिया ही है । हमें इसकी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिल सकी । जिस तरह अभयनन्दिकी वृत्तिके बाद उसीके आधारसे प्रक्रियारूप पंचवस्तु टीका बनी है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिकाके बाद उसीके आधारसे यह प्रक्रिया बनी है । प्रकाशकोंने इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि प्रकट किया है; परन्तु जान पड़ता है कि इसके अन्तिम श्लोकमें गुणनन्दिका नाम देखकर ही भ्रमवश इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि समझ लिया है ।

इनमेंसे पहले पद्यसे यह स्पष्ट है कि गुणनन्दिके शब्दार्णवके लिए यह प्रक्रिया नावके समान है और दूसरे पद्यमें कहा है कि सिंहके समान गुणनन्दि पृथ्वीपर सदा जयवन्त रहें । यदि इसके कर्ता स्वयं गुणनन्दि होते तो स्वयं ही अपने लिए यह कैसे कहते कि वे गुणनन्दि सदा जयवन्त रहें ? अतः गुणनन्दि ग्रन्थकर्तासे कोई पृथक् ही व्यक्ति है जिसे वे श्रद्धारूपद समझते हैं ।

तीसरे पद्यमें भट्टारकशिरोमणि श्रुतकीर्ति देवकी प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है कि वे मेरे मनरूप मानसरोवरमें राजहंसके समान चिरकालतक विराजमान रहें । इसमें भी ग्रन्थकर्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे श्रुतकीर्तिदेवके कोई शिष्य होंगे और संभवतः उन श्रुतकीर्तिके नहीं जो पंचवस्तुके कर्ता हैं । ये श्रुतकीर्ति पंचवस्तुके कर्तासे पृथक् जान पड़ते हैं । क्योंकि इन्हें प्रक्रियाके कर्ताने 'कविपति' बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं । ये वे ही श्रुतकीर्ति मालूम होते हैं जिनका समय प्रो० पाठकने शक संवत् १०४५ या वि० सं० ११८० बतलाया है^३ । श्रवणबेल्गोलके जैन गुरुओंने 'चारुकीर्ति पंडिताचार्य' का पद शक संवत् १०३२ के बाद धारण किया है और पहले चारुकीर्ति इन्हीं श्रुतकीर्तिके पुत्र थे^४ । श्रवणबेल्गोलके १०८८ वें शिलालेखमें^५ इनका जिक्र है और इनकी बहुत ही प्रशंसा की गई है ।

प्रक्रियाके कर्ताने इन्हें भट्टारकोत्तंस और श्रुतकीर्तिदेवयतिप लिखा है और इस लेखमें भी भट्टारकयति लिखा है । अतः ये दोनों एक मालूम होते हैं । आश्चर्य नहीं जो इनके पुत्र और शिष्य चारुकीर्ति परिड-ताचार्य ही इस प्रक्रियाके कर्ता हों ।

१. छपी हुई प्रति के अन्तमें "इति प्रक्रियावतारे कृद्विधिः समाप्तः । समाप्त्यं प्रक्रिया ।" इस तरह छपा है । इससे भी इसका नाम जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं जान पड़ता ।

२. सत्संधिं दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोच्चतं निर्जातं बहुतद्धितं कृतमिहाख्यातं यशःशालिनम् । सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णयं नावित्याश्रयतां विविधुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥ १॥ दुरितमदेभनिशुम्भकुम्भस्थलभेदनक्षमोग्रनखैः । राजन्मृगाधिराजो गुणनन्दी भुवि चिरं जीयात् ॥ २॥ सन्मार्गे सकलसुखप्रियकरे संज्ञापिते सद्दने दिग्वासस्सु चरित्रवानमलकः कान्तो विवेकी प्रियः । सोऽयं यः श्रुतकीर्तिदेवयतिपो भट्टारकोत्तंसको रंरम्यान्मम मानसे कविपतिः सदाजहंसश्चिरम् ॥ ३॥

३. देखो 'सिस्टिम्स आफ् संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६७ ।

४. देखो 'कर्नाटक जैन कवि' पृष्ठ २० ।

५. तत्र सर्वशरीररक्षाकृतमतिविजितेन्द्रियः । सिद्धशासनवर्द्धनप्रतिलब्धकीर्तिकालापकः ॥ २२॥

विश्रुतश्रुतकीर्तिभट्टारकयतिस्समजायत । प्रस्फुरद्वचनान्मृतांशुविनाशिताखिलहृत्समाः ॥ २३॥

देवनन्दिका समय

देवनन्दिने अपने किसी ग्रन्थमें न तो कोई रचना-तिथि दी है और न अपनी गुरुपरम्परा। इसलिए उनके समयका निर्णय उनके ग्रन्थोंके उल्लेखों तथा दूसरे साधनोंसे ही करना पड़ेगा।

जैनेन्द्र व्याकरणके 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' [५-१-७] सूत्रमें सिद्धसेनका मत दिया है और प्रज्ञाचन्द्र पं० सुखलालजीने सिद्धसेनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है^१। उनके लेखका सारांश आगे दिया जाता है—

“जैसलमेरके जैन भण्डारमें विशेषावश्यक भाष्यकी जो अतिशय प्राचीन प्रति मिली है उसके अंतमें ग्रन्थकार जिनभद्र गणिने स्वयं ही ग्रन्थ-रचना-काल दिया है। और उसके अनुसार उक्त ग्रन्थ वि० सं० ६६६ में बल्लभीमें समाप्त हुआ है। उन्होंने अपने इस विशेषावश्यक भाष्यमें और द्वितीय लघुग्रन्थ विशेषणवतीमें सिद्धसेन और मल्लवादिके उपयोगभेद-वादकी विस्तृत समालोचना की है। मल्लवादि सिद्धसेनके सन्मतितर्कके टीकाकार हैं। इससे सिद्ध होता है कि मल्लवादि और सिद्धसेन जिनभद्रगणिसे क्रमशः पूर्व और पूर्वतर हैं। मल्लवादिके विनष्टमूल द्वादशार नयचक्रके जो प्रतीक उसके विस्तृत टीकाग्रन्थमें मिलते हैं उनमें सिद्धसेन दिवाकरके उल्लेख तो हैं, परन्तु जिनभद्रगणिके नहीं हैं। इससे फलित होता है कि मल्लवादि जिनभद्रसे पहले हुए हैं और मल्लवादिने सिद्धसेनके सन्मतितर्कपर टीका लिखी थी, इसका निर्देश आचार्य हरिभद्रने किया है। अतः यह सिद्ध है कि सिद्धसेन मल्लवादिके पहले हुए हैं। इसलिए मल्लवादिको विक्रमकी छठी शताब्दिके पूर्वार्धमें माना जाय, तो सिद्धसेनका समय पाँचवीं शताब्दि ठीक लगता है।

“सिद्धसेनके मतके अनुसार 'विद्' धातुमें 'र' का आगम होता है, भले ही वह सकर्मक हो। उनकी नवीं द्वात्रिंशतिकाके २२वें पद्यमें 'र' आगमवाला 'विद्रते' प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक अकर्मक विद् धातुमें 'र' आगम मानते हैं जब कि सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक विद् धातुमें 'र' आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके [अ० ७ सूत्र १३] में सिद्धसेनकी तीसरी द्वात्रिंशतिकाके १६ वें पद्यकी 'उक्तं च' शब्दके साथ “वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते” पंक्ति उद्धृत की है। द्वात्रिंशतिकामें यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते
शिवं च न परोपमर्दपु [प] रुषस्मृतेर्विद्यते ।
वधायतनमभ्युपैति च पराननिघ्नमपि
त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रथ[श]महेतुरुद्योतितः ॥१६॥

“पूज्यपाद देवनन्दिका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध माना जाता है। परन्तु मेरी समझमें अभी इसपर और भी गहराईसे विचार होनेकी जरूरत है। यदि सिद्धसेनको देवनन्दिसे पूर्ववर्ती अथवा उनका वृद्धसमकालीन माना जाय, तो भी उनका समय पाँचवीं शताब्दिसे अर्वाचीन नहीं जान पड़ता।”

सिद्धसेनसे देवनन्दि कितने बादके हैं, इसका निर्णय करनेके लिए देवसेनके दर्शनसारसे भी कुछ सहायता मिल सकती है। यह ग्रन्थ उन्होंने वि० सं० ६६० में धारानगरीमें निवास करते हुए पूर्वाचार्योंकी बनाई हुई गाथाओंका एकत्र संचय करके—‘पुष्पाहरियकयाहं गाहाहं संचिउण्य एयत्थ’ लिखा गया है। अर्थात् इस ग्रन्थकी गाथाएँ देवसेनसे भी पहलेकी हैं और इस दृष्टिसे उनकी प्रामाणिकता अधिक है। उसके अनुसार भी पूज्यपादका शिष्य पाहुडवेदि वज्रनन्दि द्राविड संघका कर्ता हुआ और तब दक्षिण मथुरा [मदुरा] में

१ देखो भारतीय विद्या, भाग ३, अंक ५ में 'श्री सिद्धसेन दिवाकरनां समयनी प्रश्न' शीर्षक लेख।

वि० सं० ५२६ में यह महामिथ्याती संघ उत्पन्न हुआ। वज्रनन्दि चूँकि देवनन्दिके शिष्य थे, इसलिए इस संघ-स्थापना-कालके लगभग या दस बीस वर्ष पहले देवनन्दिका समय माना जा सकता है। सिद्धसेनके पूर्वोक्त निश्चित किये हुए समयसे भी यह असंगत नहीं जान पड़ता।

पं० युधिष्ठिर मीमांसकने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' लिखा है। उन्होंने जैनेन्द्रके 'वेत्तेः सिद्ध-सेनस्य' सूत्रपरसे अनुमान किया है कि सिद्धसेनका कोई व्याकरण ग्रन्थ अवश्य होगा। उज्ज्वलदत्तकी उणादि सूत्र वृत्तिमें 'क्षपणक' के नामसे एक ऐसा सूत्र उद्धृत है जिससे प्रतीत होता है कि क्षपणकने भी उणादि सूत्रोंपर कोई व्याख्या लिखी थी और उससे यह भी संभावना होती है कि क्षपणकने अपने शब्दानुशासनपर भी कोई वृत्ति रची होगी। मैत्रेयरक्षितने तंत्रप्रदीपमें भी क्षपणकके व्याकरणका उल्लेख किया है।

बहुतेसे विद्वानोंकी राय है कि ज्योतिर्विदाभरणमें^३ बतलाये हुए विक्रमके नौ रत्नोंमें जो क्षपणक है, वही सिद्धसेन है और गुप्तवंशके चंद्रगुप्त (द्वितीय) ही विक्रमादित्य हैं। इतिहासज्ञ विन्सेंट स्मिथके अनुसार चंद्रगुप्तका समय वि० सं० ४३२ से ४७० तक है और इस तरह सिद्धसेनका समय जो पं० सुखलालजीने विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है, और भी पुष्ट हो जाता है।

हेबुरुके दानपत्रमें गंगवंशी महाराजा अविनीतके पुत्र दुर्विनीतको "शब्दावतारकारः देवभारतीनिबद्ध-बृहत्कथः किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारः" ये तीन विशेषण दिये हैं जिनका अर्थ होता है—शब्दावतारके कर्ता, पैशाचीसे संस्कृतमें गुणाढ्यकी बृहत्कथाको रचनेवाले और किरातार्जुनीय काव्यके पन्द्रह सर्गोंके टीकाकार। इन विशेषणोंमें कोई ऐसी बात नहीं जिससे यह प्रकट हो कि देवनन्दि दुर्विनीतके शिष्यागुरु थे या उनके समकालीन थे। परन्तु चूँकि शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेके ४६ वें शिलालेखमें^४ पूज्यपादको पाणिनीयके शब्दावतारका कर्ता बतलाया है, इसलिए दुर्विनीतके साथ लगे हुए "शब्दावतारकार" विशेषणसे कुछ विद्वानोंको भ्रम हो गया और दोनोंको समकालीन समझकर गुरु-शिष्यका सम्बन्ध खड़ा कर दिया है। दुर्विनीतका राज्यकाल वि० सं० ५३९ से शुरू होता है, इसलिए इसीके लगभग पूज्यपादका समय मान लिया गया, परंतु मैसूरके आस्थान विद्वान् पं० शान्तिराज शास्त्रीने भास्करनन्दिकृत तत्त्वार्थटीकाकी प्रस्तावनामें इस भ्रमको स्पष्ट कर दिया है। इसलिए भले ही पूज्यपाद देवनन्दि दुर्विनीतके राज्यकालमें रहे हों, परन्तु केवल इस दानपत्रसे वह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जैनेन्द्र व्याकरणके एक और सूत्र "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" [४-४-१४०] में सिद्धसेनके ही समान आचार्य समन्तभद्रका उल्लेख है, जिससे समन्तभद्रका देवनन्दिसे पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है, परन्तु साथ ही

१. सिरिपुज्जपादर्सासो दाविडसंघस्स कारणो दुट्ठो । णामेण वज्जणर्दा पाहुडवेर्दा महासत्तो ॥
पंचसए छुर्वासे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स । दक्खिणमहुरा-जादो दाविडसंघे महामोहो ॥
२. प्रकाशक—भारतीय साहित्यभवन, नवाबगंज, दिल्ली।
३. धन्वन्तरिक्षपयकाभरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहरो नृपतेः समायाः रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥
४. मैसूर एण्ड कुर्ग गैजेटियर, प्रथम भाग पृ० ३७३.
५. इस शिलालेखका वह 'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं' आदि पद्य इसके पहले पृष्ठ ३३ पर उद्धृत किया है।
६. बौद्धाचार्य चन्द्रकीर्तिने "समन्तभद्र" नामका एक व्याकरण लिखा था और चन्द्रकीर्ति धर्मकीर्तिसे भी पूर्ववर्ती है। १४ वीं शताब्दिमें लिखे हुए बौद्ध धर्मके इतिहाससे जो तिब्बती भाषामें है, और जिसका अंग्रेजी अनुवाद हो गया है इस बातकी सूचना मिलती है। पं० श्री दलसुख माखणियाने अपने एक पत्रमें मुझे यह लिखा है।

सर्वार्थसिद्धि टीकाके 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि मंगलाचरण पर समन्तभद्रने 'आत्ममीमांसा' नामक ग्रन्थ लिखा है। इससे जान पड़ता है कि दोनों समकालीन एक दूसरेका आदर करनेवाले हैं और एक दूसरेके ग्रन्थोंसे सुपरिचित होनेके कारण ही यह संभव हुआ है कि देवनन्दि अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें समन्तभद्रका व्याकरणविषयक मत देते हैं और समन्तभद्र देवनन्दिकी सर्वार्थसिद्धिके मंगलाचरणपर अपनी आत्ममीमांसा निर्माण करते हैं।

आचार्य विद्यानन्दने अपनी आत्मपरीक्षाके अन्तमें लिखा है—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरस्नोद्भवस्य,
प्रोस्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुयशं स्वामिमीमांसितं तत् ,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धये ॥ १२३ ॥

अर्थात् प्रकाशमान रत्नोंके उद्भवस्थान तत्त्वार्थशास्त्र रूप अद्भुत समुद्रके उत्थान या बढ़ावके आरम्भकालमें शास्त्रकार (देवनन्दि) ने तीर्थके तुल्य जो प्रसिद्ध और अति यशस्वी स्तोत्र (मोक्षमार्गस्य नेतारं आदि) बनाया और जिसकी स्वामि (समन्तभद्र) ने मीमांसा की, उसीका अपनी शक्तिके अनुसार सत्यवाक्यार्थसिद्धिके लिए विद्यानन्दने बड़े आदरके साथ कथन किया।

इसमें यह बिलकुल स्पष्ट रूपसे कह दिया गया है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इस मंगलाचरण पर ही आत्ममीमांसा रची गई है और उसीपर विद्यानन्द परीक्षा (आत्मपरीक्षा) लिखते हैं।

परन्तु उक्त पद्यमें जो 'शास्त्रकारैः' पद पढ़ा हुआ है, उसपर एक बड़ा भारी विवाद खड़ा कर दिया गया है और उसका अर्थ किया जाता है—तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति; जब कि वास्तवमें मोक्षमार्गस्य नेतारं आदि मंगलाचरण सर्वार्थसिद्धिका है। मूल तत्त्वार्थसूत्रका नहीं। क्योंकि यदि यह मंगलाचरण तत्त्वार्थसूत्रका होता तो उसकी टीका सभी दिगम्बर श्वेताम्बर टीकाकार जो प्राचीन हैं—अवश्य करते। और कोई न करता तो देवनन्दि पूज्यपाद तो [सर्वार्थसिद्धिमें] अवश्य करते। सर्वार्थसिद्धि टीकाका पहला संस्करण स्व० पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेने प्रकाशित किया था। उसमें इसे टीकाके मंगलाचरणके रूपमें ही दिया है और भूमिकामें भी उन्होंने इसे टीकाका ही बतलाया है। शोलापुरके पं० वंशीधरजी शाल्लोके संस्करणमें भी यह टीकाका है और यह संस्करण उन्होंने आगरेकी तीन प्राचीन प्रतियोंके आधारसे सम्पादित किया है। उसमेंकी एक प्रतिको तो वे ५०० वर्ष पुरानी बतलाते हैं। अकलंकदेव और विद्यानन्दने भी राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसकी टीका नहीं की है, श्वेताम्बर टीकाकार सिद्धसेन और हरिभद्र आदिने भी नहीं की। तत्त्वार्थसूत्रपाठ [मूल] की भी अधिकांश लिखित प्रतियाँ इस मंगलाचरणसे रहित हैं। सनातनग्रन्थमाला प्रथम गुच्छक, जैननित्यपाठसंग्रह आदि मुद्रित प्रतियोंमें भी यह नहीं है^२। तत्त्वार्थसारमें भी, जो तत्त्वार्थका एक तरहसे पल्लवित पद्यानुवाद है, अमृतचन्दने इस मंगल पद्यका अनुवाद नहीं किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह मंगलाचरण सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता पूज्यपाद देवनन्दिका है, इसीपर समन्तभद्रने आत्ममीमांसा और विद्यानन्दने आत्मपरीक्षाकी रचना की।

१. दिगम्बर टीकाकारोंमें श्रुतसागर और भास्करनन्दिने 'मोक्षमार्गस्य' आदिका टीका की है। इनमें श्रुतसागर विक्रमकी सोलहवीं शताब्दिके अन्तमें हुए हैं और भास्करनन्दि १३-१४ वीं शताब्दिमें।

२. जिन पोथियों या गुटकोंमें मूल तत्त्वार्थसूत्र लिखा मिलता है, उसमें इस मंगलाचरणके साथ ही प्रायः 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं' आदि संस्कृत पद्य और भगवती आराधनाके प्रारम्भकी 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' आदि दो गाथाएँ भी लिखी रहती हैं और उनके बाद 'सग्यदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः शुरु होता है। वास्तवमें जो लोग नित्यपाठ करते हैं, उन्होंने यह परम्परा चला दी है।

अतएव समन्तभद्र और देवनन्दि छठी शताब्दिके हैं और समकालीन हैं। सिद्धसेन उनके पूर्ववर्ती हैं।

जैनेन्द्रोक्त अन्य आचार्य

पाणिनि आदि वैयाकरणोंने जिस तरह अपनेसे पहलेके वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उसी तरह जैनेन्द्रसूत्रोंमें भी नीचे लिखे पूर्वाचार्योंका उल्लेख मिलता है—

१ राट् भूतबले: [३-४-८३], २ गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [१-४-३४], ३ कृष्टुषिमृजां यशोभद्रस्य [२-१-६६], ४ रात्रे: कृति प्रभाचन्द्रस्य [४-३-१८०], ५ वेत्ते: सिद्धसेनस्य [५-१-७], ६ चतुष्टयं समन्तभद्रस्य [५-४-१४०]।

जहाँतक हम जानते हैं इन छहों आचार्योंमेंसे शायद किसीने भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखा है। इनके ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको लक्ष्य करके उक्त सब सूत्र रचे गये हैं। शाकटायनने भी इसीका अनुकरण करके तीन आचार्योंके मत दिये हैं।

१—भूतबलि—भूतबलिका ठीक-ठीक समय निश्चित करना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीर नि० सं० ६८३ के बाद हुए हैं।^१

२—स्वामी समन्तभद्र^२ और ३—सिद्धसेन प्रसिद्ध हैं।

४—श्रीदत्त—विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें श्रीदत्तके 'जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है। मालूम होता है कि ये बड़े भारी वादि-विजेता थे^३। आदिपुराणके कर्ता जिनसेनसूरिने भी इनका स्मरण किया है। संभव है^४ ये श्रीदत्त दूसरे हों और जल्प-निर्णयके कर्ता दूसरे, तथा इन्हीं दूसरेका उल्लेख जैनेन्द्रमें किया गया हो।

५—यशोभद्र—आदिपुराणमें यशोभद्रका स्मरण करते हुए कहा है कि विद्वानोंकी सभामें जिनका नाम कीर्तन सुननेसे ही वादियोंका गर्व खर्व हो जाता है।^५

६—प्रभाचन्द्र—आदिपुराणमें जिनसेन स्वामीने प्रभाचन्द्र कविकी स्तुति की है, जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना की थी। हरिवंशपुराणमें भी इनका स्मरण किया गया है। ये कुमारसेनके शिष्य थे।

उपलब्ध ग्रन्थ

जैनेन्द्रके सिवाय पूज्यपादके केवल पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

१—सर्वार्थसिद्धि—आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बर सम्प्रदायकी उपलब्ध टीकाओंमें सबसे पहली टीका।

२—समाधितंत्र। इसमें लगभग १०० श्लोक हैं, इसलिए इसे समाधिशतक भी कहते हैं।

३—इष्टोपदेश—यह केवल ५१ श्लोकोंका छोटा-सा ग्रन्थ है। पं० आशाधरने इसपर एक संस्कृत टीका लिखी है।

४—दशभक्ति [संस्कृत]—प्रभाचन्द्राचार्यने अपने क्रियाकलापमें इसका कर्ता पूज्यपाद या पाद-पूज्यको बतलाया है। परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता।

१-२. इसके लिए प्रो० हीरालालजीकी धवलाकी 'भूमिका' और पं० जुगलकिशोरजी मुस्तारका 'स्वामी समन्तभद्र' देखिए।

३. द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रातिभगोचरम् । त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥

४. श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये । कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभ्रमभेदने ॥४५॥

५. विदुष्विणीषु संसत्सु यस्य नामापि कीर्तितम् । निखर्बयति तद्गर्वं यशोभद्रः स पातु नः ॥४६॥

५—सिद्धप्रियस्तोत्र—निरण्यसागरकी काव्यमाला [सतमगुच्छ] में छप चुका है। २६ पद्योंमें चौबीस तीर्थङ्करोंकी स्तुति है।

अनुपलब्ध ग्रन्थ

शब्दावतार न्यास और जैनेन्द्र न्यास—पूज्यपादका पाणिनि व्याकरणपर 'शब्दावतार' नामका न्यास है और जैनेन्द्रपर स्वोपज्ञ न्यास भी है।

वैद्यक ग्रन्थ—शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णवके 'अपाकुर्वन्ति' आदि श्लोकके 'काय' शब्दसे ध्वनित होता है कि पूज्यपादका कोई वैद्यक ग्रन्थ होगा।

सार-संग्रह—धवला [वेदनाखंड पु० १ पु० १६७] के एक उद्धरणके आधारसे 'सारसंग्रह' नामक एक और ग्रन्थके होनेका अनुमान है—“तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तु-नोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति।” यह कोई न्याय या सिद्धान्तका ग्रन्थ जान पड़ता है। उक्त वाक्यका 'पूज्यपाद' किसी अन्य पूज्य आचार्यका विशेषण भी हो सकता है।

'जैनाभिषेक' नामके एक और ग्रन्थका जिकर श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० के 'जैनेन्द्रं निज-शब्द भागमतुलं' आदि श्लोकमें किया गया है।

इस लेखके लिखनेमें हमें श्रद्धेय मुनि जिनविजय और पं० वेचरदास जीवराजकी न्याय-व्याकरण-तीर्थसे बहुत अधिक सहायता मिली है। इसलिए हम उक्त दोनों सज्जनोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। मुनि महोदयकी कृपासे हमको जो साधन सामग्री प्राप्त हुई है यदि न मिलती तो यह लेख शायद ही इस रूपमें पाठकोंके सम्मुख उपस्थित हो सकता।

परिशिष्ट १

पूज्यपाद-चरित

कनड़ी भाषाके इस चरितको चन्द्रय्य नामक कविने जो कर्नाटक देशके मलयनगरकी 'ब्राह्मणगली' के रहनेवाले थे। दुःपम कालके परिधावी संवत्सरकी आश्विन शुक्ल ५, शुक्रवार, तुलालग्नमें समाप्त किया है। चरितका सारांश यह है—

१. अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवः । कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥

पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूटमें 'पूज्यपादकृत वैद्यक' नामका एक ग्रन्थ है, परन्तु वह आधुनिक कनड़ीमें लिखा हुआ कनड़ी भाषाका ग्रन्थ है। उसमें न कहीं पूज्यपादका उल्लेख है और न वह उनका बनाया हुआ है। "वैद्यसार" नामका एक और ग्रन्थ अभी जैन-सिद्धान्त-भास्करमें प्रकाशित हुआ है, पर वह भी उनका नहीं है।

विजयनगरके राजा हरिहरके समयमें एक मंगराज नामके कनड़ी कवि हुए हैं। वि० सं० १४१६ के लगभग उनका अस्तित्व-काल है। स्थावर विपोंकी प्रक्रिया और चिकित्सापर उनका खगेन्द्रमणिदर्पण नामका ग्रन्थ है। वे उसमें अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाते हैं और यह भी कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद वैद्यक ग्रन्थसे संगृहीत है। अभी हाल ही शोलापुरसे उम्रादित्याचार्यका 'कल्याणकारक' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें भी अनेक जगह 'पूज्यपादेन भाषितः' कहकर पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख किया गया है। उम्रादित्य राष्ट्रकूट अमोघवर्षके समयके बतलाये गये हैं, परन्तु हमें इसमें सन्देह है। उसकी प्रशस्तिकी भी बहुत-सी बातें सन्देहास्पद हैं जिनपर विचार होनेकी आवश्यकता है।

२. इसके लिए प्रो० हीरालालजी जैन लिखित धवला (पुस्तक १) की भूमिकाके पृष्ठ ६०-६१ देखिए।

कर्नाटक देशके 'कोले' नामक ग्रामके माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीसे पूज्यपादका जन्म हुआ। ज्योतिषियोंने बालकको त्रिलोकपूज्य बतलाया, इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रक्खा गया। माधवभट्टने अपनी स्त्रीके कहनेसे जैनधर्म स्वीकार कर लिया। भट्टजीके सालेका नाम पाणिनि था उसे भी उन्होंने जैनी बननेको कहा, परन्तु प्रतिष्ठाके खयालसे वह जैनी न होकर मुडीगुंड ग्राममें वैष्णव संन्यासी हो गया। पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहिन हुई, वह गुणभट्टको ब्याही गई, और गुणभट्टको उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ।

पूज्यपादने एक बगीचेमें एक साँपके मुँहमें फँसे हुए मैडकको देखा। इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये।

पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न हो पाया था कि उन्होंने अपना मरण-काल निकट आया जान कर पूज्यपादसे कहा कि इसे तुम पूरा कर दो। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया।

पाणिनि दुर्ध्यानवश मरकर सर्प हुए। एक बार उसने पूज्यपादको देखकर फूँकार किया, इसपर पूज्यपादने कहा, विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूँगा। इसके बाद उन्होंने पाणिनि व्याकरणको पूरा कर दिया।

इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और वैद्यक ज्योतिष आदिके कई ग्रन्थ रच चुके थे।

गुणभट्टके मर जानेसे नागार्जुन अतिशय दरिद्री हो गया। पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्ध करनेकी विधि भी बतला दी। उसके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्ध-रसकी वनस्पति बतला दी।

इस सिद्ध-रससे नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई घड़े सिद्ध-रस बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा, तब धरगोन्द्र-पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय बनानेको कहा। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद पैरोंमें गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्रको जाया करते थे। उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दिने अपने साथियोंसे भगड़ा करके द्राविड संघकी स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मन्त्र तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया। एक बार दो सुन्दरी स्त्रियाँ आई जो गाने नाचनेमें कुशल थीं। नागार्जुन उनपर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनीं।

पूज्यपाद मुनि बहुत समयतक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देव-विमानमें बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी, सो उन्होंने एक शान्त्यष्टक बनाकर ज्योंकी र्थों कर ली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया।

इस चरितपर कोई टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है। इस तरहके न जाने कितने मनगढ़न्त और ऊलजलूल किस्से हमारे यहाँ इतिहासके नामसे चल रहे हैं।

परिशिष्ट २

हेब्बूरुका दानपत्र

श्रीमन्माधवमहाधिराजः, तस्य पुत्रः अविच्छिन्नाश्वमेधावभृथाभिपिक्तः श्रीमत्कदम्बकुलगगनगभस्ति-मालिनः श्रीमत्कृष्णवर्ममहाराजस्य प्रियभागिनेयः जननीदेवताङ्कपर्यङ्क एवाधिगतराज्यः विद्वत्कविकाञ्चननिक-षोपलभूतः असम्भ्रावनमितसमस्तसामन्तमण्डलः अविनीतनामा श्रीमत्कोङ्कणमहाराजः तस्य पुत्रः पुष्पाडराज-प्रियपुत्रिकापुत्रः विजृभमाणशक्तित्रयोपनमितसमस्तसामन्तमण्डलः अन्दर्यालत्त रूपौरुलरेपेर्नगराद्यनेकसमर-

मुखमखहुतप्रधानपुरुषपशूपहारः विधसविहस्तीकृतकृतान्ताभिमुखः शब्दावतारकारः देवभारतीनिबद्धवृहत्कथः
किराताञ्जुनीयपञ्चदशसर्गाटीकाकारः दुर्निनीतनामा..... —४सूर एण्ड कुर्ग गैजेटियर, प्रथम पृ० ३७३

परिशिष्ट ३

[भगवद्भागवद्भाष्ये विशेष परिचय]

इसके प्रारंभमें पहले 'लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य' आदि प्रसिद्ध मंगलाचरणका श्लोक लिखा गया था। परन्तु पीछेसे उसपर हस्ताल फेर दी गई है और उसकी जगह यह श्लोक और उत्थानिका लिख दी गई है—

ओं नमः पार्श्वाय

त्वरितमहिमदूतामंत्रितेनाद्भुतात्मा, विपममपि मघोना पृच्छता शब्दशास्त्रम् ।

श्रुतमदरिपुरासीद् वादिवृन्दाग्रणीनां परमपदपटुर्यः स श्रिये वीरदेवः ॥

अष्टवार्षिकोऽपि तथाविधभक्ताभ्यर्थनाप्रख्यः स भगवानिदं प्राह—सिद्धिरनेकान्तात् । १-१-१ ।

इसके बाद सूत्रपाठ शुरू हो गया है। पहले पत्रके ऊपर मार्जिनमें एक टिप्पणी इस प्रकार दी है जिसमें पाणिनि आदि व्याकरणोंको अप्रामाणिक ठहराया है—

“प्रमाणवदव्यामुपेक्षणीयानि पाणिन्यादिप्रणीतसूत्राणि स्यात्कारवादित्रद्वत्त्वान्परिव्राजकादिभाषितवत् अप्रामाणानि च कपोलकल्पनामलिनानि हीनमातृकत्वात्तद्देव ।”

इसके बाद प्रत्येक पादके अन्तमें और आदिमें इस प्रकार लिखा है जिससे इस सूत्र-पाठके भगवत्प्रणीत होनेमें कोई सन्देह बाकी न रह जाय—

“इति भगवद्भागवद्भाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ओं नमः पार्श्वाय । स भगवानिदं प्राह ।”

सर्वत्र 'नमः पार्श्वाय' लिखना भी हेतुपूर्वक है। जब ग्रन्थकर्ता त्वयं महावीर भगवान् हैं तब उनके ग्रन्थमें उनसे पहलेके तीर्थंकर पार्श्वनाथको ही नमस्कार किया जा सकता है। देखिए, कितनी दूरतक विचार किया गया है !

आगे अध्याय २ पाद २ के 'सह्वह् चलयपतेरिः' [६४] सूत्रपर निम्न प्रकार टिप्पणी दी है और सिद्ध किया है कि यदि यह व्याकरण भगवत्कृत न हो तो फिर सिद्धहैमके अमुक सूत्रकी उपपत्ति नहीं बैठ सकती—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कृतमेव भवति । 'सह्वह् चलयपतेरिः' अकृतसूत्रज्ञमेः कीलित् चवत्-डौ सासह्वावाहचाचलिपापति, सञ्चिचाक्रिदधिधञ्जिनेमीति सिद्धहैमसूत्रस्याऽन्यथानुपपत्तेः । शर्ववर्मपाणिन्योस्तु आहवर्णोपधालोपिन किर्द्वेच १, आपृगमहनजनः किकिनौ लिट् चेति २ ।”

इसके बाद ३-२-२२ सूत्रपर इस प्रकार टिप्पणी दी है—

“कथं न ह्यचः प्राग्भरतेष्वादि क्षेत्रादिनियामि शिक्षाविशेषाः ।

कुमारशब्दः प्राच्यानामाशिवनं मासमूचिवान् ।

मैथुनं तु भिपत्तत्रे वाचकं मधुसर्पिषः ॥

इत्याद्यन्यथानुपपत्तेरिति बौटिकतिमिरोपलक्षणम् ।”

इसके बाद ३-४-४२ सूत्र [स्तेयाहृत्यम्] पर फिर एक टिप्पणी दी है—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कृतमेव भवति । अर्हतस्तोन्त च १, सहाद्वा २, सखिवणिगृताद्यः ३, स्तेनाञ्जलक् च ४, ति सिद्धहैमसूत्रस्यान्यथानुपपत्तेः । पाणिन्यादौ स्वाहृत्यशब्दं प्रति सूत्राभावात् । कथं सरस्वतीकंठाभरणे तदासिः । ऐन्द्रानुसारादहंतशब्दयश्चेति पश्य ।

फिर ३-४-४० सूत्र [रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य] पर एक टिप्पणी है। इसमें बौटिकों या दिग्भरियोंका स्तकार किया गया है—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य सूत्रस्य प्रक्षेपता स्फुटत्वात् । अतो बौटिकतिमिरोपलक्षणम्—

देवनन्दिमतां मोहः प्रक्षेपरजसोऽपि चेत् ।

चिराय भवता रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य जीव्यताम् ॥

पञ्चोत्तरः कः स्वचानासीः प्रभेन्दोः नग्न यस्य यः [१] ।

विस्मयो रमयेः शिष्या स तं चेद्देवनन्दिनम् ॥ इति ।

विक्रमाहतुख्युगाब्दे ४८६ देवनन्दी, ततो गुणनन्दि-वुमारनन्दि-लोकचन्द्रानंतरं मुनिरैथुगाब्दे प्रथम-प्रभाचन्द्र इति बौटिके ।”

इसी तरह ४-३-७ [वेत्तेः सिद्धसेनस्य] सूत्रपर लिखा है—

“वेत्तेः सिद्धसेनस्य, चतुष्टयं समंतभद्रस्य प्रक्षेपेऽर्वाच्यता स्फुटत्वात्, रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य वदिति बौटिकतिमिरोपलक्षणम् ।”

अन्तमें ५-४-६५ [शशङ्कोमि] सूत्रपर एक टिप्पणी दी है जिसमें पाणिनि आदि वैयाकरणोंकी असर्व-ज्ञता सिद्ध की गई है—

“प्रयोगाशातना माभूदनादिसिद्धा हि प्रयोगाः । ज्ञानिना तु केवलं ते प्रकारयन्ते न तु क्रियन्ते इति । अतएव शशङ्कोटीति पाणिनीयसूत्रं वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयचरपरः शकाश्छकारं नवेति शर्ववर्मकर्तृ-ककालापकसूत्रानुसारि । अत एव पाणिन्यादयोऽसर्वज्ञा इति सिद्धम् । अतएव तेषां तत्त्वत आप्तत्वाभाव इति सिद्धिः । नञ्भ्यः प्रभृतीनि सूत्रे निर्जरसैर्मुख्या यदि युक्तिस्ते मस्करिणैव भवत्कृतमास्ते न तु सारस्वत-वाग्देव्या । शशङ्कोटिप्रमुखैः सूत्रैस्तच्छ्रुप्रभृतिपदादर्शा कालापकाद्युपजीर्वा पाणिनिरजिनत्वं प्रति नाभ्यक्तः ।”

जहाँ सूत्रपाठ समाप्त होता है, वहाँ लिखा हैः—

इत्याख्यद्गयामहन्श्रुत्वेन्द्रस्तु मुदं वहन् ।

वादिवक्त्राब्जचन्द्रः स्वमंदिराभिमुखोऽभवत् ॥

आगे ग्रन्थ-प्रशस्ति देखिए—

“ओं नमः सकलकलाकौशलपेशलशालशालिने पार्श्वाय पार्श्वपार्श्वाय । स्वस्ति तत्प्रवचनसुधास-मुद्रलहरास्नायिभ्यो महासुनिभ्यः । परिसमाप्तं च जैनेन्द्रं नाम महाव्याकरणम् । तदिदं श्रीवीरप्रभुर्मर्षणे पृच्छते प्रकाश्याचकार । सपादलक्षभ्याख्यानकपरमतमदांधकारापहारपरममिति । नमः श्रीमच्छरमपरमेश्वर-पादप्रसादविशदस्याद्वादनयसमुपासनगुणकोटिमत्कौटिकगणाविभूतश्चिद्विभूतिविमलचंद्रश्चाद्गुणविपुलवृहत्-पोनिगमनिर्गतनागपुरीयस्वच्छगच्छसमुत्थमुत्पविपाद्वचन्द्रशाखासुखाकृतसुकृतसुकृतिवरामेन्दुपाध्यायचारु-णारविन्दरजोराजीमधुकरानुकरवाचकपदवापवित्रिताख्यचंद्रचरणेभ्यः ससुधी रत्नचंद्रम् । श्रीवीरात् २२६७ विक्रमनृपात् सं० १७६७ फाल्गुनसितत्रयोदशी भाँसे तक्षकाख्यपुरस्थेन रत्नर्षिणा दर्शनपावित्र्याय लिखितं चिरं नद्यात् ।”

ग्रन्थके पहले पत्रकी खाली पीठपर भी कुछ टिप्पणियाँ हैं और उनमें अधिकांश वे ही हैं जो ऊपर दी जा चुकी हैं । शेष इस प्रकार हैं—

ओं नमः पार्श्वाय

जैनेन्द्रमैन्द्रतः सिद्धहैमतो जयहेभवत् । प्रकृतस्यंतरद्वत्वात्तान्यतामेतुमर्हति ॥ कथं ।

इंद्रश्रंद्रः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनाः । पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयंत्यद्वौ हि शाब्दिकाः ॥

इति (?) चतुर्थी तद्धितानुपलक्षणात् ।

१ यह ‘बौटिकमतिमिरोपलक्षण’ नामका कोई ग्रंथ है और संभवतः वाग्वादिनीके कर्ताका ही बनाया हुआ है ।

यदिन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितं । ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनं ॥
यदावश्यकनिर्युक्तिः—

अह तं अम्मापिअरो जाणित्ता अहियअट्टवासं तु ।
कयकोउअलंकारं लेहायरिअस्स उवर्णिंति ॥
सक्को अ तस्समक्कं भयवंतं आसणे निवेसित्ता ।
सहस्य लक्खणं पुच्छे वागरणं अवयवा इदं ॥ इति ॥
तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः । ततश्चैन्द्रं व्याकरणं संजातमिति हरिभद्रः ॥
यत्तु देवनंदिबौटिकं पूज्यपाद

इतीच्छंतस्तद्गुरुकाः पूज्यपादस्य लक्षणं ।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।

इति धनंजयकोपात्तदयुक्तं । नेति चेत्कथं जैनेन्द्रमिति । द्वादशस्वरमध्यमिति चेन्न इतरोपपदस्याभावात् । जैनकुमारसम्भववद्गतिरिति चेन्न । कुमारवदिन्द्रं प्रति श्लेषाभावान् थारीतिकततद्धितभावाच्च तर्हि

लक्ष्मीरान्यंतिकी यस्य निरवद्यावभासते । देवनंदितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥
का गतिरिति चेत् ।

लक्ष्मीरान्यंतिकीपद्यनुपज्ञेशस्य कितरां । ऐन्द्रत्वयजि तत्त्वार्थे मोक्षमार्गस्य पद्यवत् ॥
मिवादयश्चेत्प्रथमं यदि हैमत्वपेक्षयते ।
कालापकाटि न तथा षट्चैन्द्रं महते कृतिः ॥

पूर्वत्र । मिप् वस् मस् १ मिप् थस् थ २ तिप् तस् भि ३ इड् वहि महि १ थस् आथां ध्वं २ त आताम् झङ् ३ इति ।

आख्यातरीतिं प्रति देवराजे मिब्वस्मसो यः पितः रादितोदाः ।

जीवं प्रपन्नाहममान्थ विश्वे तत्त्वादिमं स्वां कतिमान्मनाथं ॥

तर्हि सिद्धसेनादिविशेषोऽपि दुर्निवार इति चेन्न

जातामात्रोपि चिद्वीर्यं प्रत्यात्मशरणोऽसि यः ।

जनताका वराकीर्यं परात्मन् वीर तत्पुर ॥

इति बौटिकमततिमिरोपलक्षणस्य तुर्येऽवकाशे इन्द्रजिनेन्द्रौ प्रत्युत्तरिणौ यदतोऽटोतद्धिततस्त्वमसि-
मिबिङ् ढौरेयमद्रैन्द्रं जैनेन्द्रं व्याकरणानां । सिद्धिमनेकांतादिच्छेदो अः X क X पार्ह त्यतथारीते हैमार्गीकृत-
वर्त्मन्प्रक्षेपार्थविजेयचिरंजीया इति प्रसन्नचन्द्रोत्पले [?]

१ इसके आगे ४-३-७ सूत्रकी टिप्पणी जैसा ही लिखा है और फिर ३-४-४० सूत्रकी टिप्पणीके 'देवनन्दिमता' आदि ही श्लोक दिये हैं ।

२ इसके आगे ५-४-६५ सूत्रकी टिप्पणी दी है ।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ

[श्री गुधिष्ठिर मीमांसक, प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, दिल्ली]

संसारमें वाङ्मयके प्रादुर्भावका आदिस्थान पुण्यभूमि भारत है। उसका विशाल संस्कृत वाङ्मय मुख्यतः तीन धाराओंमें विभक्त है। इस वाङ्मयकी समृद्धिमें वैदिक, जैन और बौद्ध विद्वानों तथा आचार्योंने मुक्तहस्तसे सहयोग प्रदान किया है। भगवान् महावीरसे पूर्वके जैन तीर्थङ्करोंने उपदेश और ग्रन्थ-रचनामें किस भाषाका आश्रय लिया था, इसके प्रमाण अभी नहीं मिले। उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध अथवा ज्ञात नहीं। इसलिए उपलब्ध संस्कृत वाङ्मयमें वैदिक वाङ्मय ही प्राचीनतम कहा जा सकता है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायी मनीषियोंने अपने विचारोंको सर्वसाधारण तक पहुँचानेके लिए उपदेश और ग्रन्थ-रचनामें तात्कालिक जनभाषा प्राकृत तथा पालीका आश्रय लिया। कालान्तरमें, सम्भवतः विक्रमकी प्रथम शतीके लगभग जैन तथा बौद्ध आचार्योंने भारतीय जनताके हृदयमें संस्कृतके प्रति युग-युगसे वर्तमान विशिष्ट अनुराग और आदरकी भावनाको अनुभव किया और उदारचेता होकर उन्होंने भी विद्वज्जनोपयोगी विशिष्ट ग्रन्थोंकी रचनाके लिए संस्कृत भाषाको अपनाया और प्रारम्भ किया।

नये युगके प्रवर्तक

इस नये युगके प्रवर्तक जैन सम्प्रदायमें आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन टिवाकर तथा बौद्ध सम्प्रदायमें भद्रन्त अश्वघोष थे। ये मत्र वैदिक सम्प्रदायके विशिष्ट ज्ञाता थे। इसलिए उभय सम्प्रदायके शास्त्रज्ञानकी जो प्रौढता इनके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन आचार्योंने अपनी अगाध-विद्वत्ताके कारण अपने-अपने सम्प्रदायोंमें नये युगका सूत्रपात किया। इनका अनुकरण करके उत्तरवर्ती अनेक सुहृद् आचार्योंने अपने-अपने उत्तमोत्तम ग्रन्थों-द्वारा संस्कृत वाङ्मयको आगे बढ़ाया।

संघर्ष युग—दोनों सम्प्रदायोंमें संस्कृत भाषाके प्रति अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। प्रत्येक विषय पर संस्कृतमें ग्रन्थ-रचनाएँ होने लगीं। विक्रमकी प्रथम शतीसे १२ वीं शती तकका युग संस्कृत वाङ्मयके इतिहासमें अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। इस कालमें वैदिक, जैन और बौद्ध विद्वानोंके पारस्परिक तार्किक वाद-प्रतिवादाने वाङ्मयके प्रत्येक क्षेत्रको, विशेषकर न्यायशास्त्रको परिष्कृत करनेमें विशेष योग प्रदान किया। इस कालमें वैदिक न्यायशास्त्रकी तो प्रवृत्ति ही बदल गई। वह अपने मूल प्रयोजनसे हटकर अर्थात् प्रमेय-निर्णायक न रहकर केवल प्रमाण-लक्षण-निर्णायक तक ही सीमित हो गया और अन्तमें उसने नव्य न्यायके रूपमें केवल बौद्धिक श्रमका रूप धारण कर लिया।

जैन व्याकरण-वाङ्मय

संस्कृत वाङ्मयमें व्याकरणशास्त्र अपना प्रमुख स्थान रखता है। प्राचीन शास्त्रोंमें इसे स्वतन्त्र विद्या-स्थान माना है। इसलिए जब जैन विद्वानोंने संस्कृत भाषाको अपनाया, तब जैन सम्प्रदायमें भी इस शास्त्रका महत्त्व बढ़ा। अनेक जैन आचार्योंने व्याकरणके क्षेत्रमें भी अनेक उत्तम कृतियाँ प्रदान कीं। उनमेंसे अधिकांश विकराल काल द्वारा कवलित हो गईं, अनेक ग्रन्थोंका नाम भी स्मृति-पटलसे नष्ट हो गया। कइयोंका नाम-मात्र शेष रहा। बहुत स्वल्प कृतियाँ शेष बचीं। जो कृतियाँ कथञ्चित् कालकवलित होनेसे इस समय तक बच भी गईं वे ग्रन्थागारोंमें वेष्टनोंमें बँधी, प्रकाशमें आनेकी तिथिकी प्रतीक्षा कर रही हैं। सम्भव है उनमेंसे अधिकांश कृतियाँ 'शीर्यते वन एव वा' नियमके अनुसार विद्वज्जगत्को सुगंभत न करके वनोपम ग्रन्थागारोंमें ही

शीर्ष हो जायँ । ईंट पत्थरोंसे बने भौतिक कृतियोंको बचाने अथवा उनके उद्धारकी चिन्ताकी अपेक्षा इन सांस्कृतिक और बौद्धिक कृतियोंका बचाना, उनका उद्धार करना परम आवश्यक है । जो विद्वान् महानुभाव, धनी मानी-श्रेष्ठोवर्ग तथा संस्थाएँ इस कार्यमें, लगी हुई हैं वे देश, जाति तथा धर्मकी वास्तविक सेवा कर रही हैं । देशके स्वतन्त्र हो जाने पर युगयुग उपार्जित प्राचीन वाङ्मयकी रक्षाका भार मुख्यतया राज्यको ही वहन करना चाहिए, परन्तु सम्प्रति हमारे नेता इस ओर उदासीन हैं ।

उपलब्ध जैन व्याकरण

जैन आचार्योंद्वारा लिखे गये ६, ७ व्याकरण इस समय उपलब्ध हैं । उनमेंसे केवल तीन व्याकरण प्रमुख हैं—जैनेन्द्र, शाकटायन और सिद्धहैम । इनमें आचार्य देवनन्दी, अपर नाम पूज्यपाद, इतर नाम जिनेन्द्रबुद्धि द्वारा प्रोक्त जैनेन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है ।

इन प्रमुख तीन व्याकरणोंके ग्रन्थ भी अभी तक पूरे प्रकाशित नहीं हुए । सबसे अधिक हैम व्याकरणके ग्रन्थ प्रकाशमें आये हैं^१ । शाकटायन व्याकरण केवल चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति सहित प्रकाशित हुआ है [परिशिष्टमें मूल गणपाठ, लिङ्गानुशासन तथा धातुपाठ भी छपे हैं] । सूत्रकारकी स्वोपज्ञ अमोघ महावृत्ति अभी तक लिखित रूपमें ही क्वचित् उपलब्ध होती है^२ । जैनेन्द्र व्याकरण भी तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके ६० वें सूत्र तक अभयनन्दी विरचित महावृत्ति सहित कुछ वर्ष पूर्व लाजरस कम्पनी काशीसे प्रकाशित हुआ था [अब वह भी दुर्लभ है] । यह प्रथम अवसर है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने इस भारी कमीको पूर्ण करनेका बीड़ा उठाया और वह उसे अभयनन्दीकी महावृत्ति सहित प्रकाशित कर रहा है ।

जैनेन्द्रसे प्राचीन व्याकरण

आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनमें निम्न ६ पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख किया है—

- १—गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [१ । ४ । ३४]
- २—कृत्वृपिमृजां यशोभद्रस्य [२ । १ । ६६]
- ३—राद् भूतबलेः [३ । ४ । ८३]
- ४—रात्रेः कृत प्रभाचन्द्रस्य [४ । १२ । १८०]
- ५—वेत्तेः सिद्धसेनस्य [५ । १ । १०]
- ६—चतुष्टयं समन्तभद्रस्य [५ । ४ । १४०]

इन छ आचार्योंमेंसे किसीका भी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है । अनेक विद्वानोंको इन आचार्योंके व्याकरण-शास्त्र-प्रवक्तृत्वमें भी सन्देह है । जैसा कि जैन इतिहास-विशेषज्ञ श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' [पृष्ठ १२०] में लिखा था—

“इन छ आचार्योंमेंसे किसीका भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं है । परन्तु जान पड़ता है इनके अन्य ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको व्याकरण-सिद्ध करनेके लिए ये सब सूत्र रचे गये हैं^३ ।”

१ सम्प्रति हैम व्याकरणकी केवल लघुवृत्ति सुश्राप्य है, अन्य सभी मुद्रित ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गये । इनका पुनर्मुद्रण अत्यन्त आवश्यक है ।

२ यह महावृत्ति भी शीघ्र ही भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे ही प्रकाशित होगी ।

३ यद्यपि माननीय प्रेमाजीने इस विचारकी निस्सारताको समझकर अपने ग्रन्थके द्वितीय संस्करणमें उक्त अंश निकाल दिया, पुनरपि जिनकी ऐसी धारणा अभी भी है उनके विचारोंके प्रतिनिधित्व रूपमें उक्त-पङ्क्ति कर्तव्य उदधृत की हैं ।

पं० फूलचन्द्र सि० शा० ने भी सर्वार्थसिद्धि की भूमिकामें लगभग इसी मतका प्रतिपादन किया है ।
पाणिनीय व्याकरणमें स्मृत शाकल्य आपिशलि शाकटायन आदि १० प्राचीन शाब्दिकोंके विषयमें भी अनेक विद्वानोंकी ऐसी ही धारणा है ।

हमारे विचारमें इस प्रकारकी धारणाओंका मूलकारण भारतीय प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके विषयमें पाश्चात्य विद्वानों-द्वारा समुत्पादित अविश्वासकी भावना और अनर्गल कल्पनाएँ ही हैं ।

हम अपने 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमें पाणिनिसे पूर्ववर्ती आपिशलि काशकृत्स्न और भागुरि, आदि अनेक शाब्दिक आचार्योंके सूत्र, धातु और गणके वचन उद्धृत करके सिद्ध कर चुके हैं कि पाणिनिसे प्राचीन आचार्योंके भी पाणिनिके समान ही सर्वांगपूर्ण व्याकरण थे । अब तो काशकृत्स्न व्याकरणका समग्र धातुपाठ चन्नवीर कवि कृत कन्नड टीकासहित प्रकाशमें आ गया है । उसमें काशकृत्स्न शब्दानुशासनके लगभग १४० सूत्र भी उपलब्ध हो गये हैं । ये [धातुपाठ तथा सूत्र] न केवल उनके सर्वाङ्गपूर्ण होनेके, अपितु पाणिनीय व्याकरणसे अधिक विस्तृत होनेके भी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादके शब्दानुशासनमें उद्धृत प्राचीन वैयाकरणोंके विषयमें भी हमारी यही धारणा है कि उन आचार्योंने भी अपने-अपने शब्दानुशासन रचे थे । उन्हींके शब्दानुशासनोंसे आचार्य पूज्यपादने उनके मतोंका संग्रह किया । इसके विपरीत कल्पना करना पूज्यपाद जैसे प्रामाणिक आचार्यको मिथ्यावादी कहना है [आः शान्तं पापम्] । जब हमने पाणिनिसे पूर्ववर्ती अनेक शाब्दिक आचार्योंके बहुतसे वचन प्राचीन ग्रन्थोंमें ढूँढ लिये, यहाँ तक कि आय शब्दतन्त्र-प्रणेता इन्द्रके भी 'अथ वर्णसमूहः', 'अर्थः पदम्' दो सूत्र उपलब्ध कर लिये, ऐसी अवस्थामें हमें पूर्ण निश्चय है कि यदि जैन वाङ्मयका सावधानता पूर्वक अवगाहन किया जाय तो इन आचार्योंके शब्दानुशासनोंके सूत्र भी अवश्य उपलब्ध हो जायेंगे ।

आचार्य सिद्धसेनका व्याकरण-प्रवक्तृत्व—आचार्य सिद्धसेनके व्याकरणविषयक मतका उल्लेख आचार्य पूज्यपादने तो किया ही है; उसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे उनके व्याकरण प्रवक्ता होने की पुष्टि होती है । यथा—

१ सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१ ।

२. देखो 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' के तत्त्व प्रकरण ।

३. श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने "पाणिनि कालीन भारतवर्ष [हिन्दी संस्करण] पृष्ठ ५ पं० २२, २३ पर पाणिनिपूर्ववर्ती व्याकरणोंको बिना किसी प्रमाणके एकाङ्गी लिखा है । पृष्ठ २६ पं० ६ पर गणपाठकी सामग्रीको पाणिनिकी मौलिक देन बताया है । परन्तु पृष्ठ ३१ पं० १६, १६ में भर्तृहरिके प्रमाणसे पाणिनि-पूर्ववर्ती आपिशलिके गणपाठकी सत्ता भी स्वीकार की है । डा० कीलहार्नका भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीका संबंधी लेख हमें सुलभ नहीं हुआ । अतः नहीं कह सकते कि उसमें आपिशल गणपाठका उल्लेख था वा नहीं । परन्तु हमने अपनी भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीकाकी प्रतिलिपिके आधारसे 'सं० व्या० शास्त्रका इतिहास' पृष्ठ १०२ पर आपिशल गणपाठका उल्लेख किया है । तथा इसी ग्रन्थके पृष्ठ २७४-२७८ पर महाभाष्यटीकाके इतिहासोपयोगी सभी वचन एकत्रित कर दिये हैं ।

४. इन सूत्रोंका प्रकाशन हम शीघ्र ही कर रहे हैं ।

५. सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ ६२ । महाभाष्य मराठी अनुवाद प्रस्तावना खण्ड [भाग ७, सन् १९५४] पृष्ठ १२५, १२६ पर श्री पं० काशीनाथ अभ्यङ्करजीने हमारे द्वारा प्रथमतः [सन् १९५१] प्रकटीकृत दोनों सूत्रोंका उल्लेख किया है । दूसरे सूत्रका पाठ भी हमारे द्वारा परिष्कृत ही स्वीकार किया है । लेखकने अन्यत्र भी हमारे ग्रन्थके पर्याप्त दुर्लभ सामग्री स्वीकार की है, परन्तु हमारे ग्रन्थका कहीं निर्देश नहीं किया ।

१. अभयनन्दी जैनेन्द्र १।४।१६ की वृत्तिमें एक उदाहरण देता है—‘उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः’ अर्थात् सब वैयाकरण सिद्धसेनसे हीन हैं।

इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि अभयनन्दी आचार्य सिद्धसेनको न केवल वैयाकरण ही मानता है, अपितु उस कालतक प्रसिद्ध वैयाकरणोंमें उसे सर्वश्रेष्ठ कहता है।

जैनेन्द्र व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दीने जिस शब्दानुशासनका प्रवचन किया वह लोकमें जैनेन्द्र-नामसे विख्यात है।

इस शब्दानुशासनका जैनेन्द्र नाम क्यों पड़ा, आचार्य पूज्यपादका काल कौन सा है, जैनेन्द्र व्याकरण का मूल सूत्रपाठ कौन सा है, इसपर कितने व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये और आचार्य पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरणके अतिरिक्त और कितने ग्रन्थ लिखे इत्यादि विषयोंपर हम यहाँ विशेष चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि इन विषयोंपर माननीय श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैन साहित्य और इतिहास’ ग्रन्थमें विस्तारसे लिखा है [यही अंश पुनः परिष्कृत करके इस ग्रन्थके आदिमें पृष्ठ १७-३७ तक छुड़ा है]। पश्चात् हमने भी अपने ‘संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास’ ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचना की है [हमने श्री प्रेमीजीके ग्रन्थसे पर्याप्त सामग्री ली है]। इसलिए हम यहाँ केवल उतना ही अंश लिखेंगे, जो उक्त दोनों लेखोंके पश्चात् परिज्ञात हुआ है।

जैनेन्द्र नामका कारण—इस शब्दानुशासनको सर्वत्र जैनेन्द्र नामसे स्मरण किया है। इसके नामकरणके सम्बन्धमें श्री प्रेमीजीने जैनग्रन्थोंसे जो कथाएँ उद्धृत की हैं, वे प्रायः ऐतिहासिक तत्त्वरहित हैं। श्री प्रेमीजी भी उक्त कथाओंसे सन्तुष्ट नहीं हैं। हमारे विचारमें इस नामकरणका निम्न कारण है—

आचार्य देवनन्दीका एक नाम जिनेन्द्रबुद्धि भी था जैसा कि श्रवणघेल्गोलके ४० वें शिलालेखमें लिखा है—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥

श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

अर्थात्—आचार्यका प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

जिस प्रकार ‘पदेपु पदैकदेशान्’ नियम अथवा ‘विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वृक्तव्यम्’ [४।१।१३६] वार्तिकके अनुसार प्राचीन ग्रन्थकार देवं अथवा नन्दी नामसे देवनन्दीको स्मरण करते हैं, उसी प्रकार जिनेन्द्र एक देश भी जिनेन्द्रबुद्धि अपरनाम देवनन्दीका वाचक है। अतः ‘जैनेन्द्र’ की व्युत्पत्ति होगी—जिनेन्द्रेण प्रोक्तं जैनेन्द्रम्। अर्थात् जिनेन्द्र = जिनेन्द्रबुद्धि = देवनन्दी द्वारा प्रोक्त व्याकरण।

आचार्य देवनन्दीका काल और उसका निश्चायक नूतन प्रमाण—आचार्य देवनन्दीके कालके विषयमें ऐतिहासिकोंका परस्पर वैमत्य है। यथा—

१—कीथ अपने ‘हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर’ में लिखता है—

The जैनेन्द्र व्याकरण ascribed to the Jinendra really written by पूज्यपाद देवनन्दी perhaps was composed C. 678. P. 432.

१. देखो पृष्ठ ३२३-३२८ तथा ४२१-४३१।

२. जिनसेन तथा वादिराज सूरि ‘देवं’ नामसे स्मरण करते हैं। देखो श्री प्रेमीजीका लेख, यही ग्रन्थ, पृष्ठ १६, टि० ३, ४।

३. इसके उद्धरण आगे लिङ्गानुशासनके प्रकरणमें देंगे।

अर्थात्—जैनेन्द्र व्याकरण सन् ६७८ [= ७३५ वि०] के समीप लिखा गया ।

२—श्री प्रेमीजीने अनेक प्रमाण उपस्थित करके देवन्दीका काल सामान्यतया विक्रमकी षष्ठ शताब्दी निश्चित किया है । [देखो इसी ग्रन्थके साथ मुद्रित उनका लेख] ।

३—श्री आई० एस० पवतेने अपने 'स्ट्रुक्चर आफ दी अष्टाध्यायी' में लिखा है—

'महामहोपाध्याय नरसिंहाचार्यने कर्णाटक कवि चरितके प्रथम भागके प्रथम संस्करणमें पूज्यपादको ईस्वी सन् ४७० [= ५२७ वि०] में बताया है और दूसरे संस्करणमें सन् ६०० [= ६५७ वि०] का । परन्तु मुझे २१।१२।१९३३ को लिखे एक पत्रमें लिग्या है कि पूज्यपाद ४५० ई० [= ५०७ वि०] के आसपास है^१

४—हमने अपने व्याकरण शास्त्रके इतिहासमें श्री प्रेमीजी द्वारा उद्धृत प्रमाणोंके आधारपर आचार्य पूज्यपादका काल विक्रमकी षष्ठ शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना था । अब हम उसे ठीक नहीं समझते ।

विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्व—अब हमें जो नूतन प्रमाण उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार आचार्य पूज्यपाद विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्ववर्ती हैं, यह निश्चित होता है ।

कात्यायनने एक विशिष्ट प्रकारके प्रयोगके लिए नियम बनाया है—**परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शन-विषये** [महा० ३।२।११] । अर्थात्—ऐसी घटना जो लोकविज्ञात हो, प्रयोक्ताने उसे न देखा हो, परन्तु प्रयोक्ताके दर्शनका विषय सम्भव हो [अर्थात् वह घटना प्रयोक्ताके जीवन-कालमें घटी हो] उस घटनाको कहनेके लिए भूतकालमें लङ् प्रत्यय होता है ।

पतञ्जलिने महाभाष्यमें इस वार्तिकपर उदाहरण दिये हैं—**अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्** । वार्तिकके नियमानुसार साकेत[=अयोध्या] और माध्यमिका [=चित्तौड़ समीपवर्ती नगरी ग्राम] पर यह लोकप्रसिद्ध आक्रमण पतञ्जलिके जीवनकालमें हुआ था । प्रायः सभी ऐतिहासिक इस विषयमें सहमत हैं ।

इसी प्रकारका नियम पाणिनिसे उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याकरण-ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है और उसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार प्राचीन उदाहरणोंके साथ साथ स्वसमकालिक किन्हीं महती घटनाओंका भी प्रायः निर्देश करते हैं । यथा—

अजयद् जर्तों हूणान् । चान्द्रं

अरुणन्महेन्द्रो मथुराम् । जैनेन्द्र० [२।२।६२]

अदहदमोघवर्षोऽरातीन् । शाकटायन [४।३।२०८]

अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तिम् । हेम० [५।२।८]

इनमें अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट हैं । आचार्य पाल्यभीति [शाकटायन] महाराज अमोघवर्ष और आचार्य हेमचन्द्र महाराज सिद्धराजके कालमें विद्यमान थे । इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं । परन्तु चान्द्रके जर्त और जैनेन्द्रके महेन्द्र नामक व्यक्तिको इतिहासमें प्रत्यक्ष न पाकर पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानोंने जर्तको गुप्त और महेन्द्रको मेनेन्द्र-मिनण्डर बनाकर अनर्गल कल्पनाएँ की हैं । इस प्रकारकी कल्पनाओंसे इतिहास नष्ट हो जाता है । हमारे विचारमें जैनेन्द्रका 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' पाठ सर्वथा ठीक है, उसमें किञ्चिन्मात्र भ्रान्तिकी सम्भावना नहीं है । आचार्य पूज्यपादके कालकी यह ऐतिहासिक घटना इतिहासमें सुरक्षित है ।

१. देखो, स्ट्रुक्चर आफ दी अष्टाध्यायी, भूमिका, पृष्ठ १३ ।

२. यद्यपि ये उदाहरण क्रमशः धर्मदास तथा अभयनन्दाकी वृत्तिसे दिये हैं, परन्तु इन वृत्तिकारोंने ये उदाहरण चन्द्र और पूज्यपादकी स्वोपज्ञ वृत्तिसे लिये हैं ।

महेन्द्र और उसका मथुरा-विजय—जैनेन्द्रमें स्मृत महेन्द्र गुप्तवंशीय कुमारगुप्त है। इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है। जैनेन्द्रके 'विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्' [४।१।१३६] वार्तिक अथवा 'पदेषु पदैकदेशान्' नियमके अनुसार उसीको महेन्द्र अथवा कुमार कहते थे। उसके सिक्कोंपर श्री महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्रवर्मा, महेन्द्रकुमार आदि कई नाम उपलब्ध होते हैं।^१

तिब्बतीय ग्रन्थ चन्द्रगर्भ सूत्रमें लिखा है—“यवनों पल्हिकों शकुनों [कुशनों] ने मिलकर तीन लाख सेनासे महेन्द्रके राज्यपर आक्रमण किया। गङ्गाके उत्तरप्रदेश जीत लिये। महेन्द्रसेनके युवा कुमारने दो लाख सेना लेकर उनपर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लौटनेपर पिताने उसका अभिषेक कर दिया।”^२

चन्द्रगर्भ सूत्रका महेन्द्र निश्चय ही महाराज कुमारगुप्त है और उसका युवराज स्कन्दगुप्त। मञ्जु श्री मूलकल्प श्लोक ६४६ में श्री महेन्द्र और उसके सकारादि पुत्र [स्कन्दगुप्त] को स्मरण किया है।^३

चन्द्रगर्भ-सूत्रमें लिखित घटनाकी जैनेन्द्रके उदाहरणमें उल्लिखित घटनाके साथ तुलना करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके उदाहरणमें इसी महत्त्वपूर्ण घटनाका संकेत है। उक्त उदाहरणसे यह भी विदित होता है कि विदेशी आक्रान्ताओंने गङ्गाके आस पासका प्रदेश जीतकर मथुराको अपना केन्द्र बनाया था। इस कारण महेन्द्रकी सेनाने मथुराका ही घेरा डाला था।

महाभाष्य, शाकटायन तथा सिद्ध हैम व्याकरणोंमें निर्दिष्ट उदाहरणोंके प्रकाशमें यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त अपर नाम महेन्द्र कुमारके समकालिक हैं। पाश्चात्यमतानुसार कुमारगुप्तका काल वि० सं० ४७०-५१२ [=४१३-४५५ ई०] तक था। अतः पूज्यपादका काल अधिकसे अधिक विक्रमकी ५ वीं शतीके चतुर्थ चरणसे षष्ठ शताब्दीके प्रथम चरण तक माना जा सकता है, इसके पश्चात् नहीं। भारतीय ऐतिहासिक काल-गणनानुसार गुप्तकाल इससे कुछ शताब्दी पूर्व ठहरता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके 'अरुणमहेन्द्रो मथुराम्' उदाहरणमें महेन्द्रको मेनेन्द्र = मिनएडर समझना भारी भ्रम है।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन

अब हम जैनेन्द्र व्याकरणके सम्बन्धमें संक्षेपसे लिखते हैं—

जैनेन्द्र शब्दानुशासनका परिमाण—जैनेन्द्र शब्दानुशासनमें ५ अध्याय, २० पाद और ३०६७ सूत्र [प्रत्याहार सूत्रोंके त्रिना] हैं।

जैनेन्द्रका प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ—आचार्य पूज्यपादके समय निश्चय ही पाणिनीय और चान्द्र शब्दानुशासन विद्यमान थे। पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनकी रचना पाणिनीय शब्दानुशासनके आधार पर की है, यह पाणिनीय चान्द्र तथा जैनेन्द्र शब्दानुशासनोंकी सूत्र-रचना और प्रकरण-विन्यासकी तुलनासे स्पष्ट है। कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि पूज्यपादने चान्द्र शब्दानुशासनसे भी कुछ सहायता ली है।

जैनेन्द्रमें प्रत्याहार सूत्रोंका सद्भाव—अभयनन्दीकी महावृत्तिके साथ 'अ इ उ ण्' आदि प्रत्याहार सूत्र उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जैनेन्द्र शब्दानुशासनके मूल पाठमें ये अवश्य विद्यमान थे। इसमें निम्न हेतु हैं।

क—जैनेन्द्र सूत्रपाठमें जहाँ अनेक वर्णोंका निर्देश करना होता है, वहाँ संक्षेपार्थ पाणिनीय अनुशासन के समान प्रत्याहारोंका प्रयोग किया है। यथा—अच् [१।१।५६], इक् [१।१।१७], यण् [१।१।४५],

१. श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास [सं० २००३], पृष्ठ ३५४।

२. वही, पृष्ठ ३५४।

३. महेन्द्रनृपवरो मुख्यः सकाराद्यो मतः परम्।

४. जैनेन्द्र और पाणिनीय सूत्रोंकी तुलनात्मक सूची इस ग्रन्थके अन्तमें छपी है।

ऐच् [१।१।१५], एङ् [१।१।७०]। ये प्रत्याहार पाणिनीय प्रत्याहारोंके समान हैं। किस प्रत्याहारमें कितने वर्णोंका निर्देश समझना चाहिए अथवा प्रत्याहार कैसे बनाया जाता है, इसका नियम-प्रदर्शक “अन्ये नेतादिः” सूत्र जैनेन्द्र शब्दानुशासन [१।१।७३] में विद्यमान है। इस सूत्र द्वारा अच् प्रत्याहारोंका परिज्ञान तभी सम्भव है, जब ग्रन्थके आरम्भमें पाणिनीय ग्रन्थवत् प्रत्याहार सूत्र पठित हों। अन्यथा ‘अन्येनेतादिः’ सूत्र तथा इसकी वृत्ति कभी समझमें नहीं आ सकती।

ख—जैनेन्द्र १।१।४८ पर अभयनन्दी लिखता है—‘रन्त इति लणो लकारेण प्रश्नेपनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम्।’ अर्थात् ‘रन्त’ इस निर्देशमें लण् सूत्रके लकारमें पठित अकारसे र प्रत्याहार लिया गया है। “लण्” यह पाणिनिके समान प्रत्याहार सूत्र ही है।

ग—अभयनन्दी १।१।३ सूत्रकी वृत्तिके अनन्तर उदाहरण देता है—‘अ इ उ ण्—णकारः। अर्थात् ‘अ इ उ ण्’ सूत्रमें ‘ण्’ इन् संज्ञक है। यहाँ भी पाणिनिके समान ‘अ इ उ ण्’ सूत्रको उद्धृत किया है।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र व्याकरणके आरम्भमें भी प्रत्याहार सूत्र थे। हमने प्रत्याहार-सूत्रोंके विषयमें इस महावृत्तिके सम्पादक महोदयसे पूछा था कि किसी हस्तलेखमें ये सूत्र मिलते हैं, अथवा नहीं। श्री सम्पादकजीने २६।६।५६ के उत्तरमें लिखा—“प्रत्याहार-सूत्रोंका पाठ किसी भी हस्तलिखित प्रतिमें उल्लब्ध नहीं है। मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी तथा शब्दार्णव-चन्द्रिकामें कुछ हेर फेरके साथ पाणिनीय व्याकरण सदृश [अ इ उ ण् आदि] दो प्रकारके सूत्रपाठ मिलते हैं।”

हमारा विचार है कि प्रत्याहार सूत्रोंकी व्याख्याकी आवश्यकता न समझकर अभयनन्दीने इनकी व्याख्या नहीं की। अव्याख्यात होनेके कारण महावृत्तिके हस्तलेखोंमें इनका अभाव हो गया। अथवा यह भी सम्भव है—जैसे अन्यत्र कई स्थानों पर सूत्रोंकी वृत्ति उपलब्ध नहीं होती, उसी प्रकार इन प्रत्याहार-सूत्रोंकी भी व्याख्या नष्ट हो गई और व्याख्याके न रहने पर महावृत्तिके हस्तलेखोंमें सूत्र पाठका भी अभाव हो गया। जो कुछ भी कारण उनके अभावका हो, परन्तु इतना निस्सन्दिग्ध है कि अभयनन्दी जैनेन्द्र प्रत्याहार-सूत्रोंसे परिचित था।

सूत्रपाठके पाठान्तर—महावृत्तिके साथ जो जैनेन्द्रसूत्र पाठ छपा है उसमें तथा अभयनन्दीकी व्याख्यामें उद्धृत सूत्र पाठमें कतिपय पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। कई पाठान्तर अभयनन्दीकी वृत्तिके गम्भीर अनुशीलनसे विदित होते हैं; यथा—

क—अभयनन्दी ने १।१।८५ की व्याख्यामें ५।१।७९ का पाठ उद्धृत किया है—‘वद्व्रज’ इत्यादि-नैप्। परन्तु ५।१।७६ पर सूत्रपाठ छपा है—‘व्रजवद्वोऽतः’ [इस पर वृत्ति अप्राप्त है]।

ख—जैनेन्द्र १।२।११४ सूत्रका मुद्रित पाठ है—साधकतमं करणम्। इसकी व्याख्यामें अभयनन्दी लिखता है—‘पुंल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः? परिक्रयणम् [१।२।११२] इत्यनवकाशया संप्रदानसंज्ञया बाधा मा भूत्।’ अर्थात्—पुंल्लिङ्ग निर्देश क्यों किया.....।

इस सूत्र में दो पद हैं। दोनों ही नपुंसक लिङ्ग पढ़े हैं। ऐसी अवस्थामें न तो शंका ही उपपन्न होती है और न उनका समाधान ही। क्योंकि ‘नव्बाध्य आसम्’ [१।२।१११] सूत्रानुसार नपुंसक लिंगसे निर्दिष्ट संज्ञाका अनवकाश संज्ञासे बाध होता है। अतः ‘करण’ संज्ञाका नपुंसकसे निर्देश होनेके कारण अनवकाश सम्प्रदान संज्ञा [१।२।११२] से निश्चय ही बाध होगा। इस कारण प्रतीत होता है अभयनन्दीका सूत्रपाठ “साधकतमः करणः” था, जो पीछेसे विकृत हो गया। ‘करणः’ पुल्लिङ्ग निर्देश होनेपर ही

१. शाकटायनकी चिन्तामणि वृत्तिमें भी प्रत्याहार सूत्र व्याख्यात नहीं हैं।

२. पृष्ठ २८८, ३१७, ३२८।

‘पुंल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः’ यह शंका तथा उषका समाधान उत्पन्न हो सकता है। पुंल्लिङ्ग निर्देश [करणः] होनेपर अनवकाश संप्रदान संज्ञासे भी करण संज्ञाकी बाधा नहीं होगी और ‘शतेन परिकीतः’ प्रयोग भी उपपन्न हो जायगा।

जैनेन्द्रमें एक विवेचनीय स्थल—जैनेन्द्र व्याकरण लौकिक भाषाका व्याकरण है। इसलिए उसमें स्वर और वैदिक प्रक्रियाका अंश छोड़ दिया है। प्रथमाव्यायके प्रथम पादमें आचार्यने तीन सूत्र पढ़े हैं—कौवैतौ, उजः, उम [२४-२६] [यहाँ शुद्ध पाठ ‘ऊँ’ चाहिए] इन सूत्रोंके पाठ तथा इनकी वृत्तिसे प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग विषय लोकभाषा है। परन्तु इनका वास्तविक प्रतिपाद्य विषय वैदिक [पदपाठ] है। यह बात पाणिनिके ‘संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनापे, उजः ऊँ’ [११११६-१७] सूत्रोंसे स्पष्ट है। पाणिनिने प्रथम सूत्रमें वैदिक सम्प्रदायके पारिभाषिक ‘अनार्ष इति’ का निर्देश किया है [इसकी अनुवृत्ति अगले सूत्रमें भी जाती है]। पदकारों द्वारा पदपाठमें प्रगृह्य आदि संज्ञाका निदर्शन करानेके लिए मन्त्रसे बहिर्भूत जिस ‘इति’ शब्दका प्रयोग किया जाता है वह अनार्ष इतिकरण कहाता है। इसीको उपस्थित भी कहते हैं। इस शब्दका व्यवहार भी पाणिनिने ६।१।२६ में किया है। ये संज्ञाएँ प्रातिशाख्यग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं। पदपाठमें अनार्ष इतिकरणका प्रयोग कहाँ करना चाहिए, इसका प्रतिपादन प्रातिशाख्योंमें विस्तारसे किया है। ऋग्वेदके पदपाठमें शाकल्यने प्रगृह्य संज्ञक [जैनेन्द्रके अनुसार ‘दि’ संज्ञक] पदसे परे सर्वत्र इति शब्दका प्रयोग किया है। यथा— अग्नि इति [ऋ० ५।४५।४], मेथेते इति [ऋ० १।१३।३] युष्मे इति [ऋ० ४।१०।८], वायो इति [ऋ० १।२।१], ऊँ इति [ऋ० १।२।८], गौरी इति [ऋ० १।१२।३]। पाणिनिने शाकल्यके मतका अनुवाद अपने शास्त्रमें किया है। इससे स्पष्ट है कि जैनेन्द्रके उक्त सूत्रोंद्वारा प्रतिपाद्य विषय भी वैदिक नियमोंके अन्तर्गत आता है। इसलिए आचार्यको चाहिए था कि उमने जैसे पाणिनिके “शे” [११११३] और “इदूतौ च ससमी” [११११८] सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयके लिए सूत्र रचना नहीं की, वैसे ही इनका भी समावेश न करता। समावेश करनेसे विदित होता है कि आचार्यने इन सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयको लौकिक समझा है। परन्तु लोकमें वाया इति ऊँ इति ऐसे प्रयोग उपलब्ध नहीं हैं।

भूलका कारण—इस भूलका कारण भगवान् पतञ्जलिकी पाणिनीय उजः ऊँ [११।१७] सूत्रकी व्याख्या है। पतञ्जलिने शाकल्य ग्रहणको विकल्पार्थ मानकर और उजः ऊँ का योग-विभाग करके ‘वायो इति वायविति, वाय इति, ऊँ इति उ इति विति’ इतने काल्पनिक रूप बनाये हैं। पतञ्जलिने भी पारिभाषिक ‘अनार्ष इति’ को ‘लौकिक इति’ मान लिया, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु है यह समस्त प्राचीन वैदिक साम्प्रदायके विपरीत। इस विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिका अनुकरण करनेमे ही जैनेन्द्रमें यह भूल हुई प्रतीत होती है।

जैनेन्द्रके सम्बन्धमें एक भ्रम—जैनेन्द्र शब्दानुशासनके सम्बन्धमें भ्रम है कि जैनेन्द्र ही प्रथम व्याकरण है जिसमें एकशेष प्रकरण नहीं है। इसका कारण महावृत्तिमें निर्दिष्ट ‘देवोपज्ञमनेकशेष व्याकरणम्’ [१।४।६७] उदाहरण है। हमने सं० व्या० शास्त्रका इतिहासमें [पृष्ठ ४२४] इस भ्रमका निराकरण किया है। जैनेन्द्रसे प्राचीन चान्द्रमें भी एकशेष प्रकरण नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि और जैनेन्द्र शब्दानुशासनका पौर्वापर्य—आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि नामक व्याख्यामें कहीं पाणिनीय शब्दानुशासनके और कहीं स्वरचित शब्दानुशासनके सूत्र यत्र तत्र उद्धृत किये हैं। इससे विदित होता है कि जैनेन्द्र शब्दानुशासनकी रचना आचार्यने सर्वार्थ सिद्धिके पूर्व ही कर

१. इसकी विशद विवेचनाके लिए देखो हमारे द्वारा संपादित ‘अष्टाध्यायीप्रकाशिका’ का ‘उजः ऊँ’ [१।१।१७] सूत्र।

लौ थी। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० सूत्र ४ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें आचार्य पूज्यपादने पञ्चमी विभक्तिके लिए स्वनिर्मित 'का' संज्ञाका निर्देश किया है। इससे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है [सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१]

जैनेन्द्र शब्दानुशासनके खिलपाठ

वैयाकरण वाङ्मयमें शब्दानुशासन पद केवल सूत्रपाठके लिए प्रयुक्त होता है। सूत्रपाठको लघु बनानेके लिए उससे सम्बद्ध विस्तृत विषयोंको सूत्रकार जिन ग्रन्थोंमें संगृहीत करते हैं वे शब्दानुशासनके खिल अथवा परिशिष्ट कहाते हैं। प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासनके धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन ये चार खिल होते हैं। इन्हें मिलाकर व्याकरणकी पञ्चपाठी बनती है! जैनेन्द्र व्याकरण के भी ये चार खिल थे [उणादि और लिङ्गानुशासन उपलब्ध नहीं हैं]।

धातुपाठ—आचार्य देवनन्दी प्रोक्त धातुपाठका मूल ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया। गुणनन्दी प्रोक्त शब्दार्णव व्याकरण [जैनेन्द्रका परिवर्धित संस्करण] का चन्द्रिका टीकासहित जो संस्करण काशीसे छपा है, उसके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ भी मुद्रित है। वह धातुपाठ जिनेन्द्र [पूज्यपाद] प्रोक्त मूल रूपमें है अथवा शब्दार्णवके समान परिवर्धित है, यह हम नहीं कह सकते। अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र धातुपाठके अनेक सूत्र उद्धृत हैं उनकी मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठकी तुलनासे कुछ परिणाम निकाला जा सकता है। परन्तु मम्प्रति मेरे पास मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठ नहीं है। अतः मैं इसके निर्णयमें इस समय असमर्थ हूँ।

मैं इसी वर्ष ६ अगस्तको काशीमें भारतीय ज्ञानपीठके व्यवस्थापक तथा महावृत्तिके सम्पादक महोदयोंसे मिला था [यह मेरा प्रथम मिलन था] और उन्हें ग्रन्थके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ छापनेका सुझाव दिया था। दोनों महानुभावोंने बड़ी सहृदयतासे मेरे सुझावको स्वीकार किया और वह इस ग्रन्थके अन्तमें दिया जा रहा है [अभी छपा मेरे पास नहीं पहुँचा]।

धातुपारायण—आचार्य हेमचन्द्रने स्वीय लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें पृष्ठ १३२ पं० २० पर नन्दिधातुपारायण तथा पृष्ठ १३३ पं० २३ पर नन्दिपारायण उद्धृत किया है। इस नामके साथ हेम-धातुपारायण नामकी तुलनासे प्रतीत होता है कि यह आचार्य देवनन्दीका अपने धातुपाठ पर स्वोपज्ञ विवरण रहा होगा।

गणपाठ—जैनेन्द्र गणपाठ अभयनन्दीकी महावृत्तिमें यथास्थान सन्निविष्ट है, पृथक् छपा नहीं मिलता।

उणादिसूत्र—जैनेन्द्र उणादिसूत्रका कोई हस्तलेख अभी तक हमारी दृष्टिमें नहीं आया। महावृत्तिके सम्पादकजीसे भी इसके विषयमें पूछा था। उन्होंने २६।६।५६ के पत्रमें लिखा—“उणादि सूत्र तथा परिभाषाओंका भी संकलन कहीं नहीं उपलब्ध हो सका। लिङ्गानुशासन भी जैनेन्द्रका अनुपलब्ध ही है।”

अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक उणादि सूत्र उद्धृत हैं। कुछ प्राचीन पञ्चपादीसे पूर्णतया मिलते हैं, कुछमें पाठान्तर है। अनेक सूत्र ऐसे भी हैं जिनमें प्रत्यक्ष जैनेन्द्र संज्ञाओंका प्रयोग हुआ है। इसलिए यह निश्चित है कि जैनेन्द्र प्रोक्त उणादि सूत्र भी थे। उदाहरणके लिए हम कुछ सूत्र उद्धृत करते हैं। यथा—

१. काशिका १।३।२ में खिल शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त है।

२. प्राचीन परम्परानुसार 'भू सत्तायाम्' एध वृद्धौ' आदि वाक्य सूत्र माने जाते हैं। द्रष्टव्य-अस्मत्-संपादित क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १, टि० २।

१—तनोतेडुः सन्वच्च । पृष्ठ ३ ।

५—अण्डो जृकृसृवृडः ।^१ पृष्ठ ११६ ।

२—अस् सर्वधुभ्यः । पृष्ठ १७ ।

६—गमेरिन् । पृष्ठ ११६ ।

३—कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् । पृष्ठ ११८ । ७—आङि णित् । पृष्ठ ११६ ।

४—वृत्वदिहानिकमिकषिभ्यः सः । पृष्ठ ११८ ।

८—भुवश्च । पृष्ठ ११६ ।

जैनेन्द्र उणादि सूत्रोंका आधार—जिस प्रकार आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनके प्रवचनमें पाणिनीय शब्दानुशासनका प्रधान आश्रय लिया, उसी प्रकार उणादि सूत्रोंके प्रवचनमें भी निश्चय ही किसी प्राचीन उणादिको मुख्य आधार बनाया होगा। जैनेन्द्र उणादि पाठके उपलब्ध न होनेसे यद्यपि हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि आचार्यने किस प्राचीन उणादि पाठको मुख्यता दी, पुनरपि हमारा अनुमान इस प्रकार है—

पाणिनीय सम्प्रदायसे संबद्ध मुख्यतया दो प्रकारके उणादि पाठ उपलब्ध होते हैं। एक है पञ्चपादी और दूसरा दशपादी।^२ पञ्चपादी-पाठ भी रामायण महाभारत आदि ग्रन्थोंके समान अनेक शाखाओंमें विभक्त है। एक है श्रोत्र पाठ, दूसरा पश्चिमोत्तर, तीसरा दक्षिणात्य। उज्ज्वलदत्त तथा तदाश्रित भट्टोजिदीक्षित आदिकी वृत्तियाँ श्रोत्रपाठ पर हैं [उज्ज्वलदत्त वंगीय था, अतः इसे वाङ्ग पाठ भी कह सकते हैं]। श्वेत-वनवासी तथा नारायणकी वृत्ति दक्षिणात्य पाठ पर हैं। क्षीरस्वामी अपनी क्षीरतरङ्गिणीमें पश्चिमोत्तर पाठको उद्धृत करता है [इसे काश्मीर पाठ कह सकते हैं]। दशपादी पाठ पञ्चपादीके सम्भवतः पश्चिमोत्तर पाठके आधार पर रचा गया है। पञ्चपादी पाठका भी मूल कोई त्रिपादी पाठ प्रतीत होता है।^३ उणादिके ये सभी पाठ आचार्य पूज्यपादसे प्राचीन हैं। अभयनन्दीने १।१।७५ सूत्रकी वृत्तिमें एक जैनेन्द्र उणादि सूत्र उद्धृत किया है—“अस् सर्वधुभ्यः”।

पञ्चपादीका श्रोत्रपाठ—सर्वधातुभ्योऽसुन् । [उज्ज्वल० ४।१८८]

“ “ दक्षिणात्य पाठ—असुन् [श्वेत० ४।१६४]

“ “ पश्चिमोत्तर पाठ—असुन् [क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ९३ पं० १६^६]

दशपादीका पाठ असुन् [९।४९]

इन सब सूत्रोंकी तुलनासे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र उणादि पाठका मुख्य उपजीव्य श्रोत्र पाठ है जिसमें जैनेन्द्रके ‘सर्वधुभ्यः’ समान ‘सर्वधातुभ्यः’ पद विद्यमान है। अन्यपाठों में ‘सर्वधातुभ्यः’ पद है ही नहीं—

उणादि सूत्र व्याख्या—आचार्य देववन्दी कृत उणादि सूत्र व्याख्याका हमें कोई साक्षात् प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु जित्त प्रकार आचार्यने अपने धातुपाठकी तथा लिङ्गानुशासनकी व्याख्या की उसी प्रकार उणादिकी व्याख्या भी अवश्य रची होगी।

१. महावृत्तिका मुद्रित पाठ है—‘अण्डः । जृकृसृवृडः’। यह अशुद्ध है। तुलना करो—‘अण्डन् कृसृभृवृजः’ [पञ्चपादी उ० १ । ११८ ॥ ८० उ० ५ । ६ ॥] सूत्र से।

२. हमने इसका अनेक हस्तलेखोंके आधारपर सम्पादन किया है। सरस्वती भवन ग्रन्थमाला काशीसे [१६४२ में] यह प्रकाशित हुआ है।

३. हमने दशपादी-उणादिके उपोद्घातमें दोनों पाठों तथा इनकी वृत्तियोंका संक्षिप्त इतिहास १६४२ में लिखा था। उस समय पञ्चपादीके इतने विभिन्न पाठका बोध हमें नहीं था। उणादि सूत्र और उनकी व्याख्याओंका विस्तृत इतिहास हम अपने सं० व्या० शास्त्रका इतिहासके दूसरे भागमें लिखेंगे।

४. क्षीरतरङ्गिणीके सम्पादनके प्रारम्भमें हमें इसका ज्ञान नहीं था, अतः हमने वहाँ दशपादीके पदे दिये हैं।

५. लिङ्गानुशासनकी व्याख्याका वर्णन आगे करेंगे।

लिङ्गानुशासन—आचार्य देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासनका कोई ग्रन्थ हमारी दृष्टिमें नहीं आया, परन्तु जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन था अथवा। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—वामन अपने लिङ्गानुशासनके अन्तमें प्राचीन आचार्य प्रोक्त लिङ्गानुशासनोका निर्देश करता हुआ लिखता है—**व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रं जैनेन्द्र लक्षणगतं विविधं तथाऽन्यत् । लिङ्गस्य लक्ष्मः.....**
॥ ३० ॥ इसमें जैनेन्द्र लिङ्गानुशासनका उल्लेख स्पष्ट है ।

२—अभयनन्दी अपनी महावृत्ति १।४।१०८ में लिखता है—**गोमयकपायकार्पापणकुतपकवाटशंखादि-पाठादवगमः कर्तव्यः ।** अर्थात् गोमय आदि शब्द जिनमें उभयलिङ्गता देखी जाती है, उनका ज्ञान पाठसे कर लेना चाहिए ।

यहाँ पाठसे अभिप्राय लिङ्गानुशासनका ही है, क्योंकि 'पुंसि चार्धचाः' [१।४।१०८] सूत्र पर पाणिनिके समान जैनेन्द्रमें कोई गण नहीं है । अतः इनका पाठ लिङ्गानुशासनमें ही सम्भव हो सकता है ।

३. आचार्य हेमचन्द्रने अपने लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें नन्दीके नामसे एक पाठ उद्धृत किया है—**“आमरं तु भवेच्छुक्लं चौद्रं तु कपिलं भवेत्”**—इति नन्दी । पृष्ठ० ८५ पंक्ति २५ ।

हमारे विचारमें यह पाठ देवनन्दीके लिङ्गानुशासनका है और पूर्वोक्तलिखित नियमके अनुसार यहाँ नन्दी शब्दसे देवनन्दीका ग्रहण है । हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासनके सम्पादक पं० वेङ्कट राम शर्माने अपनी निवेदनामें २३ प्राचीन लिङ्गानुशासनोका उल्लेख किया है । उसमें संख्या १८ पर 'नन्दिकृत लिङ्गानुशासन' का निर्देश है । इससे भी हमारे विचारकी पुष्टि होती है कि आचार्य हेमचन्द्र द्वारा नन्दी-नामसे स्मृत आचार्य देवनन्दी ही है ।

लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था—हैमलिङ्गानुशासन विवरणमें उद्धृत पूर्व वचनसे प्रतीत होता है कि देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था ।

लिङ्गानुशासन-व्याख्या—आचार्य देवनन्दीने अपने लिङ्गानुशासनपर कोई व्याख्या भी लिखी थी । हेमचन्द्र अपने लिङ्ग विवरणमें लिखता है—**“नन्दिनः गुणवृत्तेस्स्वाश्रयलिङ्गता स्वादुरोदनः, स्वाद्वी पेया, स्वादु पयः ।”** आचार्य हेमचन्द्रने यह पङ्क्ति अथवा अभिप्राय निश्चय ही जैनेन्द्रलिङ्गानुशासनकी व्याख्यासे लिया होगा ।

व्याकरणके अन्य ग्रन्थ

पूर्वलिखित धातुपाठ, गणापाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन इन ४ खिलोंके अतिरिक्त जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे संबन्ध रखनेवाले न्यूनानिन्धून तीन ग्रन्थ और थे । उनके नाम हैं—वार्तिकपाठ, परिभाषा पाठ, शिक्षा ।

वार्तिक-पाठ—अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे संबन्ध रखनेवाले बहुतसे वार्तिक व्याख्यात हैं । ये वार्तिक किसके हैं, यह अज्ञात है । इसी प्रकार महावृत्तिमें समस्त वार्तिक व्याख्यात हैं अथवा उसमें काशिकाके समान अधिक उपयोगी वार्तिकोका ही सन्निवेश है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैनेन्द्र वार्तिक पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नहीं आया ।

आर्य श्रुतकीर्तिने अपनी पञ्चवस्तुप्रक्रियाके अन्तमें जैनेन्द्रशब्दानुशासनपर रचे गये किसी भाष्य ग्रन्थकी सूचना दी है । यह भाष्य इस समय अनुपलब्ध है । स्वयं आचार्य पृज्यपादने भी अपने शब्दानुशासनपर एक न्यास लिखा था, वह भी अप्राप्य है । अतः जैनेन्द्रसे संबद्ध वार्तिक पाठकी रचना किसने की यह अज्ञात है ।

वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं—महावृत्तिमें व्याख्यात वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं, क्योंकि उसमें स्थान-स्थानपर पातञ्जल महाभाष्यके समान वार्तिकोका निराकरण करके सूत्र-द्वारा कार्यका

निर्वाह दर्शाया है। यथा—उदितकार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यं भवती, अतिभवती, दाक्षिः । नैतद् वक्तव्यम्... पृष्ठ १५ । यदि वार्तिक अभयनन्दी विरचित होते तो वह स्वयं अनर्थक वार्तिक रचकर उनका खण्डन न करता । इतना ही नहीं, अभयनन्दीसे पूर्ववर्ती विद्यानन्द^१ जैनेन्द्र महावृत्ति १।४।३७ में पठित 'प्यखे का वक्तव्या' वार्तिकका अष्टसहस्री [पृष्ठ १३२] में 'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानात्' इस रूपमें अर्थतः अनुवाद करता है । 'प्य, ख' ये जैनेन्द्रके पारिभाषिक प्रयोग हैं ।

अभयनन्दीकी वृत्तिमें वार्तिकोंके व्याख्यात होने तथा अष्टसहस्रीमें उद्धृत होनेसे इतना तो निश्चय है कि ये अभयनन्दीसे प्राचीन हैं । हमारा विचार है कि व्याकरण संबंधी अन्य ग्रन्थोंके समान व्युत्पत्तिपाठ भी आचार्यने स्वयं रचा होगा ।

परिभाषा-पाठ—परिभाषाएँ व्याकरण शास्त्रका महत्त्वपूर्ण भाग हैं । परिभाषाएँ दो प्रकार की हैं । कुछ सूत्रकार द्वारा स्वयं सूत्रोंमें पठित होती हैं । यथा—इको गुणवृद्धी [अष्टा० १।१।३] इकस्तौ [जैनेन्द्र० १।१।१७] । कुछ सूत्रसे बहिर्भूत होती हुई भी सूत्रकार-द्वारा स्वीकृत होती हैं । पाणिनीय व्याकरणसे संबद्ध परिभाषाएँ व्याडिकृत मानी जाती हैं ।^२ भाष्यकार पतञ्जलिने अनेक परिभाषाओंको सूत्रोंसे ज्ञापित किया है, अनेकको वे त्रिना ज्ञापकके प्रमाण मान लेते हैं । अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक परिभाषाएँ उद्धृत हैं^३ । कतिपय परिभाषाओंके ज्ञापक भी लिखे हैं । इन परिभाषाओंका पाठ पाणिनीय परिभाषाओंके समान होते हुए भी स्वतन्त्रानुसार परिवर्तित है । जैनेन्द्र संबद्ध परिभाषाओंका प्रवक्ता कौन है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता । परिभाषा पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया ।

परिभाषाओंकी व्याख्या—इन जैनेन्द्र परिभाषाओंकी व्याख्या भी किसी प्राचीन ग्रन्थकारने की थी । अभयनन्दी १।१।६१ पर लिखता है—सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां वचयति । यहाँ 'वचयति' क्रियाका कर्ता कौन है, यह अज्ञात है । परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व किसीने परिभाषाओंकी व्याख्या रची थी । इस प्रकारका विचार परिभाषा वृत्तिमें ही सम्भव हो सकता है ।

आचार्य हेमचन्द्रने अपने व्याकरणसे संबद्ध परिभाषाओंकी, स्वयं ही रचना की और स्वयं ही उनकी व्याख्या की । इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादने भी स्वयं परिभाषा पाठ और उसकी व्याख्या लिखी हो यह सम्भव हो सकता है ।

शिक्षा—अभयनन्दीने १।१।२ की वृत्तिमें लगभग ४० शिक्षासूत्र उद्धृत किये हैं । ये अधिकांशमें आपिशाल शिक्षासूत्रोंसे मिलते हैं^४ । पुनरपि इनका प्रवचन जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रक्रियानुसार किया हुआ है, यह दोनोंकी तुलनासे स्पष्ट है । यद्यपि ये जैनेन्द्र सम्बन्धी शिक्षासूत्र किसके द्वारा प्रोक्त हैं, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, तथापि जैसे आपिशालि, पाणिनि और चन्द्रगोमीने अपने-अपने शब्दानुशासनोसे सम्बद्ध शिक्षासूत्रोंका प्रवचन किया । इसी प्रकार सम्भव है आचार्य देवनन्दीने इन शिक्षासूत्रोंका भी प्रवचन किया हो । इसका विशेष वर्णन हम 'शिक्षाका इतिहास' नामक ग्रन्थमें करेंगे [पाण्डुलिपि प्रायः तैयार हो चुकी है ।

१. देखो, श्री प्रेमीजीका 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' लेख, यही ग्रन्थ पृष्ठ २४ ।

२. सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ २०७ ।

३. देखो महावृत्ति पृष्ठ ४५५, ४५६ । इस सूत्रोंमें कुछ परिभाषाएँ रह गई हैं । यथा—पृष्ठ १२ पर उद्धृत—“अनुबन्धकृतमनेकालत्वं न” परिभाषा ।

४. देखो हमारे द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित 'शिक्षा-सूत्राणि' [आपिशाल, पाणिनीय तथा आन्द] ।

आचार्य पूज्यपादके अन्य ग्रन्थ

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने लेखमें आचार्य पूज्यपादके निम्न ग्रन्थोंका उल्लेख किया है—

उपलब्ध ग्रन्थ—१. सर्वार्थसिद्धि, २. समाधितन्त्र ३. इष्टोपदेश, ४. दशभक्ति ।

अनुपलब्ध, परन्तु ज्ञात ग्रन्थ—१. शब्दावतार न्यास, २. जैनेन्द्र न्यास, ३. वैद्यक ग्रन्थ [नाम अज्ञात], ४. सार-संग्रह, ५. जैनाभिषेक ।

वैद्यक ग्रन्थके सम्बन्धमें नये प्रमाण—१. आचार्य पूज्यपाद रचित वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख श्री प्रेमीजीके लेखके पृष्ठ १९, टि० १ पर उद्धृत श्रवणबेलगोलके ४० वें शिलालेखके चतुर्थ श्लोकके तृतीय चरणके 'स्वास्थ्यं यदीयम्' पदोंमें भी मिलता है ।

२. जैन आचार्य उम्रादित्य-विरचित कल्याणकाण्ड नामक ग्रन्थमें भी पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका निर्देश है ऐसा ज्ञात हुआ है [स्वयं नहीं देखा] ।

आचार्य पूज्यपादका नूतन परिज्ञात ग्रन्थ-छन्दःशास्त्र—आचार्यने छन्दःशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था, इसकी सूचना श्रवणबेलगोलके ४० वें शिलालेखके चौथे श्लोकके तृतीय चरणके 'छन्दः' पदसे मिलती है । श्री प्रेमीजीसे इसका संज्ञेत रह गया प्रतीत होता है । जैनेन्द्र छन्दःशास्त्रका विस्तृत वर्णन हम अपने 'छन्दःशास्त्रका इतिहास' में करेंगे । यह लिखा जा रहा है ।

इस प्रकार आचार्य पूज्यपादके व्याकरणातिरिक्त उपलब्ध और अनुपलब्ध ग्रन्थोंकी संख्या १० हो जाती है ।

हमारे विचारानुसार आचार्य विरचित जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी निम्न ग्रन्थ थे—

जैनेन्द्र सूत्रपाठ, जैनेन्द्रन्यास, धातुपाठमूल, धातुपारायण, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, लिङ्गानुशासन व्याख्या, वार्तिकपाठ, परिभाषापाठ और शिक्षासूत्र ।

सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठके अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थोंको ढूँढनेका प्रयत्न होना चाहिए । ये ग्रन्थ निश्चय ही किन्हीं जैन ग्रन्थागारोंमें छिपे पड़े होंगे । उनका उद्धार परम आवश्यक है । धातुपाठ और गणपाठके हस्तलेखोंको भी उपलब्ध करनेका प्रयत्न करना चाहिए । जिससे इनकी पाठशुद्धिमें सहायता मिले ।

जैनेन्द्रके व्याख्याग्रन्थ

जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर अनेक ग्रन्थ लिखे गये । उनमेंसे जैनेन्द्रन्यास, भाष्य, अभयनन्दीकी महावृत्ति, प्रभाचन्द्रका शब्दाभोजभास्कर न्यास, पञ्चवस्तु, लघुजैनेन्द्र और जैनेन्द्र प्रक्रिया नामक ग्रन्थोंका उल्लेख श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' नामक लेखमें किया है । इनमेंसे न्यास और भाष्य ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध हैं । उपलब्ध ग्रन्थोंमें अभयनन्दीकी वृत्ति ही सबसे प्राचीन है ।

अभयनन्दीसे प्राचीन अनेक वृत्तियाँ—अभयनन्दीने महावृत्तिके आरम्भमें एक श्लोक लिखा है—
यच्छब्दलक्षणमसुत्रजपारमन्यैर्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।

तत्सर्वलोकहृदयप्रियचाह्वाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥

अर्थात्—कठिनातासे पार पाने योग्य जिस शब्दलक्षणको दरिद्रोंने व्याख्या करनेमें स्पष्ट नहीं किया, उस सम्पूर्ण शब्दलक्षणको अभयनन्दी मुनि सबके हृदयोंको प्रिय लगनेवाले सुन्दर वाक्योंसे स्पष्ट करता है ।

उक्त श्लोकके पूर्वार्धसे स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व इस जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर ऐसी अनेक वृत्तियाँ बन चुकी थीं, जिनमें सूत्रोंकी पूर्ण स्पष्ट व्याख्या नहीं थी । ये व्याख्याएँ लघुवृत्तिके रूपमें थीं, यह 'दरिद्रैः' पदसे व्यक्त होता है ।

अभयनन्दीका काल—अभयनन्दीका काल विवादास्पद है । डाक्टर बेल्वेकरने अपने 'सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर' में अभयनन्दीका काल सन् ७५० [वि० ८०७] माना है [पैराग्राफ ३०] । अभयनन्दीकी

महावृत्ति ३।२।५५ में भट्ट अकलंक [जिनका काल ८०० विक्रम माना जाता है] के तत्त्वार्थवार्तिक का उल्लेख है। इससे यह वृत्ति उसके बाद की है, यह निश्चित है। हमने अपने सं० व्या० शास्त्रका इतिहास ग्रन्थमें अभयनन्दीका काल विक्रम संवत् १०००-१०५० के मध्यमें लिखा है [पृष्ठ ४२६]। अभी इस विषयमें अनुसंधानकी आवश्यकता है।

अभयनन्दीकी महावृत्ति—जैनेन्द्र व्याकरणके वाङ्मयमें महावृत्तिका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो पाणिनीय व्याकरणमें काशिका का है। यह महावृत्ति काशिकासे भी अधिक विस्तृत है। इसका ग्रन्थ परिमाण १२ सहस्र श्लोक है। ग्रन्थकारने अपनी वृत्तिके सम्बन्धमें पूर्वनिर्दिष्ट श्लोकमें जो लिखा है वृहत्पूर्णतया सत्य है, उसमें यत्किञ्चित् अतिशयोक्ति नहीं है।

अभयनन्दीका पाण्डित्य—निश्चय ही अभयनन्दी व्याकरण शास्त्रमें परम निपुण थे। उनका व्याकरण विषयक-ज्ञान केवल जैनेन्द्र तक सीमित नहीं था, अपितु पाणिनीय व्याकरणमें भी उनकी अप्रत्याहत गति थी। यह इस वृत्तिके सूक्ष्म अध्ययनसे पदे-पदे स्पष्ट होता है। महावृत्तिमें कई स्थल उनके व्याकरण विषयक अभूतपूर्व पाण्डित्यका निदर्शन करते हैं। यथा १।२।९६ सूत्रकी व्याख्यामें “प्रविनय्य” प्रयोगकी सिद्धिके सम्बन्धमें जो विचार किया है, वह हमें अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

महावृत्तिके उपजीव्य ग्रन्थ—यद्यपि अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिकी रचनामें निस्सन्देह जैनेन्द्र न्यास, प्राचीन लघु वृत्तियाँ, पातञ्जल महाभाष्य आदि सभी ग्रन्थोंसे सहायता ली है, तथापि सूत्र व्याख्या शैली और वाक्य विन्यासमें काशिकावृत्तिका प्रभाव अधिक प्रतीत होता है।

पतञ्जलिके पदचिह्नोंपर—[क] पतञ्जलिने जिस प्रकार पाणिनि और कात्यायनके प्रति सम्मानकी भावना रखते हुए उनके सूत्र तथा वार्तिककी सूक्ष्म विवेचना करते समय पाणिनि और कात्यायनके गौरवसे प्रभावित हुए बिना अपना निर्णय प्रकट किया है, उसी प्रकार अभयनन्दी मुनिने भी अनेक स्थलों पर जैनेन्द्र वार्तिकोंका निष्प्रयोजनत्व दर्शाया है। यथा—पृष्ठ १५ पर “उगित् कार्यम्” तथा पृष्ठ २६ पर ‘दाणश्च सा’ वार्तिक का।

[ख] जैसे पतञ्जलिने पाणिनीय सूत्रोंसे साक्षात् असिद्ध प्रयोगोंका साधुत्व दर्शानेके लिए योगविभाग रूपी कौशल दिखाया है। उसी प्रकार अभयनन्दीने भी योगविभाग-द्वारा अनेक पदोंका साधुत्व दर्शानेका प्रयत्न बहुत स्थानोंपर किया है।

महावृत्तिकी एक महती विशेषता—महावृत्तिकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पाणिनि पतञ्जलि चन्द्र तथा पूज्यपाद द्वारा असंगृहीत प्राचीन व्याकरण-नियमोंका यद्यत् तत्र संग्रह उपलब्ध होता है। यथा [१।२।१]—

‘भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । इको यशिवर्ध्ववधानमनेकेषामिति संग्रहः १’

अर्थात्—‘भूवादयो धुः’ [१।२।१] सूत्रमें ‘भू+आदयो’ के मध्यमें वकारका निर्देश व्याकरणका लक्षण बतलानेके लिए रखा गया है। अनेक आचार्योंके मतमें ‘इक् में परे यण्का व्यवधानं होता है’, इस लक्षणका संग्रह वकारसे दर्शाया है।

१. कलकत्ताके श्री पं० क्षितीशचन्द्र जी चट्टोपाध्यायने ‘टैक्निकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर’ [पृष्ठ ७१] में इस कारिका तथा महावृत्तिमें आगे व्याख्यात दो चरणोंका पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—“भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । व्यवधानमिको यशिवर्ध्ववधानमनेकेषामिति वदेरीणादिके इजि । भूवादय इति ज्ञेया भूवोऽर्था वादयोऽथवा ।”

२. इस सन्धि तथा इससे पदसिद्धि-प्रक्रियापर पढ़नेवाले प्रभावके लिए हमारा सं० व्या० शा० का इतिहास, पृष्ठ २१-२४ विशेष रूपसे देखना चाहिए।

हमारी दृष्टिमें अभी तक सबसे प्राचीन यही ग्रन्थ है, जिसमें **यण्यवधान-सन्धि** का साक्षात् उल्लेख किया है।^१ आगे वृत्तिकारने महाभाष्योक्त चकारके मंगलार्थत्वका खण्डन किया है। हमारे विचारमें 'मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' लेखमें पतञ्जलिका 'मंगल' का वह भाव नहीं है जो जनसाधारणमें प्रसिद्ध है। अर्पितु यहाँपर अध्येता छात्रोंका मंगल अभिप्रेत है। इसकी व्याख्यामें स्पष्ट कहा है—अध्येतारश्च मंगलार्था यथा स्युः। अध्येताओंका मंगल लक्षण ज्ञानसे ही सम्भव है।^२

महावृत्ति मध्यमध्यमें वृत्ति—यद्यपि महावृत्तिका यह संस्करण पाँच हस्तलेखोंके आधार लुप्त है, परन्तु इसमें अनेक स्थलोंपर कई-कई सूत्रोंकी व्याख्या खण्डित है। देखो पृष्ठ २८८, ३१७, ३५८। इससे स्पष्ट है कि ये पाँचों हस्तलेख किताब एक ही मूल प्रतिकी प्रतिलिपियाँ हैं। अतः इसकी पूर्तिके लिए अन्य हस्तलेख प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

जैनेन्द्र व्याकरण तथा महावृत्तिका मुद्रण

आजसे ४६ वर्ष पूर्व काशीकी लाजरस कम्पनीकी ओगसे सन् १९१० में महावृत्ति सहित जैनेन्द्र व्याकरणका मुद्रण आरम्भ हुआ था। इसके सम्पादक थे, त्रिभुवनेश्वरीप्रसाद द्विवेदी। इसका मुद्रण तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके ६०वें सूत्र तक ही होकर रह गया। तब से यह परमोपयोगी ग्रन्थ अधूरा ही रहा। यह परम सौभाग्यका विषय है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने हम ग्रन्थकारको प्रकाशने लानेका महान् प्रयत्न किया। उसीका यद् फल है कि ४६ वर्षके अनन्तर यह ग्रन्थ पूरा छपकर प्रकाशमें आया है। इसके लिए उक्त संस्था अत्यन्त धन्यवादकी पात्र है। इस संस्थाने इसी प्रकारके अनेक दुर्लभ ग्रन्थोंका प्रकाशन करके समस्त भारतीयों, विशेषकर जैनमतानुयायियोंका महान् उपकार किया है। हमारी यही कामना है कि यह संस्था भविष्यमें भी इसी प्रकार अपना कार्य करनेमें समर्थ हो, दिन दूनी रात चौगुनी फले फूले।

महावृत्तिका नूतन संस्करण—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित महावृत्तिका यह संस्करण निस्सन्देह महान् परिश्रमका फल है। इसके सम्पादनमें ५ हस्तलेखोंसे सहायता ली गई है। इतना प्रयत्न करनेपर भी इसके सम्पादनमें कुछ कठिनाईएँ रह गई हैं। उनकी ओर भी संकेत कर देना हम उचित समझते हैं, जिसे आगामी संस्करणमें उसका परिमार्जन हो सके।

क—अनेक स्थानोंपर उद्धृत जैनेन्द्र सूत्रोंके पते देने रह गये हैं। यथा—पृष्ठ ११ पं० २—**जैरिति दीत्वम्**—'जेः' ४।३।२३४ का सूत्र है, यही पृष्ठ पं० १३—शास इत्येवमादिषु—'शास' यह ४।४।३३ का प्रतीक है।

ख—वृत्तिमें उद्धृत उद्धरणोंके पते देने रह गये। यथा—पृष्ठ २४ पङ्क्ति २६—'एति जीवन्तमानन्दः'। यह रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ३४ श्लोक ६ का तृतीय चरण है। पृष्ठ ११९ पं० ६ पर निर्दिष्ट 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः' कारिका महाभाष्य ३।३।१ की है। इसी प्रकार १।२।१२१ सूत्रपर उद्धृत कारिकाएँ भी महाभाष्य की हैं।

ग—कई स्थानोंपर कुछ अधिक सावधानता बर्ती जाती तो अनेक पाठ ठीक हो सकते थे। यथा—पृष्ठ ११९ पं० ३ पर मुद्रित 'अण्डः। जृकृसृवृडः' पाठ 'अण्डो जृकृसृवृडः' चाहिए। पृष्ठ ८ पं० ५-६—'कृतः। कृतवान्। भूतवर्तमाने'.....। यहाँ 'कृतः। कृतवान्। "तः" [२।२।८५] भूत इति वर्तमाने'.....

१. यद्यपि शाकटायन लघुवृत्ति [पृष्ठ २३] में यह नियम उल्लिखित है। उसका काल अनिश्चित है। अमोघवृत्तिमें इसका उल्लेख है या नहीं यह हमें ज्ञात नहीं।

२. महाभाष्यकी पंक्तिका यह अभिप्राय हमें महावृत्तिके प्रकाशमें ही समझमें आया।

पाठ चाहिए। 'भूत इति वर्तमाने' आदि पदों द्वारा जिस सूत्रकी वृत्ति लिखी है वह, 'तः' [२।२।८५] सूत्र यहाँ वृत्तित है।

घं - अनेक स्थानोंपर वृत्तिमें उद्धृत जैनेन्द्र सूत्र तथा परिभाषा आदिको भिन्न टाइपमें करना रह गया है।

ङ—कहीं-कहीं सम्पादकीय टिप्पणियोंमें भी भूल प्रतीत होती है। यथा—पृष्ठ १६ पं० १६ पर [४ अन्यथा अनिदित इति उङः खस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पर टिप्पणी है—४. कोष्ठ स्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति। "अलुङः—क्लित्यनिदितः" इत्यस्यात्राप्रवृत्तेः। प्रतीत होता है यह पङ्क्ति पाणिनीय व्याकरणकी प्रक्रियाकी भ्रान्तिसे लिखी गई है। 'हन्स्त्' इस अवस्थामें 'त' के परे रहने पर 'यस्ये तदादि गुः' [जै० १।२।१०२] सूत्रसे 'हन् स्' की 'गु' [पाणिनीय-अंग] संज्ञा है। जैनेन्द्र प्रक्रियानुसार २।१।३८ सूत्रसे 'सि' प्रत्यय होता है, उसका इकार इत् है। गुके इदित् होनेसे 'हलुङः क्लित्यनिदितः' [४।४।२३] सूत्रकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसकी प्रवृत्ति न होनेसे उङ् [= उपधा] के 'न्' का लोप नहीं हो सकता। अतः कोष्ठान्तर्गत पङ्क्ति सर्वथा शुद्ध है।

इन सब कमियोंने रहने पर भी जो संस्करण प्रकाशित हुआ है, वह निस्सन्देह महान् प्रयत्नका फल है। प्रथमवार इनना सुन्दर संस्करण प्रकाशित हो गया, यह महान् संतोषकी बात है।

ग्रन्थके सम्पादनमें कितना परिश्रम पड़ता है, यह भी भुक्तभोगी ही जान सकता है। हाँ, ग्रन्थको सर्वाङ्गमुन्दर बनानेका लक्ष्य तथा उसके लिए सर्वविध प्रयत्न सम्पादकका अवश्य होना चाहिए। तत्पश्चात् जो कार्य हो जाय उससे सन्तुष्ट रहते हुए अगले संस्करणको सर्वात्मना श्रेष्ठ बनानेका प्रयत्न होना चाहिए।

जैनन्द्रमहावृत्तिः

आचार्यदेवनन्दिप्रणीतम्

जैन-व्याकरणम्

अभयनन्दाचार्यकृतमहावृत्तिसाहित्यम्

देवदेवं जिनं नत्वा सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ।

शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विरच्यते ॥ १ ॥

यच्छब्दलक्षणम् सुवजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।

तत् सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यङ्गीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥ २ ॥

शिष्टान्चारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमिदमाहाचार्यः—

हृत्प्रीत्यात्यन्तिको यस्य निरवद्याऽवभासते ।

देवनन्दितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयम्भुवे ॥

लक्ष्मीः श्रीः । सैव विशिष्यते—अन्तमतिक्रान्तः कालोऽत्यन्तः तत्र भवा आत्यन्तिकी अविनश्यती आत्मस्वभावाधीना केवलज्ञानादिविभूतिरित्यर्थः । अत्राद्याद् गह्वर्निष्क्रान्ता निरवद्या निर्दोषा, अवभासते शोभते, यस्य भगवतः, यस्येति सर्वनामपदस्य सामान्यवाचित्वेऽपि अन्यस्यैवविधा श्रीर्न सम्भवतीति पारिशेष्यादर्हद्गृह्यारकस्य ग्रहणम् । यच्छब्दाभिहितोऽर्थस्तच्छब्देन परामृश्यत इति तस्मै देवनन्दितपूजेशे स्वयम्भुवे नमः । 'अस्तु' इत्यध्याहारः, देवाः सुराः तैर्नन्दिता अभिवर्द्धिता सा चासौ पूजा च तस्याः, 'ईष्ट' इति क्विपि कृते देवनन्दितपूजे, तथा स्वयमात्मना भवतीति स्वयम्भूः । नमःशब्दयोगे सर्वत्र डेर्भवति ।

लोके प्रसिद्धसाधुत्वानां शब्दानामन्वाख्यानार्थमिदमारभ्यते । अन्वाख्यानञ्च प्रकृत्यादिविभागेन सामान्यविशेषवता लक्षण्येन शब्दानां व्युत्पादनम् । तच्च शब्दार्थसम्बन्धमन्तरेण न सम्भवति । शब्दार्थसम्बन्धसिद्धि-श्रानेकान्ताधीनेत्यत आह—

सिद्धिरनेकान्तात् ॥१११॥ प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिः अनेकान्ताद्भवतीत्यर्थाधिकार आ शास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः । अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः । तस्यावग्रहेहावायधारणात्मकं प्रत्यक्षं तद्व्यवहाररूपत्वेति विवेचयित्वा साधकम् । अथास्तित्वनास्तित्वादीनां परस्परविरुद्धानां कथमैकाधिकरण्यमसङ्कीर्णरूपता च ? यथा भवतामेकत्र हेतौ अन्वयव्यतिरेकयोः जनके रसे वा जन्यमानरूपरसापेक्षयोः सहकारित्वासहकारित्वयोः । अथ हेतौ सपक्षविपक्षापेक्षया रूपद्वयं रसे च सभागासभागकार्यापेक्षया; अत्रापि तर्हि स्वरूपपररूपापेक्षयाऽस्तित्वनास्तित्वे द्रव्यपर्यायापेक्षया च नित्यत्वानित्यत्वे, द्रव्यपर्याययोश्चान्वयव्यतिरेकभ्यां सिद्धिरित्यास्तां तावदेतत् । अनेकान्तादितीदमेव शपकम्, हेतौ कापि भवति । तेनानित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादि सिद्धम् ।

१. तुस्वरम् । २. तस्मै नमः इति शेषः । ३. सम्बन्धान्तरेण अ०, सु० । ४. 'प्रकृत्यादिविभागेन' इति पुनरुक्तः । ५. —सैक्यादि—सु० । ६. जनक्योरपि सु० । ७. च भागा—अ० । ८. पञ्चन्यपि ।

उत्तरत्र त्वेकदेशाद्व्यवायोऽधिकार इति । वक्ष्यति—“सस्थानक्रियं स्वम् [१।१।२] इति । एतच्च वस्तुना साधर्म्य-
वैधर्म्यात्मकेऽनेकान्ते सत्युपपद्यते । तथा हि अकाराकारयोः ह्रस्वदीर्घकालभेदेन वैधर्म्येऽपि तुल्यस्थानकरणत्वेन
साधर्म्यमस्तीति स्वसञ्ज्ञाव्यवहारः सिध्यति । यदि हि साधर्म्यमेव स्यात्; तदास्तित्वेनेवान्यैरपि धर्मैः
साधर्म्यं सर्वमेकं प्रसज्येत । यदि च वैधर्म्यमेव; तदा कस्याचिदस्तित्वमपरस्य नास्तित्वमन्यस्य चान्यत् स्यात् ।
“अधु सृत्” [१।१।५] इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवच्छब्दरूपं मृत्सञ्ज्ञकमनेकान्तात् सिध्यति । तथा हि—
विभक्त्यन्तस्य च शब्दस्य प्रयोगादर्थे ज्ञानमुत्पद्यत इति सङ्घाता अर्थवन्तो दृष्टाः; तदवयवानामान्यन्वयव्यतिरेका-
भ्यामर्थवता जायते । वृत्तावित्यत्र, विसर्जनीयाभावादेकत्वार्थो निवृत्तः, औकारभावाद् द्वित्वं जातम् । अका-
रान्तवृत्तशब्दान्वयाजातिरन्वयिनी प्रतीयते । अन्वयव्यतिरेकौ च भावाद्येकान्तवादे न स्तः । तथा “ध्यपाये
ध्रुवमपादानम्” [१।२।११०] इत्यादिप्रकारकी नित्यत्तणिकपन्नयोर्नोपपद्यते व्यपायध्रौव्याद्यभावात् । उक्तं च—
“इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो
व्ययोर्यमनुषङ्गजं फलमिदं दर्शयं मम ।
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतदेशकालाविमा-
विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥”

सस्थानक्रियं स्वम् ॥ १।१।२ ॥ स्थानं ताल्वादि, क्रिया स्पृष्टतादिका । समाना स्थाने क्रिया यस्य,
सामर्थ्यात् स्थानमपि समानं लभ्यते । अथवा समानं स्थानक्रियं यस्य, समानस्येति योगविभागात् सादेशः,
तत् सस्थानक्रियं स्वसंज्ञं भवति । आत्मलाभमापद्यमाना वर्णास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं वर्णोत्पात्तस्थानमित्यर्थः ।
तदष्टविधम्—

“अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥” इति ।

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुरान्तरः परिस्पन्दः क्रिया । सा चतुर्विधा—स्पृष्टता ईपत्स्पृष्टता विवृतता
ईषद्विवृतता चेति । ध्वनावुत्पद्यमाने यथा स्थानानि स्पृशति सा स्पृष्टता । मनाक् स्पर्श ईषत्स्पृष्टता । दूरेण स्पर्शो
विवृतता । समीपेन स्पर्शो ईषद्विवृतता । कस्य पुनः किं स्थानम् ? अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः । हविसर्जनीया-
बुरस्यावेकेषाम् । जिह्वामूलीयो जिह्वयः । सर्वमुखस्थानमवर्णमेके मन्यन्ते । इशयञ्चेदैतस्तालव्याः । एदैतौ
कण्ठतालव्यावेकेषाम् । उष्णोदौदुपध्मानीया औष्ठ्याः । औदौतौ कण्ठोष्ठ्यावेकेषाम् । वकारो
दन्तोष्ठ्यः । सुक्लं स्थानमेकं वाञ्छन्ति । ऋटुरपा मूर्धन्याः । रेफो दन्तमूल्य एकेषाम् । लृटुलसा दन्त्याः ।
नासिकयोऽनुस्वारः । अमङ्गणाः स्वस्थानाः । नासिकास्थाना एकेषाम् । तेषां स्वसञ्ज्ञाप्राप्तिर्दोषः । स्पृष्टिः
स्पृष्टं स्पृष्टानुगतं करणं कृतिरुच्चारणमेपरामिति स्पृष्टकरणा वर्ग्याः । ईपत्स्पृष्टकरणा अन्तःस्थाः । ईषद्विवृतकरणा
ऊष्माणः । विवृतकरणाः स्वराः । तेष्य एदौतौ विवृततरौ । तेन दध्येतत् मध्वोदनमिति स्येऽको दीत्वाभावः ।
ताभ्यामैदौतौ विवृततरौ । तेन दिश्येन्द्रथां मध्वौपधम् । ताभ्यामवर्ण इति । तेन पित्रर्थः, दध्यत्र, मध्वत्र । अन्ये
संवृतमकारमिच्छन्ति लोके । शास्त्रव्यवहारे तु विवृतम् । एतच्चायुक्तम्, लोकशास्त्रयोरुच्चारणं प्रत्यविशेषात् ।
अयं च प्रपञ्चाश्रितनीयः । स्वरेभ्यो विवृततराः आवर्णैश्च इति । इत्यपि निर्देशे न दोषं पश्यामः । अ अ इत्य-
कार उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितः । स प्रत्येकं ङसञ्ज्ञकोऽङ्गंशकः^१ । एवं दीः, एवं पः । एवमष्टादशप्रभेदोऽवर्णः
तथा इवर्णः, तथा उवर्णः, तथा ऋवर्णः, तथा लृवर्णः । कथं लृकारो द्विमात्रः ? अशक्तिजानुकरणापेक्षया ।
सन्ध्यन्तराणां प्रा न सन्ति, तान्यतो द्वादशप्रभेदानि । अन्तःस्था यवला द्विप्रभेदाः नासिक्येतरभेदात् । एवमर्थं^{१२}

१. उत्तरसूत्रैक-ब० । उत्तरसूत्रैकदेशाध्याचायो-मु० । २. अनुवृत्तिरित्यर्थः । ३. -नकारण-अ०, स०,
४. -न्यत् । अधु ब०, मु० । ५. च भावावेकान्त-मु० । ६. प्रतिपु 'द्विषन्' इति पाठः । ७. पा० शि० १३।
८. पाणिनीयानाम् । ९. औष्ठप्रान्तयोः सूक्तम् । १०. अर्बणैश्च ब०, स०, मु० । ११. -कः, एवं प्रः, एवं दीः,
अ०, ब०, स० । १२. -मत्र चै-अ० ।

चैतेऽणसु पठ्यन्ते । अणु स्वं गृह्णातीति यथा स्यात् । रेफोष्मणां स्वा न सन्ति । वर्ग्यः स्ववर्ग्येण स्वसञ्ज्ञो भवति । उदाहरणं—लोकाग्रम् । मृनीशः । स्थानग्रहणं किम् ? कचटतपानां समानक्रियाणां भिन्नस्थानानां मा भूत् । तर्ता तर्तुमिति । अत्र “भूरो भूरि स्वे” [५।४।१३६] इति पकारस्य तकारे खं प्रसज्येत । क्रियाग्रहणं किम् ? इचुयशानां समानस्थानानां भिन्नक्रियाणां मा भूत् । तत्र को दोषः ? अरुश्च्योततीत्यत्र “भूरो भूरि स्वे” [५।४।१३६] इति शकारस्य चकारे खं प्रसज्येत । “ऋकारलकारयोः स्वसञ्ज्ञा वक्तव्या” [वा०] । पितृ लृकारः पितृकारः । स्वप्रदेशाः “स्वेऽको दीः” [४।३।८८] इत्येवमादयः । शान्त्रलाघवार्थं संज्ञाकरणम् ।

हलोऽनन्तराः स्फः ॥ १।१।३१ ॥ हलोऽनन्तराः विजातीयैरञ्भिर्गव्यवाहिताः सम्बद्धोच्चारणाः स्फसंज्ञा भवन्ति । समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिराश्रीयते । तेन प्रत्येकं स्फसञ्ज्ञा न भवति । हल इति जात्यपेक्षो बहुत्वनिर्देशः । तेन द्वयोर्वर्णानां च स्फसञ्ज्ञा । शर्म-कर्मोति रमौ । इन्द्रश्चन्द्र इति नदराः । हल इति किम् ? तिततः । “तनेडँडः सन्वच्च” इति डडः । अत्राकारोकारावनन्तौ स्फान्तखं प्रसज्येत । अनन्तरा इति किम् ? पचति पनसम् । आद्यं रूपं प्रत्युदाहरणं पनसमित्यत्र “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [४।३।४६] इति सखं स्यात् । स्फ इति वर्णपिण्डेन सञ्ज्ञाकरणं किम् ? एवंप्रकारः समुदायः स्फसञ्ज्ञो यथा स्यादित्येवमर्थम् । स्फप्रदेशाः “स्फेहः” [१।२।१००] “लिडस्फान् किन्” [१।१।७६] इत्येवमादयः ।

नासिकयो डः ॥ १।१।४१ ॥ नासिकायां भवो वर्णां डसञ्ज्ञो भवति । नासिकायाश्चावर्णनगरयोर्नसादेशो ये विहितः । जमङ्गना उदाहरणम् । परस्परं स्वसञ्ज्ञा स्यात् इति चेत् ; नैवम् ; स्वस्थानप्रभवा एवामी । उपचारात्नासिक्यत्वम् । यथा मुखप्रभवोऽपि स्वर उपचारादंशे भवो वंश्य इत्युच्यते । तथापि सति मुख्येऽनुस्वारे नासिक्ये कथमुपचरितग्रहणम् । तस्य डसंज्ञायां प्रयोजनं नास्तीत्यग्रहणम् । डसञ्ज्ञाकार्यं शान्तो दान्त इति “डस्य क्विभ्रलोः क्विति” [४।४।१३] इति दीत्वम् । नासिक्य इति किम् ? तप्तम् । “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना डखञ्च प्रसज्येत । पक्वः पक्वान् इत्यत्र “डस्य क्विभ्रलोः” [४।४।१३] इति दीत्वं स्यात् । क्वस्य चासिद्धत्वात् “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना डखं च प्रसज्येत ।

अधु मृत् ॥ १।१।४१ ॥ धुवर्जितमर्थवच्छब्दरूपं मृत्सञ्ज्ञं भवति । धोरर्थवतः पर्युदासाच्चा [द] र्थवत्त्वं लभ्यते । अर्थश्चाभिधेयो भावाभावरूपः । तत्र भावरूपो जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन चतुर्विधः । गौः । शुक्लः । पाचकः । इति । अद्रव्यविचक्षायां जात्यादिनार्थवत्त्वम् । द्रव्याभिधाने तु द्रव्यगुणलिङ्गसंख्याकर्मादयो व्यपदिश्यन्ते । तेषां द्योतनार्थं टात्रादयः स्वादयश्चोत्पद्यन्ते । एवं डित्यो डवित्यः । कुरण्डं पीठम् । अभावरूपाभिधाने अभावो विनाशः । शशाविपाणम् । अध्विति किम् ? अहन् । मृत्वे नखं स्यात् । पर्युदासादर्थवदिति किम् ? धनं वनम् । नकारावधेर्मृत्सञ्ज्ञायां नखं प्रसज्येत । लूः प्रीरति वयन्तस्य धुत्वेऽपि कृदन्तत्वान् मृत्सञ्ज्ञा । मृत्प्रदेशाः “ड्वाम्मृदः” [३।१।१] इत्येवमादयः ।

कृद्भृत्साः ॥ १।१।६१ ॥ कृदन्तं हृदन्तं ससञ्ज्ञकञ्च मृत्सञ्ज्ञं भवति । कृत्-ज्ञाता । ज्ञातव्यम् । हृत्-प्राजापत्यः । आकम्पनिः । सः-जिनधर्मः । साधुवृत्तम् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” [परि०] ‘नियमश्च विधिमुखः प्रतिपक्षफलः’ इति त्यान्तेषु कृद्भृदन्तस्थैव मृत्संज्ञा । इह मा भूत् । असिचन् । अभवन् । उत्पन्नानां स्वादीनामेकत्वादिनियम इत्यास्मिन् दर्शने स्वाद्युत्पत्तिः स्यात् । इह च काण्डे कुड्ये रमते राजकुलमिति “प्रो नपि” [१।१।७] इति मृत्वात्प्रादेशः स्यात् । सग्रहणमपि नियमार्थम् । अर्थवत्संघातानां संसंज्ञकरथैव मृत्संज्ञा, वाक्यस्य मा भूत् । साधुधर्मं व्रते इति, “सुपो धुमृदोः” [१।४।१४२] इति सुप उप् प्रसज्येत । सग्रहणात् तुल्यजातीयस्यैव सुवन्तसमुदायस्य वाक्यस्य निवृत्तिः, न प्रकृतित्यसमुदायस्य । तेन “वा सुपो बहुः प्राक्तु” [४।१।१२७] इति वहौ केऽकचि च कृते बहुतुषां कुमारिका उच्चकैः पठतीति मृत्त्वं न निवर्तते । ननु च “सुम्भिडन्तं पदम्” [१।२।१०३]

१.-सम्बन्धो-इति पाठः । २.-ति नै-अ० । ३. खग्रस-इति सुवचम् । ४.-ना तु खं च मु० । ५. स्यात् । अर्थवत्पर्यु-अ०, स० ।—त् । अर्थवतः पर्यु-ब० । ६. न्यायसं० । ७. मुखप्रतिषेधफलमि. मु०, स० । ८. मते । ९. -कचि कृ-मु० ।

इत्यत्रान्तग्रहणादन्यत्र “संज्ञाविधौ त्यग्रहणात्तदन्तविधिर्नास्ति” [परि०] इत्युक्तं तत्कथं कृदन्तहृदन्तग्रहणम् ? नायं संज्ञाविधिः । पूर्वेण विहिताया मूलसंज्ञाया नियमोऽयम् । अथवा “सात्” [५।४।७७] इति षत्वप्रतिषेधादिह तदन्त-विधिर्ज्ञायते । अन्यथा सादित्येतस्य केवलस्य मृत्वे “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इत्यनेनैव प्रतिषेधः सिद्धः स्यात् । अथ “कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [परि०] इति कृद्ग्रहणं समुदायविध्यर्थं न नियमार्थम् । तेन देवदत्तेन कृतमित्यादेः समुदायस्य मृत्वात् “सुपो धुमृदोः” [१।४।१४२] इति सुपः उप् प्रसज्येत । नैष दोषः, “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इत्यस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । सर्वशब्दानां व्युत्पत्तिरस्तीत्यस्मिन् पक्षे, पूर्वसूत्रे नास्युदाहरणं, संज्ञार्थमेव तत् ।

प्रो नपि ॥१।१।७॥ मृदिति वर्तमानमर्थान्तं सम्पद्यते । प्रादेशो भवति नपि वर्तमानस्य मृदः । नपिति नपुंसकलिङ्गस्य संज्ञा पूर्वेषाम् । श्रियमतिक्रान्तमतिश्रि । अतिरि । अतिवधु कुलम् । अतिनु जलम् । ईकारैकारौ तालव्यौ । ऊकारौकारौ च ओष्ठयावस्माकम्, ततः “स्थानेऽन्तरतमः” [१।१।४७] इति परिभाषया अन्त्यस्याच्चः प्रादेशः । नपीति किम् ? राजकुमारी । अग्रणीः । मृद इति किम् ? रमते कुलम् । नन्वलिङ्गत्वादाख्यातस्यात्र प्रादेशाप्रतिरत एवात्रापि न प्रादेशः काण्डीभूतमिति । इह तर्हि मा भूत् । काण्डे तिष्ठतः, कुड्ये तिष्ठत इति । अत्र मृदधिकाराद् मृदमृदोरेकादेशो मृद्वन् भवति ।

स्त्रीगोर्नीचः ॥ १।१।८ ॥ न्यग्रभूतो यः स्त्रीत्यः गोशब्दश्च तदन्तस्य मृदः प्रादेशो भवति । स्त्री इति स्वरितचिह्नितनिर्देशात् स्त्रियामित्येवविहितस्य त्यस्य ग्रहणम् । निष्कौशाश्रिः । निर्मथुरः । उभयगतिरिह शाब्दे । तेन एकविभक्तित्वादप्रधानत्वाच्च शास्त्रीयं लौकिकं च न्यक्त्वं गृह्यते । “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः” इतीयं परिभाषा स्त्रीत्यग्रहणान्नेष्यते । तेन—अतितिलपीडनिः । अतिराजकुमारिः । चित्रगुः । श्वेतगुः । वोक्तत्वादप्रधानत्वाच्च न्यक्त्वम् । स्त्री इति स्वरितचिह्नितग्रहणं किम् ? अतिलक्ष्मीः । अतिश्रीः । नीच इति किम् ? साधुविद्या । सुगौः । इह राजकुमारीपुत्रः सुगोकुलमिति यदपेक्षं न्यक्त्वं तत्प्रति तदन्तत्वं नास्तीति न प्रादेशः । मृद इत्यधिकारः किमर्थः ? कुमारीपुत्रः गोकुलम् “वोक्तं न्यक्” [१।३।६३] इति प्रादेशः प्रसज्येत । “ईयसो बसे प्रतिषेधो वक्तव्यः” (वा०) बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य बहुश्रेयसी पुरुषः । विद्यमानश्रेयसी । सान्तो विधिरनित्य इति “ऋन्सोः” [४।२।१५३] इति क्वपि न भवति ।

हृदुप्युप् ॥ १।१।९ ॥ स्त्रीग्रहणं नीच इति चानुवर्तते । हृदुपि सति स्त्रीत्यस्य नीच उन्भवति । आमलकम् । कुवलम् । बदरम् । आमलक्या अवयवः फलम् । “नित्यं दुश्चारादेः” [३।३।१०६] इति मयट् । इतराभ्यां “प्राग् द्वोरण्” [३।१।६८] तयोः “उप् फले” [३।३।१२१] इत्युप् । स्त्रीत्यस्य पूर्वेण प्रादेशो प्राप्ते उवनेन क्रियते । तस्य “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद् “यस्य ङ्यां च” [४।४।१३६] इत्यकारस्य खं प्रातमीविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्न भवति । एवं पञ्चेन्द्रः । पञ्चशकुलः । पञ्चेन्द्रायो देवता अस्य “हृदर्थ-” [१।३।४६] इति षसः “संख्यादी रश्च” [१।३।४७] इति रसंज्ञः, “प्राग्द्वोरण्” [३।१।६८] इति, तस्य “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । स्त्रीत्यस्योपि “सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यभावः” [परि०] इत्यानुको निवृत्तिः । पञ्चभिः शङ्कुलीभिः क्रीतः आर्हाट्टणः “रादुबलौ” [३।४।२६] इत्युप् । हृदिति किम् ? गार्गीपुत्रः । सुप उवत्र । उपीति किम् । गार्गी त्वम् । नीच इत्येव—अवन्ती । कुन्ती । कुरुः । अवन्तेरपत्यं स्त्री “द्विक्रुन्(अजादकोशलाञ्ज्यः)” [३।१।१५३] इति ज्यः । तस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इत्युप् । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति डी । “ऊस्तः” [३।१।५६] इति ऊः । अत्र उपि सतीत्युच्यमाने प्रसज्येत ।

इद् गोण्याः ॥१।१।१०॥ इकारादेशो भवति गोण्या हृदुपि सति । पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः पञ्चगोषिः । दशगोषिः । आर्हाट्टणो “रादुबलौ” [३।४।२६] इत्युपि कृते स्त्रीत्यस्य पूर्वेषोपि प्राप्तोऽनेन इकारः । गोण्या इति सूत्रे प्रकृतप्रादेशेन सिद्धे इद्वचनं किम् ? क्वचिदन्यत्रापि यथा स्यात् । पञ्चभिः सूचिभिः क्रीतः पञ्चसूचिः । सप्तसूचिः ।

आकालोऽच् प्र-दी-पः ॥१११११॥ आ इति मात्रिकद्विमात्रिकत्रिमात्राणां संहितया निर्देशः । प्र-दी-प इति “सुत्रेऽस्मिन् सुब्विधिर्णिष्टः” [५१२१११४] इति जसः स्थाने सुः । अ आ आ३इत्येवं काल इव कालो यस्य सोऽच् यथासंख्यं प्र दी प इत्येवंसंज्ञो भवति । अकालः—दधि । मधु । पितृ । आकालः—खट्वा । गौरी । वामोरुः । आ ३ कालः—आगच्छ भो माणव जिनदत्ता ३ इत्यादयः । कालग्रहणं प्रत्येकं परिमाणार्थम् । ततः अकाल इति विशेषणाद् भिन्नकालयोर्दीपयोर्ग्रहणं न भवति । अजग्रहणं किमर्थम् ? हलचां संघातनिवृत्त्यर्थम् । प्रतक्ष्यं । तितउच्छ्रमिति । प्र-दी-पप्रदेशाः “प्रो नपि [११११७] इत्येवमादयः ।

अचश्च ॥११११२॥ परिभाषेयम् । अचः स्थाने ते प्र-दी पसंज्ञका भवन्ति । “प्रो नपि” [११११७] इति । अतिनु । अतिभि । इच्छातो विशेषणविशेष्यभाव इति अजन्तस्य प्रादेशः । अच इति किम् ? सुवाक् पूत-कुलम् । हलः प्रो न भवति । “दीरकृद्दो” [५१२११३४] इति । चीयते । स्तूयते । अच इति किम् ? मिद्यते । “कुर्वन्त्याः अदीः” [५१२१७२] इत्यत्र गृह्यमाणेन शमादिनाञ्च विशिष्यत इत्यनजन्तस्यापि दीत्वम् । शाम्यति । वाक्यटेः प इत्यत्रापि गृह्यमाणेन टिना अज्विशिष्यते । आगच्छ भो माणव जिनदत्ता ३ । अच इति किम् ? धर्मवीक्षत् । तकारस्य मा भूत् । चकारः किमर्थः ? संज्ञाविधौ नियमार्थः । इह मा भूत् । द्यौः । पन्थाः । सः । द्युभ्याम् । द्युभिः ।

उच्चनीचावुदात्तानुदात्तो ॥११११३॥ अजिति वर्तते । उच्चैरुपलभ्यमानोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति । नीचैरुपलभ्यमानोऽनुदात्तसंज्ञो भवति । स्थानकृतमुच्चत्वं नीचत्वं च गुणः संज्ञिनो विशेषणम् । समान एव स्थाने ऊर्ध्व-भागनिष्पन्नोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति, नीचभागनिष्पन्नोऽनुदात्त इति । “नित्याः शब्दार्थसंबन्धाः” इति यैरिष्यते तेषां निरवयवस्य नित्यस्य शब्दस्य अवयवोपचयापचयाभावात् उदात्तादिव्यपदेशो न घटते, सावयवत्वे च तेषामनित्यत्वं प्राप्नोति । न च नित्यस्य स्थानकरणव्यापारविशेषाद्विशेषः प्रसज्यते । क्षणिकपक्षेऽपि नैका नित्या स्वरजातिरस्ति यामपेक्षायामत्रोच्चैरयं नीचैरिति परस्परपेक्षो व्यवहारो भवेत् । तस्मादुक्तमनेकान्तमाश्रित्योदात्तादयः समर्थनीयाः । न च लोकप्रतीतेषु शब्देषु विभागोऽनुदात्तादयः प्रतीयन्ते केवलं शास्त्रे व्यवहारार्थं प्रति संज्ञायन्ते । भू इति उदात्तत्वादिट् । भविता । एध स्पर्ध इत्येतयोर्न्तोऽनुदात्त इति “इनुदात्तो तो दः” [११२१६] इति दो भवति । एधते । स्पर्धते । उदात्तानुदात्तप्रदेशेषु उच्चनीचगुणविशिष्टस्य ग्रहणं प्रत्येतव्यम् ।

व्यामिश्रः स्वरितः ॥११११४॥ उच्चनीचगुणव्यामिश्रोऽच् स्वरितसंज्ञो भवति । पच यज इत्यन्तस्य स्वरितत्वात् “अस्वरितेतः कर्त्वाप्ये फले” [११२१६८] इति दो भवति । पचे । यजे । स्वरितप्रदेशाः “स्वरितेनाधिकारः” [११२१५] इत्येवमादयः ।

आदैगैप् ॥११११५॥ प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिराश्रीयते । प्रत्येकमादैचां वर्णानामैवित्येषा संज्ञा भवति । पारिशेष्यासंज्ञासंज्ञिसम्बन्धो ज्ञायते । तथा हि नानर्थकमिदमाचार्यप्रामाण्यत् । साधनानुशासनमपि न भवति, आदैचां प्रत्याहारे उपदेशात् । ऐप्शब्दस्यापि मृत्संज्ञा सिद्धा । नापि पूर्वोपरप्रयोगनियमार्थम् । “सावैस्मे” [५११७७] इत्यन्यथापि प्रयोगदर्शनात् । स्थान्यादेशार्थमपि न संभवति । “अवथात् [अवयवाहतोः]” [५१२११६] “रावो हलिः” [५१११४४] “नावो रात्” [४१२११०२] “मृजेरप्” [५१२११] इति च उभयदर्शनात् । लिङ्गाभावात्तन्नागामाभावः । विशेषणविशेष्यभावोऽपि प्रतीतपदार्थयोर्भवति नीलोत्पलवत् । एवमन्यस्यार्थस्यासम्भवात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः । लव्जरा संज्ञा । आदैचामैपा तद्भावितानामतद्भावितानां च सामान्येनैसंज्ञा । तद्भावितानामु-

१. हलामर्चा च संघातस्य प्र-दी-पसंज्ञानिवृत्त्यर्थः । २. ‘क्ष’ इत्यस्य हलसमुदायस्य ‘प्र’ संज्ञायार्थं रूपि परतस्तुक् प्रसज्येत । ३. तितउच्छ्रमित्यत्र ‘अउ’ इति अ-उसंघातस्य दीर्घज्ञायार्थां ‘वा पदस्य’ [४१३१६४] इति विभाषया तुक् प्रसज्येत । ४. विशेष्यते अ०, ब०, स० । ५. परिशेषा—ब० । ६. साध्वनुज्ञास—स० । ७. ‘नाचो रात्’ अ०, ब०, स० । एतच्च नोपलभ्यते । ‘नावो रात्’ इत्युपलभ्यते परन्तु नोचितमिदमत्र । ग्रन्थस्वारस्यात् ‘अतो नादेर्धेः’ [५११८३] इति प्रतिभाति ।

दाहरणम्—नाडायनः । दैवदत्तिः । औपगवः । अतद्भावितानाम्—मालामयम् । रैमयम् । नौमयम् । विकाराऽर्थे “नित्यं दुशरादेः” [१३।१०६] इति मयट् । आदिति तपरकरणमैजर्थम् । तादपि परस्तपर इति । तेन तवैषां महौषधिरित्यादियु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । “आदौगैप्” [१।१।१५] इत्यत्र “सूत्रेऽस्मिन् सुविवधिरिष्टः” इति जसः स्थाने मुः । ऐप्प्रदेशाः “मृजेरैप्” [५।२।१] इत्येवमादयः ।

अदेङ्गेप् ॥ १।१।१६ ॥ अदेङां वर्णानां प्रत्येकमेवित्येषा संज्ञा भवति । अत्राप्यतद्भावितानां तद्भावितानामदेङामेप्संज्ञा । अतद्भावितानाम्—पचन्ति । पचे । एधन्ते । “एधन्तोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपम् । तद्भावितानाम्—कर्ता । तरति । चेता । स्तोता । ऋकारस्यैवैप्रसङ्गे स्थानतोऽन्तरतमौ अकाराकारौ भवतः । तौ च प्रसज्यमानावेव रन्तौ । आदिति तपरकरणं दी-पनिवृत्त्यर्थमेङ्गर्थं च । तेन मालेयं खट्वोटा इत्यत्र त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । एप्प्रदेशाः “मिदेरेप्” [५।२।७६] इत्येवमादयः ।

इकस्तौ ॥ १।१।१७ ॥ परिभाषेयम् । ऐत्रेपौ संज्ञया विधीयमानौ इक एव स्थाने भवतः । स्थानिनियमोऽयं न विधिनियम इति । कुत एतत् ? “सवध्यस्थिदध्यक्षाम्” [५।१।५४] इतीको निर्देशात्, एवैपोर्लक्षणान्तरेण विधानाच्च । प्रत्यासत्तेः पूर्वमेबुदाहरणं वक्ष्यति । “गाऽगयोः” [५।२।८१] । करोति । नर्याति । भविता । “सावैस्मे” [५।१।७७] । अकारपीत् । अनेपीत् । अहोपीत् । इच्छतो विशेषणविशेष्यभावः । “मिदेरेप्” इत्यत्र गृह्यमाणेन मिदादिना इग्विशेष्यते । तेनानन्त्यस्य भवति । “जुसि” [५।२।८०] । “गाऽगयोः” [५।२।८१] इति च गृह्यमाणमिका विशेष्यते इतीगन्तस्य भवति । इक इति किम् ? आसंध्यन्तरव्यञ्जनानां मा भूत् । यानम् । ग्लायति । उभिभता । अजिन्यत्रानुवर्तनादैत्रेपोः सम्बन्धे सिद्धे ‘तौ’ग्रहणं संज्ञाविधाने नियमार्थम् । यौः । पन्थाः । सः । यत्र स्थानी निर्दिश्यते तत्र नेदं व्याप्रियते । यथा “व्यित्यचः” [५।२।३] इति ।

नधुखेऽगे ॥ १।१।१८ ॥ प्रतिषेधसामर्थ्यादेकदेशे धुर्वर्तते । धोः खं यस्मिन्नगे स धुखः । तन्निमित्तावैत्रेपौ न भवतः । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । यङन्तेभ्यः पचाद्यच् । “यङोऽचि” [१।४।१४४] इति यङ उप् । अतः सात् प्रागेव च यङ उत्रेपितव्यः । अन्यथा देर्घ इत्यत्र अखमजादेश इति कृत्वा तस्य स्थानिवद्भावात् “दीङोऽचि कृडिति युट्” [४।३।६२] इति युट् प्रसज्येत । धुग्रहणं किम् ? लृष्—लविता । खिधिर्बलवानिति प्रागेव धुसंज्ञाया अनुबन्धनाशः । अत्रागनिमित्तं खं नास्तीति द्यङ्गवैकल्यं नाशङ्कनीयम् । यतो धुग्रहणे सति बसो लभ्यते धोः खं यस्मिन्निति । बसेन अग इत्यस्य विशेषणं किम् ? क्नुयी, क्रोपयति । अत्र पुकमाश्रित्य यत्नं नागनिमित्तमिति न प्रतिषेधः । ‘पसे तु प्रसज्येत । अग इति किम् ? रोरवीति । गनिमित्त एवभवत्येव । अत्रापि यङ्खमगनिमित्तं न भवतीति द्यङ्गवैकल्यं न मन्तव्यम् ; यतोऽगग्रहणे सति धुखनिमित्तत्वं लभ्यते । इक इत्येव । अभाजि । रागः ।

कृकडिति ॥ १।१।१९ ॥ गिति किति डिति च निमित्तभूते यावैत्रेपौ प्राप्नुतस्तौ न भवतः । गिति—“ग्लाभूजिस्थः क्नुः” [२।२।११५] इति, भूष्णुः । जिष्णुः । किति—चितम् । स्तुतम् । भिन्नम् । मृष्टम् । डिति—चिनुतः । चिन्वन्ति । मृष्टः । मृजन्ति । इक इत्येव । कामयते । अचिनवामित्यत्र लङो डित्वात्कस्मान्न प्रतिषेधः, “सूभवत्योर्मिङ्ङि” [५।२।८६] इति । अभूत्^१ । भवतेर्हलादौ मिङ्ग्येप्रतिषेधवचनं ज्ञापकं डितो लकारस्यादेशो डिन्न भवतीति । यासुटो डित्करणं च ज्ञापकम् ।

ईदूदेद्विदिः ॥ १।१।२० ॥ ईत् ऊत् एत् इत्येवमन्तो यो द्विः स दिसंज्ञो भवति । अग्नी इति । वायु इति । खट्वे इति । तद्वदित्यनेन द्वं द्वे श्चैकादेशो द्विग्रहणेन गृह्यत इतीदाद्यन्तश्च भवति व्यपदेशिवद्भावेन । मुख्यरूपेणायं द्विरेकारान्तः । पचेत् इति । पचेथे इति । सत्यां दिसंज्ञायाम् “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४।३।१०३]

१. त्रिनिवृ-अ०, ब०, स० । २. अकारस्येयर्थः । ३. अकारनाश इत्यर्थः । ४. अस्थानिकादेश इत्यर्थः । ५. विध्यंगवै-ब० । ६. बसे तु अ०, ब०, मु० । ७. यङः स-अ०, ब०, स० । ८. ‘अगनि-मित्तं न’ इत्यत्र ‘अनिमित्तं न’ इति पाठः स्वरसः । ९. ‘क्नुः’ मु० । १०. अभूत् इत्यस्य ‘सूभवत्योर्मिङ्ङि’ इत्यतः पूर्वमेव पाठो युक्तः । ‘अभूत्’ इत्यस्याग्रे ‘इत्यत्र’ इत्यपि बोध्यम् ।

इति प्रकृतिभावः । ईदूदेदिति किम् ? वृत्तावत्र । तपकरणमसन्देहार्थम् “मणीवादिषु नेव्यते” मणीव । दम्प-
तीव । रोदसीव शोभेते । “संज्ञाविधौ त्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” इति अशुक्ले शुक्ले सम्पन्ने शुक्लयास्तां
वखे इति त्यले त्याश्रयन्यायेन दिसंज्ञा न भवति ।

अः ॥१११२१॥ एदिति निवृत्तम् । दकारस्य स्थाने यो मकारस्तस्मात्परावीदूतौ दिसंज्ञौ भवतः । अमी
आसते । अमी अत्र । अमू आसते । अमू अत्र । “बहावीरेतः” [५।२।८६] इति मत्वमीत्वं च । “दादुदो
मोऽदसोऽसेः” [५।३।८८] इति मत्वम् । द्विमात्रस्य औकारस्य द्विमात्र ऊकारः । आश्रयान्म कारादीनां
सिद्धिः । द इति किम् ? शम्यत्र । दाडिम्यत्र । म इति किम् ? द इति तानिर्देशपक्षे तेऽन्नेत्यत्र दकारादेशस्य
परेणाद्रेपि कृते स्थानिवद्भावात्तद्द्भावाच्च दिसंज्ञा प्रसज्येत । कानिर्देशपक्षे चतुष्पद्यर्थ इत्यत्र स्यात् । ईदूदित्येव ।
इमेऽत्र । एकयोगनिर्दिष्टानामेकदेशोऽनुवर्तते नियतते चैकदेश इति एद्ग्रहणं निवृत्तमिति । अन्यथा अमुकेऽने-
त्यत्रानुवर्तनसामर्थ्यादुकारककाराभ्यां व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्यादिसंज्ञा प्रसज्येत ।

निरेकाजनाङ् ॥१११२२॥ निसंज्ञ एकाच् अनाच् दिसंज्ञौ भवति । अ अपेहि । इ इन्द्रं पश्य । उ
अपसर । निरिति किम् ? चकारात्र । अन्यव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतेस्त्यस्य च विभागः । अपायिना ह्यनुबन्धलिङ्गेन
निरनुबन्धादकाराद् भिद्यते णल् । एकश्चासावक्च एकाजिति किम् ? प्रश्नाति । अनाजिति किम् ? आ उद-
कान्तात् । ओदकान्तात् । डित्करणं येष्वर्थेषु डिदयं वर्तते तत्र प्रतिषेधो यथा स्यादन्यत्र दिसंज्ञैव भवति ।

“ईपदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः ।
एतमातं डितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरडित् ॥”

यथाक्रमम् । आ उष्णम् ओष्णम् । आ इहि एहि । आ उदकान्तात् ओदकान्तात् । आ अर्मकेभ्यः
आर्मकेभ्यः । आर्मकेभ्यो यशः प्रतीतम् । वाक्यपूरणे स्मरणे चार्थे डित्वाभावादिसंज्ञा । आ एवं नु मन्यसे ।
आ एवं किल तत् ।

ओत् ॥१११२३॥ अनेकाजर्थ आः । ओदन्तो निर्दिसंज्ञो भवति । अहो इति । उताहो इति ।
अत्र ओदिति प्रधानम् । वचनात्तु प्रधाननापि तदन्तविधिः । तेनेह लाक्षणिकत्वान्न भवति । ओदोऽभवत् । तिरो-
ऽभवत् । अनुपदेशोऽदः [१।२।१३६] “तिरोऽन्तर्धो” [१।२।१४०] इति निसंज्ञा । इह तु गौणत्वान्न भवति ।
अगौर्गाः सम्पन्नो गोभवत् । “चिबडाजूर्यादिः” [१।२।१३२] इति निसंज्ञा । गौणत्वाद्वाहीके गोशब्दस्य
कथमैवादिकार्यमिति चेत् ? सामान्येन संस्तु तस्य पदस्य प्रयोगाददोषः ।

कौ वेतौ ॥१११२४॥ किनिमित्तो य ओकारस्तदन्त इतौ परतो वा दिसंज्ञो भवति । पटो इति । पट-
विति । साधो इती । साधविति । काविति किम् ? गवित्ययमाह । गौरिति वक्तव्यमशक्त्या गो इत्युक्तमनुक्रियतेऽ-
नेकान्ताश्रयणात् । अनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षायां सत्यर्थवत्त्वे विभक्त्यनुत्पादः । इताविति किम् ? पटोऽत्र ।

उञः ॥१११२५॥ उञ्जल्येतस्य वा दिसंज्ञा भवतीतौ परतः । उ इति, विति । “निरेकाजनाङ्”
[१।१।२२] इति नित्यं दिसंज्ञा प्राप्ता । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? अहो इति । उताहो इति । निसंघातपक्षे
निरनुबन्धस्य मा भूत् ।

ऊम् ॥१११२६॥ उञः ऊर्मित्ययमादेशो भवतीतौ परतः । इति द्विमात्रो नासिक्यो दिसंज्ञकरच ऊं
इति यद्यपित्तोऽपि निसंज्ञकोऽस्ति तस्येतावेव प्रयोगो यथा स्यादित्यारम्भः ।

दाधा भवपित् ॥१११२७॥ दा धा इत्येवरूपा धवो भुसंज्ञका भवन्ति पितौ वर्जयित्वा । दारूपाश्च-

१.-यात्मका—अ०, स०, मु० । २. अकारेण इत्यर्थः । ३. योगे निर्दि—अ० । ४.-को दे-स० ।
५. निरिति ग्रहणे कस्माच्च भवतीत्यत आह—अपायिनेत्यादि । ६. लिङ्गेन निरनुबन्धलिङ्गेन निर-अ०, मु० ।
परमसमीचीन एव पाठः । ७. एध्व-मु० । ८. तेन बिना मर्यादा । ९. तेन सहाभिविधिः । १०. माङ्
ङि-अ०, ब०, स० । ११. संस्कृतस्य ब० ।

त्वारः । प्रणिददाति । दाण् । प्रणिदाता । प्रणिदयते । प्रणिद्यति । धारूपौ द्वौ । प्रणिदधाति । प्रणिधयति ।
द्वैपः पित्करणं ज्ञापकम् । अत्र प्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रीयते । भुसंज्ञाकार्यं “नेर्गदन्व” [५।४।१००]
इत्यादिना गत्वं “भुमा” [४।४।६५] इत्यादिना हलीत्वं च । दीयते । धीयते । धीतं क्त्सेन । अपिदिति
किम् ? दायते बर्हिः । अत्रदायते भाजनम् । भुप्रदेशाः “भुस्थोः” [१।१।६१] इत्येवमादयः ।

क्लृक्त्वन् तः ॥१।१।२८॥ क्लृक्त्वन् क्लृक्त्वन् क्लृक्त्वन् तसंज्ञौ भवतः । रूपसंज्ञेयम् । कृतः । कृतवान् । भूत इति
वर्तमाने इति क्लृक्त्वन् रूपौ ल्यौ भवतः । कारितः । कारितवान् । “ते सेटि” [४।४।५४] इति षोः खम् ।
भिन्नः । भिन्नवान् । “द्वान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इति नत्वम् । ककारः क्लृक्कार्यार्थः । उकार उगित्कार्यार्थः ।
तप्रदेशाः “ते सेटि” [४।४।५४] इत्येवमादयः ।

संज्ञाः खुः ॥१।१।२६॥ संज्ञाशब्दवाच्योऽर्थः खुसंज्ञो भवति । खुप्रदेशाः “खावन्यपदार्थे”
[१।३।१८] इत्येवमादयः ।

भावकर्म ङिः ॥१।१।३०॥ भावकर्मशब्दवाच्योऽर्थो ङिसंज्ञो भवति । ङिप्रदेशाः “जिङ्गै”
[२।१।६२] इत्येवमादयः । तत्र भावकर्मणोर्ग्रहणं प्रत्येतव्यम् ।

शि धम् ॥१।१।३१॥ शि इत्येतद्धसंज्ञं भवति । शि इति नपुंसके जश्शसोरादेशस्थार्थवतो ग्रहणम् ।
कुरण्डानि तिष्ठन्ति । कुरण्डानि पश्य । धप्रदेशाः “धेऽकौ” [४।४।६] इत्येवमादयः ।

सुडनपः ॥१।१।३२॥ सुडिति प्रत्याहारेण स्वौजसमौटां ग्रहणम् । सुड् धसंज्ञो भवति नपुंसकलिङ्गा-
दन्यस्य । राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वम् । सुडिति
किम् ? राशः पश्य । अनप इति किम् ? सामनी । वेमनी । अनप इति पर्यदासात् स्त्रीपुंसम्बन्धनः सुटो धसंज्ञा
नपुंसके न विधिर्न प्रतिषेधः । तत्र पूर्वेण जश्शसोरादेशस्य शोर्धसंज्ञा भवत्येव । ननु व्यक्तं स्त्रीपुंसग्रहणमेव
कर्तव्यम् ? एवं तर्ह्यनप इति निर्देशात् सापेक्षस्यापि नजः^१ सविधिर्भवतीति ज्ञायते । तेन अत्राद्भोजी अलवण-
भोजीत्येवमादयः सिद्धाः ।

कतिः संख्या ॥ १।१।३३ ॥ कतिशब्दः संख्यासंज्ञो भवति । कतिकृत्वः । कतिधा । कतिकः । किं
परिमाणमेषां “किमः” [३।४।१६२] “सख्यापरिभाषे ङितिश्र” [३।४।१६३] इति ङितिः । कति वारान्
मुङ्क्ते । कतिभिः प्रकारैः । कतिभिः क्रीत इति । यथाक्रमं “संख्याया ध्वंभ्यावृत्तौ कृत्वस्” [४।२।२४]
“संख्याया विधार्थे धा” [४।१।१०६] “संख्यायाः कोऽतिशतः” [३।४।१६] इति क इत्येते भवन्ति ।
ननु प्रदेशेषु संख्याग्रहणेनान्वर्थविज्ञानात् संख्यायतेऽनयेति कृत्वा कतिशब्दस्यापि ग्रहणे सिद्धे किमर्थमिदम् ?
नियमार्थम् । अनियमितेषु कतिशब्दस्यैव संख्यारूपता । तेन भूरिप्रभूतादीनां निवृत्तिः “संख्याबाहुोऽबहुगणत्”
[४।२।६६] इत्यत्र बहुगणयोः प्रतिषेधाद्भवति संख्याग्रहणम् । बहुकृत्वः । गणकृत्वः । वैपुल्यसङ्ख्योर्न
संख्यात्वम् । “वतोर्वेट्” [३।४।२०] इति वचनं ज्ञापकं भवति वत्वन्तस्य संख्याग्रहणेन ग्रहणम् । तावतिकः ।
तावत्कः । संख्याप्रदेशाः “संख्यायाः कोऽतिशतः” [३।४।१६] इत्येवमादयः ।

ष्णान्तेल् ॥ १।१।३४ ॥ कतिः संख्येति वर्तते । पकारनकारान्ता संख्या कतिशब्दश्च इत्संज्ञौ भवतः ।
ष्णान्तेति पदस्य संख्यापेक्षः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । कतेरनुवर्तनसामर्थ्यादित्संज्ञा । षट् । पञ्च । सप्त । कति
तिष्ठन्ति । “उबिळः” [५।१।१६] इति जस उप् । ष्णान्तेति संख्याविशेषणं किम् ? विप्रुषः पामान इति अन्त-
ग्रहणं असनिर्देशेन संख्याप्रतिपत्त्यर्थमौपदेशिकार्थं च । तेन शतानीत्यादौ न भवति । इल्लप्रदेशाः “उबिळः”
[५।१।१६] इत्येवमादयः ।

सर्वादिः सर्वनाम ॥ १।१।३५ ॥ सर्वादयः शब्दाः प्रत्येकं सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । सर्वे । सर्वस्मै ।
सर्वेषाम् । स्त्रियाम्-सर्वस्यै । विश्वे । विश्वस्मै । उभशब्दस्य “सर्वनाम्नो भा” [१।४।३६] इत्येवमर्थः पाठः ।

१. जिङ्गै-अ०, स० । २. स्त्रीपुंससम्ब-अ०, स० । ३. नपः ब० । ४.-या अभ्या-मु० ।
५.-दि स-मु० । ६.-मो भावत्ये-ब० । -म्नो भावत्ये-स० ।

उभाम्यां हेतुभ्याम् । उभयोर्हेत्वोर्वसति । द्विवचनटाप्परश्चायम् । उभौ पत्नौ । उभे कुले । उभे विद्ये । उभे । उभयस्मिन् । उभयेषाम् । जसि “प्रथमचरम्” [१११४१] आदिविकल्पात् पूर्वनिर्णयेनायमेव विधिः । उभये इति । डतरडतम इति त्यौ । कतरस्मै । इतर अन्य अन्यतर । इतरस्मै । अन्यस्मिन् । अन्यतरस्मै । ल इत्ययं शब्दोऽन्यवाची । ले । त्वेषाम् । नेम । नेमस्मिन् । जसि वक्ष्यमाणो विकल्पः । नेमे । नेमाः । समशब्दः सर्वशब्दस्यार्थे । समे । समस्मिन् । अन्यत्र यथासंख्यं समाः । समे देशे तिष्ठतीति भवति । सिमः । सिमस्मै । पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” “स्वमज्ञातिघनाख्यायाम्”^१ “अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यानयोः” त्यद् तद् यद् एतद् अद् इद् एक द्वि । अत्वविधिं प्रति द्विपर्यन्तास्यदादयः । युष्मद् अस्मद् भवत् किम् । त्यदादीनां यद्यत्परं तत्तदुभयवाचि । सर्वनामेत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् संज्ञोपसर्जनानां न भवति । सर्वो नाम कश्चित्स्मै सर्वाय देहि । अतिक्रान्तः सर्वमतिस्वस्मै अतिसर्वाय । “पूर्वपदात् खावगः” [११४८७] इति एत्वं न भवति । सर्वनामप्रदेशाः “आम्यात्सर्वनाम्नः” [११४३४] इत्येवमादयः ।

वा दिक्सवे ॥१११३६॥ दिगुपदिष्टे से असंज्ञके सर्वादीनि वा सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति । “न बे” [१११३७] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । दक्षिणपूर्वस्यै । दक्षिणपूर्वायै । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालमिति विग्रह्य “दिशोऽन्तराले” [११३८८] इति वसः । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः” [वा०] इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । उत्तरपदस्य “स्त्रीगोर्नचः” [१११८८] इति प्रः । पुनष्टाप् । प्रतिपदोक्तस्य दिक्सस्य ग्रहणादिह नास्ति विकल्पः । दक्षिणैव पूर्वा अत्र्यस्य दक्षिणपूर्वाय देहि । दक्षिणा च सा पूर्वा च सा अस्मिन्नपि विग्रहे परत्वात् “दिशोऽन्तराले” [११३८८] इतीयं प्राप्तिर्न राज्ञ दण्डवारितेति कर्तव्यमेवेदं सूत्रम् । दिग्ग्रहणं किम् ? “न बे” इति प्रतिषेधं वक्ष्यति तस्य प्रतिषेधस्यास्य च विकल्पस्य विषयज्ञापनार्थम् । सग्रहणं किम् ? साधिकारविहिते वने विकल्पो यथा स्यादातिदेशिके मा भूत् । दक्षिणदक्षिणस्मै देहि । “आबाधे” [११३८८] इति द्वित्वम् । ववदतिदेशश्च “न बे” इत्यत्रापिदं सग्रहणमनुवर्तते तेनापि न प्रतिषेधः । बग्रहणं किम् ? दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । द्वन्द्वे विकल्पो मा भूत् । ननु प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणमत्रोक्तं ततो “द्वन्द्वे” [११३३६] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः । उत्तरार्थं तद्दिग्ग्रहणम् ।

न बे ॥१११३७॥ वने सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । द्व्यन्याय । व्यन्याय । “सर्वनामसंख्ययोः” इति वक्त्रव्येन पूर्वनिपातः संख्याया एव । प्रियविश्वाय । प्रियोभयाय । इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकमत्र तदन्तविधिरस्तीति । तेन परमसर्वस्मै इत्यत्रापि सर्वनामसंज्ञा । ननु सर्वनामसंज्ञायामन्वर्थविज्ञानात्संज्ञोपसर्जननिवृत्तिरुक्ता सर्वोपसर्जनश्च वस इति सर्वनामसंज्ञायाः प्राप्त्यभावात्सूत्रमिदमनर्थकम् । नानर्थकमेतत्, प्रयोजनसद्भावात् । त्वकं पिताऽस्य अहकं पिताऽस्य लत्कपितृकः । मत्कपितृकः । ब्रसावयवस्य सर्वनामसंज्ञाविरहादग्मा भूत् । कुत्साद्यर्थे के परतः “त्यद्योश्च” [१११५७] इति त्वमादेशौ । स इत्येव । एकैकस्मिन् । “एको बधत्” [११३७] इत्यातिदेशिके वसे प्रतिषेधो मा भूत् । बाऽधिकारे पुनर्बग्रहणं वसगर्भे द्वन्द्वेऽपि नित्यप्रतिषेधार्थम् । वक्रान्तरगृहान्तरा इति ।

भासे ॥११३८॥ भासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । मासपूर्वाय । संवत्सरपूर्वाय । मासेन पूर्वः । “पूर्वावरसदृश” [११३२८] आदिसूत्रेण भासः । सः इति वर्त्तमाने पुनः सग्रहणं भासार्थं वाक्येऽपि तत्संज्ञाप्रतिषेधार्थम् । मासेन पूर्वाय । मुख्ये च “पूर्वावर” [११३२८] इत्यादि भासे यद् वाक्यं तत्र प्रतिषेधो न । “साषणं कृता बहुलम्” [११३२६] इति भासे । लयका कृतम् । मयका कृतम् । अन्यथा लत्केन कृतं मत्केन कृतमित्यनिष्टं स्यात् । लयका मयकेति पूर्वं त्वमादेशौ । ततः सुबन्तादक् । तथा ह्यग्विधौ वक्ष्यति । मृदः सुपः इति च द्वयमपीहानुवर्तते । अभिधानतश्च व्यवस्था । तत्र मृदः प्राक् सुपोऽगभवति । युष्मकाभिः । असकाभिः ।

१. एकशेषवादिनो हि “त्यदादीनामिधः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते” इति वचनेन परस्य पूर्वार्थ-वाचितामभ्युपगच्छन्ति । परं “त्यदादीनां यद्यत्परं तत्तदुभयवाचि” इत्येकशेषमकृतवैवायमाचार्य एकशेषप्रयोजनं निर्वाहयति । २. ‘सर्वनाम इत्यत्र’ इति शेषः । ३. सौत्रत्वात् इति शेषः । ४. ‘प्रदाय’ मु० । ५. ‘न बे’ सूत्रार्थमित्यर्थः । ६. ‘एवं’ मु० ।

पुष्पकाम् । अस्मकाम् । युवकयोरवकयोरिति । क्वचित्तु सुबन्तस्याक् । त्वयका । मयका । त्वयकि । मयकि ।

द्वन्द्वे ॥११३९॥ द्वन्द्वे मे सर्वादिनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । कतरकतमाय । कतरकतमात् । कतरकतमानाम् ।

वा जसि ॥११४०॥ द्वन्द्वे मे सर्वादयः सर्वनामसंज्ञा वा भवन्ति । कतरकतमे । कतरकतमाः । पूर्वेषु नित्यप्रतिषेधः प्रामः । जमीत्याधारनिर्देशाज्जमि कार्यं शीभावो विभाष्यते । अक् तु पूर्वेषुैव प्रतिषिद्धः । यदि जसि परतस्तत्संज्ञा विकल्प्येत तदा संज्ञापक्षेऽग्भवेत् , कतरकतमके इत्यनिष्टं प्रसज्येत । कुत्साद्यर्थविवक्षायां तु के सति तद्व्यवधानान्न शीभावः । अतः कतरकतमका इति सिध्यति । न च केऽपि सति स्वार्थिकस्य प्रकृतिग्रहणेन ग्रहणम् । अन्यथा सर्वादौ डतरडतमग्रहणमनर्थकं स्यात्, सर्वानाम् एव तयोर्विधानात् ।

प्रथमचरमतयाल्पाधकतिपयनेमाः ॥११४१॥ प्रथमादयः शब्दा जसि वा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । प्रथमे, प्रथमाः । चरमे, चरमाः । तय इति त्यग्रहणं तेन वचनात्संज्ञाविधावपि तदन्ताविधिः । द्वाववयवावेपामिति द्वितये, द्वितयाः । “संख्याया अवयवे तयट्” [३।४।१६४] इति तयट् । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्त्रिकल्पः द्वये, द्वयाः । उभये । अयमुभयशब्दः सर्वादित्वान्नित्यं सर्वनामसंज्ञः । अल्पे, अल्पाः । अर्धे, अर्धाः । कतिपये, कतिपयाः । नेमे, नेमाः । नेमशब्दस्य प्राप्तेऽन्येषामप्राप्ते विभाषा । अत्रापि जसः कार्यं प्रति विकल्पः । कुत्साद्यर्थे के कृते तेन व्यवधानात्पक्षेऽपि सर्वनामसंज्ञा न भवति । तेन प्रथमका इत्यादि सिद्धम् ।

पूर्वादयो नव ॥११४२॥ पूर्वादयो नव सर्वादौ व्यवस्थिता जसि वा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । तथा हि— “पूर्वपरावरदक्षिणोत्तराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” “स्वमज्ञातिघनाख्यायाम्” “अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यायोः” इति । पूर्वे, पूर्वाः । परे, पराः । अवरे, अवराः । दक्षिणे, दक्षिणाः । उत्तरे, उत्तराः । अपरे, अपराः । अधरे, अधराः । व्यवस्थायामिति किम् ? दक्षिणा इमे गाथकाः । अपरा वादिनः । नात्र दिग्देशकालकृतोऽवचिनियमो व्यवस्था प्रतीयते; किं तर्हि ? प्रावीण्यमन्यार्थता च । असंज्ञायामिति किम् । उत्तरा कुरवः । व्यवस्थायामपीयं संज्ञा । तेषां स्वे शिष्याः स्वाः । यदा ज्ञातिघनयोः संज्ञारूपेण वर्तते स्वशब्दस्तदा नास्ति सर्वनामसंज्ञा । उल्मुकानीव स्वा दहन्ति । विद्यमाना अपि स्वा न दीयन्ते । अन्तरे गृहाः । अन्तरा गृहाः । नगरजाह्या इत्यर्थः ।

अपुरीति वक्रव्यम् [वा०] । अन्तरायाः पुर आगताः । बाह्याया इत्यर्थः । अन्तरे शाटकाः । अन्तराः शाटकाः । उपसंख्यानमित्युत्तरीयवक्रस्य संज्ञा । बहिर्योगोपसंख्यानयोरिति किम् ? इमे ग्रामाणामन्तराः । अयमनयोरन्तरे स्थितः । जसि कार्यं विभाष्यते; अस्तु भवत्येव प्रतिषेधाभावात् । पूर्वके, पूर्वकाः । इत्येवमादि ज्ञेयम् ।

डिडस्योरतः ॥११४३॥ पूर्वादयो नव वेति चानुवर्तते । अकारान्तानि नव पूर्वादीनि डिडस्योर्वा सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति । पूर्वस्मिन्, पूर्वे । पूर्वस्मात्, पूर्वात् । परस्मिन्, परे । परस्मात्, परात् । इत्यादि योज्यम् । डिडस्याश्रयं कार्यं विभाष्यते; अस्तु भवत्येव । अत इति किम् ? पूर्वस्याम् । पूर्वस्याः ।

तीयस्य डिति ॥११४४॥ तीयत्यान्तस्य डिति वा सर्वनामसंज्ञा भवति । द्वितीयस्मै, द्वितीयाय । तृतीयस्याः, तृतीयाया । इह मुखादागतः पश्वादागतः “मुखपार्श्वतसोरीयः” [३।२।११५ ग०] इतीयः । मुखतीयः । पार्श्वतीयः । पर्वते जातः पर्वतीय इति । अमीषो लाक्षणिकत्वादग्रहणाम् । डितीति किम् ? द्वितीयायाम् । डिति कार्यं विकल्प्यते; अस्तु न भवत्येव । कुत्साद्यर्थे के कृते द्वितीयकाय ।

इग् यणो जिः ॥११४५॥ इक् यो यणः स्थाने भूतो भावी वा स जिसंज्ञो भवति । इक् यणः स्थाने भावित्वेनासत्वात् कथं जिसंज्ञ इति चेत् ; संज्ञिनो भावित्वात्संज्ञापि भाविनी । यथाऽस्य सूत्रस्य शाटकं वयेति भावी । यथा “षे व्यस्य पुत्रपत्योर्जिः” [४।३।६] “बसोर्जिः” [४।४।११८] इति । कारीषगन्धीपुत्रः ।

विदुषः पश्य । शास्त्रान्तरेण भूतो यणः स्थाने इक् स जिंज्ञो यथा “जेः” [४३।६५] इति परपूर्वत्वम् , जेरिति दीत्वम् । हूतः । गृहीतः । यदि यणः स्थाने इक् भाव्यमानो जितञ्च इहापि स्यात् , अदुहितराम् । अन्त्यु-
म्याम् । अन्त्युवा । दुह आत्मकर्मणि लङ् । “स्नोश्च जश्च” [२।१।२६] इति जियकोः प्रतिषेधः । शप्
तस्योप् । अत्र लस्य स्थाने इट् वकारस्य स्थाने उदूठा ? ततश्च “जः” [४३।६५] इति परपूर्वत्वं “हलः”
[४।४।२] इति दीत्वं च प्रसज्येत । नायं दोषः, भाविन्या संज्ञया विधीयमानस्येको जित्वात् । “कार्यकालं
संज्ञापरिभाषम्” इति । जिप्रदेशाह “वे व्यस्य पुत्रपत्योर्जिः” [४।३।६] इत्येवमादयः

ता स्थाने ॥१।१।४६॥ येयमनुसूत्रमुच्चारिता ता सा स्थान एव ज्ञातव्या । बहवो हि तार्थाः । स्वस्वामि-
संबन्धसमीपसमूहविकारावयवस्थानादयः । तेषु प्राप्तेषु नियमः क्रियते—अन्यार्थसंप्रत्ययो मा भूदिति । नित्य-
शब्दार्थसंबन्धविवक्षायां स्थानशब्दः प्रसङ्गवाची । प्रसङ्गश्च प्राप्ताहत्वं स्वार्थप्रत्ययैकावसरो वा । यथा गुरोः
स्थाने शिष्य उपचर्यते इति गुरोः प्रसङ्ग इति गम्यते । एवमस्तेः स्थानं प्रसङ्गं भूः । भविता । भवितुम् ।
भवितव्यम् । ब्रूः प्रसङ्गं वचिर्भवति । वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । अनित्यशब्दार्थसंबन्धविवक्षायामपकर्ष-
वाची स्थानशब्दः । यथा गोः स्थाने अश्वं बध्नाति । एवमस्तेः स्थानेऽपकर्षं भूर्भवति । अस्तेरनन्तरमस्तेः
समीप इत्येवमादयो निवर्तिता भवन्ति । यत्र तानिदेशे सम्बन्धविशेषो न निर्जातस्तत्रयं परिभाषोपपत्तिष्ठते । शास
इत्येवमादिषु तु शासो य उङ् तस्येत्यवयवयोगो निज्ञात इति नेयं व्याप्रियते ।

स्थानेऽन्तरतमः ॥१।१।४७॥ अन्तरः प्रत्यासन्नः । स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम एवादेशो
भवति । आन्तर्यं च शब्दस्य स्थानार्थगुणप्रमाणतः । स्थानतः—लोकाग्रम् । “स्वेऽको दीः” [४।३।८८] इति
कण्ठय एवाकारो दीर्भवति । अर्थतः—वतण्डस्यापत्यं स्त्री “वतण्डात्” [३।१।६७] इति यञ् । तस्य “स्त्रिया-
सुप्” [३।१।६८] इत्युप् । वतण्डी चासौ युवतिश्च वातण्ड्ययुवतिः । “पोढायुवतिस्तोक” [१।३।६०] आदि
सूत्रेण यञञः पसः, “स्थुक्तपुंस्क” [४।३।१४६] आदिना पुंवद्भावः प्राप्ते “जाबिश्च” [४।३।१५३] इति
प्रतिषिद्धः “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४] इति । अर्थतो वातण्ड्यशब्दो भवति । गुणतः—
पाकः । त्यागः । अल्पप्राणस्य घोषवतस्तादृश एव । प्रमाणतः—अमुष्मै । अनूभ्याम् । प्रस्य प्रः । दीसञ्जकस्य
दीः । स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं यत्रानेकभान्तर्यं सम्भवति तत्र स्थानत एव भवतीति । चेता । स्तोता ।
प्रमाणतोऽकारः प्राप्ते । स्थानतोऽन्तरतमावेकारौकारौ च । तत्र पुनः स्थानग्रहणात्स्थानकृतमेवान्तर्यं बलीय
इत्येकारौकारौ भवतः । तमग्रहणं किम् ? वाग्धसति । हकारस्य पूर्वस्वत्वे सोष्मणस्सोष्मा द्वितीयः प्राप्ते नादवतो
नादवांस्तृतीयः । तमग्रहणाद्यः सोष्मा नादवांश्च स चतुर्थो भवति ।

रन्तोऽणुः ॥१।१।४८॥ उः स्थानेऽणु प्रसज्यमान एव रन्तो भवति । लक्षणान्तरेण विधीयमान
एवाणु विधानबलेन तत्सहायकं प्रतिपद्यमानेन रन्तो भाव्यत इत्यर्थः । अकर्तरीति निर्देशात्सर्वादेशो न
भवति । कर्ता । किरति । गिरति । द्वैमातुरः । भरतः । शातमातुरः । द्वयोर्मात्रोरपत्यं [शतमातुरपत्यम्]
‘तस्यापत्यम्’ [३।१।७७] इत्यणि परतो “मातुरुत्संख्याऽसम्भवादेः” [३।१।१०४] इत्युकारादेशः । उरिति
किम् ? गेयम् । पन्थाः । अणिति किम् ? मातापितरौ । सौधातकिः । आनङ्अक्रडौ संघातावेतौ । नाणौ ।
महर्षिरित्यत्र द्वयोः स्थाने एप् कथं रन्तः ? यो हि द्वयोस्तानिर्दिष्टयोः स्थाने भवति सोऽन्यतरेणापि व्यपदिश्यते ।
नरस्य पुत्रः । नार्याः पुत्रः । ऋकारलृकारयोः स्वसंज्ञोक्ता । तेन तवल्कारः । कथं लन्तत्वम् ? रन्त इति लणो
लकाराकारेण प्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम् । तेनादोषः ।

१. स्थाने इभूतो जि-मु० । २. प्रत्यायनावसरो वा अ०, स० । ३. उस्तस्य मु० । ४. “रन्तोऽणुः”
सूत्रारम्भसामर्थ्येनेत्यर्थः । ५. अनेनेति शेषः । ६.—पत्यं शतमातुर्यामपत्यं तस्या, अ०, ब०, स० ।

अन्तेऽलः ॥१११४६॥ तानिर्दिष्टस्य य उच्यते विधिः सोऽन्ते वर्तमानस्यालः स्थाने भवति । “ता स्थाने” इति तास्थाने निर्जातस्थानेनान्ते उपसंहारः क्रियते । टिल्किन्मितरूपवयवसम्बन्धतानिर्दिष्टस्य विधीयमाना अन्तस्य न भवन्ति । “इद् गोण्याः” [११११०] पञ्चगोणिः । दशगोणिः । अन्त्यस्येद् भवति । ननु “पुंसीदोऽर्” [११११६६] इति वर्तमाने “हलि खम्” [११११७१] इतीद्रूपस्य योऽन्त्यस्तस्य प्राप्नोति । “नानर्थकेऽन्तेऽलो विधिः” इति न भवति । “ता स्थाने” इत्यस्य योगस्य किं प्रयोजनम् ? यस्तानिर्दिष्टस्तस्य स्थाने आदेशो यथा स्यादधिकस्य मा भूत् । “पादः पत्” [४४११६] इति । द्विपदः पश्य । पादन्तस्य न भवति ।

डित् ॥१११५०॥ डितः सर्वेऽनकालः । डिद्य आदेशोऽनेकाल् सोऽन्तेऽलः स्थाने भवति । वक्ष्यति “युष्मदस्मदोऽकळ् खञ्” [३२११२१] यौष्माकीणः । आस्माकीनः । दकारस्याकळ् । अकारोच्चारणसामर्थ्यात्पररूपभावः । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय” डिदेवानेकालन्त्यस्य स्थाने । अतोऽन्यः सर्वस्य । “अरितम्भुजोर्भूचची” [१४११२४] इत्येवमादयः सर्वादेशाः ।

परस्यादेः ॥१११५१॥ परस्य कार्यं शिष्यमाणमादेरलः स्थाने वेदितव्यम् । क्व च परस्य कार्यम् । यत्र कानिदेशेन “ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः [१११६०] इति परस्य ताप्रकृत्यतिः । “ईदासः” [११११४२] आसीनो भुङ्क्ते । द्वधनगोरीदपः” [४३२०२] द्वीपः । अन्तरीपः । समीपः ।

शित्सर्वस्य ॥१११५२॥ शिदादेशः सर्वस्य स्थाने वेदितव्यः । “जशस्वोः शिः” [११११७] धनानि तिष्ठन्ति । वनानि पश्य । इदमेव जापकमनुबन्धकृतमनेकाल्वं न भवतीति । तेन “दिव उत्” [४३११०८] इत्येवमादिषु सर्वादेशो न भवति । ए अल् णालिति प्रश्लेषनिर्देशाण्यलादयः सर्वादेशाः । “अशाम्य औशू” [१११११८] इति “परस्यादेः” इतीमं बाधित्वा शित्त्वेन परत्वाद्वा सर्वादेशः ।

टिदादिः ॥१११५३॥ टिद्यः स तानिर्दिष्टस्यादिर्भवति । “बलाद्यगस्येत्” [१११८४] लविता । लवितुम् । लवितव्यम् । “ता स्थाने” इत्यस्यायमपवादः । “चरेष्टः” [२१२११] इत्येवमादौ तानिर्देशाभावान्नादौ विधिः । अथवा “मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् बाधन्ते” इति “ता स्थाने” इत्यस्यैव बाधो न तु त्यपरत्वस्य ।

किदन्तः ॥१११५४॥ किद्यः स तानिर्दिष्टस्यान्तो भवति । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । भियो णिच् हेतुभयार्थे । “ईतः पुनित्यम्” [४३१४६] इति षुक् । “योर्भोस्मेहेतुभये” [११२१६४] इति वः । पूर्वोक्तपरिहाराद् “आतः कः” [२१२१३] इत्येवमादिषु नातिप्रसङ्गः ।

परोऽचो मित् ॥१११५५॥ अन्त इति वर्तते । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः । मिद्यः स तानिर्दिष्टस्यान्त्यादचः परो भवति । अन्तग्रहणानुवृत्तेर्हलन्तस्यापि भवति । अन्यथा अच इति विशेषणम्, तेन तदन्तविधिः स्वयमेव लभ्येतेति वक्ष्यति । “इदिद्वोनुम्” [५११३७] नन्दिता । नन्दितुम् । नन्दितव्यम् । व्यपदेशिवद्वावादान्त्यत्वम् । “रुधितुदादिभ्यां रनश्चौ” [२११७३] रुणाद्धि । भिनत्ति । “ता स्थाने” [१११४६] “स्यः” [२११११] “परः” [२११२२] इत्यनयोरयमपवादः । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते” इत्यनित्या परिभाषा “तृणह” [५२११०] इति निर्देशात् ।

स्थानीवादेशोऽनल्विधौ ॥१११५६॥ स्थानं प्रसङ्गोऽस्यास्तीति स्थानीव भवत्यादेशः । स्थान्याश्रयेषु कार्येष्वनलाश्रयेषु स्थान्यादेशयोर्नान्तात्वात् स्थानिकार्यमादेशे न प्राप्नोतीत्यतिदिश्यते । धुगुक्त्तद्दत् सुम्भिङ्पदगादेशाः प्रायः प्रयोजयन्ति । धोरादेशो धुरिव भवति । अस्तेर्भूभावे धोर्विहितास्तव्यादयः सिद्धाः । भवितव्यम् । भवित्त । गोरादेशो गुरिव भवति । त्रयाणाम् । “गोः” [४४११] “नामि” [४४१३] इति दीत्वं सिद्धम् । कृदादेशः कृदिव । प्रकृत्य । प्रहृत्य । प्यादेशे कृते पिति तुक्सिद्धः । हृदादेशो हृदिव । अक्षौर्दीव्यति आक्षिकः ।

१. नानुबन्धेति परिभाषा एतत्सामर्थ्याच्चिपत्रा । २. “वाचा” अ०, ब०, स० । ३. तानिर्देशा-
भाषादित्यर्थः ।

शालाकिकः “प्राग्याट्ठण्” [१।३।१२६] इकादेशे कृते “कृद्धत्साः” [१।१।६] इति मृत्संज्ञा सिद्धा । सुवादेशः सुंवि । वृजाय । ङेर्यादेशेऽपि “सुपि” [१।२।१७] इति दीर्घं सिद्धम् । मिडादेशो मिड्वि । बभूवतुः । बभूवुः । अतुस्तुसि च कृते “सुम्मिडन्तं पदम्” [१।२।१०३] इति पदमंज्ञायां पदस्येति रित्वं सिद्धम् । पदादेशः पदमिव भवति । ग्रामो वः स्वम् । ग्रामो नः स्वम् । वस्नसोः कृतयोः पदस्येति रित्वं सिद्धम् । गादेशो ग इव । अचिनुतम् । डिखादेःप्रतिषेधः । इवेति किम् ? स्थानी आदेशस्य संज्ञेति मा विज्ञायि । अत्र को दोषः ? “आडो यमहनः” [१।२।२३] इति वधेरेव दर्विधिः स्यादन्तेस्वाश्रयस्य न स्यात् । इवग्रहणादुभयत्र भवति । आहत् । आवधिष्ट । आदेशग्रहणं किम् ? विकारमात्रेऽपि यथा स्यात् । पचनु । पचन्तु । मिडन्तं पदं सिद्धम् । अनल्विधाविति किम् ? यौः । पन्थाः । स्यः । द्युपथित्यदादेशा न स्थानिवद् भवन्ति । स्थानिवद्भावे “हल्लङ्गापः” [४।३।२६] इति सोः खं प्रसज्येत । अलः परो विधिरयं प्राप्तः । क इष्ट इत्यत्रेकारस्य स्थानिवद्भावे हशि रेकत्वं प्रसज्येत । अलि विधिरयम् । प्रदीव्येति क्त्वात्यस्य स्थानिवद्भावे “वलात्प्रगस्येत्” [१।१।८४] प्रसज्येत । अलः स्थाने विधिरयम् । अलाश्रयो विधिः अल्विधिः । शाक-पार्थिवादिबन्धमयूरव्यंसकादित्वात्सः ।

परेऽचः पूर्वविधौ ॥१।१।५॥ आदेशः स्थानीवेति वर्तते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ कर्तव्ये स्थानीव भवति । पट्टमाचष्टे पटयति । णिनिमित्तस्य स्थानिवद्भावात् “उङ्गोऽतः” [१।२।४] इत्यैम्न भवति । अग्रधीत् । अगनिमित्तस्यातः खस्य स्थानिवद्भावात् “अतोऽनादेर्वेः” [१।१।८३] इति हलन्त-लक्षण ऐड्विकल्पो न भवति । पूर्वेण “अनखिधौ” [१।१।२६] इति प्रतिषेध उक्तऽल्विध्वर्थमिदम् । परे इति किम् ? वैर्थाग्रपत्रः । पादस्य खमजादेशः परनिमित्तो न भवतीति पद्भावे स्थानीव न भवति । युवतिर्जायाऽ-स्य युवजानिः । जायाया निङ् न परनिमित्तक इति “वलि व्योः खम्” [४।३।२२] न प्रतिबन्धाति । अच इति किम् ? प्रगत्य । प्ये परतो ङस्य खं परनिमित्तं प्रस्य तुकि कर्तव्ये स्थानीव न भवति । पूर्वविधाविति किम् ? नैधेयः । निधेरपत्यं “द्वयचः” [३।१।११०] “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति ढणि परविधौ कर्तव्ये आत्वस्य न स्थानिवद्भावः । अन्यथा व्यचो ढण् न स्यात् । हे गौः । परविधौ सुखे कर्तव्ये ऐपो न स्थानिव-द्भावः । अचोऽनादिष्ठात् पूर्वविधौ स्थानिवद्भावः । इह मा भूत् । अचीकरत् । अजीहरत् । अत्र हि “शौ कच्युङः” [१।२।११२] इति प्रादेशे कृते द्वित्वे च प्रादेशस्य स्थानिवद्भावात् “धौ कच्यनक्खे सन्वत्” [१।२।११०] इति सन्वद्भावो न प्राप्नोति । आदिष्ठादेशोऽचः पूर्व इति स्थानिवद्भावाद्भवति । वाय्वोरध्व-य्योरित्यत्र यवविधि प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “वलि व्योः खम्” [४।३।२२] इति यत्वं प्राप्नोति । कर्तव्योऽत्र यत्नः ।

न पदान्तद्वित्ववरेयखस्वानुस्वप्रदोर्द्धिधौ ॥१।१।५॥ पदान्तादिविधिष्वजादेशः स्थानीव न भवति । पूर्वेण प्राप्तस्य स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधोऽयम् । पदान्तविधौ—कौ स्तः । कानि सन्ति । अतः खं किङ्निमित्तमावादेशे यणादेशे च कर्तव्ये स्थानीव न भवति । अथ नात्र नियमः पूर्वविधेः । स्तः कौ, सन्ति कानि इत्यपि प्रयोगात् । आदिष्ठाच्चाचः पूर्वमौकारादि । इदं तद्दुदाहरणम्—अभिषन्ति । निषन्ति । द्वित्व-विधौ—दध्यत्र । मध्वत्र । यणादेशस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “अनचि” [१।४।१२७] इति धकारस्य दित्वं सिद्धम् । “असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे” इति स्कान्तस्य खं न भवति । वरविधौ—यायावरः । यातेर्यङन्तात् “यो यङः” [२।२।१५५] इति वरे कृतेऽतः खस्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधाद्यत्वे च कृते अकार-स्य स्थानिवद्भावात् “इटि चात्खम्” [४।४।६३] इत्यात्वं न भवति । ईविधौ—आमलकम् । पञ्चदाक्षिः ।

१. पदत्वात् “ससजुषो रिः” इति रित्वं सिद्धमित्यर्थः । २. व्याघ्रस्येव पदावस्येति बसे “खम्पा-दस्याहस्यादेः” इत्यतः खे ततोऽपत्यार्थे “गर्गादियञ्” इति यञि “पादः पत्” इति पदादेशे ऐचि रैवाग्रपद्य इति । ३. “दीर्घे यलोपे च लोपाजादेश एव न स्थानिवत्” इत्येवंरूपो यत्नः ।

आमलक्या अवयवः फलं “नित्यं दुशरदेः” [३।३।१०६] इति मयट् । तस्य “उष्फले” [३।३।१२१] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्याम् परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “यस्य ङ यां च” [४।४।१३६] इत्यखं न भवति । पञ्चभिर्दान्नीभिः क्रीतः “रादुबखौ” [३।४।२६] इति ठस्य उपि स्त्रीत्यस्योप् । तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादिकारस्य खं न भवति । यखविधौ—कण्ड्रतिः । कण्ड्रयतेः “क्विच्यौ खौ” [२।३।१२०] इति क्विचि कृनेऽतः खस्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “बलि व्योः खम्” [४।३।२५] इति यखं भवति । उवादेशं प्रति स्थानिवद्भावः स्यादिति चेद् भवतु । च्छ्वोः शूड् भविष्यति । ततः स्नेऽको दीत्वम् । योऽनादिष्ठात्पूर्वं इति न्यायात्पुनरुवादेशो न भवति । स्वविधौ—शिष्टि । पिष्टि । शनस खस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादत्रानुस्वारस्य परस्वत्वं भवति । अनदिष्ठादचः पूर्वस्थानी नकारस्तस्यैवायं विधिः । अनुस्वारविधौ—शिषन्ति । पिषन्ति । “नश्चापदान्तस्य ऋलि” [५।४।८] इत्यनुस्वारे कर्तव्ये नकारः “शनसः खम्” [४।४।१०१] इत्यनादिष्ठादचः पूर्वं इत्यखं न स्थानिवद्भवति । दीविधौ—प्रतिदीत् । प्रतिदीत्वा । अनः खस्य परनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “हस्य भकुछु रः” [५।३।८६] इत्यनुवृत्तौ “उङि” [५।३।८७] इति दीत्वं सिद्धम् । वकारो हल्परोऽस्मादेव वचनात् । चर्विधौ—जन्तुः । जन्तुः । “गमहनजनखनवसोऽनङि ङिङिति” [४।४।६३] इत्युङः खं प्रकारस्य चले कर्तव्ये स्थानीव न भवति । गिर्योरिति प्रकृतिपूर्वत्वेनान्तरङ्गे दीच्चे कर्तव्ये यणादेशोऽसिद्धः ।

द्वित्वेऽचि ॥१।१।२६॥ नवदान्तद्वित्वेऽन्यतो द्वित्वग्रहणमनुवर्तते । तत्कार्यविशेषणम् । द्वित्वनिमित्तेऽन्यजादेशो द्वित्वे कर्तव्ये स्थानीव भवति । रूपातिदेशोऽयम् । आदुङ्गिखान्तःस्थायत्वादेशाः प्रयोजनम् । आत्वम्—पपुः । पपुः । “इटि चात्वम्” [४।४।६३] इत्यात्वस्य स्थानिवद्भावादेकाचो लिटि द्वित्वं सिद्धम् । उङः खम्—जग्मनुः । जग्मुः । “गमहनजनखनवसोऽनङि” [४।४।६३] इत्युङः खस्य स्थानिवद्भावाद्वित्वं भवति । णिखम्—आष्टित् । लुङि कचि णिखे च कृते णिखस्य स्थानिवद्भावादचं इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति । अन्तःस्थादेशः—चक्रतुः । चक्रुः । यणादेशस्य स्थानिवद्भावादेकाचो द्वित्वं भवति । अयाद्यादेशाः—अहं निनय निनाय । अहं लुलव लुलाव । अयाद्यादेशानां स्थानिवद्भावादस्य णलि नेनै, लोलौ इति द्वित्वं भवति । द्वित्वनिमित्त इति किम् ? दुद्भूयति । ऊठि यणादेशो धोर्न तूद् द्वित्वनिमित्तमिति स्थानिवद्भावो न भवति । अचीति किम् ? जेघ्रीयते । दंभीयते । यङि द्वित्वनिमित्ते प्राध्मोरीकारादेशः स्थानीव न भवति । द्वित्वं कर्तव्य इति किम् ? जग्ले । मभ्ले । धोराकारस्यावस्थानं न भवति ।

ईक्येत्यव्यवाये पूर्वपरयोः ॥१।१।६०॥ ईविति यत्र निर्दिश्यते तत्र पूर्वस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति । केति यत्र निर्दिश्यते तत्र परस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति । ताप्रकृत्यतिर्भवतीत्यर्थः । इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थः । ईक्येति इमे संज्ञे द्वयोर्विभक्तयोः प्रत्यायिके प्रसिद्धे । ताभ्यामितिशब्दः परः प्रयुज्यमानो विभक्तिप्रतिपाद्यो योऽर्थस्तं प्रत्याययति । ईवर्थो यत्र निर्दिश्यते, कार्यो यत्र निर्दिश्यत इत्यर्थः । ईवर्थनिर्देशः “अचीको यण” [४।३।६५] दध्युदकम् । मध्वियत् । अव्यवाय इति किम् ? धर्मविदत्र । कार्यनिर्देशः—अत्यात् । ददति । दधति । अव्यवाय इति किम् ? चिकीर्षन्ति । शपा व्यवयाज्भेरादादेशो न भवति ।

नाशः खम् ॥१।१।६१॥ नाशोऽनुपलब्धिर्भावोऽप्रयोग इत्यनर्थान्तरम् । एतैः शब्दैः प्रतिपाद्यमानस्यार्थस्य खमित्येषा संज्ञा भवति । इतिकरणोऽनुवर्तते । तेन नाशार्थस्य संज्ञं यं लभ्यते । स्थानिग्रहणं चानुवर्तते । प्रसङ्गवांश्च स्थानी । तेन प्रसक्तस्य नाशः खसंज्ञो भवति । भाविनो नाशस्य संज्ञित्वं संज्ञापि भाविनीति नेतरतराश्रयदोषः । वक्ष्यति “बलि व्योः खम्” [४।३।५५] दासेरः । काणोरः “क्षुद्राभ्यो वा” [३।१।१२०] इति दूण् । “इटि चात्वम्” [४।४।६३] यिखम् । जह्यात् । खप्रदेशाः “बलि व्योः खम्” [४।३।५५] इत्येवमादयः ।

१. खमित्यखं न अ०, स० । २. प्रतिदीब्ना अ०, स० । ३. प्रतिदीब्ने अ०, स० । ४. प्रकृतेः “गिरि” इत्यस्य पूर्वभागस्य “गिर्” इत्यस्यापेक्षत्वेनेत्यर्थः । ५. -वादेकाचो द्वि-प० । ६. आयाद्यादे-स० ।

उबुजुस् ॥१११६२॥ तस्यैव नाशस्य उप् उच् उस् इत्येताः संज्ञा भवन्ति । संज्ञासंकरप्रसङ्ग इति चेत् उप् उञ् उम् संज्ञाभिर्भावितस्य नाशस्य एताः पृथक् संज्ञास्वीनादोषः । “**नोमता गोः**” [१११६४] इति प्रतिषेधो ज्ञापकः खसंज्ञाया अत्र समावेशो भवति । ततः पञ्च सनेति त्याश्रयं पदञ्च सिद्धम् । “**क्सस्याचि खम्**” [५१२१६९] इति वर्तमाने “**वोब् दुहदिह**” [५१२१७०] आदिसुत्र उब्वचनं ज्ञापकमुबुजुसः सर्वस्य स्थाने भवन्ति नान्तस्य । एता अपि भाविन्यः संज्ञाः । उदाहरणम्—पञ्चशङ्कुलम् । पञ्चभिः शङ्कुलीभिः क्रीतम् । “**शदुबलौ**” [३१२२९] इत्यार्हीत्य ठण उप् । ततो “**हदुप्युप्**” [११११९] इति स्त्रीस्यस्योप् । जुहोति । विभेति । “**उज् जुहोत्यादिभ्यः**” [११४११४५] इति शप उच् । तत उच्च द्वित्वम् । पञ्चालानां निवासो जनपद इत्यागतस्याणः “**जनपदे उस्**” [३१२१६९] इत्युस् । ततो “**युक्त्वदुसि लिङ्गसंख्ये**” [११११६८] इति लिङ्गसंख्यातिदेशः । उबुजुम्प्रदेशाः “**हदुप्युप्**” [११११९] इत्येवमादयः ।

त्यखे त्याश्रयम् ॥१११६३॥ त्यस्य खे कृतेऽपि त्याश्रयं कार्यं भवति । मुष्मिङ् क्पिप्यङ् शिखानि प्रायः प्रयोजयन्ति । सुपः खम्—धर्मवित् । सोः खेऽपि पदसंज्ञा भवति । मिङ्ः खम्—अधोक् । “**हल्ङ्वापः**” [४१२१५६] इति तिपः खेऽपि पदसंज्ञायामेवत्वमष्टुजशखचर्त्वाति भवन्ति । क्पिपः खम्—अग्निचत् । क्पिपो नाशेऽपि तुक् । यङ्ः खम्—पापचीति । यङो नाशेऽपि द्वित्वादिकार्यं भवति । णिखम्—कार्यते । हार्यते । गोरभावेऽप्यैवभवति । प्रथमं त्यग्रहणं किम् ? आश्नीत । आङ् पूर्वाद्धन्तेर्विध्यादिलिङ् । “**आङो यमहनः**” [११२१२३] इति दः । “**लिङोऽनन्त्यसखम्**” [२१११३८] इति सीयुङ्केदशस्य सकारस्य खेऽपि त्याश्रयं कार्यं भवति किञ्चित् इत्ये खं न भवति । द्वितीयं त्यग्रहणं किम् ? वर्णाश्रयं मा भूत् । गवं हितम् गोहितम् । त्यखे सत्यपि अचीति वर्णाश्रया अवादयो न भवन्ति ।

नोमता गोः ॥१११६४॥ उमता वचनेन नाशिते त्ये यो गुस्तस्य त्याश्रयं न भवति । मृष्टः । जुहुवः । शत्रुश्रयावैत्रेणो न भवतः । गर्गा इति बहुत्वविवक्षायां यञिञोरुपि कृते तदाश्रय आदरैव भवति । गोरिति किम् ? पापाङ्क । जरीगृहीति । द्वित्वं जिश्च भवतः । नोमतेति योगविभागः । तेन गोरन्यत्रापि क्वचित् त्याश्रयं न भवति । परमवाचः । परमवाचा । अन्तर्वर्तिनी विभक्तिर्माश्रय पदत्वात्कुत्वं प्राप्तं नोमतेति प्रतिषिध्यते ।

अन्त्याद्यन्त्रिः ॥१११६५॥ अत्र इति जातिनिर्देशः । निर्धारणे च ता । समानजातीयस्यैवं लोके निर्धारणं प्रसिद्धमिति द्वितीयमज्ग्रहणं लभ्यते । अत्रां योऽन्त्योऽच् तदादि शब्दरूपं टिसंज्ञं भवति । धर्मविदत्र इच्छब्दः । ज्ञानमुदत्र उच्छब्दः । आताम्, आथामित्यत्र उच्छब्दः । पचेते । पचेथे “**टिदूदटेरे**” [२१४६२] इति टेरेत्वम् । अहं पचे इति व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । टिप्रदेशाः “**टिदूदटेरे**” [२१४६२] इत्येवमादयः ।

उपान्त्यालुङ् ॥१११६६॥ अलामन्त्यस्य समीपोऽल् उङ्संज्ञो भवति । अन्त्यग्रहणादलां समुदायो लभ्यते । अस्समुदायापेक्षया ह्यन्त्योऽल् भवति न केवलः । पच् इत्यकारः । भिद् इतीकारः । पाचकः । भेदकः । उपान्त्य इति किम् ? व्यवहितस्यान्त्यस्य च मा भूत् । अलिति किम् ? समुदायस्य मा भूत् । उङ्प्रदेशाः “**उङोऽतः**” [५१२१४] “**स्युङः**” [५१२१८३] इत्येवमादयः ।

येनालि विधिस्तदन्ताद्योः ॥१११६७॥ येन शब्देन यो विधिर्विधीयते स तदन्तस्य भवति । अलि यो विधिः स तदादौ भवति । “**योऽचोऽगसुयुवः**” [२१११८४] इत्यचो यविधिर्विधीयत इत्यजन्ताद्भवति । चेयम् । जेयम् । केवलाद्व्यपदेशिवद्भावेन । एयम् । अध्येयम् । “**आतः कः**” [२१२१३] इत्याकारान्तात्कः । गोदः । कम्बलदः । “**स-स्य-विधौ न तदन्तविधिः**” [वा०] । सविधौ-कष्टं परमश्रित इति ईप्सो न भवति । त्वाविधौ—सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः । “**नडादेः फण्**” [३१११८८] इति फण् न भवति । “**उगित्कार्ये वर्णकार्ये च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यम्**” [वा०] भवती । अतिभवती । दाक्षिः । नैतद्ब्रह्मव्यम्

सुपा श्रितादयो विशेष्यन्ते न तु श्रितादिभिः किञ्चिद्विशेषणेन च तदन्तविधिः । मृदा नडादयो विशेष्यन्ते न नडादिभिर्मृदः । उगिता च वर्णैः मृद् विशेष्यते । अलीति वर्णनिर्देशः । अलि यो विधिः स तदादौ भवति । “रनुधुभ्रुवां खोर्चीयुवौ” [४।४।७२] चिच्चियतुः । चिच्चियुः । व्यपदेशिवद्भावेन केवलेऽपि तदादित्वम् । चिच्चिये । येनेति करणे भा । विधिशब्दः कर्मसाधनः ।

अच्चाद्यैन्दुः ॥ १।१।६८ ॥ अच्विति जातिनिर्देशो निर्धारणे चेप् । अच्च् आदिभूतोऽच् ऐप् यस्य समुदायस्य स दुसंज्ञो भवति । ऐतिकायनस्य शिष्य ऐतिकायनीयः “दोरच्छः” [३।२।१०] इति छः । आम्बष्ठस्यापत्यमाम्बष्ठ्यः “द्वितकुहनाद्यजादकोशलाब्ध्यः” [३।१।१५३] इति व्यः । वृषणा अस्मिन्देशे सन्ति “बुच्छणकठेळ” [३।२।६०] आदिसूत्रे अरीहणादित्वाद् बुञ् । द्रौघणके जातो द्रौघणकीयः “द्वोः कखोळः” [३।२।११७] इति छः । अच्विति किम् ? हलामाविवक्षार्थम् । औपगवीयः । कापटवीयः । जाल्यपेक्षया बहुत्वं किम् ? द्वयच एकाचश्च दुसंज्ञा यथा स्यात् । मालामयम् । वाङ्मयम् । आदिरिति किम् ? सभासन्नयने ज्ञातः सभासन्नयनः । छः प्रसज्येत । ऐविति किम् ? दत्तस्यायं दात्तः । दुप्रदेशाः “दोरच्छः” [३।२।१०] इत्येवमादयः ।

त्यदादि ॥ १।१।६९ ॥ त्यदादीनि शब्दरूपाणि दुसंज्ञानि भवन्ति । अच्चादिरिति नेहाभिसंबध्यते । यद्यभिसंबध्येत तदोपसर्जनत्वे सत्यापि वचनात्तदादेरेव दुसंज्ञा स्यात् केवलानामिति । त्यदीयः । तदीयः । तवापत्यं त्वादायनिः । मादार्यानिः । “वा वृद्धाद् दोः” [३।१।१४४] इति फिञ् । त्यदादिः सर्वादेशरन्तर्गण आ परिसमाप्तेः ।

एङ् प्राग्देशे ॥ १।१।७० ॥ अच्चादेरिति वर्तते । एङ् यस्याचामादिस्तद् दुसंज्ञं भवति प्राचो देशाऽभिधाने । एशीपचने जात एशीपचनीयः । एवं गोनर्दीयः । भोजकटीयः । एडिति किम् ? आदिच्छत्रः । कान्यकुब्जः । प्राग्ग्रहणं किम् ? देवदत्तो नाम वाहीकेषु ग्रामस्तात्र भवो दैवदत्तः । देश इति किम् ? गोमती नाम नदी तस्यां भवो गौमतः । “वा नाम्नः” [१।१।७१] इति यदा दुसंज्ञा नास्ति तदेदमुक्तम् । “भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम्” [१।४।८३] इति ज्ञापकान् नदी देशग्रहणेन न गृह्यते । शरावती नाम नदी तस्याः पूर्वो देशः प्राग्देशः । उत्तरस्तूदीचां देशः ।

वा नाम्नः ॥ १।१।७१ ॥ पुरुषैर्व्यवहाराय सङ्केतितः शब्दः संज्ञा नाम । नामधेयस्य वा दुसंज्ञा भवति । पन्ननन्दीयम् । पन्ननन्दिनम् । देवदत्तीयम् । दैवदत्तम् । नाम्न इति किम् ? देवैर्दत्त इति यः क्रियानिमित्तको देवदत्तशब्दस्तस्य काश्यादिषु पाठादकृञ्जावेव भवतः । वेति व्यर्वास्थितविभाषा । तेन घृतप्रधानो रौटिः घृतरौटिः । संज्ञेयम् । तस्य शिष्या घृतरौट्टीयाः । एवमोदनपाणीयः । वृद्धाम्भीयाः । वृद्धकाश्यपीयाः । नित्यं दुसंज्ञा । “जिह्वाकात्यहरितकात्ययोर्न भवत्येव” [वा०] जैह्वाकाताः । हारितकाताः ।

अणुदित् स्वस्यात्मनाऽभाव्योऽतपरः ॥ १।१।७२ ॥ अण् उदिच्च गृह्यमाणः स्वस्य ग्राहको भवति आत्मना सह भाव्यमानं तपरं च वर्जयित्वा । इदमण्ग्रहणं परेण एकारेण । “श्रुतः ष्कारेण” [३।२।१२२] इति तपरनिर्देशाज्जायते । “यस्य ङर्था च” [४।४।१३६] दाक्षिः । चौलिः । दैत्यः । कौमारः । “अस्य च्वौ” [३।२।१४१] शुक्लीभवति । मालीभवति । उदित्—“स्तोः ङुना ङुः” [३।४।११६] “ङुना ङुः” [३।४।१२०] । अभव्य इति किम् ? भाव्यन्ते उत्पाद्यन्ते त्यादेशटित्किन्मितस्ते स्वस्य ग्राहका न भवन्ति । “अस्यात्” [३।३।८४] “त्यदादेरः” [३।१।१६१] टित्-लविता । कित्-बभूव । मित् । “सृजिह्वोरम्” [४।३।११] । अतपर इति किम् ? भिसोऽत ऐस्” [३।१।८] । वृद्धैः । खट्वाभिरित्यत्र न भवति । तकार इत्यस्य सोऽयं तिदिति सिद्धे परग्रहणमुभयार्थम् । तः परोऽस्मात्तपरस्तादपि परस्त-

१. इत्येवमादयः पुमान् ऐतिकायनः । नडादेः फणिति फण् । ३. अरनादेरित्यर्थः । ४. वृद्धान्तीयाः

परः । इदमेव ज्ञापकं सविधौ केति योगविभागोऽस्ति । “आदेशैप्” । [१।१।१२] “अदेङ्” [१।१।१६] तपरत्वादैजेडादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । “अभाव्योऽतपरः” इति पृथग्भावाच्चतुच्चारणं किम् ? क्वचिद्भाव्योऽपि स्वं गृह्णातीति ज्ञापनार्थम् । अमूभ्याम् । संज्ञासूत्रमिदं न परिभाषा । सा हि नियमार्था भवति । न चाणुदितां स्वस्यास्वस्य च ग्रहणं प्राप्तं येन स्वस्यैवेति नियमः स्यात् ।

अन्त्येनेतादिः ॥१।१।७३॥ अन्त्येनेत्संज्ञकेन गृह्यमाण आदिस्तन्मध्यपतितानां ग्राहको भवत्यात्मना सह । आद्यन्तौ सम्बन्धिशब्दौ । अतः सामर्थ्यादाद्यन्तव्यतिरेकेण तन्मध्यपाति वस्तु प्रत्येकं संज्ञित्वेनाक्षिप्तम् । अ इ उ इत्येतेषां प्रत्येकमण्णितं संज्ञा । एवमक् अच् अट् इत्येवमादयः । अन्त्येनेति किम् ? सुडित्यत्र आदिना टा इत्येतस्य टकारेण ग्रहणं मा भूत् । अन्त्येनेतीदमेव ज्ञापकं सहाय्यं गम्यमानेऽपि भा भवति ।

असंख्यं भिः १ ॥१।१।७४॥ संख्या एकत्वादिका सा यस्य न विद्यते तदसंख्यं भिः संज्ञं भवति । एकत्वादिनिबन्धना विभक्तयुत्पत्तिरसंख्यादप्रामा “सुपो भेः” [१।४।१२०] इति वचनाद्भवति । के पुनरसंख्याः ? स्वर । अन्तर् । प्रातर् । सनुतर् । पुनर् । सायम् । नक्तम् । अस्तम् । वस्तोः । दिवा । दोषा । ह्यः । श्वः । कम् । शम् । योर्मयः (?) च २ । न । अन्नम् । विहायसा । रोदसी । ओम् । भूः । भुवः । स्वस्ति । समया । निकषा । अन्तरा । बहिस् । साम्प्रतम् । अद्वा । सत्यम् । इद्वा । मुधा । मृषा । वृथा । मिथ्या । मिथो । मिथु । मिथुनम् । मिथस् । अनिशम् । मुहुः । अभीक्षणम् । मङ्क्षु । भर्त्सित् । उच्चैस् । अवश्यम् । सामि । साचि । विष्वक् । अन्वक् । आनुषक् । साजक् । द्राक् । प्राक् । ऋधक् । पृथक् । धिक् । हिरक् । ज्योक् । मनाक् । शनैः । ईपत् । जोषम् । तूष्णीम् । कामम् । निकामम् । प्रकामम् । आरात् । अरम् । वरम् । परम् । चिरम् । तिरः । नमः । स्वयम् । भूयः । प्रायः । प्रवाहुकम् । आर्यहलम् । कुः । अलम् । बलवत् । अतीव । सुष्ठु । दुष्ठु । ऋते । सपदि । साज्ञात् । सनात् । सना । आशु । सहसा । युगपत् । उपांशु । पुरा । पुरतः । पुरस्तात् । पुरः । इत्येवंप्रकाराः, निसंज्ञकाश्च सर्वे “च, वा, ह, अह” एवम्प्रभृतयो हृतश्च तसादयस्तत इत्यादयश्च्यर्थः, कृतः मुमाम्तुमादयः क्त्वाप्यादेशश्चेति । हसंज्ञेति केचित्पठन्ति, तत्तु चिन्त्यम् । उपाग्निकमित्यकोऽसम्भवात् । उपकुम्भमन्त्यम् इति मुमो दर्शनात् । उपकुम्भीकृत्येति ईत्वावधानाच्च । सामान्यविषया भिसंज्ञा । विशेषविषया निसंज्ञा । असंख्यग्रहणं किम् ? यत्रासंख्यत्वं प्रतीयते तत्र भिसंज्ञा । उच्चैः । परमोच्चैः । अस्ति । स्वस्ति । उपसर्जनं मा भूत् । अत्युच्चैः । अच्युच्चैसौ । अत्युच्चैसः । अत्स्वस्तिः । भिःप्रदेशाः “सुपो भेः” [१।४।१२०] इत्येवमादयः ।

गाङ्गादादेरङ्गिण्डित् ॥१।१।७५॥ गाङ्गित्येतस्मात् कुटादिभ्यश्च धुभ्यः परेऽङ्गितस्त्या ङितो भवन्ति । विनापि वतमतिदेशो गम्यते । गाङ्गिति व्याख्यानादिङ्गदेशो गृह्यते । कुटादिस्तुदादेरन्तर्गणो यावत् वृत्शब्द इति । गाङ्—अध्यगीष्ट । अध्यगीषाताम् । अध्यगीषत । लुङ्लृङोर्वेति इङो गाङ्गदेशः । “मुमा” [४।४।६२] आदिसूत्रेणेत्यम् । कुटादि—कुटिता । कुटितुम् । कुटितव्यम् । पुटिता । पुटितुम् । पुटितव्यम् । व्यचेरनसि कुटादित्वम्—विचिता । विचितुम् । विचितव्यम् । अनसीति किम् ? उद्वथचाः । “अस् सर्वधुभ्यः” इत्यस् । अङ्गिण्डिति किम् ? उक्कोटयति । उक्कोटो वर्तते । ङित्वि ङित् । ईवन्ताद्वदर्थो गम्यते । तेन उच्चुकुटिपति इत्यत्र “ङनुदात्ते तो ङः” [१।२।६] इति दो न भवति ।

इङ्गिजः ॥१।१।७६॥ अन्त्येनेतादिरित्यत्र आदिरिति वर्तते । विजेषोर्स्तरङ्गिण्डित्यो ङिङ्गवति । उद्विजित्वा । उद्विजितुम् । उद्विजितव्यम् । इङ्गिति किम् ? उद्वेजनम् । उद्वेजनीयम् । विज इति किम् ? लविता ।

१. “भिः” सु० । २. “च नाम्नो” इति अ०, ब०, स०, पुस्तकेषु, तत्र “च” “न” “आम्” “जो” इति पदच्छेदो युक्तः । ३. “बहिर्” अ०, ब०, स० । ४. “भाजक्” इति अ० । “ताजक्” इति स० । “साजक्” इति ब० मुद्रितयोः । परमयं शब्दभेदोऽन्वेद्यभावोऽन्यभ्याकरणकोशेषु च नोपलब्धः । ५. अवशानादिति युक्तम् । ६. “ङ्गिण्डित्—अ०, ब०, स० ।

बोर्णोः ॥११।७७॥ ऊर्णोः पर इडादित्यो^१ वा डिङ्गवति । प्रोर्णुं वित्वा । प्रोर्णवित्वा । अप्राप्ते^२ विकल्पोऽयम् । दसंज्ञके तु लड इटि परत्वान्नित्यो विधिः । प्रौर्णुं वि । अञ्जिणदित्येव । जिवदिति-प्रोर्णविकल्पे । इडादिरित्येव । प्रोर्णवनम् । प्रोर्णवनीयम् ।

गोऽपित् ॥ ११।७८ ॥ अपिद् गसंज्ञको डिङ्गवति । कुरुतः । कुर्वन्ति । चिनुतः । चिन्वन्ति । मृष्टः । मृजन्ति । ग इति किम् ? कर्ता । मार्ष्टा । अपिदिति किम् ? करोति । मार्ष्टि । अपिदिति प्रसज्यप्रतिषेधः । यद्येवं तुदानि लिखानीत्यत्र पिदपितोरेकादेशः^३ पिङ्गवतीति “इदुङ्” [११।८३] एत्प्रसज्येत । नायं दोषः । लोडादेशस्य पित्वं न चाटः । अथवायं पर्युदासः । इह तर्हि च्यवन्ते प्लवन्त इति परापेक्षपिदपितोरेकादेशस्य पितोऽन्यत्वमस्तीत्येवप्रतिषेधः प्रसज्येत । नैष दोषः—“वाष्णाद् गावं बलीयः” इति, प्रागेवैकादेशादेपु ।

लिङ्स्फात्कित् ॥ ११।७९ ॥ अपिदित्येव । अस्फान्तात्परोऽपिलिट् किङ्गवति । विभिदतुः । विभिदुः । ममृजतुः । ममृजुः । लिडिति किम् ? यथा । अस्फादिति किम् ? ममन्थतुः । ममन्थुः । ननु ररन्धिव ररन्धिम इत्यत्रास्फाद्विहितो लिट् । नैवम् । नुम्बिषावुपदेशग्रहणाश्रयणात् । एवञ्च कुरडा हुण्डेत्यत्र “सरोर्हलः” [११।८५] इति अस्त्वो भवति । अपिदित्येव । विभेदित्थ । डिदिति वर्त्तमाने किद्ग्रहणं किम् ? ईजतुः । ईजुः । डिदिति जिर्न स्यात् । अयमेव किद्विषयः । ववृते, वृवृधे इत्यत्र परत्वादेपि कृते स्फान्तात्त्वमिति चेत्, इष्टवाचिन्वात्परशब्दत्येत्यदोषः । अस्फादिति प्रसज्यप्रतिषेधः । न चेत् स्फान्ताद्विहित इति पर्युदासे हि हलन्तादेव लिट् कित् स्यात् । “बोर्णोः” [११।८८] इत्यतो वेति व्यवस्थितविभाषाऽनुवर्तते । ततः श्रन्थिग्रन्थिदम्भध्वञ्जीन्धिभ्योऽपि किङ्गवतीत्येके । श्रेथुः । श्रेथुः । ग्रेथुः । देभतुः । देभुः । परिपस्वजे । परिपस्वजाते । समीधे । समीधाते । समीधिरे ।

मृडमृदगुधकुषवदवसः क्त्वा ॥११।८०॥ मृड मृद गुध कुष वद वस इत्येतेभ्यः परः क्त्वा ल्यः किङ्गवति । मृडित्वा । मृदित्वा । गुधित्वा । कुषित्वा । उदित्वा । उषित्वा । सिद्धे विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः । तुल्यजातीयस्य च नियमः । सेट् क्त्वा तुल्यजातीयः, तेन मृडादिभ्य एव क्त्वा सेट् किङ्गवति नान्येभ्यः । देवित्वा । सेवित्वा । वर्तित्वा । सेडिति विशेषणं किम् ? भुक्त्वा । मुक्त्वा । मृडादिभ्यः क्त्वैव किङ्गवतीति^४ विपरीतो नियमो नाशङ्कनीयः । एवं हि “क्लिशः” [११।८१] इति क्त्ववचनमनर्थकं स्यात्, प्रतिषेधाभावात् । गुधिकुष्योस्तु “व्युङ्गोऽवो हलः संश्च” [११।९७] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः ।

क्लिशः ॥ ११।८१ ॥ क्लिशः परः क्त्वा सेट् किङ्गवति । क्लिशित्वा । पूर्वेण नियमेन क्त्वे निवर्तिते “व्युङ्गोऽवो हलः संश्च” [११।९७] इति विकल्पः प्राप्तः । पूर्वं^५ सूत्रे इष्टतोऽवधारणार्थं योगान्तरम् ।

मुषग्रहिरुदविदः संश्च ॥११।८२॥ मुष ग्रहि रुद विद इत्येतेभ्यः परः संश्च (सन्)क्त्वा च सेट् किङ्गवति । मुषिषति । जिष्टति । रुदपति । विविदपति । मुषित्वा । गृहीत्वा । रुदित्वा । विदित्वा । ग्रहेर्मृडादिनियमान्निवृत्तौ विध्यर्थमितरेषां “व्युङ्गोऽवो हलः संश्च” [११।९७] इति विकल्पे प्राप्ते वचनम् ।

भलिकः ॥११।८३॥ कर्षेति निवृत्तम् । अन्येनेतादिरित्यत आदिरिति वर्तते । इगन्ताद्धोः परो भलादिः सन्किङ्गवति । सामर्थ्यात्सुनिहितस्य धोरिका तदन्तविधिः । चिचीषति । निनीषति । ररूषति । चिकीर्षति । लुलूषति । यदि सनि दीत्ववचनसामर्थ्यान्मात्रिकद्विमात्रिकयोरेवभावः सिद्ध इत्यस्यानर्थक्यम् । शिखमपि तर्हि न स्यात् । जीप्सति । एतस्मिंस्तु सनि चिचीषत्यादिषु सावकाशं दीत्वं परत्वात्पिणखेन बाध्यते । भलादिरिति किम् ? शिशयिषते । इक इति किम् ? पिपासति । सनीत्येव । कर्ता ।

१.-दिः ल्यो” ब०, स०, सु० । २.-प्तविक-अ० । ३. पिद् वद् भ-अ०, ब०, स० । ४. त्वाटः अ० । ५.-वति विष-अ०, ब०, स० । ६. पूर्वं सूत्रे सु० । ७. रुदित्वा इति नास्ति अ० ब० स० पुस्तकेषु । ८. जीप्सतीति अ०, ब०, स० ।

हलन्तात् ॥ १।१।८४ ॥ सन् भलिक इति वर्तते । अन्तःशब्दः समीपवचनः । इकोऽन्तः समीपो यो हल तदन्ताद्धोर्लादिः सन्किद् भवति । विभिसति । बुभुस्तते । विवृत्सति । अन्तग्रहणं किम् ? यियत्तति । जिर्न भवति । नात्रेकसमीपाद्दलः परः सन् । एवं वा सूत्रार्थः । इकः परो हलन्तो हलवयवो यो धुस्तस्मादुत्तरो भलादिः सन्किद् भवति । अन्तग्रहणं स्पष्टार्थमुक्तमस्मिन् व्याख्याने । इक इति कानिर्देशः किम् ? यियत्तति । भलित्येव । विर्विद्धपते । “निरेकाजनाङ्” [१।१।२२] इत्यत्र एकग्रहणं शापकमुक्तम्, “अन्यत्र वर्णग्रहणे जाति-ग्रहणमिति ।” तेनेह हल्ग्रहणेन भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययानिमित्तं हल् जातिर्गृह्यते । ततो धिप्सतीति सिद्धम् ।

सिलिङ् दे ॥ १।१।८५ ॥ सन्निति निवृत्तम् । भलिकः हलन्तादिति च वर्तते । सिश्च लिङ् च दे इको हलन्तात्परौ भलादी कितौ भवतः । सेरेव दपरत्वं विशेषणं न लिङोऽसम्भवात् । द एव हि लिङ् भलादिः । अभित् । अबुद्ध । भित्सीष्ट । भुत्सीष्ट । द इति किम् ? अस्मात्कीत् । अद्रात्कीत्^३ । कित्वे सृजिदृशोरमागमो न स्यात् । “वदव्रज (व्रजवद्)” [२।१।७६] इत्यादिनैप् । इक इत्येव । अयष्ट । यत्नीष्ट । जिः प्रसज्येत । हलन्तादित्येव । अचेष्ट । चेपीष्ट । एम्न स्यात् । भलादिरित्येव । अवर्तिष्ट । वर्तिषीष्ट । एम्न स्यात् ।

उः ॥ १।१।८६ ॥ अर्तैर्व्याख्यानादग्रहणम् । ऋवर्णान्ताद्धोः परौ सिलिङो दे भलादी कितौ भवतः । अकृत । अद्दत । कृषीष्ट । हृषीष्ट । द्विमात्रस्य । अस्तीष्यम् । स्तीर्षीष्ट । “लिङ्घ्योर्दे” [२।१।९०] इत्यनि-ट्पक्षे द्रष्टव्यम् । भलादिरित्येव । अस्तरिष्ट । स्तरीषीष्ट ।

गमो वा ॥ १।१।८७ ॥ गमेषोः परौ सिलिङो दे भलादी वा कितौ भवतः । समगत । सङ्गसीष्ट । वा गमः कित्वे “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना ङत्वं “प्राद् गोः” [२।३।४५] इति सेः खम् । पक्षे-समगस्त । सङ्गसीष्ट ।

हनः सिः ॥ १।१।८८ ॥ हन्तेषोः परः सिर्दे किद्भवति । आहत् । आहसाताम् । आहसत । सेः कित्वाङ्घस्य खम् । [अन्यथा अनिदित इति उङ्घः स्वस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पुनः सिग्रहणं लिङ्निवृत्त्यर्थम् । दग्रहणमनुवर्तते । एवं नित्यो वधादेश इति इह प्रयोजनं नास्ति ।

यमः सूचने ॥ १।१।८९ ॥ यमेषोः सूचनेऽर्थे वर्तमानात्परः सिर्दे किद्भवति । सूचनं गन्धनमा-विष्करणमित्यर्थः । उदायत । उदायसाताम् । उदायसत । अकर्मकत्वे “आङो यमहनः” [१।२।२३] इति दः । सूचन इति किम् । आर्यस्त कृपाद्रज्जुम् । सकर्मकत्वे “समुदाङ्घ्यमोऽग्रन्थे” [१।२।७०] इति दः ।

वोपयमे ॥ १।१।९० ॥ उपयमो दारस्वीकारः । उपयमेऽर्थे वर्तमानाद्यमेषोः परः सिर्दे वा किद्भवति । उपायत कन्याम् । उपायस्त कन्याम् । “स्वीकृतावुपायमः” [१।२।२१] इति दः । इयमप्राप्ते विभाषा । स्वीकारसूचने पूर्वविप्रतिषेधेन पूर्वेण नित्यो विधिः ।

भुस्थोरिः ॥ १।१।९१ ॥ द इति वर्तते । भुसंज्ञकानां स्था इत्येतस्य च धोरिकारोऽन्तादेशो भवति सौ सिश्च दे कित् । अदित । अधित । उपास्थित । “प्रात्” [४।३।२८] इति सेः खम् । सन्नपातपरिभाषाया अनित्यतां वक्ष्यति । तिष्ठतेः “उपान्मन्त्रकरणे” [१।२।२०] “धेः” [१।२।२१] इति दः । हलवचनसामर्थ्या-देपो निवृत्तिः सिद्धेति किद्ग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्त्तमानं सेरपि विशेषणम् ।

१. इति च वर्तते अ०, ब०, स० । अत्र च शब्दोऽप्यर्थकः । २. अन्तःशब्दः ब० । ३. अद्राक्षीत् इति मुद्गितपुस्तके नास्ति । ४. कोष्टकस्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति । “हलुङ्घः कित्वाङ्घनित्यः” इत्यस्याप्राप्तवृत्तेः । ५. हन्धोर्दे “हनो वध लिङ्घि” इति नित्यवधादेशविधानात् “हनः सिः” इत्यत्र लिङ्घनुवृत्तेः प्रयोजनं नास्ति कित्प्रयुक्त-नख-रूप-फलस्य लिङ्घि नित्ये वधादेशोऽभावात् । ६.-षयां विहितम् । तः सेट्—अ०, ब०, स० ।

तः सेट् पूङ् शीङ् स्विन्मिद्विद्धृषो न ॥१११६२॥ पूङ् शीङ् स्विद् मिद् द्विद् धृष् इत्येतैभ्यः परस्तसंज्ञः सेट् न किद्भवति । पवितः । पवितवान् । “श्र्युकः किति” [११११७] इतीटि प्रतिषिद्धे “पूङ्ः” [१११६६] इति तक्वोरिड् विभाषितः । शीङ्-शयितः । शयितवान् । अनुबन्धो यड्बन्तनिवृत्त्यर्थम् । शोशियतः । शोशियतवान् । “एगिंवाक्चादुडोऽमुधियः” [४१४७८] इति यत्वम् । स्विदा । प्रस्वेदितः । प्रस्वेदितवान् । प्रमेदितः । प्रमेदितवान् । प्रद्वेदितः । प्रद्वेदितवान् । प्रघर्षितः । प्रघर्षितवान् । वैयाये धृष्ट इत्येव भवति । पूङ्ः “तयोर्घ्यक्तत्वात्” [२१४१२] इति कर्मणि क्तः । शीङ्ः “धिगत्यर्थाच्च” [२१४१८] इति कर्त्तरि (क्तः) चेति । स्विदादीनां “कर्त्तरि चारम्भे क्तः” [२१४१६] इति कर्त्तरि क्तः । “आदितः” [१११२२] इति प्रतिषेधे (षिद्धे) “वा भावारम्भयोः” [१११२३] इति पक्षे भवति । त इति किम् ? पवित्वा । “पूङ्ः” [१११६६] इतीट्पक्षे मृडादिनियमादकित्वम् । सेडिति किम् ? पूतः । पूतवान् ।

मृष्टः स्वार्थे ॥१११६३॥ स्वार्थस्तित्त्वा । मृष्टोः स्वार्थे वर्तमानात्संज्ञः सेट् न किद्भवति । मर्षितः । मर्षितवान् । स्वार्थे इति किम् ? अपमृषितं वाक्यमाह । धूनामनेकार्थत्वात् स्वार्थग्रहणं पठितापेक्षम्^१ । पाठस्तुपलक्षणम् । सेडित्येव । मृषु सहने चास्योदित्वात् “यस्य वा” [१११२१] इतीटि प्रतिषिद्धे मृष्टम्^२ ।

वोदुडो भावारम्भयोः शपः ॥१११६४॥ तः सेण किदिति वर्तते । उदुडो धोः शब्दिकरणात्परो भावे चारम्भे च तः सेड् वा न किद्भवति । भावग्रहणं क्तस्य विशेषणम् । आरम्भ आद्यः^३ क्रियान्तरः । स धोर्विशेषणम् । द्युतितमस्य । द्योतितमस्य । सम्बन्धे ता । कर्तृत्वविवक्षायां “न क्तित” [११४७२] इत्यादिना ता-प्रतिषेधः । द्युतितमनेन । द्योतितमनेन । प्रलुठितः । प्रलोठितः । प्रलुठितवान् । प्रलोठितवान् । “कर्त्तरि चारम्भे क्तः” [२१४१६] इति कर्त्तरि क्तः । उदुड इति किम् ? विदितमनेन । प्रविदितः । भावारम्भयोरिति किम् ? रुचितः कार्षापणः । शब्दिकरणादिति किम् ? गुधितमस्य । प्रगुधितः । श्राविकरणोऽयम् । सेडित्येव । रूढमस्य । प्ररूढः । तपरकरणमसन्देहार्थम् । निकुञ्चित इति नकारस्य खे कृते “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” इत्युदुडो विकल्पो न भवति । विहितविशेषणाद्वा ।

नोडस्थपात् क्त्वा ॥१११६५॥ सेडिति वर्तते वेति च । नकारोडो धोस्थकारान्तात् फकारान्ताच्च क्त्वा सेड् वा किद्भवति । श्रथित्वा । श्रन्थित्वा । ग्रथित्वा । ग्रन्थित्वा । गुफित्वा । गुम्फित्वा । मृडादिनियमान्नित्यमकित्वे प्राप्ते विधिर्विभाष्यते । नोड इति किम् ? गोफित्वा । नन्वत्रापि “व्युडोऽवो हलः संश्र” [१११६७] इति विकल्पेन भाव्यम् । एवं तर्हि ऋफोरफित्वा प्रत्युदाहरणम् । थफान्तादिति किम् ? संसित्वा ।

वञ्चिलुञ्च्यत् ऋषिमुषिकृषः ॥१११६६॥ वञ्चि लुञ्चि ऋति तृषि मृषि कृष् इत्येतेभ्यः परः क्त्वा सेड् वा किद्भवति । वञ्चित्वा । वञ्चित्वा । लुञ्चित्वा । लुञ्चित्वा । ऋतेर्वाऽर्गं इति यदा ईयङ् न भवति तदा ऋतित्वा । अर्तित्वा । तृषित्वा । तर्षित्वा । मृषित्वा । कृषित्वा । कर्षित्वा । मृडादिनियमान्नित्यमकित्वं प्राप्तम् । सेडित्येव । वक्त्वा । मृष्ट्वा । “बोदितः” [१११०४] इति पक्षे नेट् ।

व्युडोऽवो हलः संश्र ॥१११६७॥ सेडिति वर्तते वेति च । उकारोड् इकारोड्श्च धोरवकारान्ताद्धलादेः परः संश्र क्त्वा च सेटो वा कितौ भवतः । उकारेकारोडोऽजन्तत्वासम्भावद्धलग्रहणमादिविशेषणम् । दिद्युतिषते । दिद्योतिषते । “द्यु तिस्वाप्योर्जिः” [१२१६७] इति चंस्य जिः । द्युतित्वा । द्योतित्वा । लिलिखिषति । लिलेखिषति । लिखित्वा । लेखित्वा । सन्नकिदेव क्त्वापि सेयमुडोदिनियमादकित् । तयोर्प्राप्तं कित्त्वमनेन विधीयमानं

१. धातुपाठपठितित्तिध्वार्थस्य ग्रहणमित्यर्थः । २. मृष्टः ब० । ३. -घक्रि-ब० । ४. “कमृत्यो-शिङ्गीयङ्” २।१।२८ इति नित्यं शिङ्गीयङ् । अत्र “वाऽगे” इत्यनुवृत्ते अगे विकल्पेन शिङ्गीयङ् इति तत्रत्यवृत्त्यभिप्रायः । एतदाशयेनैवात्र ऋतेर्वाग इति इत्याद्यु क्तम् । नत्वित्यं किमपि सूत्रम् । ५. त्वेति ब०, स० । ६. अभ्यासस्य ।

विकल्प्यते । व्युङ् इति किम् ? विवर्तिषते । वर्त्तित्वा । अत्र इति किम् ? दिदेविषति । देवित्वा । हलादेरिति किम् ? एषिषिषति । एषित्वा । सनि एषि कृते द्वित्वम् । सेडित्येव । बुभुक्षते । भुक्त्वा ।

युक्तवदुसि लिङ्गसंख्ये ॥११।६८॥ युक्तः प्रकृत्यर्थः । प्रत्ययार्थेन सम्बन्धात् । उसोऽर्थ उस् । उसि युक्त इव लिङ्गसंख्ये भवतः । इवार्थे वत् । उसिति नाशस्य संज्ञा । उसा नष्टस्य त्यस्यार्थः साहचर्यादुस् । तत्रोसर्थे प्रकृत्यर्थे इव लिङ्गसंख्ये विधीयते । लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकानि । संख्या एकत्वद्वित्वबहुत्वानि । पञ्चालो नाम राजा तस्यापत्यं “राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽञ्” [३।१।१२०] इत्यञ् । बहुत्वे तस्योपि कृते पञ्चालाः क्षत्रियाः पुंलिङ्गा बहुसंख्याः । तेषां निवासो जनपदः “तस्य निवासादूरभवौ” [३।२।२६] इत्यागतस्याणः “जनपद उस्” [३।२।६१] इत्युस् । क्षत्रियेषु ये लिङ्गसंख्ये ते जनपदेऽपि भवतः । पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः । एवं वरुणानामदूरभवः । गोदौ नाम हृदौ तयोर्दूरभवः । “वरुणादेः” [३।२।६२] इति उस् । वरुणाः । शिरीषाः । गोदौ । “अर्थातिदेशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता सिद्धा” (वा०) पञ्चाला रमणीया बह्वन्ना बहुक्षीरघृता बहुमाल्यफलाः । वरुणा रमणीयाः । गोदौ रमणीयौ । “अजातेरिति वक्तव्यम्” (वा०) । पञ्चाला जनपदः । गोदौ ग्रामः । अत्र जनपदग्रामयोर्जातित्वात्जातिदेशः । जात्यर्थे जातिः । तेन तद्विशेषणानामपि प्रतिषेधः । पञ्चाला जनपदो रमणीयः । नेदं वक्तव्यम् । सञ्ज्ञाप्राप्त्यात् । यथा वर्षा आपो दारा गृहाः सिक्ता इत्येवमादीनां संज्ञाशब्दानां संज्ञाप्राप्त्यादेव स्वलिङ्गेन स्वसंख्यया च साधुत्वमेवं जातेरपि भविष्यति । पञ्चालादीनां तु संज्ञाशब्दानामन्वाख्यानप्रदर्शनार्थमुस्लिङ्गसंख्यातिदेशश्च विधीयते इत्यदोषः । उसीति किम् ? ग्रामलकं फलम् । उपि कृते फलेऽर्थे ग्रामलकशब्दस्य स्त्रीलिङ्गे मा भूत् । लिङ्गसंख्ये इति किम् ? बदर्या अदूरभवो ग्रामः । वरुणादित्वादुस् तस्य वनं बदरीवनम् । वनस्पतित्वातिदेशो मा भूत् । “विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः” [५।४।६०] इति ण्वत्प्रसज्येत । वेति व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेर्मुष्प्यार्थे उसि विशेषणानां न लिङ्गसंख्यातिदेशः । पञ्चाला अभिरूपः । बह्वीका दर्शनीयः । चञ्चैव मनुष्यः । “इवे प्रतिकृतौ कः” [४।१।१२०] इति कः । तस्य “उस् मनुष्ये” [४।१।१२२] इत्युस् । खलतिकदिपु संख्यातिदेश एव । खलतिकस्य पर्वतस्यादूरभगानि खलतिकं वनानि । हरीतक्यादिपु लिङ्गातिदेश एव । हरीतक्या अत्रयवः फलानि । “हरीतक्यादेः” [३।३।१२४] इत्युस् । हरितक्यः फलानि ।

तिष्यपुनर्वसूनां भद्वन्द्वे द्वित्वम् ॥११।६९॥ तिष्य एकः पूनर्वसू द्वौ । तेषां भद्वन्द्वे द्वित्वं भवति । उदितौ तिष्यपुनर्वसू । तिष्यपुनर्वसूनामिति किम् । राधानुराधाः । श्रवणधनिष्ठाः । भ्रमहरणं किम् । तिष्ये जातः । पुनर्वस्वोर्जातौ तत्र जात इत्यागतस्याणो “भेभ्यो बहुलम्” [३।३।१३] इत्युप् । तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः । ननु गौणत्वादेवात्र न भविष्यति । पर्यायार्थं तर्हि भ्रमहरणम् । पुष्यपुनर्वसू सिद्धपुनर्वसू इति । बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? एकवद्भावे मा भूत् । इदं तिष्यपुनर्वसू । इदमेव ज्ञापकं “वा तरुगृगो” [१।४।८८] आदिसूत्रे वेति योगविभागोऽस्ति । द्वन्द्व इति किम् । यस्तिष्यस्तौ पूनर्वसू येषां ते तिष्यपुनर्वसवो मुग्धाः तिष्यादय एवात्र विपर्ययेण प्रतीयन्त इति भविष्यत्वमस्ति । “जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्” [१।२।२८ पा० सू०] इति न वक्तव्यम् । सामान्यविशेषात्मकत्वाद्बन्तुनः । विशेषेणुवृत्ताकारबुद्धिनिमित्तं सामान्यम् । व्यावृत्ताकारबुद्धिहेतवो विशेषाः । तत्र सामान्यविवक्षायामेकत्वं भवति । सन् जो ब्रीहिः । विशेषविवक्षायां बहुत्वम् । सम्पन्ना ब्रीहयः । संख्यानुप्रयोगे जातिविवक्षैव । एको ब्रीहिः सम्पन्नः सुभिन्नं करोति । अस्मदो द्वयोरैकस्य च वा बहुत्वं न वक्तव्यम् । कथमहं ब्रवीमि, आवां ब्रूवः, वयं ब्रूम इति ? आत्मन इन्द्रियाणां च स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं विवक्षया भविष्यति । कदाचिदात्मा स्वतन्त्रो भवति । अनेनाक्षणा पश्यामि । कदाचिदिन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यम् । इदम्मेऽक्षि पश्यति । तत्रात्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षाया-

१. विकल्पेन विधीयत इत्यर्थः । २. “वद्विक्रका” अ० “वद्विका” सु० । ३. अस्मदो द्वयोश्च (पा० सू० १।२ ५६) इति सूत्रं लक्षयति वृत्तिकारः ।

मेकत्वमिन्द्रियाणां स्वातन्त्र्ये बहुत्वम् । सविशेषणस्यात्मविवक्षैव । अहं देवदत्तो ब्रवीमि । अहं साधुर्ब्रवीमि । युष्मदि गुरावुभयविवक्षा । त्वं मे गुरुः । यूयं मे गुरवः । एतच्च शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् । फल्लुनीप्रोष्ठपदानां नक्षत्रे द्वयोर्बहुत्वं वेति न वक्तव्यम् । कथं कदा पूर्वे फल्लुन्यौ कदा पूर्वाः फल्लुन्यः । कदा पूर्वे प्रोष्ठपदे कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः ? यदा फल्लुनीसमीपगते चन्द्रमसि फल्लुनीशब्दो विवक्ष्यते तदा बहुत्वमन्यदा द्वित्वम् ।

स्वाभाविकत्वाद्भिधानस्यैकशेषानारम्भः ॥१११॥१००॥ स्वभावत एव शब्द एकशेषमनपेक्ष्य एकत्वद्वित्वबहुत्वेषु वर्तते । अत एवैकशेषानारम्भः । एकत्वादीनां प्रकृत्युपात्तानामभिव्यक्तये विभक्त्युपादानम् । यथा एको द्वौ बहवः पञ्च सतेति । एवं वृत्तः वृत्तौ वृत्ताः । अथ प्रत्यर्थं शब्दनिवेशात्त्रैकेनानेकस्याभिधानं तत्रानेकार्थाभिधानेऽनेकशब्दत्वं प्रसक्तमत एकशेषः । अत्रोच्यते—यदि भिन्नेष्वभिन्नाभिधानं प्रत्ययहेतुर्जातिः शब्दार्थः । तस्याः प्रत्यायने एक एव शब्दः समर्थः । अथ द्रव्यं शब्दार्थः । तच्चानेकं व्यावृत्ताभिधानधुद्विलिङ्गम् । तस्याभिधित्सायामनेकशब्दत्वे प्राप्त एकशेष इति । एतदप्ययुक्तम् । अवशिष्टः शब्दो निवृत्तशब्दस्य यद्यर्थमभिधत्ते तदास्य द्वित्वेऽपि वृत्तिरिति किमेकशेषेण । अथ नाभिधत्ते तदा पश्चादपि स एवार्थः । कथमनेकत्रार्थे वृत्तिः ? सरूपाणां द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थमेकशेष इत्यपि नास्त्यनभिधानात् । न हि भवति द्वौ च द्वौ च द्वाविति । अथ विरूपशब्दार्थ एकशेषः । तथाहि—“वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः” [पा० सू० १।२।६२] ‘अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम्’ । एवकारो भिन्नक्रमः । विशेषो वैरूप्यम् । वृद्धः शिष्यते यूना सह वचने वृद्धयुवल्क्षणे एव यदि विशेषः समानायां प्रकृतौ । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । दाक्षिणश्च दाक्षायणश्च दाक्षी । वृद्ध इति किम् ? औपगवश्चानन्तर औपगवश्च युवा औपगवौपगवी । गार्गीगार्ग्यायणौ । यूनेति किम् ? गर्गश्च गार्ग्यश्च गर्गगार्ग्यौ । तल्लक्षण एवेति किम् ? गार्ग्यवात्स्यायनौ । अत्र प्रकृतिविशेषोऽप्यस्ति । एवकारः किमर्थः । भागविति भागवित्तिका । भागवित्तरपत्यं युवा । “दोषणं सौवीरेषु प्रायः” [३।१।१३६] इत्यत्र क्षेपस्यापि भावान्न तल्लक्षण एव । विशेष इति किम् ? वैदश्च वृद्धो वैदश्च युवा वैदवैदौ । तल्लक्षणवैरूप्याभावात् द्वन्द्वो भवत्येव । “स्त्री पुंवच्च” [पा० सू० १।२।६६] स्त्री वृद्धा यूना सह वचने शिष्यते पुंवद्भावश्चास्या भवति तल्लक्षण एव यदि विशेषः । गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्या । दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी । नेदं द्वयं वक्तव्यम् । जीर्वात् वंश्ये वृद्धः द्वयमभिधत्ते । अजीर्वात् वृद्धयूनोर्द्वन्द्वो नास्त्यनभिधानात् । जीर्वात् वंश्ये वृद्धा स्त्री युवानञ्च सामान्येन वृद्धशब्द एवाभिधत्ते । द्वन्द्वस्य चानभिधानम् । यदपि पुमान् स्त्रिया सह वचने शिष्यते तल्लक्षण एव यदि विशेषः । कठश्च कठी च कठौ । मयूरश्च मयूरी च मयूरी । प्राणिधर्मयोः स्त्रीपुंसयोर्ग्रहणादिह न भवति । नदनदीपतिः । घटघटीसरावोदञ्चनादि । तल्लक्षण इत्येव । कुक्कुटमयूरी । एवकार इत्येव । इन्द्रेन्द्राण्यौ । भवभवार्ग्यौ । पुंयोगलक्षणोऽप्यत्र विशेषः । इदमपि जातिमात्रविवक्षया सिद्धयति । द्वन्द्वस्य चानभिधानम् । अभिधाने द्वन्द्वोऽस्ति । नदनदीपतिः । ब्राह्मणवत्सा-ब्राह्मणी(ण)वत्सौ । भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यां शिष्यत इति न वक्तव्यम् । भ्राता च स्वसा च भगिनी वा भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ । अपत्यमात्रविवक्षया द्वन्द्वानभिधानञ्च । इदं तर्हि वक्तव्यम् । नपुंसकं मन-पुंसकेनैकवत्सास्यान्तरस्यान्तल्लक्षण एव यदि विशेष इति । शुक्लञ्च वृत्तं शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च सती तदिदं शुक्लम् । तानीमानि शुक्लानि । नेदं ज्यायः, त्रिषु लिङ्गेषु नपुंसकस्य प्रभादौ प्राधान्यात् । तैन (नपुंसकत्वं)

१.—याणां बहु-अ०, ब०, स० । २.—क्तिस्वभावात् । फल्लु-अ० । ३. “फल्लुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे” पा० सू० १।२।६० । ४. प्रत्यर्थशब्द-अ० । ५.—धाने प्रत्य-अ० । ६.—तस्य शब्द-अ०, ब०, स० । ७.—कार्थे वृ-स० । ८.—‘पुमान् स्त्रिया’ पा० सू० १।२।६७ इत्यभिलक्ष्य खण्डयति । ९. “भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्” पा० सू० १।२।६८ इति खण्डयति । १०. “नपुंसकमनपुंसकेनैकवत्सास्यान्तरस्याम्” इति पा० सू० १।२।६९ ।

सामान्यविशेषापेक्षया च वचनभेदः । पिता^१ मात्रा श्वशुरः श्वश्र्वाऽन्यतरस्यामित्यपि न वक्तव्यम् । सामान्यविवक्षया पितरौ श्वशुराविति । द्वन्द्वोऽप्यस्ति । मातापितरौ । श्वश्रुश्वशुरौ । श्वश्रुशब्दः स्त्रियामिहैव निपातितः । “त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ।” [पा० सू० १।२।७२] सर्वैरिति त्यदादिभिरन्यैश्च सहवचने त्यदादीनि शिष्यन्त इत्येतदपि नास्ति । त्यदादीनामन्यापेक्षया सामान्यवाचित्वम् । त्यदादिषु च यद्यत्परं तत्तत्सामान्यवाचीति तत्प्रयोगो युक्तः । स च देवदत्तश्च तौ । कश्च देवदत्तश्च कौ । स च यश्च यौ । अथात्र कस्य लिङ्गम् । स च स्थाली च कुरण्डश्च । स च देवदत्ता च^२ कुरण्डं चेति । उच्यते—द्वन्द्वा^३पवादोऽयम् । द्वन्द्वे चान्त्यलिङ्गम् । अत्रापि तदेव युक्तम् । इदं चापि न वाच्यम् । “ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री” [पा० सू० १।२।७३] ग्राम्या ये पशवस्तेषां सङ्घेषु स्त्री शिष्यते अतरुणाश्चेद् ग्राम्यपशवः । गावश्च स्त्रियो गावश्च पुमांसः गाव इमाः । अजा इमाः । ग्राम्यग्रहणं किम् । आरण्यानां मा भूत् । रुव इमे । पृषत इमे । पशुग्रहणं किम् । ब्राह्मणा इमे । सङ्घेष्विति किम् ? एतौ गावौ चरतः । अतरुणेष्विति किम् ? वत्सा इमे । वर्करा इमे । कथं नेदं वक्तव्यम् ? लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वलिङ्गस्येति । अन्यथा अश्वा इमे इत्येवमादिषु एकशेषेषु अनिष्टं स्त्रीलिङ्गं प्रसज्येत

इत्यभयनन्दिमुनिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

भूवादयो धुः ॥ १।२।१ ॥ भू इत्येवमादयः शब्दाः प्रत्येकं धुसञ्ज्ञा भवन्ति । भू एध स्पर्द्ध इत्यादि । धोरित्यधिकृत्य लडादिविधिः कार्यम् । भवति । एधते । स्पर्द्धते । आदिशब्दो व्यवस्थावाची । तेन आरण्यवत्यादीनां निरासः । अर्थपदोपलक्षितानाञ्च व्यवस्था । ततो धुसमानशब्दानां यावामादिवित्येवमादीनां सर्वनामविकल्पप्रतिषेधस्वर्गादिवाचिनामग्रहणम् । भूशब्द आदिरेपामिति वसे भवादय इति प्राप्नोति । नैवम् । “भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्र ष्यते । इको यण् भिर्व्यवधानमेकेषामिति संग्रहः” । तेन त्रियवकं यजामहे वायुवम्बरयोरिवेत्यादि सिद्धम् । “भुवो वार्थं वदन्तीति” भवतेः सम्पदादिपाठात्किवप् । भुवं भवनं क्रियां वदन्तीति बहुलवचनादण्यन्तादपि वदेरौणादिके इञि कृते भूवादयः । अस्मिन् पक्षे शिष्टाप्रयोगादाणवत्यादीनां क्षेपः । “भवर्था वा वादयः स्मृताः ।” अथवा वा गतिगन्धनयोरेत्यस्मात्पर आदिशब्दः । भुवो वादयो वाच्यवाचकभावसम्बन्धे ता भवर्था इत्यर्थः । ये तु वकारो मङ्गलार्थ इति पठन्ति^८ । त इदं वाच्याः । यथाधिक्याद्वकारो मङ्गलमतिप्रसङ्गः स्यात् । एतेन तत् ज्ञानं प्रत्युक्तम् । मङ्गलाभिधेयश्च वकारो गाममालादिषु न पठ्यते । वृत्तौ मर्थानिपातश्च चिन्त्यः । धुप्रदेशाः “धोर्यङ् क्रियासमभिहारे” [२।१।११] इत्येवमादयः ।

अकर्मको धिः ॥ १।२।२ ॥ अकर्मको धुर्धिसञ्ज्ञो भवति । “कर्त्राप्यम्” [१।२।१२०] इत्यादिना लक्षणेन विहितं कर्म तदविवक्षितं वा नास्या (नास्त्यस्य वाऽ) कर्मकः । धप्रदेशाः “अनोधेः” [१।२।१३] इति वमादयः ।

कार्यार्थोऽप्रयोगीत् ॥ १।२।३ ॥ शास्त्रेऽन्यस्य कार्यार्थमाश्रीयते प्रयोगे च न श्रूयते यः स इत्सञ्ज्ञो भवति । अइउण् णकारः । भिमिदा स्नेहने, दुनादि समृद्धौ, डुकृञ् करण इत्यादिषु जिटुडवो डेडस्यादिषु ङकारः । कार्यार्थ इति किम् ? कुलात्सः कुलीनः । परमकुलीन इत्यत्र स्वकारस्याऽप्रयोगितात् “स्त्रिन्यक्केमुं-

१. ‘पिता मात्रा, श्वशुरः श्वश्र्वा’ पा० सू० १।२।७०, ७१ इत्यभिलक्ष्य खण्डयति । २.-ता च । स च कु-अ०, स० । ३. इदमेकशेषवादिनां मते संगच्छते । एकशेषानारम्भवादिना वृत्तिकृता तु “स्त्रिग-मशिष्यं लोकाश्रयस्वास्त्रिगस्य” इति वाच्यम् । ४.-न्दिविर-अ०, ब०, स० । ५. आण्यपयत्या-अ०, स० आण्यपयत्या-ब० । ६.-दायपय-अ०, ब०, स० । ७. निरास इत्यर्थः । ८. “भूवादीनां वकारोऽयमंग-कार्यः प्रयुज्यते” (१।३।१। पा० म० भा०) इति खण्डनपरः सन्दर्भः ।

मचः” [४।३।१७६, १७७] इति मुम् प्रसज्येत । अप्रयोगीति किम् ? परमकुलीनः । ईनादेशः कार्यमिति मुम् स्यात् । ननु कार्यार्थोऽप्रयोगी च खः कथं नेत्सञ्ज्ञः ? उभयविशेषणोपादानात् । अन्यस्य कार्यार्थो भूत्वा योऽप्रयोगीयदोषः । अन्वर्था चेत्यमित्सञ्ज्ञा । एति गच्छति नश्यतीत् तेन “तस्य लोपः” [पा. सू. १।३।६] इति न वक्तव्यम् । प्रयोगानुसारेण प्रयोगित्वावगतेः । प्रतिपत्तिगौरवमिति चेत् “उपदेशेऽजनुनासिक इत्” [पा० सू० १।३।२] इत्यनुनासिकत्वमपि प्रयोगादेवावसीयत इति समानम् । इत्प्रदेशाः “टिदादिः” [१।२।२३] इत्येवमादयः ।

यथासंख्यं समाः ॥ १।२।४ ॥ यथासंख्यं यथाक्रमं समाः शिष्यमाणा भवन्ति । यथासंख्यं “यावद्यथा-वधृत्यसादृश्ये” [१।३।६] इति हसः । समास्तुल्याः । तुल्यत्वञ्च द्विष्टमतः पूर्वोद्दिष्टानामनुद्दिष्टाः समा ज्ञेयाः । “मिथस्थतसोऽस्तंतताम्” [२।४।८२] प्रथमसंख्यस्य मिपः प्रथमसंख्योऽम् इत्येवमादि योज्यम् । समा इति किम् ? “सङ्घादङ्कलक्षणघोषेऽज्यजिजामण्” [३।३।६५] सङ्घादयश्चत्वारोऽर्था अजादयस्त्रयः, वैषम्यात् सङ्घादिषु चतुर्ध्वेष्वनंतादण् भवति, तथा यजन्तादिजन्ताच्च । समशब्दस्य सर्वार्थे युक्तार्थे च सर्वनाम-सञ्ज्ञोक्ता न तुल्यार्थे ।

स्वरितेनाधिकारः ॥ १।२।५ ॥ स्वरितेन लिङ्गेनाधिकारो वेदितव्यः । “त्यः” [२।१।१] “परः” [२।१।२] “ङ्याम्मृदः” [३।१।१] इत्येवमादिः । स्वरित इति आचार्यप्रतिज्ञाया लिङ्गम् । “व्यामिश्रः स्वरितः” [१।१।१४] इत्यस्याचो धर्मत्वेन “रो रि” [२।४।१८] इत्येवमादिषु हल्स्वसम्भवादग्रहणम् । अधि-कारो विनियोगा व्यापार इत्यर्थः । स्वरितेनेति योगविभागाद्यथासंख्यमपि स्वरितेन ज्ञेयम् ।

ऽनुदात्तेतो दः ॥ १।२।६ ॥ ङकारेतोऽनुदात्तेतश्च धोर्द एव भवति । डितः । षूङ् । सूते । शीङ् । शेते । इङ् । अधीते । अनुदात्तेतः । आस । आस्ते । वस । वस्ते । च्छ । आचष्टे । च्छेडित्करणमनर्थकम् । अनुदात्तेत्त्वाद्युच् । विचक्षणः । “लः कर्मणि च भावे च धेः” [२।४।२४] इति धोर्लकारा विहिताः । तद्-द्वारेण दविधौ मविधौ च प्राप्ते प्रकृतितनियमोऽयम् । ऽनुदात्तेतो द एव भवति । दस्त्वानियतः । सोऽन्येभ्योऽपि प्राप्तः । “मम्” [१।२।७२] इति द्वितीयो नियमः । यत्र मञ्च दश्च प्राप्नोति तत्र ममेव भवति । यदि त्य-नियमः स्याद् ऽनुदात्तेत एव दो भवति नान्येभ्यस्तदान्यत्र मस्य सिद्धत्वात् “मम्” [१।२।७२] इति सूत्र-मनर्थकं स्यात् । तदारम्भादिष्टावधारणं सिद्धम् । किञ्च त्यनियमे हि ऽनुदात्तेतोऽपि मं प्राप्नोति तन्निवृत्तये शेषान्मिति शेषग्रहणं कुर्यात् । तदकरणं च ज्ञापकं प्रकृतितनियमस्य ।

डौ ॥ १।२।७ ॥ डिरिति भावकर्मणाः सञ्ज्ञा । डौ द एव भवति । आस्यते भवता । सुप्यते भवता । भावस्वैकत्वं युष्मदस्मदार्थाऽसम्भवश्च । कारकेभ्यः पृथग्भूतो धोरर्थः स्वप्रधानको भावः । एति जीवन्तमानन्द इत्यत्र आनन्दो बाह्य एतेः कर्तृत्वेन विवक्षित इति दो न भवति । कर्मणि । क्रियते कटः । कर्मकर्त्तरि । लूयते केसरः । भिद्यते कुसूलः स्वयमेव । अर्थनियमोऽयम् । दस्तु कर्तव्यं प्राप्ते स ममित्यनेन नियमेन निवर्त्यते । यदि ङावेव दो भवतीति त्यनियमः स्याद् भावकर्मणोरनियतत्वान्मेऽपि प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं शेषात् कर्त्तरि ममित्युच्येत शेषाऽकरणं ज्ञापकमर्थनियमस्य । एवं प्रकृतितनियमेऽर्थनियमे च सति “मम्” [१।२।७५] इत्यत्र कर्तृग्रहणं शेषग्रहणञ्च प्रत्याख्यातम् ।

कर्त्तरि ज्ञे ॥ १।२।८ ॥ कर्त्तरि ज्ञेयो दो भवति । “कर्मव्यतिहारे जः” [२।३।७६] इति जो विहितस्तत्सहचरितः कर्मव्यतिहारो ज्ञेयः । कर्मव्यतिहारश्च कर्मग्रहणसामर्थ्यात् क्रियाव्यतिहारः । अन्यस्य कर्तृमिष्टां क्रियां यदान्यः करोति तदिष्टां चेतरेस्तदा क्रियाव्यतिहारः । व्यतिलुनीते । व्यतिपुनीते । आरम्भसामर्थ्यात्

१.-न्ति । यायासङ्ख्या यथा—अ०, ब०, स० । २. इत्यत्र दो अ०, ब० । ३. केदारः अ०, ब०, स० । ४. उत्तरवाक्यस्वारत्येन शेषाकरणं ज्ञापकं प्रकृतितनियमस्य, कर्तृग्रहणाकरणाज्ञापक-मर्थनियमस्येति पाठो युक्तः । ५. असहचरित इत्यर्थः । ६. व्यतिलुनीते । व्यतिपुनीते अ०, ब० ।

कर्तव्येव सिद्धे कर्तृग्रहणमुत्तरार्थम् “न गतिर्हिंसार्थेभ्यः” [१२।१६] इति । कर्तारि कर्मव्यतिहारे विहितस्य दस्य प्रतिषेधो यथा स्यादिह मा भूत् । व्यतिभूयते सेनया । व्यतिगम्यन्ते ग्रामाः । व्यतिहन्यन्ते दस्यवः । क्रिया-व्यतिहार इति किम् ? पारिभाषिककर्मव्यतिहारे मा भूत् । देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति ।

न गतिर्हिंसार्थेभ्यः ॥ १२।१६ ॥ गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धुभ्यो आर्थे दो न भवति । व्यतिगच्छन्ति । व्यतिधावन्ति । हिंसार्थेभ्यः । व्यतिर्हिंसन्ति । व्यतिभिन्दन्ति । व्यतिच्छिन्दन्ति । व्यन्तिपिषति । बहुवचननिर्देशो हसादिसंग्रहणार्थः । व्यतिहसन्ति । व्यतिजल्पन्ति । व्यतिपठन्ति । व्यतिकथयन्ति । “हृवह्योरप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] सप्रहरन्ते राजानः । व्यतिवहन्ते नद्यः । गतिर्हिंसयो प्रतिषेधो गतिर्हिंसाहेतौ न भवति । व्यतिगमयन्ते । व्यतिभेदयन्ते ।

परस्परान्योन्येतरेतरे ॥ १२।१७ ॥ परस्पर अन्योन्य इतरेतर इत्येतेषु प्रयुक्तेषु आर्थे दो न भवति । परस्परस्य व्यतिलुनन्ति । अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति । इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति । व्यतिभ्यां द्योतितैऽपि कर्मव्य-तिहारे परस्परदिपदप्रयोगो द्रावपूपौ भन्त्येति यथा । परस्परदिशब्दानां कथं सिद्धिः । द्वित्वप्रकरणे कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वम् । “सवच्च बहुलम्” [वा०] इति वक्ष्यति ।

निविशः ॥ १२।११ ॥ नि इति स्वरूपस्य ग्रहणं न निसञ्जाया । निपूर्वाद्दिशो दो भवति । निविशते । निविशते । निविशन्ते । लावस्थायामडागमः । तद्भक्तो न व्यवधायकः । न्यविशत । “मम्” [१२।७५] इति मं प्राप्तम् । सनिर्देशः समर्थार्थः । सामर्थ्यञ्च धोर्गिना । तेनेह न भवति । मधुनि विशन्ति भ्रमराः । अनर्थकत्वाद्वा ।

परिव्यवक्रियः ॥ १२।१२ ॥ परि वि अत्र इत्येवंपूर्वात् क्रीणातेर्दो भवति । परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अत्रक्रीणीते । अकर्त्राप्ये फले विधिरयम् । अनर्थकत्वादिह न भवति । उपरि क्रीणाति । गवि क्रीणाति । अपचाव क्रीणीवः । क्री इति अनुकरणम् । अनुकार्येणार्थवत्त्वान्मृत्वे सति स्वादिविधिः । “प्रकृतिवदनुकरणम्” इति धुत्वातिदेशादियादेशः । उत्तरत्र जेरिति निर्देशात् वत्करणदपि स्वाश्रयोऽपि क्वचिदेव ।

विपराज्जे ॥ १२।१३ ॥ वि परा इत्येवंपूर्वाज्यतेर्दो भवति । विजयते । पराजयते । अत्रापि सनिदशः समर्थस्य ग्रेर्ग्रहणार्थः । तेनेह न भवति । बहुविजयति वनम् । पराजयति सेना ।

आडो दोऽव्यसने ॥ १२।१४ ॥ व्यसनं विकसनं विवरणं वा । अन्येषां दारूपाणां व्यसने वृत्तिर्नास्ति । आडपूर्वाद्दत्तेरव्यसनेऽर्थे दो भवति । विद्यामादत्ते । अकर्त्राप्ये फले प्रापणार्थमिदम् । अव्यसनमिति किम् ? आस्यं व्याददाति । पिलकं व्याददाति । विपादिकां व्याददाति । “स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गमुखम् । यद्यकर्त्राप्ये फले प्राप्तस्याव्यसन इति प्रतिषेधः कर्त्राप्ये फले व्यसने दः प्राप्नोति । नैवम् । अव्यसन इति योगविभागाद् येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । आडिति डित्करणं किम् ? आ ददात्यसौ भिक्षामिदानीमहमस्मार्थम् । आडिति योगविभागः । तेन स्थः प्रतिज्ञाने दो भवति । अनित्यं शब्दमातिष्ठन्ते । “गमयतेः कालहरणे” [वा०] आगमयस्व तावद्देवदत्त । “नुप्रच्छिभ्याञ्च” [वा०] । आनुते शृगालः । आपृच्छते गुरुमिति सिद्धम् ।

क्रीडोऽनुपर्याडः ॥ १२।१५ ॥ अनु परि आड् इत्येवंपूर्वात् क्रीडो दो भवति । अनुक्रीडते । परिक्री-डते । आक्रीडते । गिसाहचर्यादनोर्गेरेव ग्रहणादिह न भवति । माणवकमनु क्रीडति । माणवकेन सहेत्यर्थः । “भार्थे” [१४।१४] इत्यनुना योग इप् गतिसञ्जाप्रतिषेधश्च । “शिक्षेर्जिज्ञासायां दो वक्तव्यः” [वा०] शकेः सन्नतस्येदं ग्रहणम् । विद्यासु शिञ्जते । धनुषि शिञ्जते । कर्मविवक्षायां विद्याः शिञ्जाचक्रे । “हरतेर्गति-ताच्छीघ्रये” [वा०] पैतृकमश्वा अनुहरन्ते मातृकं गावः । मातुरागतम् “ऋतच्छ्व” [३।३।५२] इति ठञ् ।

गतिताछील्य इति किम् ? मातरमनुहरन्ति । “शप उपलम्भन इति च वक्तव्यम्” [वा०] वाचा शरीरस्पर्शनमुपलम्भः । देवदत्ताय शपते । उपलम्भन इति किम् ? शपति ।

समोऽकूजे ॥११२।१६॥ सम्पूर्वात् क्रीडोऽकूजेऽर्थे दो भवति । संक्रीडते । संक्रीडते । संक्रीडन्ते । अकूज इति किम् ? संक्रीडन्ति शकटानि । अव्यक्तं शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

स्थोऽवविप्राच्च ॥११२।१७॥ अव वि प्र इत्येवंपूर्वात् सम्पूर्वाच्च तिष्ठतेर्दो भवति । अवतिष्ठते । वितिष्ठते । प्रतिष्ठते । सन्तिष्ठते ।

शीप्सास्थेयोक्तौ ॥११२।१८॥ परपरितोषार्थमात्मरूपादिप्रकाशनं शीप्सा । स्थीयतेऽस्मिन् निर्णयरूपेणेति स्थेयः । बहुलवचनादधिकरणे यः । शीप्सायां स्थेयोक्तौ च तिष्ठतेर्दो भवति । शीप्सायाम्-तिष्ठते कन्या छात्रेभ्यः । तिष्ठते ब्राह्मणी छात्रेभ्यः । स्वाभिप्रायप्रकाशनेनात्मानं रोचयतीत्यर्थः । शीप्सनक्रियया कर्मव्यपदेशभाजां छात्राणामुपेयत्वात् संप्रदानत्वम् । स्थेयोक्तौ-देवदत्ते तिष्ठते । त्वयि तिष्ठते । मयि तिष्ठते । संशयान्निश्चयं करोतीत्यर्थः ।

उद ईहे ॥११२।१९॥ उत्पूर्वात्तिष्ठतेरीर्हाथे वर्तमानाद्दो भवति । गेहे उत्तिष्ठते । धर्मे उत्तिष्ठते । घटत इत्यर्थः । ईह इति किम् ? अस्माद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति । उत्पद्यत इत्यर्थः । ईह इति ईहतेः पर्यायग्रहणात् गम्यमानायामीहायां न भवति । आसनादुत्तिष्ठति । उत्तिष्ठति सेना । अस्माद् ग्रामाद्विष्टिः (?) । पञ्च पुरुषा उत्तिष्ठन्ति ।

उपान्मन्त्रकरणे ॥११२।२०॥ उपपूर्वात्तिष्ठतेर्मन्त्रकरणे दो भवति । जगत्योपतिष्ठते । त्रिष्टुभोपतिष्ठते । मन्त्रकरण इति किम् ? भर्तारमुपतिष्ठति भार्या यौवनेन । उपादिति योगविभागः । तेन देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिषु दो भवति । देवपूजायाम्-सीमन्धरमुपतिष्ठते । सङ्गातकरणे-रथिकानुपतिष्ठते । मित्रकरणे-महामात्रानुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणमुपश्लेषः । मित्रकरणं मानसः सम्बन्धः । पथि-अयं पन्थाः स्रुध्नमुपतिष्ठते । “वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्” [वा०] । भिन्नुको दातृकुलमुपतिष्ठते । उपतिष्ठति वा ।

धेः ॥११२।२१॥ अकर्मको धेरिति । उपपूर्वात्तिष्ठतेर्धेर्दो भवति । यावद्भुक्तमुपतिष्ठते । यावदोदनमुपतिष्ठते । भोजने भोजने ओदने ओदने उदीक्षत इत्यर्थः । धेरिति किम् ? स्वामिनमुपतिष्ठति ।

व्युत्तपः ॥११२।२२॥ धेरिति वर्तते । वि उदित्येवमूर्वात्तपतेर्धेर्दो भवति । वितपते । ज्वलतीत्यर्थः । उत्तपत्ते । धेरित्येव । उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । वितपति पृथ्वीमादित्यः । दहतीत्यर्थः । व्युद इति किम् ? निष्ठपति । दीप्यत इत्यर्थः । “स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । वितपते पाणिम् । उत्तपते पाणिम् । आत्मीयमङ्गं स्वाङ्गं न पारिभाषिकं तेनेह न भवति । वितपति परपाणिम् । उत्तपति देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पृष्ठम् ।

आहो यमहनः ॥११२।२३॥ आहपूर्वाभ्यां यम हन इत्येताभ्यां धिभ्यां दो भवति । आयच्छते । दीर्घो भवतीत्यर्थः । आहते । आघनाते । आघ्नते । यमः कर्त्राप्ये फले “समुदाह-यमोऽग्रन्थे” [१।२।७०] इति दः सिद्धोऽन्यत्रेदम् । धेरित्येव । आयच्छति रञ्जुम् । आहान्त पापम् । “स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम् [वा०] । आयच्छते पाणिम् । आहते वत्सः । स्वाङ्गादिति किम् ? परकीयाङ्गे कर्मणि मा भूत् । आहन्ति शिरः परकीयम् ।

१. रीहेऽर्थे अ०, ब०, स० । २. अ० स० पुस्तकयोः “विष्टिः” इति पाठः । ब० सु० पुस्तकयोः “द्विष्टिः” इति । परं “विष्टिः” इति पाठः प्रतिभाति । विष्टिश्च कर्मकृत् “आजूवेतनयोर्विष्टिः कर्मकृत्कर्मणोरपि” इति शाश्वतवचनात् । पूर्ववाक्याच्चात्र “उत्तिष्ठति” इत्यध्याहारः । “गृष्टिः” इत्यपि पाठः सम्भवति । गृष्टिश्च सकृत्प्रसूता गौः । ३. दानिकु-अ० । ४.-दामौद-अ० । ५. दीर्घोभव-ब०, स० ।

समो गम्प्रच्छिस्वच्छिभ्रुविद्दशः ॥११२१२४॥ धेरिति वर्तते । सम्पूर्वभ्यो गम्-प्रच्छि-स्व-भ्रु-भ्रु-भ्रु-भ्रु-भ्रु-विद्-दश-इत्येतेभ्यो दो भवात् । सङ्गच्छते । संपृच्छते । संस्वरते । भ्रु हात् भ्रुच्छतेरियत्तेश्च ग्रहणम् । सम्पृच्छते । समियृते । समरिप्यते । भ्रुच्छतेरनादशस्य ग्रहणम् । आदशस्य भ्रुग्रहणेन सिद्धत्वात् । सम्पृच्छिष्यते । संभ्रुणुते । विदेरादादिकस्य ग्रहणं मर्वाद्भस्साहचर्यात् । संवित्ते । संपश्यते । धेरित्येव । सङ्गच्छति सुद्धम् । संवेत्ति धर्मम् । “गेरस्यस्यूहोर्वोत् वक्तव्यम्” [वा०] । निरस्यते । निरस्यति । समूहति । समूहते ।

निंसंव्युपाद् हः ॥११२१२५॥ पुनः संग्रहणाद्धे रिति निवृत्तम् । नि-सं-वि-उप इत्येवम्पूर्वात् ह्यतेदो भवति । निह्यते । संह्यते । विह्यते । उपह्यते । ह्यतेरात्वेन विकृतनिर्देशोऽपि प्रकृतिग्रहणम् “न व्यो छिति” [४।३।३६] इति निर्देशात् ।

आङः स्पर्द्धं ॥११२१२६॥ स्पर्द्धः पराभिभवेच्छा । आङ्पूर्वात् ह्यतेः स्पर्द्धविषये दो भवति । मल्लो मल्लमाह्वयते । छात्ररछात्रमाह्वयते । स्पर्द्धयाह्वानं करोतीत्यर्थः । स्पर्द्ध इति किम् ? गामाह्वयति ।

गन्धनाऽवक्षेपसेवाऽन्यायप्रतियत्नप्रकथोपयोगे कृञः ॥११२१२७॥ गन्धनं सूचनम् । अवक्षेपो भर्त्सनम् । सेवा संश्रयः । अविधिना प्रवृत्तिरन्यायः । अविद्यमानार्जनं विद्यमानसंस्कारो वा प्रतियत्नः । प्रबन्धेन कथनं प्रकथा । उपयोगो धर्मादिनिमित्तो व्ययः । गन्धनादिष्वर्थेषु वर्तमानात् कृञो दो भवति । गन्धने-उत्कुरुते अयमिमम् । सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपे-स्येनो वर्तिकासुपकुरुते । भर्त्सयतीत्यर्थः । सेवाम्-गणकानुपकुरुते । सेवत इत्यर्थः । अन्याये-परदारानुपकुरुते । न्यायमनपेक्ष्य तेषु प्रवर्तत इत्यर्थः । प्रतियत्ने-एधो दकस्योपस्कुरुते । “प्रतियत्ने कृञः” [१।४।६०] इति कर्मणि ता । “उपात्प्रतियत्नवैकृत०” [४।३।११२] इत्यादिना सुट् । प्रकथाम्-जनापवादान् प्रकुरुते । उपयोगे-शत प्रकुरुते । धर्माद्यर्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? कटं करोति । अविष्करोतीत्यत्र आविः शब्द एव गन्धने वर्तते न करोतिः । अपकारप्रयुक्तं वा सूचनं गन्धनमित्यदोषः ।

प्रसहनेऽधेः ॥११२१२८॥ प्रसहनमभिभवः । अधिपूर्वात्कृञः प्रसहनेऽर्थे दो भवति । शत्रून्धिकुरुते । वादिनोऽधिकुरुते । अभिभवतीत्यर्थः । प्रसहन इति किम् ? अधिकरोति । अकर्त्राप्ये फले ममेव भवति ।

शब्दकर्मणो वेः ॥११२१२९॥ कर्मेह कर्त्राप्यम् । विपूर्वात् करोतेः शब्दकर्मकादो भवति । ध्वाङ्को विकुरुते स्वरान् । क्रोष्टा विकुरुते स्वरान् । शब्दकर्मण इति किम् ? विकरोति कटम् । शब्दग्रहणेन शब्दविरोषाः स्वरदयो गृह्यन्ते । तेनेह न भवति । विकरोति शब्दम् । विकरोत्यनुवाकम् । विकरोत्यध्यायमसावहा ।

धेः ॥११२१३०॥ विपूर्वात्करोतेर्धेदो भवति । विकुर्वते संन्धवाः । साधुदान्ताः । ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते । “वृष्यर्थे योगे उपसंख्यानम्” [वा०] इति करणे ता ।

सम्मानोत्सञ्जनोपनयनज्ञानभृतिगणनव्यये नियः ॥११२१३१॥ सम्मानः पूजनम् । उत्सञ्जनमुत्क्षेपः । उपनयनमाचार्यकरणम् । ज्ञानमवगमः । भृतिर्वेतनादानम् । श्रृणुशुल्कादिनिर्यातनं गणनम् । व्ययो धर्मादिष्वर्थान्विनयागः । सम्मानादिषु यथासम्भवं विशेषणेषु नयतेर्धेदो भवात् । सम्मानं-नयते चार्वा स्यादादि । चार्वा बुद्धिस्तयागादाचार्याऽपि तथोक्तः । विनयेषु प्रतिपादनेन सम्मानं करोतीत्यर्थः । उत्सञ्जनं-बालमुदानयते । उत्क्षिपतीत्यर्थः । उपनयने-माणावकमुपनयते । आत्मनः शिष्यभावेन माणावक प्रापयतीत्यर्थः । ज्ञाने-नयते चार्वा तत्त्वार्थं । तत्त्वपदार्थान् निश्चिन्तातीत्यर्थः । भृतौ-कर्मकरानुपनयते । वेतनादानेन पुष्पातीत्यर्थः । गणने-मद्रकाः करं विनयन्ते । निर्यातयन्तीत्यर्थः । व्यये-शतं विनयते । सहस्रं विनयते । एतेष्विति किम् ? अजां नयति ग्रामम् ।

कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तौ ॥१२।३२॥ नयतेः कर्ता लकारवाच्यः । रूपाद्यात्मिका मूर्तिः । कर्तृस्थे कर्मणि मूर्तिवर्जिते सति नयतेर्दो भवति । क्रोधं विनयते । हर्षं विनयते । श्रमं विनयते । शमयतीत्यर्थः । अत्र कर्तृस्थ-त्वाकर्मणः कर्त्राऽप्यफलता कर्मता । तेन कर्त्राप्ये क्रियाफले सिद्धेऽपि दे नियमार्थमेतत् । कर्तृस्थ इति किम् ? देवदत्तो जिनदत्तस्य क्रोधं विनयति । कर्मणीति किम् ? बुद्ध्या विनयति । अमूर्ताविति किम् ? गडुं विनयति ।

किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे ॥१२।३३॥ किरतेर्दो भवति हर्षजीविकाकुलायकरण इत्येतेषु गम्य-मानेषु । हर्षे-अपस्किरते वृषभो हृष्टः । जीविकायाम्-अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी । कुलायो निवासः-कुला-यकरणे-अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी । “चतुष्पाः छकुनिष्वपाद्धर्षादौ” [४।३।११२] इति सुट् ।

वृत्तिसर्गतायने क्रमः ॥१२।३४॥ वृत्तिरविघातः । सर्ग उत्साहः । तायनं पृथूभावः । वृत्त्यादिष्व-येषु वर्तमानात् क्रमेर्दो भवति । वृत्तौ-नयेष्वस्य क्रमते बुद्धिः । न प्रतिबध्यत इत्यर्थः । सर्गे-क्रमते जैनेन्द्रा-ध्ययनाय । उत्सहत इत्यर्थः । तायने-नास्मिन्मूढे शास्त्राणि क्रमन्ते । न तायन्त इत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? क्रामति । “क्रमो मे” [१।२।७४] इति दीत्वम् ।

परोपात् ॥१२।३५॥ वृत्तिसर्गतायन इति वर्तते । पर-उप-इत्येवम्पूर्वात् क्रमेर्दो भवति । पराक्रमते । उपक्रमते । सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय परोपाभ्यामेव नान्यस्माद्देः । अनुक्रामति । वृत्त्यादिष्वित्येव । पराक्रामति । उपक्रामति ।

ज्योतिरुद्रतावाङ् ॥१२।३६॥ आङ्पूर्वात् क्रमेज्योतिषामुद्रमनेऽर्थे दो भवति । आक्रमते सूर्यः । आक्रमते चन्द्रमाः । आक्रमन्ते ज्योतीषि । ज्योतिरुद्रताविति किम् ? आक्रामति धूमो हर्म्यतलम् । आक्रामति माणवकः कुतपमित्यत्रोद्वतिरपि नास्ति ।

वेः स्वार्थे ॥१२।३७॥ स्वार्थः पादविद्धेपः । विपूर्वात् क्रमेः स्वार्थे दो भवति । (अश्वः) सुष्ठु विक्रमते । साधु विक्रमते । विक्रमणमश्वदोनां शिन्नाविशेषाद् गतिविशेषः । स्वार्थ इति किम् ? विक्रामत्य-जिनसन्धिः । स्फुटतीत्यर्थः ।

प्रादारम्भे ॥१२।३८॥ आरम्भः प्रथमं कर्म । प्रपूर्वात् क्रम आरम्भे दो भवति । प्रक्रमते भोक्तुम् । परोपादित्यत उपादिति वर्तते । उपक्रमते भोक्तुम् । आरभते भोक्तुमित्यर्थः । आरम्भ इति किम् ? पूर्वेषु : प्रक्रामति । अपरेद्युपक्रमति । पूर्वस्मिन्नहनि यदनेन गतं तदपरस्मिन्नागच्छतीत्यर्थः ।

वाऽगेः ॥१२।३९॥ अगेः क्रमो वा दो भवति । क्रमते । क्रामति । इयमप्राप्ते विभाषा । वृत्त्या-दिषु पूर्वेषु नित्यो विधिः । अगेरिति किम् ? संक्रामति ।

ज्ञोऽपह्वे ॥१२।४०॥ अपह्वेऽपलापः । अपह्वेऽर्थे जानातेर्दो भवति । शतमपजानीते । सह-स्रमपजानीते । अपह्व इति किम् ? किञ्चिदपि जानासि ।

घेः ॥१२।४१॥ जानातेर्धेर्दो भवति । सर्पिषो जानीते । दध्नो जानीते । सर्पिषा दध्ना चोपायनेन सम्पश्यत इत्यर्थः । “ज्ञोऽस्वार्थे करणे” [१।४।१८] इति करणे ता । अकर्त्राप्ये फले इदं दविधानम् । धेरिति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति ।

संप्रतेरस्मृतौ ॥१२।४२॥ स्मृतिराध्यानं चिन्तनं वा । सम्प्रतिपूर्वाजानातेरस्मृत्यर्थे दो भवति । शतं सञ्जानीते । शतं प्रतिजानीते । अस्मृताविति किम् ? मातुः सञ्जानाति । पितुः सञ्जानाति । “स्त्रदर्थदयेर्ज्ञा कर्मणि” [१।४।१९] इति ता ।

दीप्त्युपोक्त्रिज्ञानेहविमत्युपमन्त्रणे वदः ॥१२।४३॥ दीप्तिः प्रकाशनम् । उपेत्योक्तिरुपोक्तिः । उपसान्त्वनमित्यर्थः । ज्ञानं पदार्थावगमः । ईहो यत्रः । नानामतिर्विमतिः । उपमन्त्रणं रहस्यनुकूलनम् । दीप्त्या-

दिष्वर्थेषु वदतेदो भवति । दीप्तौ-वदते चार्वा तत्त्वार्थे । 'दीप्यमानो वदतीत्यर्थः । उपोक्तौ-कर्मकरानु-
पवदते । 'उपेत्य सम्भाषत इत्यर्थः । ज्ञाने-वदते चार्वा चन्द्रोदये । जानाति वदितुमित्यर्थः । ईहे-कोऽस्मिन्
क्षेत्रे वदते । को यतत इत्यर्थः । विमतौ-गोहे विवदन्ते । 'गोष्ठे विवदन्ते । विचित्रं भाषन्त इत्यर्थः । उपम-
न्त्रयो-कुलभार्यामुपवदते । परदारानुपवदते । अनुकूलयतीत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? वदति देवदत्तः ।

व्यक्तवाक्समुक्तौ ॥१२।४४॥ व्यक्तवाचो व्यक्तवर्णत्वान्मनुष्यादयः प्रसिद्धाः । सम्भूय वचनं
समुक्तिः । व्यक्तवाचां समुक्तौ गम्यमानायां वदतेदो भवति । सम्प्रवदन्ते ग्राम्याः । सम्प्रवदन्ते साधवः । सम्भूय
भाषन्त इत्यर्थः । व्यक्तवागिति किम् ? सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः । समुक्ताविति किम् । देवदत्तो वदति जिनदत्तम् ।

अनोधेः ॥१२।४५॥ अनुपूर्वाद् वदतेर्धेदो भवति । अनुवदते जिनदत्तो देवदत्तस्य । अनुः सादृश्ये
पुनरर्थे वा । धेरिति किम् ? पूर्वमुक्तमनुवदति । व्यक्तवाक्समुक्तावित्येव । अनुवदन्ति वीणाः ।

वा विवादे ॥१२।४६॥ विवादो विप्रलापस्तत्र वर्तमानाद्ददतेर्वा दो भवति । विप्रवदन्ते सांवत्सराः ।
विप्रवदन्ति सांवत्सराः । विप्रवदन्ते वादिनः । विप्रवदन्ति वादिनः । युगपद्विरुद्धं वदन्तीत्यर्थः । व्यक्तवागग्रहण-
मनुवर्तते । ततो व्यक्तवाक्समुक्ताविति नित्ये प्राप्तं विकल्पः । विवाद इति किम् ? सम्प्रवदन्ते साधवः । व्यक्त-
वागित्येव । सम्प्रवदन्ति शकुनयः । समुक्तावित्येव । सम्प्रवदन्ति वादिनः क्रमेण ।

प्रोऽवात् ॥१२।४७॥ अवपूर्वाद्गिरतेर्दो भवति । अवगिरते । अवगिरते । अवगिरन्ते । गृणातेरव-
पूर्वस्य प्रयोगो नास्ति । अवादिति किम् ? गिरति । निगिरति ?

प्रतिज्ञाने समः ॥१२।४८॥ प्रतिज्ञानमभ्युपगमः प्रतिज्ञानेऽर्थे सम्पूर्वाद्गिरतेर्दो भवति । अनेकान्ता-
त्मकं वस्तु सङ्गिरते । शतं सङ्गिरते । प्रतिज्ञान इति किम् ? सङ्गिरति ।

उच्चरोऽधेः ॥१२।४९॥ उत्पूर्वाच्चरतेर्धेदो भवति । गुरुवचनमुच्चरते । उत्क्रम्य चरतीत्यर्थः ।
अधेरिति किम् ? धूम उच्चरति । उद्ध्वं गच्छतीत्यर्थः ।

समो भया ॥१२।५०॥ सम्पूर्वाच्चरतेर्भान्तेन योगे दो भवति । रथेन संचरते । अश्वेन संचरते ।
भान्ते प्रयुक्ते दो भवति, न तु गम्यमाने । भायुक्तादिति किम् ? त्रींल्लोकान् संचरति जिनधर्मः । अत्र स्वात्मनेति
करणं गम्यमानम् । "दाणश्च सा चेद्वर्धेऽंशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्" [वा०] सम्पूर्वाद्दाणो भायोगे दो भवति
सा चेद्वर्धे भा । इदमेव ज्ञापकमशिष्टव्यवहारे भाऽपि भवतीति । दास्या संप्रयच्छते । वृषल्या संप्रयच्छते
कामुकः । सम इति संबन्धे ता । तेन प्रशब्देन व्यवधानं न भवति । अवर्थ इति किम् ? पाणिना सम्प्रयच्छति ।
नेदं वक्तव्यम् । कर्मव्यतिहारे दः । सहार्थे च भा द्रष्टव्या ।

स्वीकृतावुपाद्यमः ॥१२।५१॥ पाणिग्रहणमविरोधो वा स्वीकृतिः । उपपूर्वाद्यमः स्वीकृतावर्थे दो
भवति । कन्यामुपयच्छते । भार्यामुपयच्छते । स्वीकृताविति किम् ? परभार्यामुपयच्छति ।

श्रुस्मृदृशः सनः ॥१२।५२॥ श्रु-स्मृ-दृश-इत्येतेभ्यः सन्नन्तेभ्यो दो भवति । शुश्रूषते शास्त्रम् ।
सुस्मूर्षते पूर्ववृत्तम् । दिदृक्षते देवम् । श्रुदृशिभ्यामकर्मकावस्थायां "समो गम्प्रच्छिन्नः" [१२।२४] इत्यादिना
दो विहितस्तत्र "सनः पूर्ववत्" [१२।५८] इत्येव दः सिद्धः सकर्मकार्थमिदम् । स्मरतेरप्राप्ते विधानम् ।

ज्ञः ॥१२।५३॥ जानातेः सन्नन्तात् दो भवति । जिज्ञासते धर्मम् । "ज्ञोऽपह्वे" [१२।४०]
"धेः" [१२।४१] "संप्रतेरस्मृतौ" [१२।४२] इति जानातेर्दो विहितः । तथा कर्त्रायै फले "ज्ञोऽज्ञोः"
[१२।७१] इत्यत्र पूर्ववत्सन इति सिद्धस्ततोऽन्यत्रेदं वचनम् ।

१. तथेति शेषः । २.-प्यमाना वद-अ०, ब०, स० । ३. 'गोष्ठे विवदन्ते' अ० पुस्तके नास्ति ।
४. -ति सांवत्सरः । व्यक्त-अ० । ५. वाप्यः ब०, स०, मु० । ६. सङ्गिरन्ते मु० । ७. -रते । कुटुम्ब-
मुच्चरते । उत्क्रम्य-अ०, ब०, स० ।

नानोः ॥११२।५४॥ अनुपूर्वोज्जानातेः सन्नन्ताहो न भवति । पुत्रमनुजिज्ञासति । भृत्यमनुजिज्ञासति । सकर्मकादिति वक्तव्यम् [वा०] इह मा भूत् । अनुजिज्ञासते मनसा । नो वक्तव्यम् । पूर्वेण प्राप्तस्यायं प्रतिषेधः । पूर्वेण च सकर्मकादेव सन्नन्ताहो विहितः । धेस्तु “सनः पूर्ववत्” [११२।५८] इति दः । अनोरिति किम् ? पुत्रं जिज्ञासते ।

प्रत्याङ्शुवः ॥११२।५५॥ नेति वर्तते । प्रति आङ् इत्येवम्पूर्वात् शृणोतेः सन्नन्ताहो न भवति । प्रतिशुश्रूषति । आशुश्रूषति शास्त्रम् । “श्रुस्मृदशः सनः” [११२।५२] इति प्राप्तस्यानेन प्रतिषेधः । सनिदेशः समर्थार्थः । सामर्थ्यञ्च धोर्गिना । तेनेह न प्रतिषेधः । देवदत्तं प्रतिशुश्रूषते ।

शदेर्गात् ॥११२।५६॥ नेति निवृत्तमसम्भवात् । गनिमित्तभूतः । शदिरूपचाराद्गः । शदेर्गविषयाहो भवति । शीयते । शीयते । शोयन्ते । “पात्रा” [११२।३६] आदिना शीयादेशः । गादिति किम् ? शत्स्यति । अशत्स्यत् । शिशत्सति ।

मृडो लुङ्लिङोश्च ॥११२।५७॥ म्रियतेर्लुङ्लिङोर्गपराच्च दो भवति । अमृत । मृषीष्ट । आशिषि लिङ् । “उः” [११२।६६] इति सिलिङोः क्त्वम् । गपरात् खलर्गप । म्रियते । म्रियस्व । “रिङ् यग्लिङ्शे” [११२।१३०] इति रिङादेशः । डिन्वादेव दे सिद्धे नियमार्थमिदमन्यत्र दो न भवति । मरिष्यति । अमरिष्यत् । ममार ।

सनः पूर्ववत् ॥११२।५८॥ पूर्वेण तुल्यं वर्तत इति पूर्ववत् । पूर्वत्वञ्च प्रत्यासत्तेः । सनः पूर्वं यो धुस्तद्वत्सन्नन्ताहो भवति । येभ्यो धुभ्यो येन विशेषणेन दो विहितस्तेभ्यः सन्नधिकेभ्योऽपि दो भवतीत्यर्थः । यथा “ऋनुदात्तो दोः” [११२।६] इति । शोते । आस्ते । एवं सन्नन्तादपि शिशयिषते । आसिसिषते । गिविशेषणेन “निविशः” [११२।११] निविशते । निविधित्ते । अर्थविशेषेण “गन्धना” [११२।२७] आदिना उत्कुरुते । अयमिममुच्चिकीर्षते । उभर्यावशेषेण “ज्योतिरुद्गतावाङ्” [११२।३६] आक्रमते । आचिक्रंसते । “स्तोर्दाधात्” [११२।१११] “क्रमः” [११२।११२] इतीदृशप्रतिषेधः । कारकविशेषेण “ज्ञोऽपह्वे” [११२।४०] “धेः” [११२।४१] । सर्पिषो जानीते । सर्पिषो जिज्ञासते । इह जुगुप्सते मीमांसत इति गुप्प्रकृतेरव्यवस्थानुदात्तेत्करणं सन्नन्तसमुदायस्य विशेषणमिति दः सिद्धः । यद्येवं गोपायत्यादावपि स्यात् । कर्तव्योऽत्र यत्नः । पूर्ववदिति किम् ? शिशत्सति । मुमूर्षति । अत्र दनिमित्तं नास्ति ।

आम्बत् तत्कृञ् ॥११२।५९॥ आम्बहणेन यस्मादाम् विहितस्तस्य हणम् । आम इव आम्बत् । तस्य कृञ् तत्कृञ् । यस्मादाम् तस्येव धोस्तत्कृञो दो वेदितव्यः । ईहाञ्चक्रे । ईक्षाञ्चक्रे । लिटि परतः “सरोरिजादेः” [२।१।३२] इत्याम् । “आमः” [१।४।१४६] इति परस्योप् । लस्य कृत्वान्मृत्वे सति स्वादिविधिः । “सुपो केः” [१।४।१५०] इति तस्योप् । “लिङ्बत् कृञि” [२।१।३६] इत्यनुप्रयोगस्य करोतेरनेन दः । विधिर्नियमश्चात्रेभ्येते । पूर्ववदिति वर्तते । अकर्त्राप्ये फले पूर्ववद्दो भवतीति विधिः । कर्त्राप्ये फले आम्बदेव दो भवति । तेन दाहस्यैवामन्तस्य प्रयोगे दो भवतीति नियमादिह न भवति । उदुम्भाञ्चकार । तद्ग्रहणं किम् ? आमन्तानुप्रयोगस्य ग्रहणं यथा स्यादिह मा भूत् । ईहते । करोतीति कृञ्ग्रहणं किमर्थम् ? करोतेरेव यथा स्यादिह मा भूत् । ईक्षामास । ईक्षाम्बभूव । इह कृञ्ग्रहणादन्यनिरासार्थाज्जायते “लिङ्बत्कृञि” [२।१।३६] इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणं “कृञ्वस्तियोगे” [४।२।२५] इत्यत्र आरभ्य “कृञो द्वितीय” [४।२।६२] इति अकारेण ।

युजोऽयज्ञपात्रे नेः ॥११२।६०॥ अकर्त्राप्यफलाथोऽयमारम्भः । युजेर्गिपूर्वाहो भवत्ययज्ञपात्रविषये ।

१. “आसिसिषते” इति अ. पुस्तके नास्ति । २. विशेषकमिति अ०, ब०, स० । ३. “अनुदात्तोत्प्लक्षायो दोऽनित्यः” इति परिभाषारूपो यत्नः ।

प्रयुङ्क्ते । वियुङ्क्ते । नियुङ्क्ते । अयज्ञपात्र इति किम् ? द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । गेरिति किम् ? युनक्ति । “युञ्ज समाधौ” इत्यस्यानुदात्ते त्वादग्रहणम् ।

उद् : ॥११२।६१॥ उत्पूर्वाद्यु जेरयज्ञपात्रे दो भवति । उद्युङ्क्ते । नियमोऽयं हलन्तेषूद् एव नान्य-
स्मात् । निर्युनक्ति । दुर्युनक्ति ; संयुनक्ति ।

संक्षुणोः ॥११२।६२॥ सम्पूर्वात् क्षुणो दो भवति । संक्षुणोते । संक्षुणुवाते । संक्षुणुवते शस्त्रम् ।

भुजोऽदौ ॥११२।६३॥ शब्दे कार्यस्यासम्भवाददावित्यर्थग्रहणम् । भुजेरव्यर्थवर्तमानादौ भवति ।
भुङ्क्ते । भुञ्जाते । भुञ्जते । अद्यथासम्भवात्तौदादिकस्य भुजेरग्रहणम् । निभुजति पाणिम् । अदाविति किम् ?
भुनक्ति वसुधां भरतः । पालयतीत्यर्थः ।

रोभीस्मेहेतुभये ॥११२।६४॥ एयन्ताभ्यां भी सि इत्येताभ्यां हेतुभयेऽर्थे दो भवति । “तद्योजको
हेतुः” [१।२।१२६] इति हेतुः । तस्य भयशब्देन भावसाधनेन “का भीभिः” [१।३।३२] इति पसः । भयग्रहणं
विस्मयोऽपीह लक्ष्यते । मुरडो भीपयते । “ईतः षुङ् नित्यम्” [४।३।४६] इति पुङ् । मुरडो विस्मापयते ।
जटिलो विस्मापयते । “स्मिङ्ः” [४।३।५०] इत्यात्वम् । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिक्येनं भाययति । वाचा
विस्माययति । अकर्त्राप्यफलार्थोऽयमारम्भः ।

वञ्चने गृधिवञ्चे ॥११२।६५॥ शेरिति वर्तते । वञ्चनं विसंवादनम् । गृधि वञ्चि इत्येताभ्यां एयन्ता-
भ्यां वञ्चनेऽर्थे दो भवति । माणवकं गर्द्वयते । माणवकं वञ्चयते । विसंवादयतीत्यर्थः । वञ्चन इति किम् ?
श्वानं गर्द्वयति । काङ्क्षामस्योत्पादयतीत्यर्थः । अहिं वञ्चयति । गमयतीत्यर्थः ।

लियोऽधाष्ट्यसम्मानने च ॥११२।६६॥ शेरिति वर्तते । न धाष्ट्यमधाष्ट्यं शालीनीकरणम् ।
सम्माननं पूजनम् । लिनातेर्लीयतेश्च एयन्ताद्धाष्ट्यं सम्माननयोर्वञ्चने च वर्तमानादौ भवति । अधाष्ट्ये—
श्येनो वर्तिकामपलापयते । अभिमवतीत्यर्थः । सम्मानने—जटाभिरालापयते । हेतो भा । आत्मानं पूजयती
त्यर्थः । वञ्चने च । कस्त्वामुल्लापयते । प्रलम्भयतीत्यर्थः । “विभाषा लियोः” [४।३।४४] इति व्यवस्थि-
तविभाषाश्रयणादेपु त्रिषु नित्यमात्वम् । अधाष्ट्यादिष्विति किम् ? बालकमुल्लापयति ।

कृजो मिथ्यायोगेऽभ्यासे ॥११२।६७॥ शेरिति वर्तते । अभ्यासो गुणनिका । करोतेर्त्यन्तान्मि-
थ्याशब्दयोगेऽभ्यासेऽर्थे दो भवति । पदं मिथ्या कारयते । स्तुतिं मिथ्या कारयते । सदोपं पुनः पुनरुच्चारय
तीत्यर्थः । कृज इति किम् ? पदं मिथ्या वाचयति । मिथ्यायोग इति किम् ? स्तोत्रं सुष्ठु कारयति । अभ्यास
इति किम् ? सकृत्पदं मिथ्या कारयति । एकवारमुच्चारयतीत्यर्थः ।

अस्वरितेतः कर्त्राप्ये फले ॥११२।६८॥ शेरिति निवृत्तम् । उत्तरत्र णिच इति निर्देशात् । जितः
स्वरितेतश्च ये धक्स्तेभ्यो दो भवति कर्तारमाप्नोति चेत् क्रियाया फलम् । फलं सर्वं क्रियातो भवतीति सामर्थ्यात्
क्रिया लभ्यते । फलग्रहणं मुख्यफलपरिग्रहार्थम् । जितः—पुनीते । लुनीते । कुरुते । स्वरितेतः—पचते । यजते ।
वपते । मुख्यं क्रियाफलमत्र कर्तारमाप्नोति । कर्त्राप्ये फल इति किम् ? पचन्ति भक्तकराः । वपन्ति भृतकाः ।
नात्र मुख्यं फलं किन्तु भृतिरानुषङ्गिकं वा फलम् । अस्वरितेत इति किम् ? याति । वाति ।

वदोऽपात् ॥११२।६९॥ अपपूर्वाद्ददतेर्दो भवति कर्त्राप्ये फले । एकान्तवादमपवदते । कर्त्राप्ये फले
इत्येव । अपवदति । इतः प्रभृति कर्त्राप्ये फले दो वेदितव्यः ।

समुदाङ्ग्यमोऽग्रन्थे ॥११२।७०॥ सम उत् आङ् इत्येवपूर्वाद्यमेरग्रन्थविषये दो भवति । व्रीहीन्
संयच्छते । आत्मनश्चद् व्रीहयो भवन्ति । भारमुद्यच्छते । पापमायच्छते । अग्रन्थ इति किम् ? उद्यच्छति

चिकित्सां वैद्यः । चिकित्सेति वैद्यकग्रन्थः । कर्त्राप्ये इत्येव । संयच्छति उद्यच्छति आयच्छति परस्य वक्षम् ।
“आङो यमहनः” [११२।२३] इत्यनेन धेर्द्विधानमुक्तम् ।

ज्ञोऽङो ॥११२।७१॥ जानातेरगिपूर्वाद्दो भवति कर्त्राप्ये फले । गां जानीते^१ । अगोरिति किम् ? स्वर्ग-
लोकं प्रजानाति । कर्त्राप्ये फले इत्येव । परस्य गां जानाति ।

णिचः ॥११२।७२॥ णिजन्ताद्दो भवति कर्त्राप्ये फले । कटं कारयते । ओदनं पाचयते । लक्ष्णेः^२
स्वरितैकरणाज्जायते हेतुमण्णिचो ग्रहणमिदम् । कर्त्राप्ये फल इत्येव । परस्य कटं कारयति ।

पादभ्याङ्घ्रमाङ्घ्रसपरिमुहश्चिन्नुद्धेट्वद्द्वसः ॥११२।७३॥ णिच इति वर्तते । पा दमि
आङ्घ्रम आङ्घ्रस परिमुहश्चिन्नुद्धेट्वद्द्वस इत्येतेभ्यो एयन्तेभ्यः कर्त्राप्ये फले दो भवति । पाययते ।
दमयते । आयामयते । “यमोऽपरिवेषणे” इति मित्सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् प्रो न भवति । आयासयते । परिमोहयते ।
रोचयते । नर्तयते । धापयते । वादयते । वासयते । पाषेटोरद्यर्थत्वान्नतिवद्योश्चल्यर्थत्वात् “चक्ष्यद्यर्थात्”
[११२।८४] इति मं प्राप्तम् । अन्येषाम् “अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [११२।८५] इति । तत आरम्भः ।

वा वाग्गम्ये ॥११२।७४॥ वागिति नेदं पारिभाषिकस्य “ईपाऽत्र वाक्” [२।१।७६] इत्यस्य
ग्रहणं किं तर्हि वाक्छन्दः । पदान्तरमित्यर्थः । वाग्गम्ये कर्त्राप्ये फले वा दो भवति । स्वं धान्यं पुनीते । स्वं
धान्यं पुनाति । षड्भिर्यौगैर्नित्यं दे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

मम् ॥११२।७५॥ नियमार्थम् । यस्मान्मं दश्च प्राप्नोति तस्मान्ममेव भवति । पूर्वेण प्रकरणेन
प्रकृतिनियमः कृतो दस्त्वनियत इत्युभयप्रातिरस्ति । याति । वाति । प्रविशति । आक्रामति धूमः । डौ द एव
भवतीति अर्थनियमो व्याख्यातः । ततः कर्त्तरि मं द्रष्टव्यम् । यदि वा “कर्त्तरि ञे” [११२।८] इत्यतः कर्त्तरि
तेनेह न भवति । गम्यते । रम्यते ।

परानुकृञः ॥११२।७६॥ परा अनु इत्येवंपूर्वात् कृञो म भवति । गन्धनादिपु दः प्राप्तस्तदपवादोऽयम् ।
पराकरोति । अनुकरोति । कर्त्राप्ये फले ममेव भवति । कस्मान्न नियमः । तत्रापूर्वो विधिरस्तु नियमो वास्त्वित्य
पूर्वं एव विधिर्भवति ।

प्रत्यभ्यतिक्षिपः ॥११२।७७॥ प्रति अभि अति इत्येवंपूर्वात् क्षिपो मं भवति । प्रतिक्षिपति । अभि-
क्षिपति । अतिक्षिपति । स्वरितेत्वाद्दः प्राप्तः । एतेभ्य इति किम् ? आक्षिपते ।

प्रवहः ॥११२।७८॥ प्रपूर्वाद्द्वहतेः कर्त्राप्ये फले मं भवति । प्रवहति^३ ।

मृषः परेः ॥११२।७९॥ परिपूर्वान्मृषतेर्मं भवति । परिमृष्यति । परिमृष्यतः । परिमृष्यन्ति । वहिमपि
केचिदनुवर्तयन्ति । परिवहति । परेरिति किम् । मृष्यते परीषहान् साधुः ।

व्याङ्घ्रश्च रमः ॥११२।८०॥ वि आङ् इत्येवंपूर्वात् परिपूर्वाच्च रमेर्मं भवति । विरमति । आरमति ।
परिरमति । अनुदात्तेत्वाद्दः प्राप्तः । एतेभ्य इति किम् । रमते । अभिरमते ।

उपात् ॥११२।८१॥ उपपूर्वाच्च रमेर्मं भवति । भार्यामुपरमति । पृथग्योग उत्तरार्थः ।

वा धेः ॥११२।८२॥ उपपूर्वाद्द्रेमेर्धेर्वां मं भवति । यावद्भुक्तंमुपरमति । उपरमते । निवर्तत इत्यर्थः ।
विरिरंसीत्यत्र पूर्वस्य दनिमित्ताभावात् “सनः पूर्ववत्” [११२।८८] इति दो न भवति ।

बुध्युध्रश्जनेङ् प्रुद्र स्त्रोर्गोः ॥११२।८३॥ कर्त्राप्ये फले णिच इति दे प्राप्तेऽधमारम्भः । बुध युध नश
जन इङ् प्रु द्रु स्त्रु इत्येतेभ्यो एयन्तेभ्यो मं भवति । येऽत्राकर्मकास्तेषाम् “अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [११२।८५]

१ जानीते । अरवं जानीते । अरो—अ०, ब०, स० । २. “लक्ष दर्शनाङ्गनयोः” इति धोः
स्वरितैकरणात् । ३. नियमोऽयम् अ०, स० । ४. प्रवहति । प्रवहतः । प्रवहन्ति । ५. “परिषहान्” अ० । ६. “यावद्भुक्तमुपरमति” अ०, ब०, स० । ७. “परिषहान्” अ० । ८. “यावद्भुक्तमुपरमति” अ०, ब०, स० ।

इति सिद्धे अप्राणिकर्तृकार्यं ग्रहणम् । प्रवत्यादीनामचल्यद्यर्थम् । बोधयति पद्यम् । योधयति काष्ठानि । नाशयति पापम् । जनयति पुण्यम् । अध्यापयति शास्त्रम् । प्रावयति ग्रामम् । प्रापयतीत्यर्थः । द्रावयति ऋहम् । वितापयतीत्यर्थः । स्त्रावयति तैलम् । स्यन्दयतीत्यर्थः ।

चल्यद्यर्थात् ॥१२।८४॥ शेरिति वर्तते । चलेरर्थः कम्पनम् । अदेरर्थोऽभ्यवहारः । चल्यर्थेभ्योऽद्यर्थेभ्यश्च धुभ्यो एयन्तेभ्यो मं भवति । चल्यर्थेभ्यः-चलयति । चोपयति । कम्पयति । “कम्पने चलेः” (?) इति मित्सञ्जायां प्रादेशः । अद्यर्थेभ्यः-निगारयति । भोजयति । आशयति । सर्वत्राद्यर्थकार्यमदेनेष्यते । आदर्यन्ते देवदत्तेन । इह पय उपयोजयते देवदत्तेनेति भक्षणार्थाभावान्मं न भवति । सकर्मकार्थमप्राणिकर्तृकार्यञ्च सूत्रम् ।

अणौ धेः प्राणिकर्तृकात् ॥१२।८५॥ अयन्तावस्थायां यो धुधिः प्राणिकर्तृकस्तासाएयन्तान्मं भवति । आस्ते देवदत्तः । आसयति देवदत्तम् । शोते देवदत्तः । शाययति देवदत्तम् । अणाविति किम् ? चेतयमानं प्रयोजयति । चेतयते । ननु च “शिचः” [१२।७२] इत्यत्र हेतुमणिणचो ग्रहणं व्याख्यातम् । अणाविति तस्यायं प्रतिषेधः । तेनात्र मं भवत्येव चेतयतीति । इदं तर्हि प्रत्युदाहरणम् । आरोह्यमाणं प्रयोजयति आरोह्यते । अथवाऽणाविति धेर्विशेषणम् । अणौ यो धिस्तस्य ऋणं यथा स्यात् । अन्यथा धिग्रहणे एयन्तविशेषणे इहैव मं स्याच्चेतयमानं प्रयोजयति चेतयति । आसयति इत्यादौ न स्यात् । धेरिति किम् ? कटं कुर्वाणं प्रयोजयति कारयते । प्राणिकर्तृकादिति किम् ? शुष्यन्ति व्रीहयः । शोपयते व्रीहीनातपः । “प्राण्योषधिवृक्षेभ्योऽवयवे च” [३।३।१०३] इति पृथग्निर्देशादिह शब्दशास्त्रे वनस्पतिकायाः प्राणिग्रहणेन न गृह्यन्ते ।

क्यषो वा ॥१२।८६॥ क्यषन्ताद्वा मं भवति । वावचनसामर्थ्यात् पक्षे दोऽपि भवति । अपट्यट्प्रवति पटपटायति । पटपटायते । “अव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच्” [४।२।६१] इति डाच् । “डाचि” इति द्वित्वम् । “त्रौ डाचि नित्यम्” [४।३।८७] इति तकारस्य पररूपत्वम् । टिलम् । “डाज्जोहितात्क्यष्” [२।१।११] इति क्यष् । एवमलोहितो लोहितो भवति लोहितायते ।

द्युद्भ्यो लुङि ॥१२।८७॥ कृपूर्यन्ता द्युतादयः । वेति वर्तते । द्युतादिभ्यो वा मं भवति लुङि परतः । व्यद्युत् । व्यद्योतिष्ठ । अलुद्यत् । अलोद्यिष्ठ । मविधिपक्षे “द्युत्पुषादिङित्सर्तिज्ञास्त्यतंमं” [२।१।४८] इत्यङ् । यद्यपि मेऽङ्विधानसामर्थ्यान्मविधिर्लक्ष्यस्तथाप्यनुदात्तेत्करणं लुङोऽन्यत्र सावकाशमिति नित्यं मं स्यादिति विकल्पार्थं वचनम् । लुङीति किम् ? द्योतते । द्युता सहचरिता इतरेऽपि तयोच्यन्त इति बहुवचननिर्देशः ।

स्यसनोर्द्वुद्भ्यः ॥१२।८८॥ द्युतादिष्वन्तर्भूता वृतादयः । वृतादिभ्यो वा मं भवति स्ये सनि च सति । वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवृत्सति । वर्तिष्यते । अवति यत । विवर्तिषते । एवं वृध सुध स्यन्दू इत्येते योज्याः । मविधौ “न वृतादेः” [५।१।१०७] इतीट्प्रतिषेधः ।

लुटि च क्लृपः ॥१२।८९॥ क्लृपेर्लुटि स्यसोश्च वा मं भवति । कल्प्ता । कल्प्तायौ । कल्प्तायः । कल्पयति । अकल्पयत् । चिक्लृप्यति । कल्पितारः । कल्पिष्यते । अकल्पिष्यत । चिकल्पिषते । क्लृपेर्लुतादित्वादेव स्यसनोर्विकल्पे सिद्धे चकारेणानुकरणमसन्देहार्थम् । क्लृप इति लत्वं किमर्थम् ? ऋकारस्य रेफभागस्य रेफग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् । क्लृप्तः । क्लृप्तवान् । मातृणाम् । पितृणाम् । लत्वं णत्वञ्च सिद्धम् ।

स्पद्धे परम् ॥१२।९०॥ स्पद्धे परं कार्यं भवति । द्वयोः प्रसङ्गयोरन्यार्थयोरकस्मिन् युगपदुपनिपाते सङ्घर्षः स्पद्धः । “यभ्यतो वीः” [१।२।१६] “सुपि” [१।२।१७] इति दीत्वस्यावकाशः । देवाभ्याम् । वृक्षाभ्याम् । “बहौ ऋष्येत् [१।२।१८] इत्यस्यावकाशः । देवेषु । वृक्षेषु । इहोभयं प्राप्नोति देवेभ्य इति । सूत्रविन्यासे परमेत्वं भवति । अप्रवृत्तौ पर्याये वा प्राप्ते वचनम् । “कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्” [परि०] इति । यावन्ति

१. पापम् । जनयति पापम् । जन-ब०, स० । २. ‘आदयते’ अ०, ब०, स० । ३. चिक्लृप्सति । कल्पिता । कल्पितारौ । कल्पितारः-अ०, ब०

कार्याणि तावद्वा सूत्रस्य भेद इति विधिर्नियमश्चेदं सूत्रम् । यत्र परस्मिन्कार्ये कृते “पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्” पूर्वं तत्र विधिः । यत्र परमेव कार्यं दृश्यते “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [परि०] इति तत्र नियमः । तद्यथा द्वित्वस्यावकाशः । वेभिद्यते । जेरवकाशः । विचति । वेविच्यते इति परत्वाजौ कृते पुनः प्रसङ्गाद् द्वित्वम् । “अरशसो ङिः” [११११७] इत्यस्यावकाशः । कुरडानि । “ङेसुटोरम्” [१११२४] इत्यस्यावकाशः । यूयं राजानः । इह यूयं गुरुकुलानि इति पर एवाम्भावः । अतुल्यबलयोः स्पद्धौ न भवति । उत्सर्गादपवादः परनित्यविचारणे भवेन्नित्यम् । नित्यान्तथान्तरङ्गम् । तस्मादप्यनवकाशं यत् । एकार्थयोरपि नास्ति विरोधः । धोर्विहितास्तव्यादयः पर्यायेण भवन्ति ।

नब्बाध्य आसम् ॥१२।१६१॥ नपा निर्दिष्टो बाध्यो भवति आ साधिकारपरिसमाप्ते रित्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । लोके संज्ञासमावेशो दृष्टः इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । शास्त्रेऽपि त्यः कृद् व्य इति । “शेषोऽग एव” [२।४।१४] इत्यवधारणाज्ज्ञापयति इहापि संज्ञासमावेशः स्यादिति यत्नः क्रियते । यत्र नपः समावेश इष्यते तत्र चशब्दोपादानमस्ति । यथा “यश्चैकाश्रये” [१।३।४४] इति । वक्ष्यति “प्रो धि च” [१।२।१६] विदि । भिदि । “स्के रुः” [१।२।१००] । शिद्धि । भिद्धि । नपा निर्दिष्टा धिसंज्ञा रुसंज्ञया बाध्यते । समावेशे हि अततत्तदित्यत्र “धौ कच्यनक्वे सन्वत्” [१।२।११०] इति कच्यरे धौ परतः सन्वद्भावः प्रसज्येत । अवित्रजदित्यत्र घेर्दीर्घं स्यात् । नत्रिति किम् ? बाध्नव्यः । पुल्लिङ्गा गुसंज्ञा पुल्लिङ्गया भसंज्ञया न बाध्यते ।

य्वौ स्त्र्याख्यौ मुः ॥१२।१६२॥ स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ । “प्रे” [२।२।४] इति नियमादप्राप्तः “सुपि” [२।२।७] इति योगविभागात्कः । यावीकारोकारौ स्त्र्याख्यौ तदन्तं शब्दरूपं मुसंज्ञं भवति । “सुम्मि-कन्तं पदम्” [१।२।१०३] इत्यत्रान्तग्रहणमन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधार्थमिह नाश्रीयते “आमीयुवोः” [१।२।१४] इति नियमारम्भात् । स्वाविति यणादेशादूकारो द्विमात्रस्तत्साहचर्यादीकारोऽपि द्विमात्रः । ईकारः—कुमारी । गौरी । लक्ष्मीः । ऊकारः—ब्रह्मबन्धुः । वामोरुः । यवागूः । “अण् मोः” [५।२।१०७] इत्यादि मुसंज्ञाकार्यम् । स्वाविति किम् ? मात्रे । दुहित्रे । स्त्र्याख्याविति किम् ? हे ग्रामणीः । हे खलपूः । नेमौ स्त्रियमेवाचक्षाते । आख्याग्रहणं किम् ? शब्दार्थे स्त्रीत्वे यथा स्यात् पदान्तरगम्ये मा भूत् । ग्रामण्ये स्त्रियै । खलप्वे स्त्रियै । उभयलिङ्गानामिष्वसनिप्रभृतीनां शब्दार्थ एव स्त्रीत्वम् । इवै असन्यै स्त्रियै । तथा गुणशब्दानां पठ्व्यै स्त्रियै । इदञ्चाख्याग्रहणस्य प्रयोजनम् । कुमारीभिवात्मानमाचरति (कुमारीवाचरति) “आचारे सर्वमृदभ्यः क्विप्” इति क्विप् । कुमार्यै देवदत्ताय । लक्ष्मीमतिक्रान्ताय अतिलक्ष्म्यै । प्रागेव मुसंज्ञा वृत्ता तदन्तान्मुकार्यं भवति । इह अतिकुमारये देवदत्ताय । प्रादेशे कृते “अनल्विधौ” [१।१।५६] इति प्रतिषेधान्मुकार्यं न भवति ।

स्त्री ॥१२।१६३॥ स्त्रीशब्दश्च मुसंज्ञो भवति । “आमीयुवोः” [१।२।१४] “वा” [१।२।१५] ङिति प्रश्च [१।२।१६] इति नियमविकल्पयोः सामान्येन पुरस्तादयमपवादः । हे स्त्रि । स्त्रीणाम् । स्त्रियै । प्रादेशेनुडाडागमाः सिद्धाः ।

आमीयुवोः ॥१२।१६४॥ आमि परत इयुवोः स्थानिनौ य्वौ स्त्र्याख्यौ मुसञ्ज्ञौ भवतः । सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः, आन्येव मुसंज्ञा नान्यत्र । हे श्रीः । हे भ्रूः । इयुवोरिति किम् ? प्रथ्यै । वर्षाभ्यै ।

वा ॥१२।१६५॥ वा मुसंज्ञा भवतीत्यामीयुवोः । श्रीणाम् । श्रियाम् । भ्रूणाम् । भ्रुवाम् ।

ङिति प्रश्च ॥१२।१६६॥ य्वोयः प्रः स्त्र्याख्य इयुवोश्च स्थानिनौ यौ य्वौ तेषां ङिति वा मुसंज्ञा भवति । कृत्यै । कृतये । धेन्वै । धेनवे । पक्षे “स्वसखि” [१।२।१७] इति सुसंज्ञा । “स्वोङिति”

१. ‘ङिति’ अ०, ब०, स० । २. -तक्षत् । अररक्षदित्यं-अ०, स० । ३. कच्यरे धौ प-अ० । ४. ‘आण्मोः’ स० । ५. -डागमाडागमाः सिद्धाः-अ०, ब०, स० । ६. ‘वा च सु-ब०, स० ।

[१२।१०६] एप् । इयुवो । श्रियै । श्रिये । भ्रुवै । भ्रुवे । स्याख्यावित्येव । अग्नये । अतिकृतये । अतिश्रिये । अतिभ्रुवे द्वन्द्वत्ताय । य्वो य्वोः प्र इति किम् ? मात्रे । दुहित्रे ।

स्वसखि ॥१२।१६७॥ प्रो य्वोरिति वर्तते । य्वोः प्रसुसंज्ञो भवति सखिशब्दं वर्जयित्वा । असखीति प्रतिषेधात् सिद्धौ प्रति निर्देशाच्चास्याख्यस्य स्याख्यस्य च प्रत्येह ग्रहणम् । अग्नये । वायवे । स्याख्यश्च यो सुसंज्ञो न भवति तस्य ग्रहणम् । कृतये । धेनवे । सुसंज्ञाविषये “नन्वाप्य आसम्” [१२।१६९] इति सुसंज्ञा बाध्यते । कृत्याम् । धेन्वाम् । असखीति किम् ? सख्युः । सख्यौ । असखीति पर्यदासोऽयम् । तेन शोभनः सखा सुखा । अतिसखा । अतिसखेरागच्छति । अतिसखेः स्वम् । सखिशब्दादन्यत्वमस्तीति सुसंज्ञा । मृद्ग्रहणेन तदन्तविधिरिति वा^२ । य्वोः प्र इत्येव । पित्रे । मात्रे । सुप्रदेशाः “सोर्ङिति” [५।२।१०६] इत्येवमादयः ।

पतिः से ॥१२।१६८॥ पतिशब्दः स एव सुसंज्ञो भवति । प्रजाप्रतिना । प्रजापतये । पतिरेव स इति कस्मान्न नियमः । एवं हि “द्वन्द्वे सुः” [१।३।१६८] इति पूर्वनिपातवचनमनर्थकं स्यात् द्वन्द्वे पतिरिति ब्रूयात् । न ह्यन्यस्य से सुसंज्ञासम्भवः । अपि चानेकप्राप्तावेकस्य नियम इति वचनमनर्थकं स्यात् । पट्टमृदुगुप्तपटव इति । स इति किम् ? पत्या । पत्ये ।

प्रो घि च ॥१२।१६९॥ प्र इति मात्रिकस्य संज्ञा । प्रो घिसंज्ञो भवति । भेत्ता । बोद्धा । घीति नपा निर्देशः किमर्थः ? पुल्लिङ्गया रुसञ्ज्ञया बाधा यथा स्यात् । प्रयोजनमग्रे वक्ष्यते । चशब्दः सञ्ज्ञान्तर-समावेशार्थः । घि च भवति यच्चान्यत्प्राप्नोति तच्च भवति । इह प्रविनय्य गत इति सुसंज्ञासमावेशः । विश्च ना च विनरौ तावाचष्टे णिच् । “णाविष्ठवन्मृदः” [४।४।१४६] इति इष्ठवन्भावः । टिक्म् । प्रशब्देन योगः । त्वः प्यादेशे णिक्वं प्रातं घिसंज्ञायां सत्यां “प्ये घिपूर्वात्” [४।४।१४६] इति शेरयादेशः सिद्धः । सुसंज्ञायाश्च पूर्वनिपातः । अन्यथेकारोकाराभ्यामन्यत्र सावकाशा घिसंज्ञा इकारोकारविषयत्वादनवकाशया सुसंज्ञया बाध्यते ।

स्फे रुः ॥१२।१७०॥ प्र इति वर्तते । स्फसञ्ज्ञे परतः प्रो रुसञ्ज्ञो भवति । कुरडा । हुणडा । स्पर्धा । नुमविधायुपदेशाश्रयणात्प्रागेव कुम् । “सरोर्ङ्कः” [२।३।८२] इति अस्यः । “अजाघतष्टाप्” [३।१।४] ।

दीः ॥१२।१७१॥ दीरिति द्विमात्रस्य सञ्ज्ञा । दीश्च रुसञ्ज्ञो भवति । ईहाश्चक्रे । लिटि परतः “सरोरिजादेः” [२।१।३२] इत्याम् । शेषम् “आम्बत्तकृजः” [१।२।१६९] इत्यत्रोक्तम् । रुरिति पुल्लिङ्ग-निर्देशः किमर्थः ? ईकारोकारविषयया सुसञ्ज्ञया बाधा मा भूत् । द्वयोः समावेशे हे परमवाणीक इत्यत्र “ऋन्मोः” [४।२।१२३] इति सुसञ्ज्ञाश्रयः कप् । रुसञ्ज्ञाश्रयो “अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः” [२।३।१६४] इति पविधिश्च सिद्धः ।

यस्ये तदादि गुः ॥१२।१७२॥ यो हि यस्मात्स्यः स तस्येत्युच्यते । यस्य धोर्मृदो वा त्यः यत्यस्तस्मिन् परतस्तदादिशब्दरूपं गुसञ्ज्ञं भवति । केवलायाः प्रकृतेर्व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । दोग्धि । जुहोति । करिष्यति । कुरडानि । गुकार्यमेविडागमो नुमागमश्च । जसि “नोङ्” [४।४।१४] इति दीत्वञ्च । यदिति सञ्ज्ञानिर्देशार्थम् । अन्यथा तदादीति न लभ्येत तथा च त्ये सति पूर्वमात्रस्य गुसञ्ज्ञा स्यात् । तत्र को दोषः ? इह न्यविशत प्राकरोदिति सगेरडागमः स्यात् । यस्य इति यच्छब्देन त्यस्य विशेषणं किम् ? अस्यापत्यमिः । देवदत्त इं पश्येत्यत्र आदेशैर्प् स्यात् । अत्रत्य स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमिति चेत् योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तं प्रति स्थानिवद्भावः । आदिष्टाच्चैषोऽचः पूर्वो निष्पन्नस्य पदस्य पदान्तराणाभिसम्बन्धात् । यस्य इति ईर्निर्देशः

१. ‘निर्देशात्’ इत्यस्य ‘अनुवृत्तेः’ इत्यर्थः । प्रसङ्गस्वारस्यात् । २. ‘वा’ अनित्यमित्यर्थः ।
३. नोङ् इत्यस्मिन्ननुवर्तमाने ‘वेऽकौ’ इति दीः ।

किमर्थः ? यत्त्यस्तदादि गुरित्युच्यमाने यस्य त्यः सम्भवति तस्यान्यस्मिन्नपि शब्दे गुप्तंशा स्यात् । तथा च लिख्ये इदं स्वर्यं भुवे इदं भ्वर्यम् । इयुवौ प्रसज्येयाताम् । तदादिवचनं किमर्थम् ? यत्रानेकस्यः सम्भवति तत्र तदादेर्गुप्तंशा यथा स्यात् । करिष्यति । कुण्डानि । स्यान्तस्य सनुमुक्तस्य च गुप्तंशायां “यज्यतो दीः” [५१२।६६] “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वं सिद्धम् । गुरिति पुल्लिङ्गनिर्देशो भपदसंज्ञासमावेशार्थः । इह बाभ्रव्य इति गुप्तंशाश्रय आदेरैप् । भसंज्ञाश्रयः “कद्र्वो रोऽस्वयम्भुवः” [४।४।१३४] इति ओकारः । इह च यजुः पपयमस्य याजुष्कः । गुप्तंशाश्रय आदेरैप् “स्वादावधे” [१।२।१०६] इति पदत्वे पदसंज्ञाश्रयाणि रिस्त्वत्त्वानि सिद्धानि । नपुंसकलिङ्गा चेद् गुप्तंशा होतुरपत्यं हौत्र इत्यत्र सावकाशा सती पदसंज्ञया बाध्यते ।

सुम्भिडन्तं पदम् ॥१।२।१०३॥ “नः क्ये” [१।२।१०४] इति नियमारम्भात् सुविति प्रत्याहार-ग्रहणं नेपो बहोः । मिञ्जा साहचर्याद्वा । सुवन्तं मिडन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति । सूफकारः पचति । पदसंज्ञाश्रयो रिस्त्वादिविधिः । खरि सादेशविधिश्च भवति । ननु सुम्भिडौ त्यौ । त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहण-मित्यन्तग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविध्यभावज्ञापनार्थम् । तेन दृषतीर्णेत्यत्र क्लान्तस्य “क्त्त-वत्” [१।१।२८] इत्यनेन तसंज्ञा नास्तीति “द्वान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इत्येष विधिर्दृष्टकारापेक्ष-या न भवति । इह च कुमारीगौरितरा “तादी ऋः” [४।१।११७] इत्यनेन तरान्तस्य ऋसंज्ञा नास्तीति “ऋरूप०” [४।३।१५५] इत्यादिना प्रादेशो न भवति । पदमिति नपा निर्देशो भसंज्ञया बाधा यथा स्यादि-त्येवमर्थः । अन्यथा राज्ञः राजन्य इत्यत्र भसंज्ञाश्रयमनोऽखं पदसंज्ञाश्रयं नखञ्च स्यात् ; पदप्रदेशाः “पदस्य” [५।३।१४] इत्येवमादयः ।

नः क्ये ॥१।२।१०४॥ क्य इति क्यचक्यङ्क्यषामविशेषग्रहणम् । क्ये परतो नान्तस्य पदसंज्ञा भवति । राजानमिच्छति राजीयति । राजेवाचरति राजायते । अचर्म चर्म भवति चर्मायते । पदत्वे सति नखं सिद्धम् । “नखं सुब्बिधिं कृत्तुकि” [५।३।२८] इति नियमादन्यत्र सिद्धमिति “क्यचि” [५।२।१४२] इतीत्वं “दीर्घद्वगे” [५।२।१३४] इति दीत्वञ्च भवति । “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति पदत्वे सिद्धे नियमार्थ-मिदम् । नान्तमेव क्ये पदसंज्ञं भवति नान्यत् । वाच्यति । शुच्यति । कुत्वं न भवति । नान्तं क्य एवेति विप-रीतो नियमो नाशङ्कनीयः । “अकौ” [५।३।३०] इति कौ नखप्रतिषेधात् ज्ञायते पदत्वे हि नखप्राप्तिः ।

सिति ॥१।२।१०५॥ सिति त्ये परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति । भवतोऽयं भवदीयः । “भवतष्टण्छसौ” [३।२।६१] इति छस् । “यचि भः” [१।२।१०७] इति पदसंज्ञायां बाधितायां पुनरारम्भः । एवमूर्णा अस्या-स्तीति ऊर्णायुः । “ऊर्णाहंशुभंभ्यश्च युस्” [४।१।६२] इति युस् । “यस्य ङ्याञ्च [४।४।१३६] इति खं न भवति । अहंथ्युः । अहंथ्युः । शुभंथ्युः । शुभंथ्युः । “वा पदान्तस्य” [५।४।१३३] इति परस्वविकल्पः ।

स्वादावधे ॥१।२।१०६॥ अध इति प्रतिषेधाद्वाया एकस्य सोर्ग्रहणम् । स्वादौ धर्वाजिते परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति । राजभ्याम् । राजभिः । राजत्वम् । राजता । अध इति किम् ? राजानौ । राजानः । यद्येवं राजे-त्यत्रापि प्रतिषेधः स्यात् । नैवं शङ्क्यम् । अध इति पर्युदासोऽयं धादन्यत्र पदसंज्ञा विधीयते । धे तु पूर्वेण भविष्यति । यद्येवं सुवाचौ सुवाच इत्यत्रान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वं प्राप्नोति । अस्तु तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधः । राजेत्यत्र “अकौ” [५।३।३०] इति प्रतिषेधात् ज्ञायते सौ पदसंज्ञा भवति । एवमप्यध इति अनन्तरस्य स्वादौ विधेः प्रतिषेधोऽयं सुवाचौ सुवाच इत्यत्र पूर्वेण प्राप्तिरस्त्येव । कर्तव्योऽत्र यत्नः । “उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ त्यलक्ष्यं न भवतीति ।

यचि भः ॥१।२।१०७॥ स्वादावध इति वर्तते । यकारादावजादौ च स्वादौ धर्वाजिते पूर्वं भसंज्ञं भवति । गार्ग्यः । वात्स्यः । दाक्षिः । प्लाक्षिः । पूर्वेण पदसंज्ञा प्राप्ता भत्वाद् “यस्य ङ्याञ्च” इत्यखम् । “नभोऽङ्गिरो-

१. भुवे अ०, ब०, स० । २. भवर्थम्—अ०, ब०, स० । ३. इति नखवि-ब०, स० ।

४. न सम्भ-अ० । ५. क्षुच्यति अ०, स० ।

मनुष्या वत्युपसङ्ख्यानम् । [वा०] नभसा तुल्यं वर्तते इति नभस्वत् । अङ्गिरस्वत् । मनुष्वत् । वृष्णो वस्वश्वयोर्धोर्मसंज्ञेति केचित् । वृष्णो वसुः वृषणवसुः । वृषणश्वः ।

मत्वर्थे स्तौ ॥१२।१०८॥ मत्वर्थे त्ये परतः सकारान्तं तकारान्तञ्च भसंज्ञं भवति । तपस्वी । यशस्वी । “विन्नस्मायामेधास्त्रजः” [४।१।४७] इति विन् । मतोर्विशेषणत्वेऽपि मत्वर्थग्रहणेन ग्रहणम् । यथा देवदत्तशालापण्डिता आनीयन्तामित्युक्ते देवदत्तो विशेषणभूतोऽपि यदि पण्डितः सोऽपि आनीयते । भास्वान् । विद्युत्वान् । मरुत्वान् । स्ताविति किम् ? राजवद् गृहम् ।

कारके ॥१२।१०९॥ कारक इत्ययमधिकारः । यदित उर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कारक इत्येवं तद्वेदित-
व्यम् । कारकं निर्वर्तकं हेतुर्वा । कथं ? क्रियायाः । का च क्रिया ? ध्वर्थः । कारक इति निर्धारणलक्षणोऽयमिपू ।
जात्यपेक्षैकवचनम् । सौत्रो वा निर्देशः । कारकेषु यद्भ्रुवं तदपादानं, यः कर्मणोपेयोऽर्थः स सम्प्रदानमित्यादि
योज्यम् । वक्ष्यति “ध्यपाये ध्रुवमपादानम्” । [१।२।११०] ग्रामादागच्छति । स्वर्गादवरोहति । अपाय-
क्रियाया ग्रामोऽपि निर्वर्तकः देवदत्तोऽपि । ध्रुवत्वाद् ग्रामोऽपादानम् । कारक इति किम् ? वृत्तस्य पर्णं पतति ।
कुड्यस्य पिण्डः पतितः । अपायक्रियाया निर्वर्तकत्वेन वृत्तः कुड्यञ्च न विवक्षितम् । “अकथितञ्च”
[१।२।१२१] अपादानादिभिरकथितं च कारकं कर्मसंज्ञं भवति । आचार्यं धर्मं पृच्छति । कारक इति किम् ?
आचार्यस्य शिष्यं धर्मं पृच्छति । आचार्यस्य शिष्यविशेषणत्वाद् कारकत्वम् । यदा कारकञ्चाकारकञ्च सर्वमकथितम-
प्रतिपादितमित्यर्थस्तदेदं प्रत्युदाहरणम् । असङ्कीर्तितमिति व्याख्याने कारकमेव लभ्यते । प्रदेशेषु कारकाभिधानेऽ-
पादानादीनां ग्रहणम् ।

ध्यपाये ध्रुवमपादानम् ॥१२।११०॥ धीर्बुद्धिः । प्राप्तिपूर्वको विश्लेषोऽपायः । धिया कृतो
अपायो ध्यपायः । धीप्राप्तिपूर्वको विभाग इत्यर्थः । धीग्रहणे ह्यसति कायप्राप्तिपूर्वक एवापायः प्रतीयते धीग्रह-
णेन सर्वः प्रतीयते । ध्रुवमविवक्षितम्, अवधिभूतं वा । ध्यपाये साध्ये यद् भ्रुवं तदपादानसंज्ञं भवति । ग्रामादा-
गच्छति । ग्रामो देवदत्तं नानुपतति इति ध्रुवः । अथवा अपायात्प्रागपि ग्रामः । अपायेऽपि ग्राम एव । देवदत्त-
स्त्वपाये ग्रामग्रहणेन न गृह्यत इति ग्रामो ध्रुवः । एवमश्वत्वाद् धावतः पतितः । गच्छतः सार्थादवहीनः । देवदत्तो
जिनदत्तादागतः । मेधौ परस्परतोऽपसर्पतः* । शृङ्गाच्छ्रो जायते । गङ्गा हिमवतः प्रभवति । इह ग्रामादागच्छ-
तीति पूर्वमपादानसंज्ञा पश्चात्प्रतिषेधः । धियाऽपायस्य विशेषणं किम् ? अधर्माजुगुसप्ते । प्रेक्षापूर्वकारी दुःखहेतुर-
धर्म इति बुद्ध्या संप्राप्य ततो निवर्तत इति अपादानत्वम् । एवमधर्माद्विरमति प्रमाद्यति । व्याघ्राद्विभेति । चौरै-
भ्यस्त्रायते । अध्ययनात् पराजयते । न शक्नोतीत्यर्थः । यथेभ्यो गां वारयति । अकार्यात्सुतं वारयति । कृपादन्धं
वारयति । उपाध्यायादन्तर्द्धत्ते । भयं सञ्चिन्य निवर्तत इत्यर्थः । विवक्षातः कारकाणि भवन्ति । उपाध्यायाद-
धीते । उपाध्यायाच्छ्रुणोति । अविवक्षायां नटस्य शृणोति । ग्रन्थिकस्य शृणोति । ध्रुवमिति किम् ? अरण्ये
विभेति । नात्र भयावधिभूतमरणं किं तर्हि चौराः । नपा निर्देशः किमर्थः । वक्ष्यमाणाभिः संज्ञाभिर्वाधा
यथा स्यात् । धनुषा विध्वयति । पुलिङ्गया करणसंज्ञया बाधात् । कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते । पुलिङ्गाऽधिकरणसंज्ञैव ।
धनुर्विध्यतीति कर्तृसंज्ञा । इह गां दोग्धि पय इति परत्वात्कर्मसंज्ञा । अपादानप्रदेशाः “काऽपादाने” [१।४।३७]
इत्येवमादयः ।

कर्मणोपेयः सम्प्रदानम् ॥१२।१११॥ उपपूर्वादिङो ये कृते उपेय इति भवति । कर्मणा य
उपेयोऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । उपाध्यायाय गा ददाति । देवाय बलिं प्रयच्छति । कर्मणेति किम् ?
गवा उपाध्यायमुपैति । सम्प्रदानमित्यन्वर्थसंज्ञाकरणत्वाद् ददात्यर्थानां धूनां द्रव्येण कर्मणा उपेयोऽर्थः सम्प्रदानमिति ।
तेनेह न भवति । देवदत्तस्य वस्त्रं दर्शयति । मित्रस्य कार्यं कथयति । अजां नयति ग्रामम् । सम्यक् प्रदानं सम्प्र-
दानमिति चाश्रितम् । तेनेह न भवति । घ्नतः पृष्ठं ददाति । रजकस्य वस्त्रं ददाति । राज्ञो दण्डं ददाति । इह
तर्हि कथं श्राद्धाय निगृह्णते । युद्धाय सन्नहति । तिष्ठते ब्राह्मणी छात्रेभ्यः ? तादर्थ्यात् सिद्धम् । अथवा

कथञ्चिद्विवक्षितभेदाभिः सन्दर्शनप्रार्थनाऽध्ववसायक्रियाभिः क्रियापि व्याप्या सती कर्मतयोपेयत्वात् सम्प्रदानत्वम् । तेनेहापि भवति । रोचते देवदत्ताय मोदकः । स्वदते देवदत्ताय मोदकः । पुष्पेभ्यः सृहयति । मित्राय कथयति । मित्राय क्लुध्यति । मित्राय द्रुहति । मित्राय ईर्ष्यति । मित्रायासृयति । मित्राय कुप्यति । कोपादन्यत्र क्रुधादीनां प्रार्थनादिभिः क्रियाविशेषैर्भेदो न विवक्षित इति क्रियायाः कर्मव्यपदेशो नास्ति । भार्यामीर्ष्यति । औषधं द्वेष्टि । शप उपलम्भनेऽर्थे भेदः । देवदत्ताय शपते । हुङ् आत्मनिहवे भेदः । मित्राय हुते । अन्यत्र मित्रं हुते । राधी-
क्षयोर्देवालोचने । पुत्राय राध्यति । पुत्राय ईक्षते । अन्यत्र पुत्रस्य राध्यति । पुत्रमीक्षते । यत्र च प्रत्याङ्पूर्वः शृणोतिरभ्युपगमे वर्तते । देवदत्ताय प्रतिशृणोति । अनुप्रतिपूर्वश्च गृणातिर्यदि कथयितुः प्रोत्साहने वर्तते । आचार्याय अनुगृणाति । आचार्याय प्रतिगृणाति । इह भेदाभेदविवक्षा । देवदत्ताय श्लाघते । देवाय प्रणमति । गत्यर्थानां चेष्टायामसम्प्राप्तावुभे [वा०] । यथा ग्रामाय गच्छति । ग्रामं गच्छति । ग्रामाय व्रजति । ग्रामं व्रजति । चेष्टायामिति किम् ? मनसा पठतिपुत्रं गच्छति । असम्प्राप्ताविति किम् ? पन्थानं गच्छति । भार्या गच्छति । अन्यत्राभेदविवक्षैव । कटं करोति । ओदनं पचति । शास्त्रं पठति । “सख्योश्च क्रुधिद्रुहोः” [वा०] मित्रमभिक्रुध्यति । मित्रमभिद्रुहति । “सिद्धिरनेकान्तात्” [११११] इत्यतो भेदाभेदोभयविवक्षा प्रत्येतव्या । परेषामपि प्रतिपत्तिगौरवं तुल्यम् । क्व क्रियाया व्याप्यत्वमिष्टं क्व च नेति दुर्बोधम् ।

धारुरुत्तमसंज्ञः ॥१२२११२॥ ऋणे उत्तम उत्तमर्णः । निपातनात् सविधिः । धारयतेरुत्तमर्णो योऽर्धस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । देवदत्ताय गां धारयति । उत्तमर्ण इति किम् ? देवदत्ताय शतं धारयति दरिद्रः ।

परिक्रयणम् ॥१२२११३॥ परिक्रीयतेऽनेनेति परिक्रयणम् ; तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । शताय परिक्रीतः । सहस्राय परिक्रीतः । साधकतमत्वात् करणसंज्ञा प्राप्ता ।

साधकतमं करणम् ॥१२२११४॥ क्रियायामतिशयेन साधकं साधकतमम् , तत्कारकं करणसंज्ञं भवति ।

“दानेन भोगं दयया सुरूपं ध्यानेन मोक्षं तपसेऽसिद्धिम् ।

सत्येन वाक्यं प्रशमेन पूजां वृत्तेन जन्माग्रमुपैति मर्त्यः ॥”

तमग्रहणं किमर्थम् ? यथा रूपप्रस्तावे अर्भरूपाय कन्या देयेत्युक्तं ऽभिरूपतमायेति । एवमिहापि कारकाधिकारादकारके संज्ञावृत्तिर्नास्तीति ‘साधकं करणम्’ इत्युक्तं ऽपि साधकतममिति गम्यते तदेतत् तमग्रहणं शापकमन्यत्र-तमग्रहणेन विना प्रकर्षो न लभ्यते । तेना “आधारोऽधिकरणः” [१११११६] इत्यनेन मुख्यामुख्ययोरुधिकरणत्वं सिद्धम् । तिलेषु तैलम् । गङ्गायां घोषः । साधकतमस्याविवक्षायां स्वातन्त्र्याद्धनुर्विव्यतीति भवति । पुंल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? परिक्रयणांमत्यनवकाशया सम्प्रदानसंज्ञया बाधा मा भूत् । शतेन परिक्रीतः । वचनात् साऽपि भवति । शताय परिक्रीतः । “दिवः कर्म” [१२२११५] इत्यत्र च समावेशो यथा स्यात् । अत्रैर्दिव्यति ।

दिवः कर्म ॥१२२११५॥ दिवेः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं भवति । अत्रान् न दोष्यति । शर्लाकां दोष्यति । नपा निर्दंशात् करणत्वमपि ।

आधारोऽधिकरणः ॥१२२११६॥ आध्रियतेऽस्मिन् क्रियेत्याधारः । इदमेव निपातनमधिकरण्यो घञः । आधारो यस्तत् कारकमधिकरणसंज्ञं भवति । यद्येवं कर्तृकर्मणोरधिकरणसंज्ञा प्राप्ता तदाश्रितत्वात् क्रियायाः । एवं तर्हि कर्तृकर्मणोः क्रियाश्रययोर्धारादाधारोऽभिप्रेतः । पूर्वं तमग्रहणेन ज्ञापितं गौण-

स्याप्याधारस्याधिकरणत्वम् । कर्तृकर्मणोः सत्यपि क्रियाधारत्वेऽनवकाशत्वात् कर्तृकर्मसञ्ज्ञो भविष्यतः । मेदावि-
वक्ष्यामधिकरणत्वमपि । अंशानक्रिया देवदत्ते वर्तते । विह्वले दनं तण्डुलोपु ।

“औपश्लेषिकवैषयिकाऽभिव्यापक इत्यपि । आधारस्त्रिविधः प्रोक्तः कटाकाशतिलेषु च ॥”

औपश्लेषिकः—कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । वैषयिकः—आकाशे शकुनयः । गङ्गायां घोषः । गुरौ
वसति । यदधीना यस्य स्थितिः स तस्याधारः । अभिव्यापको विभागाप्रतीतेः । तिलेषु तैलम् । दधनि सर्पिः ।
अधिकरणप्रदेशाः “ईबधिकरणे च” [१।४।४४] इत्येवमादयः ।

कर्मैवाऽधिशीङ्गस्थाऽसः ॥१।२।११७॥ अधिपूर्वाणां शीङ्गं स्था आस् इत्येषामाधारो यस्तत्
कारकं कर्मसञ्ज्ञमेव भवति । ग्राममधिशेते । पर्वतमधितिष्ठति । प्रासादमध्यास्ते । एवकारः पुंल्लिङ्गाऽधिकरण-
संज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थः । कर्मप्रदेशाः “कर्मणीप्” [१।४।२] इत्येवमादयः ।

वसोऽनूपाध्याङ् ॥१।२।१२०॥ अनु उप अधि आङ् इत्येवपूर्वस्य वसतेराधारो यस्तत् कारकं
कर्मसंज्ञं भवति । ग्राममनुवसति । गिरिमुपवसति । गृहमधिवसति । वनमावसति । इह कथं ग्रामे उपवसति ।
भोजननिवृत्तिं करोतीत्यर्थः ? अत्रापि त्रिरात्रादेराधारस्य कर्मत्वं प्रतीयते ।

अभिनिविशश्च ॥१।२।११६॥ अभिनि इत्येवपूर्वस्य विशतेराधारो यस्तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति ।
ग्राममभिनिविशते । गेहमभिनिविशते । चकारात् क्वचिदधिकरणसंज्ञाऽपि भवति । या या संज्ञा यस्मिन्नभिनि-
विशते । अर्थेष्वभिनिविष्टः । कल्याणेऽभिनिवेशः ।

कर्त्राप्यम् ॥१।२।१२०॥ कर्त्रा क्रियया यदाप्यं तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति । कर्तृग्रहणादाप्यग्रहण-
सामर्थ्याद्वा क्रिया लभते । तत्र कर्म ।

“प्राप्यं विषयभूतं च निर्वर्त्यं विक्रियात्मकम् । कर्तुंश्च क्रियया व्याप्यमीप्सतानीप्सितेतरत् ॥”

आप्यत्वसामान्यं सर्वत्र विद्यते । प्राप्यम्—ग्रामं गच्छति । आदित्यं पश्यति । विषयभूतम्—जैनैन्द्रमधीते ।
हिमवन्तं शृणोति । निर्वर्त्यम्—घटं करोति । ओदनं पचति । विक्रियात्मकम्—काष्ठानि दहति । घटं भिनत्ति ।
ईप्सितम्—गुडं भक्षयति । ओदनं भुङ्क्ते । अनीप्सितम्—ग्रामं गच्छन् व्याघ्रं पश्यति । कण्टकान्-
मृदाति । अनुभयम्—ग्रामं गच्छन् वृद्धमूलान्युपसर्पति । कर्त्रेति किम् ? मापेध्वस्वं बध्नाति । अश्वेन
कर्मणा भक्षणक्रियया माषाणामाप्यानां कर्मसंज्ञा मा भूत् । अथ सर्वाणि कारकाणि कर्त्राऽप्यन्त इति कर्मसंज्ञा
प्राप्नोति ? नैष दोषः । सर्वेषु कारकेष्वाप्येषु आप्यग्रहणसामर्थ्यादाप्यतमे संप्रत्ययः । तेन करणादिषु न भवति ।
पयसा ओदनं भुङ्क्ते । इह कथं कर्मत्वं गेहं प्रविशतीति ? आधारस्याविवक्षया ।

अकथितश्च ॥१।२।१२१॥ अकथितमसङ्कीर्तितम् । अपादानादिभिर्विशेषकारकादिभिरकथितं च यत्
कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति । अकथितमप्रधानमिति गृह्यमाणे इह देवदत्ताद् गां याचत इत्यप्रधानतयाऽपादान-
संज्ञा कर्मसंज्ञया बाधेत ।

“दुहियाचिहृषिप्रच्छिभिक्षिचिजामुपयोगनिमित्तमपूर्वधिधौ ।

ब्रुविज्ञासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरितं कधिना ॥”

दुहि—गां दोग्धि पयः । गौः कारकमपादानत्वेनासङ्कीर्तितमपायस्याविवक्षितत्वात् । गोरप्याप्यत्वेन सिद्धं
कर्मत्वमिति चेत् परिगणानार्थमिदं वक्तव्यम् । इह मा भूत् । नटस्य शृणोति श्लोकम् । याचि—माणवकं
गां याचते । याचनमात्रेणापायस्याविवक्षितत्वात् । रुधि—गामवरुणद्धि व्रजम् । सतोऽप्याधारस्याविवक्षा ।
अनुदरा कन्येति यथा । प्रच्छि—आचार्यं धर्मं पृच्छति । प्रश्नमात्रेणापायस्याविवक्षा । भिक्षि—देवदत्तं गा
भिक्षते । चिञ्—वृद्धमवचिनोति फलानि । उपयोगनिमित्तं प्रयोगनिमित्तम् । अथवा उपयोगो दुग्धादि तन्नि-
मित्तं गवादि । इहापि तर्हि स्यात् । पाणिना कांस्यपात्र्यां दोग्धि । पाण्यादिकमप्युपयोगनिमित्तमित्याह ।

अपूर्वविधौ—यस्य पूर्वो विधिनोक्तः । इह तु पूर्वमेव करणसञ्ज्ञा अधिकरणसञ्ज्ञा च विहिता । ब्रुविशा-
स्योर्गुणेन च क्रियया कर्मणा वा यत् सचते सम्बध्यते तदकीर्तितमित्युक्तमाचार्येण । ब्रुवि—माणवकं धर्मं
ब्रूते । शांसि—माणवकं धर्ममनुशास्ति । माणवकस्य सम्प्रदानत्वेनाविवक्षा । अकथितमिति किम् ? देवदत्तात्
गां याचते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेनम् “कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणामिति” लब्धम् ।
काले—मासमास्ते । संवत्सरं वसति । भावे—गोदोहं स्वपिति । अध्वा च स गन्तव्यश्चेति ह्यच्छ्रया विशेषणत्वम् ।
क्रोशमास्ते । क्रोशं स्वपिति । देशोऽपि कर्मसंज्ञा इति केचित् । कुरुनास्ते । कुरुन् स्वपिति । अथ नीवहि-
हरति कृषिजयत्यादयो द्विकर्मका उपलभ्यन्ते । तेषां कथं द्विकर्मकत्वं प्रधानाप्रधानकर्मणोः सामान्येनाऽप्यत्वात् ।
अजां नयति ग्रामम् । भारं वहति ग्रामम् । भारं हरति ग्रामम् । शाखां कर्षति ग्रामम् । देवदत्तो जिनदत्तं शतं
जयति । देवदत्तो ग्रामं शतं दण्डयति । अत्र्यं तु विशेषः —

“प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥”

नीयते अजा ग्रामम् । उह्यते भारो ग्रामम् । ह्रियते भारो ग्रामम् । कृष्यते शाखा ग्रामम् । जीयते
जिनदत्तः शतम् । दण्ड्यते जिनदत्तः शतम् । अप्रधाने कर्मणि दुहादीनाम् । दुह्यते गौः पयः । याच्यते माण-
वको गाम् । अवरुष्यते गां व्रजः । पृच्छ्यते आचार्यो धर्मम् । भिद्यते देवदत्तो गाम् । अवचौयते वृत्तः
फलानि । उच्यते माणवको धर्मम् । शिष्यते माणवको धर्मम् । एयन्ते कर्तुश्च कर्मण इति उत्तर सूत्रेणाऽएय-
न्तावस्थायां यः कर्ता एयन्तावस्थायां कर्मतामापन्नः प्रयोज्यस्तस्याभिधाने लादीनाहुः । बोध्यते माणवकः
शाखम् । गम्यते माणवको ग्रामम् । भोज्यते माणवक ओदनम् । आस्यते माणवको मासम् । अध्याप्यते
माणवको जैनेन्द्रम् । ननु एयन्तेषु ध्रुवु एयन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाऽध्येषणालक्षणया यदाप्यते तत् प्रधानं
कर्म । अवयवक्रियया यदाप्यते तदप्रधानम् । एवं च सति प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनाहुरित्यनेनैव सिद्धत्वादन-
र्थकमिदं एयन्ते कर्तुश्च कर्मण इति ? नानर्थकं समुच्चयार्थमेतत् प्रधाने कर्मणि लादयो भवन्त्यप्रधाने च । तेन
बोध्यते माणवकं धर्मः । भोज्यते माणवकमोदनः । अध्याप्यते माणवकं जैनेन्द्रः । अकर्मणां गत्यर्थानां च प्रधान
एव कर्मणि लादयः । आस्यते माणवको मासम् । आस्यते माणवको गोदोहम् । गम्यते माणवको ग्रामम् ।
प्राप्यते माणवको ग्रामम् ।

ज्ञागम्यद्यर्थधेरणि कर्ता शौ ॥११॥-॥१२२॥ शार्थानां गम्यर्थानामद्यर्थानां धीनाञ्च धूनामय-
न्तानां यः कर्ता स शौ सति कर्मसंज्ञो भवति । शार्थानाम्—जानाति माणवको धर्मम् । ज्ञापयति माणवकं
धर्मम् । बुध्यते माणवको धर्मम् । बोधयति माणवकं धर्मम् । पश्यति माणवको ग्रामम् । दर्शयति माणवकं
ग्रामम् । गम्यर्थानाम्—गच्छति माणवको ग्रामम् । गमयति माणवकं ग्रामम् । याति माणवको ग्रामम् ।
यापयति माणवकं ग्रामम् । अद्यर्थानाम्—भुङ्क्ते ओदनं माणवकः । भोजयति माणवकमोदनम् । अश्नाति
माणवक ओदनम् । आशयति माणवकमोदनम् । धीनाम्—आस्ते माणवकः । आसयति माणवकम् । शेते
माणवकः । शाययति माणवकम् । अत्रापि पूर्ववरिणजन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाध्येषणालक्षणया आयात्वात्
कर्मसंज्ञा सिद्धा । यद्यपि स्वातन्त्र्यमाप्यलञ्छास्ति तथापि कर्मवैल्यवधारणात् कर्तृसंज्ञा न भवतीति । एवं सिद्धे
नियमार्थमिदं तेषामेवागौ कर्ता एयन्ते कर्मसंज्ञो भवति नान्येषाम् । पचत्योदनं देवदत्तः । पाचयत्योदनं देव-
दत्तेन । अणि कर्तेति किम् ? गमयति देवदत्तो जिनदत्तम् । तमन्यः प्रयुङ्क्ते । गमयति देवदत्तेन जिनदत्तम् ।
नयत्यादयः प्रापणार्थं न गत्यर्थान्तेनेह कर्मसंज्ञा न भवति । अजां नयति देवदत्तः । नाययति देवदत्तेन । भारं

१. गन्तव्यः क-मु०, ब० । २. कालः अ०, स० । ३. भावः अ०, स० । ४. कृषज-मु० ।
५. जिनदत्तो ग्रामं भारं हरति अ०, ब०, स० । ६. कृषति अ०, ब०, स० । ७. ‘शिष्यते माणवको धर्मम्’
इति ब० पुस्तके नास्ति । ८. अध्याप्यते माणवको जैनेन्द्रम् अ०, ब०, स० ।

वहति वाहीकः । वाहयति वाहीकेन । यदा गत्यर्थतासंभवस्तदा भवति कर्मसंज्ञा । वहन्ति बलीवर्दा यवान् । वाह-
यन्ति बलीवर्दान् यवान् । प्रवहत्युदकं देवदत्तः । प्रवाहयत्युदकं देवदत्तम् । “अद्यर्थेषु अदिखाद्योः प्रतिषेधो
वक्तव्यः [वा०] अन्ति देवदत्तः । आदयति देवदत्तेन । खादयति (खादति) देवदत्तः । खादयति देवदत्तेन ।
अथवा “सर्वमद्यर्थकार्यमदेर्न भवतीति वक्तव्यमधिकरणे तद्विधि मुक्त्वा” [वा०] आदयते माणवकेन ।
“चल्यद्यथात्” [१।२।८४] ममपि न भवति । “भक्षिरहिंसार्थः कर्मसंज्ञो न भवतीति वक्तव्यम्”
[वा०] भक्षयति पिएडीं देवदत्तः । भक्षयति पिएडीं देवदत्तेन । अहिंसार्थस्येति किम् ? भक्षयति बलीवर्दा
यवम् । भक्षयति बलीवर्दा यवम् । अत्र हिंसाऽस्ति । वनस्पतिकायानां प्राणित्वात् । प्रकृतेन कर्मणा अक-
र्मका इह गृह्यन्ते तेन धिग्रहणे कालादिकर्मणः कर्ता कर्मसंज्ञो भवति । आस्ते मासं देवदत्तः । आसयति मासं
देवदत्तम् । आस्ते गोदोहं देवदत्तः । आसयति गोदोहं देवदत्तम् । आस्ते क्रोशं देवदत्तः । आसयति
क्रोशं देवदत्तम् ।

शब्दे च ॥१।२।१२३॥ शब्दे कर्मभावेन क्रियाभावेन च यो धुर्वर्तते तस्याण्यन्तस्य कर्ता सौ कर्मसंज्ञो
भवति । शब्दकर्मणः—शृणोति देवदत्तः शब्दम् । श्रावयति देवदत्तं शब्दम् । उपलभते देवदत्तः शब्दम् ।
उपलम्भयति देवदत्तं शब्दम् । अधीते माणवकस्तर्कम् । अध्यापयति माणवकं तर्कम् । शब्दक्रियस्य—जल्पति
देवदत्तः । जल्पयति देवदत्तम् । विलपति देवदत्तः । विलापयति देवदत्तम् । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन
हयत्यादिषु न भवति । ह्वयति देवदत्तः । ह्वयति देवदत्तेन । क्रन्दति देवदत्तः । क्रन्दयति देवदत्तेन ।

हृकोर्न वा ॥१।२।१२४॥ हृ कृ इत्येतयोरण्यन्तयोर्गः कर्ता स एण्यन्तयोर्न वा कर्मसंज्ञो भवति ।
न वेति निर्देशात् प्राप्तं चाप्राप्तं च विकल्पः । प्राप्ते—अभ्यवहरति देवदत्तः । अभ्यवहारयति देवदत्तं देवदत्तेनेति
वा । विहरति देवदत्तः । विहारयति देवदत्तं देवदत्तेनेति वा । विकुर्वते सैन्धवाः । विकारयन्ति सैन्धवान्
सैन्धवैरिति वा । अद्यर्थगम्यर्थे धिञञायां पूर्वेण प्राप्तिः । अप्राप्ते—हरति माणवको भारम् । हारयति माणवकं
माणवकेन वा । करोति कटं देवदत्तः । कारयति कटं देवदत्तं देवदत्तेन वा । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनु-
वर्तते । तेन अभिवदिदृश्योर्दन्विषये विकल्पः । अभिवदति गुरुं देवदत्तः । अभिवादयते गुरुं देवदत्तं
देवदत्तेन वा । पश्यन्ति भृत्या राजानम् । दर्शयते भृत्यान् भृत्यैरिति वा । “श्लिचः” [१।२।७२]
इति दविधिः ।

स्वतन्त्रः कर्ता ॥१।२।१२५॥ स्वतन्त्र आत्मप्रधानः । क्रियासिद्धौ स्वतन्त्रो योऽर्थस्तत् कारकं
कर्तृसंज्ञं भवति । देवदत्तः पचति । देवदत्तेन कृतम् । प्रेषितः करोतीत्यत्रापि स्वातन्त्र्यं गम्यते । अनि-
च्छायामकरणात् । इह स्थाली पचतीति स्वातन्त्र्यं विवक्षितम् ।

तद्योजको हेतुः ॥१।२।१२६॥ योजकः प्रेरकः, तस्य स्वतन्त्रस्य योजको योऽर्थस्तत् कारकं हेतु-
संज्ञं भवति । पुल्लिङ्गकर्तृसंज्ञासमावेशात् कर्तृसंज्ञं च । कारयति । भोजयति । हेतुत्वात् “हेतुमति” [२।१।२४]
इति णिच् । कर्तृत्वाल्लकारवाच्यता । गौणस्यापि योजकस्य हेतुत्वम् । भिक्षा वासयति । कारीषोऽग्नि-
ध्यापयति । तद्योजक इति वचनं ज्ञापकं “वृजकाभ्यां” [१।३।७८] “कर्त्तरि” [१।३।७९] इत्यस्य
तासप्रतिषेधस्यानित्यत्वम् ।

निः ॥१।२।१२७॥ अधिकारोऽयम् । “प्राग्धोस्ते” [१।२।१४९] इत्यतः प्राक् । यानित ऊर्ध्वमनु-
क्रमिष्यामो निःसंज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति चादिरसत्त्वे । च वा ह अह एव । निरिति पुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ?
गितिसंज्ञाभ्यां समावेशो यथा स्यात् । निप्रदेशाः “निरिकाजनाह्” [१।१।२२] इत्येवमादयः ।

चादिरसत्त्वे ॥१।२।१२८॥ सीदत अस्मिंस्त्रिङ्गसंख्ये इति सत्त्वम् । लिङ्गसंख्यावद् द्रव्यमित्यर्थः ।
चादयो निःसंज्ञका भवन्ति न चेत् सत्त्वे वर्तन्ते । च वा ह अह एव एवम् नूनम् शश्वत् सूपत् कूपत् कुवित्

नेत् चेत् चण् कश्चित् यत्र नह हन्त माकिम् नकिम् माङ् । ङकारो “भाङि लुङि” [२।३।१५३] इति विशेषणपर्यः । अङिति माशब्दे माऽभवत् मा भविष्यति । न नञ् । जकारो “नञ्” [१।३।६८] इति विशेषणार्थः । नहि वाच लाक ननु च त्वे तु द्वै न्वै नु वै रूवै रे वै श्रौषट् वौषट् वषट् स्वाहा स्वधा ओम् तथाहि खलु किल अथ अवस् स्म अस्मि अ इ उ ऊ ऋ लृ ए ऐ ओ औ उञ् मुञ् आदह आतङ् वेलायमा मात्रायाम् यावत् यथा किम् यत् तत् यदि पुरा धिक् हे हौ पाट् प्याट् उताहो आहो अथो अघो मानो ननु नाना मन्ये अस्मि ब्रूहि हिनु तु इति इव वत चैन धावत एवं आ आं शं हिकम् हिरुक् शुभम् सुकम् शुक्म् तुकम् नहि कम् श्रुतम् सत्यम् अद्धा नो हि मुधा न चेत् जातु कथम् ष्रुते कुत्र अपि (अयि) आदक आवहन् भोस् श्रित् वाह्य संवत् दिष्ट्या पशु युगपत् फट सह अनुष्वक् ताजक् नाजक अङ्ग पुत्र अये अरे अवे वट् वेट् वाट् उं श्रुक्त् मर्या ईप् १० कौम् सीम् गिविभङ्गीस्वरप्रतिरूपकाश्च । गिप्रतिरूपका अवदत्तमित्यादौ । दुर्ज्ञातं दुर्नय इति शल्वं न भवति । असत्त्व इति किम् ? अस्यापत्यमिरिति ।

प्रादिः ॥१।२।१२६॥ प्रादयो निसंज्ञा भवन्त्यसत्त्वे । प्रपराऽपसमृनिर्दुर्व्याङ्म्यधयोऽप्यनिसूदभयश्च । प्रतिना सह लक्षयितव्याः पर्युपयोपि लक्षणमत्र । असत्त्व इत्येव । विप्रातीति विप्रः । पराजयति सेना । पृथक्करणमुत्तरार्थम् । प्रादीनामेव गिसंज्ञा यथा स्याच्चादीनां मा भूत् । उत्तरत्र प्रादिग्रहणे क्रियमाणे अक्रियायोगे निसंज्ञा न स्यात् । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् ।

क्रियायोगे गि ॥१।२।१३०॥ क्रियायोगे प्रादयो गिसंज्ञा भवन्ति । प्रणमति । परिणायकः । “नेरसेऽपि विकृते” [१।४।६८] इति शल्वं सिद्धम् । क्रियायोग इति किम् ? प्रगता नायका अस्माद्देशात् प्रनायको देशः । नन्वत्रापि क्रियाऽस्ति । योगग्रहणसामर्थ्यात् यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गितिसंज्ञा भवति । गमि-क्रियया चात्र योगः । “मरुच्छब्दोऽपि लक्षणात्” । मरुतः । “नेस्तोऽचः” [५।२।१४३] इति अनजन्तत्वेऽप्युपसंख्यानसामर्थ्यात्तादेशः । “प्रज्ञान्तरात्पृच्छित्तयो षः” [४।१।२८] इति निर्देशादङ्विषये श्रुतो गित्वम् । “तिरोऽन्तद्धौ” [१।२।१४] इति निर्देशान्तःशब्दस्यापि क्वादिविषये ।

ति ॥१।२।१३१॥ तिसंज्ञाश्च प्रादयो भवन्ति क्रियायोगे । प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । तिसंज्ञायां “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति षसः । “प्रादेशात्तच्चः” [५।१।३१] इति प्यादेशः । पुंलिङ्गा गिसंज्ञा समाविशति । अभिषिच्य । प्रणम्य । पल्लवात्वे सिद्धे । योगविभागः किमर्थः ? उत्तरत्र तिसंज्ञैव यथा स्यात् गिसंज्ञा मा भूत् । इह ऊरीस्यादिति । “गिप्रादुर्भ्यां यच्यस्तेः” [१।४।६८] इति पलं त्यात् ।

चि्वडाजूर्यादिः ॥१।२।१३२॥ च्यन्तो डाजन्त ऊरीप्रभृतयश्च शब्दाः क्रियायोगे तिसंज्ञा भवन्ति । अशुक्लं शुक्लं कृत्वा शुक्लीकृत्य । डाच्-अपट् पट् कृत्वा पटपटाकृत्य । कृभ्वस्तियोगे चि्वडाचौ विहितौ तत्साहचर्यादूर्यादीनामपि कृभ्वस्तिभिरेव योगे तिसंज्ञा भवति । ऊर्यादिषु च्यर्थो न संभवति । ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । ऊरीभूय । उररीभूय । ऊरीउररीशब्दावङ्गीकरणे विस्तारे च । पापीशब्दो विध्वंसे माधुर्ये सकरुण-विलापे च । तालीआतालीशब्दौ वर्णे । वेताली वैरुष्ये । धूसीशब्दः कान्तौ वाञ्छयाञ्च । सकलाशंसकला-ध्वंसकलाभ्रंसकला एते हिंसायाम् । गुलुगुयाशब्दौ पीडायाम् । सजूः सहाय्ये । फलू फली विह्वी अह्वी एते विकारे । आलम्बी आलोष्टी केवासी केवाली वर्षाली भस्मसा मसमसा एते हिंसायाम् । श्रौषट् वौषट् स्वाहा

१. त्वे ब० । २. तुवे अ० । तुवै ब०, स० । ३. रे अ०, ब० । ४. हे अ० । ५. हे स० । ६. अघो अ०, ब०, स० । ७. चन । ८. वत अ० । वत । ९. वत स० । वत । १०. धवत । सु० । ११. भो शिवत् अ० । १२. वाट अ० । १३. इप् अ० ।

स्वधा एते दानार्थाः । चादिषु च पाठादक्रियायोगेऽपि निसंज्ञा । प्रादुस् अत् आविस् । प्रादुःकृत्य । प्रादुर्भूय । अद्वाय । आविर्भूय । आविःशब्दः सान्नादादौ च पठ्यते । तस्य “वा कृञि” [१।२।१४१] इति करोतियोगे तिसंज्ञाविकल्पः । आविष्कृत्य । आविष्कृत्वा ।

अनितावनुकरणम् ॥१।२।१३३॥ अव्यक्तो व्यक्तो वा शब्दोऽनुक्रियतेऽनेनेत्यनुकरणम् । अनिति-परमनुकरणं क्रियायोगे तिसंज्ञं भवति । खादकृत्य । पयत्कृत्य । अनिताविति किम् ? खाडिति कृत्वा निरष्टी-वत् । खादकृत्यस्य धोः प्राक् प्रयोगः सविधिरश्च प्रसज्येत । “ध्वादेः षः सः” [४।३।१३] इत्यत्र सुबधुष्टी-वतिष्वक्कतिष्व्यायतीनां प्रतिषेध उक्तः ।

सदादरानादरयोः ॥१।२।१३४॥ आदरः सम्भ्रमः । अवज्ञानमौदासीन्यं वाऽनादरः । सच्छब्द आदरानादार इत्येतयोरर्थयोस्तिसंज्ञो भवति । आदरे-सत्कृत्य । अनादरे-असत्कृत्य । अनादर इत्यर्थनिर्देशात् सच्छब्दस्य तदन्तविधिरिष्टः । तैनेहापि भवति । परमसत्कृत्य । तिसंज्ञायां निसंज्ञासमावेशः । निसंज्ञस्या-संख्यत्वात्किमसंज्ञा । आदरानादरयोरिति किम् ? सत्कृत्वा काण्डं गतः । विद्यमानं कृत्वेत्यर्थः ।

भूषाऽपरिग्रहेऽलमन्तः ॥१।२।१३५॥ अलमन्तरित्येतौ शब्दौ भूषायामपरिग्रहे चार्थे यथासंख्यं तिसंज्ञौ भवतः । अलङ्कृत्य । भूषयित्वेत्यर्थः । अन्तर्हृत्य । मध्ये हृत्वेत्यर्थः । भूषाऽपरिग्रह इति किम् ? अलं कृत्वा । अन्तर्हृत्वा मूषिका गताः । पर्याप्तं कृत्वेत्यर्थः । परिग्रहेत्यर्थः । “तिरोऽन्तर्द्धौ” [१।२।१४०] इति ज्ञापकादन्तःशब्दस्य गिमंज्ञाऽपि । अङ्गिविधिण्येपु प्रयोगदर्शनात् । अन्तर्द्धौ । अन्तर्द्धिः । अन्तर्ण्यैः ।

कणोमनः शब्दाघाते ॥१।२।१३६॥ शब्दाघातोऽभिलाषनिवृत्तिः । कणोमनःशब्दौ शब्दाघातेऽर्थे तिसंज्ञौ भवतः । कणेशब्द ईबन्तप्रतिरूपको निसंज्ञोऽभिलाषातिशये वर्तते । मनःशब्दोऽपि तस्माहचर्यादिह तादृशः । कणोहत्य भुङ्क्ते । मनोहत्य भुङ्क्ते । शब्दाघात इति किम् ? तन्दुलावयवे कणो हला गतः । मनो हला गतः । चेतो हृत्वेत्यर्थः ।

पुरोऽस्तं भिः ॥१।२।१३७॥ पुरस् अस्तमित्येतौ भिसंज्ञौ क्रियायोगे तिसंज्ञौ भवतः । पुरःशब्दः “पूर्वाधरावराणां पुरधवोऽसि” [४।१।१०३] इत्यत्र साधितः । अस्तंशब्दोऽनुपलब्धौ वर्तते । पुरस्कृत्य गतः । अस्तङ्गत्य पुनरुदेति । “नमःपुरसोस्त्योः” [५।४।२६] इति सत्वम् । भिरिति किम् ? पूः पुरो पुरः कृत्वा गतः । अस्तं कृत्वा काण्डं गतः ।

गत्यर्थवदेऽच्छः ॥१।२।१३८॥ भिरिति वर्तते । अच्छशब्दो भिसंज्ञः गत्यर्थे वदतौ च तिसंज्ञो भवति । अच्छगत्य । अच्छगम्य । “प्ये” [४।४।३८] “वा मः” [४।४।३९] इति वा मस्य खम् । अच्छोय । अच्छशब्दो दृढार्थे आभिमुख्ये च वर्तते । भिरित्येव । उदकमच्छं गत्वा ।

अनुपदेशेऽदः ॥१।२।१३९॥ अवचनात्मिका प्रतिपत्तिरनुपदेशः । अदःशब्दोऽनुपदेशे तिसंज्ञो भवति । अदःकृत्य । अनुपदेश इति किम् ? अदः कृत्वा गतः । एतत् कृत्वा गत इति परस्य कथयति ।

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥१।२।१४०॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धानि तिसंज्ञो भवति । तिरोभूय । अन्तर्द्धाविति किम् ? तिरो भूत्वा स्थितः । तिर्यग्भूत्वा स्थित इत्यर्थः ।

वा कृञि ॥१।२।१४१॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धौ कृञि वा तिसंज्ञो भवति । प्राप्ते विकल्पः । तिरस्कृत्य । तिरः कृत्वा । “तिरसो वा” [५।४।३०] इति सत्वम् । अन्तर्द्धावित्येव । तिरः कृत्वा काष्ठं गतः ।

उपाजेऽन्वाजे ॥१।२।१४२॥ उपाजे अन्वाजे ईबन्तप्रतिरूपकावेतौ कृञि वा तिसंज्ञौ भवतः । उपाजेकृत्य । उपाजे कृत्वा । अन्वाजे कृत्य । अन्वाजे कृत्वा । दुर्बलस्य भग्नस्य वा बलाधानं कृत्वेत्यर्थः ।

सान्नादादिः ॥११२।१४३॥ वंति वर्तते । सान्नात्प्रभृतीनि शब्दरूपाणि कृञि वा तिसंज्ञानि भवन्ति । “च्विहाजूर्यादिः” [१।२।१३२] इत्यतो मण्डूकश्रुत्या क्विग्रहणमर्थपरमनुवर्तते । तेन च्व्यर्थे- तिसंज्ञाविकल्पोऽयम् । सान्नात्कृत्य । सान्नात्कृत्वा । मिथ्याकृत्य । मिथ्याकृत्वा । यदा च्विरुपपद्यते तदा “च्विहाजूर्यादिः” इत्यनेन नित्यं तिसंज्ञा भवति । सान्नात् । मिथ्या । चिन्ता । भद्रा । रोचना । लोचना । अमा । आस्था । श्रद्धा । आस्ता । प्राजुर्या । प्राजरुहा । बीजुर्या । बीजरुहा । संसर्या । अर्थे । लवणम् । उष्णम् । शीतम् । उदकम् । आर्द्रम् । तिसन्नियोगे लवणादीनां मकारान्तत्वं निपात्यते । अग्नौ । वसे । विकसने । *विकम्पने । विहसने । अग्नौप्रभृतय ईवन्तप्रतिरूपका निपातनं वा । वेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तनाल्लवणादीनां च्यन्तानां मकारौकारनिपातनं न भवति । लवणीकृत्य । वशीकृत्य । नमस् । प्रादुराविःशब्दौ ऊर्यादिष्वपि पठ्येते । तयोः कृञि विकल्पार्थं इह पाठः ।

मनस्युरस्यनत्याधाने ॥११२।१४४॥ मनसिउरसिशब्दौ ईवन्तप्रतिरूपकौ निपातनं च । अत्याधान-मुपरलेपः । मनसि उरसि इत्येतौ अनत्याधानेऽर्थे कृञि वा तिसंज्ञौ भवतः । उरसिकृत्य । उरसि कृत्वा । मनसिकृत्य । मनसि कृत्वा । निश्चिन्त्येत्यर्थः ; अनत्याधान इति किम् ? उरसि कृत्वा पाणिं शेते ।

मध्ये पदे निवचने ॥११२।१४५॥ अनत्याधान इति वर्तते । मध्ये पदे निवचने इत्येते शब्दाः कृञि वा तिसंज्ञा भवन्ति अनत्याधाने । एकारान्तता पूर्ववद्देदितव्या । मध्येकृत्य । मध्ये कृत्वा । पदेकृत्य । पदे कृत्वा । निवचने इति वचनाभावे वर्तते । निवचनेकृत्य । निवचने कृत्वा । अनत्याधान इत्येव । हस्तिनः पदे कृत्वा हस्तमास्ते ।

हस्ते पाणौ स्वीकृतौ तिः ॥११२।१४६॥ हस्ते पाणौ इत्येतौ स्वीकृतावर्थे कृञि तिसंज्ञौ भवतः । हस्तेकृत्य । पाणौकृत्य । भार्या कृत्वेत्यर्थः । स्वीकृताविति किम् ? हस्ते कृत्वा कार्पाणं गतः । नात्र दार-स्वीकारः । पुनस्तिग्रहणं नित्यार्थम् ।

प्राध्वं बन्धे ॥११२।१४७॥ प्राध्वमिति मकारान्तो भिसंज्ञः शब्द आनुलोम्ये वर्तते । प्राध्वंशब्दः कृञि तिसंज्ञो भवति बन्धो निमित्तं चेत् । प्राध्वंकृत्य । बन्धनिमित्तमानुलोम्यमिह प्राध्वंकरणम् । बन्ध इति किम् ? प्रगतमध्वानं प्राध्वं कृत्वा शकटं गतः । “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति पसः । “नेरध्वनः” [३।१।८७] इति सान्तोऽकारः । प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रयणे प्रत्युदाहरणमिदम् ।

जीविकोपनिषदाविवे ॥११२।१४८॥ उपनिषद्वहस्यम् । जीविका उपनिषदित्येतौ शब्दाविवशब्दस्यार्थे कृञि तिसंज्ञौ भवतः । जीविकाकृत्य । उपनिषत्कृत्य । जीविकामिव उपनिषदमिव कृत्वेत्यर्थः । इवाथ इति किम् ? जीविकां कृत्वा गतः ।

प्राग्धोस्ते ॥११२।१४९॥ प्रयोगनियमोऽयम् । ते गितिसंज्ञा धोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः । तथा चैवोदा-हृतम् । ते इति वचनं किमर्थम् । अनन्तराणां तीनां गीनां च ग्रहणार्थम् ।

लो मम् ॥११२।१५०॥ नवानां लकाराणामनुबन्धापाये ल इति सामान्येन निर्देशः । लादेशो मसंज्ञो भवति । मिप् वस् मस् सिप थस् थ तिप् तस फि शतृ । नपा निर्देशः पुंल्लिङ्गया दसंज्ञया बाधा यथा स्यात् । समावेशे हि आक्रमत आदित्यः । सङ्गस्यत इत्यत्र “क्रमो मे” [५।२।७१] दीत्वं “गमेरिष्मे” [१।१।१०६] इति इट् प्रसज्येत । शतरि मसंज्ञा सावकाशेति मिङ् लु वक्ष्यमाणाभिरस्मदादिभिः संज्ञाभिर्बाध्यत्वं नाशङ्कनीयम् । “सावैरमे” [५।१।७७] इति वचनं ज्ञापकं मिङां मसंज्ञाऽपि भवतीति ।

इङानं दः ॥११२।१५१॥ इङिति प्रत्याहार इङित्यतः प्रभृति आ भङो ङकारेण । इङ् च आनङ्च दसंज्ञौ भवतः । इट् वहि महि थास् आथाम् ध्वम् त आताम् भङ् । आन इति शानो गृह्यते ।

मिङ्कलिशोऽस्मद्युष्मदन्याः ॥११२।१५२॥ मिङो मसंज्ञानि च त्रीणि त्रीणि वचनानि अस्मद्युष्म-दन्य इति एवसंज्ञानि भवन्ति । मिप् वस् मसित्यस्मद् । सिप् थस् थेति युष्मद् । तिप् तव् भीत्यन्यः ।

दानामपि । इट् वहि महि इत्यस्मद् । यास् आथां ध्वमिति युष्मद् । त आतां भङ्गित्यन्यः । मिङ् इति किम् ? अनुत्तरस्य दस्य मस्य च ग्रहणार्थम् । त्रिश इति “संख्यैकाद्वीप्सायाम् [१२।१८] इति शस् ।

साधने स्वार्थे ॥१२।१५३॥ अस्मदादयोऽन्वयसंज्ञा अनुवर्तन्ते । लस्येत्यधिकृत्याविशेषेण मिङ्-दयो विहितास्तन्नियमोऽयम् । स्वस्यार्थः स्वोऽर्थो वा स्वार्थस्तस्मिन् स्वार्थे साधनेऽस्मदादयो वेदितव्याः । अस्मत्पदस्यार्थे साधनेऽस्मत्त्रिकं युष्मत्पदस्यार्थे साधने युष्मत्त्रिकमाभ्यामन्यस्यार्थे साधनेऽन्यत्रिकं भवति । अस्मदाद्यर्थानां साधनत्वे सति नियमोऽयम् । ततोऽस्मदादिपदानामनुप्रयोगे सत्यवति चास्मदादयो भवन्ति । अहं पचामि । आवां पचावः । वयं पचामः । पचामि । पचावः । पचामः । त्वं पचसि । युवां पचथः । यूयं पचथ । पचसि । पचथः । पचथ । स पचति । तौ पचतः । ते पचन्ति । पचति । पचतः । पचन्ति । एवं द्विधावपि योज्यम् । भावेऽस्मद्युष्मदर्थयोरभावात् भावस्य चाभ्यामन्यत्वादेकत्वाच्च तस्मिन् साधनेऽन्य एव भवति । आस्यते भवता । ग्लायते भवता । यत्रास्मदाद्यर्था युगपत् साधनं तत्र क इष्यते ? पूर्वनिर्णयमेव यः पूर्वः । अत्र किमस्मदर्थ एव साधनेऽस्मद् भवतीत्यवधियते आहोस्विदस्मदर्थे साधनेऽस्मदेव भवतीति । उभयथाऽप्यदोषः सर्वेषां नियतत्वात् । ननु द्वितीये पक्षे त्वया (मया) कुर्वाणेनेत्यत्र दोषः । मैवम् । त्रिकापेक्षया नियमो न साधनापेक्षया ।

प्रहासे ऋच ॥१२।१५४॥ युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च ॥१२।१५४॥ मन्य इति मन्यतेरेकदेशः । ब्रूते इति वाक् । मन्यो वाक् यस्य प्रहासस्य तस्मिन् मन्यवाचि प्रहासे गम्यमाने युष्मद्भवति मन्यतेश्चास्मद्भवति एकवच्च । अस्मद्युष्मदोर्व्यत्ययार्थोऽयमारम्भः । एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता । एहि मन्यसे रथेन यास्यामीति प्राप्तम् । एवमेहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे न हि भोक्ष्यसे भुङ्क्तः सोऽतिथिभिः । द्वित्वबहुत्वविबन्ना-यामपि मन्यतेरेकवद्भावो भवति । एवं मन्ये रथेन यास्यथ न यास्यथेति । प्रहास इति किम् ? एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्य इति सुष्ठु मन्यसे साधु मन्यसे ।

एकद्विवहवश्चैकशः ॥१२।१५५॥ यान्यस्मद्युष्मदन्यसञ्ज्ञानां संज्ञित्वेनोपात्तानि षट् त्रिकाणि तान्ये-कश एक द्वि बहु इत्येवंसंज्ञानि भवन्ति । मित्रित्येकः । वसिति द्विः । मसिति बहुः । एवं शेषेषु योज्यम् । अस्म-दादिसंज्ञाः पुंल्लिङ्गा एकादिभिः सह समाविशन्ति ।

सुपश्च ॥१२।१५६॥ त्रिश इति वर्तते । सुपश्च त्रिकाणि एकद्विबहुसंज्ञानि भवन्त्येकशः । सु इत्येकः औ इति द्विः । जसिति बहुः । एवं शेषेषु त्रिकेषु नेयम् । उभयत्र च्छाब्दः “साधने स्वार्थे” [१२।१५२] इत्यस्यानुकर्षणार्थः । एकार्थे साधने एको मिभभवति । द्वयर्थे द्विर्वस् । बह्वर्थे बहुर्मस् । एवं मिङ्ङु सुसु च योज्यम् । ननु च “साधने स्वार्थे” इत्येतन्मिङ् उपपद्यते यतः साधनं कारकं क्रियाया निर्वर्तकं क्रिया च ध्वर्थः । धोश्च मिङो विहिता इति साधनवाचित्वोपपत्तः । सुपस्त्वक्रियावाचिनो ङथाम्भूदो विधीयन्त इति तत्र साधने स्वार्थ इत्येतन्न घटते । नैष दोषः । अक्रियावाचिनोऽपि विधीयमानाः सुपः क्रियावाचिपदान्तरमा-काङ्क्षन्ति । पदान्तरवाच्यायाः क्रियायाः साधनभावोपपत्तः सुप्स्वपि “साधने स्वार्थे” इत्ययं व्यवहारो युज्यते । देवदत्तः पचति देवदत्तौ पचतः । देवदत्ताः पचन्ति । यत्रापि क्रियापदं न प्रयुज्यते वृद्धः प्लद्ध इति तत्राप्य-स्ति भवतीति परः सन्निहितस्तदपेक्षया व्यवहारः । मिङ्ः सामान्येन धुमात्राद्विधीयन्ते सुपश्च मृन्मान्नात्तेषां संकरेण प्राप्तौ नियमोऽयम् । त्यनियमोऽर्थनियमो वा । एवार्थ एव साधन एको भवति द्वयर्थ एव साधने द्विर्भवति बह्वर्थ एव (साधने) बहुर्भवतीति त्यनियमः । एकार्थं साधने एक एव भवति द्वयर्थे द्विरेव भवति बह्वर्थे बहुरेव भवतीत्यर्थनियमः । त्यनियमपक्षे “सुपो केः” [१२।१५०] इति वचनं जापकमेकत्वादीनामभावेऽप्युत्पद्यन्ते भेः सुप इति । अर्थनियमपक्षे एकत्वादयो नियतास्त्यान् व्यभिचरन्ति त्याः पुनरनियता एकत्वादीनामभावे व्यति-करणेन भिन्नञ्चकेभ्यो भवन्ति । तत्र “सुपो केः” [१२।१५०] इत्युपि कृतै सुवन्तं पदं भवति ।

विभक्ती ॥१२।२।१५७॥ सुप् इत्यनुवर्तते त्रिंश इति च । सुपां त्रीणि त्रीणि वचनानि विभक्तीसंज्ञानि भवन्ति । सु औ जसिति त्रिको वर्गस्तस्य विभक्ती इति संज्ञा । त्रिकसमुदाये संज्ञा । विहिताऽव्ययेऽप्युपचर्यते । एवं सर्वत्र सुपां त्रिकेषु योज्यम् । मिडं विभक्तीसंज्ञायां न गुणो नापि दोषः । विभक्तीशब्दस्य कथं सिद्धिः । विपूर्वाद्भजे: “क्विच्कौ खौ” [२।३।१५०] इति क्विच् । तस्मात् “क्वदिकारादफेः” [३।१।३१। ग० सू०] इति डीविधिः । महासंज्ञाकरणमुत्तरार्थम् ।

तासामाप्यरास्तद्धलच ॥१२।२।१५८॥ तस्य विभक्तीशब्दस्य हलोऽचश्च आकारपकारपगस्तासां विभक्तीनां यथासंख्यं संज्ञा भवन्ति । वा इप् भा अप् का ता ईप् इति एताः संज्ञाः । सुपस्त्रिंश इति चानुवर्तते । सु औ जसिति वा । अम् औट् शसिति इप् । टा भ्यां भिसिति भा । डे भ्यां भ्यसिति अप् । डसि भ्यां भ्यसिति का । डस् औप् आभिति ता । डि औम् सुप् इति ईप् । तासां ग्रहणं सुबिभक्त्युपादानार्थम् । “सपूर्वाया वायाः” [५।३।२३] इत्येवमादयो निर्देशाः सौत्राः ।

इत्यभयनन्दिर्विचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥२॥

समर्थः पदविधिः ॥१३।३१॥ परिभाषेयम् । समर्थपदाश्रयत्वात् समर्थः । पदसम्बन्धी विधिः पदविधिः । सर्वः पदविधिः समर्थो वेदितव्यः । समर्थानां पदानां विधिवेदितव्य इत्यर्थः । द्विविधं सामर्थ्य-मेकार्थीभावः परस्परव्यपेक्षा च । तत्र सविधिनामधुहद्विधिषु स्वभावत एकार्थीभावः सामर्थ्यमन्यत्र व्यपेक्षा । एकार्थीभावे सङ्गतार्थः संसृष्टार्थो वा समर्थः । व्यपेक्षायां सम्बद्धार्थः सम्प्रेक्षितार्थो वा समर्थः । वक्ष्यति “इप् ऋत् ऋत्तादीन्पतितगतात्यस्तैः [१।३।२१] धर्मं श्रितो धर्मश्रितः । समर्थग्रहणं किम् ? व्याचष्टे मुनिर्धर्मं श्रितः शिष्यो गुरुकुलम् । अत्र व्यपेक्षा नास्ति । “भा गुणोक्त्याऽर्थेनोनेः” [१।३।२७] । मदेन पटुर्मदपटुः । समर्थ-ग्रहणं किम् ? दन्ती भ्रमति मदेन पटुः शास्त्रेण । “असदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः” [१।३।३१] । रथाय दारु रथदारु । समर्थग्रहणं किम् ? गच्छ त्वं रथाय दारु देवदत्तस्य गेहे । “का भीभिः” [१।३।३२] । संसाराद्भयं संसारभयम् । समर्थग्रहणं किम् ? ध्यानी निष्कामति संसाराद्भयमरण्ये । “ता” [१।३।७०] । मोक्षस्य मार्गो मोक्षमार्गः । समर्थग्रहणं किम् ? अनन्तसुखं मोक्षस्य मार्गः स्वर्गस्य व्रतम् । “ईष्णौषेः [१।३।३५] । अक्षेषु शौण्डोऽक्षशौण्डः । समर्थग्रहणं किम् ? मूढः शक्तोऽक्षेषु शौण्डः पिबति पानागारे । पदग्रहणं किम् ? तिष्ठतु दध्यशान त्वं साकेन । तिष्ठतु कुमारी, छत्रं हर देवदत्तात् । वर्षाविधौ समर्थपरिभाषा नावतरतीत्यानन्तर्यमात्रेण यणादेशस्तुग्विधश्च भवति । “वा पदस्य” [४।३।६४] इत्यत्र पदग्रहणं द्विमात्रस्य विशेषण-मिति पदविधिरयं न भवतीति विकल्पेन तुक् ।

सः ॥१।३।२॥ स इत्ययमधिकारो वेदितव्य आ पादपरिसमाप्तेः । समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिश्चाश्रीयते तेन पदसमुदाये संसंज्ञा न प्रत्येकमिति । वक्ष्यति “यावद्यथावद्यत्यसादरये” [१।३।६] । यथावृद्धमतिथीन् भोजय । नित्यत्वात् सविधेरस्वपदविग्रहेणार्थः प्रदर्श्यते ये ये वृद्धा इति । वीप्सायां यथाशब्दः । स इति पुंलिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? हादिभिर्विशेषसंज्ञाभिः समावेशो यथा स्यात् ।

सुप् सुपा ॥१।३।३॥ सुबन्तं सुबन्तेन सह सो भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यमापादपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति-“इसच्छ्रुता” [१।३।२१] इत्यादि । धर्मश्रितः । लक्षणञ्च दं सुबन्तं सुबन्तेन सह सो भवति । यहच्छ्रुयाऽतर्कितोपदिश्यते चित्रीकरणे वाऽयमिष्यते । तेन काकतालीयादयः सिद्धाः । तथाहि यहच्छ्रुया तालस्य पतनं सन्निहितं काकश्वातर्कित उपरिस्थतः स काकस्तेन तालेन पतता हतः । अस्मिन्नर्थेऽनयोः सामान्येन सः । काकश्च तालञ्च काकतालां तदिव काकतालीयम् । “इवे प्रतिश्रुतौ” [४।१।१५०] इत्यधिकृत्य “कुशा-प्राच्छः” [४।१।१५१] इति चानुवर्तमाने “सात्तद्विषयात्” [४।१।१६०] इति च्छो भवति । एवम-जाकृपाणीयमन्धकवर्तकीयम् ।

हः ॥१।३।४॥ अधिकारोऽयम् । यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो हंसंज्ञास्ते वेदितव्याः पमित्यतः प्राक् ।

१.-न्दिरचि-अ० । २.-र्था महा-अ० । स० । ३. द्विविधम् इति अ० व० स० पुस्तकेषु नास्ति ।

वक्ष्यति “स्तोके प्रतिना” [१।३।७] सूपप्रति । शाकप्रति । अस्वपदेन विग्रहः । अस्यत्र किञ्चित् सूपस्य मात्रा स्तोकिमिति वा । अत्रान्ये मन्यन्ते अनव्ययस्याव्ययभवनभव्ययीभाव इत्यन्वर्थसंज्ञा कर्तव्या । एतच्चायुक्तम् । असंख्यस्य भिसंज्ञा युज्यते । अस्य च संख्या विद्यते । उपकुम्भेन । उपकुम्भाभ्याम् । उपकुम्भैः । दोषः खल्वपि भिसंज्ञायां “भिसर्वनाम्नोऽक् प्राक्टेः” [४।१।१३०] इति यथेहाग्भवति । उच्चकैः । नीचकैरिति । एवमिहापि प्राप्नोति उपाग्निकं प्रत्यग्निकमिति । तथा “खित्यकेः” [४।३।१७६] “सुमचः” [४।३।१७७] इति भेः प्रतिषेध उच्यते दोषामन्यमहः दिवामन्या रात्रिः । स इहापि प्राप्नोति । उपकुम्भमन्य । उपमणिकमन्यः । इह च “अस्य च्चौ” [१।२।१४१] इति भेः प्रतिषेधो वक्ष्यति दोषाभूतमहः विवाभूता रात्रिरिति । स इहापि प्राप्नोति । उपकुम्भीभूतः । उपमणिकीभूतः । तस्माल्लघीयसी ह इति संज्ञा युक्ता । यद्येवं “कृकमिक्संभ्रुकुगाकर्षीपात्रेऽतो केः” [१।४।३४] इत्यनेन सत्वस्य प्रतिषेधो न प्राप्नोति उपपद्य कार इति । अद्युस्थस्येति तत्र वर्तते । हसे च द्युस्थो भवतीति प्रतिषेधः सिद्धः । पूर्वपदप्राधान्यञ्च हसस्याभिधानवशाज्ज्ञेयम् । ह्यप्रदेशाः “हात्” [१।४।१५१] इत्येवमादयः ।

भि विभक्त्यभ्यासद्वयार्थभावातीत्यसंप्रतिव्युद्धि-शब्दप्रभवपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसंपत्साकल्यान्तोक्तौ ॥ १।३।५ ॥ विभक्ती-अभ्यास-श्रुद्धि-अर्थाभाव-अतीति-असंप्रति व्युद्धि-शब्दप्रभव-पश्चात्-यथा-आनुपूर्व्य-यौगपद्य-सम्पत्-साकल्य-अन्तोक्ति इत्येतेष्वर्थेषु यत् भिसंज्ञं वर्तते तत् सुवन्तेन समर्थेन सह हसंज्ञकः सो भवति । विभक्त्यर्थः कारकर्माधिकरणदि । स्त्रीषु कथा वर्तते । अधिस्त्रि । अधिकुमारि । ईधन्तेन वृत्तिः । “हश्च” [१ । ४ । ६४] इति नपुंसकलिङ्गातिदेशः । “प्रो नपि [१।१।७] इति प्रादेशः । “हात्” [१ । ४ । १५१] इति सुप उप् । अभ्यासः-समीपम् । उपकुम्भम् । उपगुरु । कुम्भस्याभ्यास इत्यर्थप्रदर्शनम्, तान्तेन वृत्तिरिति केचित् । तदयुक्तम् । उपशब्दोऽयं द्योतकः स उत्तरपदार्थव्यतिरेकं न जनयति अभ्यासादीनान्तु शब्दानां वाचकानां सन्निधाने व्यतिरेकः प्रतीयते यथा धवश्च खदिरश्चेत्यस्यार्थे समुच्चयो धवखदिरस्य । तस्माद्दान्तेन वृत्तिः । विभूतेराधिक्यं श्रुद्धिः । मद्राणां श्रुद्धिः सुमद्रं सुमगधं वर्तते । पूर्वपदार्थस्य प्राधान्ये हसः । यदा तु मद्रा श्रुद्धया विशिष्यन्ते तदा शोभना मद्राः सुमद्रा इति “तिकुम्भादयः” [१ । ३ । ८१] इति षसः । अर्थाभाव उत्तरपदार्थप्रध्वंसः । अभावो मन्त्रिकाणाममन्त्रिकम् । विमन्त्रिकम् । निर्मन्त्रिकम् । अर्थग्रहणं किम् ? धर्माभावे इतरेतराभावे च मा भूत् । न भवति ब्राह्मणो गौरश्चो न भवतीति । अतीतिरतीतत्वम् । स्वत एवातिक्रान्तत्वमित्यर्थः । अतीतानि तृणानि अतृणम् । नितृणम् । एवं निशीतं निवातं वर्तते । न सम्प्रति असम्प्रति नेदानीमित्यर्थः । न सम्प्रति तैसुकमर्तितैसुकम् । नायं तैसुकस्याच्छादनस्योपभोगकाल इत्यर्थः । तिसुका नाम ग्रामस्तत आगतं तैसुकम् । विगम श्रुद्धेत्युद्धिः । गर्ब्दकानामृद्धेविगमो दुर्गर्ब्दिकम् । दुर्यवनम् । शब्दप्रभवः शब्दस्य प्रकाशमानता । श्रीदत्तस्य शब्दप्रभवः इति श्रीदत्तम् । तच्छ्रीदत्तमहो श्रीदत्तम् । श्रीदत्तशब्दो लोके प्रकाशत इत्यर्थः । पश्चात्—रथानां पश्चादनुरथं पादातम् । यथार्थो योग्यता । अनुरूपं सुरूपो वहति । सादृश्यमपि यथार्थः । उत्तरत्रासादृश्य इति प्रतिषेधाज्ज्ञायते । सहशं व्रतस्य सव्रतम् । सशीलम् । “हेऽकाले” [४।३।१८६] इति सहस्य सादेशः । पूर्वं पूर्वमनुपूर्वं तस्य भाव आनुपूर्व्यम् । अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः । ज्येष्ठानुक्रमेणेत्यर्थः । आनुपूर्व्यं विन्यासविशेष इति यथार्थात् पृथगुक्तम् । यौगपद्यसम्पत्साकल्यान्तोक्तिषु सहशब्दो वर्तते । यौगपद्यमेककालता । सचक्रं धेहि । युगच्छक्रे धेहीत्यर्थः । सधुरं प्राज । युगपद्भुरौ प्राजेत्यर्थः । सम्पत् सिद्धिः । आत्मभावनिष्पत्तिरित्यर्थः । वृत्तस्य सम्पत् क्षत्रस्य सम्पत् सवृत्तं साधूनाम् । सद्धत्रं शालङ्कायनानाम् । साकल्य—सतृणमभ्यवहरति । सर्वेण सहाभ्यवहरतीत्यर्थः । अन्तः समाप्तिः—प्राभूतपर्यन्तमधीते । एवं सबन्धं सटीकम् । अत्र परिसमाप्तिरसाकल्येऽव्यय्यने प्रतीयत इति साकल्येऽनन्तर्भावः । इह आचण्डालं प्रयच्छतीति अन्तोक्तिरभिधिविधिरप्यस्ति । परत्वात् “पर्य-पाञ्चबहिरञ्चवः कयाः” [१।३।१०] इति विभाषा भवति । आचण्डालमाचण्डालेभ्य इति । “वीप्सावा वा हसो वक्ष्यः” [वा०] प्रत्यर्थम् । प्रतिपर्यायम् । अर्थमर्थं प्रति । पर्यायं पर्यायं प्रति ।

यावद्यथावधृत्यसादृश्ये ॥१३१६॥ प्रसक्तस्य परिमाणमवधृतिः । सादृश्यं तुल्यता । यावत् यथा इत्येतौ शब्दावधृति असादृश्य इत्येतयोरर्थयोः सुपा सह यथासंख्यं हसो भवति । यावदमत्रं यावदवकाशमतिथीन् भोजय । यावन्त्यमत्राणि तावतो भोजयेत्यवधार्यते । यथावृद्धं साधूनर्चय । यथापटु । यथाध्यापकम् । वृद्धानतिक्रमेणेत्यर्थः । उत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्न्याशाब्दस्यार्थो वीप्सा सादृश्यञ्च । अवधृत्यसादृश्य इति किम् ? यावद् दसं तावद्भुक्तम् । यथा देवदत्तस्तथेन्द्रदत्तः । पूर्वणैव यथार्थे हसे सिद्धे सादृश्ये प्रतिषेधार्थमिह यथाशब्दोपादानम् । गुणक्रियाङ्गायासादृश्ये हसो वक्तव्यः [वा०] गुणः—यथाशक्ति । यथाबलम् । क्रिया—यथोपदेशम् । छाया—यथासुखम् । न वक्तव्यम् । अत्राप्युत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्गम्यते ।

स्तोके प्रतिना ॥१३१७॥ भीति निवृत्तम् । स्तोके मात्रा । स्तोकेऽर्थे प्रतिना सह सुबन्तं हसो भवति । सूपस्य मात्रा सूपप्रति । शाकप्रति । स्तोक इति किम् ? वृद्धं प्रति विद्योतते विद्युत् । लक्षणेऽत्र प्रतिशब्दो वर्तते ।

परिणाऽक्षशलाकासंख्याः ॥ १३१८ ॥ अक्षशब्दः शलाकाशब्दः संख्या च परिणा सह हसो भवति । परिणाक्षशलाकासंख्यमिति सिद्धे बहुवचननिर्देशादिष्टसंग्रहो लब्धो वेति सिंहावलोकनाद्वा । अक्षादयो यदा भान्ता एकत्वञ्चाक्षशलाकयोः पूर्वोक्तस्यान्यथावृत्तौ परिशब्दो यदा वर्तते कितवव्यवहारविषये तदा वृत्तिरिष्यते । तथाहि पञ्चिका नाम द्यूतं यत्र पञ्चान्ताः शलाका वा पात्यन्ते पञ्चत्वेकरूपासु पातयिता जयत्यन्यथा पाते जीयते । अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं जये । अक्षपरि । शलाकापरि । संख्या—एकपरि । द्विपरि । त्रिपरि । चतुःपरि । परिण्यति किम् ? सुबन्तमात्रे मा भूत् । अक्षादय इति किम् ? पाशकेनेदं न तथा वृत्तम् । एकत्वेऽक्षशलाकयोरिति किम् ? अक्षाभ्यां न तथा वृत्तम् । कितवव्यवहार इति किम् ? अक्षेणेदं न तथा वृत्तं शकटे ।

वा ॥१३१९॥ वेत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तद्वा भवतीति वेदितव्यः । इत उत्तरः सविधिर्वा भवति पक्षे वाक्यमपि साधु भवति । पूर्वस्तु सविधिर्नित्यः । तेनास्वपदेन तत्र विग्रहो ज्ञेयः ।

पर्यंपाङ्कबहिरञ्चवः कया ॥१३१०॥ परि अप आङ् बहिस् अञ्चु इत्येते सुबन्ताः कान्तेन सह वा हसो भवति । परित्रिगर्तं वृष्टो देवः । वाक्यपक्षे परेर्वर्जने वा वचनमिति वा द्वित्वम् । परि परि त्रिगर्तभ्यः । परि त्रिगर्तभ्यः । अप त्रिगर्तभ्यः । “वर्जनेऽपपरिभ्याम् [१४१२१] इति का । आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः । पाटलिपुत्रात् । आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य । आ कुमारेभ्यः । “काङ्गामर्यादावचने” [१४१२०] इति मर्यादाभिधियोः का । बहिर्ग्रामम् । बहिर्ग्रामात् । इदमेव ज्ञापकं बहिःशब्दयोगे का भवति । अञ्चु । प्राग्रामम् । प्राग्रामात् । प्राची दिग् रमणीया इति विग्रह्य “दिक्लब्धेभ्यो वा केऽभ्योऽस्ताद्विग्देहायोः काले” [४१११२] इति अस्तात् । तस्य “अञ्चेरूप” [४१११६] इत्युप् । “सुपो केः” [१४११५०] इति सुप उप् । पदत्वात् कुत्वम् । तेन योगे ता प्राप्ता तां बाधित्वा दिक्लब्धत्वात् का प्राप्ता तां बाधित्वा “ताऽतसर्थे त्येन” [१४१३६] इति तायां प्राप्तायाम् “अञ्चुद्यु” [१४१३८] इति का भवति । कयेति किम् ? परिगतः । अपगतः । वर्जनार्थाभावात् का नास्तीति “तिकुप्रादयः” [१३१८१] इति नित्यं पसो भवति ।

लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती ॥१३११॥ लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् । तद्वाचिना सुबन्तेन सह अभिप्रतिशब्दावाभिमुख्ये वर्तमानौ वा हसो भवति । अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । अग्निमभि पतन्ति । अग्निं प्रति पतन्तीति वाक्यम् । अत्राग्निना चिह्नेन शलभपातो लक्ष्यते । “वीप्सेत्यम्भूतलक्षणेऽभिना” [१४१११] इप् । “भागे चानुप्रतिपरिणा” [१४११२] इति चेप् । लक्षणेनेति किम् ? लुध्न् प्रति गतः । दिङ्मोहात्तत्रैव पुनरागत इत्यर्थः । आभिमुख्य इति किम् ? अभ्यङ्गा गावः । अभिनवः प्रतिनवोऽङ्को यासामिति । यद्यपि पूर्वपदार्थप्रधानो हसस्तथापीहार्थविशेषाभावेऽन्यपदार्थेऽपि स्यात् । अभिप्रती इति किम् ? येनाग्निस्तेन गतः । येनेत्यस्याग्निना सह हसो न भवति ।

यत्समयाऽनुः ॥११३१२॥ समयावाची अनुशब्द उपचारात् समया । यस्य समया यत्समया । मुख्येन समयाशब्देन योगाभावादिन् भवति । अत एव “न क्ति” [११४७२] इत्यादिनाऽऽऽऽ न तासप्रतिषेधः । अनुर्यत्समयावाची तेन लक्षणभूतेन सह वा हसो भवति । अनुवनं गतोऽशनिः । वनमनुगत इति वाक्यम् । “भागे चानुप्रतिपरिणा” [११४१२] इति लक्षणा इप् । वनेन समीपस्थमशनिगमनं लक्ष्यते । “क्ति विभक्त्यभ्यास-” [११३५] इत्येवं सिद्धे विकल्पार्थं वचनम् । यत्समयेति किम् ? वृत्तमनु विद्योतते ।

आयामिना ॥११३१३॥ अनुरिति वर्तते । लक्षणेनेति च । अनुनाऽऽयामिना लक्षणभूतेन सह वा हसो भवति । द्वयोः प्रकृष्टहीनयोर्दीर्घयोर्गोऽनुः प्रयुज्यमान उभयोर्दीर्घत्वमाह । तत्र प्रसिद्धाऽऽयामेन लक्षणेनातिशयेन दीर्घेण वा हसवृत्तिर्भवति । अनुगङ्गं वाराणसी । अनुशोर्नं पाटलिपुत्रम् । वाक्यमपि साधु भवति । गङ्गामन्वायता वाराणसी । नद्यायामेन पत्तनायामो लक्ष्यते । लक्षणे इप् । अथवा “हेतावनुना” [११४१३] । “भाऽर्थे” [११४१४] इतीच् । गङ्गया सहायतेत्यर्थः ।

तिष्ठद्गु ॥११३१४॥ तिष्ठद्गु इत्येवमादीनि च शब्दरूपाणि हसंज्ञानि भवन्ति । समुदाया एते हसंज्ञाः कार्यार्थं (कार्यार्थाः) पाठादेवं निपात्यन्त इत्यर्थः । तिष्ठद्गु कालविशेषेऽन्यपदार्थे । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहाय तिष्ठद्गु । “त्यद्यो” [५११२७] इति लटः शत्रादेशो निपातनाद्वा । “क्लीगोर्ज्ञेचः” [१११८] इति प्रादेशः । वहन्ति गावो यस्मिन् काले वहद्गु । आयतीगवम् । पूर्वपदस्य निपातनात् पुंवद्भावाभावो ऽकारश्च सान्तो निपात्यते । खलेबुसम् । निपातनादीपोऽलुप् । लूनयवम् । लूयमानयवम् । लूयन्ते यवा यस्मिन् काले त्यद्योरिति लटः शानादेशः । पूतयवम् । पूयमानयवम् । संहृतयवम् । संह्रियमाणयवम् । संहृतबुसम् । संह्रियमाणबुसम् । एते कालविशेषेऽन्यपदार्थं उक्ताः । समभूमिसमपदातिशब्दौ पूर्वपदार्थप्रधानौ समत्वं भूमेः समत्वं पदातेरिति । उत्तरपदार्थप्रधाने तु समा भूमिः समभूमिरिति षस एव । हसे पूर्वपदस्य केचिन्मकारान्तत्वमपीच्छन्ति । समभूमि । समपदाति । सुपमम् । विषमम् । निष्यमम् । दुष्पमम् । अवरसमम् । समशब्देन पूर्वपदार्थप्रधान्ये हसः । अत्र शोभनन्वयं समस्येवमादिवाक्यमर्थमर्थम् । उत्तरपदार्थप्रधान्ये तु षसः । समाशब्दः संवत्सरवाचि । तेन वक्ष्यमाणो हसः । आयतीसमा । आयतीसमम् । पापसमम् । पुण्यसमम् । केचित्तु समशब्देनैव भासमिच्छन्ति । आयत्या सममायतीसमम् । प्रगतमहः प्राहम् (प्राहम्) । उत्तरपदार्थप्रधान्ये षसः । प्राह्णे (ह्णे) कल्याणनामानावुदितौ तिथ्यनुवर्षम् । प्रथम् । प्रमृगम् । प्रदक्षिणम् । अपदक्षिणम् । सम्प्रति । असम्प्रति । इच्-दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । “ज इच्” [४१२१२८] इति इच् सान्तः । “अन्यस्यापि” [४१३१२३२] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । चशब्दोऽवधारणार्थः । तिष्ठद्गुवादीन्येव नान्यैः सह वृत्ति लभन्ते । परमं तिष्ठद्गु । “सन्महस्परमो” [११३५६] इत्यादिना षसो न भवति ।

पारे मध्ये तथा वा ॥११३१५॥ पारे मध्ये शब्दौ तान्तेन सह हसो भवति वावचनात्तासोऽपि । प्रकृतेन वाग्रहणेन वाक्यस्य साधुत्वमभ्यनुज्ञायते । हसन्नियोगेन वानयोरेकारान्तता निपात्यते । पारं गङ्गायाः । मध्यं गङ्गायाः । पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । तासपत्ने गङ्गापारम् । गङ्गामध्यम् ।

संख्या वंशेन ॥११३१६॥ विद्याजन्मादिकृतः सन्तानो वंशः । तत्र भवो वंश्यः । संख्या वंश्यवाचिना सह हसो भवति । द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंशौ द्विमुनि व्याकरणस्य । अत्र सम्बन्धे ता । यदा व्याकरणस्याचार्ययोरभेदविवक्षा यावेतौ द्वौ मुनी तावेव व्याकरणमिति द्वौ मुनी वंशौ द्विमुनि व्याकरणमिति तदा सामानाधिकरण्यं भवति । एवं सप्तकाशि । त्रिकोशलम् । एकाश्रयस्य वसस्य चापवादोऽयम् ।

नदीभिश्च ॥११३१७॥ बहुवचननिर्देशादर्शस्येदं ग्रहणम् । नदीवार्त्तिभिः शब्दैः सह संख्या हसो भवति । सप्त सिन्धवः समाहृताः सप्तसिन्धु । सप्तगङ्गम् । द्वियमुनम् । तिस्रो गोदावर्यः समाहृताः त्रिगोदावरम् । “कृष्णोदकपाण्डुपूर्वाया भूमेरः सान्त इत्येते । गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदा ॥” इति

अस्यः सान्तो भवति । नदीशब्दोऽपि नदीवचन इति तेनापि वृत्तिः । पञ्चनदम् । अत्राऽप्यः सान्तः । चकारः किमर्थः ? समाहारे यथा स्यादिह मा भूत् । द्वीरावतीको देशः । एका नदी एकनदी ।

खावन्यपदार्थे ॥११३१२८॥ संख्येति निवृत्तम् । नदीभिरिति वर्तते । अन्यपदार्थे खुविषये नदीभिः सह सुवन्तं हसो भवति । उन्मत्तगङ्गं देशः । लोहितगङ्गम् । शनैर्गङ्गम् । तूष्णीगङ्गम् । अत्र वृत्तिपदेन संज्ञा गम्यत इति सामर्थ्यान्नित्यः सविधिः । उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् देशे इति सादृश्यमात्रेणार्थकथनं यथा गौरित्यस्यार्थे गच्छतीति । खाविति किम् ? शीघ्रा गङ्गा यस्मिन् देशे स शीघ्रगङ्गो देशः । अन्यपदार्थ इति किम् ? कृष्णावेष्णा । कृष्णावेष्णा नाम नदीविशेषलक्षणः ।

षम् ॥११३१२९॥ अधिकारोऽयं प्राग् वसात् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः पसंज्ञः सो भवति इत्येवं वेदितव्यम् । वक्ष्यति “इत्सच्छ्रितातीतपतितगतात्यस्तैः” [११३१२९] । धर्मं श्रितो धर्मश्रितः । नपा निर्देशः किमर्थः ? इह वीरपुरुषको ग्राम इति पूर्वापरप्रथमादिसूत्रेण प्रातः स्वपदार्थविषयत्वादन्तरङ्गः पसो बहिरङ्गेन वसेन बाध्यो यथा स्यात् । उत्तरपदार्थप्रधानत्वं पसस्याभिधानवशात् ।

इपा च प्राप्तापन्ने ॥११३१२०॥ इवन्तेन सह प्राप्तापन्ने शब्दरूपे पसो भवति । प्रातो जीविकां प्रात-जीविकः । आपन्नो जीविकामापन्नजीविकः । “स्त्रीगोर्नीचः” [११११८] इति प्रादेशः । चकारः किमर्थः ? अकारादेशसमुच्चयार्थः । प्राता जीविकां प्राप्ताजीविका । आपन्ना जीविकामापन्नाजीविका । प्रपञ्चार्थमिदं सूत्रम् । वसेनाप्येतत् सिध्यति । यदा कर्मणि क्लृप्तदा प्राप्ता जीविका येनेति विग्रहो यदा कर्तरि तदा प्राप्ता जीविका यं पुरुषमिति ।

इत्सच्छ्रितातीतपतितगतात्यस्तैः ॥११३१२१॥ तच्छ्रितेन प्राप्तापन्नयोर्ग्रहणम् । इवन्तं श्रित श्रितात् पतित गत अत्यस्त इत्येतैश्च सह पसो भवति । जीविकां प्रातो जीविकाप्रातः । सुखापन्नः । धर्मश्रितः । संसारमतीतः संसारातीतः । नरकं पतितो नरकपतितः । मोक्षं गतो मोक्षगतः । तुहिनमत्यस्तस्तुहिनात्यस्तः । इविति पदं सूत्रे वानिर्दिष्टं “वोक्तं न्यक्” [११३१२३] इति न्यक्संज्ञं तस्य वृत्तौ “पूर्वम्” [११३१२७] इति पूर्वनिपातः । महान्तं धर्मं श्रित इति सापेक्षत्वाद्ब्रह्मभावः । यदा महांश्चासौ धर्मश्च महाधर्म इति तदा महाधर्मश्रित इति भवति ।

स्वयं क्लेन ॥११३१२२॥ स्वयमित्येतत् भ्रिसंज्ञं क्लान्तेन सह पसो भवति । इर्वाधिकारोऽसम्भवादिमं योगमुत्प्लुत्य गच्छति । स्वयंधौतौ पादौ । स्वयंगुताः । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ।” स्वयं-विलीनमाज्यम् । ऐकपद्यं प्रयोजनम् । स्वयंधौतस्येदं स्वायंधौतम् ।

खट्वाऽक्रमे ॥११३१२३॥ आचार्यासनं खट्वा । उत्पथगमनमक्रमः । खट्वाशब्द इवन्तः क्लान्तेन सह पसो भवति अक्रमे । खट्वारूढो जालमः । खट्वाश्रितः । खट्वाप्लुतः । सर्व एते अविनीतपर्यायाः । गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वा आरोढव्या तदन्यथाकरणमक्रमाऽत्र प्रतीयते । अत्रापि वृत्तिपदनाक्रमां गम्यत इति नित्यः सविधिः । वाक्यं सादृश्यमात्रेण । अक्रम इति किम् ? खट्वामारूढोऽध्यापकोऽध्यापयति ।

सामि ॥११३१२४॥ सामि इत्यर्द्धवाचि भ्रिसंज्ञं तत् सुवन्तं क्लान्तेन पसो भवति । सामिकृतम् । सामिसुकृतम् । सङ्घाताद्भृदुत्पत्तिः प्रयोजनम् । इवित्युपेक्षया गच्छति ।

कालाः ॥११३१२५॥ कालवाचिनः शब्दा इवन्ताः क्लान्तेन सह पसो भवति । “कालाध्वन्यविच्छेदे” [११४१४] इत्यनेन या विहितेप् तस्या उत्तरसूत्रेणाक्लान्तेन वृत्तिं वक्ष्यति । विच्छेदे क्लान्तेनेहोदाहरणम् । षण्-सुहृत्ताश्चराः । ते उत्तरायणेऽहर्गच्छन्ति । दक्षिणायने रात्रिम् । तेन नास्त्यविच्छेदः । अहरतिष्ठता सुहृत्ताः । अहःसंक्रान्ताः । “रोऽसुपि” [११३१०८] इत्यहो नकारस्य रेफादेशः । रात्र्यारूढाः । रात्रिसंक्रान्ताः । मासं प्रमितो मासप्रमितश्चन्द्रमाः । मासं प्रमातुमारब्धः प्रतिपञ्चन्द्रमाः । तेन विच्छेदः ।

अविच्छेदे ॥११३१२६॥ क्लान्तेनेति निवृत्तम् । अविच्छेदोऽत्यन्तसंयोगः । कालाः इवन्ताः सुबन्तेन सह पसो भवति अविच्छेदे । अविच्छेदश्च कालस्य द्रव्यक्रियागुणैः सम्बन्धिभिर्भ्यामिति । अत्यन्तं सुखमत्यन्त-

सुखम् । अत्यन्तरमणीयम् । सर्वरात्रकल्याणी । सर्वरात्रशोभना । “कालाध्वन्यविच्छेदे” [१।४।४] इतीप् ।

‘भा गुणोक्तयाऽर्थेनोनैः ॥१।३।२७॥ भान्तं गुणोक्त्या अर्थशब्देन गुणवाचिभिश्च शब्दैः सह प्रसो भवति । शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः । “गुणवचनादुप्” [वा० ४।१।२३]” इति मतोरुप् । एवं गिरिणा काणः गिरिकाणः । मदेन पटुर्मदपटुः । कुसुमैः सुरभिः कुसुमसुरभिः । कार्यकारणभावलक्षणमत्र सामर्थ्यं शङ्कुलादिकृतत्वात् खण्डत्वादीनाम् । उक्तिग्रहणं किमर्थम् ? उच्यते इत्युक्तिः । गुणेनोक्तिर्गुणोक्तिः । गुणद्वारेण द्रव्ये यः शब्दो वर्तते तेन वृत्तिर्यथा स्यात् केवलेन गुणेन मा भूत् । मदेन पाटवम् । वृत्तेन पाटवम् । अर्थेन-धान्येनार्थो धान्यार्थः । पुरयेनार्थः पुरयार्थः । अर्थशब्दोऽत्र प्रयोजनवाची । ऊनैः—मापेणोनो माषोनः । माषविकलम् । एतैरिति किम् ? गोभिर्नपावान् । अस्त्यत्र कार्यकारणभावः । गोभिः कृतत्वाद्वपाव-त्त्वस्य । इह कस्मान्न भवति ? अक्षणा काणः । असामर्थ्यात् । नात्र काणखमन्नि कृतमन्येन केनापि काणः कृतः । केवलमक्षणा काणत्वपुक्तो लक्ष्यते । इह कस्मान्न भवति । दध्ना पटुः । घृतेन पटुः । अनभिधानात् ।

पूर्वावरसदृशकलहनिपुणमिश्रलक्षणसमैः ॥१।३।२८॥ पूर्व-अवर-सदृश-कलह-निपुण-मिश्र-श्लक्ष्ण सम इत्येतैः सह भान्तं प्रसो भवति । मासेन पूर्वो मासपूर्वः । संवत्सरपूर्वः । मासावरः । संवत्सरावरः । अस्मादेव वचनाद्भा । हेतौ वा । पित्रा सदृशः पितृसदृशः । “भाऽनुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः” [१।४।७६] इति भा । विद्यया सदृशो विद्यासदृशः । असिना कलहोऽसिकलहः । वाचा निपुणो वाङ्निपुणः । गुडेन मिश्रा गुडमिश्राः । तिलमिश्रा धानाः । वाचा श्लक्ष्णो वाक्श्लक्ष्णः । जिह्वाश्लक्ष्णः । मात्रा समो मात्र-समः । कुलेन समः कुलसमः ।

साधनं कृता बहुलम् ॥१।३।२९॥ साधनं कारकं तत् कृदन्तेन बहुलं प्रसो भवति । कर्तृ-अहिना हतोऽहिहतः । करणम्-विभ्रण हतो विप्रहतः । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ।” (नखैर्निर्भिन्नः) नखैर्निर्भिन्नः । तथा देवदत्तन नखैर्निर्भिन्नः देवदत्तनखैर्निर्भिन्नः । कर्म-ग्रामं गमो ग्रामगमी । ओदनं बुभुक्षुरोदनबुभुक्षुः । अपादानम्-ग्रामनिर्गतः । अधर्मजुगुप्सुः । सम्प्रदानम्-पादाभ्यां ह्रियते पादहारको भूपः । अधिकरणम्-गले चोपते गलचापकः । “युङ्ख्या बहुलम्” [२।३।६४] इति बहुलवचनादुभयत्र कर्मणि एधुच् । क्वचिन्न भवति । दात्रेण लूनवान् । परशुना लुन्नवान् । व्यान्तराधकाथवचन इष्यते । कुक्कुटैः सम्पात्याः कुक्कुट-सम्पात्या ग्रामाः । अत्यासन्नताकथनम् । काकंपया नदी । श्वलेह्यः कूपः । कण्टकसचैय आदनः । बाष्पच्छेद्यानि तृणानि । क्वचिन्न भवति । काकैः पातव्याः । काकैः पानाया नदी । क्वचिदधिकार्थाभावेऽपि । बुसोपेन्ध्यम् । तृणोपेन्ध्यम् । पूर्वमुत्तरच्च कारकाथमकालान्तरं सांधानमस्थत्र प्रपञ्चः । साधनार्मात किम् ? भिक्षार्भिरुषितः । हेतौ भा । कृद्ग्रहणं किम् ? कृदन्तेन वृत्तिर्यथा स्यात् सुवन्तेन मा भूत् । अभ्रार्वालिती । “कादल्पे” [३।१।४४] इत्यकारान्तात् डोर्वाधः सिद्धः । सुपूर्वालङ्घयुक्ताद्भवति ।

भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्यञ्जने ॥१।३।३०॥ मिश्रणव्यञ्जनवाचिना सुवन्तेन भक्ष्यान्नवाचिभ्यां यथा-संख्यं प्रसो भवति । गुडेन मिश्रा धाना गुडधानाः । वृत्ता क्रियाया अन्तर्ज्ञावादप्रयोगः । एवं गुडपृथुकाः । तिलपृथुकाः । व्यञ्जनम्-दध्ना उपसिक्त आदनो दध्यादनः । घृतोदनः ।

असदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ॥१।३।३१॥ तस्मै इदं तदर्थम् । अबन्तं तदर्थेनार्थशब्देन च बलि-हित-सुख-रक्षित इत्येतैश्च सह प्रसो भवति । रथाय दारु । रथदारु । कुण्डलाय हिरण्यम् । कुण्डलाहिर-ण्यम् । बहुलग्रहणानुवृत्तेः प्रकृतिविकृतिभावं तदर्थेन वृत्तिः । विकृतिः प्रकृत्या सह इत्यर्थः । इह न भवति । रन्धनाय स्थाली । अवहननायोलूखलम् । इदमेव शापकं तादर्थ्यं अब् भवति । कथमश्वपासो हस्तिविद्योति ? तासेन सिद्धम् । अर्थशब्देन नित्यं वृत्तिः । मात्रे इदं मात्रर्थम् । त्रिलिङ्गता लोकाश्रयत्वान्निलिङ्गस्य । आतुरार्था

यवागूः । आतुरार्यः सूपः । देवाय बलिः देवबलिः । गृहबलिः । तादर्थ्यं अप् । गोभ्यो हितं गोहितम् । अश्व-
हितम् । हितयोगे इदमेव ज्ञापकमपः । गोभ्यः सुखं गोसुखम् । “अप् चाशिष्या” [१।४।७७] इत्यादिना
अप् । गोभ्यो रक्षितं गोरक्षितम् । तादर्थ्यं ऽप् ।

का भीभिः ॥१।३।३०॥ बहुवचनादर्थविवक्षानम् । कान्तं भीवचनैः सह पसो भवति । वृकेभ्यो भीः
वृकभीः । वृकेभ्यो भीतो वृकभीतः । वृकेभ्यो भयं वृकभयम् । वृकेभ्यो भीतिः वृकभीतिः । मुष्टुनुग्रहार्थं^१
पूर्वस्यायं प्रपञ्चः ।

मुक्तापेतापोढपतितापत्रस्तैः प्रायः ॥१।३।३३॥ मुक्त-अपेत-अपाढ-पतित-अपत्रस्त इत्येतैः सह
कान्तं प्रायः पसो भवति । भवान्मुक्तो भवमुक्तः । पापापेतः । मुक्तापोढः । स्वर्गपतितः । तरङ्गापत्रस्तः । सर्व
त्रापादाने का । प्राय इति किम् ? प्रासादात् पतितः । भोजनादपत्रस्त इत्येवमादां न भवति ।

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्लेन ॥१।३।३४॥ स्तोक-अन्तिक-दूर इत्येवमर्थाः शब्दाः कृच्छ्रशब्दश्च
कान्ताः क्लान्तेन सह पसो भवति । स्तोकान्मुक्तः । अन्तिकदागतः । अभ्यासादागतः । दूरादागतः । विप्रकृष्टा-
दागतः । कृच्छ्रान्मुक्तः । कृच्छ्राल्लब्धः । “स्तोकार्थकृच्छ्रेभ्योऽपादाने का” । दूरान्तिकार्थेभ्य इप्चेति का ।
“कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] इत्यनुप् ।

ईप्छौएडैः ॥१।३।३५॥ ईबन्तं शौएडादिभिः सह पसो भवति । शौएडैः सहचरिताः शौएडाः ।
अक्षेणु प्रसक्तः शौएडोऽन्नशौएडः । पानशौएडः । वृत्तो प्रसक्तिक्रियाया अन्तर्भावादप्रयोगः । सर्वत्र अधिकरणं
ईप् । शौएड, धूर्त, कितव, व्याड, संवीत, समीरण, अन्तर् वनं अन्तर्वनान्तः । अधि राज्ञि अधि राजाधीनम् ।
“अषडक्ष्णासितङ्ग्वधिद्योः” [४।२।१६] इति खः । यदा पूर्वपदार्थप्राधान्यं विभक्त्यर्थश्च^२दा हसः । अन्त-
र्वणम् । अधिन्नि । परिडत । कुशल । चपल । निपुण ।

सिद्धशुष्कपक्वबन्धैः ॥१।३।३६॥ सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्ध इत्येतैरिवन्तं पसो भवति । काम्पिल्ये सिद्धः
काम्पिल्यसिद्धः । सांकास्यसिद्धः । ऊक्रे शुष्कः । ऊक्रेशुष्कः । छायाशुष्कः । कुम्भीपक्वः । स्थालीपक्वः । चक्र-
बन्धः । चारकबन्धः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इत्यस्यैव प्रपञ्चः ।

ऋणे व्यैः ॥१।३।३७॥ ईबन्तं व्यान्तैः सह पसो भवति ऋणे गम्यमाने । मासे दयमृणं मासंदयम् ।
मासैकदेशे मासशब्दः । अधिकरणे ईप् । एवं संवत्सरंदयम् । नियोगतः कार्यमृणम् । तेनेर्हाप भवात् पूर्वाह्न-
ज्ञेयम् । प्रातरथ्येयम् । अत्र यत्यान्तेनेर्वाभिधानादिह न स्यात् । मासे दातव्यम् । मासे दानीयम् । ऋण इति
किम् ? मासे देया भिन्ना ।

खौ ॥१।३।३८॥ खु वषये ईबन्तं सुबन्तेन सह पसो भवति । अरण्येतिलकाः । वृत्तिपंदनं संज्ञा गम्यत
इति नित्यः सविधिः । “ईपोऽद्वलः” [४।३।१२७] इत्यनुप् । एवमरण्येमाषकाः । वनेकसेरुकाः । वनेवल्व-
जकाः । पूर्वाह्नं स्फोटकाः । कूपपिशाचिकाः ।

क्लेनाहोरात्रभेदाः ॥१।३।३९॥ भेदा अवयवाः । क्लान्तेन सह अहोरात्रभेदा ईबन्ताः पसो भवति ।
पूर्वाह्नकृतम् । अपराह्नकृतम् । पूर्वारात्रभुक्तम् । अपररात्रभुक्तम् । भेदग्रहणं किम् ? “उलूखलौराभरणैः
पिशाची यदभाषत । एतत्तु ते दिवा वृत्तं रात्रौ वृत्तन्तु द्रक्ष्यसि ।”

तत्र ॥१।३।४०॥ क्लं नेति वर्तते । तत्रेत्येतत् क्लान्तेन सह पसो भवति । तत्रकृतम् । तत्रभुक्तम् ।
तत्रपीतम् । ऐकपद्यं प्रयोजनम् ।

क्षेपे ॥१।३।४१॥ क्षेपः कुत्सा । क्षेपे गम्यमाने ईबन्तं क्लान्तेन सह पसो भवति । “कृद्ग्रहणे तिका-

१.-हृद्यार्थम् अ० । २. वने अन्तः (वनान्तः) वसति अ०, ब०, स० । ३.-रुकाः ।
वने हरिद्रुषाः । वने अ० । -रुकाः । वने हरिद्रुकाः । वने ब०, स० ।

रकपूर्वस्यापि ।” अत्रतप्तेनकुलस्थितं त एतत् । कार्येष्वनवस्थितत्वं तवेदमित्यर्थः । “ये कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इत्यनुप् । एवमुदकेविशीर्णं भस्मनिहुतम् । निष्कलं तवेदमित्यर्थः ।

ध्वाङ्क्षेः ॥१।३।४२॥ कृतेति निवृत्तम् । क्षेप इति वर्तते । बहुवचनादर्धानिर्देशः । ध्वाङ्क्ष्वाचिभिः सुवन्तं प्रसो भवति क्षेपे । तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः । वृत्ताविचार्यस्यान्तर्भावः । तीर्थकाकः । श्राद्ध-वायसाः । अनवस्थित एवमुच्यते । ध्वाङ्क्षैरित्यर्थनिर्देशात्तत्सदृशानामपि ग्रहणमिति केचित् । तीर्थश्वा । तीर्थसारमेयः । तीर्थश्रृगालः । क्षेप इति किम् ? तीर्थे ध्वाङ्क्षो वास्यते ।

पात्रेसमितादयश्च ॥१।३।४३॥ क्षेप इति वर्तते । पात्रेसमितादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपा-तिताः प्रसंज्ञा भवन्ति क्षेपे । पात्रे एव समिताः पात्रेसमिताः । पात्रेबहुलाः । न क्वचित्कार्यं इति क्षेपो गम्यते । निपातनादनुप् । उदुम्बरे मशक इव उदुम्बरमशकः । उदुम्बरकृमिः । कूपकच्छपः । अत्रकच्छपः । कूप-मण्डकः । उदपानमण्डकः । नगरकाकः नगरवायसः । एतेष्विवाथो वृत्तावन्तर्भूतः । मातरिपुरुषः । अयुक्तकारीत्यर्थः । पिण्डीशूरः । निरुत्साह इत्यर्थः । गेहेक्ष्वेडी । गेहेनर्दी । गेहेनर्त्ती । गेहेविजिती । गेहेव्याडः । गर्भेन्तुतः । गर्भेदतः । आखनिकवकः । गोष्ठेशूरः । गोष्ठेविजिती । गोष्ठेक्ष्वेडी । गेहेशूरः । गेहेमेही । गेहेर्दासः । गोष्ठेपटुः । गोष्ठेपरिडतः । गोष्ठेप्रगल्भः । कर्णेचुरुचुराः । चकारोऽवधारणार्थः । पात्रेसमितादय एव न वृत्त्यन्तरं लभन्ते । परमाः पात्रेसमिताः । अत्र एव क्तान्तेनापीह वृत्तिः सार्थिका अन्यथा ‘क्षेपे’ [१।३।४१] इत्यनेनैव सिद्धा स्यात् ।

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलं यश्चैकाश्रये ॥१।३।४४॥ एकाश्रयः समानाधिकरणम् । पूर्वकालवाचि-एकसर्व-जरत्-पुराण-नव-केवल इत्येते सुवन्ता एकाश्रये सति सुवन्तेन सह यसंज्ञः सो भवति प्रसं-ज्ञश्च । पूर्वः कालो यस्य स पूर्वकालः । सम्बन्धिशब्दत्वादपरकालेन तस्य वृत्तिः । पूर्वं स्नाताः पश्चादनु-लिप्ता स्नातानुलिप्ताः । कृष्टसमीकृतम् । छिन्नप्ररूढम् । दग्धप्ररूढम् । एकशटी । एकचर्या । एकभिन्ना । सर्वदेवाः । सर्वपदार्थाः । जरद्धस्ती । जरद्रवः । पुरा भवं पुराणम् । “सायञ्चिरम्प्रा-ह्णे प्रगेष्मभ्यस्तनट्” [३।२।१३६] इति तनट् । अत्र एव निपातनात्तत्त्वम् । पुराणान्त्रम् । पुराणशास्त्रम् । नवावसथः । केवलमसहायं ज्ञानं केवलज्ञानम् । विशेषणवृत्तेरयं प्रपञ्चः । चशब्दः प्रसंज्ञासमावेशार्थः । अन्यथा राजपुरुपादो कृतार्था प्रसंज्ञा वाच्येत । मोषिका गौः मोषकगवी । “स्युक्तपुंस्क” [४।३।१४६] आदिना पुंवद्भावः, “न बुद्धकोडः” [४।३।१४६] इति प्रतिषिद्धो यसंज्ञायाम् “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४] इति पुनर्भवति । प्रसंज्ञाश्रयो “गोरहृदुपि” [४।२।६४] इति टः सान्तः । इत उत्तरमेकाश्रयाधिकारो यावत् “मयूरव्यंसकादयश्च” [१।३।६६] इति । एकाश्रय इति किम् ? एकस्या शटी ।

दिक्संख्यं खौ ॥१।३।४५॥ दिग्वाचि संख्यावाचि च सुवन्तमेकाश्रये सुवन्तेन सह प्रसो भवति खुविषये । पूर्वेपुकामशमी । अपरेपुकामशमी । पूर्वकृष्णमृत्तिका । अपरकृष्णमृत्तिका । दक्षिणपञ्चालाः । उत्तरपञ्चालाः । संख्या—पञ्चाम्नाः । पञ्चवटाः । सप्तर्षयः । खाविति किम् ? दक्षिणा ग्रामाः । पञ्च ग्रामाः ।

हृदयद्युसमाहारे ॥१।३।४६॥ दिक्संख्यमिति वर्तते । हृदयविषये द्यौ परतः समाहारेऽभिधेये दिक्संख्यमेकाश्रये सुवन्तेन सह प्रसो भवति । दिक् । हृदये—पूर्वस्यां शालायां भवः पसे कृते समुदायात् “दिगादेरखौ” [३।२।८४] इति णः । पौर्वशालः । आपरशालः । द्यौ—पूर्वा शाला प्रिया अस्य पूर्वशालाप्रियः । अपरशालाप्रियः । अवयवापेक्षया प्रसः । पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । दिशां समाहारो नास्ति । क्रियागुणा-पेक्षयाऽपि समाहारं अनभिधानम् । संख्या । हृदये—पञ्चभिः शङ्कुलीभिः क्रीतः पञ्चशङ्कुलः । अनेन

षसे कृते तस्य “संज्ञादी रश्च” [१।३।४७] इति रसंज्ञायां आर्होयस्य टणो “गदुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप् । पञ्चानां नापितानामपत्यं पाञ्चनापितिः । “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इति वचनं ज्ञापकं हृदर्थेऽपि से हृदुत्पत्तिर्भवति । द्यौ-पञ्च गावो धनमस्येति पञ्चगवधनः । अवयवसापेक्षया ‘गोरहृदुपि’ [४।२।६४] इति टः सान्तः सिद्धः । द्वेऽहनी जातस्य द्वयह्नजातः । “एभ्योऽहोऽह्नः” [४।२।६०] इत्यह्नादेशः । समाहारे-पञ्च पूलाः समाहृताः पञ्चपूली । अनेन षसः । उत्तरसूत्रेण रसंज्ञायां “रात्” [३।१।२५] इति डीविधिः । कथं परणगरी ? अत्रापि क्रियागुणापेक्षया समाहारोऽस्ति । लब्धा शोभना चेति गम्यते समाहारस्यैकत्वादेकवचनम् । ननु समाहारः समूहः स तु हृदर्थ एव न पृथक् समाहारनिर्देशात् । समूहार्थस्य त्यस्यानुपपत्तिः पञ्चानां कुमारीणां समाहारः पञ्चकुमारि । त्योत्पत्तौ हि “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् प्रसज्येत । ततश्च “हृदुप्युप्” [१।१।६] स्त्रीत्यस्योप् स्यात् ।

संख्यादी रश्च ॥१।३।४७॥ हृदर्थद्युसमाहार इत्यत्र संख्यादिर्यः स उक्तः स रसंज्ञो भवति हृदर्थे । द्वावनुयोगौ वेत्यधीते वा द्वयनुयोगः^१ । “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्यण उप् । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः । द्यौ-पञ्च नावः प्रिया अस्य पञ्चनावप्रियः । “नावो रात्” [४।२।१०२] इति टः सान्तः । समाहारे-पञ्चपूली । चशब्दः पसंज्ञासमावेशार्थः । द्वे अंगुली समाहृते द्वयङ्गुली । “षेऽङ्गुलोक्ति-संख्यादेः” [४।२।८८] इति अः सान्तः । “रात्” [३।१।२५] इति डीविधिश्च सिद्धः ।

कुत्स्यं कुत्सनैः ॥१।३।४८॥ कुत्स्यवाचि सुबन्तं कुत्सनवाचिना पसो भवति । वैयाकरणखसूचिः । प्रत्यासत्तः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य कुत्सायामयं सविधिः । रूपसिद्धिं पृष्टो निःप्रतिभः सन् यः खं सूचयति वीक्षते स खसूची । खसूचित्वं कुत्सनम् । विशेषणस्य परनिपातार्थं आरम्भः । एवं क्षत्रियमीरुः । श्रोत्रियकितवः । भिक्षुविटः । मीमांसकदुर्दुरुटः । कुत्स्यमिति किम् ? वैयाकरणः कितवः । न हि वैयाकरणत्वं कितवत्वेन कुत्स्यते । कुत्सनैरिति किम् ? कुत्सितो ब्राह्मणः ।

पापाणके कुत्स्यैः ॥१।३।४९॥ पापाणकशब्दौ कुत्सनवचनौ कुत्स्यवचनैः पसो भवति । पापकुलालः । आणकनापितः । पूर्वयोगेन कुत्स्यस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते परनिपातार्थं आरम्भः ।

सामान्येनोपमानम् ॥१।३।५०॥ उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम् । उपमीयते परिच्छिद्यते अनेन सादृश्येनार्थं इत्युपमानम् । उपमानवाचि सुबन्तं सामान्यवाचिना सुबन्तेन सह षसो भवति । निराधारं सामान्यं न प्रतीयत इति सामान्यधर्मेण विशिष्टं यदुपमेयं तेनात्र वृत्तिः । शक्नीव श्यामा शक्नीश्यामा देवदत्ता । शक्नीशब्दः श्यामगुणमुपादाय देवदत्तायां वर्तत इति एकाश्रया वृत्तिर्न विरुध्यते । मृगीव चपला मृगचपलेति पुं वद्भावश्च भवति । एवं कुमुदस्येनी हंसगमनी न्यग्रोधपरिमण्डला दूर्वाकाण्डश्यामा सरकाण्डगोरी । सामान्येनेति किम् ? फला इव तण्डुलाः । पर्वता इव बलाहकाः । उपमानमिति किम् ? देवदत्ता श्यामा ।

व्याघ्रै रुपमेयोऽतद्योगे ॥१।३।५१॥ तस्य सामान्यस्य योगः प्रतिषिध्यते । उपमेयार्थवाचिव्याघ्रादिभिः सह षसो भवत्यतद्योगे । उपमेयशब्दस्य सम्बन्धिंशब्दत्वादुपमाने न वृत्तिः । साधारणधर्मः सामान्यं हि वृत्तावन्तर्भूतम् । अतद्योग इत्यनेन विशिष्टः साधारणधर्मः प्रतिषिध्यते । पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । पुरुषविशेषणस्य परनिपातार्थं आरम्भः । व्याघ्र सिंह ऋषभ चन्दन वृक वृषभ वृष वराह इस्तिन् कुञ्जर रुद्र पुण्डरीक स्त्री पलायिका । आकृतिगणोऽयम् । तेन मुखकमलं करकिशलयं पुरुषचन्द्रादि सिद्धम् । अतद्योग इति किम् ? पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः । इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं भवति-प्रधानस्य सापेक्षस्यापि वृत्तिः । तेन राजपुरुषो दर्शनीयः । राजपुरुषः परिडित इत्येवमादि सिद्धम् ।

विशेषणं विशेष्येणेति ॥१३१५२॥ एकाश्रय इति वर्तते । यत् सामान्याकारेण प्रवृत्तं सत् अनेक-
प्रकाराधारभूतं वस्तु प्रकारान्तरेभ्यो व्यावर्त्यैकत्र प्रकारे अवस्थापयति तद्विशेषणम् । अनेकप्रकाराधारभूतं
वस्तु विशेष्यम् । विशेषणं विशेष्यवाचिना सह षसो भवति । कृष्णश्च स कम्बलश्च स कृष्णकम्बलः ।
लोहिता च सा शाटी च सा लोहितशाटी । अर्द्धञ्च तत् पिप्पली च सा अर्द्धपिप्पली । यदा पिप्पल्यवयवे
पिप्पलीशब्दस्तदेयं वृत्तिरेकाश्रयाधिकारान् । यदा समुदाये वर्तते तदा पिप्पल्यर्द्धमिति तासः । भिन्नैकदेशे
भिन्नाशब्दः । द्वितीया भिन्ना द्वितीयभिन्ना । तृतीयभिन्ना । चतुर्थभिन्ना । तुर्यभिन्ना । इह भिन्नाद्वितीयमिति
तासो नोपपद्यते । “इद्गुणवृत्तार्थण” [१३१७२] आदिप्रतिषेधस्य बलीयस्त्वात् । कायैकदेशे कायशब्दः । पूर्वः
कायः पूर्वकायः । अपरः कायः अपरकायः । उत्तरकायः । एवं मध्याह्नः । सायाह्नः । पूर्वं कायस्येति अ-
वयवसम्बन्धे तासानभिधानं पूर्वं कायादिति प्राप्नोति । विशेषणविशेष्योरन्यतरस्य ग्रहणेऽपि सम्बन्धिशब्दत्वाद्दु-
भयोः प्रतिपत्तिरिति द्वयनिर्देशो व्यर्थः ? नैवम्; यत्र पूर्वोत्तरपदयोः प्रत्येकं विशेषणविशेष्यभावस्तत्र यथा स्यादिह
मा भूत् । वृत्तः शिक्षापा । शिक्षापा हि वृत्तार्थं न व्यभिचरतीति न तस्या विशेष्यत्वम् । यदा शिक्षापादिशब्दाः
फलादिष्वपि वर्तन्ते तदोभयोर्विशेष्यत्वे सविधिर्भवत्येव । शिक्षापावृत्तः । पलाशावृत्तः । उभयोर्विशेषणत्वे कस्य
पूर्वनिपात इति चेत् प्रधानद्रव्यापेक्षयान्वयस्य नीचो गुणस्य पूर्वनिपातः । यद्यप्युत्पलादिशब्दो जातिशब्द-
स्तथापि जातिर्द्रव्यस्योत्पत्तेः प्रभृत्याविनाशादात्मभूता प्रतीयत इति जातिनिमित्तः शब्दो द्रव्यशब्दो व्यवस्था-
प्यते । अत एव विशेष्यत्वमुत्तरपदार्थस्य द्रव्यद्वारेण जातेरनीलत्वादानापेया^१तिशयत्वाच्च, सामानाधिकरण्यात् तु
जात्यपेक्षया, जातेर्भेदाभेदविवक्षा अनेकान्ताधिकाराल्लभ्यते । विशेषणमिति किम् ? तन्नकः सर्पः । संज्ञैषा ।
अस्य विशेष्यत्वमेव न विशेषणत्वम् । विशेष्येणेति किम् ? लोहितस्तन्नकः । तस्य^२ लोहितत्वाव्यभिचारादवि-
शेष्यत्वम् । इतिशब्दः किमर्थो यत्र लोके विवक्षा तत्र यथा स्यात् । इह न भवति रामो जामदग्न्यः । अर्जुनः
कार्तवीर्यः । इह कृष्णसर्पः लोहिताहिः लोहितशालारित्येवमादिषु संज्ञाशब्देषु नित्यः सविधिः । वाक्यं तु साट-
श्यामात्रेण । नीलोत्पलादिभूभयम् । नीलमुत्पलं नीलोत्पलम् । इहच्छ्रया विशेषणत्वम् । खञ्जकुराटः ।
कुराटखञ्जः ।

पूर्वाऽपरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवोराः ॥१३१५३॥ पूर्व-अपर-प्रथम-चरम जघन्य-
समान-मध्य-मध्यम-वीर इत्येते एकाश्रये सुपा सह समस्यन्ते षसो भवति । पूर्वपुरुषः । अपरपुरुषः । प्रथम-
पुरुषः । चरमपुरुषः । जघन्यपुरुषः । समानपुरुषः । मध्यपुरुषः । मध्यमपुरुषः । वीरपुरुषः । एवमाद्यनुक्रमणं
पूर्वयोगप्रपञ्चार्थः । उपसर्जनानां परोपसर्जनार्थम्, प्रधानानां परप्रधानार्थञ्च । इह सूत्रे पूर्वशब्दो वीरशब्द-
श्चोपसर्जनं तयोर्वृत्तौ परत्वात् वीरशब्द उपसर्जनम् । वीरपूर्वः । “वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत्” [१३१५७]
इत्यत्र नागशब्दः प्रधानं “पोटायुवति” [१३१६०] इत्यत्र प्रवक्तृशब्दः प्रधानं तयोर्वृत्तौ परत्वात् प्रवक्त्रा
प्रधानम् । नागप्रवक्त्रा ।

श्रेण्यादि कृतैः ॥१३१५४॥ श्रेण्यादयः कृतादिभिः सह एकाश्रये षसो भवति । वैषम्याद्यथासङ्ख्यं
न भवति । श्रेण्यादिषु व्यर्थग्रहणं कर्तव्यं न कर्तव्यमिति शब्दानुवृत्तेस्तत्रैव वृत्तिः । अश्रेण्याः श्रेण्याः
कृताः श्रेण्याकृताः । अनूका ऊकाः कृताः ऊककृताः । व्यर्थान्यत्र श्रेण्याः कृताः । करोतेरनेकार्थत्वाद्-
पिडता पूजिता वेति गम्यते । विकल्पेन चिर्विधास्यते यदा चि्वस्तदा परत्वात् ‘तिकुप्रादयः’ [१३१५०] इति
नित्यं षसः । श्रेणीकृताः । ऊकीकृताः । श्रेणि ऊक पूग कुन्दुम राशि निचय विषय विशिष्ट निर्धन देव इन्द्र
मुण्ड श्रमण भूत वदान्य अध्यापक ब्राह्मण क्षत्रिय पट्ट परिडत कुशल चपल निपुण इति श्रेण्यादिः ।
कृतादिराकृतिगणः । कृत मित मत भूत उक्त समाज्ञात समाख्यात समाभ्नात सम्भावित अवधारित संसेवित
अवकल्पित निराकृत उपकृत इत्येवमादि । क्रियाकारकसम्बन्धोऽत्र न विशेषणविशेष्यभाव इति ।

विसमाप्तौ क्लोऽनञ् ॥१३।५५॥ विगता समाप्तिः विसमाप्तिः । ईषन्निष्पत्तिरित्यर्थः । अनञ्-
कतान्तं विसमाप्तौ सामर्थ्यात् कतान्तेन समस्यते षसो भवति । एकस्यां हि क्रियायां विसमाप्तिर्भवति न क्रिया-
भेद इति सामर्थ्यम् । कतान्तस्यानञ्जिति प्रतिषेधान्नञ्पूर्वणापि कतान्तेन सविधिः । कृतञ्च तदकृतञ्च कृता-
कृतम् । कृतभागसम्बन्धात् कृतम् । अकृतभागसम्बन्धात्तदेवाकृतम् । एवं मुक्ताभुक्तम् । पीतापीतम् ।
अशितानशितम् । क्लिष्टाक्लिशितम् । “क्लिष्टशस्तक्त्वोः” [५।१।१८] इति वेट् । मुक्तविमुक्तम् । पीतवि-
पीतम् । कृतापकृतम् । विसमाप्ताविति किम् ? सिद्धं चाभुक्तं च । क्रियाभेदे विसमाप्तिर्नास्ति एकस्याः
समाप्तत्वादपरस्या अननुष्ठानात् । क्त इति किम् ? कर्तव्यं तदकर्तव्यं च । अनञ्जिति किम् ? अकृतं च
तत्कृतञ्च । ननु कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यैव ग्रहणमनञ्जिति किमर्थम् ? नञ्पूर्वणापि वृत्त्यर्थमिति शेषः । इह
गतप्रत्यागतः यातानुयात इत्येवमादिषु “पूर्वकालैक” [१।३।४४] इत्यादिना षसः ।

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं पूज्येन ॥१३।५६॥ सत्-महत्-परम-उत्तम-उत्कृष्ट इत्येते सुवन्ताः पूज्य-
वचनेन सह समस्यन्ते षसो भवति । संश्च सः पुरुषश्च सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उद्गततमः
उत्तमः । अत एव निपातनात् “किमेन्मिङ्क्लिभादामद्रव्ये” [४।२।२०] इत्याम् न भवति । उत्तमपुरुषः ।
उत्कृष्टपुरुषः । पूज्येनेति वचनादत्र सदादयः पूजावचना शतव्याः । पूज्येनेति किम् ? उत्कृष्टो गौः । कर्द-
मादुद्धृत इत्यर्थः ।

वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत् ॥१३।५७॥ पूज्येनेति वर्तमानमर्थवशाद्धान्तं संपद्यते । वृन्दारकादिभिः
सह तत् पूज्यवाचिसुवन्तं समस्यते षसो भवति । तदित्यनेन पूज्यवचनेनाभिसम्बन्धात् वृन्दारकादयः पूजा-
वचना गृह्यन्ते । गोश्चासौ वृन्दारकश्च गोवृन्दारकः । पुन्नागः । गोकुञ्जरः । अश्वकुञ्जरः । व्याघ्रादंराकृति-
गणत्वात् “व्याघ्रैरुपमेयेऽतद्योगे” [१।३।१९] इत्येव सिद्धं सामान्यप्रयोगेऽपि यथा स्यादित्यारम्भः । गोनागो
बलवान् । तदिति किम् ? शोभना शीमा कणा अस्य सुशीमो नागः ।

कतरकतमौ समर्थौ ॥१३।५८॥ किंशब्दात् “कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरः” [४।१।१४७]
“वा बहूनां जातिप्रश्ने डतमः” [४।१।१४८] तयोः परतष्टिले कृते कतरकतमशब्दौ सिद्धयतः । समर्थौ सङ्ग-
तार्थौ समानार्थविकारार्थवित्यर्थः । तौ सुवन्तेन सह समस्यते षसो भवति । कदा चानयोः समानार्थत्वं यदा
जातिप्रश्ने तौ व्युत्पाद्येते तदा तयोः समानार्थत्वम् । कतरश्च स गार्ग्यश्च कतरगार्ग्यः । कतमगार्ग्यः । कत
रकठः । कतमकठः । वृद्धं चरणैः सहेति जातिवाचित्वम् । समर्थाविति किम् ? कतरो भवतोर्देवदत्तः ।
द्रव्यप्रश्नेऽयम् । समर्थग्रहणं हि कतरस्यैव विशेषणं डतरस्याविशेषणं विधानान्न कतमस्य । डतमस्य
जातिप्रश्न एव तैर्विधानात् । अतः कतमो भवतां देवदत्त इति व्यावृत्त्युदाहरणमत्रानुपपन्नम् । कतरकत-
मयोः प्रश्ने विहितयोः सविधिना न गार्ग्यादेर्विशेष्यव्यवस्थेति वचनम् ।

क्षेपे किम् ॥१३।५९॥ क्षेपः कुत्सा । यो हि यदर्थस्तस्य तदर्थाननुष्ठानं क्षेपः । किमेतत् क्षेपे गम्ये
सुवन्तेन समस्यते षसो भवति । को नाम राजा किराजा । यो न रक्षति । “न स्वति किमः” [४।२।६६]
इति सान्तप्रतिषेधः । किंस्वा । योऽभिद्रुहति । किंगौः । यो न वहति । “गोरह्नुपि” [४।२।६४] इति
सान्ते टे प्राप्ते “न स्वति किमः” [४।२।६६] इति प्रतिषेधः । सर्वत्र स्वकार्याभावात् क्षेपः । क्षेप इति
किम् ? को राजा पाटलिपुत्रे । किमिति योगविभागः । तेन संज्ञायां शुकादिभिः सह किंशब्दः समस्यते षसो
भवति । किंशुकः पलाशः । किंशुलुकः पर्वतः । किंपुरुषो मयुः । किन्नरः स एव । किञ्जल्कः पुष्परेणुः ।
किङ्कुरतः । किवदन्तीत्यादयः सिद्धाः ।

पोटायुर्दत्तित्तोत्तमिण्यप्रुष्टिधेनुवशाबेहद्वष्कयणीप्रवक्त्रुश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः ॥१।
३।६०॥ पोटादीनामितरेतरयोगो द्वन्द्वः । पोटादिभिः सहैकाश्रये जातिः समस्यते षसो भवति । विशेषणस्य
परनिपातार्थं आरम्भः । जातिद्वारेण यः शब्दो द्रव्ये वर्तते स इह जातिशब्दोऽभिप्रेतः । इभ्या च सा पोटा

च इभ्यपोटा । इभ्येति जातिशब्दः ; स्त्री भूत्वा राज्यपालनार्थं या पुंवेपेण युज्यते सा पोटा । यापि गर्भ एव दास्यं गता साऽपि पोटा । “स्युक्तुस्क” [४।३।१४६] इत्यादिना पुंवद्भावे प्राप्ते “जातिश्च” [४।३।१५३] इति प्रतिषिद्धे “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४] इति पुंवद्भावः । एवमार्यपोटा । युवतिस्तरुणी । इभ्य-युवतिः । क्षत्रिययुवतिः । अग्निश्च स स्तोकञ्च तदग्निस्तोकम् । दधि च तत् कतिपयञ्च दधिकतिपयम् । स्तोककतिपयशब्दावेकार्थं । सकृत्प्रसूता गृष्टिः । गौश्च सा गृष्टिश्च गोगृष्टिः । धेनुरभिनवप्रसवा । गोधेनुः । वशा वन्ध्या । गोवशा । वेहत् गर्भघातिनी । गर्भधारिणीत्यन्धे । गोवहत् । महता वल्नेन या दुह्यते सा बष्कयिणी । गोत्रष्कयिणी । प्रवक्त्रा उपाध्यायः । कठप्रवक्त्रा । कठश्रोत्रियः । अध्यापकोऽध्वेता । कठाध्यापकः । कठधूर्तः । बुद्धिमानित्यर्थः । धूर्तग्रहणमिहाकुत्मार्यम् । अथवा आश्रयिणु कुत्सिनेषु तद्भवति । आश्रयेषु तु कुत्स्येषु इदम् । ब्राह्मणधूर्तः क्षत्रियधूर्त इति यदा हि ब्राह्मणत्वमाश्रयि कुत्स्ये तदा तैर्नैव सिद्धं सविधानम् । यदा तु तद्युक्तो देवदत्तः कुत्स्ये तदर्थमिदम् । जातिरिति किम् ? देवदत्तः प्रवक्त्रा । देवदत्त-शब्दस्याजातिवचनत्वादवृत्तिः । जातेर्विशध्यायाः पूर्वनिपातार्थं आरम्भः ।

चतुष्पाद्गर्भिन्या ॥१।३।६१॥ जातिरिति वर्तते । चत्वारः पादा यस्याः सा चतुष्पाद्वादिजातिः । “सुलंख्यादेः [४।३।१४०] इत्यकारस्य खम् । चतुष्पाज्जातिर्गर्भिणीशब्देन सहैकाश्रये समस्यते पसो भवति । गौश्च सा गर्भिणी च गोगर्भिणी । अजगर्भिणी । “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४] इति पुंवद्भावः । चतुष्पादिति किम् ? ब्राह्मणी गर्भिणी । जातिरित्येव । कालाञ्जी गर्भिणी । स्वस्तिमती गर्भिणी । चतुष्पदः संज्ञेषा । न तु जातिः । विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं वचनम् ।

प्रशंसोक्त्या ॥१।३।६२॥ जातिरिति वर्तते । उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । प्रशंसाशब्देन सह जातिवाचि सुबन्तं समस्यते पसो भवति । गौश्च स प्रकाण्डञ्च तत् गोप्रकाण्डम् । प्रशस्तो गौरित्यर्थः । एवमश्वप्रकाण्डम् । गोमतल्लिका । अश्वमचर्चिका । गोकुमारी । गोतल्लजकः । अभिधा जातिरित्येव । देवदत्ता कुमारी ।

युवा खलतिपलितवलिनजरद्भिः ॥१।३।६३॥ खलति पलित वलिन जरदित्येतैरेकाश्रयैर्युवशब्दः समस्यते पसो भवति । युवा खलतिः युवखलतिः । युवतिः खलती युवखलती । युवा पलितः युवपलितः । युवतिः पलिता युवपलिता । वलयोऽस्य सन्ति वलिनः । पामादित्वात्तः । युवा वलिनः युववलिनः । युवतिर्वलिना युववलिना । “जृषोऽन्” [२।२।८७] इति अन्त्ये कृते जरदिति भवति । युवा जरन् युवजरन् । युवतिर्जरती युवजरती । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ।” “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४] इति पुंवद्भावात् तिशब्दस्य निवृत्तिः ।

व्यतुल्याख्या अजात्या ॥१।३।६४॥ व्यान्तास्तुल्याख्याश्च अजातिवाचिना सह समस्यन्ते पसो भवति । परनिपातः फलम् । भोज्यञ्च तदुष्णञ्च भोज्योष्णम् । भोज्यलवणम् । पानीयशीतम् । हरणीयपूर्णो घटः । तुल्याख्याः । तुल्यश्च स श्वेतश्च स तुल्यश्वेतः । सदशश्वेतः । तुल्यमहान् । सदशमहान् । अजात्येति किम् ? भोज्य आदनः । तुल्यो वैश्यः । इह तुल्यसन्निति पूज्यत्वाभावात् परत्वाद्दानेन सः । इह कथमेकाश्रया वृत्तिः । कृष्णसारङ्गः । लोहितसारङ्गः । कृष्णशत्रुघ्नः । लोहितशत्रुघ्नः । यदि सारङ्गादशब्दा जातिवचना जातेः कथञ्चिद्द्रव्यादभिन्नत्वमित्येकाश्रयत्वमस्ति ततो विशेषणलक्षणः सः । अथ पूर्वोत्तरपदयोर्वर्णयोर्वशाच्चत्वं तत्रापोञ्छातो विशेषणविशेष्यभावः । कृष्णश्वेतः । श्वतकृष्णः ।

कुमारः श्रमणादिभिः ॥१।३।६५॥ कुमारशब्दः श्रमणादिभिः सह समस्यते पसो भवति । कुमार-शब्दो मृत् । स्त्रीलिङ्गैरुत्तरपदैः स्त्रीलिङ्गः । अध्यापकादिभिरुभयथा समस्यते । कुमारं श्रमणा कुमारश्रमणा ।

१.-मतल्लिका । अश्वमतल्लिका । गोमचर्चिका । गोकुमा-अ० ।—ल्लिका । अश्वमतल्लिका ।

अश्वमे-ब० ।

कुमारी प्रव्रजिता कुमारप्रव्रजिता । कुमारश्च स अध्यापकश्च स कुमाराध्यापकः । कुमारी अध्यापिका कुमाराध्यापिका । श्रमणा प्रव्रजिता कुलटा गर्भिणी तापसी बन्धकी दासी एते स्त्रीलिङ्गाः । अध्यापक अभिरूपक पदं मृदु परिदृत कुशल चपल निपुण ।

मयूरव्यंसकादयश्च ॥१३६६॥ मयूरव्यंसकादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपातिताः षसंज्ञा भवन्ति । विशिष्टावंसावस्य व्यंसः । इवार्थे कः । व्यंसको मयूरो मयूरव्यंसकः । छत्रव्यंसकः । कम्बोजमुण्डः । यवनमुण्डः । एतेषु परनिपातः प्रयोजनम् । “एहीडादयोऽन्यपदार्थे ।” एहीडमिति यत्र कर्मणि एहि यवैरिति एहीडम् । “हियवं वर्तते । एहिवाणिजेति यस्यां क्रियायां सा एहिवाणिजा । प्रेहिवाणिजा । एहिस्वागता । अपेहिस्वागता । एहिद्वितीया । अपेहिद्वितीया । प्रोहकटमस्यां प्रोहकटा । प्रोहकर्दमा । उद्धमचूडा । आहर-चेला । आहरवसना । आहरवितता । भिन्धिप्रलवणा । उद्धर उत्सृजेति यस्यां सा उद्धरोत्सृजा । उद्धमविषमा । उद्धरविमृजा । उत्पतनिपाता । उत्पन्ननिपचा । आख्यातमाख्यातेन सिद्धेऽप्यसातत्यार्थं वचनम् । उदक्च अवाक्च उच्चावचम् । उच्चैश्च नीत्रैश्च उच्चनीचम् । आचितञ्चोपचितञ्च आचोपचम् । आचितपराचितस्य आचपराचम् । निश्चितप्रचितस्य निश्चप्रचम् । अकिञ्चनम् । स्नात्वाकालकः । पीलास्थिरकः । भुक्त्वा-मुहितः । प्रोष्यपापीयान् । अन्यथापकला जाता । निपत्यरोहिणी जाता । निषद्यशयामा जाता । अपेहिप्रघसा वर्तते । इहपञ्चमी । इहद्वितीया । ‘जहि कर्ण्या बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति ।’ जहि जोडमित्याह जहिजोडः । उच्चजहिजोडः । जहिस्तम्बः । ब्रह्ममिति किम् ? पचौदनम् । “आख्यातमाख्यातेन सातत्ये ।” अश्नीतापिबता वर्तते । पचतभृङ्गता । खादतमोदता । खादाचामाः । आहरविवसा । आहरनिष्किरा । अविहितलक्षणं सविधानमिह द्रष्टव्यम् । तेन शाकप्रधानः पार्थिवः शा पार्थिवः । कुतपसौश्रुतः । अजातौल्वलिः । धृतरौरीयाः । श्रोदनपाणिनीया इत्येवमादि सिद्धम् । चकारोऽवधारणार्थः । परमो मयूरव्यंसकः । वृत्त्यन्तरं न भवति ।

काला मेयैः ॥१३६७॥ कालवाचिनः शब्दा मेयैः परिच्छेद्यैः सह समस्यन्ते षसो भवति । मेयैरिति सम्बन्धात् काला मानवचना गृह्यन्ते । यद्यपि मुख्यं मानत्वं व्यवहारकालस्य मासादेर्न सम्भवति तथापि वचनात् परिच्छेदहेतुत्वमात्रं साधर्म्यमुपादायोपचारात् कालः परिमाणम् । मासादयो जातादेः सम्बन्धिनीमादित्यगतिं परिच्छेदन्तीति जातस्यापि परिच्छेदहेतव उच्यन्ते । एकाश्रय इति निवृत्तम् । मासो जातस्य मासजातः । संवत्सरजातः । तासापवादोऽयम् । काला इति बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? द्वे अहनी जातस्य द्वयहजातः । त्रिपदोऽपि षसो यथा स्यात् । “द्वयर्थयु समाहारे” [१३६६] इत्यवयवसे “राजाहःसखिभ्यष्टः” [१३६३] इति टः । “एभ्योऽहोऽहः” [१३६०] इति अह्लादेशः । यदा द्वयोरहोः समाहार इति विग्रहस्तादा “न समाहारे” [१३६१] इत्यह्लादेशप्रतिषेधः सिद्धः । द्वयहो जातस्य द्वयहजातः । त्रयहजातः ।

नञ् ॥१३६८॥ नञ् सुपा सह समस्यते षसो भवति । अत्राहणः । अधर्मः । असर्वज्ञः । अगौः । नेयं पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिरलिङ्गासंख्यत्वप्रसङ्गात् । किञ्च पूर्वपदप्रधानो हस उक्तः । अमन्तिकमिति । अन्यपदार्थप्राधान्ये तु अत्रर्षा हेमन्त इत्यत्र प्रादेशादि प्राप्नोति । अस्नूत्तरपदार्थप्रधानेयं वृत्तिः । यद्येवमगामानयेत्युक्ते ऽगोमात्रस्यानयनं स्यात् । अथ स्वयमेव निवृत्तिपदार्थको गोशब्दः स नञा केवलं द्योत्यते । एवं सति न कस्यचिदानयनं स्यात् । नायं दोषः । द्वाविह गोशब्दो प्रवृत्तपदार्थको निवृत्तपदार्थकश्च । सारूप्यात्तयोर्भेदापरिज्ञाने निवृत्तपदार्थकस्य द्योतनार्थं नञः प्रयोगः प्रतिषेधे सत्युत्तरपदार्थसदृशो वृत्त्यर्थो जायते । “नञ्निवयुक्तमन्यसदृशाधिकरण्ये तथा अर्थगतिः” [परि०] इति वचनात् । अन्यपदार्थे तु परत्वाद्दसो भवति । अशालिको देशः । अकारो नञोऽनित्यत्र विशेषणार्थः । वामनपुत्रादिष्वनादेशो मा भूत् ।

गुणशब्देषु ॥१३६९॥ उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । गुणशब्देन सह ईषच्छब्दः समस्यते षसो भवति । ईषत्कारः । ईषत्पिङ्गलः । ईषद्विकटः । ईषदुन्नतः । ईषद्रक्तः । ईषत्पीतः । इदुत्पत्तिः प्रयो-

जनम् । गुणोक्त्येति किम् ? ईषत्कारकः । ईषद्गार्यः । जात्येकार्थसमवायिक्रियागुणापेक्षया जातेरपि वृद्धिहासौ ।

ता ॥१३।७०॥ तान्तं सुवन्तेन सह षसो भवति । मोक्षमार्गः । स्वर्गसुखम् । राजपुरुषः ।

कृति ॥१३।७१॥ कृत्ययोगे या ता तदन्तं सुपा सह षसो भवति । “न प्रतिपदम्” [१३।७३] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तस्यायं पुरस्तान्निरासः । इध्मनां व्रश्चनः इध्मव्रश्चनः । पलाशसातनः । अविल-वनः । श्मश्रुकर्तनः । करणे युट् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१३।६८] इति ता ।

याजकादिभिः ॥१३।७२॥ याजकादिभिश्च सह तान्तं समस्यते षसो भवति । पूर्वेण प्राप्तः तृज-काभ्यां कर्त्तरीति प्रतिषिद्धः पुनरनेन षसः । देवानां याजको देवयाजकः । साधूनां पूजकः साधुपूजकः । याजक पूजक परिचारक परिवेषक स्नापक अध्यापक उद्धर्त्तक उत्सादक होतृ भर्तृ रथगणक पत्तिगणक ।

न प्रतिपदम् ॥१३।७३॥ प्रतिपदं विहिता या ता तदन्तं न समस्यते । शेषलक्षणां तां मुक्त्वा सर्वोऽन्या ता प्रतिपदविधाना । सर्पिषो ज्ञानम् । पयसो ज्ञानम् । “ज्ञो स्वार्थं करणे” [१३।६८] इति ता । इहापि धर्मानुस्मरणम् । धर्मचिन्तनमिति । “स्त्र्यर्थदयेशां कर्मणि” [१३।६६] इत्यनेन शेषलक्षणा तान्-द्यते । वनस्वामी । वनेश्वरो विद्यादायाद इत्येवमादिषु “स्वामीश्वरो” [१३।४७] आदि सूत्रे चकारेण शेषलक्षणा ता समुच्चयते ।

निर्धारणे ॥१३।७४॥ निर्धारणे या ता तदन्तं न समस्यते । जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य निष्कृष्य धारणं पृथक्करणं निर्धारणम् । क्षत्रियो मनुष्याणां शूतमः । श्यामा नारीणां दर्शनीयतमा । कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा । धावन्तोऽध्वगानां क्षिप्रतमाः । क्षत्रियादिशब्देन सह वृत्तिर्न भवति । “यत्तश्च निर्धा-रणम्” [१३।४६] इति चकारेण शेषलक्षणायास्तायाः समुच्चयः । प्रतिपदविधानत्वे हि पूर्वैरेव सिद्धः प्रति-षेध इतीदमनर्थकं स्यात् । इह पुरुषेश्वर इति शेषलक्षणा ता विवक्षिता न निर्धारणलक्षणा ।

डड् गुणतृप्तार्थसत्त्वव्यैकद्रव्यैः ॥१३।७५॥ डदन्त गुणार्थं तृप्तार्थं सत्संज्ञं तव्य एकद्रव्य इत्येतैः सह तान्तं न समस्यते । तस्य पूरणे डडित्यतः प्रभृति तमट्टकारेण डडिति प्रत्याहारः । चक्रधराणां पञ्चमः । तीर्थङ्कराणां षोडशः । बलदेवानां नवमः । समुदायसमुदितसम्बन्धे शेषलक्षणा ता । गुणार्थः—त्रलाकायाः शौक्यम् । काकस्य काष्ण्यम् । कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् । गुणगुणिसम्बन्धे ता । “एङि पररूपम्” [४।३।८१] इत्यत्र परस्य रूपं पररूपमिति वृत्तिपदं ज्ञापकं यो गुणाद्वारेण पूर्वं द्रव्ये वृत्तो भवत्यन्ते गुणमाह तेन गुण-शब्देनेह प्रतिषेधः । यस्तु सर्वदा गुणवचनस्तेन वृत्तिर्भवत्येव । हस्तिरूपम् । कपित्थरसः । चन्दनगन्धः । अग्नि-स्पर्शः । गुणशब्देनेह लोकप्रसिद्धा रूपरसगन्धस्पर्शा गुणा अभिप्रेताः । ततस्तद्विशेष्यैरयं प्रतिषेधः, तेन यत्न-गौरवं सूत्रलाभवं करणपाठवं वचनप्रामाण्यं गोविंशतिरित्येवमादिषु न प्रतिषेधः । वृषलस्य धाष्ट्यमित्यत्र वृत्तेरनभिधानम् । तृप्तार्थः—फलानां तृप्तः । सङ्क्रान्तां पूर्णः । फलाना सुहितः । सङ्क्रान्तां प्रीतः । “तृप्त्यर्थे तृप-संख्यानम्” [वा०] इति ता । सदिति शत्रुशानयोः संज्ञा । चोरस्य द्विषन् । “कर्तृ कर्मणोः कृति” [१३।६८] इति कर्मणि ता प्राप्ता “न क्ति०” [१३।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धः । “द्विषः शत्रुर्वा वचनम्” [वा०] इति ता । इह तु शेषलक्षणा ता । देवदत्तस्य कुर्वन् । देवदत्तस्य कुर्वाणः । तव्यः—देवदत्तस्य कर्तव्यम् । जिमदत्तस्य कर्तव्यम् । अत्रापि “व्यस्य वा कर्त्तवि” [१३।७६] इति शेषलक्षणा ता । तव्येन केचिद्विकल्प-मिच्छन्ति । देवदत्तकर्तव्यम् । एकं द्रव्यमस्य एकद्रव्यम् । राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य । शुकस्य मारविदस्य । आचा-र्यस्य श्रीदत्तस्य । पूर्वनिपातस्यानियमः प्रसज्येत । विशेषणादिसूत्रे इतिशब्दोऽस्ति तेन नीलस्योत्पलस्य नीलो-

१. पूर्वनिपातस्येत्यादि न भवतीत्यन्तसन्द्भस्यायमभिप्रायः—

“एक द्रव्ये तासाङ्गीकारे उभयोः पदोक्तत्वात्पूर्वनिपातस्यानियमः प्रसज्येत । ननु नीलस्योत्पलस्य नीलोत्पलस्येत्यत्रैकद्रव्यत्वेन तासनिषेधः कुतो न, गुणगुणिसम्बन्धे एकद्रव्यत्वानङ्गी-

त्यलस्येति । गुणगुणिसम्बन्धे सविधिर्भवति । एकद्रव्येण गुणगुणिविवक्षा नास्तीति विशेषणवृत्तिरपि न भवति ।
मिना प्रतिषेधो वक्तव्यः । देवदत्तस्य साक्षात् । देवदत्तस्योपरि ।

कर्मणि च ॥११३७६॥ चकारोऽवधारणार्थः । कर्मण्येव या ता विहिता तदन्तं सो न भवति ।
आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचनं मे त्र्योदनस्य भोजनं देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन ।
“युट्” [२।३।१७] इति नञ्भावे युट् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इत्युभयत्र तायां प्राप्तायां
“द्विप्राप्ती परे” [१।४।६९] इति कर्मण्येव भवति । कर्तरि तु भा । कर्मण्येवेति किम् ? इध्मवश्चनः ।

कर्तरि क्लेने ॥११३७७॥ कर्तरीति ताया विशेषणम् । कर्तरि या ता विहिता तदन्तं क्लान्तेन सो न
भवति । अस्मिन्नास्यते स्म इदमेपामासितम् । इदमेषां यातम् । इदमेषां भुक्तम् । तयोरेव भावकर्मणोः क्ले प्राप्ते
“धिगत्यर्थाच्च” [२।४।२८] “अधिकरणे चाद्यर्थाच्च” [२।४।२९] इति अधिकरणे क्लः । अधिकरणस्यो-
क्तत्वात् । इदमित्येतस्मादीभनास्ति “मिडैकार्थे वा” [१।४।२४] इति वैव भवति । “कर्तृकर्मणोः कृति”
[१।४।६८] इति ता प्राप्ता “न क्तितलोक” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा “क्तस्याधिकरणे” [१।४।७०]
इत्यनेन एवामिति कर्तरि ता । एवं राज्ञां मतः, राज्ञां बुद्धिः, राज्ञां पूजितः “मतिबुद्धिपूजार्थाच्च” [२।२।१६६]
इत्यनेन वर्तमाने काले क्तो नियम्यते । स चेह कर्मणि कारके विहितः “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति
कर्तरि ता प्राप्ता “नक्तितल०” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवतीत्यनेन सूत्रेण प्रत्यवस्थाप्यते । अथ यदा
सकर्मकेभ्योऽधिकरणे क्तस्तदा कर्तृकर्मणोरनुक्तत्वात् “क्तस्याधिकरणे” [१।४।७०] इत्यनेन या ता कर्तरि
तस्याः प्रतिषेधः सिद्धः कर्मणि या ता तस्याः कथं वृत्तिप्रतिषेधः । इदमोदनस्य भुक्तमिति । नैप दोषः ।
कर्मणि चेति वर्तते तेनेह कर्तरि कर्मणि च ता क्तान्तेन न समस्यते । इह शेषलक्षणा ता । छात्रहसितम् ।

तृजकाभ्यां योगे ॥११३७८॥ कर्तरि या ता तदन्तेन सो न भवति । तृचैव कर्तुंरुक्तत्वात् । तद्योगे-
कर्तरि ता नास्ति । तृजग्रहणमुत्तरार्थम् । भवत आसिका । भवतः शायिका । भवतोऽग्नेगामिका । “पर्यायाहृणो-
त्पत्तौ वुण्” [२।३।६२] इति भावे स्त्रीलिङ्गं वुण् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति कर्तरि ता ।
कर्तरीत्येव । इन्नुभक्तिकां मे धारयसि । पूर्ववद्बुण् । अत्रेत्तुशब्दात् कर्मणि ता “कृति” [१।३।७१] इति
ता सः । म इति सम्प्रदानमेतत् ।

कर्तरि ॥११३७९॥ कर्तरि यौ तृजकौ ताभ्यां सह तान्तं न सो भवति । अर्पां स्रष्टा । पुरां भेत्ता । वज्र-
स्य भर्ता । याजकादिषु पतिपर्यायो भर्तृशब्दः । यवानां लावकः । सक्नूनां पायकः । कर्तरीति शक्यमकर्तुं तृचोऽ-
कस्य च कर्तरि विधानात् । नन्यकस्य भावेऽपि विधानमस्ति । सत्यम् । तद्योगे कर्तरि विहितायास्तायाः पूर्वेण
वृत्त्यभावः सिद्धः सामर्थ्यादिह कर्तरि विहितस्याकस्य ग्रहणम् । तदेतत्कर्तृग्रहणं शपकं पूर्वप्रतिषेधो नित्यः अयम
नित्यस्तेन तीर्थकर्तारमहन्तमित्येवमादि सिद्धम् । तुनन्तेन वा “साधनं कृता” [१।३।२९] इति सः ।

क्रीडाजीविकयोर्नित्यम् ॥११३८०॥ नेति निवृत्तम् । तृचः क्रीडाजीविकयोरसम्भवानानुवृत्तिः ।
क्रीडायां जीविकायाञ्च तान्तमकेन सह नित्यं षसो भवति । क्रीडायाम्—उद्दालकपुष्पभाञ्जिका । भावे खुविषये वुण् ।
“कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति कर्मणि ता । जीविकायम्—दन्तलेखकः । नखलेखकः । अरवस्कर-
सूदकः । क्रीडायां कृतीति विकल्पः प्रातः । जीविकायां कर्तरीति प्रतिषेधः प्रातः । क्रीडायां आरम्भादेव नित्यत्वं
सिद्धं नित्यग्रहणं जीविकार्थमुत्तरार्थञ्च ।

तिकुप्रादयः ॥११३८१॥ तिस्रंशाः कुशब्दः प्रादयश्च समर्थेन नित्यं षसो भवति । ऊरीकृत्य । ऊरी-
कृतम् । पटपटाकृत्य । प्रादिसाहचर्यात् कुशब्दो भिन्नं शो गृह्यते । कुत्सितो ब्राह्मणः कुब्राह्मणः । ईषन्मधुरं काम-

कारात् । ननु भेऽत्र सः विशेषणं विशेष्येणेतिशब्दस्य क्वचिदन्यत्रापि विवक्षितस्थले समासार्थत्वेनात्रे-
तिशब्दबलेन सः । विशेषणवृत्तिस्तु न गुणगुणिवद्भावे विशेषणवृत्तेरप्यनङ्कारात् ।”

धुरम् । “क्रियायोगे गि, ति” [१।२।१३०-१३१] इति प्रादयोऽपि क्रियायोगे तिसंज्ञा अक्रियायोगार्थं प्रादि-
ग्रहणम् । स्वती पूजायकम् । शोभनः पुरुषः सुपुरुषः । अतिपुरुषः । अतिशयेन स्तुतं सुस्तुतम् । अतिक्रमेण
स्तुतमतिस्तुतम् । दुः पापाद्यर्थे । पापः पुरुषो दुष्पुरुषः । कुन्द्रेण कृतं दुष्कृतम् । आडीपदाद्यर्थे । ईषत्कडार
आकडारः । क्रियायोगे आबद्धमाभरणम् । प्रादय एवमात्मधा यत्र क्रियापदं प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः ।
यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुरिति । “प्रादयो गताद्यर्थं च वया” [वा०] प्रगत आचार्यः प्राचार्यः ।
वृत्तिविषये प्रशब्दो गतशब्दस्यार्थं ससाधनमभिधत्तं । एवं प्रवृद्धो गुरुः प्रगुरुः । प्रपितामहः । सङ्गतार्थः
समर्थः । “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थं इपा” [वा०] अतिक्रान्तः खट्वामतिखट्वः । उक्रान्तो वेलासुद्धे लः ।
“अवादयः क्रुष्टाद्यर्थं भया” [वा०] अवक्रुष्टः कांकिलया अन्कांकिलः । परिणद्धो वीरुद्धिः परिवीरुत् । “पर्या-
दयो ग्लानाद्यर्थं अपा” [वा०] परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः । उद्युक्तः संग्रामाय उलसंग्रामः । पर्यादिराकृतिगण
इत्येके । अलं कुमारिः । “निरादयः क्रान्ताद्यर्थं कया” [वा०] निःक्रान्तः कौशाम्या निष्कौशाभिः । अपगतः
शाखाया अपशाखः । लक्षणदिप्वर्थे ध्वनभिधानादवृत्तिः । वृत्तं प्रति विद्योतते ।

वागमिड् ॥१।३।८२॥ वाक्संज्ञममिडन्तं समर्थेन नित्यं पसो भवति । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।
शरलावः । अमिडिति किम् ? एधानाहारको व्रजति । “बुण्णुमौ क्रियार्था तदर्थायाम्” [२।३।८] इति बुण् ।
अमिडिति प्रतिषेधवचनं शपकमनयोर्योगयोः “सुप्सुपा” [१।३।३] इति नाभिसंवच्यते । एवञ्च सत्येतल्लब्धम्
“तिवाङ्काराणां प्राक् सुबुत्पत्तेः कृद्धिः सविधिः” [परि०] इति । इह मापवापिणी । व्रीहियापिणी स्त्री ।
कृदन्तेन वृत्तौ “भृदन्तनुमविभक्त्याम्” [१।४। ५] इति गत्वं सिद्धम् । अन्यथा सुबुत्पत्तिः स्त्रीत्येन बाध्यते ।
अश्वक्रीती च प्रयोजनम् । यदि सुबुत्पत्तेः प्राक् तिवाङ्काराणां कृता वृत्तिः । अदःकृत्य तमोपहः राजश्रित इत्यत्र
पूर्वस्य पदकार्यं न स्यात् । “कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] इत्येवमादि अनुब्विधानं चानर्थकं क्वचिदेव
डीविधिणत्वादिविषये शपकात् सिद्धिः ।

भिनाऽमैव ॥१।३।८३॥ पूर्वेषु सिद्धे नियमाऽयम् । रिक्तसंज्ञेनामन्तेनैव वागमिड् पसो भवति । स्वादु-
ङ्कारं भुङ्क्ते । लवणङ्कारं भुङ्क्ते । स्वाद्वर्षेण वाहु “स्वादुमि णम्” [२।४।१२] इति णम् भवति । स्वादु-
मीति निर्देशाद्यसन्नियोगे मान्ता निपात्ये । अमन्तेत किम् ? कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् ।
“कालसमयवेलासु तुक्वा” [२।३।१४३] इति तुक् । आरम्भादेव नियमः सिद्धः । किनैवेति विपरी-
तावधारणे व्याकर्त्ये नास्तीत्येवकारः किमर्थः ? अमैव यत् सह निर्दिष्टं वाक्संज्ञं तस्य वृत्तिर्यथा स्यात् । अमा
चान्येन च यत् सह निर्दिष्टं तस्य मा भूत् । अग्रे भोजं गच्छति । अग्रेभुक्त्वा । प्रथमम्भोजम् । पूर्वभोजम् ।
“वाग्रे प्रथमपूर्वे” [२।४।१०] इति क्त्वाण्मौ विहितौ । भित्तिंति विस्पष्टार्थम् । व्याकृत्याभावात् ।

वा भादि ॥१।३।८४॥ “उपदंशो भायाम्” [२।४।३३] इत्यतः प्रभृति वाक्संज्ञं भादीत्युच्यते ।
भादीनि वाक्संज्ञानि अमा सह वा समस्यन्ते पसो भाति । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । “उपदंशो भायाम्”
[२।४।३३] इति णम् । पार्श्वपपीडम् । पार्श्वेनापपीडं पार्श्वं उपपीडं शेते । “ईपि चोपपीडरुधकर्षः”
[२।४।३५] इति णम् । अमन्तेनेत्येव । पर्याप्तो भोक्तुम् । प्रभुगोत्रिणम् । “पर्याप्तवचने अलमर्थे” [२।४।५१]
इति तुम् । एवकारो नानुवर्तत तेन भादिणु यदमा सह निर्दिष्टं वाक्संज्ञं यदमा चान्येन च सह निर्दिष्टं तदपि
समस्यते । उच्चैःकारमाचष्टे उच्चैःकारं “भावनिटोक्तौ कृत्तः क्वाण्मौ” [२।४।४४] इति णम् ।

क्त्वा ॥१।३।८५॥ क्त्वान्तेन सह वा भादि समस्यते पसो भवति । उच्चैःकृत्याचष्टे । उच्चैः कृत्वा ।
भादीत्येव । प्रदेशान्तरवाचो वृत्तिर्न भवति । अलं कृत्वा । अग्रे सुक्त्वा ।

अन्यपदार्थेऽनेकं बम् ॥१।३।८६॥ वानिर्दिष्टं सुवृग्रहणमनुवर्तते । भानिर्दिष्टं निवृत्तम् । अन्यस्य
पदस्यार्थे वर्तमानमनेकं सुवन्तं वसंज्ञकः सो भवति । चित्रगुः । लम्बकर्णः । दर्शनीयरूपः । अन्यग्रहणं किम् ?
स्वपदार्थे वसो मा भूत् । लम्बश्च स कर्णश्च स लम्बकर्णः । पदग्रहणं किम् ? अन्यवाक्यार्थे मा भूत् ।

अर्थग्रहणं किमर्थम् ? यावता शब्दे कार्यस्यासम्भवादर्थं कार्यं विज्ञास्यते । अन्यपदार्थस्य ये लिङ्गसंख्ये ते यथा स्यातामित्येवमर्थम् । बहुयवं कुलम् । बहुयवा भूमिः । बहुयवौ । बहुयवाः । वाविभक्त्यन्ते अन्य-पदार्थे वृत्तिर्न भवत्यनभिधानात् । अनेकग्रहणं बहुनामपि प्रापणार्थम् । सामानाधिकरण्याभावेऽपि बसो भवति । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उच्चैर्मुखो देवदत्तः । अस्तिक्षीरा गौः । भीनामसंख्यत्वादसामाना-धिकरण्यम् । इहाभिधानाभावान्न भवति । पञ्चभिर्भुक्तमस्य । सामानाधिकरण्येऽप्यनभिधानम् । पञ्च भुक्त-वन्तोऽस्य । नपा निर्देशः किमर्थः ? उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् । “खावन्यपदार्थे” [१३।१८] इति हस एव भवति । इह वीरपुरुषको ग्राम इति परत्वाद्वसः षसस्य बाधकः । शस्त्रीश्यामा देवदत्तेत्येवमादिषु “यरचैकाश्रये” [१३।४४] इति प्रकृतमस्ति तेन षसस्य बाधः । “प्रादयो गताद्यर्थे वया” [वा०] इत्येवमादि वार्त्तिकवचनं प्रमाणम् । तेन निष्कौशाभिरित्येवमादिषु बसो न भवति । “ईषुपमानपूर्वस्य शुखं वक्तव्यम्” [वा०] उदरे स्थितो मणिरस्य उदरेमणिः । “षे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इति ईषोऽनुप् । उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः । उपमानावयवत्वादुष्ट्रोऽप्युपमानम् । इह केशचूडः सुवर्णालिङ्कारो देवदत्तः इति केश-सम्भारे केशशब्दः । सुवर्णविकारे सुवर्णशब्दो वर्तते । सङ्गतार्थः समर्थ इति निर्देशादेवंजातीयस्य वा शुखं ब्रह्मव्यम् । प्रपतितपर्याः प्रपर्याः । अविद्यमानभार्यः अभार्यः ।

संख्येये संख्यया भयासन्नादूरसंख्यम् ॥१३।८७॥ संख्येये या संख्या वर्तते तथा हि आलन्न अदूर इत्येतानि संख्या च बसो भवति । अनन्यार्थार्थं वान्तेऽप्यन्यपदार्थे प्रापणार्थञ्च । समीपे दशानामिमे उपदशाः । उपविंशाः । समीपप्राधान्ये तु हसः । आसन्ना दशानामिमे आसन्नदशाः । आसन्नविंशाः । अदूरदशाः । अदूरचचारिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा इमे द्वित्राः । त्रयो वा चत्वारो वा इमे त्रिचतुराः । “नञ्विसूपत्रिभ्यश्चतुरः” [४।२।७२] इति अस्थो निपात्यते । त्रिदश इमे त्रिदशाः । वृत्तैवाभ्यावृत्तेरुक्तत्वात् सुचोऽप्रयोगः । संख्यासंज्ञाविधानेऽधिकशब्दस्यापि संख्यात्वमुक्तम् । अधिका दशानामिमेऽधिकदशाः । संख्येय इति किम् ? अधिका विंशतिर्गवाम् । संख्येयेति किम् ? पञ्च पदार्थाः । भयासन्नादूरसंख्यमिति किम् ? पार्थिवाः पञ्च ।

दिशोऽन्तराले ॥१३।८८॥ दिक्छब्दाः सुबन्ता अन्तरालवचने बसंज्ञकः सो भवति । अन्तराल एव यथा स्यादिति नियमार्थं आरम्भः । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं दक्षिणपूर्वा । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुं वज्रावः” [वा०] इति पुं वज्रावः । उत्तरपदस्य “स्त्रीगोनीचः” [१।१।८] इति प्रादेशः । अन्तरालादिशः स्त्रीत्वात् पुनष्टाप् । अनेकमित्यनुवर्त्तनात् न्यक्संज्ञायां द्वयोः पर्यायेण पूर्वनिपातः । एवं दक्षिण-परा । उत्तरपरा । उत्तरपूर्वा । प्रसिद्धानां दिक्छब्दानां ग्रहणादिह न भवति । वारुण्याश्च कौबेर्याश्च दिशोर-न्तरालम् ।

तत्रेदमिति सरूपे ॥१३।८९॥ तत्रेति ईबन्ते द्वे सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे बसो भवति । इतिकर-णात् ग्रहणविशिष्टे युद्धे विवक्षा । केशेषु केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तं केशकेशि । कचाकर्चि । “अ इच्” [४।२।२८] इति इच् सान्त इजिति तिष्ठद्गवादौ हसंज्ञार्थं पठ्यते । “अन्नवस्यापि” [४।२।२३] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । अत्र सापेक्षत्वात् पूर्वेण वृत्तिर्न प्राप्नोति । सरूपे इति किम् ? केशेषु च कचेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तम् ।

तेन ॥१३।९०॥ इदमिति सरूपे इति वर्तते । तेनेति भान्ते सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे बसो भवति । इतिकरणानुवृत्तेर्यत्तेनेति निर्दिष्टं प्रहरणं चेत्तद्भवति । दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तं दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । सरूपे इत्येव । दण्डैश्च कमण्डलुभिश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

सहेति तुल्ययोगे ॥१३।९१॥ तुल्ययोगः समानक्रियादियोगः । तेनेति वर्तते । सह इत्येतत् सुबन्तं तुल्ययोगे वर्तमानं तेनेति भान्तेन सह समस्यते बसो भवति । सह छात्रेण सञ्जात्र आगतः । सशिष्यः ।

सपुत्रः । “वा नीचः” [४।३।११०] इति सहशब्दस्य सादेशः । तुल्ययोग इति किम् ? प्रत्यहं सह शावेन भारं वहति रासमी । विद्यमानताऽत्र सहार्थः । आद्ये नैव सिद्धे हर्षानवृत्त्यर्थं कथमावार्थञ्च वचनम् । इति-शब्दो योगविभागार्थः । तेनातुल्ययोगेऽपि क्वचिद्वसः का च । तेन सकर्मकाच्चरेदो भवति । सपत्नको वादी ब्रूत इत्यादि सिद्धम् । अत्र हि चरेरेव देन योगो न कर्मणः । तथा वादिन एव च तेन योगो न पत्नस्य ।

चार्थे द्वन्द्वः ॥१।३।६२॥ चकृतोऽर्थश्चार्थः । तस्मिन् वर्तमानमनेकं सुबन्तं द्वन्द्वसंज्ञः सो भवति । चत्वारश्चार्थाः । समुच्चयोऽन्वाचय इतरेतरयोगः समाहारश्चेति । तत्रानियतक्रमयौगपदानां द्वयादिवस्तूनामेकत्राध्यारोपः समुच्चयः । यथा “गामश्वं पुरुषं पशुमहरहर्नयमानो वैवश्वतो न तृप्यति, सुरया इव दुर्मदी ।” गुणप्रधानभावमात्रविशिष्टः समुच्चय एवान्वाचयः । यथा भिक्षामट गां चानयेति । इतरेतरयोगसमाहारावपि समुच्चयस्य भेदौ । परस्परं सापेक्षतामवयवभेदानुगत इतरेतरयोगः । अनपेक्षिता अवयवभेदाः संहतिप्रधानाः समाहाराः । आद्योश्चमन्तरेणापि क्वचित् प्रयोगात् । असामर्थ्याच्च नास्ति सविधिः । इतरेतरयोगे । प्लक्ष-न्यग्रोभौ छायां कुरुतः । समाहारे प्लक्षान्यग्रोभं सिध्यति । वाक्त्वचम् । वाग्दृषदम् । छत्रोपानहम् । इह द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशद्दृष्टितेत्यत्रमादिषु समाहारेऽपि लिङ्गमाशङ्क्यं लोकाश्रयत्वादिति नपुंसकत्वाभावः । द्वन्द्व-प्रदेशः “द्वन्द्वचचुदहषो रार्थे” [४।२।१०८] इत्येवमादयः ।

वोक्तं न्यक् ॥१।३।६३॥ सलक्षणसूत्रेषु वानिर्दिष्टं न्यक्संज्ञं भवति । तस्य प्रयोजनं पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपातः । अधिस्त्रि । अधिकुमारि । भीति वोक्तम् । कष्टश्रितः । इति वोक्तम् । शङ्कुलाखण्डः । भेति वोक्तम् । एवं सर्वत्र बोद्धव्यम् । वसेऽनेकं सुबन्तं तस्य पूर्वनिपातनियममुत्तरत्र वक्ष्यति । इह राज्ञः पुरुषं श्रित इति यत् प्रति यदप्रधानं तत् प्रति तन्न्यक्संज्ञं भवति । कथमयं विभागो लभ्यते । न्यगितीय-मन्वर्थसंज्ञा । नीचैरञ्चतीति न्यगप्रधानमित्यर्थः ।

एकविभक्ति ॥१।३।६४॥ विभक्तिशब्दः पूर्वाचार्येण निर्दिष्टः एका विभक्तिर्यस्य तन्न्यक्संज्ञं भवति । निष्कौशाम्बिः । निर्मथुरः । “परम्” [१।३।६५] इत्यनेन परनिपातार्थमेतत् । प्रादेशस्तु “स्त्रीगो-नीचः” [१।१।१] इत्यत्र अन्वर्थस्य नीचः समाश्रयणात् सिद्धः ।

परम् ॥१।३।६५॥ एकविभक्ति न्यक्संज्ञं परं प्रयोक्तव्यम् । पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपाते प्राप्तेऽपवादः । इह धर्मं श्रितः । धर्मं श्रितेन धर्माश्रिताय इत्येवमादिषु “वोक्तम्” [४।३।११०] इत्यनेनैव न्यक्संज्ञा भव-त्यनवकाशत्वात्तस्तदाश्रयः पूर्वनिपातः ।

राजदन्तादौ ॥१।३।६६॥ राजदन्तादिषु न्यक् परं प्रयोक्तव्यम् । उत्तरसूत्रैः प्राप्तस्य पूर्वनिपातस्या-पवादोऽयम् । दन्तानां राजा राजदन्तः । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । गणपाठादनुप् । लिप्तवासितं नग्नमुषितम् अर्वाक्लिन्नपङ्कं सिकृत्समृष्टं भृष्टलुञ्जितम् अर्पितोप्तम् उत्तगाढमेतेषु पूर्वकालस्य परनिपातः । उल्लूखलमुसलं तन्दुलकिएवम् । आरगवायनिबन्धकी । चित्ररथबाह्लीकम् । अवन्त्यश्मकम् । शूद्रार्यम् । स्नातकराजानौ । विष्वक्सेनार्जुनौ । अक्षिभ्रुवम् । दारगवम् । शब्दाथौ । धर्माथौ । कामाथौ । अज्जु व्यत्ययोऽपि । अर्थशब्दौ । अर्थधर्मौ । अर्थकामौ । वैयाकरणमतम् । भोजवाजौ । गोपालधानीपूलासम् । पूलास-करण्डम् । उशीरबीजम् । सिञ्जस्थम् । शिञ्जाली । चित्रास्वाती । भार्यापती । जायापती । जम्पती । दम्पती । जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते । पुत्रपती । पुत्रपशू । केशश्मश्रुः । शिरोबिन्दु । सपिर्मधुनी । मधुसर्पिणी । आद्यन्तौ । अन्तादी । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ ।

पूर्वम् ॥१।३।६७॥ न्यगिति वर्तते । न्यक्संज्ञं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । वाक्यवद् वृत्तावनियमो मा भूदि-त्यारम्भः । उक्तान्युदाहरणानि । यत्र द्वे अपि तान्ते राज्ञः पुरुषस्येति तत्र कस्य न्यक्त्वं न्यगित्यन्वर्थसंज्ञा-श्रयणाद्वाजशब्दस्य ।

द्वन्द्वे सुः ॥११३।६८॥ द्वन्द्वे से स्वन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । मुनिगुणौ । यदुगुणौ । अनेकप्राप्तावनियमेन मुनिपदगुणताः । पदुमुनिगुणताः । पदुगुणमुनयः । न्यागान्यवर्थपंज्ञा । द्वन्द्वं च न कस्यचिदप्राधान्यमित्यप्राप्ते पूर्वनिपात इदं सूत्रम् ।

अजाद्यत् ॥११३।६९॥ अजादि अदन्तं शब्दरूपं द्वन्द्वे से पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । इन्द्रचन्द्रौ । उष्ट्रखरम् । उष्ट्रशशम् । इह इन्द्राग्नी । इन्द्रवायु इति मुलक्षणात् परत्वादानेन पूर्वनिपातः । उभयत्र वायोः प्रतिषेध इति आनङ् न भवति । बहुष्वनियमेन इभ्रथाश्रमम् । अश्रयथेभम् । तपरकरणं किम् ? वृत्ताश्वे । अश्रावृत्तौ ।

अल्पाचतरम् ॥११३।७०॥ अल्पाचतरं शब्दरूपं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । धवलदिरौ । धवाश्वकर्णम् । “बहुष्वनियमः” [वा०] । वीणानुन्दुभिः ख्याः । शङ्खानुन्दुभिः वीणाः । “कतुनक्षत्राणां समानाक्षराणामानुपूर्व्येण वक्तव्यम्” [वा०] । शिशाखसन्तौ । हेमन्तशिशाखसन्तौ । अश्विनीभरण्यः । कृत्तिकारोहियः । समानाक्षराणामिति किम् ? प्रोष्वसन्तौ । “द्वयक्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । कुशकाशम् । तृणकाष्ठम् । “वर्णानामानुपूर्व्येण” [वा०] । ब्राह्मणज्ञानविषयशब्दाः । ‘आतुरश्च ज्यायसः’ [वा०] युधिष्ठिराजुनौ । “संख्याया अल्पीयसो वाचिकायाः” [वा०] द्वित्राः । एकादश । नवतिशतम् । “अभ्यर्हितस्य च” [वा०] । मातापितरौ । श्रद्धामेये । दीक्षातपसां ।

ईश्विशेषणे वे ॥११३।१०१॥ ईश्वन्तं विशेषणं च बने पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । बने अनेकं सुवन्तं न्यक्संज्ञमित्यनियमे प्राप्तेऽयमारम्भः । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उदरेर्मणिः । वहेगडुः । “अकामेऽमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गम्” [१।३।१३१] इत्यनुप् । चित्रगुः । लम्बकर्णः । “सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । सर्वे श्वेतमस्य सर्वश्वेतः । सर्वगौरः । द्विशुकजः । द्विकृष्णः । सर्वनामसंख्ययोः परस्पर वृत्तिः । वाक्ये संख्यायाः परत्वात् पूर्वनिपातः । द्वयन्यः । व्यन्यः । “वा प्रियस्य” [वा०] । प्रियदधिः । दधिप्रियः । कथं गडुकण्ठः । गडुशिराः । आहिताग्न्यादिषु द्रष्टव्यः ।

तः ॥११३।१०२॥ तान्तं बने पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । कृतकटः । भिद्वितभित्तः । अत्रमुक्तोपानक्तः । तान्तस्य विशेषणत्वेनाविवक्षितत्वात् पूर्वणं न सिध्यति । कथं कर्त्तव्यमिति कालमुत्वादिभ्यश्च तान्तस्य परप्रयोगः (जातः) । सारङ्गजग्धी । पलाण्डुभक्षिती । कालात्-मासजाता । संवसरजाता । मुखादिभ्यश्च-सुखं जातं यस्याः सुखजाता । दुःखजाता । वाऽहिताग्न्यादिषु व्यक्त्वर्थदं भविष्यति । प्रहरणाथेभ्यः परं वधौ वक्तव्ये । उच्यतोऽसिरनेन अस्युच्यतः । मुसलोद्यतः । असिः पाणावस्य आसपाणः । दण्डपाणः । कथमुद्यतगदः । उच्यतासिः । इदमपि वेति सिंहावलोचनात् ।

वाऽऽहिताग्न्यादौ ॥११३।१०३॥ आहिताग्न्यादिषु बसे तान्तं वा पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । आहिताग्निः । अग्न्याहितः । एवं जातपुत्रः । जातदन्तः । जातश्मश्रुः । तैलपातः । घृतपीतः । मद्यपोतः । ऊढभार्यः । अर्थगतः । आकृतिगणोऽयम् । तेनेष्टयो न वक्तव्याः ।

ये कडाराः ॥११३।१०४॥ ये कडारादयो वा पूर्वं प्रयोक्तव्याः । कडारश्च स भद्रश्च स कडारभद्रः । भद्रकडारः । विशेषणस्य “वोक्तं न्यक्” [१।३।६३] पूर्वनिपातः प्राप्ते विभाष्यते । कडार गडुल कूट काण खञ्ज कुरट खोड खलति गौर वृत् भिन्नुक पिङ्गल तनु नट बधिर ।

उत्तरपदं घु ॥११३।१०५॥ से यदुत्तरपदं तद्घुसंज्ञं भवति । पञ्चगवधनः । द्यौ परतः “द्वयर्थे (र्थं) घु समाहारे” [१।३।७६] इति पूर्वस्य (स) संज्ञायां टः सन्तः सिद्धः । एवं द्वे अहनी जातस्य द्वयहजातः । “काळा मेयैः” इति समुदायस्य षसंज्ञा द्यौ परतः पूर्वस्यापि षसंज्ञायां टः सन्तः ।

इत्यभयनन्दविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पदः समाप्तः ।

अनुक्ते ॥११४१॥ अनुक्त इत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम अनुक्त इत्येवं तद्वेदितव्यम् । स्वार्थद्रव्यलिङ्गानि त्रिको मृदर्थ इति अस्मिन् दर्शने स्वार्थिकाष्टावाद्यः संख्याकर्मादयो विभक्त्यर्थाः । एवं च “कर्मणीप्” [११४२] इत्येवमादीनां “साधने स्वार्थे” [१२१२३] इत्येतस्य च गुणप्रधानभावेनैक्यता । स्वार्थकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिष्वनुक्तेष्विवाद्यो भवन्ति । अथवा अनुक्तकर्माद्याश्रयेष्वेकत्वादिविवाद्यो भवन्ति । इह परिसंख्यानमिति केचिन् । मिड्कुद्बृत्सैरनुक्ते कर्मादाविति । वक्ष्यति “कर्मणीप्” [११४२] । कटं करोति । ओदनं भुङ्क्ते । अनुक्ते इति किम् ? क्रियते कटः । मिडोक्तं कर्म । कृतः कटः । कृतोक्तं कर्म । श्राद्धिको देवदत्तः । “आद्भु सुक्तं ठोऽनेन” [४१११८] इति ठः । दृतोक्तः कर्ता । शतेन क्रीतः । “शता-वस्वार्थेऽन्ते ठ्यौ” [३१४१८] इति यः । दृतोक्तं करणमिति । कर्तार करणे च भा न भवति । प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्रातोदको ग्रामः । येन कर्माक्तम् । मिड्कुद्बृत्सैरिति परिसंख्यानं किम् ? कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनी यम् । अत्र कटशब्दादुत्पद्यमानया इषा उक्ते कर्मणि भीष्मादिभ्य इभ्य स्यात् । तदेतत्परिगणनमयुक्तम् । कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि न ह्यसौ कटमात्रे सन्तोषं करोतीत्यनेकं कर्म गृह्यते । समुदायस्य चामृत्त्वात् प्रत्य-वर्षवादिभक्त्युत्पत्तिः । इह आसने आस्ते शयने शेते इति अन्यो ह्यधिकरणप्रत्ययः सामान्येन युटाऽभिहितो अन्यश्च विशेषरूपेण विभक्त्योच्यते इति न दोषः ।

कर्मणीप् ॥११४२॥ कर्मणि कारके अनुक्तं इव विभक्तिर्भवति । कटं करोति । ग्रामं गच्छति । आदित्यं पश्यति । अविशेषेण ह्याम्भृदः स्वादयो वक्ष्यन्ते । तन्नियमोऽयं कर्मादिष्वेव इवाद्यो भवन्ति । इवाद्यो नियताः । कर्मादयस्स्वनियताः । तेनु ताऽपि प्राप्नोति । तत इदमुच्यते “ता शेषे” [११४२७] इति शेषे ता भवति नोक्ते कर्मादौ ।

अन्तरान्तरेण योगे ॥११४३॥ प्रतिपदाकत्वादिहान्तरान्तरेणशब्दौ निमज्जौ ताभ्यां योगे इन्विभ-क्तीर्भवति । अन्तरा गन्धमादनं माल्यवन्तञ्च कुर्वः । कुरुविशेषणत्वेन तायां प्रातायामिन्विधीयते । कुरु-शब्दार्थे वर्तमानात् मृदार्थातिरेकाभावात् इभ्य भवति । अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानं ब्रूते । अन्तरेणशब्दः तच्च विनार्थं च । अन्तरेण सौमनसं विद्युत्प्रभञ्च देवकुरवः । मोक्षमन्तरेण नात्यन्तिकं सुखम् । निसंज्ञ-योर्ग्रहणादिह न भवति । अन्तरायां पुरि वसति । किं ते धात्रवाणां सालङ्कायनानां चान्तरेण गतेन । योग इति किम् ? अन्तरा तद्वाशिलाञ्च पाठलिपुत्रञ्च खुध्नस्य प्राकारः । ननु पदविधिरयं अन्तराशब्दे सामर्थ्यात् खुध्नशब्दादिभ्यं भविष्यति योगग्रहणमनर्थकम् । कच्चिदन्वैरपि योगे यथा स्यादित्येवमर्थम् । “अभितः परितः समयानिष्काहाप्रतियोगेपूपसंख्यानम्” [वा०] अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । समया ग्रामम् । निकया ग्रामम् । हा देवदत्तम् । वृणीष्व भद्रं प्रतिभाति चेत्त्वम् । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् । “उभसर्वतसोः कार्यो धिगुपर्याद्विषु त्रिषु । कृतद्वित्वेष्विषा योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते” [वा०] उभयतो ग्रामम् । सर्वतो ग्रामम् । धिग्देवदत्तम् । उपर्याद्विधिति सूत्रोपलक्षणम् । सामीप्येऽधोऽध्युपरि [“उपर्यध्यधसः सामीप्ये”] [१३१५] इति द्वित्वे कृते त्रयाणां ग्रहणम् । अधोऽधो ग्रामम् । उपर्युपरि ग्रामम् । आर्यधि ग्रामम् । “अन्यत्राऽपि दृश्यते” [वा०] विना धर्मं कुतः सुखम् । अपि शब्दान्न च दृश्यते । हा तात हा पुत्र वत्सल ।

कालाध्वन्यविच्छेदे ॥ ११४४ ॥ अविच्छेदोऽत्यन्तसंयोगः । द्रव्यगुणक्रियाभिः काल्पर्येन काला-ध्वनोः सम्बन्ध इत्यर्थः । कालाध्वनोरविच्छेदे वर्तमानयोः सतोरिव भवति । अन्यस्याश्रुतत्वात् कालाध्ववा-चिभ्यामेवाधिकरणविवक्षायामीपि प्रातायां तदविवक्षायां सम्बन्धलक्षणायां तायां प्रातायामयं विधिः । कालस्य द्रव्येण योगे—मासं गुडापूपाः । संवत्सरं क्षीरोदनम् । गुणेन—शरदं मथुरा रमणीया । मासं कल्याणी काञ्ची । क्रियाया—मासमधीते । संवत्सरमधीते । अध्वनो द्रव्येण योगे—क्रोशं सिकताः । योजनं वनराजिः । गुणेन—

१. कर्मत्वेन विचक्ष्णायां नेत्यर्थः । २. अन्तरेण कुरवः सु० । ३. इन्न भवति व०, स० ।

क्रोशं कुटिला नदी । योजनं दीर्घः पर्वतः । क्रियया—क्रोशमधीते । योजनमधीते । अविच्छेद इति किम् ? मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ।

सिद्धौ भा ॥११४।५॥ अविच्छेद इति वर्तते । सिद्धिः क्रियाफलनिष्पत्तिः । अविच्छेदे यो कालाध्वानौ तद्वाचिभ्यां भा भवति सिद्धौ गम्यमानायाम् । मासेन प्राभृतमधीतम् । योजनेन प्राभृतमधीतम् । सिद्धाविति किम् ? मासमधीतं प्राभृतं न चानेनावधारितम् । नात्र क्रियाफलनिष्पत्तिरस्ति पूर्वंण इवेव भवति ।

क्रियामध्ये केषौ ॥११४।६॥ कालाध्वनीति वर्तते । क्रिययोर्मध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यां केषौ विभक्त्यौ भवतः । अद्य सुक्त्वा मुनिद्वयं हान्द्रोक्ता द्वयहे भोक्ता । इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशाद् विध्यति क्रोशे विध्यति लक्ष्यम् । चापाच्छरस्य निर्गमनं धानुष्कावस्थानं वा एका क्रिया द्वितीया व्यधनक्रिया तयोर्मध्ये क्रोशशब्दात्ता प्राप्ता ।

सुः पूजायां न गिति ॥११४।७॥ सुशब्दः पूजायामर्थे गिसंज्ञस्तिसंज्ञश्च न भवति । सुस्थितं भवता । सुसिद्धं भवता । गिसंज्ञाश्रयं पलं न भवति । तिसंज्ञाप्रतिषेधे यद्यपि तिसंज्ञाश्रयः सविधिर्न भवति, तथापि प्रादिलक्षणो भविष्यति । स्वती पूजायामिति वचनात् । मुसिच्य गतः । तस्मादुत्तरार्थं तिसंज्ञाप्रतिषेधवचनम् । पूजायामिति किम् ? सुषिक्तं किं तवाऽत्र ।

अतिक्रमे चातिः ॥११४।८॥ अतिक्रम आधिक्यम् । अतिक्रमे पूजायाञ्चातिशब्दो गितिसंज्ञो न भवति । अतिसिद्धमेव भवता । अतिस्तुतमेव भवता । गितिसंज्ञाश्रयः प्रादिलक्षणश्च सविधिर्न भवति । अतिसिक्तनैव गतः । पूजायाम्—अतिसिद्धमतिस्तुतं भवता । स्वती पूजायामिति प्रादिलक्षणः सविधिः । अतिसिच्य गतः । “प्यस्तिवाक्से क्वः” [१११।३१] इत्यत्र तिग्रहणमुपलक्षणं प्रादिसेऽपि प्यादेशः ।

पदार्थसंभावनाऽनुज्ञागर्हासमुच्चयेऽपिः ॥११४।९॥ अप्रयुज्यमानस्य पदस्यार्थः पदार्थः । संभावनं सामर्थ्याविष्करणम् । अनुज्ञा अभ्युपगमः । गर्हा निन्दा । एकत्रानेकस्य नियोजन समुच्चयः । एतेष्वर्थेष्वपि गितिसंज्ञो न भवति । पदार्थे—सर्पणोऽपि स्यात् । पयसोऽपि स्यात् । बिन्दुः स्तोत्रं मात्रा चेत्यस्यार्थोऽपिशब्दः । सम्बन्धे च ता । संभावने—अपि सिञ्चेन्मूलकसहस्रम् । अपि स्तुयाद्राजानम् । अनुज्ञायाम्—अपि सिञ्च । अपि स्तुहि । अतिसर्गे लोड् । गर्हायाम्—धिग् ब्राह्मणमपि सिञ्चेत्पलाण्डुम् । अपि स्तुयाद्बृषलम् । “अनवकल्प्यमर्थे” [२।३।१२१] इति लिङ् । समुच्चये—अपि सिञ्च । अपि स्तुहि । सिञ्च च स्तुहि चेत्यर्थः । गिसंज्ञाश्रयं पत्वादिकार्यं न भवति ।

अधिपरी अनर्थकौ ॥११४।१०॥ अनर्थकवावन्तर्नन्तरवाचिनौ । अधि परि इत्येतौ अनर्थकौ गितिसंज्ञौ न भवतः । कुतोऽध्यागतः । कुतः पर्यागतः । गितिसंज्ञाश्रयं सविधानं न भवति । “प्राग्धोस्ते” [१।२।१४६] इति प्रयोगनियमश्च न भवति । इह च पर्यायान्दामात ण्वलं न भवति ।

वीप्सेत्थम्भूतलक्षणेऽभिनेप् ॥११४।११॥ न गितिरिति वर्तते योग इति च । वीप्सा इत्थम्भूत लक्षण इत्येतेष्वर्थेषु अभिना योगे इन्विभक्ती भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । वीप्सायाम्—वृद्धं वृद्धमभिसिञ्चति । इत्थम्भूते—साधुर्देवदत्तो मातरमभिस्थितः । इत्थम्भावोऽभिना गम्यते । लक्षणे—वृद्धमभिः सिञ्चति । वृद्धमभिविद्योतेते । गितिसंज्ञाप्रतिषेधात् पलं “प्राग्धोस्ते” [१।२।१४६] इति नियमश्च न भवति ।

भागे चानुप्रतिपरिणा ॥११४।१२॥ भागोऽर्थं वीप्सेत्थम्भूतलक्षणेषु च अनु प्रति परि इत्येतैर्योगे इव भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । भागोऽन्तःशः । यदत्र मामनुस्यात् मां प्रति स्यात् मां परि स्यात् तद्वीयताम् । वीप्सायाम्—वृद्धं वृद्धम् अनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति । इत्थम्भूते—साधुर्देवदत्तः मातरम-

१. सु ब०, मु० । २. चाति अ०, स० । ३. येऽपि स० । ४. पर्यायान्तरमिति अ०, ब०, स० ।

५. वृद्धमभिसञ्चति अ०, ब०, स० ।

नुस्थितः मातरं प्रति मातरं परि । लक्षणे—वृद्धमनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति । वृद्धं प्रति विद्यो-
तते । एतेष्विति किम् ? ओदनं परिषिञ्चति । अनुप्रतिपरिणेतुः किम् ? यदत्र मामभिष्यात् । अभेर्भागे
गितिसंज्ञा भवत्येव सगित्वात् सकर्मकत्वं कर्मणीप् पत्वं च भवति ।

हेतावनुना ॥११४१३॥ हेतावर्थे अनुना योगे इब्विभङ्गी भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । जिनस्य
ज्ञानोत्पत्तिमन्वागमन्सुराः । सुराणामागमनस्य जिनज्ञानोत्पत्तिर्हेतुः । एवं शान्तिचरितपट्टकप्रसारणमनु प्राव
र्षन् पर्जन्यः । यदपि इत्थम्भूते लक्षणे वार्थेऽनुना योगे सिद्धैवेप् तथापि येन नाप्राप्तन्यायेन शेषलक्षणाया-
स्तायाः सोऽपवादः । हेत्वर्थे तु परत्वाद्वा प्रसज्येत तद्वाधनार्थमिदम् ।

भार्थे ॥११४१४॥ भार्थः सहशब्दस्यार्थः । भार्थेऽनुना योगे इव् भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च ।
नदीमन्ववसिता सेना । नदीमन्ववसिता नगरी । नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः । एवं पर्वतमन्व-
वसिता सेना ।

हीने ॥११४१५॥ अनुनेति वर्तते । हीनार्थे द्योत्ये अनुना योगे इव् भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च ।
उत्कृष्टापेक्षया हीनो भवतीति सामर्थ्यादुत्कृष्टादिप् । अनु शालिभद्रमाढ्याः । अनु समन्तभद्रं तार्किकाः ।

उपेन ॥११४१६॥ हीनार्थे उपेन योगे इव् भवति न गितिसंज्ञा च । अपसिंहनन्दिनं कवयः । उप-
सिद्धसेनं वैयाकरणाः ।

ईवधिके ॥११४१७॥ ईब्विभङ्गी भवति अधिकांशं द्योत्ये उपेन योगे । उप खार्यां द्रोणः । उप-
निष्के कार्षापणम् । यस्मादधिकं मृदार्थातिरेकात्त ईप् ।

ईश्वरेऽधिना ॥ ११४१८ ॥ ईश्वरशब्द ईश्वरेशितव्यसंबन्धमुपलक्षयति । ईश्वरे द्योत्ये अधिना
योगे ईब्विभङ्गी भवति न गितिसंज्ञा च । उत्तरसूत्राद्धेति विभाषाऽवलोकते । तत ईश्वरादीशितव्याच्च
पर्यायेणोप् । अधि मेषेश्वरे कुरवः । अधि कुरुषु मेषेश्वरः । इह विभक्त्यर्थे हसः कस्मान्न भवति विभ-
ङ्गीशब्देन तत्र कारकं गृह्यते । ईश्वरेशितव्यसंबन्धश्चात्र न तु कारकम् ।

वा कृञ्चिः ॥११४१९॥ ईश्वर इति वर्तते । अधिशब्दः करोतौ वा गितिसंज्ञो भवति ।
तमधिकृत्य तमधिकृत्वा । ईश्वरं कृत्वेत्यर्थः । अत्र कर्मणीप् । पुनरधिग्रहणं गितिसंज्ञाप्रतिषेधार्थमेव
न त्वीवर्थम् ।

क्राड्डा मर्यादावचने ॥११४२०॥ काविभङ्गी भवति आडा योगं मर्यादावचने गितिसंज्ञाप्रति-
षेधश्च । आ पाठलिपुत्रात् वृष्टो देवः । आ मथुरायाः । मर्यादायामिति सिद्धे वचनग्रहणमभिविधिसंग्रहा-
र्थम् । आ कुमारेभ्यो यशः समन्तभद्रस्य । मर्यादावचन इति किम् ? ईषदर्थे क्रियायोगे च मा भूत् ।
आकडारः । आबद्धमाभरणम् ।

वर्जनेऽपपरिभ्याम् ॥११४२१॥ विवृद्धितेनासंबन्धो वर्जनम् । वर्जनेऽर्थे अप परि इत्येताभ्यां
योगे काविभङ्गी भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । अप त्रिगतंभ्यो वृष्टो देवः । “परेवर्जने” [११३४] इति वा
द्वित्वम् । परि परि त्रिगतंभ्यः । वर्जन इति किम् ? ओदनं परिषिञ्चति ।

यतः प्रतिदाप्रतिनिधौ प्रतिना ॥११४२२॥ प्रतिदानं प्रतिदा प्रतिनिधीयत इति प्रतिनिधिः
मुख्यस्य सदृशः । प्रतिना योगे यतः प्रतिदा यतश्च प्रतिनिधिस्ततः काविभङ्गी भवति न गितिसंज्ञा च ।
प्रतिदायाम्-माषान्स्मै तिलेभ्यः प्रतिपञ्चति । तिलान् गृहीत्वा माषान् ददातीत्यर्थः । एवं सर्पिषोऽस्मै
तैलं प्रतिपञ्चति । सर्पिषोऽस्मै तैलं प्रतिपञ्चत्वा व्रजति-प्रतिनिधौ अर्कक्रीतिर्भरततः प्रति । अभयकुमारः
श्रेयिकतः प्रति । प्रतियोगे “कायास्तसिः [स्तस्]” [४११७३] इति तसिः ।

संप्रदानेऽपि ॥१४१२३॥ संप्रदाने कारके अन्विभङ्गी भवति । त्रिपृष्ठाय स्वयंप्रभामदात् । क्रिययाऽपि कर्मभूतया यदाप्यते तदपि संप्रदानमुक्तम् । देवदत्ताय रोचते । पत्ये शेते । श्रम्यो वर्षति । भिन्दु-केभ्यो वर्षति । तदर्थेन सविधिवचनं ज्ञापकं तादर्थ्येऽपि भवतीति । रथाय दारु । रन्धनाय स्थाली । शब्दहृत्वात्पुल्लम् ।

ध्वर्थवाचः कर्मणि स्थानिनः ॥१४१२४॥ ध्वर्थः क्रिया । ध्वर्थो वागस्य स ध्वर्थवाक् । तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य धोः कर्मणि कारके अन्विभङ्गी भवति । यत्र यस्यार्थः प्रयोगमन्तरेण प्रतीयते स तत्र स्थानी । एधेभ्यो व्रजति । अत्र आहत्तुमित्येतत्तुमन्तं पदं स्थानि । तदेव च ध्वर्थवाक् । कर्मणीपोऽपवादोऽयम् । तादर्थ्येन सिद्धमिति चेत् स्थानिनो यथा स्यात् प्रयुज्यमानस्य मा भूत् इत्येवमर्थमिदम् । ध्वर्थवाच इति किम् ? प्रविश पिरडीम् । प्रविश तर्पणम् । अस्यत्र भन्तय सिञ्चेति च स्थानी न तु ध्वर्थवाक् । कर्मणीति किम् ? एधेभ्यो व्रजति शकटेन । स्थानिन इति किम् ? एधानाहर्तुं व्रजति ।

तुमर्थाद्भावे ॥१४१२५॥ तुमा समानाऽर्थस्तुमर्थः । तुमर्थो भावे वर्तमानो यस्यस्तदन्तान्मृदोऽपि भवति । “वुण्णुमौ क्रियार्थं तदर्थायाम्” [२।३।८] इति वर्तमाने भावे “भाववाचिनः” [२।३।९] इति वक्ष्यति तेषां घञादीनामिह ग्रहणम् । पाकाय व्रजति । मतये व्रजति । पुष्टये व्रजति । अत्र तदर्थ्यां क्रियायां तस्य विधानात् तादर्थ्यं तेनैवोक्तमिति तादर्थ्यं अभू न प्राप्नोति । तुमर्थादिति किम् ? पाकः । त्यागः । भाव इति किम् ? कारको व्रजति ।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं वषट्कारयोगे ॥१४१२६॥ नमस् स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलं वषट् इत्ये-तैर्योगे अन्विभङ्गी भवति । नमो वंशेभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः । आशीर्विद्वन्नायां कुशलार्थैर्योगे ताऽपौ प्राप्ते ताभ्यां पूर्वनिर्णयनायमेव नित्यो विधिः । स्वस्त्यस्तु गोभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात् । स्वाहा इन्द्राय । स्वाहा अग्रये । स्वधा पितृभ्यः । अलं मल्लो मल्लाय । अलमिति पर्याप्त्यर्थानां ग्रहणम् । “तस्मै प्रभवति” [३।१।६५] इति निर्देशात् । प्रभुर्मल्लो मल्लाय । समर्थो मल्लो मल्लाय । अन्यत्राऽपि कस्मान्न भवतीति ? कन्यामलङ्कुरुते । अलं रोदनेन । “वाग्विभङ्गः कारकविभङ्गी बलीयसी” इति कर्मणीप् । करणे च भा भवति । वषड्ग्रहणे । वषडिन्द्राय । योगग्रहणं किम् ? नमो जिनानामायतनेभ्यः । ननु इत्याभ्युदः स्वादयो विहिताः । तदन्तविषयोऽयं नियमः पदविधिः । ततोऽसामर्थ्यादेव जिनशब्दान्न भविष्यति योगग्रहणमनर्थ-कम् । अन्यैरपि योगे यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । “हितशब्दयोगे उपसंख्यानम्” [वा०] अरोचकिने हितम् । “कलृप्स्यर्थधुप्रयोगेऽवक्तव्या” [वा०] मूत्राय प्रकल्पते यवागूः । मूत्राय संपद्यते । मूत्राय जायते । भिन्न-विकारापत्तौ चेदं वक्तव्यम् । अभेदे मूत्रं संपद्यते यवागूरिति वैव भवति । विकारग्रहणं किम् ? देवदत्तस्य संपद्यते यवागूः । मूत्रं संपद्यते यवाग्वाः । “उत्पातेन ज्ञाप्यमानेऽवक्तव्या” [वा०] ।

“वाताय कपिला विद्युदातपायात्सोहिनी ।

पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय भवेत्सिता ॥”

तेनैतत् सर्वं लब्धम् ।

प्रकृष्यगर्हं मन्यकर्मण्यजीवे वा ॥१४१२७॥ प्रकृष्यगर्हंऽतिशयतिरस्कारः । प्रकृष्यगर्हं गम्ये मन्यतेः कर्मणि जीववर्जिते वा अन्विभङ्गी भवति । न त्वा तृणं मन्ये । न त्वा तृणाय मन्ये । न त्वा बुसं मन्ये । न त्वा बुसाय मन्ये । प्रकृष्यति किम् ? काष्ठं त्वां मन्ये । लोष्ठं त्वा मन्ये । न त्वा नावं मन्ये । यावत्तीर्णं नाव्यम् । न त्वा अन्नं मन्ये । यावद् भुक्तं श्राद्धम् । गर्ह इति किम् ? इन्द्रनीलात् पद्मरागम-

धिकगुणं मन्ये । प्रशंसेयम् । उभयग्रहणं किम् ? अश्मानं दृषदं मन्ये । स्वरूपकथनमेतत् । मन्यग्रहणं किम् ? न त्वा तृणं चिन्तयामि । विकरणनिर्देशः किम् ? न त्वा तृणं मन्ये । अजीव इति किम् ? न त्वा श्वानं मन्ये । न त्वा शृगालं मन्ये । अगर्हवाचित्वाद् युष्मदस्मदादेरन्विभक्ती न भवति ।

संज्ञो भा ॥११४२८॥ कर्मणीति वर्तते । संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि भा भवति । मात्रा संजानीते । मातरं संजानीते । पित्रा संजानीते । पितरं संजानीते । “संप्रतेरस्मृतौ” [११२।४२] इति दः । वेति व्यवस्थित-विभाषाऽनुवर्तते । तेन दविषये भाविकल्पः । स्मृत्यर्थे मविधिः । तत्र मातुः संजानाति । मातरं संजानाति । “स्त्रदर्थव्येषां कर्मणि” [११४।२६] इत्यत्र ताविकल्पं वक्ष्यति । कृत्ययोगे परत्वात् “कर्तृकर्मणोः कृति” [११४।६८] इति तैव भवति । मातुः संज्ञाता ।

कर्तृकरणे भा ॥११४२९॥ कर्त्तरि करणे च कारके भाविभक्ती भवति । देवदत्तेन भुक्तम् । जिन-दत्तेन भुक्तम् । करणे—दात्रेण लुनाति । मेति वर्तमाने पुनर्भाग्रहणं किम् ? प्रकृत्यादिभ्यो यथा स्यात् । प्रकृत्याऽभिरूपः । प्रकृत्या दर्शनीयः । प्रायेण वैयाकरणः । काश्यपोऽस्ति गोत्रेण । समेन धावति । विषमेण धावति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । पञ्चकेन पशून् क्रीणाति । सहस्रेण अश्वान् क्रीणाति ।

सहार्थेन ॥११४३०॥ योग इति मण्डूकश्रुत्याऽनुवर्तते । सहशब्दार्थेन योगे भाविभक्ती भवति । प्रधानस्य मृदार्थातिरेकाभावादप्रधाने भवति । पुत्रेण सहागतः । पुत्रेण सह पिङ्गलः । पुत्रेण सह धनवान् । अत्र प्रधानाप्रधानयोः क्रियागुणद्रव्यसम्बन्धे सति सहयोगः । अर्थग्रहणं किम् ? पुत्रेण सार्द्धमागतः । पुत्रेण समम् । पुत्रेण साकम् । पुत्रेणामा । “तस्य द्रोणस्य संग्रामः सारणेन गदेन च । युगपत् कोपकामाभ्यां मनीषिषु इवाभवत्” । विनाऽपि सहशब्देन तदर्थसंप्रत्ययमात्रे च भवति । “अन्येनेताऽदिः” [१११।७३] अन्येन सह आदिरित्यर्थः । योग इत्येव । शिष्येण सहोपाध्यायस्य गौः । पुत्रेण सह स्थूलो ग्रामे । उपाध्याय-शब्दस्य ग्रामशब्दस्य च नास्ति सहशब्देन योगः ।

येनाङ्गविकारेत्यम्भावौ ॥११४३१॥ अङ्गविकारः शरीरविकृतत्वम् । अनेन प्रकारेण भवनमित्यंभावः । क्वचिदेव छात्रादौ प्रकारे वृत्तिरित्यर्थः । येनाङ्गिनो विकार इत्यम्भावश्च लक्ष्यते ततो भाविभक्ती भवति । अक्षणा काणः । पाणिना कुणिः । पादेन खञ्जः । इत्यम्भावेऽपि-भवान् कर्मण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् । चूलाया परित्राजकमद्राक्षीत् । सहार्थेनेत्यस्याविवक्षायामिदं द्रष्टव्यम् । अङ्गविकारेत्यम्भावविति किम् ? अङ्गि काणमस्य । वृत्तं प्रति विद्योतते ।

हेतौ ॥११४३२॥ हेतावित्यर्थनिर्देशः । हेतावर्थे भा [च] भवति तद्वाचिनः । अनेन वसति । धनेन कुलम् । विद्यया यशः । इह लौकिकफलसाधनयोग्यः पदार्थां हेतुर्गृह्यते । “तद्योजको हेतुः” [११२।१२६] इत्यस्य पारिभाषिकस्य प्रयोगे सिद्धैव भा । उत्तरसूत्रे त्वविशेषेण हेतोर्ग्रहणं द्रष्टव्यम् ।

कर्तुःकर्त्तरि ॥११४३३॥ हेताविति वर्तते । कर्तृवर्जिते ऋणे हेतौ काविभक्ती भवति । भाषवा-दोऽयम् । शताद्बद्धः । सहस्राद्बद्धः । उत्तमणांऽत्र कर्ता । अकर्तरीति किम् ? बद्धस्त्वया देवदत्तः । नाऽहं बन्धामि । शतं मे धारयति । शतैर्न बद्धः । बन्धितस्त्वया देवदत्तः । नाऽहं बन्धयामि । शतं मे धारयति । शतैर्न बन्धितः । कथं देवदत्तेन शतैर्न बन्धितः । एकस्य हेतुकर्तृत्वमपरस्य प्रयोज्यकर्तृत्वमित्यदोषः । केति योगविभागः । तेन हेतौ काऽपि भवति । कृतकत्वादनित्यः । अनुपलब्धेर्नास्तीति ।

गुरो श्रीदत्तस्याऽस्त्रियाम् ॥११४३४॥ हेताविति वर्तते । अस्त्रीलिङ्गे गुरो हेतौ श्रीदत्तस्याच्चार्यस्य मतेन काविभक्ती भवति । अन्येषां मतेन हेताविति भा । जाड्याद्बद्धः । जाड्येन बद्धः । पारिख्यात्यान्मुक्तः ।

१. त्वां मु० । २. त्वां मु० । ३. कृतम् अ०, ब०, स० । ४. -मन्यस्य अ०, ब०, स० ।
५. “-मिति न दोषः” अ० स० ।

पारिख्यात्ये न मुक्तः । गुण इति किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रियामिति किम् ? बुद्ध्या मुक्तः ।

ता हेतौ ॥१।४।३५॥ हेताविति शब्दनिर्देशोऽयं हेत्वर्थस्य तु प्रकृतत्वात् । हेतुशब्दे प्रयुक्ते हेत्वर्था ता भवति । अन्नस्य हेतोर्वसति । अध्ययनस्य हेतोर्वसति । भिक्षाया हेतोर्वसति । हेतुशब्दोऽपि हेत्वर्थे वर्तते । तस्मादपि ता । सामानाधिकरण्याद्वा ।

सर्वनाम्नो भा च ॥१।४।३६॥ हेतुशब्दे प्रयुक्ते सर्वनाम्नो भाविभक्ती ता च । केन हेतुना वसति । कस्य हेतोर्वसति । येन हेतुना वसति । यस्य हेतोर्वसति । पूर्वेण तायामेव प्राप्तायामयमारम्भः । अथवा चकारोऽनुस्तसमुच्चयार्थः । तेन निमित्तकारणप्रयोजनहेतुषु प्रयुक्तेषु सर्वासां प्रायो दर्शनमित्येतल्लब्धम् । किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन वसति । कस्मै निमित्ताय वसति । कस्मान्निमित्तात् । कस्य निमित्तस्य । कस्मिन्निमित्ते वसति । एवं कारणप्रयोजनहेतुषूदाहार्यम् । प्रायोग्रहणादिभ्य भवति ।

काऽपादाने ॥१।४।३७॥ अपादाने कारके काविभक्ती भवति । ग्रामादागच्छति । आचार्यादधीते । रथात् पतितः । केति योगविभागादन्यत्राऽपि भवतीति । तेनेदं बहु वक्तव्यं न भवति । “प्यस्त्रे कर्मणि का-वक्तव्या” [वा०] प्रासादमारुह्य प्रेक्षते । प्रासादात् प्रेक्षते । प्रासादाच्छृणोति । “अधिकरणे प्यस्त्रे का वक्तव्या” [वा०] आसने उपविश्य प्रेक्षते । आसनात् प्रेक्षते । शयनात् प्रेक्षते । “प्रश्नाख्यानयोश्च का वक्तव्या” [वा०] किं देवदत्तो व्याकरणात् कथयति ? आख्याने—व्याकरणात् कथयति । “यतश्चाध्वकालपरिच्छेदस्ततः का वक्तव्या” [वा०] गवेषुमतः साङ्कास्यं चत्वारि योजनानि । कार्तिक्या आग्रहायणी मासे । “कायुक्तात् पराध्वनो वा वेप् च वक्तव्ये” [वा०] गवेषुमतः साकार्यं चत्वारि योजनानि, चतुर्षु योजनेषु ।

दिक्छब्दाऽन्याऽरादितरत्तंश्चवाहियुक्ते ॥१।४।३८॥ दिक्छब्द अन्य आरात् इतर ऋते अञ्चु यु आ आहि इत्येतैर्युक्तं काविभक्ती भवति । दिक्छब्द—इयमस्याः पूर्वा । इयमस्या उत्तरा । शब्दग्रहणं किम् ? दिशि दृष्टो यः शब्दो देशकालवृत्तिनाऽपि तेन योगे यथा स्यात् । पूर्वो ग्रामात् । उत्तरो ग्रामात् । पूर्वो ग्रीष्माद्वसन्तः । अन्यदित्यर्थग्रहणम् । अन्यो देवदत्तात् । व्यतिरिक्तो देवदत्तात् । भिन्नो देवदत्तात् । अर्थान्तरं देवदत्तात् जिनदत्तः । देवदत्ते मृदार्थातिरेकात् तायां प्राप्तायां का विधीयते । आराच्छब्दो भिन्नको दूरेऽन्तिके च वर्तते तद्योगे “दूरान्तिकार्थेस्ता च [१।४।४२] इति अस्मिन् प्राप्ते कार्थिधः । आराद् गृहात् क्षेत्रम् । आराद्देव-दत्तात् पीठम् । इतरो निर्दिश्यमानप्रतियोग्यर्थः । इतरो देवदत्तात् । ऋते इति भिन्नञ्च पदम् । ऋते धर्मात् कुतः सुखम् । अञ्चुद्यु । प्राग्ग्रामात् । प्राची दिग्प्रगणीया । इत्येवमाद्यर्थे आगतस्य अस्तातः “अन्वेरूप” [१।१।१६] इत्युप् । अस्य दिक्छब्दत्वेऽपि “ताऽतसर्थे त्येन” [१।४।३६] इति ता प्राप्ता तदपवादोऽयम् । आ दक्षिणा ग्रामात् । उत्तरा ग्रामात् । आहि । दक्षिणाहि ग्रामात् । उत्तराहि ग्रामात् । अस्तादर्थे “दक्षिणादा [१।१।१००] ‘आहि च दूरे’ [१।१।१०१] ‘उत्तराच्च’ [१।१।१०२] इति आत्प्रार्त्त्यौ । अत्रापि “ताऽतसर्थे त्येन [१।४।३६] इति ता प्राप्ता । “अवयवयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] पूर्वाञ्छान्नाणामामन्त्रयस्व ।

ताऽतसर्थे त्येन ॥१।४।३६॥ वक्ष्यति दक्षिणोत्तराभ्यामतम् । तत्समानार्थेन त्येन युक्ते ता विभक्ती भवति । दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्ठाद् ग्रामस्य । उपर्युपरिष्ठात्यश्चादिति अतसर्थे निपातितौ । पुरो ग्रामस्य । पुरस्ताद् ग्रामस्य । “पूर्वाधराधराणां पुरवञ्चोऽसि” [१।१।१०३] “अस्ताति” [१।१।१०४] इति च पुरादेशः ।

१. “गवेषुमतः” इत्यारभ्य “गवेषुमतः” इत्यतः पूर्वम् अ० पुस्तके नास्ति । २. पूर्वं ग्रामात् अ० । ३. उत्तरे ग्रामात् अ० ।

इवेनेन ॥१४१४०॥ इब्विभक्ती भवति एनेन योगे । दक्षिणेन विजयार्धं वसति । “दक्षिणोत्तरा धरादात्” [४१११६] इत्यधिकृत्य । “दैनोऽदूरेऽकायाः” [४१११६] इति अस्तादर्धे एन इत्यर्थं त्यः । पूर्वसूत्रे नेति योगविभागादनेन योगे तापि भवति इति केचित् । दक्षिणेन ग्रामस्य । उत्तरेण ग्रामस्य ।

पृथग्विनानानाभिर्भा वा ॥ १४१४१ ॥ पृथग्विना नाना इत्येतैरुक्ते वा भाविभक्ती भवति । पृथग्देवदत्तेन । पृथग्देवदत्तात् । विना देवदत्तेन । विना देवदत्तात् । नाना देवदत्तेन । नाना देवदत्तात् । पक्षे अन्यार्थत्वात् कापि भवति । अथ पृथगाद्योऽसहायार्थं वर्तन्ते नान्यार्थं । एवं तर्हधिकारात् वा एष्टव्या । त्रयाणां ग्रहणं पर्यायनिवृत्त्यर्थम् । हिरुग्देवदत्तस्य । “करणे स्तोकात्पृक्कृत्कतिपयेभ्योऽसत्त्ववचनेभ्यो भाके वक्तव्ये” [वा०] स्तोकेन मुक्तः । स्तोकान्मुक्तः । अल्पेन मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । कृच्छ्रेण मुक्तः । कृच्छ्रान्मुक्तः । कतिपयेन मुक्तः । कतिपयान्मुक्तः । असत्त्ववचनेभ्य इति किम् ? स्तोत्रेण विषेण हतः । नेदं वक्तव्यम् । विवक्षातः कारकाणि भवन्ति इत्युभयं सिद्धम् । “क्रियाविशेषणविवक्षार्था भाके न भवतः” [वा०] स्तोत्रं चलति । अल्पं जल्पति ।

दूरान्तिकार्थंस्ता च ॥१४१४२॥ केति वर्तते । दूरार्थैरन्तिकार्थैश्च युक्ते ताविभक्ती भवति का च । दूरं ग्रामस्य । दूरं ग्रामात् । विप्रकृष्टं ग्रामस्य । विप्रकृष्टेन ग्रामात् । अन्तिकं ग्रामस्य । अन्तिकं ग्रामात् । अभ्यासं ग्रामस्य । अभ्यासं ग्रामात् ।

तेभ्य इप् च ॥१४१४३॥ तेभ्यो दूरान्तिकार्थेभ्य इब्विभक्ती भवति का च । दूरं ग्रामस्य । दूराद् ग्रामस्य । विप्रकृष्टं ग्रामस्य । विप्रकृष्टाद् ग्रामस्य । अन्तिकं ग्रामस्य । अन्तिकाद् ग्रामस्य । समीपं ग्रामस्य । समीपाद् ग्रामस्य । काऽनुवर्तनादेव सिद्धा । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन भापि भवति । दूरेण ग्रामस्य । अन्तिकेन ग्रामस्य । असत्त्ववचनेभ्य इति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । दूरात् पथ आगतः । दूरस्य पथः शम्बलम् । अन्तिका ग्रामाः । यद्यसत्त्ववचनेभ्य इत्युच्यते इब्विधानमनर्थकम् । लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् । नपुंसके सोरम्भावेन सिद्धम् । इदं प्रयोजनं “सपूर्वाया वायाः” [५३१२३] इत्येष विकल्पो मा भूत् । ग्रामो दूरं त्वा पश्यति । ग्रामो दूरं मा पश्यति ।

ईवधिकरणे च ॥१४१४४॥ ईब्विभक्ती भवति अधिकरणे कारके दूरान्तिकार्थेभ्यश्च । कटे आस्ते । शयने शेते । दूरान्तिकार्थेभ्यः । दूरे ग्रामस्य । विप्रकृष्टे ग्रामस्य । अन्तिके ग्रामस्य । समीपे ग्रामस्य । “कारयेन्विषयस्य कर्मणीब् वक्तव्या” [वा०] अधीती व्याकरणे । अधीतमनेन व्याकरणमित्यस्मिन्नर्थे “इष्टादेः” [४११२२] इतीन् । एवमान्नाती छन्दसि । परिगणितो ज्योतिषि । “निमित्तात् कर्मसंयोगे ईब् वक्तव्या” [वा०] “चर्मणि द्वीपनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चमरी हन्ति सीम्नि पुक्कलको हतः ॥” नेदं बहु वक्तव्यम् । ईब्विति योगविभागात् सिद्धम् ।

यद्भावाद्भावावगतिः ॥१४१४५॥ भावः क्रिया । ईब्विति वर्तते । यस्य भावाद्भावान्तरगतिर्भवति तत्र ईब् भवति । गोषु दुग्धमानासु गतः । दुग्धास्वागतः । अत्र प्रसिद्धेन गोदोहनभावेन गमनक्रिया लक्ष्यते । एवं देवाचानायां क्रियमाणायाम् गतः । कृतायामागतः । इदं बदरमान्त्रेष्वाम्रेषु गतः पक्वेष्वाम्रेषु गतः । सामर्थ्याज्जातेष्विति प्रतीयते । यद्भावादिति किम् ? यो जयाभिः स भुङ्क्ते । जया द्रव्यम् । पुनर्भावग्रहणं किम् ? यो भुक्तवान् स देवदत्तः ।

ता चाऽनादरे ॥१४१४६॥ अनादरोऽवज्ञा । यद्भावाद् भावान्तरगतिर्भवति तत्र ताविभक्ती भवति ईप् चानादरे गम्यमाने । देवदत्तस्य क्रोशतः प्रात्राजीत् । देवदत्ते क्रोशति प्रात्राजीत् । रुदतः प्रात्राजीत् । रुदति प्रात्राजीत् । अत्रावज्ञानेन क्रोशनेन प्रव्रजनभावो लक्ष्यते ।

स्वामोश्वराधिपतिदायादसान्निप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥११४७॥ स्वामिन् ईश्वर अधिपति दायाद सान्निन् प्रतिभू प्रसूत इत्येतैर्युक्ते तेषौ विभक्त्यौ भवतः । गवां स्वामी । गोषु स्वामी । गवामीश्वरः । गोष्वीश्वरः । गवामधिपतिः । गोऽधिपतिः । दायमादत्ते दायादः । “प्रे” [२।२।४] इति नियमादन्वस्मिन् गाव-प्राप्ते के अत एव निपातनात् कः । गवां दायादः । गोषु दायादः । गवां साक्षी । गोषु साक्षी । गवां प्रतिभूः । गोषु प्रतिभूः । गवां प्रसूतः । गोषु प्रसूतः । चकारः किमर्थः ? तेषोरनुवर्तनार्थः । अन्यथा पूर्वत्र चानुकृष्टाया ईपोऽनुवृत्तिर्न स्यात् । उत्तरसूत्रयोरपि चकारस्येदमेव फलम् । प्रसूतयोगे ईवेव प्राप्ता इतरैर्योगे ता प्राप्ता ।

कुशलायुक्तेन चासेवायाम् ॥११४८॥ आसेवा मुहुर्महुः सेवा तात्पर्यं च^१ । कुशल आयुक्त इत्येताभ्यां युक्ते आसेवाया गम्यमानायां तेषौ विभक्त्यौ भवतः । कुशलो विद्याग्रहणस्य । कुशलो विद्याग्रहणे । आयुक्तस्तपश्चरणस्य आयुक्तस्तपश्चरणे । आसेवायामिति किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । आकृष्य युक्त इत्यर्थः । अधिकरणलक्षणायमीप् ।

यतश्च निर्धारणम् ॥११४९॥ जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथकरणं निर्धारणम् । यतश्च निर्धारणं ततस्तेषौ विभक्त्यौ भवतः । मनुष्याणां क्षत्रियः शूद्रतमः । मनुष्येषु क्षत्रियः शूद्रतमः । नारीणां श्यामा दर्शनीयतमा । नारीषु श्यामा दर्शनीयतमा । अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः । अध्वगेषु धावन्तः शीघ्रतमाः । प्रपञ्चार्थमिदं समुदाये अवयवोऽन्तर्भूतः । अधिकरणविवक्षायामीप् सिद्धा अवयव-सम्बन्धविवक्षायां तापि सिद्धा अत एवापादाने कापि भवति । गोभ्यः कृष्णा निर्धार्यते इति ।

विभक्ते का ॥११४९०॥ यतश्च निर्धारणमिति वर्तते । भिन्नजातीयात् समुदायाद्द्रवादिना पृथकरणं विभक्त्यनिर्धारणं तत्र का विभक्ती भवति । पूर्वेण तेषोः प्राप्तयोरयमपवादः । माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्य-तराः । दर्शनीयतराः । अयमस्मादधिकः । अयमस्माद्रिलक्षणः । इदमपि प्रपञ्चार्थम् । पाटलिपुत्रकाणामव-धिभावेन बुद्धिं प्राप्तानामपादानत्वमस्ति ।

साधुनिपुणेनाचार्यामीवप्रतेः ॥११४९१॥ साधु निपुण इत्येताभ्यां युक्ते अर्चायां गम्यमानायामी-विभक्ती भवति प्रतिशब्दस्याप्रयोगे । मातरि साधुः । पितरि साधुः । भ्रातरि निपुणः । पितरि निपुणः । तापना-दोऽयम् । अर्चायामिति किम् ? साधुर्निपुणो वाऽमात्यो राज्ञः । अप्रतेरिति किम् ? साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । प्रतिग्रहणमगितिसंज्ञानामभिपर्यन्तानामुपलक्षणम् । मातरमभि । मातरं परि । मातरमनु । कथमसाधुः पितरि । अनिपुणो मातरि । पूजाप्रयुक्तसाधुनिपुणप्रतिषेधोऽयम् । असमर्थस्यापि नमः सविधिरस्ति ।

प्रसितोत्सुकाभ्यां भा च ॥११४९२॥ प्रसित उत्सुक इत्येताभ्यां युक्तं भाविभक्ती भवति । ईप् च । केशैः प्रसितः । केशेषु प्रसितः । प्रसक्त इत्यर्थः । केशैरुत्सुकः । केशैरुत्सुकः । पक्षे भार्थमिदम् । ईबधिकरण-त्वादेव सिद्धा ।

उसि भे ॥११४९३॥ ईबनुवर्तते भा च । उस्विषये भवाचिनि भेषौ विभक्त्यौ भवतः । “भाद्युक्तः काळः” [३।२।४] इत्यागतस्याणः “उसभेदे” [३।२।५] इत्युसि कृते यदा भवाची शब्दः काले वर्तते तदा तस्माद्भा च ईप् च भवत इत्यर्थः । पुष्येण पायसमश्रीयात् । पुष्ये पायसमश्रीयात् । मघामिः पललौदनम् । मघासु पललौदनम् । उसीति किम् ? मघासु ग्रहः । नात्र मघाशब्दः काले वर्तते । भ इति किम् ? पञ्चालेषु वसति । पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः तेषां निवासः पञ्चालः । निवासार्थे आगतस्याणः “जनपद उस्” [३।२।६] इत्युम् । इह कस्मान्न भवति ? अद्य पुष्यः । मिडैकार्थत्वात् । चानुकृष्टाया ईपः कथमनुवृत्तिः ? ईबधिकारे सूत्रारम्भसामर्थ्यात् । अत्राप्यधिकरणत्वादीप् सिद्धा पक्षे भार्थं वचनम् । यद्यधिकरणस्यापि करणविवक्षा यथा स्थाल्या पचति तदेदं प्रपञ्चार्थम् ।

मिडैकार्थं वाः ॥११४।५४॥ मिडन्तेन पदेन एकर्थे वर्तमानान्मृदो वा विभक्ती भवति । गौश्ररति । कुमारी तिष्ठति । आदनः पच्यते । खारी मीयते । एकः । द्वौ । बहवः । इत्यत्रोक्तेष्वप्येकत्वादिषु वा भवतीत्युक्तप्रायम् । च वा ह उच्चैरित्येवमादिषु अनर्थकेषु च प्रादिषु मिडन्तेनैकार्थत्वाभावेऽपि 'सुपो केः' [१।४।१२०] इति शापकाद्भवति । भावे वर्तमानेन मिडन्तेन स्वभावादन्त्येनैकार्थत्वं नास्ति । आस्यते देवदत्तेन । नन्वेकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिषु कर्मादिविशिष्टेषु वा एकत्वादिषु इवादिनां नियमात् परिशेषात् वृत्तः सन्न इत्येवमादिषु वादिषु च "अयाम्मृदः" [१।१।१] इत्यनेनैव वायाः सिद्धत्वादनर्थकमिदम् ? नानर्थकम् । एकद्विवहुवचनानां व्यतिकरनवृत्त्यर्थं वायास्तायाश्च विषयभेदार्थं चेदम् । विसर्जनीयो विभाषा सन्देहनवृत्त्यर्थम् ।

सम्बोधने बोध्यम् ॥११४।५५॥ सम्बोधनमभिमुखीकरणम् । सम्बोधने या वा तस्या बोध्यमित्येषा संज्ञा । सम्बोधनेऽपि मिडैकार्थत्वमास्त इति पूर्वेण वार्विधानम् । हे देवदत्त आगच्छ । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । हे पचन् । हे पचमान । "सम्बोधने" [१।२।१०३] इति शत्रुशानौ । बोध्यसंज्ञाप्रयोजनम् "बोध्यमसद्वत्" [१।१।२४] इत्येवमादि ।

एकः किः ॥११४।५६॥ बोध्यसंज्ञायां वाया एकवचनं किसंज्ञं भवति । हे कन्ये । हे वटो । किप्रदेशाः "केरेकः" [४।३।५७] इत्येवमादयः ।

ता शेषे ॥११४।५७॥ कर्मादिकारकाणां अविबद्धा कर्मादिभ्योऽन्यो वा मृदार्थातिरेकः स्वस्वामिसंबन्धादिः शेषः । ता विभक्ती भवति शेषे अर्थविशेषे । नटस्य शृणोति । ग्रन्थिकस्य शृणोति । स्वस्वामिसंबन्धसमीप-समूहविकारावयवस्थानादयस्तार्थाः । राज्ञः स्वम् । मद्राणां राजा । देवदत्तस्य समीपम् । यवानां राशिः । यवानां धानाः । देवदत्तस्य हस्तः । गोः स्थानम् । शेषग्रहणं किम् ? इवादयो नियताः कर्मादयस्त्वनियतास्तेभ्यस्ता मा भूत् ।

ज्ञोऽस्वार्थे करणे ॥११४।५८॥ स्वार्थोऽवबोधनं तत्पर्युदस्यतो जानातेस्वार्थे वर्तमानस्य करणे ताविभक्ती भवति । सर्पिषो जानीते । पयसो जानीते । सर्पिषा करणभूतेन अवेत्तते प्रवर्तते वा इत्यर्थः । "ज्ञोऽपह्नवेः" [१।२।४] इति दविधिः । करणस्य शेषत्वविवक्षायांमविवक्षायां च तैव भवति । अस्वार्थ इति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति ।

स्मर्थदयेशां कर्मणि ॥११४।५९॥ शेष इति वर्तते । स्मृ इत्यनेन समानार्थानां धूनां दय ईश इत्येतयोश्च कर्मणि शेषत्वेन विवक्षिते ता विभक्ती भवति । मातुः स्मरति । पितुरप्येति । सर्पिषो दयते । सर्पिष ईष्टे । कर्मणीति किम् ? मातुर्युगैः स्मरति । शेष इत्येव । मातरं स्मरति । यत्रेवं नार्थोऽनेन "ता शेषे" [१।४।२७] इत्येव सिद्धम् । लादेशे "न कि" [१।४।७२] इति प्रतिषेधोऽपि "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इत्येतस्याः प्राप्तेरनन्तरत्वात् । नापि "प्रतिपदम्" इति सविधिप्रतिषेधार्थम् । नेयं प्रतिपदविधाना ता । वृत्तिरपि दृश्यते । अर्थानुस्मरणं धर्मानुचिन्तनम् । एवं तर्हि कर्मणः शेषत्वेन विवक्षितत्वादकर्मकत्वोपपत्तेर्लव्यक्तत्वार्थाः भावे सिद्धा भवन्ति । मातुः स्मर्यते । मातुः स्मर्तव्यम् । सकर्मकविवक्षायां कर्मणि भवन्ति । माता स्मर्यते । माता स्मर्तव्या ।

प्रतियत्ने कृजः ॥११४।६०॥ करोतेः कर्मणि ताविभक्ती भवति प्रतियत्ने गम्यमाने । असतोऽर्थस्य प्रादुर्भावाय सतो गुणान्तराधानाय समीहा प्रतियत्नः । एधो दकस्योपस्फुरते । काण्डं गुणस्योपस्फुरते । "गन्धनाबधेप" [१।२।२७] आदिना दः । प्रतियत्न इति किम् ? कटं करोति बुद्ध्या । शेष इत्येव । एधो दकमुपस्फुरते ।

रुजर्थस्य भाववाचिनोऽज्वरिसन्ताप्योः ॥११४।६१॥ रुजर्थानां धूनां भावकर्तृकाणां कर्मणि ता विभक्ती भवति ज्वरिसन्तापी वर्जयित्वा । चोरस्य रुजति रोगः । रुजर्थस्येति किम् ? एति जीवन्तमानन्दः ।

१. रोगः । वृषलस्यामयति रोगः । रुज—अ०, ब०, स०

गत्यर्थोऽसौ। भाववाचिन इति किम् ? श्लेष्मा मधुराशिनं रुजति। अज्वरिसन्ताप्योरिति किम् ? आद्यूनं ज्वरयति ज्वरः। घटादित्वात् प्रादेशः। अत्याशिनं सन्तापयति ज्वरः। शेष इत्येव। चौरं रुजति रोगः।

आशिषि नाथः ॥११४६२॥ आशीःक्रियस्य नाथः कर्मणि ता विभक्ती भवति। सर्षिषो नाथते। पयसो नाथते। सर्पिमें भूयात् इत्यर्थः। 'आशिषि नाथः' इत्युपसंख्यानानेन दविधिः। आशिषीति किम् ? माणवकमुपनायति अङ्ग पुत्राधीष्येति। शेष इत्येव। सर्पिर्नाथते।

जासनिग्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् ॥११४६३॥ जास निग्रहण नाट क्रथ पिष इत्येतेषां हिंसा-क्रियाणां कर्मणि ता विभक्ती भवति। 'जस ताडने' इति चौरादिकः। चोरस्योज्जासयति। वृषलस्योज्जासयति। 'जमु मोक्षण' इत्येतस्य दैवादिकस्याहिसार्थत्वादग्रहणम्। जास इति कृतदीत्वोच्चारणं किम् ? प्रादेशे मा भूत्। दस्युमज्जसम्। निग्रहण इति निप्रयोः समुदितयोः व्यस्तयोर्विपर्यस्तयोर्ग्रहणम्। चोरस्य निग्रहन्ति। चोरस्य निहन्ति। चोरस्य प्रहन्ति। चोरस्य प्रणिहन्ति। नट अवस्यन्दने चुरादिः। चोरस्योच्चारयति। दीत्वोच्चारणं किम् ? दस्युमनोनटत्। 'अथ क्रथ क्लथ हिंसार्थाः' 'हेतुमति' [२।१।२४] इति णिच्। चोरस्योत्-क्राययति। दोषं हि किम् ? दस्युमचिक्रथत्। घटादित्वेऽपि निपातनादुडः प्रादेशबाधनार्थं च। चोरस्य पिनष्टि। वृषलस्य पिनष्टि। हिंसायामिति किम् ? धानाः पिनष्टि। शेष इत्येव। चौरं निहन्ति। रुजर्थत्वादेतेषामपीति चेदभावकर्तृकार्थं वचनम्। चोरस्योज्जासयति राजा।

व्यवहृपणोः सामर्थ्ये ॥११४६४॥ सामर्थ्यं समानार्थत्वं व्यवहृण इत्येतयोः सामर्थ्यं स्तुतिकर्मणि ता भवति क्रयविक्रये द्यूते च सामर्थ्यम्। शतस्य व्यवहरते। सहस्रस्य व्यवहरते। सहस्रस्य पणते। आर्यः कस्मान्न भवति गुपादिभिः साहचर्यात् भौवादिकस्य स्तुत्यर्थस्य तत्र ग्रहणम्। इह तु तौदादिकस्यानुदात्तेतः। सामर्थ्यं इति किम् ? शलाकां व्यवहरति। गणयतीत्यर्थः। देवान् पणयति। शेष इत्येव। शतं व्यवहरति। सहस्रं पणते।

दिवश्च ॥११४६५॥ 'व्यवहृपणोः सामर्थ्ये' [१।४।६४] इति वर्तते। दिवश्च व्यवहृपणिसमानार्थस्य कर्मणि ता भवति। शतस्य दीव्यति। सहस्रस्य दीव्यति। चकारः किमर्थः ? सामर्थ्यानुकर्षणार्थः। ननु विकारादेव सामर्थ्यग्रहणमनुवर्ततेऽन्यथा चानुकृष्टमुत्तरत्र च नानुवर्तते 'वा गौ' इत्यत्र सामर्थ्यानुवृत्तिर्न स्यात्, अनुक्तसमुच्चयार्थस्ताहि क्वचिदन्यस्यापि प्रयोगे यथा स्यात्। सक्तूनां पूर्णः। ओदनस्य तृतः। सामर्थ्यं इत्येव। साधून् दीव्यति।

वा गौ ॥११४६६॥ सामर्थ्यं इति वर्तते। गिपूर्वस्य दिवः कर्मणि वा ता विभक्ती भवति। शतस्य प्रदीव्यति। शतं प्रदीव्यति। सहस्रस्य प्रदीव्यति। सहस्रं प्रदीव्यति। इयं पूर्वेण प्राप्ते विभाषा। ननु शेषविव-क्षया तापि भविष्यति इति व्यर्थमिदम्। एवं तर्हि इदमेव ज्ञापकमगिपूर्वस्य शेषविवक्षा नास्ति इति। शतस्य दीव्यति। सामर्थ्यं इत्येव। शलाकां प्रतिदीव्यति।

कालेऽधिकरणे सुजर्थे ॥११४६७॥ कालेऽधिकरणे ता विभक्ती भवति सुजर्थे ल्ये प्रयुक्ते। द्विरहोऽधीते। त्रिरहोऽधीते। पञ्चकृत्वोऽहो भुङ्क्ते। 'संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्वस्' [४।२।२४] इति कृत्वस्। 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' [४।२।२५] इति सुच्। काल इति किम् ? द्विः कांसपात्र्यां भुङ्क्ते। अधिकरण इति किम् ? द्विरहो भुङ्क्ते। सुजर्थ इति किम् ? अहनि भुङ्क्ते। रात्रौ भुङ्क्ते। नन्वत्रापि द्विः त्रिवेति सुजर्थो गम्यते ? प्रयुक्तग्रहणं दूरादनुवर्तते तेन गम्यमाने सुजर्थे न भवति। शेष इत्येव। द्विरह्यधीते।

कर्तृकर्मणोः कृति ॥११४६८॥ कृति प्रयुक्ते कर्तरि कर्मणि च ता विभक्ती भवति। अनुक्त इति वर्तते। भवत आसिका। भवतः शायिका। स्त्रीलिङ्गे भावे 'पर्यावाहर्णोत्पत्तौ बुष्' [२।१।६२] इति बुष्।

१. चोरस्य निग्रहन्ति इति ब० पुस्तके नास्ति। २. व्यवहृपणेः समा-अ०। ३.-प्रतिदीव्यति ब०।

यवानां लावकः । ओदनस्य भोजकः । विश्वस्य ज्ञाता । तीर्थस्य कर्ता । कृतीति किम् ? ओदनं पचति । ननु 'न क्ति०' [१।४।७२] इत्यादिनाऽत्र प्रतिषेधो भविष्यति । एवं तर्हि ह्यति मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् । कृतं पूर्वमनेन "इन्" [४।१।१६] "पूर्वात्" [४।१।२०] "सपूर्वात्" [४।१।२१] इतीन् । पुनः कर्मग्रहणादिह शेषस्य ग्रहणं नाभिसंबध्यते ।

द्विप्राप्तौ परे ॥१।४।६६॥ पूर्वसूत्रविन्यासापेक्षया परशब्देन कर्माऽभिप्रतम् । द्विप्राप्तौ कृति पर एव कर्मणि ता विभक्ती भवति न कर्तरि । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन । द्वयोः प्रादिर्यस्मिन् कृतीति व्यधिकरणस्य वसस्याश्रयणाद् भिन्ने कृति नियमो न भवति । आश्चर्यमिदमतिथीनां प्रादुर्भावः ओदनस्य च नाम पाकः । "अकाकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्" [वा०] भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षा जिनदत्तस्य काव्यानाम् । अकारग्रहणेन निरनुबन्धकस्य "अस्त्यात्" [२।१।८४] इत्यस्यैव ग्रहणम् । "शेषे विभाषा" [वा०] अकाकारापेक्षया शेषस्य स्त्रीत्यस्य ग्रहणम् । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्य आचार्येण वा । केचिदविशेषेणोच्छ्रान्ति । विचित्रं शब्दानुशासनमाचार्यस्य आचार्येण वा ।

अस्त्याधिकरणे ॥१।४।७०॥ अधिकरणे यः क्तस्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । "अधिकरणे चाद्यथाच्च" [२।४।६६] इति अद्यथेभ्यो धिभ्यो गत्यर्थेभ्यश्च क्तो वक्ष्यते तस्य प्रयोगे "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति ता प्राप्ता "न क्ति" [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा पुनः प्रसूयते । इदमेवामशितम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषामासितम् । इदमेषां शयितम् । इदमेषां तृप्तम् । इदमेषां पराक्रान्तम् । एवामिति कर्तरि ता । अधिकरणस्य क्तेनोक्तत्वादिदंशब्दादीन् भवति । "अधिकरणे च" [२।४।५६] इत्यत्र चकारेण यथा प्रातः समुच्चो-यते । कर्तरि इहेमे आसिताः । भात्रे-इह एभिरासितम् । शेषविवक्षायामिह एषामासितम् । एवं सर्वत्र याज्यम् ।

भवति ॥१।४।७१॥ भवति काले विहितस्य क्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । अयमपि प्रतिषेधा-बादः । राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । सतां पूजितः । 'मतिबुद्धिपूजार्थाच्च' [२।२।१६६] इति सप्रतिकाले क्तः । शेषविवक्षायां यद्यपि ता सिद्धा तथापि कर्तृविवक्षायां भागधनार्थमिदम् । सप्रतिकाले चकारेण लब्धेषु शीलित-तादिषु प्रयुक्तेषु ता नेष्यते । देवदत्तेन शीलितः । कथं मयूरस्य नृत्तं छात्रस्य हसितार्मात ? शेषावधक्षयेदम् । कर्तरि तु मयूरेण नृत्तम् छात्रेण हसितम् ।

न क्तिस्तलोकखार्थतृणाम् ॥१।४।७२॥ किं तल उ उक खार्थं तृन् इत्येतेषां प्रयोगे ता विभक्ती न भवति । "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति तायाः प्राप्तायाः प्रतिषेधोऽयम् । क्ति-कटं कृत्वा । कटं कर्तुम् । तसंज्ञा-देवदत्तेन कृतम् । देवदत्तः कटं कृतवान् । ल-कटं कुर्वन् । कटं कुर्वाणः । अनूषिवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । कटं कारयामास । धर्मे दधिश्चत्तम् । "सांहव हवलिपतीनामियेकः" इत्यधिकृत्य धाञ्कृत्स्वजनितानेभ्यो लिङ्वादिभ्युपसंख्यानानेन शीलादिष्वर्थेषु इरित्यर्थं ल्यो भवति । कटं चिकीर्षुः । ओदनं बुभुक्षुः । कन्यामलङ्कारिष्णुः । उक-आगामुको वाराणसीम् । उकप्रतिषेधे कमेरप्रतिषेधः । दास्याः कामुकः । खार्थः—सुकरः कटो भवता । सुपानं पयो भवता । तृणिति प्रत्याहारः शत्रुशानावित्यत आरभ्य तृणो नकारेण । धान्यं पवमानः । अधीयन् जैनेन्द्रम् । "पूह्यजोः ज्ञानः" [२।२।१०६] इति शानः । "धारीकः शत्रुकृच्छिणि" [२।२।१०८] इति शत्रुत्यः । कर्ता कटान् । वदिता जनापवादान् । शीलाद्यर्थे तृणिति तृन् । "द्विषः शत्रुर्वा वचनम्" [वा०] चोरं द्विषन् । चोरस्य द्विषन् । "द्विषोऽज्ञौ" [२।२।१०६] इति शत्रुत्यः ।

वत्स्यत्यकस्य ॥१।४।७३॥ वत्स्यति काले विहितस्याकस्य योगे ता विभक्ती न भवति । कटं कारको व्रजति । ओदनं भोजको गच्छति । "बुण्णुमौ क्रियायाम्" [२।३।८] इति बुण् । वत्स्यतीति किम् ? ओदनस्य भोजकः । वत्स्यतीति विहितस्याकस्य ग्रहणादिह न भवति । वर्षशतस्य पूरकः । पुत्रपौत्राणां दशकः ।

आधमर्त्ये चैनः ॥१।४।७४॥ आधमर्त्ये वत्स्यति च काले विहितस्येनः प्रयोगे ता विभक्ती न

भवति । शतं दायी । सहस्रं दायी । “आवश्यकामर्ष्ययोर्णिन्” [२।३।१४६] इति णिन् । वर्त्यति । गमी ग्रामम् । आगामी नगरम् । “गम्यादिवर्त्यति” [२।३।१] इति वर्त्यतिकाले साधुत्वम् । आभमर्ष्ये चेन इति किम् ? अवश्यंकारी कटस्य । आवश्यकैऽर्थे कालसामान्ये णिन् ।

व्यस्य वा कर्त्तरि ॥१।४।७७॥ व्यसंज्ञस्य प्रयोगे कर्त्तरि वा ता विभक्ती भवति । भवतः कटः कर्त्तव्यः । भवता कटः कर्त्तव्यः । कर्त्तृकर्मणोः कृतीति ता प्राप्ता विभाष्यते । कर्त्तरीति किम् ? गेयो माणवको गायानाम् । “भग्न्येय०” [२।४।२३] आदि सूत्रे कर्त्तरि गेयशब्दो निपातितः । अत्र कर्मणि नित्यं ता भवति । इह कस्मात्ता न भवति ऋष्टव्या ग्रामं शाखा देवदत्तेन । नेतव्या ग्राममजा देवदत्तेन । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन “द्विप्राप्तौ परे” [१।४।६६] इत्यस्यास्ताया व्यप्रयोगे प्रतिषेध एव ।

भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः ॥१।४।७६॥ वेति वर्तते । तुलोपमाशब्दाभ्यामन्यैस्तुल्यार्थैः शब्दैर्युक्ते वा भाविभक्ती भवति । तुल्यो देवदत्तेन । तुल्यो देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । अतुलोपमाभ्यामिति किम् ? नास्ति तुला देवदत्तस्य । उपमा नास्ति सनत्कुमारस्य ।

अप् चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखहिताथैः ॥१।४।७७॥ वेति वर्तते । वा अन्विभक्ती भवति-आशिषि गम्यमानायाम् । आयुषो निमित्तं संयोगः । “निमित्तं संयोगोत्पादौ” [३।४।३७] “योऽसंख्या परिमाणाश्रवादेः” [३।४।३८] इति यः । आयुष्य मद्र भद्र कुशल सुख हित इत्यवमर्थैर्युक्ते । आयुष्यमिदमस्तु देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । चिरमस्तु जीवितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । मद्रं भवतु जिनशासनाय जिनशासनस्य वा । भद्रं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । कुशलं साधुभ्यः । कुशलं साधूनाम् । निरामयं साधुभ्यः । निरामयं साधूनाम् । सुखं साधुभ्यः । सुखं साधूनाम् । शमस्तु साधुभ्यः । शमस्तु साधूनाम् । हितं देवदत्ताय । हितं देवदत्तस्य । पथं देवदत्ताय । पथं देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । चकारः किमर्थः ? अर्थार्थैरपि योगे यथा स्यात् । अर्थो देवदत्ताय । अर्थो देवदत्तस्य । प्रयोजनं देवदत्ताय । प्रयोजनं देवदत्तस्य । तापक्षे वृत्तिर्न भवति अगमकत्वात् । न हि वृत्त्याऽऽशर्गम्यते । आशिषोति किम् ? आयुष्यं देवदत्तस्य । अत्र नाप् ।

प्राणितूर्यसेनाङ्गानां द्वन्द्व एकवत् ॥१।४।७८॥ प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्व एकवद्भवति । एकार्थवद्भवतीति अर्थनिर्देशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता । प्राणी च पादौ च प्राणिपादम् । दन्तौ-ष्टम् । शिरोग्रीवम् । यदि प्राण्यङ्गं प्राणिग्रहणेन गृह्यते “अप्राणिजातेः” [१।४।८२] इति प्रतिषेधे प्राप्ते अथ न गृह्यते तदा “अप्राणिजातेः” इत्येव सिद्धे व्यतिकरनिवृत्त्यर्थं वचनं प्राण्यङ्गानामन्येन द्वन्द्वो मा भूत् । तूर्यम्-मार्दङ्गिकाश्च प्राण्यङ्गिकाश्च मार्दङ्गिकप्राण्यङ्गिकाश्च । सेना-रथिकाश्च अश्वारोहाश्च रथिकाश्चारोहम् । रथिकपादात्तम् । “सेनाङ्गेषु बहुत्वे” [वा०] इति तेन रथिकाश्वारोहो । हस्त्यश्वादिषु परत्वात् पशु विभाषा । यद्यप्यभिधानवशादिह समाहारे द्वन्द्वः, दधिपयश्चादिषु इतरेतरयोगे, तरुमृगादिषु उभयत्र, तथापि तद्विषयविभागज्ञापनार्थमिदं प्रकरणम् ।

चरणानामनूक्तौ ॥१।४।७९॥ चरणं कठादिप्रोक्तोऽध्ययनविशेषः । तद्यदा पुरुषेष्वध्येतुषु वर्तते तदेह गृह्यते । अनूक्तिरनुवादः । चरणानां द्वन्द्व एकवद्भवति अनूक्तौ । स्थेणोर्लुङन्तयोः प्रयोगे चेदमिष्यते । उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् । अनूक्ताविति किम् ? उदगुः कठकालापाः । प्रथमोपदेशोऽयम् । कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः । प्रोक्तार्थं “शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन्” [३।३।७७] इति णिन् । तस्य “कठचरणा (का हुप्)” इत्युप् । अध्येतृविषयस्यायाः “उप प्रोक्तात्” [३।२।२४] इत्युप् । कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः । प्रोक्तार्थं “कलापिनोऽण्” । टिलम् । परस्यायाः “उप्प्रोक्तात्” [३।२।२४] इत्युप् । “छन्दो ब्राह्मणानि चात्रैव” [३।२।२६] इत्यध्येतृविषयता ।

अध्वर्युं कतुरनप् ॥१।४।८०॥ अध्वरमिच्छन्ति अध्वर्यवो यजुर्वेदविदः । अतएव निपातनात् क्यच्-

कारस्य खम् । क्यञन्तस्य उश्च त्यः । अध्वर्युं क्रतुरनपुंसकलिङ्गो द्वन्द्वमेकवद्भवति । येषां क्रतूनां यजुर्वेदशाखासु लक्षणं प्रयोगश्च शिष्यते प्राधान्येन तेषामध्वर्युं क्रतूनामनपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवद्भवति इत्यर्थः । अर्कश्च अश्वमेधश्च अर्काश्वमेधम् । सायाह्नातिरात्रम् । पौण्डरीकातिरात्रम् । अध्वर्युं क्रतुरिति किम् ? पञ्चोदनदशौदनाः । इषुवज्रौ । उद्भिद्वलभिदौ । एते सामवेदविहिताः । अनविति किम् ? राजसूर्यं च वाजपेयं च राजसूर्यावाजपेये । इह कस्मान्न भवति दर्शपोर्णमासौ । दधिपयआदिषु द्रष्टव्यः ।

अधीत्याऽदूराख्यानाम् ॥१।४।८१॥ आख्या नामधेयम् । अधीत्या निमित्तभूतया अदूराख्यानां द्वन्द्व एकवद्भवति । पदमधीते पदकः । क्रममधीते क्रमकः । पदकक्रमकम् । क्रमकवात्तिकम् । पदाध्ययनस्यासन्नं क्रमाध्ययनम् । अधीत्येति किम् ? आढ्यदरिद्रौ । अदूराख्यानामिति किम् ! याज्ञिकवैयाकरणौ । यज्ञमधीते याज्ञिकः ।

अप्राणिजातेः ॥१।४।८२॥ अप्राणिजातिवाचिनां द्वन्द्व एकवद्भवति । आराशस्त्रि । धानाशष्कुलि । युगवरत्रम् । अप्राणिग्रहणं किम् ? गौपालिशालङ्कायनाः । गोत्रं चरणं सहेति जातिः । जातेरिति किम् ? हिमवद्विन्ध्यौ । नन्दकपाञ्चजन्यौ । संज्ञाशब्दा एते । नञ्सटशसम्प्रत्ययहेतुः । तेन द्रव्यजातीनामेकवद्भावादिह न भवति । रूपरसगन्धस्पर्शाः । गमनागमने । जातेरिविज्ञायां न भवति । बदरामलकानि तिष्ठन्ति ।

भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम् ॥१।४।८३॥ भिन्नलिङ्गानां नदीदेशवाचिनामग्रामाणामपुराणां द्वन्द्व एकवद्भवति । नदी-उद्भवश्चरावती च उद्भवे रावति । विपाट्चक्रभिदम् । गङ्गाशोणम् । देशाः-कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम् । कुरुकुरुजाङ्गलम् । दार्वाश्च अभिसारं च दार्वाभिसारम् । काश्मीराभिसारम् । भिन्नलिङ्ग इति किम् ? गङ्गायमुने । मद्रकेकयाः । नदीदेश इति किम् ? कुक्कुटमयूरौ । अग्राम इति किम् ? जाम्बवश्च शालूकिनी च जाम्बवशालूकिन्यौ । ननु नद्यपि देश इति पृथग्रहणं किमर्थम् ? शापकार्यं जनपदो देशोऽभिप्रतो न नदीपर्वतादिः । तेनेह नैकवद्भावः । कैलासश्च गन्धमादनं च कैलासगन्धमादने । अपुरमिति किम् ? लोके ग्रामग्रहणेन पुरमपि गृह्यते ततोऽपुरमिति प्रतिषेधः । मथुरापाटलिपुरत्रम् । अग्राम इति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेन यत्र पुरग्रामयोर्द्वन्द्वस्तत्रापि नैकत्वम् । नासौर्यकैतवौ पुरग्रामौ ।

क्षुद्रजीवाः ॥१।४।८४॥ इहाल्पशरीरः क्षुद्रः । क्षुद्रजीवानां द्वन्द्व एकवद्भवति । क्षुद्रजीवाश्रयो द्वन्द्व उपचारात् क्षुद्रजीवा इति निर्देशः । यूकालिङ्गम् । शतस्त्रश्च उत्पादकाश्च शतसूत्यादकम् । दंशमशकम् ।

“क्षुद्रजीवा अकङ्काला येषां स्वं नास्ति शोणितम् । नाजलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ॥”

केचित् शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । क्षुद्रजीवा इति बहुवचननिर्देशात् द्वित्वविषये नेदमिति यूकालिङ्गौ । दंशमशकौ ।

येषाञ्च द्वेषः शाश्वतिकः ॥१।४।८५॥ द्वेषोऽपीतिः । येषां च द्वेषः शाश्वतिकस्तद्वाचिनां द्वन्द्व एकवद्भवति । शाश्वद्भवः शाश्वतिकः । “कालाट्टञ्” [३।२।१३१] इति ठञ् । निपातनादिकादेशः । “केर्ममात्रे टिखम्” इति खं च न भवति । अहिनकुलम् । श्वं वराहम् । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । शाश्वतिक इति किम् ? गौपालिशालङ्कायनाः । केनचिन्निमित्तेन कलहायन्ते । चकारोऽवधारणार्थः । अयमेव नित्य एकवद्भावो यथा स्यात् पश्वादिभिभाषा मा भूत् । अश्वमहिषम् । काकोलूकम् ।

१. पा० महाभाष्ये-“क्षुद्रजन्तुरनस्थिः स्यादथ वा क्षुद्र एव यः । नाजलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ॥” २।४।८५ । २. श्ववाराहम् अ० ।

वर्णेनाहर्द्रूपायोग्यानाम् ॥११४।८६॥ वर्णेनाहर्द्रूपस्यायोग्यास्तेषां द्वन्द्व एकवद्भवति । येन रूपेणाहर्न्त्यमवाप्यते, तदिह नैर्ग्रन्थ्यमहर्द्रूपमभिप्रेतम् । अतिशयोपेतस्याहर्द्रूपस्य प्रातिहार्यसमन्वितस्य बहुतरमयोग्यमिति नेह तद् गृह्यते । तन्नायस्कारम् । कुलालवरुदम् । रजकतन्तुवायम् । नन्वेतेष्वप्येकवद्भावः प्राप्नोति । चण्डालमृतपाः । न दधिपयआदिष्वन्तर्भूतो द्वन्द्वो द्रष्टव्यः । वर्णेनेति किम् ? मूकवधिराः । एते करणदोषेणायोग्याः । अहर्द्रूपायोग्यानामिति किम् ? ब्राह्मणत्रियौ ।

गवाश्वदीनि च ॥११४।८७॥ गवाश्वदीनि च गणपाठे द्वन्द्वरूपाणि च एकवद्भवन्ति । गवाश्वम् । गवैडकम् । गवाधिकम् । अजाविकम् । पशुविभाषा प्राप्ता । कुञ्जवामनम् । कुञ्जकैराकतम् । पुत्रपौत्रम् । श्वचाण्डालम् । अद्वेषे—स्त्रीकुमारम् । दासीमाणवकम् । शाटीपिच्छिकम् । इदं जात्यविवक्षायाम् । उष्ट्रखरम् । उष्ट्रशशम् । पशु विभाषा प्राप्ता । मूत्रशकृत् । मूत्रपुरीषम् । यकृन्मेदः । मांसशोणितम् । इमानि जात्यविवक्षायाम् । दर्भशरम् । दर्भपूतीकम् । अर्जुनपुरुषम् । तृणोपलम् । एतेषां तृणविकल्पः प्राप्तः । दासीदासम् । कुटीकुटम् । भागवतीभागवतम् । एषां सरूपाणां लिङ्गमात्रकृतविशेषाणां निपातनाद् द्वन्द्वः । चकारोऽवधारणार्थः । गवाश्वदीनि पठितान्येवैकवद्भवन्ति नान्यथा । गोऽश्वौ । गोऽश्वम् ।

वा तरुमृगतृणधान्यव्यञ्जनपरश्ववडवपूर्वापराधरोत्तरपक्षिणः ॥११४।८८॥ तर्-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन पशु-वेरो-य-शा-चेना-म-श्व-व-ड-व-पूर्वा-पर-अ-ध-रो-त्तर इत्येषां पक्षिविशेषाणां च द्वन्द्वो वा एकवद्भवति । प्लक्षन्त्यग्रोधम् । प्लक्षन्त्यग्रोधाः । आरण्या मृगाः । ररुपृषतम् । ररुपृषताः । कुशकाशम् । कुशकाशाः । व्रीहियवम् । व्रीहियवाः । दधिघृतम् । दधिघृते । ग्राम्याः पशवः । वृष्णिस्तभम् । वृष्णिस्तभाः । अश्ववडवम् । अश्ववडवौ । पर्यायनिवृत्त्यर्थं च अश्ववडवग्रहणम् । पूर्वापरम् । पूर्वापरे । अधरोत्तरम् । अधरोत्तरे । तित्तिरिकापिञ्जलम् । तित्तिरिकापिञ्जलाः । अत्रेष्टिः । ‘सेनाङ्गफलक्षुद्रजीवतरुमृगतृणधान्यपर्णैः प्रकृत्यर्थबहुत्वे एकवद्भावः’ [वा०] तेन रथिकाश्वरोहो । बदरामलके । इदमेव ज्ञापकम् ‘अप्राणिजातेः’ [११४।८२] इत्यत्र न बहुवचनान्त एव विग्रहोऽभिप्रेतः । यूकालिदे । प्लक्षन्त्यग्रोधौ । ररुपृषतो । कुशकासौ । व्रीहियवौ । हंसचक्रवाकौ । वेति योगविभागोऽयम् । द्वन्द्वमात्रे कृतो भवेत् । पूर्वो विधिस्तु नित्यार्थः तुल्यजात्यर्थ उत्तरः । इह मा भूत्—प्लक्षयवाः । हंसपृषताः ।

विरोधि चानाश्रये ॥११४।८९॥ वेति वर्तते । आश्रयो द्रव्यं विरोधो येषामस्ति तद्वाचिनामनाश्रयाभिधायिनां द्वन्द्व एकवद् भवति । विरोधीत्यामः खे कृते सौत्रो निर्देशः । सुखदुःखम् । सुखदुःखे । जननमरणम् । जननमरणे । शीतोष्णम् । शीतोष्णे । विरोधीति किम् ? कामक्रोधौ । अनाश्रय इति किम् ? सुखदुःखौ ग्रामौ । शीतोष्ण उदके । चकारादविरोधेऽपि । वधूवरम् । वधूवरौ । स्यावरज्जमम् । स्यावरज्जमे ।

न दधिपयआदीनि ॥११४।९०॥ दधिपयआदीनि द्वन्द्वरूपाणि नैकवद्भवन्ति । येन केनचित् प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । दधिपयसी । सर्पिर्मधुनी । मधुसर्पिणी । व्यञ्जनत्वात् प्राप्तिः । ब्रह्मप्रजापती । शिववैश्वण्यौ । स्कन्दविशालौ । परिव्राजककौशिकौ । प्रवर्ग्योपसदौ । वेतिप्राप्तिः । शुक्लकृष्णौ । इध्मानर्हिषी । निपातनात् पूर्वस्य दीत्वम् । योगानुवके । दीक्षातपसी । श्रद्धातपसी । अध्ययनतपसी । उत्सूलामूसले । आद्यावसाने । श्रद्धामेधे । ऋत्सामे । वाङ्मनसे । वेति योगविभागात् प्राप्तिः । चण्डालमृतपादयश्च ।

अर्थेतावत्त्वे च ॥११४।९१॥ एतावत्त्वमित्या । वृत्त्यवयवार्थानामेतावत्त्वे च द्वन्द्वो नैकवद्भवति । द्वादश मे मार्दङ्गिकपाणविकाः । चकारः प्रतिषेधानुकर्षणार्थः ।

वा समीपे ॥११४।९२॥ नेति निवृत्तम् । अर्थानामेतावत्त्वस्य समीपे वा द्वन्द्व एकवद्भवति । उपदशं दन्तोष्ठम् । उपदशा दन्तोष्ठाः । एकवद्भावपक्षे हसोऽनुप्रयुज्यते अन्यत्र वसः । हसे ‘अनः’ [११२।११०] इति अः सान्तः । असे तु डः ।

स नप् ॥१।४।६३॥ यस्यायमुक्त एकवद्भावः स नभवति । तथा चैवोदाहृतम् । समाहारे रसो नप् भवतीति वक्तव्यम् । पञ्चाग्नि । पञ्चवायु । अकारान्तप्रकरणे “शात्” [३।१।२५] इति डीविधानं ज्ञापकम् । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रियां वर्तत इति । पञ्चपूली । षण्णगरी । “वाबन्त इति वक्तव्यम्” [वा०] पञ्चखट्वी । पञ्चखट्वम् । “स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशः । “अज्ञन्तस्य नखं स्त्रियां वा वृत्तिः” [वा०] पञ्चतक्षम् । पञ्चतक्षी । “पान्नादिभ्यश्च प्रतिषेधः” [वा०] पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् । चतुर्युगम् । पञ्चगवम् । दशगवम् । “गोरहृदुपि” [४।२।१४] इति टः सन्तः ।

हश्च ॥१।४।६४॥ हसञ्च नभवति । अधिस्त्रि । उन्मत्तगङ्गम् । द्विमुनीदम् । “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशार्थमनुप्रयोगार्थं च वचनम् । पूर्वपदार्थप्रधानस्यालिङ्गत्वं प्राप्तम् । अन्यत्राभिधेयवलिङ्गं प्राप्तम् । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन क्रियाविशेषणानां नपुंसकत्वं सिद्धम् । शोभनं पचति ।

षोऽनञ् ॥१।४।६५॥ नञ् यसञ्च वर्जयित्वा नभवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । प इति पुल्लिङ्गे न निर्देशः सौत्रः । वाच्यप्रकरणादन्यत्र कामचारो वा वर्धयति । सेनासुराञ्छायाशालानिशा वेति । क्षत्रियसेना । क्षत्रियसेनम् । ष इति किम् ? महती सेनाऽस्य महासेनः । अनजिति किम् ? असेना । अय इति किम् ? परमसेना ।

सौ कन्थाशोनरेषु ॥१।४।६६॥ खुविष्ये कन्थान्तः षसो नभवति उशीनरेषु चेत् सा कन्था । सौसमीनां कन्था सौसमिकन्थम् । आह्वरकन्थम् । आसमिकन्थम् । चर्मकन्थम् । एतै उशीनरेषु ग्रामाः । विग्रहवाक्यं सादृश्यमात्रण । खार्विति किम् ? वीरणकन्था । उशीनरेष्विति किम् ? दक्षिकन्था । अन्यत्र ग्रामसञ्ज्ञं यम् ।

उपज्ञापकम् तदाद्युक्तो ॥१।४।६७॥ उपज्ञायत इति उपज्ञा उपदेशः । उपक्रम्यत इति उपक्रमः प्रारम्भः । उपज्ञोपक्रम इत्येवमन्तः षसो नभवति तयोपज्ञापकमयोरुक्तौ गम्यमानायाम् । स्वायम्भुवस्योपज्ञा स्वायम्भुवोपज्ञमाकालिकाचाराध्ययनम् । दवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम् । कुरुराजस्योपक्रमः कुरुराजोपक्रमं दानम् । अक्रमपनापकम् स्वयंवरविधानम् । उपज्ञोपक्रममिति किम् ? आदिद्वतपस्या तीव्रा । तदाद्युक्ताविति किम् ? देवदत्तोपज्ञा । देवदत्तोपक्रमो गणितम् । उत्तरपदस्य प्राधान्यवलिङ्गम् । ष इत्येव । सम्यगुपज्ञो भगवान् स्वायम्भुवो यस्येदमाकालिकाचाराध्ययनम् । वाक्येन तदाद्युक्तौ गम्यमानायामिदं प्रत्युदाहरणम् ।

छाया बहूनाम् ॥१।४।६८॥ बहूनां या छाया तदन्तः षसो नभवति । इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम् । सलभञ्छायम् । बहूनामिति किम् ? कुब्जस्य छाया कुब्जच्छायम् । कुब्जच्छाया । “सेनासुरा” [१।४।१०१] इत्यादिना विकल्पः । ष इत्येव । बहवश्छाया अस्मिन्बहुच्छायो वनखण्डः ।

समाऽराजामनुष्यात् ॥१।४।६९॥ अराज्ञः अमनुष्याच्च परा या सभा तदन्तः षो नभवति । अराज्ञः । इनस्य सभा इनसभम् । ईश्वरसभम् । इन्द्रसभम् । पार्थिवसभम् । राजशब्दपर्युदासात् तत्पर्यायाणामत्र ग्रहणं न विशेषाणाम् । तेनेह न भवति । सातवाहनसभा । चन्द्रगुप्तसभा । अमनुष्यात्-रत्नसां सभा रत्नसभम् । पिशाचसभम् । अमनुष्यशब्दस्य च रत्नःप्रभृतिष्वेव रूढत्वादिह न भवति । काष्ठसभा । पाषाणसभा । पक्षेष्कासभा । यद्येवं “दगमनुष्ये” [२।१।६०] इत्यत्र कथम् । जायाघ्नस्तिलकः । पितृघ्नं घृतम् । “युद्ध्या बहुकम् [२।१।६४] इति बहुलवचनात्तत्रान्यस्यापि ग्रहणम् । “अराजामनुष्यात्” इति किम् ? राजसभा । देवदत्तसभा । ष इत्येव । ईश्वरा सभाऽस्य ईश्वरसभः ।

अशाला ॥१।४।१००॥ अशाला च या सभा तदन्तः षो नभवति । गोपालसभम् । दासीसभम् । जीसभम् । अत्र समुदाये सभाशब्दः । अशालेति किम् ? देशिकसभा ।

सेनासुराच्छायाशालानिशा वा ॥१।४।१०१॥ सेना सुरा छाया शाला निशा इत्येवमन्तः षो वा नम्भवति । देवानां सेना देवसेनम् । देवसेना । पिष्टसुरम् । पिष्टसुरा । कुड्यच्छायम् । कुड्यच्छाया । गोशालम् । गोशाला । शनिशम् । शनिशा । चोरनिशम् । चोरनिशा । ष इत्येव । सूरसेनो राजा । अनन्य इत्येव । असेना । परमसेना ।

द्वन्द्वे युवल्लिङ्गम् ॥१।४।१०२॥ द्वन्द्वे सेयोरिव लिङ्गं भवति । इतरैतरयोगद्वन्द्वस्येह ग्रहणम् । तत्र सर्वेषामवयवानां प्राधान्यात् पर्यायेण समुदायलिङ्गे प्राप्ते वचनम् । कुक्कुटमयूर्याविमे रमणीये । मयूरी-कुक्कुटाविमौ । यथा “हरश्च” [१।४।१४] इति नपुंसकलिङ्गातिदेशः संघातस्य भवति न चावयवस्य निवर्तकः । अधिल्लि । अधिकुमारीति । एवामहापि समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थं क्रियमाणो नावयवस्य स्त्रीत्यस्य निवर्तकः । षस्य युवल्लिङ्गातिदेशो न धक्तव्यः । विशेष्यर्वालिङ्गवचनानि भवन्ति विशेषणानामत्यनेन सिद्धत्वात् । द्यूवर्थस्य तु विशेष्यत्वात् प्राधान्यम् । अर्द्धपिप्पली । अर्द्धकौशातकी शोभना । यत्र पूर्वपदार्थः प्रधानं तत्र पूर्ववलिङ्गमेव । यथा “प्रासापन्नालम्पूर्वतिसलक्षणेपु” । प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः । आपन्नजीविकः । अलं जीविकायै अलञ्जीविकः । “निरादयः क्रान्ताद्यर्थं कया” [वा०] निष्क्रान्ता कौशाभ्या निष्क्रौशाभिवः । हृदर्थे रसस्य अन्यपदार्थप्राधान्यादभिधेयर्वालिङ्गम् । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडासः ।

अश्ववडवौ पूर्ववत् ॥१।४।१०३॥ अश्ववडवयोरितरैतरयोगे पूर्ववलिङ्गं भवति । अश्वश्च वडवा च अश्ववडवौ । समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थं पूर्वर्वालिङ्गनिवृत्तिर्नास्तीत्युक्तम् । कथं टापो निवृत्तिः । अश्ववडव इति निपातनात् । पूर्ववर्दति किमथम् ? अर्थातिदेशार्थम् । अश्ववडवावित्युच्यमाने वचनान्तरे न स्यात् । अश्ववडवान् पश्य । अश्ववडवैः कृतम् ।

रात्राह्नौ पुंसि ॥१।४।१०४॥ रात्र्यह्नौ शब्दौ कृतसन्तौ निर्दिष्टौ एतौ पुंसि भवतः । द्वयो रात्र्योः समाहारः द्विरात्रः । “अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः” [४।२।८६] इत्यः सन्तः । पूर्वमहः पूर्वाह्नः । अपराह्नः । “पूर्वापरप्रथम” [१।३।१३] इत्यादिना षसः । “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४।२।१३] इति टे कृते ‘एभ्योऽह्नोऽह्नः’ [४।२।१०] इत्याह्लादेशः । उत्तरपदप्राधान्यात् स्त्रीनपुंसके प्राप्ते ।

अहः ॥१।४।१०५॥ अह इत्ययं शब्दः पुंसि भवति । द्वयोरह्नो समाहारः द्वयहः । व्यहः । “न समाहारे” [४।२।११] इत्याह्लादेशप्रतिषेधः । टियम् । “अनुवाकादयश्चेति वक्तव्यम् [वा०] अनुवाकः । सम्प्रवाकः । सूक्तवाकः ।

पुरयसुदिनाभ्यां नपु ॥१।४।१०६॥ पुरयसुदिनाभ्यां परः अहशब्दो नम्भवति । पुरयमहः पुरयाहम् । पुरयग्रहणं सूत्र उपलक्षणम् । एकाहमिति च भवति । विशेषणसविधिः । “पुरयैकाभ्याम्” [४।२।१२] इति अह्लादेशप्रतिषेधः । सुदिनमहः सुदिनाहम् ।

अपथम् ॥१।४।१०७॥ अपथं शब्दो नम्भवति । न पन्थाः अपथम् । “पथो वा” [४।२।१८] इति प्रतिषेध विकल्पः । “ऋक्पूर्वभू पथोऽनक्षे” [४।२।७०] इति असन्तः । ष इत्येव । न विद्यते पन्था अस्मिन् अपथो देशः । अथवा अटवी । “क्लित्वादेरिति वक्तव्यम्” [वा०] उत्पथम् । “लिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति षसः । त्रिपथञ्चतुःपथमिति तासः ।

पुंसि चाधर्चाः ॥१।४।१०८॥ अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि नपि च वेदितव्याः । अर्धं च तत् ऋक् च सार्द्धं च । अर्द्धं चम् । गोमयकषायकार्पापणकुतपकवाटशङ्खादिपाठादवगमः कर्तव्यः ।

“शब्दरूपाश्रया चेयं प्रणीतोभयलिङ्गता । क्वाचिदप्यर्थभेदेन शब्देषु व्यवतिष्ठते ॥”

पद्मशङ्खशब्दौ निधिवचनौ पुंसिङ्गौ । जलजे द्विलिङ्गौ । भूतशब्दः प्राणिति द्विलिङ्गः । क्रियाशब्दस्याभिधेयवलिङ्गम् । सैन्धवशब्दो लवणे द्विलिङ्गोऽन्यत्राभिधेयवलिङ्गः । सारशब्दोऽन्याव्येऽर्थे नपुंसकलिङ्गः । उष्णैऽर्थे पुंसिलिङ्गः । धर्मशब्दोऽपूर्वे पुंसिलिङ्गः । तत्साधने नपुंसकलिङ्गः ।

अगे ॥११४१०६॥ अगे इत्ययमधिकारो वक्ष्यते । “हनो वध लिङि” [११४११४] इति ।
वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । “अतः खम्” [४१४१५०] इत्यकारस्य खम् । अग इति किम् ?
हन्यात् । अग इति विषयनिर्देशः । आदेशे कृते यो यतः प्राप्नोति स ततो यथा स्यादित्येवमर्थः । आख्ये-
यम् । भव्यम् । प्रवेयम् । परनिर्देशे हि एयः प्रसज्येत ।

तिक्रित्येऽदो जग्धिः ॥११४११०॥ तकारादौ किति प्ये चागे परतोऽदेर्जग्धरादेशो भवति ।
जग्धा । जग्धिः । जग्धवान् । इकार उच्चारणार्थः । “तथोर्धोऽच्चः” [११३१५६] इति तकारस्य धत्वम् ।
“ऋता जग् ऋशि” [५१४१२८] इति धकारस्य दत्वम् । “ऋरो ऋरि रवे” [११४१३६] इति दत्वम् ।
कथमन्न्म् ? “अदोऽनन्ने” [२१२१६०] इति निपातनात् । प्ये—प्रजग्य । “अनल्विधौ” [११११२६]
इति स्थानिवद्भावो नास्ति । इदमेव ज्ञापकम् “एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गानपि जग्ध्यादिविधीन् बहिरङ्गः
प्यादेशो बाधते” [५०] तेन प्रधायेत्यत्र हित्वं न भवति । प्रखन्येति “जनसनखनाम्” [४१४१३३] इति
नित्यमात्वं न भवति । प्रदायेति “दो वदभोः” [५१२१४८] इति दत्वं नास्ति । प्रस्थयेति “द्यतिस्यति-
मास्था” [१२११४४] इत्यादिनेत्वं नास्ति । प्रशाम्येति “ऋस्य क्रिऋलोः” [४१४१३३] इति दीत्वं नास्ति ।
प्रपृच्छ्य प्रदीव्येति शूठौ न भवतः । प्रपठ्येति इडभावः ।

घस्त्व लुङ्घञ्सनञ्चु ॥११४१११॥ अदेर्घस्त्व इत्ययमादेशो भवति लुङि घञि सनि अचि च
परतः । लुङि—अघसत् । अघसताम् । अघसन् । घञि—घासः । सनि । जिघत्सति । अजिति
पञ्चाद्यन्तः [२१११०६] “गावदः” [२१३१२३] इत्यस्य च सामान्येन ग्रहणम् । प्राप्तिः प्रादन्
वा प्रघसः ।

लिटि वा ॥११४११२॥ लिटि परतः अदेर्घस्त्वादेशो भवति वा । जघास । जन्तुः । जन्तुः । आद ।
आदतुः । आदुः ।

वेजो वयिः ॥११४११३॥ वेजो वयिरादेशो लिटि वा भवति । इकार उच्चारणार्थः । उवाय ।
ज्यतुः । ज्युः । णलि “चस्यैषां लिटि” [४३११३] इति वकारस्य जिः । “लिटि वेजो यः” [४३३३२]
इति यकारस्य जिप्रतिषेधे “हलोऽनादेः” [५१२१६१] इति खम् । अतुसि उसि च “वचिस्वपियजादीनां
किञि” [४३३११] इति जिः प्राप्तः । “प्ये च” [४३३३४] इति प्रतिषिद्धिः । “वो वा किति”
[४३३३३] इति विभाषया प्राप्तः । “ग्रहिय्यावयि” [४३३१२] इति नित्यो जिर्भवति । यदा न वयिस्तदा
“प्ये च” [४३३३४] इति जिप्रतिषेधे—ववौ । द्विवहोः “वो वा किति” [४३३३३] इति जिपक्षे—
ज्वतुः । ज्वुः । जौ कृते द्वित्वे च “वायाद्गावं बळीयः” [५०] इति उवादेशे कृते “स्वेऽको” [४३३८८]
दीत्वम् । अजिपक्षे—ववतुः । ववुः ।

हनो वध लिङि ॥११४११४॥ हन्तेर्वध इत्ययमादेशो भवति लिङ्यगे परतः । वध इत्यदन्तः
उदात्तश्चादेशः । वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । अखस्य स्थानिवद्भावादवधीरित्यत्र हलन्तलक्षणः
“अतोऽनादेर्वः” [१११८३] इत्यैप् न भवति । इह वेति न स्मर्यते । वधक इति प्रकृत्यन्तरस्य ।

लुङि ॥११४११५॥ लुङि परतो हन्तेर्वध इत्ययमादेशो भवति । अवधीत् । अवधिष्टाम् । अव-
धिषुः । उत्तरत्र वानिर्देशादिह नित्यो विधिः ।

वेङि ॥११४११६॥ इङि लुङि परतो हन्तेर्वधादेशो वा भवति । आवधिष्ट । आवधिषाताम् ।
आवधिषत । आहत । आहसाताम् । आहसत । “आङो यमहनः” [११२१२३] इति दविधिः । “हनः सिः”
[१११८८] इति सेः कित्त्वम् । कर्मणि—अवधि । अवधिषाताम् । अवधिषत । जिवन्भावे अचानि ।
अचानिषाताम् । अचानिषत ।

लुङ् येत्योर्गाः ॥११४११७॥ लुङि परतः एत्योर्गा इत्ययमादेशो भवति । अंगात् । अगाताम् । अगुः । अग्र्यात् । अग्र्याताम् । अग्र्यगुः । “स्थेणिव” [११४१४६] इत्यादिना “इण्वदिकः” इति च सेरुप् । “आतः” [२१४६०] इति भेर्जुस् । पुनर्लुङ्ग्रहणमित्यपि नित्यार्थम् । अगायि भवता । अग्र्यायि भवता । अग्र्यायि भवता । गात्रमिति गायतेः ।

णौ गमज्ञाने ॥११४११८॥ षौ परत एत्योर्गमित्ययमादेशो भवत्यज्ञानेऽर्थे । गमयति । गमयतः । गमयन्ति । अनेकार्थत्वादिकोऽप्यज्ञाने वृत्तिः । अधिगमयति । अधिगमयतः । अधिगमयन्ति । “उडोऽतः” [५१२४] इत्यैप् । “जनीजृषवनसुरज्जोऽमन्ताश्च” इति मित्वम् । “जिगमोर्दीर्मिताम्” [४१४८६] “प्रः” [४१४८७] इति प्रादेशः । अज्ञान इति किम् ? अर्थान् संप्रत्याययति ।

सनि ॥११४११९॥ सनि च परत एत्योरज्ञानेऽर्थे गमित्ययमादेशो भवति । जिगमिषति । अधिजिगमिषति । “गमेरिमे” [५११०६] इतीट् । अज्ञान इत्येव । अर्थान् प्रतीषिषति । अच इति वर्तमाने “सन्त्यङोः” [४१३८] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

इङ् ॥११४१२०॥ सनि परत इङो गमित्ययमादेशो भवति । अधिजिगांसते । इङिकावधिर्गि न व्यभिचरतः । “हनिङ्गम्यर्चा सनि” [४१४१४] इति दीत्वम् ।

गाङ् लिटि ॥११४१२१॥ इङो गाङित्ययमादेशो भवति लिटि परतः । अधिजगे । अधिजगाते । अधिजगिरे । “सेर्षिपिच” [२१४७४] इति ज्ञापकादादेशस्य ङित्वे गाङो ङित्करणं किमर्थम् ? “गाङ्कुटा-देरभ्यान्ङित्” [१११७२] इत्यत्र विशेषणार्थः । गायतेर्ग्रहणं मा भूत् । अगासीद्वाथकः इति ईत्वं प्रसज्येत ।

लुङ् लृङ् ॥११४१२२॥ लुङ् लृङोः परत इङो वा गाङादेशो भवति । लुङि—अध्यगीष्ट । अध्यगीषताम् । अध्यगीषत । “गाङ् कुटादेः” [१११७२] इति ङित्वं “सुसास्थागा” [४१४६२] इत्यादि-नेत्वम् । पत्ने अध्यषे । अध्यषाताम् । अध्यषत । लृङि—अध्यगीष्यत । अध्यगीष्येताम् । अध्यगीष्यन्त । पत्ने अध्यष्यत । अध्यष्येताम् । अध्यष्यन्त ।

णौ सन्कचोः ॥११४१२३॥ षौ सन्परे कन्परे च परतः इङो वा गादेशो भवति । अध्यापयितु-मिच्छति अधिजिगापयिषति । “प्रकल्प्यापवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते” [प०] इति गाङादेशपक्षे “क्रीडजेयौ” [४१३४१] इत्यात्वं न भवति । अन्यत्र अध्यापिपयिषति । “अचः” [४१३२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । कन्परे—अध्यबीगपत् । अन्यत्र अध्यापिपत् । माङ्योगे - मा भवानप्यापिपदिति भवति । “शौ क्युङः” [२१२११२] इति प्रादेशे कृते द्वित्वम् । कथं ज्ञायते ? ओणतेः ऋदित्करणं ज्ञापकं यदि द्वित्वं प्रागेव स्यात् ओण उकारस्यानुङ्भूतत्वात् प्रादेशप्रतिषेधार्थं ऋदित्करणमनर्थकं स्यात् ।

अस्तिब्रूओर्भूवची ॥११४१२४॥ अस्तिब्रूजित्येतयोर्थासंख्यं भूवचि इत्येतावादेशो भवतः । भविता । भवितुम् । भवितव्यम् । अस्तीति तिपा निर्देशः किमर्थः ? यस्य केवलस्य अस्तीति रूपं तस्य यथा स्यात् अनुप्रयोगस्य लिट्परस्य मा भूत् । ईशमास । ब्रू-वक्त्रा । वक्तुम् । वक्तव्यम् । वचैरिकार उच्चार-णार्थः । स्थानिवद्भावाद् । ऊचे ।

खञ् ॥११४१२५॥ चञ् खञित्ययमादेशो भवति अणे । आख्याता । आख्याता । “खञःशो यो वा” [२१४१२४] इति वा यकारादेशः । पर्याख्यानमित्यत्र यकारादेशस्यासिद्धत्वात् शकारेण व्यवहितत्वात् “कृत्यचः” [५१४१०८] इति थत्वं न भवति । स्थानिवद्भावेन “कनुवाप्तो ङः” [११२६] इति नित्यं दो मा भूत् इति भित् क्रियते ।

न वर्जने ॥१४१२६॥ वर्जनेऽर्थे चक्षुः खशाजादेशो न भवति । गां संचक्ष्य । वर्जयित्वेत्यर्थः । कण्टकाः संचक्ष्याः । नेति योगविभागादसि युचि च प्रतिषेधः । वृचक्षाः राक्षसः । विचक्षणः ।

वा क्षिति ॥१४१२७॥ लिटि परतो वा चक्षुः खशाजादेशो भवति । आचख्यौ । आचख्ये । आचचक्षे । पूर्वेण नित्ये प्राप्तेऽयमारम्भः ।

व्यजोऽघञचोः ॥१४१२८॥ अजेघोः वी इत्ययमादेशो भवति अघञचोः परतः । अनुदात्तोऽयमादेशः । प्रवेता । प्रवायकः । अघञचोरिति किम् ? समाजः । उदाजः । समजः । उदजः । “पशुष्वजः समुदोः” [२।३।५६] इति पशुविषयेऽच् । अन्यत्र घञ् । अजिति सामान्यग्रहणं तेन पचादिलक्षणेऽप्यचि प्रतिषेधः । अजतीत्यजः ।

बहुलं खौ ॥१४१२९॥ खुविषये बहुलमजेर्वाभावः । प्रवयणो दरडः (प्राजनः ।) बहुलग्रहणाद्युबलादौ च विकल्पः । प्रवेता । प्राजिता । प्रवेतुम् । प्राजितुम् । प्रवयणम् । प्राजनम् । अजिरमित्यौगादिकः शब्दः । समज्या । “समजनषद” [२।३।८१] इत्यादिना क्यप् । अत्र बहुलवचनान्न भवत्येव ।

जिण्यराजापार्श्वान्युबणिजोः ॥१४१३०॥ जिदन्तात् एयस्तात् राजविशेषवाचिवृद्धात् ऋष्यणन्ताच्च परयोरणिजोः यूनि उक्त् भवति । जितः-तिकस्यापत्यं वृद्धं तैकायनिः । तैकायनेरपत्यं प्राग्रोरण उपि तैकायनिः पिता तैकायनिः पुत्रः । विदस्यापत्यं वैदः । वैदस्यापत्यं युवा इज उपि वैदः पिता वैदः पुत्रः । एयः । कुरोरपत्यं कौरव्यः । “कुर्वादेर्ण्यः” [३।१।१३६] इति एयः । कौरव्यस्यापत्यं इज उपि कौरव्यः पुत्रोऽपि । इहोन्वचनसामर्थ्यात् कौरव्यशब्दादिज् । तिकादौ पाठात् फिजपि भवति । कौरव्यायणिरिति । राज्ञः स्वफलकस्यापत्यं स्वाफलकः । “कुर्वृष्यन्धकृष्येः” [३।१।१०३] इत्यण् । तदन्तादिज उपि स्वाफलकः पिता । स्वाफलकः पुत्रः । एवं कलिङ्गस्यापत्यं कालिङ्गः । “द्वयज्मगाधकलिङ्गपुरमसादण्” [३।१।१५२] इत्यण् । तदन्तादिज उपि कालिङ्गो युवाऽपि । इह पाञ्चालः पिता पाञ्चालः पुत्रः इति । “जितः” इति वा “राजः” इति वा उप् । अपार्शात् । वाशिष्ठस्थापत्यं “कुर्वृष्यन्धकृष्येः” [३।१।१०३] इत्यण् । वाशिष्ठः । तदन्तादिज उपि वाशिष्ठः पुत्रोऽपि । जिण्यराजापार्श्वदिति किम् ? कुहडस्यापत्यं कौहडः । “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यण् । तस्याप्यपत्यं कौहडिः । यूनिति किम् ? वामरथस्यापत्यं वामरथ्यः । “कुर्वादेर्ण्यः” [३।१।१३६] । तस्य शिष्या वामरथाः । वामरथ्यस्य “शकलादिवत्” इत्यतिदेशात् “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इति शैषिकोऽण् “क्यच्छ्यना” [४।४।१४१] इत्यादिना यत्वम् । अणिजोरिति किम् ? दक्षस्यापत्यं दाक्षिः । दाक्षेरपत्यं दान्नायणः ।

पैलादेः ॥१४१३१॥ पैलादेः परस्य युवत्यस्योव् भवति । पीलाया अपत्यं पैलः । “पीलाया वा” [३।१।१७७] इत्यण् । पैलस्यापत्यं “द्वयचोऽण्” [३।१।१४३] इति फिज् । तस्योप् । पैलः पुत्रोऽपि । अन्य इजन्तास्तेभ्यः परस्य फणः “प्राञ्चामिजोऽतौत्वलिभ्यः” [१।४।१३२] इति प्राप्ते उपि अप्रागर्थमिदम् । पैलः । सालङ्किः । सात्यकिः पिता । सात्यकिः पुत्रः । सात्यकामिः । औदङ्घ्रिः । बाह्वादिषु उदञ्चुशब्दः सनकारः पठ्यते । औदमञ्जिः । औदव्रजिः । औदमेषिः । औदशुद्धिः । दैवस्थानिः । पैङ्गलायनिः । राणायनिः । रोहृक्षितिः । भौलिङ्गिः । राजाऽयं शाल्वावयवः । सौमिनिः । औद्गार्हमानिः । औष्णिहानिः । औज्जहायिनिः । त्रिसंज्ञाच्चाणः परस्य युवत्यस्योप् । आङ्गः । “द्वयचोऽण्” इति फिज् । तस्योप् । आकृतिगणोऽयम् । तेन वौविजावालिऔदम्बरि एतेभ्यः शाल्वावयवत्वादिज् । भाडीजङ्घिः इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

प्राञ्चामिजोऽतौत्वलिभ्यः ॥१४१३२॥ प्राचां वृद्धे य इज् तदन्ताद्युक्त्यस्योव् भवति तौत्वलिप्रभृतीन् वर्जयित्वा । पाजागारिः पिता । पाजागारिः पुत्रः । मान्यरेषणिः पिता । मान्यरेषणिः पुत्रः ।

क्षैरकलम्भिः पिता । क्षैरकलम्भिः पुत्रः । “यजिनोः” [३।१।६०] इत्यस्य फण उप् । प्राचामिति किम् ? दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः । अतौत्वलिम्ब्य इति किम् ? तौत्वलिः पिता । तौत्वलायनः पुत्रः । तौत्वलिः । धारणिः । स्वालिम्पिः । दैलीपिः । दैवतिः । दैवमित्रिः । दैवमतिः । दैवयज्ञिः । प्राडाहनिः । मांघातकिः । आनुराहतिः । बाहादिरयम् । आनुतिः । आहिसिः । आसुरिः । नैमपिः । आसिबन्धकिः । वैङ्किषौषिः । पौष्करसादिः । अयं बाहादौ वैरकिः । वैलकिः (वैल्वकिः) । वैहतिः । वैकणिः । कारेणुपालिः ।

द्रेर्बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ॥१।४।१३३॥ द्रिसञ्ज्ञकस्य त्यस्य बहुषु वर्तमानस्य उच् भवति तेनैव द्रिसञ्ज्ञकेन कृतं बहुत्वं भवति अस्त्रियाम् । आङ्गः । आङ्गौः । अङ्गाः । ऐच्चाकः । ऐच्चाकौ । इच्चाकवः । अणः अणश्च द्विरित्यधिकारेण द्रिसञ्ज्ञा स्वार्थिकानामपि “ते द्वयः” [४।१।६] इति द्रिसञ्ज्ञा । लौहध्वज्यः । लौहध्वज्यौ । लोहध्वजाः । व्रैहिमत्यः । व्रैहिमत्यौ । व्रीहिमताः । “पूगाब्ज्योऽप्रागणीपूर्वात् [४।१।१] इति ज्यः । द्वन्द्वेऽपि सामान्येन द्रिसञ्ज्ञा कृते बहुत्वे भवति अङ्गवङ्गसुहाः । द्रेरिति किम् ? औपगवाः । बहुष्वाति किम् ? आङ्गः । आङ्गौ । तेनैवेति किम् ? प्रियो वाङ्ग एषामिति प्रियवाङ्गाः । अत्र वृत्त्या बहुत्वं गम्यते । अतोऽनुवर्ह्यान्तानामन्येषां च द्वन्द्वे तेनैव कृतं न बहुत्वमित्युम्न भवति । गार्ग्यशात्स्यौपगवाः । शापकादुबप्यत्र भवतीति केचित् । गर्गवत्सोपगवाः । किं शापकमिति चेत् “शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साप्रायणेषु” [३।१।१९] इति वचनम् । भार्गवशात्साप्रायणेष्विति निर्देशः स्यात् । उभयथाऽपि साधुः प्रयोगः । अस्त्रियामिति किम् ? आङ्गयः वाङ्गयः स्त्रियः ।

यस्कादिभ्यो वृद्धे ॥१।४।१३४॥ यस्क इत्येवमादिभ्यः परस्य वृद्धत्यस्य बहुषु वर्तमानस्योच् भवति अस्त्रियां तेनैव चेत् कृतं बहुत्वम् । उभयगतिरिह शास्त्रे लौकिकमपि वृद्धं गृह्यते तेनानन्तरापत्येऽप्युच् भवति । यास्कः । यास्कौ । यस्काः । “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यागतस्याण उप् । यस्क लुह्य द्रुह्य अयस्थूण नृणकृष्ण भस्मन्दन एतेषां शिवादिषु पाठः । कम्बलहार बहिर्योग कर्णाटक पर्णाटक सदापत्त पिएडीबड्ध बक्सकथ रत्नोमुख बङ्गारथ उत्कास कठुक मन्थक पुष्करसत् । अस्य “न गोपवनादेः” [१।४।३१८] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । विषपुष्ट उपरिमेवल्ल पदक भटक भडिल भरेडल एतेभ्यः “अरवादेः फञ्” [३।१।६६] इति फञ् । कुद्रि अर्भवस्ति विश्रि मिश्रयु एतेभ्यः “गृष्वादेः” [३।१।१२४] इति टण् । वृद्ध इति किम् ? यस्को देवता एषां यास्काः । बहुष्वात्येव । यास्कौ । तेनैव चेत्येव । प्रिययास्काः । अस्त्रियामित्येव । यास्क्यः ।

यजजोः ॥१।४।१३५॥ यजश्च अजश्च वृद्धे बहुषु वर्तमानस्योच् भवति तेनैव चेद्बहुत्वमस्त्रियाम् । गर्गाः । क्त्वाः । अजः । विदाः । ऊर्वाः । “विदादिभ्योऽनृष्यानन्तर्येऽज्” [३।१।६३] इति अज् । बहुष्वात्येव । गार्ग्यः । वैदः । तेनैवेत्येव । प्रियगार्ग्याः । वृत्त्याऽत्र बहुत्वं गम्यते । यत्र वृत्त्यैकत्वं गम्यते यथा बहुत्वं तत्रापि भवति । गर्गानतिक्रान्तः अतिगर्गः । अस्त्रियामित्येव । गार्ग्यः स्त्रियः । “यजः” [३।१।१३] इति ङीविधिः । “यस्य ङयाञ्च” [४।४।१३६] इति खम् । “हलो ह्रतो ङयाम्” [४।४।१४०] इति यकारस्य खम् । “यजादीनामेकत्वद्वित्वयोर्बां तासे इति चकथ्यम्” [वा०] गार्ग्यस्य कुलं गार्ग्यकुलम् । गर्गकुलम् । गार्ग्ययोः कुलं गार्ग्यकुलम् । गर्गकुलम् । वैदस्य कुलं वैदकुलम् । विदकुलम् । वैदयोः कुलं वैदकुलम् । विदकुलम् । न वक्तव्यं यदा यजादयो न श्रूयन्ते तदा मूलप्रकृतेस्तासः नियतविषयत्वात् शब्दानां तत उभयं सिध्यति ।

भृग्वन्निकुत्सवशिष्टगोतमाङ्गिरोभ्यः ॥१।४।१३६॥ वृद्ध इति वर्तते । भृग्नादिभ्यः परस्य वृद्धत्यस्य बहुष्वाभवति । भार्गवः । भार्गवौ । भृगवः । आत्रेयः । आत्रेयौ । अत्रयः । एवं कुत्साः वशिष्ठाः गौतमाः

अङ्गिरसः । अत्रिशब्दात् “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति ढण् । अन्येभ्य ऋष्यण् । बहुष्वित्येव । भार्गवः । आङ्गिरसः । तेनैवेत्येव प्रियभार्गवाः । अत्रिशामित्येव । भर्गव्यः स्त्रियः । वृद्ध इत्येव । भृगुर्देवता पषामिति भार्गवाः ।

इजो बह्वचः प्राच्यभरतेषु ॥१।४।१३०॥ बह्वचो मुदो य इज्त्तस्य प्राच्यभरतेषु वृद्धे बहुषूम्भवति । प्रान्नागारिः । पान्नागारी । पन्नागाराः । एवं मान्थरेषणिः । मान्थरेषणी । मन्थरेषणाः । बह्वच इति किम् ? पौष्यः । प्राच्यभरतेष्विति किम् ? वालाकयः । हास्तदासयः । ननु भरतः प्राच्य एव तेषां पृथग्रहणं किमर्थम् ? ज्ञापकार्यमन्यत्र प्राच्यग्रहणे भरतग्रहणं न भवतीति । तेन “प्राचामिजोऽतौष्वलिभ्यः” [१।४।१३२] इति अत्र भरतानां युवत्यस्योन्म भवति । यौधिष्ठिरिः पिता यौधिष्ठिरायणः पुत्रः । ननु युधिष्ठिरादिभ्य इजो न नास्ति “कुर्वृष्यन्धकवृष्णेः” [३।१।१०३] इत्याणा भवितव्यम् । इह तर्हि उन्म भवति औद्दालकः पिता औद्दालकायनः पुत्रः । अत्र “प्राचामिजोऽतौष्वलिभ्यः” इति युवत्यस्योऽप्रसज्येत । एतद्वि प्राच्यभरतगोत्रम् ।

न गोपवनादेः ॥१।४।१३०॥ विद्वान्तर्गणो गोपवनादिः । गोपवन इत्येवमादेः परस्य वृद्धत्यस्योऽन्म भवति । गोपवनस्यापत्यानि गोपवनाः । “यज्जोः” [१।४।१३५] इत्युःप्रातः । गोपवन शिश्रुविन्दु भाजन अश्ववतान श्यामक इयामक श्यापर्ण एते गोपवनादयः । प्राग्घरितशब्दात् परत उन्भवति । हरिताः । किंदासाः । तौल्वलिप्रभृत्तयोऽत्र पठ्यन्त इति केचत् । तौल्वलयः । अनन्तरेण उप्रातः ।

घोषकादिभ्यः ॥१।४।१३१॥ उपक इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य वृद्धत्यस्य वा बहुषूम्भवति । उपकस्यापत्यानि उपकाः । औपकायनाः । लमकाः । लामकायनाः । एतौ नडादी । भ्रष्टकाः । भ्राष्टकयः । कपिष्ठलाः । कपिष्ठलयः । कृष्णाजिनाः । कर्ष्णाजिनयः । कृष्णसुन्दराः । कर्ष्णसुन्दरथः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनैषामद्वन्द्वे विकल्पः । परिशिष्टानां द्वन्द्वं चाद्वन्द्वं च । सुपिष्ठ मयूरकर्णं कर्णकं पर्णकं पिङ्गलकं जटिलकं वधिरकं एतेषां शिवादिषु पाठः । अनुनीमप्रतिलोम एतौ बाह्वदी । वटारकं आडारकं अभुक्तकं [अबन्धक] उदकं सुपर्चकं सुवर्चकं सुवर्मकं खरीजड्धं शलाजड्धं शलायजं पतञ्जलकं मन्दकं कण्ठेरिणं कुशीतकं काशकृत्स्न निदाघं कलशीकण्ठं दामकरणं कृष्णपिङ्गलं जमुकं अविषकं कपिञ्जलकं प्रतानं अनभिहितं ।

तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे ॥१।४।१३०॥ वेति नानुवर्तते । कतिकितव इत्येवमादिभ्यो द्वन्द्वे वृद्धस्य बहुषूम् भवति । तैर्नायनयश्च कैतवायनयश्च तिरुक्तिवाः । तिकदिलन्तणस्य किञ् उप् । वाडलरयश्च भागडीकयश्च इज् उपि वङ्ग्लरभरडोरथाः । पाटकयश्च नारकयश्च पटकरकाः । वाकनलयश्च श्वागुदपरिणद्वयश्च वकनखरवगुदपरिणदाः । औन्नयश्च काकुभाश्च ककुभराब्दः शिवादिषु विदादिषु वास्ति उञ्जककुभाः । लाङ्कयश्च शान्तमुखयश्च लङ्कशान्तमुखाः । उरसशब्दस्तिकादौ । औरसायनयश्च लाङ्कटयश्च उरसलङ्कटाः । अग्निवेशशब्दो गर्गादौ । अग्निवेशश्च दाशेरकयश्च अग्निवेशदाशेरकाः । औपकायनाश्च लामकायनाश्च फण् उपि उपकलमङ्गः । भ्राष्टकयश्च कपिष्ठलयश्च भ्रष्टककपिष्ठलाः । कर्ष्णाजिनयश्च कर्ष्णौन्दरयश्च कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः ।

कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती ॥१।४।१४१॥ कौण्डिन्य आगस्त्य इत्येतयोर्वृद्धत्यस्य बहुषूम् भवति कुण्डिन अगस्ति इत्येतौ चादेशौ यथासङ्ख्यं भवतः । अगस्त्यशब्दात् ऋष्यण् । कुण्डमस्यास्तीति कुण्डिनी नाम काचित् गर्गादौ पठ्यते । कौण्डिन्यः । कौण्डिन्यौः । कुण्डिनाः । आगस्त्यः । आगस्त्यौः । अगस्त्यः । यद्यपि “यज्जोः” [१।४।१३५] इति यत्र उप् सिद्धस्तथापि कुण्डिनशब्दोऽकारान्त आदेशो विधीयमानो बाधकः स्यादिति पुनर्वचनम् । अगस्तीनां छात्रा आगस्तीया इत्यत्र अगस्तिरादेशो भवति । प्राग्द्रवीविषये “वृद्धेऽप्यनुप्” [३।१।७३] इति अनुपि सति “दोरङ्” [३।२।१०] इति छः सिद्धः । कौण्डिन्यशब्दाच्चस्य बाधकः “हाकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इति अण् भवति । कौण्डिनाश्छात्राः ।

सुपो धुमृवोः ॥११४१४२॥ धुमृदोरन्तस्वावयवस्य सुप उन्भवति । पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रीयति । पटीयति । मृदः—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः । धर्मं श्रितो धर्मश्रितः । “तदन्ता भवः” [२।१।२६] इति धुसंज्ञायां “कृद्घस्साः” [१।१।६] मृतसंज्ञायां च सुप उप् । एवं तस्मात्ततः । तस्मिन् तत्र । धुमृदोरिति किम् ? वृद्धः । अत्र “कृद्घस्साः” इति नियमात् विभक्त्या मृतसञ्ज्ञा नास्ति ।

शपोऽदादिभ्यः ॥११४१४३॥ अदादिभ्यो धुभ्यः परस्य शप उन्भवति । श्रति । हन्ति । दोग्धि ।

यङोऽचि ॥११४१४४॥ यङ् उन्भवति अचि परतः । लोलूय पोपूय मरीमृज्य इत्येतेभ्यः पचाद्यचि लोलुवः पोपुवः मरीमृजः । “न धुल्लेऽने” [१।१।१८] इति एवैपोः प्रतिषेधः । “यङो वा” [५।२।६२] इत्यत्र वक्ष्यत्यविशेषेण यङ् उव् भवति । तेन वावदीति इत्येवमादि सिध्यति ।

उज्जुहोत्यादिभ्यः ॥११४१४५॥ शप इति वर्तते । जुहोत्यादिभ्यः परस्य शप उन्भवति । शुहोति । नेनेक्ति । विभर्ति । उन्निति वर्तमाने उज्जग्रहणं द्विलाद्यर्थम् ।

स्थेण्विबभुभूभ्यः सेर्मे ॥११४१४६॥ स्या इण् पिब भुसंज्ञक भू इत्येवमादिभ्यः परस्य से-रुन्भवति मे परतः । अस्थात् । अस्थाताम् । अस्थुः । “आतः” [२।४।६०] इति भेजुंस् । अगात् । इ इणिति प्रश्नोपनिर्देशात् इकोऽपि ग्रहणम् । अर्थागात् । अपात् । पिब इति विकृतनिर्देशात् शोषणार्थस्य निवृत्तिः । प्रतिपदोक्तपरिभाषा चानित्या । तेन “गामादाग्रहणेऽविविशेषः” [५०] इतीदं लब्धम् । भु इति संज्ञानिर्देशः “दाधा भ्वपित्” [१।१।२७] इति । अदात् । अदाताम् । अदुः । भु इति भवतेरस्यादेशस्य च ग्रहणम् । अभूत् । “सुभवत्योर्मिङ्” [५।२।८६] इत्येप्रतिषेधः । म इति किम् ? उपास्थिषाताम् । उपास्थिषत । “उपान्मन्त्रकरणे” [१।२।२०] “धेः” [१।२।२१] इति दविधिः । “सुस्वोरिः” [१।१।६१] इत्याकारत्येवं सेः क्लृप्तम् ।

वा घ्राघेट्छाशासः ॥११४१४७॥ घ्रा घेट् छा शा सा इत्येतेभ्यः परस्य सेर्वा उन्भवति मे परतः । अघ्रात् । अनुप् पदे “यमरमनमातः सकृ च [५।१।१३२] इति सगितौ भवतः । “हृष्यस्तेः” [५।२।६३] इतीट् । “हृटीटः” [४।४।२०] इति सेः खम् । अघ्रात् । अघ्रासीत् । अघ्रात् । अघ्रासीत् । अदघत् । अञ्छात् । अञ्छावीत् । न्यशात् । न्यशासीत् । असात् । असासीत् । घेटो भुसंज्ञालात् पूर्वेण प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते विकल्पः । म इत्येव । अघ्रासाताम् । अघ्रासत । “स्तुसुधूजो मे” [२।१।१३१] इत्यधिकाराद्दे सगितौ न भवतः ।

तनादिभ्यस्तथासोः ॥११४१४८॥ तनादिभ्य उत्तरस्य सेर्वा उन्भवति तथासोः परतः । थासा सहचरितो दसंज्ञस्तो गृह्यते । अतत । अतनिष्ठ । उपपदे “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना ऋक्त् । अतथाः । अतनिष्ठाः । षण् । असात । असनिष्ठ । उपपदे “जनसनकनाम्” [४।४।४३] इत्यात्मम् । असाथाः । असनिष्ठाः ।

आमः ॥११४१४९॥ आम उत्तरस्य संभवात्कारणकारणस्योव् भवति । ईहांचक्रे । ईंछाञ्चक्रे । लकारस्य कृत्वात् मृत्वे सति स्वाद्युत्पत्तिः । “सुपो केः” [१।४।१५०] इति सुप उप् । आमन्तस्य पदसंज्ञा । “वा पदान्तस्य” [२।४।१३३] इत्येतत् प्रयोजनम् ।

सुपो केः ॥११४१५०॥ भिसंज्ञादुत्तरस्य सुप उन्भवति । च वा अह कृत्वा कर्तुम् । इदमेव शप-कम् । असंख्यादपि सुपो भवन्ति । यदि वा “कर्मणीप्” [१।४।२] इत्येवमादिषु अर्थनियमपदे विभक्त्रीनामनियतत्वात् भिसंज्ञेभ्योऽप्युत्पत्तिः ।

हात् ॥११४१५१॥ हसादुत्तरस्य सुप उन्भवति । अधिल्लि । अधिकुमारि । हसस्य भिसंज्ञा नास्ती-त्युक्तं तेनायमारम्भः ।

नातोऽम् त्वक्तायाः ॥११४१५२॥ हसस्य संख्यायोगात् कर्मादियोगाच्च सर्वासां विभक्त्रीनां सम्भवः ।

हादकारान्तात् परस्य सुप उन्न भवति । अमादेशस्तु भवति सुपः कां विभक्तौ वर्जयित्वा । उपकुम्भं तिष्ठति । उपकुम्भं पश्य । उपकुम्भं देहि । अत इति किम् ? उपाग्नि । अकाया इति किम् । उपकुम्भादानय ।

ईन्मयोर्विभाषा ॥११४१५३॥ ईप् भा इत्येतयोर्विभाषा अमादेशो भवति । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भेन कृतम् । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भाम्यां कृतम् । उपकुम्भं निधेहि । उपकुम्भे निधेहि । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन अद्विनदीसंख्यावयवेभ्यो नित्यममादेशः । ऋद्धौ । सुमद्रं कृतम् । सुमगधं कृतम् । नदीसे—“नदीभिरश्च” [११३१७] इति हसः । उन्मत्तगङ्गम् । द्वियमुनम् । संख्यावयवः—“संख्या वंशयेन” [११३१६] इति हसः । द्विकौशलम् । त्रिकौशलम् । एकविंशति भारद्वाजम् ।

लुटोऽन्यस्य डारौरसः ॥११४१५४॥ लुटोऽन्यसंज्ञस्य त्रिकस्य डा रौ रस् इत्येते आदेशा भवन्ति । अर्थद्वारकमत्र यथासंख्यम् । श्रोता । श्रोतारौ । श्रोतारः । अध्येता । अध्येतारौ । अध्येतारः । डा इत्यन्तादेशः । डा आ इति प्रश्लेषनिर्देशाद्दानेकाल् सर्वादेशः । डित्यभस्यापि डिकरणसामर्थ्याद्विखम् । रौरसोः परतः “रि” [५२१५३] इति सखम् ।

इत्यभयनन्दिमुनिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

अध्यायश्च समाप्तः ।

द्वितीयोऽध्यायः

त्यः ॥२१११॥ अधिकारेण संज्ञेयमा कपः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः अपूर्वं शब्दोपजननं प्रकृतिवाग्विशेषणविकारागमवर्जं यत् त्यसंज्ञं तद वेदितव्यम् । प्रकृतिर्गुपादिः । वाक् “कर्मण्यण्” [२१२११] इत्येवमादावीपा निर्दिष्टम् । विशेषणं “दृतिनाथयोः पशौ ह्रजः” [२१२३०] इत्येवमादौ पश्वादि । विकारः सतो भवान्तरावाप्तिः । “बुहो घश्च” [२१२१६] इत्येवमादिषु घकारादिः । आगमः परतन्त्रः । “अपुजतुनोः शुक्” [३३१०६] इत्येवमादिः । युक्तिरुच्यते निर्मित्ति कार्यञ्च निमित्तिस्येति प्रकृतिवागुपाधीनामग्रहणम् । अथवा भाव्यमानविभक्तीनिर्दिष्टं सन्नादि प्रधानं भूतविभक्तीनिर्दिष्टं प्रकृत्याद्यप्रधानं प्रधाने च कार्यसम्प्रत्ययः । विकारागमयोस्तु “परः” [२११२] इत्यनेन निरासः; नहि तयोः परत्वसम्भवः । वक्ष्यति तव्यानीयौ । कर्तव्यः । करणीयः । प्रतियन्ति तेनार्थमिति प्रत्ययः । “पुंशौघः प्रायेण” [२१३१००] इति घः । एवं यद्यन्वर्था संज्ञा क्रियेत तदा प्रकृतेः सविभक्तिकस्य वा पदस्य त्यसंज्ञा स्यात् । त्यप्रदेशाः “यस्ये तदादि गुः” [१२११०२] इत्येवमादयः ।

परः ॥२११२॥ परिभाषेयं नियमार्था । पर एव भवति धोमृदो वा यस्त्यसंज्ञः । कर्तव्यः । करणीयः । औपगवः । धोरित्येवमादौ दिग्योगलक्षणकानिर्देशोऽपि पूर्वशब्दस्याध्याहारः स्यादिति परत्वं न लभ्यते “ईष्केत्यभ्यवाये पूर्वपरयोः” [१११६०] इत्यत्र यदि कार्यं परमुच्यते तत्तानिर्दिष्टस्येति । न च सनादयस्तानिर्दिष्टाः । अथासतः प्रादुर्भावः पर उच्यते एवं सति नियमार्थमिदं त्यपरैव प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवला ।

गुप्तिज्किद्वभ्यः सन् ॥२११३॥ त्य इति वर्तते । गुप् तिञ् कित् इत्येतेभ्यः परः सन् भवति । जुगुप्सते । तितित्तते । चिकित्सति । धुसंशब्दनेनाविधानात् अगसंज्ञा नास्ति । तेन^२ नैडागमः । “निम्दाक्षमारो-गापनयेषु यथाक्रमे सन्निष्यते” [वा०] । गोपननिशाननिवासादिषु न भवति । गोपनं गोपायति । तैज्जं तैजयति । निकेतनं निकेतयति । भुवादिषु पाठः किमर्थः ? “अस्त्यात्” [२१३५५] इत्यकारो यथा स्यात्^३ ।

१. निद्विह-अ०, ब०, स० । २.-स्तीति ने-अ० । ३. जुगुप्स तितिञ् चिकित्सेत्यादीनां भवादिषु पृथक् पाठाकारवाद्यं न-संज्ञा-संज्ञमित्याहायः कथञ्चिदुन्नेयः ।

जुगुप्सा । तितिच्चा । चिकित्सा । सनोऽकारोपदेशः प्रतीषिषतीत्यादौ श्रवणार्थः ।

“एकदेशकृतं लिङ्गं समुदायविशेषणम् । अनुदानेत्वमाद्याभ्यां तेनायं दो विधीयते ।”

मान्बधदानशान्भ्यो दीश्चस्य ॥२।१।४॥ मान् बध दान शान् इत्येतेभ्यः सन् भवति दीश्च चस्ये-
कारस्य । मीमांसते । ग्रीभत्सते । दीदांसते । शीशांसति । शीशांसते । आद्यावनुदात्तेतौ । परौ स्वरितेतौ ।
“चविकारेऽवपवादा उत्सर्गाच्च बाधन्ते” [प०] इति कृतेकारस्य चस्य दीत्वम् । अत्रापि “जिज्ञासावैरूप्यार्जव-
निज्ञानेषु यथाक्रमं सन्नियते” [वा०] । पूजाबधनावखण्डनतेजनेषु न भवति । मानयति । बाधयति । दानयति ।
निशानयति । दान उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषा । तदवलोकनादयं विभागः ।

तुमीच्छायां धोर्वांप् ॥२।१।५॥ इच्छायां तुमि यो धुस्तस्मात् सन् वा भवति तुमश्चोऽभवति यदा
सन् । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति । जुमुन्ते । अयं 'हीच्छायां तुम् विहितः । हेतुफलयोरित्यधिकृत्य “इच्छार्थं
लिङ्गोदौ” [२।३।१३३] “तुमेककर्तृके” [२।३।१३४] इति वचनात् । इहापि सामान्यविशेषभावेन हेतुफल-
भावोऽस्ति । एषितुमिच्छति एषिषिषति । तुमिति किम् ? इच्छायामित्युच्यमाने इच्छार्थानामिषिवाच्छायादीनां
ग्रहणं स्यात् । तुमग्रहणे सति इच्छायामित्येतत्तुमो विशेषणम् । इच्छायामुपलक्षिते तुमीति । तेन यत्र तुमो
निमित्तं हेतुफलभावो नास्ति तत्र न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । भिन्नकर्तृकत्वे च न भवति । इच्छति
देवदत्तः कटं कुर्याजिनदत्तः । यत्र तुम् नास्ति तत्र च न भवति । इच्छायामिति किम् ? कर्तुं गच्छति । अत्र
“बुधतुमौ क्रियार्था तदर्थायाम्” [२।३।८] इति तुम् । धोरिति किम् ? प्रकर्तुमैच्छत् प्राचिकीर्षत् । सगेत्य-
त्तिर्मा भूत् । अगसंज्ञार्थं च धुग्रहणम् । वाग्रहणाद्वाक्यस्यापि साधुत्वम् । इहोपचारात् सिद्धम् । पिपतिषतीव
पिपतिषति कूलम् । मुमूर्षतीव मुमूर्षति श्वा । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेच्छासन्नन्तात् सन्न भवति । चिकी-
र्षितुमिच्छति । अनिच्छासन्नन्ताद्भवति । जुजुगुप्सिषते ।

“मत्त्वर्थाच्छैबिकारुचापि मत्त्वर्थः शैबिकस्तथा । सरूपत्यविधिर्नेष्टः सन्नन्तान्न सन्नियते ॥”

स्वेपः क्यच् ॥२।१।६॥ स्वस्य यदिवन्तं तस्मादिच्छायां वा क्यञ् भवति । आत्मनः पुत्रमिच्छति
पुत्रीयति । पटीयति । ककारो “नः क्ये” [१।२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः । चकारः सामान्यग्रहणाविधा-
तार्थः । तेन “एकानुबन्धग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य” [प०] इत्ययं विधातो नास्ति । स्वग्रहणं किम् ? पुत्रमिच्छति
ब्रह्मचारी मरणमिच्छति दुर्जनः । अत्र परस्येति गम्यते । इविति किम् ? पुत्र इच्छति । पुत्राय इच्छति ।
वाक्यात् कस्मान्न भवति । महान्तं पुत्रमिच्छति वाक्यस्यानिवन्तत्वात् । अवयवात्सामर्थ्याच्च भवति । कर्मोक्त-
मत्र क्यचा तेन कर्त्तरि भावे च प्रयोगः । पुत्रीयति । पुत्रीयते अनेन । वेत्यनुवृत्तेर्भिन्मन्तेभ्यो न भवति ।
उच्चैरिच्छति । इदमिच्छति । किमिच्छति ।

काम्यः ॥२।१।७॥ स्वस्य यदिवन्तं तस्माद्वा काम्यो भवतीच्छायाम् । पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रकाम्यति ।
पटकाम्यति । ककारस्य प्रयोगार्हत्वादित्संज्ञा नास्ति । योगविभागादुत्तरत्र क्यच्च एवानुवृत्तिर्न काम्यस्य ।

गौणादाचारे ॥२।१।८॥ गौणममुख्यमाचरणक्रियायामुपमानमित्यर्थः । गौणादिवन्तादाचारेऽर्थे वा
क्यञ् भवति । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम् । प्रावारीषति कम्बलम् । व्यवस्थितविभाषाधिकारादीप्यपि
भवति । प्रासादीयति कुट्ये ।

कर्तुः क्यञ् सखं विभाषा ॥२।१।९॥ कर्तुं गौणादाचारेऽर्थे वा क्यञ् भवति यद्यन्ते सकार-
स्तस्य च खं विभाषया । इह कर्तुं ग्रहणादिम्न सम्भवति सुवन्तात् क्यञ् । श्येन इव आचरति काकः श्येना-
यते । कुमुदं पुष्करायते । व्यवस्थितविभाषेयम् । “जोजोऽप्सरसोर्निस्थं पयसस्तु विभाषया सखम्” [वा०] ।

१. यदीच्छा—अ० । २. पा० भाष्ये—“शैबिकान्मतुबर्धीयाच्छैबिको मतुबर्धिकः । सरूपः प्रत्ययो
नेष्टः सन्नन्तान्न सन्नियते ॥” इत्येवंरूपः ।

ओजस्वीवाचरति ओजायते । वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यङोक्तः । अप्सरायते । मथितं पथायते पयस्यते । अस-
खपद्धे “नः क्ये” [११२।१०४] इति नियमात् पदत्वाभावे रिखादिविधर्नं भवति । कर्त्तुरिति सखापेक्षया
तथा विपरिणम्यते तेनान्यस्य खम् । इह न भवति । सारसायते । “आचारे सर्वमृद्भ्यः क्तिवा भवतीत्येके”
[वा०] अश्च इवाचरति अश्चति । अश्चायते ।

भृशादेश्चौ हलो भुचि ॥२।१।१०॥ कर्त्तुरिति वर्तते । भृश इत्येवमादिभ्यः च्यर्थे वर्तमा-
नेभ्यो भवत्यर्थे वा क्यङ् भवति यद्यन्ते हल् तस्य^१ च नित्यं खम् । त्विर्विकल्पेन विधीयते । यत्र नोत्पद्यते
तत्रायं क्यङ् । अभृशो भृशो भवति भृशायते । भृश शीघ्र चपल परिणत उत्सुक । नात्र गेर्बहिर्भावः । उन्म-
नस् सुमनस् दुर्मनस् अभिमनस् । संग्राम युद्ध इति शापकादुदादीनामडागमादिषु बहिर्भावः । रेहत् वेहत्
शश्वत् तृपत् वर्चस् ओजस् आण्डर शुचि मन्द नील मद्र फेन हरित ।

डाजलोहितात् क्यष् ॥२।१।११॥ डाजन्ताल्लोहितशब्दाच्च च्यर्थाद्भवत्यर्थे वा क्यष् भवति ।
च्यर्थग्रहणं लोहितस्य विशेषणं न डाजन्तस्याव्यभिचारत् । पटपटायति । पटपटायते । यदा न क्यष् तदा
पटपटाभवतीति प्रयोगः । अलोहितो लोहितो भवति लोहितायति । लोहितायते । एवं हि “नः क्ये”
[११२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः ककारः शोभेत यदि चर्मादिभ्योऽपि स्यात् । चर्मायति । चर्मायते ।
निद्रायति । निद्रायते । कर्णायति । कर्णायते । कृपायति । कृपायते । वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यषाऽभिहितः ।

कषाय ॥२।१।१२॥ क्यङ् अनुवर्तते । कषायेति तादर्थ्यं अप् । कषाय ये शब्दा वर्तन्ते तेभ्यः क्यङ्
भवति । कषार्थादिति वक्तव्यम् । अबन्तनिर्देशः समर्थविभक्त्युपादानार्थः । अभिधानवशात् क्रमणोऽनार्जवे
क्यङ् द्रष्टव्यः । यथा “नमोवरिविभ्रण्डः क्यच्” [२।१।१६] इत्यत्र पूजाद्यर्थनियमः । कषाय कर्मणे क्रामति
कषायते । अनार्जवं पापं करोतीत्यर्थः । सत्राय कर्मणे क्रामति सत्रायते । कक्षायते । गहनायते । अनार्जव इति
किम् ? अजः कष्टं क्रामति । नात्र पापं गम्यते ।

वाष्पोष्मफेनादुद्धमे ॥२।१।१३॥ इष इति वर्तते । वाष्प ऊष्मन् फेन इत्येतेभ्यः उद्धम इत्यर्थे क्यङ्
भवति । वाष्पमुद्धमति वाष्पायते । ऊष्माणमुद्धमति ऊष्मायते । फेनायते ।

रोमन्थतपःशब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघात् कृञि ॥२।१।१४॥ रोमन्थ तपस् शब्द वैर कलह
अभ्र कण्व मेघ इत्येतेभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् भवति । रोमन्थं करोति रोमन्थायते गौः । अत्र करोतिः क्रिया-
सामान्ये वर्तमानोऽपि अभ्यवहृतचर्चरणक्रियायां गृह्यते । तेनेह न भवति । कीटको रोमन्थं वर्तयति । “तपसो
मञ्जेति वक्तव्यम्” [वा०] तपः करोति तपस्यति । तपश्चरतीत्यर्थः । शब्दं करोति शब्दायते । वैरायते । कल-
हायते । अभ्रायते । कण्वायते । पापं करोतीत्यर्थः । मेघायते । तत्करोतीत्यस्मिन्नर्थे णिजपि भवति । शब्दयति ।
वैरयति । “सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] सुिनायते । दुर्दिनायते । नीहारायते । “अटाट्टाङ्गी-
काकोटापोटासोटाप्रुष्टाभ्योऽपीति केचित् ।” [वा०] अटायते । अटायते । शीकायते । कोटायते । पोटायते ।
सोटायते । प्रुष्टायते ।

सुखादेः स्वभोगे ॥२।१।१५॥ भोगोऽनुभवो वेदना वा । सुख इत्येवमादिभ्य इबन्तेभ्यः स्वभोगे
क्यङ् भवति । सुखमात्मनः करोति सुखायते । सुखं भुङ्क्ते अनुभवति वेदयतीत्यनर्थान्तरम् । एवं दुःखायते ।
सुख दुःख तृप्त कृच्छ्र अस्र अलीक कर्ण कृपण सोढ प्रतीप । स्वभोग इति किम् ? सुखं करोति प्रसाधको
देवदत्तस्य ।

१. तस्य नित्यं खम् अ०, स०, मु० । २. कण्ठ अ०, ब०, स० । ३. कण्ठ अ०, ब०, स० ।

४. कण्ठायते अ०, ब०, स० ।

नमोवरिवश्चित्रकः क्यच् ॥२।१।१६॥ कृञीति वर्तते । नमस् वरिवस् चित्रङ् इत्येतेभ्यः क्यञ् भवति करोत्यर्थे । पूजापरिचर्याश्रयविशेषे । नमः करोति नमस्यति देवान् । अत्र नमःशब्दस्यानर्थकत्वात्तद्योगे नाब् भवति । वरिवः करोति वरिवस्यति गुरुन् । चित्रङ् करोति चित्रीयते । डित्वाद्ः । पूजादिभ्योऽन्यत्र नमः करोतीति भवति ।

पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ् ॥२।१।१७॥ पुच्छ् भाण्ड चीवर इत्येतेभ्य इवन्तेभ्यो णिङ् भवति करोत्यर्थविशेषे । कोऽसौ विशेषः । “पुच्छादुदसने पयंसने वा” [वा०] उत्पुच्छयते । परिपुच्छयते । “भाण्डास्त्यञ्चयने परिचयने वा” [वा०] संभाण्डयते परिभाण्डयते । “चीवरादर्जने परिधाने वा” [वा०] संचीवरयते भिद्भुः । णकारः “णाविष्टवम्भृदः” [४।४।१४४] इत्यत्र सामान्यग्रहणाविधातार्थः । अर्थविशेषादन्यत्र णिजेव भवति ।

मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततृस्तेभ्यो णिच् ॥२।१।१८॥ मुण्ड इत्येवमादिभ्य इवन्तेभ्यो णिच् भवति करोत्यर्थे । चुरादिषु “भृदो ध्वर्थे” इति णिचि सिद्धे अर्थविशेषपरिग्रहार्थमिदम् । च्यर्थे वायामिति केचित् । अमुण्डं मुण्डं करोति मुण्डयति । मिश्रयति । श्लक्ष्णयति । लवणयति । “व्रताङ्गोष्णे तन्निवृत्तौ च” [वा०] पयो व्रतयति । पयो भुङ्क्ते इत्यर्थः । सावद्यं व्रतयति । सावद्यं न भुङ्क्ते इत्यर्थः । “वस्त्रात् समाच्छादने” [वा०] वस्त्रेण संच्छादयति संवस्त्रयति । हलिं गृह्णाति हलयति । कलिं गृह्णाति कलयति । “हलिकल्पोरकारान्तता णिच्चा योगे निपात्यते” [वा०] “वौ कच्यनक्खे सन्वत्” [१।२।१८६] इति सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम् । कलिं गृहीतवानचकलत् । अजहलत् । अन्यथा परत्वादपि कृते टिलं स्यात् ततः सन्वद्भावः प्रसज्येत । यथा अलीलघत् अपीपटत् इति । कृतं गृह्णाति कृतयति । तूस्तानि केशजटाः विहन्ति वितूस्तयति ।

धोर्यङ् क्रियासमभिहारे ॥२।१।१९॥ पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः । धोर्यङ् भवति क्रियासमभिहारे । पुनः पुनः पचति भृशं वा पापच्यते । बोभुष्यते । क्रियान्तरैरव्यवहितयाः प्रधानभूतविकले-दनक्रियायाः पुनः पुनरारम्भः पौनःपुन्यम् । गुणभूताधिभ्रयणादिक्रियाणां क्रियान्तरैरव्यवहितानां साकल्पेन करणं भृशार्थता । सूत्रिसूत्रिमूच्यत्वर्थशूणोतीनां ग्रहणं नियमार्थं कर्त्तव्यम् । सोसूच्यते । सोसूच्यते । मोमूच्यते । अनेकाज्य एव नान्यस्मात् । अत्यर्थं जागर्तीति । अटाय्यते । अरायते । “यङ्” [१।२।१९६] इत्येप् । अत्यर्थमश्नुते अशाशयते । प्रोणोन्त्यते । अद्यादिग्रहणं किमर्थम् ? अन्यस्मादजादेमां भूत् । भृशमीक्षते । पुनः पुनरीहते । क्रियासमभिहारे सर्वस्य द्वित्वे वेति विभाषानुवर्तते । तेन यङन्तस्य द्वित्वं न भवति । तत एव क्रियासमभिहारे यो लोट् तदन्तस्य भवति । लोलूयस्व लोलूयस्व इत्येवायं लोलूयते । धोरिति किम् ? समोक्तपत्तिर्मा भूत् । अगसंज्ञार्थं च धुग्रहणम् । पेपीयते । “शुभिरुचिभ्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । अत्यर्थं शोभते । अत्यर्थं रोचते ।

नित्यं गतिविशेषे ॥२।१।२०॥ नित्यं यङ् भवति गतिविशेषे गम्यमाने । चङ्क्रम्यते । दन्द्रम्यते । आवनीत्रच्यते । गतिविशेषो हि यङन्तावच्यः । तेनास्वपदेनार्थमात्रकथनमिदं कुटिलं क्रामतीति । नित्यग्रहणं तु विषयनियमार्थम् । एतयोर्योग्योर्गतिविशेष एव गहं व च यङ् यथा स्यात् क्रियासमभिहारे मा भूत् । भृशं क्रामति । भृशं लुम्पति ।

लुपसदचरजपजभदहृदशो गहं ॥२।१।२१॥ लुपादिभ्यो गहं गम्यमाने नित्यं यङ् भवति । प्रत्यासत्तेर्ध्वर्थस्य गहं गह्यते न साधनस्य । अनर्थकं लुम्पति लोलुप्यते । सासद्यते । चञ्चूर्यते । चञ्चम्यते । दन्दह्यते । निजेगित्यते । द-दश्यते । दशोः कृतनलस्य निर्देशाद्यङ्पि खं भवतीति केचित् । दंशतीति । तदयुक्तं सोत्रत्वान्निर्देशश्च । गहं इति किम् ? सुखं सीदति स्वपदे ।

पाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादेर्णिच् ॥२१।२२॥ पाशरूपवीणा-
तूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यश्च णिञ् भवति । चुरादौ “मृदो ध्वर्थ” इति सिद्धेऽपि अर्थ-
विशेषपरिग्रहार्थं पाशादेः पृथग्रहणम् । “पाशाद्विमोचने” [वा०] पाशं विमोचयति त्रिपशयति । “रूपादर्शने
[वा०] रूपं दर्शयति रूपयति । वीणया उपगायति उपवीणयति । तूलैरनुकुष्णाति अनुतूलयति । श्लोकै-
रुपस्तौति उपश्लोकयति । सेनया अभियाति अभिषेणयति । लोमान्यनुमार्ष्टि अनुलोमयति । त्वचं गृह्णाति
त्वचयति । त्वच इति अकारान्तनिपातनात् “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।२७] इत्यखस्य स्थानिवद्भावात्
“उङोऽतः” [१।२।४] इत्यैम्न भवति । वर्मणा संनहति संवर्मयति । वर्णान् गृह्णाति वर्णयति । चूर्णैरव-
किरति अवध्वंसयति वा अवचूर्णयति । चुरादिभ्यः-चोरयति । मन्त्रयते ।

आ चार्थवेदसत्यानाम् ॥२१।२३॥ अर्थ वेद सत्य इत्येतेषां आकारश्चान्तादेशो भवति णिच् ।
अर्थमाचष्टे अर्थापयति । वेदापयति । सत्यापयति ।

हेतुमति ॥२१।२४॥ हेतुस्तद्योजकः । हेतुमति ध्वर्थेऽभिधेये णिञ् भवति अन्येषां दर्शनं प्रयोज-
कस्यापारः प्रेषणाध्येषणरूपो हेतुमान् तस्मिन्नाभिधेये णिञ् भवति । कटं कारयति । ओदनं पाचयति ।
अत्र वाग्विसर्गो हेतुव्यापारः । क्वचित् समर्थाचरणम् । यथा भिक्षा वासयति । कारीषोऽग्निरध्यापयति ।
“आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति कृदुपप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति” [वा०] आख्यायते यत्तदाख्यातं
तस्मात् कृदन्तात् आचष्ट इत्यस्मिन्नर्थे णिञ् वक्तव्यः कृदुपप्रकृतिप्रत्यःपत्तिः, प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्त-
व्यम् । कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति । वलिबन्धमाचष्टे बलिं बन्धयति । राजागममाचष्टे राजानमागमयति ।
“आख्यानशब्दात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] आख्यानमाचष्टे इति वाक्यमेव भवति । मृगरमणमाचष्टे मृगान्
रमयति । यदा ग्रामे मृगरमणमाचष्टे तदा नेष्यते । “आङ्निवृत्तिश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्” [वा०]
कृदन्तात् णिच् तदाचष्टे इति कृदुपप्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति वर्तते । आरान्निविवासमाचष्टे रात्रिं
विवासयति । “चित्रीकरणे च प्राप्स्यर्थे णिच् वक्तव्यः” [वा०] उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं
सम्भावयति सूर्यमुद्गमयति । “नक्षत्रयोगे ज्ञार्थे” [वा०] पुष्येण योगं जानाति पुष्येण योजयति । चन्द्रमसा
मघाभिर्योगं जानाति मघाभिर्योजयति । नेदं बहु वक्तव्यमत्रापि कथञ्चिद्धेतुव्यापारोऽस्ति बहुलग्रहणाद्वा सिद्धम् ।

कण्ड्वादेर्यक् ॥२१।२५॥ कण्डूञ् इत्येवमादिभ्यो यक् भवति । यकः किंकरणं एपप्रतिषेधार्थं
ज्ञापकमिह कण्ड्वादयो धवो गृह्यन्ते न मृदूपाणि (मृदूपाः) । कण्डूञ्ङ्गीङ्गादिषु दीत्वोच्चारणं ज्ञापकं विकल्पेन
धुरूपातैषामन्यथा “दोरकृद् गे” [१।२।१३४] इति दीत्वेनाप्येतत्सिद्धयेत । तेन मृत्पदे कण्डुः मन्तुः वल्गुः
इत्यादिप्रयोगा ज्ञातव्याः । कण्डूयति । कण्डूयते । कण्डूतिः । मन्तूयति । कण्डूञ् मन्तु वल्गु असङ्ङ्ङ्गीङ्
महीङ् वेङ्लीङ् । ङकारो दावध्यर्थः । इयस् इरस् तिरस् मगधस् पम्पस् कुपुभ उपस् तन्तस् सुख दुःख
भिषञ् भिभुञ् अरर चुरण् तुरण् तरण् सरण् (चरण्) सपर इषुध इषुभ गद्गद एला वेला केला खेला
लेद् लोट् उरस् । अकारान्तानाम् अतः खम् ।

गुपूधूपविच्छिपणिपनेरायः ॥२१।२६॥ गुपू धूप विच्छिपणि पनि इत्येतेभ्यो धुम्य आयो भवति ।
गोपायति । धूपायति । विच्छेरन्तरङ्गत्वात्तुकि कृते आयः । विच्छायति । अनुदात्तेत्वं केवले चरितार्थमिति दो
न भवति । गुपादिभर्भौवादिकैः साहचर्यात्पयोर्भौवादिकस्य ग्रहणं न तौदादिकस्य । शतस्य पण्यते । “व्यवहृपयोः
सामर्थ्ये” [१।४।६४] इति कर्मणि ता । पनिरिहैव पणिना समानार्थः उपदिश्यते । पनायति ।

वाऽगे ॥२१।२७॥ अगविषये गुपादिभ्यो वा आयो भवति । गोपायिता । गोता । गोपायांचकार ।
जुगोप । गोपाया । गुतिः । इत्येवमादि योज्यम् ।

कमृत्योर्णिङोयङ् ॥२।१।२८॥ सूत्रवात्कायाः स्थाने ता कृता । कमृ ऋति इत्येताभ्यां णिङ् ईयङ् इत्येतौ त्र्यौ भवतः । कामयते । णकारः ऐवर्थः । “न कम्यमिचमाम्” इत्यत्र कमेर्मित्संज्ञाप्रतिषेधः किमर्थः ? “जिखमोर्दींमिताम्” [४।४।८६] इति वा प्रादेशो मा भूदित्येवमर्थः । अकामि । कामं कामम् । “वाऽगे” [२।१।२७] इति णिङोऽनुत्पत्तौ णिङ्निमित्तस्यैपः प्रादेशनिवृत्त्यर्थश्च । ङकारो दविध्यर्थः । ङिङ्तीत्येप्रतिषेधार्थं न भवति इकस्तत्रानुवृत्तेः । ऋतिरिहैव घृणार्थमुपदिश्यते ऋतीयते । वाऽग इति च वर्तते । तेन कमिता । कामयिता । अर्तिता । ऋतीयिता ।

तदन्ता धवः ॥२।१।२९॥ येऽनुक्रान्ताः सनादयस्ते अन्ता येषां ते धुसञ्चका भवन्ति । तथा चैवो-दाहृतम् । पदसंज्ञायामन्तग्रहणं नियमार्थमुक्तम् । अन्यत्र “संज्ञाविधौ त्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” [प०] इति एष प्रतिषेधो मा भूदित्यन्तग्रहणम् ।

स्यतासी लृलुटोः ॥२।१।३०॥ लृ इति लृङ्लृटोः सामान्येन ग्रहणम् । धोः स्यतासी इत्येतौ मध्ये त्र्यौ भवतः लृलुटोः परतः । शब्दपेक्षमत्र यथासंख्यम् । धोरधिकारात् पूर्वभक्ततानिवृत्तिः । अग्रा संज्ञा च । भावकर्मकर्तृषु लो विहितः । तत्र यक्षशापाबुत्सर्गो स्यादयस्तदपवादाः । करिष्यति । अकरिष्यत् । कर्ता । तासे-रिदित्करणं किम् ? “हलुङः ङिङ्स्थनिदितः” [४।४।२३] इति नलप्रतिषेधार्थम् । हन्ता । मन्ता ।

कास्यनेकाञ्च्यञ्जिञ्याम् ॥२।१।३१॥ कासेरनेकाञ्चस्यान्ताच्च लिटि परतः आम्भवति । कासाञ्चके । अनेकाञ्च्यः-चकासाञ्चकार । चुलुम्प इति सौत्रो धुः ; चुलुम्पाञ्चकार । दरिद्राञ्चकार । त्यान्तात्-लोलूयाञ्चके । कारयाञ्चके । गवाञ्चकार । “आचारार्थं सर्वमृद्भ्यः” इति क्तिप् । अनेकाञ्चग्रहणमत्यान्तार्थम् । आमिति नाय-मागमः । कासेर्विधानात् ।

सरोरिजादेः ॥२।१।३२॥ सह रुणा वर्तते इति सहः । सरोरिजादेर्बोः लिट्याम्भवति । ईहाञ्चके । इन्दाञ्चकार । उपदेशावस्थायां नुम् । ऊहाञ्चके । उञ्हाञ्चकार । उदम्भाञ्चकार । सरोरिति किम् ? इयेष । उवोष । एपि कृते सहरिति चेत् ; “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं लङ्घितास्य” [प०] इति न भवति । इजा-देरिति किम् ? ततत् । “ऋच्छत्यृताम्” [५।२।१२३] इति लिट्ये-वचनं ज्ञापकं ऋच्छेराभ्न् भवति । आनर्च्छुः । आनर्च्छुतुः । आनर्च्छुः । कथं प्रोणुर्नाव ? “वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् । आमश्च प्रसि-धेधार्थमेकाञ्चश्चेण्निवृत्तये” । प्रोणुर्नृषति । “सनिग्रहश्च” [१।१।११८] इतीट्प्रतिषेधः ।

द्वयायासः ॥२।१।३३॥ दय अय आस इत्येतेभ्यश्च लिटि आम्भवति । दबाञ्चके । पलायाञ्चके । “गेरयतौ” [१।३।३७] इति लत्वम् । आसाञ्चके ।

वोषजागृचिदात् ॥२।१।३४॥ उष जागृ विद् इत्येतेभ्यश्च लिटि परतो वा आम् भवति । ओषाञ्च-कार । उवोष । जागराञ्चकार । जजागार । विदाञ्चकार । विवेद । विदेराभ्यकारान्तत्वनिपातनात् एभ्न् भवति । जागृसाहचर्यादादादिकस्य ग्रहणम् ।

भोहोभृहुवामुज्वत् ॥२।१।३५॥ भो ही भृ हु इत्येतेभ्यो लिटि आम् भवति उचीव कार्यं भवत्ये-षाम्, उचि कार्यं द्वित्वमित्येव । तदतिदिश्यते । लिङपेक्षं द्वित्वमामा व्यवधानात् प्राप्नोति । बिभयाञ्चकार । बिभाय । जिहयाञ्चकार । जिहाय । विभराञ्चकार । बभार । “भृजां त्रयाणाम्” [५।२।१७५] इति चस्ये-त्वम् । जुहवाञ्चकार । जुहाव ।

लिङ्वत् कृञि ॥२।१।३६॥ कृञिति प्रत्याहारेण कृम्बस्तीनां त्रयाणां ग्रहणम् । मयङ्ककृत्वा वेति विभाषाऽपेक्षणीया । तेन सम्पदो बहिर्भावः । य उक्तं आम् स लिङ्वत्कृञि प्रयुक्ते साधुर्भवति । लिङ्वत् कृञीतीम्निदेशात् आमन्तस्याव्यवहितस्य पूर्वं प्रयोगः । ईहाञ्चके । “आम्बत् तत्कृञः” [१।२।२६] इति दः । इहाम्भूव । ईहामास । “अस्तिभूजोर्भूवर्चा” [१।४।१२४] इत्यत्रोक्तमस्तेरनुप्रयोगस्य भूभावो न भवति । कृञि प्रत्याहारग्रहणसामर्थ्याद्वा ।

विदाङ्कुर्वन्तु वा ॥२।१।३७॥ विदाङ्कुर्वन्त्विति एतद्वा निपात्यते । किमत्र निपात्यते ? लोटि वा आम् एवमावो लोडन्तस्य करोतेरनुप्रयोगश्च निपात्यते । विदाङ्कुर्वन्तु । विदन्तु । सर्वेषु लोड्वचनेषु निपातनमिदं प्रायेण । ल्यन्तस्य प्रयोगान्ते निर्देशः । विदाङ्करवाणि । वेदानि । विदाङ्करवाव । वेदाव । विदाङ्करवाम । वेदाम । विदाङ्कुर । विद्धि । विदाङ्कुरतम् । वित्तम् । विदाङ्कुरत । वित्त । विदाङ्कुरोतु । वेत्तु । विदाङ्कुरताम् । वित्ताम् । (विदाङ्कुर्वन्तु । विदन्तु ।)

सिर्लुङि ॥२।१।३८॥ धोः सिर्भवति लुङि परतः । अकार्षात् । अमैसीत् । अकृषातां कटौ देव-
दत्तेन । इदित्करणं किम् ? अमंस्त । “अनिदितः” [४।४।२३] इति प्रतिषेधात् नोडः खं न भवति ।

स्पृशमृशकृषत्पृषपो वा ॥२।१।३९॥ स्पृश मृश कृष तृष पृष इत्येतेभ्यो लुङि वा सिर्भवति ।
तृषिद्वयोः पुषादित्वाञ्जित्यमङ् प्राप्तः । अन्यत्र “शलः” [२।२।४०] इति कसः । अस्प्राक्षीत् । अस्पा-
क्षीत् । “वासुदात्तस्यदुङः” [४।३।२२] इति वामागमः । यणादेशो कृते “वदग्रजहल” [५।१।७६]
इत्यैप् । पक्षे-अस्पृक्षत् । अम्राक्षीत् । अमाक्षीत् । अमृक्षत् । अक्राक्षीत् । अकाक्षीत् । अक्राक्षीत् । अत्राक्षीत् ।
अताक्षीत् । अतृषत् । अद्राक्षीत् । अदाक्षीत् । अदृषत् ।

इगुङ्कः शलोऽनिटोऽदृशः कसः ॥२।१।४०॥ इगुङ् शलन्तो यो धुः अनिट् तस्माद् दृशिवर्जितात्
मे कसो भवति । दिह-अधिक्षत् । दुह-अधुक्षत् । लिह-अलिक्षत् । इगुङ् इति किम् ? दह-अभाक्षीत् ।
शल इति किम् ? अमैसीत् । अनिट् इति किम् ? अक्रोपीत् । “नेटि” [२।१।८०] इत्यैप्रतिषेधः । अदृश
इति किम् ? अदृशीत् । अद्राक्षीत् । “वेरितः” [२।१।४६] इत्यङ् ।

श्लिषः ॥२।१।४१॥ अनिट् इत्यधिकारात् श्लिष दाहे इत्यस्य ग्रहणं न भवति । श्लिषः कसो भवति
लुङि परतः । आश्लिषत् । पूर्वेण प्राप्तस्य बाधके पुषादित्वादङि प्राप्ते अयमारम्भः । “पुरस्तादपवादा अन-
न्तराम् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इत्यङ् एव बाधा न ज्ञेः । आश्लेषि ।

स्वार्थे ॥२।१।४२॥ स्वार्थः आलिङ्गनम् । श्लिषः स्वार्थ एव कसो भवति । आश्लिषत् कन्यां देवदत्तः ।
स्वार्थ इति किम् ? समाश्लिषत् जतु च काष्ठं च (जतुकाष्ठम्) । दविष्ये सिले समाश्लिषस्त्वं धवलदिरेण ।
“मूलो मूळि” [५।३।४४] इति सेः खम् ।

णिश्चिद्रुश्रुकमेः कर्त्तरि कच् ॥२।१।४३॥ णिजन्तेभ्यः श्चि द्रु श्रु कर्म इत्येतेभ्यः कर्तृवाचिनि
लुङि कञ्भवति । ककार क्रिकार्यार्थः । चकारः “लुङि कचि धोः” [छिदुक्कचि धोः] [४।३।७] इति
विशेषणार्थः । अचीकथत् । अपीपचत् । “आनयत्यादेः कञ्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] औनयीत् । अशिश्चि-
यत् । अदुद्रुवत् । कमिग्रहणं “वाऽगे” [२।१।२७] इति यदा णिङ् न भवति तदा प्रयोजयति । अचकमत् ।
अकः खं यस्मिन् णाविति तत्र विग्रहात् सन्वद्भावो न भवति । णिङ्पक्षे सन्वद्भावः । अचीकमत् । आत्मक-
र्मण्यपि चङ् भवति । अचीकरत् कटः स्वयमेव । “णिश्चिद्रुश्रुक्कचि धोः” [वा०] इति
अियकोः प्रतिषेधं वक्ष्यति ।

वा घेट्श्वयोः ॥२।१।४४॥ घेट् श्वि इत्येताभ्यां वा कञ्भवति कर्त्तरि लुङि परतः । अदधत् ।
“द्वित्वेऽचि” [१।१।२६] इत्यात्वस्य स्थानिवद्भावाद् द्वित्वं यदा सिस्तदा “वा प्राधेट्च्छाशासः” [१।४।१४७]
इति वा सेरुप् । अधात् । अधासीत् । अनुपि “यमरमनमातः सक्च” [२।१।१२२] इति सगिडौ । अशिश्चि-
यत् । “न जौ जिः” [४।३।३१] इत्यत्रेकारप्रश्लेषात् जिप्रतिषेधः । कचा मुक्ते पक्षे “जृश्वि” [२।१।२०]
इत्यादिना विकल्पेनाङ् । अश्वत् । अश्वयीत् । “ह्यक्षय” [२।१।८१] इत्यादिना सावैप्रतिषेधः ।
कर्त्तरीत्येव । अधिषातां वत्सेन ।

वक्तव्यसुख्यतेरङ् ॥२।१।४५॥ वक्ति असु ख्याति इत्येतेभ्यो लुङि परतः अङ् भवति । इदमेव वक्तिवचनं ज्ञापकं गोऽपि ब्रजो वचिरादेशो भवतीति । अवोचत् । अवोचत । “रथ्यस्पइचोऽथुक् पुसुमोऽङि” [१।२।१२८] इत्युमागमः । अस् । उदास्थत । उदास्थेताम् । उदास्थन्त । “अनेरङ्गुत्तरेण्डेण्डे” [१।०] इति दः । मविषये पुषादित्वादेवाङ् सिद्धः । ख्यातिरिति ख्या प्रकथन इत्यस्य चन्दादेशस्य च कृतयकारस्या-विशेषेण ग्रहणम् । आख्यत् । आख्यताम् । आख्यन् ।

हालिप्सिचः ॥२।१।४६॥ हा लिप् सिच् इत्येतेभ्यश्चाङ् भवति लुङि परतः । आहत् । अलिपत् । असिचत् । पृथगारम्भ उत्तरार्थः ।

दे वा ॥२।१।४७॥ हा लिप सिच् इत्येतेभ्यो लुङि दे वा अङ् भवति । आहत् । आहास्त । अलिपत् । अलित । असिचत । असिक्त । “सिच्छिद् दे” [१।२।८२] इति कित्वादेप्रतिषेधः । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

द्युत्पुषादिलिस्सर्तिशास्त्यर्तैर्मे ॥ २।१।४८ ॥ द्युतादिभ्यः पुषादिभ्यः लृकारेभ्यः सर्ति शास्ति अर्ति शा इत्येतेभ्यश्च लुङि मे परतः अङ् भवति । वेति नानुवर्तते । द्युतादयः कृपूपर्यन्ताः । व्यद्युतत् । व्यलुद्यत् । अश्रिवत् । “द्युद्भ्यो लुङि” [१।२।८०] इति वा मम् । पुषादयः आ गणपरिसमाप्तेः । अपुषत् । अशुषत् । कसः प्रातः लृकारेद्भ्यः । आपत् । अगमत् । अशकत् । असरत् । अशिषत् । आरत् । म इति किम् । व्यद्योतिष्ठ । व्यत्यपुञ्जत । अतरेपि दविषये —मा समृषातां मा समृषत ।

वेरितः ॥२।१।४९॥ म इति वर्तते । इरशब्देतो घोर्वाऽङ् भवति लुङि मे परतः । अरुधत् । अरौत्सीत् । अभिदत् । अभैत्सीत् । म इत्येव । अरुद्ध । अभित्त ।

जृश्विस्तम्भुञ्चम्लुच्ग्रुच्ग्लुचः ॥२।१।५०॥ वेति वर्तते । जृ श्वि स्तम्भु म्नुच् म्लुच् ग्रुच् ग्लुच् इत्येतेभ्यः कर्त्तरि लुङि वाङ् भवति । जृष् । अजर्त् । आजरीत् । अङि “इशुरेप्” [५।२।१२६] अश्वत् । अश्वयीत् । कजपि विभाषितः । अशिश्चियत् । स्तम्भुरिहैवोपदिष्टः । अस्तभत् । अस्तम्भीत् । न्यमुचत् । न्यम्रोचीत् । न्यम्लुचत् । न्यम्लोचीत् । अग्रुचत् । अग्रोचीत् । अग्लुचत् । अग्लोचीत् । ग्लुञ्चेर्नोङो ग्रहणमनर्थकम् । अङ्पक्षे विशेषाभावात् नोङ्ग्रहणसामर्थ्यान्वयं न भवति इत्यपि न युक्तं न्यग्लुञ्चदिति लङा सिद्धयति ।

जिस्ते पदः ॥२।१।५१॥ वेति निवृत्तमुत्तरत्र वाग्रहणात् । कर्त्तरीति वर्तते । पदेर्धोर्लुङि ते परतः जिर्भवति । उदपादि भैक्षम् । समपादि शस्यम् । त इति किम् ? उदपत्सताम् । उदपत्सत ।

दीपजनबुधपुरितायिप्यायो वा ॥२।१।५२॥ दीपादिभ्यः लुङि ते परतः वा जिर्भवति । अदीपि । अदीपिष्ठ । अजनि । अजनिष्ठ । औ “जनिबध्योः” [५।२।४०] इत्येप्रतिषेधः । साहचर्याद् बुधेरनुदात्तेतो ग्रहणम् । अबोधि । अबुद्ध । अपूरि । अपूरिष्ठ । अतायि । अतायिष्ठ । अप्यायि । अप्यायिष्ठ । अयं कर्त्तरि विकल्पः । अन्यत्र “जिहौ” [२।१।६२] इत्यनेन नित्यो जिः ।

कमण्यात्मनि ॥२।१।५३॥ आत्मशब्देन कर्त्ताऽभिप्रेतः । यदा सौकर्यात् कर्म कर्तृत्वेन विवक्ष्यते तदा कर्मणि आत्मनि विहिते तशब्दे परतः वा जिर्भवति । अंकारि कटः स्वयमेव । अकृत कटः स्वयमेव । “ऽः” [१।१।८६] इति सेः कित्त्वम् । अलावि केदारः स्वयमेव । अलविष्ठ केदारः स्वयमेव । “जिहौ” [२।१।६२] इति नित्ये औ प्राप्ते विकल्पोऽयम् । आत्मकर्मणीति किम् ? अंकारि कटो देवदत्तेन ।

दुहश्च ॥२।१।५४॥ चशब्दो विकल्पानुकर्त्तर्यार्थः । दुहेर्वा जिर्भवति तशब्दे परतः कर्मण्यात्मनि । नियमोऽयं हलन्तेषु दुहेरेव विकल्पः, तेन पूर्वसूत्रेऽजन्तेषु विकल्पो द्रष्टव्यः । अदोहि गौः स्वयमेव । अदुग्ध गाः स्वयमेव । “वाप् दुहदिहलिहगुहो दे दन्त्ये” [१।२।७०] इति कसस्योप् । आत्मकर्मणीत्येव । अदोहि गौर्गौपालकेन ।

न रुधः ॥ २।१।५५ ॥ जिर्झविति प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । भावे कर्मण्यात्मनि जिर्न भवति । अन्व-
वाद्ध गौः स्वयमेव ।

तपोऽनुतापे च ॥ २।१।५६ ॥ तपतेरनुतापे च कर्मण्यात्मनि च जिर्न भवति । अनुतापः
पश्चात्तापः तत्र तावत् भावकर्मणोरनुपि प्रतिषेधः । अन्ववातस्य पापेन कर्मणा । कर्मण्यात्मनि । अतस्त तपः
स्वयमेव । साधुस्तावदुपवासादिलक्षणं तपस्तप्यते । तद्यदा तीव्रत्वात् कर्तृत्वेन विवक्षितं तदाऽयं प्रयोगः ।

यग् दुहः ॥ २।१।५७ ॥ नेति वर्तते । दुहेः कर्मण्यात्मनि यद् न भवति । दुग्धे गौः स्वयमेव ।
लङि-अदुग्ध गौः स्वयमेव ।

नमः शप्नु ॥ २।१।५८ ॥ नमः कर्मण्यात्मनि यद् न भवति शप् तु भवति । नमते दण्डः स्वय-
मेव । अनमत दण्डः स्वयमेव । कर्त्राश्रयः शप्न स्यात् ।

स्नोश्च जिश्च ॥ २।१।५९ ॥ स्नोश्च नमश्च कर्मण्यात्मनि जिर्यग् च न भवतः । प्राप्नोष्ट गौः स्वय-
मेव । प्रस्तुते गौः स्वयमेव । लङि प्राप्नुत गौः स्वयमेव । जिप्रतिषेधार्थं नमोऽनुकर्षणम् । यक् तु पूर्वैखैव
प्रतिषिद्धः । अनस्त दण्डः स्वयमेव । “जियकोः प्रतिषेधे णिअन्धिअन्धिअन्धीनां दविधौ धीनां चोपसंख्यानं
कर्तव्यम्” [वा०] णिरिति हेतुमणिएणोऽन्यस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । अचीकरत कटः स्वयमेव । कारयते
कटः स्वयमेव । अश्रन्धिष्ट मेखला स्वयमेव । श्रन्धीते माला स्वयमेव । अग्रन्धिष्ट मेखला स्वयमेव । ग्रन्धीते मेखला
स्वयमेव । अवोचत वाक् स्वयमेव । ब्रूते वाक् स्वयमेव । दविधौ धीनाम् व्यकृषत सैन्धवाः स्वयमेव । व्यकुर्वत
सैन्धवाः स्वयमेव । विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव । जियकोः प्रतिषेधे कथं कर्त्राश्रयाः कजादयः । “नमः शप्नु”
[२।१।५९] इत्यतस्तु शब्दोऽनुवर्तते तेन कर्त्राश्रयविकरणसिद्धिः । अत इदमपि सिद्धम् । आरोहन्ति हस्तिनं
हस्तिपकाः । आरोहयते हस्ती स्वयमेव । सिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः । सेचयते हस्ती स्वयमेव । “ङौ” [१।२।७]
इति दविधिः । यदान्यत्कर्म प्रति स्वातन्त्र्येण विवक्षा तदा कर्त्राश्रया विधयो भवति । आरोहयमाणो हस्ती
स्थलमारोहयति मनुष्यान् । यथा भिद्यमानः कुशलः पात्राणि भिनत्ति । इह कस्माद्दो न भवति । स्मरति वन-
गुल्मस्य कोकिलः । स्मरत्येनं वनगुल्मः स्वयमेव । कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां चात्मकर्म विवक्षा । कर्तृ-
स्वभावकं चाऽध्यानमिति दो न भवति ।

कुषिरञ्जेः श्यो मे वा ॥ २।१।६० ॥ कुषिरञ्जीत्येताभ्यां कर्मण्यात्मनि वा श्यो भवति मे परतः ।
कथं मविधिः वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेन यथा बहुक्षीरघृतमोदनं मम पुत्रा भुङ्क्षीरञ्जित्यत्र वरादिलङ्घिः ।
कुष्यति पादः स्वयमेव । रज्यति वस्त्रं स्वयमेव । यदा श्यो न भवति तदा यग् दविधौ भवतः । कुष्यते पादः
स्वयमेव । रज्यते वस्त्रं स्वयमेव । यगनुवर्तते तदपवादोऽयं तेन लिङ्लिङ्गोः स्यादविषये च नायं विधिः ।

तपस्तपः कर्मवत् ॥ २।१।६१ ॥ तपतेस्तपःकर्मकस्य कर्ता कर्मवद्भवति । कर्मातिदेशस्य
यदविधी प्रयोजनम् । तप्यते तपः साधुः । अर्जयतीत्यर्थः । अतप्यत तपः साधुः । अतस्त तपः साधुः ।
तपःकर्मकस्येति किम् ? उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः ।

जिर्झौ ॥ २।१।६२ ॥ मरुङ्कल्लुत्याते इति वर्तते लुङ्गीति च । जिरित्ययं त्यो भवति जावर्थे लुङि ते
परतः । भावे-आसि भवता । अशाधि भवता । कर्मणि-अकारि कदो भवता । अलावि केदारो भवता ।
पुनर्जिग्रहणं किम् ? जिरेव यथा स्यात् । यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूत् । उपाश्लोषि कन्या । “श्लेषः”
[२।१।७१] इति क्त्वे न भवति ।

गे यक् ॥ २।१।६३ ॥ जाविति वर्तते । डिवाचिनि गे यक् भवति । आख्यातवाच्यस्य भावस्यैकत्वात्

असद्युध्मत्सञ्ज्ञाऽभावाच्च अन्यसञ्ज्ञक एक एव च भवति । आस्यते भवता । सुप्यते भवता । कर्मणि—क्रियते कटः । भुज्यते ओदनः । ऋकारस्य दीत्वे प्राते “रिड्यन्तिरुड्यते” [१।२।१३७] इति रिड् । कर्मसामान्यात् आत्मकर्मण्यपि यगु भवति । क्रियते कटः स्वयमेव । भिद्यते कुशूलः स्वयमेव । कथं भिद्यते कुशूलेन स्वयमेवेत्यत्र कर्त्तरि भा । अत्राकर्मकत्वविवक्षा । तेन भावे लकारः । लान्तस्यो (तस्यो) भयविवक्षा । व्यक्तखार्थेष्वकर्मकविवक्षैव (क्षयैव) । भेत्तव्यं कुशूलेन स्वयमेव । भिन्नं कुशूलेन स्वयमेव । ईषद्दे दं कुशूलेन स्वयमेव ।

कर्त्तरि शप् ॥२।१।६४॥ कर्तृवाचिनि गे परतो धोः शब्भवति । जयति । भवति । तरति । शकारः “मिड्शिद्गः” [२।४।६३] इति विशेषणार्थः । पकारः “गोऽपित्” [१।१।७८] इति विशेषणार्थः ।

विधादेः श्यः ॥२।१।६५॥ दिव इत्येवमादिभ्यः श्यो भवति गे परतः । दीव्यति । सीव्यति । श्रीव्यति । “हृष्यभकुच्छु रः” [५।३।८६] इति उडो दीत्वम् । इमे श्यादय शपोऽपवादाः ।

वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुत्रसिन्नुटिलषः ॥२।१।६६॥ भ्राश भ्लाश भ्रम् क्रम् त्रसि नुटि लष इत्येतेभ्यो धुभ्यो वा श्यो भवति । उभयत्र विभाषेयम् । भ्राशते । भ्राश्यते । भ्लाशते । भ्लाश्यते । भ्रमति । भ्रम्यति । श्ये (शिति) भौवादिकस्याशमादित्वादीत्वं नास्ति । दैवादिकस्य दीत्वम् । भ्रमति । भ्राम्यति । क्रमति । क्राम्यति । “क्रमो मे” [१।२।७४] इति दीत्वम् । त्रसति । त्रस्यति । नुटति । नुट्यति । लषति । लष्यति । क्लमिप्रहणं न कर्तव्यम् । दिवादिपाठात् श्ये सति “शमित्यामदो दीः” [१।२।७२] इति दीत्वं सिद्धम् । “छिबुककम्वाच-मां क्षिति” [१।२।७३] पुनर्दीत्ववचनं ज्ञापकं शचपि भवतीति ।

यसः ॥२।१।६७॥ यसु प्रयत्न इत्यस्माद्वा श्यो भवति । यसति । यस्यति ।

समः ॥२।१।६८॥ संपूर्वाच्च यसः वः श्यो भवति । संयस्यति । संयसति । नियमोऽयं सम एव च गोर्वकल्पो नान्यस्मात् । आरस्यति । प्रयस्यति । दिवादिपाठान्नित्यः श्यः ।

स्वादेः श्नुः ॥२।१।६९॥ श्नु इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्नुरित्ययं त्यो भवति । श्नोति । श्नोति ।

श्रुवः श् ॥२।१।७०॥ श् इत्येतस्मात् श्रुर्भवति श्रु इत्ययं चादेशः । श्रु इति भुवादौ स्वादौ च पठ्यते । श्रुणुतः । श्रुण्वन्ति ।

वाऽत्तः ॥२।१।७१॥ अत्त इत्येतस्माद्धोः वा श्रुर्भवति । अत्तपोति । अत्तति । भौवादिकोऽयम् ।

तत्तः स्वार्थे ॥२।१।७२॥ स्वार्थस्तनूकरणम् । तत्तु इत्यस्मात् स्वार्थे वा श्रुर्भवति । तत्तपोति काष्ठम् । तत्तति काष्ठम् । स्वार्थे इति किम् ? सन्तत्तति वाग्मिर्दुर्जनः ।

रुधितुदादिभ्यां श्नमृशौ ॥२।१।७३॥ रुधादिभ्यस्तुदादिभ्यः श्नमृशौ ल्यो भवतः । शकारः “रनाक्-खम्” [४।४।२२] इति विशेषणार्थः । मकारः “परोऽचो मित्” [१।१।५५] इति विशेषणार्थः । रुधादि । भिनसि । तुदादिभ्यः शः । तुदति । क्षिपति ।

कृवतनादेरुः ॥ २।१।७४ ॥ कृञ् इत्येतस्मात्तनादिभ्यश्च उरित्ययं त्यो भवति । करोति । कुरुतः । कुर्वन्ति । तनादिभ्यः—तनोति । सनोति । क्षणोति । तनादित्वादेव सिद्धे पृथक् कृञो ग्रहणं किम् ? अन्यत्तनादिकार्यं करोतेर्मा भूत् । “तनादिभ्यस्तथासोः” [१।४।१४८] इति विभाषया सेरुन्न भवति । अकृत् । अकृथाः । न चानुपपत्ते “प्राद् गोः” [१।३।४५] इति खं सम्भवति । तस्मिन् प्राते उप आरम्भास्तेः भवर्णं प्रसज्येत ।

धिन्विकृण्वोर च ॥२।१।७५॥ 'धिवि प्रीणने', 'कृवि हिंसाकरणयोः' इत्येताभ्यां उरित्ययं ल्यो भवति अकारश्चान्तादेशः । धिनोति । कृणोति । अतः खम् । "न धुखेऽगे" [१।१।१८] इति प्रतिषेधात् "परेऽचः पूर्वविधौ" [१।१।२७] इति स्थानिवद्भावाद्वा (एप्) न भवति । सनुम्कोच्चारणं शापकं ल्योत्पत्तेः प्रागेव नुम्भवतीति । तेन कुण्डा हुण्डेति सिद्धम् ।

व्यादेः श्ना ॥२।१।७६॥ क्री इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्रा इत्ययं ल्यो भवति । क्रीणाति । प्रीणाति ।

स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च ॥२।१।७७॥ स्तम्भादिभ्यः श्नुर्भवति श्रा च । स्तभ्नोति । स्तभ्नाति । स्तुभ्नोति । स्तुभ्नाति । स्कुभ्नोति । स्कुभ्नाति । स्कुनोति । स्कुनाति । स्कुञ् भ्रव्यादिषु पठ्यते । इतरेषामिहैवोपदेशः । उदित्करणदान्यत्रापि प्रयोगः ।

हौ हलः श्नः शानः ॥२।१।७८॥ हल उत्तरस्य श्रा इत्येतस्य शान इत्ययमादेशो भवति हौ परतः । अशान । पुषाण । हाविति किम् ? अभ्राति । हल इति किम् ? क्रीणीहि । श्र इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः ? स्तम्भादीनां यदा श्रुस्तादा मा भूत् । स्तम्भुहि । त्यान्तरं वा सर्वेभ्यः सम्भाव्यते । शानस्य शित्करणं शापकम्-अनिल्योऽनुबन्धस्य स्थानिवद्भाव इति । तेन लङ्गादीनां मित्रादिषु स्थानिवद्भावात्त्रिंश्वं द्विष्वं च न भवति । पचमाना स्त्री । अचिनवम् । असुनवम् ।

ईपाञ्च वाक् ॥२।१।७९॥ धोरिति वर्तते । अत्र धोरधिकारे ईपा निर्दिष्टं वाक्संज्ञं भवति । गम्यमानक्रियापेक्षया ईपेत्यस्य करणत्वम् । वक्ष्यति "कर्म्मण्यण्" [२।२।१] कुम्भकारः । शरलावः । मृद्रूपस्येयं वाक्संज्ञा तेन "कर्म्मकर्म्मणोः कृति" [१।४।६८] इति कर्मणि ता भवति । तासाद्वाक्सः परत्वेन । अत्र ग्रहणं विस्पष्टार्थम् । वागितीयमन्वर्था संज्ञा । ब्रूतेऽर्थं वागिति तेनासामर्थ्ये वाक्संज्ञा नास्ति । पश्य कुम्भं करोति कटम् । मृत्पिण्डं कुम्भं करोति । महान्तं कुम्भं करोति । सविशेषणानां च न भवति । हरतेः "इतिनाथयोः पशौ" [२।२।३०] इति पशुशब्दस्य न भवति । यत्र वाचकत्वं तत्र भवति । काशकटकारः ।

कृदमिङ् ॥२।१।८०॥ अत्र धोरधिकारे मिङ्वर्जितास्त्याः कृत्संज्ञा भवन्ति । अत ऊर्ध्वं ये वक्ष्यन्ते तेषामधिकारेणैयं संज्ञा । वक्ष्यति "तव्यानीयौ" [२।१।८३] । कर्तव्यः । करणीयः । अत्र मृत्संज्ञाप्रयोजनम् । इत्यः । स्तुत्यः । "पिति कृति" [४।३।२६] इति तुक् । अमिङिति किम् ? चीयात् । सूयात् । अक्रयकारादीत्वं सिद्धम् ।

प्राक्तेर्वाऽसमः ॥२।१।८१॥ स्त्रियां क्लिरिति वक्ष्यते । प्रागेतस्मादसमो यस्त्यः कृत् स वा भवतीत्येवोऽधिकारो वेदितव्यः । सरूपस्त्वपवादो बाधक एवेति भावः । विक्षेपकः । विक्षेप्ता । विक्षिपः । इगुङ्लक्षणा-कविषये यदुतृचावपि भवतः । प्राक्तेरिति किम् ? चिकीर्षा । "अस्त्यात्" [२।३।८४] इत्यकारः क्लेर्वाधकः । व्याक्रोशी । व्याक्रुष्टिरित्येवमादिषु यत्नो विधेयः । असम इति किम् ? गोदः । कम्बलदः । "आतः कः" [२।२।३] इति को भवति । अणोऽपवादः । अनुबन्धापाये रूपगतं समत्वमत्र ।

ण्वोर्व्याः ॥२।१।८२॥ प्रागिति वर्तते "ण्वुतृचौ" [२।१।१०६] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद्ये त्यास्ते व्यसंज्ञा वेदितव्याः । देवदत्तस्य कर्तव्यम् । देवदत्तेन कर्तव्यम् । व्यप्रदेशाः "व्यस्य वा कर्तरि" [१।४।७२] इत्येवमादयः ।

तव्यानीयौ ॥२।१।८३॥ तव्य अनीय इत्येतौ ल्यौ भवतः । कर्तव्यः । करणीयः । कथं वास्तव्यः ? वास्तु क्षेत्रं तस्माद्भवाद्यर्थे दिगादित्वाद्यः । एवं वस्तुनि भवो वस्तव्यः ।

योऽचोऽरासुयुवः ॥२।१।८४॥ य इत्ययं ल्यो भवत्यजन्ताद्धोः ऋवर्णान्त आसु यु इत्येतान् वर्जयित्वा । देयम् । गेयम् । "ईधे" [४।३।१४] इति ईत्वम् । "गागयोः" [२।२।८१] इति पुनरेप् । "देयसृणे" [१।३।२२] इति निर्देशादीत्वे गुकार्ये निवृत्ते पुनरेप् । दित्स्यं धित्स्यमित्यत्र अग्रे ये परतोऽतः खम् । अच इति किम् ? पाक्यम् । आरासुयुव इति किम् । कार्यम् ? हार्यम् । आसाव्यम् । आव्यम् ।

पोरदुङ्गोऽत्रपिवपिरपिलपिचमः ॥२।१।८५॥ पवर्गान्ताद्धोरदुङ्गो य इत्ययं ल्यो भवति त्रपिवपि-
रपिलपिचमीन् वर्जयित्वा । रभ्यम् । लभ्यम् । समत्वेन एयापवादोऽयम् । पोरिति किम् ? वाच्यम् । अदुङ्ग इति
किम् ? डेप्यम् । कुटादित्वादेभ्यः स्यात् । तपरकरणमसन्देहार्थम् । अत्रपिवपिरपिलपिचम इति किम् ? त्राप्यम् ।
वाप्यम् । राप्यम् । लाप्यम् । आचाम्यम् ।

शकिसहश्च ॥२।१।८६॥ शकि सह इत्येताभ्यां यो भवति । शक्यम् । सह्यम् । चकारोऽनुक्तसमुच्च-
यार्थः । तेन ससितकिचितियतियजिनानां संग्रहः । सस्यम् । तक्यम् । चत्यम् । यत्यम् । यज्यम् । जन्यम् ।
'हृजो वा वध इति च वक्तव्यम्' [वा०] वध्यम् । घात्यम् ।

गदमदचरयमोऽगो ॥२।१।८७॥ गद मद चर यम इत्येतैभ्योऽगिपूर्वैभ्यः यरूयो भवति । गद्यम् ।
मद्यम् । चर्यम् । यभ्यम् । अगोरिति किम् ? निगाद्यम् । प्रमाद्यम् । अभिचार्यम् । प्रयाभ्यम् । यमः "पोर-
दुङ्गः" [२।१।८५] इति सिद्धे नियमार्थमिदम् । अगोरेव यथा स्यात् । इतरेषामप्राप्ते विधिः । "चरेराङ्गि चागु-
राविति वक्तव्यम्" [वा०] आचर्यं व्रतम् । अगुराविति किम् ? आचार्यो गुरुः ।

पण्याऽवद्यवर्यावह्याऽर्योपसर्याऽजर्याणि ॥२।१।८८॥ पण्य अवद्य वर्या वह्य अर्य उपसर्या अजर्य
इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । पण्यमिति निपात्यते व्यवहर्तव्यं चेद्भवति । पण्यः कम्बलः । पण्या गौः ।
पाण्यमित्यन्यत्र । अवद्यं भवति गर्ह्यं चेत् । अवद्यं द्यूतम् । अवद्यं पापम् । न उद्यते इत्यनुद्यमन्यत् । वर्येति
वृद्धो यो भवत्यनिरोधेऽर्थे । शतेन वर्या । सहस्रेण वर्या । स्त्रीलिङ्गादन्यत्र एय एव भवति । वार्या ऋषयः धन-
संविभागरूपोऽत्राप्यनिरोधोऽस्ति । अनिरोध इति किम् ? वार्या गौः शस्थेषु । वह्यमिति निपात्यते करणं चेद्भ-
वति । वहति तेन वह्यं शक्यम् । वाह्यमन्यत् । अर्य इति निपात्यते स्वामिनि वैश्ये च । अर्यः स्वामी । अर्यो
वैश्यः । अन्यत्र एय एव । आर्य साधु । उपसर्येति निपात्यते काल्या प्रजने चेत् । प्रजनो गर्भग्रहणकालः
प्राप्तोऽस्याः काल्या । "तदस्य प्राप्तम्" [३।४।१०] इति वर्तमाने "कालाद्यः" [३।४।१००] इति यः ।
उपसर्या गौः । उपसर्या वडवा । उपसर्या शरदि मथुरा अन्यत्र । अजर्यमिति नञपूर्वाञ्चकृषः कर्तरि यो निपात्यते
सङ्कतेऽर्थे । न जीर्यत इत्यजर्यमर्थसङ्गतम् । अजरिता कम्बल इत्यन्यत्र ।

वदः सुपि क्यप् च ॥२।१।८९॥ अगोरिति वर्तते । वदतेः क्यम्भवति यश्च गिर्वर्जिते सुपि वाचि ।
सत्यमुद्यत इति सत्योद्यम् । सत्यवद्यम् । मिथ्योद्यम् । मिथ्या वद्यम् । "वागमिङ्" [१।३।८२] इति षसः । सुपीति
किम् ? वाद्यम् । अगोरित्येव । अनुवाद्यम् ।

भूयहत्ये ॥२।१।९०॥ सुप्यगोरिति वर्तते । भूय हत्य इत्येते शब्दरूपे निपात्यते गिर्वर्जिते सुपि वाचि ।
देवभूर्यं गतः । देवत्वं गत इत्यर्थः । साधुभूर्यं गतः । क्यवन्न निपात्यते । दरिद्रहननं दरिद्रहत्या । चोरहत्या ।
हन्तेः स्त्रीलिङ्ग भावे क्यन्निपात्यते । सुपीत्येव । भव्यम् । घातो वर्तते । अगोरित्येव । प्रभव्यमुपघातः ।

स्तुशासिण्वृहजुषः क्यप् ॥२।१।९१॥ सुप्यगोरिति निवृत्तम् । सामान्येनायं विधिः । स्तु शास् इण
वृणोति ष जुष इत्येतेभ्यः क्यम्भवति । स्तुत्यः । शिष्यः । इत्यः । आवृत्यः । आहत्यः । पुनः क्यम्ग्रहणं
किमर्थम् ? "ओरावश्यके" [२।१।१०२] इत्यस्यापि बाधनार्थम् । अवश्यस्तुत्यः । "शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति
वक्तव्यम्" [वा०] शस्यम् । दुह्यम् । शंस्यम् । दोह्यम् । गुह्यम् । गोह्यम् । "आङ्पूर्वाद्भजेः सञ्ज्ञार्या क्यब्
वक्तव्यः" [वा०] आञ्यम् । न वक्तव्यम् । पुनः क्यम्ग्रहणाद्योगविभागाद्भविष्यति । उपेयमिति ईङो रूपम् ।

ऋदुङ्गोऽकल्पिचृतेः ॥२।१।९२॥ ऋकारोङो धोः क्यम्भवति कृपिचृती वर्जयित्वा । वृत्त्यम् ।
वृद्ध्यम् । एयापवादोऽयम् । अकृपिचृतेरिति किम् ? कल्प्यम् । चर्त्यम् । "पाथौ समवशब्दे च सृजेयौ
वक्तव्यः" [वा०] पाणिसर्ग्या रज्जुः । समवसर्थः कः ।

भृशोऽखौ ॥२।१।६३॥ भृशः क्यञ्भवति अखुविषये । भृत्याः कर्मकराः । भृत्याः शिशवः । भर्तव्या इत्यर्थः । अखाविति किम् ? भार्या नाम क्षत्रियाः केचित् । देवदत्तस्य भार्या । क्षियां “समजनिषद्” [२।३।८१] इत्यादिना भावे क्यप् । कर्मणि चायं भार्याशब्दः । “संपूर्वाद्भेति वक्तव्यम्” [वा०] सम्भृत्या सभार्याः कर्मकराः ।

खेयराजसूयसूर्यमृषोद्य रुच्यपुष्यकृष्टपच्यव्यथ्याः ॥२।१।६४॥ खेयादयः शब्दा निपात्यन्ते । खेयमिति खनतैर्यो निपात्यते इकारश्चान्तादेशः । आदेप् । “ये वा” [४।४।४५] इत्यात्वं नाशङ्कनीयं निपातनादेव । राजसूयमिति राजशब्दे वान्ते भान्ते सुनोतेः क्यप् दीत्वं च निपात्यते । राजा सूयते राजा वा अस्मिन् सूयते इति राजसूयम् । सरति कर्माणि सुवतीति वा सूर्यः । सत्तेरुत्वं सूवतेर्वा रुडागमः क्यञ्च निपात्यते । मृषापूर्वस्य वदतेर्मित्यं क्यभिनिपात्यते । मृषोद्यम् । रुच्यमिति कर्त्तरि क्यप् निपात्यते । कुष्यमिति संज्ञायां गुपेरादौ कत्वं क्यञ्च निपात्यते । कुष्यं फल्गु भारडमित्यर्थः । गोष्यमन्यत् । कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव कृष्टपच्या ब्रीहयः । आत्म-कर्मणि क्यप् । न व्यथतेऽसावव्यथ्यः । नञ्पूर्वाद्व्यथतेः कर्त्तरि क्यप् निपात्यते ।

भिद्योद्ध्यौ नदे ॥२।१।६५॥ भिद्य उद्धय इत्येतौ निपात्येते नदेऽभिधेये । भिनत्ति कूलानि भिद्यः । उञ्भ्रस्युदकमिति उद्धयः । कर्त्तरि कारके क्यप् उञ्भेर्धत्त्वं च निपात्यते । नद इति किम् ? भिदः । उञ्भः । इगुङ्लक्षणाः कः पचाद्यच्च यथाक्रमम् ।

पुष्यसिद्ध्यौ भे ॥२।१।६६॥ पुष्य सिध्य इत्येतौ निपात्येते भेऽभिधेये । पुष्यन्त्यस्मिन्नर्था आरभमा-णानामिति पुष्यः । सिध्यन्त्यस्मिन्नर्था इति सिद्धयः । अधिकरणे क्यभिनिपात्यते नञ्त्रे वाच्ये । अन्यत्र पोषणः सेधन इति च भवति ।

विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु ॥२।१।६७॥ विपूय विनीय जित्या इत्येते शब्दा निपा-त्यन्ते यथासंख्यं मुञ्ज कल्क हलि इत्येतेषु वाच्येषु । विपूयते इति विपूयो मुञ्जः । पवतेः क्यभिनिपात्यते । विपव्यम-न्यत् । विनीयतेऽसौ घृतादिना विनीयः । त्रिफलादिकल्कः । विनेयमन्यत् । जित्यो हलिः । जेयमन्यत् ।

पदास्वैरिबाह्यापच्येषु ग्रहः ॥२।१।६८॥ पदे अस्वैरिणि बाह्यायां पच्ये चार्थे ग्रहेषोः क्यञ्भवति । प्रगृह्यते इति प्रगृह्यं पदम् । अगृह्यं पदम् । अस्वैरी परवशः । गृह्यका इमे । अनुकम्पायां कः । परतन्त्रा इत्यर्थः । बहिर्भवा बाह्या । गृह्यते इति गृह्याः । ग्रामस्य गृह्या ग्रामगृह्या नगरगृह्या सेना । ताभ्यां बहिर्भूता इत्यर्थः । स्त्रीलिङ्गादन्यत्र न भवति । पत्ने भवः पच्यः । भरतगृह्यः । भुजबलिगृह्यः । तत्पच्य इत्यर्थः ।

कृष्विषिभृजं यशोभद्रस्य ॥२।१।६९॥ कर्त्तव्यं ता । कृ ष्वि षिभृज् इत्येतेभ्यः क्यञ् भवति यशो-भद्रस्याचार्यस्य मतेन । कृत्यम् । कार्यम् । नित्यं एयः प्राप्तः । वृष्यम् । वर्धयम् । परिमृज्यम् । परिमार्ग्यम् । “अद्भुतः” [२।१।६२] इति नित्यं क्यप् प्राप्तः ।

युग्यं पत्रे ॥२।१।७०॥ पतति अनेनेति पत्रं वाहनम्; तस्मिन्नर्थे युग्यमिति निपात्यते । युज्यते इति युग्योऽश्वः । युग्यो गौः । क्यप् कुत्वं च निपात्यते । पत्रादन्यत्र योग्यमिति ।

पण्यः ॥२।१।७१॥ एय इत्ययं त्यो भवति धोः । अयमुत्सर्गः । अजन्ताद्यः क्यप् चास्यापवादौ । कार्यम् । हार्यम् । पाक्यम् । पाठ्यम् ।

ओरावश्यके ॥२।१।७२॥ उवार्णान्ताद्गोष्यो भवत्यावश्यके द्योत्ये । अवश्यमित्यस्य भावः आवश्य-कम् । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् । लाव्यम् । पाव्यम् । यथावश्यकोऽर्थोऽवयवलाव्यमिति कथं सविधिः ? मयूर-व्यंसकादित्वाद्भिभाषया । आवश्यक इति किम् ? लव्यम् । पव्यम् ।

अमावस्या वा ॥२।१।७३॥ अमावस्य इति वा प्रादेशो निपात्यते । अमा वसतः सूर्याच्चन्द्रमसावस्यां

अमावस्या । अमावास्या । अमाशब्दे सहाय्ये वाचि वसेरधिकरणेऽर्थे एयो विभाषया उङ् । प्रदेशश्च निपात्यते । प्रदेशेषु एकदेशविकृतस्य ग्रहणार्थम् ।

पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यघाय्याऽऽनाय्यप्रणाय्या मानहविर्निवाससामिधेन्यनित्याऽसन्म-
तिषु ॥२।१।१०४॥ पाय्य सान्नाय्य निकाय्य घाय्य आनाय्य प्रणाय्य इत्येते शब्दा निपात्यन्ते यथासंख्यं
मान हविर्निवास सामिधेनी अनित्य असम्मति इत्येतेष्वर्थेषु । मीयतेऽनेनेति पाय्यं मानम् । माङ्ः करणे एयः ।
आदिपत्वञ्च निपात्यते । मानमन्यत् । सनीयते इति सान्नाय्यं हविः । सम्पूर्वान्नयतेः एयः आयादेशो गेर्दात्वं च
निपात्यते । सन्नेयमन्यत् । निचीयते इति निकाय्यो निवासश्चेत् । निपूर्वाच्चिञः यथावादेशावादिक्त्वं च निपा-
त्यते । निचेयमन्यत् । धीयते इति घाय्या सामिधेनी । दधातेऽर्थो निपात्यते । विशिष्टा ऋचः सामिधेन्यः ।
तत्र रुढिवशात्काचिदेवोच्यते । धेयमन्यत् । आनाय्य इति नयतेराङ्पूर्वापरयायादेशौ निपात्यावनित्येऽर्थे ।
आनाय्यो दक्षिणाग्निः । रुढिरेषा दक्षिणाग्निविशेषस्य । आनेयोऽन्यः । अविद्यमानसम्मतिरसम्मतिः प्रपूर्वा-
न्नयतेऽर्थायादेशौ निपात्यो । प्रणाय्यश्चौरः । प्रणेयोऽन्यः ।

कुण्डपाय्यसंचाय्यपरिचाय्योपचाय्यचित्याग्निचित्याः ॥२।१।१०५॥ कुण्डपाय्य सञ्चाय्य
परिचाय्य उपचाय्य चित्य अग्निचित्या इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुण्डेन पीयतेऽस्मिन्सोम इति
कुण्डपाय्यः क्रतुः । कुण्डशब्दे भान्ते एयोऽधिकरणे निपात्यते । कुण्डपानमन्यत् । सञ्चीयते इति सञ्चाय्यः
क्रतुः । सञ्चेयमन्यत् । परिचाय्योपचाय्यौ निपात्येते अग्नावभिधेये । परिचेय उपचेय इत्यन्यत् । चित्याग्नि-
चित्याशब्दौ निपात्येते अग्नावभिधेये । चीयतेऽसौ चित्योऽग्निः । अग्निचयनमग्निचित्या । अन्त्ये लौलिङ्ग
भावं क्यप्निपात्यः ।

ण्वुत्तचौ ॥२।१।१०६॥ एवु नृच इत्येतौ त्वौ भवतः । कारकः । कर्ता । भोजकः । भोक्ता ।

नन्दिग्रहिपचिभ्यो ल्युण्णिन्चः ॥२।१।१०७॥ नन्द्यादिभ्यो ग्रहादिभ्यः पचादिभ्यश्च यथासंख्यं
ल्यु णिन् अच् इत्येते त्या भवन्ति । नन्दयतीति नन्दनः । लकारः “युवोरनाकौ” [५।१।१] इति सामान्य-
ग्रहणाविभातार्थः । नन्दिवाशिमदिर्नर्दभूषिसाधिशोभिर्वर्द्धिभ्यो एयन्तेभ्यः संज्ञायां सहितपिदमिष्वलिश्चिञ्चल्लिप-
ट्पिरसिसङ्क्रन्दिसङ्कर्षिभ्यः संज्ञायामण्यन्तेभ्यः । जनार्दनः । मधुसूदनः । लवण इति निपातनाणालम् ।
विभीषणः । पवनः । वित्तनाशनः । कुलदमन एतावणोऽपवादौ इति नन्द्यादिः । ग्रह उत्सह उद्दास स्था
उद्दास मंत्र संमर्द निरक्षी निश्रावी निवापी निवेशी एतेभ्यः निपूर्वभ्यः । अयाची अव्याहारी असंव्याहारी
अवादी अवाजी अवासी एतेभ्यः प्रतिपिद्धेभ्यः । अचामचित्तकर्तृकाणां प्रतिपिद्धानामिति वर्तते । अकारी अहारी
अविनायी विशयी विषयीशब्दौ देशे निपातनात् अद्रिभावी प्रविभावी भूते भवतः । अपराधी उपरोधी
परिभवी परिभावी इति ग्रहादिः । पच पठ वप बद् चल पत तथा चरिचलिपतवदीनामच्याक्चस्येति वच्यते ।
नदट् षषट् तरट् चरट् चोरट् चेलट् गा हट् देवट् टिक्करणं स्त्रियां ङ्यर्थम् । जर मर चर सेच मेप कोप दर्भ सर्प
नर्त प्रण डर । अणि विषयेऽपि । श्रपच चक्रधर । पचादिराकृतगणः ।

क्वाकृप्रीगुङः कः ॥२।१।१०८॥ ज्ञा कृ प्री इत्येतेभ्यः इगुङश्च धोः को भवति । जानातीति ज्ञः ।
आकारान्तलक्षणे णः प्राप्तः । इह अर्थं जानातीति अर्थज्ञः । परत्वादातः के सति नित्यः सविधिः । उत्किरतीति
उत्किरः । विकिरः । प्रीयातीति प्रियः । इगुङः । वित्तिपः । विबुधः । विवृतः । इह काष्ठभेदः इति परत्वादण् ।
आतो गौ ॥२।१।१०९॥ आकारान्ताद्धोः को भवति गौ वाचि । णापवादोऽयम् । प्रस्थः । सुग्लः ।
इह बडवासन्दाय इति परत्वादण् ।

पाघ्नाध्माधेदृशः शः ॥२।१।११०॥ गाविति वर्तते । पादिभ्यः शो भवति । पां इति साहचर्या-
दलान्तरिक्त्वाच्च पिबतेर्ग्रहणम् । उत्पिनः । विपिनः । उज्जिनः । विजिनः । संज्ञायां तु “व्याघ्रैरुपमेयेऽतद्योगे”

[११३।५१] इति निर्देशात् कः । व्याघ्रः । उद्धमः । विधमः । उद्धयः । विधयः । उत्पश्यः । विपश्यः । गाविति केचिदिह नाभिसम्बन्धन्ति । तेन पश्यतीति पश्यः । जिघ्रः ।

लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्योऽगेः ॥२।१।१११॥ लिम्प विन्द धारि पारि वेदि उदेजि चेति साहि ह्येतेभ्यः अगिपूर्वभ्यः शो भवति । लिम्पतीति लिम्पः । कथं कुड्यलेप इति ? “मध्येऽपवादाः पूर्वान्विर्धान् बाधन्ते नोत्तरान्” [प०] इति इगुङः कस्यायं शो बाधको नाणः । विन्दतीति विन्दः । लिम्पविन्द इति सानुपङ्गनिर्देशादन्यत्राप्ययं विधिर्भवति । संज्ञायां गावपि । निलिम्पा नाम देवाः । अरविन्दं गोविन्द इत्यण्विषयेऽपि शः सिद्धः । धारयतीति धारयः । पारयः । वेदयः । उदेजयः । निर्देशादेव गिपूर्वस्य ग्रहणम् । चेतयः । सातं करोतीति णिच् । सातयः । साहयः । आद्याभ्यां के इतरेभ्योऽचि प्राप्ते वचनम् ।

दाञ्धाजोर्वा ॥२।१।११२॥ काथं ताविभक्ती । दाञ् घाञ् इत्येताभ्यां अगिपूर्वाभ्यां वा शो भवति । ददः । दधः । दायः । धायः । अगावित्येव । प्रदः । प्रधः । अनुबन्धनिर्देशो यङुबन्तयोः शो मा भूदित्येवमर्थः ।

ज्वलितिकसन्ताण्णः ॥२।१।११३॥ इतिः आद्यर्थे अविभक्तिश्च निर्देशः । ज्वलादिभ्यः कस गतौ इत्येवमन्तेभ्यो वा शो भवति । ज्वालः । ज्वलः । कासः । कसः । चालः । चलः । अगावित्येव । प्रज्वलः ।

श्याद्व्यधास्तुसंस्तुलिहशिलषश्वसतीणः ॥२।१।११४॥ श्यैङ् आकारान्त व्यध आस्तु संस्तु लिह शिलष श्वत् अतीण् इत्येतेभ्यो णो भवति । वेति निवृत्तं अगाविति च । अवश्यायः । आदिति सिद्धे पुनः श्याग्रहणम् “आतो गौ” [२।१।१०६] इत्यस्य बाधनार्थः । आत् । दायः । धायः । व्याधः । आस्तावः । संस्तावः । लेहः । श्लेषः । श्वासः । अत्यायः । “अवादिभ्यस्तनेरिति वक्तव्यम्” [वा०] अवतनोतीत्यवतानः ।

हसोऽवे ॥२।१।११५॥ ह सा इत्येताभ्यामवपूर्वाभ्यां णो भवति । अवहारः । अवसायः ।

दुन्योरगो ॥२।१।११६॥ दुनी इत्येताभ्यां णो भवति । दुनोतीति दावः । नायः । अगाविति किम् ? प्रदवः । प्रणयः ।

विभाषा ग्रहः ॥२।१।११७॥ ग्रहेर्विभाषया णो भवति । ग्राहः । ग्रहः । व्यवस्थितविभाषेयम् । जलचरे ग्राह एव । ज्योतिषि ग्रह एव । विभाषंति योगविभागाद् भवतीति भावः ।

गेहे कः ॥२।१।११८॥ ग्रहेर्गेहेऽभिधेये को भवति । गेहं सन्न । तात्स्थ्याद्वारा अपि । गृहं गृहाः ।

शिल्पिनि ट्बुः ॥२।१।११९॥ शिल्पिन्यभिधेये ट्बुर्भवति धोः । नर्त्तकः । खनकः । रजकः । रजक-रजनरजसां नखं वक्ष्यति । एत एव धवः प्रयोजयन्तीति केचित् ।

गौ ण्युथकौ ॥२।१।१२०॥ गायतेयुं थक इत्येतौ त्यौ भवतः । शिल्पिनीति वर्तते । गायनः । गाथकः ।

हायनः ॥२।१।१२१॥ हायन इति निपात्यते व्रीहिकालयोः कर्त्रोः । जहात्युदकमिति हायना नाम व्रीहयः । जहाति सहवृताः क्रियाः हायनः संवत्सरः ।

प्रुसृत्वः साधुकारिणि बुन् ॥२।१।१२२॥ प्रु सृ लू इत्येतेभ्यः धुभ्यः साधुकारिणि कर्तारि बुन् भवति । साधु प्रवते यः स प्रवकः । एवं सरकः । लवकः । साधुकारिणीति किम् ? प्रवः ।

आशिषि ॥२।१।१२३॥ आशिषि चार्थे बुन् भवति धोः । जीवतादिति य उच्यते स जीवकः । एवं नन्दकः । वर्धकः ।

इत्यभयान्दविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ।

कर्मण्यण् ॥२।२।१॥ कर्मणि कारके वाचि धोरणित्ययं त्यो भवति । कुम्भकारः । शरलावः । चर्चापारः । कुम्भादिशब्दात् “कर्वकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति ता । “वागमिङ्” [१।३।८२] इति षसः । “शीकिकाभिभक्ष्याचरीक्षिभिम्यो णो वक्तव्यः” [वा०] धर्मशीलः । धर्मशीला । धर्मकामः । वायुभक्तः । धर्माचारः । धर्मापन्नः । क्लेशक्षमः । नेदं वक्तव्यम् । घञन्तेन षष्ठे सति सिद्धम् । धर्म शीलमस्य धर्मशीलः । धर्मे कामोऽस्य धर्मकामः । धर्मे शीलयतीत्येवमादिविग्रहे अनभिधानादण् न भवति यथा आदित्यं पश्यति हिमवन्तं शृणोतीत्येवमादौ न भवति । कुम्भकारादिष्वण् घञन्तेन च षष्ठे इत्युभयं भवति ।

ह्रावामः ॥२।२।२॥ हा वा मा इत्येतेभ्यश्चाण् भवति कर्मणि वाचि । के प्राप्ते इदं वचनम् । स्वर्गहायः । तन्तुवायः । वातिवायत्योर्मातेश्चार्कर्मकत्वादग्रहणम् । धान्यं मिमीते मयते वा धान्यमायः । मीनातिमिनोत्योः कप्रान्तेरभावात् पूर्वैषौवाण् ।

आतः कः ॥२।२।३॥ आकारान्ताद्धोः कर्मणि वाचि क इत्ययं त्यो भवति । गोदः । अर्थज्ञः । पार्ष्णित्रम् । अङ्गुलित्रम् । ज्या वयोहानावित्यस्य ब्रह्म जिनातीति ब्रह्मज्यः । के कृते परत्वादातः खं पश्चाजिः । “असिद्धवदन्नाभात्” [४।४।२१] इत्यात्वस्वासिद्धत्वादियादेशो न भवति । यणादेशः सिद्धः । जुहुवतुः जुहुवुरित्यत्र हेअ आत्वमकृत्वा जिः क्रियते इत्यात्वं नास्तीत्युवादेशः सिद्धः । आहः । प्रहः । इत्याकारान्तात् “आतो गौ” [२।३।८८] इति कः । प्रागालं पश्चाजिः ।

प्रे ॥२।२।४॥ प्रपूर्वादातः को भवति कर्मणि वाचि । तत्त्वप्रज्ञः । भोक्षप्रज्ञः । नियमार्थोऽयमारम्भः । प्र एव गौ नान्यसिन्नातः को भवति । गोसंदायः । वडवासंदायः ।

दाहः ॥२।२।५॥ अयमपि नियमः । दा शा इत्येताभ्यामेव प्रपूर्वाभ्यां कर्मणि को भवति । धर्मप्रदः । धर्मप्रज्ञः । नियमादिह न भवति । पार्ष्णिप्रत्रायः । अङ्गुलिप्रत्रायः । कथं भाष्ये प्रयोगः “अभिज्ञश्च पुनरैकत्वादीनामर्थानाम्” इति । अत्राभिधानवशात् “आतो गौ” [२।३।८८] इति को भविष्यति ।

संख्यः ॥२।२।६॥ प्र इति नियमेन निवर्तिते के पुनरारम्भः । सम्पूर्वात् ख्या इत्येतस्मात्कर्मणि वाचि को भवति । पशून् सञ्चष्टं पशुसंख्यः । अश्वसंख्यः ।

सुपि ॥२।२।७॥ सुवन्ते वाचि धोरातः को भवति । पादैः पिबति पादपः । कच्छेन पिबति कच्छपः । द्वाभ्यां पिबति द्वीपः । समस्यः । विषमस्यः । धर्माय प्रददाति धर्मप्रदः । शास्त्रेण प्रजानाति शास्त्रप्रज्ञः । अकर्मण्यपि वाचि यथा स्यादिति सुब्रह्मणम् । इह केचिदात इति नानुवर्तयन्ति । तेन मूलविभुजादिष्वभिधानवशात् कः सिद्धः । मूलान् विभुजति मूलविभुजो रथः । जलरुहम् । नखमुचानि धनूषि । काकगुहास्तिलाः ।

स्थः ॥२।२।८॥ सुपि वाचि तिष्ठतेः को भवति । कर्तारि पूर्वं योगः । अनिर्दिष्टार्थत्वात् भावेऽपि यथा स्यादित्यारम्भः । आखूनामुत्थानमाखूथः । शलभोत्थः । “स्थास्वभोः पूर्वस्योदः” [१।४।१३५] इति सकारस्य पूर्वस्त्वम् ।

तुहो घश्च ॥२।२।९॥ इतः प्रभृति कर्मणीति सुपीति च द्वयमनुवर्तते । कर्मणि वाचि तुहेः को भवति वकारश्चादेशः । कामान्दोग्धि कामदुघो धर्मः । कामदुघा धेनुः ।

तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः ॥२।२।१०॥ तुन्द शोक इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः परिमृज अपनुद इत्येताभ्यां को भवति । अविशेषेण “सुपि” [२।२।७] इत्येतेनैव के सिद्धे आलस्यसुखाहरणयोरर्थयोर्यथा स्यादित्यारम्भः । तुन्दपरिमृजः अलसश्चेत् । शोकापनुदः पुत्रो जातः । पूर्वं “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति षसः पश्चाद्वाक्सः । आलस्यसुखाहरणयोरिति किम् ? तुन्दपरिमाजं आतुरः । शोकापनुदो धर्माचार्यः ।

गष्टक् ॥२।२।११॥ गा इत्येतस्माद्धोः कर्मणि वाचि टगित्ययं त्यो भवति । वक्त्रगः । वक्त्रगी । “प्रे” [२।२।४] “दाज्ञः” [२।२।५] इति निश्मादिगिपूर्वादातः कर्मणि को विहितस्तस्मिन्नेव विषये टक् । अन्यत्राणोव भवति । वक्त्रसंगायः ।

सुराशीध्वोः पिवः ॥२।२।१२॥ सुरा शीधु इत्येतयोः कर्मणोः पिवतेः टभवति । सुरापः । सुरापी । शीधुपः । शीधुपी । अयमपि कापवादः । सुराशीध्वोरिति किम् ? क्षीरं पिवतीति क्षीरपा कन्या । पिव इति विकृतनिर्देशः किम् ? सुरां पातीति सुरापा ।

ग्रहेरः ॥२।२।१३॥ ग्रहेषां कर्मणि वाचि अ इत्ययं त्यो भवति । शक्त्रिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटी धनुःषु वान्तु प्रायेणाभिधानम् । शक्त्रिग्रहः । लाङ्गलग्रहः । अङ्कुशग्रहः । यष्टिग्रहः । तोमरग्रहः । घटग्रहः । घटीग्रहः । धनुर्ग्रहः । सूत्रग्रहो भवति धारयति चेत् । सूत्रग्राहोऽन्यः ।

हृजोऽनुत्सेधे ॥२।२।१४॥ उत्सेध उत्सेपणम् । हृजोऽनुत्सेधे वर्तमानात् कर्मणि वाचि अत्यो भवति । अंशं हरति अंशहरः । भागहरः । रिक्थहरः । अनुत्सेधे इति किम् ? भारहारः । न केवलमुच्छ्राये उत्सेपणोऽप्युत्सेध इति शब्दो वर्तते तद्यथा नानाजातीया अनियता (तद्वृत्तयः) उत्सेधजीविन इति ।

वयसि ॥२।२।१५॥ शरीरिणां कालकृतावस्था वयः, तत्र अत्यो भवति वयसि गम्ये । अयमुत्सेधार्थं आरम्भः । कवचहरः क्षत्रियकुमारः । अस्थिहरः श्वशशुः । दृशोर (दृश्यमानेन) संभाव्यमानेन वा भारोत्सेपणेन वयो गम्यते ।

आङ्गि शीले ॥२।२।१६॥ शीलं स्वाभाविकी प्रवृत्तिः । आङ्गि च वाचि हृजोऽत्यो भवति शीले गम्यमाने । पुष्पाहरः । फलाहरः । सुखाहरः । उत्सेधानुत्सेधयोरयं विधिरिष्यते । अनुत्सेधे पूर्वेण कस्मान्न भवति ? शीले परत्वात्तृन् स्यात् । शील इति किम् ? भारमाहरति भारहारः ।

अर्हः ॥२।२।१७॥ अर्हतेः कर्मणि वाचि अत्यो भवति । पूजार्हा प्रतिमा ।

स्तम्बेरमकर्णेजपौ ॥२।२।१८॥ स्तम्बेरम कर्णेजप इत्येतौ शब्दौ हस्तिपूचकयोरर्थयोर्निपात्येते । स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णेजपः सूचकः । स्तम्बकर्णयो रमिजपेरिति सूत्रं कर्त्तव्यं सुपीति वर्तते । “षे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इत्यनुपा सिद्धम् । अर्थविशेषपरिग्रहार्थं निपातनम् । इह मा भूत् । स्तम्बे तृणस्तवके रन्ता गौः । कर्णे जपिता वैद्यः ।

शमि घोः खौ ॥२।२।१९॥ शमि वाचि घोः खुविषये अत्यो भवति । शम्भवः । शंवादः । शङ्करः । धुग्रहणेऽनुवर्त्तमाने पुनर्धुग्रहणं बाधकबाधनार्थम् । शङ्करा नाम परिव्राजिका । खुविषये कुजो हेत्वादिषु परत्वाद्दो मा भूत् । खविति किम् ? शङ्करी जिनविद्या ।

शीङोऽधिकरणे ॥२।२।२०॥ शीतेरधिकरणे सुवन्ते वाचि अत्यो भवति । खे शीते खशयः । खेशयः । गर्तशयः । गतेशयः । “षे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इति पक्षेऽनुप् । शीङ इति योगविभागात् पार्श्वदिषु सुवन्तेषु वान्तु अत्यो भवति । पार्श्वार्थ्यां शीते पार्श्वशयः । पृष्ठशयः । उदरशयः । “उत्तानादिषु च कर्त्तव्य” [वा०] उत्तानः शीते उत्तानशयः । अवमूर्द्धशयः । “दिग्घसहपूर्वाच्च अत्यो भवति” [वा०] दिग्घेन सह शीते दिग्घसहशयः । कथं गिरिशः । लोमादिपाठान्मत्वर्थीयः शः । यो हि गिरौ शीते गिरिस्तस्यास्त ।

चरेष्टः ॥२।२।२१॥ चरेषोरधिकरणे वाचि टो भवति । कुरुषु चरति कुरुचरः । मद्रचरः । मद्रचरी । अधिकरण इत्येव । कुरुक्षरति कुरुचार ।

भिक्षासेनादाये ॥२।२।२२॥ अनधिकरणार्थमेतत् । भिक्षा सेना आदाय इत्येतेषु वाञ्छु चरेषो भवति । भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायशब्दः प्यान्तः । आदाय चरति आदायचरः ।

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सुः ॥२।२।२३॥ पुरस् अग्रतस् अग्रे इत्येतेषु सुवन्तेषु वाञ्छु सरतेषो भवति । पुरःसरः । “अग्रतस् आद्यादिभ्य उपसंस्थानम्” [वा०] इत्येवन्तात्तसिः । अग्रतःसरः । अग्रेसरः । अग्रेसरी । अनीवन्तत्वेऽप्येकारो निपातनात् ।

पूर्वं कर्त्तरि ॥२।२।२४॥ कर्त्तृग्रहणं कर्मनिवृत्त्यर्थं पूर्वशब्दे कर्त्तृवाचिनि सुवन्ते वाचि सरतेषो भवति । पूर्वः सरति पूर्वसरः । क्रियाया विशेषणेऽपीभ्यते । पूर्व प्रथमं सरति पूर्वसरः । कर्त्तरीति किम् ? पूर्वं देशं सरति पूर्वसारः ।

कृजो हेतुशीलानुलोम्येऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदे ॥२।२।२५॥ शब्द-श्लोकादिर्वाजिते कर्मणि वाचि कृजः ट इत्यर्थं ल्यो भवति हेतौ शीले आनुलोम्ये च गम्यमाने । हेतुशब्दोपादानात् इह हेतुः प्रकृष्टं कारणम् । विद्या यशस्करी । धनं कुलकर्म । शीलं स्वभावः । समासकरः । अर्थकरः । आनुलोम्यमनुकूलता । प्रेषकरः । वचनकरः । एतेष्विति किम् ? कुम्भकारः । अशब्दादिष्विति किम् ? शब्दकारः । श्लोककारः । कलहकारः । गाथाकारः । वैरकारः । चाटुकारः । सूत्रकारः । मन्त्रकारः । पदकारः ।

दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिनान्दालिपिलिविबलिभक्तिकर्त्तृचित्रक्षेत्रसंख्या-जङ्घाबाह्वर्ध्वनुररुःषु ॥२।२।२६॥ अहेत्वाद्यर्थं आरम्भः । दिवाशब्दे सुवन्ते वाचि विभादिषु कर्मसु वाञ्छु करोतेष्ट इत्यर्थं ल्यो भवति । दिवेति भिन्नं पदम् । दिवा करोतीति दिवाकरः । विभां करोतीति विभाकरः । निशाकरः । प्रभाकरः । भासनं भाः । भासं करोति भास्करः । सूत्रे भास्करान्तेति सकारस्य निपातनात् जिह्वा-मूलीयनिसर्जनीयौ न भवतः । कारं करोतीति कारकरः । अन्तकरः । अनन्तकरः । अन्तकरस्य नञ्से अन्योऽर्थः प्रतीयते इत्यनन्तग्रहणम् । आदिकरः । नान्दीकरः । लिपिकरः । लिविकरः । बलिकरः । भक्तिकरः । कर्त्तृकरः । चित्रकरः । क्षेत्रकरः । संख्या एकत्वद्वित्वादिका । एककरः । बहुशब्दोऽपि नानाधिकरणवाची संख्याशब्दः । बहुकरः । जंघाकरः । बाहुकरः । अहस्करः । “रोऽसुषि” [१।३।७८] इति रेफः । तस्य “कृकमि” [१।४।३४] आदि सूत्रेण सत्वम् । धनुष्करः । अरुष्करः । “सस्सेऽणु स्थस्य” [१।४।३३] इति सत्वम् । “इणः षः” [१।४।२७] इति पत्वम् ।

कर्मणि भृतौ ॥२।२।२७॥ कर्मशब्दे वाचि कृज्यो भवति भृतौ गम्यमानायाम् । भृतिर्नियतं कर्ममूल्यम् । कर्म करोति कर्मकरः । भृताविति किम् ? कर्मकारः ।

कियत्तद्बहुषु ॥२।२।२८॥ किम् यद् तद् बहु इत्येतेषु वाञ्छु कृजः अ इत्यर्थं ल्यो भवति । किङ्करः किङ्करा । यत्करः । यत्करा । तत्करः । तत्करा । चौरे तत्करः । बहुकरा । इह बहुशब्दो वैपुल्यवाची । हेत्वादिषु ट एव भवति । किङ्करणशीला किङ्करी ।

सकृत्स्तम्बे वत्सव्रीहोरिः ॥२।२।२९॥ सकृत् स्तम्भ इत्येतयोः कर्मणोः कृज इतिव्यं ल्यो भवति वत्सव्रीहोः कर्त्रोः । सकृत्कर्त्तृवत्सः । स्तम्भकरिः व्रीहिः । वत्सव्रीहोरिति किम् ? सकृत्कारः । स्तम्भकारः ।

दतिनाथयोः पशौ हृजः ॥२।२।३०॥ दति नाथ इत्येतयोर्वाचोः पशौ कर्त्तरि हृज इतिव्यं ल्यो भवति । दतिहरिः । नाथहरिः पशुः । पशाविति किम् ? दतिहारः । नाथहारः ।

फलेग्रह्णि आत्मम्भरि कुक्षिम्भरि ॥२।२।३१॥ फलेग्रहि आत्मम्भरि कुक्षिम्भरि इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । फलानि गृह्णाति फलेग्रहिः । वाच पत्वमिश्र निपात्यते । आत्मानं विभर्ति आत्मम्भरिः । कुक्षिम्भरिः । वाचो मन्त्वमिश्र निपात्यते ।

एजेः खश् ॥२।२।३२॥ एजतेऽर्त्यन्तात्खशित्यं त्यो भवति कर्मणि वाचि । खकारः “खित्यन्तेः” [४।३।१७६] इति विशेषणार्थः । शकारो गमंशार्थः । अङ्गान्येजयति अङ्गमेजयः । जनमेजयः । “बाततिष्ठ-साधेषु अजतुदजहातिभ्यः खश्वक्तव्यः” [वा०] वातमजाः मृगाः । तिलान्तुदः काकः । सार्धंङ्गहा मृगाः ।

नासिकादौ धेट्धमः ॥२।२।३३॥ नासिकादिषु कर्मसु धेट् ध्मा इत्येताभ्यां खश् भवति । नासि-कान्धयति नासिकन्धयः । नासिकान्धमः । स्वरिन्धयः । स्वरिन्धमः । नाडिन्धयः । नाडिन्धमः । मुष्टिन्धयः । मुष्टिन्धमः । घटिन्धयः । घटिन्धमः । वातन्धयः । वातन्धमः । शुनीस्तनयोर्धेट एव । शुनिन्धयः । स्तनन्धयः । आदिशब्दः प्रकारवाची ।

उदि कूले रुजिवहोः ॥२।२।३४॥ उदीति काम्याने ईप् । उत्पूर्वाभ्यां रुञि वहि इत्येताभ्यां कूले कर्मणि खश् । कूलमुद्रुजः । कूलमुद्रहः ।

वहाभ्रे लिहः ॥२।२।३५॥ वह अभ्र इत्येतयोः कर्मणोः लिहेर्घोः खश् भवति । वहं लेटि वहंलिहो गौः । अभ्रंलिहः प्रासादः ।

मितनखपरिमाणे पचः ॥२।२।३६॥ मितशब्दस्य पृथग्निर्देशात् परिमाणं प्रस्थादि गृह्यते । मित नख परिमाण इत्येतेषु कर्मसु पचेर्घोः खश् भवति । मितं पचते मितम्पचा कन्या । नखम्पचा यवागूः । प्रस्थ-म्पचा । आढकम्पचा । द्रोणम्पचा ।

विध्वरुषोस्तुदः सखम् ॥२।२।३७॥ विधु अरुष् इत्येतयोः कर्मणोः तुदेर्घोः खश् भवति । सकारस्य च खम् । विधुन्तुदः । अरुन्तुदः ।

वाचंयमासूर्यं पश्योग्रम्पश्यललाटन्तपपरन्तपद्विषन्तपेरम्मवपुरन्दरसर्घं सहाः ॥२।२।३८॥ एते शब्दा निपात्यन्ते । वान्छब्दे कर्मणि यमेर्घोः खो निपात्यते व्रते । वाचं यच्छति वाचंयमस्तपस्वी । वाग्या-मोऽन्यः । सूर्यं न पश्यति असूर्यंपश्यं मुखम् । असूर्यंपश्या राजदायाः । निपातनादसामर्थ्येऽपि नञ्सः दृशोः खश् । उग्रं पश्यति उग्रम्पश्यः । उग्रे कर्मणि दृशोः खश् निपात्यते । ललाटन्तपति ललाटन्तपो भास्वान् । खश् निपात्यः । परास्तापयति परन्तपः । द्विषतस्तापयति द्विषन्तपः । परद्विषतोः कर्मणोस्तापेः खञ्निपात्यते । तकारस्य च खम् । “खञ्चि” [४।४।८८] इति प्रादेशः । ख्रियामनभिधानम् । द्विषतीतापः । इरया माद्यति ह्यरम्मदम् । खञ्निपात्यः । पुरो दारयति पुरन्दरः । खच् वाचो मन्ता च निपात्यते । सर्वं सहते इति सर्वं सहः । खश् निपात्यः । कथं पाणयो ध्यायन्ते एषु पाणिन्धमा पन्थान इति ? नासिकादौ पाणिशब्दः; तत्र पाणिन्धमाः पथिकाः तात्स्थ्यात्पन्थानोऽपीत्यधिकरणे खश् न वक्तव्यः ।

प्रियवशे वदः खच् ॥२।२।३९॥ प्रिय वश् इत्येतयोः कर्मणोः वदतेः खञ्जित्यं त्यो भवति । प्रियंवदः । वशंवदः । खकारो वागर्थः (मुमर्थः) । चकारः “खञ्चि” [४।४।८८] इति विरोषणार्थः । त्यान्तरकरणं किमर्थम् ? खशि सति उत्तरत्र करोतेर्बिभर्तेश्च विकरणः स्यात् । घोषिहोडः प्रादेशश्च न स्यात् ।

सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः ॥२।२।४०॥ सर्व कूल अभ्र करीष इत्येतेषु वाञ्छु कषतेः खञ् भवति । सर्वकषो विप्रः । कूलङ्कषा नदी । अर्भङ्कषो वायुः । करीषङ्कषा वात्या । “भगे दारेः खञ् वक्तव्यः” [वा०] भगन्दरः ।

मेघतिभयेषु कृजः ॥२।२।४१॥ मेघ ऋति भय इत्येतेषु कर्मसु करोतेः खञ् भवति । मेघङ्करः । ऋतिङ्करा । भयङ्करः । “अभयाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] अभयङ्करो जिनः । नज्से अन्योऽर्थः प्रतीयते । अथोऽपवादोऽयम् । परत्वेन हेत्वादिटस्य च बाधकः ।

क्षेमप्रियमद्रे ऽण् च ॥२।२।४२॥ क्षेम प्रिय मद्र इत्येतेषु कर्मसु करोतेरणित्ययं ल्यो भवति खञ् ।
वेति सिद्धे कृञो हेत्वादिष्वपि टप्रतिषेधार्थमण्ग्रहणम् । क्षेमकारः । क्षेमङ्करः । प्रियकारः । प्रियङ्करः । मद्र-
कारः । मद्रङ्करः ।

आशितम्भवः ॥२।२।४३॥ आशितम्भव इति निपात्यते । आशितशब्दे सुवन्ते वाचि भवतेर्भाव-
करणयोः खञ् निपात्यते । आशित इति कर्त्तरि क्लो दीत्वं चात एव निपातनात् । आशितस्य भवनमाशितम्भवो
वर्त्तते । आशितो भवत्यनेनालमयमाशितम्भव ओदनः । प्रकरणान्तरविहितो युडपि भवति । भावे घञः समत्वा-
दयं बाधकः ।

भृतवृजिधारिसहितपिदमः खौ ॥२।२।४४॥ भृ तृ वृ जि धारि सहि तपि दमि इत्येतेभ्यः खुविषये
खञ् भवति । कर्मणि सुपि वाचि यथासम्भवमयं विधिः । विश्वम्भरा । वसुन्धरा । रथन्तरो नाम राजा ।
वृडावृजोः-पतिंवरा कन्या । अरिञ्जयः । युगं धारयति इति युगन्धरः । “खचि” [४।४।८८] इत्युङ् प्रादेशः ।
शत्रुंसहः । शत्रुन्तपः । दमिरन्तर्गतयथर्थः । अरिन्दमः । खविति किम् ? कुटुम्बभारः ।

गमः ॥२।२।४५॥ खविति वर्त्तते । सुवन्तवाचि गमेषोः खञ् भवति । सुतङ्गमो नाम कश्चित् ।
क्वचिदखावपीष्यते । मितंगमोऽश्वः । अमितङ्गमा हस्तिनी । ‘विहायसो विहादेशः खच्च वा डिट्कृत्यः’
[वा०] विहायसा गच्छति विहङ्गः । विहङ्गमः । ‘तुरसुजयोश्च’ [वा०] तुरङ्गः । तुरङ्गमः । भुजङ्गः ।
भुजङ्गमः ।

ङः ॥२।२।४६॥ खविति निवृत्तं गम इति वर्त्तते । गमेषो भवति सुवन्ते वाचि । अन्तादिषु वाञ्छु प्राये-
णाभिधानम् । अन्तगः । अत्यन्तगः । अध्वगः । दूरगः । पारगः । अनन्तगः । गुरुतल्पगः । स्रयागारगः ।
ग्रामगः । सर्वत्र गच्छति सर्वत्रगः । पन्नं गच्छति पन्नगः । ‘उरसः सखञ्चेति वक्तव्यम्’ [वा०] ‘विहायसो
विहं च’ [वा०] उरसा गच्छति उरगः । विहायसा गच्छति विहगः । ‘सुदुरोरधिक्करणे ङो वक्तव्यः’ [वा०]
सुखेन गच्छति अस्मिन् सुगः । दुर्गः । ‘निसो देशे’ [वा०] निर्गो देशः । डित्यभस्यापि डित्करणसामर्थ्याद्
खम् ।

आशिषि हनः ॥२।२।४७॥ आशिष्यर्थे हन्तेङो भवति कर्मणि वाचि । तिमि हन्ति तिमिहः ।
शापहः ।

अपे क्लेशतमसोः ॥२।२।४८॥ अप इति कास्थाने ईप् । अपपूर्वात् हन्तेः क्लेशतमसोः कर्मणो-
र्वाचोङो भवति । अनाशीरथोऽयमारम्भः । क्लेशापहः । तमोपहः ।

कुमारशीर्षयोर्णिन् ॥२।२।४९॥ कुमार शीर्ष इत्येतयोः कर्मणोर्हन्तेर्णिन् भवति । अशीलार्थोऽ-
यमारम्भः । कुमारघातो । शीर्षघातो । शीर्षशब्दोऽकारान्तः शिरःपर्यायोऽस्ति ।

टगमनुष्ये ॥२।२।५०॥ हन इति वर्त्तते । हन्तेः कर्मणि वाचि टग् भवति अमनुष्ये कर्त्तरि । पिप्तं
हन्ति पिप्तघ्नं घृतम् । श्लेषघ्नमौषधम् । जायाघ्नस्तिलकः । पतिघ्नी रेखा । अमनुष्य इति किम् ? पापघात-
स्तपस्वी । चौरघातो हस्त्यत्र “युड्या बहुलम्” [२।३।६४] इति बहुलवचनादण् ।

जायापत्योर्लक्षणे ॥२।२।५१॥ लक्षणं चिह्नं तदस्यास्तीति लक्षणः । अश्रादिपाठादः । जाया पति
इत्येतयोः कर्मणोर्हन्तेर्लक्षणवति कर्त्तरि टग्भवति । जायाघ्नो ब्राह्मणः । लक्षणमस्य तद्विधमस्ति । पतिघ्नी
कन्या ।

शकि हस्तिकवाटे ॥२।२।५२॥ शकनं शक् शक्तिरित्यर्थः । हस्ति कवाट इति एतयोः कर्मणोः
हन्तेष्टग् भवति शकि गम्यमानायाम् । अयं पूर्वश्च मनुष्यकर्तृकार्यं आरम्भः । हस्तिनं हन्ति हस्तिघ्नो मनुष्यः ।
हस्तिनं हन्तुं शक् इत्यर्थः । कवाटघ्नो मनुष्यः । शकीति किम् ? हस्तिघातो व्याधः उपायेन ।

पाणिघताडघराजघाः ॥२।२।५३॥ एते शब्दा निपात्यन्ते । पाणिघताडघौ शिल्पिनि निपात्येते । अन्यत्र-पाणिघातः । ताडघातः । राजघ्न इत्यविशेषेण । टघत्वं टिखं च निपाध्यम् ।

सुभगाढ्यस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेऽन्वो स्नुखलुकञ्चौ भुवः ॥२।२।५४॥ अच्चाविति च्यन्त-प्रतिषेधात् नञिवयुक्त्वायेन च्यर्थविज्ञानम् । अच्यन्तेषु च्यर्थे वर्तमानेषु सुभगादिषु वाच्ये भवतेः स्नुख् सुङ्ग् इत्येतौ त्वौ भवतः । असुभगः सुभगो भवति सुभगम्भविष्णुः । सुभगम्भावुकः । आढ्यम्भविष्णुः । आढ्यम्भावुकः । स्थूलम्भविष्णुः । स्थूलम्भावुकः । पलितम्भविष्णुः । पलितम्भावुकः । नग्नम्भविष्णुः । नग्नम्भावुकः । अन्धम्भविष्णुः । अन्धम्भावुकः । प्रियम्भविष्णुः । प्रियम्भावुकः । अत्र तदन्विभिरिष्टः । श्रीसुभगम्भविष्णुः । श्रीसुभगम्भावुकः । अच्चाविति किम् ? सुभगीभविता । आढ्यीभविता । नञ्निर्दिष्टे सदृशसंप्रत्ययादिह न भवति-सुभगो भविता ।

कृजः करणे ख्युट् ॥२।२।५५॥ कृजः करणे कारके ख्युट् भवति अच्यन्तेषु च्यर्थे वर्तमानेषु सुभगादिषु वाच्ये । असुभगं सुभगं कुर्वन्त्यनेन सुभगङ्करणम् । आढ्यङ्करणम् । स्थूलङ्करणम् । पलितङ्करणम् । नग्नङ्करणम् । अन्धङ्करणम् । प्रियङ्करणम् । सुभगङ्करणी विद्या । अच्यन्तेषु इत्येव । सुभगो कुर्वन्त्यनेन । नन्वत्र ख्युटि युटि वा नास्ति विशेषः । सत्यम् । अच्यन्तानुवृत्तेस्तु युटोऽप्यत्रार्थः प्रतिषेधः । च्यर्थे वर्तमानेष्वित्येव । आढ्यं कुर्वन्ति तैलेन । अभ्यञ्जयन्तीत्यर्थः ।

स्पृशोऽनुदके किः ॥२।२।५६॥ उदकवर्जिते सुपि वाचि स्पृशोर्धोः किर्भवति । ककारः किकार्यार्थः । वकारः सति साम्ये कियो वाधनार्थः । मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक् । दलं स्पृशति दलस्पृक् । “वश्च” [५।३।५३] आदि सूत्रेण पत्वं जश्त्वं “कित्यस्य कृः” [५।३।७५] इति कुत्वम् । अनुदक इति किम् ? उदकं स्पृशति उदकस्पर्शः ।

ऋत्विग्दधृग्स्त्रिग्दुष्णिगञ्चुयुजिकञ्चः ॥२।२।५७॥ ऋत्विक् दधृक् सक् दिक् उष्णिक् इत्येते क्यन्ता निपात्यन्ते । अञ्चु युजि कुञ्चि इत्येतैभ्यस्तु किर्भवति । ऋतौ यजते ऋतुप्रयोजनो वा यजते ऋत्विक् । ऋतुशब्दे वाचि यजेः किर्निपात्यते । धृष्णोतीति दधृक् । धृषेः किर्द्वित्वं च निपात्यते । सृजन्ति तामिति सक् । सृजेः कर्मणि किरमागमश्च निपात्यः । दिशन्ति तामिति दिक् । दिशोः कर्मणि किः । उस्तिनहतीति उष्णिक् । उत्पूर्वा स्निहः ग्यन्तखं पत्वं च । उष्णीषेण नहतीति वा उष्णिक् । वनखं प्रश्च । अञ्चु । प्राङ् । दध्यङ् । सुवन्तमात्रे किर्भवति । युजेः केवलादेव किः । युङ् । युञ्चौ । युञ्जः । क्रुङ् । क्रुञ्चौ । क्रुञ्जः । क्रुञ्चोरपि केवलात् किः । नखं न भवति । स एष विशेषो निपातनैः सह निर्देशाल्लभ्यते ।

त्यदादौ दृशोऽनालोके टक् च ॥२।२।५८॥ त्यादादिषु वाच्ये दृशोर्धरनालोकेऽर्थे टग् भवति किश्च । आलोकश्चल्लुर्विषयः पर्युदस्यते । त्यादक् । त्यादशः । “दृशदृशवतौ” [४।३।११५] इति निर्देशात्कोऽपि भवति । त्यादङ् । “आसर्वनाम्नः” [४।३।११७] इत्यात्वम् । एवं तादक् । तादशः । तादङ् । यादक् । यादशः । यादङ् । रुदृशब्दा एते तेन नैतेष्ववयवार्थोऽस्ति । तमिव पश्यति अथवा स इव दृश्यते इति यथा कथञ्चिद्वाक्यम् । “समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] सदृशः । सदक् । सदङ् । अन्यादक् । अन्यादशः । अन्यादङ् । “दृशदृशवतौ” [४।३।११५] इति समानस्य सभावः । अनालोक इति किम् ? यं पश्यति यदृशः । तदृशः ।

सत्सूद्विषदुहृद् इयुजविद्भिदच्छिद्दजिनोराजो गावपि क्विप् ॥२।२।५९॥ सदादिभ्यो धुम्य क्विप् भवति गौ वाचि अपिशब्दात् सुवन्तेऽपि । प्रसृत् । दिवि सीदतीति द्युषत् । अन्तेरिज्जसत् । सृ इति

द्विषा सहचरितः आदादिकः । प्रसूते प्रसूः । अण्डं सूते अण्डसूः । शतसः । गर्भसूः । विद्वेष्टीति विद्विट् । मित्रद्विट् । प्रद्रुह्यतीति प्रद्रुक् । मित्राय द्रुह्यति मित्रद्रुक् । प्रदोग्ध प्रधुक् । युजिर् योगे युज समाघाचिति चाविशेषेण ग्रहणम् । प्रयुनक्ति प्रयुक् । अश्वयुक् । युजेर्यन्तस्याऽपि युज इति निपातनात् योरूप् । प्रयोजयतीति प्रयुक् । अश्वान् योजयति-अश्वयुक् । विदेरविशेषेण ग्रहणम् । प्रवित् । धर्मवित् । प्रभित् । बलभित् । प्रच्छित् । रज्जुच्छित् । प्रजित् । कर्मजित् । प्रणीः । ग्रामणीः । विराजते विराट् । सम्राट् । “मन्वन्कनि-
द्विचः कचित्” [२।२।६२] “क्विप्” [२।२।६३] इति क्विपि षिद्धे नियोगार्थमिदम् । सुपीति वर्तमाने गिग्र-
हणं किमर्थम् ? अन्यत्र सुवग्रहणे गिग्रहणं नास्तीति ज्ञापनार्थम् । तेन “वदः सुपि क्यप् च” [२।१।८६]
इति गे क्यभन भवति । प्रवाद्यमनुवाद्यम् ।

अदोऽनन्ते ॥२।२।६०॥ अदेशोः क्तिन्भवति अनन्ते सुवन्ते वाचि । आममत्ति आमात् । वृत्तात् । अनन्न इति किम् ? अजाद ।

क्रव्ये ॥२।२।६१॥ क्रव्यमाममासम् । क्रव्यशब्दे वाचि अदेः क्तिन्भवति । क्रव्यमत्ति क्रव्यात् । पूर्व-
सौव सिद्धे पुनरारम्भः असुरूपस्याणो बाधकः । कथं तर्हि क्रव्यादः ? पृषोदरादिषु कृत्तविकृतादः क्रव्याद इति
द्रष्टव्यम् ।

मन्वन्कनिद्विचः कचित् ॥२।२।६२॥ मन् वन् कनिप् विच् इत्येते त्याः कचिद् दृश्यन्ते ।
गावपीत्यनुवर्तते । मुशर्मा । सुवर्मा । कचिदिति वचनात् केवलादपि । दामा । पामा । वामा । हेमा । वन् ।
विजावा । अग्नेगावा । “वन्याः” [४।४।४२] इत्यात्वम् । कनिप् । प्रातरिखा । प्रातरिखानौ । केवलादपि ।
कृत्वा । कृत्वानौ । धीवा । पीवा । विच् । विशतीति वेट् । रेट् । वकारः कृत्कार्यार्थः । इकार उच्चारणार्थः ।
चकारः ऐवर्थः । जागर्ति जागः । विरित्युच्यमाने “जागुरविशिषादिङिति” [५।२।८२] इति एप्रतिषेधः
शङ्क्येत ।

क्विप् ॥२।२।६३॥ क्विप् धोः कचिद् दृश्यते गावपि । उखेन (उखायाः) खंसते उखाभ्रत् ।
वाहात् भ्रश्यति वाहाभ्रट् । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । कचिदधिकारात्केवलादपि । याति
याः । वाति वाः ।

स्थः कः ॥२।२।६४॥ गावपीति वर्तते । तिष्ठतेः को भवति । शन्तिष्ठति शंस्यः । सुस्थः । ननु “सुपि”
[२।२।७] “स्थः” [२।२।८] इत्यनेनैव कः सिद्धः । न सिध्यति । “शमि धोः खौ” [२।२।१६] इत्यत्र
धुग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तं समत्वेन पूर्वस्य कस्य बाधनमिति । यथा शङ्करा परिव्राजिकेत्यत्र हेत्वादिलक्षणस्य टस्य
बाधात्कस्याकारस्य बाधनार्थं पुनः कविधानं क्विपोऽसमत्वादस्त्यो न बाधक इति पूर्वेण क्विप्सिद्धः । शंस्थाः ।

भजो णिवः ॥२।२।६५॥ भजतेरिवर्भवति सुपि गावपि । अद्भ्रभाक् । प्रभाक् । णकार ऐवर्थः ।
वकारः सति साभ्ये बाधार्थः । इकारः उच्चारणार्थः । समत्वेन क्विचिर्बाधकोऽस्ति णिवः ।

सुपि शीलेऽजातौ णिन् ॥२।२।६६॥ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरित्यस्मिन् दर्शने जातिप्रतिषेधोऽ-
यम् । अजातिवाचिनि सुवन्ते वाचि शीले गम्यमाने धोर्णिन्भवति । सुपीति वर्तमाने पुनः सुवग्रहणं सुम्मा-
त्रार्थम् । अन्यथा अजाताविति सत्त्ववाचिनः प्रतिषेधादन्यस्यापि सत्त्ववाचिनो ग्रहणं न स्यात् । उष्णं भुङ्क्ते

१. “पिठरस्थान्बुद्धाकुण्डम्” इत्यमरादिग्रामाण्यादुक्ताशब्दस्य नित्यस्त्रीत्वात् “उखायाः शंसते”
इति वक्तुमुचितम् । मूले “उखेन शंसते” इति करणतृतीयाऽस्त्रीत्वं च चिन्त्यम् । २. वहाद् अ०, व० ।
३. वहाभ्रट्-अ०, व० ।

इत्येवंशीलः उष्णभोजी । उदासारिण्यः । प्रत्यासारिण्यः । अजाताविति किम् ? शालीन् भुङ्क्ते इत्येवं शीलः शालिभोजः । साधूनामन्त्रयिता । शील इति किम् ? उष्णभोजः आतुरः । कचिदित्यनुवृत्तेः साधुकारिण्य-
प्यर्थे णिन् । साधुकारी । साधुदायी । “ब्रह्मणि वदेहिन् वक्तव्यः” [वा०] असमस्याणो बाधकः । ब्रह्म-
वादिनो वदन्ति ।

कर्त्तरीवे ॥२।२।६७॥ कर्त्तरि वाचि इवार्थं धोरिण् भवति । उपमानभूते कर्त्तरीत्यर्थः । जात्यर्थम-
शीलार्थं चेदम् । उग्र इव क्रोशते उग्रक्रोशी । ध्वाङ्ङरायी । खरनादी । सिंहनदी । वृत्त्यैवार्थस्योक्तत्वादिवशब्द-
स्याप्रयोगः । कर्त्तरीति किम् ? तिलानिव भुङ्क्ते कोद्रवान् । इव इति किम् ? उग्रः क्रोशति ।

व्रते ॥२।२।६८॥ सुवन्ते वाचि धोरिण् भवति समुदायेन चेद् व्रतं गम्यते । शास्त्रपूर्वको नियमो
व्रतम् । पार्वशायी । स्थण्डिलशायी । वृद्धमूलवासी । श्राद्धं न भुङ्क्ते व्रतमस्य श्राद्धभोजी । अलवण-
भोजी । सापेक्षस्यास्यापि नञो वृत्तिर्व्याख्याता । व्रत इति किम् ? स्थण्डिले शेते कामचारेण ।

प्रायो (य आ) ऽभोक्षणे ॥२।२।६९॥ सुवन्ते वाचि धोराभीक्ष्ये गम्ये प्रायो णिन् भवति । शीलं
गुणान्तरे द्वेषः । ततोऽन्यन्मुहुर्मुहुः सेवनमाभीक्ष्यम् । कषायपायिणो गन्धारयः । सौवीरपायिणो इपिज्ञाः^१ ।
तक्रपायिणो अन्ध्राः । क्षीरपायिण उशीनराः । “मृदन्तनुम्बिभक्त्याम्” [२।४।१२] इति गत्वम् । प्रायो-
ग्रहणादिह न भवति । कुल्माषखादारचोलाः ।

मनः ॥२।२।७०॥ मन्यतेः मुपि वाचि णिन् भवति । अशीलाद्यर्थमेतत् । शोभनं मन्यते परं शोभ-
नमानी । दर्शनीयमानी । मन इति श्यविकरणस्य ग्रहणं व्याख्यानात् । उत्तरत्र खशि विशेषो भविष्यति ।

खश्चात्मनः ॥२।२।७१॥ आत्मनो यत्सुबन्तं तस्मिन् वाचि मन्यतेः खश् भवति णिश्च । शोभ-
नमात्मानं मन्यते शोभनम्न्यः । शोभनमानी । परिडतम्न्यः । परिडतमानी ।

भूते ॥२।२।७२॥ भूत इत्यधिकारो वेदितव्यः । धोरिति वर्तते । अर्थवशाद् भूते ध्वर्थे वक्ष्यमाणा
विधयो भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति दृशेः कनिप् । मेरुं दृष्टवान् मेरुदृश्व । भूत इति किम् ? मेरुं द्रक्ष्यति । न
च भूतशब्दस्तरैतराश्रयत्वेनासिद्धिः, अनादित्वाच्चुद्बन्धव्यवहारस्य । भूत इति निसंज्ञको वा शब्दः । “इयन्त
इति संबन्धानं निसंज्ञानं न विद्यते । प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ॥”

करणे यज्ञः ॥२।२।७३॥ णिन्निति वर्तते । करणे सुवन्ते वाचि यज्ञेर्धोर्भूते णिन् भवति । अग्नि-
ष्टोमेनेष्टवान् अग्निष्टोमयाजी । वाजपेययाजी । विशेषस्य करणत्वम् । यजनसामान्यं यजेरर्थः ।

कर्मणि हनः ॥२।२।७४॥ कर्मणि वाचि हन्तेर्णिन् भवति भूते । पितृव्यं हतवान् पितृव्यघाती ।
मातुलघाती । कुत्साविशेष इति वक्तव्यमिह मा भूत् । देवदत्तं हतवान् देवदत्तघातः ।

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु किप् ॥२।२।७५॥ ब्रह्म भ्रूण वृत्र इत्येतेषु कर्मसु हन्तेः किम्भवति । ब्रह्माणं
हतवान् । ब्रह्महा । भ्रूणहा । वृत्रहा । सामान्येन किपि सिद्धे नियमार्थमिदम् । ब्रह्मादिष्वेव कर्मसु हन्तेः
किम्भान्यस्मिन् । मित्रं हतवान् मित्रघातः । उभयथा नियमश्चायम् । ब्रह्मादिषु कर्मसु भूते किंवेव नान्यस्त्यः ।
उभयथा शिष्यैः प्रतिघ्नन्त्वात् उभयथा नियमो लभ्यते । कथं मधुहा ? चिन्त्यमेतत् । हन इत्येव । ब्रह्माणं
कृतवान् । भूत इत्येव । ब्रह्माणं हन्ति हनिष्यति वा ।

सुकर्मपापमन्त्रपुण्ये कृजः ॥२।२।७६॥ क्विन्निति वर्तते । सुशब्दे वाचि कर्मादिषु च करोतेः
क्विम्भवति भूते । सुष्ठु कृतवान् सुकृत् । कर्मकृत् । पापकृत् । मन्त्रकृत् । पुण्यकृत् । एषोऽप्युभयथा नियमः ।

स्वादिष्वेव वाङ् कृञः किञ्भवति नान्यस्मिन् । सूत्रं कृतवान् सूत्रकारः । स्वादिषु च भूते किञ्चैव नान्यस्त्यः । कृञ इति किम् ? पापं चितवान् । भूत इत्येव । कर्म करोतीति कर्मकारः । स्वादिष्वेव भूते किञ्भवतीति नायमिह नियम इत्येके । तेन भाष्यकृत् शास्त्रकृत् तीर्थकृदित्येवमादि सिद्धम् । वर्तमानकालविवक्षा वा तेनानियमः ।

सोमे सुञः ॥२।२।७७॥ सोमे कर्मणि सुनोतेः किञ्भवति भूते । सोमं सुतवान् सोमसुत् । सोम-सुतौ । सोमसुतः । एषोऽप्युभयथा नियमः । सोम एव वाचि सुनोतेः किञ्भान्यस्मिन् । सुरां सुतवान् सुरासावः । सोमे वाचि भूते किञ्चैव नान्यस्त्यः । सुञ इति किम् ? सोमं कृतवान् । भूत इत्येव । सोमं सुनोति सोमसावः ।

अग्नौ चेः ॥२।२।७८॥ अग्नौ कर्मणि चिनोतेः किञ्भवति भूते । अग्निं चितवान् अग्निचित् । अग्निचितौ । अग्निचितः । अयमप्युभयथा नियमः । अग्नावेव वाचि नान्यस्मिन् । कुड्यं चितवान् कुड्यचायः । अग्नौ वाचि भूते किञ्चैव नान्यस्त्यः । चेरिति किम् ? अग्निं कृतवान् । भूत इत्येव । अग्निं चिनोति अग्निचायः ।

कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ॥२।२।७९॥ कर्मणीति प्रकृतं वर्त्तते । कर्मणि वाचि चिनोतेः कर्मणि कारके किञ्भवति समुदायेन चेदग्न्याख्या गम्यते । श्येन इव चितः श्येनचित् । काक इव चितः काकचित् । रथचक्रचित् । आख्याग्रहणं किमर्थम् ? रूढेः परिग्रहार्थम् । अग्न्यर्थं इष्टकाचयः श्येनचिदुच्यते ।

कर्मणोन्विक्रियः ॥२।२।८०॥ कर्मणि वाचि इन्नित्यं त्यो भवति । विपूर्वात् क्रीणातेः । कर्मणीति वर्तमाने पुनः कर्मग्रहणमभिधेयनिवृत्त्यर्थम् । कर्मणि वाचि कर्त्तरि कारके यथा स्यात् । तैलं विक्रीतवान् तैलविक्रीयी । घृतविक्रीयी । “**कुस्त्रायामिति वक्तव्यम्**” [वा०] इह न भवति । धान्याविक्रायः ।

दृशेः कनिप् ॥२।२।८१॥ भूते कर्मणीति च वर्त्तते । कर्मणि वाचि दृशेर्धोः कनिञ्भवति । मेहं दृष्टवान् मेहदृश्व । विश्वदृश्व । पित्करणमुत्तरार्थम् । सामान्येन कनिपि सिद्धे पुनर्वचनं भूते मन्वन्विचां निवर्तकम् ।

राज्ञि युधिकृञः ॥२।२।८२॥ राजशब्दे कर्मणि युधि कृञ् इत्येताभ्यां कनिञ्भवति । युधिरन्त-र्भावित्यर्थः सकर्मकः । राजयुध्वा । राजकृत्वा । अयमपि योगः मन्वन्विचां निवृत्त्यर्थः । कर्मणीत्येव । राज्ञा युद्धवान् ।

सहे ॥२।२।८३॥ सहशब्दे वाचि युधिकृञ् इत्येताभ्यां कनिञ्भवति भूते । सह युद्धवान् सहयुध्वा । सहकृत्वा । “**वा नोचः**” [४।३।११०] इत्यत्र न्यगवयवस्य वसस्य ग्रहणात् सहशब्दस्य सभावो न भवति । योगविभागो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।

जनेर्ङः ॥२।२।८४॥ सुपि शील इत्यतः सुपीति संबन्धते । जनेर्धोः सुपि वाचि ङ इत्यर्थं त्यो भवति । उपसरे जातः उपसरजः । मन्दुरायां जातः मन्दुरजः । “**त्वे ङ्यापोः क्वचित् खौ च**” [४।३।१७३] इति प्रादेशः । बलभीजः । “**कायामजातावभिधानम्**” [वा०] जाड्याजातं जाड्यजं दुःखम् । सन्तोषजं सुखम् । सङ्कल्पजः कामः । बुद्धिजः संस्कारः । अजाताविति किम् ? मृगाज्जातः । हस्तिनो जातः । गौ वाचि खुविषये प्रजाताः प्रजाः । “**अनौ कर्मणि वाच्यभिधानम्**” [वा०] पुमांसमनुजातः पुमनुजः । स्त्रियनुजः । “**अन्यस्मिन्वापि वाचि दृश्यते कारकान्तरेऽपि**” [वा०] किञ्जातेन किञ्जः । अलं जातेन अलञ्जः । द्विजातो द्विजः । न जातः अजः । “**कायामजातौ**” इत्युक्तम् । जातावपि दृश्यते ब्राह्मणजः पशुवधः । क्षत्रियजं युद्धम् । गौ वाचि स्वावि-त्युक्तः अखावपि दृश्यते । अधिजातः । अधिजः । अभिजः । परिजः । अनौ कर्मणीत्युक्तम् । अकर्मण्यपि दृश्यते । अनुजातः अनुजः । यद्यपि विशेषेण सुपीत्युच्यते इहापि प्राप्नोति सर्वज्ञपरिपूर्णां जातः गृहस्थो जातः । अनभिधानान्न भवति । “**युड्या बहुळम्**” [२।३।१४] इति बहुलवचनात् । कर्मणि कारके अन्यस्मादपि भवति । परिखाता परिखा । पुंसा अनुजातः पुंसात्प्रकरणे पुंसानुजो अनुषान्ध इत्यत्रानुवच्यते ।

तः ॥२।२।८५॥ तसंज्ञस्त्यो भवति धोर्भूते । इह वाग्विशेषपरिग्रहो नास्ति । कृतः । कृतवान् । भुक्तः । भुक्तवान् । कृक्त्वोर्भोविनोः तसंज्ञाश्रिता तेन संज्ञया त्यविधाने इतरेतराश्रयं नास्ति । आदिकर्मण्यपि कथञ्चित् भूतत्वमस्ति । प्रकृतः कटं देवदत्तः । प्रकृतवान् कटं देवदत्तः ।

सुयजोर्वनिप् ॥२।२।८६॥ सुपीति निवृत्तम् । सु यजि इत्येताभ्यां वनिप् भवति भूते । सुतवान् । सुत्वा । इष्टवानिति यच्वा ।

जृषोऽन्त् ॥२।२।८७॥ जीर्येतेरन्त् इत्ययं त्यो भवति भूते । जरन् । जरन्तौ । जरन्तः । कृक्त्वो-रसमत्वादवाधकोऽयम् ।

वस्सदिणो वसुर्लिङ्गमम् ॥२।२।८८॥ वस् सद् इण् इत्येतेभ्यः भूते वसुर्भवति लिङ्बन्मसंज्ञश्च । अनूषिवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । उपसेदिवान् उपाध्यायं शिष्यः । ईयिवान् उपेयिवान् उपाध्यायं शिष्यः । इणः क्रादिनियमादिटि द्वित्वम् । धुरुपस्य “यणेत्योः” [४।४।७७] इति यणादेशः । चस्य “कृतीणो ऋः” [१।२।१६६] इति दीत्वम् । अथ क्रादिनियमलक्षणस्येष्टः “वशि” [१।१।११४] इति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? उत्तरत्र “श्रुवोऽनिट्” [२।२।८६] इत्यनिट्त्वचनं ज्ञापकं “वशि” [१।१।११४] इति प्रतिषेधो न भवति । उदात्तस्य वा स प्रतिषेधः । लिङ्बन्देशाद्द्वित्वम् । “न क्तिन्नलोक” [१।४।७२] इत्यादिना कर्मणि ताप्रतिषेधश्च भवति । मसंज्ञायाः किं प्रयोजनं कर्मव्यतिहारे मा भूत् । व्यत्यूपाे जनपद इति । “प्राक्क्रोर्वाऽसमः” [२।१।८१] इति लुडादयोऽपि भवन्ति । अन्ववात्सीर् । अन्ववसत् । अनूवास । उपासदत् । उपासीदत् । उपससाद । उपागात् । उपैत् । उपेयाय । कसुकानौ लिङ्गदेशौ सर्वधुभ्य इत्येके । “कसुळो मम्” इति मसंज्ञकः । कानस्य “इङ्गानं ऋः” [१।२।१२१] इति दसंज्ञा । भावकर्मकर्तृषु च सम्भवः । लिङ्देशत्वादेव कित्त्वे सिद्धे स्फान्तार्थं कित्करणमनयोः । अञ्जेः आजिवान् । स्वञ्जेः सस्वज्वान् इति कित्वात्तत्त्वं सिद्धम् । ऋकारान्तस्यैप्रतिषेधार्थं च कित्करणं तितीर्वानः । “ऋच्छस्यृताम्” [१।२।१२३] इत्येभ्यः भवति । कर्मणि ततिराणः । “ऋत् इद्धोः” [५।१।७४] इति इत्वस्य “द्विस्वेऽचि” [१।१।२६] इति स्थानिवद्भावे तु इति द्वित्वम् । “उरः” [१।२।१६६] इति अत्वम् । तैरेवाचार्यैः “वस्वेकाजाद्घसामिङ्” इति वसौ परतः एकाचामाकारान्तानां घसेश्चेद्भ्रविहितः । पेचिवान् । पपिवान् । जप्तिवान् । इह कस्मान्न भवति ? विभिद्धान् चिच्छिद्धान् । “हल्मध्ये लिङ्ग्यतः” इत्यनेन एत्वचखयोः कृतयोर्वसौ य एकाच तत्रैवेङ् भवति । यद्येवं ययिवानित्यत्रापि “इटि चान् खम्” [४।४।६३] इति खे कृते एकाच्त्वमस्तीति आद्ग्रहणमनर्थकम् । नियमार्थमेतत् । यथा इयिर्निमित्तमेकाच्त्वं तेषामाकारान्तानामेव [इड्भवति] नान्येषां चखन्वानिति । अत्रापि कृते उडः खे क्रियमाणे एकाच्त्वसम्भवोऽस्ति । अत एव नियमात् घसेरिट्यप्राप्ते ग्रहणम् । तथा वा दृशिगमहन-षिदविशाम् । ददृशिवान् । ददृश्वान् । जग्मिवान् । जगन्वान् । जप्तिवान् । जघ्नवान् । “मो नः” [१।३।८३] “म्बोः” [१।३।८४] इति मकारस्य नत्वम् । दृशेरनेकाच्त्वात् गमह्नोरात् इति नियमात् इट्यप्राप्ते विभाषा । वसौ परतो विदेः शविकरणस्य ग्रहणम् । विविदिवान् । विविद्धान् । ज्ञानार्थस्य ग्रहणे तै “यस्य वा” [१।१।१२१] इति प्रतिषेधः स्यात् । विविशिवान् । विविश्वान् ।

श्रुवोऽनिट् ॥२।२।८६॥ भु इत्येतस्माद्भुसुर्भवत्यनिट् । उपशुश्रुवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । असमत्वा-ल्लुडादयोऽपि । उपाश्रुणोत् । उपशुश्राव ।

अनाश्वाननूचानौ ॥२।२।९०॥ अनाश्वान अनूचान इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । नञ्पूर्वादभातेः वसुर्लिङ्बन्देशभावश्च निपात्यते । अनाश्वान्तपञ्चकार । असमत्वात् नाश्वान् नाश इत्यपि भवति । वचेरनुपूर्वात् कर्तृरि कानो निपात्यते । अनूचानो व्रतोपपन्नः । असमत्वात् अनूक्त्वान् अन्ववोचत् अनूवाच इति च भवति ।

लुङ् ॥२।२।९१॥ लुङ् इत्ययं त्यो भवति भूते धोः । अकार्षीत् । अहार्षीत् । क भवानुषितः । अमुत्रा-वात्समिति । अत्र भूतमात्रस्य विवद्भा, अतएव लङ् न भवति ।

अनद्यतने लङ् ॥२।२।९२॥ भूत इति वर्तते । अविद्यमानाद्यतने भूते धोर्लङ् भवति । अतीताया रात्रेः आ पश्चिमयामात् आगामिन्याश्च रात्रेराप्रथमयामात् अद्यतनकालः । तत्प्रतिषेधादनद्यतनः । अकरोत् । अहरत् । अनद्यतनभूतविवक्षायाः समत्वान्लुङो बाधको लङ् । अनद्यतन इति बसनिदेशाद्यत्राद्यतनगन्धोऽप्यस्ति तत्र लङ् न भवति । अद्य ह्यश्राभुञ्जमहि । यदि बसः अद्यतनेऽप्यद्यतनो नास्तीति लङ् प्राप्नोति । नायं दोषः । विशेषाद्यतने सामान्याद्यतनस्य विद्यमानत्वात् । इह भूतमात्रं विवक्षितम् । आगच्छाम घोषात् अप्रिवाम पय इति । 'परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः' [वा०] अरुणमहेन्द्रो मथुराम् । अरुणद्यवनः साकेतम् । परोक्षे इति किम् ? उदगादादेत्यः । लोकविज्ञात इति किम् ? जगाम ग्रामं देवदत्तः । प्रयोक्तुः दर्शनविषय इति किम् ? जघान कंसं किल वासुदेवः ।

अयद्यभिज्ञोक्तौ लृट् ॥२।२।९३॥ अभिशोक्तिः स्मृतिवचनम् । अविद्यमाने यच्छब्दे अभिज्ञावचने वाचि अनद्यतने लृट् भवति । अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः । मद्रेषु वत्स्यामः । उक्तिग्रहणं पर्यायार्थम् । स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा कश्मीरेषु वत्स्यामः । लङोऽपवादोऽयम् । अयदोति किम् ? अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेष्ववसामः ।

न वा साकाङ्क्षे ॥२।२।९४॥ आकाङ्क्षा सम्बन्धः । अनद्यतन इत्येव । साकाङ्क्षे अभिज्ञावचने वाचि धोर्न वा लृट् भवति । अयद्यभिज्ञावचने पूर्वेषु प्राप्तो लृट् नेति प्रतिपिथ्यते । ततः केवले यच्छब्दसहिते चाभिज्ञावचने साकाङ्क्षे वाचि । वेति सर्वत्र विभाषा । अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः कश्मीरेष्ववसाम तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे तत्रौदनान् भुञ्जमहि । यच्छब्दसहिते अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः यत्तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे यत्तत्रौदनान् भुञ्जमहि ।

परोक्षे लिट् ॥२।२।९५॥ भूते अनद्यतने इति च वर्तते । परावृत्तोऽन्तेभ्यः परोक्षः इन्द्रियागोचर इत्यर्थः । परोक्षशब्दस्य चेदमेव निपातनम् । भूतानद्यतनपरोक्षे ध्वर्थे लिङ् भवति । यद्यपि सर्वो ध्वर्थः साध्यत्वेनानुमेयत्वेन वा परोक्षस्तथापि यत्राश्रयद्वारेण प्रत्यक्षाभिमानो नास्ति लोकस्य स परोक्ष उक्तः । पपाच । चकार । आत्मनानुष्ठिता हि क्रिया सर्वस्य प्रत्यात्मं प्रत्यक्षेति मुत्तमत्तयोरस्मदः प्रयोगः । सुतोऽहं किल विललाप । मतोऽहं किल जघान । "अत्यन्तापह्नवे लिङ् वक्तव्यः" [वा०] नाहं कलिङ्गं जगाम । कलिङ्गगमनस्य प्रत्यक्षत्वाह्लिङ्प्राप्तः ।

हशश्वतोर्लङ् च ॥२।२।९६॥ ह शश्वदित्येतयोर्वाचोर्लङ् भवति लिट् च भूतानद्यतनपरोक्षे । इति हाकरोत् । इति ह चकार । शश्वदकरोत् । शश्वच्चकार ।

प्रश्ने चान्त्युगे ॥२।२।९७॥ प्रष्टव्य इति प्रश्नः । पञ्चवर्षं युगम् । युगान्यन्तरे प्रश्ने भूतानद्यतने परोक्षे लङ्लिटौ भवतः । चकारः किमर्थः ? पूर्वसूत्रे चानुकृष्टस्य लिटोऽनुकर्षणार्थः । किमगच्छस्त्वं पाटलिपुत्रम् । अददादसौ दानम् । ददावसौ दानम् । प्रश्न इति किम् ? देवदत्तो जगाम । अन्त्युग इति किम् ? अहं त्वां पृच्छामि । जघान कंसं किल वासुदेवः ।

पुरि लुङ् वा ॥२।२।९८॥ पुराशब्दो भूतानद्यतने वर्तते न भूतमात्रे । पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतने वा लुङ् भवति पक्षे यथाप्राप्तं च । अवात्सुरिह पुरा छात्राः । अवसन्निरह पुरा छात्राः ।

लट् ॥२।२।९९॥ वेति निवृत्तम् । लङ् भवति पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतने । वसन्तीह पुरा छात्राः । योगविभाग उत्तरत्र लट् एवानुवर्तनार्थः ।

स्मे ॥२।२।१००॥ स्मशब्दोऽप्यनद्यतने परोक्षे च वर्तते न भूतमात्रे । स्मशब्दे वाचि अनद्यतने लङ् भवति । इति स्मोपाध्यायः कथयति स्वयंप्रभार्थं युध्यन्ते स्म विद्याधराः । लङ्लिटोरपवादोऽयम् । स्मपुराशब्दोऽनुगपत्रयोगे परत्वात् स्मलक्षणो लट् । सुलोचनार्थं पुरा युध्यन्ते स्म पार्थिवाः । हशश्वत्त्वाद्यपि विधिः

परत्वेन स्मलक्ष्णः । इति हाधीयते स्म । शश्वदधीयते स्म । तथा हशश्वलक्ष्णात् परत्वेन पुरालक्ष्णो विधिः । इति ह पुरा अध्यगीषत । शश्वत्पुरा अध्यगीषत । “ननौ पृष्टप्रतिवचने भूतमात्रे लट् वक्तव्यः” [वा०] अकार्षीः कटं देवदत्त ! ननु करोमि भोः । तथा “नशब्दे लुक्शब्दे च वाचि पृष्टप्रतिवचने भूते वा लट् वक्तव्यः” [वा०] अकार्षीः कटं देवदत्त ! न करोमि भोः नाकार्षी भोः । अहं नु करोमि अहं त्वकार्षम् । नेदं द्वयं वक्तव्यम् । पूर्वत्र क्रियाया अपरिसमातेर्वर्तमानत्वम् । उतरत्रासमाप्तिः समाप्तिश्च क्रियाया विवक्षिता ।

सम्प्रति ॥२।२।१०१॥ सम्प्रति ध्वये लट् भवति । आरम्भात्प्रभृत्याऽनुपरमाद्वर्तमानः कालः सम्प्रति इत्युच्यते । उक्तं च—“आरम्भाय प्रसृता यास्मिन् काले भवन्ति कर्तारः । कार्यस्यानिष्ठातस्तन्मध्यं काल-मिच्छन्ति ॥” तरति । नयति । याति ।

तस्य शत्रुशानाववैकार्थं ॥२।२।१०२॥ तस्य सम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने शत्रु शान इत्येतावादेशौ भवतः न चेद्वान्तेनैकार्थ्यं भवति । पचन्तं पश्य । पचता कृतम् । पचमानेन कृतम् । तस्य ग्रहणं किम् ? असम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने मा भूत् । उच्यते इह पुरा छात्रैः । अधीयते स्म नटैः । अवैकार्थं इति किम् ? पचति देवदत्तः । अत्र तस्य शत्रुशानाविति योगविभागः कर्तव्यः । “न वा साकाङ्क्षे” [२।२।१०३] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या नवाग्रहणं चाभिसम्बन्धनीयम् । ततो नेत्यनेन इतिशब्दयोगे प्रतिषेध एव भवति । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन इवादिभिर्योगे यौ भिन्नाधिकरणेषु च हस्तु नित्यो विधिः । कुर्वती भक्तिः । कुर्वन्नक्तिः । कौर्वतः । पाचमानः । भक्तिशब्दः प्रियादौ पठ्यते । तेन ‘पुंवद्यजातीयदेशीये’ [४।३।११४] इति पुंवद्भावः । समानाधिकरणेषु हस्तु विकल्पः । कुर्वन्तरः । कुर्वद्रूपः । कुर्वानरूपः । करोतितराम् । करोतिरूपम् । तस्मात् द्युत्ययोरुपसंख्यानं न कर्त्तव्यम् । पुनरवैकार्थं इति द्वितीयो योगः । अत्रापि नवेत्यधिकारात् कचिद्वान्तेन सामानाधिकरण्येऽपि शत्रुशानौ भवतः । सन् घटः । अस्ति घटः । विद्यमानो घटः । विद्यते घटः । जुहन् जुहोति वा देवदत्तः । अधीयानो मुनिः । अधीते मुनिः । व्यवस्थितविभाषाबलात् माड्याक्रोशे लुडपि । मा पचन् । मा पचमानः । मा पाचोत् ।

संबोधने ॥२।२।१०३॥ सम्बोधनमभिमुखीकरणम् । तद्विषये लटः शत्रुशानौ भवतः वैकार्थत्वे । नित्यार्थमिदम् । हे पचमान । उभयोर्द्यौत्यं सम्बोधनमिति वाविभक्तयपि भवति ।

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ॥२।२।१०४॥ लक्षणं ज्ञापकं चिह्नम् । हेतुर्जनकः । लक्षणं च या क्रिया क्रियाया हेतुश्च या क्रिया तत्र वर्तमानाद्धोः परस्य लटः शत्रुशानौ भवतः । शयाना भुञ्जते यवनाः । तिष्ठन्तो-ऽनुशासति गणकाः । व्यभिचार्यपि लक्षणं दृश्यते यथा यत्रासौ काकस्तद्देवदत्तग्रहमिति । अन्यथेहैव स्यात् शयाना वर्द्धते दूर्वा । आसीनं वर्द्धते विसम् । हेतौ । अधीयान आस्ते । अर्जयन् वसति । नवेत्यनुवृत्तेरिह न भवति । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । लक्षणहेत्वोरिति किम् ? यो वेपते सोऽश्वत्थः । यद्भुक्षवते तल्लघु । द्रव्यस्य गुणस्य च लक्षणे न भवतः । इह शास्त्रे अन्यत्र हेतुग्रहणे कारकग्रहणमिति लक्षणग्रहणे च ज्ञापकग्रहणमिति अन्यतरनिर्देशेनोभयप्रतिपत्तेर्द्वयोरुपादानं द्वन्द्वेषु अल्पात्तरमिति पूर्वनिपातव्यभि-चारार्थं [च] ।

तौ सत् ॥२।२।१०५॥ तौ शत्रुशानौ सत्संज्ञौ भवतः । शत्रुशानयोः प्रकृतत्वात् तौग्रहणं शत्रुशान-रूपपरिग्रहार्थम् । तेन लृडादेशयोरपि सत्संज्ञा सिद्धा । देवदत्तस्य कुर्वन् करिष्यन् । “डड्ग्रहण” [१।३।७२] इत्यादिना तासप्रतिषेधः ।

पूङ्ग्यज्ञोः शानः ॥२।२।१०६॥ सम्प्रतीति वर्तते । पूङ्ग्यज्ञ इत्येताभ्यां शानस्त्यो भवति । अज्ञादे-शोऽयं कर्त्तव्येव भवति । मभाग्भ्योऽपि धुभ्यो विधास्यते । सोमं पवमानः । यजमानः । “न क्लित” [१।३।७२] आदिसूत्रे शत्रु इत्यतः प्रभृति आ तृनो नकारात् तृन्ति प्रत्याहार उक्तः । तेन कर्मणि ताप्रतिषेधः ।

वयःशक्तिशीले ॥२।२।१०७॥ वयस् शक्ति शील इत्येतेषु गम्यमानेषु धोः शानो भवति । शरीरावस्था वयः । कतीह शिखरङ्गं वहमानाः । कतीह कवचं पर्यस्यमानाः । शक्तिः सामर्थ्यम् । कतीह भटं निघ्नानाः । कतीह सुञ्जानाः । शीलं गुणान्तरद्वेषः । कतीह मण्डयमानाः । कतीह मुण्डयमानाः ।

धारीकः शत्रुकृच्छिणि ॥२।२।१०८॥ अकृच्छ्रमनायासो यस्यास्ति सोऽकृच्छ्री । धारि इङ् इत्येताभ्यां शतृत्थो भवति अकृच्छिणि कर्त्तरि । धारयन् धर्मशालम् । अधीयन् जैनेन्द्रम् । अकृच्छ्रणीति किम् ? कृच्छ्रेण धारयति । कृच्छ्रेणाधीति ।

द्विषोऽरौ ॥२।२।१०९॥ द्विषः शतृत्थो भवत्यरौ कर्त्तरि । चौरस्य द्विषन् । चौरं द्विषन् । “द्विषः शतृत्वा वचनम्” [वा०] इति कर्मणि वा ता । अराविति किम् । द्वेष्टि पतिं भार्या । असमा एते त्या लटं न बाधन्ते ।

सुञ्जो यज्ञसंयोगे ॥२।२।११०॥ संयुज्यते इति संयोगः संयुक्त इत्यर्थः । सुनोतेयंज्ञसंयोगे कर्त्तरि शतृत्थो भवति । सर्वे सुन्वन्तः । यज्ञस्वामिन इत्यर्थः । यज्ञसंयोग इति किम् ? सुनोति सुराम् ।

प्रशंसेऽर्हः ॥२।२।१११॥ अर्हतेः प्रशंसेऽर्थे शतृत्थो भवति । अर्हन्निह भवान् पूजाम् । अर्हन्निह भवान् विद्याम् । प्रशंस इति किम् ? अर्हति चोरो वधम् ।

आकेः शोलधर्मसाधुत्वे ॥२।२।११२॥ आळभिविधौ द्रष्टव्यः । वक्ष्यति प्रावस्तुवः क्तिप् । आ एतस्मात् क्तिपसंशब्दनात् यानित ऊर्ध्वं वक्ष्यामः शीलधर्मसाधुत्वेषु वेदितव्याः । शीलं व्याख्यातम् । धर्म आचारः । धर्मस्य साधु करणं साधुत्वम् ।

तृन् ॥२।२।११३॥ तृन्नित्यर्थं त्यो भवति सर्वधुभ्यः शीलादिषु । शीले-कर्ता कटान् । वदिता जनाप-वादान् । धर्मे-मण्डयितारः श्राविष्टायना भवन्ति । वधूमूढाम् अलमपहर्तार आहारका भवन्ति श्राद्धे सिद्धे । साधुत्वे । कर्ता कटम् । गन्ताऽखेटम् । गमेककञ् वक्ष्यते । अधिकारात्तृन्नपि भवति ।

अलङ्कृन्निराकृञ्प्रजनोत्पतोन्मदरुच्य-पत्रपवृतवृध्सहचर इष्णुः ॥२।२।११४॥ अलङ्कृन्नित्येवमादिभ्य इष्णुर्भवति शीलादिषु । अलङ्कृन्निष्णुः । मण्डनार्थे पूर्वविप्रतिषेधेन युचोऽयं बाधकः । निराकरिष्णुः । प्रजनिष्णुः । उत्पचिष्णुः । उत्पतिष्णुः । उन्मदिष्णुः । रोचिष्णुः । अपत्रपिष्णुः । वर्तिष्णुः । सहिष्णुः । चरिष्णुः ।

ग्लाभूजिस्थः क्स्नुः ॥२।२।११५॥ ग्ला भू जि स्था इत्येतेभ्यो धुभ्यः क्स्नुर्भवति शीलादिषु । ग्लास्तुः । भूष्णुः । जिष्णुः । स्थास्तुः । “क्स्नोर्गित्वाङ्ग स्थ ईकारः किङ्त्तोरीत्वस्य शासनात् । एबभाव-क्षिषु स्मार्यः श्युकोऽनित्स्वङ्गकोरितोः ॥”

त्रसिगृधिधृषिन्निपः क्लुः ॥२।२।११६॥ त्रसि गृधि धृषि क्षिप इत्येतेभ्यः क्लुर्भवति शीलादिषु । त्रस्तुः । गृध्नुः । धृष्णुः । क्षिप्नुः । ध्युङ्कः एप्रतिषेधार्थं कित्करणमिदं ज्ञापकं त्यादिहलपेक्षया रुसंशयामपि “श्युङ्कः” [१।१।८३] एङ्भवतीति । वेत्ता । बोद्धा ।

शमित्यामदेर्धिणिन् ॥२।२।११७॥ इति आद्यर्थे आळभिविधौ । शमादिभ्य आ मदेर्धिनिष्णु भवति । अष्टौ च शमादयः-शमी । तमी । दमी । भमी । भ्रमी । क्षमी । क्लमी । प्रमादी । उन्मादी । “उङोऽन्तः” [१।२।१७] इत्यैप्रातः “न सेटस्तासि सोऽवमिकमिचमः” [१।२।३३] इति प्रतिषिद्धः । मदेस्तु भवति । घकारः उत्तरत्र कुत्वार्यः । इकारः उच्चारणार्थः । अन्ये उकारमितं कुर्वन्ति तेषामिह शमिनितरा इति “ङगितञ्” [७।३।१२७] इति वा प्रादेशः प्राप्नोति । आमदेरिति किम् ? यसिता ।

दुहानुरुधदुषद्विषद्रुहयुजत्यजरजभुजाभ्याहनः ॥२।२।११८॥ दुहादिभ्यो षिनिष्णु भवति शीलादिषु । दोही । अनुरोधी । दोषी । द्वेषी । द्रोही । योगी । त्यागी । रज इति सूत्रे निपातनात्तस्यम् । रागी । भोगी । अभ्याषाती । अकर्मकाणामिति वक्तव्यमिह मा भत् । गां दोग्धा । शत्रूनभ्याहन्ता ।

परैः सृदेविक्षिपरटवद्वहसुहः ॥२।२।११६॥ परिपूर्वैभ्यः सृप्रभृतिभ्यो धुभ्यः घिनिष् भवति ।
परिसारी । देव देवन इत्यस्य परिदेवी । क्षिपेरविशेषेण ग्रहणम् । परिक्षेपी । परिपाटी । परिवादी । परिदाही ।
परिमोही ।

वौ कषच्चिलसकत्थस्त्रम्भः ॥२।२।१२०॥ विपूर्वैभ्यः कषादिभ्यो धुभ्यो घिनिष् भवति । विकषी ।
विवेकी । विलापी । विकत्थी । विसम्भी ।

अपे च लषः ॥२।२।१२१॥ अपे च वौ वाचि लषेर्घिनिष् भवति । अपलापी । विलापी ।

चरेः ॥२।२।१२२॥ अप इति वर्तते । अपपूर्वाचरेः घिनिष् भवति । अपचारी ।

अतेः ॥२।२।१२३॥ अतिपूर्वाचरेर्घिनिष् भवति । अतिचारी ।

समि पृचिसृजिज्वर ॥२।२।१२४॥ सम्पूर्वैभ्यः पृचि सृजि ज्वरि इत्येतेभ्यो घिनिष् भवति ।
सम्पर्की । संसर्गी । संज्वरी । अकर्मकाणामित्येव । संपृणक्ति साकम् ।

आङ्ङि यमियसिक्कीडिमुषः ॥२।२।१२५॥ आङ्पूर्वैभ्यः यमि यसि क्रीडि मुषि इत्येतेभ्यो घिनिष्
भवति । आयापी । तासावनिङ्भावादप्रतिषेधो न भवति । आयासी । आक्रोडी । आमोषी ।

प्रे लपसृद्रुमथषद्वचसः ॥२।२।१२६॥ प्रशब्दे वाचि लप सृद्रुमथ वदवस इत्येतेभ्यो घिनिष्
भवति । प्रलापी । प्रसारी । प्रद्रावी । प्रमाथी । प्रवादी । वसेरनुब्विकरणस्य प्रवासी ।

निन्दहिंसकिलशखादविनाशभ्याभाषास्यो वुञ् ॥२।२।१२७॥ निन्दादिभ्यो वुञ् भवति शीला-
दिषु । निन्दकः । हिंसकः । विलशेरविशेषेण ग्रहणे युचोऽपि बाधा । क्लेशकः । खादकः । विनाशेर्यन्तस्य
विनाशकः । अस्य इति कण्ठ्वादिर्यगन्तः । अस्यकः । एवुना सिद्धे वुञ्ग्रहणं शापकमन्येभ्यः शीलादिषु
एवाद्यो न भवन्तीति ।

परौ वादिक्षिपरटः ॥२।२।१२८॥ परिपूर्वैभ्यः वादि क्षिप रट् इत्येतेभ्यो वुञ् भवति । परिवादकः ।
परिक्षेपकः । परिराटकः ।

देविक्रुशो गौ ॥२।२।१२९॥ देवि क्रुश इत्येताभ्यां गौ वाचि वुञ् भवति । देवीति देवतेर्यन्तस्य ।
परिदेवकः । आदेवकः । परिक्रोशकः । आक्रोशकः । गाविति किम् ? देवयिता ।

रुचलार्थाद्धेर्युच् ॥२।२।१३०॥ रौत्यर्थेभ्यश्चलत्यर्थेभ्यश्च घिसंज्ञकेभ्यो युच् भवति । रवणः ।
शब्दनः । कथनः । चलत्यर्थेभ्यः-चलनः । चोपनः । कम्पनः । धेरिति किम् ? पठिता शास्त्रम् ।

अनुदात्ते तोऽयसूददीपदीक्षो हलादेः ॥२।२।१३१॥ अनुदात्तेतो हलादेर्बोयुञ्भवति यकारान्त-सूद-
दीप दीक्ष इत्येतान्वर्जयित्वा । द्योतनः । रोदनः । अनुदात्तेत इति किम् ? यथा । अयसूददीपदीक्ष इति किम् ?
कृषिता । क्षमायिता । सूदेः सकर्मकस्यापि सूदिता । कथं मधुसूदनः । नन्द्यादिपाठाण्ययुः । दीपिता । दीपेर्वि-
शेषेण रो विधास्यते युचः प्राप्तिर्नास्ति । इदं प्रतिषेधवचनं शापकं शीलादिकेषु असमविधिर्न भवतीत्यनित्यमेतत् ।
तेन कम्पनः । कम्पनः । कम्पनः । विकत्थी विकत्थनः इति च भवति । दीक्षिता । हलादेरिति किम् ?
एधते इत्येवं शील एधिता । आदिग्रहणं किम् ? हला तदन्तविधिर्मा भूत् । इह न स्यात् । जुगुप्सनः ।
मीमासनः । धेरेव । वसिता वल्लम् ।

सृजुज्वलगृधशुचलषपतपद्ः ॥२।२।१३२॥ सृप्रभृतिभ्यो युञ्भवति । शरणः । जवनः ।
ज्वलनः । गद्दनः । शोचनः । लषणः । पतनः । पदनः । चल्थर्यानां पदेश्च ग्रहणं सकर्मकार्यम् । पदिग्रहणं

शान्तार्थमित्यन्ये । शीलादिकेषु चासमविधिर्न भवतीति । पदेरुक्त्रा विशेषविहितेन सामान्यविहितस्य युचो वाचि-
तत्वात् पुनरनेन प्रत्यापत्तिः ।

क्रुधमण्डार्थात् ॥२।२।१३३॥ क्रुध्यर्थेभ्यो मण्डार्थेभ्यश्च धुभ्यो युञ्जभवति । क्रोधनः । कोपनः ।
रोषणः । मण्डार्थेभ्यः—मण्डनः । रचनः । भूषणः ।

क्रमिद्रमो यङ् ॥२।२।१३४॥ क्रमिद्रमिभ्यां यङन्ताभ्यां युञ्जभवति । चङ्क्रमणः । दन्द्रमणः ।

यजिन्नपिवद्दशामूकः ॥२।२।१३५॥ यङ् इति वर्तते । यज्यादिभ्यो यङन्तेभ्यः ऊको भवति ।
यायजूकः । जञ्जपूकः । वावदूकः । दन्दशूकः । जपिदंशिभ्यां “लुपसदचरजपजभवहृदशो गह्”
[२।१।२१] इति यङ् । “जपजभवहृदशभञ्जपशाम्” [१।२।१८४] इति चस्य नुमागमः ।

जागुः ॥२।२।१३६॥ जागुरुको भवति । जागरुकः ।

लषपतपदस्थाः—हृषहन्शूकमगम उकञ् ॥२।२।१३७॥ लषादिभ्यः उकञ् भवति । अपलापुकं
नीचसङ्गतम् । “अपे च लषः” [२।२।१२१] इति वचनात् घिनिष्णपि भवति । प्रपातुका गर्भाः । उपपादुकाः
देवाः । उपस्थायुको गुरुन् । प्रभावुकः । प्रवर्षुकः । आघातुकः । शृणोतेः शासकः । कामुका वन्यस्य स्त्रियो
भवन्ति । “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिना कर्मणि तायाः प्रतिषेधे प्राप्ते उकप्रतिषेधे कमेरप्रतिषेध इत्यु-
क्तम् । आगामुकः स्वग्रहम् ।

जल्पभिन्नकुट्टलुण्टवृङ्छाकः ॥२।२।१३८॥ जल्पादिभ्यो धुभ्यष्टाको भवति । जल्पाकः । जल्पाकी ।
अकर्मकविवक्षायां “रुचकार्याद्धेयुच्” [२।२।१३०] इति युच् प्रातः । भिन्नाकः । अनुदात्तेतो युच् प्रातः ।
कुट्टाकः । लुण्टाकः । बराकः ।

प्रे सूजोरिन् ॥२।२।१३९॥ प्रपूर्वाभ्यां सूजुभ्यां इन् भवति । प्रसवी । प्रजवी ।

परिभूजिद्विचिब्रीणवमाव्यथाभ्यमः ॥२।२।१४०॥ इन्निति वर्तते । परिभू जि द् विचि ब्रीण इण
वम अव्यय अभ्यम इत्येतेभ्य इन् भवति । परिभावी । जयी । आदरी । क्षयी । विशयी । अत्ययी । वमी ।
अव्ययी । अभ्यमी ।

स्पृहृगृहृपतिद्विनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुः ॥२।२।१४१॥ स्पृहृप्रभृतिभ्यो धुभ्यः आलुर्भवति ।
स्पृह्यालुः । गृह्यालुः । पत्यालुः । एते चुरादिष्वदन्ताः । दयालुः । निद्रालुः । तन्द्रालुः । तन्निति निपातनमालु-
विषये भवति । श्रद्धालुः । इह शीङो ग्रहणं कर्त्तव्यम् । शयालुः ।

दाधेट्सिशदसदो रुः ॥२।२।१४२॥ दा धेट्सि शद सद इत्येभ्यो रुर्भवति । दा इत्यविशेषेण
ग्रहणम् । दासः । घासः वत्सो मातरम् । “न क्ति” [१।४।७२] इत्यत्र उकारप्रश्लेषात् तदन्तविधिना तायाः
प्रतिषेधः । सेसः । शद्रुः । सद्रुः । यत्वात्मकर्मणि यतेर्दास काष्ठं तदुणादिषु द्रष्टव्यम् ।

सृषस्यद् कसरः ॥२।२।१४३॥ सृ षसि अद् इत्येतेभ्यः कसरो भवति । सृसरः । कसरः ।
अद्कसरः । अनेनैवादेः घष्भावो निपात्यते ।

भञ्जभासमिदो घुरः ॥२।२।१४४॥ भञ्जादिभ्यो घुरो भवति । भञ्जेरात्मकर्मण्यभिधानम् । भञ्जुरं
काष्ठम् । भासुरं ज्योतिः । मेदुरं मुखम् ।

विदुः ॥२।२।१४५॥ विद् मिद् छिद् इत्येतेभ्यः कुरो भवति । विदुरः इति शानार्थस्यैव ।
भिच्छिदोरात्मकर्मणि कुर इष्यते । विदुरं काष्ठम् । छिदुरा रज्जुः ।

सृजीणलशः करप् ॥२।२।१४६॥ सृ जि इण् लश इत्येतेभ्यः करप् भवति । सृत्वरः । जित्वरः ।
इत्वरः । नश्वरः । नश्वरी ।

गत्वरः ॥२।२।१४७॥ गत्वर इति निपात्यते गमेः करप, मकारस्य खं निपात्यते । गत्वरः । गत्वरी ।

नमिकम्पिस्म्यजस्कमर्हिसदीपो रः ॥२।२।१४८॥ नमि कम्पि सि अजस कम हिंस दीप इत्ये-
तेभ्यो रो भवति । नमेरात्मकर्मण्यपि । नम्रं काष्ठम् । नम्रो देवदत्तः । कम्पा शाखा । स्मेरं मुखम् । जस्यतेर्नञ्-
पूर्वात् अजस्रं शानं भावयामः । कम्पा युवतिः । हिंसः पापमेति । दीपो मणिः । कम्पेश्च एयर्थत्वात्
कमदीप्योरनुदात्तेलाद्युच् प्राप्तः ।

सनाशंसमित्त उः ॥२।२।१४९॥ सन्नन्त आशंस मित्त इत्येतेभ्य उत्यो भवति । चिकीर्षुः । आङः
शसि इच्छायामित्यस्य आशंसुः । मित्तुः ।

विन्दुच्छ्रु २।२।१५०॥ विन्दु इच्छु इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । वेत्तेरुकारः नुमागमश्च निपात्यते ।
विन्दुः । इच्छतीत्येवंशील इच्छुः । उश्छत्वं च निपात्यते ।

स्वपितृषोर्नजिङ् ॥२।२।१५१॥ स्वपितृषिभ्यां नजिङ् भवति शीलादिषु । स्वप्क् । स्वप्जौ ।
तृष्णक् । तृष्णजौ ।

शृवन्द्योरारुः ॥२।२।१५२॥ शृ वन्दि इत्येताभ्यामारु इत्ययं त्यो भवति । शरारुः । वन्दारुः
जिनान् ।

भियः क्रुकलुकौ ॥२।२।१५३॥ बिभेतेः क्रु क्लुक इत्येतौ भवतः । भीरुः । भीलुकः । क्रुकोऽपि
वक्तव्यः । भीरुकः ।

स्थेशभासपिसकसो वरः ॥२।२।१५४॥ स्था ईश भास पिस कस इत्येतेभ्यो वरो भवति ।
स्थावरः । ईश्वरः । भास्वरः । पेस्वरः । कस्वरः ।

यो यङः ॥२।२।१५५॥ यातेर्यङन्ताद्वरो भवति । यायावरः । वरे अतः खम्, तस्य यखविधिं प्रति न
स्थानिवद्भाव इति “बलि ष्योः खम्” [४।३।५५] इति यखम् । यखे कृते अतः खस्य स्थानिवद्भावात् “इटि
चात्खम्” [४।४।६३] इति आत्वं प्राप्तम् । वरे पूर्वादेशस्य न स्थानिवद्भाव इति न भवति । “शीलादि-
प्रकरणे धाक्कृत्जननिभ्य इङिट् वक्तव्यः” [वा०] धानशीलो दधिः । करणशीलः चक्रिः । सरणशीलः
सलिः । जननशीलः जलिः । नमनशीलः नेमिः । “हृक्ष्मभ्ये लिङ्यतः” इति एत्वचले ।

प्रावस्तुवः क्विप् ॥२।२।१५६॥ प्रावपूर्वात् स्तौतेः क्विप् भवति शीलादिषु । प्रावाणं स्तौतीत्येवंशीलः
प्रावस्तुत् । शीलादिषु वाऽसमविधिर्नास्तीति सामान्यलक्षणः क्विप् न प्राप्नोति पुनर्विधीयते ।

अन्येभ्योऽपि ॥ २।२।१५७ ॥ अन्येभ्योऽपि धुभ्यः शीलादिषु क्विब् भवति । अपिमहणं
विकल्पार्थम् । अन्येभ्योऽपि धुभ्यः शीलादिष्वपि भवत्यशीलादिष्वपि तत्रामिधानवशात् । भ्राजभासधुर्विद्युतेर्जि-
पृजुभ्यः शीलादिषु क्विब् भवति । अन्येभ्योऽन्यत्र । विभ्राजनशीले विभ्राट् । विभ्राजौ । भाः । भासौ ।
धूर्वणाशीलः धूः । धूरौ । विद्युत् । विद्युतौ । ऊर्क् । ऊर्जौ । पूः । पुरौ । जूः । जुवौ । जुवः । “क्वितिङि-
च्छायतस्तुकटप्रुश्रीणां वीरजिश्च” [वा०] इति दीलम् । अन्येभ्योऽशीलादिषु । पक् । पचौ । भित् ।
भिदौ । छित् । छिदौ । वाक् । प्रच्छेः प्राट् । आयतस्तुः । कटप्रुः ।

भुवः ख्वन्तरे ॥२।२।१५८॥ भवतेः क्विब् भवति ख्वावन्तरे च गम्यमाने । मित्रभूः । मित्रभुवौ ।
मित्रभुवः । अन्तरे । प्रतिभूः । प्रतिभुवौ । प्रतिभुवः । पूर्वेषु सिद्धे नियमार्थमेतत् ख्वन्तरयोरेव भुवः शीला-
दिषु नान्यत्र । भविता । भावुकः ।

विप्रसमोऽसौ डुः ॥२।२।१५९॥ गीलादिष्विति निवृत्तम् । सम्प्रतीत्यनुवर्तते एव । विप्रसपूर्वाद्धो-

भुवो इर्भयलौ । विभुः । प्रभुः । शम्भुः । अस्त्वाविति किम् ? विभुर्नाम कश्चित् । “हुप्रकरणे मित्तुप्रभृतीना-
मुपसंख्यानम्” [वा०] मितं द्रवति मितद्रुः । शम्भुः ।

दात्रीरासर्युजस्तुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ऋट् ॥२।२।१६०॥ दाप् लवन इत्ये-
वमादिभ्यः करणे कारके ऋट् भवति । दान्ति तेन दात्रम् । नेत्रम् । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् ।
तोत्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेद्रम् । पत्रम् । दंष्ट्रा । अजादिषु पाठाद्याप् । नग्री । दंशेः कृतनक्षस्य निर्देशो
ज्ञापकः कचिदन्यत्रापि नखम् । दशनः ।

धात्रपोत्रे ॥२।२।१६१॥ धात्र पोत्र इत्येते शब्दरूपे निपात्येते । घेटः कर्मणि ऋट् निपात्यते । धयन्ति
तामिति धात्री । पोत्रमिति पुनातेः पवतेर्वा करणे ऋट् निपात्यते । हलस्य सूकरस्य वा मुखं चेद्भवति हलस्य
पोत्रम् । सूकरस्य पोत्रम् ।

लूधूसूखनर्तिसहचर इत्रः ॥२।२।१६२॥ करण इति वर्तते । ल्वादिभ्यो धुम्यः करणे इत्रो भवति ।
लुनाति तेन लवित्रम् । धुवति तेन धवित्रम् । सुवति तेन सवित्रम् । खनित्रम् । अरित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।

पुवः खौ ॥२।२।१६३॥ करण इति वर्तते । पवतेः पुनातेर्वा करणे इत्रो भवति खुविषये । पूयतेऽनेन
पवित्रम् । पवित्रा नाम नदी ।

कर्तरि चर्षिदेवतयोः ॥२।२।१६४॥ पुव इत्रो भवति कर्तरि करणे च कारके ऋषिदेवतयोरभिधे-
ययोः । भिन्नयोगनिर्दिष्टत्वाद्यथासंख्यं न भवति । पूयतेऽनेन पुनाति वा पवित्रोऽयमृषिः । देवतायां पवित्रोऽर्हन्
स मां पुनातु ।

जीतः क्लः ॥२।२।१६५॥ संप्रतीति वर्तते । जिशब्देतो घोः संप्रति क्लो भवति । जिमिदा मिन्नः ।
जिधृषा । घृष्टः । जिद्विदा । द्विषणः ।

मतिबुद्धिपूजार्थाच्च ॥२।२।१६६॥ मतिरनुमतिः । बुद्धिर्ज्ञानम् । पूजा अर्चा । मत्यर्थेभ्यो
बुद्धयर्थेभ्यः पूजार्थेभ्यश्च धुम्यः संप्रति क्लो भवति । राज्ञां मतः । राज्ञामिष्टः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां ज्ञातः । राज्ञां
पूजितः । राज्ञामर्चितः । क्लयोगे कर्तरि ता प्राप्ता “न क्लित्” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवतीत्यनेन
पुनर्विधीयते । चकारोऽनुक्लसमुच्चयार्थः ।

क्लीकितो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि । रुष्टश्च रुषितश्चोभौ अभिव्याहृत इत्यपि ॥

हृष्टतुष्टौ तथा कान्तः दयितोऽन्यः संयतोद्यतौ । कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृताः पूर्वकस्मृताः ॥

अमृतशब्दः संप्रति बहुत्वनिर्देशात् । सुतः शयितः स्थितः आशित इत्येवमादयोऽपि संप्रति बोद्धव्याः ।

उणादयो बहुलम् ॥२।२।१६७॥ “पुवः खौ” [२।२।१६३] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या स्वाविति
वर्तते । उण् इत्येवमादयस्त्वाः संप्रति ध्वर्थे बहुलं भवन्ति । खुविषये कचित्यसंज्ञा भवति । “कृवापाजिमिष्टवि-
साध्यशब्द उण् ।” कादः । वायुः । पायुः । जायुः । मायुः । स्वादुः । साधुः । आशुः । कचित्यसंज्ञा न
भवति । कृधूम्यां कसरः । कृसरः । धूसरः । त्यसंज्ञाविरहात् “त्यादेशयोः” [१।४।३३] इति षत्वं न भवति ।
इह च शङ्खः शण्ड इण् न भवति । कचिदुभयथा । “कृतृषविहनिक्मिकाविभ्यः सः ।” वर्सम् । तर्सम् ।
एषमप्रति त्यसंज्ञा षत्वं प्रति नास्ति । इह च षण्ड इति प्रकृतिकार्यं ध्वादिसत्त्वं न भवति उक्तं च-

“क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥”

तथा अनुक्ताभ्योऽपि प्रकृतिभ्यस्तथा भवन्ति । अण्डः । जूकसुवृङ्गः—अण्डः । करण्डः । सरण्डः । वरण्डः ।
आङ्ङि ईर्तेरपीष्यते । एरण्डः । अनुक्ता अपि त्या भवन्ति श्रुफिडः श्रुफण्डः इत्येवमादिषु । तथा संप्रतिकाले
उणादयो विहिताः क्वचिद्भूतेऽपि दृश्यन्ते । कषितोऽसौ कषिः । ततोऽसौ तन्तिः । भसितं भस्म । चरितं चर्म ।
वृत्तं तर्दितं वर्त्म । तदुक्तं “बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादापि तेषाम् । कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं
नैगमरूढमव हि सुसाधु ॥” जात्यपेक्षयैकत्वं तनुदृष्टेरिति प्यत्वे कर्मणि का । तनुदृष्टं वीक्ष्य तनुदृष्टेः प्रकृतेस्त-
नोर्गुणस्य दर्शनादित्यर्थः । तद्बाहुलकमुक्तम् । एवं हि नैगमाः गौरित्येवमादयः रुढिभवाः पलाश इत्येवमादयः
शब्दा सुसाधवो भवन्ति ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जेनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

गम्यादिवर्त्यति ॥२१३१॥ उणादयो अन्यत्र च ये साधिता गम्यादयः शब्दास्ते च वर्त्यति काले
साधवो भवन्ति । वर्त्यतीत्यनागतस्य कालस्य सामान्येन ग्रहणम् । संप्रत्यादिकाले तेषां साधुत्वव्यवच्छेदार्थं
आरम्भः । गमिष्यति गमी ग्रामम् । आगमिष्यति आगमी नगरम् । “आधमर्ष्यं चैनः” ; [१।४।७४] इति
कर्मणि थायाः प्रतिषेधात् “कर्मर्थाप्” [१।४।२] इतीवेव भवति । एवं भविष्यति भावी । प्रस्थास्यते प्रस्थायी ।
प्रतिभोत्स्यते प्रतिबोधी । प्रतियोच्यते प्रतियोगी । प्रयास्यति प्रयायी । “गमेरिन्” इति इन् । स एव “आङ्ङि
षिप्” इति षिप् । “सुवरच” इति भवतेरपि षिप् । अन्येभ्यः “सुपि शीलेऽज्ञातौ षिन्” [२।२।६६]
इति षिन् । कथं श्वो गमी ग्रामम् । “अनद्यतने लुङ्” इति लुङ्प्राप्तेः ? तदसत् । यतो वर्त्यतीत्यनेन सामान्य-
शब्देनानद्यतनविशेषोऽप्यत्र गृहीतो यथा गौरित्यनेन खण्डमुण्डोऽपि । अतो वर्त्यतीत्यविशेषेण वृत्तावप्यर्थकरणा-
देर्विशेषप्रतिपत्तिः । अथवा “अनद्यतने लुट्” [२।३।१४] इत्यत्र “गम्यादिवर्त्यति” इत्येतदनुवर्तिष्यते । तेनान-
द्यतनविषयेऽपि गम्यादयः सिद्धा भवन्ति । असमाद्धा अनद्यतने भवन्ति । लुङ्लुट्यवपि भवतो गमिष्यति
गन्तेति ।

पुरायावर्तोलट् ॥२१३२॥ पुरा च यावच्च पुरायावतो । तयोः पुराया-च्छब्दयोर्वाचोर्वर्त्यति धोलङ्
भवति । पुरा भुङ्क्ते । पुराधीते । यावद्भुङ्क्ते । यावदधीते । भविष्यदनद्यतने लृटोऽयमपवादो लट् । लुङ्पि
लृङ्पवादाः, तत्रापवादयोः स्पष्टं परत्वाल्लुट् प्राप्तेः पूर्वनिर्णयेन लङ् भवति । श्वः पुराऽधीते । श्वो यावदधीते ।
लक्षणाप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं न तु लक्षणिकस्येत्यभिधानात् । तेनेह न भवति । यावद्दास्यति
तावद्भोक्ष्यते । महत्या पुरा जेष्यति ।

वा कदाकर्होः ॥२१३३॥ कदा कर्हि इत्येतयोर्वाचोर्वर्त्यति धोर्वा लङ् भवति । कदा भुङ्क्ते । कदा
भोक्ष्यते । कदा भोक्ता । कर्हि भुङ्क्ते । कर्हि भोक्ता ।

किंवृत्ते लिप्सायाम् ॥२१३४॥ किमो वर्तनं किंवृत्तं तस्मिन् वाचि लिप्सायां गम्यमानायां वर्त्यति
वा लङ् भवति । लुटि लृटि च प्राप्ते अयमारम्भः । लब्धुमिच्छा लिप्सा प्रार्थनाभिलाषः । को भवद्भयो भिन्नां
ददाति । को भवद्भयो भिन्नां दास्यति । को भवद्भयो भिन्नां दाता । इह कस्मान्न भवति । कदा भोजयिष्यसि
भोजयितासि वा । किमो हि विभक्त्यन्तस्य डतरडतमान्तस्य च वर्तनं किंवृत्तमिति वैयाकरणानामभिप्रायः । तच्चेह
नास्ति ततोऽत्र लटोऽभावात् लृङ्लुट्यवैव भवतः । लिप्सायामिति किम् ? कः पाटलिपुत्रं यास्यति ?

लिप्स्यसिद्धौ ॥२।३।५॥ वत्स्यतीत्यनुवर्तते । लिप्सति हि लिप्स्यो दाता ओदनादिश्च । तत्र दातरि तासः । लिप्स्यस्य सिद्धिः लिप्स्यसिद्धिः । याचकेन हि यो लिप्स्यते दाता तस्य सिद्धौ स्वर्गादिफलप्राप्तौ । ओदनादौ तु भासः । याचकेन हि यो लिप्स्यते ओदनादिना करणभूतेन सिद्धिः दातुः स्वर्गादिफलप्राप्तिः तस्यां गम्यमानायां वत्स्यति वा लङ् भवति । यो भवद्भयो भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा स स्वर्गलोकं गच्छति गमिष्यति गन्ता वा । दानादातुः स्वर्गसिद्धिं ब्रुवाणो दातारमेवमुत्साहयति । ननु चात्र उभयत्रापि लिप्साया गम्यमानत्वात् ‘किञ्चित्ते लिप्सायाम्’ [२।३।४] इत्येव लङ्विकल्पसिद्धेर्व्यर्थोऽयमारम्भः । न व्यर्थोऽकिञ्चित्कार्यत्वादेतदशरम्भस्य । पूर्वेषु हि किञ्चित्ते वाचि लङ्विकल्पो विहितः ।

लोडर्थलक्षणौ ॥२।३।६॥ वत्स्यतीति वेति च वर्तते । लोडर्थः प्रैषादिः, स लक्ष्यतेऽनेन लोडर्थ-लक्षणम्, तस्मिन् लोडर्थलक्षणे ध्वर्थे वर्तमानात् धोर्वत्स्यति वा लङ् भवति । उपाध्यायश्चेदागच्छति । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति । उपाध्यायश्चेदागन्ता । अथ त्वं तर्कमधीष्व अथ गणितमधीष्व । अत्रोपाध्यायागमनेन प्रैषो लक्ष्यते ।

लुङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥२।३।७॥ वेति वर्तते । लोडर्थलक्षण इति । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवः काल ऊर्ध्वमौहूर्तिकः । निपातनात्सविधिष्वत्पदस्यैप् । ऊर्ध्वमौहूर्तिके वत्स्यति काले लोडर्थलक्षणे वर्तमानाद्धोर्लिङ् भवति लङ् वा । ऊर्ध्वं मुहूर्तादुपाध्यायश्चेदागच्छेत् उपाध्यायश्चेदागच्छति उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागन्ता अथ त्वं तर्कमधीष्व अथ त्वं गणितमधीष्व ।

बुण्तुमौ क्रियायां तदर्थायाम् ॥२।३।८॥ वत्स्यतीत्येव वर्तते । यस्माद्धोस्त्योत्पत्तिः प्रार्थ्यते तद्वाच्य-क्रिया तच्छब्देनाभिप्रेता सा क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्या व्रजनादिक्रियायाः सा तदर्था, तस्यां वाचि वत्स्यति-काले बुण्तुमौ भवतः । कारको व्रजति । कर्तुं व्रजति । भोजको व्रजति । भोक्तुं व्रजति । क्रियायामिति किम् ? भिक्षिष्ये इत्यस्य जशः । अध्येष्ये इत्यस्य कमण्डलुः । द्रव्यमत्र तदर्थम् । तदर्थायामिति किम् ? धावतस्ते पति-ष्यति दण्डः । नात्र धावनं दण्डपतनार्थम् । ननु सामान्यविहितेन एवुना सिद्धं किमर्थं वुरिन्धीयते भिक्षुतो भावे भवन्तीति भिन्नविषयत्वात्तुमपि न बाधकः । क्रियायां तदर्थायां वाचि लृङ् वक्ष्यते स बाधकः स्यात् । वाऽसमविधिना एवुर्भविष्यतीति चेत्; एवं तर्हि नियमार्थं बुण्वचनम् । वत्स्यति क्रियायां तदर्थायां वाचि बुणोव यथा स्यात् तृजादयो मा भूवन् इति । कर्ता व्रजति विक्रियो व्रजति इत्येवमादि न भवति ।

भाववाचिनः ॥२।३।९॥ भाववाचिनो घञादयस्ते वत्स्यति काले क्रियायां तदर्थायां वाचि भवन्ति । यद्यपि सामान्येन विहिता घञादयस्तथापि बुण्प्रहृणं शपकमुक्तम् सामान्यविहितास्तथा वत्स्यति काले क्रियाया तदर्थायां न भवन्तीति तुमा च ब ध्येरन् । तेनायं यत्नः । पाकाय व्रजति । त्यागाय व्रजति । मतये व्रजति । पुष्टये व्रजति । ‘तुमर्थाद् भावे’ [१।४।२२] इत्यप् । भाव इति विशेषणेन । वाचि प्रहृणं किमर्थम् ? यकम्भ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन त्या विहितास्ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तेन विशेषणेन क्रियायां तदर्थायां वाचि यथा स्युरित्येवमर्थम् ।

कर्मणि चाण् ॥२।३।१०॥ कर्मणि वाचि तदर्थायां च क्रियायामण् भवति । पूर्वेषु बुण्प्राप्तः । वाऽसमविधिश्च नास्तीत्युक्तम् । अण् न स्यात् तेनायमारम्भः । कुम्भकारो व्रजति । काण्डलावो व्रजति । वाचिप्रहृणानुवृत्तेर्यथाविहितमण् भवति इति कर्मण्येव वाचि भविष्यति । कर्मप्रहृणं किमर्थम् ? अप्रवादाविषयेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् । गोदायो व्रजति । तुषपायो व्रजति । क्रियायां तदर्थायामनुवर्तते । चकारः किमर्थः ? केवले कर्मणि केवलायां च क्रियायां वाचि मा भूत् । प्रत्येकमीपा निर्देशात् वाक्सः ।

लृट् ॥२।३।११॥ लृट् भवति क्रियायां तदर्थायां वाचि । करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति । उदाहरणे इतिशब्दो हेतुहेतुमद्भावव्योतनार्थः ।

शेषे ॥२।३।१२॥ उक्तादन्यः शेषः; शुद्धं वर्त्यत् कालमात्रम्. शेषे वर्त्यति लृट् भवति । करिष्यति । हरिष्यति ।

विभाषा लृटः सत् ॥२।३।१३॥ वर्त्यति लृट् तस्य स्थाने सत्संज्ञौ शत्रुशानौ विभाषया भवतः । पद्यन्तं पश्य । पद्यमाणं पश्य । पद्यता कृतम् । पद्यमाणेन कृतम् । हे पद्यन् । हे पद्यमाण । अर्जयिष्यन् वसति । अध्येष्यमाण आस्ते । देवदत्तः पद्यन् पद्यति वा पद्यमाणः पद्यते वा । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन इवादिभिर्योगे सम्बोधने लक्षणहेत्वोः क्रियायामित्यत्र नित्यो विधिः । वान्तैवार्थत्वे विकल्पः । इतिशब्दयोगे तु न भवति । करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति । लट्ग्रहणं किम् ? त्यान्तरत्वं मा विज्ञायि ।

अनद्यतने लुट् ॥२।३।१४॥ वर्त्यतीति वर्तते । वर्त्यत्यनद्यतने ध्वर्थं वर्तमानाद्गोलुङ् भवति । श्वः कर्ता । श्रोऽध्वेता । अनद्यतन इति वसनिर्देशादद्य श्वो भोक्त्यामहे इत्यत्र न भवति । विभाषानुवर्तनात् परिदेवने लृङ्विषयेऽपि लुङ् भवति । इयन्तु कदा गन्ता एवं निदधती पादौ । अयं तु कदाध्येता एवमनभियुक्तः ।

पदरुजविशस्पृशो घञ् ॥२।३।१५॥ पद रुज विश स्पृश इत्येतेभ्यो घञ् भवति । पद्यतेऽसौ पादः । एवतुचोरयमपवादो न पचाद्यच्चः “सुम्भिङ्गन्तं पदम्” [१।२।१०३] इति पदनिर्देशात् । रुजत्यसौ रोगः । विशत्यसौ वेशः । इगुङ्लक्षणस्यापवादः । स्पृश उपतापेऽभिघातम् । स्पृशतीति स्पर्शो रोगः । उपतापादन्यत्र स्पृष्या । स्पर्शकः ।

सु स्थिरे ॥२।३।१६॥ सरतेः स्थिरे कर्तरि घञ् भवति । कालान्तरं सरतीति सारः । मधूकसारः । विभाषानुवर्तनात् स्थिरव्याधिमत्स्यबलेभ्वभिधानम् । अतीसारो व्याधिः । विसारो मत्स्यः । सारो बलम् । एतेभ्यश्चि किम् ? सर्ता । सारकः ।

भावे ॥२।३।१७॥ भावे धोर्घञ् भवति । भाव इति क्रियासामान्यं ध्वर्थः । तद्यद्यपि पूर्वापरीभूतमपरिनिष्पन्नमलिङ्गसंख्यं प्रकृत्यैवोच्यते, तथापि यस्त्वस्यासिद्धताधर्मः स लिङ्गसंख्यावानिति तत्र घञादयः । पाकः । त्यागः । रागः ।

अकर्तरि ॥२।३।१८॥ कर्तुरन्यस्मिन् कारके घञ् भवति ।

‘नङ्युक्तमिद्वयुक्तं वा यत्कार्यं संप्रतीयते । तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिन् लोकेऽप्यर्हगतिस्तथा ॥’

प्रास्यन्ति तं प्रासः । प्रसीव्यन्ति तं प्रसेवः । आहरन्ति तस्मादाहारः । संज्ञायामसंज्ञायामपि दृश्यते । को भवता दायो दत्तः । को भवता लाभो लब्धः । कर्तव्यः कटः इत्येवमादिषु अनभिधानात् भवति ।

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ॥२।३।१९॥ आख्याग्रहणात्परिमाणमिह संख्यादिकं गृह्यते । परिमाणस्याख्यायां गम्यमानायां सर्वेभ्यो घञ् भवति । एकस्तंण्डुलनिचायः । एकस्तंण्डुलावचायः । द्वौ केदारलावौ । द्वौ बीजकारौ । ‘द्वृग्रहवृद्गमोऽच्’ [२।३।१२] इति अचि प्राप्ते इदम् । परिमाणाख्यायामिति किम् ? निश्चयः । सर्वग्रहणं बाधकबाधनार्थम् । एकस्तृणनिघासः । अन्यथा पुरस्तादपवादोऽयमिति अनन्तरमेवाचं बाध्येत न व्यवहितम् । नौ गश्चेति गम् । घञि प्रस्तुभावः सिद्धः । इहाकर्तरीत्वेवाभिसंबध्यते । स्त्रीलिङ्गे भावे घञमा भवेत् । एका तिलोच्छ्रितिः । द्वे श्रुती । सर्वग्रहणं बाधकबाधनार्थमुक्तं क्लिरपि बाध्येत ।

इङ् ॥२।३।२०॥ इत् उत्तरं भावे अकर्तरीति च वर्तते । इङ्श्च धोर्घञ् भवति । अधीयते इत्यध्यायः । उपेत्याधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः । अपादाने यो घञ् तदन्ताद्वा ङीर्वक्तव्यः । उपाध्यायी । उपा-

ध्याया । वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेनास्मिन्विषये क्लिमपि घञ् बाधते । “श्रृयातेर्वाथुवर्णयोर्घञ् वक्तव्यः” [वा०] शारो वायुः । शारो वर्णः ।

गौ रुवः ॥२।३।२१॥ गिसंज्ञे वाचि रौतेर्घञ् भवति । विरावः । संरावः । अचोऽपवादोऽयम् । गाविति किम् ? रवः ।

समि युद् दुवः ॥२।३।२२॥ संपूर्वेभ्यः यु ङ् दु इत्येतेभ्यो घञ् भवति । संयाव । संद्रावः । संदावः । समीति किम् ? यवः ।

यज्ञे स्तुवः ॥२।३।२३॥ समीति वर्तते । संपूर्वात् स्तौतेर्घञ् भवति यज्ञविषये । समेत्य स्तुवन्ति अस्मिन्निति संस्तावः छन्दोगानम् । यज्ञ इति किम् ? सतां संस्तवः ।

श्रिणीभुवोऽगौ ॥२।३।२४॥ अगिपूर्वेभ्यः श्री णी भू इत्येतेभ्यो घञ् भवति । श्रायः । नायः । भावः । अगाविति किम् ? प्रश्रयः । प्रभवः । कथं प्रभावो धर्मस्य । प्रकृष्टो भावः प्रभावः इति प्रादिसः । कथं षाङ्गुण्यस्य यथावत्प्रयोगो यथावत्प्रयोगो नयः “पुंस्त्रौचः प्रायेण” [२।३।१००] इति करणे घो द्रष्टव्यः ।

नियोऽवोदोः ॥२।३।२५॥ अव उद् इत्येतयोर्वाचोर्नयतेर्घञ् भवति । अवनायः । उच्चायः । कथमुच्चयः । शब्दानां पूर्ववत्करणे षो विधेयः ।

निरभ्योः पूत्वोः ॥२।३।२६॥ निस् अभि इत्येवंपूर्वाभ्यां पू लू इत्येताभ्यां यथासंख्यं घञ् भवति । पू इति सामान्येन ग्रहणम् । निष्पावः । अभिलावः । निरभ्योरिति किम् ? पवः । लवः ।

उन्न्योम्रः ॥२।३।२७॥ उद नि इत्येवंपूर्वात् गृ इत्येतस्मात् घञ् भवति । गृ इति सामान्येन ग्रहणम् । उद्गारः । निगारः ।

कृ धान्ये ॥२।३।२८॥ उन्न्योरिति वर्तते । कृ इत्येतस्माद्धोर्दुनिपूर्वात् घञ् भवति धान्यविषये । उत्कारो धान्यस्य । निकारो धान्यस्य । धान्य इति किम् ? पुष्पोत्करः । पुष्पनिकरः ।

प्रे ङ् स्तुश्रुवः ॥२।३।२९॥ प्रशब्दे वाचि ङ् स्तु श्रु इत्येतेभ्यो घञ् भवति । प्रद्रावः । प्रस्तावः । प्रश्रावः । प्र इति किम् ? द्रवः ।

स्त्रोऽयज्ञे ॥२।३।३०॥ प्र इति वर्तते । प्रपूर्वात् स्तृ इत्येतस्मात् घञ् भवति अयज्ञविषये । शङ्ख-प्रस्तारः । मण्प्रस्तारः । ऋकारान्तत्वादिभि (चि) प्राप्ते इदम् । अयज्ञ इति किम् ? वर्हिष्प्रस्तरः । “इदुदुङ्कोऽस्यपुम्मुहुसः” [१।४।३८] इति पत्वम् ।

प्रथने वावशब्दे ॥२।३।३१॥ प्रथनं विस्तीर्णता । विपूर्वात्स्तृ इत्येतस्मात् घञ् भवति अशब्दविषये प्रथने । पटस्य विस्तारः । गृहस्य विस्तारः । प्रथन इति किम् ? तृणविस्तरः । अशब्द इति किम् ? वाक्यविस्तरः ।

छन्दः खौ ॥२।३।३२॥ छन्दः पद्ये वर्णविन्यासः । छन्दःसंज्ञायां च विपूर्वात् स्तृणातेः घञ् भवति । विष्टारः पंक्तिच्छन्दः । विष्टारो बृहतीछन्दः । पत्वप्रकरणे विष्टार इति निपातनादेव सिद्धे छन्दःसंज्ञा-ज्ञापनार्थमिदम् ।

क्षुश्रुवः ॥२।३।३३॥ वाविति वर्तते । क्षु श्रु इत्येताभ्यां विपूर्वाभ्यां घञ् भवति । विक्षावः । विश्रावः । वावित्येव । क्षवः । श्रवः ।

उद्दि ग्रहः ॥२।३।३४॥ उत्पूर्वाद् ग्रहेर्घञ् भवति । उद्ग्राहः । अचोऽपवादोऽयम् ।

समि मुष्टौ ॥२।३।३५॥ संपूर्वाद् ग्रहेर्घञ् भवति मुष्टिविषये । शाकमुष्ट्यादौ परिमाणवचनो मुष्टिशब्दः । तत्र परिमाणाख्यायामित्येव सिद्धं ततोऽन्यदुदाहरणम् । अहो मज्जस्य संग्राहः । अहो मौष्टिकस्य संग्राहः । मुष्टेर्दाढ्यमित्यर्थः । मुष्टाविति किम् ? संग्रहः शास्त्रस्य ।

न्यायपरिणायपर्यायः ॥२३३६॥ न्यायादयः शब्दाः निपात्यन्ते । निपूर्वादिणः अभ्रेषे घञ् निपात्यते । अभ्रेषो युक्तकरणमकुत्सा वा । एषोऽत्र न्यायः । अभ्रेष इति किम् ? न्ययं गतश्चौरः । परिपूर्वात् नयतेर्घृत्वविषये घञ् निपात्यते । परिणयेन सारान् हन्ति । द्यूतविषयादन्यत्र परिणयः परिपूर्वादिणः अनुपात्यये गम्यमाने घञ् निपात्यते । अनुपात्ययः क्रमप्रप्तस्यानतिवृत्तिः । तव पर्यायो भोक्तुम् । मम पर्यायो भोक्तुम् । अनुपात्यय इति किम् ? स्वाध्यायकालस्य पर्ययः । अतिक्रम इत्यर्थः ।

व्युपे शीडोऽन्त्ये ॥२३३७॥ अन्त्य इति पूर्वसूत्रे विन्यासापेक्षया पर्यायोऽभिप्रेतः । वि उप इत्यंतयोर्वाचोः शीडो घञ् भवति पर्याये गम्ये । तव विशायो मम विशायः । तव राज्ञोपशायः । मम राज्ञोपशायः । राजानमुपशाययितुमवसर इत्यर्थः । अन्त्य इति किम् ? विशायः । उपशायः ।

हस्तादाने चेरस्तेये ॥२३३८॥ हस्तादाने गम्यमाने चिनोतेर्घञ् भवति न चेस्तेयं भवति । पुष्पप्रचायः । फलप्रचायः । हस्तादानशब्देन निकटस्य गुच्छादेर्ग्रहणं लक्ष्यते । हस्तादान इति किम् ? पुष्पप्रचयः । अस्तेय इति किम् ? पुष्पप्रचयं करोति चौर्येण ।

निवासचितिशरीरोपसमाधाने चः कः ॥२३३९॥ चेरिति वर्तते । निवास चिति शरीर उपसमाधान इत्येतेष्वर्थेषु चिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च ककारः । निवासे-साधुनिकायः । उत्कृष्टनिकायः । अधिकरणे घञ् । चीयतेऽसौ चितिः । यज्ञे अग्निविशेषः । अकायमग्निं चिन्वीत । शरीरे-चीयते इति कायः । उपसमाधानमुपर्युपरि राशीकरणम् । महान् गोमयनिकायः । उपर्युपरीति विशेषणादिह न भवति । महान् काष्ठनिचयः । एतेष्विति किम् ? चयः ।

संघेऽनूर्ध्वे ॥२३४०॥ संघः प्राणिविशेषसमुदायः । अनूर्ध्वे संघे वाच्येचिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च कत्वम् । निचीयते इति निकायः । साधुनिकायः । परिडतनिकायः । प्राणिविशेषस्य सङ्घस्य ग्रहणादिह न भवति । काष्ठचयः । पदसमुच्चयः । विशेषग्रहणं किम् ? प्राणिसमुच्चयः । सामान्येन समुदायोऽयम् । अनूर्ध्वे इति किम् ? उपर्युपरि सूकरनिचयः ।

आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः ॥२३४१॥ आक्रोशः शपनम् । अव नि इत्येतयोर्वाचोर्ग्रहेर्घञ् भवति आक्रोशे गम्ये । अवग्राहो ह ते वृषल भूयात् । निग्राहो ह ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अवग्रहः पदस्य । निग्रहो दुष्टस्य ।

प्रे लिप्सायाम् ॥२३४२॥ प्रशब्दे वाचि लिप्सायां गम्यमानायां ग्रहेर्घञ् भवति । प्रग्राहेण चरति भिन्तुः । पात्रं प्रगृह्य अन्नं लिप्सुर्भ्रमतीत्यर्थः । लिप्सायामिति किम् ? प्रग्रहो देवदत्तस्य राज्ञा ।

परौ यज्ञे ॥२३४३॥ परिपूर्वाद्ग्रहेर्घञ् भवति यज्ञविषये । उत्तरः परिग्राहः । यज्ञ इति किम् ? परिग्रहो देवदत्तस्य ।

नौ बुर्धान्ये ॥२३४४॥ निशब्दे वाचि वृ इत्येतस्मात् घञ् भवति धान्यविशेषे वाच्ये । वृ इति वृङ्बुजोर्ग्रहणम् । नीवारा नाम व्रीहयो भवन्ति । धान्य इति किम् ? निव्रियत इति निवरा कन्या ।

उदि पूद् यौतिभिन्वः ॥२३४५॥ उत्पूर्वेभ्यः पू इ यौति भिन्व् इत्येतेभ्यो घञ् भवति । उत्पावः । उद्द्रावः । उद्यावः । उच्छ्रायः ।

वाडि रप्लुवोः ॥२३४६॥ आङ्पूर्वाभ्यां र लु इत्येताभ्यां वा घञ् भवति । आरावः । आरवः । “गौरवः” [२३४२] इति नित्यं घञ् प्रीतः । आह्लावः । आल्लवः ।

ग्रहोऽवे वर्षप्रतिबन्धे ॥२३४७॥ वेति वर्तते । अवशब्दे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति वर्षप्रतिबन्धे वाच्ये । अवग्राहो देवस्य । अवग्रहो देवस्य । वर्षप्रतिबन्ध इति किम् ? अवग्रहः पदस्य ।

प्रे वणिजाम् ॥२।३।४८॥ वेति वर्तते । प्रशब्दे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति समुदायेनाभिधेयं वणिजां सम्बन्धि चेद्भवति । तुलाप्रग्राहेण चरति । तुलाप्रग्राहेण चरति । तुलासूत्रं गृहीत्वा वणिक् चेष्टते इत्यर्थः । वणिजामिति किम् ? प्रग्रहो देवदत्तस्य ।

रश्मौ ॥२।३।४९॥ प्र इति वेति च वर्तते । इह रश्मिशब्देन अश्वादिंसंयमनरञ्जुरेव गृह्यते । प्रशब्दे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति समुदायेन रश्मावभिधेयायाम् । प्रगृह्यते इति प्रग्राहः । प्रग्रहः ।

आच्छादने वृञ् ॥२।३।५०॥ वेति वर्तते प्र इति च । प्रपूर्वाद् वृणोतेर्वा घञ् भवति आच्छादन-विशेषे वाच्ये । प्रवृणोति तं प्रावारः । प्रवरः । आच्छादन इति किम् ? प्रवरः ।

परौ भुवोऽवज्ञाने ॥२।३।५१॥ वेति वर्तते । अवज्ञानमवज्ञेयः परिपूर्वाद्भू इत्येतस्माद्वा घञ् भवति अवज्ञाने वाच्ये । परिभावः । परिभवः । अवज्ञान इति किम् ? सर्वतो भवः परिभवः ।

वृग्रहवृहगमोऽच् ॥२।३।५२॥ भावे अकर्तरीत्येवानुवर्तते । इवर्णान्तात् उवर्णान्तात् ऋवर्णान्तात् ग्रह वृ ह गभि इत्येतेभ्यः वाजित्यं ल्यो भवति । घञोऽपवादोऽयम् । चयः । जयः । रयः । रवः । लवः । करः । गरः । शरः । ग्रहः । वरः । आदरः । गमः । चकारः “व्यजोऽघञचोः [१।४।१२८] इत्यत्र विशेषणार्थः । “अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानं नपुंसके क्तादिनिवृत्त्यर्थम्” [वा०] भयम् । वर्षम् । “रखिव-शिभ्यामवचक्यः” [वा०] रणः । वशः । “घञर्थे कविधानं स्थासनापाव्यधिहिनियुध्यर्थं कर्तव्यम्” [वा०] प्रतिष्ठतेऽस्मिन् प्रस्थः । प्रस्तात्यस्मिन् प्रस्तनः । प्रपिबन्त्यस्यां प्रपा । आविध्यन्त्यनेन आविधम् । विहन्यते ऽनेनास्मिन्वा विघ्नः । आयुध्यन्तेऽनेनेति आयुधम् ।

गावद् ॥२।३।५३॥ गिपूर्वाद् अदरञ् भवति । प्रादनं प्रघसः । विघसः । संघसः । “घस्त्वल्ङ्घञ्-सनञ्चु” [१।४।१११] इति अदेर्घस्त्रादेशः । गाविति किम् ? घासः । अस्मिन् प्रकरणे यत्रेपा गिनिर्दिश्यते तत्र वाग्लक्षणः प्रादिलक्षणो वा सविधिः ।

नौ राश्च ॥२।३।५४॥ निपूर्वाददेशो भवति अच् । न्यादः । निघसः ।

पणः परिमाणे ॥२।३।५५॥ पणोर्घञि णे वा नास्ति विशेषः इत्यारम्भसानर्थ्यादच एवानुवृत्तिः । पणः परिमाणे गम्यमाने अन् भवति । पण्यत इति पणः मूलकपणः । शाकपणः । ‘परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः’ [२।३।१६] इति घञ् प्राप्तः । परिमाण इति किम् ? पाणः ।

पशुष्वजः समुदोः ॥२।३।५६॥ सम उद् इत्येतयोर्वाचोरजेभ्रोरज भवति पशुविषये । समजः । पशूनां समुदाय इत्यर्थः । उदजः । पशुनाममुच्चारणमित्यर्थः । पशुष्विति किम् ? समाजः साधूनाम् । उदाजः शकुनीनाम् । “चजोः कुञ्चिण्यतोस्तेऽनितः” [५।२।५६] कुत्वं विधीयते अजेस्तु वीभावेन भवितव्यमित्यस्त्वाद् विशेषणं नास्तीति कुत्वं न भवति ।

ग्लहोऽच् ॥२।३।५७॥ ग्लह ग्रहणे इत्यस्मादज् भवति अक्षविषये । अक्षेषु ग्लहः । अक्ष इति किम् ? ग्लाहः ।

प्रजने सुः ॥२।३।५८॥ प्रजनो गर्भाधानम् । प्रजनविषये सु इत्येतस्मादज् भवति । गवामुपसरः । गर्भाधानाय स्त्रीगवीषु वृषाणामुपसरणमित्यर्थः । एवं पशूनामुपसरः । प्रजन इति किम् ? उपसारो भृत्यै राज्ञाम् ।

हो जिश्च न्यभ्युपविषु ॥२।३।५९॥ नि अभि उप वि इत्येतेषु वाञ्छु ह्यतोऽर्भवत्यस्य । निहवः । अभिहवः । उपहवः । विहवः । हुरादेशो वक्तव्य इति चेत् इह निजोहवः इति यद्बन्तस्य सचस्य प्रसज्येत । एतेष्विति किम् ? संहायः ।

आङ्घ्राजौ ॥२।३।६०॥ आञिः संग्रामः । आङ्पूर्वात् ह्यते आजावभिधेयायां जिर्भवत्यच्च । आह्वयन्तेऽस्मिन्निति आहवः । आजाविति किम् ? आहायः ।

निपानमाहावः ॥२।३।६१॥ निपिबन्त्यस्मिन्निति निपानं जलस्थानम् । आहाव इति निपात्यते निपानं चेद्भवति । आङ्पूर्वस्य ह्यतेरधिकरणे घञ् निपात्यते । आह्वयन्तेऽस्मिन्निति आहावः शकुनीनाम् । निपानमिति किम् ? आहायः ।

भावेऽगौ ॥२।३।६२॥ अगिपूर्वस्य ह्यतेर्भावे जिर्भवत्यच्च । ह्वानं हवः । अगाविति किम् ? आहायो वर्तते । कर्तरीत्यस्यानुप्रवेशो मा भूदिति पुनर्भावग्रहणम् ।

हनश्च वधः ॥२।३।६३॥ हन्तेरगिपूर्वस्य भावे वधादेशो भवत्यच्च । हननं वधः । चकारो घञ् समुच्चयार्थः । घातो वर्तते ।

व्यधमदजपोऽगौ ॥२।३।६४॥ अगाविति वर्तमाने पुनरगिग्रहणं भावनिवृत्त्यर्थम् । तेन भावे अकर्तरीति द्वयं संबध्यो । अगिपूर्वस्यो व्यध मद जप इत्येतेभ्यः अञ् भवति । व्यधः । मदः । अगाविति किम् ? प्रव्याधः । उन्मादः । उपजापः ।

स्वनहसोर्वा ॥२।३।६५॥ अगाविति वर्तते । अगिपूर्वाभ्यां स्वन हस इत्येताभ्यामञ् भवति वा । स्वनः । स्वानः । हसः । हासः । अगावित्येव । प्रस्वानः । प्रहासः ।

यमः सन्नियुपे च ॥२।३।६६॥ यमेर्धोः सम् नि वि उप इत्येतेषु वाञ्छु अगौ च अञ् भवति । वेति वर्तते । संयमः । संयामः । नियमः । नियामः । वियमः । वियामः । उपयमः । उपयामः । अगौ-यमः । यामः ।

नौ गदनदपठस्वनः ॥२।३।६७॥ वेति वर्तते । निपूर्वस्यः गद नद पठ स्वन इत्येतेभ्यो वा अञ् भवति । निगदः । निगादः । निनदः । निनादः । निपठः । निपाठः । निस्वनः । निस्वानः ।

कणो वीणायां च ॥२।३।६८॥ नौ वा अगाविति त्रयं वर्तते । कणोर्धोः निपूर्वादिगिपूर्वाच्च अधीणायां वीणायां च विषये अञ् भवति । निकणः । निकाणः । अगौ-कणः । काणः । वीणाग्रहणं गावपि प्रापणार्थम् । कल्याणप्रकणा वीणा । कल्याणप्रकाणा वीणा । एतेष्विति किम् ? अतिक्राणः ।

घनान्तर्घणप्रघणप्रघाणोद्धनापघनायोघनविघनद्रुघ्रणस्तम्बघनस्तम्बघनपरिघोपघनसंघो-द्धनिघप्रमदसम्मदाः ॥२।३।६९॥ घनादयः शब्दा निपात्यन्ते । हन्तेरच् घनभावश्च मूर्तावभिधेयायां निपात्यते । मूर्तिः काठिन्यम् । अभ्रघनः । दधिघनः । कर्मणि घनं दधीति भवति । अन्तःशब्दपूर्वस्य हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते देशाभिधाने । अन्तर्हन्यतेऽस्मिन्निति अन्तर्घणो वाहीकेषु देशविशेषः । केचिन्नकारं पठन्ति । अन्तर्घातोऽन्यः । प्रपूर्वस्य हन्तेः अचि घञि च घनभावो निपात्यते अगारैकदेशोऽभिधेये । प्रघणः । प्रघाणः । गृहद्वारदेश इत्यर्थः । प्रघातोऽन्यः । उत्पूर्वस्य हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते अत्याधानं चेद्भवति । अत्याधीयतेऽस्मिन्नित्याधानम् । यत्र काष्ठानि लोहानि चाह्वयन्ते तदुच्यते । ऊर्ध्वं ह्वयतेऽस्मिनुद्धनः । उद्धातोऽन्यः । अपघन इति निपात्यते अङ्गं चेद्भवति । अपघातोऽन्यः । अयोघनः । दुघणः स्तम्बघनः स्तम्बघनः परिघ इत्येते करणे कारके अजन्ता निपात्यन्ते । दुघणे केचिन्नकारं पठन्ति । स्तम्बघने कमात्रं निपात्यते । परिपूर्वस्य हन्तेर्घभावश्च निपात्यते । उपपूर्वात् हन्तेराश्रयेऽभिधेये को निपात्यते । गुरुपघनः । पर्वतोपघनः । उपघातोऽन्यः । सम्पूर्वस्य हन्तेर्घभावोऽच्च निपात्यते गणश्चेद्भवति । गणः प्राणि-समुदाय एव । पशूनां संघः । अन्यत्र संघातः । उत्पूर्वस्य हन्तेर्घादेशोऽच्च निपात्यते प्रशंसायाम् । उद्धो मनुष्यः । उद्धाताऽन्यः । निघ इति निपात्यते निमित्तेऽर्थे । संमतादारोहपरिणाहाभ्यां मित्तुल्यनिमित्तम् । निघाः शालयः । निघातोऽन्यः । प्रमदसंमदौ हर्षेऽभिधेये । अन्यत्र प्रमादः । सम्मादः ।

ड्वितः क्विन्नः ॥२।३।७०॥ दुशब्देतो धोः क्विन्नयो भवति । भावे अकर्तरीति वर्तते । डुपचपू-
पक्विन्नम् । “भावादिसः” [३।३।१४३], “त्रेः” [३।३।१४४] इति इमः । च्यन्तस्य केवलस्य प्रयोगो
नास्तीत्यवपदेनार्थकथनम् । पाकेन निर्वृत्तमिति । एवं डुवपू उक्विन्नम् । टुयाचृ याचिक्विन्नम् ।

ट्वितोऽथुः ॥२।३।७१॥ दुशब्देतो धोरथुस्त्यो भवति । टुवेपृ-वेपथुः । टुओरिषि-श्वयथुः । डुलु-
ल्वथुः ।

यजयाचयतविच्छप्रच्छुरत्तस्वपो नङ् ॥२।३।७२॥ यजादिभ्यो नङ् भवति । भावे अकर्तरीति
वर्तते । यज्ञः । “स्तो रचुना रचुः” [५।४।११६] इति चुत्वम् । याच्ञा लिङ्गं लोकवशात् । यत्नः । विश्नः ।
नङो डित्करणमेपप्रतिषेधार्थं ज्ञापकं प्रागेव तुकः । “ङ्कोः शूङ् (ङे) च” [४।४।१७] इति शत्वम् । प्रश्नः ।
‘प्रश्ने चान्तर्युगे’ [२।२।६७] इति निर्देशाजिर्न भवति । रक्षणः । “ष्टुना ष्टुः” [१।४।१२०] इति
दुत्वम् । स्वप्नः ।

गौ भोः किः ॥२।३।७३॥ गौ वाचि भुसंज्ञकेभ्यो धुभ्यः किर्भवति । भावे अकर्तरीति वर्तते ।
प्रादीयते । अस्मात् प्रादिः । निधीयतेऽसौ निधिः । संधानं संधिः ।

कर्मण्यधिकरणे ॥२।३।७४॥ कर्मणि वाचि अधिकरणे कारके भुसंज्ञकेभ्यः किर्भवति । जलं
धीयते अस्मिन् जलधिः । बालधिः । अधिकरणग्रहणं कारकान्तरनिवृत्त्यर्थम् ।

स्त्रियां क्तिः ॥२।३।७५॥ भावे अकर्तरीति वर्तते । स्त्रीलिङ्गे धोः क्तिर्भवति । घञचोरपवादोऽयम् ।
कृतिः । सृष्टिः । संपत्तिः । ‘संपदादिभ्यः क्तिवपि वक्तव्यः’ [वा०] संपत् । विपत् । ‘गलाज्याहाभ्यो निः
स्त्रियां वक्तव्यः’ [वा०] ग्लानिः । ज्यानिः । हानिः । “ऋकारान्तषवादिभ्यः क्तिस्तवङ्गवतीति वक्तव्यम्”
[वा०] कीर्णिः । गीर्णिः । लूनिः । पूनिः । इत उत्तरः स्त्रियामित्यधिकारः ।

कर्मव्यतिहारे नः ॥२।३।७६॥ इह कर्मव्यतिहारः क्रियाव्यतिहारो गृह्यते धोरधिकारात् । कर्म-
व्यतिहारे गम्यमाने धोर्ज इत्ययं त्यो भवति स्त्रियाम् । परस्परस्य व्याक्रोशनं व्याक्रोशी “जात् स्त्रियाम्”
[४।२।२२] इति स्वार्थिकोऽयम् । “ऋद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि” [परि०] सति कान्द्रवति । एवं व्यावलेखी
व्यावहारी वर्तते । स्त्रियामित्येव । व्यतिपाको वर्तते । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विषीन्वाधन्ते नोत्तरान्”
[परि०] इति “स्त्रियां क्तिः” [२।३।७५] इत्यस्यैव बाधको न “सरोर्हलः” [२।३।८५] इति अत्यस्य ।
व्यतीह्रा व्यतीहा वर्तते । कथं व्यात्युन्नी । “युङ् व्या बहुलम्” [२।३।६४] इति बहुलवचनात् । व्याक्रुष्टिरित्येव-
मादिषु क्तिरपि ।

णेः ॥२।३।७७॥ एयन्ताच्च कर्मव्यतिहारे जो भवति । अस्य बाधके युचि प्राप्तेऽयमारम्भः । व्याव-
चोरी व्यावचर्ची वर्तते ।

यूतिजृत्तिसातिहेतिकीर्त्तयः ॥२।३।७८॥ यूत्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । यूतिजवत्योर्दीत्वं निपात्य-
ते । यूतिः । जृतिः । स्यतेः सुनोतेर्वा सातिः । इत्वाभावः आत्वं च निपात्यते । हिनोतेर्हन्तेर्वा हेतिः । कीर्त्तयतेः
युचि प्राप्ते कीर्तिः ।

स्थागापापचो भावे ॥२।३।७९॥ स्था गा पा पच् इत्येतेभ्यः स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिर्भवति । भावग्रहण-
मकर्तरीत्यस्य निरासार्थम् । प्रस्थितिः । संस्थितिः । गा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । उपगीतिः । उद्गीतिः । पिबतेः

१. आदीयतेऽस्मादादिः अ०, स० । २. सृष्टिः अ० । ३. व्यापलेखी अ०, ब०, स० ।
४. व्यापहारी अ०, ब०, स० । ५. व्यापचोरी अ०, ब०, स० । ६. व्यापवर्ची अ०, ब०, स० ।

प्रपीतिः । निपीतिः । पक्लिः । “आतो गौ” [२।१।१०३] इति “षिद्ः” [२।३।८६] इति च अड् प्रातः तद्वाधनार्थमिदम् । गणो “व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” इति निर्देशादपि भवति । संस्था । “श्रुयजोषिस्तुभ्यः स्त्रियां करणे युद्धवाधनार्थं क्तिर्वक्तव्यः” [वा०] श्रूयतेऽनयेति श्रुतिः । इष्टिः । स्तुतिः ।

व्रजयजः क्यप् ॥२।३।८०॥ भाव इति वर्तते । व्रज यज इत्येताभ्यां स्त्रीलिङ्गे भावे क्यप् । व्रज्या । व्रज्या । इज्या । पित्करणमुत्तरार्थम् ।

समजनिषदनिपदमनविदपुशीङ्भृविणः खौ ॥२।३।८१॥ भाव एवेति निवृत्तम् । द्वयमनुवर्तते । समजादिभ्यः स्त्रियां क्यप् भवति खुविषये । समजन्ति अस्यां समज्या । क्यपि वीभावः कल्मान् भवति । “बहुलं खौ” [१।४।१२६] इति तत्रापेक्ष्यते । निषीदन्ति अस्यां निषद्या । निपद्यन्ते अस्यां निपद्या । केचित्पदिस्थाने पतिं पठन्ति । मन्यते अनया मन्या । विद्यते अनया विद्या । सुनोति तस्यां सुत्या । शेते अस्यां शय्या । भरणं भृत्या । भाव एवामिधानं करणे वा । इत्या । कथं भार्या कर्मणि भविष्यति ? अथवा “वृज्याश्चाहं” [२।३।१४५] इत्येवमादिषु विशेषेण विधानात् । व्यसजानामिमे स्त्रीत्या न बाधकाः । “मार्तबुद्धिपूजार्थाच्च” [२।२।१६६] “कर्मणि भृतौ” [२।२।२७] “रजःकृष्यासुत्तिपरिषदो वल्” [४।१।३८] इति ज्ञापकात् कश्चित् क्तिरपि भवति । मतिः । वित्तिः । आसुतिः । भृतिः ।

कृजः श च ॥२।३।८२॥ करोतेः स्त्रियां शो भवति क्यप् च । यदा भावकर्मणोः शस्तदा मध्ये यक् “रिङ्ग्यगिङ्गेशे” [२।२।१३७] इति रिङादेशः । यदापादानादिविक्त्वा तदा यगनास्तीति रिङादेशोयादेशौ । क्रिया । कृत्या । “गेरसेऽपि विकृतेः” [५।४।१८] इति ज्ञापकात् क्तिरपि भवति । कृतिः ।

इच्छा ॥२।३।८३॥ इच्छेति निपात्यते । इष इच्छायामित्यस्मान्नावे शः यगभावश्च निपात्यते । क्लेपवादाऽयम् । “परिचर्यापरिसर्यामृगयाणां निपातनं वक्तव्यम्” [वा०] परिपूर्वाच्चरेः शः सरतेरेप् च निपात्यते । मृगयतेः शप् शो यगभावश्च निपात्यते । “जागर्तेशौ वक्तव्यौ” [वा०] जागरा । जागर्या । शे यक् । “जागुरविजिग्यसिङ्गिति” [२।२।८२] इत्येप् ।

अस्त्यात् ॥२।३।८४॥ अ इत्ययं त्यो भवति त्यान्तेभ्यो धुभ्यः स्त्रियाम् । चिकीर्षा । लोलूया । अटाय्या । पुत्रीया । पुत्रकाम्या । कण्डूया ।

सरोहलः ॥२।३।८५॥ सह रुषा वर्तत सवः । सवर्हलन्तो यो धुस्ततः स्त्रियामस्त्यो भवति । कुण्डा । चुण्डा । मेधा । ईहा । “पर्यासिचनेऽलमर्थे” [२।४।५१] इति निर्देशाद् ये सेटस्तेषामिह ग्रहणम् । तेनेह न भवति । आप्तिः । दीप्तिः । राद्धिः । अस्तिः । प्रध्वस्तिः । प्रशस्तिः । “प्रशंसार्या रूपः” [४।१।१२५] इति निर्देशात् । शसेरत्योऽपि भवति । सरोरिति किम् ? निपठितिः । हल इत्येव । नीतिः ।

विद्धिदादिभ्योऽङ् ॥२।३।८६॥ विद्धयो धुभ्यो भिदादिषु च गणपठितेषु याः प्रकृतयस्ताभ्यश्चाङ् भवति स्त्रियाम् । जृष्-जरा । त्रपुष्-त्रपा । घटादयः पितः । घटा । व्यथा । “युङ् व्या बहुलम्” [२।३।१४] इति बहुलवचनात् लब्धिर्लभेति च भवति । भिदादिभ्यः खल्वपि । भिदा विदारणे । भिचिरन्या । छिदा द्वैधीकरणे । छित्तिरन्या । विदा विचारणे । वित्तिरन्या । क्षिपा प्रेरण । क्षित्तिरन्या । गुहा गिर्योषधयोः । गूढिरन्या । कुहा । नद्याम् । कुहना अन्या । आरा शस्त्र्याम् । आर्तिरन्या । आङि वाचि (अङि) कृते “इशुरे” [५।२।१२६] । क्त्वा कृते “धावृत्ति गेः” [४।३।७६] इत्येप् । कारा बन्धने । कृतिरन्या । तारा

ज्योतिषि । तार्णिरन्या । एपि कृते दीलमनयोर्निपातनात् । वपा मेदोविशेषे । उप्तिरन्या । वशा शरीरगतस्नेहे । उष्टिरन्या । मृजा शरीरसंस्कारे । मृष्टिरन्या । धारा वर्षप्रपाते । धृतिरन्या । निपातनादात्मम् । “क्रपेज्जिश्च” [वा०] कृपा । गोधा । हारा । रेखा । लेखा । निपातनादेप् । चूडा । पीडा ।

चिन्तिपूजिकथिकुम्भिचर्चः ॥२।३।८७॥ चिन्त्यादिभ्यो धुभ्यः स्त्रियामङ् भवति । युचोऽपवा-
दोऽयम् । चिन्ता । पूजा । कथा । कुम्भा । चर्चा ।

भातो गौ ॥२।३।८८॥ आकारान्तेभ्यो धुभ्यो गौवाचि अङ् भवति । क्लेरपवाद । प्रदा । प्रधा । प्रपिबन्त्यस्यां प्रपा । पिबतेर्भावे क्लिर्विहितः । “प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः” [४।१।२८] “तिरोऽन्तर्द्धौ” [१।२।१४०] इति प्रयोगात् श्रदन्तरोर्गिवद्बृत्तिः । श्रद्धा । अन्तर्धा ।

ण्यासश्रन्थिघट्टिवन्दिविदो युच् ॥२।३।८९॥ एयन्तेभ्यः आस श्रन्थि घट्टि वन्दि विद् इत्येतेभ्यो धुभ्यः स्त्रियां युज् भवति । एयन्तात् “अस्यात्” [२।३।८४] इति इतरेभ्यः “सरोर्हळ” [२।३।८५] इत्यकारः प्रातः । विदेः क्तिः प्रातः । कारणा । गणना । कामना । आसना । श्रन्थना । घट्टना । वन्दना । वेदना । अनुभवे वेदनद्रष्टव्या । “इषोऽनिच्छायां युज् वक्तव्यः” [वा०] अन्वेषणा । “परेर्वा” [वा०] पर्येषणा । परीष्टिः । “युङ्ख्या बहुलम्” [२।३।१४४] इति वा भविष्यति । व्यानां स्त्रीत्याः अबाधका इत्युक्तम् । तेन आस्या उपास्या ।

खौ विभाषा वुण् ॥२।३।९०॥ खुविषये विभाषया वुण् भवति धोः । क्यादीनामपवादाः । प्रस्कन्दिका । प्रच्छर्दिका । प्रवाहिका । विचर्चिका । एता रोगसंज्ञाः । उद्दालकपुष्पमञ्जिका । वारणपुष्पप्रचायिका । अभ्यो-
षलादिका । शालभञ्जिका । एताः क्रीडासंज्ञाकाः । कृल्लक्षणा कर्मणि ता । “क्राडाजीविकयोर्नित्यम्” [१।३।८०] इति नित्यः सर्वाधिः । उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां क्रीडायां इत्येवमादिरस्वपदविग्रहो बोद्धव्यः । विभाषाग्रहणादिह न भवति शीर्षासिः शीर्षामिततिः । शिरोऽर्तितः । “धावृति नेः” [४।३।७६] इत्यैषा भवितव्यामिति चेत् ; न; अर्दं हिसायामित्यस्य प्रयोगः । चन्दनतत्त्विका । क्रीडयम् । विभाषाग्रहणाद्ध्यर्थनिर्देशोऽपि वुण् भवति । आसिका । शायिका वर्तते ।

वेञ्च प्रश्नाख्याने ॥२।३।९१॥ प्रश्ने आख्याने च गम्यमाने धोरिज् भवति वुण् च वा । कां त्वं कारिमकार्षीः कां कारिकां वा । वचनाद्यथाप्राप्तं च भवति । कां क्रियां कां कृत्यां कां कृतिम् । आख्याने सर्वां कारिमकार्षीं सर्वां कारिकां सर्वां क्रियां सर्वां कृत्यां सर्वां कृतिम् । कां त्वं गणिमज्जीगणः कां गणिकां कां गणनाम् । सर्वां गणिमया गणिता । सर्वां गणिका सर्वां गणना । कां त्वं पाठिमपाठीः कां पाठिकां कां पठितिम् । सर्वां मया पाठिः पठिता सर्वां पाठिका सर्वां पठितिः । प्रश्नाख्यान इति किम् ? कृतिः ।

पर्यायार्हणोत्पत्तौ वुण् ॥२।३।९२॥ पर्याय अर्ह ऋण उत्पत्ति इत्येतेष्वर्थेषु गम्यमानेषु धोरुण् भवति स्त्रियाम् । पर्यायोऽनुक्रमः तस्मिन् । भवतः शायिका । भवतोऽग्रगामिका । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति कर्तरि ता । “तृजकाभ्याम्” [१।३।७८] इति तासप्रतिषेधः । अर्हणमर्ह-
योग्यता । तत्र अर्हति भवानिच्छुभक्तिकाम् । ओदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् ! “तृजकाभ्याम्” [१।३।७८] इत्यत्र कर्तरीत्यनुवर्तनात् कर्मणि या ता तत्र “कृति” [१।३।७९] इत्यनेन तासः । ऋणं यत्परस्य धार्यते । तत्र इच्छुभक्तिकां मे धारयसि । ओदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् । उत्पत्तौ-इच्छुभक्तिकां मे उदपादि । ओदनभोजिका । पयःपायिका । विभाषानुवर्तनात् कच्चिन्न भवति । घट्यकचीर्षां मे उदपादि । ओदनबुभुचां मे उदपादि ।

आक्रोशे नञ्यनिः ॥२।३।६३॥ आक्रोशे गम्यमाने नञि वाचि धोरनिस्त्यो भवति । कत्यादीनाम-
पवादः । अकरणित्ते वृषल भूयात् । अप्रयाणित्ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अकृतिस्तस्य पटस्य^१ ।
नञीति किम् ? मृतिस्ते वृषल भूयात् ।

युड्व्या बहुलम् ॥२।३।६४॥ भावे अकर्तरि स्त्रियामिति च निवृत्तम् । युड्व्यसंज्ञश्च बहुलं भवन्ति ।
भावकरणाधिकरणेषु युड्व् विहितोऽन्यत्रापि भवति । निरदन्ति तदिति निरदनम् । अवसेचनम् । अवस्त्रावणम् ।
राज्ञा भुज्यन्ते राजभोजनाः शालयः । क्षत्रियपानं मधु । राजाच्छादनानि वस्त्राणि । प्रयतते तस्मात् प्रयतनम् ।
प्रस्कन्दनम् । प्रच्छर्दनम् । भावकर्मणोर्व्या उक्तास्ततोऽन्यत्रापि भवन्ति । स्नान्ति तेन स्नानीयं चूर्णम् ।
दीयतेऽस्मै दानीयोऽतिथिः । ज्ञानमावृणोति आत्रियते वानेन ज्ञानावरणीयम् । दर्शनावरणीयम् । वेदनीयम् ।
मोहनीयम् । बहुलवचनादन्येऽपि कृतः उक्तादन्यत्र भवन्ति । गले चोप्यते गलचोपकः । पादाभ्यां ह्रियते
पादहारकः ।

नप् भावे क्लः ॥२।३।६५॥ नञिति टिल्लं कृत्वा निर्देशः । नपि नपुंसकलिङ्गे भावे क्लो भवति ।
घञचोरपवादः । हसितं छात्रस्य शोभनम् । जल्पितम् । आसितम् । शयितम् । नपुंसकलिङ्गे भावे क्लादि-
निवृत्त्यर्थं भयादीनामञ् वक्तव्य इत्युक्त्वा । तेन भयं वर्षमित्यादौ क्लो युर्न भवति । येषां घञञानानां नपुंसक-
त्वमिष्टं तेऽर्द्धर्चादिषु द्रष्टव्याः ।

जिन्नभिविधौ ॥२।३।६६॥ नञ्भावे इति वर्तते । अभिविधिः क्रियागुणाभ्यां कास्त्र्येन व्याप्तिः ।
नपि भावे धोर्जिन् भवति अभिविधौ गम्यमाने । क्लस्यायमपवादः । साङ्कौटिनं सामार्चिनं संराविणं सान्द्रा-
विणं वर्तते । “जिनोऽण्” [४।२।२१] इति स्वार्थिकोऽण् “नो पुंसोऽहृत्ति” [४।४।१३०] इति टिल्लं प्राप्तं
“प्रायोऽनपत्येऽणीनः” [४।४।१२२] इति न भवति । मध्येऽपवादोऽयं युटं न बाधते । संकुटनं संमार्जनम् ।
अभिविधाविति किम् ? संरावः ।

युट् ॥२।३।६७॥ नञ्भाव इति वर्तते । नपि भावे युट् भवति धोः । हसनं छात्रस्य शोभनम् ।
जल्पनम् । आसनम् । शयनम् ।

कर्मणि यत्स्पर्शात्कर्त्रङ्गसुखम् ॥२।३।६८॥ युड्व् नञ्भाव इति च वर्तते । येन संस्पर्शात्
कर्त्रङ्गस्य सुखं भवति तस्मिन् कर्मणि वाचि नपुंसकलिङ्गे भावे युड्व् भवति । श्रोदनभोजनं सुखम् । पयः-
पानम् । चन्दनानुलेपनम् । पूर्वेण सिद्धेऽपि नित्यसर्वविधर्थं आरम्भः । कर्मणीति किम् ? त्लिकाया उत्थानम् ।
युड्वत्र पूर्वेण सिद्धः । सविधिस्तु न भवति । यत्स्पर्शादिति किम् ? अग्निक्वण्डस्योपासनं सुखम् । युट् पूर्वेण ।
पात्निकः सविधिः । कर्तरीति किम् ? गुरोः स्नापनं सुखम् । नात्र स्नापयतेः कर्तुः शरीरसुखं किं तर्हि गुरोः
कर्मणः । अङ्गग्रहणं किम् ? पुत्रस्य परिष्वङ्गनं सुखम् । मानसमिदम् । अन्यथा परपुत्रपरिष्वङ्गनेऽपि स्यात् ।
सुखमिति किम् ? कण्टकानां मर्दनम् ।

करणाधिकरणयोः ॥२।३।६९॥ करणेऽधिकरणे च कारकेऽभिधेये युड्व् भवति । अत्रापवादः ।
करणे-इध्मन्श्चनः । पलाशशातनः । अविलवनः । कर्मणि ता । कृतीति तासः । अधिकरणे गोदोहनी ।
शकृधानी । तिलपीडनी । परत्वात् तयादिकं स्त्रीत्वं बाधते ।

पुंस्त्रौ घः प्रायेण ॥२।३।१००॥ करणाधिकरणयोरिति वर्तते । पुंस्त्रिसंज्ञायां गम्यमानायां धोर्घो
भवति प्रायेण । प्रकारः “ङ्गादेशे” [४।४।६०] इत्यत्र विशेषणार्थः । प्रच्छदः । उरच्छदः । लवः ।
आखनः । अधिकरणे-एत्य कुर्वन्त्यस्मिन्नाकरः । आलवः । आपवः । पुंअग्रहणं किम् ? प्रधानम् । विचयनी ।

नपुंसकलिगा स्त्रीलिङ्गा चेयं संज्ञा । खाविति किम् ? हरणो दण्डः । प्रायेणेति किम् ? कच्चिन्न भवति । प्रसाधनः । दोहनः ।

तृच्छोऽधे घञ् ॥२।३।१०१॥ तृ स्तृ इत्येताभ्यामवशब्दे वाचि घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुंस्त्रौ । अवतारः । अवस्तारः । कथमसंज्ञायामवतारो नद्या इति ? चिन्त्यमेतत् ।

हलः ॥२।३।१०२॥ हलन्ताद्धोर्घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुंस्त्रौ । घापवादोऽयम् । वेदः । नेगः । वेशः । गन्धः । सङ्गः । विषङ्गः । तैलोदकम् । घृतोदकम् । नास्त्यत्र घञि घे वा विशेषः । इमानि तर्ह्युदाहरणानि । खेलः । निमार्गः । अपामार्गः । प्रासादः । आखानः । प्रायेणेत्यनुवर्तनात् हलन्तेभ्यः केभ्यश्चित् घञ् न भवति घ एव भवति । अधिकरणे-कषः । निकषः । निगमः । गोचरः । आपणः । करणे-संचरः । वहः । व्रजः । इह व्यञ्जन्यस्मिन्निति व्यञ्जः । घे कृते “बहुलं खौ” [१।४।१२६] इति बहुलवचनादजेर्वीभावो न भवति । इह उदकोदञ्चनः । दोहनः । प्रसाधन इति घघञौ न भवतः । आखनः आखानः इत्यत्रोभयं भवति ।

संहारोद्यावानायावहारावायाः ॥२।३।१०३॥ संहारादयः शब्दा घञि निपात्यन्ते पुंस्त्रौ । अहलन्तत्वात् पूर्वैणाप्राप्तिः । संहरति तेन संहारः । करणेऽधिकरणे वा उद्यावः । आनयन्ति तेन आनायो जालं चेत् । अवहरन्ति तेन अवहारः । एत्य तस्मिन् वयन्ति आवायः । “अध्यायानुवाक्योर्वोप्” [४।१।६४] “आधारोऽधिकरणः” [१।२।११६] इति ज्ञापकात् उञ्छादिषु न्यायशब्दस्य निर्देशात् अधीयते अनेनाध्यायः । आध्रियते अस्मिन् आधारः । नीयतेऽनेन न्यायः । एतेऽपि शब्दाः साधवः ।

स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे खः ॥२।३।१०४॥ सु ईषत् दुस् इत्येतेषु वान्तु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे खो भवति धोः । कृच्छ्राकृच्छ्रग्रहणं स्वादिविशेषणम् । सुकरः कटो भवता । ईषत्करः कटो भवता । दुष्करः कटो भवता । “तयोर्व्यक्त्वाधाः” [२।४।२५] इति कर्मणि खः । “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिना ताप्रतिषेधः । भित्वात्पूर्वपदस्य मुग्ध भवति । कृच्छ्राकृच्छ्र इति किम् ? ईषत्कार्यः । मनाकार्य इत्यर्थः ।

कर्तृकर्मणोर्भू कृञ्भ्याम् ॥२।३।१०५॥ स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे ख इति वर्तते । कृञ्ग्रहणसामर्थ्यात् कर्तृकर्मग्रहणं वाग्विशेषणम् । कर्तरि कर्मणि च वाचि भू कृञ् इत्येताभ्यां यथासंख्यं खो भवति सु ईषत् दुस् इत्येतेषु वान्तु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे । त्यस्य खित्करणं मुमर्थमिति पूर्वं कर्तृकर्मभ्यां योगः पश्चात्स्वादिभिः । प्रायेणेत्यनुवर्तनात् कर्तृकर्मणोश्च्यर्थयोर्ग्रहणम् । अनाद्येन सुखमाद्येन भूयते स्वाद्यं भवं भवता । ईषदाद्यं भवं भवता । दुराद्यं भवं भवता । सुखमनाद्यमाद्यङ्कियते । स्वाद्यं करो देवदत्तो भवता । ईषदाद्यङ्करः । सूत्रन्यासे परत्वात्कर्तृकर्मणोः वाक्सं कृत्वा पश्चात्पूर्वस्य क्रियते । व्यर्थयोरिति किम् ? स्वाद्येन भूयते । स्वाद्येन क्रियते । यदा करोतिर्विकारार्थः तदा सुकटंकराणि वीरणानि । यदा निष्पत्तिवचना तदा सुकरः कटो वीरयोरिति ।

युजातः ॥२।३।१०६॥ स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे इति वर्तते । आकारान्तेभ्यो धुम्यो युञ् भवति स्वादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु वान्तु । सुपानं पयो भवता । ईषत्वानम् । दुष्पानम् । सुग्लानम् । ईषद्ग्लानम् । दुर्ग्लानम् । खापवादोऽयम् । प्रायेणेति वर्तते । तेन “दुःशब्दे वाचि शासियुषिदृशि-घृषिसृषिभ्यः युञ् भवति” [वा०] । दुःशासनः । दुर्योधनः । दुर्दर्शनः । दुर्धर्षणः । दुर्मर्षणः । सुदर्शनादिषु बसो द्रष्टव्यः ।

भवद्वद्वा तत्सामीप्ये ॥२।३।१०७॥ भवच्छब्दो वर्तमानपर्यायः । समीपमेव सामीप्यम् । भवतीव अविधिर्भवति वा तत्समीपे भूते भविष्यति च ध्वये वर्तमानाद्धोः । संप्रतीत्यारभ्य आ पादपरिसमाप्तेर्विहितारस्या अतिदिश्यन्ते । कदा देवदत्त आगतोऽसि । एष आगच्छामि । आगच्छन्तमेव मां विद्धि । एष आगामुकोऽसि । वावचनाद्यथाप्राप्तम् । एष आगतोऽसि । कदा देवदत्त गमिष्यसि । एष गच्छामि । गच्छन्तमेव मां विद्धि । गन्तारमेव मां विद्धि । पत्ने एष गमिष्यामि । एषोऽसि गन्ता । वत्करणं किमर्थम् ? प्रकृतिविशेषादिपरिग्रहार्थम् । तत्सामीप्यग्रहणं व्यवहितनिरासार्थम् । कदा ग्राममगच्छत् । श्वः करिष्यति । इह मा भूत् । नन्वत्र लुटा भवितव्यं कथं लृट् ? पदसंस्कारवेलायां श्वःप्रभृतिपदानामसंनिधानाददोषः ।

भूतवच्चांशंसायाम् ॥२।३।१०८॥ आशंसनमाशंसा भविष्यत्कालविषया; तस्यां गम्यमानायां भूतवच्यविधिर्भवति भवद्वच्च वा । भूतग्रहणेन भूतसामान्ये विहितस्य त्यस्य परिग्रहः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागतः तदा तर्कमुधीमहे अध्येष्यामहे अध्यगीभमहि एषोऽधीतस्तर्कः । आशंसायामिति किम् ? उपाध्याय आगमिष्यति ।

क्षिप्रवचने लृट् ॥२।३।१०९॥ आशंसायामिति वर्तते । क्षिप्रार्थे शब्दे वाचि लृट् भक्त्याशंसायां गम्यमानायाम् । भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति क्षिप्रमध्येष्यामहे शीघ्रमध्येष्यामहे । नेति वक्तव्ये लृट्ग्रहणं लुट्विषयेऽपि यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । श्वः क्षिप्रमध्येष्यामहे ।

लिङ्गाशंसोक्तौ ॥२।३।११०॥ आशंसा उच्यते येन शब्देन तस्मिन् वाचि लिङ् भक्त्याशंसायां गम्यमानायाम् । अयमपि भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागच्छत् आशंसते युक्तोऽधीयीय । अवकल्पये युक्तोऽधीयीय । परत्वात्लृटो बाधकोऽयम् । आशंसते क्षिप्रमधीयीय ।

न लङ्लुट् सामीप्याव्युच्छित्योः ॥२।३।१११॥ सामीप्यं तुल्यजातीयेनाव्यवधानम् । अव्युच्छितिः क्रियाप्रबन्धः । लङ्लुटौ न भवतः सामीप्याव्युच्छित्योः गम्यमानयोः । अनद्यतनविहितयोर्लङ्लुटोरयं प्रतिषेधः । सामीप्ये-येयं पौर्णमास्यतिक्रान्ता एतस्यां देवान्पूजामः । अतिथीनबुजामः । येयममावास्यागामिनी एतस्यां देवान् पूजयिष्यामः अतिथीन् भोजयिष्यामः । अव्युच्छित्तौ-यावदजीवीत् भृशमन्नमदात् । यावज्जी-विष्यति भृशमन्नं दास्यति ।

वर्त्यत्यवरेऽवधेः ॥२।३।११२॥ यद्यपि लङ्लुडिति प्रकृतम्; तथापीह वर्त्यद्ग्रहणात्लुट एव प्रतिषेधः । वर्त्यतिकाले अवरस्मिन् भागे लुण्ण भवति । असामीप्याव्युच्छित्यर्थोऽयमारम्भः । कालविभाग उत्तरत्र वक्ष्यते । देशविभागेऽयं प्रतिषेधः । योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायाः तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे द्विःसक्नूपास्यामः । वर्त्यतीति किम् ? योऽयमध्वागत आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वैमहि । अवर इति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वैतास्महे । अवधेरिति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्यो निरवधिकः तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वैतास्महे ।

कालविभागेऽनहोरात्राणाम् ॥२।३।११३॥ वर्त्यत्यवरेऽवधेरिति वर्तते । वर्त्यतिकाले अवरस्मि-न्कालविभागेऽहोरात्रसंबन्धविवक्षिते लुण्ण भवति । पूर्वेण प्रतिषेधे सिद्धेऽप्यहोरात्रसंबन्धविभागप्रतिषेधार्थं वचनम् । कालविभागग्रहणमिदार्थमुक्तार्थं च । योऽयं संवत्सर आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्रार्हत्पूजां करिष्यामहे अतिथिभ्यो दानं दास्यामहे । वर्त्यतीत्येव । योऽयं संवत्सरोऽतीतस्तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्वैमहि । अवर इति किम् ? “वा परे” [२।३।११४] इति वक्ष्यति । अवधेरित्येव । योऽयं निरवधिकः काल आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्वैतास्महे । अनहोरात्राणामिति किम् ? योऽयं त्रिंशद्वात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशपत्रस्तत्र युक्ता द्विरध्वैतास्महे । योऽयं त्रिंशद्वात्र अमीत्यागत

योऽवरोऽर्द्धमासस्तत्र द्विरध्येतास्महे । योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र द्विरध्येतास्महे । प्रसज्य [इति] प्रतिषेधात् त्रिविधमुदाहरणम् ।

वा परे ॥२।३।११४॥ कालविभाग इति वर्तते । परस्मिन्नवधेः कालविभागे वर्त्यति लुण्ण भवति न चेदहोरात्राणां विभागः । योऽयं संवत्सरः आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येष्यामहे अध्येतास्महे वा । सामीप्याव्युच्छित्तिविवक्षायामपि परत्वादयं विकल्पः । अनहोरात्राणामित्येव । योऽयं त्रिंशद्वात्र आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्रः तत्र द्विरध्येतास्महे । सामीप्याव्युच्छित्योर्लुटः प्रतिषेध एव । वर्त्यतीत्येव । योऽयं संवत्सरोऽतीतः तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्यैमहि । अबधेरित्येव । योऽयं निरवधिः काल आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येतास्महे । कालविभाग इत्येव । योऽयमध्वा गन्तव्यः आ चित्रकूटात् तस्य यत्परं मथुरायास्तात्र द्विरध्येतास्महे । सर्वत्र लुङ् भवति न चेदव्युच्छित्तिविवक्षा ।

लिङ्हेतौ लृङ् क्रियाऽवृत्तौ ॥२।३।११५॥ वर्त्यतीति वर्तते । हेतुर्निमित्तम् । लिङ्हेतौ वर्त्यति काले लृङ् भवति क्रियाया अवृत्तौ सत्याम् “हेतुफळयोर्लिङ्” [२।३।१३२] इत्येवमादि लिङ्निमित्तं वक्ष्यति । अतिथीश्चेदलिप्यत भृशमन्नमदास्यत् । अत्रान्नदानं फलं तद्धेतुभूतोऽतिथिलाभः तदनभिनिर्वृत्तिं प्रमाणाद-वगम्येदं वाक्यं प्रयुक्तम् । एवमुपाध्यायं चेदुपासिष्यत शास्त्रान्तमगमिष्यत् । अभोक्ष्यत भवान् दध्ना यदि मत्समीपे आसिष्यत । इह दक्षिणेन चेदयःस्यत् न पर्याभविष्यदिति यानमनिष्पन्नं पर्याभवनं तु निष्पन्नमिति कथमवृत्तिः क्रियायाः । एवं तर्हि प्रत्यासत्तेर्हेतुभूतायाः क्रियाया अवृत्ताविति द्रष्टव्यम् । क्रियायाः अवृत्ता-वपि शक्तिरूपेण क्रियामध्यारोप्य कर्तृत्वेनाभिसंबन्धः क्रियते यथा भूतभविष्यत्कालविषयायाः कर्तृत्वे-नाभिसंबन्धः ।

भूते ॥२।३।११६॥ भूते च काले लिङ्हेतौ क्रियाया अवृत्तौ सत्यां लृङ् भवति । “उताप्योः पृष्ठोक्तौ लिङ्” [२।३।१२८] इत्यतः प्रभृति कालसामान्ये ल्लिङ्निमित्तं विधानं तत्रानेन भूते लृङ् । ततः पूर्वं तु “वाऽशेषात्” [२।३।११७] इत्येनेनैव विकल्पः सिद्धः । दृष्टो मया भवतः पुत्रोऽन्नार्था चङ्क्रममाणः । इत-रश्चातिथ्यर्थी यदि तेन दृष्टोऽभविष्यत् उताभोक्ष्यत । अप्यभोक्ष्यत अन्येन यथा स गतः नापि भुक्तवान् । इदं सर्वं प्रतिवचनम् ।

वाऽशेषात् २।३।११७॥ वक्ष्यति “शेषेऽयदौ लृट्” [२।३।१२७] इति आ एतस्मात्सूत्रावधेः यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः भूते काले लिङ्हेतौ क्रियायाः अवृत्तौ लृङ् वा भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । परस्तु लृङो विधिर्नित्य इति तत्रैवोदाहरिष्यामः ।

लङ् गर्हेऽपिजात्वोः ॥२।३।११८॥ अपि जातु इत्येतयोर्वाचोः लङ् भवति गर्हे गम्यमाने । अयं कालसामान्ये विहितो लट् कालविशेषे विहितान् लकारान् परत्वादवाधते । अपि तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति । जातु तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति । गर्हामहे । अन्याय्यमेतत् । लिङ्हेत्वभावात् भूते क्रियाऽवृत्तौ लृङ् न भवति ।

वा कथमि लिङ् च ॥२।३।११९॥ गर्ह इति वर्तते । कथंशब्दे वाचि लिङ् भवति लङ्वा । कथं नाम तत्र भवान् मांसं भक्ष्येत् । मांसं भक्षयति । गर्हामहे । अन्याय्यमेतत् । वाच्यनायथाप्राप्तम् । अबभक्षत् । अबभक्षयत् । भक्षयाञ्चकार । भक्षयिष्यति । भक्षयिता । अत्र लिङ्हेतुरस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ वा लृङ् भवति । अबभक्षयिष्यत् । वर्त्यति नित्यं लृङ् ।

किंवृत्ते लिङ् लृटौ ॥२।३।१२०॥ गर्हे इति वर्तते । वेति नाधिकृतम् । विभक्त्यन्तस्य उत्तरदतमान्तस्य च किमो वर्तनं किंवृत्तम् । किंवृत्ते वाचि गर्हे गम्यमाने लिङ् लृटौ भवतः । सर्वलकाराणामयमपवादः । किं तत्रभवान् अदृतं ब्रूयात् । अदृतं वक्ष्यति । लिङ्हेतुरस्तीति भूते वा लृङ् भवति । वर्त्यति तु नित्यः ।

अनवकलृप्त्यमर्षे ॥२।३।१२१॥ गर्ह इति निवृत्तम् । लिङ्लृटाविति वर्तते । अनवकलृप्त्यर्थे अव-
मर्षे च गम्यमाने लिङ्लृट् इत्येतौ ल्यौ भवतः । अयमपि सर्वलकाराणामपवादः । अनवकलृप्तौ नावकल्पयामि
न संभावयामि न वा श्रद्धे किं तत्र भवानदत्तं गृह्णीयात् अदत्तं ग्रहीष्यति । अमर्षे । धिङ् मिथ्या नैतदस्त्यमर्षो
मे किं तत्रभवानदत्तं गृह्णीयात् अदत्तं ग्रहीष्यति । किंवृत्तेऽकिंवृत्ते च वाचि सामान्येनायं विधिः । लिङ्हेतु-
रस्तीति भूते क्रियावृत्तौ वा लृङ् । वर्त्यति तु नित्यः ।

किंकिलास्त्यर्थे लृट् ॥२।३।१२२॥ अनवकलृप्त्यमर्ष इति वर्तते । किंकिलशब्दे अस्त्यर्थेषु च
शब्देषु वाच्ये अनवकलृप्त्यमर्षयोर्लिङ् भवति । लिङोऽपवादः । नावकल्पयामि किंकिल तत्र भवान् परदारान्
प्रकरिष्यते । गंधनादिसूत्रेणाप्याये दः । अस्त्यर्था अस्तिभवतिविद्यतयः । अस्ति नाम भवति नाम विद्यते नाम
तत्रभवान् परदारान् प्रकरिष्यते ।

जातुयद्यदायदौ लिङ् ॥२।३।१२३॥ अनवकलृप्त्यमर्ष इति वर्तते । जातुयद्यदायदीत्येतेषु वाच्ये
अनवकलृप्त्यमर्षयोर्लिङ् भवति । लृटोऽपवादः । नावकल्पयामि जातु तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यत्रभवान्
सुरां पिबेत्, यदा तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यदि तत्रभवान् सुरां पिबेत् । न मृष्यामि जातु तत्रभवान् सुरां
पिबेत् इत्येवमादि योज्यम् । लिङ्हेतुरस्तीति भूते वा लृङ् । वर्त्यति तु नित्यः ।

यच्चयत्रयोः ॥२।३।१२४॥ अनवकलृप्त्यमर्ष इति वर्तते । यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचोरनवकलृप्त्यमर्ष-
योर्लिङ् भवति । लृटोऽपवादः । उत्तरार्थो योगविभाग । न संभावयामि यच्च तत्रभवान् परिवादं कथ-
येत् । न मृष्यामि यच्च तत्रभवान् परिवादं कथयेत् । यत्र तत्रभवान् परिवादं कथयेत् । क्रियाऽवृत्तौ भूते
वा लृङ् । वर्त्यति तु नित्यः ।

गर्हे ॥२।३।१२५॥ अनवकलृप्त्यमर्ष इति निवृत्तम् । अर्थान्तरोपादानात् । यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचो-
र्गर्हे गम्यमाने लिङ् भवति । सर्वलकाराणामपवादः । यच्च तत्रभवान् अस्मानाक्रोशेत् विद्वान् वृद्धः सन्नु-
त्कृष्टः । गर्हामहे । अन्याय्यमेतत् । लिङ्हेतुरस्तीति यथासंभवं लृङ् वेदितव्यः ।

चित्रार्थे ॥२।३।१२६॥ चित्रशब्दस्यार्थे गम्यमाने यच्चयत्रयोर्वाचोर्लिङ् भवति । सर्वलकारापवादः ।
यच्च तत्रभवान् लोभं कुर्यात् यत्र तत्रभवान् लोभं कुर्यात् विद्वान् वृद्धः सन्नुत्कृष्टः । चित्रमाश्चर्यमद्भुतं
विस्मयमित्येषामन्यतमप्रयोगः । लिङ्हेतुरस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ वा । वर्त्यति तु नित्यः ।

शेषेऽयदौ लृट् ॥२।३।१२७॥ यच्चयत्राभ्यामन्यश्चित्रार्थः शेषः । शेषे चित्रार्थे गम्यमाने लृट्
भवति यदशब्दश्चेद्वाङ् न भवति । अयमपि सर्वलकारापवादः । चित्रमाश्चर्यमद्भुतं विस्मयमित्ययमन्वो
नाम पुस्तकं वाचयिष्यति मूको नाम जैनेन्द्रमध्येष्यते । लिङ्हेत्वभावात् लृङ् वा न भवति । अयदाविति
किम् ? आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । अत्रानवकलृप्तिश्चित्रार्थश्च प्रतीयते । “जातुयद्यदायदौ लिङ्”
[१।३।१२३] इति लिङ्भूते “वाऽशेषाद्” [१।३।११७] इति लृङ्धिकारो निवृत्तः ।

उताप्योः पृष्टोक्तौ लिङ् ॥२।३।१२८॥ उत अपि इत्येतयोर्वाचोः पृष्टस्योक्तौ गम्यमानायां लिङ्
भवति । सर्वलकारापवादः । किमकार्षां कटं देवदत्त । इति पृष्टः प्रत्याह उत कुर्यात् । अपि कुर्यात् । कटं
कृतवानित्यर्थः । इतः प्रभृति यत्र लिङ्हेतुरस्ति तत्र वर्त्यति भूते च नित्यो लृङ् । उताकरिष्यत् । अप्याकरि-
ष्यत् । पृष्टोक्ताविति किम् ? उत दण्डः पतिष्यति । अपि धास्यति द्वारम् । अत्र प्रश्नोद्घटनं च प्रतीयते ।

इच्छोद्घोषेऽकश्चित् ॥२।३।१२९॥ इच्छोद्घोषः स्वाभिप्रायनिवेदनम् । इच्छोद्घोषे गम्यमाने लिङ्
भवति कश्चिच्छब्दाप्रयोगे । सर्वलकारापवादः । कामो मे अधीयीत भवान् । अभिलाषो मे भुञ्जीत भवान् ।

अकञ्चित्तीति किम् ? कञ्चिजीवति मे माता । कञ्चिजीवति मे पिता । माराविद् त्वां पृच्छामि कञ्चिजीवति पार्वती ।

संभावनेऽलमि स्थानिनि ॥१३१३०॥ लिङ्गित वर्तते । संभावनं क्रियायां सामर्थ्यश्रद्धानम् । अलंशब्दश्चेह पर्यायवचनः । यस्य यत्रार्थो गम्यते न चासौ प्रयुज्यते स तत्र स्थानीशब्दः । अलमर्थविशिष्टे संभावने लिङ् भवति अलंशब्दे स्थानिनि । सर्वलकारापवादः । शक्यसंभावने-अपि हस्तिनं हन्यात् । अपि स्तुयाद्राजानम् । अशक्यसंभावने - अपि पर्वतं शिरसा भिन्द्यात् । अपि श्वारीयकं भुञ्जीत । अपि समुद्रं दोर्भ्यां तरेत् । अलमीति किम् ? विदेशस्थायी मे देवदत्तो मन्ये गमिष्यति ग्रामम् । अत्राहमिति स्थानी । स्थानिनीति किम् ? वसति चेत् सुराष्ट्रेषु वन्दिष्यते अलमूर्जयन्तम् । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्यति भूते लृङ् भवति ।

तद्वाचि धौ वाऽयदि ॥१३१३१॥ अलमीति वर्तते । तच्छब्देन संभावनं परामृश्यते अलमर्थ-विशिष्टे सम्भावनवाचिनि धौ वाचि वा लिङ् भवति । यच्छब्दाप्रयोगे पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सम्भावयामि भुञ्जीत भवान् । श्रद्धे भुञ्जीत भवान् । पक्षे यो यतः प्राप्नोति स ततो भवति । अलमीति किम् ? सम्भावयामि यत्स भुञ्जीत । अत्रालमर्थे पूर्वेण नित्यो लिङ् ।

हेतुफलयोर्लिङ् ॥१३१३२॥ हेतुः कारणम्; फलं कार्यम् । हेतौ तत्कार्ये च ध्वये वर्तमानाद्धोः लिङ् भवति । अतिथीश्चेत्लभेत भृशमन्नं ददीत । यदि गुह्यपूजां कुर्वीत स्वर्गमारोहेत् । वेत्यनुवर्तनात्पक्षे लृट् । अतिथीश्चेत्लप्स्यते भृशमन्नं दास्यते । लिङ्गिति वर्तमाने पुनर्लिङ्प्रहणं वर्त्यति यथा स्यादिह मा भूत् । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्यति भूते च नित्यो लृङ् ।

इच्छार्थे लिङ् लोटौ ॥१३१३३॥ इच्छार्थे धौ वाचि लिङ् लोटौ ल्यौ भवतः । सर्वलकारापवादौ । वेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तते । तेन कामप्रकाशने इदं विधानम् । इच्छामि भुञ्जीत भवान् । भुङ्क्तां भवान् । प्रार्थये अधीयीत भवान् । अधीतां भवान् । कामप्रकाशन इति किम् ? इह मा भूत् । इच्छन् करोति । नात्र प्रयोक्तुः कामप्रवेदनम् । “उताप्योः पृष्टोक्तौ” [१३१३२म्] इत्यत आरभ्य यत्र केवलो लिङ् हेतुः शिष्यते तत्र क्रियाऽवृत्तौ लृङ् नान्यत्रेति केचित् ।

तुमेकर्तृके ॥१३१३४॥ इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि तुम्भवति यस्मान्तुम् विधीयते प्रत्यासत्तेस्त-दपेक्ष्यैककर्तृकत्वम् । लिङ् लोटोरपवादोऽयम् । इच्छति भोक्तुम् । वाञ्छति कर्तुम् । कामयते कर्तुम् । एककर्तृक इति किम् ? देवदत्तं भुञ्जानमिच्छति परः । इह कस्मान्न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । नात्र करोति प्रतीच्छतेः सामर्थ्यं किन्तु कटं प्रति तेनान्वर्थवाक्संज्ञाविरहात्तुम् न भवति ।

लिङ् ॥१३१३५॥ इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि लिङ् भवति । पूर्वं तुमा लिङ् लोटौ बाधितौ पुनर्लिङ्प्रसवार्थमेतत् । योगविभाग उत्तरार्थः । अधीयीयेति इच्छति । भुञ्जीयेति वाञ्छति । इतिशब्दः क्रियाशब्दसंबन्धघातनार्थः ।

तेभ्यो भवति वा ॥१३१३६॥ तेभ्य इच्छार्थेभ्यो धुभ्यः भवति काले वा लिङ् भवति । इच्छेत् । इच्छति । कामयेत । कामयते । उरयात् । वष्टि ।

विधिनमन्त्रणामन्त्रणाद्योऽसंप्रश्नप्रार्थने लिङ् ॥१३१३७॥ विधिराज्ञापनम् । निमन्त्रणं नियमेन करणम् । यदकरणे प्रत्यवाय इत्यर्थः । आमन्त्रणं स्वेच्छया करणम् । अधीष्टः सत्कारपूर्विका व्यापारणा । संप्रश्नः संप्रधारणा । प्रार्थनं याच्ना । विध्यादिध्वयेषु लिङ् भवति । सर्वत्यापवादः । विध्यादिविशि-ष्टेषु कर्त्रादिषु त्यायेषु लिङ् भवतीत्यर्थः । कटं भवान् कुर्यात् । प्राणिनो भवान्न हिंश्यात् । निमन्त्रणे-संध्यासु भवान् आवश्यकं कुर्यात् । आचारं भवानधीयीत । आमन्त्रणे-इह भवानासीत । इह भवान्

शयीत । अधीष्टे-अधीच्छामो भवान् व्रतं रक्षेत् । तत्त्वं भवान् गृह्णीयात् । संप्रश्ने—किन्तु खलु भोः जैनेन्द्रमधीयीथ । प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीथ । तर्कशास्त्रमधीयीथ । यदि विध्यादिषु प्रकृत्युपाधिषु लिङ् विधीयेत; इह विदध्यात् निमन्त्रयेत आमन्त्रयेत अधीच्छेत् । प्रकृत्यैव विध्यादयोऽभिधीयन्ते इति (इहैव) लिङ् प्राप्नोति । तस्माद्विध्यादयः कर्तृकर्मभावानां विशेषणानि । तदभावादिह लिङ् न भवति । विदधाति । निमन्त्रयते । आमन्त्रयते । अधीच्छति । अत्र क्रियाया अवृत्तौ परत्वाल्लटा लृङ् बाध्यते ।

लोट् ॥२।३।१३८॥ लोट् भवति विध्यादिविशिष्टेषु कर्त्रादिषु विधौ । ग्रामं भवान्नागच्छतु । प्राणिनो भवान् हिनस्तु । निमन्त्रणे-संध्यासु भवानावश्यकं करोतु । आचारमधीताम् । आमन्त्रणे-इह भवानास्ताम् । इह शेताम् । अधीष्टे-अधीच्छामो भवान् व्रतं रक्षतु । तत्त्वं भवान् गृह्णातु । संप्रश्ने-किन्तु खलु भो काव्यमध्ययै । प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना धर्मशास्त्रमध्ययै । योगविभाग उत्तरार्थः ।

प्रैषातिसर्गाप्रप्तकाले व्याश्च ॥२।३।१३९॥ प्रेषणं प्रैषः । अतिसर्गः कामचारानुज्ञा । प्राप्तकालः प्राप्तकालता, विशिष्टस्य कालस्यावसर इत्यर्थः । प्रैषादिष्वर्थेषु कर्त्रादिविशेषणत्वेन गम्यमानेषु व्यसंज्ञकास्तथा भवन्ति लोट् च । भवता खलु दानं दातव्यं दानीयं देयम् । करोतु कटो भवानिह प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः । यद्यपि व्यसंज्ञा सामान्येन भावकर्मणोर्विहितास्तथापि सर्वापवादेषु प्रैषादिषु लोट् बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते ।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥२।३।१४०॥ प्रैषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवः ऊर्ध्वमौहूर्तिकः । निपातात्सविधिरुत्तरपदस्यैवैष । ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे वर्तमानाद्धोः प्रैषादौ गम्यमाने लिङ् भवति चकाराद्व्याश्च । उपरि मुहूर्तस्य भवान् खलु दानं दद्यात् । भवता खलु दानं दातव्यं दानीयं देयम् । केचिच्चकारेण यथाप्राप्तं समुच्चिन्वन्ति । तेषां लोटपि भवति । भवान् खलु दानं ददातु । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

स्मे लोट् ॥२।३।१४१॥ प्रैषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति च । स्मशब्दे वाचि प्रैषादिषु गम्यमानेषु ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे लोट् भवति । व्यानां लिङ्श्चापवादः । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवान् दानं ददातु स्म । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

अधीष्टे ॥२।३।१४२॥ ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति निवृत्तम् । अधीष्टे गम्यमाने स्मशब्दे वाचि लोट् भवति । लिङो बाधकः । अङ्ग स्म राजन् दानं देहि व्रतं रक्ष ।

कालसमयवेलासु तुम् वा ॥२।३।१४३॥ काल समय वेला इत्येतेषु वान्तु भोः तुम् भवति वा । कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् । वेला भोक्तुम् वा । वावचनाद्यथाप्राप्तं च भवति । कालो भोक्त्वव्यस्य । प्रैषादिग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न भवति ।

“कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः । कालः सुतेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥”

लिङ् यद्दि ॥२।३।१४४॥ यच्छब्दप्रयोगे कालादिषु वान्तु धोर्लिङ् भवति । तुमोऽपवादः । कालो यत्प्रजां कुर्वति भवान् । समयो यद्भुञ्जीत भवान् । वेला यच्छयीत भवान् । केचिद्वेत्यनुवर्तयन्ति तेषां यथाप्राप्तमपि ।

तृज्ज्याश्चाहं ॥२।३।१४५॥ अहंतीत्यहः । अहं कर्तरि गम्यमाने तृज्ज्याश्च भवन्ति लिङ् च । भवान् खलु कन्यायाः वोदा । भवता कन्या वोदव्या वहनीया वाक्षा । भवान् खलु कन्यां वहेत् । भवान् योग्य इत्यर्थः । अहंऽर्थे लिङ् विधीयमानेन तृचो व्यानां च बाधा मा भूत् इति पुनर्विधानम् ।

आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिन् ॥२।३।१४६॥ अवश्यं भाव आवश्यकम् । मनोशादिपाठाद्बुञ् । अधमम् ऋणमस्य अधमर्णः; तद्भावेन आवधमर्ण्यम् । आवश्यकाधमर्ण्यविशिष्टे त्वर्थे कर्तरि णिन् भवति । अवश्यंहारी मयूरव्यंकादित्वात्सविधिः । शतंदायी । सहस्रंदायी । निष्कदायी “आधमर्ण्यं चेनः” [१।४।७४] इति कर्मणि तायाः प्रतिषेधः ।

व्याः ॥२।३।१४७॥ आवश्यकाधमर्ण्ययोरिति वर्तते । आवश्यकाधमर्ण्ययोर्व्यासंज्ञा भवन्ति । सर्वं त्वापवादेन णिना व्यसंज्ञा बाधिता इति पुनर्विधीयन्ते । भवता खलु अवश्यं धर्मः कर्तव्यः । करणीयः । कृत्यः । कार्यः । अधमर्ण्ये भवता खलु निष्को दातव्यः । देयः । योगविभाग उत्तरार्थः ।

शक्लिङ् च ॥२।३।१४८॥ शक्तीत्यर्थनिर्देशः । शक्तौत्यर्थविशिष्टे ध्वये लिङ् भवति चकाराद् व्याश्च । भवता खलु विद्या अध्येतव्या । अध्ययनीया । अध्येया । भवान् खलु विद्यामधीयीत । भवान् हि समर्थः । लिङ् सर्वापवाद इति (चकारेण) व्यानामनुकर्षणं क्रियते । यदि शक्तीति प्रकृत्यर्थविशेषणम् । शक्नुयादित्यत्र लिङ् न प्राप्नोति प्रकृत्यैवाभिहितत्वात् शक्यर्थस्य । नैष दोषः । सामान्यविशेषभावेन भेदाभ्युपगमात् । यथा पषितुमिच्छति एषिषिषति ।

आशिषि लिङ् लोटौ ॥२।३।१४९॥ इष्टस्याशंसनमाशीः । अतएव निपातनादिह इकारः । आशीर्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद्दोल्लिङ् लोटौ भवतः । जीव्यात् । जीव्यास्ताम् । जीव्यासुः । जीवतु । आशिषीति किम् ? जीवति यदि पथ्याशी ।

क्लिचक्लौ खौ ॥२।३।१५०॥ आशिषीति वर्तते । आशिष्यर्थे क्लिचक्लौ ल्यौ भवतः खुविषये । चकारः “न क्विचि दीश्च” [४।४।४०] इति विशेषणार्थः । तनुतात् तन्तिः । सनुतात् सातिः । भवताद्भूतिः । कृतः क्लिचा विशेषविहितेन बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते । देवा एनं देयासुरिति देवदत्तः । देवा एनं-श्रुएवन्तु देवश्रुतः ।

माङ् लिङ् ॥२।३।१५१॥ माङ् वाचि लुङ् भवति । सर्वलकारापवादः । मा कार्षारधर्मम् । मा हार्षीत्परस्वम् । इकारः प्रतिषेधवाचिनो माङ् शब्दस्य ग्रहणं यथा स्यादित्येवमर्थः ।

सस्मे लङ् च ॥२।३।१५२॥ सह स्मशब्देन वर्तते सस्मः । तस्मिन् माङ् वाचि लङ् भवति लुङ् च । मा स्म क्रुध्यत् । मा स्म हस्त । मा स्म हार्षीत् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

— — — —

धुयोगे त्याः ॥२।४।१॥ धुशब्देन ध्वर्योऽत्र निर्दिष्टः । अभिधेये अभिधानस्योपचारात् । धूनां योगे सति अयथाकालोक्ता अपि त्याः साधवो भवन्ति । विश्वदृश्याऽस्य पुत्रो जनिता । कृतः कटः श्वो भाविता । भाविकृत्यमासीत् । विश्वदृश्वेति भूतकालः जनितेत्यनेन भवि यत्कालेन (अभिसम्बन्धमानः) साधुर्भवति । इहोपसर्जनभूतं सुव्रन्तं प्रधानभूतस्य मिडन्तस्य कालमनुवर्तते । धोरिति वर्तमाने पुनर्धुर्ग्रहणं अस्तिभूजनिपरिग्रहार्थम् । त्य इति वर्तमाने पुनस्त्यग्रहणं त्यमात्रपरिग्रहार्थम् । गोमान् भवितेति मत्वन्तस्य वर्तमानकालस्य अयथाकालत्वेन साधुत्वम् ।

क्रियासमभिहारे लोट् तस्य हिस्वौ वा तध्वमोः ॥२।४।२॥ क्रियासमभिहारविशिष्टे ध्वर्ये वर्तमानाद्धोलोङ् भवति । सर्वलकारापवादः । तस्य लोटो हि स्व इत्येतावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा भवतः । क्रियासमभिहारे लोटिति योगविभागः कर्तव्यः । ततस्तस्य हिस्वौ भवतः । किमेवं सति लब्धम् ? अन्यत्र यौ लोडादेशौ हिस्वौ प्रसिद्धौ ताविह भवतः । तेन मविधिदविधिव्यतिकरो न भवति । वा तध्वमोरित्यत्र ध्वमा सह निर्देशात्तशब्दस्य थादेशस्य वहोर्ग्रहणम् । लुनीहि लुनीहि इत्येवाहं लुनामि । आवां लुनीवः । वयं लुनीमः । लुनीहि लुनीहि इत्येव त्वं लुनासि । युवां लुनीथः । यूयं लुनीथ । तशब्दस्य तु वा भवति । लुनीत लुनीत इत्येव यूयं लुनीथ । लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति । इमौ लुनीतः । इमे लुनन्ति । भूते लुनीहि लुनीहि इत्येवाहमलाविष्म । आवामलाविष्म । वयमलाविष्म । एवं युष्मदन्ययोरपि । वर्त्यति—लुनीहि लुनीहीत्येवाहं लविष्यामि । आवां लविष्यावः । वयं लविष्यामः । एवं युष्मदन्ययोरपि । अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । एवं युष्मदन्ययोरपि योज्यम् । ध्वमस्तु पक्षे श्रवणम् । अधीष्वमधीष्वमित्येवं यूयमधीष्वे । भूते—अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमध्यगीषि । आवामध्यगीष्वहि । वयमध्यगीष्वहि । एवं सर्वत्र । वर्त्यति—अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमध्येष्वे । आवामध्येष्यावहे । वयमध्येष्यामहे । एवं युष्मदन्ययोरपि । एवं शेषेष्वपि लकारेषु योज्यम् । द्वित्वमपेक्ष्य लोङ् क्रियासमभिहारस्य द्योतकः । धुयोग इति वर्तते । प्रत्यासत्तयत एव लोट् विधीयते तस्यैवानुप्रयोगः कालास्मदाद्यक्त्वादीनामभिव्यक्तये क्रियते ।

प्रचये वा ॥२।४।३॥ प्रचयः समुच्चयः । स चैकस्मिन् द्विप्रभूतेरध्यावायः । प्रचये उपाधौ वा लोङ् भवति तस्य हिस्वावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा । अयं सर्वलकारप्राप्तौ विकल्पः । कर्मप्रचयो ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवाहमटामि । आवामटावः । वयमटामः । ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवं त्वमटसि । युवामटथः । यूयमटथ । तशब्दस्य तु वा—ग्राममटत् नगरमटत् गिरिमटत् इत्येव यूयमटथ । ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवायमटति । इमौ अटतः । इमे अटन्ति । वाच्यत्वात् ग्राममटामि नगरमटामि गिरिमटामि इत्येवाहमटामि । आवामटावः । वयमटामः । एवं युष्मदन्ययोरपि । एवं भूते वर्त्यति सर्वलकारेषु योज्यम् । दभाभ्यः । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येव त्वमधीषे । युवामधीयाथे । यूयमधीष्वे ध्वमस्तु वा—जैनेन्द्रमधीष्वं तर्कमधीष्वं गणितमधीष्वं इत्येव यूयमधीष्वे । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येवायमधीते । इमौ अधीयाते । इमे अधीयते । वाच्यत्वात् जैनेन्द्रमधीये गणितमधीये तर्कमधीये इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । एवं भूते वर्त्यति सर्वलकारेषु योज्यम् । कर्तृसमुच्चये देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव वयमोदनमद्मः । देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव यूयमोदनमत्थ । देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव इमे ओदनमदन्ति । कर्तृसमुच्चये द्विर्वचनं बहुवचनं वा भवति एकस्य समुच्चयाभावात् । क्रियासमुच्चये । आदानं शुद्धं सक्त्वा पिब घानाः खाद इत्येवाहमभ्यवहरामि । आवामभ्यवहरावः । वयमभ्यवहरामः । बहूनां क्रियाणां समुच्चये सामान्यप्रयोगोऽभिधानवशात् । एवं सक्करसमुच्चयोऽप्युद्धः ।

निषेधेऽलंखल्वोः त्त्वा ॥२।४।४॥ वेति वर्तते । अलं खलु इत्येतयोर्निषेधवाचिनेर्वाचोर्घोः त्त्वात्यो भवति । अलं कृत्वा । अलं बाले रुदित्वा । “क्लिनाऽमैव” [१।३।८३] इति नियमात् वाक्सो न भवति । निषेध इति किम् ? अलंकारः । अलंखल्वोरिति किम् ? मा कार्षीः । वेत्येव । अलं रोदनेन । “प्रकृत्यादिव्य उपसंख्यामम्” [वा०] इति भा ।

माङ्गो व्यतिहारे ॥२।४।५॥ माङ्गो व्यतिहारेऽर्थे त्त्वा भवति वा । परकालत्वादप्राप्तः त्त्वा विभाष्यते । अप्रमित्य याचते । अवमित्य हरति । “वेर्मेळः” [४।४।६६] इतीत्वम् । वेत्यधिकारात् याचित्वा अप्रमयते । हत्वा अप्रमयते । मेळः कृतालस्य निर्देशो ज्ञापकः — “नालुबन्धकृतं हळन्तस्त्वम्” [परि०] ।

परावरयोगे ॥२।४।६॥ परावराभ्यां योगे गम्भमाने घोः त्त्वा भवति । वेति वर्तते । संत्रन्धिशब्दत्वात् परेषु पूर्वस्य योगे । अप्राप्य नदीं पर्वतः । परया नद्या युक्तः पर्वतः प्रतीयते । अवरं ण योगे परस्य त्त्वा । अतिक्रम्य पर्वतं नदी । अवरपर्वतयोगविशिष्टा परा नदी प्रतीयते । वावचनाल्लडादयो भवन्ति । न प्राप्नोति नदीं पर्वतः । अतिक्रामति पर्वतं नदी ।

परकालैककर्तृकात् ॥२।४।७॥ परः कालो यस्याः सेयं परकाला क्रिया, तथा एककर्ता यस्य सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनः स तथोक्तः । तस्माद्दोः त्त्वा भवति । स्नात्वा भुङ्क्ते । स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति । एककर्तृकादिति किम् ? भुङ्क्वति देवदत्तं गच्छति जिनदत्तः । परकालग्रहणं किम् ? सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनो यथा स्यादिह मा भूत् । भुङ्क्ते च पिबति च आस्ते च जल्पति च इहापि कथञ्चित् पूर्वकालत्वविवक्षास्ति । व्यादाय स्वपिति । संमील्य हसति इति । वेत्यधिकारात् । भुङ्क्ते शोते च ।

णाम् चाभीक्ष्ये ॥२।४।८॥ परकालैककर्तृकादिति वर्तते । मुहुर्मुहुर्वृत्तिराभीक्ष्यम् । एतच्च प्रकृत्यर्थविशेषणम् । परकालैककर्तृकात् णामित्ययं त्यो भवति त्त्वात्यश्च । आभीक्ष्ये—भोजंभोजं व्रजति । भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति । पायं पायं गच्छति । पीत्वा पीत्वा गच्छति । त्त्वाणामौ द्वित्वमपेक्ष्याभीक्ष्यं द्योतयतः । पूर्वेषु त्त्वात्ये सिद्धे णामर्थं वचनम् । इह वेति निवृत्तम् । उत्तरत्र वाग्रह्यात् ।

न यदनाकाङ्क्षते ॥२।४।९॥ यच्छब्दे वाचि त्त्वाणामौ न भवतोऽनाकाङ्क्षे सति वाक्ये । अनन्तरव्यवहितमेदाभावात् पूर्वसूत्रविहितो अनन्तरश्च त्त्वा निषिध्यते णाम् च । यदयं भुङ्क्ते ततो गच्छति । यदयं शोते ततोऽधीते । अनाकाङ्क्ष इति किम् ? यदयं भुक्त्वा व्रजति । अधीत एव ततः परम् । अत्र पूर्वोत्तरक्रियाभ्यां अतिरिक्तमध्ययनं काङ्क्षते ।

चाऽग्रे प्रथमपूर्वे ॥२।४।१०॥ आभीक्ष्य इति निवृत्तम् । “परकालैककर्तृकात्” [१।४।७] इत्यनेन त्त्वात्ये प्राप्ते विभाषेयम् । अग्रे प्रथम पूर्वं इत्येतेषु वाङ्मु त्त्वाणामौ वा भवतः । अग्रे भोजं ततो ददाति । अग्रे भुक्त्वा ततो ददाति । प्रथमं भोजं ततो ददाति । प्रथमं भुक्त्वा ततो ददाति । पूर्वं भोजं ततो ददाति । पूर्वं भुक्त्वा ततो ददाति । “क्लिनामैव” [१।३।८३] इत्यत्रैवकारोपादानात् केवलेनैवामा विहितेन वाक्सो भवति नान्यसहितेन । वावचनाल्लडादयोऽपि भवन्ति । अग्रे भुङ्क्ते ततो ददाति । प्रथमं भुङ्क्ते ततो ददाति । पूर्वं भुङ्क्ते ततो ददाति ।

कर्मण्याम्को कृञः खमुञ् ॥२।४।११॥ कर्मणि वाचि आक्रोशे गम्भमाने कृञः खमुञ् भवति । चोरोऽसीत्येवमाक्रोशति चोरङ्कारमाक्रोशति । दस्युङ्कारमाक्रोशति । क्त्वाऽपवादोऽयम् । आक्रोश इति किम् ? चोरं कृत्वाङ् गच्छति । नात्राऽक्रोशसंपादनार्थं चोरग्रहणम् ।

स्वादुमि णम् ॥२।४।१२॥ स्वादुमीत्यर्थनिर्देशः । स्वाद्वर्थेषु वाङ्मु कृञो णम् भवति । परकालैककर्तृकादिति वर्तते । स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते । लवणङ्कारं भुङ्क्ते । स्वादुमीति णामसन्नियोगे

मकारान्तता निपात्यते । खमुञ्जि प्रकृते । “स्त्रित्यक्तेः” [४।३।१७६] “सुमचः” [४।३।१७७] इति मुमा सिद्धमिति चेत् च्यन्तविवक्षायां श्रमेरिति प्रतिषेधः प्रसज्येत । खमुञ्ज्येव मान्तनिपातनं कर्तव्यमिति चेन्न च्यन्तार्थमेव तत्संभाव्येत । णमि पुनर्निपातनं ङीनिवृत्त्यर्थं “ञ्वौ” [५।२।१३५] दीत्वनिवृत्त्यर्थं च । स्वादीकृत्वा यवागू भुङ्क्ते । स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । च्विविवक्षायामस्वादुं स्वादुं कृत्वा भुङ्क्ते स्वादुंकारं भुङ्क्ते । “ञ्वौ” [५।२।१३५] इति दीत्वं प्रसज्येत । उत्तरार्थं च इह णम्ग्रहणम् । विभाषाधिकारात् क्त्वापि भवति । क्त्वादय आतुमो विधीयमाना भावे भवन्ति । ननु स्वादुंकारं भुङ्क्ते देवदत्त इति णमा कर्तुरनुकृत्वात् कर्तरि ता प्राप्ता “न क्तिव” [१।४।७२] इत्यादिना ता कर्तरि न भवति ।

अन्यथैव कथमित्थं स्वनर्थात् ॥२।४।१३॥ अन्यथा एवं कथमित्थमित्येतेषु वाङ्मु धुभ्यो णम् भवति अनर्थात् । येन विनापि यदर्थः प्रतीयते स तत्रानर्थस्तस्मिन्प्रयुज्यमाने ल्यो भवति । तथाहि यावानेवार्थोऽन्यथा भुङ्क्ते इति तावानेव कृञ्प्रयोगेऽपि अन्यथाकारं भुङ्क्ते । एवंकारं भुङ्क्ते । कथंकारं भुङ्क्ते । इत्थङ्कारं भुङ्क्ते । अनर्थादिति किम् ? अन्यथा कृत्वा शिरो भुङ्क्ते ।

यथातथयोरसूयाप्रत्युक्तौ ॥२।४।१४॥ कृञोऽनर्थादिति वर्तते । यथा तथा इत्येतयोर्वाचोः कृञोऽनर्थात् णम् भवति असूयाकृतायां प्रत्युक्तौ गम्यमानायाम् । कथं कृत्वा भवान् भुङ्क्ते इत्येवं पृष्ठोऽसूयकस्तं प्रत्याह यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारमहं भोक्ष्ये किं तवानेन । अनर्थादिति किम् ? यथा कृत्वाहं बलिं भोक्ष्ये किं तवानेन । असूयाप्रत्युक्ताविति किम् ? यथाकृत्वाहं भोक्ष्ये तथा द्रक्ष्यसि त्वम् । तथाकृत्वाहं भोक्ष्ये यदा द्रष्टव्यं भवता ।

कर्मण्यशेषे दृशिचिद्ः ॥२।४।१५॥ अशेषः कः ? साकल्यम् । इदं कर्मणो विशेषणम् । अशेषविशिष्टे कर्मणि वाचि दृशिचिदोर्ध्वोर्णम् भवति । साधुदर्शं प्रणमति । सर्वं साधुं प्रणमतीत्यर्थः । अतिथिवेदं भोजयति । यं यं विन्दति विन्ते वा तं सर्वं भोजयतीत्यर्थः । अशेष इति किम् ? अतिथिं दृष्ट्वा भोजयति ।

यावति विन्दजीवः ॥२।४।१६॥ यावच्छब्दे वाचि विन्दतिजीवत्योर्णम् भवति । यत्र पूर्वकालत्वं सम्भवति तत्र त्वाऽपवादः । यत्र न सम्भवति 'तत्रापूर्वं एव विधिः । धुयोग इति वर्तते । यावद्देदं भुङ्क्ते । यावत्सभते तावद्भुङ्क्ते इत्यर्थः । यावज्जीवमधीते । यावज्जीवति तावदधीते इत्यर्थः ।

चर्मोदरयोः पूरेः ॥२।४।१७॥ कर्मणीति वर्तते । चर्म उदर इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः पूरयतेर्णम् भवति । चर्मपूरं शोते । उदरपूरं भुङ्क्ते ।

वर्षप्रमाणे ॥२।४।१८॥ कर्मणीति वर्तते । कर्मणि वाचि पूरयतेर्णम् भवति समुदायेन वर्षप्रमाणे गम्यमाने । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः । सीतापूरं वृष्टो देवः । कथं गोष्पदप्रं वृष्टो देवः ? प्रातरातः के कृते क्रियाविशेषणत्वेन नपुंसकलिङ्गम् । एतस्य कान्तस्यैव विभक्तयन्तश्चादिषु च प्रयोगः साधुः । गोष्पदप्रेषा गोष्पदप्री भवति । गोष्पदप्रतरम् गोष्पदपूरं वृष्टो देव इत्येवमादाबुभयथा प्रयोग इष्यते । णमन्तस्य घञन्तस्य च क्रियाविशेषणभावेन हृति विभक्तयन्तरे च विशेषः । णमन्तस्य हि देश्यादिषु गोष्पदपूरं भवति गोष्पदपूरं-देश्यम् गोष्पदपूरंदेशीयं गोष्पदपूरं कल्पं गोष्पदपूरंतराम् । घञन्तस्य गोष्पदपूरीभवति गोष्पदपूरदेश्यं गोष्पदपूरदेशीयम् गोष्पदपूरकल्पम् । गोष्पदपूरतराम् ।

चेलेषु क्लोपेः ॥२।४।१९॥ कर्मणीति वर्तते । चेलार्थेषु कर्मसु वाङ्मु क्लोपयतेर्णम् भवति वर्षप्रमाणे गम्ये । चेलक्लोपं वृष्टो देवः । एवं वल्लक्लोपं वसनक्लोपम् ।

शुष्कचूर्णभक्षेषु पिषः ॥२।४।२०॥ कर्मणीति वर्तते । शुष्क चूर्णं भक्ष इत्येतेषु कर्मसु वाक्तु पिषेर्धोर्याम् भवति । शुष्कपेषं पिनष्टि तगरम् । शुष्क पिनष्टीत्यर्थः । एवं चूर्णपेषं पिनष्टि । भक्षपेषं पिनष्टि । घञि सति क्रियाविशेषणे शुष्कस्य पेषं पिनष्टि इत्येवमादयः प्रयोगाः साधवः । इतः प्रभृति “उपदर्शो भव्याम्” [२।४।३३] इत्यतः प्राक् यत् एव धोर्याम् भवति तस्यैवानुप्रयोगोऽपि भवत्यभिधानवशात् ।

जीवाद्यङ्गग्रहिकृच्चः ॥२।४।२१॥ कर्मणीति वर्तते । जीव अकृत इत्येतयोः कर्मवाचिनो-र्वाचोर्यथासंख्यं ग्रहि कृञ् इत्येताभ्यां णम् भवति । जीवप्राहं गृहीतः । अकृतकारं करोति ।

निमूले कषः ॥२।४।२२॥ कर्मणीति वर्तते । निमूले कर्मणि वाचि कषेर्याम् भवति । निमूलकाषं कषति । घञि सति क्रियाविशेषणे निमूलस्य काषं कषति इत्यपि भवति ।

समूले हनश्च ॥२।४।२३॥ कर्मणीति वर्तते । समूले कर्मणि वाचि हन्तेः कषेश्च णम् भवति । समूलघातं हन्ति । समूलकाषं कषति ।

करणे ॥२।४।२४॥ हन इति वर्तते । करणे वाचि हन्तेर्याम् भवति । पाणिघातं कुडयं हन्ति । पाणिना हन्तीत्यर्थः । पादघातं शिलां हन्ति । यदा हिंसार्थो हन्तेर्विवक्षितः तदा “हिंसार्थादिककर्मकात्” [२।४।३४] इतीममपि विधिं पूर्वविप्रतिषेधेन बाधित्वाऽयमेव णम् । असिघातं हन्ति चौरान् । कोऽत्र विशेषः ? अनेन नित्यः सविधिः तस्यैव धोरनुप्रयोगश्च भवति ।

हस्ते वर्तिग्रहः ॥२।४।२५॥ करण इति वर्तते । हस्त इति अर्थनिर्देशः । हस्तवाचिनि करणे वाचि वर्तयतिगृह्णातिभ्यां णम् भवति । हस्तवर्तं वर्तयति । हस्तेन वर्तयतीत्यर्थः । एवं पाणिवर्तम् । करवर्तम् । हस्तप्राहं गृह्णाति । हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः । एवं पाणिप्राहं करग्राहम् ।

स्वेषु पुषः ॥२।४।२६॥ करण इति वर्तते । स्व इति स्वरूपस्य तद्विशेषाणां च ग्रहणम् । बहुत्व-निर्देशात् । स्ववाचिकरणवाचिनि पुषेर्धोर्याम् भवति । आत्मात्मीयज्ञातिधनानि स्वशब्देनेष्यन्ते । स्वपोषं पुष्टः । विद्यापोषं गोपोषं मातृपोषं पितृपोषं रैपोषं पुष्णाति । सर्वत्र घञन्तेन णमन्तस्यार्थकथनं द्रष्टव्यम् । स्वेन पोषं पुष्ट इति स एव पुषिः कालसाधनभेदादन्यत्वं गतः पुषिणा युज्यते । यथा एषितुमिच्छति एषिषिषति । इषिषिषिषा युज्यते ।

स्नेहने पिषः ॥२।४।२७॥ करण इति वर्तते । स्निह्यतेऽनेनेति स्नेहनम् । स्नेहनवाचिनि करणे वाचि पिषेर्धोर्याम् भवति । घृतपेषं पिनष्टि । घृतेन पिनष्टीत्यर्थः । एवं तैलपेषम् । उदपेषम् । “पेषमि” [४।३।१६३] इत्युदकस्यादादेशः ।

बन्धोऽधिकरणे ॥२।४।२८॥ अधिकरणे वाचि बन्धातेर्याम् भवति । चक्रबन्धं बद्धः । चक्रे बद्ध इत्यर्थः । एवं चारकबन्धम् । दृष्टिबन्धम् । गुप्तिबन्धम् । बध्यमानाधारे वाचि णम् भवति न बन्धाधारे । हस्ते बन्नातीति वेत्यधिकाराद्वा न भवति ।

स्त्रौ ॥२।४।२९॥ खुविषये च बन्धातेर्याम् भवति । चण्डालिकाबन्धं बद्धः । अष्टालिकाबन्धं बद्धः । महिषिकाबन्धं मयूरिकाबन्धं क्रौञ्चबन्धं बद्धाः । णमन्ताः बन्धविशेषाणां संज्ञा एताः । अर्थप्रदर्शनं तु यथाकर्याक्त्करणेन वाचा अन्यथा वा दर्शनीयम् । अन्ये तु व्याचक्षते खुभूतो यो बन्धः तस्मिन् करणवाचिनि वाचि बन्धातेर्याम् भवति ।

कर्त्राजीवपुरुषयोरनशिवहोः ॥२।४।३०॥ जीव पुरुष इत्येतयोः कर्तृवाचिनोर्वाचोर्यथाक्रमं नशि-

वह्निभ्यां णम् भवति । जीवनानां नश्यति । जीवो नश्यतीत्यर्थः । पुरुषवाहं वहति । पुरुषो भूत्वा वहतीत्ययम् ।
कर्त्रोरिति किम् ? जीवेन नष्टः । पुरुषं वहन्ति । अत्र करणं कर्म च वाक् ।

ऊर्ध्वं शुषिपुरोः ॥२।४।३१॥ कर्त्रोरिति वर्तते । ऊर्ध्वशब्दे कर्तृवाचिनि वाचि शुषि पूरि इत्ये-
ताभ्यां णम् भवति । ऊर्ध्वशोषं शुष्कः । ऊर्ध्वः इत्यर्थः । ऊर्ध्वपूरं पूर्यते । ऊर्ध्वः पूर्यत इत्यर्थः ।

कर्मणि चेवे ॥२।४।३२॥ शब्दे कार्यस्यासम्भवादिवार्य उपमानं गृह्यते । इवशब्दार्थे वर्तमाने कर्मणि
कर्तरि भूवादिघोर्याम् भवति कर्मणि । घृतनिघायं निहितः । घृतमिव निहित इत्यर्थः । एवं जीवितरत्नं
रत्नितः । कर्तरि—अक्रूरानां नष्टः । अक्रूर इव नष्ट इत्यर्थः । एवमजकनाशं नष्टः । चूडकनाशं नष्टः ।
पिषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगो न वक्तव्यः । धुयोग इति वर्तते तत्र प्रत्यासत्तेरभिधानवशाद्वा यत एव घोर्याम्
तस्यैवानुप्रयोगः ।

उपदंशो भायाम् ॥२।४।३३॥ उपपूर्वाद्दंशोर्भाते वाचि णम् भवति । धुयोग इति च वर्तते । एक-
कर्तृकादिति च पूर्वकालत्वं संभवतः संबन्धनीयम् । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते । “वा भादि”
[१।३।८४] इति विभाषया वाक्सः । इत ऊर्ध्वं यानि वाक्संज्ञकानि वदन्ते तानि भादिग्रहणेन गृह्यन्ते ।
सर्वत्रास्मिन् प्रकरणे वेत्यनुवर्तते । तेन त्वाऽपि भवति । मूलकेनोपदंश्य भुङ्क्ते । कर्मणः साधकतमत्व-
विवक्षायां भा भवति । अथवा उपदंशिगुणस्य भुञ्जेरेतत्करणम् ।

हिसार्थादेककर्मकात् ॥२।४।३४॥ भायामिति वर्तते । हिसार्थेभ्यो धुभ्योऽनुप्रयोगेणैककर्मकेभ्यो
भान्ते वाचि णम् भवति । दण्डघातं गाः सादयति । दण्डेनाघातम् । “करणे” [२।४।३४] इत्यनेन हन्तेर्यः
पूर्वनिर्णयेन णम् विहितस्तस्यैवानुप्रयोगो द्रष्टव्यः । हन्तेरन्यदपीहोदाहरणम् । दण्डाताडं गाः कालयति ।
दण्डेनाताडम् । खड्गप्रहारं शत्रून् विजयते । खड्गेन प्रहारम् । एककर्मकादिति किम् ? दण्डेनाहत्य भूमिं
गोपालको गाः सादयति ।

ईपि चोपपोडकृषर्षः ॥२।४।३५॥ उपपूर्वेभ्यः पीडकृषर्षेभ्य ईपि वाचि चकाराद्भान्ते वाचि-
णम् भवति । उपशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ब्रह्मोपरोषम् । ब्रजे उपरोषम् । ब्रजेनोपरोषम् । पार्श्वो-
पपीडं शेते । पार्श्वार्थ्यामुपपीडम् । पार्श्वथोरुपपीडम् । पार्युपकर्षं धानाः पिनष्टि । पाण्याुपकर्षम् ।
पाणिनोपकर्षम् ।

प्रमाणासत्त्योः ॥२।४।३६॥ ईपि भायां चेति वर्तते । प्रमाणमायाममानम् । आसत्तिः सन्निकर्षः ।
ईवन्ते भान्ते वाचि घोर्याम् भवति प्रमाणासत्त्योर्गम्यमानयोः । द्वयङ्गुलौत्कर्षं गण्डकारिच्छन्ति । त्र्यङ्गुलो-
त्कर्षम् । त्र्यङ्गुलेनोत्कर्षम् । त्र्यङ्गुले उत्कर्षम् । आसत्तौ । केशग्राहं युध्यन्ते । केशेषु ग्राहं केशीर्ग्राहम् । सन्निकृष्टं
युध्यन्ते इत्यर्थः । एवमस्यपनोदं युध्यन्ते । असिष्वपनोदम् । असिभिरपनोदम् । हस्तग्राहम् । हस्तेषु ग्राहम् ।
हस्तैर्ग्राहम् ।

त्वर्थपादाने ॥२।४।३७॥ त्वरणं त्वरा त्वरीति सौत्रमात्वम् । त्वरायां गम्यमानायामपादाने
वाचि घोर्याम् भवति । शय्योत्थायं धावति । शय्याया उत्थाय । मुखप्रक्षालनाद्यवश्यकर्मकृत्वा त्वरत
इत्यर्थः । एवं स्तनरन्ध्रापकर्षं पयः पिबति । स्तनरन्ध्रादपकर्षम् । भ्राष्टापकर्षमपूपान् भक्षयति । भ्राष्टादप-
कर्षम् । वेत्यनुवर्तनात् शय्याया उत्थाय धावति । त्वरीति किम् ? आसनादुत्थाय गच्छति ।

इपि ॥२।४।३८॥ त्वरीति वर्तते । इवन्ते वाचि त्वरायां गम्यमानायां घोर्याम् भवति । यष्टिग्राहं
युध्यन्ते । यष्टिं ग्राहम् । त्वरया युद्धप्रहरणमनपेक्ष्य यष्टिमादाय युध्यते इत्यर्थः । एवं पटापकर्षं धावन्ति
पटमपकर्षम् । त्वरीत्येव । खड्गं गृहीत्वा युध्यन्ते ।

स्वाङ्गे ऽध्रुवे ॥२।४।३९॥ इपीति वर्तते । यस्मिन्निनष्टेऽपि प्राणिनां मरणं न भवति तदध्रुवं स्वाङ्गम् । तस्मिन्निबन्ते वाचि धोर्यम् भवति । अक्षिणिकोचं बल्पति । अक्षणी निकोचम् । भ्रूक्षेपं जल्पति । भ्रुवं क्षेपम् । अंगुलिनिकोटं बल्पति । अंगुलिं निकोटं जल्पति । अध्रुव इति किम् ? शिर उल्हप्य बल्पति ।

अद्रवं मूर्तिमत्स्वांगं प्राणिस्थमविकारकम् । अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेतत्तथायुतम् ।

आद्यैश्रुतिभिर्विशेषणैर्शालाबुद्धिफलशोफादिरहितप्राणिस्थं वस्तु स्वाङ्गमुक्तम् । अतत्स्थं तत्र दृष्टं चेत्यनेन भूमिपतितकेशादिपरिग्रहः । तेन चेतत्तथायुतमित्यनेन काष्ठादिप्रतिमायां स्थितं पाण्यादि संग्रहीतम् ।

सक्लेशो ॥२।४।४०॥ इपीति वर्तते स्वाङ्ग इति वा । सह क्लेशेन दुःखेन वर्त्तते इति सक्लेशं क्लिश्यमानमित्यर्थः । इबन्ते सक्लेशे स्वाङ्गे वाचि धोर्यम् भवति । धुवायंऽयमारम्भः । उरःप्रतिपेषं युध्यन्ते । उरांसि प्रतिपेषम् । उरांसि पीडयन्तो युध्यन्ते इत्यर्थः । एवं शिरःप्रतिपेषम् । शिरांसि प्रतिपेषम् ।

विशिपतिपदिस्कन्दो व्याप्यासेव्ययोः ॥२।४।४१॥ इपीति वर्तते । विश्यादिभिः काल्येन व्यापनीयद्रव्यं व्याप्यम् । क्रियारूपं तात्पर्येण आसेवनीयमासेव्यम् । क्रियाधारभूतमुपचारद्वयमप्यासेव्यम् । विशि पति पदि स्कन्द इत्येतेभ्यो धुम्यः व्याप्य आसेव्ये च वाचि णम् भवति । गेहानुप्रवेशमास्ते । वृत्त्या व्यापनस्यासेवनस्य चोक्तत्वात् द्वित्वं न भवति । वाक्यपक्षे व्याप्यमानस्य द्रव्यस्य द्वित्वम् । आसेव्यविवक्षायां तु मुख्यस्यासेव्यस्य क्रियारूपस्य द्वित्वम् । गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते । गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते । गेहानु-प्रपातमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपातम् । गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमास्ते । गेहमनुप्रपादमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपादम् । गेहमनुप्रपादमनुप्रपादम् । गेहवस्कन्दमास्ते । गेहं गेहमवस्कन्दम् । गेहमवस्कन्दमवस्कन्दम् । वेत्यधिकारात् गेहं गेहमनुप्रविश्य गेहमनुप्रविश्यानुप्रविश्यास्ते । वीप्सायामाभीक्ष्ये च द्वित्वम् । व्याप्यासेव्योरिति किम् ? गेहमनुप्रविश्य भुङ्क्ते । “णम् चाभीक्ष्ये” [२।४।८] इति यद्यप्यासेव्ये णम् सिद्धः, तथापि वाक्सविकल्पार्थमिदम् ।

तृष्यस्वोः क्रियान्तरे काले ॥२।४।४२॥ इपीति वर्तते । इबन्ते कालवाचिनि वाचि तृषि असु इत्येताभ्यां णम् भवति क्रियान्तरार्थे यद्यनुप्रयुज्यमानक्रियापेक्षया क्रियान्तरे वृत्तिरित्यर्थः । द्रव्यहापतर्षं गाः पाययति । द्रव्यहमपतर्षम् । व्यहापतर्षम् । व्यहमपतर्षम् । द्रव्यहात्यासं गाः पाययति । द्रव्यहमत्यासम् । व्यहात्यासम् । व्यहमत्यासम् । कालाध्वन्यविच्छेदे इतीप् । तृष्यस्वोरिति किम् ? द्रव्यहमुपोष्य भुङ्क्ते । क्रियान्तर इति किम् ? अहरत्यस्य गतः । अत्रात्यतिर्न क्रियान्तरे वर्तते किन्तु गतावेव । काल इति किम् ? पञ्च पूलान् अन्यस्य तिलान् भक्षयति ।

नामन्यादिशिग्रहः ॥२।४।४३॥ इपीति वर्तते । इबन्ते नामशब्दे वाचि आदिशिग्रहस्थां णम् भवति । नामादेशमाच्छे । नामान्यादेशम् । नामग्राहमाकारयति । नामानि ग्राहम् ।

भावनिश्लोक्तौ कृञः क्त्वाणमौ ॥२।४।४४॥ क्लिसंज्ञके वाचि अनिश्लोक्तौ गभ्यमानायां कृञः क्त्वाणमौ भवतः । वेत्यधिकारात् क्त्वाण्ये सिद्धे पुनः क्त्वाणप्रहणं क्त्वा इत्यनेन वृत्तिविकल्पार्थम् । भादीति तत्र वर्तते तेनोत्सर्गे क्त्वाण्ये सविकल्पो न स्यात् । ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः किं तर्हि वृषल नीचैः कृत्याचष्टे । नीचैः कृत्वा । नीचैः कारम् । उच्चैर्नाम प्रयमाख्येयम् । नीचैराख्यायमानमनिष्टं भवति । ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी । तर्हि वृषल उच्चैः कृत्याऽचष्टे । उच्चैः कृत्वा । उच्चैः कारम् । कन्यागर्भः उच्चैराख्यायमानोऽनिष्टः । अनिश्लोक्ताविति किम् ? उच्चैः कृत्याचष्टे पुत्रस्ते जातः ।

तिरश्च्यपवर्गो ॥२।४।४५॥ अपवर्गः समाप्तिः । तिर्यक्छन्दे वाचि अपवर्गो गभ्यमाने कृञः क्त्वाणमौ

भवतः । तिर्यककृत्य गतः । तिर्यककृत्वा । तिर्यकारम् । समाप्य गत इत्यर्थः । अपवर्ग इति किम् ? तिर्यक कृत्वा काष्ठं गतः । तिरश्चीति तिर्यकच्छब्दानुकरणनिर्देशः । “प्रकृतिवदनुकरणं भवति” [परि०] इति रूपविधिः ।

स्वाङ्गे तस्ये कृभुवः ॥२।४।४६॥ तस्यो यस्मात्तथोक्तम् । तस्ये स्वाङ्गे वाचि कृ भू इत्येताभ्यां क्त्वाणमौ भवतः । भिन्नयोगनिर्दिष्टलाघथासंख्यमत्र न भवति । मुखतःकृत्य गतः । मुखतः कृत्वा । मुखतः-कारम् । पृष्ठतःकृत्य । पृष्ठतः कृत्वा । पृष्ठतःकारम् । मुखतोभूय । मुखतोभूत्वा । मुखतोभावम् । पृष्ठतोभूय । पृष्ठतोभूत्वा । पृष्ठतोभावम् । “अपादानेऽहीयरुहोः” [४।२।६०] इति “आदिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति वा तसिः । स्वाङ्ग इति किम् ? सर्वतःकृत्वा । तस्यग्रहणं किम् ? मुखीकृत्य गतः । त्यग्रहणं किम् ? मुखे तस्यति मुखतः । अमुखतसं मुखतसं कृत्वा मुखतःकृत्य ।

नाघार्थत्ये ऋथ्ये ॥२।४।४७॥ नार्थो धार्थश्च त्यो यस्मात्स तथोक्तः । नार्थत्ये धार्थत्ये च शब्दे ऋथ्ये वाचि कृ भू इत्येताभ्यां क्त्वाणमौ भवतः । नार्थत्ये-विनाकृत्य गतः । विनाकृत्वा । विनाकारम् । विनाभूय । विनाभूत्वा । विनाभावम् । अनाना नाना कृत्य गतः । नानाकृत्वा । नानाकारम् । नानाभूय । नानाभूत्वा । नानाभावम् । “विनञ्भ्यां नानाञौ न सह” [३।४।१४७] इति नानाञौ भवतः । धार्थे त्ये-अद्विधा द्विधा कृत्य गतः । द्विधाकृत्वा । द्विधाकारम् । द्विधाभूय । द्विधाभूत्वा । द्विधाभावम् । अद्वैधं द्वैधं कृत्य गतः । द्वैधं कृत्वा । द्वैधकारम् । द्वैधं भूय । द्वैधं भूत्वा । द्वैधं भावम् । अद्वेधा द्वेधा कृत्य गतः । द्वेधाकृत्वा । द्वेधाकारम् । द्वेधाभूय । द्वेधाभूत्वा । द्वेधाभावम् । “संख्याया विधार्थे षा” [४।१।१०६] “द्वित्रैर्धमुञ्” [४।१।१०८] एकधा । ऐक्यम् । “वैकादयमुञ्” [४।१।१०७] अर्थग्रहणं स्वरूपमात्रनिरासार्थम् । त्यग्रहणं किम् ? नाघार्थे वाचीत्युच्यमाने इहापि स्यात् । अहिरुक् हिरुक्कृत्वा पृथक्कृत्वा त्विर्विकल्पेन विधास्यते । ऋथ्यमात्रमत्र विवक्षितं न त्विः । अर्थ इति किम् ? नाना कृत्वा काष्ठानि गतः ।

तूष्णीमि भुवः ॥२।४।४८॥ तूष्णीमशब्दे वाचि भू इत्येतस्मात् क्त्वाणमौ भवतः । तूष्णीभूयास्ते । तूष्णीं भूत्वा । तूष्णींभावम् ।

अन्वच्यानुलोम्ये ॥२।४।४९॥ आनुलोम्यमनुकूलता । अन्वच्छब्दे वाचि आनुलोम्ये गम्यमाने भुवः क्त्वाणमौ भवतः । अन्वग्भूत्वा । अन्वग्भावम् । आनुलोम्य इति किम् ? अन्वग्भूत्वा आस्ते । पश्चाद्भूत्वेत्यर्थः । अन्वचीति निर्देशः प्रकृतिवदनुकरणमिति न्यायात् ।

शकधृषणागलाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थे तुम् ॥२।४।५०॥ शकादिषु अस्त्यर्थेषु च धृषु वाञ्छु धोस्तुम् भवति । शक्नोति भोक्तुम् । धृष्योति भोक्तुम् । जानाति भोक्तुम् । ग्लायति भोक्तुम् । घटते भोक्तुम् । आरभते भोक्तुम् । लभते भोक्तुम् । प्रक्रमते भोक्तुम् । सहते भोक्तुम् । अर्हति भोक्तुम् । अस्त्यर्थेषु-अस्ति भोक्तुम् । भवति भोक्तुम् । विद्यते भोक्तुम् । क्रियायां तदर्थायां वाचि तुम् विहितः । अतदर्थायामपि यथा स्यादित्यारम्भः ।

पर्यासिबचनऽलमर्थे ॥२।४।५१॥ पर्यासिः प्रभूतत्वं सामर्थ्यं च अलमर्थेन विशेष्यमाणत्वात्सामर्थ्यमेवावतिष्ठते । पर्यासिबचनेभ्वलमर्थविशिष्टेषु वाञ्छु धोस्तुम् भवति । पर्यासो भोक्तुम् । समर्थो भोक्तुम् । प्रभुर्भोक्तुम् । अलं भोक्तुम् । पारयति भोक्तुम् । इदमप्यस्योदाहरणम् । युक्तं पुनरिदं विचारयितुम् । “वा भादि” [१।३।८४] इति षसो न भवति । अमैवेति तत्र वर्तते । पर्यासिबचन इति किम् ? अलङ्कृते कृत्वा । अलं रुदित्वा । समर्थोभ्विति वक्तव्ये गुरुकरणं किम् ? सामर्थ्यमात्रे मा भूत् । शक्त्या भुङ्क्ते । क्लान् भुङ्क्ते । अलमर्थे इति किम् ? पर्यासं भुङ्क्ते । प्रभूतं भुङ्क्ते । अन्यूनं भुङ्क्ते । पूर्वसूत्रे शक्तिः सौकर्यं वर्तते नालमर्थे ।

कर्तरि कृत् ॥२।४।१२॥ कर्तरि कारके कृत्संज्ञास्त्या भवन्ति । अनिर्दिष्टार्थास्त्याः स्वार्थे भावे प्राप्ताः । कारकः । कर्ता । ये कृतः कर्तरि नेष्टाः तेषां करणाधिकरणयोर्युद्धित्येवमादिरपवाद उक्तः ।

भव्यनेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याल्लाव्यापात्या वा ॥२।४।१३॥ भव्य इत्येवमादयः शब्दाः कर्तरि वा निपात्यन्ते । “तयोर्व्यङ्ग्यार्थः” [२।४।५१] इत्यस्मिन् प्राप्ते पक्षे कर्तरि विधानम् । भवत्यसौ भव्यः । भव्यमनेनेति वा । गेयो माणवकः षडङ्गस्य । गेयो माणवकेन षडङ्गः । प्रवचनीयो गुरुः शास्त्रस्य । प्रवचनीयं शास्त्रं गुरुणा । उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः । उपस्थानीयो गुरुः शिष्येण । जायते असौ जन्यः । जन्यमनेन । “जनिवच्योः” [१।२।४०] इत्यैपप्रतिषेधः । अथवा “शक्तिसहरच” [२।१।८६] इति चकारेण जनेर्यः । आल्लावतेऽसौ आल्लाव्यः । आल्लाव्यमनेन । आपततीत्यापात्यः । आपात्यमनेन ।

लः कर्मणि च भावे च धेः ॥२।४।१४॥ ल इति लडादीनां नवानामुत्सृष्टानुबन्धानां सामान्येन ग्रहणं जसा च निर्देशः । लकाराः सकर्मकेभ्यो धुः कर्मणि कर्तरि च कारके भवन्ति, भावे कर्तरि च धिसंज्ञेभ्यः । कर्मणि—क्रियते कटः । गम्यते ग्रामः । कर्तरि—करोति कटम् । गच्छति ग्रामम् । धेर्भावे—आस्यते भवता । सुप्यते । कर्तरि—आस्ते भवान् । स्वपिति भवान् । लो डौ चेति वक्तव्ये प्रपञ्चेन निर्देशः किमर्थः ? सकर्मकेभ्यो लो भावे मा भूवन् ।

तयोर्व्यङ्ग्यार्थः ॥२।४।१५॥ तयोर्भावकर्मणोः व्यञ्जार्श्च कृश्च स्तौर्थाश्च भवन्ति । “कर्तरि कृत्” [२।४।१२] इत्यस्यायमपवादः । कर्मणि—कर्तव्यः कटो भवता । भोक्तव्य ओदनो भवता । भावे—आसितव्यं भवता । शयितव्यं भवता । कृः कर्मणि । कृतः कटो भवता । भुक्त ओदनो भवता । भावे—आसितं भवता । शयितं भवता । स्तौर्थाः कर्मणि—ईषत्करः कटो भवता । सुकरः कटो भवता । सुपानं पयो भवता । दुष्पानं पयो भवता । भावे—स्वासं भवता । दुरासं भवता । सुग्लानं भवता । दुःग्लानं भवता । आत्मकर्मविवक्षायां व्यङ्ग्यार्थप्रयोगविषये सकर्मका अप्यविवक्षितकर्मकत्वेनाकर्मकाः । तेन भावे व्याहयः । भेत्तव्यं कुशलेन स्वयमेव । भावकर्मग्रहणे तु वर्तमाने तयोरिति ग्रहणं यथाविधिप्रतिपादनार्थं सकर्मकेभ्यः कर्मण्यकर्मकेभ्यो भाव इति ।

कर्तरि चारम्भे कृः ॥२।४।१६॥ आरम्भः आद्यः क्रियान्तरात् । आरम्भे यो धुर्वर्तते तस्माद्यः कृः स कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः । प्रकृतो भवान् कटम् । प्रकृतः कटो भवता । प्रकृतं भवता । प्रभुक्तो भवानोदनम् । प्रभुक्तः ओदनो भवता । प्रभुक्तं भवता । धिभ्यस्तु “धिगत्यर्थार्श्च” [२।४।१८] इति वक्ष्यति । आद्यक्रियान्तरात्काले । कटो नाभिनिवृत्तः तस्योपचारात् भूतकालेन प्रकृतशब्देन सामानाधिकरण्यम् ।

शिलषशीकृत्स्थासवसजनरुहजृषश्च ॥२।४।१७॥ शिलषादिभ्यः कर्तरि क्तो भवति यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः । “धिगत्यर्थार्श्च” [२।४।१८] इति सिद्धे इह सकर्मकार्थमुपादानम् । इदमेव शापकम् । अकर्मका (सकर्मका) अपि भवन्ति । आशिलषः कन्यां देवदत्तः । आशिलषा कन्या देवदत्तेन । आशिलषं देवदत्तस्य । अतिशयितो गुरुं भवान् । अतिशयितो भवता गुरुः । अतिशयितं भवतः । उपस्थितो गुरुं भवान् । उपस्थितो भवता गुरुः । उपस्थितं भवतः । उपासितो गुरुं भवान् । उपासितो भवता गुरुः । उपासितं भवतः । अनूषितो गुरुं भवान् । अनूषितो भवता गुरुः । अनूषितं भवतः । अनुगतो माणवको माणविकाम् । अनुजातो माणविको माणवकेण । अनुजातं माणवकस्य । आरूढो वृद्धं देवदत्तः । आरूढ वृद्धो

१. षडङ्गस्य ष०, स० । २. षडङ्गः ष०, स० । ३. चाधेः मु० । ४. स्तौर्था च अ०, ष०, स० ।

५. स्तौर्था अ०, ष०, स० ।

देवदत्तेन । आरूढं देवदत्तस्य । अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः । अनुजीर्णा वृषली देवदत्तेन । अनुजीर्णं देवदत्तस्य । रूढेरगत्यर्थत्वादप्यपि गत्यर्थकार्यं न भवति । आरोहयति वृत्तं देवदत्तेन । कर्मसंज्ञा न भवति ।

धिगत्यर्थाच्च ॥२।४।१८॥ धिसंज्ञेभ्यः गत्यर्थेभ्यश्च धुभ्यः कृत्यः कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च । आसितो भवान् । आसितं भवता । शयितो भवान् । शयितं भवता । गत्यर्थेभ्यः-गतो भवान् ग्रामम् । गतो भवता ग्रामः । गतं भवता । यातो भवान् । यातो भवता ग्रामः । यातं भवता । “काष्ठभावाध्वभिः कर्मभिः सकर्मकवद्भवति” [वा०] वत्करणत्वात् स्वाश्रयमपि भवति । अतस्त्रैरूप्यम् । सुप्तो भवान् मासम् । सुप्तो भवता मासः । सुप्तं भवता । ओदनपाकं सुप्तो भवान् । ओदनपाकः सुप्तो भवता । ओदनपाकं सुप्तं भवता । क्रोशं सुप्तो भवान् । क्रोशः सुप्तो भवता । क्रोशं सुप्तं भवता ।

अधिकरणे चाद्यर्थाच्च ॥२।४।१९॥ कृ इति वर्तते । अद्यर्था अभ्यवहारार्थाः । अद्यर्थेभ्यो धिगत्यर्थेभ्यश्च क्तोऽधिकरणे भवति कर्तरि भावे कर्मणि च । यथाप्राप्तं कर्तृकर्मभावेषु । अद्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्मभावेषु क्तः । अधिकरणे अस्मिन्निमे भुङ्गते स्म इदमेषां भुङ्गम् । इदमेषां पीतम् । “कस्याधिकरणे” [१।४।७०] इति कर्तरि ता । कर्मणि-एभिर्भुङ्क्ते ओदनः । एभिः पीतं मधु । भावे-भुङ्गमेभिः । पीतमेभिः । धिभ्योऽधिकरणकर्तृभावेषु क्तः । अधिकरणे-इदमेषामासितम् । आसितो भवान् । आसितं भवता । गत्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्तृकर्मभावेषु क्तः । अधिकरणे-इदमेषां यातम् । यातो देवदत्तो ग्रामम् । यातो देवदत्तेन ग्रामः । यातं देवदत्तेन । इह विभुक्ताः भ्रातरः पीता गावः इति मत्वर्थीयोऽकारः ।

दासगोप्तौ संप्रदाने ॥२।४।६०॥ दास गोप्त इत्येतौ शब्दौ निपात्येते संप्रदाने कारके । दासतेऽस्मै पचाद्यचि दासः । गां हन्ति अस्मै आगताय गोप्तोऽतिथिः । ट्यत्र निपात्यः । स्त्रियां गोप्त्री देवदत्ता ।

भीमादयोऽपादाने ॥२।४।६१॥ भीमादयः शब्दा अपादाने कारके शातव्याः । भीमादयः शब्दा अन्यत्र साधिताः कारकनियमार्थमिह तेषां पाठः । विभेत्यस्मादिति भीमः । भीष्मः । भयानकः । चरुः । प्रस्कन्दनम् । प्रयतनम् । समुद्रवन्त्यस्मात् समुद्रः । स्तुवः । स्तुक् । भृष्टिः । रक्षा । संकसन्ति तस्मात् संकसुकः । खलिनः ।

उणादयोऽन्यत्राभ्याम् ॥२।४।६२॥ उणादयस्त्या आभ्यां संप्रदानापादानाभ्यामन्येषु कारकेषु भवन्ति । करोतीति कारुः । वृश्चति तं वृद्धः । कषितोऽसौ कषिः । ततोऽसौ तन्दुः । वृत्तं तत्र कर्म । चरितं तत्रेति चर्म । भसितं तत्रेति भस्म । ऋचन्ति तया ऋक् ।

लस्य ॥२।४।६३॥ अकार उच्चारणार्थः । लस्येत्यमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो लस्य स्थाने तद्वेदितव्यम् । नव लकाराः पञ्च टितश्चत्वारो ङितः-लट् लिट् लुट् लृट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ् । एषामनुबन्धापायेन लकारमात्रं स्थानित्वेनाधिक्रियते । त्य इति वर्तते धोरिति च । धोर्विहितस्य त्यस्य लकारस्य ग्रहणात् लभते चूडाल इत्येवमादि परिहृतम् ।

मिठ्वस्मस्सिप्यस्थितिसम्भोड्वहिमहिथासाथाध्वंतातांभङ् ॥२।४।६४॥ लस्य स्थाने मिबादयः आदेशा भवन्ति । पकारः “गोऽपित्” [१।१।७८] इति विशेषणार्थः । इट्टकारो “रक्षक्रेडः” [२।४।८६] इति विशेषणार्थः । भङ्गो डकारः प्रत्याहारार्थः । पचामि । पचावः । पचामः । पचसि । पचथः । पचथ । पचति । पचतः । पचन्ति । टितां दविषये आदेशान्तराणि वक्ष्यन्ते । लियो मानां णालादयः आदेशाः वक्ष्यन्ते । लुट् । पक्कासि । पक्कास्वः । पक्कास्मः । इत्येवमादि ज्ञेयम् । लृट् । पक्ष्यामि । पक्ष्यावः । पक्ष्यामः । लोट् आदेशाः वक्ष्यन्ते । ङितां लकाराणां मविषये च इह तानुदाहरिष्यामः ।

लङ् । अपचे । अपचावहि । अपचामहि । वक्ष्यते लिङ् । लुङ् । अपक्षि । अपक्षवहि । अपक्षमहि । लृङ् । अपक्षथे । अपक्ष्यावहि । अपक्ष्यामहि ।

टिह्टेरे ॥२।४।६५॥ टितां लकाराणां ये दास्तेषां टेरेत्वं भवति । यत्र एक एवाच् तत्र व्यपदेशिवद्भावादन्तत्वमुक्तम् । यत्र च तदादिरन्वो नास्ति तत्रापि व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । पचे । पचावहे । पचामहे । “थासः से” [२।४।६६] इति वक्ष्यति । पचसे । पचथे । पचध्वे । पचते । पचते । पचन्ते । लिट् । पेचे । पेचिवहे । पेचिमहे । लुट् । पक्काहे । पक्कास्वहे । पक्कासहे । लृट् । पक्ष्ये । पक्ष्यावहे । पक्ष्यामहे । लोटो वक्ष्यति । प्रकृतानां मिङां दस्य टेरेत्वम् । तेनेह न भवति । पचमान इति ।

थासः से ॥२।४।६६॥ टिद्ग्रहणमनुवर्तते । टितो लकारस्य थासः स इत्ययमादेशो भवति । पचसे । पेचिषे । पक्कासे । पक्ष्यसे ।

“एङ्गिरेसेविधानेषु किं स्यादेत्वे प्रयोजनम् । आदेशो तु कृते मा भूत् ज्ञापकं भविताद्विषु ।”

लिट्स्तभ्योरेशिरे ॥२।४।६७॥ लिङादेशयोस्त भ इत्येतयोः एश् इरे इत्येतावादेशौ भवतः । शकारः सर्वादेशार्थः । परस्यादिर्मा भूत् । पेचे । पेचिरे । नेमे । नेमिरे ।

मानां णत्वमथाथुसणलतुसुसः ॥२।४।६८॥ लिट् इति वर्तते । लिटो मानां स्थाने यथासंख्यं णलादयो नव आदेशा भवन्ति । शकारः ऐबर्थः । लकारः सर्वादेशार्थः । अ इति द्वयोरकारयोः प्रश्नेषु निर्देशः सर्वादेशार्थः । अन्त्यस्याकारस्याकारवचने प्रयोजनाभावात् सर्वादेश इति चेत् समसंख्यत्वं प्रयोजनं संभाव्येत । अथवा धोरिति कानिर्देशात् परस्यादेश्यकारस्याकारः । पपाच । पेचिव । पेचिम । पपक्ष । पेचिथ । पेचथुः । पेच । पपाच । पेचतुः । पेचुः । “बोपदेशे” [५।१।१०८] इत्यादिना वेत् । “सेटि” [७।७।१११] इति एत्वं च । वमयोः ऋादिनियमादिद् ।

विदो लटो वा ॥२।४।६९॥ मानामिति वर्तते । वेत्तेरुत्तरेषां लटो मानां स्थाने वा णलादयो भवन्ति । वेद । विद्म । विद्म । वेत्थ । विदथुः । विद । वेद । विदतुः । विदुः । न च भवन्ति । वेद्म । विद्मः । विद्मः । वेत्ति । वित्यः । वित्य । वेत्ति । वित्तः । विदन्ति । विद इति कानिर्देशात् ज्ञानार्थस्य ग्रहणम् । लाभार्थस्य शेन व्यवधानात् ।

ब्रुव आहश्च ॥२।४।७०॥ मानामिति वर्तते । लटो वेति वर्तते । ब्रुव उत्तरस्य लटो मानां वा णलादयो भवन्ति । तत्सन्नियोगे ब्रुव आहदेशः । अकार उच्चारणार्थः । “न थास्मद्ः” [२।४।७१] इत्युत्तरत्र प्रतिषेधादत्र पञ्चग्रहणम् । आत्थ । आहथुः । आह । आहतुः । आहुः । सिपस्थे कृते “आहस्थः” [५।३।५२] इति हकारस्य थकारः । “अरि” [२।४।१३०] इति चर्त्वम् । यद्यत्र स्थानिवद्भावात् “ब्रुव ईट्” [५।३।६१] इति ईट् स्यात् भलादिप्रकरणे “आहस्थः” [२।३।६२] इति वचनमनर्थकं स्यात् । न च भवति । ब्रवीषि । ब्रूथः । ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति ।

न थास्मद्ः ॥२।४।७१॥ ब्रूः परस्य थस्यास्मद्श्च पूर्वोक्ता आदेशा न भवन्ति । ब्रूथ । ब्रवीमि । ब्रूवः । ब्रूमः ।

लोटो लङ् वत् ॥२।४।७२॥ लोटो लङ् इव कार्यं भवति । लोङादेशानां लङादेशानामिव कार्य-मतिदिश्यते इत्यर्थः । पचाव । पचाम । ङितः सखं सिद्धम् । पचतम् । पचत । पचताम् । “मिप्यस्थतसो-ऽमूर्ततताम्” [२।४।८२] इत्येतत् सिद्धम् । “एङ्” [२।४।७३] इति उकारः पुरस्तादपवादन्यायेन “एम्” [२।४।८१] इति इक्षमेव बाधते न जुसादेशम् । एवं च यथा अहुः अङ्घुरिति भवति तथा यान्तु पान्तु इत्यत्रापि जुसादेशः प्राप्नोति । नैष दोषः । वक्ष्यते “आत्थः” [२।४।९०] “ङङो वा”

[२।४।११] इत्यत्र लङ् ग्रहणस्य प्रयोजनं लङेव यो लङ् तस्य जुष् भवति अतिदेशेन यो लङ् तस्य मा भूत् । लङ्वदिति तांताद्वात् (अमृतताम्बत्) तेनाडागमो न भवति ।

एरुः ॥२।४।७३॥ लोट इति वर्तते मानामिति च । लोटे मानामिकारस्य उकारादेशो भवति । इत्थस्यापवादः । पचतु । पचन्तु । करोतु । कुर्वन्तु । मिप्सिपोरादेशान्तरमुत्वस्य बाधकं वक्ष्यते ।

सेर्हीपिच्च ॥२।४।७४॥ लोट इति वर्तते । सेर्हीरादेशो भवति अपिच्च । लुनीहि । पुनीहि । आप्नुहि । राप्नुहि ।

मेर्निः ॥२।४।७५॥ लोटे मेर्निरित्ययमादेशो भवति । पचानि । करवाणि ।

आमेतः ॥२।४।७६॥ लोट इति वर्तते । लोडादेशस्य य एकारस्तस्य आमित्ययमादेशो भवति । निर्दिश्यमानस्यादेशो भवति । पचेथाम् । पचताम् । पचेताम् । पचन्ताम् ।

स्वो वामौ ॥२।४।७७॥ लोट इति वर्तते एत इति च । सकारवकाराभ्यां परस्य एतो व अम् इत्येता-वादेशौ भवतः । पचस्व । पचध्वम् । वयस्व । वयध्वम् ।

पिच्चाडस्मद् ॥२।४।७८॥ लोट इति वर्तते । लोटेऽस्मदः आडागमो भवति पिच्च । करवाणि । करवाव । करवाम । करवै । करवावहै । करवामहै ।

एत पे ॥२।४।७९॥ लोटेऽस्मद इति वर्तते । लोटेऽस्मदः एकारस्यैकारादेशो भवति । निर्दिश्य-मानस्यादेशोऽयमामोऽपवादः । करवै । करवावहै । करवामहै । चिनवै । चिनवावहै । चिनवामहै ।

ङितः सखम् ॥२।४।८०॥ अस्मद इत्येव । ङितो लकारस्य योऽस्मत्तस्य सखं भवति । लङ्-अपचाव । अपचाम । लिङ्-पचेव । लुङ्-अपाच्चव । अपाच्चम । लृङ्-अपक्ष्याव । अपक्ष्याम ।

एर्मे ॥२।४।८१॥ ङित इति वर्तते । ङिल्लकारसम्बन्धिन् इकारस्य खं भवति मविषये । लङ्-अपचः । अपचत् । अपचन् । लिङ्-पचेरन् । पचेत् । लुङ्-अपाक्षीः । अपाक्षीत् । लृङ्-अपक्ष्यः । अपक्ष्यत् । अपक्ष्यन् । म इति किम् ? अपचावहि । अपचामहि ।

मिप्यस्थतसोऽमृतंतताम् ॥२।४।८२॥ ङितां लकाराणां मिप् थस् थ तस् इत्येतेषां यथासंख्यं अम् तं त ताम् इत्येते आदेशा भवन्ति । अपचम् । अपचतम् । अपचत । अपचताम् । लिङ्-पचेयम् । पचेतम् । पचेत । पचेताम् । लुङ्-अपाक्षम् । अपाक्षम् । अपाक्ष । अपाक्षाम् । “वद्वज (वजवद्)” [२।१।७६] इत्यादिनैप । “ऋळो ऋळि” [५।३।४४] इति सखम् । लृङ्-अपक्ष्यम् । अपक्ष्यतम् । अपक्ष्यत । अपक्ष्यताम् ।

लिङः सीयुट् ॥२।४।८३॥ लिङादेशानां सीयुडागमो भवति । मे यासुटे विधानाद्दे सीयुट् द्रष्टव्यः । टकारः “टिदादिः” [१।१।५३] इति विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । पचेय । पचेवहि । पचेमहि । पचेथाः । पचेयाथाम् । पचेध्वम् । पचेत । पचेयाताम् । पचेरन् । “रूदादेर्गे” [२।१।१३५] इति वर्तमाने “ळिङोऽनन्यसखम्” [२।१।१३८] इति सीयुट्सकारस्य “सुट्तथोः” [२।४।८०] इति सुट्सकारस्य च खम् । आशिषि लिङ्-पक्षीय । पक्षीवहि । पक्षीमहि । पक्षीष्ठाः । पक्षीयास्थाम् । पक्षीध्वम् । पक्षीष्ट । पक्षीयास्ताम् । पक्षीरन् ।

यासुण् मो ङित् ॥२।४।८४॥ लिङ इति वर्तते । लिङो मविषयस्य यासुडागमो भवति ङिच्च । सीयुटेऽपवादोऽयम् । अत्र “ङिदाक्षिषि” [२।४।८२] इति वचनात् विध्यादिलक्षण्यास्य लिङ इहोदाहरणम् ।

कुर्याम् । कुर्याव । कुर्याम । कुर्याः । कुर्यातम् । कुर्यात । कुर्यात् । कुर्याताम् । कुर्युः । “कृञो ये च” [४।४।१६] इति विकरणस्य खम् । “भेजुस्” [२।४।८८] इति जुस् । ‘उसि’ [४।३।८३] इति पररूपम् । स्थानिषद्भावादेव लिङादेशस्य डिच्चे सिद्धे यासुटो डिङ्चनं ज्ञापकं लकाराश्रयमादेशानां डिङ्चं च न भवति । तेन अचिनवमित्येप् सिद्धः । पचमाना स्त्री । टित इति डीत्यो न भवति ।

किदाशिषि ॥२।४।८५॥ आशिषि लिङो यासुट् किङ्गवति । डिच्चे प्राप्ते कित्त्वं विधीयते । ज्यर्थं जागतरेवर्थं च । उह्यासम् । उह्यास्व । उह्यास्म । उह्याः । उह्यास्तम् । उह्यास्त । उह्यात् । उह्यास्ताम् । उह्यासुः । जागर्यासम् । जागर्यास्व । जागर्यास्म । “जागुरविजिणलङिति” [५।२।८२] इत्येप् ।

रञ्जभेदः ॥२।४।८६॥ लिङादेशयोर्झं इट् इत्येतयोर्थथासंख्यं रन् अत् इत्येतावादेशौ भवतः । पचेरन् । पक्षीरन् । “भोऽन्तः” [५।१।३] इत्यस्यापवादोऽयम् । पचेय । पक्षीय । “क्षीयाक्षीःप्रैषेषु मिङाकाङ्क्षम्” [५।३।१०२] इत्येवमादिना प्रातस्य पस्य निवृत्त्यर्थं तपरकरणम् ।

सुट् तयोः ॥२।४।८७॥ लिङो यौ तकारथकारौ तयोः सुडागमो भवति । अगविषये लिङ् प्रयोजयति । गे सखेन भवितव्यम् । पक्षीष्ठाः । पक्षीयास्थाम् । पक्षीष्ट । पक्षीयास्ताम् ।

भेजुस् ॥२।४।८८॥ लिङादेशस्य भेजुसित्ययमादेशो भवति । अन्तादेशापवादः । कुर्युः । क्रियासुः । निर्दिश्यमानस्यादेशो न यासुटः ।

थवित्से ॥२।४।८९॥ थसंज्ञक वेत्ति सि इत्येतेभ्यः परस्य भेजुसादेशो भवति । डित इति वर्तते । तत्र लिङ् आदेश उक्तः । लृङ् स्येन व्यवधानमस्ति । लुङोऽपि सेरिति भविष्यति । पारिशेष्यात्थविद्-ग्रहणं लङ्गर्थम् । अविभङ्गः । अजागृहः । “उसि” (जुसि) [५।२।८०] इत्येप् । विदेः । अविदुः । अकार्षुः । अहार्षुः ।

आतः ॥२।४।९०॥ सेरिति वर्तते । आकारान्तात्सेः परस्य भेजुस् भवति । श्रुतिकृतं भेरातः परत्वं सेरुपि कृते त्याश्रयलक्षण्येन सेः परत्वम् । अत उभयगतमानन्तर्यं भेरस्ति । अस्थुः । अगुः । अयुः । अदुः । अधुः । त्याश्रयलक्षण्येन भेरिति पूर्वैणैव सिद्धे नियमार्थमेतत् । आत एव सेरुपि कृते नान्य स्मात् अभूवन्निति ।

लङो वा ॥२।४।९१॥ आत इति वर्तते । आकारान्तात्परस्य लङादेशस्य भेर्वा जुस् भवति । अयुः । अयान् । अधुः । अधान् । ननु लङ्ग्रहणमनर्थकम् । डित इति वर्तते । पारिशेष्यात् लङ् एव संप्रत्ययः । नानर्थकम् । इह लङ्गेष्व यो लङ् तस्य भेजुस् भवति । अतिदेशो मा भूत् । यान्तु । वान्तु । “थवित्सेः” [२।४।८९] इत्यनेनापि मुख्यस्य लङो ग्रहणादिह न भवति । बिभ्यतु । जाग्रतु । विदन्तु ।

द्विषः ॥२।४।९२॥ लङो वेति वर्तते । द्विषः परस्य लङो भेर्वा जुस् भवति । अद्विषुः । अद्विषन् । अनिगन्तत्वात् “जुसि” [५।२।८०] इत्येभ्यो भवति ।

मिङ्शिद्गः ॥२।४।९३॥ मिङ्गः शितश्च त्या धीर्विहिताः गसंज्ञा भवन्ति । भूयते । नयति । रोदिति । शित् । पचमानः । यजमानः । गसंज्ञाश्रयो विकरण एव भवति ।

शेषोऽग एव ॥२।४।९४॥ मिङ्गशिद्ग्यामन्यः शेषः । धोरित्येवं विहितस्त्यः शेषोऽगसंज्ञ एव भवति । लविता । लविदुम् । लवितव्यम् । अगसंज्ञाकार्यमिडागम एप् च । धोरिति विशेषणं किम् ? जुगुप्सते । श्रीकाम्यति । लुम्बाम् । अभित्वम् । एवकार उत्तरार्थः । अगप्रदेशाः—“बलाद्यगस्येट्” [५।१।८४] “गागयोः” [५।२।८१] इत्येवमादयः ।

लिट् ॥२।४।६५॥ एवशब्दोऽनुवर्तते । लिङादेशो मिङ् अगसंज्ञ एव भवति । पेचिय । शेकिय । “बोपदेश” [५।१।१०८] इत्यादिनेट् । “सेटि” [४।४।१११] इत्येत्वचखे । गसंज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थमेवकारोऽभिसंबध्यते । तेरिम इत्यत्र गसंज्ञायामसत्यां तदाश्रयः शम्न भवति ।

लिङाशिषि ॥२।४।६६॥ एवेति वर्तते । आशिषि यो लिङ् तदादेशश्चागसंज्ञ एव भवति । भावे—जागरिषीष्ट । कर्मणि—लविषीष्ट । अगसंज्ञायां गाश्रयं “लिङोऽनन्त्यसखम्” [५।१।१३८] इति सखं न भवति । एवकाराधिकारात् गसंज्ञासमावेशो न भवति । यदि स्याद्यक् प्रसज्येत । आशिषीति किम् ? जाणयात् । जाणयाताम् । जाणयुः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः समाप्तः । समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः ।

—:०:—

यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके सान्धयं संप्रतीयते ।

तत् सर्वं भ्रातृभिर्याप्तं शरीरमिव भ्रातृभिः ॥

तृतीयोऽध्यायः

इयान्मृदः ॥३।१।१॥ डी इति स्वरूपग्रहणम् । आविति यब्डापोः सामान्येन ग्रहणम् । मृदिति-संज्ञानिर्देशः “अध् मृत्” [१।१।५] “कृद्घृत्साः” [१।१।६] इति । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आ कपो विधानात् इयन्तादाबन्तान्मृद्रूपाच्च तद्भवतीत्येवं वेदितव्यम् । ननु वक्ष्यमाणास्त्याः “परः” [२।१।२] इति नियमेन परे प्रयुज्यन्ते । धोः परत्वञ्च तव्यादिभिराक्रान्तम् । मिङन्तं च क्रियावाचि सुबन्तमपि पदं क्रियासापेक्षं क्रियात्वभूतमित्यतः पारिशेष्यान्ड्यान्मृद एव भविष्यन्ति । एवं तर्हि वाक्यान्मा भूवन् । वृद्धस्य उपगोरपत्यमिति । गुपदमसंज्ञाश्च प्रयोजनम् । द्वद्वकारद्वयजादग्रहणानि च इयान्मृदो विशेषणानि न समर्थविभक्त्यन्तत्येव्यधिकारः क्रियते । दु इति मृद्रूपम् । दु—ज्ञानामपत्यमित्यत्र मृद्रूपापेक्षया “वाऽवृद्धाद्दोः” [३।१।१४४] इति दुलक्षणः फिञ् न भवति । अदुलक्षण एव “फिदोः” [३।१।१४७] इति फिर्भवति । दन्ताणामपत्यमिति मृद्रूपापेक्षया अदन्तलक्षणः इञ् भवति । घटेन तरतीत्यत्र मृदपेक्षया “नौद्ग्यचठः” [३।३।१३१] इति “द्वयज्जलक्षणः सिद्धः” वाचा तरतीत्यत्र न भवति । मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सिद्धे इयान्ग्रहणं किम् ? कालितरा । मालितरा । एनिका । हरणिका । परमपि हृतं बाधित्वा स्त्रीत्यो यथा स्यात् । अथ “ऋरूपकल्पचेळङ्घुवगोत्रमतहते प्रोऽनेकाचः” [४।३।१५५] [करणे] इति प्रादेशवचनसामर्थ्यादेतल्लभ्यते । एवं तर्हि मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि परिभाषेयमनित्येति ज्ञाप्यते । तेन गोमतीति उगिल्लक्षणो नुम्न भवति । युवतीः पश्येति जिर्न् भवति । सख्यौ । सख्यः । इति च गिन् भवति । हे भवति भगवति अघवति इत्यत्र “अघद्भगवदघवतो वा रिः काघवस्यौः” [२।४।३] इत्येष विधिर्न भवति । इह त्यग्रहणं न कर्तव्यम् । कथं युवतितरा वामोरतरा ? हृदन्तत्वाद्युवतिशब्दस्य मृत्संज्ञा, वामोद-शब्दस्यापि मृदमृदोरैकादेशो मृद्ग्रहणेन गृह्यते । अजादिषु हलन्ताद्यापं विधास्यति डापि च टिलेन भवितव्यमिति एकादेशो नास्ति तस्मात् इयान्ग्रहणं कर्तव्यम् ।

स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ॥ ३।१।२ ॥ इयान्-मृदः स्वादयो भवन्ति । उकाराद्यनुबन्धनाशः । अनेन विहितानां स्वादीनां “कर्मणीप्” [१।४।२] इत्येवमादिना विभक्तिनियमः “साधने स्वाधे” [१।२।१५३] इति वचननियमश्च ज्ञातव्यः । इयन्तात्तु कुमारी ।

कुमार्यौ । कुमार्यः । कुमारीम् । कुमार्यौ । कुमारीः । कुमार्था । कुमारीभ्याम् । कुमारीभिः । कुमार्यै । कुमारीभ्याम् । कुमारीभ्यः । कुमार्थाः । कुमारीभ्याम् । कुमारीभ्यः । कुमार्याः । कुमार्योः । कुमारीभ्याम् । कुमार्याम् । कुमार्योः । कुमारीषु । अब्रन्तात्—माला । माले । मालाः । मालाम् । माले । मालाः । मालया । मालाभ्याम् । मालाभिः । मालायै । मालाभ्याम् । मालाभ्यः । मालायाः । मालाभ्याम् । मालाभ्यः । मालायाः । मालयोः । मालानाम् । मालायाम् । मालयोः । मालासु । एवं डाबन्तात् । दामाबहुराजादथो नेयाः । मृदः—दृषद् । दृषदौ । दृषदः । दृषदम् । दृषदौ । दृषदः । दृषदा । दृषद्भ्याम् । दृषद्भिः । दृषदे । दृषद्भ्याम् । दृषद्भ्यः । दृषदः । दृषद्भ्याम् । दृषद्भ्यः । दृषदः । दृषदोः । दृषदाम् । दृषदि । दृषदोः । दृषत्सु ।

स्त्रियाम् ॥३११३॥ स्त्रियामिति प्रकृतिविशेषणम् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिभ्यामः स्त्रियां वर्तमानान्मृदः स्वार्यै तद्वेदितव्यम् । यदि स्त्रियामभिधेयायामिति स्यात् द्विवहू न स्याताम् । कुमार्यौ कुमार्य इति । एकत्वात् स्त्रीत्वस्य अनेकत्वोत्पत्तिश्च न स्यात् । कालितरा । भावप्रधानत्वात् स्त्रियामिति निर्देशस्य कुमारी देवदत्तेति सामानाधिकरण्यं च न स्यात् । अथापि स्त्रीसमानाधिकरणान्मृद इत्यभ्युपगम्येत एवमपि भूतमियं नारी । कारणमियं कन्या । आवपनमियमुर्ध्विकेति । भूतशब्दादिषु स्त्रीत्याः प्रसज्येरन् । तस्मात् स्त्रियां वर्तमानान् मृद इत्येवाधिकृतम् । वदयति “अजाघतष्टाप” । अजा । देवदत्ता । स्त्रियामिति किम् ? अजो देवदत्तः । शब्दबनित-प्रत्ययवर्गाः स्त्रीत्वाद्य इहाभिप्रेता न वस्तुवर्गाः । अन्यातः । शब्दो हि श्रोत्रपथं गतो लिङ्गसंख्यावन्तं स्वप्रत्ययं जनयति स प्रत्ययः । खट्वादिषु रसादिषु अभावादिषु च शब्देषु संभवति ।

अजाघतष्टाप ॥३११४॥ अजादिभ्यः अकारान्तेभ्यश्च मृदः स्त्रियां वर्तमानेभ्यः प्राबित्यं त्यो भवति । पकारः टाण्डापोः सामान्यग्रहणार्थः । टकारः सामान्यग्रहणविघातार्थः । अन्यथा एकानुबन्धकग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्येति विघातः स्यात् । बाधकबाधनार्थमनकारान्तार्थं चाजदिग्रहणम् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । “जातेरयोडः” [३११२३] इत्यस्यापवादः । बाला । होडा । पाका । क्त्वा । मन्दा । विलाता । “वयस्यनन्ये” [३११२४] इत्यस्य प्राप्तिः । पूर्वापहारा । अपरापहारा । टिङ्गणस्यापवादः । निपातनाण्यलम् । “संभस्त्राजिनश्चापिण्डेभ्यः फलाष्टाप्” [वा०] संफला । भस्त्राफला । अजिनफला । श्याफला । पिण्डफला । “सत्प्राक्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पाष्टाप्” [वा०] सत्पुष्पा । प्राक्पुष्पा । काण्डपुष्पा । प्रान्तपुष्पा । शतपुष्पा । एकपुष्पा । “पाककर्णपर्यापुष्कफलमूलवाल्गोः” [३११२४] इत्यस्यापवादः । “शूद्राच्चामहत्पूर्वात् जातिश्चेत्” [वा०] शूद्रा नाम जातिः । अमहत्पूर्वादिति किम् ? महाशूद्रा । आभीर-जातिरियम् । अमहत्पूर्वादिति शब्दपरस्य महतः आत्वं न भवति । जातिरिति किम् ? शूद्रस्य भार्या शूद्रा । पुंयोगादीकारः । अमहत्पूर्वादिति प्रतिषेधवचनं शापकं भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति । तेन महाजा । धीवानमतिक्रान्ता अतिधीवरी । अतिभवती । अतिमहतीति सिद्धम् । कुञ्जा । उष्णिहा । देवविशा । “हन्तता-ष्टाप्” [वा०] ज्येष्ठा । कनिष्ठा । मध्यमा । पुंयोगलक्षणा प्राप्तिः । कोकिला जातिः । “मूलात्ताश्च टाप्” [वा०] अमूला । पकाराद्यज्झाप । शार्कराच्या । पौतिमाष्या । गौकच्या । अतः खल्वपि खट्वा । देवदत्ता । तपरकरणं किम् ? क्षीरपाः क्षी ।

आवट्यात् ॥३११५॥ आवट्यशब्दादाप् भवति । आवट्यापत्यं स्त्री आवट्या । यश्च इति डीवि-धेरपवादः । पुरस्तादपवादोऽयं फडो न बाधकः । आवट्यायनी ।

उगिट्थान्को ॥३११६॥ उक् इत् यस्य त्यस्य मृदो वर्णस्य वा तदन्तात् ऋकारान्तेभ्यो नका-रान्तेभ्यश्च मृदः स्त्रियां वर्तमानेभ्यो डीत्यो भवति । डकारो “हल्ङ्थापः” [४११६] इत्यत्र विशेषणार्थः ।

गोमती । तत्रभवती । पचन्ती । उगिदिति यदीदं त्यग्रहणमेव स्यात् त्यग्रहणो यस्मात् तदादेरिति इह न स्यात् । अतिभवती । निर्गोमती । अथ मृद्विशेषणमेव स्यात् मृद्ग्रहणेन तदन्तविधिरिति तथापीह न स्यात् । अति-
महतीति । तस्मान्नेदं त्यग्रहणमेव; नापि मृद्ग्रहणमेव; अपि त्केदेशग्रहणमिदम् । उक् इत् यस्यैकदेशस्य
तदन्तान्मृद इति । स चैकदेशः त्यो मृद्वर्णाश्च संभवति । त्यः । श्रेयसीत्यादि । मृद्-तत्रभवतीत्यादि ।
वर्णः । पुमांसमतिक्रान्ता अतिपुंसीति । “पुनातेसु र्सुकौ प्रश्च” इति सकारो वर्ण उगित् । यथागमेषु वर्ण
उगिदिति^१ डीविधिर्विधीयते तुक्यपि प्राप्नोति अग्निचित् कन्येति । उभयोस्कारयोर्ग्रहणसामर्थ्यद्वैव भवति
नान्यत्र । अञ्चतेरुपसंख्यानं नियमार्थं कर्तव्यम् । प्राची । प्रतीची । उदीची । धोरुगितः नान्यस्मात् ।
उखास्तकन्या । ऋकारान्तात् कर्त्री । इत्री । नकारान्तात् । दण्डिनी । छत्रिणी ।

वनोऽहशो रश्च ॥३१।७॥ वन इति वनः कनिपरश्च ग्रहणम् । अहशन्ताद्यो विहितो वन्
तदन्तात् स्त्रियां वर्तमानान्मृदो रेफश्चान्तादेशो भवति डीश्च । पूर्वेण सिद्धे रेफार्थमिदम् । धयतिपिबतिभ्यां
कनिप् । धीवरी । पीवरी । मेरुहश्चरी । कथं शर्वरी ? शृणातेरञ्जन्ताद् वन् । कथमवावरी ? अत्र ओण-
तेरगाविषय आत्वे कृते वन् । “अनीचः” [३।१।१७] इत्यत्र वक्ष्यति । पूर्वो विधिर्नोऽपि भवति । बहु-
धीवरी । अतिधीवरी । अथवा अमहःपूर्वादित्यत्र तदन्तविधिर्ज्ञापितः । अहश इति किम् ? सहयुद्धा
स्त्री “राशि युधि कृजः” [२।२।८२] “सहे” [२।२।८३] इति कनिप् । “सन्नियोगशिष्टानामन्यतराभावे
उभयोरेष्यभावः” [परि०] इति रेफादेशाभावे पूर्वेणाप्यत्र डीत्यो न भवति । एवमर्थश्चकारः क्रियते ।

नेल्वस्त्रादेः ॥३१।८॥ स्त्रियामिति वर्तते । इल्लसंज्ञकेभ्यः स्वस्त्रादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्त्रियां यदुक्तं
तत्र भवति । पञ्च कुमार्यः । सप्त रोहियः । अथात्रनेन डीप्रतिषेधे कृते नखे सति अत इति टाप् कस्मान्न
भवति । सुन्विधौ नखस्यासिद्धत्वात्तदन्तत्वाभावान्न टाप् । कथमयं सुन्विधिः ? तत्र टाप् पकारेण सुपो
ग्रहणात् । यत्रेवं बहुचर्मिकेत्यत्र नखस्यासिद्धत्वात् “स्यस्थे क्यापी” [१।१।१०] इति कात्पूर्वस्यात् इत्वं
न स्यात् । एवं तर्हि इहोमौ डीटापो प्रतिषिध्येते । उक्तं च —

“इल्लसंज्ञानामन्ते नष्टे ढाबुरपत्तिः कस्मान्न स्यात् ? प्रत्याहारादापा सिद्धं दोषस्त्वित्त्वे तस्मान्नोभौ ।”
स्वस्त्रादिभ्यः—स्वषा । दुहिता । स्वस्त्रु दुहितृ ननान्द यात् मात् तिसृ चतसृ ।

मनो डाप् च ॥३१।९॥ डी इति वर्तते नेति च । मन्नन्तान्मृदः स्त्रियां वर्तमानाङ्गात् भवति डी-
प्रतिषेधश्च । डकारः टिखार्थः । पकारः सामान्यग्रहणार्थः । पामे । पामाः । पामानौ । पामानः । “अनि-
नस्मन्ग्रहणस्वर्धवता चानर्धकेन च तदन्तविधिः” [परि०] सीमे । सीमानौ । सुप्रथिमे । सुप्रथिमानौ ।
अतिमहिमे । अतिमहिमानौ ।

अनश्च बात् ॥३१।१०॥ अन्नन्ताद् बसात् स्त्रियां वर्तमानाङ्गात् भवति डीप्रतिषेधश्च । चकारो
डीप्रतिषेधानुर्कर्षणार्थः । अर्थवतोऽनर्थकस्य चानो ग्रहणम् । अनुक्लवतो अस्येहोदाहरणम् । उक्लवतस्त्रैरूप्यं
वक्ष्यति । सुपर्वे । सुपर्वाः । सुपर्वाणौ । सुपर्वाणः । नकारान्तत्वान्डी प्रसज्येत । बादिति किम् ? अतिक्रान्ता
पर्वाणि अतिपर्वाणी ।

बोक्ते ॥३१।११॥ अन्नन्ताद्बसात् उक्ते खे वर्तमानात् डाभ्डीप्रतिषेधौ वा भवतः । वावचनाद्यथा-
प्राप्ताः । नकारान्तान्डीविधिः “वनोऽहशो रश्च” [३।१।७] इत्यभ्यनुज्ञायते । बहुराजे । बहुराजाः । बहु-
राजानौ । बहुराजानः । बहुराज्यौ । बहुराज्यः । बहुतत्त्वे । बहुतत्त्वाः । बहुतत्त्वाणौ । बहुतत्त्वाणः । बहुतत्त्वाणौ ।

१. उगिद्वर्णा धेऽञोः [२।१।७३] इति सूत्र इति शेषः ।

बहुतक्षः । बहुधीवे । बहुधीवाः । बहुधीवानौ । बहुधीवानः । बहुधीवर्यो । बहुधीवर्यः । उद्ध इति किम् ? सुपर्वा । सुपर्वाणौ । पूर्वेण द्वैरूप्यम् । अन इत्येव सुमत्स्या नदी ।

डी खौ ॥३११२२॥ खुषियेऽन्नताद् वसान्डी भवति । अधिराशी नाम ग्रामः । पुनर्डी-ग्रहणं नित्यार्थम् ।

ऊधसः ॥३११२३॥ बादिति वर्तते । ऊधःशब्दान्ताद्बसान्डी भवति । कुण्डमिवोधो यस्याः कुण्डोधी । द्वे ऊधसी यस्या द्ब्यूधी । निर्गतमूषोऽस्या निरुधी “ऊधसोऽनङ्” [३१११२२] इति अनङ्-सान्तः । “बोद्धे” [३११११] इति त्रैरूप्यं प्राप्तम् । स्त्रियामेवानङ् । सान्त इत्येव । इह मा भूत् । महोषाः । पर्जन्यः । बादित्येव । प्राप्ता ऊधः प्राप्तोषा गौः । “इषा च प्राप्तापन्ने” [११३२०] इति षसः । तत्रैव पूर्वबलिङ्गं व्याख्यातम् ।

दामहायनान्तसंख्यादेः ॥३११२४॥ संख्यादेर्बसात् दामान्तात् हायनान्ताच्च डी भवति । द्विदाम्नी । त्रिदाम्नी । “बोद्धे” [३११११] इति त्रैरूप्यं प्राप्तम् । “हायनाद्वयसि स्मृतः” [वा०] द्विहायनी । त्रिहायणी । चतुर्हायणी वत्सा । “त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वमपि वयसीष्यते” [वा०] तेनेह डीविधिर्यात्वं च न भवति । द्विहायना । त्रिहायना । चतुर्हायना शाला । संख्यादेरिति किम् ? उद्दामा वडवा । “बोद्धे” [३११११] इत्यनेन त्रैरूप्यं भवति ।

पादो वा ॥३११२५॥ पाच्छब्दान्तान्मृदः स्त्रियां वर्तमानाद्वा डी भवति । द्विपात् । द्विपदी । त्रिपात् । त्रिपदी । “सुसंख्यादेः” [३१२१४०] इति पादशब्दस्य खम् । पादयतैः क्विबन्तस्य प्रयोगो नास्ति ।

टावृचि ॥३११२६॥ पाद इति वर्तते । पाच्छब्दान्तान् मृदष्टाब् भवति ऋच्यभिधेयाम् । द्विपदा ऋक् । त्रिपदा ऋक् । ऋचीति किम् ? द्विपदी देवदत्ता ।

अनीचः ॥३११२७॥ न्यक्छब्दोऽत्राप्रधानवचनो नञ्पूर्वः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽनीच इत्येवं तद्वेदितव्यम् । नीचो ङ्यादयो न भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति “टिङ्गाण्य्” [३१११८] इति । कुरुचरी । भद्रचरी । “जातेरयोः” [३११२३] । कुक्कुटी । शूकरी । अनीच इति किम् ? बहुकुरुचरा । बहुकुक्कुटा मथुरा । ननु पूर्वत्र समुदायः स्त्रियां वर्तते नावयवः । अवयव एव च टिङ्ग समुदायः । द्वितीयेऽपि बसे न समुदायो जातिवाची; किं त्ववयवः, तत्कथं प्राप्तिः ? इदमेव ज्ञापकं भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति । तथाहि प्रधानभूतेन तदन्तविधिः कुम्भकारी देवदत्तकुक्कुटी । यद्येवं पूर्वमेवेदं सूत्रं वक्तव्यम् । इह करणात् पूर्वोक्त-विधिर्नीचोऽपि भवतीति ज्ञाप्यते । बहुधीवरी बहुधीवरीति ।

टिङ्गाण्य्ठण्य्ठण्य्करणः ॥३११२८॥ अत इति वर्तते । टित् ठ अण् अण् टण् ठण् करण इत्येवमन्तेभ्यः स्त्रियां डी भवति । टपोपवादः । “अनीचः” [३११२७] इत्यधिकारात् प्रधानेन तदन्तविधि-रुक्तः । कुरुचरी । भद्रचरी । “कृद्ग्रहणं तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [परि०] न मन्तव्यम् । इह कृदकृतो-ग्रहणात् । ठ-सौपय्योयी । वैनेतेयी । “श्लोकाया ङः” [३११२६] इत्यस्य निरनुबन्धकस्य स्त्रियामभिधानं नास्ति । अण्-कुम्भकारी । औपगवी । कथं चुराशीला चोरी । तपःशीला तापसी ? योऽप्यण्कृतं भवतीति वक्ष्यति । अण्-औत्सी । वैदी । ठण्-लाक्षिकी । रौचनिकी । ठण्-पारायणं वर्तयति पारायणिकी । प्राग्बतेष्ठण् । करण-इत्वरी । नश्वरी । अनीच इत्येव । बहुकुरुचरा । ख्युट्प्रभृतीनां इत्थनुबन्धकत्वेऽपि टिकरणासामर्थ्याद् ग्रहणम् । लकाराणां स्थानिवद्भावादित्वं क्त्वं च न भवतीत्युक्तम् । पचमाना स्त्री । अचिनवम् । त्पवाहचर्चादागमस्य न ग्रहणम् । लिखिता विद्येति ।

यजः ॥३१११६॥ यजन्तान्मृदः स्त्रियां ङी भवति । गार्गी । वात्सी । “हृत्तो हृताम्” [३१११४०] इति यकारस्य खम् । “द्वीपादनुसमुद्रेऽयम्” [३१२१३०] इति अयम् । द्रथनुबन्वकः । तस्येहाग्रहणम् । द्वीपे भवा द्वैप्या । योगविभाग उत्तरार्थः ।

फट् ॥३११२०॥ यज इति वर्तते । यजन्तान्मृदः स्त्रियां फडित्यं त्यो भवति । टकारो ङ्यर्थः । अथ गार्ग्यायणी इति स्थिते फटो ह्रस्वविहात् “ह्रस्वः” [११११९] इति मृत्संज्ञा नास्ति । कथं ङीविधिः ? टिकरणसामर्थ्यात् भविष्यति । गार्ग्यायणी । वात्स्यायनी । आवध्यायनी । वचनात्पूर्वोऽपि विधिर्भवति । गार्गी । वात्सी ।

लोहितदिक्कलान्तात् ॥३११२१॥ यज इति वर्तते । लोहितादिर्गार्गादिष्वन्तर्गणः । लोहितादिभ्यः सकलशब्दपर्यन्तेभ्यो यजन्तेभ्यः स्त्रियां फट् त्यो भवति । पुनरारम्भो नित्यार्थः । तेन फडेव भवति । “यजः” [३१११९] इत्यनेन ङीः प्राप्ते निवर्त्यते । लौहित्यायनी । सांसित्यायनी । बाभ्रव्यायणी । सौचव्यायणी । सांचव्यायनी । लान्तव्यायनी । जैगीषव्यायणी । मानव्यायनी । मांतव्यायनी । मनाथीशब्दस्य पाठसामर्थ्यात् “भस्य हृत्यडे” [वा०] इति पुंवद्भावो न भवति । मानाय्यायनी । काव्यव्यायनी । रौक्ष्यायणी । तारुक्ष्यायणी । तालुक्ष्यायणी । ताण्ड्यायनी । वातण्ड्यायनी । आङ्गिरसे तु वतण्डीत्येव भवति । काप्यायनी । कात्यायनी । शाकल्यायनी ।

कौरव्यासुरिमाण्डकात् ॥३११२२॥ कौरव्य आसुरि माण्डक इत्येतेभ्यः फट् भवति । कौरव्यायणी । टप्प्राप्तः । अ आसुरीति प्रर्लेषनिर्देशात् अकारश्चान्तादेश आयनादेशो (शे) न स्वेको दीत्वार्थः । अहृत्वाद् “यस्य ङ्यां च” [३११३६] इति इत्वं प्राप्नोति । आसुरायणी । “हृत्तो मनुष्यजातेः” [३११५२] इति ङीत्यः प्रातः । माण्डकस्यापत्यं स्त्री माण्डकायनी । “ठण्च मण्डकात्” [३११०८] इत्यण् । ङी प्रसज्येत । “तस्येदम्” [३१३८८] इत्यणि विवक्षिते कौरवीति भवति । शैषिकार्थविवक्षायां “हजः” [३१२८८] इत्यणि प्राप्ते “द्वोरङ्गः” [३१३१०] इध्यते । आसुरिणा प्रोक्ता आसुरीया शिञ्चा ।

गौरादेः ॥३११२३॥ गौरादिभ्यः स्त्रियां ङी भवति । गौरी । वर्णत्वे बहुलं ङीप्राप्तेः संज्ञायामप्राप्तेः । गौर मस्य मनुष्य शृङ्ग गवय इय मुकय ऋष्य “अयोः” [३११५३] इति ङीप्रतिषेधः प्रातः । शृङ्गाद्वाप् प्रातः । एवमुत्तरत्राप्युह्यम् । पुट पटं द्रुण द्रोण हरिण ककण अरीहण वरट उकण आमलक कुवल बदर वित्त्व (वल्लक) विम्ब कर्कर तर्कार शर्कार शर्करण्ड शबल सुषव षाण्डशौ केषाञ्चित् । सालन्द (सलद) गडुल पडुश आटक आनन्द सपाट शकुल सूर्य पूष मूष धातक सल्लक मालक मालत साल्वक वेतस वृत् (वृस) अतस उमा (उभय) भृङ्ग मह मठ छेद स्वन् तच्चन् अनडुही अनड्वाही । एषणात्करणे कारके । देहमेयकाकादनगवादनादय । यान मेघ गौतम (गोतम) अयस्थूण भोरिकि भौलिकि भौलिङ्गि औद्गाहमानि आलम्बि आयामक आलम्बि आपान्याङ्क (आपन्चिक) ऊपस्तर्च (?) आरट टोट नट मूलाट आस्तरण (आस्तरण) अधिकार प्रत्यवारोहिणी आम्रहायणी^{१०} । आम्रहायनस्य स्वार्थे अण् णत्वं च निपात्यते । सेचनी । सुमंगलासंज्ञायाम् । सुन्दर मण्डल मन्थर मन्दुल पेट (पट) पिट (विट) पिण्ड ऊर्द गूर्द सूर्द । केषांचित् रेफात्परो मकारः । सूर्म हर्द भाण्ड लोहाण्ड कदर कन्दर षदल कन्दल तरण तलुन सौधर्म । रोहिणी रेवती च नक्षत्रे । विकल निष्कल पुष्कल । कटाञ्जोरयाम् । पिप्पल्यादयश्च । पिप्पली हरीतकी कोशातकी शमी करीरी

१. सांज्ञित्यावनी सु० । २. ऋश्य अ० । ३. त्राऽप्यभ्युह्यम् अ०, ब०, स० । ४. पद सु० । ५. डयक सु० । ६. पण्डुश अ० । पटुस ब० । ७. आपामक ब० । आपामक स० । ८. ऊपस्तर्च ब० । ९. प्रत्यवारोहिन् सु० । १०. आम्रहायण सु० ।

पृथिवी क्रोष्ठु मातामह पितामही एही पर्येही आशमरथ्यात्फट् प्राप्तः । काव्या शैव्या एतौ ज्यान्तौ । आरोह चण्ड । “नृनरयोरेप् च” [बा०] नारी । येऽज्ञानडुहीप्रभृतय ईकारान्ताः पठ्यन्ते तेषां से पुंवद्भावो न भवति । अनडुहीभार्यः । प्रत्यवरोदिणीभार्यः । आग्रहायणीभार्यः । इति ।

वयस्यनन्त्ये ॥३१।२४॥ प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था वयः । वयस्यनन्त्ये वर्तमानान्मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । कुमारी । किशोरी । वर्द्धरी । वधूटी । चिरण्टी । तरुणी । तलुनी । अनन्त्य इति किम् ? स्थविरा । वृद्धा । “कन्याया कनीच च” [३१।१०५] इति निपातनात् कन्या । अत इत्येव । शिशुः । उत्तान-शया । लोहितपादिका । द्विवर्षा । नैते सान्नादयोवाचिनः शब्दाः । अथवा द्विवर्षादिषु “परिमाणाद्दृष्टदुपि” [३१।२६] इत्येतस्मान्निग्रमात् भविष्यतीति ।

रात् ॥३१।२५॥ रसञ्जकान्मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रियां भाष्यते । पञ्चानां पूलानां समाहारः पञ्चपूली । दशपूली । अनन्तस्य रसस्य खं स्त्रियां चेति पञ्चपत्नी दशतत्नी । पञ्चाजी । अजादिष्वजशब्दो जातिवचनोऽभिप्रेतः । कथं त्रिफला ? अजादिषु पाठात् ।

परिमाणान्मृदुपि ॥३१।२६॥ सर्वतो मानं परिमाणम् परिमाणान्ताद् रात् हृदुपि सति ङीत्यो भवति । द्वाभ्यां कुडवाभ्यां क्रीता आर्हीयस्य त्यस्य “राहुबखौ” [३१।२६] इत्युप् । द्विकुडवी । द्वयादकी । “रात्” [३१।२५] इति सिद्धे नियमार्थोऽयम् । यतः परिमाणादेव हृदुपि नान्यतः । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाशवा । दशाशवा । तुल्यजातीयस्य नियमान्निवृत्तिः । समाहारे भवत्येव । पञ्चाश्वी । परिमाणादिति योगवियोगः कर्तव्यः । तत इष्टतोऽवधारणं लभ्यते परिमाणशब्देनेह रूढिवशात् प्रस्थादिष्टं ह्यते । कालसंख्ययोरग्रहणम् । तेन द्विवर्षा । त्रिवर्षा । द्विशता । त्रिशता । द्वे वर्षे प्रमाणमस्याः “प्रमाणे ध्वंसनं राच्च” इति द्वयसडादीनामुप् । उक्तं च— “ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः” ।

न विस्ताचितकम्बल्यात् ॥३१।२७॥ विस्त आचित कम्बल्य इत्येवमन्ताद् रात् हृदुपि ङीत्यो न भवति । विस्तादीनां परिमाणत्वात् सर्वेषु प्राप्तिः—द्वाभ्यां विस्ताभ्यां क्रीता द्विविस्ता । त्रिविस्ता । द्व्याचिता । न्याचिता । द्विकम्बल्या । त्रिकम्बल्या ।

काण्डात् क्षेत्रे ॥३१।२८॥ काण्डशब्दान्तात् रात् हृदुपि सति क्षेत्रेऽभिधेये ङीत्यो न भवति । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । “प्रमाणेण्द्वयसङ्घञ्च मात्रटः” [३१।५८] इत्यागतानां द्वयसडादीनां प्रमाणे ध्वंसनं राच्चेति वक्ष्यमाणथा इष्टथा उप् । काण्डं धनुः । तस्य परिमाणशब्देनासंगृहीतमतः “परिमाणाद्दृष्टदुपि” [३१।२६] इत्यनेन नियमेन प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थमिदम् । क्षेत्र एव प्रतिषेधो भवति नान्यत्र । द्विकाण्डी । त्रिकाण्डी रञ्जुः । “रात्” [३१।०५] इति ङीविधिः ।

पुरुषात्प्रमाणे वा ॥३१।२९॥ हृदुपीति वर्तते । प्रमाणे यो वर्तते पुरुषशब्दस्तदन्ताद्वाद् हृदुपि वा ङीत्यो भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः खातायाः द्वयसडादीनां “प्रमाणे ध्वंसनं राच्च” इति उप् । द्विपुरुषा । द्विपुरुषी । त्रिपुरुषा । त्रिपुरुषी । अपरिमाणात्वात्पुरुषस्य “परिमाणाद्दृष्टदुपि” [३१।२६] इति नियमान्निवर्तितो ङीत्यो विकल्पते । प्रमाण इति किम् ? द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां क्रीता द्विपुरुषा । हृदुपीत्येव । समा-हारे पञ्चपुरुषी ।

शुणोक्तेरुत्तोऽखरुस्फोडः ॥३१।३०॥ वेति वर्तते । गुणोक्तेर्मृद उकारान्ताद् वा ङीत्यो भवति खरुशब्दं स्फोडं च वर्जयित्वा । यः शब्दो गुणे वर्तित्वा द्रव्ये वर्तते स गुणोक्तिरित्युच्यते । पटुः । पट्वी । मृदुः । मृद्वी । गुणोक्तिरिति किम् ? आबुः । जातिशब्दोऽयम् । उत इति किम् ? शुचिरियं कन्या । अखरुस्फोड इति किम् ? खरुयियं कन्या । पाण्डुरियं कन्या । “सत्त्वे निबिहतेऽपैव पृथग्जातिषु व्रजते ।

आधेयश्राक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिगुणः ।” सत्त्वं द्रव्यं तत्र निविशते उत्पद्यते आश्रयति वा स गुण इति संबंधः । द्रव्यादपैति अपगच्छति यथाप्रात् हरितता पीततायां उत्पन्नयाम् । पृथग्जातिषु दृश्यते, यथा सैव हरितता तरुणावृषेषु । आधेयः उत्पाद्यः, यथा कुबुमयोगात् गन्धो वस्त्रे, यथा वा घटे रक्तता । अक्रियाजश्च क्रियाजश्च क्रियातो नोत्पद्यते यथाऽऽकाशादिषु महत्त्वादि । चकारात् क्रियाजश्च यथा संयोगो विभागो वा असत्त्वप्रकृतिर्द्रव्यस्वभावरहितो निर्गुण इत्यर्थः ।

बह्नादेः ॥३११३१॥ वेति वर्तते । बहु इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्त्रियां वा ङीत्यो भवति । बहुः । बह्वी । पद्धतिः । पद्धती । बहु पद्धति अञ्चति अकृति अंहति शकटि शक्ति । केचिच्छस्त्रेऽर्थे शक्तिं पठन्ति । सामर्थ्ये शक्तिरेव तेषाम् । शक्ति शारि राति राधि शाधि अहि कपि मुनि यष्टि । किमर्थमिकारान्ताः पठ्यन्ते । यावता कृदिकारादक्तेरित्येव सिद्धे पद्धतिशब्दान्न स्यात् इतरेभ्यश्चाव्युत्पत्तिपद्मः “इतः प्राण्यङ्गात्” [ग०] श्रोणिः श्रोणी । धमनिः । धमनी । इत इति किम् ? ग्रीवा । प्राण्यङ्गादिति किम् ? कौण्डिः । साणिः । “कृदिकारादक्तेः” [ग०] भूमिः । भूमी । अक्तेरिति किम् ? कृतिः । हृतिः । अत्तयर्थावि(दि)त्येके । इहापि मा भूत् । अकरणिर्हन्त ते वृषल । कृदिकारादिति किम् ? सुगन्धिः । सुरभिगधिः । स्त्रीहृतो न भवति । व्युत्पत्तिपद्मे कृदिकारस्यैचः पूर्वः प्रपञ्च । चण्ड अगल कमल कृपण विकट विशाल विशङ्कट भद्रज । चन्द्रभागाञ्जयाम् । कल्याण उदार पुराण । अहःशब्दस्येह पाठोऽनर्थकः । केवलस्य स्त्रियामवृत्तेः । सविधौ तु उत्तरपदभूतस्य “बोद्ध्वे” [३११११] इत्यनेनैव त्रैरूप्यं सिद्धम् । बहुशब्दस्य गुणावाचित्वापूर्वेषु विकल्पे सिद्धे द्विर्वदं सुबद्धं भवतीति पुनर्ग्रहणम् । तेन सकृदुक्ता अणन्तान्ङीविधिः । क्वचिन्न भवति । कामिकेति ।

पतिवन्त्यन्तर्वत्न्यौ ॥३११३२॥ पतिवन्ती अन्तर्वत्नी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । पतिमच्छब्दस्य ङीत्ये परतः मतोर्वत्वं नुमागमश्च निपात्यते । जीवति भर्तारि पतिवन्ती । जीवतिरित्यर्थः । अन्यत्र पतिमती पृथिवी । अन्तःशब्दादधिकरणप्रधानात् अस्तिसामानाधिकरण्याभावात् विहितो मनुर्नुक् च निपात्यते गर्भिण्याम् । अन्तर्वत्नी गर्भिणी । अन्यत्र अन्तरस्यामस्ति शालायाम् । उक्तं च—“पतिवन्त्यां नुका वत्त्वमन्तर्वत्न्यां मनुर्नुका । जीवत्पत्यां च गर्भिण्यां यथासङ्ख्यं निपात्यते ॥”

पत्नी ॥३११३३॥ पत्नीति निपात्यते । पतिशब्दस्य स्त्रियां नकारोऽन्तादेशः पुंयोगे निपात्यते ङीत्यो नकारान्तत्वादेव भवति । इयमस्य पत्नी । अस्य पुंसः क्तस्य स्वामिनोत्यर्थः । पुंयोगादन्यत्र पतिरियमस्य ग्रामस्य ।

सपत्न्यादौ ॥३११३४॥ सपत्न्यादिषु पत्नीशब्दो निपात्यते “वा से” [३११३५] इति विभाषया पत्नीशब्दस्य निपातने प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । समानः पतिरस्याः सपत्नी । यद्येवं पत्नीति वर्तते समानादिभ्य इति बहुव्ये सनकारेकारस्य समुदायस्योच्चारणं किमर्थम् ? समानशब्दस्य सभावार्थम् । इकाराप्रायेऽपि नकार-श्रवणार्थं च । सपत्न्याः अयं सापत्न्यः । कृतेकारस्योच्चारणं पुंवद्भावप्रतिषेधार्थमित्येके । सपत्नीभार्यः । एवं एकपत्नी । वीरपत्नी । पिएडपत्नी । पुत्रपत्नी । भ्रातृपत्नी ।

वा से ॥३११३५॥ से पत्नी वा निपात्यते । पतिशब्दान्तस्य मृदः स्त्रियां वा नकारोऽन्तादेशो निपात्यते । बसे षसे चेदं निपातनम् । अनीच इति नाभिसम्बध्यते । गृह्यमाणस्य शब्दस्याभावात् । बसे-दृढः पतिरस्या दृढपतिः । दृढपत्नी । स्थिरपतिः । स्थिरपत्नी । बृद्धपतिः । बृद्धपत्नी । स्थूलपतिः । स्थूलपत्नी । षसे ग्रामस्य पतिः ग्रामपतिः । ग्रामपत्नी । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् । पुंसा योगे पत्नीति नित्यं निपातनम् । तेन पत्नीशब्देन तासे राजपत्नीत्येव भवति । स इति किम् ? पतिरियमस्य ग्रामस्य ।

वर्णाद्वहलं तो नस्तु ॥३११३६॥ वर्णवाचिनो मृदः स्त्रियां बहुलं ङीत्यो भवति तकारस्य तु नकारादेशः । तुशब्दः किमर्थः ? बहुलं ङीविधिर्भवति तत्कारः ? तु नकारो नित्यं यथा स्यादित्येवमर्थः । एता ।

एनी । स्येता । स्येनी । रोहिता । रोहिणी । हरिता । हरिणी । शवली । पिशङ्गी । कल्माषी । सारङ्गी । काली संज्ञायां वर्णे च । काला अन्या । क्वचिदप्रवृत्तिरेव श्वेता । असिता । पलिता । कृष्णा । कपिला । क्वचिदुभयथा । शोणी । शोणा । वडवा । नीली श्रौषधिः । प्राणिनि च नीली वडवा । नीली गौः । संज्ञायामुभयम् । नीली । नीला । आञ्छादने न भवत्येव । नीला शाटी । नीला मेघसंहतिः । वर्णादिति किम् ? कृता । हृता । अत इत्येव । सितिः कन्या ।

कुरङ्गोणस्थलभाजनागकुशकामुककबरादत्रमावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु ॥३११३७॥ कुरङ्गादिभ्यः कबराशब्दपर्यन्तेभ्योऽमत्रादिभ्येषु यथासंख्यं स्त्रियां डीत्यो भवति । कुरङ्गी भवति अमत्रं चेत् । कुरङ्गा अन्या । दाह इत्यर्थः । गोणी भवति आवपनं चेत् । गोणा अन्या । संज्ञैषा । स्थली भवति अकृत्रिमा चेत् । स्थला अन्या । भाजी भवति श्राणा चेत् । भाजा अन्या । भाजयतेः स्त्रियां युचि प्राप्ते अत एव निपातनादकारः । नागी भवति स्थौल्यं चेत् । नागा अन्या । तन्वी दीर्घा वा । संज्ञायां वा । जातिविवक्षायां तु नित्यं ङे । कुशी भवति अयोविकारश्चेत् । कुशा अन्या । काष्ठादिमयी तदाकृतिः । कामुकी भवति मैथुनेच्छा चेत् । कामुका अन्या । कबरी भवति केशवेशश्चेत् । कबरा अन्या ।

पुंयोगात् खोरगोपालकादेः ॥३११३८॥ अत इति वर्तते । पुंयोगाद्धेतोर्यः शब्दः स्त्रियां वर्तते लुभृतस्तस्मान्डीत्यो भवति गोपालकादीन् वर्जयित्वा । उपाध्यायस्य स्त्री उपाध्यायी । गणकी । प्रष्टी । महामात्री । एते संज्ञाशब्दा पुंयोगात् स्त्रियां वर्तन्ते । पुंयोगादिति किम् ? देवदत्ता । खोरिति किम् ? प्रसूता । प्रजाता । परिभ्रष्टा । पुंयोगादेते शब्दाः स्त्रियां वर्तन्ते; न तु पुंसि संज्ञाभूताः । अगोपालकादेरिति किम् ? गोपालिका । पशुपालिका । आदिशब्दः प्रकारवाची । तेन सूर्यादेवतायां डीर्न भवति । सूर्यस्य भार्या सूर्या । देवतायामिति किम् ? सूर्यो नाम मनुष्यः तस्य सूरीति ।

पूतक्रतोरै च ॥३११३९॥ पुंयोगादिति वर्तते । पूतक्रतुशब्दान्डीत्यो भवत्यैकारश्चान्तादेशः । पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी । पुंयोगादित्येव । पूताः क्रतवो यस्याः सा पूतक्रतुः ।

वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदात् ॥३११४०॥ ऐ चेति वर्तते पुंयोगादिति च । वृषाकपि अग्नि कुसित कुसीद इत्येतेभ्यः स्त्रियां डीत्यो भवति ऐकारश्चान्तादेशः । वृषाकपयी । अग्नायी । कुसितायी । कुसीदायी । कुसितकुसीदयोः संज्ञाशब्दत्वात् पूर्वेष्वैव सिद्धेऽन्यैकारार्थं वचनम् । पुंयोगादित्येव । वृषाकपिर्नाम काचित् ।

मनोरौ च ॥३११४१॥ पुंयोगादिति वर्तते । औकारश्चान्तादेश ऐकारश्च । मनोः स्त्री मनावी । मनायी । केषाञ्चिन्मनुरित्यपि ।

वरुणभवशर्वरुद्रेन्द्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक ॥३११४२॥ वरुणादिभ्यो मृद्भ्यो स्त्रियां डीत्यो भवति आनुगागमः । अत्र केषाञ्चिच्छब्दानां पुंयोगादिति सिद्धेऽध्यानुगर्थं ग्रहणम् । वरुणाणी । भवानी । शर्वाणी । रुद्राणी । इन्द्राणी । मृडानी । “हिमारण्ययोमंहस्वे” [वा०] महद्भिर्म हिमानी । महदरण्यमरण्यानी । “यवाद्दोषे” [वा०] सदोषो यवः यवानी । “यवनास्त्रिप्यास्” [वा०] यवनानां लिपिः यवनानी । उपाध्यायमातुलाभ्यां वा । आनुक एवार्थं विकल्पः । उपाध्यायी । उपाध्यायानी । मातुली । मातुलानी । ‘आचार्यादयत्वं च’ [वा०] आचार्यानी । आचार्या । ‘आर्यक्षत्रियाभ्यामनुयोगे वेति वरुण्यस्’ [वा०]

आर्याणी । आर्या । क्षत्रियाणी । क्षत्रिया । आपुंयोग इति किम् ? आर्यस्य भार्या आर्या । क्षत्रियस्य भार्या क्षत्रियो । आनुगति द्विमात्रोच्चारणमिष्टिसंग्रहार्थम् ।

क्रीतात्करणादेः ॥३११४३॥ क्रीतशब्दान्तान्मृदः करणादेः क्षियां ङीत्यो भवति । वक्षेण क्रीयते या वक्षक्रीती । वसनक्रीती । ‘साधनं कृता बहुलम्’ [१।३।२६] इत्यत्र बहुलवचनान्नबधम् । ‘विवाङ्कारकार्णा कृद्भिः सविधिः प्राक्सुबुत्पत्तेः’ [परि०] इति करणवाचिशब्दस्य क्रीतशब्देन सविधिः । पश्चादकारान्तलक्षणो ङीविधिः । करणादेरिति किम् ? सुक्रीता । दुष्क्रीता । ‘इदुदुङोऽस्यपुग्मुहुसः’ [१।४।२८] इति सत्वषत्वे । कथं ‘सा हि तस्य वनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी’ बहुलवचनान्न । सुवन्तेन वृत्तिर्न कृदन्तेन । सुबुत्पत्तिश्च बहिरङ्गा अन्तरङ्गे यपि कृते भवतीति सिद्धम् । क्रीतान्तान्मृद इति विशेषणत् वाक्ये न भवति, वत्येन (वित्तेन) क्रीता ।

क्तादल्पे ॥३११४४॥ करणादेरिति वर्तते । करणादेर्मृदः क्तान्तादल्पे ङीत्यो भवति । अत्रापि प्राक् सुबुत्पत्तेः सविधिः । अभ्रविलिप्ती द्यौः । अल्पान्यस्यामभ्राणीत्यर्थः । रूपविलिप्ती पानी । अल्प इति किम् ? चन्दनानुलिप्ता ।

जातेर्बात् ॥३११४५॥ क्तादिति वर्तते । जातिशब्दपूर्वः क्तान्तो यो वसस्तस्मान्ङीत्यो भवति । अस्वाङ्गादेरुत्तरत्र विकल्पो वक्ष्यते । स्वाङ्गे पूर्वपदमिहोदाहरणम् । शङ्खौ भिन्नौ यस्याः सा शङ्खभिन्नी । उरुच्छिन्नी । गलकोत्कृत्ती । केशलूनी । जातेरिति किम् ? मासजाता । बहुजाता । अजाता । सुखजाता । दुःखजाता । बादिति किम् ? सव्यजानुप्रतिष्ठिता । ‘जातान्ताप्रतिषेधो वक्तव्यः’ [वा०] दन्तजाता । स्तनजाता । ‘पाणिगृहीत्यादीनां गुर्वनुज्ञातेन ङी वक्तव्यः’ [वा०] पाणिगृहीती भार्या । यस्यास्तु यथाकर्थाञ्चत् पाणिगृहीतः सा पाणिगृहीता । त इति दतोक्तं (त इत्यनोक्तं) जातिकालमुखादिभ्यः परनिपातस्तान्तस्योतं जातिरत्र सकृदाख्यातनिर्गोह्या ।

वाऽस्वाङ्गादेः ॥३११४६॥ क्तादिति वर्तते वादिति च । अस्वाङ्गादेः क्तान्ताद्वासाद् वा ङीत्यो भवति । सारङ्गं जग्धमनया सारङ्गजग्धी । सारङ्गजग्धा । पलाण्डुभक्ष्तिती । पलाण्डुभक्ष्तिता । सुरापीती । सुरापीता । अस्वाङ्गादेरिति किम् ? शङ्खभिन्नी । स्वाङ्गादेः पूर्वेण नित्यो विधिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेह न भवति । वर्धं छन्नमस्याः वक्षच्छन्ना । वसनच्छन्ना । षडेऽपि संज्ञायां विकल्पः । प्रवद्धविलूनी । प्रवद्धविलूना ।

स्वाङ्गाङ्गोऽस्फोडः ॥३११४७॥ वेति वर्तते । स्वाङ्गं न्यक् अस्फोड् यत् तदन्तान्मृदो वा ङीत्यो भवति । दीर्घकेशी । दीर्घकेशा । गौरमुखी । गौरमुखा । स्वाङ्गादिति किम् ? बहुयवा । अस्फोड इति किम् ? कल्याणगुल्फा । कल्याणपाशर्वा । वेति व्यवस्थितविभाषा व्याख्याता । तेन ‘अङ्गात्रकण्ठेभ्यो वा प्रतिषेधः’ [वा०] मृदङ्गी । मृदङ्गा । मृदुगात्री । मृदुगात्रा । स्निग्धकरठी । स्निग्धकरठा । बसाधिकारे पुनर्न्यगग्रहणं पार्थम् । अतिकेशी । अतिकेशा । निष्केशी । निष्केशा माला । इह कस्मान्न भवति ? कल्याणं पाणिपादमस्याः कल्याणपाणिपादा । स्वाङ्गसमुदायः स्वाङ्गग्रहणेन न गृह्यते । किं स्वाङ्गम् ? ‘अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणस्थमधिकारजम् । अतस्त्वं तत्र दृष्टं चेत् तस्य चेत् तत् तथायुतम् ।’ स्वाङ्गं मुखादि । अद्रवामिति किम् ? बहुकफा । मूर्तिमदिति किम् ? बहुज्ञाना । प्राणस्थमिति किम् ? श्लक्ष्णमुखा शाला । अविकारजमिति किम् ? बहुशोफा । अतस्त्वं तत्र दृष्टं च प्राक् प्राणिनि दृष्टं संप्रत्यप्राणस्थमपि स्वाङ्गम् । दीर्घकेशी । दीर्घकेशा रथ्या । तस्य चेत् तत् तथायुतम् येन प्रकारेण प्राणिनो युतं दृष्टं तस्याप्राणिनोऽपि यदि तत्तथायुतं दृश्यते एवमपि स्वाङ्गम् । दीर्घमुखी दीर्घमुखा अर्चा ।

नासिकोदरौष्ठजङ्घान्तकर्णशृङ्गात् ॥३१।४८॥ स्वाङ्गात्रीच इति वर्तते वेति च । नासिका-
दयो ये न्यञ्चस्तदन्तान्मृदो वा डीत्यो भवति । दीर्घनासिकी । दीर्घनासिका । तनूदरी । तनूदरा । विम्बोष्ठी ।
विम्बोष्ठा । “ओत्वोष्ठयोर्वा से पररूपमुपसंख्यास्यते” [वा०] समजङ्घी । समजङ्घा । समदन्ती । समदन्ता ।
चारुकर्णी । चारुकर्णा । तीक्ष्णशृङ्गी । तीक्ष्णशृङ्गा । नासिकोदरयोः “बह्वचः” [३।१।४६] इत्यनन्तरे
प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम् । सहनञ् विद्यमानलक्षणस्तु प्रतिषेधो भवत्येव । शोषाणामस्फोळ इति पूर्वस्मिन् प्रतिषेधे
प्राप्ते उपादानम् । सहादिप्रतिषेधस्तु भवत्येव । “पुच्छञ्चेति वक्तव्यम्” [वा०] दीर्घपुच्छी । दीर्घपुच्छा ।
“कवरमणिशरविषेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम्” [वा०] कवरं पुच्छमस्याः कवरपुच्छी । मणिः पुच्छेऽस्याः
मणिपुच्छी । विषं पुच्छेऽस्याः विषपुच्छी । “ईडिबशेषणे बे” [१।३।१०१] इत्यत्र खङ्गादिभ्यः ईवन्तस्य
परवचनमुक्तम् । “उपमानात् पक्षपुच्छाभ्यामिति वक्तव्यम्” [वा०] उलूक इव पक्षावस्याः उलूकपक्षी शाला ।
उलूक इव पुच्छमस्या उलूकपुच्छी सेना ।

न क्रोडादिबह्वचः ॥३१।४९॥ क्रोडादिर्गणः । क्रोडाद्यन्तात् बह्वजन्ताच्च मृदो डीत्यो न भवति ।
“स्वाङ्गात्रीचः” [३।१।४७] इति प्राप्तिः । क्रोडाशब्दः स्त्रीलिङ्गः । कल्याणी क्रोडा अस्याः कल्याणक्रोडा ।
कल्याणगोला । कल्याणबाला । कल्याणबुरा । कल्याणशफा । कल्याणगुदा । क्रोडादिराकृतिगणः । सुभगा ।
सुगला । बह्वचः खल्वपि । पृथुजघना । दृढदया । महाललाटा ।

सहनञ्विद्यमानात् ॥३१।५०॥ सह नञ् विद्यमान इत्येतेभ्य उत्तरं यस्वाङ्गं तदन्तात्
डीत्यो न भवति । सकेशा । अकेशा । विद्यमानकेशा । सनासिका । अनासिका । विद्यमाननासिका । सुदन्ता ।
अदन्ता । विद्यमानदन्ता ।

नखमुखास्त्रौ ॥३१।५१॥ नख मुख इत्येवमन्तान्मृद-खुविषये डीत्यो न भवति । शूर्पणखा ।
व्याघ्रणखा । वज्रणखा । “पूर्वपदात् खावगः” [३।४।८०] इति णत्वम् । गौरमुखा । श्लक्ष्णमुखा ।
कालमुखा । संज्ञाशब्दा पते । खाविति किम् ? शूर्पमिव नखा अस्या शूर्पणखी । शूर्पणखा ।
चन्द्रमुखी । चन्द्रमुखा ।

सख्यशिश्वी ॥३१।५२॥ सखी अशिश्वी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । डीविधिर्निपात्यते । सखीयं
कुमारी । नास्याः शिशुरस्ति अशिश्वी ।

जातेरयोः ॥३१।५३॥ अत इति वर्तते । जातिवाचिनः अयकारोऽङ्गो मृदः स्त्रियां डीत्यो भवति ।
“आकृतिग्रहणा जातिलिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ।” आकृतिः
संस्थानम् । आकृतिग्रहणमस्याः आकृतिग्रहणा । ब्राह्मणत्वादीनां जातिविशेषाणां संस्थानविशेषाभावात् कथं
संग्रहः ? लिङ्गानां च न सर्वभाक् । एकलिङ्गो द्विलिङ्गो वा भावो जातिः । ब्राह्मणत्वादिषु केवलमुपदेशमात्रं
जातिव्यवहारस्य निर्वन्धनम् । जात्यभावेऽपि द्विलिङ्गतास्ति देवदत्तः देवदत्ता इति । अथ कथं त्रिलिङ्गेषु तटस्तटी
तटमित्येवमादिषु जातिवाचित्वम् ? सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या । अभिधानप्रत्यययोरनाकस्मिक्त्वात्तन्निमित्तं जातिरि-
ति । एवं सकृदाख्याता निश्चयेन ग्राह्या । ननु सर्वे शब्दा जातिवाचिनः इत्यस्मिन् दर्शने यद्व्यञ्ज्याशब्दानां
क्रियागुणशब्दानां च जातिशब्दत्वं देवदत्तादयोऽपि संज्ञाशब्दा बाल्यकौमारयौवनादिष्वन्वयिनीमाकृतिमवल-
म्बन्ते । एवं च देवदत्ता कारणा शुक्लेत्यत्र डीविधिः प्रसज्येत । यदीदं दर्शनमाश्रीयेत व्यावर्त्यं नास्तीति
ग्रहणमनर्थकं स्यात् । तस्माद्येषां जातिरेव प्रवृत्तेर्निमित्तं त इह जातिशब्दाः । गोत्रं च लौकिकमपत्यमात्रं

जातिः । नात्राकृतिः प्रतीयते नापि किञ्चिद्विज्ञमस्ति येन सकृदाख्यायेत । लिङ्गानां च न सर्वभागित्यस्मिन् दर्शने गोत्रं चेति न वक्तव्यम् । चरणैः सहेति चरणमध्यनवशात् क्रिया तदात्मकं जातिः । कुक्कुटी । ब्राह्मणी । तटी । नाडायनी । बह्वची । कठी । कठेन प्रोक्तमधीते या “शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन्” [३।३।७७] इति णिन् । परस्यायः “उपप्रोक्तात्” [३।२।२४] इत्युप् । शौनकादिभ्येव । “कठचरकात्” इति इन उप् । जातेरिति किम् ? मुण्डा । अयोङ् इति किम् ? आर्या । क्षत्रिया ।

पाककर्णपर्यापुष्पफलमूलवालयोः ॥३।१।५४॥ पाकादयो ध्रुभूता यस्य तस्माज्जातिवाचिनो मृदः स्त्रियां डीत्यो भवति । ओदनपाकी । क्षणपाकी । मूषिककर्णी । शङ्कुकर्णी । पृष्टिपर्णी । शालिपर्णी । शङ्खपुष्पी । हिरण्यपुष्पी । दासीफली । पूगफली । दर्भमूली । शीर्यमूली । गोवाली । अश्ववाली । पुष्पफलमूलोत्तरपदाद्यतो डीविधिर्नेष्यते तदजादिषु पठनीयम् । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमेतत् । स्त्रियामेव ये जातिवाचिनः शब्दास्तेषु एतेभ्य एव डीविधिर्नान्यस्मात् । बलाका । मन्त्रिका ।

इतो मनुष्यजातेः ॥३।१।५५॥ इकारान्तात्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रियां डीत्यो भवति । कुन्ती । अरन्ती । अपत्यार्थे “द्वित्कुरुनाद्यजादकौशलाभ्यः” [३।१।१५३] इति ड्यः । तस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१२७] इत्युप् । एवं दान्ती । ज्ञान्ती । इत इति किम् ? विट् । दरत् । यथासंख्यमत्रणोः “अतोऽप्राच्यभगादिः” [३।१।१२८] इत्युप् । मनुष्यग्रहणं किम् ? तित्तिरिः । जातेरिति वर्तमाने पुनर्जातिग्रहणं योजोऽपि यथा स्यात् । औदमेयी । “अयोङ्” [३।१।५३] इति प्रतिषेधः उत्तरत्र त्रिसूत्र्यां च वर्तते । “इज उपसंख्यानमजात्यर्थं कर्तव्यम्” [वा०] सुतङ्गमेन निवृत्ता नगरी सौतङ्गमी । “बुच्छण्कठे” [३।१।६०] इत्यादिना सुतङ्गमादिभ्य इज् ।

ऊरुतः ॥३।१।५६॥ मनुष्यजातेरिति वर्तते । उकारान्तात्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रियां ऊकारस्त्यो भवति । कुरुः । इक्ष्वाकूः । पर्सुः । अस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१२७] इति अत्रणोः “अतोऽप्राच्यभगादिः” [३।१।१२८] इत्युप् । द्विमात्रोच्चारणं “शेषाद्वा” [४।२।१२४] इति परस्यापि कपो वाधनार्थम् । तथाहि ब्रह्मा बन्धुर्यस्याः सा ब्रह्मबन्धुः । वीरबन्धुः । अत्र च समुदायो ब्राह्मणविशेषजातिः । यद्भावेन मृदमृदोरेकादेशो मृद्वद्भवतीति मृत्सजायां स्वाद्युत्पत्तिः । मनुष्यजातेरित्येव । रुः । कृकवाकूः । आखुः । अयोङ् इत्येव । अन्धयुः स्त्री । अलावूः । कर्कन्धूरित्येवमादय औणादिकाः । कथं अलावुकर्कन्धुदन्मुफलमिति ? “इकः प्रोऽङ्याः” [४।१।७२] इति प्रादेशेन सिद्धम् ।

पङ्कोः ॥३।१।५७॥ पङ्कुशब्दात् स्त्रियामृत्यो भवति । पङ्गूः । श्वशुरशब्दस्योक्कारकारयोः लमूश्च ल्यो वक्तव्यः । श्वभूः ।

ऊरुद्योरिवे ॥३।१।५८॥ ऊरुशब्दो द्युर्यस्य तस्मान्मृद इवार्थे गम्ये स्त्रियामृत्यो भवति । करभोरुः । कदलीस्तम्भोरुः । नागनासोरुः । इव इति किम् ? वृत्तोरुः कन्या ।

संहितशफलक्षणवामादेः ॥३।१।५९॥ संहिताद्यादेर्मृदः ऊरुद्योः स्त्रियामृत्यो भवति । अनिवाथोऽयमारम्भः । संहितोरुः । शफोरुः । लक्ष्णोरुः । वामोरुः । “सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्” [वा०] संहितोरुः । सहोरुः ।

बाह्वन्तकद्रकमण्डलुभ्यः ॥३।१।६०॥ बाहुशब्दान्तान्मृदः कद्रकमण्डलुशब्दाभ्यां खुविषये ऊत्यो भवति । मद्रबाहुः । भद्रबाहु । कद्रुः । कमण्डलुः । कासाञ्चिदेताः संज्ञाः । खाविति किम् ? वृत्तौ बाहु अस्याः वृत्तबाहुः । कद्रुः । कमण्डलुः ।

हृतः ॥३११६१॥ अधिकारेण्यं संज्ञा । यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम आकपो हृत्संज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति । 'यूनस्तिः' [३११६२] युवतिः । 'ऋद् श्रस्ताः' [११११६] इति मृतसंज्ञाया स्वाद्युत्पत्तिः । बहुत्वनिर्देशोऽनुक्तपरिग्रहार्थः । मध्यान्म उक्तोऽन्यतोऽपि भवति । अन्तमः । आदिमः । धर्मादृणू विहितः । अधर्मादपि । आचार्मिकः । हृतामिह बहुत्वेन निर्देशे किं प्रयोजनम् ? अनुक्ताच्च हृदुत्पत्तिर्यथा स्यादन्तमादिषु । तथा अनुक्ता अपि हृतो भवन्ति "अग्रपरचाङ्गिमः" [वा०] इत्येवमादयः ।

यूनस्तिः ॥३११६२॥ युवन्नित्येतस्मात्तिर्भवति स्त्रियाम् । युवतिः । यूनः स्त्रीविवक्षायां कुन्साद्यर्थ-विवक्षायां च परत्वात् कादयः प्राप्नुवन्ति तस्माद्यून इति योगविभागः । यूनो हृत्प्रसङ्गे स्त्रीत्य एव भवति ततः कादयः । युवतिकाः ।

व्योऽक्तु रूपान्त्ययोर्वृद्धेऽनार्षेऽणिव्योः ॥३११६३॥ स्त्रियामिति वर्तते । अणिव्यो यो वृद्धेऽनार्षे विहितावक्तु रूपान्त्यौ तदन्तस्थ मृदः ष्य इत्ययमादेशो भवति । निर्देश्यमानयोरणिव्योरेव व्यादेशः । 'पौत्रादि वृद्धम्' [३११०८] इति अपत्यविशेषस्य वृद्धसंज्ञा । ऋषेरिदमार्षं तद्गृहिते वृद्ध इति । "स्के रुः [११२८१] "दोः" [११२८२] इति अर्चां रुसंज्ञोक्ता । रुः उपान्त्यं सन्निहितं ययोरणिव्योस्तयोः प्यादेशः । षक्करः "षे व्यस्य पुत्रयस्योर्जिः" [४३१६] इत्यत्र विशेषणार्थः । करीषस्येव गन्वोऽस्य करीषगन्धिः । "उपमानात्" [४३११३८] इति वा इकारः सान्तः । करीषगन्धेरपत्यं स्त्री करीषगन्ध्या । कौमुदगन्ध्या । वराहस्यापत्यं स्त्री वाराह्या । बालाक्या । जातिलक्ष्णस्य "अयोः" [३११५३] इति प्रतिषेधः । अनस्त्विधाविति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादणिव्योः लक्ष्णोऽपि ङीत्यो न भवति । ततः प्यान्तादृष्टम् । अद्विवति हलामविवक्षार्थमर्चां निर्द्धारणं क्रियतेऽक्तु रूपान्त्ययोरिति । अन्यथा येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपीति एकेन वर्ण्येन व्यवधाने वाराह्यादिषु स्यात् । वर्णसङ्घाते व्यवधाने करीषगन्ध्यादिषु न स्यात् । अद्विवति बहुत्वनिर्देशः प्रधानभूतो यत्राचां बहुत्वमस्ति तत्रादेशः । तेनेह न भवति । दाक्षी । प्लाक्षी । रूपान्त्ययोरिति किम् ? औपगवी । वृद्ध इति किम् ? अहिच्छन्ने जाता आहिच्छन्नी । अनार्ष इति किम् ? वाशिष्ठी । वैश्वामित्री । अणिव्योरिति किम् ? आर्तभागी । ष्यतभागाद्विदादिलक्ष्णोऽञ् । इह उडुलोभोऽपत्यं स्त्री औडुलोभ्या । बाह्यादित्वादिञ् टिखे कृते रूपान्त्यत्वं ततः प्यादेश इति आनुपूर्व्यम् ।

गोत्राव्यवहार ॥३११६४॥ अणिव्योरिति वर्तते । गोत्रमिति पूर्वाचार्याणां वृद्धस्य संज्ञा । गोत्राव्यवहारः गोत्राभिमताः कुलाख्याः । गोत्राव्यववाचिनो मृदः वृद्धे विहितयोरणिव्योः स्त्रियां प्यो भवति । अरूपान्त्यार्थोऽयमारम्भः । पुंणिकस्यापत्यं स्त्री पौणिक्या । मुणिकस्य भौणिक्या । मुखरस्य मौख्या । यत्रानन्तरापत्येऽपि प्यो दृश्यते क्रौड्यादिषु तत्पठनीयम् । यथा अन्तकाम्या देवदत्ता ।

क्रौड्यादेः ॥३११६५॥ क्रौडीत्येवमादिभ्यश्च स्त्रियां प्यो भवति यथासम्भवं ङीटापोः प्राप्तयोः कच्चिदन्तरापत्यार्थः । कच्चिदबह्वर्धः । कच्चिदरूपान्त्यार्थः आरम्भः । कच्चिदणिव्योः संस्तोरपि । त्य एवार्यं ष्य इष्यते । क्रौडि । क्रौड्या । "इषो मनुष्यजातेः" [३११५२] इति ङीविधिः प्राप्तः । क्रौडि लाडि व्याडि आपिष्टलि आपद्धिति एते इजन्ताः । चौपयत चैटयत सैक्यत एते तकारान्ता अणन्ताः । सौघातकद्विजन्तः । "सूत्रशब्दाद्य बर्त्या ष्यः" [ग० सू०] स्यात् । सूता अन्यत्र । "भोजात् क्षत्रियजातौ" [ग० सू०] भोज्या । भोज्या अन्या । भौरिकि शालास्थलि ऋपिष्ठलि एते इजन्ता । गौक्या । दम्बन्तोच्चारणं जित्वनिवृत्त्यर्थम् । गौक्यापुत्रः ।

दैवयज्ञिशौचवृत्तिसात्यमुप्रिकाण्डेविद्धिभ्यो वा ॥३११६६॥ दैवयज्ञि शौचवृत्ति सात्यमुप्रि काण्डेविद्धि इत्येतेभ्यः वा ष्यो भवति । उभयत्र विभाषेयम् । वृद्धे प्राप्तेऽनन्तरापत्ये चाप्राप्ते । दैवयज्ञ्या । दैवयज्ञी । शौचवृत्त्या । शौचवृत्ती । सात्यमुग्र्या । सात्यमुग्री । काण्डेविद्ध्या । काण्डेविद्धी । अनन्तरापत्ये “इज उपसंख्यानमजात्यर्थम्” [वा०] इति डी । वृद्धापत्ये “इतो मनुष्यजातेः” [३११६६] इति ।

समर्थात्प्रथमाद्वा ॥३११६७॥ समर्थादिति प्रथमादिति वेति च पदत्रितयमधिकृतं वेदितव्यम् । “किबहुसर्वनाम्नोऽद्वादेः” [४११६८] इत्यतः प्रा २ वक्ष्यति “तस्यापत्यम्” [३११७७] उपगोरपत्यं औपगवः । तस्येत्येतत् तान्तं सूत्रे प्रथमं सन्निविष्टम् तस्मादपत्याभिधाने त्यः । समर्थादित्युच्यते सामर्थ्यं च सुबन्तस्येति सुबन्तात्योत्पत्तिः । द्वद्ववर्णादिति विशेषणार्थं तु इथाऽमृदग्रहणमधिक्रियते । वृद्धस्य उपगोरपत्यमिति वाक्यस्यासुबन्तत्वात् वाक्यावयवस्य चासामर्थ्यात् त्यानुत्पत्तिः । समर्थादिति किम् ? कम्बल उपगोरपत्यं देवदत्तस्य । यद्येवं समर्थः पदविधिरिति समर्थादेव भविष्यति किमनेन ? कृतवर्णानुपूर्वकात् पदात् त्यो यथा स्यादित्यैवमर्थम् । सूत्थितस्यापत्यं सौत्थितिः । वैत्तमाणिरिति । “नेन्द्रस्य” [११२२७] इत्यत्र वक्ष्यति समुदायकार्यं तावद्भवति पश्चादेकादेशः । एवं वा (चा) संहितात्योत्तरत्तः वनिष्टं रूपं स्यात् । प्रथमादिति किम् ? तान्ताद्यथा स्यादपत्यशब्दान्मा भूत् । वाग्रहणं किम् ? उपगोरपत्यमिति वाक्यमपि साधु यथा स्यात् । अनन्तराद्वाग्रहणात् सविधिरपि । उपग्वपत्यम् ।

प्राग्द्रोरण् ॥३११६८॥ “द्रोः” [३१११६] “माने वयः” [३११२०] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद्येऽर्था वक्ष्यन्ते तेष्वण भवतीति वेदितव्यम् । अधिकारो विधिर्वाऽयम् । अधिकारपक्षे “पीठ्याया वा” [३१११०७], “वोदशिवतः” [३१२१४] इत्येवमादौ वाक्चनान्वादाद्विषये नास्ति वृत्तिः । विधिपक्षेऽपि परिहृत्यापवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते । वक्ष्यति तस्यापत्यम् औपगवः । कापटवः । अपवादेन बाधितोऽप्युत्तरानुवर्ततामिति प्राग्वचनम् ।

अश्वपत्यादेः ॥३११६९॥ अश्वपति इत्येवमादिभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः अण् भवति प्राग् द्रोरर्थेषु । “पतिघोः” [३११७०] इति एयो वक्ष्यते । तस्यायमपवादः । अश्वपतेरपत्यं अश्वपतः । अश्वपति गणपति वनपति गजपति राष्ट्रपति कुलपति पशुपति धान्यपति बन्धुपति सभापति प्राणपति क्षेत्रपति येऽत्र दुःसंज्ञास्तेभ्यो “दोरङ्गः” [३११६०] इतिच्छं बाधित्वा पूर्वनिर्णयेनायमेवाण् ।

द्वित्यदित्यादित्यपतिघोर्यः ॥३११७०॥ प्राग् द्रोरिति वर्तते । दिति अदिति आदित्य पतिघु इत्येतेभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः प्राग् द्रोरर्थेषु एयो भवति । अणोऽपवादः । दितेरपत्यं दैत्यः । “इयचः”, “इतोनिजः” [३११११०, १११] इतीमं दण्यं पूर्वनिर्णयेनायं बाधते । सर्वतो “अकस्यर्थात्” [३११३१ ग०सू०] इति डीविधौ कृते परत्वाद्वाण् च भवति । दैतेयः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषा वा नित्या अदितेरपत्यं आदित्यः । आदित्यस्यापत्यमादित्यः । प्राक्कनस्य यक्प्रस्य “क्यच्चनाद्दृष्ट्यापत्यस्य” [४११४१] इति “हृत्तो यमां यमि खम्” [१११३८] इति वा खम् । पतिघोः खत्वपि । बार्हस्पत्यः । सैनापत्यः । प्राजापत्यः । यथादयोऽर्थविशेषलक्षणत्वात् (योऽ) पवादात् पूर्वनिर्णयेन (इति) एय एव भवति । वनस्पतीनां समूहः वानस्पत्यम् । “यमाच्छेति वक्तव्यम्” [वा०] यमस्यापत्यं याम्यः । “पृथिव्या जाजौ” [वा०] । पार्थिवः । पार्थिवी । “देवस्य यजजौ” [वा०] । दैव्यम् । दैवम् । “बहिषष्टिं यज्ज” [वा०] । बाह्यम् । “ईकण् च” [वा०] बाहोः । केर्ममात्रटिलमन्तिर्यमारातीय इत्यादौ । स्थान्मोऽकारः । अश्वत्थान्मोऽपत्यम् अश्वत्थामः । “कोम्नश्चापत्येषु बहुषु” [वा०] उडुलोमाः । शरलोमाः । बहुष्विति किम् ? औडुलोमिः । शारलोमिः । “सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यः” [वा०] गव्यः । अबादिप्रसङ्ग इति किम् ? गोरुपत्यम् । गोमयम् ।

१. प्रकृत्य चापवादाद्विषयं... इति परिभाषेभ्युत्सरे । २ वक्ष्यति अ०, च०, सू० ।

उत्सादेरञ् ॥३१।७१॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते । उत्स इत्येवमादिभ्यः समर्थविभङ्गयन्तेभ्यः प्राग्द्रोरर्थेष्वञ् भवति । अणस्तदपवादानां च बाधकः । अञि सति “यजजोः” [१।४।१३२] इति बहुत्वे उञ्भवति । उत्स-स्यापत्यं श्रौत्सः । उदपानस्यापत्यमौदपानः । उत्स उदपान विकर विनद महानद महानस महाप्राण तरुण तल्लुन । वष्क्यशब्दादसे । असमास इत्यर्थः । घेनु पङ्क्तिं जगती त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर पीलु-कुण । उदस्थानशब्दाद्देशे । पृषदंश भल्लकीय रथन्तर मध्यन्दिन बृहत् महत् । सत्वतशब्दो सत्वन्तुशब्दो मत्वन्तः आगतनुङ्को गृह्यते । कुरु पञ्चाल इन्द्रावसान उष्णिह् ककुम् सुवर्ण । ग्रीष्मादङ्कुन्दसीति वङ्गभ्यम् । छन्दश्चेद् वृत्तजातिः । तरुणशब्दस्य लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम् । तरुण्या अपत्यं तारुणः । ग्यादयोऽर्थविशेषलक्षणार्था- (योऽ)पवादात् पूर्वनिर्णयेन भवन्तीति ।

स्त्रीपुंसानुक्त्वात् ॥३१।७२॥ वक्ष्यति “ब्रह्मणस्त्वः” [१।४।१२६] एतस्मात्त्वसंशब्दनात् प्राग्योऽर्थो वक्ष्यते तेषु स्त्रीशब्दात् पुंशब्दाच्च अञ् भवति नुगागमः । स्त्रीषु भवं स्त्रीणां समूहः स्त्रीभ्यः आगतम् स्त्रीभ्यो हितं स्त्रीणां भावो वा स्त्रैणम् । एवं पौंसम् । “नोऽपुंसो हृत्ति” [४।४।१३०] इति प्रतिषेधात् पुंसिष्ठिखं न भवति । स्त्रीशब्दस्य तु नुग्वचनसामर्थ्यात् । स्त्रैणाः पौंसान् इत्यत्र “यजजोः” [१।४।१३५] इत्युप् प्राप्नोति । इह च स्त्रैणानां संघ इति “संघाङ्कलक्षणम्” [३।३।१५] इत्यण् प्राप्नोति चेत् नैतो दोषो । अपत्याधिकारात् प्रागूर्ध्वं च वृद्धग्रहणेषु लौकिकगोत्रग्रहणमिति वक्ष्यते । न च स्त्रैणं पौंसमिति वा लौकिकं गोत्रं तस्मादुच्यते न भवतः । “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१२४] इति वचनं योगापेक्षं ज्ञापकम् । वतोऽर्थे नायं विधिरिति । स्त्रीवत् । पुंभवत् ।

वृद्धेऽच्यनुप् ॥३१।७३॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते । “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [१।४।१३४] इत्यत्र प्रकरणे वृद्धे यस्य त्यस्य उबुक्कः तस्यानुभवति प्राग्द्रवीयेऽजादावुत्पत्स्यमाने । गर्गाणां छात्राः गर्गायाः । “यजजोः” [१।४।१३२] इति बहुत्वे उप् प्राप्तः । ईयविषये प्रतिषिध्यते । “यस्य ह्या च” [४।४।१३६] इत्यखम् “अच्यनाद्घृत्यापस्यस्य” [४।४।१४१] इति यखम् । त्याश्रयलक्षण एञ्भवति । यास्कीयाः । शिवादिलक्षण-स्याणः “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [१।४।१३४] इत्युप् प्राप्तः । आत्रेयीयाः । “द्वयचः” [३।१।११०] “इतोऽ-निजः” [३।१।१११] इति द्वात् तस्य “भृग्वत्रिकुत्सवक्षिष्टगोतमाङ्गिरोभ्यः” [१।४।१३६] इत्युप् प्राप्तः । खारपायणीयाः । “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [१।४।१३४] इत्यनेन नडादिफण उप् प्राप्तः । वृद्ध इति किम् ? कुवलस्येदं कौवलम् । वादरम् । अत्रयवार्ये आगतस्याणः “उफले” [३।३।१२१] इति उवेव भवति । अचीति किम् ? गर्गोभ्यः गर्गरूप्यम् । गर्गमयम् । प्राग्द्रोरित्येव गर्गोभ्यो हितं गर्गायम् । वृद्धाद्ब्रह्मन्तात् एकस्मिन् यूनौ द्वयोर्वा यूनोर्यत्यः तस्मिन्नष्टेऽप्यनुभवति । विदानामपत्यं युवा वैदः । वैदौ । अत्रन्तात् इञ् । तस्य “जिण्यराजावाँश्च न्युबगिजोः” [१।४।१३०] इत्युप् । “त्यखे त्याधयम्” [१।१।६३] इत्यादित्व-मस्ति । वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयमिति न मन्तव्यम् । अचीति विषयनिर्देशः । एकद्वयन्ताच्च वृद्धात् युवबहुत्व-विबन्तायां उप् च वङ्गव्यः । वैदस्य वैदयोरपत्यानि युवानः विदाः ।

रस्योबनपत्ये ॥३१।७४॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते । रस्य निमित्तत्वेन संबन्धी यो हृत् अपत्यवर्जिते प्राग्द्रोरर्थे विहितस्तस्योभवति । पञ्चसु गुरुषु भवः पञ्चगुरुर्नमस्कारः । दशसु धर्मेषु भवः दशधर्मः । द्वावनुयोगावचीते द्वयनुयोगः । त्र्यनुयोगः । हृदर्थे षसः । संख्यादीरसंज्ञः । भवार्ये आगतस्याण उप् । रस्येति निमित्तविशेषणं किम् ? उबन्ताद्यो हृत् तस्योभ्या भूत् । पञ्चगुरोर्नमस्कारस्येदं पाञ्चगुरवम् । यदि रस्य निमित्तं यो हृत् तस्योप्

इह तर्हि न प्राप्नोति पञ्चानां कपालानां समाहारः पञ्चकपाली । पञ्चकपाल्यां संस्कृतः पञ्चकपालः । नैव दोषः । अव्यविकन्यायेन पञ्चकपालशब्दात् त्योत्पत्तिः । यथा अत्रेर्मासं आविक्रमिति अविक्रशब्दादेव त्यो नाविशब्दात् । अनपत्य इति किम् ? द्वयोर्देवदत्तयोरपत्यं द्वैदेषदत्तिः । अजग्रहणमनुवर्तते । तैनेह न भवति । पञ्चभ्यो गर्गस्य आगतं पञ्चगर्गरूप्यम् । प्राग्द्रोरित्येव । द्वाभ्यामक्षाभ्यां दीव्यति द्वैयत्तिकः । त्रैयत्तिकः ।

यूनि ॥३११७५॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते अचीति च । यूनि यस्यस्तस्योच भवति प्राग्द्रवीयेऽजादौ त्य उत्पत्त्यमाने । फाण्टाहृतस्यापत्यं फाण्टाहृतिः । तस्यापत्यं युवा “फाण्टाहृतेर्णः” [३१११३८] इति णः । फाण्टाहृतः । तस्य यूनश्छात्रा बुद्धिस्य एवानुत्पन्नेऽजादौ त्ये णस्योपि कृते इजन्तमिदं जातम् । “इजः” [३१२१८८] इत्यण् भवति । फाण्टाहृताः । भागवित्तस्यापत्यं भागवित्तिः । तस्यापत्यं युवा “दोष्टण् सौभारेषु प्रायः” [३१११३६] इति ठण् । भागवित्तिः । तस्य यूनश्छात्राः ठण् उपि कृते “इजः” [३१२१८८] इत्यण् । भागवित्ताः । तिकस्यापत्यं तैकायनिः । तस्यापत्यं युवा “केशञ्जः” [३१११३७] इति छः । तैकायनीयः । तस्य यूनश्छात्राः छस्योपि कृते “दोश्छः” [३१२१३०] इति छः । तैकायनीयाः । ग्लुचुकस्यापत्यं “फिरदोः” [३१११४७] इति फिः । ग्लुचुकायनिः । तस्यापत्यं युवा “प्राग्द्रोरण्” [३१११३८] ग्लौचुकायनः । तस्य यूनश्छात्रा अण् उपि तस्येदमित्यण् । ग्लौचुकायनाः । कपिञ्जलादस्यापत्यं कापिञ्जलादिः तस्यापत्यं युवा “कुवाडैर्ण्यः” [३१११३६] इति ण्यः । कापिञ्जलाद्यः । तस्य यूनश्छात्रा ण्यस्योपि कृते “इजः” [३१२१८८] इत्यण् कापिञ्जलादाः । अचीत्येव । फाण्टाहृतरूप्यम् । फाण्टाहृतमयम् । प्राग्द्रोरित्येव । भागवित्तिकाय हितं भागवित्तिकीयम् ।

फण्फिञ्चोर्वा ॥३११७६॥ यूनीति वर्तते । यूनि यौ फण्फिञ्चौ तयोर्वा उन्भवति प्राग्द्रवीयेऽजादौ त्ये विवक्षिते । पूर्वेण नित्ये उपि प्राप्ते विभाषेयम् । गार्ग्यस्यापत्यं युवा “यजिञ्चोः” [३१११३०] इति फण् । गार्ग्यायणः । तस्य यूनश्छात्राः गार्गीया गार्ग्या वा । फिञ्चः खल्वपि । यस्कस्यापत्यं “शिवादिभ्योऽण्” [३१११०१] यास्कः । यास्कस्यापत्यं युवा “द्वयचोऽण्” [३१११४३] इति फिञ् । यास्कायनिः । तस्य यूनश्छात्राः यास्कीयाः । यास्कायनीयाः ।

तस्यापत्यम् ॥३११७७॥ तस्येति तासमर्थात् अपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । हृदयनिर्देशे लिङ्गवचनानादिकमविवक्षितमप्राधान्यात् । उपगोरपत्यं औपगवः । तान्तादण् । उक्त्वार्यस्यापत्यशब्दस्य निवृत्तिः । “सुपो धुमदोः” [११७१४२] इति सुप उप् । ऐप् । आश्रवपतः । दैत्यः । सैन्यापत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौत्सः । वृत्तौ स्वभावत एकार्थीभावः । प्रकृत्यर्थो विशेषणभूतोऽप्रधानम् । त्यार्थस्य सामान्येन प्रवृत्तस्य विशेषेऽवस्थापनात्त्यार्थः प्रधानम् । गुणप्रधानभावेन प्रकृतिस्त्यश्च त्यार्थं सह ब्रूत इति । ननु च तस्येदं विशेषणं (सामान्यम्) एते अपत्यं समूहो निवासो विकार इति । तस्येदमित्येव सिद्धं किमर्थमिदमुच्यते ? बाधकवाधनार्थम् । भानोरपत्यं भानवः । श्यामगवः । दुल्लक्षणश्छो बाधितः । “तस्यापत्यम्” “अद्वाहादेरिञ्” [३११८५] इत्येव वक्तव्ये इह करणं पूर्वेरुत्तरैश्च त्यैरभिसंबन्धो यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

पौत्रादि वृद्धम् ॥३११७८॥ पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । विशदित्वाद्ज् । प्रथमादिति वर्तमानमर्थवशात्तया विपरिणाम्यते । प्रथमस्य पौत्रादि यदपत्यं तद् वृद्धसंज्ञं भवति । संज्ञाविषयस्य प्रथमस्य गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः । “वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ञ्जः” [३११८०] इति वर्तमाने “गर्गादिर्थञ्” [३१११४४] इति यञ् । पौत्रादीति किम् ? गर्गिः । अनन्तरमपत्यं वृद्धं मा भूत् ।

एकः ॥३११७९॥ वृद्धमिति वर्तते । वृद्धेऽपत्ये विवक्षिते एक एव त्यो भवति । स्वस्याः स्वस्याः प्रकृतेरपत्यमेदविवक्षितायामनेकं त्यं बुद्ध्या समुदायीकृत्य नियमः क्रियते । यदिदं गर्गादिपितृकमपत्यजातं वृद्धं

तस्मिन्नेक एव ल्यो भवति । स च परमप्रकृतेर्भवति । यदपि व्यवहितेन जनितमपत्यं तदपि परमप्रकृतेः सामान्येनापत्यं भवत्येव । यदपि सर्वेऽप्यपत्येन युज्यन्ते तथापि प्रथमादित्यनुवर्तनात् परमप्रकृतेरेव भविष्यति गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः । तत्सुतोऽपि गार्ग्यः । एवं व्यवहितेऽपि वृद्धापत्ये विवक्षिते गर्गशब्दाद् यत्नेव भवति । अथवा प्रकृतिनियमोऽयं वृद्धापत्ये विवक्षिते एक एव शब्दः प्रथमा प्रकृतिः त्यमुत्पादयति नान्येति प्रकृतिर्नियम्यते । एवं नडस्यापत्यं नाडायनः ।

ततो यूनि ॥३११८०॥ ततो वृद्धत्यान्ताद् यून्यपत्ये विवक्षिते एक एव ल्यो भवति । गार्ग्यस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः । दाक्षायणः । औपगविः । नाडायनिः ।

जीवति तु वंश्ये युवाऽस्त्रो ॥३११८१॥ वंशः पितृपितामहादिप्रबन्धः; तत्र भवो वंश्यः पित्रादिः । पौत्रादीति वर्तते । तच्चार्यवशात् तान्तं संबध्यते । पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादिकं तद्वंशे जीवति युवसंज्ञं भवति स्त्रियं वर्जयित्वा । गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः । दाक्षेर्दाक्षायणः । अस्त्रियामिति किम् ? गार्ग्यस्यापत्यं स्त्री गार्गी । दाक्षी । तु शब्दो वृद्धसंज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थम् । इह दोषः स्यात् । सालङ्करपत्यं युवा “यजिजोः” [३१११०] इति फण् । पैलस्यापत्यं युवा “द्वयचोऽणः” [३१११४३] इति फिञ् । तथोयूनि “पैलादेः” [११११२१] इत्युबु भवति । वृद्धसंज्ञासमावेशे तु “वृद्धेऽप्यनुप्” [३११७३] इति प्राग्भवीये अजादावनुप् प्रसज्येत । अस्तु “यूनि” [३११७२] इति भविष्यति । इह तर्हि दोषः । “फण्फिजोर्वा” [३११७६] इति उबिभाष्यते । उप्पक्षेऽपि वृद्धसंज्ञासमावेशे “वृद्धेऽप्यनुप्” [३११७३] इति अनुपप्यात् । अथासमावेशे कथं वृद्धलक्षणो बुज् गार्ग्यायणानां समूहः गार्ग्यायणकम् । वक्ष्यति “वृद्धोक्षोऽप्यु” [३१२३४] आदिसूत्रे वृद्धग्रहणेनैव सिद्धे राजन्यमनुष्यग्रहणं शापकमपत्याधिकारादन्यत्र वृद्धग्रहणे लौकिकं गोत्रग्रहणम् । तेन वृद्धयूयोः समावेशः ।

भ्रातरि च ज्यायसि ॥३११८२॥ पौत्रादिरपत्यमिति वर्तते । भ्रातरि च ज्यायसि जीवति कनीयान् भ्राता युवसंज्ञो भवति । मृतेऽपि वंश्ये यथा स्यादित्यारम्भः । भ्राता वंश्यो न भवति साक्षात् परम्परया वा । अकारणत्वाद्गार्ग्यस्य द्वौ पुत्रौ ज्यायसि जीवति कनीयान् गार्ग्यायणः । एवं दाक्षायणः । ज्यायांस्तु भ्राता गार्ग्यो दाक्षिरिति ।

वान्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति ॥३११८३॥ पौत्रादेरपत्यमिति वर्तते । येषां सप्तमः पुरुष एकस्ते सपिण्डाः परस्परम् । बसे यसे वा सपिण्डशब्दः । समानस्य सभाव इहैव निपातितः । प्रकृतं जीवतीति शत्रन्तं स्थविरतरस्य विशेषणम् । इदं तु जीवतीति पदं तिङन्तं संज्ञिनो विशेषणम् । भ्रातुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति पौत्रादेरपत्यं यज्जीवति तद्वा युवसंज्ञं भवति । गार्ग्यायणो गार्ग्यः । दाक्षायणो दाक्षिः । अन्यग्रहणं किम् ? भ्रातरि इति वर्तते । तस्मिन्नेव सपिण्डे पितृव्यपुत्रे जीवति स्यात् । सपिण्डग्रहणमसम्बन्धान्यसम्बन्धनिरासार्थम् । ज्यायसीति वर्तमाने स्थविरतरग्रहणं किम् ? स्थानवयोभ्यां ज्येष्ठे सपिण्डे यथा स्यात् भ्रातृव्ये वयोज्येष्ठे पितृव्यः कनीयाम् युवसंज्ञो न भवति । जीवतीति किम् ? मृते गार्ग्य एव ।

पूजाकुत्सयोर्व्यत्ययः ॥३११८४॥ वेति वर्तते । परस्परविषयगमनं व्यत्ययः । वृद्धस्य युवसंज्ञा यूनश्च वृद्धसंज्ञेत्यर्थः । पूजायां कुत्सायां च गम्यमानायां यथासंख्यं वृद्धयूनोर्वा व्यत्ययो भवति । पूजायाम्-तत्रभवान् गार्ग्यायणः; तत्रभवान् गार्ग्यो वा । युवसंज्ञासामर्थ्यात् वृद्धत्यस्य युवत्येन योगः । कुत्सायां गार्ग्यस्त्वं जालम् । गार्ग्यायणस्त्वं जालम् । वृद्धसंज्ञासामर्थ्यात् युवत्यस्य निवृत्तिः ।

अद्वाहादेरिच् ॥३११८५॥ तस्यापत्यमिति वर्तते । अकारान्तेभ्यो मृद्ग्रथः बाहु इत्येवमादिभ्यश्च अनन्तरे वृद्धे युवसंज्ञके चाऽपत्ये इज् भवत्ययोऽपवादः । आकम्पनिः । दाक्षिः । औपगविः । अनकार-

न्तार्थं बाधकबाधनार्थं च बाह्यादिग्रहणम् । बाह्विः । औपवाकविः । बाहु उपवाकु निवाकु वराकु उपविन्दु एभ्योऽण् प्राप्तः । बला “द्वयच” [३।१।११०] इति ढण् प्राप्तः । वृकला बलाका मूषिका भगला लगहा ध्रुवका सुमित्रा दुर्मित्रा एभ्यः “स्त्रीभ्यो ढण्” [३।१।१०६] इति ढण् । मानुषीलक्षणो वा ढण् स्यात् । पुष्करसत् अनुरदत्^१ अनुशक्तिकादित्वादनयोः पदद्वयस्यैप् । देवशर्मन् अग्निशर्मन् इन्द्रशर्मन् कुनामन् पञ्चन् सतन् । “अमितौजसः सखं च” [वा०] सुधावत् उदञ्च अञ्चेर्निपातनात् नलाभावः । शिरस्-शिरोमात्र-स्यापत्यं नास्ति इति तदन्तविधिः । हातिशीर्षिः । पैलुशीर्षिः । शिरसः शीर्षादेशो वक्ष्यते । माषशराविन् जेमवृत्विन् शृङ्खलतोदिन् खरनादिन् निपातनादणत्वम् । नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् लोम्ना तदन्तविधिः इत उत्तरं प्रागुदङ्कशब्दात् “कुर्वन्धक्” [३।१।१०३] आदिनाऽण् प्राप्तः । अजीगर्तं कृष्ण युधिष्ठिर अर्जुनं साभ्र गद प्रद्युम्न राम संकर्षण मथ्यन्दिन सत्यक उदक । “संभूयोऽम्भसोः सखं च” [वा०] ख्याताख्या-तयोः ख्यते संप्रत्यय इति । तेन बाह्यादिप्रभृतिषु येषां लौकिकगोत्रभावं प्रति प्रवर्तकत्वमस्ति तेभ्य एव इत्यादयः । इह माभूत् बाहुनाम कश्चित् तस्यापत्यं बाहवः । आकृतिगणत्वादस्याज्वन्धविः । आजवेनविरिति ।

सुधातुरकङ् च ॥३।१।८६॥ सुधातृशब्दादिञ् भवति तत्सन्नियोगेन अकङ्कादेशश्च । सुधातुर-पत्यं सौधातकिकः । “व्यासवर्ण्डनिपादचण्डाद्विर्बाहीनामिति वक्तव्यम्” [वा०] । न वक्तव्यम् । अव्यविक-न्यायेन कान्तेभ्य एव त्यविधिः । वैयासकिकः । वारुडकिकः । नैषादकिकः । चाण्डालकिकः । वैम्बकिकः । कार्मारकिकः ।

वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ङफः ॥३।१।८७॥ वृद्धसंज्ञके अपत्ये विवक्षिते कुञ्ज इत्येवमादिभ्यो ङफो भवति । इजोऽपवादः । आदौ जकारः “व्रातञ्फादस्त्रियाम्” [४।२।२] इति विशेषणार्थः । कुञ्जस्यापत्यं पौत्रादि कौञ्जायन्यः । कौञ्जायन्यौ । कौञ्जायनाः । “व्रातञ्फादस्त्रियाम्” [४।२।२] इति स्वार्थे ङ्यो भवति त्रिसंज्ञः । कुञ्ज ब्रध्न शङ्ख गण लोमन् लोमशब्देन तदन्तविधिरिति केचित् । भस्मन् शट् । अयं गर्गादिष्वपि । शाक शौण्ड शुभ विपास् । अयं शिवादिष्वपि । स्कन्द स्कम्भ । वृद्ध इति किम् ? कुञ्जस्यापत्यमनन्तरं कौञ्जिः । वृद्ध इत्ययमधिकारश्च “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यतः प्राक् ।

नडादेः फण् ॥३।१।८८॥ नड इत्येवमादिभ्यो वृद्धेऽपत्ये फण् भवति । नडस्यापत्यं वृद्धं नाडायनः । वृद्ध इत्येव । अनन्तरो नाडिः । नड चर वक मुञ्ज इतिक इतिश उपक लमक शलङ्कु शलङ्कञ्चादेशं लभते । शालङ्कायनः । कथं शालङ्कायनः ? कथं सालङ्किकः पिता सालङ्किकः पुत्रः [सन्नङ्क] शालङ्क इति प्रकृत्यन्तरमस्ति । अथवा पैलादिषु पाठसामर्थ्यात् इजपि भवति । पञ्चपूल वाजव्य तिक अग्निशर्मन् वृषगणे । गोत्रे आग्निशर्मायणो भवति वार्षगणश्चेत् । आग्निशर्मिन्यः । प्राण नर सायक दास मित्र द्वीप तगर पिङ्गल किङ्कर कथन कतर कतल काश्य काव्य सैव्य अजावाव्य स्तम्भ शिंशपा अमुष्य निपातनात् साधुः । कृष्णरथौ ब्राह्मणवाशिष्ठयोः । यथाक्रमं ब्राह्मणवाशिष्ठेऽर्थे । अजमित्र लिगु चित्र कुमार । क्रोष्टु-रपत्यं क्रोष्टवं च । लोह हुर्गं अग्र तृण शकट सुमत मिमत ब्राह्मण चटक । ऐरोपीष्यते । घाटकैर बंदर अश्वल अस्वर कामुक ब्रह्मदत्त उदम्बर अलोह दण्डया । अन्ये इमानपि पठन्ति वक्ष्यमाणान् । क्व् जत् इत्वत् जनत्वत् हिंसक दण्डिन् हस्तिन् पञ्चाल चमसिन् । लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । नडो नाम कश्चित्तस्यापत्यं नाडिः ।

हरिताद्यञः ॥३।१।८९॥ हरितादिर्विदाद्यन्तर्गणः । हरितादिभ्योऽजन्तेभ्यः फण् भवति । इजोऽ-पवादः । इह वृद्धग्रहणमनुवर्तमानमजो विशेषणम् । वृद्धे योऽण् विहितस्तदन्तात् फण् एक इति निय-माद्युनि द्रष्टव्यः । हरितस्यापत्यं युवा हरितायनः । कैन्दासायनः ।

यजिञोः ॥३।१।६०॥ अत्रापि वृद्धग्रहणं यजिञोर्विशेषणम् । वृद्धे विहितौ यौ यजिञौ तदन्तात्फण् भवति । सामर्थ्याद्यनीति शतव्यम् । गार्ग्यायणः । दाक्षायणः । इह गार्ग्या अपत्यं गार्गेय इति लिङ्ग-विशिष्टस्य ग्रहणेऽपि परत्वादङ्ग्यं भवति ।

शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु ॥३।१।६१॥ वृद्ध इति वर्तते । शरद्वत् शुनक दर्भ इत्येतेभ्यः फण् भवति यथासंख्यं भार्गवे वात्स्ये आग्रायणे चापत्येऽभिधेये । शारद्वतायनो भवति भार्गव-श्चेत् । शारद्वतोऽन्यः । शौनकायनो भवति वात्स्यश्चेत् । शौनकोऽन्यः । दार्भायणो भवति आग्रायणश्चेत् । दार्भिरन्यः । शरद्वत्शुनकशब्दौ विदादिषु पठ्येते ।

द्रोणपर्वतजीवन्ताद्वा ॥३।१।६२॥ द्रोण पर्वत जीवन्त इत्येतेभ्यो वृद्धापत्ये फण् च भवति । द्रोणायणः । द्रौणिः । पार्वतायनः । पार्वतिः । जैवन्तायनः । जैवन्तिः । वृद्ध इत्येव । द्रौणिः ।

विदादिभ्योऽनृष्यानन्तर्येऽञ् ॥३।१।६३॥ वृद्ध इति वर्तते । विद इत्येवमादिभ्यः अनृषीणामानन्तर्ये अञ् भवति । विदस्यापत्यं वैदः । विद उर्वं कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात किन्दर्भ विश्वानर ऋष्टिषेण ऋतभाग हर्यश्च प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक धेनु गोपवन शिश्रु विन्दु भाजन तामज अश्ववतान श्यामाक श्यापर्यं गोपवनादिप्रतिषेधः प्राग्घरितादेः इत ऊर्ध्वं बहुत्वेऽत्र उच्चेव भवति । हरित किन्दास वह्यस्क अकलूष वध्योग विष्णु वृद्ध प्रतिबोध रथन्तर गविष्ठिर निपाद निषादशब्दस्य “सुषातुरकङ् च” [३।१।८६] इत्यत्र नैषादकिङ्कोऽनन्तरे वृद्धे परत्वादयमञ् । मठर । अयं गोपवनादिष्वपि मठराद्यपि । एते हरितादय इत्याचार्यस्मृतिः । पृदाक सृदाक पुनर्भादिष्वनन्तरेऽपत्ये पुनर्भू पुत्र दुहितृ ननान्द परस्त्री परशुं च या तु सवर्णा परस्य स्त्री परस्त्री सा कल्याण्यादिषु पठ्यते पारस्त्रियेणः । वृद्ध इत्येव । अनन्तरो वैदिः । बाहादेराकृतिगणत्वाद् ऋष्यण् न भवति लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । वैदो नाम कश्चित् तस्य वैदिः । अनृष्यानन्तर्यं इति किमर्थम् ? पुनर्भूप्रभृतीनामनृषीणामानन्तर्यं अनन्तरेऽपत्ये अञ्चेदित्यव्यः । ये तु ऋष्य-पत्यानां नैरन्तर्यं प्रतिषेधमाचक्षते । तेषां कौशिको विश्वामित्र इति न स्यात् । ऋष्यानन्तर्यं प्रतिषेधो नास्ति । इन्द्रभूः सतमः काश्यपानाम् । भारद्वाजानां कतमोऽसीति “तस्येवम्” [३।३।८८] इत्यथा भविष्यतीति ।

गर्गादेर्यञ् ॥३।१।६४॥ वृद्ध इति वर्तते । गर्ग इत्येवमादिभ्यः वृद्धापत्ये यञ् भवति । गर्गस्यापत्यं गौत्रादि गार्ग्यः । गर्ग वत्स “बाजावसे” [सू० ग०] । अस इति किम् ? सौवाजिः । संकृति अत्र व्याघ्रपात् विदभृत् पुलस्ति प्राचीनयोग पुलस्त्यशब्दात् ऋष्यणि पौलस्त्यः । स्त्रियामणि पौलस्त्यी । यजि पौलस्त्यायनीति विशेषः । रेभ अग्निवेश शङ्ख शट धूम अवट मनस् धनञ्जय वृद्ध विश्वावसु जरमाण लोहित संशित बभ्रु मण्डु मङ्कु सङ्कु शङ्कुलि गुगुलु जिगीषु मनु मन्तु तन्तु मनायी टण् प्राप्तः । “भस्य हृत्यढे” [वा०] इति पुंवद्भावः कस्मान्न भवति । कौडिन्यागस्ती इति निर्देशात् । यदि यजि पुंवद्भावः स्यात् , कुण्डिनी-शब्दस्य पुंवद्भावे टिखे च कृते कौण्डिन्य इति न स्यात् । सन्तु कथक रुद्ध तलुद्ध तणु वतण्ड कपि कत सकल कुक्कत । अयमनुशतिकादौ । अनडुह कण्ठ गोकन्त अगस्त्य कुण्डनी यज्ञवल्क अभयजात विरोहित वृषगण्य रडू गण्य शण्डिल मुद्गल मुसल पराशर जतूकर्ण मन्त्रित अश्मरथ शर्करान्द पूतिमाष स्थूर अरराक वामरथ पिङ्गल कृष्ण गोलुन्द उल्लूक तितम्भ तितव मिषज तिलज भण्डित चेकित देवहू इन्द्रहू एकहू एकलू पिप्लु बृहदमि सुलामिन् कुटीगु उक्थ । वृद्ध इत्येव । आनन्तरो गार्गीः । कथमनन्तरो जामदग्न्यो रामः पाराशर्यो व्यास इति ? गोत्राध्यारोपेण । अनन्तरापत्ये ऋष्यणा भवितव्यम् । लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । यो गोत्रस्याप्रवर्तको गर्गस्तस्यापत्यं वृद्धं गार्गीः ।

मधुबभ्रुर्ब्राह्मणकौशिकयोः ॥३।१।६५॥ वृद्ध इति वर्तते । मधु बभ्रु इत्येताभ्यां यञ् भवति यथासंख्यं ब्राह्मणे कौशिकेऽत्राभिधेये । माधव्यो ब्राह्मणश्चेत् । माधवोऽन्यः । बाभ्रव्यः कौशिकश्चेत् । बाभ्र-

वोऽन्यः । बभ्रु शब्दो गर्गादिषु पठ्यते । तस्येह नियमार्थं वचनम् । कौशिक एव यथा स्यात् । गर्गादिषु पाठो लोहितादिकार्यार्थः । बाभ्रुव्यायणी । अथ गणो एव कौशिकग्रहणं कर्तव्यम् । इह करणं वृद्धार्थम् । ननु गणोऽपि वृद्धे यञ्चिहितः । इदमेव तर्हि शापकं गणपाठे क्वचिदनन्तरापत्येऽपि यञ् भवति । जामदग्न्यो रामः । पारशर्यो व्यास इति ।

कपिबोधादाङ्गिरसे ॥३११६६॥ वृद्ध इति वर्तते । कपिबोधशब्दाभ्यां यञ् भवति आङ्गिरसेऽपत्यविशेषे । काप्यः आङ्गिरसश्चेत् । अन्यत्र “इतोऽनिजः” [३१११११] इति दृष्टिं कापेयः । बौध्वा आङ्गिरसश्चेत् । बौधिरन्यः । इ ऽपि कपिशब्दस्य गर्गादिषु पाठः । तस्य नियमार्थं वचनम् । आङ्गिरस एव यञ् । गर्गादिषु पाठो लोहिताद्यर्थः । काप्यायनी । मधुबोधयोस्तु यत्स (यञि) तथोक्तमयम् । माधवी माधव्यायनी । बौधी बौध्यायनी ।

वतण्डात् ॥३११६७॥ आङ्गिरस इति वर्तते । वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे वृद्धे यञ् भवति । वातण्ड्यः । आङ्गिरस इत्येव । अनाङ्गिरसे शिवादिपाठादण् वातण्ड इति । गर्गादिषु पाठादनाङ्गिरसे यञ् लोहितादिकार्यार्थः । वातण्ड्यायनी ।

स्त्रियामुप् ॥३११६८॥ आङ्गिरस इति वर्तते । वतण्डशब्दादाङ्गिरस्यां स्त्रियां यञ् उन्भवति । वतण्डस्यापत्यं वृद्धा स्त्री वतण्डी । यञ् उपि “जातेरयोः” [३११५३] इति ङीविधिः । आङ्गिरस इत्येव । वातण्ड्यायनी । शिवाद्यणि वातण्डा । वृद्धादन्यत्र वातण्डी ।

अश्वदेः फञ् ॥३११६९॥ वृद्ध इति वर्तते । आङ्गिरस इति निवृत्तम् । अश्व इत्येवमादिभ्यो वृद्धे फञ् भवति । अश्वस्यापत्यं आश्वयनः । अश्व अश्वमन् शङ्ख शूद्रक कुञ्जादिषु गर्गादिषु च पठ्यते । विद पुट रोहिण्य खद्वार खञ्जर खजूर वटिल भण्डिल भटल भडित भण्डित प्रद्वत रामोद क्षत्र ग्रीवा काश काण्य वात गोलाङ्क अर्कं स्वन ध्वन पत पाद चक्र कुल अविष्ट पविन्द पवित्र गोमिन् श्याम धूम्रवाग्मिन् विश्वानर स्फुट कुट कुटि शपादात्रेये । शापिरन्यः । जनक सनक सनक ग्रीष्म अर्ह वीच रीक्ष^२ विशम्प विशाल गिरि चपल चुप दासक । येऽत्र वृद्धत्यान्तास्तेभ्यः सामर्थ्यात् यूनि फञ् द्रष्टव्यः । वैश्य वैत्व वाद्य आनडुह्य धाप्य जात शब्दात् पुंसि । जातेयोऽन्यः । अर्जुन । अस्य बह्नादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । शूद्रक सुमनस् दुर्मनस् । आत्रेयाद्भारद्वाजे । आत्रेयिरन्यः । भारद्वाजादात्रेये । विदाद्यणि भारद्वाजोऽन्यः । उत्स उत्सादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । आतव कितव किब शिव खदिर वृद्ध इत्येव । आश्विः । लौकिक गोत्र इत्येव । गोत्रस्या प्रवर्तको योऽश्वः तस्यापत्यमेकान्तरितमाश्विः ।

भर्गात् त्रैगर्ते ॥३११७०॥ वृद्ध इति वर्तते । भर्गशब्दात् फञ् भवति त्रैगर्तेऽपत्यविशेषे । भार्गायणो भवति त्रैगर्तेश्चेद् । भार्गिरन्यः ।

शिवादिभ्योऽण् ॥३११७१॥ वृद्ध इति निवृत्तम् । इत् उद्ध्वं सामान्येनापत्ये त्वविधानम् । शिव इत्येवमादिभ्योऽण् भवत्यपत्यमात्रे । इजादीनामपवादः । शिवस्यापत्यं शैवः । शिव प्रोष्ठ प्रोष्ठिक चण्ड बभ्रु भूरि । अस्मात् “इतोऽनिजः” [३१११११] इति दृष्टिं प्राप्तः । कुठार अन^३ भिग्लान सन्धि मुनि ककुत्स्य कोहड कडूय रोवाविरल (रोष विरल) वतण्ड । स्त्रियां वातण्ड्या । तृण कर्ण क्षीर हृदय परिषिक गोपिलका कपिलका जटिलका वधिरका मञ्जोरक वृष्णिक खञ्जर खञ्जल रेभ आलोखन विभक्ण रक्ण । विभवतोऽपत्यमिति विग्रह्य विभवण्यारवणादेशौ । प्रकृत्यन्तरे वा । अव्यविकन्यायेन ताम्यामेवाण् । वर्तनाच्च विकट पिटक तृक्षक विभाग नभाक तटाक ऊर्णनाम जरत्कारु उत्क्रोयस्तु रोहितिका आर्यक्षेता । आभ्यां ‘स्त्रीभ्यो ङण्’

[३।१।१०६] प्रातः । सुपिष्ट मयूरकर्णं खलुरकर्णं तद्वन् । अत्र कारिलक्ष्णस्य इजो बाधा । ग्यस्त्विष्यत एव । तान्तर्य इति । ऋषिषेण । विदादिष्वस्य पाठो वृद्धार्थः । गङ्गा । अत्र नदीलक्ष्णस्यागो “द्वयचः” [३।१।११०] इति टण् बाधकः तमपि बाधित्वा “द्वयचो नद्याः” इत्यण् प्रातः । तस्यापि तिकादिषु पाठात् फिञ् बाधकः स्यात् । अयं गङ्गाशब्दः शुभ्रादिषु च पठ्यते । तेन त्रैरूप्यम् । गाङ्गः । गाङ्गायनिः । गाङ्गेयः । विपाश । अत्रापि नदीमानुषीलक्ष्णस्याणः “द्वयचः” [३।१।११०] इति टण् बाधकः । तमपि “द्वयचो नद्याः” इत्यण् बाधते । तमपि बाधित्वा कुञ्जादिलक्ष्णो ञ्फ एव स्यात् । द्वैरूप्यं चेभ्यते । वैपाशः वैपाशायन्य इति । यस्क लह्य दुह्य अयस्थूण भलन्दन विरुपाक्ष विरुपा भूमि इला सपत्नी । “द्वयचो नद्याः” इति गणसूत्रम् । अन्यथा “द्वयचः” [३।१।११०] इति टण् प्रसज्येत । त्रिवेणी त्रिवेणं च ।

नदीमानुषीभ्योऽदुभ्यस्तदाख्याभ्यः ॥३।१।१०२॥ नदीमानुषीभ्य इत्यर्थनिर्देशः । नदीमानुषीवाचिप्रकृतिभ्योऽदुसंज्ञाभ्यस्तदाख्याभ्योऽण् भवति । टणोऽपवादः । यमुनाया अपत्यं यामुनः प्रयोता । हरावत्या अपत्यम् ऐरावतः । उद्धयः । वितस्तायाः पलालशिराः वैतस्तः । नर्मदाया नीतो नार्मदः । मानुषीभ्यः-चिन्तितायाः चैन्तितः । सुदर्शनायाः सौदर्शनः । स्वयंप्रभायाः स्वयंप्रभः । नदीमानुषीभ्य इति किम् ? सौपर्ण्यः । वैनतेयः । सुपर्णा विनता च देव्यौ । अन्येषां पत्नियौ । अदुभ्य इति किम् ? चान्द्रभागायाः चान्द्रभागेयः । वायुवेगेयः । तदाख्याभ्य इति किम् ? या (भ्यः), काभ्यः । प्रकृतिभ्योऽण् प्राथ्यते ता एवाख्या नामधेयानि नदीमानुषीणां यदि भवति । तेनेह न भवति । शोभनाया अपत्यं शौभनेयः । पुरस्तादपवादोऽयमिति अनन्तरमणं बाधते न व्यवहितं “क्षुद्राभ्यो वा” [३।१।१२०] इति टणम् । पुलिकायाः पौलिकेरः ।

कुर्वृष्यन्धकवृष्णोः ॥३।१।१०३॥ कुरवः अन्धकाः वृष्णयश्च क्षत्रियवंशाख्याः । ऋषयश्चेह ग्राम्या मठपतयो वशिष्टाद्या गृह्यन्ते । महर्षीणामर्हिसादिव्रतोपपन्नानामपत्यापत्यवत्सभ्यन्धो नास्ति । कुरु-ऋषि-अन्धकवृष्णिवाचिभ्यो मृद्भ्यः सामान्येनापत्येऽण् भवति । इजोऽपवादः । कुरुभ्यः-नाकुलः । साहदेवः । दौर्योधनः । ऋषिभ्यः-त्राशिष्टः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः-श्वाफल्कः । रान्धसः । श्वैत्रकः । वृष्णिभ्यः-अदारः प्रातिवाहः । वासुदेवः । आनिरुद्धः । इह आत्रेयः इति परत्वाङ्ङण् । यद्यपि भीमसेनः कुरुः, जातसेन ऋषिः । उग्रसेनोऽन्धकः, विष्वक्सेनो वृष्णिस्तथापि परत्वात्सेनान्तलक्षणो एव इच्च भवति । मध्येऽपवादोऽयं पूर्वं भित्तं बाधते ।

मातृरुत्संख्यासंभद्रादेः ॥३।१।१०४॥ मातृशब्दस्य संख्यासंभद्रादेः उकारश्चान्तादेशो भवति अण् चाधिकारात् । द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरो भरतः । शातमातुरः । सांमातुरः । भाद्रमातुरः । अभिधान-वशात् जननीपर्यायस्य मातृशब्दस्य ग्रहणम् । संख्यासंभद्रादेरिति किम् ? सौमात्रः । वैमात्रेयः । विमातृशब्दः शुभ्रादिषु पठ्यते ।

कन्यायाः कनीन च ॥३।१।१०५॥ कन्यायाः कनीन इत्ययमादेशो भवति । अण् च तस्मात् । द्योऽपवादः । कानीनः कर्णः । कानीनो हि नारकः ।

विकर्णं शुङ्गकुगलाद्भ्रत्सभरद्वाजात्रिषु ॥३।१।१०६॥ विकर्णं शुङ्ग कुगल इत्येभ्यः अण् भवति यथासंख्यं वात्स्ये भारद्वाज आत्रेये चापत्यविशेषे । वत्सभरद्वाजात्रिष्वित्यत्र वत्सादयः शब्दा उपचारात् वृद्धत्वा-न्तेषु वर्तमाना गृह्यन्ते । वैकर्णो भवति वात्स्यश्चेत् । वैकर्णिरन्यः । काश्यपे वैकर्ण्येयः । शौङ्गो भवति भार-द्वाजश्चेत् । शौङ्गिरन्यः । लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणे शुङ्गाया अपत्यं सौङ्गो भवति भारद्वाजश्चेत् । अन्यत्र सौङ्गेयः । कुगलो भवति आत्रेयश्चेत् । कुगलिरन्यः ।

पीलाया वा ॥३१११०७॥ पीला तदाख्या मानुषी । पीलाया अपत्ये वाऽण् भवति ।
पैलः । पैलेयः ।

ढण् च मण्डूकात् ॥३१११०८॥ मण्डूकशब्दाड्ढण् भवति चकारादण् च वा । तेन त्रैरूप्यम् ।
माण्डूकेयः । माण्डूकः । मण्डूकिः । स्त्रियां माण्डूकेयी । अणान्तस्य “कारव्यासुरिमाण् कात्” [३११११] इति फटि कृते माण्डूकायनी । ढणान्तस्य माण्डूक्या ।

स्त्रीभ्यो ढण् ॥३१११०९॥ इह स्त्रीग्रहणेन स्त्रियामित्येवं विहिताष्टाबादयः स्त्रीत्या गृह्यन्ते । स्त्र्यर्थ-
ग्रहणं तु न भवति । शुभ्रादिषु मातृशब्दस्य पाठाऽशयते । स्त्रीत्यान्तेभ्यो ढण् भवत्यपत्ये । सौपर्येयः ।
वैनतेयः । वायुवेगेयः । स्त्रीत्यग्रहणमिति विशेषणं किम् ? स्त्र्यर्थं मा भूत् । इडबिडः स्त्रिया अपत्यम् ; दरदः
अपत्यम् ऐडबिडः, दारदः । “पीलाया वा” [३१११०७] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या वेति व्यवस्थितविभाषा वर्तते ।
तेन षडवायाः वृषे वाच्ये ढण् भवति । वाडवेयो वृषः । अपत्ये वाडव इति । क्रुञ्चक्रोकिलाभ्यामण् भवति ।
क्रुञ्चाया अपत्यं क्रौञ्चः । क्रोकिलाया अपत्यं क्रौकिलः ।

द्वयच्चः ॥३११११०॥ द्वयचश्च स्त्रीत्यान्तादपत्ये ढण् भवति । मानुषीलक्षणस्याणोऽपवादः ।
दत्ताया दात्तेयः । गुप्ताया गौप्तेयः ।

इतोऽनिञ्चः ॥३१११११॥ स्त्रीभ्य इति निवृत्तम् । अविशेषेण स्त्रियाश्च विधानाद् द्वयच इति
वर्तते । इकारान्तान्मृदोऽनिञ्चान्ताड्ढण् भवति । वलेरपत्यं वालेयः । नाभेयः । आत्रेयः । दौलेयः । इत इति
किम् ? दाक्षिः । अनिञ्च इति किम् ? दाक्षायकाः । द्वयच इत्येव । मरीचेरपत्यं मारीचः ।

शुभ्रादेः ॥३११११२॥ शुभ्र इत्येवमादिभ्यो ढण् भवति । इआदीनामपवादः । शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः ।
शुभ्र विष्टपुर पिष्टपुर ब्रह्मकृत शतद्वार शतहार शलाथल शलाकाभ्रू लेखाभ्रू विषवा कृकसा रोहिणी रुक्मिणी
विकचा विवसा इलिका दिशा शालुका अजवस्ति शकन्धि । लक्ष्मणश्यामयोर्वशिष्ठे । लाक्ष्मणिरन्यः ।
श्यामायनोऽन्यः । “अरवादेः” [३१११६६] इति फञ् । गोघा । कृकलास । प्राणि विकणाचि प्रवाहण
भरत भारग मष्ट्र मकुष्ट सृकण्ड मृषण्ड कर्पूर इतर अन्यतर आलीढ सुदत्त सुदत्त सुनामन् सुदामन् कट्ट उद
अकशाप कुमारिका कुवणिका (किशोरिका) जिह्वाशिन् परिधि वायुदत्त शलाका सक्ला खड्वर अम्बिका
अशोक गन्धपिङ्गला खरोमत्ता कुदत्ता कुसम्बा शुक्र वलीवर्दिन् विस्त वीजश्वन् अश्व अक्षिर विमातृ ।
आकृतिगणश्चायम् । तेन गाङ्गेयः पाण्डवेय इत्यादि सिद्धम् ।

विकर्णकुषीतकात्कार्षणे ॥३११११३॥ विकर्णकुषीतकशब्दाभ्यां ढण् भवति कार्षयेऽपत्यवि-
शेषे । वैकर्ण्येयः कार्षपश्चेत् । वैकर्ण्यरन्यः । कौषीतकेयः कार्षपश्चेत् । कौषीतकिरन्यः ।

भ्रुवो बुक् ॥३११११४॥ भ्रुशब्दादपत्ये ढण् भवति बुक् चागमः । भ्रुवेयः ।

कल्याण्या-निामिनक् ॥३११११५॥ कल्याणी इत्येवमादीनां ढण् भवति इनडादेशश्च । येऽत्र
स्त्रीत्यान्ताः शब्दास्तेषामादेशार्थं वचनम् । ढण् पूर्वेण सिद्धः । अन्येषामुभयार्थं वचनम् । कल्याण्या अपत्यं
कल्याण्यिनेयः । सौभागिनेयः । कल्याणी सुमगा दुर्भगा बन्धकी अनुकृष्टि जरती वलीवर्दी ज्येष्ठा कनिष्ठा
मध्यमा परञ्जी जारञ्जी ।

कुलटाया वा ॥३११११६॥ कुलान्यटतीति कुलटा । अत एव निपातनात् पररूपम् । कुलटाया
वा इनडादेशो भवति । ढण् स्त्रीभ्य इत्येव सिद्धः । कौलटिनेयः । कौलटेयः । अनियतपुंस्त्वविवक्षायां पर-
त्वात् कौलट्या दूण् । कौलटेरः ।

चटकाणशैरः ॥३११११७॥ चटकशब्दाणशैरो भवति । चटकस्यापत्यं चाटकैरः । लिङ्गविशिष्ट-
स्यापि ग्रहणम् । चटकाया अपत्यं चाटकैरः । स्त्रीदणः परत्वात् शैरः । “स्त्रियामपत्ये उब्वक्तव्यः” [वा०]
चटकस्य चटकाया वा अपत्यं स्त्री चटका । “हृदुप्युप्” [११११६] इति स्त्रीत्यस्योप् । पुनष्टाप् ।

गोधाया शारः ॥३११११८॥ गोधाशब्दादपत्ये शारो भवति । गौधारः । रणा सिद्धे शारवचनं
शापकम्, अन्येभ्योऽपि भवतीति । जडस्यापत्यं जाडारः । परडस्यापत्यं पाण्डारः । पत्नस्य पात्नारः ।

दण् ॥३११११९॥ दण् च भवति गोधाशब्दात् । गौधेरः । शुभ्रादिषु पाठात् गौधेय इति
च भवति ।

क्षुद्राभ्यो वा ॥३११२०॥ अनियतपुंस्का अङ्गहीना वा क्षुद्राः । क्षुद्राभ्य इत्यर्थनिर्देशः । क्षुद्रा-
वाचिप्रकृतिभ्यः स्त्रीलिङ्गाभ्यः वा दण् भवति । दास्या अपत्यं दासेरः । दासेयः । नट्या नाटेरः । नाटेयः ।
काणायाः काणोरः । काणोयः । “द्वयचः” [३११११०] इत्ययं दण् मध्येऽपवादः पूर्वस्य नदीमानुषीलक्षणा-
स्याणो बाधकः ।

ष्वसुश्च्युः ॥३११२१॥ ष्वसुशब्दाद् श्रुकारान्तपूर्वान्तादपत्ये च्यु भवति । अणोऽपवादः ।
मातृष्वस्त्रीयः । पैतृष्वस्त्रीयः । स्वसुरिति कृतषत्वग्रहणं किम् ? भ्रातृस्वसुरपत्यं भ्रातृस्वस्रः । उरिति किम् ?
मातुःस्वसुरपत्यं मातुःष्वश्रः । “वा स्वसृपस्योः” [४१३१३७] इत्यनुप् ।

दणि खम् ॥३११२२॥ दणि परतः ष्वसुर्ध्ववर्णपूर्वस्य खं भवति । अनेनैव दण् निपात्यते । मातृ-
ष्वस्त्रेयः । पैतृष्वस्त्रेयः ।

चतुष्पाद्भ्यो ढञ् ॥३११२३॥ चत्वारः पादाः यासां ताश्चतुष्पादः । चतुष्पाद्वाचिप्रकृतिभ्यः
स्त्रीलिङ्गाभ्यो ढञ् भवति । अणादीनामपवादः । कामण्डलेयः । सैतवाहेयः । माद्रवाहेयः । जाम्बेयः । दञ्चि
सति तस्मादुत्पन्नस्य युवत्यस्योन्भवति न दणि ।

गृष्ट्यादेः ॥३११२४॥ गृष्टि इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो ढञ् भवति । अणादीणामपवादः । गृष्टेर-
पत्यं गार्ष्टेयः । अचतुष्पाद्घर्चनमिह गृष्टिशब्दो गृह्यते । गृष्टि दृष्टि इति वालि विद्वक्कादि (वािभ कुद्रि) अजवक्ति
मित्रयु मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः । “भ्रौणहृत्य” [४१४१६६] आदिना यकारादेः खं निपात्यते । बहुषु “यस्का-
दिभ्यो वृद्धे” [११४१३४] इति उप् । मित्रयवः ।

क्षत्राद् घः ॥३११२५॥ क्षत्रशब्दादपत्ये वा भवति । क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः । क्षातावभिधानम् ।
अन्यत्र क्षत्रिः ।

राजश्वशुराद्यः ॥३११२६॥ राजश्वशुरशब्दाभ्यामपत्ये यो भवति । राजोऽपत्यं राजन्यः ।
इहापि क्षातावभिधानम् । राजनोऽन्यः । श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः । ख्यातस्य सम्बन्धवचनस्य प्रेक्षणात् संशयां
श्वशुरिः ।

कुलाङ्कञ्च ॥३११२७॥ कुलशब्दादपत्ये ढकञ् भवति यश्च । कुलस्यापत्यं कौलेयकः ।
कुल्यः । इहापि भवति ईषदसिद्धं कुलं बहुकुलं “वा सुपो बहुप्राक्” [४१११२०] इति बहुत्यः । बहुकुल-
स्यापत्यं बाहुकुल्येयकः । बहुकुल्यः ।

खः ॥३११२८॥ कुलशब्दात् खश्च भवति । कुलीनः । उत्तरत्र खस्यानुवृत्तिर्यथा स्यादिति
योगविभागः ।

सादेः ॥३११२९॥ सह आदिना वर्तते इति सादिः । सादेः कुलशब्दात् खो भवति । आख्य-
कुलीनः । राजकुलीनः । क्षत्रियकुलीनः । स-त्यविधौ न तदन्तविधिरिति पूर्वेण न सिद्ध्यति ।

महतोऽग्रखञ्जौ ॥३११३०॥ महच्छब्दपूर्वात् कुलशब्दात् अग्रखञ्जौ इत्येतौ भवतः । महतः आत्वविषये अभिधानं माहाकुलः । माहाकुलीनः । केचित्त्वस्यानुवृत्तिमिच्छन्ति । महाकुलीनः । आत्वविषये इति किम् ? महतां कुलं महत्कुलं तस्मात् “खादेः” [३१११२१] इति खः । महत्कुलीनः ।

दुसो ढण् ॥३११३१॥ दुःशब्दपूर्वात् कुलादपत्ये ढण् भवति । पापं कुलं दुष्कुलम् “इदुदुकोऽस्य-पुम्सुहुसः” [५।४।२८] इति सत्वषत्वे । दुष्कुलस्यापत्यं दौष्कुलेयः । केचित् खमप्यनुवर्तयन्ति । दुष्कुलीनः ।

स्वसुशब्दः ॥३११३२॥ स्वसुशब्दादपत्ये छो भवति । अणोऽपवादः । स्वस्त्रीयः ।

भ्रातृव्यश्च ॥३११३३॥ भ्रातृशब्दादपत्ये व्यो भवति छुश्च । अणोऽपवादः । भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः । भ्रात्रीयः । कथं लोके भ्रातृव्यशब्देन सपत्नोऽभिधीयते ? उपचारात् । एकद्रव्याभिलाषश्च उपचारनिमित्तम् । सपत्नी इव सपत्नः शक्तः । पृषोदरादिपाठादकारो निपात्यते ।

रेवत्यादेष्टण् ॥३११३४॥ रेवती इत्येवमादिभ्योऽपत्ये ठण् भवति । अणादीनामपवादः । रेवत्या अपत्यं रैवतिकः । रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकवाञ्छिन वृकग्राह कर्णग्राह दण्डग्राह कुक्कुटाक्ष ।

वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णश्च ॥३११३५॥ पौत्रायपत्यं वृद्धं क्षेपः कुत्सा । वृद्धस्त्रीवाचिशब्दादपत्ये णो भवति ठण् च क्षेपे गम्यमाने । गार्ग्या अपत्यं युवा गार्गो जाल्मः । गार्गिको जाल्मः । ग्लुचुकायन्या अपत्यं युवा ग्लौचुकायनो जाल्मः । ग्लौचुकायनिको जाल्मः । क्षेपश्चात्र प्रतिषिद्धाचरणेन पितुरज्ञानाद्वा गम्यते । वृद्ध इति किम् ? कारिकेयो जाल्मः । स्त्रिया इति किम् ? औपगविर्जाल्मः । क्षेप इति किम् ? गार्गेयो माणवकः ।

दोष्टण् सौवीरेषु प्रायः ॥३११३६॥ वृद्धग्रहणं चानुवर्तते । सौवीरेष्विति वृद्धविशेषणम् । सौवीरेषु यद्वृद्धवाचि दुसंशं तस्मादपत्ये प्रायश्ठण् भवति क्षेपे गम्यमाने । वेति वक्तव्ये प्रायोग्रहणं परिगणनार्थम् ।

“भागपूर्वपदो वित्तिद्वितीयस्तार्णविद्ववः । तृतीयस्वाकशापेथो वृद्धादृण बहुलं ततः ।”

भागवित्तेरपत्यं युवा भागवित्तिकः । भागवित्तायनः । तार्णविद्ववस्यापत्यं युवा तार्णविन्दविकः । तार्णविन्दविकः । अकशाप इति शुभ्रादिषु । आकशापेयस्यापत्यं युवा आकशापेयिकः । आकशापेयिः । दुग्रहणं स्त्रीनिवृत्त्यर्थमविशेषेणोच्यते । सौवीरेष्विति किम् ? औपगविर्जाल्मः । क्षेप इत्येव । भागवित्तायनो माणवकः ।

फेरञ्च च ॥३११३७॥ वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च वर्तते । फिञन्तात् सौवीरेषु वृद्धादपत्ये छो भवति ठण् च क्षेपे गम्यमाने । दोरित्यधिकारात् फेरित्यत्र फिञ एव संप्रत्ययः । यमुन्द तिकादिः । यामुन्दायनीयः । यामुन्दायनिकः । प्राय इत्यनुवर्तनादणपि भवति । तस्य फिञन्तात्परस्य “जिण्यराजार्थाद्वयुन्युब-यिजोः” [१।४।१३०] इत्युप् । यामुन्दायनिर्जाल्मः । सुयामन्—सौयामायनिकः । तस्यापत्यं युवा सौयामायनीयः । सौयामायनिकः । अणि । सौयामायनिकः । वृषस्य वार्षायणः । फिञः संनियोगे वृद्धयभावे वक्ष्यते वार्षायणेरपत्यं वार्षायणीयः । वार्षायणिक । अणि वार्षायणिः । क्षेप इत्येव । यामुन्दायनिर्माणवकः । अणोव भवति । सौवीरेष्वित्येव । तैकायनेरपत्यं युवा अण् तस्योप् । तैकायनिर्जाल्मः ।

“यमुन्दरश्च सुयामा च वार्षायणिः फिञः स्मृताः ।

सौवीरेषु च कुस्तार्णा द्वौ योगौ शब्दविस्मरेत् ॥”

फारटाहृतेर्णः ॥३११३८॥ क्षेप इति निवृत्तम् । वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च “जिण्यराजार्थाद्वयुन्युब-यिजोः” [१।४।१३०] इत्यत्र “अयिजोर्हृत्प्राक्प्राग्व्यस्योपसंख्यान्त्र” [बा०] इति उप्मा भूदिति शित्करणम् । “फिञप्यत्र भवतीति वक्तव्यम् ।” [बा०] फारटाहृतायनिर्माणवकः । सौवीरेष्वित्येव । फारटाहृतायनः । “सौवीरेषु भिमतशाब्दाण्यार्षाण्यौ वक्तव्यौ” [बा०] मैमतः । मैमतायनिकः । सौवीरेष्वित्येव । मैमतिः ।

कुर्वादेश्यः ॥३१११३६॥ सौवीरेष्विति निवृत्तम् । कुरु इत्येवमादिभ्योऽपत्ये एयो भवति । आदौ गकारः “जिगृष्यराजावात्” [१७१३०] इत्यत्र विशेषणार्थः । कुरोरपत्यं कौरव्यः । राजावात् कुरुशब्दाच्च्यो वक्ष्यते । तस्य द्विसंज्ञकत्वाद्वहुषूप् । तिकादिषु कौरव्यायणिः । कुरु गर्ग संजय अतिमारक । रथकाराजातो च । पट्टक । सम्राजः क्षत्रिये । कवि पितृमत् ऐन्द्रजालि धातुजि पेजि दामोष्णीषि । गयकारि कैशौरि कापिञ्जलादि ऐन्द्रजाल्यादिभ्यः ततो “यूनि” [३११७५] इति यूनि एयः । क्रोड कुट शलाका मुर खण्डाक एमुक शुद्धरसी केशिनी । स्त्रीलिङ्गनिर्देशसामर्थ्यात् पुंवद्भावो न भवति । शूर्पणाय श्यावनाय श्यावरथ श्यावपुत्र सत्यङ्कार वडभोकार पथिकारिन् मूढ सीद्ध भूहेतु शकशालीन इनपिण्डी वामरथ । वामरथस्य सकलादिकार्यं भवति । सकलादयो गर्गाद्यन्तःपातिनः । बहुत्वे उन्भवति वामरथाः । स्त्री वामरथी । वामरथ्यायनी । वामरथ्यायनः । वामरथ्यस्य छात्राः वामरथाः “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३११८०] इत्यण् भवतीति । वामरथानां संघः वामरथः । “संवाङ्क” [३१३१५] आदिनाऽण् ।

सेनान्तलक्षणकारिभ्य इञ् ॥३१११४०॥ कारिशब्दः कारवाचि । सेनान्तान्मृदो लक्षणशब्दात् कारिवाचिभ्यश्चापत्ये इञ् भवति एयश्च । हारिषेयः । हारिषेणिः । भैमसेन्यः । भैमसेनिः । जातसेन्यः । जातसेनिः । लाक्षण्यः । लाक्षणिः । कारिभ्यः—कौम्भकार्यः । कौम्भकारिः । तान्नुवाय्यः तान्नुवायिः । लक्षणाशब्दात् शिवादिलक्षणयोऽण् । स इञो बाधको न तु एयस्य । तेन द्वैरूप्यम् । ताक्षणः । ताक्षयः ।

तिकादेः फिञ् ॥३१११४१॥ तिक इत्येवमादिभ्योऽपत्ये फिञित्ययं त्यो भवति । तिकस्यापत्यं तैकायनिः । तिक कितव संज्ञा वाल शिला उरस् शाढ्य सैन्धव यमुन्द रूप्य नाडी^१ सुमित्रा कुरु देवर देवरथ तितिलिन् विलालिन् उरस । कौरव्य । द्विसंज्ञस्येदं ग्रहणम् । औरशब्देन राष्ट्रसमानशब्देन साहचर्यात् । कथं कौरव्यः पिता कौरव्यः पुत्रः ? अन् (अत्र) एयान्तादिञ् तस्योप् । लाङ्कव गौकक्ष्य भौरिकि चौपयत चैयत सैक्यत दौञ्जयत त्वञ्जवत् चन्द्रमस् शुभ गङ्गा वरेण्य बन्ध आरद्ध वाह्यका खल्यका लोयका सुयामन् उदन्था यज्ञ । यदिहावृद्धं दुसंज्ञं पश्यते तस्य नित्यार्थं वचनम् ।

कौशल्येभ्यः ॥३१११४२॥ कौशल्यादिभ्योऽपत्ये फिञ् भवति । बहुवचनेन कर्मारङ्गागवृषा गृह्यन्ते । कोशलस्यापत्यं कौशल्यायनिः । सर्वत्र मूलप्रकृतेः फिञ् । तस्यायनादेशे कृते कौशल्य इति । विकृत्तनिर्देशात् युट् निपात्यते । एवं दागव्यायनिः । कार्मार्यायणिः । छाग्यायनिः । वार्ष्यायणिः । राष्ट्रसमानशब्दात् कोशलात् व्यो वक्ष्यते । कर्मारशब्दात् कारिलक्षणो एयोऽपि भवति । इञः प्रयोगो नोपलभ्यते ।

द्व्यचोऽणः ॥३१११४३॥ अणन्ताद् द्व्यचो मृदोऽपत्ये फिञ् भवति । इञोऽपवादः । कर्तुरपत्यं कार्त्रायणिः । पोतुरपत्यं पौत्रः; तस्यापत्यं पौत्रायणिः । एवं शैवायनिः । द्व्यच इति किम् ? औपगविः । अण इति किम् ? दाक्षिः ।

वा वृद्धादोः ॥३१११४४॥ पौत्राद्यपत्यं वृद्धम् अवृद्धं यद्दुसंज्ञं तस्मादपत्ये वा फिञ् भवति । वायुरथायनिः । वायुरथिः । आदित्यगतायनिः । आदित्यगतिः । कारिशब्दात्परत्वादानेन भवितव्यम् । नापितायनिः । एयोऽपि भवति । नापित्यः । इञोऽभिधानं नास्ति । अवृद्धादिति किम् ? आकम्पनायनः । औपगविः । दोरिति किम् ? आश्वग्रीविः ।

वाकिनादेः कुक् ॥३१११४५॥ वेति वर्तते । वाकिन इत्येवमादिभ्योऽपत्ये वा फिञ् भवति । यदा फिञ् तदा कुगागमः । वाकिनस्यापत्यं वाकिनकायनिः । वाकिनिः । गारेवस्यापत्यं गारेवकायनिः ।

गारेविः । वाकिन गारेव कार्कद्य काक लङ् । वर्गिर्मचर्मियोर्नलं च । यदिहावृद्धं हुसंशं तस्य कुगर्थं वचनम् । अन्यस्योभयार्थम् ।

पुत्रान्ताद्वा ॥३१११४६॥ वा वृद्धादोरिति वर्तते । पुत्रान्तान्मृदो द्रुसंशकाद् वा कुगागमो भवति फिञि परतः । प्रकृतेन वाग्रहणेन फिञ् विकल्प्यते अनेन कुक् । तेन त्रैरूप्यम् । वासवदत्तापुत्रस्यापत्यं वासव-
दत्तापुत्रकायणिः । वासवदत्तापुत्रायणिः । वासवदत्तापुत्रिः । गार्गीपुत्रकायणिः । गार्गीपुत्रायणिः ।
गार्गीपुत्रिः ।

फिरद्वोः ॥३१११४७॥ त्यान्तरोपादानात् फिञि निवृत्ते तत्संबद्धः कुगपि निवृत्तः । वेति वर्तते ।
अदोर्मुदोऽपत्ये फिर्भवति वा । त्रिपृष्टायनिः । त्रैपृष्टि । श्रीविजयायनिः । श्रीविजयिः । ग्लुचुकायनिः । श्लौचुकिः ।
श्लौचुकाचनिः । श्लौचुकिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेह न भवत्येव । दाक्षिः । प्लाक्षिः । अदोरिति
किम् ? रामदक्षिः ।

मनोज्ञातौ पुक्चाऽज्यौ ॥३१११४८॥ मनुशब्दात् अज् य इत्येतौ त्यौ भवतः पुक् चागमः समुदायेन
जातौ गम्यमानायाम् । मानुषः । मनुष्यः । अपत्यापत्यवत्संबन्धद्वारेण व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । परमार्थतस्तु
रुद्रिशब्दावेतौ । अत एव “यज्जोः” [११११३२] इति बहुषूम्न भवति । मानुषा इति । जाताविति किम् ?
अपत्यमात्रेऽण् (श्रौत्सर्गिकोऽणोव) भवति । लोहितादिपाठात् पौत्रादौ यञि तून्भवति । मानव्यः । मानव्यौ ।
मनवः । स्त्री मनव्यायनी । [जाताविति किम् ? अपत्यमात्रे श्रौत्सर्गिकोऽणोव भवति ।]

“पुरुदेवस्य पौत्रादा(त्रोऽसा)वर्ककीर्तिजिता ह्यः । पाष्यामास छक्ष्मीवाञ् मानवो मानवोः प्रजाः॥”
वृद्धापत्यविवक्षायां तु गर्गादित्वाद्यजा भवितव्यम् ।

“अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः । नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः ॥”

नेदं शात्वार्यं बहु वक्तव्यम् । “माणवचरकात् जञ्” [११११०] इति निपातनात् सिद्धम् ।

द्विः ॥३१११४९॥ यानित ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्तेस्त्यान्वक्ष्यामो द्विसंज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति
“राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽञ्” [३१११२०] पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । सत्यां द्विसंज्ञायां “द्वेर्बहुषु तेनैवा-
क्षियाम्” [११११३३] इत्युप् सिद्धः ।

राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽञ् ॥३१११५०॥ राष्ट्रं जनपदः । राजशब्दश्चेह क्षत्रियपर्यायः । राष्ट्रशब्दाद्वाज्वा-
चिनोऽपत्येऽञ् भवति । स्वभावतः पञ्चालादिशब्देन राष्ट्रं राजा चाभिधीयते । अथवा पञ्चालानां निवासो
जनपद इति निवासार्थं आगतस्याणो “जनपद डस्” [३१२११] इति उप् कृते श्रवरकालेनापि पञ्चालशब्देन
क्षत्रियशब्दो लक्ष्यते । यथा देवदत्तस्य पितेति । पञ्चालस्यापत्यं पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । ऐक्ष्वाकः ।
ऐक्ष्वाकौ । इक्ष्वाकवः । इक्ष्वाकुशब्दस्य अञि “श्रीणहस्य” [४१११६६] इत्यादिना उक्त्वं निपात्यते । राष्ट्र-
शब्दादिति किम् ? श्रीविजयिः । द्वयोः द्वौहवः । राज इति किम् ? पञ्चालो नाम ब्राह्मणस्तस्यापत्यं पाञ्चालिः ।

साल्वेयगान्धारिभ्याम् ॥३१११५१॥ साल्वा नाम क्षत्रिया तस्माद्द्वयच इति ढणि साल्वेयः ।
साल्वेय गान्धारि इत्येताभ्यां राजशब्दाभ्यामञ् भवति । अञोऽपवादे “द्विकुरुनाथजादकोहाकाम्यः”
[३१११२३] इति ज्ये प्राप्ते वचनम् । साल्वेयस्यापत्यं साल्वेयः । गान्धारैरपत्यं गान्धारः । गान्धारौ ।
बहुषूपि गान्धारयः ।

द्वयञ्मगधकलि ॥३१११५२॥ राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञ इति वर्तते । द्वयञो मृदः मगध
कलिङ्ग सूरमस इत्येतेभ्यश्च अण् भवति । अञोऽपवादः । अङ्गः । वाङ्गः । सौहः । पौरङ्गः । मागधः ।
कलिङ्गः । सौरमसः । सर्वत्र बहुषूप । अञैव सिद्धे किमर्थमण विधीयते ? “द्वयञोऽणः” [३१११४३]

इति फिज यथा स्यात् । नास्त्यत्र विशेषः सर्वस्यैव युक्त्यस्य द्रेरुत्तरस्योविष्यते । इह तर्हि विशेषः राजसमान-
शब्दराष्ट्रात् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्ष्यते । अज्ञानां राजा आङ्ग इति अणि सति आङ्गस्यापत्यं आङ्गा-
यनिः । 'द्वयचोऽणः' [३।१।१४३] इति फिज् । युक्त्योऽयं न भवतीति उप नास्ति । अपि च अत्रि सति
संवाद्यर्थविवक्षायामण् प्रसज्येत । अणि सति 'वृद्धचरणाब्जित्' [३।३।१४४] इति वुन् भवति । आङ्गकः ।
वाङ्गकः । मागधकः । कालिङ्गकः । सौरमसकः ।

द्वित्कुर्नाद्यजादकोशलाञ्ज्यः ॥३।१।१५३॥ दुसंज्ञान्मृद इकारान्तात् कुशब्दात् नकारादेः
अजादकोशलशब्दाभ्यां च व्यो भवति । अत्रोपवादः । दोः—आम्बष्ठस्यापत्यं आम्बष्ठ्यः । सौवीरस्य सौवीर्यः ।
काम्बचस्य काम्बच्यः । दार्वस्य दार्व्यः । द्वयजलक्षणेऽपि फिज परत्वादेतेन बाध्यते । इकारान्तात् अवन्तेराव-
न्त्यः । कुन्तेः कौन्त्यः । वसन्तेर्वासन्त्यः । तपरकरणं किम् ? कुमारी नाम जनपदः क्षत्रियश्चास्ति । तस्यापत्यं
कौमारः । कुरोः—कौरव्यः । नादेः—निचकम्य नैचक्यः । निषधस्य नैषध्यः । नीपस्य नैप्यः । अजादस्य
आजाद्यः । कोशलस्य कौशल्यः । सर्वत्र बहुभूप ।

साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिब् ॥३।१।१५४॥ साल्वा नाम मानुषी क्षत्रिया तस्या
अपत्यं "द्वयचः" [३।१।११०] इति ढणि साल्वेय इत्युप् कृते निपातनादणपि भवति । साल्वः क्षत्रियः
तस्य निवासो जनपदः साल्वः । तदवयवाः ।

"उदुम्बरास्तिष्ठलाला मद्रकारा युगन्धराः । मुलिङ्गाः शरदण्डारच साल्वावयवसंज्ञिताः ।"
साल्वावयवेभ्यो राजवाचिभ्यः प्रत्यग्रथिः । कालकूटिः । आश्मकिः । सर्वत्र बहुभूप योज्यः ।

पाण्डोर्ह्यण ॥३।१।१५५॥ राष्ट्रशब्दाद्राज्ञ इति वर्तते । पाण्डुशब्दाड्ढ्यण् भवत्यपत्येऽर्थे । पाण्डो-
रपत्यं पाण्ड्यः । डकारो टिलार्थः । णकारः "ग्न्याद्धदरकविकारे" [४।३।१५१] इति पुंवद्भावप्रतिषेधार्थः ।
पाण्ड्या भार्या अस्य पाण्ड्यभार्यः । कथमयं प्रयोगः असिद्धितीयो न ससर पाण्डवः ? पाण्डवा यस्य दासाः
इति ? येन जनपदेन समानशब्दो राजा तस्य जनपदस्य स्वामी यदि विवक्षितस्तदायं विधिर्वेदितव्यः । अन्य-
त्रोत्सर्ग एव भवति । 'इह प्रकरणे राजसमानशब्दात् राष्ट्रान् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्ष्यन्म्' [वा०]
राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्येति तासमर्थात् राजन्यभिधेये अपत्य इव त्यविधिर्भवति । पञ्चालानां राजा
पाञ्चाल । साल्वेयानां राजा साल्वेयः । एवं आङ्गः । आम्बष्ठ्यः । औदुम्बरिः । पाण्डवानां राजा पाण्ड्यः ।
सर्वत्र बहुभूप । अस्मादपत्यविवक्षायां "वा वृद्धाहोः" [३।१।१४४] इति फिज् । पाञ्चालायनिः ।

उप् चोलादेः ॥३।१।१५६॥ राष्ट्रशब्दाद्राज्ञ इति वर्तते । चोलादेः परस्योव् भवति । कस्य ? सम्भा-
दण्डोः । चोलस्यापत्यं चोलः । केरलः । कम्बोजः । शकः । यवनः । आदिशब्दः प्रकारवाची तस्य राजनीति
वर्तते । चोलानां राजा चोलः ।

कुन्त्यवन्ति कुरुभ्यः स्त्रियाम् ॥३।१।१५७॥ कुन्ति अर्वात् कुरु इत्येतेभ्यः उत्पन्नस्य द्रेष्व् भवति
स्त्रियामभिधेयायाम् । कुन्ती । अर्वन्ती । कुरुः । "द्वित्कुर्नाद्यजादकोशलाञ्ज्यः" [३।१।१५३] इत्यस्य उपि
कृते "इतो मनुष्यजातेः" [३।१।१५५] इति ङीविधिः । कुशब्दात् "ऊरुः" [३।१।१५६] इति ऊत्यः ।
स्त्रियामिति किम् ? कौन्त्यः ।

अत्रोऽप्राच्यभर्गादेः ॥३।१।१५८॥ स्त्रियामिति वर्तते । अतस्तस्य उव्ववति स्त्रियामभिधेयायां
प्राच्यान् भर्गादीश्च वज्यित्वा । कुन्त्यादिभ्य उव्वचनं शापकम् — इह अत इति तदन्तविधिर्न भवति । साम-
र्थ्यादण्योरोव्वभवतीति वेदितव्यम् । अप्राच्यो नाम राष्ट्रसमानशब्दो राजा तस्यापत्यं स्त्री अप्राच्या अत्र उपि
टाप् । एवं सूसेनी । मद्रस्यापत्यं स्त्री मद्री । अण्य उपि जातिलक्षणे ङीविधिः । दरदोऽपत्यं स्त्री दरद ।
अत इति किम् ? औदुम्बरी । साल्वावयवत्वादिज् । "इतो मनुष्यजातेः" [३।१।१५५] इति ङीविधिः । अप्राच्य-

भर्गादेरिति किम् ? प्राच्या ये राष्ट्राभिधाना राजानस्तेभ्य उप् प्रतिषिध्यते । पाञ्चाली । वैदेही । पैप्ली । आङ्गी । वाङ्गी । सौह्री । पौण्ड्री । मागधी । कालिङ्गी । भर्गादेरप्राच्यार्थ उप् प्रतिषेधः । भर्गस्यापत्यं स्त्री मार्गा । करुषस्य कारुषी । भर्ग करुष केकय करमीर सेत्व (सुल्वा) सुस्थाल उरस कौरव्य । वचनाद्यर्थेण उपि कुरुः । अनेनानुपि कौरव्येति । यौधेयः । शौक्रेय शौभ्रेय घातैय प्रावाण्येय नृगर्त भरत । उशीनर । वस्य पुनरकारस्य यौधेयादिभ्यः द्रुसंज्ञकेभ्यः परस्योप् प्राप्तः प्रतिषिध्यते ? उच्यते । ‘परवादेरण्’ [४।२।६] इति द्रिसंज्ञकोऽण् स्वार्थिको वक्ष्यते । तस्यायं प्रतिविधिः न तु राष्ट्रसमानशब्दात् । आपत्यस्य उबुच्यमानः कथं स्वार्थिकस्य भिन्नप्रकरणस्य द्वेरुभभवति । इदमेव यौधेयादिभ्यः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं भिन्नप्रकरणस्यापि द्वेरुभभवति । अपत्यग्रहणेन गृह्यते इति किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । इह स्त्रियामुप् । पशुः रत्नाः असुरी इति पशु रक्ष्ण् असुर इति राष्ट्रशब्दा राजानः एषामपत्यं संघः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षित इति अणजोरागतयोः “उप् चोळादेः” [१।१।१२६] इति उपि कृते पुनः “परवादेरण्” [४।२।६] इति स्वार्थिकोऽण् । तस्यापि स्त्रिया-मनेनोप् सिद्धः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

तेन रक्तं रागात् ॥३।२।१॥ रज्यतेऽनेन शुक्लं वस्त्विति रागः; कुसुम्भादि द्रव्यम् । तेनेति भासमर्थात् रागविशेषवाचिनो मृदो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । कषायेण रक्त वस्त्रं काषायम् । हारिद्रम् । कौसुम्भम् । माञ्जिष्ठम् । रागादिति किम् ? देवदत्तेन रक्तम् । “पुंस्त्री घः प्रायेण” [२।३।१००] इत्येतद् षञ्चिधानेऽपेक्ष्यते । तेन वर्णविशेषस्य रागस्य ग्रहणादिह न भवति । पाणिना रक्तमिति । इहोप-मानाद्भवति । काषायौ गर्दभस्य कर्णौ । हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादाविति ।

नीलपीतादकौ ॥३।२।२॥ नील पीत इत्येताभ्यां भान्ताभ्यां रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथासंख्यम् अ क इत्येतौ ल्यौ भवतः । नीलेन रक्तं नीलम् । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् । नील्या रक्तं नीलम् । पीतेन रक्तं पीतकम् ।

लाक्षा रोचनाशकलकर्दमाट्टण् ॥३।२।३॥ लाक्षादिभ्यो भासमर्थेभ्यो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे टण् भवति । अण्योऽपवादः । लाक्षया रक्तं लाक्षिकम् । शाकलिकम् । शकलकर्दमाभ्यामणपीध्यते ।

भाद्युक्तः कालः ॥३।२।४॥ तेनेति वर्तते । भविशेषवाचिनो मृदो भासमर्थाद् युक्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । योऽसौ युक्तः कालश्चेत् स भवति । नित्ययुक्तौ हि भकालौ न तयोः सन्निकर्षविप्रकर्षौ स्तः । तत्कथं पुष्यादिना मेन युक्तः काल’ इत्युच्यते ? व्यभिचाराभावात् । नैष दोषः । इह पुष्यादिसमीपस्थे चन्द्रमसि पुष्यादयः शब्दाः वर्तमाना गृह्यन्ते । पुष्येण युक्तः कालः पुष्यसमीपगतेन चन्द्रमसा युक्त इत्यर्थः । पौषी रात्रिः । पौषमहः । “तत्पुष्ययोर्भाषि” [४।४।१३६] इति यकारस्य खम् । माषी रात्रिः । माषमहः । भादिति किम् ? चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः । काल इति किम् ? पुष्येण युक्तरचन्द्रमाः ।

उसभेदे ॥३।२।५॥ अभेदो नामाविशेषः । पूर्वेण विहितस्योस् भवति न चन्द्रेण युक्तस्य कालस्य भेदो रात्र्यादिविशेषोऽभिधीयते । अद्य पुष्यः । अद्य कृत्तिकाः । अद्य रोहिण्यः । “युक्तवदुसि कङ्कसंख्ये” [१।१।६८] इति युक्तवद्भावः । अत्र यावान् कालः त्रिंशन्मुहूर्तमात्रो मेन युक्तो न तस्य भेदोऽभिधीयते । अभेद इति किम् ? पौषी रात्रिः । पौषमहः । अभेद इति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेनेर्हापि न भवति । पौषोऽहोरात्रः ।

पौषः कालः इति । अथेह कथमुस् न भवति अथ दिवा पुष्यः । अथ रात्रौ पुष्य इति । पूर्वमष्टप्रहरात्मकस्य समुदायस्याभेद उक्तं विधाय पश्चाद्दिवारात्रिशब्दयोः प्रयोगः कृतः ।

खौ श्रवणाश्रवत्याभ्याम् ॥३।२।६॥ खौ भेदेऽपि उस् यथा स्यादित्यारम्भः । श्रवणाश्रवत्ये इत्येताभ्यामुत्तरत्रस्य त्यस्योस् भवति खुविषये । श्रवणेन युक्ता श्रवणा रात्रिः । अश्रवत्येन युक्ता अश्रवत्या रात्रिः । अश्रवत्यो मुहूर्तः । “कास्गुनीश्रवत्याकार्तिकीचैत्रीभ्यः” [३।२।१८] इति श्रवणाशब्दनिर्देशो शापक इह सूत्रे उचि युक्त्वद्भावो न भवति । खाविति किम् ? श्रवणी रात्रिः । आश्रवत्या रात्रिः ।

द्वन्द्वच्छुः ॥३।२।७॥ द्वन्द्वान्नासमर्थात् युक्तः काल इत्येतस्मिन्नर्थे छुो भवति भेदे चाभेदे च । श्रयोऽपवादः । राधानुराधीयम् । राधानुराधीयं तिष्यपुनर्वसवीयमहः । अथ तिष्यपुनर्वसीयम् । अयं परत्वादुसो बाधकः ।

परिवृतो रथः ॥३।२।८॥ तेनेति वर्तते । तेन परिवृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति; यः परिवृतो रथश्चेत् स भवति । वस्त्रेण परिवृतो रथो वाहनः । काम्बलः । चार्मणः । “अनः” [४।४।१२८] इति श्रणि टिलाभावः । रथ इति किम् ? वस्त्रेण परिवृता शय्या । स इह कस्मान्न भवति छात्रैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । अथवा समन्ताद्वृतः परिवृत इत्याश्रयणात् । रथैकदेशस्यमुत्पादयति न छात्रादिः । इह कस्मादण् न भवति । पाण्डुकम्बलैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । कथं पाण्डुकम्बली रथ इति पाण्डुकम्बला अस्थ संवृह्य (सन्ति व्रीह्यादि) पाठात् यसे कृते इन्द्रष्टव्यः । ठस्याभिधानं नास्ति । “वीहान्तात् स्वार्थं वा ईकण् वक्तव्यः” [बा०] द्वैतीयिकम् । द्वितीयम् । तार्तीयिकम् । तृतीयम् । “विद्याया अभिधाने नेत्यते” [बा०] द्वितीया विद्या । तृतीया विद्या । इह कथमण् भवति ? न विद्यते पूर्वः पतिर्यस्याः सा अपूर्वा कुमारी । तादृशी कुमारीमुपपन्नः कौमारः पतिरिति “तन्न भवः” [३।३।२८] इत्यण् भविष्यति । कुमार्या भवः पतिः कौमारः पतिः । पुंयोगात् कौमारी भार्या इत्यपि सिद्धम् ।

तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ॥३।२।९॥ मुक्तावशिष्टमुद्धृतमुच्यते इति केचित् । तत्तु नातिश्लिष्टम् अन्यत्रापि प्रयोगात् । उद्धृतं ब्राह्मणेन लब्धमिति । तत्रेति ईप्समर्थादमत्रवाचिनो मृदः उद्धृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सरावेषु उद्धृत ओदनः सारावः । माल्लवः (माल्लिकः) । अमत्रेभ्य इति किम् ? पाण्डुद्धृत ओदनः ।

स्थण्डिलः ॥३।२।१०॥ स्थण्डिल इति निपात्यते । स्थण्डिलशब्दादीबन्ताच्छयित्थर्मभिधेयेऽण् निपात्यते समुदायेन व्रते गम्ये । स्थण्डिले शेते स्थण्डिलो ब्रह्मचारी । व्रतादन्यत्र स्थण्डिले शेते देवदत्त इति ।

संस्कृतं भक्षाः ॥३।२।११॥ सतो गुणान्तराधानं संस्कारः । खरविस (श) दमभ्यवहार्यं भक्षः । तत्रेति ईप्समर्थात् संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तत् संस्कृतं भक्षाश्चेत्तद् भवति । भाष्ट्रे संस्कृताः भाष्ट्राः । एवं कैलासाः (कालशाः) पात्राः । भक्षा इति किम् ? फलके संस्कृतो मालागुणः ।

शूलोखाद्यः ॥३।२।१२॥ शूल उखा इत्येताभ्यां ईप्समर्थाभ्यां संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे यो भवति । शण्डोऽपवादः । शूलो संस्कृतं शूल्यम् । उखायां संस्कृतमुख्यम् । उपमानात् सिद्धम् । पिठरे शूलो इव संस्कृतं पिठरशूल्यम् । मयूरव्यंसकादित्वात् सविधिः ।

दध्नच्छण् ॥३।२।१३॥ दधिशब्दादीप्समर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । दधिनि संस्कृतं दाधिकम् । तत्र यद्भि संस्कृतं तद्भना संस्कृतमित्यपि भवति । एवं च “तेन संस्कृतम्” इति वक्ष्यमाणोऽपि ठणा सिद्धं नाथोऽनेन ? नैष दोषः । यदन्यत्रोत्पन्नं दधिकृतमेवोत्कर्षमपेक्षते तदिहोदाहरणम् । यस्य तु दध्ना लवणादिना च संस्कारस्तस्य वक्ष्यमाणमुदाहरणम् ।

ओदश्वितः ॥३।२।१४॥ उदश्वित्-शब्दादीप्समर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उदश्विति संस्कृत ओदनः औदश्वित्कः । औदश्वितः । अतोऽपि वावचनाज्ज्ञायते तेन संस्कृतात्तत्र संस्कृत-स्यार्थभेदः । अन्यथेवन्तादण् भान्तादण् इत्युभयं सिद्धं स्यात् ।

क्षीराड्ढण् ॥३।२।१५॥ क्षीरशब्दादीप्समर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ढण् भवति । अणोऽपवादः । क्षीरे संस्कृता क्षैरेयो यवागूः ।

सास्मिन् पौर्णमासीति खौ ॥३।२।१६॥ सेति वासमर्थादस्मिन्निति ईबर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं पौर्णमासी सा चेद्भवति । इतिकरणाद्यदि लोके विवक्षा समुदायेन चेत संज्ञा गम्यते । पूर्णमासा चन्द्रमसा युक्तः कालः पौर्णमासी । इदमेव ज्ञापकमत्राण भवतीति । माघी पौर्णमास्यस्मिन् मासेऽर्द्धमासे संवत्सरे वा माघो मासोऽर्द्धमासः संवत्सरः । एवं पौषः । स्वाविति किम् ? माघी पौर्णमास्य-स्मिन् पञ्चदशरात्रे । इतिशब्दः किमर्थः ? विद्यमानेऽपि लक्षणौ लौकिकप्रयोगानुसारणार्थः । इह मा भूत् । माघी पौर्णमासी अस्मिन् हि भवति संवत्सरपर्वणि ।

अश्वत्याग्रहायणीभ्यां ठञ् ॥३।२।१७॥ सास्मिन् पौर्णमासीति वर्तते । अश्वत्य आग्रहायणी इत्येताभ्यां पौर्णमासीति वासमर्थाभ्यामास्मिन्निति ईबर्थे ठञ् भवति । अणोऽपवादः । अश्वत्येन युक्तः कालः अश्वत्या पौर्णमासी अस्मिन्मासे अर्द्धमासे संवत्सरे वाऽश्वत्यिकः । आग्रहायणेन युक्तः काल आग्रहायणी आग्रहायणिकः ।

फाल्गुनीअवषणाकार्तिकीचैत्रीभ्यो वा ॥३।२।१८॥ फाल्गुन्यादिभ्यो वा ठञ् भवति । सास्मिन् पौर्णमासीति वर्तते । फाल्गुनी पौर्णमासी अस्मिन् मासे संवत्सरे वा फाल्गुनिकः । फाल्गुनः । एवं श्रावणिकः । श्रावणः । कार्तिकिकः । कार्तिकः । चैत्रिकः । चैत्रः ।

सास्य देवता ॥ ३।२।१९ ॥ सेत्यत्र लिङ्गवचने अप्रधानभूते । सेति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं देवता चेत्स भवति । अर्हन् देवता अस्य आर्हतः । भगवती देवता अस्य भागवतः । बार्हस्पत्यः । सेति वर्तमाने पुनः साग्रहणं संज्ञाविषयनिवृत्त्यर्थम् । तेन संज्ञायां वायं विधिः । देवतेति किम् ? कन्या देवदत्तस्य ।

कस्येः ॥३।२।२०॥ कशब्देन प्रजापतिरभिधीयते । कस्य इकारोऽन्तादेशो भवत्यण् च सास्य देवतेत्यास्मिन्विषये । को देवताऽस्य कायं हविः । अणि पूर्वेण सिद्धे इत्वार्थं वचनम् । आरम्भसामर्थ्यात् “यस्य ह्यर्था च” [४।४।१३६] इति खं न भवति ।

शुक्राद् घः ॥३।२।२१॥ शुक्रशब्दाद् घो भवति । अणोऽपवादः । सास्य देवतेति वर्तते । शुक्रो देवतास्य शुक्रियः ।

अपोनप्त्रपाअप्तृभ्याम् ॥३।२।२२॥ घ इति वर्तते । अपोनप्तृ अपान्नप्तृ इत्येताभ्यां घो भवति । अणोऽपवादः । साऽस्य देवतेति वर्तते । अपोनपादेवताऽस्य अपोनप्त्रियः । अपान्नपादेवता अस्य अपान्न-प्त्रियः । प्रत्यय (त्य) सन्नियोगेन प्रकृत्योः अपोनप्तृअपान्नप्तृभावो निपात्यते । संप्रये अपोनपाते ब्रूहि अपान्नपाते ब्रूहि इति भवति ।

छुः ॥३।२।२३॥ अपोनप्तृ अपान्नप्तृ इत्येताभ्यां छश्च भवति सास्य देवतेत्यास्मिन् विषये । अपोनप्त्रीयः । अपान्नपत्रीयः । योगविभाग उत्तरार्थः “पौङ्गीपुत्रादिभ्यश्चो वक्तव्यः” [वा०] पौङ्गी-पुत्रीयः । तार्णविन्दवीयः । “शतरुद्राद्वरश्च” [वा०] शतरुद्रियः । शतरुद्रीयः ।

महन्द्राद्वाऽणौ च ॥३।२।२४॥ सास्य देवतेति वर्तते । महेन्द्रशब्दाद् घ अण् इत्येतौ भवत-
श्छश्च । महेन्द्रो देवता अस्य महेन्द्रियः । माहेन्द्रः । महेन्द्रीयः ।

सोमाट्ठ्यण् ॥३।२।२५॥ सोमशब्दाट्ठ्यण् भवति सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । अणोऽपवादः ।
सोमो देवता अस्य सौम्यः । छियां सौमी । “हृणो हृतो ह्यण्” [४।४।१४०] इति यञ्म ।

वाय्वृत्तुपेष्टुऽणो यः ॥३।२।२६॥ वायु ऋतु पितृ उषस् इत्येतैभ्यो यो भवति । अणोऽपवादः ।
साऽस्य देवता इति वर्तते । वायव्यः । ऋतव्यः । पितृव्यः । “रीढृत्तः” [५।२।१३६] इति
रीढादेशः । उषस्यः ।

द्यावापृथिवीसुनाशोरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छु च ॥ ३।२।२७ ॥ द्यावा-
पृथिवी इत्येवमादिभ्यश्छो भवति यश्च सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ देवते
अस्य द्यावापृथिवीयः । द्यावापृथिव्यः । सुनो वायुः शीर आदित्यः सुनश्च शीरश्च “देवताह्रन्द्”
[४।३।१३६] इत्यानङ् । सुनाशीरौ देवते अस्य सुनाशीरीयः । सुनाशीर्यः । मरुत्वान् देवता अस्य मरुत्वतीयः ।
मरुत्वयः । अग्निश्च सोमश्च देवते अस्य अग्नीषोमीयः । अग्नीषोम्यः । “सोमवक्षणेऽग्नेरीः” [४।३।१४०]
इतीत्वम् । “स्तुत्वसोमौ चाग्नेः” [५।४।६५] इति षत्वम् । वास्तोष्पतीयः । वास्तोष्पत्यः । पुल्लिङ्गत्वं ताया
अनुप् षत्वं च निपातनात् । गृहमेधीयः । गृहमेध्यः ।

सर्वत्राग्निफलिभ्यां ढण् ॥३।२।२८॥ साऽस्य देवतेति वर्तमाने सर्वत्रग्रहणं सर्वार्थतंत्रग्रहार्थम् ।
अग्निफलिशब्दाभ्यां सर्वेष्वर्थेषु ढण् भवति प्राग्दोः । अग्निदेवता अस्य अग्नौ भवः अग्नेरागतो आग्नेयः ।
एवं कालेयः ।

कालेभ्यो भववत् ॥३।२।२९॥ कालविशेषवाचिभ्यो भव इव त्यविधिर्भवति । वत्करणं सर्वविशेष-
परिग्रहार्थम् । येभ्यः कालविशेषवाचिभ्यो मृद्भ्यो भवे ये त्या विहिताः सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये तेभ्य एव
मृद्भ्यस्त एव त्या अतिदिश्यन्ते । यथा मासे भवं मासिकं सांवत्सरिकं वासन्तं प्रावृषेण्यम् । “काळाट्ठञ्”
[३।२।१३१] “भसंध्याद्द्यूतुभ्यो वर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३७] “प्रावृष षण्यः” [३।२।१३६] एते त्या
भवन्ति । तथा मासो देवता अस्य वसन्तो देवता अस्य प्रावृड् देवता अस्येति अत्रापि भवन्ति ।

महाराजप्रोष्ठपदाभ्यां ठण् ॥३।२।३०॥ महाराजो वैश्रवणः । महाराज प्रोष्ठपदा इत्येताभ्यां ठण्
भवति सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । महाराजो देवताऽस्य माहाराजिकः । प्रोष्ठपदा देवताऽस्य प्रोष्ठपदिकः ।
“ठण्यप्रकरणे तदस्मिन्वर्तते इति नवयज्ञादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] नवयज्ञोऽस्मिन् वर्तते नावयज्ञिकः ।
पाकयज्ञिकः । “पूर्वमासाद्दण् वक्तव्यः” [वा०] पूर्वमासोऽस्यां वर्तते पौर्णमासी तिथिः ।

पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ॥३।२।३१॥ पितृव्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । समर्थविमक्ति-
स्त्योऽनुबन्धस्त्यार्थ इति सर्वमिदं निपात्यते । पितृमातृभ्यां तासमर्थाभ्यां आतरि वाच्ये व्यङ्गुलौ निपात्येते पितृभ्राता
पितृव्यः । मातृभ्राता मातुलः । डित्वाट्टित्त्वम् । “ताभ्यामेव पितरि ङामहः” [वा०] मातुः पिता मातामहः ।
“स एव ङामहो मातरि वाच्यार्वा टित्त्व” [वा०] मातृमाता मातामही । पितृमाता पितामही ।
टित्त्वान्डीविधिः ।

तस्य समूहः ॥३।२।३२॥ तस्येति तासमर्थात् समूह इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितस्त्यो भवति ।
चित्तवदवृद्धं यस्य न चान्यत्र प्रतिपदं ग्रहणं तदिहोदाहरणम् । अचित्तवत्तद्वद्वयत्ते । वृद्धाद्बुद्ध् । प्रति

पदमुच्चादिभ्योऽपि वुआदिः । काकानां समूहः काकम् । शौकम् । वार्कम् । इह पञ्चानां पूलानां समूहः पञ्चपूला इति प्रानोति । समूहार्थेऽण् तस्य “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् “परिमाणाद्दृष्टुपि” [३।१।२६] इति नियमात् । असति डीविधौ टापा भवितव्यम् । नार्यं दोषः । समाहारलक्षण एवात्र रसः । हृदुत्यत्तिर्न भवत्यनभिधानात् ।

भिन्नादेः ॥३।२।३३॥ तस्य समूह इति वर्तते । भिन्ना इत्येवमादिभ्यः यथाविहितं त्यो भवति । पुनर्विधानं ठणो बाधनार्थम् । भिन्नाणां समूहः भैक्षम् । भिन्ना गर्भिणी क्षेत्र करीष अञ्जार चर्मन् सहस्र युवति पद्धति अथर्वन् दक्षिणा । इह पाठसामर्थ्यात् गर्भिणी-युवतिशब्दे न पुंवद्भावाः ।

वृद्धोक्तोष्टोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुञ् ॥ ३।२।३४ ॥ वृद्धादिभ्यो वुञ् भवति । तस्य समूह इति वर्तते । औपगवानां समूह औपगवकम् । कापटवकम् । औत्तकम् । औष्ट्रकम् । औरभ्रकम् । राजकम् । राजन्यकम् । राजपुत्रकम् । वात्सकम् । मानुष्यकम् । आत्तकम् । “वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] वार्द्धकम् । “प्रकृत्या अके राजन्यमनुष्ययुवानः” इति “क्यच्च्यनाद्दृष्ट्यापत्यस्य” [४।४।१३१] इति यत्वं न भवति । इह वृद्धग्रहणात् सिद्धे राजन्यमनुष्ययोः पृथग्ग्रहणं शापकम् । अपत्याधिकारादन्यत्र वृद्धग्रहणेन लौकिकं गोत्रमपत्यमात्रमुच्यते न तु पौत्राद्यपत्यं वृद्धमिति । तथाहि लोके किञ्चो भवान् इति पृष्टः वास्त्यायनोऽस्मीत्याह । राजन्यमनुष्ययोस्तु जातिशब्दत्वात् लौकिकगोत्रग्रहणम् ।

केदाराद्यञ्च ॥३।२।३५॥ केदारशब्दाद्यञ् भवति वुञ् च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ठणोऽपवादः । केदाराणां समूहः कैदार्यम् । कैदारकम् । “गणिकायाः यञ् वक्तव्यः” [वा०] गणिकायां समूहः गणिक्यम् ।

ठञ् क्वचिचिनश्च ॥३।२।३६॥ ठञ् भवति क्वचिचिनश्च केदाराच्च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । क्वचिनां समूहः कावचिकम् । कैदारिकम् ।

ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् ॥३।२।३७॥ ग्रामादिभ्यस्तल् भवति तस्य समूह इति वर्तते । ग्रामाणां समूहो ग्रामता । जनता । बन्धुता । सहायता । “गजाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] गजता ।

चरणेभ्यो धर्मवत् ॥३।२।३८॥ चरणवाचिशब्देभ्यः समूह इत्येतस्मिन्नर्थे धर्म इव त्या भवन्ति । इदमेव शापकम् । अस्त्येतत् “चरणाद्धर्माग्नाययोः” [वा०] इति “वृद्धश्चरणाञ्जित्” [३।३।१४] इत्यारभ्य चरणाद्धर्मे त्यविधिवद्भ्यते, स इहातिदिश्यते । वत्करणं सर्वविशेषपरिग्रहार्थम् । यथा कठानां धर्मः काठकम् । कालापकम् । मौदकम् । पौपलादकम् । आर्वाभकम् । वाजसनेयकम् । छान्दोग्यम् । औक्थिक्यम् । आथर्वणः । “वृद्धश्चरणाञ्जित्” इति वुञ् “सुद्धोगौक्थिक्याञ्जिकवह्वृचनटाञ्ज्यः” [३।३।१७] इति ड्यः । “आथर्वणः” [३।३।१०१] इति च निपात्यते आथर्वणिकानां धर्म इत्यत्र वाक्ये । तथा कठानां समूहः काठकमित्येवमादि योज्यम् ।

अचित्तहस्तिधेनोष्टण् ॥३।२।३९॥ अचित्तमचेतनम् । अचित्तार्थवाचिभ्यो हस्तिधेनुशब्दाभ्यां च ठण् भवति तस्य समूह इत्यस्मिन् विषये । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । शङ्कुलीनां समूहः शाङ्कुलिकम् । हास्तिकम् । धेनुकम् । “पर्शनां यस् वक्तव्यः” [वा०] पर्शनां स्त्रीणां समूहः पार्श्वम् । सिक्वात्पदसंज्ञायां भलत्तणमोरोत्वं न भवति । खण्डिकादिभ्योऽञ् वक्तव्य इति चेत् न वक्तव्यः । नास्ति विशेषोऽञि वा सत्यणि वा । खण्डिकादिषु ये चित्तवतस्तेभ्य औत्सर्गिकोऽण् सिद्धः । ये त्वचित्तास्ते भिन्नादिषु पठनीयाः । खण्डिका अहन् वडवत्तुद्रकमालवाद्रिसंज्ञाताः क्षत्रिया इत्यर्थः । तेषां समूह वृद्धलक्षणो वुञ् प्रातः । ननु च यथा “राष्ट्राध्वोः” [३।२।१०२] इत्यत्र राष्ट्राध्व्यमानो वुञ् न राष्ट्रसमुदायाद्भवति । काशिकौशलेषु भवा

काशिकोशलीया इति छु एव भवति । तथेह वृद्धादुच्यमानस्त्यः कथं वृद्धसमुदायादिति ? एवं तर्हि तदन्तविधिना भविष्यति । इदमेव ज्ञापकं सामूहिके त्ये तदन्तविधिर्भवति । क्षौद्रकमालवी सेना । क्षौद्रकमालवकमन्यत् । भिन्दुक शुक उलूक । अयं यन्तः बहुत्वेऽयं प्रयोजयति । स्वन् (श्वन्) युग वरत्र हंस इति खण्डिकादिसामूहिके तदन्तविधिर्ज्ञापितः । तेन औपगवकापटवानां समूहः औपगवकापटवकम् । ब्राह्मणराजन्यकम् । दम्यहस्तिनां समूहः दाम्यहस्तिकम् । गौधेनुकम् । “धेनोर्नञ्पूर्वाया नेत्यते” [वा०] अधेनूनां समूहः आधेनवम् ।

केशाशवाभ्यां यञ्छो वा ॥३।२।४०॥ केश अश्व इत्येताभ्यां यथासंख्यं यञ्छु इत्येतौ त्यौ वा भवतः । केशानां समूहः कैश्यम् । कैशिकम् । अश्वानां समूह अश्वीयम् । आश्वम् ।

पाशादेर्यः ॥३।२।४१॥ पाश इत्येवमादिभ्यो यो भवति । तस्य समूह इति वर्तते । पाशानां समूहः पाश्या । तृण तृण्या । धूम्या । वात वात्या । लिङ्गं लोक्तो ज्ञेयम् । पाश तृण धूम वात अङ्गार पालवाल पिटल पिटाक शकल हल नल वन पृख ।

ब्राह्मणमाणववाडंवात् ॥३।२।४२॥ य इति वर्तते । ब्राह्मण माणव वाडव इत्येतेभ्यो यो भवति तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ब्राह्मणानां समूहो ब्राह्मण्यम् । माणव्यम् । वाडव्यम् ।

गोखलरथात् ॥३।२।४३॥ गो खल रथ इत्येतेभ्यस्तान्तेभ्यो यो भवति समूहे । गवां समूहः गव्या । खल्या । रथ्या । योगविभाग उत्तरार्थः ।

त्रेनुक्त्याः ॥३।२।४४॥ गो खल रथ इत्येतेभ्यो यथासंख्यं त्र इन् कट्य इत्येते प्रत्यया (त्या) भवन्ति । तस्य समूह इति वर्तते । गवां समूहः गोत्रा । खलिनी । रथकट्या । “खलादिभ्य इन् वक्तव्यः” [वा०] डाकिनी । कुटुम्बिनी । लोक्तो लिङ्गव्यवस्था ।

राष्ट्रे ॥३।२।४५॥ समूह इति निवृत्तम् ; अर्थान्तरोपादानात् । तस्येति वर्तते । राष्ट्रं जनपदः । तस्येति तासमर्थात् राष्ट्रेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति । शिवानां राष्ट्रं शैवम् । जनपदापेक्षया पुंलिङ्गता प्रयोक्तव्या । शैवः । अयुष्टः (औष्ट्रः) । आभिसारः । “राष्ट्राभिधान बहुत्वे उस्वक्तव्यः” [वा०] अङ्गानां राष्ट्रम् अङ्गाः । वङ्गाः । सुह्वाः । “गान्धार्यादिभ्यो वांत वक्तव्यम्” [वा०] गान्धार्याणां राष्ट्रं गान्धारयः । वासातः । वसातयः । शैवः । शिवाः । “राजन्यादिभ्यो वा वुञ् उस्वक्तव्यः” [वा०] राजन्यानां राष्ट्रं राजन्या । राजन्यकः । दैवयातवः । दैवयातवकाः । “बिल्बवनादिभ्यो त्रित्यमुस् न भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] वैल्ववनकः । आम्बरीषपुत्रकः । आत्मकामेयकः । नदं बहु वक्तव्यम् । राष्ट्रविवक्षाया निवासविवक्षायाश्च प्रतिनियमात्सिद्धम् । बहुत्वविषये जनपदस्य निवासविवक्षयैव तत्र “जनपद उस्” [३।२।६१] इति उस् भवति । गान्धार्यादीनां राजन्यादीनां च उभयो विवक्षा बिल्बवनादीनां राष्ट्रविवक्षैव ।

राजन्यादेर्बुञ् ॥३।२।४६॥ राजन्य इत्येवमादिभ्यस्तान्तेभ्यो वुञ् भवति राष्ट्रे । राजन्यानां राष्ट्रं राजन्यकः । राजन्यः । आभ्यति वात्सक (बाभ्रव्य) शालङ्कायन दैवयातव बालन्वरायण कौन्तल आत्मकामेय आम्बरीषपुत्र वसाति बिल्बवन शैलूष उदुम्बर वैल्वल आर्जुनायन संप्रिय दाक्षि ऊर्णनाभ । आकृतिगणश्चायम् । मालवत्रिगर्तविरायादीनां ग्रहणम् ।

भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विघ्नभक्तौ ॥३।२।४७॥ आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धते । भौरिक्यादिभ्यः ऐषुकार्यादिभ्यश्च यथासंख्यं विघ्न भक्त इत्येतौ त्यौ भवति राष्ट्रेऽर्थे । भौरिकीणां राष्ट्रं भौरिकिविघ्नः । भौलिकिविघ्नः । भौरिकि भौलिकि चौपयत चैटयत सैकयत कास्ये (काण्ये) वाण्येजक (वाण्येजक) वालिकाज्यक वैकयत् । ऐषुकारिभक्ता । सारसायनभक्ता । ऐषुकारि सारसायन चान्द्रायण द्वाद्यायण व्याद्यायण

अलायन ताडायन खाडायन सौवीर (सौवीरायण) दासमित्रायण शौद्रायण स (श) यण्ड शौण्ड । वैश्व-
माणव वैश्वधेनव तुण्डदेव सापिरिड ।

तदस्मिन्युद्धे योद्धृप्रयोजनात् ॥३॥२॥४८॥ योद्धारश्च प्रयोजनं च योद्धृप्रयोजनम्, तदिति
वासमर्थाद् अस्मिन्निति ईदृशं यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं योद्धारश्चेत् तद्भवति । प्रयोजनं चेत्
तद्भवति । यत्तस्मिन्निति निर्दिष्टं युद्धं चेद्भवति । विद्याधराः योद्धारोऽस्मिन् युद्धे वैद्याधरं युद्धम् । कौरवम् ।
भारतम् । प्रयोजनात् खल्वपि । सुलोचना प्रयोजनमस्मिन् युद्धे सौलोचनम् । स्वायंप्रभम् । सौतारम् । संग्रामे
खभिधेये पुलिङ्गता । वैद्याधरः संग्रामः । सौलोचनः संग्रामः । युद्ध इति किम् ? सुभद्रा प्रयोजनमस्मिन्वैरे ।
योद्धृप्रयोजनादिति किम् ? रथा वाहनमस्मिन् युद्धे ।

प्रहरणमिति क्रीडायां णः ॥३॥२॥४९॥ तदस्मिन्निति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मिन्निति ईदृशं यो
भवति यत्तदासमर्थं प्रहरणं चेत्तद्भवति यत्तदास्मिन्निति निर्दिष्टं क्रीडा सा चेद्भवति । इतिकरणस्ततश्चेद्दि-
वत्त्वा । अद्रोहेण यत्र घातः सा क्रीडा । दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दण्डा । मौष्टा । पादा । प्रहरणमिति
किम् ? गन्धोदकसेचनमस्यां क्रीडायाम् । क्रीडायामिति किम् ? असिः प्रहरणमस्मिन् युद्धे ।

श्यैनंपातातैलंपाता ॥३॥२॥५०॥ श्यैनंपाता तैलंपाता इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । श्येनानामिव पातः
श्येनपातोऽस्यां क्रीडायां वर्तते श्यैनंपाता । तिलानामिव पातस्तिलपातोऽस्यां क्रीडायां तैलंपाता । अस्मिन्नर्थे
यो निपात्यते पूर्वपदस्य च मुमागमः । कथं दण्डपातः क्रिया अस्यां तिथौ वर्तते दण्डपाता तिथिः । मुश-
लपातोऽस्यां वर्तते मौशलपाता भूमिः । पूर्वसूत्रे इतिकरणादन्यत्रापि यो भवति ।

तद्वेत्त्यधीते ॥३॥२॥५१॥ तदिति इप्समर्थात् वेत्ति अधीते इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं त्यो भवति ।
तदित्ये प्रत्येकं सम्बद्धस्यते । तद्वेत्ति तदधीते इति । यथा “तेन दीव्यति खनति जयति जितम्” [३।३।१२७]
इत्यत्र तेनेति । मुहूर्तं वेत्ति मौहूर्तः । औत्पातः । व्याकरणमधीते वैयाकरणः । सैद्धान्तः ।

ऋतूकथादिसूत्रान्ताट्ठण् ॥३॥२॥५२॥ सपूपा यज्ञाः क्रतवः । ऋतुविशेषवाचिभ्यो मृद्भ्य उक्था-
दिभ्यः सूत्रान्ताच्च ठण् भवति । तद्वेत्त्यधीते इति वर्तते । अग्निष्टोमं वेत्त्यधीते वा आग्निष्टोमिकः । राजसूयिकः ।
वाजपेयिकः । उक्थादिभ्यः उक्थशब्दः केषुचिदेव सामसु रूढः । स च औक्थिक्ये वर्तमानस्त्यविधि लभते ।
उक्थमधीते औक्थिकः । औक्थिक्यमधीते इत्यर्थः । औक्थिक्यशब्दात्तु न त्यावधिर्भवत्यनभिधानात् । एवं
यज्ञशब्दोऽपि याज्ञिक्ये त्यविधि लभते । याज्ञिकः । लोकायतमधीते लोकायतिकः । सूत्रान्तात् - वार्तिसूत्रिकः ।
सांग्रहसूत्रिकः । “सूत्रान्तादकल्पदेरिष्यते” [वा०] । तेन कल्पसूत्र इत्यणोव भवति । सूत्रान्तग्रहणमुक्थादेः
प्रपञ्चः । उक्थ लोकायत न्याय न्यास पुनरुक्त संज्ञा चर्चा क्रमेतर श्लक्ष्ण संहिता पद क्रम संघात वृत्ति संग्रह
गण गुण आयुर्वेद वसन्त । सहचरितेऽध्ययने वसन्तात् । वर्षा शरद् । व्यस्तसमस्तात् । शिशिर हेमन्त
प्रथमगुण अनुगुण प्रथमगण । अनुगण इति कर्त्तव्यम् । अथर्वन् । “वद्याकक्ष्यकाल्पसूत्रान्तादकल्पदेः”
[वा०] । वायसविद्यिकः । सार्वविद्यिकः । हास्तिलक्ष्णिकः । आश्वलक्ष्णिकः । मातृकल्पिकः । पैतृकल्पिकः ।
वार्तिसूत्रिकः । अकल्पदेरिति किम् ? कल्पसूत्रः । “विद्यामाननक्षत्र (विद्या च नाक्षत्रे) धर्मोऽत्रिपूर्वा”
[वा०] इह विद्यान्ताट्ठण्कृतस्यायं प्रतिषेधः । अङ्गविद्यामधीते अङ्गविद्यः । क्षात्रविद्यः । धर्मविद्यः ।
त्रैविद्यः । त्र्यवयवा विद्या इति यसेऽयं प्रतिषेधः । रसे तु “रस्योबनपस्ये” [३।१।७४] इत्युपा भवितव्यम् ।
तत्र नास्ति विशेषः । “आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च” [वा०] आख्यानाख्यायिकयोरर्थग्रहण-
मितिहासपुराणयोः स्वरूपग्रहणम् । आख्यानात्-यावक्रीतिकः । आधिभारिकः । आख्यायिकायाः-वासव-

दत्तिकः । ऐतिहासिकः । पौराणिकः । “सर्वसादेरसाच्चोप्” [वा०] सर्वादेः सादेरसाच्चोप् भवति । सर्ववेदः । सर्वतन्त्रः । सादेः-सवार्चिकः । ससंग्रहः । सर्वत्र ठण् उप् । रसात् । पञ्चकल्पः । त्रिलक्षणः । त्रिसूत्रः । विद्यालक्षणकल्पसूत्राद्युक्तः । पदोत्तरपदादिकः । पूर्वपदिकः । उत्तरपदिकः । “शतषष्टिभ्यां षष्टिकः” [वा०] शतपथिकः । शतपथिकी । षष्टिपथिकः । षष्टिपथिकी । “अनुसूक्तष्यकक्षयोभ्यश्च ठण्” [वा०] अनुसूनाम ग्रन्थः । अनुसूमधीते आनुसुकः । लाक्षिकः । लाक्षणिकः । द्विपद ज्योतिष अनुपद अनुकल्प । इतिकरणं प्रयोगार्थं वर्तते । ततोऽयं विभागो लभ्यते ।

क्रमदेवुन् ॥३१२।५३॥ तद्वेच्यधीते इति वर्तते । क्रम इत्येवमादिभ्यो वुन् भवति । क्रमं वेच्यधीते वा क्रमकः । क्रम पद शिक्षा मीमांसा सामन् । “अनुब्राह्मणादिन्वक्तव्यः” [वा०] ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थो अनुब्राह्मणं तदधीते अनुब्राह्मणी । अनुब्राह्मणिनौ । अनुब्राह्मणिनः । मत्वर्थीयेन सिद्धेऽपि अण्नाधनार्थ-मिदं वक्तव्यम् ।

उप्योक्तात् ॥३१२।५४॥ प्रोक्तेऽर्थे विहितः प्रोक्तः । प्रोक्त्यान्तादध्येतृवेदित्रोक्तपत्रस्य त्यस्योच् भवति । गौतमेन प्रोक्तं गौतमं तद्वेच्यधीते वा गौतमः । भद्रबाहुना प्रोक्तं भाद्रबाहवं तद्वेच्यधीते वा भाद्र-बाहवः । परस्याण उपि कृते योऽवस्थितः प्रोक्तार्थविषयोऽण तस्य न्यत्त्वात् “अनोचः” [३।१।१७] इत्यधि-कारात् “दिद्धाणञ्” [३।१।१८] इति डीविधिर्न भवति अतश्चापि गौतमा । भाद्रबाहवा स्त्री ।

सूत्रात्कोडः ॥३१२।५५॥ सूत्रवाचिनः ककारोडः अध्येतृवेदित्रोक्तपत्रस्य त्यस्योन्भवति । अप्रोक्ता-र्थोऽयमारम्भः । पञ्चाध्यायाः परिमाणमस्य पञ्चकं सूत्रम् । एवमष्टकं द्वादशकम् । पञ्चक्रमधीयते विदन्ति व पञ्चका जैनेन्द्राः । अष्टकाः पाणिनीयाः । द्वादशका आर्हताः । “संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । तत्त्वार्थवार्तिकमधीते तात्त्वार्थवार्तिकः । कलापकमधीयते कालापकाः ।

छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव ॥३१२।५६॥ प्रोक्तग्रहणमनुवर्तमानं छन्दोब्राह्मणानां विशेषणम् । अत्रेत्य-नेनाध्येतृवेदितृव्यविषया गृह्यते । छन्दोवाचीनां ब्राह्मणवाचीनि च प्रोक्त्यान्तान्यत्रैवाध्येतृवेदितृव्यविषये वर्तन्ते । अध्येतृवेदितृव्यविषया वृत्तिरेव यथा स्यादित्यर्थः । उभयावधारणं चेदमेवकारोपादानाङ्गभ्यते । अन्यथाऽरम्भसामर्थ्यात् विषयावधारणे सिद्ध एवकाराऽनर्थकः स्यात् । प्रोक्त्यान्तस्यात्रैव वृत्तिर्नान्यत्र । तथा वृत्तिरेव न केवलावस्थानमित्युभयथा नियमः । अन्यत्रानियमात् क्वचित् स्वातन्त्र्यं भवति । अर्हता प्रोक्तं शास्त्रं क्वचिदु-पान्यतरयोगः । आर्हतमर्हत्सु विहितमिति । क्वचिद्वाक्यमार्हतमधीते । क्वचिद्वृत्तिः आर्हता इति । इदं पुनर्नि-यमाद् युगपदेव विग्रहः । कठेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते कठाः । शौनकादिषु “वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः” [ग०सू० ३।३।७७] इति वचनात् णिन् । तत्रैव “कठचरकादुप्” [ग०सू० ३।३।७७] इति तस्योप् । ततः परस्याणः “उप्योक्तात्” [३।२।५४] इत्युप् । नोदेन प्रोक्तमधीयते नोदाः । पैप्पलादाः । “कलापिनोऽण्” [३।३।७६] इत्यत्राण्ग्रहणसामर्थ्यात् अन्यत्राप्यण् । आर्चाणिनः (आर्चायिनः) “वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः” [३।३।७७] इति णिन् । वाजसनेयिनः । शौनकादिवात् णिन् । ब्राह्मणानि खल्वपि । ताण्डिना प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते ताण्डिनः । शौनकादिषु “पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकरूपेषु” [ग०सू० ३।३।७७] इति णिन् । भल्लवेन प्रोक्तमधीते पूर्ववर्षिणन् । भल्लविनः । एवं साव्यायनिनः । ऐतरेयिणः । छन्दोग्रहणेन सिद्धे पृथग् ब्राह्मणग्रहणं किम् ? पुराणप्रोक्तत्वविशिष्टब्राह्मणपरिग्रहार्थम् । इह मा भूत् । याज्ञवल्केन प्रोक्तानि याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि । “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८०] इत्यण् । यलम् । सुलमेन प्रोक्तानि सौलमानि “कलापिनोऽण्” [३।३।७६] इत्यन्यत्राप्यण् । याज्ञवल्क्यादयोऽवरकाला इति व्यवहारः । चकारः किमर्थः ? ब्राह्मणस-दृशब्राह्मणानां समुच्चयार्थः । काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यपिनः । कौशिकेन प्रोक्तं कल्पमधीयते कौशि-किनः । शौनकादिषु “काश्यपकौशिकाभ्याम्” [ग०सू० ३।३।७७] इति णिन् । गुणभूतछन्दसां च समुच्च-

यार्थम् । पाराशर्येण प्रोक्तं सूत्रमधीयते पाराशरियो भिन्नवः । शिलालिना प्रोक्तमधीयते शैलालिनो नटाः । शौनकादिषु “पाराशर्यशिक्षादिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः” [ग० सू० ३।३।७७] इति णिन् । कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनः । कुशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कुशाश्विनः । शौनकादिष्वेव “कर्मन्दकुशाश्वाम्भ्यामिन्” [ग० सू० ३।३।७७] इति भिक्षुनटसूत्रयोरिति वर्तते ।

तदस्मिन्नस्तोति देशः खौ ॥३।२।१७॥ तदिति वासमर्थादस्मिन्नितीवर्थे यथाविहितं त्यो भवति । यत्तद्वासमर्थमस्ति चेत् तद्ववति । यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्टं देशश्चेत्तद् भवति । समुदायेन खुविषये । इति-करण्याद् भूमादिविषये विवक्षा । औदुम्बरः । वाल्वजः । पार्वतः । मत्वर्थीयोऽनेन बाध्यते ।

तेन निर्वृत्तः ॥३।२।१८॥ देशः खाविति वर्तते । तेनेति भासमर्थाद् निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथा-विहितं त्यो भवति देशः खौ । ककन्देन निर्वृत्ता काकन्दी । मकन्देन निर्वृत्ता माकन्दी । कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी । सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा । खावित्येव । वनेन निर्वृत्तम् । इह यदाऽकर्मका अपि धवः सगयः सकर्मका भवन्तीति कर्मणि निर्वृत्तशब्दो व्युत्पाद्यते, तदा तेनेति कर्तरि करणे वा भा । यदा त्वकर्म-कविवक्षया कर्तरि निर्वृत्तशब्दस्तदा हेतौ भा ।

तस्य निवासादूरभवौ ॥३।२।१९॥ देशः खाविति वर्तते । तस्येति तासमर्थात् निवास अदूरभव-इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं त्यो भवति देशनाम्नि गम्यमाने । निवसन्यास्मिन्निति निवासः “हळः” [३।३।१०२] इत्यधिकरणे घञ् । भवतीति भवः । पचाद्यच् । अदूरे भवः निपातनात्सविधिः । वसतेर्निवासः वासातम् । औषुष्टम् । शलाकाया निवासः शालाकम् । वाराणस्या अदूरभवा वाराणसी । विदिशाया अदूरभवं वैदिशम् । ब्रीहीमत्या अदूरभवं ब्रैहिमतं नगरम् ।

बुञ्जण्कठेलसेअढरण्ययफरिफभिञ्जकण्ठणोऽरीहणकुशाश्वश्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मस-
खिसंकाशबलपक्षकर्णसुतङ्गमवराहकुमुदादिभ्यः ॥३।२।६०॥ बुजादयः षोडश त्या यथासंख्यम-
रीहणादिभ्यः षोडशभ्यो गणोभ्यो भवन्ति यथासंभवं प्रागुक्तेषु चतुरर्थेषु । अरीहणादिभ्यो बुञ् । अरीहणेन
निर्वृत्तं अरीहणकम् । अरीहण द्रुघण द्रवण खदिर भगल उलुन्द साम्परायण क्रौश्रयण चैत्रायण त्रैगर्तायन
रायस्योष विपथ विसाय उदण्ड उदञ्जन शालायन खाण्डायन खण्डवीरण काशकृत्स्न जाम्बवत शिशपा
किरण रैवत तैल्व वैमतायन सौमायन शाण्डिल्यायन सुयज्ञ विपाश वायस । कुशाश्वदिभ्यश्चण् भवति ।
कुशाश्वेन निर्वृत्तं कार्शाश्वीयम् । कुशाश्व अरिष्ट वेशमन् वेप्य विशाल रोमक लोमक ववर शवल
रोमश वर्वर सूकर पूतर सदृश सुख धूम अञ्जिर विनत अवनत हरस अयस् विकुघास अनस
अवसाय मौद्गल्य । ऋश्यादिभ्यः ङो भवति । ऋश्या अस्मिन्देशे सन्ति ऋश्यकः । ऋश्य । न्यग्रोध ।
सर (शिरा) । निलीन । निवास^१ । निद्यास । वितान । विधान । निबद्ध । बिबुद्ध । परिगूढ । उपगूढ ।
उपगूह । उच्चराशमन्^२ । स्थूलवाहु । स्थूलवाह । खदिर । शर्करा । अनडुह् । परिवंश । वेणु ।
वीरण । कुमुदादिभ्यष्टो भवति । कुमुदान्यास्मिन् देशे सन्ति कुमुदिकम् । कुमुद । शक्करा । न्यग्रोध ।
कर्कट । संकट । इत्कट । मन्तु । बीज । अश्वत्थ । बल्वज । प्रथक । गत्त । वरिवाप^३ । अद्भ ।
पवाश । शिरीष । कूप । विकङ्कत । कासादिभ्य इळो भवति । काशा अस्मिन्देशे सन्ति काशिलम् ।
आश । वास^४ । अश्वत्थ । पलाश । पीलूष । विस । तृण । वर्धूल^५ । कर्दम । नड । वन । कपूर ।
कर्कट । गुह । सा(शा)कटिक । तृणादिभ्यः सो भवति । तृणान्यस्यां सन्ति तृणसा । तृण । नड ।

१. निवात ब०, पू० । २. उत्तराशमन् पू० । ३. परिवाय ब०, पू० । ४. वाम पू० । ५. वर्धूल ब० ।

पर्यं । वर्षं । मूल । वराण^१ । अर्जुन । जनक^२ । फल । प्रेक्षादिभ्य इन् भवति । प्रेक्षाऽस्मिन्स्ति प्रेक्षी । फलकः । वन्धुक । ध्रुवक^३ । ध्रुवका । क्षिपका । न्यग्रोध । इत्कट । कण्टक^४ । संकट । कपि । अरमादिभ्यो रो भवति । अरमानोऽस्मिन् सन्ति, अरमरम् । अरमन् । यूथ । ऊथ । मीन । दर्भ । वृन्दा । गुडा । खण्ड । काण्ड । नग । शिखा । सख्यादिभ्यो ङण् भवति । सख्या निर्वृत्तं साख्यम् । दान्तेयम् । सखि । दन्त^५ । वासवदत्त । अग्निदत्त । वायुदत्त । गोपिल^६ । भल्ल । पाल । चक्रवाक । छगल । अशोक । सिनका । सरकापाल । संकाशादिभ्यो ण्यो भवति । संकाशेन निर्वृत्तं सांकाश्यम् । संकाश । कम्पिल । काश्मीर । शूरसेन । सुपथिन् । सुपथञ्च । मन्मथ । यूथ । अङ्गनाथ^७ । कुल । अरमन् । कूटा । मलिन । तीर्थ । अगस्ति । सूर । विरत । विरह । विकर । नासिका । सादिन् । शादिन् । मगदिन् । कलिर । खदिर । गडिर । चूडार । मञ्जार । कोविदार । गोहल । चक्रवाक । अशोक । करवीरक । सीरक । सरक । मुसल । मुखर । वल्गादिभ्यो यो भवति । वलेन निर्वृत्तं वल्यम् । वल । पूल । मूल । ऊल । तल । नल । वच । क्रल । पक्षादिभ्यः फण् भवति । पक्षेण निर्वृत्तः पाक्षायणः । पक्ष । तुष^८ । अण्डक । मुण्ड । कम्बलिक । यका । चित्रा । अस्तिश्वन् । पथिन् पन्थ च । कुम्भ । सीरक । सरक । सरस । पञ्जल । रोमन् । लोमन् । लोमक । हंसक । सकर्णक । हस्त । विल । कर्णादिभ्यः फिञ् भवति । कर्णेन निर्वृत्तः कार्णायनिः । कर्ण । वशिष्ठ । अर्क । लुस^९ । द्रुपद । आनडुह्य । पाञ्चजन्य । स्फिग् । कुलिश । कुम्भ । जित्वन् । जीवन्त । अण्डीवत् । सुतङ्गमादिभ्य इन् भवति । सुतङ्गमेन निर्वृत्तः सौतङ्गमिः । सुतङ्गम । मुतिचित्त । विप्रचित्त । महाचित्त । महापुत्र । श्वेत । अण्डिक । शुक्र । विप्र । वीजवापिन् । श्वन् । अर्जुन । अजिर । वराहादिभ्यः कण् भवति । वराहा अस्मिन्देशे सन्ति वाराहकम् । वराह । पलाश । शिरीष । विनद्ध । स्थल । निबद्ध । निदग्ध । विजग्ध । विभिन्न । विभग्न । बहु । खदिर । शर्कर । कुमुदादिभ्यः ठण् भवति । कुमुदानि अस्मिन्देशे सन्ति कौमुदिकम् । कुमुद । गोमथ^{१०} । रथकार । दशग्राम । अश्वत्थ । शालमली । मुनिस्थल । कूट । शुचुकर्ण । शुचिकर्ण । इति केचित् । अरीह-णादिषु कुमुदादिषु पठितस्य शिरीषशब्दस्य वरणादिषु दर्शनात् तस्य पक्षे उस् भवतीति वेदितव्यम् । उक्त्वञ्च भाष्यकृता शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषः । तस्य वनं शिरीषवनम् ।

जनपद उस् ॥३१२॥६१॥ चतुर्ष्वर्थेषु देशे खौ यस्त्यो विहितः तस्य जनपदे देशविशेषेऽभिधेये उस् भवति । पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । उस्तनेन यत्र देशः खुविषयो भवति तत्रायमुस् । इह गा भूत् । उदुम्बरा अस्मिन्देशे सन्ति औदुम्बरो जनपदः ।

वराणादेः ॥३१२॥६२॥ वरण इत्येवमादिभ्यस्त्यस्योस् भवति चतुर्ष्वर्थेषु उत्पन्नस्य । अजनपदार्षोऽयमारम्भः । वरणानामदूरभवं वरणा नगरम् । शृङ्गिशालमलयः । शिरीषा ग्रामः । गोदौ हृदौ तयोरदूरभवो गोदौ ग्रामः । एवम् आलिङ्गायन । पर्या । सपाटी^{११} । जालपदी^{१२} । मथुरा । उजयनी । गया । तक्षशिला । उरस् । आकृतिगणोऽयम् । तेन वदरी । कटुवदरी । काञ्ची । समन्तपञ्चकस्यादूरभवं समन्तपञ्चकं कुरुक्षेत्रम् इत्येवमादीनां परिग्रहः ।

१. चरण इति काशिकायाम् । २. जन पू० । ३. ध्रुवका । ध्रुवका । पू० । ध्रुवक । ध्रुवका । ब० । ४. कंकट पू० । ५. सखि दन्त पू० । ६. पिछ । गहिल । भ-पू० । ७. काश्मीर पू० । अङ्ग । कुलनाथ पू० । ८. रुष पू० । ९. तुष स० । १०. गोमठ ब०, स० । ११. सपाटी ब० । सग्पाटी । १२. जालपदी ब० ।

शर्कराया वा ॥३।२।६३॥ शर्कराशब्दादुत्पन्नस्य चातुरार्थिकस्य वा उरुभवति । शर्कराशब्दः । कुमुदादिषु वराहादिषु च पाठसामर्थ्यात् पक्षे षण्-कणोः भवणं भवति । शर्कराग्रामः । शर्करिकः । शार्करिकः । “केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशः । अन्ते उत्सर्गास्येर्णं विकल्पमिच्छन्ति । तेषां शार्करेत्यपि भवति । अन्यथा विकल्पोऽनर्थकः स्यात् ।

ठण्छौ ॥३।२।६४॥ ठण्छ इत्येतौ त्रौ भवतः शर्कराशब्दात् चतुर्ष्वर्थेषु । शार्करिकम् शर्करीयम् ।

नद्यां मतुः ॥३।२।६५॥ नद्यामभिधेयायां मृदो मतुर्भवति चतुर्ष्वर्थेषु देशे खौ । उदुम्बरा अस्यां सन्ति, उदुम्बरावती । वीरणावती । पुष्करावती । इक्षुमती । द्रुमती । कथं भागीरथी भैमरथी बाह्वी ? वेत्यनुवृत्तेर्व्यवस्था ।

मध्वादेः ॥३।२।६६॥ मधु इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति चतुर्ष्वर्थेषु । अनद्यर्थोऽयमारम्भः । मधु अस्मिन्देशेऽस्ति, मधुमान् । मधु । विश । स्थाणु । पृथि । इक्षु । वेणु । कर्कन्धु । शमी । करीर । हिम । किसरा । सार्यण^२ । उरुम् । वा^३र्दाकी । वल्मीक । इष्टका । शुक्ति । आसुति । आसन्दी । शालाका । वेयवेण ।

कुमुदनडवेतसाडित् ॥३।२।६७॥ कुमुद नड वेतस इत्येतेभ्यश्चतुर्ष्वर्थेषु मतुर्भवति डिच्च । कुमु-दान्यस्मिन्देशे सन्ति, कुमुदवान् । वेतस्वान् । “महिषाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । महिष्मान् ।

शिखाया वलः ॥३।२।६८॥ शिखाशब्दाद् वलो भवति चातुरार्थिकः । शिखाया निर्वृत्तं शिखाया अद्रूरभवं वा शिखावलं नाम नगरम् ।

नडशादाडित् ॥३।२।६९॥ नडशादाभ्यां वलो भवति डिच्चतुर्ष्वर्थेषु । नडा अस्मिन्देशे सन्ति नड्वलः । शाडवलः ।

उत्करादेश्छः ॥३।२।७०॥ उत्कर इत्येवमादिभ्यश्छो भवति चतुर्ष्वर्थेषु यथासम्भवम् । उत्करेण निर्वृत्तम्, उत्करीयम् । उत्कर । संकर । सम्फल । पिप्पल । मूल । अश्मन् । अर्क । पर्या^४ । खण्डाजिन^५ । अग्नि । तिक । कितव । आतप । अंशक^६ ।

नडादेः कुक् ॥३।२।७१॥ नड शब्द आदिर्व्यस्य नडादिः, तस्मात्, नड इत्येवमादिभ्यो यथासम्भवं चातुरार्थिकश्छो भवति कुगागामश्च । नडा अस्मिन्देशे सन्ति नडकीयः । नड । लड् । विल्व । वेणु । वेत्र । वेतस । तृण । इक्षु । वाष्ट । कपोत । क्रौञ्चः प्रादेशश्च । तक्षन् तखञ्च ।

शेषे ॥३।२।७२॥ अपत्यादयश्चतुरर्थपर्यन्ता येऽर्था उक्तास्ततोऽन्यः शेषः, शेषेऽर्थविशेषे यथा-विहितं त्यो भवति । चतुर्भिर्ह्यते चातुरं शकटम् । अश्वैरुह्यते आश्वो रथः । चक्षुषा गृह्यते चान्क्षुषं रूपम् । आवणः शब्दः । दार्शनं स्पर्शनं च द्रव्यम् । दृषदि पिष्टाः दार्षदाः सकृवः । उलूखले क्षुरणः, औलूखलो यावकः । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । अनुष्टुपादिरस्य प्रगाथस्य, आनुष्टुभः । पाङ्कः । जागतः । स्वार्थेऽनुष्टुबेव आनुष्टुभम् । पाङ्कम् । जागतम् । “तेन दृष्टं साम ।” क्रौञ्चेन दृष्टं साम, क्रौञ्चम् । वासिष्ठम् । वैश्रामित्रम् । मायूरम् । “वामदेवाद्यो वक्तव्यः” [वा०] । वामदेवेन दृष्टं वामदेव्यम् । “कचिद्दृष्टे सामनि जाते चार्थे योऽन्योऽण् विधीयते स च द्विद्भवतीति वक्तव्यम् ।” उशनसा दृष्टं साम औशनम् । औशनसम् । शतभिषजि जातः शतभिषः शतभिषजः । “काकाट्टजि” [३।२।१३१] प्राप्ते

१. पृष्टि व०, प० । २. सौर्यण व० । ३. वार्दाका प० । ४. -पर्या । सुपर्या । व-व०, प० । ५. -जिन । वकाजिन । अग्नि व०, प० । ६. अशंक प० ।

“भसन्व्याहृतुभ्योऽवर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३०] इत्यण् । “दृष्टे सामनि वृद्धावङ्कवद् वक्तव्यम्” [वा०] । औपगवेन दृष्टं साम, औपगवकम् । कापटवकम् । “वृद्धचरणाम्बित्” [३।३।१४] इति वुन् ।

“दृष्टे सामनि जाते च योऽन्योऽण् वा द्विद्विधीयते । तीयादीकण् च विद्यायां वृद्धावङ्कवद्विष्यते ।”

शेष इति लक्षणमधिकारश्चायम् । शेषभूतेषु जातादिष्वर्थेषु घादयो वक्तव्यमाणा वेदितव्याः । तस्येदं विशेषेष्वर्थेषु अपत्यसमूहादिषु मा भूवन्निति ।

राष्ट्रावारपाराद्घञौ ॥३।२।७३॥ राष्ट्र अवारपार इत्येताभ्यां यथासंख्यं घ ख इत्येतौ ल्यौ भवतः । राष्ट्रे जातः राष्ट्रियः । अवारपारीणः । “विगुहीतादपीष्यते” । अवारपीणः । पारीणः । “विपरीतादपि” पारावारीणः । अवारस्य पारे (रम्) पारावारः समुद्रः, राजदन्तादिरवात् [१।३।६६] परनियमः ।

ग्रामाद्यखञौ ॥३।२।७४॥ ग्रामशब्दात् य खञ् इत्येतौ भवतः शेषार्थाऽभिधाने । ग्राम्यः । ग्रामीणः । खञो जित्करणं “ज्जिद्दृष्टद्वरङ्कविकारे” [४।३।१५१] इत्यत्र पुं वद्भावप्रतिषेधार्थम् । ग्रामीणार्थः ।

कत्त्र्यादेर्ढकञ् ॥३।२।७५॥ कत्त्रि इत्येवमादिभ्यो ढकञ् भवति । कुत्सिताज्ञयो यस्या यस्य वा असौ कत्त्रिः, तत्र जातो भवो वा कात्त्रेयकः । कत्त्रि । उम्भि^१ । पुष्कर । पुष्कल । पोदन^२ । मौदन । उम्भि । कुण्डिनी^३ । नगरी । माहिभ्मती । चर्मणवती । कुड्या । कुल्या । अनयोर्यखं च “ग्रामाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] ग्रामेयकः । “कुङ्कुक्षिग्रीवाभ्यो यथासंख्यं श्वास्थलङ्कारेण्विति वक्तव्यम्” [वा०] कौलेयको भवति श्वा चेत्, कौलोऽन्यः । कौलेयको भवत्यसिश्चेत्, कौलोऽन्यः । ग्रैवेयको भवत्यलङ्कारश्चेत्, ग्रैवोऽन्यः ।

नद्यादेर्ढण् ॥३।२।७६॥ नदी इत्येवमादिभ्यो ढण् भवति शेषे । नद्यां जातो भवो वा नादेयः । नदी । मही । वाराणसी । श्रावस्ती । कौशाम्बी^४ । काशफरी^५ । खादिरी । पूर्वनगरी । पावा । मावा । शीलवा^६ । दावा । सैतव । बडवाथा^७ नृषे इति । अत्र केचित् पूर्वनगरीशब्दस्थाने पूर्वनगिरिशब्दं पठन्ति । छेदेन च त्यमुत्पादयन्ति । पुरि भवं पौरैयम् । वने भवं वानेयम् । गिरौ भवं गैरेयम् ।

दक्षिणापश्चात्पुरस्सत्यण् ॥३।२।७७॥ दक्षिणा पश्चात् पुरस् इत्येतैम्यस्त्यण् भवति शेषे । दक्षिणस्यां दिशि वसति “दक्षिणादा” [४।१।१००] इति आकारे कृते दक्षिणा, तत्र भवो दक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

ट्फण् कापिश्याः ॥३।२।७८॥ ट्फण् भवति कापिशीशब्दात् शेषे । कापिश्याम्भवं कापिशायनं मधु । कापिशायनी दान्ता । “बाह्युर्दिग्भ्यश्चेति वक्तव्यम्” बाहायनी । आर्दायनी ।

रङ्क कोः ॥४।२।७९॥ रङ्कुशब्दात् ट्फण् भवति शैषिकः । रङ्कुषु जातः राङ्कवायणो गौः । “प्राणिनीति वक्तव्यम्” । इह माभूत् । राङ्कवः कम्बलः । कथं राङ्कवो गौः ? शेषे कञ्छादिपाठात् अणपि भवति । मनुष्ये त्वभिधेये परत्वात् “नृतस्थयोर्वुञ्” [३।२।११३] इति वुञ् भवति । राङ्कवको मनुष्यः ।

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यः ॥३।२।८०॥ दिव् प्राच् अपाच् उदच् प्रतीच् इत्येतैभ्यो यो भवति शेषे । दिव्यः । प्राच्यः । अपाच्यः । उदीच्यः । प्रतीच्यः । यदा प्रागादयः शब्दाः भिसंज्ञकाः कालवाचिनस्तदा परत्वात् “सार्थचिरम्प्राह्वे प्रगेकभ्यस्तनट्” [३।१।१४०] इति तनट् । प्राक्कनः ।

१. ड'सि प० । २. पौदन ब०, स० । ३. कण्डिनी अ०, ब०, पू० । ४. -म्बी । वनकौशाम्बी । का-अ०, ब०, पू० । ५. कासपशि । सफरी पू० । कासपारी । सफरी अ० । कासपारी खा- ब० । ६. शाखा अ०, पू० । ७. बडवाथा वषे इति काशि० ।

भेस्तुट् ॥३१२।८१॥ भित्तंशकाद्यो भवति तुडागमः शेषे । अत्र परिगणनम् । “अमेहकतसि-
त्रेभ्यः” इति । अमात्यः । इहत्यः । कत्यः । ततस्त्यः । तत्रत्यः । परिगणनं किम् ? उपरिष्ठात् जातः,
अपौरिष्ठः । भेर्ममात्रे टिलम् । परतो जातः पारतः । उत्तराहि जातः, औत्तराहः । “द्वोरङ्गः” [३१२।१०] इति
एव भवति । आरातीयः । “नेभ्रुं व इति वक्रभ्यम्” [वा०] नियतं सर्वकालं भवं नित्यम् । “निस्रो गत इति
वक्रभ्यम्” [वा०] निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्पत्यः श्वपचादिः ।

वैषमोह्यस्त्वसः ॥३१२।८२॥ ऐषमस् ह्यस् श्वस इत्येतेभ्यो वा यो भवति । यदा यस्तदा
तुट् । ऐषमस्त्यः । ऐषमस्तनः । ह्यस्त्यः । ह्यस्तनः । श्वस्त्यः । श्वस्तनः । “श्वसस्तुट् च” [३१२।१३५] इति
पात्तिके ठञि, शौवस्तिकः । “द्वारादिः” [५।२।६] इत्यौच् ।

रूप्यद्योर्ण्यः ॥३१२।८३॥ रूप्यशब्दो द्युर्यस्य तस्मात् णो भवति शौषिकः । वृक् रूप्ये जातः
वार्करूप्यः । दुसंज्ञायां परत्वात् “अन्वयोङः” [३।१।१६] इति वुञ् भवति । माणिरूप्ये जातः,
माणिरूप्यकः ।

दिगादेरखौ ॥३१२।८४॥ दिग्विशेषादेर्मृदः अखौ वर्तमानात् णो भवति । व्यणोऽपवादः । शेषे ।
पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः । “हृद्वर्थः” [१।३।४६] षसः । एवम् आपरशालः । दाक्षिणशालः ।
अखाविति किम् ? पूर्वेषु कामसम्यां जातः, पूर्वेषु कामसमः । अपरैषु कामसमः । “दिक्संख्यं खौ” [१।३।४६]
इति सः । “प्रार्चा प्रामाण्याम्” [५।३।१६] इति चौरैप् ।

मद्रेभ्योऽण् ॥३१२।५॥ दिगादेरिति वर्तते । दिगादेर्मद्रशब्दात् अण् भवति शौषिकः । “बहु-
त्वेऽद्वोरपि” [३।२।१०३] इति वुञ् प्रातः । तदपवादे “वृजिमद्राङ्कः” [३।२।१०६] इति के प्राप्ते
पुनरनेनाण् । पौर्वमद्रः । आपरमद्रः । “दिज्ञोऽमद्राणाम्” [३।२।१०८] इति पर्युदासादादेरैप् । दिगादे-
रित्येव । मद्रकः । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे अण्ग्रहणं राष्ट्रलक्षणस्यापि वुञो बाधनार्थम् ।

पलद्यादेः ॥३१२।८६॥ पलदी इत्येवमादिभ्योऽण् भवति शौषिकः । पलद्यां जातः, पालदः
पारिषदः । “वा नाम्नः” [१।१।७१] इति दुसंज्ञायां छः प्रसज्येत । इह वाहीकशब्दश्छुवाधार्थमुपात्तः ।
गौष्ठीनैकेतीशब्दाभ्यां छः प्रातः । वाहीकशब्दत्वाच्च ठञितौ प्रातौ । गोमतीशब्दात् “रोङ्गीतोः प्राचाम्”
[३।२।१०१] इति वुञ् प्रातः । “ओर्देशे ठञ्” [३।२।१५] इत्यत्र (इत्यतो) देशग्रहणमनुवर्तते ।
गोमती च नदी । “भिन्नलिङ्गो नदीदेशः” [१।४।८३] इत्यत्र ज्ञापितं नदीदेशग्रहणेन न गृह्यते । गोमत्यां
भवा मत्स्या गौमता इति । तस्मादिह पाठोऽनर्थकः । एकीयमतमेतत् । अथवा इदमेव ज्ञापकम्, नचपि
देशग्रहणेन गृह्यते । “भिन्नलिङ्गो नदीदेशः” [१।४।८३] इत्यत्र नदीग्रहणं जलाशयनियमार्थमुक्तम् ।
भवदुदकानां द्रव्य एकवद् भवति (न) स्थिरोदकानां कूपसरस्तडागानाम् । वैश्वामित्रं च तडागं जरत्कूपश्च
वैश्वामित्रजरत्कूपौ । शरसेनशब्दात् “बहुत्वेऽद्वोरपि” [३।२।१०३] इति वुञ् प्रातः । पलदी । परिषत् ।
यकृत् । लोमन् । नलञ्च । पटञ्चर । वाहीक । कलकीक । बहुकीट । कमलभिन् । गौष्ठी । नैकेती । परिखा ।
उदपान । रोमक । शरसेन । गोमती ।

शकलादिभ्यो वृद्धे ॥३१२।८७॥ शकल इत्येवमादिभ्यो वृद्धे यो विहितस्त्यस्तदन्तेभ्योऽण् भवति
शेषे । शाकल्यस्य छात्राः शाकलाः । “क्यकन्यनाद्घृत्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यलम् । कायवस्य
छात्राः कायवाः । गौकच्यस्य गौकचः । कौण्डिन्यस्य कौण्डिनः । वृद्ध इति किम् ? शकलो देवताऽस्य शाकलः
शाकलस्येदम् शाकलीयम् । उत्तरायं च वृद्धग्रहणम् ।

इञ् ॥३२।८८॥ वृद्धे यो विहितः इञ् तदन्तादण् भवति शेषे । दाक्षेरिदं दाक्षम् । प्लाक्षम् । वृद्ध इत्येव । सौतङ्गमेरिदं सौतङ्गमीयम् ।

न द्व्यचः प्राच्यभरतेषु ॥३२।८९॥ द्व्यचो मृदः प्राच्यभरतात् वृद्धादिअन्तादण् न भवति । पूर्वेषु प्राप्तस्य प्रतिषेधः । प्राच्येषु चैदीयाः^१ । पौषीयाः । भरतेषु काशीयाः । वासीयाः । द्व्यच इति किम् ? पानागारेऽङ्गात्राः पानागाराः । प्राच्यभरतेषु इति किम् ? दाक्षाः । ज्ञाक्षाः । “काश्यादेष्टञ्जिठौ” [३।१।१३] इत्यत्र चेदिशब्देन साहचर्यादेशवाचिनः काशिशब्दस्य ग्रहणम् । इह वृद्धत्यान्ताच्छ उदाहृतः । ननु भरताः प्राच्या एव तेषां किमर्थं पृथगुपादानम् । अन्यत्र प्राच्यग्रहणेन भरतग्रहणं मा भूदित्येवमर्थम् ।

दोश्छुः ॥३२।९०॥ वृद्ध इति निवृत्तम् । सामान्येनोपादानात् । दोर्मृदश्छो भवति शेषे । सौता-रीयम् । मालीयम् । “रूप्यघोः” [३।२।८३] छं (छयं) बाधिला परत्वात् “अन्वयोः” [३।२।९१] इति वुञ् । माणिरूप्ये भवः माणिरूप्यकः । “उदीच्यग्रामात् प्रस्थघोरण् वक्तव्यः” [वा०] माषी-प्रस्थम् । माहकीप्रस्थम् ।

भवतष्टण्छसौ ॥३२।९१॥ दोरिति वर्त्तते । भवच्छब्दात् ठण् छुस् इत्येतौ ल्यौ भवतः शेषे । सकारः “सिति” इति पद संज्ञार्थः । भावकम् । भवदीयम् । “मृद्ग्रहणे छिञ्जिष्टस्य भवतीशब्दस्य ग्रहणे ठण्छसोः” [वा०] इति वक्ष्यमाणेनोपसंख्यातेन पुंवद्भावे तदेव रूपम् । यस्त्यदादिषु न पठ्यते शत्रन्तो भवच्छब्दः, तस्मादणि भावतमिति ।

काश्यादेष्टञ्जिठौ ॥३२।९२॥ काशि इत्येवमादिभ्यः ठञ् जिठ इत्येतौ ल्यौ भवत शेषे । इकार उच्चारणार्थः । काशयो वनपदः तत्र जाता काशिकी, काशिका । वैदिकी, वैदिका । काशि । वेदि । सांयाति । संवाह । अच्युत । मोदमान । संकुलाद । हस्तिकर्ण । कुनामन् । हिरण्य । करण । गोवासन । भौरिङ्गि । भौरिङ्गि । अरिन्दम । शकमित्र । देवदत्त । दासमित्र । दासग्राम । गोवाहन । तरङ्ग । सौदावतामि^२ । युवराज । उपराज । सिन्धुमित्र । देवराज । “आपदादिपूर्वपदात् काळान्ताद् ठञ्जिठौ वक्तव्यौ” [वा०] । आपत्कालिकी । आपत्कालिका । और्ध्वकालिकी । और्ध्वकालिका । आपद् । ऊर्ध्व । कूप । अनु । पूर्व । इत्यापदादिः । दोरिति वर्त्तते । यत्रादुसंज्ञास्तेषां वचनाद् ग्रहणम् । दोरधिकारस्य तु प्रयोजनं देवदत्तस्य प्राग्देशे वर्त्तमानस्य दुसंज्ञा न वाहीकग्रामे । दोरेव ठञ्जिठौ । कथं भाष्ये प्रयोगः देवदत्तीयाः । दैवदत्ताः इति । “वा नाम्नः” [१।१।७१] इत्यत्र वेति व्यवस्थितविभाषा छे कर्त्तव्ये दुसंज्ञा भवति ठञ्जिठयोर्न भवति ।

वाहीकग्रामेभ्यः ॥३२।९३॥ दोरिति वर्त्तते । वाहीकग्रामेभ्यष्टञ्जिठौ भवतः शेषे । सकलाज्जाता, सकलिकी, सकलिका । मान्यपिकी । मान्यपिका । कारतायिकी । कारतायिका ।

वोशोनरेषु ॥३२।९४॥ दोरिति वर्त्तते । उशीनरेषु ये ग्रामाः, तद्वाचिभ्यष्टञ्जिठौ वा भवतः । आहूजालिकी, आहूजालिका, आहूजालीया । सौदर्शनिकी, सौदर्शनिका, सौदर्शनीया ।

ओर्देशे ठञ् ॥३२।९५॥ इह दो रदोश्च विधिः । उत्तरसूत्रे पुनर्दुर्ग्रहणात् । उवर्णान्ताद्देश-वाचिनो मृदष्टञ् भवति देशे । निषादकर्षां जातः, नैषादकर्षुकः । एदञ्चरञ्जुक्तः^३ । छस्य परत्वादयं ठञ् बाधकः । दाक्षिकर्षुकः । दोष्टञ्जिठयोःपि बाधकः । वाहीकग्रामे, नापितवास्तौ जातः नापितवास्तुकः । देश इति किम् ? पयोऽङ्गात्राः—पाटवाः ।

१. चैकीयाः अ०, ब०, प०, । २. सौधावनानि अ० । सोधावतानि प० । ३. एपञ्चरञ्जुक्तः अ०, प० । एपञ्चरञ्जुक्तः ब० ।

दोः प्राचाम् ॥३।२।९६॥ उद्देश (ओद्देशे) इति वर्त्तते । उवर्णान्ताद्दोः प्राग्देशवाचिनश्च भवति शेषे । दोरदोश्च पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमेतत् । दोरेव प्राचां नाप्यदोः । आढकजम्बुकः । नापितवास्तुकः । दोरिति किम् ? मल्लवास्तु माल्लवास्तवः ।

कन्थायाः ॥३।२।९७॥ कन्थाशब्दाद्भवति शेषे । कन्था प्रावरणम्, उपचाराद् देशोऽपि । कान्थिको गौः ।

वर्णो वुञ् ॥३।२।९८॥ वर्णो या कन्था तस्या वुञ् भवति शेषे । वर्णुर्नाम नदः, तस्य अदूरभवो जनपदो वर्णुः, तद्विषये या कन्थेत्यर्थः । कान्थिको गौः । कान्थिकोऽश्वः ।

धन्वयोः ॥३।२।९९॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते । बन्ध (धन्व) वाचिनो यकारोऽश्च देश-वाचिनो दोर्बुञ् भवति शेषे । प्राचामिति निवृत्तम् । पारेबन्ध (धन्व) नि जातः, पारेबन्ध (धन्व) कः । आपारेबन्ध (धन्व) कः । पारावतकः । योडः । साङ्कास्यकः । काम्पित्यकः । ठञ्जिठाम्यां योडो वुञ् परत्वात् । वाहीकग्रामे । दासरूप्ये जातः, दासरूप्यकः । “अद्देशे” [३।२।९५] टञः परत्वाद्योडो वुञ् भवति । आत्रीतमायौ जातः, आत्रीतमायवकः ।

प्रस्थपुरवहान्तात् ॥३।२।१००॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते । प्रस्थ पुर वह इत्येवमन्ताद्देश-वाचिनो दोर्बुञ् भवति । छस्यापवादः । दोरित्यधिकारात्तदन्तत्वे लब्धे अन्तग्रहणमनर्थकमिति चेत् ; अस्त्यन्त-ग्रहणे तदर्थवाचि दुर्संज्ञं गृह्येत । यथा पूर्वसूत्रे बन्धा (धन्वा) र्थवाचि दुर्संज्ञं गृहीतम् । मालाप्रस्थे जातः । मालाप्रस्थकः । सौ (शौ) णाप्रस्थकः । ज्ञान्तिप्रस्थकः^१ । नान्दीपुरकः । कान्धीपुरकः । पैलुवहकः । फाल्गुनी-वहकः । पुरान्ताद् “रोहीतोः प्राचाम्” [३।२।१०१] इति सिद्धेऽप्यप्रागर्थं वचनम् । प्रस्थाद्यन्तात् ठञ्जि-ठाम्यां परत्वेन वुञ् । पानप्रस्थकः । कौत्कु जीवहकः । एतेभ्यो वाहीकग्रामत्वात् ठञ्जिठौ प्रातौ ।

रोहीतोः प्राचाम् ॥३।२।१०१॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते । प्राग्ग्रहणं देशविशेषणम् । रेफोऽङ्कारान्ताच्च दोः प्राग्देशवाचिनो वुञ् भवति शेषे । छापवादः । पाटलिपुत्रकः । ऐकचक्रकः । ईतः खल्वपि । काकन्दी, काकन्दकः । माकन्दी, माकन्दकः । प्राचामिति किम् ? दात्तामित्रीय । तपरकरणमसन्देहार्थम् ।

राष्ट्रावधयोः ॥३।२।१०२॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते । देशविशेषणं राष्ट्राऽवधी । राष्ट्रवाचिनस्तद-वधिवाचिनश्च दोर्बुञ् भवति शेषे । छापवादः । आभिषारे जातः, आभिषारकः । राष्ट्रावधेः, औषुमकः । श्यामायनकः । अवधिग्रहणेनापि राष्ट्रं गृह्यते । किमर्थं तं छुपादानम् ? बाधकवाधनार्थम् । “गर्तद्योः” [३।२।१०४] राष्ट्रावधेः परमण्डं बाधित्वा वुञ्नेव भवत्युत्तरसूत्रेण । त्रैगर्तकः । इदं च प्रयोजनम्-मौञ्जिर्नाम वाहीकानामवधिग्रामः, तत्र भवो मौञ्जीय । ग्रामे अवधौ वुञ् न भवति ।

बहुत्वेऽदोरपि ॥३।२।१०३॥ राष्ट्रावध्योरिति वर्त्तते । बहुत्वविषयान्मृदः अदोरपि दोरपि राष्ट्रवाचिन-स्तदवधिवाचिनश्च वुञ् भवति शेषे । अण्डयोरपवादः । अदो राष्ट्रात्-अङ्गेषु जातः आङ्गकः । वाङ्गकः । अदो राष्ट्रावधेः^२ । अजकुन्देषु जातः, अजकुन्दकः । दो राष्ट्रात्, दार्वेषु जातः, दार्वकः । काम्बधकः । दो राष्ट्रावधेः । कालङ्गरेषु जातः, कालङ्गरकः । वैकुलिशेषु जातः, वैकुलिशकः । जह्वेषु जातः, जाह्वकः । बहुत्वग्रहणं किम् ? जनपदैकदेशबहुत्वेन विवक्षिते वुञ् मा भूत् वर्तनीषु भव इति । दोः पूर्वेष्वैव सिद्धे अपि-ग्रहणं किमर्थम् ? उत्तरत्र द्वयोरनुवर्तनार्थम् वाधावाधि^३ श्वा (न्या)येत् (न)तकदानेनैव दधिदानस्य, तस्मादपीत्युक्तम् “ओष्ठजः” [३।२।१०६] परत्वात् राष्ट्रलक्ष्यो वुञ् । जह्वेषु जातः, जाह्वकः ।

१. क्षान्जिप्रस्थकः अ०, पू० । २. कौकुजीवहकः पू० । कौकुजीवहकः अ० । कौत्कुजीवहकः ब० । ३. तर्हि पृथगुपादानम् अ०, ब०, पू० । ४. धेः । अजमीदे (डे) षु जातः, अजमोद (ढ) कः पू० । ५. विज्ञायेत् ब० ।

कच्छाग्निवक्त्रवत्^१(गर्त)द्योः ॥३।२।१०४॥ कच्छ अग्नि वक्त्र वत् (गर्त) इत्येवं द्योर्देश-
वाचिनो मृदो दोरदोश्च वुञ् भवति शेषे । छाणोऽपवादः । भरुकच्छे जातः, भारुकच्छकः । पैपलीयकच्छकः ।
काण्डाग्नौ जातः काण्डाग्नकः । वैभुजाग्नकः । तैन्दुवक्त्रकः । सैन्युवक्त्रकः । बाहुवर्तकः । चाक्रवर्तकः ।

धूमादेः ॥३।२।१०५॥ धूम इत्येवमादिभ्यो वुञ् भवति शेषे । अणादीनामपवादः । धूमे जातः,
धौमकः । धूम । षण्ड । शशादन । अर्जुनवा । दण्डायन । स्थली । माणवस्थली । घोषस्थली । पोषस्थली ।
माहकस्थली । राजगड । सत्रासाह । भन्नास्थली । समुद्रस्थली । मद्रस्थल । अञ्जलीकूल । द्यूयाहाव । व्याहाव ।
संस्फीय । पर्यत । गर्भ । विदेह । आनर्त्त । अनयोरराष्ट्रार्थं ग्रहणम् । पादूर । पाथेय । योडोऽप्यदेशार्थं
ग्रहणम् । घोष । सव्य^२ । पल्लि । आराज्ञी । आराज्ञकः । धात्त^३राज्ञी । धात्तराज्ञकः । इत्येवमादिग्रहणमप्रागर्थम् ।
अभय । तीर्था । तीरकूलात्सौवीरेषु । कौलमन्यत् । समुद्रान्नावि मनुष्ये च । सामुद्रमन्यत् । कुञ्चि । अन्तरीप ।
अरुण । उज्जयिनी । दक्षिणापथ । साकेत ।

नगरात्कुत्सादाद्ययोः ॥३।२।१०६॥ कुत्सा निन्दा, दाद्यं नैपुण्यम् । एते तयार्थस्य जातादे-
र्विशेषणम् । नगरशब्दाद् वुञ् भवति शैषिकः कुत्स्यदाद्ययोर्गम्यमानयोः । तत्र कुत्सायां केनाऽयं मुषितः ।
इह नगरे मनुष्येण । सम्भाव्यत एतत्^३ । नागरकाश्चौरा हि जागरूका भवन्ति । केनेयं वीणा वादिता इह
नगरे मनुष्येण । उपपद्यत एतन्नागरको (कैः) निपुणा हि नागरका भवन्ति । कुत्सादाद्ययोरिति किम् ?
नागरः पुरुषः । कत्यादिषु नगरीशब्दः पठ्यते । तस्माद्दृक्ञि नागरेयक इति भवति ।

• मनुष्यादिष्वरण्यात् ॥३।२।१०७॥ अरण्यशब्दान्मनुष्याभिधेये शैषिको वुञ् भवति । “अरण्याण्यो
वक्तव्यः” [वा०] इत्युक्तम्, तस्यायमपवादः । अरण्यको मनुष्यो वा पन्था वा अप्यायो वा न्यायो वा विहारो
वा हस्ती वा । एते मनुष्यादयः । “वा गोमथेऽपि वक्तव्यम्” [वा०] अरण्यका अरण्या गोमयाः । मनुष्या-
दिष्विति किम् ? अरण्या ओषधयः ।

कुरुयुगन्धरेभ्यो वा ॥३।२।१०८॥ कुरु युगन्धर इत्येताभ्यां शैषिको वुञ् भवति । “राष्ट्रशब्दो
वा (राष्ट्रावध्योः)” [३।२।१०२] इति “बहुल्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति नित्ये वृद्धिं प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।
कुरुषु जातः कौरवकः । कच्छादिपाठादणपि भवति । कौरवः । वाग्रहणं युगन्धरार्थमेव । युगन्धरेषु जातः
यौगन्धरकः । यौगन्धरः । नृत्तस्थयोरभिधेययोः कुरुशब्दान्नित्यो वुञ् भवति । कौरवको मानुष्यः । कौरव
कमस्य जल्पितम् ।

वृजिमद्रात् कः ॥३।२।१०९॥ वृजिमद्रशब्दाभ्यां को भवति शेषे । राष्ट्रलक्षणस्य “बहुल्वेऽदोरपि”
[३।२।१०३] इत्यस्य वुञोऽपवादः । वृजिकः । मद्रकः । यस्मिन्प्रकरणे जनपदास्तेषु “सन्धविधि (न)
तदन्तविधि” रिति प्रतिषेधे प्राप्ते “सुसर्वादिबहुल्वेभ्यो जनपदस्य” [वा०] इति सर्वत्र तदन्तविधिः ।
सुमागधकः । सर्वमागधकः । अर्धमागधकः । पूर्वमागधकः । सुमद्रकः । सर्वमद्रकः । अर्धमद्रकः ।
दिकशब्दपूर्वकत्वे तु मद्रशब्दस्य “दिगर (गा) देरस्त्री” [३।२।८४] “मद्रेभ्योऽण्” [३।२।८५]
इत्यपि । पौर्वमद्रः ।

१. अत्र गतयोरिति पाठः सुवचः । पूर्वत्र राष्ट्रावध्योरिति सूत्रवृत्तौ वुञेवोसरसूत्रेण त्रैगर्तकः ।
इत्युक्तः । बाहुवर्तकः । चाक्रवर्तकः । इत्युदाहरणमप्यत्रोक्तं चिन्त्यम् । २. शष्प अ०, ब०, स० ।
३. -व्यत एतन्नागरको (कैः) निपुणा भवन्ति । केने-ब० । -त एतन्नागरके (कैः) चौरा हि नागरका
भवन्ति । केने-अ०, प० ।

कोडोऽण् ॥३।२।११०॥ देश इति वर्तते । देशवाचिनो मृदः ककारोडोऽण् भवति । “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति वुञोऽपवादः । ऋषिकेषु जातः आर्षिकः । माहिकः । आशमकः । कथमिच्चा-कुमु जात ऐच्चाक इति ? उच्यते, “ओर्देशे” [३।२।१६५] इति ठञ् प्राप्तः, तं बाधित्वा परत्वाद् “बहुत्वेऽदोरपि” इति वुञ् प्राप्तः, तमपि परत्वादयमण् बाधते । “श्रौणहृत्य” [४।४।१६६] इत्यादिना उक्त्वं निपात्यते । देश इति वर्तते ।

कच्छादेः ॥३।२।१११॥ कच्छ इत्येवमादिभ्यो देशवाचिभ्योऽण् भवति शेषे । वुञोऽपवादः । काच्छः । कच्छशब्दादबहुत्वविषयादुत्सर्ग एवाण् सिद्धः । तस्य नृत्स्थयोर्बुञ् यथा स्यादित्येवमर्थः पाठः । कच्छ । सिन्धु । वर्षा । गन्धार । मधुर । मधुरात् । अस्याप्युत्तरत्र वुञर्थः पाठः । द्वीप । अनूप । अजावह । विशापक । अस्यापि कोडो वुञर्थः पाठः । कुलूत । रङ्गु ।

नृत्स्थयोर्बुञ् ॥३।२।११२॥ कच्छादेरिति वर्तते । नरि तत्स्थे चाभिप्रेये कच्छादेश्चुञ् भवति । अणोऽपवादः । काच्छको ना । काच्छकमस्य हसितं जल्पितम् । काच्छिका चूला । सैन्धवको मनुष्यः । सैन्धवकमस्य हसितं जल्पितम् । सैन्धविका चूला । नृत्स्थयोरिति किम् ? काच्छो गौः । सैन्धवोऽश्वः ।

गोयवाग्वपदातौ सत्वत् ॥३।२।११३॥ गवि यवाग्वामपदातौ च जातादौ सत्वशब्दाद् “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इत्येव बुञ्सिद्धः । नियमार्थमिदमुच्यते । एतस्मिन्नेव जातादिविशेषे वुञ् यथा स्यात् । अन्यत्र उत्सर्गापवादोऽण् भवति । तद्विशेषणमपदातिग्रहणम् । कच्छादिष्वस्य पाठोऽनर्थकः । सत्वेषु जातः साल्वको गौः । साल्विका यवागूः । नृत्स्थयोरित्येतदत्र^१ वर्तमानमपदाति विशेषणम् । साल्वको मनुष्यः । साल्वकमस्य हसितं जल्पितम् । साल्विका चूला । एतेषु वुञो नियमादयत्र साल्वं वल्लम् । साल्वाः पदातयः ।

गर्त्तद्युगहादिभ्यश्छुः ॥३।२।११४॥ गर्त्त इत्येवं द्योर्देशवाचिनो गहादिभ्यश्च छो भवति । अणादेरपवादः । स्वाचिद्गर्त्तीयः । वाहीकग्रामेभ्य इति ठञ्जिठयोः प्राप्तयोरनेन पुनश्छुः । वृकगर्त्तीयः । शृगालगर्त्तीयः । अण् प्राप्तः । देश इत्यधिकारोऽपि गहादीनां सम्भवापेक्षं विशेषणम् । गहे जातः, गहीयः । गह । अन्तस्थ । सम । मध्य मध्यम चाण् चरणेत्यस्यायमर्थः । पृथिवीमध्यशब्दस्य मध्यमादेशः । पृथिवीमध्ये शब्दस्य वा मध्यमादेशो भवति । माध्यमीयः कठः । चरणसम्बन्धे निवासलक्षणो त्यार्थे अण् भवति । माध्यमा इति । उत्तम । अङ्ग । मगध । पूर्वपक्ष । अपरपक्ष । अवमसाख । उत्तमसाख । समानशील । एकग्राम । एकवृत्त । इक्ष्वग्र । इक्ष्वनीक । अवस्पन्द । कामप्रस्थ । अस्मात् “प्रस्थपुरवहान्तात्” [३।२।१००] इति वुञ् प्राप्तः । खाडायनिः । काठोरणिः । लावरीणिः । शैशिरि । शौङ्गि । आसुरि । आहिंसि । आमिन्नि । व्याडि । भौषि । आरिक् । आग्नि । शर्मि । दैवशर्मि । यौगिकतरार्कि । वाल्मीकि । माल्लकि । सौमर्त्तुत्विन् । उत्तर । मुखपार्वतसोः लज्ज । पार्वतीयम् । मुखतीयम् । जनपरयोः कुक्च । जनकीयम् । परकीयम् । देवस्य च (बा) । देवकीयम् । वेणुकायाश्छुण् वक्रव्यः । आकृतिगणोऽयम् । वैणुकीयम् । औत्तरपदीयम् । प्रास्थीयम् । माध्यमकीयम् । मातृकीयम् । चैत्रकीयम् । कृष्णवर्णाद् भारद्वाजे देशविशेषे । कृष्णीयः । पर्णीयः ।

१. -बहुवर्त-पू० । -रित्येव बहुवर्त-अ० । २. अन्तरपक्ष पू० । ३. लावरीणि अ०, पू० । ४. आरिक् अ० । ५. उच्यते अ० । ६. श्रोति (श्रौति) पू० । ६. वाराकि पू० । वाटारकि अ० । ७. क्षेमवृत्तिन् अ०, पू० । समवृत्तिन् अ० ।

प्राचां कटादेः ॥३।२।११५॥ देश इति वर्तते । तद्विशेषणं प्राग्रहणम् । कटादेः शब्दात्प्राग्देश-
वाचिनश्छो भवति शेषे । अणोऽपवादः । कटनगरीयः । कटग्रामीयः । कटबोधीयः । कटपल्वलीयः ।

राज्ञः क च ॥३।२।११६॥ असम्भवाद देश इति नाभिसम्बध्यते । राजशब्दस्य ककारोऽन्तादेशो
भवति छश्च । आदेशार्थमिदम् । “दोश्छः” [३।२।१६०] सिद्ध एव । राज इदम् राजकीयम् । एकदेशविकृत-
स्यानन्यत्वाद् “अनोऽखं” [४।४।१२०] नाशङ्कनीयम् । तानिर्दिष्टस्यानन्यवद् भाव उक्तः । न चेद्वाऽनस्ता-
निर्देशः; किं तर्हि राजशब्दस्य ।

दोः कखोः ॥३।२।११७॥ देश इति वर्तते । दोर्देशवाचिनः ककारोः खकारोऽश्छो भवति
शेषे । आरीहणकीयः । द्रौघणकीयः । आश्वत्थिके जातः, आश्वत्थिकीयः । शाल्मलिके जातः शाल्मलिकीयः ।
कोड इत्यणि प्राप्ते कः । सौमुके जातः, सौमुकीयः । वाहीकग्रामलक्षणौ ठञ्जिठौ बाधित्वा कोड इत्यण्
प्राप्तः (आष्टकं नाम बन्धः तत्र जातः) आष्टकीयः । बन्धलक्षणं वुञ् बाधित्वा कोड इत्यण् प्राप्तः
ब्राह्मणको नाम राष्ट्रम्, तत्र जातः, ब्राह्मणकीयः । “शष्ट्र” [३।२।१०२] वुञोऽपवादः “कोडः”
[३।२।११०] इत्यण् प्राप्तः । खोः खल्वपि । कौटिशिखीयः । माटिशिखीयः । कोटिशिखादयो वाहीकग्रामः ।

कन्थापलदनगरग्रामहृदयोः ॥३।२।११८॥ देश इति वर्तते दोश्छ इति च । वृशब्दः
प्रत्येकमभिसम्बध्यते । कन्थादि द्योर्देशवाचिनो दोश्छो भवति शेषे । वाहीकग्रामादिलक्षणस्य त्यस्यापवादः ।
दाक्षिकन्थायां जातः, दाक्षिकन्थीयः । माहकिकन्थीयः । यदोशीनरेषु ग्रामस्तदा नपुंसकलिङ्गत्वम् ।
“बोशीनरेषु” [३।२।११४] ठञ्जिठयोः प्राप्तिः । यदा तु वाहीकग्रामः, तदा स्त्रीलिङ्गत्वम् । “वाहीक-
ग्रामेभ्यः” [३।२।११३] इति प्राप्तिः । दाक्षिपलदीयः । माहकिपलदीयः । दाक्षिनगरीयः । माहकिनगरीयः ।
दाक्षिग्रामीयः । माहकिग्रामीयः । दाक्षिहृदीयः । गोमयहृदीयः ।

पर्वतात् ॥३।२।११९॥ पर्वतशब्दाच्छो भवति शेषे । अणोऽपवादः । उत्तरत्रामर्त्यविभाषा वक्ष्यते ।
मर्त्ये इहोदाहरणम् । पर्वतीयो मनुष्यः ।

वासमर्त्यं ॥३।२।१२०॥ मर्त्यादन्यस्मिन्नभिधेये पर्वतात् वा छो भवति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते
विकल्पोऽयम् । पर्वतीयं फलम् । पर्वतीयमुदकम् । पार्वतमुदकम् । अमर्त्य इति किम् ? पर्वतीयो ना ।

युष्मदस्मदोऽकङ् खञ् ॥३।२।१२१॥ देश इति निवृत्तम् । वेति वर्तते । युष्मदस्मदभ्यां वा खञ्
भवति, यदा खञ् तदाऽकङ्देशः । योष्माकीणः । आस्माकीनः । “ङित्” [१।१।२०] इति दकारस्या-
कङ्देशः, अकारोच्चारणसामर्थ्यात् “स्वेऽको दीत्वम्” [४।३।८८] । वत्याधिकाराच्छो भवति । युष्मदीयः ।
अस्मदीयः ।

अणि ॥३।२।१२२॥ अणि च परतो युष्मदस्मदोरकङ्कादेशो भवति । इदमेव ज्ञापकम्, युष्मदस्मद-
भ्यामणपि भवति । योष्माकः । आस्माकः ।

तवकममकावेकार्थं ॥३।२।१२३॥ अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति परिभाषयम-
नित्या । अणि खञि च परतो युष्मदस्मदोरकार्थं वर्तमानयोस्तवक ममक इत्येतावादेशौ भवतः । स्थान्या-
देशयोर्यथासंख्यं न त्वादेशनिमित्तयोः । तावकीनो मामकीनः । तावको मामकः । युष्माकं युवयोर्वाऽयं
योष्माकीणः । एवम् आस्माकीनः । योष्माकः । आस्माकः । अर्थग्रहणं किम् ? तवकममकावेक इत्यु-
च्यमाने, एकवचने परत इति विज्ञायेत, तदाऽत्र को दोषः ? योष्माकीण आस्माकीन इत्यत्राऽप्यादेशविधिः
स्यात् । तावकीना मामकीना इत्यत्र च न स्यात्, अतोऽर्थग्रहणं क्रियते । तेनैकार्थं वर्तमानयोर्युष्मदस्मदो-
रेकवचने बहुवचने च परत आदेशविधिः सिद्धो भवति ।

योऽर्द्धात् ॥३१२।१२४॥ वेति निवृत्तम् । अर्धशब्दाच्छैषिको यो भवति । अणोऽपवादः । अर्धे भवः, अर्थ्यः ।

परावराधमोत्तमादेः ॥३१२।१२५॥ पर अवर अधम उत्तम इत्येवमादेरर्धशब्दाद्यो भवति शैषिकः । परार्थ्यः । अवराध्यः । अधमार्थ्यः । उत्तमार्थ्यः । “हृदर्थ्यु समाहारे” [१।३।४६] इति षसः । परमर्द्धम्पराद्धमिति “विशेषणं विशेष्येयोति” [१।३।५२] यमे कृते परार्धे जातः परार्थ्यः । यदा पराऽवरादिशब्दौ दिग्वाचिनौ तदोत्तरसूत्रेण यठणौ प्राप्तौ । तदवाचित्वे त्वण् प्राप्तः । अधमोत्तमादेरण् प्राप्तः । प्रकृतित्वमेतेषां मा विशयीति आदिग्रहणम् ।

दिगादेष्टण च ॥३१२।१२६॥ अर्धादिति वर्त्तते । दिगादेरर्धाच्छैषिकष्य भवति चकारायश्च । पूर्वाद्धं जातः, पौर्वाद्धिकः । पूर्वाद्धर्थः । दक्षिणाद्धिकः । दक्षिणाद्धर्थः । अपरमर्द्धं पश्चाद्धं “उपय्यु परिष्ठा-त्परचाद्” [४।१।१७] इत्यत्राद्धं परतोऽपरस्य पश्चभावो वक्ष्यते । पश्चाद्धं जातः, पाश्चाद्धिकः । पश्चाद्धर्थः । “अन्यादेष्टण वक्तव्यः” [वा०] दिक्छब्दादन्यो यदाऽर्धस्यादिर्भवति तदा ठण् भवति । पौष्कराद्धिकः । वैज-याद्धिकः । वालेयाद्धिकः । त्रैत्राद्धिकः । पराऽवरादेस्तु पूर्वेण य एव भवति ।

ग्रामराष्ट्रयोरण्ठञौ ॥३१२।१२७॥ दिगादेरर्धादण् ठञ् इत्येतौ लौ भवतः शोषेऽर्थे ग्रामराष्ट्रयो-श्चेदद्धं भवति । ग्रामैकदेशवाची राष्ट्रैकदेशवाची चेदद्धंशब्दो भवतीत्यर्थः । ग्रामस्य राष्ट्रस्य वा पूर्वाद्धं भवः, पौर्वाद्धः । पौर्वाद्धिकः । दक्षिणाद्धः । दक्षिणाद्धिकः । पाश्चाद्धः । पाश्चाद्धिकः ।

मध्यान्मः ॥३१२।१२८॥ मध्यशब्दाच्छैषिको म इत्ययं ल्यो भवति । अणोऽपवादः । मध्यमः । “आदेरचेति वक्तव्यम्” [वा०] आदिमः । “अवाधयोः (अवोऽधसोः) सखं चेति वक्तव्यम्” । अवमः । अधमः ।

सम्प्रत्यः ॥३१२।१२९॥ सम्प्रत्यर्थे जातादौ मध्यशब्दाद् इत्ययं ल्यो भवति । कः पुन ह्वार्थः स्वार्थः । सम्प्रतिकालो वर्त्तमानः, सोऽतीताऽनागतयोर्द्वयोरन्तराले वर्त्तते । एवमन्यदपि द्वयोरन्तराले वर्त्तमानं सम्प्रतीत्युच्यते । यन्नातिदीर्घं नातिह्रस्वं मध्यं काष्ठम् । नात्युक्कृष्टो नाप्यपकृष्टो मध्यो वैयाकरणः । मध्या स्त्री ।

द्वीपादनुसमुद्रे यञ् ॥३१२।१३०॥ समुद्रसमीपे यो द्वीपशब्दस्तस्माच्छैषिको यञ् भवति । कच्छादिपाठादणो वृत्तस्ययोरुञ्जश्चापवादः । द्वैष्यम् । द्वैष्या स्त्री । अनुसमुद्र इति किम् ? अनुनदि यो द्वीपः तस्माद्यमुनादिसम्बन्धे द्वीपे भवम्, द्वैपं वृणम् । “कच्छादि” [३।२।११२] पाठादण् । द्वैपको व्यासः । “नृत्स्वयोः” [३।२।११३] इति वुञ् ।

कालाट्ठञ् ॥३१२।१३१॥ कालविशेषवाचिनो मृदः शैषिकष्य भवति । अणोऽपवादः । वृद्धत्यं^१ परत्वाद् बाधते । मासिकः । सांवत्सरिकः । यथा (दा) कदम्बपुष्पयोगात्कालोऽपि कदम्बपुष्प-वाच्यः, तत्राऽनेन ठञ् । कदम्बपुष्पे देयमृणं कादम्बपुष्पिकम् । वै हिपालालिकम् । “तत्र जातः” [३।३।१] प्रागितः^२ कालोऽधिकारः ।

श्राद्धे शारदः ॥३१२।१३२॥ शरच्छब्दात्कालवाचिनः श्राद्धेऽभिधेये शैषिकष्य भवति । शरदिति हि ऋतुविशेषः । तत्र “असन्ध्याद्यनुम्बोऽवर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३८] प्राप्तः, तदपवादोऽयम् । शरदि जातं^३ शारदिकं श्राद्धम् । श्राद्ध इति किम् ? शारदं दधि । शारदं सस्यम् । श्राद्धशब्देन चात्र रुदिवशा-त्पितृकार्यमेवोच्यते, न तु श्राद्धवान् । तेनेह न भवति शारदः श्राद्धः । श्राद्धवानित्यर्थः ।

१. वृद्धं अ०, ब०, प० । २. गतः ६-अ०, ब०, प० । ३. भवं प० ।

वा रोगात्तपयोः ॥३१२१३३॥ रोगे आतपे चाभिधेये शरच्छब्दाच्छैषिको वा ठञ् भवति । शार-
दिकः । शारदो रोग आतपो वा ।

निशाप्रदोषाभ्याम् ॥३१२१३४॥ वेति वर्त्तते । निशाप्रदोषशब्दाभ्यां वा ठञ् भवति शेषे ।
नित्ये कालाह्नि प्राप्ते विकल्पोऽयम् । निशा सोढाऽस्य, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । निशाप्रदोष-
सहचरितमध्ययनमुपचारात्तथोच्यते ।

श्वसस्तुट् च ॥३१२१३५॥ श्वसशब्दाद्भवति । तस्य च ठञ् इकादेशे कृते तुडागमः ।
ठञोऽपवादो भिल्लह्यस्तुट् प्रातः, तं बाधित्वा “वैब्रह्मोऽसश्वसः” [३१२१३३] इति विभाषया ये प्राप्ते
अनेन ठञ् विभाष्यते । श्वो जातो भवे वा शौवस्तिकः, श्वस्यः । आभ्यां मुक्ते तनप् श्वस्तनः ।

प्रावृष परायः ॥३१२१३६॥ प्रावृषशब्दात् परायो भवति शेषे । ऋत्वणोऽपवादः । प्रावृषेण्यो
बलाहकः । यत्वं किमर्थम् ? प्रावृषेण्यमाचष्टे णिचि क्विपि अतः खे च कृते णकारस्य श्रवणार्थम् ।

असन्ध्याद्यतभ्योऽवर्षाभ्योऽण् ॥३१२१३७॥ कालादिति वर्त्तते । “आद्युक्तः कालः” [३१२१७]
इत्यागतस्याणः “असन्धे” [३१२१६] इत्युसि कृते कालवाचिभ्यो भेभ्यः सन्ध्यादिभ्य ऋतुभ्यो वर्षावर्जिते-
भ्योऽण् भवति शेषे । ठञोऽपवादः । भेभ्यः—तैषः । पौषः । “तिष्यपुष्ययोर्भाणि” [४१४१३७] इति
यत्नम् । सन्ध्यादिभ्यः—सन्ध्यायां भवो जातो वा सन्ध्यः । सन्ध्या सविखला (सन्धिखला) । अमावास्या ।
एकदेशविकृतस्य अमावस्याशब्दस्यापि ग्रहणम् । त्रयोदशी चतुर्दशी पञ्चदशी पौर्णमासी प्रतिपद् । “संवत्स-
शात्कल्पवर्षयोः” [१०६०] सांवत्सरं फलम् । सांवत्सरं पर्वम् । अन्यत्र सांवत्सरिको रोगः । ऋतुभ्यः—शरद्घेमन्त-
शिशिरवसन्त-ग्रेष्मः । अवर्षाभ्य इति किम् ? वर्षासु साधु वार्षिकं वासः । अण्ग्रहणं छ्वाधनार्थम् ।
स्वातौ तदं (भवं) सौषातम् “पदे थ्वोरैयौव्” [५१२१८] इत्यौव् ।

हेमन्तात्तखम् ॥३१२१३८॥ हेमन्तशब्दादण् भवति तत्तन्नियोगेन चास्य तत्तम् । हेमन्ते साधुः
हैमनम् । हैमन्तः । (हैमनमनुलेपनम् । हैमनं वासः । ठञपीष्यते ।) हैमन्तिकमिति । हेमन्ततत्तमिति वक्तव्यम् ।
कानिर्देशः किमर्थः ? केवलेऽप्यऽण् (हेमन्ताद्) यथा स्यात् । तेन सिद्धम् । हैमन्ती पङ्क्तिः ।

सायञ्चिरप्रगयोः प्रगेभ्यस्तनट् ॥३१२१३९॥ कालादिति वर्त्तते । सायं चिरं प्राह्णे प्रगे
शब्देभ्यो भिभ्यः कालवाचिभ्यस्तनट् भवति शेषे । सायं चिरं शब्दयोरभिसंज्ञयोस्त्यसन्नियोगेन मकारा-
न्तता निपात्यते । सायन्तनम् । चिरन्तनम् । प्राह्णप्रगयोस्त्वेकारान्तता निपात्यते । प्राह्णः सोढोऽस्य,
प्राह्णतनः । प्रगः सोढोऽस्य, प्रगेतनः । ईबन्तात्तनटि “ऋकालतनेकालेभ्यो वा” [४१३१३३] इत्यनुपा
सिद्धम् । प्रातस्तनम् । दिवातनम् । दोषातनम् । “चिरपरुपरारिभ्यस्तनो वक्तव्यः” [वा०]
चिरत्नम् । परत्नम् । परारित्नम् । “अन्तादिभो वक्तव्यः” [वा०] अन्तिमम् ।

वा पूर्वापरदहात् ॥३१२१४०॥ पूर्वं अपर इत्येवंपूर्वादहशब्दाद् वा तनट् भवति शेषे । नित्ये
कालाह्नि प्राप्ते विभाषेयम् । पूर्वाह्णतनः । पूर्वाह्नतनः । अपराह्णतनः । अपराह्नतनः । पौर्वाह्निकम् । अपा-
राह्निकम् । यदा पूर्वाह्णः सोढोऽस्य तदा पूर्वाह्नतनः, अपराह्नतनः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याऽध्यायरय द्वितीयः पादः समाप्तः ।

तत्र जातः ॥३।३।१॥ अणादयः परमोत्सर्गाद्यादयश्च शैषिकाः प्रकृताः, तेषामितः प्रभृति प्रकृत्यर्थाः समर्थविभक्त्युपादानं च वेदितव्यम् । तत्रेति ईप्समर्याज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । स्तु ध्ने जातः सौध्नः । औत्सः । राष्ट्रियः । शाकलिकी । शाकलिका । सौत्रेयकः ।

प्रावृषष्टः ॥३।३।२॥ प्रावृष्ट्छब्दादीप्समर्याज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे ठो भवति । एष्यस्यापवादः । प्रावृषिकः । प्रावृषिका स्त्री ।

खौ शरदो वुञ् ॥३।३।३॥ शरच्छब्दाद् वुञ् भवति खुविषये । तत्र जात इति वर्त्तते । शारदिका सुद्गा । संशाशब्दानां व्युत्पत्तिमात्रमिदम् । खाविति किम् ? शारदं सत्यम्^१ ।

सिन्ध्वपकरादण् ॥३।३।४॥ सिन्धु अपकर इत्येताभ्यामण् भवति तत्र जात इत्यस्मिन्विषये । सिन्धुषु जातः सैन्धवः । आपकरः । सिन्धुशब्दात् “कच्छादेः” [३।२।११२] इत्याण् । “नृत्तस्थयोः” [३।२।११३] इति वुञ् च प्रातः । तयोरपवादे के अपकरशब्दादणोऽपवादे उत्तरसूत्रेण के प्रातःऽनेनाणपि विधीयते ।

पूर्वाह्नापरह्नाद्रार्द्रमूलप्रदोषावस्कराच्च कः ॥३।३।५॥ पूर्वाह्न अपराह्न आर्द्रा मूल प्रदोष अवस्कर इत्येतेभ्यः सिन्ध्वपकराभ्याञ्च को भवति । तत्र जात इति वर्त्तते । पूर्वाह्ने जातः पूर्वाह्नकः । अपराह्नकः । “वा पूर्वापरह्नात्” [३।२।११०] इत्यस्यापवादः । आर्द्रकः । “केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशः । मूलकः । कालवाचित्त्वे सति भल्लणस्याऽणोऽपवादः । प्रदोषकः । “निशाप्रदोषाभ्याम्” [३।२।१३५] इत्यस्य बाधा । अवस्करकः । अणोऽपवादः । सिन्धुकः । अपकरकः । आभ्यां पूर्वेणाणपि भवति ।

पथः पन्थः ॥३।३।६॥ पथिशब्दात्को भवति तत्सन्नियोगेन पथिशब्दस्य पन्थ इत्ययं चादेशः । तत्र जात इति वर्त्तते । पथि जातः, पन्थकः । अणोऽपवादः ।

वाऽमावास्यायाः ॥३।३।७॥ अमावास्याशब्दाद् वा को भवति तत्र जात इत्यस्मिन् विषये । “भसन्ध्यादिना” [३।२।१३०] नित्येऽणि प्राते को विभाष्यते । अमावास्यकः । एकदेशविकृतादमावस्याशब्दादपि । अमावस्यक । पक्षेऽण् । अमावास्यः । अमावस्यः ।

अषाढाच्च ॥३।३।८॥ अ इत्ययं त्यो भवति अषाढशब्दात् चकारादमावास्यायश्च । तत्र जात इति वर्त्तते । अषाढाया इति प्रातः अषाढादिति सौत्रो निर्देशः । अषाढायां जातः, अषाढः । अषाढा स्त्री । अमावास्यः । अमावस्यः । “अवष्टाषाढाभ्यां छजात^२ वक्तव्यम्” [वा०] । आर्विष्ठायः । अषाढीयः ।

फल्गुन्याष्टः ॥३।३।९॥ फल्गुनीशब्दाद्दो भवति तत्र जात इत्यास्मान्वपये । नाणोऽपवादः । फल्गुन्यां जातः फल्गुनः । फल्गुनी स्त्री ।

स्थानान्तादुप ॥३।३।१०॥ स्थानान्तादुत्तरस्य जातार्थं आगतस्याण्^३ उन्भवति । गोस्थाने जातः गोस्थानः । अश्वस्थानः ।

शालाद् गोखरात् ॥३।३।११॥ गो खर इत्येवपूर्वाञ्छालात्परस्य जातार्थं आगतस्य त्यस्योन्भवति । गवां शाला गाशालम् । खराणां शाला खरशालम् । “सेनासुराच्छायाशाळानशा वा” [१।४।१०१] इति नप् । गोशाले जातः, गोशालः । खरशालः । लिङ्गविंशत्यस्य क्षालिङ्गस्याऽपि “ङुप्युप” [१।१।६] इति टाप उपि सति तदेवादाहरणम् ।

वत्साद् वा ॥४।३।१२॥ वत्सपूर्वात् शालात्परस्य जातार्थं आगतस्य त्यस्यान्भवात् वा । वत्सशाले जातः, वत्सशालः । वात्स्यशालः ।

१. भान्यम् अ०, ब०, पू० । २. छण् चेति अ०, ब०, पू० । ३. -स्य त्यस्यो-अ०, ब०, पू० ।

भेष्यो बहुलम् ॥३१३१३॥ भशब्देभ्यः परस्य जातार्थे आगतस्य त्स्य बहुलमुब् भवति । “अविष्टाऽनुराधास्वातिपुनर्वसुतिष्यहस्तविशाखाबहुलाभ्य उबेव भवति” । अविष्टासु जातः अविष्टः । भलन्नास्याण उप् । “हृदुप्युप्” [१११६] इति स्त्रीत्योऽभवति । अनुराधः । स्वातिः । पुनर्वसुः । तिष्यः । तिष्यग्रहणे पर्यायग्रहणम् । पुष्यः । हस्तः । विशालः । बहुलः । तथा “चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः क्षियासुबेव भवति” । चित्रायां जाता स्त्री अण उप् । हृदुप्युविति उप् । पुनष्टाप् । डीप् । चित्रा । रेवती । रोहिणी । पुंसि न भवत्येव । चैत्रः । रैवतः । रौहिण्यः । “अन्येभ्यो विभाषा” । अभिञित् । अभिञितः । अश्वयुक् । आश्वयुजः । (शतभिषक्) । शतभिषजः । कृत्तिकः । कार्तिकः । मृगशिरा । मार्गशीर्षः । शिरसः शीर्षादेशो वक्ष्यते । बहुलवचनादन्यदपि, अणो वा ङित्त्वम् । शतभिषः । शतभिषबः ।

कृतलब्धक्रीतसम्भूताः ॥३१३१४॥ तत्रेति वर्त्तते । जात इति निवृत्तम् । अर्थान्तरोपादानात् । तत्रेतीप्समर्थात् कृत लब्ध क्रीत सम्भूत इत्येतेष्वर्थेषु यथाविहितं त्यो भवति । सुप्ने कृतो वा लब्धो वा क्रीतो वा सम्भूतो वा सौचः । राष्ट्रियः । जातस्यैव विशेषोऽपेक्षितपरव्यापारः स्वभावनिष्पत्तौ भावः कृत-शब्दस्यार्थः । सामान्येन प्राप्तं लब्धशब्दाऽर्थः । मूल्येन प्राप्तं क्रीतशब्दार्थः । विद्यमानस्य गुणान्तरयोगः सम्भूतशब्दार्थः । उपचारेणोद् स्वयमुत्पादः सम्भूतत्वं जन्मेति चेत्; एवं तर्हि ज्ञापकमिदम् जन्मोपचारे तत्र जात इत्येष विधिर्न भवति । “प्रावृष ण्यः” [३१२१३६] इति एण्यो भवति । प्रावृषि सम्भूतं हिरण्यम् ; प्रावृषेण्यम् । “प्रावृषठः” [३१३१२] इति ठोऽत्र न भवति । पथि सम्भूतं हिरण्यम् इत्यत्र “पथः पन्थः” [३१३११] इत्येष विधिर्न भवति ।

कुशलः ॥३१३१५॥ तत्रेतीप्समर्थात्कुशल इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सुप्ने कुशलः सौचः । राष्ट्रियः । उत्तराऽपवादविधिः । कुशलेऽर्थे यथा स्यादिति योगविभागः ।

पथो वुञ् ॥३१३१६॥ पथिशब्दाद् वुञ् भवति तत्र कुशल इत्यस्मिन्विषये । पथि कुशलः पथकः ।

आकर्षादेः कः ॥३१३१७॥ तत्र कुशल इति वर्त्तते । आकर्ष इत्येवमादिभ्यः को भवति । आकर्षे कुशलः आकर्षकः । आकर्ष । त्सर । पिशाच । पिचण्ड । अशनि । अस्मन् । निचयः । ह्यादः ।

कालात्साधुपुण्यत्पच्यमाने ॥३१३१८॥ कालविशेषवाचिभ्य ईप्समर्थेभ्यः साध्वादिष्वर्थेषु यथाविहितं त्यो भवति । हेमन्ते साधु, हेमन्तं वल्गम् । शंशिरं भोज्यम् । वसन्ते पुण्यन्ति, वासन्त्यो लताः । ग्रैभ्यो लताः । शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः । ग्रैष्मा यवाः । ऋतुलक्षणोऽण् सर्वत्र ।

उत्ते ॥३१३१९॥ तत्रेति ईप्समर्थात्कालविशेषवाचिन उत्तेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति । शरदि-उप्यन्ते शारदा यवाः । ग्रैष्माः शालयः । उत्तरार्थो योगविभागः ।

आश्वयुज्या वुञ् ॥३१३२०॥ आश्वयुजीशब्दादोप्समर्थाद् वुञ् भवति उत्तेऽर्थे । आश्वयुज्यामुता आश्वयुजका मुद्गाः । अत्करणमुत्तरार्थम् ।

ग्रीष्मवसन्ताद् वा ॥३१३२१॥ ग्रीष्मवसन्तशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां वुञ् भवत्युत्तेऽर्थे वा । नित्यम् ऋत्वणि प्राप्ते विकल्पः । ग्रीष्मे उताः ग्रैष्मका ग्रैष्मा वा शालयः । वासन्तका वासन्ता वा यवाः ।

देयमृग्ये ॥३१३२२॥ तत्रेति वर्त्तते । कालादिति च । कालविशेषवाचिनः ईप्समर्थाद् देयमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्देयमृग्यं चेद्भवति । मासे देयमृग्यं मासिकम् । आर्षमासिकम् । सांख्यसिकम् । ऋण इति किम् ? मासे देया भिन्ना ।

कलाप्यश्वत्थयवबुसाद् बुञ् ॥३१३२३॥ कालाद् देयमृण इति च वर्त्तते । कलापिन् अश्वत्थ यवबुस इत्येतेभ्य ईप्समर्थेभ्यो बुञ् भवति देयमृणमित्येतस्मिन्नर्थे । ठञोऽपवादः । यस्मिन्काले मयूरा इक्षुवो वा कलापिनो भवन्ति स कालः तत्साहचर्यात्कलापी । यस्मिन्नश्वत्थानां फलं सोऽश्वत्थः । यस्मिन्बुसुसं भवति, सः यवबुसम् (सः) । कलापिनि काले देयमृणम्, कलापकम् । अश्वत्थकम् । यवबुसकम् ।

ग्रीष्मावरसमाद् बुञ् ॥३१३२४॥ ग्रीष्म अवरसम इत्येताभ्यां बुञ् भवति । तत्र देयमृणमिति वर्त्तते । ग्रीष्मे देयमृणम् ; ग्रीष्मकम् । ऋत्वणोऽपवादः । आवरसमकम् । ठञोऽपवादः । अवरसमा, अवरसमम् । “तिष्ठद्गवादि” [१।३।१४] इति हस इत्येके ।

संवत्सराऽप्राग्रहायणीभ्यां ठञ् च ॥३१३२५॥ संवत्सर-आग्रहायणीशब्दाभ्यां ठञ् भवति बुञ् च । तत्र देयमृणमिति वर्त्तते । संवत्सरे देयमृणं सांवत्सरिकम् । सांवत्सरकम् । आग्रहायणिकम् । आग्रहायणकम् । वेति वक्तव्ये ठञ्ग्रहणं सन्ध्यादिषु “संवत्सरात्कल्पवर्षयोः” [ग० सू० ३।२।१३०] इत्यस्याणो बाधनार्थम् ।

रौति मृगः ॥३१३२६॥ तत्रेति वर्त्तते कालादिति च । कालविशेषवाचिन ईप्समर्थाद् रौति मृग इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । निशायां रौति मृगः, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । “निशाप्रदोषाभ्याम्” [३।२।१३४] इति ठञ्णौ । मृग इति किम् ? निशायां रौति उल्लूकः ।

तदस्य सोढम् ॥३१३२७॥ सोढमभ्यस्तम् । कालादिति वर्त्तमानमर्थाद् वान्तं सम्पद्यते । तदिति वासमर्थात्कालविशेषवाचिनो मृदोऽस्येति तार्थे यथाविहितं ल्यो भवति । यत्तद्वासमर्थं सोढं चेत्तद् भवति । निशा सोढाऽस्य, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । साहचर्यान्निशादिशब्देनाध्ययन-मत्रेष्टम् ।

तत्र भवः ॥३१३२८॥ लब्धात्मलाभ उपलभ्यमानो भवः । तत्रेतीप्समर्थाद् भव इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । सौध्नः । राष्ट्रियः । अनुवर्तते तत्रग्रहणं कालसम्बन्धम् (सम्बद्धम्), पुनस्तत्रग्रहणं कालनिवृत्त्यर्थम् । इह प्रायभवग्रहणं च कर्त्तव्यम् । अनित्यभवः प्रायभवः । स्रुध्ने प्रायभवः सौध्नो मनुष्यः । नियतो भवस्तत्र भवः । यथा सौध्नः प्राकारः । न कर्त्तव्यम् । तत्र भव इति प्रकृत्य “जिह्वागुणा-कुलेः” [३।३।३८] छो विधीयते । स यथैव तस्मिन्ष्टापचारे अङ्गुलीयमित्यादौ भवति, एवं प्रायभवेऽपि भविष्यति ।

दिगादेयः ॥३१३२९॥ दिश् इत्येवमादिभ्यो यो भवति । तत्र भव इति वर्त्तते । अणुश्लस्य चा-यमपवादः । दिशि भवो दिश्यः । दिश् । वर्ग । पूग । गण । पन्न । वाप । मित्र । मेघा । अन्तर । पथिन् । रहस् । अलीक । उखा । सान्निन् । आदि । अन्त । मुखत्रघनग्रहणमदेहाङ्गार्थम् । सेना-मुलम् । सेनाजघनमिति । मेघ । यूथ । “उदकात्संज्ञायाम्” [ग० सू०] उदक्या स्त्री । औदकोऽन्यः । न्याय । वंश । अनुवंश । वेश । आकाश ।

देहाङ्गात् ॥३१३३०॥ अङ्गमवयवः । देहाङ्गवाचिनो यो भवति तत्र भव इत्यस्मिन् विषये । अणोऽपवादः । तस्य तु परत्वादेव बाधकः । दन्तेषु भवः, दन्त्यः । ओष्ठ्यम् । मुख्यम् । तालव्यम् । इह तदन्तविधिर्वक्तव्यः । कण्ठतालव्यम् । दन्तोष्ठ्यम् ।

दृतिकुक्षिकलसिषस्त्यस्रहेर्द्वे ॥३१३३१॥ दृत्यादिभ्यो दृञ् भवति । तत्र भव इति वर्त्तते । दृतौ भवं दात्तैयम् । अणोऽपवादः । देहाङ्गत्वे यस्यापवादः । कलस्यां भवम् कालसेयम् । अणोऽपवादः ।

वास्तेयम् । यस्यापवादः । असृजस्त्यसन्नियोगेऽस्त्रिमावो निपात्यते । असृजि भवम्, आस्तेयम् । प्रकृत्यन्तरमस्त्रिशब्दः । आहेयं विषयम् । अणोऽपवादः ।

ग्रीवाभ्योऽण् च ॥३।३।३२॥ ग्रीवाः शिरोधमन्यः । ग्रीवाशब्दादण् भवति ढञ् च तत्र भव इत्यस्मिन् विषये । यस्यापवादः । ग्रीवासु भवं ग्रैवम् । ग्रैवेयम् ।

गम्भीराञ्ज्यः ॥३।३।३३॥ गम्भीरशब्दाञ्ज्यो भवति । गम्भीरे भवम्, गाम्भीर्यम् । अत्यल्पमिदम् । “गम्भीरबहिर्देवपञ्चजनेभ्य हृत्ति वक्तव्यम्” [वा०] बाह्यम् । देव्यम् । पाञ्चजन्यम् ।

हात् ॥३।३।३४॥ तत्र भव इति वर्तते । हसंशकान्मृदो ज्यो भवति । अणोऽपवादः । हसंशकेभ्यः परिमुखादिभ्य एवेष्यते । परिमुखे भवम्, पारिमुख्यम् । परिमुख परिहन् पर्योष्ठ पर्युलूखल परिशाल परिशील अनुसीर उपसीर उपस्थूण उपवाल उपकपाल अनुपथ अनुरथ परिरथ अनुगङ्ग अनुतिल अनुमाष अनुयव अनुयूथ अनुवंशो येषु परिपूर्वेषु वर्जनेार्थप्रतीतिः, तेषां “पर्यपाद्बहिरुचवः कया” [१।३।१०] इति हसः । अन्यत्र “क्लि” [३।१।६] इति योगविभागात् । परिमुखादेरिति किम् ? औपकूलम् । हादिति किम् ? परिगतं मुखं षसे य एव भवति । परिमुख्यम् ।

अन्तरादेष्टञ् ॥३।३।३५॥ हादिति वर्तते । अन्तःशब्दादेर्हाडञ् भवति । अणोऽपवादः । अन्तः-शब्दो भिन्नंशको विभक्त्यर्थः । अन्तर्गहे भवम्, आन्तर्गहिकम् । आन्तरगारिकम् । “पुरान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] अन्तःपुरे भवम्, आन्तःपुरम् । अत्रेष्टयः ।

“समानाच्च, तदादेश च, अध्यात्मादिषु चेष्यते । ऊर्ध्वाद्दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदादपि ॥” [वा०] समाने भवम्, सामानिकम् । “तदादेशच” सामानग्रामिकम् । सामानदेशिकम् । “अध्यात्मादिषु” । आध्यात्मिकम् । आधिदैविकम् । आध्यात्मादिराकृतिगणः । ऊर्ध्वदमात्, और्ध्वदमिकम् । केचिदूर्ध्वशब्देन समानार्थमूर्ध्वं शब्दं मान्तं पठन्ति । तेषाम् और्ध्वन्दमिकम् । और्ध्वन्देहिकम् । “लोकोत्तरपदाः पि” । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् ।

“मुखपारवत्सोरीयः कुगजनस्य परस्य च । ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ च हतौ मतौ ॥” [वा०] मुखपार्श्वार्थ्यां तसन्ताभ्यामीयो वक्तव्यः । मुखतीयम् । पार्श्वतीयम् । भेर्भमात्रे टिलम् इति टिलम् । कुगजनस्य परस्य च । जनकीयम् । परकीयम् । “मध्यादीयो वक्तव्यः” । मधीयः । “मण्मीयौ च हतौ मतौ मध्यादेश्च” । माध्यमः । मध्यमीयः ।

“मध्यो मध्यन्दिनश्चास्मादुप् स्थान्मो अजिनाराथा” [वा०] । मध्यशब्दो मध्यं रूपमापद्यते । दिनश्चास्मात्यः । मध्ये भवम्, मध्यन्दिनम् । उप् स्थान्मन्तादजिनान्ताच्च वक्तव्यः । अश्वस्थाम्नि भवः, अश्वस्थामा । वृकाजिने भवः, वृकाजिनः । अण् उप् ।

उपाज्जानुनीविकर्णात् ॥३।३।३६॥ उपपूर्वेभ्यो जानु नीवि कर्णा इत्येतेभ्यष्टञ् भवति । तत्र भव इति वर्तते हादिति च । उपजानु भवम्, औपजानुकम् । औपनीविकम् । औपकर्णिकम् । देहाङ्गलक्षणस्य यस्यापवादः । इह कस्मान्न भवति, अपजानु भवं गड्विति । अनभिधानात् ।

ग्रामात्पर्यन्वोः ॥३।३।३७॥ हादिति वर्तते । परि अनु इत्येवंपूर्वाद् ग्रामशब्दाद्वाञ् भवति तत्र भव इत्यस्मिन्विषये । पारिग्रामिकः । आनुग्रामिकः । अणोऽपवादः ।

जिह्वामूलाङ्गुलेरुः ॥३।३।३८॥ हादिति निवृत्तम् । तत्र भव इति वर्तते । जिह्वामूल-अङ्गुलि-शब्दाभ्यां छो भवति । यस्यापवादः । जिह्वामूलीयः । अङ्गुलीयः ।

वर्गान्तात् ॥३।३।३९॥ वर्गशब्दान्ताच्च छो भवति तत्र भव इत्यस्मिन्विषये । अशब्देऽपवादे वक्ष्यते । शब्द इहोदाहरणम् । कवर्गायो वर्णः । चवर्गीयः ।

यत्नो वाऽशब्दे ॥३१३४०॥ तत्र भव इति वर्तते । वर्गान्तात् य ख इत्येतौ ल्यौ वा भवतः शब्दा-
दन्यस्मिंस्त्यार्ये । पूर्वेण नित्ये छे प्राप्ते विभाषेयम् । भरतवर्गे भवः, भरतवर्ग्यः । भरतवर्गीणः । भरत-
वर्गीयः । बाहुबलिवर्ग्यः । बाहुबलिवर्गीणः । बाहुबलिवर्गीयः ।

कर्णललाटभूषणे कः ॥३१३४१॥ तत्र भव इत्यस्मिन्विषये कर्णललाटशब्दाभ्यां को भवति
समुदायेन भूषणेऽभिषेये । कर्णिका । ललाटिका । स्वभावतः स्त्रीलिङ्गः । भूषण इति किम् ? कर्णम् ।
ललाटम् ।

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्येयाख्यायाः ॥३१३४२॥ व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम् ।
व्याख्यातव्यं व्याख्येयम् । तस्याख्या नाम व्याख्येयाख्या । तस्येति तासमर्थाद् व्याख्येयाख्यारूपाद् मृदो
व्याख्यानेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति चकारात्तत्र भव इत्यस्मिंश्च वाक्यार्थे । इतिशब्दः पूर्ववाक्यपरि-
समाप्त्यर्थः । सुपां व्याख्यानं सुप्सु भवं वा सौपम् । मिङ्गां व्याख्यानं मिङ्ङु भवं वा मैङ्गम् । एवं
कार्तम् । हार्त्तम् । व्याख्येयाख्याया इति किम् ? पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानं सुकौशला । पाटलिपुत्रं सुकौशलया
व्याख्यायते सन्निवेशद्वारेण । न पुनर्लोके तद्व्याख्येयस्य ग्रन्थस्याख्याभूतम् । ननु च तस्य व्याख्याने
अर्थे "तस्येदम्" [३१३८८] इत्यनेनैव त्यविधिः सिद्धः । चकारानुकृष्टेऽपि तत्र भवेऽर्थे पूर्वमेव
स्यविधिरुक्तः । तत्किमनयोर्द्युगपदुपादानम् ? वक्ष्यमाणोऽपवादविधिः । व्याख्येयाख्याया अनयोरर्थयोर्थया
स्यादित्येवमर्थम् ।

बहुचो बहुलं ठञ् ॥३१३४३॥ बहुचो व्याख्येयाख्याभूतान्मृदो बहुलं ठञ् भवति तस्य व्याख्याने
तत्र भवे चार्थे । अणादेरपवादः । बहुलग्रहणं बहुप्रपञ्चार्थम् । सविधौ ये बहुचः तेभ्यः ऋकारान्तब्राह्मण-
प्रथमाध्वरपुरश्चरणानामाख्यातपरोडाशेभ्यः क्रतुभ्यश्च गौणमुख्येभ्यष्टञ् भवति । सविधौ - षलणत्वस्य
व्याख्यानम्, षलणत्वे भवं षलणत्विकम् । ऋकारान्तात् - चातुर्होतृकम् । पाञ्चहोतृकम् । ब्राह्मणिकम् ।
प्राथमिकम् । आध्वरिकम् । पौरश्चरणिकम् । नामाख्यातिकम् । विग्रहीतादपि । नामिकम् । आख्यातिकम् ।
पौरोडाशिकम् । मुख्येभ्यः क्रतुभ्यः - आग्निष्टोमिकम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् । पाकयज्ञिकम् । भाव-
यज्ञिकम् । गौणेभ्यः - पाञ्चौदनिकम् । दाशौदनिकम् । ऋषिभ्योऽध्यायैर्भवति । वाशिष्ठकोऽध्यायः । वैश्व-
ामित्रिकोऽध्यायः । अन्यत्र वाशिष्ठी ऋक् । तिसेषु न भवति । संहिताया व्याख्यानं तत्र भवं वा
साहितम् । बहुवृच इति किम् ? कार्तम् । हार्त्तम् । व्याख्येयाख्याया इत्येव । मथुरायां भवः, माथुरः ।

द्वयञ्चः ॥३१३४४॥ द्वयचो मृद ऋक्छुब्दाच्च ठञ् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे ।
अणादेरपवादः । अङ्गस्य व्याख्यानम्, अङ्गे भवं वा आङ्गिकम् । पौर्विकम् । तार्किकम् । नामिकम् । ऋचां
व्याख्यानं ऋक्षु भवं वा आर्चिकम् ।

पुरोडाशशब्दः ॥३१३४५॥ पुरोडाशशब्दाद्भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे । पुरो-
डाशाः पिष्टपिण्डाः । साहचर्यात्तेषां संस्कारको मन्त्रोऽपि तथोक्तः । पौरोडाशिकी ।

छन्दसो यः ॥३१३४६॥ छन्दःशब्दाद्यो भवति तस्य व्याख्यान इत्येवास्मिन्विषये । द्वयञ्चलक्षणा-
ठञोऽपवादः । छन्दसो व्याख्यानं छन्दसि भवं वा छन्दस्यम् ।

ऋगयनादेश्चाण् ॥३१३४७॥ ऋगयन इत्येवमादिभ्यो मृदभ्यश्छन्दःशब्दाच्चाण् भवति तस्य
व्याख्याने तत्र भवे चार्थे । ऋगयनस्य व्याख्यानः, ऋगयने भवो वा, आर्गयणः । अणि परत ऋगयनस्य

णत्वमिष्यते । ऋगयन । पदव्याख्यान । छन्दोव्याख्यान । छन्दोमान । छन्दोभाषा । छन्दोविहित । छन्दो-
विचिति । न्याय । पुनरुक्त । निरुक्त । व्याकरण । नियम । निगम । वास्तुविद्या । अङ्गविद्या । छत्रविद्या ।
उत्पात । उत्पाद । संवत्सर । मुहूर्त्त । निमित्त । उपनिषत् । भिद्य । इति ऋगयनादिः । छन्दस् । छन्दसः
पृथग्ग्रहणं पूर्वेण यार्थम् । पुनरङ्गग्रहणं बाधकस्य ठः छस्य च बाधनार्थम् ।

तत आगतः ॥३१४८॥ तत इति कायाम् अर्थात् आगत इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति ।
सुध्नादागतः सौध्नः । राष्ट्रियः । मुख्यस्याऽपादानस्य सम्प्रत्ययः । सुध्नादागच्छन् वृक्षमूलादागत इति
वृक्षमूलशब्दात्त्यो न भवति ।

आयस्थानेभ्यश्च ॥३१४९॥ द्रव्यागमनमायः । स यस्मिंस्तिष्ठत्युत्पत्तिद्वारेण तदायस्थानम् ।
तद्वाचिभ्यश्च भवति तत आगत इत्यस्मिन्विषये । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वादेव बाधकः । शुल्क-
शालाया आगतं शौल्कशालिकम् । आतरिकम्^१ । आपणिकम् । गौहिकम् । दौवारिकम् । बहुत्वनिर्देशः
स्वरूपनिरासार्थः ।

शुण्डिकादिभ्योऽण् ॥३१५०॥ शुण्डाशब्दो मद्यवचनः, तस्मान्मत्वर्थीये ते (त्ये) कृते शुण्डिक
इति भवति । शुण्डिक इत्येवमादिभ्योऽण् भवति तत आगत इत्येतस्मिन्विषये । शुण्डिकादागतः शौण्डिकः ।
शुण्डिक । कृष्ण । स्थण्डिल । उदक । उदपान । उपल । तीर्थ । पिप्ल । भूमि । तृण । पर्ण ।
पुनरङ्गग्रहणं किम् ? आयस्थाने ठणः, “गेहादियुक्तकणाद् भारद्वाज” इति को विहितस्तस्याऽ-
पि बाधनार्थम् ।

यौनमौखाद्बुञ् ॥३१५१॥ जन्मभ्रन्धेन योनेरिमे, योनेरागता वा, यौनाः शब्दा
मातुलादयः । विद्यासम्बन्धेन सुखस्थेमे, मुलादागता वा मौखा उपाध्यायादयः, ऋत्विगादयश्च । यौन-
मौलेभ्यः शब्देभ्यश्च भवति तत आगतेऽर्थे । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वाद् बाधकः । मातुला-
दागतं मातुलकम् । मातामहकम् । पैतामहकम् । मौलेभ्यः - उपाध्यायादागतम् । औपाध्यायकम् ।
आचार्यकम् । शौभ्यकम् । आत्थिञ्कम् ।

ऋतष्टञ् ॥३१५२॥ ऋकारान्तेभ्यो यौनमुखे(मौले)भ्यः शब्देभ्यश्च भवति तत आगतेऽर्थे ।
यौनेभ्यो भ्रातुरागतं भ्रातृकम् । स्वासृकम् । मातृकम् । मौलेभ्यः - होतुरागतं होतृकम् । पौतृकम् ।
औद्गातृकम् । पूर्वस्य बुञोऽपवादः ।

पितुर्यश्च ॥३१५३॥ पितृशब्दाद् य इत्ययं त्यो भवति ठञ् च तत आगतेऽर्थे । पितुरागतं
पितृकम् । “रीडृतः” [५।२।१३६] रीडदेशः “यस्य ह्याञ्च” [३।४।१३६] इतीकारस्य खम् ।
पत्ने पैतृकम् ।

वृद्धादङ्कवत् ॥३१५४॥ वृद्धत्यान्तान्मृदः अङ्क इव यविधिर्भवति । वृद्धमिहापत्यमात्रम् । यथेह
भवति । गर्गाणामङ्कः, गर्गः । वैदः । “सङ्काङ्कलक्षणबोधेऽन्यजिनामणि” [३।३।६५] इत्यण् तथा गर्गेभ्य
आगतम्, गर्गम् । वैदम् । अङ्कग्रहणे वृद्धान्तस्ये (द्धत्यान्तस्ये) दमर्थे तस्येदमर्थसामान्यं लक्ष्यते । तेन बुञोऽ-
प्यतिदेशः सिद्धः । औपगवा (ना) मिदम्, “वृद्धवर्याञ्जित” [३।३।६४] इति बुनि कृते, औपगवकम् ।
नाडायनकम् । तथा औपगवादागतम् औपगवकम् । नाडायनकम् ।

१. आतरिकम् ब०, स० । २. -द्धगतस्यैदमर्थं सामा—अ० । -द्धग्ररजेदमर्थं तस्यैदमर्थसामा—
ब० । -इतस्यैदमर्थं सामा—पू० ।

हेतुमनुष्याद् वा रूप्यः ॥३३॥५५॥ तत आगत इति वर्तते । हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्च वा रूप्य इत्ययं त्यो भवति । हेतुभ्यः कारणाद् , धेनोरागतं धेनुरूप्यम् । विश्वरूप्यम् । कररूप्यम् । पक्षे गेहादिलक्षण-
शुद्धः । समीयम् । विषमीयम् । पापीयम् । मनुष्येभ्यः-देवदत्तादागतं देवदत्तरूप्यम् । जिनदत्तरूप्यम् । पक्षे
देवदत्तकम् । जिनदत्तकम् । देवदत्तकल्पकम् । हेतौ का भवतीति मनुष्येभ्योऽपादानलक्षणा का ।

मयट् ॥३३॥५६॥ हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्च मयड् भवति तत आगतेऽर्थे । समाद्धेतोरागतं सममयम् ।
पापमयम् । मनुष्येभ्यः-देवदत्तादागतम् , देवदत्तमयम् । जिनदत्तमयम् । जिनदत्तमयी । योगविभागो यथा-
संख्यनिवृत्त्यर्थः ।

प्रभवति ॥३३॥५७॥ तत इत्येष वर्तते । तत इति कासामर्थ्यान्ङ्यामृदो यथाविहितं त्यो
भवति । प्रथमं भवति प्रभवति । भवतिरिहोपलब्धिक्रियः, अनेकार्थत्वाद् धूनाम् । स्रुघ्नात् प्रभवति, स्रुघ्नः ।
राष्ट्रियः । हिमवतः प्रभवति, हैमवती गङ्गा । दारदी सिन्धुः ।

विदूरशब्दोऽर्थः ॥३३॥५८॥ ततः प्रभवतीति अनुवर्तते । विदूरशब्दोऽर्थो भवति । अणोऽपवादः ।
विदूरात्प्रभवति, वैदूर्यो मणिः । यदि प्रथमं भवति प्रभवतीत्युच्यते वालवायाद्गिरेरसौ प्रभवति न विदूरात्प्रग-
रात् । कथं ततस्त्योत्विति ? एवं तर्हि “वाळवायो विदूरश्च प्रकृत्यन्तरमेव वा । नैवं तत्रेति चेद्ब्रूयात् जित्वरी-
वदुपाचरेत् ॥” वालवायस्यं लभते विदूरमादेशञ्च । यथा शिवादिषु विश्रवःशब्दो विश्रवणरवणादेशौ
अणं च लभते । प्रकृत्यन्तरमेव वा वालवायस्य विदूरशब्दः । अव्यविकन्यायेन विदूरादेव त्यः । नैवं तत्रेति
चेद्ब्रूयात् जित्वरीवदुपाचरेत् । यथा वाणिजाः वाराणसीं जित्वरीति मङ्गलार्थमुपाचरन्ति । एवं वालवायोऽप्यु-
पचाराद् विदूरशब्देनोक्तः । अथवा विदूरादेव मणित्वेन प्रभवति ।

तद्गच्छति पथिदूतयोः ॥३३॥५९॥ तदितीप्समर्थाद्गच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति
योऽसौ गच्छति पन्था दूतो वा चेद् भवति । स्रुघ्नं गच्छति, स्रुघ्नः । राष्ट्रियः । पन्था दूतो वा । पथिस्थेषु
गच्छत्सु पन्था गच्छतीत्युच्यते । पथिदूतयोरिति किम् ? स्रुघ्नं गच्छति सार्थः ।

अभिनिष्कामति द्वारम् ॥३३॥६०॥ तदिति वर्तते । तदितीप्समर्थादभिनिष्कामतीत्येतदिमन्नर्थे
यथाविहितं त्यो भवति । अनभिनिष्कामणक्रियायां द्वारं करणं स्वातन्त्र्येण विवक्षितम् । यथा, अस्मिन्निष्कामति ।
घनुर्विध्यति । द्वारस्थेषु च निष्कामत्सु द्वारं निष्कामतीत्युच्यते । स्रुघ्नमभिनिष्कामति पाटलिपुत्रस्य द्वारम्,
स्रुघ्नम् । राष्ट्रियम् । द्वारमिति किम् ? मधुरामभिनिष्कामति वैदिस (श) स्य ग्रामः । स्रुघ्नमभि-
निष्कामति पुरुषः ।

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ॥३३॥६१॥ तदितीप्समर्थादधिकृत्य कृतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तत्कृतं
ग्रन्थश्चेत्स भवति । सुलोचनामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौलोचनः । औदयनः । ग्रन्थ इति किम् ? सुलोचनाम-
धिकृत्य कृतः प्रासाद । “उत्साऽख्यायिकासु बहुलमिति वक्तव्यम्” [वा०] वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽख्या-
यिका, वासवदत्ता । दोस्य (शुद्ध) स्थोष् । उर्वशी । सुमनोत्तरा । अण उस् । न च भवति भैमरथी ।

शिशुकन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छुः ॥३३॥६२॥ तदधिकृत्य कृते ग्रन्थ इति वर्तते ।
शिशुकन्दयमसभ इत्येताभ्यां द्वन्द्वदिन्द्रजननादिभ्यश्च छो भवति । अणोऽपवादः । शिशुकन्दमधिकृत्य
कृतो ग्रन्थः, शिशुकन्दीयः । यमस्य सभा, यमसभम् । “सभाऽशाजाऽमनुष्यात्” [११३१३३] इति नप् ।
यमसमीयः । द्वन्द्वात् , त्रिपृष्ठविजयीयः । भरतबाहुबलीयः । वाक्यपदीयम् । “द्वन्द्वे देवाऽसुरादिभ्यः प्रति-
वेजो वक्तव्यः” [वा०] दैवासुरम् । राक्षोऽसुरम् । गौरामुख्यम् । इन्द्रजननादिभ्यः-इन्द्रजननीयम् ।

प्रधुम्नोदयनीयम् । प्रधुम्नागमनीयम् । शी (सी) तान्त्वेषणीयम् । इन्द्रजननादिराकृतिगणः । शि० क्रन्दादयाऽपि तत्रैव द्रष्टव्याः । देवासुरादिषु लुस्यादर्शनात् प्रतिषेधश्च न वक्तव्यः । प्रपञ्चो बालावबोधनार्थः ।

सोऽस्य निवासः ॥३१३६३॥ स इति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद् वासमर्थं निवासश्चेत्स भवति । निवासन्त्यस्मिन्निति निवासः । लु० च्चं निवासोऽस्य सौ० च्चः । राष्ट्रियः ।

अभिजनः ॥३१३६४॥ अभिजनः पूर्वं बान्धवाः । साहचर्यात्तैरुचितो देशोऽपि तथोक्तः । निवासो यत्र साम्प्रतमुच्य (व्य) ते । स इति वासमर्थादभिजन इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । लु० च्चमभिजनोऽस्य, सौ० च्चः । राष्ट्रियः ।

गिरेश्छुः शस्त्रजीविषु ॥३१३६५॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । गिरिवाचिनो वासमर्थादभिजनविशिष्टादस्येति ताऽर्थे छो भवति शस्त्रजीविष्वभिधेयेषु । हृद्गोलोऽभिजन एषां शस्त्रजीविनाम्, हृद्गोलीयाः । अलर्म । अत्वर्मायाः । वेल । वेलीयाः । रोहितगिरि । रोहितगिरीयाः । गिरेरिति किम् ? साङ्कास्योऽभिजन एषां शस्त्रजीविनां साङ्कास्यकाः शस्त्रजीविनः । “बन्ध (धन्व) योः” [३१२।११] इति वुञ् । शस्त्रजीविष्विति किम् ? ऋद्धोदो गिरिरभिजन एषां ब्राह्मणानामन्येषां वा, आर्द्धोदाः । पृथु । पार्थवाः ।

शरिडकादेर्ज्यः ॥३१३६६॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शरिडक इत्येवमादिभ्यो ज्यो भवति । अणादेरपवादः । शरिडकोऽभिजनोऽस्य, शरिडक्यः [शरिडकः] । सर्वसेन । सर्वकेश । शक । शट । चणक । शङ्ख । बोध । गोष । अत्र कोड्भ्यः “कोडोऽण्” [३१२।११०] इत्यण् प्रातः । इतरभ्यः “बहुत्वेऽदोरपि [३१२।१०३] इति वुञ् प्रातः ।

सिन्धुवादेरण् ॥३१३६७॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । सिन्धु इत्येवमादिभ्योऽण् भवति । सिन्धुरभिजनोऽस्य, सैन्धवः । सिन्धु । वर्ण । मधुमत् । कम्बोज । कश्मीर । सख । एतेभ्यः कञ्छादित्वात् “नृत्तत्थयोः” [३१२।११२] इति वुञ् प्रातः । गन्धार । पञ्चाल । किष्किन्ध । गन्धिक । उरम् । दरद् । एतेभ्यः “बहुत्वेऽदोरपि” [३१२।१०२] इति वुञ् प्रातः । कैमेदुर । काण्डकार । ग्रामणी । एतैर्म्यश्छुः प्रातः ।

तूदीवर्मतीभ्यां ढण् ॥३१३६८॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । तूदीवर्मतीशब्दाभ्यां ढण् भवति । अणोऽपवादः । तूदी अभिजनोऽस्य, तौदेयः । वार्मतेयः ।

शालातुरकूचवाराञ्छरण्यौ ॥ ३१३६९ ॥ सोऽस्याऽभिजन इति वर्तते । शालातुरकूचवार-शब्दाभ्यां ङण्य इत्येतां त्यौ भवतः । अणोऽपवादः^२ । शालातुरोऽभिजनोऽस्य, शालातुरीयः । कोचवार्यः ।

भक्तिः ॥३१३७०॥ सोऽस्येति वर्तते । अभिजन इति निवृत्तं विशेषणान्तरोपादानात् । स इति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद् वासमर्थं भक्तिश्चेत् सा भवति । भज्यत भक्तिः । लु० च्चं भक्तिरस्य, सौ० च्चः । राष्ट्रियः ।

अदेशकालाट्टण् ॥३१३७१॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्तते । देशकालावचितौ । तत्पर्युदासादन्यस्याऽचित्तस्य ग्रहणम् । अचित्तवाचिनो मृदुषणित्यं त्यो भवति । अणोऽपवादः । ठस्य परत्वाद् बाधकः । अपूपा भक्तिरस्य, आपूपिकः । शाकुलिकः । पायसिकः । अदेशादिति किम् ? सौ० च्चः । अकालादिति किम् ? शैशिरः ।

महाराजात् ॥३३।७२॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । महाराजशब्दादङ्ग भवति । महाराजो भक्ति-
रस्य, माहाराजिकः ।

अर्जुनाद् वुन् ॥३३।७३॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । अर्जुनशब्दाद् वुन् भवति । अर्जुनो-
भक्तिरस्य, अर्जुनकः । उत्तरसूत्रेण राजाख्याद् वुन् प्राप्तः ।

वृद्धराजाख्येभ्यो वुन् प्रायः ॥३३।७४॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । वृद्धाऽख्येभ्यो राजा
ख्येभ्यश्च प्रायो वुन् भवति । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वाद्वाचकः । वृद्धराजाख्येभ्य इत्यत्र “त्रे”
[३।२।७] इति नियमात्कर्मणि “आसः कः” [३।२।३] न प्राप्नोति । मूलविभुबादित्वात् “सुषि”
[३।२।७] इति [वा] भविष्यति । वृद्धाख्येभ्यः, ग्लुचुकायनिर्भक्तिरस्य ग्लौचुकायनः । औपगवो भक्तिरस्य,
औपगवकः । कापटवकः । राजाख्येभ्यः नकुलो भक्तिरस्य, नाकुलकः । साहदेवकः । वासुदेवो भक्तिरस्य,
वासुदेवकः । आख्याग्रहणं किमर्थम् ? अङ्गवङ्गकलिङ्गादिग्रहणार्थम् । दुर्योधननकुलसहदेवग्रहणार्थं
च । यत्र सामान्येन विशेषेण वा प्रसिद्धा राजसंज्ञाऽस्ति तस्य सर्वस्य सङ्ग्रहार्थमित्यर्थः । प्रायोग्रहणात्क-
चिन्न भवति । पाणिनो भक्तिरस्य, पाणिनीयः । पौरवीयः ।

राष्ट्रवत्तद्वतां सर्वं बहुत्वे सरूपाणाम् ॥३३।७५॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । राष्ट्रस्येव
राष्ट्रवत् । बहुत्वे राष्ट्रेण समानशब्दानां तद्वतां राष्ट्रवत्सर्वं प्रकृतिस्त्यश्च भवति । “राष्ट्राऽवच्योः”
[३।२।१०२] इत्यादिप्रकरणे विहितानामिहाऽतिदेशः । यथा, अङ्गा जनपदो भक्तिरस्य, आङ्गकः । वाङ्गकः ।
सौहकः । एवमङ्गाः क्षत्रिया भक्तिरस्य, आङ्गकः । सौहकः । तद्वतामिति किम् ? पञ्चाला ब्राह्मणा भक्ति-
रस्य पाञ्चालः । सर्वग्रहणं किम् ? प्रकृतेरप्यतिदेशो यथा स्यात् । स च द्व्येकयोः प्रकृत्यतिदेशः (शं)
प्रयोजयति । यत्रैग्निसंभूतो हृदतिदेशो नास्ति । वृजेरपत्यं वाज्यः । “द्विकुस्नाथजादकुरुकोशकान्च्यः”
[३।१।१५३] इति ज्यः । मद्रस्याऽपत्यं माद्रः । “द्वयम्भगध” [३।१।१५२] इत्यादिनाऽण् । वाज्यो भक्ति-
रस्य, माद्रो भक्तिरस्य, अत्र “वृजि [म] द्राक्कः” [३।२।१०३] इति कोऽतिदिश्यते । प्रकृतिरप्यदुसंज्ञाऽ
(रप्यत्रा) तिदिश्यते । वृजिकः । मद्रकः । वार्ज(ज्यं)को माद्रक इति मा भूत् । सरूपाणामिति किम् ? अंसषण्डो
जनपदः, तस्य पौरवो राजा; स भक्तिरस्य पौरवीयः । बहुत्वग्रहणं सारूप्योपलक्षणार्थम् । यद्यपि द्वित्वैकत्वयोः
सारूप्यं नास्ति तथाप्यतिदेशः सिद्धः । वाङ्गो वाङ्गौ वा भक्तिरस्य, वाङ्गकः ।

तेन प्रोक्तम् ॥३३।७६॥ तेनेति भासमर्थत्प्रोक्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । व्याख्यादिना
प्रकर्षेणोक्तं प्रोक्तमिति गृह्यते, न तु कृतं यदन्येन कृतम् । गोतमेन प्रोक्तम्, गौतमम् । श्रीदत्तीयम् ।
सामन्तभद्रम् । आपिशलम् । “इजः” [३।२।८८] इत्यण् ।

शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन् ॥३३।७७॥ शौनक इत्येवमादिभ्यश्छन्दस्यभिधेये णिन् भवति तेन
प्रोक्तमित्यस्मिन्विषये । दुभ्यश्छन्दस्य इतरेभ्यश्चाणोऽपवादः । “छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव” [३।२।२६]
इति नियमादेकवाक्यम् । शौनकेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते शौनकिनः । “तद्वेत्स्यधीते” [३।२।२१]
इत्यागतस्याय “उपप्रोक्तात्” [३।२।२४] इत्युप् । शौनक । वाजसनेय । साङ्गरव । सापेय । सा(शा)प्येय ।
‘श्यादायन । स्कभ । स्कभ^२ । स्तभ । देवदर्श । रज्जुभार । रज्जुकण्ठ । कठ । साठ । कौसायन । तल-
वकाल (२) । ‘पुरुषांसक । “कारयपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां कल्पस्थाभ्यां प्रोक्तः स्मर्यते” । तस्योपचारा-

१. सादायन पू० । बोदायन अ० । २. स्कंभ अ०, पू० । ३. पुरुषांसक इति गण्यरत्न-
महोदधौ ।

छन्दस्त्वम् । तेन तद्विषयतानियमः । काश्यपेन प्रोक्तं कल्पं विदन्ति, काश्यपिनः । कौशिकिनः । ऋषिभ्या-
मिति किम् ? इदानीन्तनेन काश्यपेन प्रोक्तम्, काश्यपीयम् । “कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यः” । कला-
प्यन्तेवासिनश्चत्वारः ।

“हरिदुरेषां प्रथमस्ततरङ्गकलितुम्बुरु । उरूपेन चतुर्थेन कालापकमिहोच्यते ।”

हरिद्रुणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, हरिद्रविणः । तौम्बुरविणः । औलपिनः । छगलिनो दिनियं वक्ष्यति ।
वैशम्पायनान्तेवासिनो नव ।

“आलम्बिनः प्रथमः प्राचां पलिङ्गकमलावुभौ । ऋचभागाहणौ ताण्ड्यो मध्यमीयास्ततोऽपरे ॥
श्यामायन उदोच्येषु तथा कठकलापिनौ ।”

आलम्बिना प्रोक्तमधीयते, आलम्बिनः । पालिङ्गिनः । कामलिनः । आर्चभागिनः । आरुणिनः ।
ताण्डिनः । श्यामायनिनः । कठादत्रैवोपं वक्ष्यते । उत्तरत्र कलापिनोऽणं वक्ष्यति । अन्तेवासिग्रहणेन प्रत्यक्ष-
शिष्यग्रहणम् । न तु व्यवहितानां शिष्यशिष्याणां ग्रहणं व्याख्यानात् । “पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु” [ग०सू०]
यत्तत्प्रोक्तं (यत्प्रोक्तं तत्) पुराणप्रोक्ताश्चद् ब्राह्मणकल्पा भवन्ति । पुराणेन पुरातनेन ऋषिणा प्रोक्ताः,
पुराणप्रोक्ताः, ब्राह्मणानि च कल्पाश्च ब्राह्मणकल्पाः । भाल्लवेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते भाल्लविनः ।
‘वासायनिनः । ऐतरेयिणः । पिङ्गन प्रोक्तः कल्पः पैङ्गी । आरुणपराजी । कल्पस्य तद्विषयतानियमो
नास्ति । पुराणप्रोक्तेष्विति किम् ? याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि । आश्रमथः कल्पः । “शकलादिभ्यो वृद्धे”
[३।३।८७] इत्यण् । याज्ञवल्कदादयोऽवरकाला इत्याख्यानेषु श्रुतिः । तद्विषयतानियमोऽपि प्रतिपदं ब्राह्मणेषु
भवति इति इह सोऽपि नास्ति । “कठचरकादुप्” [ग०सू०] । कठेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, कठाः । वैशम्पायनान्ते-
वास्तिवाणिणन्, तस्योप् । चरक इति वैशम्पायनस्याख्या । चरकादछन्दस्येवेध्यते । चरकेण प्रोक्ताश्चरकाः
श्लोकाः । अथ उप् । सर्वप्रवचनाभिधाने ‘वृद्धचरकाञ्जित्’ [३।३।१४] इति बुन् भवत्येव । शौनकिना-
मिदम्, शौनककम्, इत्येवमादि योज्यम् । “पाराशर्यशकलादिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः” । पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षु-
सूत्रमधीयते, पाराशरियो भिक्षुवः । शिलालिनो नटाः । गुणकल्पनया चात्र छन्दस्त्वम् तेन तद्विषयता
(भवति । भिक्षुनटसूत्रयोरिति किम् ? पारा) शरम् । शौलालम् । “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।३।८७]
इत्यण् उत्सर्गश्च “कर्मन्दकृशाश्वभ्यामिन्” । अत्रापि तद्विषयता, कर्मन्दिनो भिक्षुवः । कृशाश्विनो
नटाः । भिक्षुनटसूत्रयोरित्येव । कर्मन्दम् । कार्या (कारशाश्वम्) । छन्दसीति किम् ? शौन-
कीया शिखा ।

तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखच्छण् ॥३।३।७८॥ छन्दसीति वर्तते, तेन प्रोक्तमिति (च) ।
तित्तिरि वरतन्तु खण्डिका उख इत्येतेभ्यश्छण् भवति । अणोऽपवादः । तित्तिरिणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते
विदन्ति वा तैत्तिरीयाः । खण्डिकीयाः । औखीयाः । छन्दसीत्येव । तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः, तैत्तिराः ।

कलापिनोऽण् ॥३।३।७९॥ छन्दसीति वर्तते । कलापिशब्दादण् भवति तेन प्रोक्तं इत्यस्मि-
न्विषये । वैशम्पायनान्तेवासिवाणिणन् प्राप्तः । कलापिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, कालापाः । “नोऽपुंसो
हृति” [४।४।१३०] इति टिलं प्राप्तम्, “प्रायोऽनपत्येयीनः” [४।४।१३२] इति प्रतिषिद्धम्, “सम्राज-
चर्यादेः” [४।४।१३१] इति पुनष्टिलम् । पुनरण्ग्रहणं किम् ? क्वचिच्छ्रविषयेऽपि यथा स्यात् । तेन
सौलभानि ब्राह्मणानीत्येवमादि सिद्धम् ।

१. शाठ्यायनिनः अ०, पृ०। २. चरकादुप्छन्दस्येव इत्यत्र अणुच्छन्दसीति, चरकाः श्लोका इत्यत्रो-
द्विधानं च चिन्त्यम् । काशिकादौ छन्दसीत्येव । चारकाः श्लोका इत्यत्रानुवृत्त्यात् ।

छगलिनो छिनिण् ॥३३३८०॥ छन्दसीति वर्तते, तेन प्रोक्तमिति च । छगलिनशब्दाङ्घ्रिनिष् भवति । नेरिफार उच्चारणार्थः । छगलिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, छागलेयिनः । कलाप्यन्तेवासिलक्षणस्य णिनोऽपवादः ।

एकदिक् ॥३३३८१॥ छन्दसीति निवृत्तम् । तेन प्रोक्तमिति च निवृत्तमर्थान्तरग्रहणात् । एका दिग् यस्य तदेकदिक्, त्य (स) मानदिगित्यर्थः । भासमर्थादेकदिगित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । सुदाम्ना पर्वतेन एकदिक्, सौदामनी विद्यत् । “अनः” [३१३१५८] इति टिलाऽभावः । एवं हैमवती । त्रैककुदी ।

तस् ॥३३३८२॥ तसित्ययं ल्यो भवति मृदः । तेनैकदिगित्यनुवर्तते । पूर्वसूत्रेणाणादयो घादयश्च भवन्ति । अयं च वचनाद् भवति । न तु बाध्यबाधकभावः । सुदाम्ना एकदिक् सुदामतः । हिमवतः । त्रिककुत्तः । तस्त्यान्तस्य स्वभावतो फिसंज्ञा ।

यश्चोरसः ॥३३३८३॥ तेनैकदिगिति वर्तते । उरःशब्दात् य इत्ययं ल्यो भवति तश्च । अणोऽपवादः । उरसा एक दिक्, उरस्यः, उरस्तः ।

उपशाते ॥३३३८४॥ तेनेति वर्तते । तेनेति भासमर्थादुपशातेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । विनोपदेशेन प्रथमं शतमुपशातम् । स्वायम्भुवेनोपशातं स्वायम्भुवीयमाकालिकाऽचाराऽव्ययनम् । दैवन्दिनमनेकशेषं व्याकरणम् ।

कृते ग्रन्थे ॥३३३८५॥ तेनेति भासमर्थात्कृतेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्कृतं ग्रन्थश्चेद् भवति । बलदेवेन कृताः, बालदेवाः श्लोकाः । वाररुचाः । सिंहनदीयाः । ग्रन्थ इति किम् ? तच्चा कृतः प्रासादः ।

खौ ॥३३३८६॥ तेनेति भासमर्थात्कृतेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति समुदायेन खुविषये । अग्रन्थेऽपि विधिरयम् । मन्त्रिकाभिः कृतं मातृक मधु । एवं गर्भुत्, गार्भुतम् । पुत्तिका, पौत्तिकम् । लुद्रा, लौद्रम् । सरघा, सारघम् । नर्मुक, नार्मुकम् । भ्रमर, भ्रामरम् । वटर, वाटरम् । वातप, वातपम् । छः कस्मान्न भवति । संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिरियम् । न च छे कृते संज्ञा गम्यते ।

कुलालादेर्वुष् ॥३३३८७॥ खाविति वर्तते । कुलाल इत्येवमादिभ्यो बुञ् भवति तेन कृतेऽर्थे । अणोऽपवादः । कुलालेन कृतम्, कौलालकम् । घटादिसमुदायस्येयं संज्ञा । कुलाल । वष्ट । कर्मार । चण्डाल । निषाद । सेना । सिलिच् । देवराजी । परिषत् । वधू । रुद्र । अस्य स्थाने रुद्रशब्दं केचित् पठन्ति । अनड्डुह् । ब्रह्मन् । कर्मार । कुलाल । कुम्भकार । श्वपाक ।

तस्येदम् ॥३३३८८॥ तस्येति तासमर्थादिदमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । तस्येति सामान्येन ताऽर्थमात्र इदमिति ताऽर्थसम्बन्धिमन्त्रं विवक्षितम् । उभयत्र लिङ्गसंख्याप्रत्ययपरोक्षत्वादिकमविवक्षितम् । उपगोरिदम्, औपगवम् । औत्सम् । राष्ट्रियम् । आङ्गकम् । अनन्तरादिष्वभिधानं नास्ति । देवदत्तस्थानन्तरम्, देवदत्तस्य समीपम् । विशतेरवयव एकः, शतस्य द्वौ, सहस्रस्य पञ्चेति । “संबोद्धुः संबहितुभावरश्च स्वे वक्तव्यः” [वा०] । संबोद्धुः स्वं सांवहितम् । “अरजीधः शरणे वाप्ये रय्

१. सिक्किम् अ० । मिळिवू पू० । खिरिअ इति काशिकायाम् । २. केचित् काशिकाकारा इत्यर्थः ।

वक्तव्यो असंज्ञा च” [वा०] अग्नीध इदम्, आग्नीध्रम् । ‘समिधामाधाने टेभ्यश्च वक्तव्यः’ [वा०] ।
सामिधेनी ऋक् ।

रथाद्यः ॥३।३।८६॥ तस्येदमिति वर्तते । रथशब्दाद्यो भवति । अणोरपवादः । रथाङ्ग एवेष्यते ।
रथस्येदं चक्रं युगं वा रथ्यम् । “रथसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरुपसंख्यातः” [वा०] । परमरथ्यम् ।
रथाङ्ग इति किम् ? रथस्य स्थानम् ।

पत्रादण् ॥३।३।९०॥ पतन्ति तेनेति पत्रं वाहनम् । तत्पूर्वाद्द्रथशब्दादण् भवति । पूर्वस्य यस्वाऽपवादः ।
अश्वरथस्येदं चक्रं युगं वाऽऽश्वरथम् । औष्ट्ररथम् । पुनरण्ग्रहणं छ्वाघनार्थम् । रासभरथम् । युगम् ।
रथाङ्ग इत्येव । अश्वरथस्य स्वामी ।

पत्रात् ॥३।३।९१॥ पत्रं वाहनम् । तद्वाचिशब्दादण् भवति, तस्येदमित्यस्मिन्विषये । “पत्राद्
वाह्य एवेष्यते” [वा०] । अश्वस्येदं वाह्यम्, आश्वम् । उत्कर्षेण सिद्धमिति चेद्दुसंज्ञेषु न सिद्ध्यति ।
रासभस्येदं वहनीयम्, रासभम् ।

हलसोराट्ण् ॥३।३।९२॥ तस्येदमिति वर्तते । हलसीरशब्दाभ्यां ठण् भवत्यणि प्राप्ते । हलस्येदं
हालिकम् । सैरिकम् ।

द्वन्द्वाद्बुन् वैरमैथुनिकयोः ॥३।३।९३॥ तस्येदमिति वर्तते । मैथुनिका विवाहनादिका क्रिया ।
द्वन्द्वाद् बुन् भवति वैरे मैथुनिकायां च । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वादेव बाधकः । अहिनकुलिका ।
काकौलूकिका । वद्रवशालङ्कायनिका^१ । बुन्नन्तस्य स्वभावतः स्त्रीलिङ्गम् । मैथुनिकायां च । कुक्कासि(शि)का ।
कुक्कुष्णिका । अत्रिभरद्वाजिका । भरद्वाजशब्दादञ्, तस्य वृद्धे बहुत्वे “यज्जोः” [१।४।१३२] इत्युप्
कृतः । “वृद्धेऽच्यनुप्” [३।१।७३] इति अनुप् कस्मान्न भवति । प्रथमादित्यधिकाराद् द्वितीयस्य न
भवति । अथ प्रथमस्याऽत्रिशब्दस्य यो ढण् तस्याऽनुप् कस्मान्न भवति । अजादावव्यवहिते अपु (नु) ब्
भवति । भरद्वाजशब्देन चाऽत्र व्यवधानम् । अत्रेष्टिः । गर्गभृगूष्णामियं मैथुनिका गर्गभार्गवका । अत्र
बोरकादेशे कृते भृगुशब्दाद् योऽण् तस्य बहुत्वे “भृग्वत्रिकुत्स” [१।४।१३६] इत्यनेनोप् प्राप्तेः । “प्रथमा
ऽधिकारे द्वितीयस्यापि वृद्धेऽच्यनुष्चक्रव्यः” [वा०] । “देवासुरादिभ्यो बुनः प्रतिषेधो वक्तव्यः”
[वा०] । दैवासुरम् । राक्षोसुरम् ।

बृद्धचरणाञ्जित् ॥३।३।९४॥ तस्येदमिति वर्तते । बृद्धवाचिनश्चरणवाचिनश्च जित्वा जित्भवति
बुन् । अनेनैव बुनो विधानम् । अयमणोऽपवादः । छस्य तु परत्वाद् बाधकः । त्रिष्टयायनेरिदम्, त्रैष्टयायनकम् ।
औपगवानामिदम्, औपगवकम् । चरणानि वेदशालाः । तद्योगादध्येतारोऽपि कठादयश्चरणाख्याः ।
“चरणाद्धर्माग्नाययोरैवेष्यते” [वा०] । कठानामयं धर्म आग्नायो वा काठकम् । कालापकम् ।
मौदकम् । पैपलादकम् । अध्वर्युशब्दस्य समुदायवाचित्वाच्चरणशब्दत्वमिह नेष्टम्, तेनाणोव भवति ।
आध्वर्यवम् ।

सङ्घाङ्कलक्षणघोषेऽयन्विचामण् ॥३।३।९५॥ तस्येदमिति वर्तते । सङ्घादिषु चतुर्षु इदमर्थ-
विशेषणेषु अजन्ताद्यजन्तादिजन्ताच्चाण् भवति । पूर्वस्य बुनोऽपवादः । विदानां सङ्घः, अङ्कः, लक्षणं

१. वद्रवशाकङ्कायनिका अ०, । वद्रवशाकङ्कायनिका पू० । वाङ्मयशाकङ्कायनिका इति
काङ्किकायाम् ।

घोषो वा, वैदम् । यजन्तात् । गर्गाणां सङ्घः, अङ्को लक्षणं घोषो वा, गर्गम् । “क्यञ्च्यनाद्घृत्त्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यखम् । इजन्तात् । दाक्षम् । प्लाक्षम् । अणो णित्करणं स्त्रियां डथर्थम् । “ञ्णिवृद्धदर-
क्तविकारे” [४।३।१५१] इत्यत्र पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च । वैदी स्थूणा अस्य, वैदीस्थूणः । लक्ष्म्या (क्ष्य) गतं-
चिह्नं लक्षणं यथोपशमो मुनीनाम् । बाह्यसम्बन्धि गतं चिह्नमङ्कः, यथा गवां रेखा ।

शाकलाद् घा ॥३।३।९६॥ शाकलशब्दात्सङ्घादिषु इदमर्थविशिष्टेषु वाऽण्य भवति चरणलक्षणे
नित्ये वुनि प्राप्ते विभाषेयम् । कथं चरणत्वम् ? शाकल्येन प्रोक्तमधीयते शाकलाः । प्रोक्ताऽर्थे “शकलादिभ्यो
वृद्धे” [३।३।८७] इत्यण् । “क्यञ्च्यनाद्घृत्त्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यखम् । “तद्वेत्स्यधीते”
[३।२।११] इत्यागतस्याण् “उप्प्रोक्तात्” [३।२।५४] इत्युप् । शाकलानां सङ्घः, अङ्कः, लक्षणं,
घोषो वा, शाकलम् ।

छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वचनटाऽऽज्यः ॥३।३।९७॥ सङ्घादयो निवृत्ताः । सामान्येन तस्ये-
दमिति वर्तते । छन्दोग औक्थिक याज्ञिक बह्वच नट इत्येभ्यो जो भवति । वुनोऽपवादः । नटशब्दादणोऽ-
पवादः । छन्दोगानां धर्मं आम्नायो वा छान्दोग्यम् । औक्थिकानां धर्मं आम्नायो वा, औक्थिक्यम् ।
याज्ञिक्यम् । बहोः ऋचोऽधीयते, बहुचाः । अः सन्तः । “तद्वेत्स्यधीते” [३।२।११] इत्यागतस्याणो
‘रस्योबनपत्ये’ [३।१।७४] इत्युप् । तेषां धर्मं आम्नायो वा, बाह्वच्यम् । चरणसाहचर्यान्नटशब्दादपि
धर्माभाययोरेव त्यः । नाट्यम् ।

न दण्डमाणान्तेवासिषु ॥३।३।९८॥ दण्डप्रधाना माणवाः दण्डमाणवाः । आश्रमिणां
रक्षापरिचरणाविधायिन इत्यर्थः । अन्तेवासिनो विनेयाः । वृद्धग्रहणमनुवर्तते । दण्डमाणवेषु अन्तेवासिषु
इदमर्थविशेषेषु तस्येदमित्यस्मिन्विषये वृद्धाद्यदुक्तं तन्न भवति । कारणस्येते कारणः । गौकक्ष्यस्येते, गौकक्षाः ।
दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा । वुनि प्रतिषिद्धे “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इत्यण् । दाक्षेरिमे
दाक्षाः । प्लाक्षाः । “इजः” [३।२।८८] इत्यण् ।

रैवतिकादेःशुः ॥३।३।९९॥ तस्येदमिति वर्तते । वृद्धादिति च । रैवतिक इत्येवमादिभ्यो वृद्धेभ्यश्छो
भवति । वुनादेरपवादः । रैवतिकस्येदं रैवतिकीयम् । वुनः प्रकृते प्रतिषेधे कृते सामर्थ्याद् दोश्छः सिद्धः । नैवं
शक्यम् इजतात् “इजः” [३।२।८८] इति अण् प्राप्नोति सङ्घादिषु चाणः प्रतिषेधे वुन् प्रसज्येत ।
रैवतिक । गौरग्रीवि । स्वापिशि । जैमवृत्ति । जैमवृद्धि इति केचित् । औदमेधि । औदवाहि । औद-
वापि । वैजवापि ।

कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ॥३।३।१००॥ कौपिञ्जलहास्तिपदशब्दाभ्यामण्य भवति तस्येदमित्य-
स्मिन्विषये । वृद्धलक्षणस्य वुनोऽपवादः । कुपिञ्जल हास्तिपादशब्दाभ्यामपत्येऽर्थे त एव निपातनादण् । पादस्य
पदभावश्च । कौपिञ्जलस्येदं कौपिञ्जलं शकटम् । हास्तिपदं शकटम् । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे पुनरण्य-
ग्रहणं “न दण्डमाणवान्तेवासिषु” [३।३।९८] इति वुनि प्रतिषिद्धे “दोः” [३।२।९०] इति छे प्राप्ते अण्य
यथा स्यात् । कौपिञ्जला अन्तेवासिनो दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा ।

आथर्वणः ॥३।३।१०१॥ तस्येदमिति वर्तते । आथर्वण इति निपात्यते । आथर्वणिकशब्दादण्य
निपात्यते इकस्य च खम् । चरणवाचि शब्दादस्माद् वुञ् प्रातः । अथर्वणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते,
आथर्वणिकाः । प्रोक्तार्थेऽण्य “नोऽण्यो इति” [४।४।१३०] इति टिखं प्रातम् ? “जजः”

[३।३।१५८] इति प्रतिषिद्धम् । आथर्वण इति स्थिते “-न्दोब्राह्मणानि चात्रैव” [३।२।१६] इति नियमात् “तद्वेत्सधीते” [३।२।११] इत्यपि प्राप्ते उक्त्यादिष्वथर्वणशब्दस्य पाठात् ठण् । तत्र पाठसामर्थ्यादेव “इप्प्रोक्तात्” [३।२।१४] इत्युच्यते भवति । आथर्वणिकानां धर्मं आम्नायो वा आथर्वणः । यस्तूक्त्यादिष्वथर्वणशब्दः पठ्यते स उपचाराच्छास्त्रवचनः अथर्वणं वेत्सधीते वा आथर्वणिकः । टिलाभा-
वश्चात्र वक्तव्यः । अस्याप्याथर्वणिकशब्दस्येदं निपातनमिष्यते ।

तस्य विकारः ॥३।३।१०२॥ प्रकृतेरवस्थान्तरं विकारः । तस्येति तासमर्थाद् विकार इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । अद् युस्य च नाभ्यत्(न्यत्र) प्रतिपदं ग्रहणं तदिहोदाहरणम् । अश्मनो विकारः अश्मः । “श्वारमचर्मणां सङ्कोषविकारकोशेषु” [३।३।१३२] इति टिप्पणम् । भस्मनो विकारः, भास्मनः । मार्तिकः । तार्कवः । दैवदारवः । तैत्तिडीकः । वैत्वः । कापित्यः । पालाराः । प्रकृत्युपस-
(म) देनो यो विकारस्तत्रायं विधिः । तेनेह न भवति, आम्रं पक्वमिति । भवति पक्वमात्रस्य फलस्य विकारे न तु प्रकृत्युपमार्दि । तस्येति वर्तमाने पुनस्तस्य ग्रहणं शैषिकाणां घादीनां निवृत्त्यर्थम् । अतः परमोत्सर्ग एव भवति । अत्र केषाञ्चिद्युक्तिः पूर्वसूत्रादपीति वर्तते स इह विधीयमानः परत्वेन शैषिकाणां बाधकः ।

प्राणयोषधिवृद्धेभ्योऽवयवे च ॥३।३।१०३॥ प्राणिनश्चेतनावन्तः । फलपाकान्ता ओषधयः । पुष्पवन्तः फलवन्तश्च वृक्षाः । वृक्षविशेषत्वाद्वनस्पतिवीरुधामपि वृक्षग्रहणेन ग्रहणम् । प्राणयोषधिवृद्धवा-
चिभ्यस्तासमर्थेभ्योऽवयवे विकारे च यथाविहितं त्यो भवति । अवयव एकदेशः । प्राणिभ्य उत्तरत्र वक्ष्यते । ओषधिभ्यः, मूर्वाया अवयवो विकारो वा मौर्वे काण्डम् । मौर्वे भस्म । वृद्धेभ्य-कारिरं काण्डम् । कारिरं भस्म । पैपलं काण्डम् । शातपत्रिकं काण्डं भस्म च । इह ओषधिवृक्षग्रहणं शापकम् । “अथौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [१।२।८५] इत्येवमादिषु प्राणिग्रहणे वृक्षादीनां प्राणित्वेऽपि ग्रहणं न भवति । तस्य विकारः प्राणयोषधि-
वृद्धेभ्योऽवयवे चेति द्वयमधिक्रियते । अयं तु विभागः । प्राणयोषधिवृद्धेभ्यः, अवयवविकारयोरुत्तरो विधिः । अन्येभ्यस्तु विकारमात्र एष्टव्यः ।

जातरूपेभ्यः परिमाणे ॥३।३।१०४॥ इहाऽसम्भवादवयवार्थो न सम्बध्यते । जातरूपवाचिभ्य-
स्तान्तेभ्यो विकारविशेषे परिमाणे यथाविहितं त्यो भवति । बहुत्वनिर्देशात्स्वरूपस्य ‘तत्पर्यायवाचिनां च
ग्रहणम् । इह युनि (दुनि) प्रयोजयन्ति । “नित्यं दुश्शरादेः” [३।३।१०६] इत्यनेन प्राप्तस्य मयटोऽपवादः ।
जातरूपस्य विकारो जातरूपो निष्कः । जातरूपं कार्षापणम् । हाटको निष्कः । हाटकं कार्षापणम् । परिमाण
इति किम् ? हाटकमयी यष्टिः ।

प्राणितालादेः ॥३।३।१०५॥ तस्य विकारः प्राणयोषधिवृद्धेभ्योऽवयवे चेति वर्तते । प्राणिवाचिभ्य-
स्ताल इत्येवमादिभ्यश्च यथाविहितं त्यो भवति । “नित्यं दुश्शरादेः” [३।३।१०६] इत्यस्य मयटोऽपवादः ।
सारस्य विकारोऽवयवो वा सारसं मांसम् । सारसं सक्थि । काकं मांसम् । काकं सक्थि । अदवोऽपि ये
प्राणिवाचिनः तेभ्यो “अथद्वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति पक्षे मयट् प्राप्नोति । तद्वाचना-
र्यञ्चेदम् । कपोतस्य विकारोऽवयवो वा कापोतम् । मायूरम् । तैत्तिरम् । पुरस्तादपवादोऽयमनन्तरस्य
मयड्विकल्पस्य बाधको युक्तो नोत्तरस्य “नित्यमुट् (-र्थं दुश्श-
) शरादेः” [३।३।१०६] इत्यस्य । तत्कथं (-थमुः) मयोर्वाधा ? अनन्तरव्यवधानाभवात् सामान्यापेक्षया । तालादिभ्यः, तालस्य विकारः तालं
धनुः । “तालाद्घनुष्येवेष्टव्ये” । अन्यत्र तालमयम् । तालाद्घनुषि । बर्हिण । इन्द्रालिश । इन्द्रदिश ।
इन्द्रायुष । चाप । श्यामाक । पीयूषन् । रजत । सीस । लोह । उडुव (ग्न) र । निडुदारु (नीच दारु) ।

रोहीतक । विभीतक । पीतदारु । त्रिकण्टक । कण्टकार । कायङ्क । गवेधुक^१ । पाटली । येऽत्रादवः, तेभ्यः
“मयङ्कवैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति विकल्पेन मयटि प्राप्तेऽपवादः ।

त्रपुजतुनोः शुक् ॥३।३।१०६॥ त्रपुजतुशब्दाभ्यां यथाविहितमण् भवति तत्सन्नियोगेन च षुगा-
गमः । त्रपुणो विकारः, त्रापुषम् । जातुषम् ।

शम्याः घृलज् ॥३।३।१०७॥ शमीशब्दाद्घृलञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । अणोऽपवादः ।
शामीलं भस्म । शामीली लुक् ।

मयङ्कवैतयोरभक्षाच्छादनयोः ॥३।३।१०८॥ मध्यमभ्यवहार्यम् । आच्छादनं वसनम् । तासमर्थान्-
न्मृदो वा मयङ् भवति भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोरर्थयोः । अश्मनो विकारोऽश्ममयम् । आश्मम् ।
सिक्तामयम् । सैकतम् । दूर्वामयम् । दौर्वम् । विकाराऽवयवौ प्रकृतत्वेव तत्किमर्थमेतयोरिति प्रहणम् ? अनन्त-
रयोरपि योगयोरपवादज्ञाधनार्थम् । त्रपुमयम् । जतुमयम् । शमीमयमिति । अन्ये^२ कपोतमयम्, रजतमयम्,
लोहमयमित्यादि इच्छन्ति । तत्तेषां “प्राणिरजतादिभ्योऽञ्” [३।३।१४ पा० सू०] इत्यस्य सूत्रस्य
व्याख्यानेन विद्विष्यते । तस्मात्कपोतमयमिति चिन्त्यम् । अभक्ष्याच्छादनयोरिति किम् ? मौद्गः सूपः ।
कार्पासः प्रावारः ।

नित्यं दुशरादेः ॥३।३।१०९॥ अभक्ष्याच्छादनयोरिति वर्तते । दुभ्यः शरादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यो
भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोर्नित्यं मयङ् भवति । दुभ्यः, आप्रस्य विकारोऽवयवो वा आप्रमयम् ।
शालमयम् । शरादिभ्यः, शरमयम् । शर । दर्भ । मृदु । कुटी । तृण । सोम । क्ल्वज । आरम्भान्नित्यत्वे
लब्धे नित्यग्रहणं किम् ? एकाचो नित्यं मयट् यथा स्यात् । वाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । त्ये नित्यं परङ्संज्ञादेशः ।
अथ विकारावयवयोर्यस्यस्तदन्ताद्विकारावयवान्तरविवक्षायां मयट् कस्मान्न भवति । दैवदारवस्य विकारोऽवयवो
वा दैवदारवम् । दावित्यस्य, दावित्यम् । पालाशस्य पालाशम् । शामीलस्य, शामीलम् । कापोतस्य, कापो-
तम् । औष्ट्रकस्य, औष्ट्रकम् । ऐण्येयस्य, ऐण्येयम् । कांस्यस्य, कांस्यम् । पारशवस्य, पारशवमिति । नैष दोषः,
समुदायशब्दोऽवयवेषुपि दृष्टः । इति विकारान्तरे अवयवान्तरे च विवक्षिते मूलप्रकृतैरेव त्यः । तेन त्थान्तान्म-
यण भवति । अनभिधानाद्वा । यत्राभिधानमस्ति तत्र विकारान्तरेऽवयवान्तरे च त्यो भवत्येव । गोमयस्य
विकारः, गौमयं भस्म । द्रुवयस्य विकारः, द्रौवयम् । कपित्थस्य फलस्य विकारः, कापित्थम् । आमलकस्य
फलस्य विकारः, आमलकमयम् । सर्वमयं मयट् दुःसंज्ञेभ्यः शरादिभ्यश्च नित्यं भवति । अन्येभ्योऽभक्ष्याच्छा-
दनयोर्वा भवति । जातरूपेभ्यः, प्राणितालादिभ्यश्चाण् भवति ।

पिष्टात् ॥३।३।११०॥ पिष्टशब्दाद् विकारेऽर्थे नित्यं मयङ् भवति । पिष्टस्य विकारः, पिष्टमयम् ।
मक्ष्यत्वादयोः प्राप्तः, तदपवादोऽयम् ।

कः खौ ॥३।३।१११॥ पिष्टशब्दात्को भवति खुविषये । अनन्तरस्य मयटोऽपवादः । पिष्टस्य विकारः
पिष्टिका ।

१. गवेधुका अ०, पू० । २. अन्ये काशिकाकाराः । चिन्त्यमिदम्—कपोतमयम्, लोहमयमित्या-
दीनां प्राणिरजतादिसूत्रव्याख्यानविरोधाभावात् । रजतादिपठितस्यानुदात्तादिशब्दस्यैव मयङ्बाधकत्वम् ।
उदात्तादेस्तु अजभ्यटोहभयोरपि विधानस्य तत्रत्यन्यासग्रन्थे निर्वातत्वात् । रजतमयमिति काशिकायां
नास्त्येव । विस्तरस्तु काशिकान्यासे द्रष्टव्यः ।

तिलयवाक्स्वौ ॥३।३।११२॥ तिलय-एतन्त्याएतुविष्ट नित्यं मयङ् भवति विकारावयवयोर-
र्थयोः । तिलानामवयवो विकारो वा, तिलमयम् । यवमयम् । अखाविति किम् ? तैलम् । यावकः । “कोऽवि
यावादेः [३।२।३५] इति स्वार्थिकः कः ।

गोब्रीहेः शकृत्पुरोडाशे ॥३।३।११३॥ गोब्रीहिशब्दाभ्यां यथासंख्यं शकृति पुरोडाशे च विकार-
रेऽभिधेये नित्यं मयङ् भवति । गोमयं शकृत् । ब्रीहिमयः पुरोडाशः । शकृत्पुरोडाश इति किम् ? गव्यं
पयः । ब्रैह ओदनः ।

क्रीतवत्परिमाणात् ॥३।३।११४॥ क्रीत इव परिमाणवाचिनः त्यविधिर्भवति विकारे । परिमीयतेऽ-
नेनेति परिमाणं परिच्छेदहेतुः न तु रूढिपरिमाणमेव । तेन संख्यायाः प्रस्थादीनां च ग्रहणम् । क्रीतार्थे ये त्या
यस्मात्परिमाणाद्विहिताः, ते विकारेऽप्यर्थे तस्मादेव परिमाणादतिदिश्यन्ते । यथा भवति “तेन क्रीतम्”
[३।४।३५] इत्यत्र । शतेन क्रीतः शतिकः, शत्यः । “शतादुस्वार्थेऽस्ते ठयौ” [३।३।१८] इति । सहस्रेण
क्रीतं, साहस्रम् “शतमानविंशतिसहस्रवसनादण्” [३।४।२४] इति ठयाणः । एवमिहापि शतस्य विकारः
शत्यः, शतिकः, साहस्रः । यथा परिमाणात्क्रीतार्थे “आर्हाट्टण्” [३।४।१७] भवति । प्रस्थेन क्रीतः,
प्रास्थिकः । क्रीडविकः । खार्या क्रीतः खारोकः । “खारीकाकणोभ्यां कप्” [३।४।३०] इति कप् । एवं प्रस्थ-
स्य विकारः प्रास्थिकः । क्रीडविकः । खारीकः ।

कोशैण्या ढव् ॥३।३।११५॥ कोश एण्यी इत्येताभ्यां ढञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । कोशाद्-
वल्ने प्रयोगः । कोशस्य विकारः, कौशेयं वल्नम्, आञ्छादनम् । मयट् नास्ति । अणोऽपवादः । एण्या
विकारोऽवयवो वा, ऐण्येयं मांसम् । ऐण्येयं सक्थि । एण्यीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुंस्यणव भवति । ऐयं मृगम्
(मांसम्) ।

उष्ट्राद् वुञ् ॥३।३।११६॥ उष्ट्रशब्दाद् वुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । प्राणिलक्षणास्याऽणोऽ
पवादः । उष्ट्रस्य विकारोऽवयवो वा, औष्ट्रकम् ।

बोमोर्णात् ॥३।३।११७॥ उमा अतसी । उमाऊर्णाशब्दाभ्यां वा वुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः ।
उमाया विकारोऽवयवो वा औमकम् । पदे अणमयटौ । औमम् । उमामयम् । ऊर्णाया विकारः, और्णकम् ।
पदे पूर्ववदण्मयटौ । और्णम् । ऊर्णामयम् ।

गोपयसोयः ॥३।३।११८॥ गो पयस् इत्येताभ्यां य इत्ययं ल्यो भवति विकारावयवयोरर्थयोः । गोर्वि-
कारोऽवयवो वा गव्यम् । पयसो विकारः पयस्यम् ।

द्रोः ॥३।३।११९॥ द्रोः शब्दाद्यो भवति विकारावयवयोः । अण्मयटोरपवादः । द्रव्यम् “प्राग्द्रोः”
[३।१।६८] इत्यधिकार इत ऊर्ध्वं न प्रवर्तते ।

माने वयः ॥३।३।१२०॥ द्रुशब्दान्माने विकारविशेषे वय इत्ययं ल्यो भवति । पूर्वस्य यस्यापवादः ।
द्रुवयं मानम् ।

उपफले ॥३।३।१२१॥ फलमवयवविशेषो यथा पत्रम् । अवयवविशेषे फल उत्पन्नस्य त्यस्योन्भवति ।
आमलक्या अवयवः फलम्, आमलकम् । मयट् उप् । कुवल्या अवयवः फलम्, कुवलम् । वदरम् । अणम-
यटोरुप् । सर्वत्र “ङ्ङुप्” [१।१।३] इति स्त्रीत्यस्योप् ।

म्लक्ष्णादिभ्योऽण् ॥३।३।१२२॥ म्लक्ष्ण इत्येवमादिभ्योऽण् भवति फलेऽवयवे विवक्षिते । म्लक्ष्णस्याऽ
वयवः फलं म्लक्ष्णम् । अण्मयटौ प्रातो, तयोश्च पूर्वणोप्प्रातः, तदपवादोऽयम् । न्यग्रोषस्याऽवयवः फलम्,

नैयप्रोधम् । “न्यप्रोधस्य केवलस्य” [५।२।१०] इत्यैप् । मत्त । न्यप्रोध । अश्वत्य । इज्जुदी । शिम् । किततन्तु । बृहती ।

जम्ब्वा वोश्च ॥३।३।१२३॥ फल इति वर्त्तते । जम्बूशब्दादवयवविशेषे फलेऽभिधेये वा उस् भवति अण् च । पक्षे उन्भवति । जम्ब्वा अवयवः फलम्, मयट उस्, जम्बूः फलम् । अणो वचनादुस् न भवति । जाम्बवं फलम् । उप् जम्बु फलम् ।

हरीतक्यादेः ॥३।३।१२४॥ उचिति वर्त्तते फले इति च । हरीतक्यादिभ्यः फले अवयवे उस् भवति त्यस्य । हरीतक्या अवयवः फलम्, हरीतकी फलम् । हरीतकी । पिप्पली । कोशातकी । नखरजनी । चण्डी । दोडी । श्वेतपाकी । अर्जुनपाकी । शाला । काला । द्राक्षा । ऋक्षा । गङ्गडिका । कण्टकारिका । शोफालिका । “येषां च पाकनिमित्तः शोषः, तेभ्यश्च उस् फले” [वा०] श्रीहयः । यवाः । माषाः । मुद्गाः । “पुष्पमूलेषु बहुलम्” [वा०] । मल्लिकायाः पुष्पम्, अवयवः, मल्लिका । नवमल्लिकाः । जाती । बृहत्या मूलमवयवः, बृहती । विदारी । अंशुमती । न च भवति उस् उवेव भवति । पाटलानि पुष्पाणि । शाकानि मूलानि । करवीरं पुष्पम् । कदम्बम् । अशोकम् । क्वचिदुभयोरभावः । वैणवानि फलानि । “जम्ब्वा हरीतक्यादिषु च उस् छिन्नमेव उक्तवद् भवति न वचनम्” [वा०] । जम्बूः फलम् । जम्बौ फले । जम्ब्वः फलानि । हरीतकी फलम् । हरीतक्यौ फले । हरीतक्यः फलानि ।

कांस्यपारशवौ ॥३।३।१२५॥ कांस्य पारशव इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । कंसीय-परशव्यशब्दयो र्यञिणोः परतश्छययोश्च निपात्यते विकारेऽर्थे । यञयोरणोरनेनैव विधानम् । कांस्यार्थम्, कंसीयम् । परश्वर्थं परशव्यम् । “तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ” [३।३।११] इत्यनेन प्राक्ठणश्छः । “उगवादेर्यः” [३।३।२] इति छयौ भवतः । कंसीयस्य विकारः, कांस्यम् । परशव्यस्य विकारः, पारशवम् ।

प्राग्व्यादृण् ॥३।३।१२६॥ “तद्वहति रथयुगप्रासङ्गाद्यः” [३।३।१६१] इति यो वक्ष्यते । प्रागेतस्माद्यसंशब्दनाद्येऽप्ये वक्ष्यन्ते तेषु ठण् अधिक्रियते । वक्ष्यति “तेन दीव्यति खनति जयति जितम्” [३।३।१२७] इति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः । शालाक्षिकः । प्राग्वचनं किम् ? अथविशेषे त्यान्तरेण निवर्त्तितस्य उत्तरत्रोपस्थानं यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ॥३।३।१२७॥ तेनेति भासमर्थात् दीव्यति खनति जयति जितमित्येतेष्वर्थेषु ठण् भवति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः । शालाक्षिकः । अभ्रया खनति, आभ्रिकः । कौदालिकः । अक्षैर्जयति, आक्षिकः । शालाक्षिकः । अक्षैर्जितम्, आक्षिकम् । शालाक्षिकम् । सर्वत्र करणे भा द्रष्टव्या । तेनेह न भवति देवदत्तेन जितमिति । दीव्यत्यादिषु त्रिषु संख्याकालाविवक्षितौ । जितशब्दे कालो विवक्षितः । क्रियाप्रधानत्वेऽप्याख्यातस्य ह्रस्वभावादेव कारकाभिधायी । आक्षिको दीव्यतीत्यनुप्रयोगः सन्देहनिवृत्त्यर्थः ।

संस्कृतम् ॥३।३।१२८॥ तेनेति वर्त्तते । भासमर्थान्मृदः संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वक्ष्यमाणान्संस्थासंस्कृतस्य को भेदः । सतो गुणाभिधानं संस्कारः । मिश्रणमात्रं संसर्गः । दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । शाङ्गवेरिकम् । मारीचिकम् । “संस्कृतं भक्षाः” [३।२।११] इत्येतदाधारविवक्षायामुक्तम् ।

कुलत्थकोडोऽण् ॥३।३।१२९॥ तेनेति संस्कृतमिति च वर्त्तते । कुलत्थशब्दात्कारोडश्च मृदोऽण् भवति । ठणोऽपवादः । कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम् । कोडः, तैत्तिडीकम् । दार्दरुकम् ।

तरति ॥ ३।३।१३० ॥ तेनेति वर्तते । भासमर्थान्तरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उडुपेन तरति श्रौडुपिकः । काण्डल्लविक । सारल्लविकः । गौपुच्छिकः ।

नौद्वयचष्टः ॥ ३।३।१३१ ॥ तेनेति तरतीति च वर्त्तते । नौशब्दाद्द्वयचश्च मृदष्टो भवति । ठणोऽपवादः । नावा तरति नाविकः । नाविका स्त्री । द्वयचः, घटेन तरति घटिकः । ल्लविकः । बाहुकः ।

चरति ॥ ३।३।१३२ ॥ तेनेति वर्त्तते । चरतिरिह भक्षणार्थो गत्यर्थश्चेष्टः । तेनेति भासमर्थान् चरति इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । इह तु करणे भा । शकटेन चरति । शाकटिकः । हारितकः ।

पर्पदेष्टट् ॥ ३।३।१३३ ॥ तेनेति चरतीति च वर्त्तते । पर्प इत्येवमादिभ्यष्टट् भवति । ठणोऽपवादः । पर्पेण चरति, पर्पिकः । पर्पिकी । अश्विकः । अश्विकी । पर्प । अश्व । ऊपर । अश्वत्थ इति केचित् । रथ । जाल । व्यास । पादः पञ्च । पदिकः । पदिकी ।

श्वगणाद्वा ॥ ३।३।१३४ ॥ तेनेति चरतीति वर्त्तते । श्वगणशब्दाद् वा ठड् भवति । पक्षे ठण् । श्वगणेन चरति, श्वगणिकः । श्वगणिकी । श्वागणिकः । श्वागणिकी । ठणि श्वशब्दस्य द्वारादित्वाद्दौवादेशः प्राप्तः “शवादेशावतः” [१।२।१३] इति प्रतिषेधः ।

वेतनादेर्जीवति ॥ ३।३।१३५ ॥ तेनेति वर्त्तते । वेतनादिभ्यो भान्तेभ्यो जीवतीत्यस्मिन्नर्थे यथा विहितं ल्यो भवांत । वेतनेन जीवति, वैतनिकः । वेतन । बाहु । अर्द्धबाहु । उम् । दण्ड । घनुर्दण्ड । घनुर्दण्डग्रहणं सङ्घातविग्रहीतार्थम् । वेश । उपवेश । प्रेषण । भृति । जाल । उपस्थ । सुख । शष्प । शक्ति । उपनिषत् । ब्फिक् (सक्) । पाठ । उपस्थान ।

वस्नक्रयविक्रयाड् ॥ ३।३।१३६ ॥ तेनेति जीवतीति च वर्त्तते । वस्न-क्रयविक्रयशब्दाभ्यां ठो भवति । वस्नं मूल्यम्, वस्नेन जीवति, वस्निकः । क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयविक्रयिकः । उभयथा वाक्याभ्रयणात्क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयिकः । विक्रयिकः ।

लुश्चायुधात् ॥ ३।३।१३७ ॥ आयुष्यतेऽनेनेत्यायुधम् । प्यश्र्यथे (घजथे) कविधानं स्थास्नापा-
म्यबिहिनियुष्यथमिति । आयुधशब्दाद् भासमर्थान् लुश्च भवति ठश्च जीवतीत्यर्थे । आयुधेन जीवति आयुधीयः । आयुधिकः । आयुधिका स्त्री ।

हरत्युरसङ्गादेः ॥ ३।३।१३८ ॥ तेनेति वर्त्तते । उत्सङ्ग इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यो हरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उत्सङ्गेन हरति, औत्सङ्गिकः । उत्सङ्ग । उडुप । उत्तुप । उत्पुत । उत्पुत) । पिटक । पिटाक ।

ठड्भस्त्रादेः ॥ ३।३।१३९ ॥ भस्त्रा इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यष्टड् भवति । भस्त्रया हरति, भस्त्रिकः । भस्त्रिकी । भस्त्रा । भरट । भरण । शीर्षभार । अंसभार । अंसेभार ।

वा विवधवीधधात् ॥ ३।३।१४० ॥ तेनेति हरतीति वर्त्तते । विवधवीधशब्दाभ्यां वा ठड् भवति, तेन मुक्ते ठण् भवति । विवधेन हरति, विवधिकः । वीवधिकः । ठणि । वैवधिक । स्वदेशान्वाभति^१ (विवा-
धते)वीवधः पर्याहार इत्यर्थः । तद्योगात्पथा अपि तथोच्यते । विवधशब्दस्य षुषोदरादित्वाद्वा दीत्वम् ।

अण् कुटिलिकायाः ॥ ३।३।१४१ ॥ कर्माराणामङ्गारापकर्षणी, मृद्गतां (त) पलालोत्त्वेपणो दण्डः, परिव्राजकानां त्रिदण्डधारणम् । कुटिलिका । कुटिलिकाशब्दाद् भासमर्थान् दण् भवति हरत्यस्मिन्नर्थे । कुटिलिकया हरति, कुटिलिकः । कर्मारः । कर्षकः, परिव्राजको वा । अन्यत्राऽपि प्रयोगोऽभ्युह्यः ।

निर्वृत्तेऽक्षद्युतादेः ॥३१३१४२॥ हरतीति निर्वृत्तम् । तेनेति वर्त्तते । अक्षद्युतादिभ्यो भासमर्थेभ्यो निर्वृत्तेऽर्थे ठण् भवति अक्षद्युतेन निर्वृत्तम्, आक्षद्युतिकम् । अक्षद्युत । जङ्घाप्रहत । जङ्घाप्रहत । पादस्वेदन । कण्टकमर्दन । शर्करामर्दन । गतागत । यातोपयात । अनुगत ।

भावादिमः ॥३१३१४३॥ तेनेति निर्वृत्त इति च वर्त्तते । भाववाचिनो मृदो भासमर्थान्निर्वृत्तेऽर्थे इम इत्ययं ल्यो भवति । कुट्टेन निर्वृत्ता, कुट्टिमा भूमिः । किमोऽसिः । पाकिम ओदनः ।

त्रेः ॥३१३१४४॥ व्यन्ताच्च इमो भवति तेनेति निर्वृत्तेऽर्थे । पूर्वेण सिद्धे पुनरारम्भो वाक्यनिवृत्त्यर्थः । अस्वपदेनार्थः प्रदर्शयते । पाकेन निर्वृत्तम्, पक्त्रिमम् । वापेन निर्वृत्तम्, उष्त्रिमम् । ऋणेन निर्वृत्तम्, कृत्रिमम् । भावे “ड्वितः क्त्रिः” [२।३।७०] इति क्त्रिः ।

नित्यम् ॥ ३।३।१४५ ॥ व्यन्तं नित्यमिमविषयं वेदितव्यम् । यथाऽन्ये भाववाचिनो निर्वृत्तार्थादन्यत्रापि प्रयुज्यन्ते । पाको वर्त्तते । सेको वर्त्तते, इति निर्वृत्तार्थं वाक्यं वृत्तिश्च भवति, तथा व्यन्तस्य त्रैरूप्यं मा भूत् इत्येवमर्थमिदमुच्यते । पूर्वेण वाक्यनिवृत्तिः कृताऽनेनेमविषयादन्यत्र प्रयोगो निषिध्यते ।

याचिताऽपमित्यात्करण ॥३१३१४६॥ तेनेति निर्वृत्तमिति च वर्त्तते । याचित-अपमित्यशब्दाभ्यां कण् भवति । याचितेन निर्वृत्तं याचितकम् । आपामित्यकम् । “माङो व्यतिहारे” [२।३।५] इति त्वात्यः । “वेर्मेळः” [३।३।६६] इत्वम् । अभान्तादपि वचनात्पर्यः । अपमित्य इत्यनेन निर्वृत्तम् इत्येवं विग्रहे शब्दान्तरेण करणत्वं व्यज्यते ।

संसृष्टे ॥३१३१४७॥ तेनेति वर्त्तते । भासमर्थान्मृदः संसृष्टेऽर्थे ठण् भवति । संसृष्टं मिश्रितम् । दध्ना संसृष्टम्, दाधिकम् । मारीचिकम् । “चूर्णादिन् वक्तव्यः” [वा०] । चूर्णेन संसृष्टाः, चूर्णिनो धानाः । चूर्णिनोऽपूपाः । इह कस्मान्न भवति लवणेन सैन्धवादिना संसृष्टमिति ? अनभिधानात् । कथं लवणः सूपः, लवणं शाकम्, लवणा यवागूरिति ? गुणवाचिनो लवणशब्दस्य तद्योगात् द्रव्ये वृत्तिरियम् । यथा कषायमुदकम् । कटुकमुदकमिति ।

मुद्गादण् ॥३१३१४८॥ मुद्गाशब्दाद् भान्तादण् भवति संसृष्टेऽर्थे । ठणोऽपवादः । मौद्ग ओदनः ।

व्यञ्जनैरुपसिक्ते ॥३१३१४९॥ तेनेति वर्त्तते । समर्थविभक्त्युपादानं तस्यैव व्यङ्ग्ये । व्यञ्जन-वाचिभ्यो भासमर्थेभ्य उपसिक्तेऽर्थे ठण् भवति । दध्ना उपसिक्तं दाधिकं भक्तम् । वार्तिकः सूपः । व्यञ्जनैरिति किम् ? उदकेन उपसिक्त ओदनः । बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः ।

ओजः सहोऽभसा वर्त्तते ॥३१३१५०॥ तेनेति वर्त्तते । निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । ओजःप्रभृतिभ्यो भासमर्थेभ्यो वर्त्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । ओजसा वर्त्तते, औजसिकः । साहसिकः । आम्भसिकः ।

तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोककृत्वात् ॥३१३१५१॥ तदिति इपसमर्थेभ्यः प्रति अनु इत्येवंपूर्वेभ्यः ईपलोककृत्वाशब्देभ्यो वर्त्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वृत्तिः क्रियासामान्ये वर्तमानः सकर्मकः । वर्त्तते आचरतीत्यर्थः । अपः प्रति, प्रतीपम् । “वीप्सेत्थंभूतलक्षणेऽभिनेप्” [१।३।११] । “भागे चानुप्रति-परिष्ठा” [१।३।१२] इति लक्षणेऽर्थे ईप् ‘लक्षणेनाभिसुख्येऽभिप्रती [१।३।११] इति ह्रस्वः । “द्वयन-गेरीवपः” [३।३।२०२] इति ईत्वम् । भावप्रधाना चेयं वृत्तिः । समुदायात्कर्मणीप । प्रतीप वर्त्तते प्राती-पिकः । अनुर्यथार्थे वर्त्तमानः अप्शब्देन सह ह्रस्वो भवति । आन्वीपिकः । प्रतिलोम वर्त्तते, प्रातिलोमिकः ।

आनुलोमिकः । हसे कृते “प्रत्यन्ववात्सामङ्गोऽम्” [४।३।७१] इति अः सान्तः । प्रातिकूलिकः । आनुकूलिकः । अथवा प्रतिगता आपोऽस्मिन्निति प्रतीपम् इति । एवं सर्वत्र वसः कर्तव्यः ।

परिमुखम् ॥३।३।१५२॥ तदिति वर्तते । परिमुखशब्दात् इप्समर्थाद् वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । मुखात्परि परिमुखम् । “वर्जनेऽपपरिभ्याम्” [१।४।२१] इति का । “पर्यपाङ्बहिरञ्चवः कया” [१।३।१०] इति हसः । परिमुखं वर्तते पारिमुखिकश्चौरः । सर्वतो मुखं वा परिमुखम् । प्रादिलक्षणाः सः । पारिमुखिकः । “परिपार्श्वोच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । पारिपार्श्विकः ।

प्रयच्छति गह्यम् ॥३।३।१५३॥ तदिति वर्तते । तदिति इप्समर्थात्प्रयच्छति इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तदिप्समर्थं चेत्तद् भवति । द्विगुणं प्रयच्छति, द्वैगुणिकः । त्रैगुणिकः । “(वृ) द्वेष्टण बृधुषि-भावो वक्तव्यः” [वा०] । वृद्धिं प्रयच्छति वार्धुषिकः । यदि प्रकृत्यन्तरमस्ति, अन्वयविकन्यायेन तस्मादेव त्यः । गह्यमिति किम् ? द्विगुणं प्रयच्छत्यधमर्थाः ।

कुसीददशैकादशादृष्टौ ॥३।३।१५४॥ तत्प्रयच्छति गह्यम् इति च वर्तते । कुसीद-दशैकादश-शब्दाभ्यां प्रयच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथासंख्यं ठ्ठ् इत्येतौ त्यौ भवतः ठणोऽपवादौ । कुसीदम् ऋणं वृद्धिर्वा । कुसीदं प्रयच्छति, कुसीदिका । कुसीदिकी । एकादशार्था दश दशैकादश निपातनात्सः । तान् प्रयच्छति, दशैकादशिकी । दशैकादशिका ।

रक्षत्युच्छति ॥३।३।१५५॥ तदिति इप्समर्थाद् रक्षति उच्छति इत्येतयोरर्थयोष्ठण् भवति । समाजं रक्षति, सामाजिकः । नागरिकः । वदरायुच्छति वादरिक । नैवारिकः ।

शब्ददुर्दुरं करोति ॥३।३।१५६॥ इप्समर्थाभ्यां शब्ददुर्दुरशब्दाभ्यां करोत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शब्दं करोति, शाब्दिकः । वैयाकरण इत्यर्थः । दार्दुरिकः कुम्भकारः । तदित्यधिकारे पुनः समर्थविभक्त्युपादानं लौकिकप्रयोगोऽनुसरणार्थम् । तेनेह न भवति । शब्दं करोति वायसः । “अस्मिन्प्रकरणे तदाहेतिःमाहाब्दा-द्विभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] माशब्द इत्याह माशब्दिकः । नैत्यशब्दिकः । कार्यशब्दिकः । वाक्यादिदं विधानम् । “प्रभूतादिभ्यश्च” [वा०] तदाहेति वर्तते । प्रभूतमाह प्राभूतिकः । पार्याप्तिकः । “पृच्छतौ सुस्नाताद्विभ्य इप्समर्थेभ्यः” [वा०] । सुस्नातं पृच्छति, सौस्नातिकः । सौस्नरात्रिक । सौस्नायनिकः । “गच्छतौ परदारोद्विभ्य इप्समर्थेभ्यः” [वा०] । परदारं गच्छति, पारदारिकः । गौरुतल्पिकः ।

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ॥३।३।१५७॥ तदिति इप्समर्थेभ्यः पक्षिमत्स्यमृगोभ्यो हन्तीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । स्वरूपस्य पर्यायाणां तद्विशेषाणाञ्च ग्रहणम् । पक्षिणो हन्ति, पाक्षिकः । नास्त्यस्याभिधानमित्येके । पर्यायशब्दस्य शकुनेरेव ग्रहणम् । शाकुनिकः । तैत्तिरिकः । मायूरिकः । मत्स्य, मात्स्यिकः । पर्यायस्य मीन-शब्दस्यैव अग्निमिषादिषु न भवति । शाफरिकः । रौहितिकः । मृग, मार्गिकः । हारिणिकः । सौकरिकः । सारङ्गिकः ।

परिपन्थं तिष्ठति ॥३।३।१५८॥ परिपन्थशब्दादिप्समर्थात् तिष्ठतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति “काङ्-भावाऽन्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकमेणाम्” [वा०] इति कर्मभावादिप् । परिपन्थं तिष्ठति परिपन्थिकश्चौरः । पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठतीत्यर्थः । “हन्तात्स्यापि वक्तव्यम्” [वा०] । परिपन्थं हन्ति, परिपन्थिकः । परिपथपर्यायः परिपन्थशब्दोऽस्ति तस्यायं प्रयोगः ।

माथद्युपदव्यनुपदाक्रन्दं धावति ॥३।३।१५९॥ तदिति वर्तते । माथद्यु पदवी अनुपद आक्रन्द इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो धावतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । माथशब्दो मार्गपर्यायः । दण्डमाथं धावति, दण्ड-

माधिकः । मौलमाधिकः । पदस्य वी पदवी । “वेजो ङित्” इति इकारो ङित् । “सर्वतोऽपत्यर्थादित्येके” [३।१।३१ ग० सू०] इति डीविधिः । तां धावति, पादविकः । पदस्य पश्चाद्धावतीति, अनुपदिकः । आक्रन्दिकः ।

पदद्योगृह्णाति ॥३।३।१६०॥ तदिति वर्तते । पदद्युशब्दाद् इप्समर्थाद् गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । आदिपदं गृह्णाति, आदिपदिकः । पौर्वपदिकः । औत्तरपदिकः ।

प्रतिकण्ठललामार्थात् ॥३।३।१६१॥ तदिति गृह्णातीति च वर्तते । प्रतिकण्ठ ललाम् अर्थं इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । कण्ठं प्रति, प्रतिकण्ठम् । “लक्षणोनाभिसुख्येऽभिप्रती” [१।३।११] इति ह्रस्वः । प्रतिकण्ठं गृह्णाति, प्रातिकण्ठक । प्रतिगतः कण्ठः, प्रतिकण्ठः इत्यत्राभिधानं नास्ति । “पुरषध्वजशृङ्गेषु हावभूषणलक्ष्मसु । वामश्रेधावर्नान्द्रेषु ललामं नवसु स्मृतम् ॥” लालामिकः । आर्थिकः ।

धर्मं चरति ॥३।३।१६२॥ धर्मशब्दादिप्समर्थाच्चरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । तदिति वर्तमाने पुनः समर्थावभक्त्युपादानं किम् ? आसेवायां यथा स्यात् । मुहुर्मुहुर्धर्मं चरति, धार्मिकः । “अधर्माच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । आधार्मिकः ।

प्रतिपथमेति ठञ्च ॥३।३।१६३॥ प्रतिपथशब्दादिप्समर्थादेतीत्यास्मिन्नर्थे ठो भवति ठण् च । प्रतिपथमेति, प्रतिपथिकः । प्रातिपथिकः ।

समवायात्समवैति ॥३।३।१६४॥ समवायवाचिम्य इप्समर्थेभ्यः समवैती यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । बहुवचिर्देशात्तस्य तत्पर्यायाणां च प्रदृश्यम् । समवायं समवैति, सामवायिकः । सामूहिकः । सामाजिकः । सांसदिकः ।

परिषदा पयः ॥३।३।१६५॥ तदिति वर्तते । परिषच्छब्दादिप्समर्थात् समवैतीत्यस्मिन्नर्थे एयो भवति । ठणोऽपवादः । परिषदं समवैति, परिषद्यः ।

सेनाया वा ॥३।३।१६६॥ सेनाशब्दादिप्समर्थाद्वा एयो भवति समवैतीत्यस्मिन्नर्थे । पत्ने ठण् भवति । सेनां समवैति सैन्यः । सैनिकः ।

लालाटिककौक्कुटिकौ ॥३।३।१६७॥ लालाटिककौक्कुटिकशब्दौ निपात्येते । लालाटकुक्कुटीशब्दाभ्यां इप्समर्थेभ्यो पश्यतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् निपात्यते । लालाटं पश्यति, लालाटिकः सेवकः । कुक्कुटीशब्देन कुक्कुटीपातमात्रो देशो लक्ष्यते । कुक्कुटीं पश्यति, कौक्कुटिको भिन्नुः । पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षीत्यर्थः ।

तस्य धर्म्यम् ॥३।३।१६८॥ धर्म्यं न्याय्यम् । तस्येति तासमर्थाद् धर्म्यमित्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शुल्कशालाया धर्म्यम्, शौकशालिकम् । आतरिकम् । आर्पणिकम् ।

ऋन्महिष्यादेरण् ॥३।३।१६९॥ तस्य धर्म्यमिति वर्तते । ऋत्कारान्तान्मृदः महिषी इत्येवमादिभ्यश्चाण् भवति । ठणोऽपवादः । मातुर्धर्म्यं मात्रम् । पैत्रम् । हौत्रम् । शास्त्रम् । महिष्यादिभ्यः । महिष्या धर्म्यम्, माहिषम् । महिषी । प्रजावती । केषाञ्चित् प्रजापतीति पाठः । प्रलेपिका । विलेपिका । अनुलेपिका । वर्षाकपेषिका । “भस्य हृत्यदे” [१।३।१७० वा०] इति पुंवद्भावः प्रातः “न बुद्धकोः” [१।३।१७१] इति प्रतिषिध्यते । “वज्रासतुरटः खं च” [वा०] । विशसितुर्धर्म्यं वैशजम् । “विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम्” [वा०] । विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम् ।

अवक्रयः ॥ ३।३।१७० ॥ तस्येति वर्तते । तस्येति तासमर्थान्मृदोऽवक्रय इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । अवक्रयतेऽनेनेत्यवक्रयः । अन्याय्यमपि स्वेच्छया परिकल्पितपरिमाणम् । द्रव्यमेकत्र पिण्डितमित्यर्थः । शुल्कशालायामवक्रयः शौल्कशालिकः । आतरिकः । आपणिकः । गौल्मिकः ।

तदस्य पर्ययम् ॥ ३।३।१७१ ॥ तदिति वासमर्थात् पर्ययविशिष्टादस्येति तार्थे ठण् भवति । अपूपाः पर्ययमस्य, आपूपिकः । शाष्कुलिकः ।

किसरादेष्टट् ॥ ३।३।१७२ ॥ तदस्य पर्ययमिति वर्तते । किसर इत्येवमादिभ्यष्टट् भवति । ठणोऽपवादः । किसरं पर्ययमस्य, किसरिको गन्धिकः । किसर । नलद । स्थगर । तगर । उसी(शी)र । गुग्गुलु । हरिद्रा । हरिद्रुपर्णा ।

शलालुनो वा ॥ ३।३।१७३ ॥ तदस्य पर्ययमिति वर्तते । शलालुशब्दाद्वा ठट् भवति । पक्षे ठण् भवति । शलालु पर्ययमस्य, शलालुकः । शालालुकः ।

शिल्पम् ॥ ३।३।१७४ ॥ तदस्येति वर्तते । शिल्प क्रियाविशेषे नैपुण्यम् । तदिति वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति, यत्तद्वा निर्दिष्टं शिल्पं चेत्तद् भवति । (मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य, मार्दङ्गिकः ।) मृदङ्गवादनं मृदङ्गशब्द उपचर्यते, तस्मादेव त्यः । एवं पाणविकः । वैणविकः ।

मडुकभर्भराद् वाऽण् ॥ ३।३।१७५ ॥ तदस्य शिल्पमिति वर्तते । मडुकभर्भरशब्दाभ्यां वाऽण् भवति । अणाऽनुक्ते ठण् भवति । मडुकवादनं शिल्पमस्य, माडुकः । माडुकिकः । भार्भरः । भार्भरिकः ।

प्रहरणम् ॥ ३।३।१७६ ॥ तदस्येति वर्तते । वासमर्थात्प्रहरणोपाधिविशिष्टान्मृदः अस्येति तार्थे ठण् भवति । असिः प्रहरणमस्य, आसिकः । त्सारकः । धानुष्कः ।

शक्तियष्टेष्टोकरण् ॥ ३।३।१७७ ॥ शक्तियष्टिशब्दाभ्यां टीकरण् भवति तदस्य प्रहरणमित्यस्मिन्निषये । ठणोऽपवादः । शक्तिः प्रहरणमस्य, शाक्तीकः । याष्टीकः । इकारोच्चारणसामर्थ्यात् 'यस्य ङवाञ्च' [३।१।१३६] इति खं न भविष्यति (इति) दीलोच्चारणं किम् ? अन्यत्रापि यथा स्यात् । अन्तः (अभ्रम्) प्रहरणमस्य, आन्तरीकः (आभ्रमसोकः) । इषं प्रहरणमस्य ऐषीकः । बहिर्भवः बाहीक इति ।

नास्तिकास्तिकदैष्टिकाः ॥ ३।३।१७८ ॥ नास्तिकादयः शब्दा निपात्यन्ते । नास्ति अस्ति दिष्ट इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो मतिविशिष्टेभ्योऽस्येति तार्थे ठण् निपात्यते । परलोको नास्तीति मतिरस्य, नास्तिकः । परलोकोऽस्तीति मतिरस्य, आस्तिकः । दिष्टं देवतं तत्प्रमाणमस्य, दैष्टिकः । निपातनाद्वाक्यादपि त्यविधानम् ।

शीलम् ॥ ३।३।१७९ ॥ तदस्येति वर्तते । वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति वासमर्थं शीलं चेद् भवति । अपूपभक्षणं शीलमस्य, आपूपिकः । तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमिति अपूपशब्दात्त्यः । एवं शाष्कुलिकः । मौदिकिकः ।

छत्रादेर्गाः ॥ ३।३।१८० ॥ तस्य शीलमिति वर्तते । छत्र इत्येवमादिभ्यो णो भवति । ठणोऽपवादः । छत्रमावरणं तद्वद्गुरुकार्येष्ववहितलम् । छत्रं शीलमस्य, छत्रः । शिष्यः शीलमस्य^१ शैष्यः । छत्र । शिष्य^२ । मुद्वा^३ । भिन्ना । तितित्वा । चुरा । उदस्थान । कृषि । कर्मन् । तपस् । पुरोड । आस्था । संस्था । अवस्था । विश्वधा । सत्य । अनृत । पिसिक (शिविका) ।

१. शिक्षा (क्षा) शीलमस्य शैष्यः अ०, प० । २. शिक्ष (क्षा) अ०, प० । ३. मुक्षा (उमुक्षा) अ०, प० ।

कर्माध्ययने वृत्तम् ॥३३११८१॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं कर्म चेद्वृत्तमध्ययनविषयं तद्भवति । एकमन्यदध्ययने कर्म वृत्तमस्य, ऐकान्यिकः । किम्पुनस्तदेकमन्यदध्ययने कर्म ? अपपाठः । एवं द्वैयन्यिकः । त्रैयन्यिकः । सर्वत्र हृदये रसाः । ततष्टण् ।

बह्वजादेष्टः ॥३३११८२॥ बह्वच् पदमादिर्यस्य तस्मान्मृदष्टो भवति । ठणोऽपवादः । तदस्य कर्माध्ययने वृत्तमिति वर्तते । द्वादश अन्यानि अपपाठलक्षणानि अध्ययने कर्माणि दत्तान्यस्य, द्वादशान्यिकः ।

हितमस्मै भक्ष्यः (जाः ॥३३११८३॥ तदिति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मै इत्येतदर्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं हितं भक्षाश्चेत्तद् भवन्ति । अप्पमत्तृणं हितमस्मै, आपूपिकः । शाष्कुलिकः । इदमेव शापकं हितयोगेऽपु भवति ।

तद्दीयते नियुक्तम् ॥३३११८४॥ अस्मै इति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मै इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं तच्चेद्दीयते । नियुक्तं नियमेन युक्तं नियुक्तमित्यर्थः । अग्रभोजनमस्मै दीयते नियुक्तम्, आग्रभोजनिकः । आपूपिकः । आणाऽस्मै दीयते नियुक्तम्, आणिकः । शायौ (कौ) दनिकः । “ओदनशब्दाद् वक्तव्यः” [वा०] ओदनिकः । ओदनिकी ।

भक्ताद् वाऽण् ॥३३११८५॥ तदस्मै दीयते नियुक्तमिति वर्तते । भक्तशब्दाद् वाऽण् भवति । पठे ठण् भवति । भक्तमस्मै दीयते नियुक्तम्, भाक्तः । भाक्तिकः ।

तत्र नियुक्तः ॥३३११८६॥ अधिकृतो नियुक्तः । तत्रेतीप्समर्थाद् नियुक्त इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शुल्कशालायां नियुक्तः, शौल्कशालिकः । आक्षपटलिकः । दौवारिकः ।

ठोऽगारान्तात् ॥३३११८७॥ तत्र नियुक्त इति वर्तते । अगारान्तान्मृदष्टो भवति । ठणोऽपवादः । भाण्डागारे नियुक्तः, भाण्डागारिकः । कोष्ठागारे नियुक्तः, कोष्ठागारिकः ।

अध्यायिन्यदेशकालात् ॥३३११८८॥ अध्येतुं शीलमस्येति, अध्यायी । ईप्समर्थाद्देशवाचिनोऽकालवाचिनश्च मृदोऽध्यायिन्यभिधेये ठण् भवति । अध्यायिनीत्युक्तम्, तत्सम्बन्धात् अध्ययनस्य देशकालौ पर्युदस्येते । अशुभावधीते, आशुचिकः । सान्ध्यावेलिकः । आनध्यायिकः । अदेशकालाविति किम् ? चैत्यालयेऽधीते । पूर्वाह्णेऽधीते ।

कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ॥३३११८९॥ व्यवहरति, अनुतिष्ठति । तत्रेत्यनुवृत्तेर्निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । कठिनशब्दान्तान्मृदः प्रस्तार-संस्थानशब्दाभ्यां च व्यवहरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वंशकठिने व्यवहरति, वांशकठिनिकः । वार्द्धकठिनिकः । प्रास्तारिकः । सांस्थानिकः । अन्तग्रहणं मध्ये कृतमपि कंचिदुत्तरयोः सम्बन्धन्ति ।

निकटावसथे वसति ॥३३११९०॥ तत्रेति वर्तते । निकट-अवसथशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां वसतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । निकटमविदूरम् । निकटे वसति, नैकटिकः । आवसथिकः ।

तद् वहति रथयुगप्रसङ्गाद्यः ॥३३११९१॥ दम्यानां रक्न्धकाष्ठं प्रसङ्गः । तदितीप्समर्थेभ्यो रथयुग-प्रसङ्गशब्देभ्यो वहतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । य इत्ययं चाऽधिकार आपादपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः ।

१. कस्यानुगोचात् “ओदनशब्दाद् वक्तव्यः” इति प्रतिभाति ।

रथं वहति, रथ्यः । युग्यः । प्रासङ्ग्यः । इहानभिधानान्न भवति । कालसंशिनं युगं वहति राजा । युगं वहति मनुष्यः । “शकटादण् वक्तव्यः” [वा०] शकटं वहति शाकटो गौः । “ह्रस्वीराट्टण् वक्तव्यः” [वा०] हलं वहति हालिकः । सैरिकः । नेदं वक्तव्यम्; शकटस्य वोढा हलस्य वोढा इत्येवं विग्रहे शौषिकेणाया “ह्रस्वीराट्टण्” [३१३।६२] इति ठणा च सिद्धम् । तर्हि रथग्रहणमप्यनर्थकम् । “रथाद्यः” [३१३।८६] इत्यनेन सिद्धत्वात् । तदन्तार्थमिह रथग्रहणम् । द्वौ रथौ वहति, द्विरथः । अत्र प्राग्द्रवीयस्य ‘रस्योबनपत्ये’ [३११।७४] इत्युप् प्रसज्यते ।

धुरो ढण् वा ॥३१३।१६२॥ धूःशब्दाद् वहतीत्यस्मिन्नर्थे ढण् भवति यश्च । प्रकृतिविशेषाढणा विधीयमानेन यस्य बाधने प्राप्तेऽनेन समुच्चयः क्रियते । न त्वनुकर्षः । उत्तरत्राऽप्यनुवृत्तेः । धुरं वहति, धौरयः । धुर्यः ।

सर्वैकाभ्यां स्वः ॥३१३।१९३॥ तद्वहतीति वर्तते । सर्व-एकशब्दाभ्यां परस्या धुरः स्वो भवति । सर्वा धूः, सर्वधुरा । “पूर्वकालौकसवं” [१।३।४४] इत्यादिना पसः । सर्वधुरां वहति, सर्वधुरीणः । एक धुरीणः । “एकधुराशब्दात्स्वस्योस् वक्तव्यः” [वा०] एकधुरं वहति, एकधुरः । न वक्तव्यः । एकस्या धुरो वोढेभ्या (त्या) गतस्थाणः “रस्योबनपत्ये” [३११।७४] इत्युपा सिद्धम् । इष्टसङ्ग्रहार्थश्चकारोऽनुकर्षः । उत्तरधुरीणः ।

विध्यत्यकरणेन ॥३१३।१९४॥ तदिति वर्तते । इपसमर्थान्मृदः विध्यतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति न चेत्करणेन विध्यति तदिति । पादं विध्यति पद्याः शर्कराः । “पद्ये” [३।३।१६४] इति पादस्य पदादेशः । ऊरव्याः कण्टकाः । अकरणेनेति किम् ? पादं विध्यति धनुषा । प्रतीयमानेऽपि धनुषः करणत्वेनानभिधानान्न भवति । शक्रं विध्यति । चोरं विध्यति राजा ।

जन्यधेनुष्यान्नवश्यवन्गणयपद्यमूल्यहृद्यसतीर्थ्यगार्हप-याः ॥३१३।१६५॥ जन्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । जनी वधूः, तां वहतीत्यत्रार्थे यः । जन्याः परिणेतृसहायानामियं संज्ञा । “धेनुष्येति संज्ञार्या धेनुशब्दाद्यः पुक्त्वागमः” प्रकृष्टा धेनुधेनुष्या । या गोपालाय दोहार्थं दीयते । अन्यत्र धेनुतरति भवति । अन्नं लब्धेत्यस्मिन्वाक्ये अन्नाण्यो निपात्यते । अन्नः । वशं गत इत्यस्मिन्वाक्ये वशशब्दाद्यः । वश्यः । विनेय इत्यर्थः । अनगण्यशब्दाभ्यामिबन्ताभ्यां लब्धरि यः । वनं लब्धा वन्यः । गणं लब्धा गणयः । पदमस्मिन् दृश्यते अस्मिन्वाक्ये पादशब्दाद्यः । पद्यं हिमम् । पद्यः कर्दमः । पदमस्मिन्द्रष्टुं शक्यमित्यर्थः । ‘मूलमस्याबर्हि’ इत्यास्मिन्वाक्ये मूलशब्दाद्यः । मूल्या मुद्गाः । मूल्या माषाः । मूलोत्पाटेन सङ्ग्राह्या इत्यर्थः । अथवा मूलेन समं मूल्यं वल्लम् । मूलेनानम्यं वा मूल्यम् । हृदयस्य प्रिय इत्यस्मिन् वाक्ये हृदयशब्दाद्यः । ‘हृदयस्य हृत्स्लेखयाण्लासेषु’ [४।३।१६१] इति हृदादेशः । हृद्यो देशः । हृद्यमन्नम् । हृदयस्य बन्धन-मृषिः हृद्यः । वशीकरणमृत इत्यर्थः । समाने तीर्थे वसतीत्यस्मिन्वाक्ये समानतीर्थशब्दाद्यः । समानस्य च सभावः । सतीर्थः । गृहपतिना संयुक्त इत्यस्मिन्वाक्ये गृहपतिशब्दात् संज्ञार्या व्यो निपात्यते । गार्ह-पत्योऽग्निः ।

वयस्तुलाभ्यां सम्मिते ॥३१३।१६६॥ निर्देशादेव भाया उपादानम् । वयस्तुला इत्येताभ्यां भा-समर्थाभ्यां सम्मितेऽर्थे यो भवति । वयसा सम्मितः, वयस्यः । संज्ञायामभिधानम् । अन्यत्र वयसा सम्मितः शत्रु-रित्येव । तुलया सम्मितं तुल्यम् । सट्टशमित्यर्थः ।

नौधर्मविषसीताभ्यस्तार्थप्राप्तबन्धसमितेषु ॥३१३।१६७॥ त्वार्थवसाद्भासमर्थादिति लभ्यते । नावादिभ्यश्चतुभ्यो भासमर्थेभ्यो यथासंख्यं तार्थादिषु यो भवति । नावा तार्थं नाव्यमुदकम् । “चि त्वे” [३।३।६७] इत्यावादेशः । प्राक्कनेन धर्मेण प्राप्तं धर्म्यम् । वक्ष्यनार्थं तु धर्मादनपेतं धर्म्यं न्याय्यमुच्यते ।

विषेण वध्यः, विष्यः। वध इति प्रकृत्यन्तरम् । वधमर्हति, वध्यः । सीतया समितं सङ्गतं सीत्यं क्षेत्रम् । “रथसीता-हलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरपीष्यते” [वा०] परमसीत्यम् । द्विसीत्यम् ।

धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ॥३।३।१६८॥ निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । धर्म पथिन् अर्थ न्याय इत्येतेभ्यः कासमर्थेभ्योऽनपेतेऽर्थे यो भवति । धर्मादनपेतं धर्म्यम् । पथ्यम् । अर्थ्यम् । न्याय्यम् ।

छन्दसा निर्मिते ॥३।३।१६९॥ छन्द इच्छा । निर्मितमुत्पादितम् । निर्देशादेव भासमर्थ्याच्छन्दःशब्दात् निर्मितेऽर्थे यो भवति । छन्दसा निर्मितः, छन्दस्यः ।

उरसाऽण् च ॥३।३।२००॥ निर्देशाद् भाया उपादानम् । उरःशब्दाद् भासमर्थ्यान्निर्मितेऽर्थेऽण् भवति यश्च । उरसा निर्मितः, औरसः । उरस्यः ।

मदजनहलात्करणजलपकर्षेषु ॥३।३।२०१॥ मद जन हल इत्येतेभ्यो यथासंख्यं करण जल्प कर्ष इत्येतेष्वर्थेषु यो भवति । करणादयः शब्दा भावे करणे वा व्युत्पादयितव्याः । तेन सामर्थ्याच्योत्पत्तिः । मदकस्य करणं मद्यम् । मदस्थाने केचिन्मतशब्दं पठन्ति, तेषां मत्यमिति भवति । जनस्य जल्पः, जन्यः । हलस्य कर्षः, हल्यः । द्विहल्यः । परमहल्यः ।

तत्र साधुः ॥३।३।२०२॥ तत्रेतीप्समर्थ्यात्साधुरित्येतस्मिन्नर्थे यो भवति । सामनि साधुः, सामन्यः । कर्मण्यः । सभ्यः । शरण्यः । साधुरिह योग्यो निपुणो वा न तु हितः, तत्र हि प्राकृष्णीय एव त्यः ।

प्रतिजनादेः खञ् ॥३।३।२०३॥ तत्र साधुरिह वर्तते । प्रतिजन इत्येवमादिभ्यः खञ् भवति । यस्याऽपवादः । जनं जनं प्रति । प्रतिजनम् । यथार्थे हसः । प्रतिजने साधुः, प्रातिजनीनः । प्रतिजन । इदंयुग । संयुग । परयुग । परकुल । परस्यकुल । अमुष्यकुल । निपातनात्ताया अनुप् । सर्वजन । विश्वजन । पञ्चजन । महाजन । योऽत्र हितार्थः साध्वर्थः, तत्र वचनात्प्राकृष्णीयस्य बाधा ।

भक्ताण्णः ॥३।३।२०४॥ तत्र साधुरिह वर्तते । भक्तशब्दाण्यो भवति । यस्याऽपवादः । भक्ते साधुर्भाक्तस्तन्दुलः ।

परिषदो ण्यः ॥३।३।२०५॥ तत्र साधुरिति वर्तते । परिषच्छब्दाण्यो भवति । यस्याऽपवादः । परिषदि साधुः, पारिषद्यः । णोऽप्यत्राऽनुवृत्तिरिष्यते । परिषदि साधुः, पारिषदः ।

कथादेष्टण् ॥३।३।२०६॥ तत्र साधुरिति वर्तते । कथा इत्येवमादिभ्यष्टण् भवति । यस्याऽपवादः । कथायां साधुः, यथिकः । कथा । विकथा । विश्वकथा । संकथा । वितन्द्रा । कुष्टिदा (कुष्टचित्) । जनवाद । जनेवाद । चित्र । वृत्ति । सङ्ग्रह । गण । गुण । आयुर्वेद । गुड । कुल्यास (कुल्माष) । सक्तु । अपूप । मांसौदन । इक्षु । वेणु । संग्राम । संघात । प्रवास । निवास । उपवास ।

पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् ॥३।३।२०७॥ तत्र साधुरिति वर्तते । पथ्यादिभ्यो ढञ् भवति । यस्यापवादः । पथि साधु पाथेयम् । आतिथेयम् । वासतेयम् । स्वापतेयम् ।

समानोदरे शयितः ॥३।३।२०८॥ तत्रेति वर्तते । निर्देशाद् वा (ईप्समर्थ्यात्) समानोदरशब्दात् शयित इत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । समानोदर्यः । सोन्दर्यः । “बोद्धर्ये” [४।३।१६४] इति समानस्य सादेशः । कथं तर्हि सोदरशब्दस्य सिद्धिः ? “समानस्य” [४।३।१६२] इति योगविभागात् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तो तृतीयस्याऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

प्राकठणश्लुः ॥३।४।१॥ वक्ष्यन्ति (ति) “आर्हाट्टण” [३।४।१७] प्रागेतस्मादृण संशब्दनादयेऽर्था वक्ष्यते (न्ते) तेषु छोऽधिकृतो वेदितव्यः । वक्ष्यति “तस्मै हितम्” [३।४।४] । वस्तेभ्यो हितः, वत्सीयः । अत्र-त्सीयः । करभीयः । प्राग्वचनं किम् ? अर्थविशेषेऽपवादेन निवर्त्तं (त्तिं) ते पुनरर्थान्तर उपस्थानं यथा स्यात् । नन्ववि (धि) कारादेवापवादविषयेत्युपस्थानं प्राप्नोति । नैतदेवम् । तत्र तत्र वाग्रहणाच्चकारकरणाच्चापवाद-विषयपरिहारो गम्यते ।

उगवादेर्यः ॥३।४।२॥ प्राकठण इति वर्तते । उवर्णान्तान्मृशो गवादिभ्यश्च यो भवति प्राकठणोऽर्थेषु । छ्वाऽपवादः । शङ्खव्यं दासु । परशव्यमयः । पिचव्यः कार्पासः । गवादिभ्यः । गव्यम् । हविष्यम् । गो । हविष् । इह हविरिति स्वरूपग्रहणम् । अष्टका । वर्हिष् । युग । मेघा । स्रुव् (स्रुकु) । नाभि नभं वा । नभ्योऽक्षः । नभ्यमः नम् । “सु (शु) नोजिर्वाचदीस्वम्” [वा०] सू (शू) न्यम् । सु (शु) न्यम् । ऊघषो नक्ष । ऊघन्यः । कूप । अक्षर । दर । खर । दवद । स्त्व (स्ल) द । विष ।

हविरपूपादेर्वा ॥३।४।३॥ हविःशब्दो गवादिषु पठितः । तद्विशेषाणामिह ग्रहणम् । हविर्विशेष-वाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च प्राकठणोऽर्थेषु वा यो भवति । नित्ये ठे प्राप्ते विभाषेयम् । आमीक्ष्यम् । आमीक्षीयं दधि । पुरोडाश्याः । पुरोडाश्यास्तन्दुलाः । अपूपादिभ्यः, अपूप्यम् । अपूपीयम् । अपूप । तन्दुल । पृथुक । अभ्योष । अवोष । किरव । मुसल । कटक । कर्णचेष्टक । द्रुर्गल (अर्गल) । स्थूणा । यूप । सूप । दीप । प्रदीप । अश्वपत्र । “विगृहीतादपोप्यते ।” “अन्नविकारेभ्यश्च ।” उदन्याः । उदनीयाः । सूर्याः, सूर्यास्त-न्दुलाः । अन्नविकारस्वादेव सिद्धे अपूपाऽभ्योपादीनां प्रपञ्चार्थं पृथग्रहणम् । अतो विकल्पपूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो नित्यो विधिर्भवति । चरुरिति हविर्विशेषः । चरव्यास्तन्दुलाः । शक्रुरन्नविकारः, शक्रव्या धानाः । “कम्बलारचौप्रा कृष्णोर्थे (कम्बलाच्च प्राकठणोऽर्थे) नित्यं यो वक्तव्यः” [वा०] । कम्बल्य-मूर्णाशतम् । खुविषयादन्यत्र । कम्बलीया ऊर्णा । नेदं वक्तव्यम् । “न विस्ताचितकम्बल्यात्” [३।१।२०] इति निपातनात्सिद्धम् ।

तस्मै हितम् ॥३।४।४॥ तस्मै इति अप्समर्थाद् हितमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । वस्तेभ्यो हितः, वत्सीयः । करभीयः । पटव्यम् । गव्यम् । हविष्यम् ।

प्राण्यङ्गरथखलयवमाषवृषब्रह्मातलाद्यः ॥३।४।५॥ प्राण्यङ्गं शरीरावयवः, देहदेहिनोः कथञ्चिदभेदात् । प्राण्यङ्गवाचिभ्यो रथ खल यव माष वृष ब्राह्मण तिल इत्येतेभ्यश्च यो भवति तस्मै हित-मित्यस्मिन्नर्थे । छ्रस्याऽपवादः । दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम् । कर्ण्यम् । चक्षुष्यम् । नाभये हितं नाभ्यं तैलम् । “नाभि नभश्च” [वा०] इति नभभावः । गवादिलक्षणो यो विहितः स इह न भवति । गवादिलक्षणो य इह कस्मान्न भवति ? प्राण्यङ्गलक्षणो यस्तस्य परत्वाद् बाधकः । रथाय हिता भूमिः, रथ्या । खलाय हितम्, खल्यम् । यव्यम् । माष्यम् । वृषाय हितम्, वृष्यम् । ब्रह्मणे हितम्, ब्रह्मण्यम् । तिल्यम् । वृष्यो हितं ब्राह्मणाय हितमित्यत्रानभिधानाच्छो न भवति ।

अज्जाविभ्यां थ्यः ॥३।४।६॥ अज-अविशब्दाभ्यां थ्यो भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्नर्थे । छ्रस्याऽपवादः । अजे (जाय) हितम्, अजथ्यम् । अविथ्यम् । लिङ्गविशिष्टस्यानाशब्दस्य ग्रहणेऽपि “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्भावे कृते तदेव रूपम् ।

विश्वजनात्मभोगान्ताखः ॥३।४।७॥ तस्मै हितमिति वर्तते । विश्वजन आत्मन् इत्येताभ्यां भोगान्ताच्च मृदः खो भवति । छ्रस्याऽपवादः । विश्वजनाय हितः, विश्वजनीनः जिनः । अत्र यथादेवेभ्यते ।

तासाद् (द्व) सान्च छ एव भवति । विश्वजनीयम् । ‘पञ्चजनशब्दादुपसंख्यानम्’ [वा०] पञ्चजनीयम् । अत्र ‘द्विसंख्यं सौ’ [१।३।४५] इत्यनेन विहितात्समानाधिकरणाद् वसादेवेभ्यते । पञ्चजनीयमन्यत् । ‘सर्वजनादृण्य स्वश्च वक्तव्यः’ [वा०] सार्वजनिकः । सर्वजनीयः । अत्रापि यसादेवेभ्यते । सर्वजनीयमन्यत् । ‘महाजनादृण्यः’ [वा०] महाजनिकम् । वसादयं विधिः । वसाच्छ एव भवति । महाजनीयम् । ईनादेशे कृते ‘नोऽपुंसो हृत्ति’ [४।४।१३०] इति टिखं प्राप्तम्, सूत्रे नकारान्तनिपातनान्न भवति । भोगः शरीरम् । तदसा(दन्ता)त् मातृभोगीणः । पितृभोगीणः । मात्रादिभ्यः केवलेभ्यश्छ एव भवति । मात्रीयः । पित्रीयः । ‘शाजाऽचार्याभ्यां भोगान्ताभ्यां नित्यमिति वक्तव्यम्’ [वा०] राजभोगीनम् । आचार्यभोगीनम् । आर्यभोगान् (गीन) शब्दस्य ‘क्षुभ्नादित्वात्’ [१।४।११७] गत्वं (न) भवति । नित्यग्रहणं किम् ? केवलाभ्यां न भवति । राज्ञे हितम् । आचार्याय हितमिति ।

सर्वाण्यो वा ॥३।४।८॥ तस्मै हितमिति वर्तते । सर्वशब्दाद् वा यो भवति पक्षे छो भवति । सर्वस्मै हितम्, सार्वम् । सर्वायम् ।

पुरुषादृण्य ॥३।४।९॥ पुरुषशब्दादृण्य भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्विषये । छस्याऽपवादः । पुरुषाय हितं पौरुषेयम् । अल्प (त्य) ल्पमिदम् । ‘पुरुषाद् वधविकारसमूहेतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्’ । पौरुषेयो वधः । ‘तस्येदम्’ [३।३।८८] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयो विकारः । ‘प्राणिताछादेः’ [३।३।१०५] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयं स्यमागतं (यः समूहः) ‘तस्य समूहः’ इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयः प्रासादः । पौरुषेयो ग्रन्थः । तेन कृते ‘नि ग्रन्थे (कृते ग्रन्थे) [३।३।८२] ‘सौ’ [३।३।८६] इत्यण् प्राप्तः ।

माणावचरकत्त्वञ् ॥३।४।१०॥ तस्मै हितमिति वर्तते । माणाव-चरक-शब्दाभ्यां खञ् भवति । छस्याऽपवादः । माणावाय हितं माणावीनम् । चारकायम् ।

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ॥३।४।११॥ हितमिति निवृत्तम् । तस्मै इति वर्तते । तस्मै इदं तदर्थं समानजातीयमभिन्नस्तानवर्ति कारणम्, प्रकृतिः । तस्या एवाऽवस्थान्तरं विकृतिः । तदर्थमित्येतत्प्रकृतेर्विशेषणम् । तदर्थ्यायां प्रकृताविति । यद्येवं खीलङ्गमीप् च प्राप्नोति । ‘सूत्रेऽस्मिन् सुब्विचिष्टिः’ [५।२।११४] इने पा (इतीपो) वाया एकेन च निर्देशः । विकृतिवाचि-ऽवन्तान्मृदस्तदर्थ्यायां प्रकृतावनि(भि)धेयायां यथाविहितं त्यो भवति । विकृत्यर्थायां प्रकृतौ त्यो भवतीत्यर्थः । अङ्गारेभ्यः, अङ्गारीयाणि काष्ठानि । प्राकारीया इष्टकाः । शङ्खव्यं दारु । पिचव्यः कर्पासः । अपूप्याः । अपूपीयास्तन्दुलाः । विग्रहे तादर्थ्यलक्षणाऽपि द्रष्टव्या । तदर्थमिति किम् ? मूत्राय यवागूः । उच्चाराय यवान् । पादरोगाय नड्व-लोदकं कल्पते । योग्यतामात्रेण विकृतिप्रकृत्यभिसम्बन्धो मा भूत् । अत्र केचित्तस्मै ग्रहणं नानुवर्तयति । तादर्थ्यं तथाऽपि व्यज्यते । यथा गुरोरिदम्, गुर्वर्थम् इति । विकृतिवाचिनस्तान्तात्तदर्थ्यायां प्रकृतावभिधेयायां त्यमुत्पादयति । एवमङ्गारायामिमानि अङ्गारायानि काष्ठानि, अङ्गारीयाणि । तदर्थमिति किम् ? यवानां धानाः धानानां शकृवः । नात्र प्रकृतैरनन्यार्थया गम्यते । अपि तु प्रकृत्यन्तरनिवृत्तिमात्रम् । नान्येषां धाना नान्येषां शकृवः । अत एव विकारप्रकृतिसम्बन्धमात्रेऽपि त्यो न भवति । धानानां यवाः, शकृतानां धानाः इति । विकृतेरिति किम् ? उदकार्थः कूपः । नात्र पार्थिवस्य कूपस्य विकृतिरुदकम् । प्रकृताविति किम् ? अस्यर्था कोशी । असिरयसो विकृतिर्भवति । तन्न कोशी तस्य प्रकृतिः ।

छदिरुपधिबलेदञ् ॥३।४।१२॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । छदिसु उपधि बलि इत्ये-तेभ्यो दञ् भवति । छदिरर्थानि छदिविधेयाणि तृणानि । इह छदिरर्थं चर्मेति परलात् ‘चर्मणोऽञ्’

[१।४।१४] इति अत्रि प्राप्ते पूर्वनिर्णयेन ढञ् भवति । छादिषेयं चर्मम् । उपघीयत इत्युपधिः, रथाङ्गं गुणान्तरयोगाद् विकृतिरियम् । उपध्यर्थम्, औपधेयं दाह । वालेयास्तन्दुलाः ।

शृषभोपानहो ऽञ् ॥३।४।१३॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । शृषभ उपानह इत्येताभ्यां ऽञो भवति । ठस्यापवादः । गुणान्तरयोगादपि विकारो भवति । तद्यथा वैभीतकोऽपूपः इति । शृषभार्थेभ्यो वत्सः (श्रापंभ्यो वत्सः) । औपानहो मृज्जः । “चर्मणोऽञ्” [३।४।१४] इत्यतः पूर्वनिर्णयनायमेवेष्यते । औपानहं चर्म ।

चर्मणोऽञ् ॥३।४।१४॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । चर्मण इति विकारसम्बन्धे ता । चर्मणो या विकृतिस्तद्वाचिनोऽञ् भवति । छस्याऽपवादः । वद्ध्र्यर्थं वाद्ध्रम् । वर्त्रा (वरत्रा) र्थं वात्रं (वारत्रं) चर्म । सनङ्कुर्नाम चर्मविकारः, ततः पूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो यो भवति । सनङ्गव्यं चर्म ।

तदस्यास्मिन्निति ॥३।४।१५॥ प्रकृतिविकृतिभावस्तादर्थ्यं वेह न विवक्षितं योग्यतामात्रं विवक्षितम् । तदिति वासमर्थ्यादस्य अस्मिन्नित्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं ल्यो भवति । इतिकरणस्ततश्चेद् विवक्षा । अस्य सम्भावनेऽभिधानम् । तेन मत्वर्थीयाद् भेदः । प्रासादोऽस्य स्यात् प्रासादीयं दाह । प्राकारीया इष्टकाः । प्रासादोऽस्मिन् देशे स्यात् प्रासादीयां देशः । प्राकारीयो देशः । इह कस्मान्न भवति, प्रासादो देवदत्तस्य स्यात् ? इति करणादविवक्षाऽत्र ।

परिखाया ढञ् ॥३।४।१६॥ तदस्याऽस्मिन्निर्णयं वर्तते । परिखाशब्दाद्ढञ् भवति । छस्यापवादः । परिखाऽस्मिन्देशे सम्भाव्यते पारिलेखो देशः । पारिलेखी भूमिः । इत ऊर्ध्वं छुथौ नानुवर्तते ।

आर्हाट्टण् ॥३।४।१७॥ तदर्हतीति निवृत्तम् । प्रागेतस्मादर्हं संशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, तेषु षण्चिकृतो वेदितव्यः । प्रागिति वर्चमाने अभिविध्यर्थमाद्ग्रहणम् । अर्हतीत्यस्मिन्नप्यर्थं षण् भवति । वक्ष्यति “तेन क्रीतम्” [३।४।३५] । वक्ष्णेण क्रीतं वाञ्छिकम् । गोपुच्छिकम् ।

शतादस्वार्थेऽसेठयो ॥३।४।१८॥ आर्हादिति वर्तते । स्वार्थे शतमेव । शतशब्दादस्वार्थेऽसेठय इत्येतौ ल्यौ भवत आर्हाथेष्वर्थेषु । कस्यापवादः । शतेन क्रीतम्, शतिकम् । शत्यम् । अस्वार्थ इति किम् ? शतं परिमाणमस्य शतकं स्तोत्रम् । नात्र प्रकृत्यर्थादर्थान्तरभूतस्वार्थः समुदायः किन्तु शतमेव । यत्र ल्यार्थान्तरभावस्तत्र विधिरेव न प्रतिषेधः । शतेन क्रीतं शतिकं पटशतम् । शत्यं पटशतम् । वाक्येन ह्यत्र ल्यार्थस्य शतत्वं गम्यते न श्रुत्या । अस इति किम् ? द्वौ च शतं च द्विशतम् । तेन क्रीतं द्विशतकम् । द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतमिति रसे “शदुबखौ” [३।४।२६] इत्युपि नास्ति विशेषः । ननु स-ल्य(षधौ तदन्तविधिर्नास्तीति असग्रहणमनर्थकम् ? नाप्युत्तरत्र तदन्तविधेर्ज्ञापकम् । “प्राग्भवः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति उपसंख्यानमचरयं कर्तव्यम् ।” पारायणं वर्तयति पारायणिकः । द्विपारायणिकः । असंख्यापूर्वपदस्य न भवति । सहस्रेण क्रीतम्, साहस्रम् । सुवर्णसहस्रेण क्रीतमित्यत्राण् न भवति । तथा उबन्तायाः प्रकृतेर्नेष्यते । द्वाभ्यां सूर्पाभ्यां क्रीतम्, द्विसूर्पेण क्रीतम् तदन्तविधेरभावात् “सूर्पाद्वा” [३।४।२६] इत्ययं विधिर्न भवति । सामान्येन षण्, द्विसोपिकम् । “परिमाणमस्यासुज्ञायो” [३।४।२२] इति द्यौरैप् । एवं तर्हि पूर्वत्र तदन्तविधिरपि भवतीति ज्ञाप्यते । गव्यम् । अगव्यम् । हविष्यम् । प्रसूरहविष्यम् । अपूप्यम् । यवापूप्यम् । अष्टक्यम् । एकाष्टक्यम् । राजदन्त्यम् । माध्यम् । तिल्यम् । कुष्णतिल्यम् ।

संख्यायाः कोऽतिशतः ॥३।४।१९॥ आर्हादिति वर्तते । संख्याया अतिशदन्तायाः को भवति । आहादर्थेषु षणोऽपवादः । संख्याशब्दः “कतिः संख्या” [१।१।३३] इति कतिशब्दं प्रत्याययति । तत्र

चाऽन्वर्थसंज्ञाग्रहणाद् यैरेकलादिभिः संख्यायते तेषां च ग्रहणे प्राप्तेऽतिशत इति प्रतिषेधः । त्यन्तां शदन्तां च संख्यां वर्जयित्वाऽर्थः । पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः । सप्तकः । “संख्या बाड्ढोऽबहुगणात्” [४।२।३६] इति पर्युदासाद्बहुगणयोः संख्यात्वम् । बहुकः । गणकः । अतिशत इति किम् ? षाष्टिकः । सप्ततिकः । चत्वारिंशत्कः । पञ्चाशत्कः । अर्थवत्तिसंख्यास्येह ग्रहणाद्भेदे [ति] प्रतिषेधः । कतिभिः क्रीतः, कतिकः ।

वतोर्धेट् ॥३।४।२०॥ वतुरिति त्यः पञ्चप्रकृतिः । “यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः” [३।४।१६०] “इदमो वो वः” [३।४।१६१] “किमः” [३।४।१६२] इति वतोः परस्य कस्य च इद्भवति । ननु च अशाते यत्तेषु कतिशब्दस्यैव संख्यात्वमुक्तम् । तत्कथं वलन्तात्संख्यालक्षणः कः ? इदमेव वलन्तात्परस्य कस्य वेड्वचनं ज्ञापकं भवति वलन्तस्य संख्या संज्ञेति । यावता क्रीतः, यावतिकः, यावत्कः । तावतिकः । तावत्कः ।

विंशतित्रिंशद्भ्यांङ् वुरखौ ॥३।४।२१॥ विंशतित्रिंशच्छब्दाभ्यां ड्बुर्भवत्यखुविषये । विंशत्या क्रीतः, विशकः । तेः खे कृते “असिद्धवद्भ्रामात्” [४।४।२१] इति टिले प्रतिषिद्धे “एष्यतोऽपदे” [४।४।२२] इति पररूपम् । त्रिंशता क्रीतः, त्रिंशकः । अखाविति किम् ? विंशतिः परिमाणमस्य, “परिमाणासंख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने” [३।४।५६] “खौ” [३।४।५७] इति कः । विंशतिकं परिमाणानामधेयम् । अनर्थकत्वादस्य त्रिंशदस्य त्यन्तलक्षणः प्रतिषेधो न भवति । द्वयोर्दशतोर्वि (न्) भावः शतिश्चात्र ल्यो निपातयिष्यते । त्रिंशत्परिमाणेषां त्रिंशत्काः । शदन्तान्नेति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? विंशति त्रिंशद्भ्यामिति योगविभागात्को भवति ।

कंसादृन् ॥३।४।२२॥ कंशब्दादृन् भवति आर्हादर्थेषु । दृणोऽपवादः । कंसेन क्रान्तः (क्रीतः) कंसिकः । कंसिकी । “अर्धाच्चेत वक्तव्यम्” [वा०] अर्द्धिकी ।

कार्षापणाद्वा प्रतश्च ॥३।४।२३॥ आर्हादिति वर्तते । कार्षापणशब्दात् ठङ् भवति तस्य प्रतिस्य वादेशो वा भवति । कार्षापणेन क्रीतः, कार्षापणिकः । कार्षापणिकी । प्रतिकः । प्रतिकी ।

शतमानविंशति(क)सहस्रवसनादण् ॥३।४।२४॥ शतमानादियोऽण् भवति । आर्हादर्थे । दृणोऽपवादः । शतमानेन क्रीतम्, शतमानम् । वैशतिकम् । साहस्रम् । वासनम् ।

सूर्पाद्वा ॥३।४।२५॥ आर्हादिति वर्तते । सूर्पाद्वाद्वाऽण् भवति । नित्ये ठाणि प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सूर्पं परिमाणनाम । सूर्पेण क्रीतम्, सौर्पम् । सौर्पिकः ।

रादुब्रह्मौ ॥३।४।२६॥ आर्हादिति वर्तते । रादुत्तरस्य आर्हायस्य त्यस्योऽन्भवत्यखौ । द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम्, द्विकंसम् । त्रिवंसम् । हृदर्थे रसे कृते संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिना कंसादृत्, तस्योप् । अधिकमर्धमस्मिन्नित्यध्यर्धम्, संख्यासंज्ञाविधानेऽध्यर्धग्रहणं सकविध्यर्थमित्युपसंख्यासंज्ञा । अध्यर्धेन कंसेन क्रीतं ठट उपि अध्यर्धकंसम् । द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम् इत्यागतयोरण्ठणोरुभवाति । द्विसूर्पम् । त्रिसूर्पम् । अच्यर्धसूर्पम् । रादिति हेत्वर्थे का । रस्य हेतुनिमित्तं यो हृत् तस्योऽग्न भवति । द्विसूर्पेण पटेन क्रीतम्, द्विसौर्पिकम् । “अर्धमिनादापि समाहारलक्षणार्द्रादुवक्तव्यः” [वा०] । द्वयोः सूर्पयोः समाहारः द्विसूर्पी । द्विसूर्पात् क्रीतम् द्विसूर्पमिति । न वक्तव्यः । अभिधानवशात् समाहारे वाक्यमेव भवति । न ल्योत्पत्तिः । अखाविति किम् ? पाञ्चलोहितकम् । पाञ्चकलापिकम् । परिमाणनामधेये इमे । पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य पञ्चकपालाः परिमाणमस्येति “परिमाणासंख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने” [३।४।२६] “खौ” [३।४।२७] । इति ठण् । परिमाणस्य घोशदरैपि प्राप्ते “अखुशाणे” इति प्रतिषिद्धे आदरैपि । अन्ये पञ्चलोहित्यः परिमाणमस्येति विग्रह्य “तस्य हृत्ये” [वा०] इति पुंवद्भावं विदधाति ।

कार्षापणसहस्रसुवर्णशतमानाद्वा ॥३१४२७॥ कार्षापण सहस्र सुवर्ण शतमान इत्येवमन्ता-
त्परस्यार्हायस्य त्यस्य वोब् भवति । पूर्वेण नित्य उपि प्राप्ते विभाषेयम् । द्वाभ्यां कार्षापणाभ्यां क्रीतं
द्विकार्षापणं द्विकार्षापणिकम् । त्रिकार्षापणं त्रिकार्षापणिकम् । अर्धकार्षापणम् । अर्धकार्षापणिकम् ।
“प्राग्बतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तप्रहरणमनुर्पाति कार्षापणाद्वा प्रतश्च” [३१४२३] इति ठट् । अनुप्यत्ने
च प्रतिरादेशो विकल्पितः । द्विप्रतिकम् । त्रिप्रतिकम् । अर्धप्रतिकम् । द्वाभ्यां सहस्राभ्यां क्रीतं द्विसहस्रम् ।
द्विसहस्रम् । त्रिसहस्रम् । त्रिसहस्रम् । अर्धसहस्रम् । अर्धसहस्रम् । “संख्यायाः संख्यासंवासरस्य”
[१।२।२०] इति घोरैप् । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसुवर्णम् । द्विसौवर्णिकम् । त्रिसुवर्णम् , त्रिसौवर्णिकम् ।
अर्धसुवर्णम् , अर्धसौवर्णिकम् । “परिमाणस्यास्तुशाये” [१।२।२२] इति घोरैप् । सुवर्णमुन्मानं
कथं परिमाणम् ? अशाण इति प्रतिषेधात् । उन्मानस्यापि घोरैर्भवति द्वाभ्यां शतमानाभ्यां क्रीतं द्विशत-
मानम् । द्विशतमानम् । त्रिशतमानम् । त्रिशतमानम् । अर्धशतमानम् ।

द्वित्रिवहोनिष्कविस्तात् ॥३१४२८॥ द्वि त्रि बहु इत्येतेभ्यः परो यो निष्कविस्तशब्दौ तदन्ताद्रा-
त्परस्यार्हायस्य त्यस्य वोब्भवति । द्विनिष्कम् । द्विनैष्किकम् । त्रिनिष्कम् । त्रिनैष्किकम् । बहुनिष्कम् । बहु-
नैष्किकम् । द्विनिस्तम् । द्विवैस्तिकम् । त्रिनिस्तम् । त्रिवैस्तिकम् । बहुनिस्तम् । बहुवैस्तिकम् ।

विंशतिकात्खः ॥३१४२९॥ वेति निवृत्तम् । रादिति वर्तते । विंशतिकशब्दान्तात् रात् आर्हाद-
र्थेषु खो भवति । द्वाभ्यां विंशतिकाभ्यां क्रीतम् , द्विविंशतिकीनम् । त्रिविंशतिकीनम् । अर्धविंशतिकीनम् ।
वचनात्खस्योन् भवति ।

खारीकाकणोभ्यां कप् ॥३१४३०॥ रादिति वर्तते । खारी-काकणीशब्दान्तात् आर्हादर्थेषु कब्
भवति । द्वाभ्यां खारीभ्यां क्रीतम् , द्विखारीकम् । त्रिखारीकम् । अर्धखारीकम् । द्विकाकणीकम् । त्रिकाक-
णीकम् । अर्धकाकणीकम् । “केवलाभ्यां चेति वक्तव्यम्” [वा०] । खार्यां क्रीतं , खारीकम् ।
काकणीकम् ।

पणपादमाषाद्यः ॥३१४३१॥ रादिति वर्तते । पण-पाद-माषशब्दान्ताद् रादार्हादर्थेषु यो भवति ।
द्वाभ्यां पणाभ्यां क्रीतम् , द्विपण्यम् । त्रिपण्यम् । अर्धपण्यम् । द्विपाद्यम् । त्रिपाद्यम् । अर्धपाद्यम् ।
“असिद्धवद्भासात् [४।४।२१] इत्यखस्याऽसिद्धत्वात्पाञ्चदस्य पद्भावो न भवति । “पण्ये” [४।३।१६४]
इति पदादेशोऽपि पादस्य केवलस्योक्तम् (क्तः) । द्विमाध्यम् । त्रिमाध्यम् । अर्धमाध्यम् ।

शताद् वा ॥३१४३२॥ रादिति वर्तते । शतशब्दान्ताद् रादार्हादर्थे वा यो भवति । द्वाभ्यां शताभ्यां
क्रीतं द्विशत्यम् । त्रिशत्यम् । अर्धशत्यम् । पद्धे ठण् । तस्य “शतुबलौ” [३।४।२६] इत्युप् । द्विशतं
त्रिशतम् । अर्धशतम् ।

शाणात् ॥३१४३३॥ रादिति वर्तते वेति च । शाणशब्दान्तादार्हादर्थेषु वा यो भवति । पद्धे ठण् ।
तस्य चोप् । पञ्चभिः शाणैः क्रीतं पञ्चशण्यम् । पञ्चशाणम् । अर्धशण्यम् । अर्धशण्यम् । योग-
विभाग उत्तरार्थः ।

द्वित्रिभ्यामण च ॥३१४३४॥ शाणादिति वर्तते । द्वित्रिशब्दाभ्याः परो यः शाणशब्दस्तदन्ताद्
रादार्हायैव्येव्यण् भवति यश्च वा । तेन त्रैरुण्यम् । द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतम् , द्वैशाण्यम् । त्रैशाण्यम् ।
त्रिशाण्यम् । त्रिशाण्यम् । अण्यि परतः “अस्तुशाण्य” इति प्रतिषेधादादेरैप् ।

तेन क्रीतम् ॥३१४३५॥ तेनेति भासमर्थात् क्रीतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ठणादयो भवन्ति । निष्केण क्रीतम्, नैष्किकम् । शतिकम् । शत्यम् । साहस्रम् । द्विकम् । त्रिकम् । इह करणादिति वक्तव्यम् । कर्त्तरि माभूत् । देवदत्तेन क्रीतम् । “सूत्र्यादिति च वक्तव्यम्” [वा०] । इह मा भूत् पाणिना क्रीतमिति । “द्विबह्वन्ताच्च करणात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । द्रोणाभ्यां क्रीतम् । द्रोणैः क्रीतम् इति । नेदं बहु वक्तव्यम् । अभिधानतो व्यवस्था भविष्यति । यत्र प्रकृत्यर्थस्य संख्याभेदावगतिरस्ति तत्र द्विबहुत्वविषयेऽपि भवति । द्वाभ्यां क्रीतम्, द्विकम् । मुद्गैः क्रीतम्, मौद्गिकम् ।

तस्य वापः ॥३१४३६॥ उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम् । तस्येति तासमर्थात् वाप इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । प्रस्थस्य वापः, प्रास्थिकः । कौद्रविकः । खारीकः । “यस्य प्रकरणे वातपित्तश्लेष्म-सन्निपातेभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानम्” [वा०] वातस्य शमनं कोपनं वातिकं द्रव्यम् । एवं पैत्तिकम् । श्लैष्मिकम् । सान्निपातिकम् ।

निमित्तं संयोगोत्पादौ ॥३१४३७॥ बुद्धिपूर्विका व्याप्तिः संयोगः । शुभाशुभयोः सूचकः उत्पादः । उत्पात इत्यर्थः । तस्येति तासमर्थान्निमित्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्तन्निमित्तं संयोग उत्पादो वा स चेद् भवति । शतस्य निमित्तमीश्वरेण संयोगः शतिकः, शत्यः । साहस्रः । शतस्य निमित्तं दक्षिणादिस्यन्दनमुत्पादः शतिकः । शत्यः । साहस्रः । सोमग्रहणस्य निमित्तमुत्पादो भूमिकम्पः । सोमग्रहणिकः ।

योऽसंख्यापरिमाणोत्पादे ॥३१४३८॥ तस्येति तासमर्थाद्यो भवति संख्यापरिमाणाश्वादीन् वर्जयित्वा निमित्तं संयोगोत्पादावित्यस्मिन् विषये । ठणादीनामपवादः । वनं निमित्तं संयोग उत्पादो वा वन्यः । यशस्यः । स्वर्ग्यः । आयुष्य । असंख्यापरिमाणाश्वादेरिति किम् ? पञ्चानां निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पञ्चकः । सप्तकः । परिमाणत् । प्रस्थस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा प्रास्थिकः । द्रौणिकः । खारीकः । अश्वदिर्गणः । अश्वस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा आश्विकः । अश्व । अश्मन् । गण । ऊर्णा । उमा । भङ्गा । वर्णा । वस्त्र । वसु । संख्यापरिमाणयोरर्थभेदोऽस्ति । “ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयामं तु प्रमाणं स्यात् संख्या तु गुणनात्मिका ।”

गोब्रह्मवर्चसात् ॥३१४३९॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । गोब्रह्मवर्चसशब्दाभ्या यो भवति । गोर्निमित्तं संयोग उत्पादो वा गव्यः । ब्रह्मणो वर्चः, ब्रह्मवर्चसम्, अत एव निपातनात्सान्तः । ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा ब्रह्मवर्चस्यः । पूर्वेण ये सिद्धे सत्याम्भो नियमाय । एकाचो गोशब्दादेव ब्रह्मचो ब्रह्मवर्चसशब्दादेव यः । इह न भवति । नावा निमित्तं संयोगः नाविकः । वास्तुयुगिकः । द्व्यच एव पूर्वेण यो वेदितव्यः ।

पुत्राच्छ वा ॥३१४४०॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । पुत्रशब्दाच्छो यश्च । पुत्रस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा पुत्रीयः । पुत्र्यः ।

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण् ॥३१४४१॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । सर्वभूमि-पृथिवी-शब्दाभ्यामण् भवति । ठणोऽपवादः । सर्वभूमेर्निमित्तं संयोग उत्पादो वा, सर्वभूमिः । अनुशतिकादिलादुभयत्रैप् । पृथिव्या निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पार्थिवः ।

इश्वरः ॥३१४४२॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यामीश्वर इत्यस्मिन्नर्थे-ऽण् भवति । ठणोऽपवादः । सर्वभूमेरीश्वरः, सर्वभूमिः । पार्थिवः ।

तत्र विदितः ॥३१४४३॥ तत्रेतीप्समर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यां विदित इत्यस्मिन्नर्थेऽण् भवति । सर्वभूमौ विदितः सर्वभूमिः । पार्थिवः ।

लोकात् ॥३१४४४॥ तत्र विदित इति वर्तते । लोकशब्दादीप्समर्थाद्विदित इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । लोके विदितः, लौकिकः ।

सर्वात् ॥३१४४५॥ सर्वशब्दात्परो यो लोकशब्दः, तदन्तान्मृदष्टण् भवति तत्र विदित इत्यस्मिन्नर्थे । सर्वलोके विदितः, सार्वलौकिकः । अनुशतिकादित्वाद्भयत्रैप् ।

तदस्मिन्वृद्धथायलाभशुल्कोपदा दीयते ॥३१४४६॥ तदिति वासमर्थाद् वृद्ध्यादिविशिष्टा-दस्मिन्नितीवर्थे यथाविहितं त्यो भवति । यत्तद्वासमर्थं वृद्ध्यादिविशिष्टं दीयते चेत्तद् भवति । वृद्धिः कालान्तरादिना । नियनिबद्धा प्राप्तिरायः । पदादीनां मूल्यातिरेको लाभः । वा (व) णिजां रक्षाकारितो राजभागः शुल्कः । उक्तोऽऽपदाः दीयते इत्येकवचनान्तं वृद्ध्यादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । पञ्चास्मिन्वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते, पञ्चकः । प्रास्थिकः । कौडविकः । “इह तद्समै दीयते इति वक्तव्यम्” [वा०] पञ्चाऽऽसमै वृद्ध्यादि दीयते, पञ्चकः । सप्तकः । न वक्तव्यम् । सम्प्रदानस्याधिकरणविवक्षया सिद्धम् ।

डडर्धाट्टः ॥३१४४७॥ डडिति प्रत्याहारग्रहणम् । “तस्य पूरणे डट्” [४१११] इत्यारभ्य आ तमष्टकारात् । डडन्तान्मृदः अर्धशब्दाच्च ठो भवति तदस्मिन्वृद्धथायलाभशुल्कोपदा दीयते इत्यस्मिन्नर्थे । ठण्णः “अर्धाच्च” [४१२१०३ (वा०)] इत्यौपसंख्यानिकस्य च ठटोऽपवादः । पञ्चमः दीयते वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा, पञ्चमिकः । द्वितीयिकः । अर्थिकः । स्त्रियाम्—अर्थिका ।

भागाद्यश्च ॥३१४४८॥ भागशब्दोऽर्धवाची । तदस्मिन्वृद्धथायलाभशुल्कोपदा दीयते इति च वर्तते । भागशब्दाद्यो भवति ठश्च । भागो वृद्ध्यादिरस्मिन्दीयते भाग्यं शतम् । भागिकं शतम् ।

तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादेः ॥३१४४९॥ वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दः तदन्तान्मृदः ई (इ) प्समर्थाद् हरत्यादिष्वर्थेषु यथाविहितं त्या भवति । हरति नयतीत्यर्थः । वहति उत्तिष्ठपतीत्यर्थः । आवहति उत्पादयतीत्यर्थः । वंशभारं हरति वहति आवहति वा, वंशभारिकः । वाल्वजभारिकः । भारादिति किम् ? क्वसं हरति । वंशादेरिति किम् ? भारं हरति । केवलान्न भवति । अन्ये पुनरन्यथा सूत्रार्थं ग्राहिताः । क्त्वा (वंशा) दिभ्यो भारभूतेभ्यस्त्यो भवति । अर्थद्वारेण भारो वंशादेर्विशेषणम् । भारभूतात् (न्) हरति, वाशिकः । वाल्वजिकः । भारादिति किम् ? एकं वंशं हरति । क्त्वा (वंशा) देरिति किम् ? भारभूतान् यवान् हरति । सूत्रार्थद्वयमपि प्रमाणम् । वंश । वाल्वज । कूट । मूल । स्थूल । खट्वा । अश्व । इक्षु ।

वस्नद्रव्याभ्यां ठकौ ॥३१४५०॥ वस्नद्रव्यशब्दाभ्यामिप्समर्थाभ्यां हरत्यादिष्वर्थेषु यथासंख्यं ठ क इत्येतौ त्यौ भवतः । वस्नं हरति वहति आवहति वा, वस्निकः । द्रव्यिकः ।

सम्भवत्यवहरति पचति ॥३१४५१॥ तदिति वर्त्तते । इप्समर्थाऽन्मृदः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु यथाविहितं त्यो भवति । सम्भवति गृह्णातीत्यर्थः । अवहरति क्षयं नयतीत्यर्थः । पचति विक्लेदनं करोतीत्यर्थः । प्रस्थं सम्भवत्यवहरति पचति वा, प्रास्थिकी स्थाली । एवं कौडविकी । खारीकी । ननु या प्रस्थं सम्भवति सा पचत्यपि, तत्कथं भेदः ? इदं तर्हि पचतेरुदाहरणम् । प्रस्थं पचति ब्राह्मणी, प्रास्थिकी । ‘तत्पचतीति द्रोणादणु च वक्तव्यः’ [वा०] । द्रोणं पचति द्रौणी, द्रौणिकी ।

बाऽऽटकाचितपात्रात्खः ॥३१४५२॥ आटक-आचितपात्रशब्देभ्य इप्समर्थेभ्यः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु वा खो भवति । पूर्येण नित्ये ठण्णि प्राप्ते विभाषेयम् । आटकं सम्भवति अवहरति पचति वा, आटकीना, आटकीकी । आचिताना, आचितिकी । पात्रोणा, पात्रिकी । आटकादीनि परिमाणानि ।

राट्ट् च ॥३१४५३॥ आढकाचितपात्रान्तात् राट् इपसमर्थात्सम्भवत्यादिष्वर्थेषु टट् भवति खश्च वा । तेन त्रैरूप्यं भवति । द्वे आढके सम्भवति अवरहरति पचति वा द्रयाढकी । द्रयाढकीना । आभ्यां भुक्ते ठण् तस्य “रादुबखौ” [३१४२६] इत्युप् । द्रयाढकी । “परिमाणाद्दृष्टुपि” [३१४२६] इति डी-विधिः । टट्खयोर्यचनान्ताद्द्वम् (दुम्न) भवति । द्रयाचितोना, द्रयाचितता । “न विस्ताचितकम्बल्यात्” [३१४२७] इति डीप्रतिषेधः । द्विपात्रिकी । द्विपात्रीणा । द्विपात्री ।

कुलिजाच्च ॥३१४५४॥ चकारखिकाऽनुकर्षणार्थः । रादिति वर्तते । कुलिजशब्दान्तात् राट् इपसम-
र्थात् सम्भवत्यादिष्वर्थेषु टट् भवति खश्च वा । तेन त्रैरूप्यम् । कुलिजं परिमाणविशेषः । द्वे कुलिजे सम्भ-
वत्यवरहरति पचति वा द्विकुलिजिकी, द्विकुलिजीना, द्विकुलिजी । केचिदुपोऽपि विकल्पमिच्छन्ति । पक्षे ठणः
श्रवणम् । द्वैकुलिजिकीति । त एव “असुशाणे” [५१२२२] इत्यत्र कुलिजस्यापि प्रतिषेधमिच्छन्ति ।

तदस्यांशवस्नभृतयः ॥३१४५५॥ तदिति वासमर्थात् अस्वेति तार्थं यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वा-
समर्थम् अंश वस्न भृतयश्चेत्तद् भवन्ति । पञ्च अंशा वा वस्नो वा भृतिर्वाऽस्य, पञ्चकः । सप्तकः । शतिकः,
शालः । साहस्रः । खारीकः ।

परिमाणात्सङ्ख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने ॥३१४५६॥ तदस्येति वर्तते । परिमीयते परिच्छिद्यते-
ऽनेन परिमाणम् । परिच्छेदकमिदं तत् पारिभाषिकम् । तदिति वासमर्थात् संख्यावाचिनः परिमाणे वाधिका-
दस्येति तार्थं यथाविहितं त्यो भवति । यत्तदस्येति सङ्घसूत्राऽध्ययनानि चेद् भवन्ति । सङ्घे-पञ्च परिमा-
णमस्य सङ्घस्य पञ्चकः । सप्तकः । सूत्रे ग्रन्थ इत्यर्थः । पञ्चाऽध्यायाः परिमाणमस्य, पञ्चकं जैनेन्द्रम् । अष्टकं
पाणिनीयम् । शतकं स्तोत्रम् । अधीतिरध्ययनं तस्मिन् । पञ्च रूपायस्याध्ययनस्य पञ्चकम् । सप्तकम् ।
कर्मणि यद्यध्ययनशब्दो व्युत्पाद्येत सूत्रान्न भेदः स्यात् । “स्तोमे ङो वक्तव्यः” [वा०] पञ्चदशाद्यर्थः
पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य स्तोमस्य पञ्चदशः स्तोमः । एवं सप्तदशः । एकविंशः । परिमाणादिति योग-
विभागः कर्तव्यः । तदस्येति वर्तते । पञ्चकलापः परिमाणमस्य, पञ्चकलापिकम् । पाञ्चलोहितिकम् ।
प्रस्थः परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः । कौतिकः । खारीशतिकः । वर्षशतं परिमाणमस्य वर्षशतिकः ।
“जीवितपरिणाम इति च वक्तव्यम्” [वा०] षष्टिः संवत्सरा जीवितपरिमाणमस्य, षष्टिकः । साततिकः ।
आशीतिकः । नेदं वक्तव्यम् । “तमवी(धी)ष्टो भू (भृ , तो भूतो भावी” [३१४७६] इत्येव
सिद्धम् । षष्टिं भूतो (तः) षष्टिकः । एवञ्चानुबपि सिद्धः । द्वे षष्टी भूतो द्विषष्टिकः । इह विधानो(ने)
“रादुबखौ” [३१४२६] इत्युप् प्रसज्येत ।

खौ ॥३१४५७॥ खुविषये च परिमाणविशिष्टायाः संख्याया यथाविहितं त्यो भवति । विंशतिः
परिमाणमस्य विंशतिकं परिमाणानामधेयम् । स्वार्थं चाऽत्र त्यो द्रष्टव्यः । पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः । त्रय एव
त्रिकाः सा(शा)लङ्कायनाः ।

पङ्क्तिविंशतिश्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ॥३१४५८॥ पङ्क्त्यादयः
शब्दा निपात्यन्ते । यदत्र लङ्गणानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम् । तदस्य परिमाणमिति वर्तते । पञ्चपादा-
परिमाणमस्य पङ्क्तिस्तच्छब्दः; क्रमसन्निवेशोऽपि । पञ्चशब्दात्तिरित्ययं स्यष्टिखं च निपात्यते । द्वौ दश तौ
परिमाणमस्य वर्गस्य विंशतिः । द्वे विंशतः शतित्वात् स्यः । अत्रचतुःपञ्चानाम् इमारिमाश्रान्तादेशाः ऋषच
त्वाः । त्रयो दशतः परिमाणमस्य वर्गस्य त्रिंशत् । चत्वारो दशतः परिमाणमस्य चत्वारिंशत् । पञ्च दशतः
परिमाणमस्य, पञ्चाशत् । षड्दशतः परिमाणमस्य षष्टिः । षष्टिस्तित्ययं त्योऽपदत्वं च । सप्त दशतः
परिमाणमस्य सप्ततिः । सप्तनस्तित्ययं स्यः । अष्टौ दशतः परिमाणमस्य अशीतिः । अष्टनः अष्टीभावः तिष्ठ

त्यः । नव दशतः परिमाणमस्य नवति । नवशब्दात्तिः । दश दशतः परिमाणमस्य शतम् ! दशानां शभावः तश्च त्यः । विशत्यादीनां क्वचित्संख्यानप्रधानत्वम्, क्वचित्संख्येयप्रधानत्वम् । लिङ्गवचन च स्वाभाविकत्वादेव सिद्धम् । इह यथाकथञ्चिद्द्व्युत्पत्तिः क्रियते । सहस्रादयोऽप्यनयैव दिशाऽनुगन्तव्याः । दशशतानि परिमाणमस्य, सहस्रम् । दशसहस्राणि परिमाणमस्य, अयुतम् ।

पञ्चदशतो वर्गं वा ॥३।४।५९॥ पञ्चन् दशन् इत्येतौ शब्दौ वर्गेऽभिभेये वा निपात्येते । तदस्य परिमाणमित्यस्मिन्वपये नित्ये कं प्राप्ते पक्षे ङदित्ययं त्यो निपात्यते । पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः । दशद्वर्गः । दशका वर्गः ।

तदर्हति ॥३।४।६०॥ तदिशीऽसमर्थादर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । श्वेतञ्छत्रमर्हति श्वेतञ्छत्रिकः । आभिषेचनिकः । वास्त्रयुगिकः । दाध्योदनिकः । शतिक ! शत्य इह भोजनमर्हतीत्यनभिधानान्न भवति । 'स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्' [३।१।७२] इत्येषाऽपि विधिरनभिधानान्नावतरति । ठणादय इमं योगं प्राप्य निवृत्ताः ।

प्राग्वत्तष्ठञ् ॥३।४।६१॥ तदहं वदति वक्षते । प्रागेतस्माद्भवत्संशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः तेषु ठञ्धिकृतो धेदित्वयः । वक्षति 'पारायणतुरायणचान्द्रायणं वतयति' [३।४।६८] पारायणिकः । 'प्राग्वत्तः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपि' इति द्वौ पारायणिकः । इह (ठणि) प्रकृते तस्योप् प्रसज्येत तेन ठञ्धिकृतः ।

छेदादेर्नित्यम् ॥३।४।६२॥ नित्यग्रहणमर्हतीत्यस्य विशेषणम् । छेदादिभ्यो नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । छेदं नित्यमर्हति छेदिकः । छेद । भेद । होह । द्रोह । तस्कर । नर्त । कर्ष । विकर्ष । विप्रकर्ष । प्रयोग । संप्रयोग । विप्रयोग । सम्प्रश्न । प्रेषण । विरागः विरङ्गं च ।

शीर्षच्छेदाद्यश्च ॥३।४।६३॥ नित्यमिति वर्तते । शीर्षच्छेदशब्दात् इप्समर्थात् नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति ठञ् च । शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेदिकः । अन्ये शिरश्छेदं नित्यमर्हतीति त्यसन्नियोगे शिरसः शीर्षभावं वर्णयन्ति । तदयुक्तं यत्नाभावात् । तस्मान्निश्चयविषय शिरःपर्यायः शीर्षशब्दोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

दण्डादेः ॥३।४।६४॥ नित्यमिति निवृत्तम् । दण्ड इत्येवमादिभ्योऽर्हतीत्यास्मिन्नर्थे यो भवति । ठञोऽपवादः । दण्डमर्हति दण्ड्यः । दण्ड । मुशल । मधुपर्क । कशा । अर्घ । मेघा । मेघ । वध । उदक । युग । इरु (भ) ।

पात्राद्घश्च ॥३।४।६५॥ तदर्हतीति वर्तते । पात्रशब्दाद्घो भवति चकाराद्यश्च । ठञोऽपवादः ! पात्रमिति परिमाणं च गृह्यते । पात्रमर्हति पात्रियः । पात्र्यः ।

कडङ्गरदक्षिणास्थालीविलाच्छश्च ॥३।४।६६॥ तदर्हतीति वर्तते । कडङ्गर दक्षिणा स्थालीविल इत्येतेभ्यश्छो भवति यश्च । ठञोऽपवादः । मुद्गादि क्राष्टं कडङ्गरम् । कडङ्गरमर्हति कडङ्गरीयो गौः । दक्षिणामर्हति दक्षिणीय । दक्षिण्यः । स्थालीविलमर्हति स्थालीविलीयाः स्थालीविल्यास्तएडुलाः । पाकार्हा इत्यर्थः ।

यज्ञत्विग्भ्यां घलञौ ॥३।४।६७॥ तदर्हतीति वर्तते । यज्ञ-ऋत्विक्शब्दाभ्यां यथासंख्यं घलञित्येतौ त्यौ भवतः । ठञोऽपवादः । यज्ञमर्हति यज्ञियः । आर्त्विजीनः । उपचारात्तत्कर्मापि तथोक्तम् । यज्ञकर्माहति, यज्ञियो देशः । ऋत्विक्कर्माहति, आर्त्विजीनं कुलम् ।

पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ॥३१४६८॥ तदिति वर्तते । पारायणतुरायणचान्द्रायणशब्देभ्य इप्समर्थेभ्यो वर्तयतीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । पारायणं वर्तयति पारायणिकः । शिष्य एवाभिधानं नाध्यापके । तुरायणं यज्ञं वर्तयति तौरायणिकः । यजमान एव न याजके । चान्द्रायणिकः ।

संशयमापन्नः ॥३१४६९॥ संशयशब्दादिप्समर्थादापन्न इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । संशयः, तमापन्ने कर्तृकर्मणी भवतः । तत्र कर्त्तरि पुरुषेऽभिधानं नास्ति । संशयं विषयभावेनापन्नः सांशयिकः । स्यात्वादि ।

योजनं याति ॥३१४७०॥ योजनशब्दादिप्समर्थाद्यातीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । योजनं याति योजनिकः । संख्यापूर्वपदादपि । द्वैयोजनिकः । ‘क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंख्यानम्’ [वा०] । क्रोशशतं याति क्रौशशतिकः । यौजनशतिकः । ‘ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम्’ [वा०] क्रोशशतादाभिगमनमर्हति क्रौशशतिकः । योजनशतिको गुरुः ।

पथः कट् ॥३१४७१॥ तदिति वर्तते । पथिशब्दादिप्समर्थाद्यातीत्यस्मिन्नर्थे कट् इत्ययं ल्यो भवति । पन्थानं याति पथिकः, पथिकी । द्वो पन्थानौ याति, द्विपथिकः, द्विपथिकी । दृढर्थे रसे कृते सान्तात्पूर्वनिर्णयेनायमिष्यते ।

पन्थो ण नित्यम् ॥३१४७२॥ नित्यग्रहणं यातीत्यस्य विशेषणम् । पथिशब्दादिप्समर्थान्नित्यं यातीत्यस्मिन्नर्थे णो भवति तत्सन्नियोगे पन्थ इत्ययञ्चादेशः । पन्थानं याति पन्थः । नित्यमिति किम् ? पथिकः ।

उत्तरपथेनाहृतं च ॥३१४७३॥ निर्देशादेव भाया उपादानम् । उत्तरपथशब्दाद् भासमर्थादाहृतं यातीति चानयोरर्थयोष्ठञ् भवति । उत्तरपथेनाहृतम्, औत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन याति, औत्तरपथिकः । ‘वारिजङ्गलस्थलकान्ताराजशङ्कुपुष्पदादाति वक्तव्यम्’ [वा०] वारिपथेनाहृतं वारिपथिकः वारिपथेन याति वारिपथिकः । एवमर्थद्वयोऽपि । जाङ्गलपथिकः । स्थालपथिकः । कान्तारपथिकः । आजपथिकः । शाङ्कुपथिकः । ‘मधुकमरिचयोः स्थलपूर्वाद्दण् वक्तव्यः’ । स्थलपथेनाहृतं स्थालपथं मधुकं मरिचं वा ।

कालेभ्यः ॥३१४७४॥ बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः । अधिकारोऽयम् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कालवाचिभ्य इत्येव तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति ‘तेन निवृत्तः’ [३१४७५] । मासेन निवृत्तम् मासिकम् । आर्द्धमासिकम् ।

तेन निवृत्तः ॥३१४७५॥ तेनेति भासमर्थेभ्यः कालवाचिभ्यो निवृत्त इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । मासेन निवृत्तः, मासिकः । सौवत्सरिकः प्रासादः ।

तमवो(घा)ष्टो भृतो भूता भावा ॥३१४७६॥ तमितीप्समर्थत् कालवाचिशब्दात् अवी(घी)ष्टो भृतो भूता भावीति एतेष्वर्थेषु ठञ् भवति । सकृत् न्युक्ताऽवी(घी)ष्टः । वेतनेन क्रीता भू (भृ)तः । मासमवो (घी)ष्टा भृतो भूता भावा वा मासिकः । आर्द्धमासिकः । सौवत्सरिकः । ‘कालाध्वन्यविच्छेदे’ [३१४७] इताम् । अवी(घी)ष्टम् (भृ) तयोरर्थयामासिकदेशो मुहूर्ते मासशब्दो वर्तते । तस्याऽध्यषणभरणक्रियाभ्यां व्याप्तेरवच्छेदः । भूतभावभ्यां तु खुसन्तया (स्वसन्तया) कालस्य व्याप्तेरवच्छेदः । सद् एव । इह पाठिं भूतः पाठिकः । साततिकः । इति कथं कालवाचित्वम् ? कालस्य संख्येयत्वात् कालविषयत्वाद्वा । रमणीयं कालं भूत इत्यत्राऽनभिधानान्न भवति ।

मासाद् वयसि खञ् ॥३१४७७॥ तमवी(धी)ष्टो भूतो भूतो भावीति वर्तते । मासशब्दाद् वयस्यभिधेये खञ् भवति । ठञोऽपवादः । वयसीति वचनात् । अवी(धी)ष्टभृतग्रहणं नाभिसम्बध्यते । मासं भूतो भावी वा, मासीनः । कथं भावि वयो विगमः इति चेत्, अग्रिष्टदर्शनात् । जकारः “अद्दृष्टदरक- विकारे” [४।३।१५१] इत्यत्र पुंवद्भावप्रतिषेधार्थः । मासीनो दुहितृकः । वयसीति किम् ? मासिकः ।

यः ॥३१४७८॥ मासशब्दाद् वयस्यभिधेये यश्च भवति । मासं भूतो भावी वा मास्यः । योग- विभाग उत्तरार्थः ।

रात् ॥३१४७९॥ मासाद् वयसीति वर्तते । मासान्ताद् राद् वयस्यभिधेये यो भवति । द्वौ मासौ भूतो भावी वा द्विमास्यः । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानामनुपीति ठञपवादयोर्गल्लोः प्राप्तयोरनेन यो विधीयते ।

षण्मासाण्यश्च ॥३१४८०॥ षण्मासशब्दाद् वयस्यभिधेये षणो भवति यश्च । षण्मासाद् भूतो भावी वा षण्मास्यः । षण्मास्यः । अन्ये चशब्देन ठञं समुच्चिन्वन्ति । यस्त्वनुवर्तनादेव भवति तेषां षण्मासिक इत्यपि ।

ठञ्चावयसि ॥३१४८१॥ षण्मासशब्दादवयस्यभिधेये ठो भवति एयश्चानन्तरः । षण्मासिको नायकः । षण्मास्यः ।

समायाः खः ॥३१४८२॥ अवी(धी)ष्टादयश्चत्वारोऽर्था अनुवर्तन्ते । समाशब्दादिप्समर्थादघोष्ठा- दिष्वर्थेषु खो भवति । ठञोऽपवादः । समामवी(धी)ष्टो भूतो भावी वा समीनः ।

राद् भूतबलेः ॥३१४८३॥ समाशब्दान्ताद् निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु खो भवति भूतबलेराचार्यस्य मतेन । नान्येषाम् । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति पूर्वेण नित्ये खे प्राप्ते विभाषेयम् । द्वे समे भूते भूतो भावी वा द्विसमीनः । द्वैसमिकः । त्रिसमीनः । त्रैसमिकः । कालः परिमाणग्रहणेन न गृह्यते । तेन “परिमाणस्याखुज्ञाणे” [१।२।२२] इति द्यौरैर्न भवति ।

राज्यहःसंवत्सरात् ॥३१४८४॥ रादिति वर्तते । अहन् संवत्सर इत्येवमन्तान्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन खो भवति । अहन् । द्वयहीनः । द्वैयहिकः । अत्रापि अहरन्तादिति वचनात् “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४।२।१३] इति सान्तो न भवति । अन्यथा “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।१०] इत्यह्लादेशे सति द्वयहीन इत्यनिष्टं रूपं स्यात् । द्वैयहिक इति चेप्यते । तत्कथं सिद्ध्यति ? द्वयोरहोः समाहारः टे सान्ते “न समाहारे” [४।२।११] इत्यह्लादेशप्रतिषेधे च सति सिद्ध्यति । संवत्सर, द्विसंवत्सरीणः । द्विसांवत्सरिकः । “संख्यायाः (संख्या) संवत्सरस्य” [१।२।२०] इति द्यौरादेरैप् ।

वर्षादुप् च ॥३१४८५॥ रादिति वर्तते । वर्षशब्दान्तान्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन ठञ उन्भवति खश्च । अन्येषां ठञेव । तेन त्रैरूप्यम् । द्वेवर्षे भूतः, द्विवर्षः, द्विवर्षाणः, द्विवार्षिकः । “वर्ष- स्यान्नाभिनि” [५।२।२१] इति द्यौरादेरैप् । भाविनि द्वैवार्षिक इति भवति ।

प्राणिन्युप् ॥३१४८६॥ पुनरुच्चग्रहणं नित्यार्थम् । वर्षशब्दान्ताद्प्राणिनि त्पार्थेऽभिधेये नित्यं त्य- स्योन्भवति । पूर्वेण विकल्पेन पक्षे ठञः भ्रवणं खश्च न भवति । द्वे वर्षे भूतो भावी वा द्विवर्षो दारकः । भूतभाविनोरेवार्थयोरर्थं नित्यमुबिष्यते नान्यत्र । द्वे वर्षे अघोष्ठा भू (भृ)तो वा कर्म करिष्यति, द्विवार्षिको मनुष्यः ।

तदस्य ब्रह्मचर्यम् ॥३१४८७॥ तदितीप्समर्थात्कालवाचिनो मृदोऽस्येति तार्थे ठञ् भवति यत्त- दिप्समर्थं तस्य व्यापकं त्पार्थस्य च स्वं ब्रह्मचर्यं चेद् भवति । मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिको ब्रह्मचारी । सम्बन्धो वृत्तावन्तभूत इति पुरुषोऽभिधेयः । एवम्, आर्धमासिकः । सांवत्सरिकः । “संख्यापूर्वपदाच्च”

द्वादशवार्षिकः । “ब्रह्मचर्यमित्यस्मिन्नर्थे महानाम्नादित्य उपसंख्यानम्” [वा०] । महानाम्नो नाम ऋच । महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यम्, माहानाग्निम् । आदित्यव्रतिकम् । गोदानिकम् । “तच्चरतीति च महानाम्न्यादित्य उपसंख्यानम्” [वा०] । महानाम्नीश्चरति माहानाग्निः । महानाम्नीसहचरितं व्रतं चरतीत्यर्थः । एवम्, आदित्यव्रतिकः । गोदानिकः । “अवान्तरदीक्षादिभ्यो ङिन् वक्तव्यः” [वा०] । अवान्तरदीक्षां चरति अवान्तरदीक्षा । देवव्रती । तिलव्रती । “अष्टाचत्वारिंशतो ङुडिङ्गौ च वक्तव्यौ” [वा०] । अष्टाचत्वारिंशद्दर्षाणि व्रतं चरति, अष्टाचत्वारिंशत्कः । अष्टाचत्वारिंशी । “चातुर्मास्यानां यत्नं च ङुडिङ्गौ च वक्तव्यौ” [वा०] । चातुर्मास्यानि चरति चातुर्मासिकः । चातुर्मासी । अथ किमिदं चातुर्मास्यानीति ? “चतुर्मासाण्यो यज्ञे तन्नभवे वक्तव्यः” [वा०] । चतुर्षु मासेषु भवन्ति चातुर्मास्यानि । “संज्ञायामण् वक्तव्यः” [वा०] । चतुर्षु मासेषु भवा पौर्णमासी चातुर्मासी । कात्तिकी । फाल्गुनी । आपादी चेति । अथ मासेऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं ब्रह्मचर्यम् । आर्धमासिकम् । सांत्सरिकमित्यस्य सिद्धये यत्नः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । मासं भूतं भावि वा ब्रह्मचर्यं मासिकमिति भविष्यति ।

तस्य दक्षिणा यज्ञाख्यात् ॥३॥४॥८८॥ तस्येति तासमर्थात् यज्ञाख्यान्मृदो दक्षिणोत्पस्मिन्नर्थे षञ् भवति । यज्ञमाचष्टे यज्ञाऽख्यः । कप्रकरणे उर्षाति (सुपि [२।२।७] इति) योगविभागे “मूलविमुजादिभ्यः” [वा०] इति (वा) कः । अग्निष्टोमस्य दक्षिणा अग्निष्टोमिकी । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यस्याऽणोऽपवादः । एवं राजसूयिकी । दासीदनिकी । अकालार्थं चाऽख्यग्रहणम् । अन्यथा कालाधिकारात् एकाहद्वादशाहप्रभृतिभ्य एव यज्ञेभ्यः स्यात् । प्राग्गतः संख्यापूर्वंपदानां तदन्तग्रहण-मनुषीति कालावि (घि) कारेऽपि द्वादशाहादिष्वस्ति प्राप्तिः ।

तत्र दीयते भववत् ॥३॥४॥८९॥ तत्रेतीप्समर्थात् कालवाचिनो मृदो दीयते इत्यस्मिन्नर्थे भव इव त्यविधिर्वेदितव्यः । यथा मासे भवं मासिकम् । आर्धमासिकम् । “कालाट्टञ्” [३।२।१३१] इत्येवमादिविधिः । एवं मासे दीयते मासिकम् । आर्धमासिकम् । प्रावृषेण्यम् । हैमनम् । शैशिरम् । वद्ग्रहणं सर्वसादृश्यायम् । इह कार्यग्रहणमपि कर्त्तव्यम् । मासिकम् । वासन्तम् । हैमनम् । कर्त्तव्यम्, यन्मासे कार्यं तन्मासे भवमित्यपि भवति । ततः “तत्र भवः” [३।३।२८] इत्येव सिद्धम् । रादनुवर्थं तर्हीह कार्यग्रहणं सार्थकम् । द्वयोर्मासयोः कार्यं द्वैमासिकम् । भवार्थलक्षणस्य षञः “रस्योन्नपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् प्रसज्येत । नेदं युक्तम् । उन्नेवात्रेभ्यते । यदन्यैरप्युक्तम् । कार्यग्रहणमप्यनर्थकम् । तत्र भवेन कृतत्वादिति । अथापि कार्यमनुपः प्रयोगो दृश्यते । एवं तर्हि “तेन कार्यं” मित्यत्र स द्रष्टव्यः । द्वाभ्यां मासाभ्यां कार्यं द्वैमासिकम् । “जय्यलभ्यकार्यसुकरम्” [३।४।१२] इति षञ् । तत्र दीयते इति योगविभागः कर्त्तव्यः । यज्ञाख्यादित्यनुवर्त्तते । अग्निष्टोमे दीयते अग्निष्टोमिकमन्नम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् । द्वयोर्वाजपेयोर्दीयते द्वैवाजपेयिकम् ।

व्युष्टाद्देरण् ॥३॥४॥९०॥ इह कलिभ्य इति नापेक्ष्यते । सामान्येन विधानात् । तत्रेति वर्तते । व्युष्ट इत्येवमादित्य ईप्समर्थे-यो दीयते इत्यस्मिन्नर्थेऽण् भवति । उद्धी विवास इत्यस्य क्ले व्युष्टमिति कालवाचि । व्युष्टे दीयते वैयुष्टम् । नित्यशब्दादोन्नतादपि वचनाद् भवति । तीर्थं । निष्क्रमणं । उपसंक्रमणं । प्रवेशनं । संग्रामं । संघातं । प्रवासं । उपवासं । अग्निपदी । पोलुमूलं । “अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] न कर्त्तव्यमिह पाठात् ।

तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां णयो ॥३॥४॥९१॥ अत्रापि कालेभ्य इति नापेक्ष (द्य) ते । दीयते इति वर्तते । तेनेति भासमर्थाभ्यां यथाकथाच-हस्तशब्दाभ्यां दीयत इत्यस्मिन्नर्थे यथासख्यं णयो भवतः । यथाकथाच दीयते याथाकथाचम् । अनादरदत्तमित्यर्थः । हस्तेन दीयते हस्तम् ।

जय्यलभ्यकार्यसुकरम् ॥३।४।६२॥ कालेभ्य इति वर्तते । तेनेति वासमर्थात् कालवाचिनो मृदो जय्य लभ्य कार्यं सुकर इत्येतेष्वर्थेषु ठञ् भवति । मासेन जय्यो मासिको हस्ती । मासेन शक्यते जेतुमित्यर्थः । मासेन लभ्यो मासिकः पटः । मासेन कार्यं मासिकं गृहम् । मासेन सुकरो मासिकः प्रासादः ।

सम्पादिनि ॥३।४।६३॥ कालेभ्य इति निवृत्तम् । वासमर्थान्मृदः सम्पादिन्यर्थे ठञ् भवति । कर्ण-वेष्टाभ्यां सम्पादि शोभते कर्णवेष्टिकं मुखम् । वस्त्रयुगेन सम्पद्यते वस्त्रयुगिकं शरीरम् ।

कर्मवेषाद्यः ॥३।४।६४॥ तेन सम्पादिनीति च वर्तते । कर्मवेष्टशब्दाभ्यां यो भवति । ठञोऽपवादः । कर्मणा सम्पद्यते कर्मण्यं शौर्यम् । वेष्टेण सम्पद्यते वेष्ट्या नर्तकी । नेपथ्येन शोभते इत्यर्थः ।

तस्मै प्रभवति सन्तापादेः ॥३।४।६५॥ तस्मै इति अप्समर्थेभ्यः सन्तापादिभ्यः प्रभवतीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । अलमर्थेऽप् । सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः । सन्ताप । सन्नाह । संयोग । संग्राम । सम्प्राय । सम्पेष । निष्पेष । निसर्ग । उपसर्ग । विसर्ग । प्रवास । उपवास । संघात । संमोहन । शक्तुमांसौदनाद् विगृहीतादपि । शाक्तुमांसौदनिकम् । शाक्तुकम् । मांसिकम् । औदनिकम् ।

योगाद्यश्च ॥३।४।९६॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते । योगशब्दाद्यो भवति ठञ् च । योगाय प्रभवति, योग्यः । यौगिकः ।

कर्मण उकञ् ॥३।४।६७॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते । कर्मशब्दादुक्ञ् भवति । कर्मणे प्रभवति कर्मुकं धनुः ।

समयस्तदस्य प्राप्तम् ॥३।४।६८॥ तदिति वासमर्थात्समयादस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति यत्तद्वासमर्थं प्राप्तं चेत्तद्भवति । समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकम् । प्राप्तकालमित्यर्थः ।

ऋतोरण् ॥३।४।९९॥ ऋतुशब्दात् वासमर्थात्प्राप्तोपाधिकदस्येति ताऽर्थेऽण् भवति । ऋतुः प्राप्तोऽस्य, आर्त्तवं पुष्पम् । “उपवस्त्रादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्त्रम् । प्राशिता प्राप्तोऽस्य प्राशितम् । कर्मनामधेयम् ।

कालाद्यः ॥३।४।१००॥ तदस्य प्राप्तमिति वर्तते । कालशब्दाद्यो भवति । कालः प्राप्तोऽस्य, काल्यं शीतम् । रात्रावुषितायामहरादिः कालोऽपि काल्यः ।

प्रकृष्टे ठः ॥३।४।१०१॥ तदस्येति वर्तते कालादिति च । प्रकृष्टे प्रकर्षं वर्तमानादस्येति ताऽर्थे ठो भवति । प्रकृष्टः दीर्घः कालोऽस्य कालिकम् ऋणम् । कालिकं सख्यम् । अन्ये प्रकृष्टे ठञिति पठन्ति । कालिका मैत्री ।

प्रयोजनम् ॥३।४।१०२॥ कालादिति निवृत्तम् । तदस्येति वर्तते । प्रयोजयतीति प्रयोजनम् । नन्द्यादिपाठाल्ल्युः । बहुलवचनाद्वा कर्त्तरि युट् । तदिति वासमर्थात्प्रयोजनोपाधिकदस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति । अर्हत्पूजाप्रयोजनमस्य आर्हत्पूजिकः । ऐन्द्रमहिकः ।

वंशाखावाहकैकागारिकडाकालिकट् ॥३।४।१०३॥ वैशाखादयः शब्दा निपात्यन्ते । यदत्र लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धं तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन्निषेधे । “विशाखावाहाभ्यां यथासंख्यं मन्थ-दण्डयोरणिनपात्यते ।” विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः । आषाढो दण्डः । “षष्टिरात्रेण पच्यन्ते इत्यस्मिन्वाक्ये कः । रात्रशब्दस्य च खम् ।” षष्टिका नाम ब्रीहयः । असंज्ञायां वाक्यमेव भवति । षष्टिरात्रेण पच्यन्ते मुद्गा इति । “एकागारशब्दात्तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन्नर्थं चौरैऽभिधेये ठञ् ।” एकागारं प्रयोजनमस्य ऐकागारिकश्चौरः । चौरादन्यत्र वाक्यमेव । एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति । अथवा “एकः समर्थः अगारमोचि-

तुभिति वाक्ये एक शब्दाणामाकारिकद्वित्यं त्यो निपात्यते । ऐकारिकश्चौरः । ऐकारिकी चौरी । समानकालशब्दाद्यन्तोपाधिविशिष्टादस्येति ताऽर्थे इकङ्निपात्यते समानकालस्य च आकाल आदेशः । समानकालावाद्यन्तावस्य आकालिकः स्तनयित्नुः । आकालिकी विद्युत् । यस्तु प्रादिलक्षणे से आकाल इष्टः । आवृत्तः काल ईषत्कालो वा आकाल इति । तस्मात् ठञ् च ठञ्चेष्यते । आकालिकी आकालिका विद्युत् ।

छोऽनुप्रवचनादेः ॥३॥४॥१०४॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते । अनुप्रवचनादिभ्यश्छो भवति । ठञोऽपवादः । अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य, अनुप्रवचनीयम् । अनुप्रवचन । उत्थापन । उपस्थान । संवेशन । प्रवेशन । अनुवाचन । अनुवचन । अनुपान । अनुवादन । अनुवासन । अन्वारोहण । प्रारोहण । आरोहण । आभरण । “विज्ञिपरिपादिहृदिप्रकृतेरनात्मपूर्वपदाहुपसंख्यानम्” [वा०] । गृहप्रवेशनीयम् । प्रपापूरणीयम् । अश्वप्रपदनीयम् । प्रासादरोहणीयम् । एतस्मिन्श्च वक्तव्ये सति यानि गणे विश्यादिप्रवृत्ती-त्यनान्तानि पठ्यन्ते तेषां पाठोऽनर्थकः प्रपञ्चाऽर्थो वा ।

समापनात्सादेः ॥३॥४॥१०५॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते । समापनशब्दात्सादेश्छो भवति । ठञोऽपवादः । जैनेन्द्रसमापनं प्रयोजनमस्य जैनेन्द्रसमापनीयम् । तर्कसमापनीयम् । “स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः” [वा०] । स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम् । वन्यम् । यशस्यम् । आयुष्यम् । काम्यम् । “पुण्याह-वाचनादिभ्य उक्तव्यः” [वा०] । पुण्याहवाचनं प्रयोजनमस्य पुण्याहवाचनम् । शान्तिवाचनम् । स्वस्ति-वाचनम् । अक्षतपात्रम् । नेदं वक्तव्यम् । तादर्थ्यात्ताच्छब्दं भविष्यति । अनभिधानाट्ठञ् भवति । “अद्वा-दिभ्योऽण् वक्तव्यः” [वा०] । अद्वा प्रयोजनमस्य श्राद्धम् । चूडा प्रयोजनमस्य चौडम् ।

तद्धे वत् ॥३॥४॥१०६॥ अर्हतीत्यर्हः, तदितीप्समर्थाद् अर्हतीत्यर्थे वद् भवति । राजानमर्हति राजानं (राजवद्) वृत्तम् । कुलीनवत् । इह कस्मान्न भवति शतमर्हति देवदत्तः । राजानमर्हति मणिः । उत्तरत्र क्रियाग्रहणं गुणभूतमपि सिंहावलोकनेन सम्बन्ध्यते तेन क्रिया यत्रार्हतेः कर्तृत्वेन विवक्षिता तत्राऽयं विधिः ।

तेन क्रिया तुल्ये ॥३॥४॥१०७॥ वदिति वर्तते । क्रिया तुल्या अस्य क्रियातुल्यम् । इच्छातो विशो-षणविशेषभाव इति क्रियाशब्दस्य पूर्वनिपातः । तेनेति भासमर्थात्क्रियातुल्येऽर्थे वद् भवति । क्षत्रियेण तुल्यं युष्यते क्षत्रियवद्युष्यते । “भाऽस्तुछोपमार्थ्या तुष्टार्थैः” [१।४।७६] इति भा । शिष्येण तुल्यं वर्तते, शिष्यवद् वर्तते । अश्ववद्भावति । साधुवद् ब्रूते । इह कस्मान्न भवति । तैलपाकेन तुल्योऽष्टत पाक इति ? इह सूत्रे बर्थः (द्वयर्था) क्रिया सा च साध्या पूर्वापरीभूताऽवयवा, असाध्यभूता च । घञाद्यन्तेन पुनर्व- (द्वय) र्थसव (ध) र्मः सिद्धतालक्षणो द्रव्यभूत उच्यते इति नास्ति प्राप्तिः । यदि घञाद्यन्तेन क्रिया नाभिधीयते कथं भोक्तुं पाकः भोजकस्य पाकः इति ? नैष दोषः ? “ब्रतु^२ यादि (वृष्टुमादि)” [२।३।८] सूत्रे घञाद्यन्तायाः प्रकृतेरर्थः क्रियाऽऽश्रीयते । क्रियाग्रहणं किमर्थम् ? ब्राह्मणेन तुल्यः पिङ्गलः । गुण-तुल्ये मा भूत् ।

तन्नेव ॥३॥४॥१०८॥ तन्नेतीप्समर्थात् इवार्थे वद् भवति । मथुरायामिव मथुरावत् स्रुध्ने प्रासादाः । मथुरावद् रमणीयता । मथुरावद् वर्षति ।

तस्य ॥३॥४॥१०९॥ इवशब्दोऽनुवर्तते । तस्येति तासमर्थादिवार्थे वद् भवति । देवदत्तस्य इव देवदत्तस्य वनम् । राज इव राजवद् देवदत्तस्याश्वाः । वत्प्रकरणे ‘स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्’ [३।१।७२]

१. “असत्त्वभूताश्च” इत्यपि पाठः । २. ब्रतुमादि पृ० ।

इत्येष विधिर्न भवति । “भादौ षोडशसुंस्त्वं” [३११५३] इति निर्देशात् । योगापेक्षं चेदं शापकम् । तेन स्त्रीवदित्यपि सिद्धम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

भावे त्वन्तलौ ॥३१४११०॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थाद् भावेऽर्थे त्वन् तल इत्येतौ लौ भवतः । नकारः “स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्” [३११७२] इत्यत्राऽस्यावधिरूपेण ग्रहणं मा भूत् इत्येवमर्थः । लकारस्तन्तः स्त्रियामिति विशेषणार्थः । भावः शब्दप्रत्ययप्रवृत्तिकारणम् । तद्यथा भवतोऽस्माच्छब्दप्रत्ययाविति भावः । उक्तं च “यस्य गुणस्य हि भाषाद्द्रव्ये शब्दविनिवेशः, तदभिधाने त्वन्तलौ” [१०० महा० ५११११९] इति । इह गुण इति विशेषणमात्रम्, द्रव्यमिति विशेष्यमात्रम् इष्टम् । अश्वस्य भावः, अश्वत्वम् । अश्वता । शुक्लत्वम् । शुक्लता । अत्र जातिगुणयोरभिधाने त्वन्तलौ । सम्बन्धस्तु गम्यो नाभिधेयः । इह पाचकत्वमिति क्रियाऽभिधाने । अथवा सम्बन्धप्रधानाः । सम्बन्धे चाभिधेये त्वन्तलौ । कारकत्वम् । औपगवत्वम् । राजपुरुषत्वमिति । एतेऽपि ये जातिगुणशब्दाः, तेभ्यो जातिगुणस्य चाभिधाने । कुम्भकारत्वम् । हस्तित्वम् । राजवृद्धत्वम् । ये गुणमात्रवचना रूपं रसो गन्ध इति, तेभ्यः सामान्याभिधाने रूपत्वम्, रसत्वम् । उपचारशब्देऽप्युपचारनिमित्तेऽभिधेये गोत्वं वाहीकस्य । अग्नित्वं माणवकस्य । पृथक्त्वं नानात्वमित्येवमादौ असत्त्वभूतत्वेऽपि शब्दान्तरेण तासमर्थता पृथगित्यस्य भाव इति । यदृच्छा-शब्देषु डित्यादिषु संज्ञासम्बन्धाभिधाने सर्वावस्थाव्याप्याकृतिसामान्याभिधाने च डित्यत्वम् । उक्ते-पणादिषु सामान्येऽभिधेये उक्तेपणात्वम् ।

आ च त्वात् ॥३१४१११॥ वक्ष्यति “ब्रह्मणस्त्वः” [३१४१२६] इति । आ एतस्मात् त्व संशब्दनाद्यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्त्वन्तलौ तत्राऽधिकृतौ वेदितव्यौ । अपवादविषये समावेशार्थं कर्मणि च विधानार्थमेव तावधिक्रियेते । वक्ष्यति “पृथ्वादेर्वेमन्” [३१४११२] प्रथिमा । पृथुता । ननु वावचनात् त्वन्तलौ स्वयमेव भविष्यतः ? नैतदेवम्, “प्यादेरिकः” [३१४१२१] इत्येवमादिसमावेशार्थं तद् वावचनम् । चकारकरणं किमर्थम् ? “स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्” [३११७२] इत्यस्मिन्नाप विषये प्रापणार्थम् । स्त्रीत्वम् । स्त्रीता । पुंस्त्वम् । पुंस्ता । प्राक्त्वादिति मर्यादाकरणसामर्थ्यादत्रपि सिद्धः । स्त्रिया भावः स्त्रैणम् । पौंसम् ।

पृथ्वादेर्वेमन् ॥३१४११२॥ पृथु इत्येवमादिभ्यो वा इमन् भवति तस्य भाव त्वस्मिन्विषय । वावचनं “प्यादेरिकः” [३१४१२१] इत्यस्याणः, गुणवचनेभ्यश्च्यणः, वयोवाचिभ्यस्त्वणः समावेशार्थम् । पृथोर्भावः, प्रथिमा, पार्थवम्, पृथुत्वम्, पृथुता । पृथु । मृदु । महि । पटु । तनु । लघु । बहु । आसु । ऊरु । बहुल । दण्ड । खण्ड । चण्ड । अकिञ्चन । बाल । होड । पाक । वत्स । मन्द । स्वादु । श्लु । वृष । ह्रस्व । दीर्घ । चिप्र । क्षुद्र । प्रिय ।

वर्णदृढादेष्ट्यण् च ॥३१४११३॥ वर्णशब्देन वर्णविशेषा गुणोपसर्जने द्रव्ये ये वर्तन्ते, तेषामिह ग्रहणम् । तादृशैरेव दृढादिभिर्गुणवचनैः साहचर्याद् वर्णविशेषवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च ट्यण् भवति इमंश्च वा तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । शुक्लस्य भावः शौक्यम्, शुक्लिमा, शुक्लत्वम्, शुक्लता । काष्ण्यम् । कृष्णिमा । शैत्यम्, शितिमा, शितित्वम् । विभाषाऽनुकर्षणादन (ण)पि भवति । शैतम् । दृढादिभ्यः । दृढस्य भावः, दाढ्यम्, द्रढिमा, दृढत्वम्, दृढता । दृढशब्दस्य क्षुब्धादिषु अनिट्त्वं दत्तं च निपात्यते । दृढ । परिवृढ । कृश । भृश । चुक्र । अम्स । लवण । “वेर्यात्कारसमतिमनःशारदानाम्”

१. त्वत्तलौ अ०, पू० । २. त्वत् अ०, पू० । ३. -ब्दविनिवेशः पा० महा० । ४. त्वत्तलौ पा० महा० । त्वत्तलौ अ०, पू० । ५. त्वत्तलौ अ०, पू० ।

[ग० सू०] वैयात्यम् । वैलात्यम् । वैरस्यम् । । वैशाद्यम् । “समो मतिमनसोः” [ग० सू०] । साम्प्रत्यम् । साम्प्रनस्यम् । शीत । उष्ण । जड । बधिर । मूक । मूर्ख । पण्डित । मधुर इति । किमर्थमिदमुच्यते ? एषां गुणोक्तित्वादेव “गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः” [३।४।११४] इत्येव व्यण् सिद्धः इमप्रापणार्थम् । एतत् व्यण्ग्रहणमुत्तरत्राऽवश्यकसंख्यमिहैव कृतम् ।

गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥३।४।११४॥ गुणोक्तिभ्यः शब्देभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यष्ट्यण् भवति कर्मणि भावे चाभिधेये । उच्यते इत्युक्तिः, गुण उक्तिर्यस्य स गुणोक्तिः । प्राग्गुणमुक्त्वा गुणद्वारेण द्रव्ये यो वर्तत इत्यर्थः । जडस्य कर्म भावो जाड्यम् । मीट्यम् । ब्राह्मणादिराकृतिगणः । आदिशब्दस्य प्रकारवाचित्वात् । एवं च गुणोक्तिग्रहणं गणे च ब्राह्मणादीनामनुक्रमणं स्वार्थेऽपि भवतीति प्रपञ्चार्थम्, बाधकबाधनार्थं च । ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मण्यम् । वाडव्यम् । ब्राह्मणात् प्राणिजातिलक्षणोऽञ् प्राप्तः । माणव वाडव वृद्धलक्षणो बुञ् प्राप्तः । “अर्हतो नुञ्च” [वा०] नुमर्थः पाठः । चोर । धूर्त्त । मनोज्ञादित्वाद् बुञ् प्राप्तः । आराव(घ)य । विराव(घ)य । उपराव(घ)य । अपराव(घ)य । एते “उपचोलादेः” [३।१।१२६] इत्युबन्ताः । ततो वृद्धलक्षणो बुञ् प्राप्तः । प्राणिजातिलक्षणो वाऽञ् । एकभाव । द्विभाव । त्रिभाव । अन्यभाव । एतेभ्यः स्वार्थे । अद्वैतज्ञानञ् पूर्वार्थं ग्रहणम् । संवादिन् । संवेशिन् । संभाषिन् । बहुभाषिन् । शीर्षघातिन् । समस्थ । परस्थ । प्रस्थ^१ । आव्यस्थ । विषमस्थ । विशाल । एवं नञ्पूर्वार्थं ग्रहणम् । अनीश्वर नञ्पूर्वार्थपाठः । कुशल । चपल । निपुण । पिशुन । एभ्यो युवादित्वाद्गण प्राप्तः । वालिस (श) बालवशोवाधि(चि)त्वाद्गण प्राप्तः । अलस । बसो^२ऽयम् । इष । रुष । कापुरुष । अनयोर्नञ्पूर्वार्थम् । राजनपुरोहितादित्वात्पण्यः प्राप्तः । गणपति । अधिपति । पत्यन्तलक्षणो गयः प्राप्तः । गण्डुल । दायाद । विशक्ति । विशाप । विधान । निघात । एभ्यस्तत्तलोर्निवृत्त्यर्थम् । “सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे” [वा०] । सार्ववैद्यम् । सार्वलौक्यम् । घानुवैद्यम् । अनुशक्तिकादित्वाद्गुणभयत्रैप । त्रैलोक्यम् । चातुर्वैद्यम् । “वीरात्तेजस यः” [वा०] । वीरस्य तेजः वीर्यम् । “विशेषेऽण् वक्तव्यः” [वा०] । वैरम् । व्यणष्टिकरणं ङ्यर्थम् । आचिती । सामग्री । “हृत्तो हृतो ङ्याम्” [४।४।१४०] इति यत्नम् ।

नञ्सेचतुरसंगतलक्ष(व)णवडबुधकतरसलसेभ्यः ॥३।४।११५॥ प्रतिपदोक्ते नञ्से कृते चतुर संगत लक्षण (लवण) वड बुध कत रस लस इत्येतेभ्य एव भावकर्माभिधायिनस्त्या भवन्ति । ननु ग्रहणवदयो विहिताः कथं तदन्तेभ्यः प्राप्नुवन्ति ? येनायं नियम उच्यते । ब्राह्मणादेशकृतिगणत्वान्नञ्पूर्वादिपि यण् (ट्यण्) प्राप्नोति । पत्यन्ताद्विहितो गयः, हायनान्तादण्, योङो बुञ्पूर्वादिपि प्राप्नोति । न चतुरः अचतुरः, तस्य भावः कर्म वा आचतुर्यम् । आसंगत्यम् । आलवण्यम् । आवड्यम् । आबुध्यम् । आकत्यम् । आरस्यम् । आलस्यम् । एतेभ्य एव नञ्से कृते यथा स्युर्नान्येभ्य इति । अपटुत्वम् । अपटुता । अपतिलम् । अपतिता । (अ)हायनत्वम् । (ल) तलोर्नियमात्त्रिचूर्तिर्न भवति, आ चलादिति वचनात् । प्रतिपदग्रहणं किमर्थम् ? नञ्पूर्वाद् बसात् भाववचनो यः प्राप्नोति स भवत्येव । न विद्यते पटुरस्य, अपटुः, अपटोर्भावः आपटवम् । अपतेर्भावः आपत्यम् । आहायनम् । आरमणीयकम् । अय यत्र नञ्सस्य हृद्वृत्तेश्चैकमेव वाक्यं तत्र कथं भवितव्यम् न पटोर्भाव इति ? हृद्वृत्त्या प्राग्भवितव्यं पश्चान्नञ्सः । आपटवमिति । न कर्णवेष्टाऽभ्यासपादिमुखम् अकारणवेष्टिकम् । चतुरादिर्ष्वभिधानवशान्नञ्सः । पश्चाद् भावे त्यः । न चतुरस्य भाव आचतुर्यम् ।

स्तेयसख्ये ॥३।४।११६॥ स्तेय सख्य इत्येते शब्दरूपे निपात्येते, स्तेनशब्दान्तासमर्थात् भाव-
कर्मणोर्यः, नशब्दस्य च खं निपात्यते । स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् । यण् (ट्यण्) चात्रेभ्यते ।
स्तैयम् । सखिशब्दाद् भावकर्मणोर्यः । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् । “दूतवणिगर्भ्या यो वक्तव्यः” [वा०]
दूतस्य भावः कर्म वा दूत्या । वणिग्या ।

कपिह्वातेर्दञ् ॥३।४।११७॥ कपि-ज्ञातिशब्दाभ्यां तासमर्थाभ्यां टञ् भवति भावे कर्मणि
चाभिधेये । कर्पेर्भावः कर्म वा कापेयम् । इगन्तत्वाद्दण् प्रातः । ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातैयम् । प्राणि-
जातित्वाद्दञ् प्रातः । लत्तलावपि भवतः । कपित्वम् । कपिता । ज्ञातित्वम् । ज्ञातिता ।

पत्यन्तपुरोहितादेर्यः ॥३।४।११८॥ पत्यन्तपुरोहितादेश्च एयो भवति । तस्य भावे कर्मणि
चेति वर्तते । बृहस्पतेर्भावः कर्म वा, बार्हस्पत्यम् । सैनापत्यम् । इगन्तत्वाद्दण् प्रातः । पुरोहितादिभ्यः ।
पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम् । राज्यम् । पुरोहित । “राजन्नसे” [ग० सू०] । अस इति किम् ?
सौराज्यम् । ब्राह्मणादित्वाट्ट्यण् । ग्रामिक । खण्डिक । दण्डिक । कर्मिक । वस्तिक^१ । शिल्पिक । सूचिक ।
अञ्जलिक । कुत्रिक । वर्षिक । प्रतिक । सारथिक । सांजनिक । आजनिक । सारात्तसूचक । ब्राह्मणादे-
राकृतिगण्यत्वाट्ट्यणि सिद्धे स्त्रियां टावर्थं वचनम् ।

वयोवाक्प्राणिजात्युद्गात्रादिभ्योऽञ् ॥ ३।४।११९ ॥ वयसो वाम्यः प्राणिजातिवाचिभ्य
उद्गात्रादिभ्यश्चाञ् भवति । तस्य भावे कर्मणि चेति वर्तते । कुमारस्य भावः कर्म वा, कौमारम् । कैशारम् ।
कालभम् । प्राणिजातिभ्यः । आश्वम् । औष्ट्रम् । माहिषम् । उद्गातुर्भावः कर्म वा, औद्गात्रम् । उद्गात् ।
उन्नेत् । प्रतिहन्त् । प्रशास्तु^२ । होत् । भर्त् । रथगणक । पङ्क्तगणक । सुष्टु । दुष्टु । अध्वयु^३ ।
वधू ।

हायनान्त्युवादिभ्योऽण् ॥३।४।१२०॥ हायनान्तेभ्यो युवादिभ्यश्चाण् भवति । तस्य भावे
कर्मणि चेति वर्तते । अययोवाचित्वे हायनान्ताः प्रयोजयन्ति । द्विहायनस्य युवादेर्भावः कर्म वा, द्वैहायनम् ।
त्रैहायनम् । युवादिभ्यः—यूनो भावः कर्म वा यौवनम् । मनोशादित्वाद् वुञ् प्रातः; अनेनाण् । “अन^१
अणि” [४।४।११८] इति टिल्प्रतिषेधः । पूर्वे सूत्रे यद्यण्ग्रहणं क्रियेत हस्तिनो भावः कर्म वा हास्त-
मित्यत्र “प्रायोऽनपत्येऽणोनः” [४।४।१५५] इति टिल्प्रतिषेधः प्रसज्येत । मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि,
युवतेर्भावः “भस्य ह्यखे” [वा०] इति पुंवद्भावे कृते यौवनम् । युवन् । यजमान । “पुरुषादसे” [ग०सू०]
अस इति किम् ? राबपौरुष्यम् । अपुरुषत्वम् । कर्त् । ऋत्विक् । कन्दुक । श्रवण । कुस्त्री । दुःक्री ।
सुस्त्री । सुहृदय । सुहृत् । दुहृत् । सुभ्रात् । दुभ्रात् । वृषल । परिव्राजक । सन्नहाचारिन् । अनृशंस ।
“हृदयादसे” [ग०सू०] अस इति किम् ? अहृदयत्वम् । चपल । निपुण । पिशुन । कुत्तल । क्षेत्रज्ञ । भो
त्रियस्य भावः कर्म वा भौत्रम् । उद्गात्रादिरत्रैव पठितव्य इति चेत् ; न; अस्याऽनित्यत्वात् । तेनानृशंसमिति
सिद्धम् ।

व्यादेरिकः ॥३।४।१२१॥ व्यादिग्रहणमिको विशेषणम् । घि आदिर्यस्येकः स ध्यादिः, ध्यादिर्य
इक् तदन्तान्मृदोऽण् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते । शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् । नखरजनि ।
नाखरजनम् । हरीतकी । हरीतकम् । पृथु । पार्थवम् । वधू । वाधवम् । पितृ । पैत्रम् । व्यादिग्रहणं
मृत्समुदायस्य विशेषणमित्यन्ये । ध्यादेर्मृद इगन्तात् । कृशानु । कार्शानवम् । प्रतिहृत् । प्रातिहार्त्रम् ।

१. वस्तिक अ०, पू० । २. प्रमात् अ० । ३. सूत्रम् “अनः” इत्येव । अशीत्यनुवृत्तभिप्रायेण
“अनः अणि” इति ।

इह (विश्व) ना च विनरो । चित्रे (विनु) भावः कर्म वा परत्वाद्वन्द्वलक्षणो बुञ् । चैत्र (वैत्र)-
कमिति । कथं काव्यम् ? कविशब्दो ब्राह्मणादिषु पठनीयः । ध्यादेरिति किम् ? पाण्डुत्वम् । पाण्डुता । इह
इति किम् ? वकुलत्वम् ।

योडो रूपोत्तमाद् बुञ् ॥३१४१२२॥ त्रिप्रभृतीनामन्यम् उत्तमम्, उत्तमस्य समीपमुत्तमम्,
रुपोत्तमं यस्य मृदुः, तद्रूपोत्तमम् । योडो मृदो रूपोत्तमाद् बुञ् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते ।
रमणीयस्य भावः कर्म वा, रमणीयकम् । श्रौपाध्यायकम् । योड इति किम् ? कापोतम् । रूपोत्तमादिति
किम् ? क्षात्रियम् । कुवलयत्वम् । रूपान्त्यादिति वक्तव्ये उत्तमग्रहणं त्रिप्रभृतिनामचां परिग्रहार्थम् ।
तेनेह न भवति । कायत्वम्, कायता । कथं ज्ञायते तमशब्दोऽयमातिशयिकः । अयमेतेषामतिशयेन
उद्गततम इति, “सन्महस्परमोत्तमोऽकृष्टम्” [११३।५६] इति निपातनात् । “किमेभिर्कृष्णाम्बुव्ये”
[४।१२०] इति आम्न भवति । अव्युत्पन्नं वा मृद्रूपम् । त्रिप्रभृत्यन्तवाचि द्युपोत्तमादिति सिद्धे
रुग्रहणंमनेकहल्लव्यवधानेऽपि प्रापणार्थम् । आचार्यकम् इति । “सहायाद्वैत वक्तव्यम्” [वा०] । साहाय-
कम् । साहाय्यम् ।

द्वन्द्वमनोज्ञादेः ॥३१४१२३॥ द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च बुञ् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते ।
कुरुकाशीनां भावः कर्म वा कौरकाशिका । भारतबाहुबलिका । श्रैपालवसुपालिका । मनोज्ञादिभ्यः । मनोज्ञस्य
भावः कर्म वा, मानोज्ञः । प्रियरूप । आदो (आभि) रूप । कल्याण । मेधाविन् । आद्य (द्य) । सुकुमार ।
कुलपुत्र । छान्दस । छात्र । श्रोत्रिय । चौर । धूर्त । वैश्वदेव । युवन् । यौवनिका । “प्रकृत्याऽके राजन्व-
मनुष्ययुवानः” [वा०] इति प्रकृतिभावः । ग्रामपुत्र । ग्रामलण्ड । ग्रामकुमार । अमुष्यपुत्र । अमुष्यकुल ।
शरपुत्र । गोत्र ।

वृद्धचरणाच्छ्लाघाऽत्याकाराघेते ॥३१४१२४॥ वृद्धवाचिनश्चरणवाचिनश्च मृदो बुञ् भवति
भावकर्मणोरर्थयोः श्लाघादिषु विषयभूतेषु द्योत्येषु वा । श्लाघो विक्रथनं स्मय इत्यर्थः । अत्याकारः परावि-
(धि) क्षेपः । अवेतः अवगतः । गार्गिकया श्लाघते । गार्गिकया अत्याकुरुते । गार्गिकामवेतः । चरणात् ।
काठिकया श्लाघते । काठिकया अत्याकुरुते । काठिकामवेतः । श्लाघादिष्विति किम् ? काष्ठेन प्रसिद्धः ।
प्राणिजातिलक्षणोऽञ् ।

होत्राभ्यश्छुः ॥३१४१२५॥ होत्राशब्द ऋत्विजां वाचकः । बहुलनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः । होत्राभ्य
ऋत्विग्विशेषवाचिभ्यः शब्देभ्यश्छो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । अच्छावाकस्य भावः कर्म वा, आच्छावाकीयम् ।
मैत्रावरुणीयम् । ब्राह्मणाच्छंसीयम् । अच्छावाकत्वम् । अच्छावाकता । अथवा होत्रा कठः । अच्छावाकशब्द-
सहचरिता ऋक् अच्छावाक् । मैत्रावरुणीशब्दसाहचर्याद् मैत्रावरुणी । ब्राह्मणाच्छंसिशब्दसहचरिता ऋक्
ब्राह्मणाच्छंसी । “होत्राभाः स्वार्थे को (छो) वक्तव्यः” [वा०] । होत्रैव होत्रीयः ।

ब्रह्मणस्त्वः ॥३१४१२६॥ ब्रह्मशब्दात् होत्रावाचिनस्त्वो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । ब्रह्मणो भावः
कर्म वा ब्रह्मत्वम् । पुनरारम्भः तलादिनिवृत्त्यर्थः । यस्तु जातिवाची ब्रह्मशब्दः ब्राह्मणपर्यायः, ततस्त्वतलौ
भवतः । ब्रह्मत्वम् । ब्रह्मता ।

धान्यप्ररोहणे खञ् ॥३१४१२७॥ भावकर्मग्रहणं निवृत्तम् । तस्येति वर्तते । प्रकर्षेण रोहन्ति
धान्यान्यस्मिन् प्ररोहणं क्षेत्रमित्यर्थः । धान्यविशेषवाचिभ्यः प्ररोहणेऽभिधेये खञ् भवति । प्रियङ्गणां प्ररो-
हणं क्षेत्रं प्रैयङ्गवीणम् । मौद्गीनम् । गौधूमीनम् । धान्यानामिति किम् ? तृणानां प्ररोहणं चत्वरम् । प्रग्रहणं

किम् ? रोहणमित्युच्यमाने मुद्गानां रोहणः कुशल इत्यत्रापि प्राप्नोति । प्रग्रहणे पुनः सति प्रकर्षेण रोहण-
स्मिन् प्ररोहणं केदारदि क्षेत्रमित्युक्तं भवति ।

ब्रीहिशालेढञ् ॥३१४१२८॥ ब्रीहिशालिशब्दाभ्यां तासमर्थाभ्यां प्ररोहणेऽर्थे ढञ् भवति । खजोऽ-
पवादः । ब्रीहीणां प्ररोहणं क्षेत्रं त्रैहयम् । शालेयम् ।

यवयवकषष्टिकाद्यः ॥३१४१२९॥ यवादिभ्यस्तासमर्थेभ्यः प्ररोहणेऽर्थे खञ् भवति यश्च ।
उमाभङ्गयोरधान्यत्वेऽपि वचनाद्भवति । धान्यानि लोके प्रसिद्धानि मुद्गादीनि । “यवाश्च मे विष्ठाश्च” इत्यादौ
पठितानीत्यपरे । तिलानां प्ररोहणं तैलीनम्, तिल्यम् । माषीणम् । माष्यम् । श्रौमीनम्, उग्यम् । भाङ्गीनम्,
भङ्ग्यम् । आणवीनम्, आणव्यम् ।

सर्वचर्मणः कृतः कश्च ॥३१४१३०॥ कृतशब्दः कर्मणि । तदपेक्षया तासमर्था प्रकृतिः ।
सर्वचर्मशब्दात् कृत इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति खञ् च । सर्वचर्मणा कृतः सर्वचर्मीणः, सर्वचर्मोणः ।
यद्येवं सर्वशब्दस्य कृत इति त्थार्थमपेक्षमाणस्य चर्मणा सह सो न प्राप्नोति । अतएव निपातनाद् भवति ।

यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः ॥३१४१३१॥ दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनो दर्पणादिः ।
यथामुखसम्मुखशब्दाभ्यां तासमर्थाभ्यां दर्शन इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । मुखस्य सदृशोऽर्थो यथामुखम् ।
अतएव निपातनात् “असादृश्ये” [१३१६] इति हसप्रतिषेधो न भवति । समं मुखमस्य प्रतिबिम्बस्य
सम्मुखम् । समं वा मुखम्, सम्मुखम् । निपातनात्समशब्दान्तखम् । यथामुखं दर्शनः, यथामुखीनः ।
सम्मुखस्य दर्शनः सम्मुखीनः । कर्मणि ता ।

पथ्यङ्कर्मपत्रपात्रमाप्नोति सर्वादेः ॥३१४१३२॥ निर्देशात्समर्थविभक्त्युपादानम् । पथिन्
अङ्ग कर्मन् पत्र पात्र इत्येवमन्तात् सर्वशब्दादेर्मृद इप्समर्थादाप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । सर्वपथानाप्नोति
सर्वपथीनमुदकम् । सान्तस्तद्ग्रहणेन गृह्यते । सर्वाङ्गीणः पटः । सर्वकर्मीणः पुरुषः । सर्वपत्रीणः सारथिः ।
सर्वपात्रीण आदहनः । सर्वादेरिति किम् ? पन्थानमाप्नोति ।

आप्रपदम् ॥३१४१३३॥ आप्रपदशब्दादाप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । प्रवृद्धं पदं प्रपदम् ।
पदस्योपरि गुल्फः, पदाग्रं वा । आ प्रपदादाप्रपदम् । “पर्यपाङ्कहिरिश्चः कया” [१३११०] इति
हसः । क्रियाविशेषणमिदं वान्तम् । ततो वचनात्स्यः । आप्रपदमाप्नोति आप्रपदीनः कम्बलः ।

सर्वाङ्गीनानुपदीनायानयोनागवीनाद्यश्वीनाः ॥३१४१३४॥ सर्वाङ्गीन, अनुपदीन, अयानयीन
आगवीन, अद्यश्वीन इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । सर्वाङ्गशब्दादिवन्ताद् भक्षयतीत्यस्मिन्नर्थे खो निपात्यन्ते ।
सर्वाङ्गानि भक्षयति सर्वाङ्गीनो भिक्षुः । पदसदृशमनुपदम्, यथार्थं हसः । अनुपदशब्दाद् वान्ताद्बद्धेत्य-
स्मिन्नर्थे खः । अनुपदं बद्धा अनुपदीना उपानत् । पदप्रमाणेत्यर्थः । अयः प्रदक्षिणम्, अयनः प्रसव्यम् ।
प्रदक्षिणसप्रसव्यमागामिना यस्मिन् परं पदानामसमावेशः सोऽयानयः । अयादप्रवृत्तोऽनयः, अयानयः ।
मयूरभ्यसकृाद्वत्त्वात् [१३१६६] सविधिः । अयानयशब्दादिवन्ताद् नेय इत्यस्मिन्नर्थे खः । अयानयं
नेयः शारोऽयानयीनः । स्वस्यां दिशि फलकशिरोगत इत्यर्थः । गोरपृष्ठादागोः प्रतिदानात्कर्म करोतीत्य-
स्मिन्नर्थे खः । आगवीनः कर्मकरः । या गवां भूतः कर्म करोति आ तस्य गोः प्रत्यर्पणात्स एवमुच्यते ।
अद्यश्वःशब्दादासन्ने । वजनने खो निपात्यन्ते । अद्य श्वो वा विजनिष्यते अद्यश्वीना गौः । अद्यश्वीना वडवा ।
केचिद् विजनिन इति विशेषणं नेच्छन्ति । आसन्नमात्रे निपातयन्ति । अद्यश्वीनो वियोगः । अद्यश्वीनं
मरणम् ।

परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ॥३१४१३५॥ निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । परोवरपरम्परपुत्रपौत्र इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्योऽनुभवतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । पराँश्च अवराँश्च अनुभवति परोवराँणः । त्यसन्नियोगे परोवरभावो निपात्यते । पराँश्च परतराँश्च अनुभवति परम्परीणः । त्यसन्नियोगे परपरतरयोः परम्परभावः । कथं मन्त्रिपरम्परा मन्त्रं भिनत्तीति प्रयोगः ? शब्दान्तरमप्यस्ति । पुत्रपौत्राननुभवति पुत्रपौत्रीणः ।

अवारपारात्यन्तानुकामंगामी ॥३१४१३६॥ अवारपारं अत्यन्त अनुकाम इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो गामीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । गमिष्यतीति गामी । “आवरयकाऽधमर्थयोषिन्” [२।३।१४६] इति आवरयकार्थे णिन् । वत्स्यकालभावस्य “गम्यादिवर्चयति” [२।३।१] इति वचनात् । अवारपारं गामी अवारपारीणः पोतः । विगृहीतादपि भवति । अवारीणः । पारीणः । “विपरीताच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] पारावारीणः । अतएव निपातनात्पारस्य वा पूर्वनिपातः । अन्तस्याभावोऽत्यन्तम् । “क्रु” [१।३।५] इति अर्थाभावे हसः । अथवा अन्तमतिक्रान्तः अत्यन्तः । “तिक्रुप्रादयः” [१।३।८१] इति षसः । हसपक्षे वान्तादपि वचनात्क्षः । अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः । कामस्याऽनुरूपमनुकामम् । यथार्थे हसः । अनुगतो वा कामः, अनुकामः । अनुकामं गामी अनुकामीनः ।

समां समां विजायते ॥३१४१३७॥ समा संवत्सरः । तदेकदेशे समाशब्द उपचरितः । विजननक्रियायाऽवश्याविच्छेदात् “काष्ठाध्वन्यविच्छेदे” [१।४।४] इतीप् । वीप्सायां द्वित्वम् । समां समां शब्दाद्विजायते इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । मृदवि (धि) कारेऽपि सुवन्तसमुदायाद् वचनात्स्यः । समां समां विजायते समांसमीना गौः । समांसमीना वडवा । त्ये कृते “सुपो धुमृदोः” [१।४।१४२] इति सुप उप् । पूर्वपदे सुपोऽनुबन्धव्यः । यदा संवत्सरे समाशब्दः प्रवर्तते तदा समायां समायामिति विग्रहेऽपि समांसमीना गौः । त्यविषये पूर्वपदस्य समां भावो निपात्यते, उत्तरपदस्य च पादः खम् । परिशिष्टस्य तु सुपः “सुपो धुमृदोः” [१।४।१४२] इत्युप् ।

अनुग्वलंगामी ॥३१४१३८॥ अनुग्विति क्रियाविशेषणम् । अनुगुशब्दात् अलङ्गामी इत्येतस्मिन्नर्थे खो भवति । गवां पश्चात् अनुगु । पश्चादर्थे हसः । अनुगु अलङ्गच्छति अनुगवीनः ।

यखावध्वनः ॥३१४१३९॥ इवत्र समर्था संभवति अध्वशब्दादिसमर्थदलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे यखौ त्यौ भवतः । अध्वानमलङ्गच्छति अध्वन्यः, अध्वनीनः यदा यस्तदा “येऽखौ” [४।४।१५६] इति टिखप्रतिषेधः । अन्यत्र “खेऽध्वनः” [४।४।१६०] इति टिखाभावः ।

छुश्चाऽभ्यमित्रात् ॥३१४१४०॥ अमित्रमभि अभ्यमित्रम् । “वीप्सेत्थंभूतछक्षयोऽभिनेप” [१।४।११] इतीप् । “छक्षणेनाभिसुख्येऽभिप्रती” [१।३।११] इति हसः । क्रियाविशेषणमेतत् । अभ्यमित्रशब्दाद् वासमर्थादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे छो भवति यखौ च । अभ्यमित्रमलङ्गच्छति, अभ्यमित्रीयः, अभ्यमित्र्यः, अभ्यमित्रीणः ।

गौष्टीनाश्वीनकौपीनशालीनब्रातीनसासपदीनहैयङ्गवीनम् ॥३१४१४१॥ गौष्टीनादयः शब्दा निपात्यन्ते । गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठः । “सुपि” [२।२।७] “स्थः कः” [२।१।८] इति कः । गोष्ठशब्दाद् भूतपूर्वोपाधिकत्वात् स्वार्थे खन् निपात्यते । गोष्ठो भूतपूर्वो गौष्टीनो देशः । चरटोऽपवादः । अरव-

शब्दात् तासमर्थादिकाहगम इत्यस्मिन्नर्थे खञ् । गम्यते गमः । एकमहः, एकाहः । एकाहेन गमः, एकाह-
गमः । “साधनं कृता” [१।३।२३] इति सः । अश्वस्य एकाहगम आश्वीनोऽध्वा । आश्वीनानि पञ्चदश-
योजनानि । कूपावतरणशब्दादिपसमर्थाद्दृहतीत्यस्मिन्नर्थे खञ्, छुखं च निपात्यतेऽकार्येऽभिधेये । कूपावतरण-
महति कौपीनं पापम् । करोतिः क्रियासामान्येन वर्तते । तेनाऽद्रष्टव्यमप्यकार्यम् । कौपीनमिन्द्रियम् । तात्स्थ्याद्
वल्गमपि । शालाप्रवेशशब्दादिपसमर्थाद्दृहतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते छुखं चाष्टष्टेऽभिधेये । शालाप्रवेश-
महति शालीनः । अप्रगल्भ इत्यर्थः । व्रातकर्मशब्दाद् भासमर्थाज्जीवतीत्यस्मिन्नर्थे खञ्, छुखं च । नाना-
जातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः संघा व्राताः । उत्सेधः शरीरम्, तदायासेन ये जीवन्ति ते उत्सेध-
जीविनः । व्रातकर्मणा जीवति व्रातीनः । तेषामेव व्रातानामन्यतमो यस्त्वन्व्यो व्रातकर्मणा भारोद्वहनेन
जीवति स व्रातीन इति नेष्यते । सप्तपदशब्दाद् भासमर्थाद्वाप्यते इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते सख्येऽभिधेये ।
सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनं सख्यम् । कथं साप्तपदीनं मित्रमिति सामानाधिकरण्यम् ? अर्शआदिपाठाद-
कारो मत्वर्थयो द्रष्टव्यः । ह्योगोदोहशब्दात्तासमर्थाद्विकार इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते प्रकृतेश्च हियङ्कु-
भावः । संज्ञायां ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनम् । अभिनवष्टतस्य संज्ञाषा । अन्यत्र ह्योगोदोहस्य विकारः,
अणि, ह्योगोदोहं तक्रम् ।

भूतपूर्वे चरट् ॥३।४।१४२॥ पूर्वं भूतो भूतपूर्वः । “काळाः” [१।३।२५] इति क्लान्तेन षसः ।
अतएव निपातनादेवंजातीयेषु पूर्वशब्दस्य परनिपातो द्रष्टव्यः । भूतपूर्वे षन्ड्याम्मृद्रूपं वर्तते तस्मात्स्वार्थे चरड्
भवति । आढ्यो भूतपूर्व आढ्यचरः । आढ्या भूतपूर्वा आढ्यचरी । “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्-
भावः । यद्यपि भूतशब्दः पूर्वशब्दश्च अतीतकालवाचिनौ तथापि विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते । किञ्चित्कालं
भूतवेनावस्थाय दर्शनविषयतां नेदानोमस्तोत्ययं विशेषः पूर्वशब्दविशेषणात्प्रतीयते ।

ताया रूप्यश्च ॥३।४।१४३॥ भूतपूर्व इति वर्तते । तान्ताण्ड्याम्मृदो भूतपूर्वेऽर्थे रूप्यो भवति चरट्
च । देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौः, देवदत्तरूप्यः, देवदत्तचरः । इहासामर्थ्यान्न भवति । कम्बलो देवदत्तस्य गौर्भूत-
पूर्वो जिनदत्तस्योत । इह ऋद्धस्य देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौरिति समुदायस्यातान्तत्वादवयवस्य चासाम-
र्थ्यान्न भवति ।

पाकमूले पीलुकर्णादिभ्यः कुणजाहो ॥३।४।१४४॥ ताया इति वर्तते । तासमर्थेभ्यः पील्वादिभ्यः
कर्णादिभ्यश्च यथासंख्यं पाकमूलयोरर्थयोः कुण जाह इत्येतौ भवतः । पीलुनां पाकः पीलुकुणः । पीलु । कर्कन्धु ।
शमी । करीर । बदर । कुवत । अश्वत्थ । खदिर । कर्णादिभ्यो जाहः । कर्णस्य मूलं कर्णबाहम् । कर्ण ।
अङ्घ्रि । मुख । नख । पाद । गुल्फ । भ्रू । दन्त । श्रोष्ठ । केश । शृङ्ग । पुष्प ।

पक्षात्तिः ॥३।४।१४५॥ ताया इति वर्तते । पक्षशब्दान्तान्तामूलेऽर्थे तिर्भवति । द्वयोः पीलुपाकयो-
रनुवर्तनेऽपि पाकस्याऽसम्भवान्मूलग्रहणमेवाभिसम्बध्यते । पक्षस्य मूलं पक्षात्तिः ।

तेन वित्तश्चुञ्चुचणौ ॥३।४।१४६॥ वित्तः प्रतीत इत्यर्थः । तेनेति भासमर्थाद्वित्त इत्येत-
स्मिन्नर्थे चुञ्चु चण इत्येतौ तौ भवतः । न्यायेन वित्तो न्यायचुञ्चुः । न्यायचणः । केशैर्वित्तः केशचुञ्चुः ।
केशचणः ।

विनञ्भ्यां नानाञ्चो न सह ॥३।४।१४७॥ न सहेति प्रकृतिविशेषणम् । कर्मादियोगाऽ-
सम्भवाद् वाविभक्तयत्र समर्था । असहाय्ये वर्तमानाभ्यां विनञ्भ्यां यथासंख्यं नानाञ्चो भवतः । स्वार्थे । न सह,
विना । न सह, नाना ।

वेः शाकशङ्कटौ ॥३॥४१४८॥ प्रादयः पुनरेवमात्मका यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः । यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुरिति । वेः ससाधनक्रियावचनांश्चालशांऽट इत्येतौ त्रौ भवतः स्वार्थे । विसृषे (विगते) शृङ्गे विशाले । विशङ्कटे । तद्योगात्ताच्छब्दो (च्छब्दयम्) विशालो गौः । विशङ्कटो गौरिति । अथवा विशालादयः परमार्थतो गुणशब्दाः, ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्ते । तेन विशालः पटः, विशालं यशः इत्येवमादि सिद्धम् ।

सम्प्रोदश्च कटः ॥३॥४१४९॥ सम् प्र उद् इत्येतेभ्यो वेश्च कट इत्ययं त्रौ भवति । अत्रापि ससाव(घ)नक्रियावचनेभ्यस्त्यो वेदितव्यः । सङ्कृष्टं सङ्कटम् । प्रकटम् । उत्कटम् । विकटम् । विकट-दन्तयोगाद् विकटो हस्ती । “अकारवृत्तिकोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्” [वा०] अलावूनां रजः अलावूकटम् । तिलकटम् । उमाकटम् । भङ्गाकटम् ।

कुटारश्चावात् ॥३॥४१५०॥ अवात् ससाव(घ)नक्रियावचनात् कुटार इत्ययं त्रौ भवति कटश्च स्वार्थे । अवकृष्टः, अवकुटारः । अवकटः । “गोष्ठादयस्त्याः स्थानादिषु पशूनामिति वक्तव्यम्” [वा०] गवां स्थानं गोगोष्ठम् । महिषोगोष्ठम् । अजागोष्ठम् । “समूहे कटः” [वा०] अवीनां समूहः, अविकटः । पशुकटः । “विस्तारे पटः” [वा०] अवीनां विस्तारः, अपिपटः । “द्वित्वे गोगुगुः” [वा०] उष्ट्रगोगुगुम् । अश्व-गोगुगुम् । महिषगोगुगुम् । “प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवः” [वा०] हस्तिनां षट्त्वं हस्तिषड्गवम् । “संस्कृते शूल्यः” [वा०] पिठरे संस्कृतं पिठरशूल्यम् । “विकारे स्नेहे तैलः” [वा०] इज्जुदीनां स्नेहः इड्गुदीतैलम् । “प्ररोहणे क्षाकटशाकिनो” [वा०] इक्षुणां प्ररोहणं क्षेत्रम्, इक्षुशाकटम् । मूलशाकटम् । इक्षुशाकिनम् । मूलशाकिनम् ।

नते नासिकायाः खौ टीटनाटभ्रटाः ॥३॥४१५१॥ अवादिति वर्तते । नमनं नतम् । नासिका नतवाचिनोऽवशब्दाट्टीट नाट भ्रट इत्येते त्र्याः स्वार्थे भवन्ति खुविषये । नासिकाया इति सम्बन्धसामान्ये वा । तत्र यदा नासिकायाः कर्तृत्वविवक्षा, तदा सामानाधिकरण्यात् न विग्रहः । अवनता नासिका अवटीटा । अवनताया । अवभ्रटा । यदा सम्बन्धत्वविवक्षा तदा वैयधिकरण्यात्, नासिकाया अवनतम्, अवटीटम् । अवननाटम् । अवभ्रटम् । एवमुत्तरत्रापि विग्रहद्वयं ज्ञातव्यम् । तद्योगात्पुरुषेऽपि तथोच्यते । अवटीटः पुरुषः ।

नेबिडबिरीसौ ॥३॥४१५२॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते । निशब्दान्नासिकानतार्थवचनाद् बिड बिरीस इत्येतौ त्रौ भवतः । निनता नासिका निबिडा । निबिरीसा । निबिडम् निबिरीसमिति वा । तद्यो-गात्पुरुषोऽपि निबिडः । निबिरीसः । कथं निबिडं वस्त्रं निबिडाः केशा इति । उपमानात्सिद्धम् ।

केनो वि(चि)क् ॥३॥४१५३॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते निरिति च । नासिकानतार्थ-वाचिनो नेः क इन् इत्येतौ त्रौ भवतः वि(चि)क् इत्ययञ्चादेशः प्रकृतेः । निनता नासिका वि(चि)क्ता । वि(चि) किना । तद्योगाद् वि(चि)क्को देवदत्तः । वि(चि)किनः ।

पिटे चिः ॥३॥४१५४॥ नासिकानतार्थवाचिनो नेः पिटे त्र्ये परतश्चिरित्ययमादेशो भवति । अनेनैव पिटस्य विधानम् । निनता नासिका चिपिटा । तद्योगाच्चिपिटो देवदत्तः । “क्लिन्नं चक्षुः चिल्लम्, पिल्लम् । तद्योगाद्देवदत्तोऽपि चिल्लः । “बुद्धादिशश्च वक्तव्यः” [वा०] क्लिन्नं चक्षुः जुल्लम् । तद्योगाद्देवदत्तोऽपि जुल्लः ।

उपत्यकाऽघित्यके ॥३॥४१५५॥ उपत्यका अघित्यका इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । उपशब्दात्पर्वता-सन्ने देशे वर्तमानात्स्वार्थे त्यक् इत्ययं त्रौ निपात्येते इलाभावश्च क्षीलिङ्गे खुविषये । पर्वतमुपासन्नो देश

उपत्यक् । अघीत्येतस्मात्पर्वतमारुढे देशे वर्तमानात्यक् इत्वाभावश्च स्त्रीलिङ्गे खुविषये । पर्वतमध्यारूढो देशोऽधित्यक् ।

कर्मठः ॥३१४१५६॥ कर्मठ इति निपात्यते । कर्मशब्दादीप्समर्थाद्घटते इत्यस्मिन्नर्थेऽडो निपात्यते । कर्मणि घटते कर्मठः ।

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः ॥३१४१५७॥ तदिति वासमर्थेभ्यः सञ्जातोपादि(धि)भ्यस्तारकादिभ्योऽस्येति ताऽर्थे इतो भवति । तारकः संजाता अस्य तारकितं नभः । पुष्पिता लता । तारका । पुष्प । कर्णक । ऋजीष । सूत्र । निष्क्रमण । पुरीष । उच्चार । पंचार । कुङ्मल । मुकुल । कुसुम । स्तवक । किसलय । वेग । वेश । निद्रा । बुभुक्षा । पिपासा । श्रद्धा । स्वप्न (श्वप्न) । अन्न । रोग । अङ्गारक । वर्णक । द्रोह । सुख । दुःख । उत्कण्ठा । भर । व्याधि । “गर्भाद्गर्भाणि” [ग० सू०] गर्भिताः शालयः । अप्राणिनीति किम् ? गर्भिणी गौः ।

प्रमाणे द्वयसङ्घट्टनमात्रतः ॥३१४१५८॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थात्प्रमाणेऽर्थे वर्तमानादस्येति ताऽर्थे द्वयसङ्घट्टनमात्रतः इत्येते त्या भवन्ति । प्रमाणस्य प्रमेयापेक्षलात्प्रमेयस्यार्थः । ऊरुः प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम् । ऊरुमात्रम् । यद्यप्यायामः प्रमाणत्वेन प्रसिद्धस्तथाप्यभिधानवशाद् द्वयसङ्घट्टनवर्धमाने, मात्रतः पुनरविशेषेण । कर्षमात्रं घृतम् । प्रस्थमात्रं धान्यम् । धनुर्मात्री भूमिः । “प्रमाणशब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसङ्घट्टनीनां ध्वंसनं वक्तव्यम्” [वा०] समः प्रमाणमस्य समः । दिष्टि प्रमाणमस्य दिष्टिः । वितस्तिः । “शच्च ध्वंसनं वक्तव्यम्” [वा०] द्वौ समे प्रमाणमस्य द्विसमम् । त्रिसमम् । द्विदिष्टिः । द्विवितस्तिः । तदन्तविध्यभावात्पूर्वेणाप्राप्तिः । चकारः किमर्थः ? संशये स्थायिनं मात्रतं वक्ष्यति । तत्राऽपि राद्ध्वंसनमेव यथा स्यात् । “ङट् स्तोमे वक्तव्यः” [वा०] पञ्चदशाहानि परिमाणमस्य यज्ञस्य पञ्चदशः स्तोमः । सप्तदशः । पञ्चदशी रात्रिः । छन्दसि पूर्वमेव सिद्धमछन्दाविषयार्थमेतत् । “शत्रुशताङ्घ्रिनि-वक्तव्यः” [वा०] पञ्चदशाहोरात्राः परिमाणमेषां पञ्चदशिताऽर्द्धमात्राः । त्रिंशानां मासाः । द्वात्रिंशानां देवेन्द्राः । त्रयस्त्रिंश इत्यपीष्यते । “विंशतेश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] विंशिनो भवनेन्द्राः । विंशिनोऽङ्गारसः । “प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रतः वक्तव्यः” [वा०] समः प्रमाणमस्य स्यात् सममात्रम् । वितस्ति-मात्रम् । प्रस्थः परिमाणमस्य स्यात् प्रस्थमात्रम् । कुडवमात्रम् । पञ्च संख्याः यथा स्यात् पञ्चमात्राः । पुरुषाः दशमात्राः । उक्तं च -

“प्रमाणध्वंसनं शच्च ङट्स्तोमे शत्रुशतोङ्घ्रिनिः । प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये ॥”

“स्वार्थे द्वयसङ्घट्टनमात्रतः बहुलं वक्तव्यम्” [वा०] तावदेव तावद्द्वयसम् । तावन्मात्रम् । यावदेव यावद्द्वयसम्, यावन्मात्रम् ।

पुरुषहस्तिनोऽण् च ॥३१४१५९॥ तदस्येति वर्तते प्रमाण इति च । पुरुष-हस्तिशब्दाभ्यामण् च भवति, द्वयसङ्घट्टनश्च भवन्ति । पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम् । पुरुषद्वयसम् । पुरुषदघ्नम् । पुरुषमात्रम् । हस्ती प्रमाणमस्य हास्तिनम् । “प्रायोऽनपत्येऽणोनः” [३१४१५५] इति टिलप्रतिषेधः । हस्तिद्वयसम् । हस्ति-दघ्नम् । हस्तिमात्रम् । प्रमाणशब्दाच्च प्रसिद्धो “प्रमाणाद्ध्वंसनमिति” च भवति । पुरुषः प्रमाणमस्य पुरुषः । “अणादीनां ध्वंसनवचनाच्छ्रयोश्चाशचेति ध्वंसनं द्वयसङ्घट्टनीनामेव द्रष्टव्यम् ।” अण् तदन्तल सम्भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्य द्विपुरुषं जलम् । द्विपुरुषी द्विपुरुषा वा खाता । द्विहस्ति जलम् । द्विहस्तिनी नदी । नान्तत्वान्हीविधिः ।

यस्यदेतेभ्यः परिमाणे वतुः ॥३।४।१६०॥ तदस्येति वर्तते । यद् तद् एतद् एतेभ्यः परिमाणो-
पाधिभ्योऽस्येति ताऽर्थे वतुर्भवति । यत्परिमाणमस्य यावान् । तावान् । एतावान् । “आ सर्वनाम्नः”
[४।३।१६७] इति दकारस्यात्वम् । प्रमाणे ग्रहणेऽनुवर्तमाने परिमाणग्रहणं किम् ? प्रमाणे द्वयसडादीनां
बाधा मा भूत् । यद्द्वयसम् । प्रमाणपरिमाणयोर्भेदाद्वत्वं तदपि (वत्वंतादपि) द्वयसडादयः सिद्धाः ।
यावन्मात्रम् ।

इदमो वो घः ॥३।४।१६१॥ इदमित्येतस्मादुत्तरस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति । इदमेव
शापकम् । इदमो वतुर्भवतीति । इदम्परिमाणमस्य इयान् । घस्य इयादेशः । “किमिदमोः कीञ्” [४।३।१६६]
इति इदमः ईशादेशः । “यस्य ह्याञ्च” [४।४।१३६] इति खः । त्यमात्रमेवावशिष्टम् । तस्य व्यपदेशिवद्-
भावात् मृतसंज्ञा “परस्यादेः” [१।१।२१] इत्येव सिद्धे व इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः ? घस्य त्यान्त-
रत्वं मा भूत् ।

किमः ॥३।४।१६२॥ किम इत्येतस्मात्परस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति । अनेनैव वतो-
र्विधानम् । किम्परिमाणमस्य कियान् ।

सङ्ख्यापरिमाणे डतिश्च ॥३।४।१६३॥ किम इति वर्तते तदस्येति च । परिमितिः परिमाणम् ।
सङ्ख्यायाः परिमाणं परिच्छिन्तिः । सङ्ख्यापरिमाणे वर्तमानात् किमो वासमर्थ्यादस्येति ताऽर्थे डतीत्ययं त्यो
भवति वतुश्च । वतोर्वकारस्य च घवारादेशः । का संख्या एषां ऋतीमे पुरुषाः । द्वित्वैकत्वयोः सम्परिप्रश्नस्या-
भावात् । बहन्तमेवोदाहरणम् । अथवा परिमीयतेऽनेनेति परिमाणम्, सङ्ख्यैव परिमाणं सङ्ख्यापरिमा-
मिति यसः । अस्मिन्पक्षे परिमाणग्रहणं सङ्ख्याविशेषणं किमर्थम् ? तथाहि का संख्या एषाम्, किम्परिमा-
मेषामिति एक एवार्थः । एवं तर्हि यत्र सङ्ख्याऽक्षेपविषया तत्र मा भूत् । केयमेषां संख्या पञ्चानामिति ।
परिमाणग्रहणेऽत्र वर्तमाने पुनः परिमाणग्रहणं विस्पष्टार्थम् ।

सङ्ख्याया अवयवे तयट् ॥३।४।१६४॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थ्यायाः सङ्ख्यायाः अव-
यवोपाधिकाया अस्येति तार्थे तयड् भवति । सामर्थ्यादवयविनि तयड् वेदितव्यः । पञ्च अवयवा यस्य पञ्चतयो
यमः । दशतयो घर्मः । सप्ततयी नयष्टतिः ।

उभात्स्वम् ॥३।४।१६५॥ उभयशब्दादुत्तरस्य तयटः खं भवति । इदमेव शापकं भवत्युभयशब्दात्तयटि ।
उभावयवावस्य उभयो मणिः । उभये देवमनुष्याः । उभयशब्दः सर्वादिषु पठ्यते ।

द्वित्रिभ्यां वा ॥३।४।१६६॥ द्वित्रिभ्यामुत्तरस्य तयटो वा खं भवति । “परस्यादेः” [१।१।५१]
इति तकारस्य खम् । द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् । द्वये, द्वयाः । खेपनेभ्याः (त्रये । त्रयाः)
एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् “प्रथमचरम्” [१।१।४१] इत्यादिना जसि वा सर्वनामसंज्ञा ।

तदस्मिन्नधिकमिति शहरान्ताडुः ॥३।४।१६७॥ तदिति वासमर्थ्यात्शहरान्तान्मुदोऽधिकोपाधि-
विशिष्टादस्मिन्नितीवर्थे डो भवति । इतिकरणस्ततश्चेद् विवक्षा । सङ्ख्या इति वर्तते । त्रिंशदधिका
अस्मिन् शते त्रिंशं शतम् । चत्वारिंशं शतम् । ननु शदिति त्यग्रहणे “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणमित्यन्त-
ग्रहणमनर्थकम् । एवं तर्ह्यन्तग्रहणसामर्थ्यादेकत्रिंशदादीनामपि सङ्ख्याशब्दानां ग्रहणम् । एकत्रिंशदधिका
अस्मिन् शते एकत्रिंशं शतम् । द्वात्रिंशम् । त्रयस्त्रिंशम् । दशार्थं वाऽन्तग्रहणम् । एकादश
अधिका अस्मिन् शते एकादशं शतम् । एवं द्वादशम्, त्रयोदशम् । इह कस्मान्न भवति । एकादश
माषा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते इति ? यजातीयत्यार्थस्तजातीय एव प्रकृत्यर्थे सति

त्य इध्यते । इह तर्हि प्राप्नोति । एकादश कार्षापणा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते, गोत्रिश-
दधिका अस्मिन् गोशत इति सङ्ख्याया इत्यनुवृत्तेर्न भवति । इतिकरणः किमर्थः ? शतसहस्रयोरेवाभि-
धानमिति ज्ञापनार्थः । तेनेह न भवति । एकादश अधिका अस्यां त्रिशति, एकत्रिशदधिका अस्यां षष्ठा-
विति । कथम् एकादशं शतसहस्रमिति ? अत्राऽपि शतसहस्रयोरन्यतरप्राधान्यमस्ति । उक्तञ्च—

“अधिके समानज्ञाताविष्टः शतसहस्रयोः । यस्य सङ्ख्या तदाधिक्ये ङः कर्तव्यो मतो मम ॥”

[पा० म० ५।२।४४] ।

विंशतेश्च ॥३।४।१६८॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । विंशतिशब्दाद् वासमर्थादधिकोपाधिविशिष्टा-
दस्मिन्नितीबर्थे ङो भवति । चशब्दात् विंशत्यन्तादपि भवति । विंशतिरधिका अस्मिन् शते विंशं शतं
सहस्रम् । तदन्तात् । एकविंशं शतम् । इकविंशं सहस्रम् । “ते विहातेर्ङिति” [४।४।१२८] इति खे
कृते “एप्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपत्वम् । संख्याया इत्येव । गोविंशतिरधिका अस्मिन्
गोशते इति ।

सङ्ख्याया गुणस्य निमाने मयट् ॥ ३।४।१६९ ॥ “तदस्य सङ्ज्ञातम्” [३।४।१५७]
इत्यतः तदस्येत्यनुवर्तते । गुणो भाग इत्यर्थः । गुणो निमीयते परिवर्त्यते विक्रीयते वा येन तन्निमानं
मूल्यमित्यर्थः । तदपि सामर्थ्याद् भाग एव । यतो गुणैरेव गुणो निमीयते । तदिति वा-
समर्थायाः संख्याया गुणस्य निमाने वर्तमानाया अस्येति ताऽर्थं निमेयेऽभिधेये मयड् भवति ।
गुणस्येति कर्मणि ता । यवानां द्वौ भागौ निमानमस्योदश्विद्ग्रहणस्य द्विमयमुदश्वित् यवानाम् । द्विगुणं
मूल्यमित्यर्थः । एवं त्रिमयं चतुर्मयम् । यथा अणादयः शब्दशक्तिस्वाभाव्यादपत्यापत्यवत्सम्बन्धे विधीयमाना
अपि प्राधान्येन सम्बन्धमाचक्षते । अपगवोदरन्नि(औपगवोदान्नि)रिति । तथा मयड्भागो विधीयमानो
भागवन्तमाचष्टे तेन द्विमयमुदश्वित् इति सामानाधिकरण्यम् । टित्करणं द्वौ गुडस्य एकं शर्करायाः द्विमयी
शर्करा । गुणनिमान इति वक्तव्ये गुणस्येत्येकत्वं विवक्षितम् । तेनेह न भवति । यवानां त्रयो भागा निमानमु-
दश्वितः । द्वयोर्भागोरिति अधिकायाश्च संख्यायास्य इध्यते । तेनेह न भवति । एको भागो निमानमस्यो-
दश्विद्भागस्येति । इह तर्हि प्राप्नोति द्वौ यवानामध्यर्धं उदश्वित इति । अत्रापि गुणस्येति समर्थनिर्देशादेव
न भवति । तदपेक्षया प्रकृतेरपि निरंशसंख्यानं द्रष्टव्यम् । तेनेह न भवति अर्धयो यवानाम् एकस्योदश्वित
इति । न च सकविधेरन्यत्र अर्धशब्दस्य संख्यात्वमिष्टम् । गुणस्येति किम् ? द्वौ ब्रीहियवौ निमान-
मस्योदश्वितः । अत्र भागस्येति न प्रयुक्तम् । निमान इति किम् ? द्वौ गुणौ चारस्य एकस्तैलस्य द्विगुणं
क्षीरेण तैलपक्वम् । नात्र वासमर्थं गुणं निमाने वर्तते । अन्ये अन्यथा सूत्रार्थं वर्णयन्ति । निमीयते इति
निमानं निमातव्यम् । बहुलवचनात्कर्मणि युट् । गुणस्येति कर्त्तरि ता । करणस्यापि कर्तृत्वेन विवक्षितत्वात् ।
“वासमर्थायाः संख्याया गुणस्य निमेये वर्तमानयोः” [वा०] निमानेऽभिधेये मयड् भवति । उदश्वितो द्वौ
भागौ निमेयस्य यवभागस्य द्विमया यवा उदश्वितः । त्रिमयाः । चतुर्मया यवाः । अत्र व्याख्याने समर्थमुदश्वित्,
यवास्तु त्थार्थः । पूर्वत्र महार्धमुदश्वित् , तदेव च त्थार्थः । मतद्वयमपि प्रमाणात् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः । समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽध्यायः

तस्य पूरणो ङट् ॥४११॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । पूर्यतेऽनेनेति पूरणः । तस्येति तासमर्थात्सङ्ख्या-
वाचिनः पूरण इत्येतस्मिन्नर्थे ङट् भवति । एकादशानां पूरण एकादशः । द्वादशः । द्वादशी । द्वितीयमपि
सङ्ख्याग्रहणमनुवर्तते । तत्सङ्ख्यानप्रधानं सत् त्यार्थविशेषणम् । सङ्ख्याया ङट् भवति सङ्ख्यानपूरण
इति न सङ्ख्येयपूरणो ङट् भवति । एकादशानामुष्टिकाणां (मुष्टिकानां) पूरणो घट इति । ननु नात्र एका-
दशभ्यः प्रकृत्यर्थभूतेभ्योऽन्यः पूरण इत्यर्थ उपलभ्यते । अतो वृत्तिर्न प्राप्नोति । नैष दोषः । समुदायस्य चाव-
यवानां च कथञ्चिद् भेद इति । यथा वृत्तान्तभूताऽपि शाखा वृत्तस्येति व्यवहियते । उक्तञ्च—

“बहूनां वाचिका (वाचिका) सङ्ख्या पूरणं त्वैक इष्यते । अन्यत्वादुभयोर्वृत्तिर्वाक्षीं शास्त्रानिदर्शनम् ॥”
[पा० म० १।१।४८] ।

नोऽसे मट् ॥४११२॥ न इति वर्णानिर्देशः । वर्णाग्रहणं सर्वत्र तदन्तविधिं प्रयोजयति ।
नकारान्तात्सङ्ख्यावाचिनो मृदो मट् भवत्यसे तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये । डटोऽपवादः । पञ्चानां पूरणः
पञ्चमः । सप्तमः । सप्तमी । अस इति किम् ? एकादशानां पूरण एकादशः ।

षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ॥४११३॥ मूलसूत्रे विहितो यो ङट् तस्येहानुवर्तमानस्यार्थवशादी-
बन्तात्षट् कति कतिपय चतुर इत्येतेषां डटि परतस्थुगागमो भवति । इदमेव डटि थुग्वचनं ज्ञापकं भवति ।
कतिपयशब्दादपि ङट् । षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयथः । चतुर्थः । थुग्वचनसामर्थ्याद्विखं न
भवति । पूर्वान्तकरणं पदकार्यनिवृत्त्यर्थम् । इह कतिपयानां स्त्रीणां पूरणी कतिपयथी । “तस्य हृत्यडे” [वा०]
इति विषयनिर्देशात्प्रागेव थुक्ः पुंवद्भावः । “चतुररह्यवावाद्यक्षरशु (स्य) खं चेति वक्तव्यम्” चतुर्णां
पूरणः, तुरीयः, तुर्यः ।

बहुपूगगणसङ्ख्यस्य तिथुक् ॥३१।१४॥ डडिति वर्तते । बहु पूग गण ङट् इत्येतेषां डटि परतस्ति-
थुगागमो भवति । डडि (टि) ति थुग्वचनं ज्ञापकं भवति पूगसङ्ख्यायां ङट् । बहूनां पूरणः बहुतिथः । पूग-
तिथः । सङ्ख्यतिथः । गणतिथः । इह बहूनां पूरणी बहुतिथी । “तस्य हृत्यडे” [वा०] पुंवद्भावे कृते
तिथुवेदितव्यः ।

वतोरिथुक् ॥४११५॥ डडिति वर्तते । वत्तन्तस्य डटि परत इथुगागमो भवति । “वतोर्वेत्”
[३।७।१०] इत्यत्र वत्तन्तस्य संख्यासंज्ञा प्रतिपादिता । यावतां पूरणः यावतिथः । तावतिथः । एतावतिथः ।
इयतिथः । कियतिथः ।

द्वेस्तीयः ॥४११६॥ तस्य पूरण इति वर्तते । द्विशब्दात्तीय इत्ययं त्यो भवति । डटोऽपवादः । द्वयोः
पूरणः द्वितीयः ।

त्रेस्तृ च ॥४११७॥ तस्य पूरण इति वर्तते । त्रिशब्दात्तीयो भवति तृ इत्ययं चादेशः । अयमपि
डटोऽपवादः । त्रयाणां पूरणः तृतीयः ।

शतादिमासार्धमाससंवत्सरात्तमट् ॥४११८॥ शतादिभ्यो मासार्धमास संवत्सर इत्येतेभ्यश्च
तमट् भवति तस्य पूरण इत्यास्मिन्विषये । डटोऽपवादः । शतस्य पूरणः शततमः । सहस्रतमः । लक्षतमः ।
“विशत्यादेर्वा” [४।१।१०] इत्येषा विभाषा शतात् पूर्वा सङ्ख्यामवगाहते । मासार्धमाससंवत्सराणाम-
सङ्ख्याशब्दत्वात् डटाऽप्राप्ते तमट् । मासस्य पूरणो मासतमो दिवसः । अर्धमासतमः । संवत्सरतमः ।
संवत्सरतमी तिथिः ।

तेर ङङ्ख्यादः ॥४११९॥ तस्य पूरण इति वर्तते । “पङ्क्त्यादि” [१४१५८] सूत्रे तिरिति ल्यो निपातितः । त्यन्तात्सङ्ख्यावाचिनो मृदोऽसङ्ख्यापूर्वात्तमङ् भवति । “विंशत्यादेर्वा” [४१११०] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थोऽयमारम्भः । षष्टेः पूरणः षष्टितमः । सप्ततितमः । अशीतितमः । नवतितमः । असङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधः किमर्थः ? यावता तिरिति ल्यः, त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणमिति षष्ट्यादीनामेव ग्रहणम्, तदन्तानां ग्रहणं नास्तीत्यसङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधोऽनर्थकः । इदमेव ज्ञापकं भवति । इह सङ्ख्यापूर्वपदानामपि ग्रहणम् । तेन एकषष्टेः पूरणः एकषष्टः एकषष्टितमः इत्येवमादिषु “विंशत्यादेर्वा” [४१११०] इति वा तमङ् भवति । पूर्वसूत्रेऽपि शतादेरुच्यमानस्तमङ् तदन्तादपि भवति । एकशततमः । एकसहस्रतमः । शतसहस्रतमः ।

विंशत्यादेर्वा ॥४११२०॥ तस्य पूरण इति वर्तते । विंशत्यादिभ्यो वा तमङ् भवति । तमया मुक्ते डट् भवति । विंशतेः पूरणः विंशतितमः, विशः । एकविंशतितमः, एकविंशः । त्रिंशत्तमः, त्रिंशः । सङ्ख्या-पूर्वपदादपि भवतीति ज्ञापितम् । अथवा व्याप्तैर्न्यायात् । विंशत्यादयो लोकप्रसिद्धाः सङ्ख्याशब्दा गृह्यन्ते न “पङ्क्त्यादि” [१४१५८] सूत्रे व्यवस्थिताः ।

डटो ग्रहणे कः ॥४११२१॥ डडिति प्रत्याहारः । गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम् । डडन्तान्मृदो ग्रहणोपाधि-विशिष्टात्स्वार्थे क इत्ययं ल्यो भवति । द्वितीयं ग्रहणं द्वितीयकम् । तृतीयकम् । व्याकरणस्य ग्रन्थ एवाऽभिधानम् । अन्यत्र द्वितीयं ग्रहणं धान्यस्येति वाक्यमेव भवति । “डटो वा डडवक्तव्यः” [वा०] द्विकं द्वितीयकम् । तुकम् । तृतीयकम् व्याकरणस्य । तेन “गृह्याल्युप्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । डडन्ताद् भासमर्याद् गृह्णाति इत्यस्मिन्नर्थे को भवति डटश्च नित्यमुप् । द्वितीयेन रूपेण गृह्णाति । कः । तीयस्य च उप् । द्विको देवदत्तः । एवं त्रिकः । “सञ्चियोगशिष्टानामन्यतराभाये डभयोरप्यभावः” इति तीये निवृत्ते प्रकृत्यादेशोऽपि निवर्तते । चतुर्थेन गृह्णाति चतुष्कः । डटि निवृत्ते थुगपि निवर्तते । “इदुदुङ्कोऽयमसुहुसः” [५४१२८] इति रेफस्य सत्वम् । “इणः षः” (५४१२७) इति षत्वम् । षष्ठेन गृह्णाति षट्कः । ग्रन्थ एवाभिधानम् । इह न भवति । द्वितीयेन गृह्णाति पुस्तकम् ।

स एषां ग्रामणीः ॥४११२२॥ ग्रामणीर्मुख्य इत्यर्थः । स इति वासमर्थान्मृद एषामिति चतुर्थे को भवति । यत्तद् वासमर्थं ग्रामणीश्चेत्स भवति । देवदत्तो ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः । जिनदत्तकाः । सङ्खेऽपीष्यते । देवदत्तो ग्रामणीरस्य सङ्खस्य देवदत्तकः ।

स्वाङ्गेषु प्रसिते ॥४११२३॥ अत्र च मूर्त्तिमत्स्वाङ्गमित्यादिना परिभाषितमिह स्वाङ्गम् । निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । स्वाङ्गवाचिभ्य ईप्समर्थेभ्यः प्रसित इत्यस्मिन्नर्थे को भवति । प्रसितः प्रसङ्गः । केषु प्रसितः केशकः । “प्रसितोऽसुकाभ्यां भा च” [१४१२२] इतीप् । एवं दन्तकः । नलकः । केशादिसंस्कारे केशादिशब्दा वर्तन्ते । बहुत्वनिर्देशः किमर्थः ? स्वाङ्गसमुदायादपि यथा स्यात् । नलकेशकः । मुखदन्तकः ।

तदस्मिन्नर्थे प्राये खौ ॥४११२४॥ तदिति वासमर्थोदस्मिन्निति बर्थे को भवति । यत्तद् वासमर्थं प्रसन्नं चेत्प्रायविषयं तद् भवति । त्यान्तं चेत्संज्ञायाम् वर्तते । नृपुटाः प्रायेणान्नमस्यां नृपुटिका पौर्यामासी । प्राय इति सूत्रे उपाधिलक्षणो वा विषयलक्षणो वा ईग्निर्देशः । विग्रहे तु करणत्वविवक्षायां भा । अन्नविशेषणत्व-विवक्षायां वाऽपि भवति । नृपुटाः प्रायोऽन्नमस्यामिति । एवं गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां गुडापूपिका । तिला-पूपिका । कृतशरिका । “वटकेभ्य इन्वक्तव्यः” [वा०] वटकिनी । खाविति किम् ? अपूपाः प्रायेणान्न(म) धन्तिषु ।

कुल्माषादृष् ॥४११२५॥ कुल्माषशब्दादण् भवति तदस्मिन्नर्थे प्रायेण खावित्यस्मिन्नर्थे । कस्यापवादः । कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्यां कौल्माषी पौर्यामासी ।

कालप्रयोजनाद्रोगस्य ॥४११६॥ तदिति वर्तते खाविति च । तदिति वासमर्थाभ्युदः काल-
प्रयोजनोपाधिकाद् रोगस्येति ताऽर्थे को भवति संज्ञायां गम्यमानायाम् । सततं कालोऽस्य सततकः । द्वितीयं
कालोऽस्य द्वितीयको ज्वरः । तृतीयकः । चतुर्थकः । प्रयोजनाद्—विषपुष्पप्रयोजनस्य विषपुष्पको ज्वरः ।
काशपुष्पकः । पर्वतकः । कालनिमित्ताद्रोगस्येति च वक्तव्ये प्रयोजनग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम् । फलेऽपि
प्रयोजने यथा स्यात् । उष्णकार्यमस्य उष्णकः । शीतको ज्वरः ।

शृङ्खलकौदरिकसस्यकांशकतन्त्रकब्राह्मणकोष्णकोष्मकशीतकाऽधिकाऽनुकाऽभिकाऽ
भीकाऽनुपदिपार्श्वकायःशूलिकादाण्डाजिनिकोत्कश्रोत्रियसाक्षीन्द्रियक्षेत्रियाः ॥४११७॥शृङ्ख-
लक इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते । शृङ्खलशब्दाद् वासमर्थाद् बन्धनोपाधिकादस्येति ताऽर्थे को
निपात्यते कारभे । शृङ्खलं बन्धनमस्य गोरिति वाक्यमेव भवति । उदरशब्दादीप्समर्थात् प्रसिद्ध
इत्यस्मिन्नर्थे षण् निपात्यते आद्यूने गम्यमाने । आद्यून उदरे अविजिगीषुरुच्यते । उदरे प्रसिद्ध औदरिकः ।
आद्यून इत्यर्थः । उक्तं च—

“मिताशिनं षट् सुगुणा कजन्ते (भजन्ते) आरोग्यमायुश्च वपुर्वल्लभ्य ।
अनाधिष्ठन्धारय भवत्यपत्यं न चैनमाद्य नमिति क्षिपन्ति ॥”

अन्यत्र उदरे प्रसिद्ध उदरकः । स्वाङ्गेषु प्रसिद्ध इति कः । सस्यशब्दाद् भासमर्थात्परिजात इत्येत-
स्मिन्नर्थे कः । सस्येन परिजातः सस्यकः शालिः । सस्यको देशः । सस्यको वत्सः । वैगुण्यरहित इत्यर्थः ।
सस्यमिव सस्यम्, तेन परिजातः सस्यको मणिः । आका(क)रशुद्ध इत्यर्थः । “विग्रहे (अंश) शब्दादाप्सम-
र्थात् हरतीत्यस्मिन्नर्थे कः ।” अंशं हरति अंशको दायदः । “तन्त्रशब्दात्कासमर्थादचिरापहत इत्यस्मिन्नर्थे
कः । तन्त्रादचिरापहतः तन्त्रकः पटः । “ब्राह्मणक षष्णिक इत्येतौ शब्दौ खुविषये कस्यान्तौ निपात्येते ।”
ब्राह्मणको देशः । यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणास्तस्य देशस्येयं संज्ञा । उष्णादल्पात्रे । उष्णिका अल्पान्ना यवा-
गुरुच्यते । “उष्णशीतशब्दाभ्यां क्रियाविशेषणाभ्यां वासमर्थाभ्यां करोतीत्यस्मिन्नर्थे कः ।” उष्णं करोतीति
उष्णकः । शीघ्रकारीत्यर्थः । शीतं करोति शीतकः । जड इत्यर्थः । “अधिक्मित्यत्र अध्यारूढशब्दात्स्वार्थे के
द्युत्वं च निपात्यते ।” “श्लेषशब्दात्” [२।४।५७] इत्यादिना यदाऽध्यारूढशब्दः कर्त्तरि व्युत्पाद्यते
तदाऽधिको द्रोणः खार्यामित्युदाहरणम् । यदा कर्माणि व्युत्पाद्यते तदा अधिका खारी द्रोणानेत्युदाहरणम् ।
“अनुक अभिक अभीक इत्येते शब्दाः कस्यान्ताः कृमिता इत्यस्मिन्नर्थे निपात्यन्ते” । अनुकामयतेऽनुकः ।
अभिकामयतेऽभिकः । अभेर्वा दीत्वं निपात्यते । “अनुपदशब्दादन्वेष्टरि हन्निपात्यते ।” पदस्य पश्चादनुपदम् ।
(प) आदर्थे हसो भावप्रधानः । अनुपदमन्वेष्टा अनुपदी गवाम् । “पारवंशब्दाद् भासमर्थादन्विच्छतीत्य-
स्मिन्नर्थे कः ।” अन्वृजुरुपायः पार्श्वं पार्श्वेनान्विच्छति पार्श्वकः । “अयःशूलदण्डाजिनशब्दाभ्यां भासम-
र्थाभ्यामन्विच्छतीत्यस्मिन्नर्थे षण् ।” तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलम्, अयःशूलेनान्विच्छति आयःशूलिकः ।
दण्डाजिनेनान्विच्छति दाण्डाजिनिकः । दम्भप्रधान इत्यर्थः । “उत्क उन्मनास को निपात्यते ।” उत्कः प्रवासी ।
उत्कयिष्ठत इत्यर्थः । “छन्दःशब्दाद्विप्समर्थादधीते इत्येतस्मिन्नर्थे घो निपात्यते प्रकृतेश्च श्रोत्रभावः ।”
छन्दोऽधीते श्रोत्रियः । मनोज्ञादिपाठाच्छान्दस इत्यपि भवति । “साक्षात्शब्दाद् द्रष्टरि इन् खुविषये ।”
साक्षाद्द्रष्टा साक्षी । दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां योऽस्य उपद्रष्टा तस्येयं संज्ञा । “इन्द्रशब्दात्सासमर्थाद्विष्णु इत्यस्मिन्नर्थे
षः ।” इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियम् । इन्द्र आत्मा । अथवा इन्द्रं कर्म । इन्द्रेण जुष्टं सृष्टं दृष्टं दत्तं वा इन्द्रि-
यम् । तान्ताद् षः । “परक्षेत्रशब्दादीप्समर्थाच्चिकित्स्य इत्यस्मिन्नर्थे ष्यः परशब्दस्य च षम् ।” परक्षेत्रे
चिकित्स्यः क्षेत्रियो व्याधिः । परक्षेत्रं जन्मान्तरशरीरमुच्यते ।

भास्वं भुक्तं ठोऽनेन ॥४११८॥ तदिति वर्तते । आद्वशब्दाद् भुक्तोपाधिकादनेनेति

कर्तरि ठो भवति । आढं कर्मनामधेयम् । अद्वा प्रयोजनमस्य आढम् । “अयम्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्या-
नम्” [वा०] इत्यण् । “प्रज्ञाशब्दाऽर्चा” [४।१।२८] आदिना मत्वर्थयो वाण् । आढं भुक्तमनेन
आद्धिको देवदत्तः ।

इन् ॥४।१।१९॥ आढं भुक्तमनेनेति वर्तते । इन् भवति आढशब्दात् । आढं भुक्तमनेनेति आढी
देवदत्तः । योगविभाग उत्तरार्थः । “ठेनोः समानकारुग्रहणं वक्तव्यम्” । यस्मिन्नहनि आढमनेन भुक्तं
तस्मिन्नेव आद्धिकः आढी वा ऽभिधीयते । अद्य भुक्ते आढे श्वः आद्धिकः आढीति च न भवति ।

पूर्वात् ॥४।१।२०॥ तदिति वर्तते अनेनेति च । पूर्वशब्दाद् वासमर्थात् अनेनेति कर्तरि इन् भवति ।
कर्ता क्रियामन्तरेण न भवतीति पाकादिक्रिया व्याहर्तव्या । पूर्वशब्दः क्रियाविशेषणमिह गृह्यते । पूर्वमनेन
भुक्तं पीतं गतं वा पूर्वी । प्रतीयमानस्य कर्मणोऽनुप्रयोगः । ओदनं सुरां ग्रामं वा ।

सपूर्वात् ॥४।१।२१॥ सपूर्वाच्च मृदः पूर्वशब्दान्ताद् वासमर्थादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । पूर्व-
सूत्रे यत् क्रियापदमव्याहृतं तत्पूर्वात् पूर्वशब्दादिह त्यः । पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वी कटम् । भुक्तपूर्वी
ओदनम् । पीतपूर्वी सुराम् । त्योत्पत्तेः प्राक् मयूरव्यंसकादित्वात् [१।३।६६] सविधिः । ‘भूतपूर्वं
चरट्’ [३।४।१४२] इति ज्ञापकात्पूर्वशब्दस्य परनिपातः । क्लान्तं भावे व्युत्पादनीयम् । अथापि कर्मणि
व्युत्पाद्यते । इत्युत्पन्ने क्रियाकर्म सम्बन्धं त्यक्त्वा कर्ता सह वर्तते । इति कर्मण्यनुक्ते इवेव भवति । कर्मसम्ब-
न्धाभावादेव टापो निवृत्तिः । ननु “पूर्वात्” [४।१।२०] इत्युक्तं तत्र तदन्तविधिना संपूर्वाद् भविष्यति,
व्यपदेशिवद्भावेन केवलाच्च भविष्यति, किमर्थं योगान्तरम् ? एवं तर्हीदमेव योगद्वयं ज्ञापकम् । अस्तीदं
परिभाषाद्वयम्, मृदुग्रहणे न तदन्तविधिः, व्यपदेशिवद्भावो न मृदेति ।

इष्टादेः ॥४।१।२२॥ तदिति अनेनेति च वर्तते । इष्ट इत्येवमादिभ्यो मृद्भ्यो वासमर्थेभ्योऽनेने-
त्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । इष्टमनेन इष्टी यज्ञे । क्तस्येन्विषयस्य कर्मणां च्चक्तव्येति ईप् । इष्ट । पूर्त । उप-
पादित । निगदित । परिवदित । निकथित । निपतित । सङ्कलित । परिकलित । संरक्षित । परिरक्षित ।
गणित । अवकीर्ण । आयुक्त । निगृहीत । आभूत । श्रुत । आसेवित । अवधारित । अवकम्पित । निराकृत ।
उपाकृत । अनुयुक्त । अनुगणित । अनुपठित । व्याकुलित ।

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मनुः ॥ ४।१।२३ ॥ तदिति वासमर्थादस्य अस्मिन्नित्येतयोरर्थयोर्मतु-
र्भवति । यत्तद् वासमर्थमस्त्युपाधिकं चेत्तद् भवति । इति करणसूत्र (रस्तत्) रचेद्विवक्षा । प्रायो
भूमादिषु विवक्षा ।

“भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायाम् मत्वादिविधिरिष्यते ।”

भूमि-गावोऽस्य सन्ति गोमान् । निन्दायाम्-शङ्कादकोऽस्याऽस्ति शङ्कादकी । ककुदावर्ती । प्रशं-
सायाम्-रूपमस्यास्ति रूपवान् । नित्ययोगे-क्षीरमेषां सन्ति क्षीरिणो वृक्षाः । अतिशायने-उदरिणी कन्या ।
संसर्गे-दण्डी । भूमाद्यभावेऽपि विवक्षा । व्याघ्रवान् पर्वतः । स्पर्शवान् वायुः । हस्तिमती शाला ।

“मत्वर्थाच्छैषिकाच्चापि मत्वर्थः शैषिकस्तथा । सरूपस्यविधिर्नेष्टः सन्नन्ताश्च सन्निष्यते ॥”

“गुणवचनेभ्यो मत्वर्थीयस्योव्वक्तव्यः” [वा०] । शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः । कृष्णः ।
“रसादिभ्यो मनुवक्तव्यः” [वा०] । रसवान् । रस । रूप । वर्ण । गन्ध । स्पर्श । शब्द । स्नेह । एते
गुणशब्दाः । ‘एकाचः’ खवान् । स्ववान् । अन्यनिवृत्त्यर्थमिदं वक्तव्यम् । कथं रूपिणी कन्या । रूपिको दारकः ।
रसिको नटः । इति ? इतिकरणम् भवति, अगुणार्थत्वाद् वा । अस्यास्मिन्निति द्वयोरुपादानं किम् ? नानयो-

नियतः समावेशः । देशान्तरे राज्ञो हस्तिनः । न वैते राशि भवन्ति । कूपे गर्गाः । न च तै तस्य भवन्ति । अस्तिग्रहणं वर्तमानकालसत्ताप्रतिपत्त्यर्थम् । इह मा भूत् । गावोऽस्याऽसन् । गावोऽस्य भवितारः इति । कथं गोमानासीत् , गोमान् भविता इति ? “ध्रुयोगे त्याः” [१।४।१] इत्यत्रोपपत्तिर्वक्तव्या ।

प्राणयज्ञादातो वा लः ॥४।१।२४॥ प्राणयज्ञवाचिन आकारान्ताद्वा ल इत्ययं त्यो भवति मत्वर्थे । चूडालः । चूडावान् । घायलः । घाटावान् । कथं तर्हि कर्णिकालः । कर्णिकावान् ? प्राणिनि अङ्गं प्राणयज्ञमिति विग्रहाल्लभ्यते । अथवा कर्णिका प्राणयज्ञमप्यस्ति नाभरणविशेष एव । प्राणिग्रहणं (किम्) ? शिखावान् प्रदीपः । अङ्गग्रहणं किम् ? घर्मान्मा भूत् । चिकीर्षावान् । आत इति किम् ? हस्तवान् ।

सिध्मादेः ॥४।१।२५॥ सिध्म इत्येवमादिभ्यश्च वा लो भवति मत्वर्थे । वाग्रहणमिह मतोः समुच्चयार्थम् । न विकल्पार्थम् । उत्तरत्र वाग्रहणात् । तेन येऽत्राकारान्तास्तेभ्यष्टेनौ न भवतः । सिध्मान्यस्य सन्ति सिध्मलम् । सिध्म । वर्म । गडु । तुण्ड । मणि । नाभि । बीज । निष्पाव । सुयात । दत्त । सक्तु । पशुं । पांशु । मांस । पार्ष्णिधमन्योर्दीत्वं च । “वा तदन्तवाङ्मल्लटादानामूढञ्च” [वा०] “जटा-घटाकालेभ्यः क्षेपे” । [वा०] पर्ण । उदक । प्रज्ञा । “ध्रुद्रजन्तूपतापार्थ्या चेष्यते” [वा०] यूकालः । मन्त्रिकालः । उपतापात्-विचर्चिकालः । विपादिकालः । मूर्च्छालः ।

फेनादिलश्च ॥४।१।२६॥ फेनशब्दादिलो भवति लश्च मत्वर्थे । वाग्रहणं मतुसमुच्चयार्थमनुवर्तते । फेनिलम् । फेनलम् । फेनवदुदकम् । “पिच्छादेश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] पिच्छलः । पिच्छलः । पिच्छवान् । पिच्छ । उरस् । ध्रुवक । ध्रुवक । “जटा घटा काळा त्रिभ्यः क्षेपे” [वा०] पर्ण । उदक । प्रज्ञा ।

लोमपामादिभ्यां शनौ ॥४।१।२७॥ लोमादिभ्यः पामादिभ्यश्च यथासंख्यं श न इत्येतौ त्यौ भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । लोमान्यस्य सन्ति लोमशः । लोमवान् । लोमन् । रोमन् । बभ्रु । बल्लु (बल्लु) । हरि । कपि । मुनि । तरु । पामादिभ्यः । पामनः । पामवान् । पामन् । दामन् । हेमन् । श्लेषमन् । बलि । सामन् । अङ्गः कल्याणे । अङ्गानि कल्याणान्यस्याः सन्ति अङ्गना । अङ्गवती अन्यत्र । लक्ष्म्या अचच । लक्ष्मणः । दद्रुशाकी पछाली प्रश्न । दद्रुणः । शाकिनः । पलालिनः । “विष्वगिति ध्रुवं चाकृतसन्धेः” । विष्वच्चोऽस्य सन्ति विषुणः । विषुशब्दो निसंज्ञः ।

प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चावृत्तिभ्यो णः ॥ ४।१।२८ ॥ प्रज्ञा श्रद्धा अर्चा वृत्ति इत्येतेभ्यो णो भवति मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । प्रज्ञाऽस्यास्तीति प्राज्ञः । प्रज्ञावान् । श्रद्धः । श्रद्धावान् । आर्चः । अर्चावान् । वार्त्तः । वृत्तिमान् ।

तपःसहस्राभ्यां विनिनौ ॥४।१।२९॥ तपस् सहस्र इत्येताभ्या यथासंख्यं विन् इन् इत्येतौ त्यौ भवतो मत्वर्थे । तपस्वी । सहस्री । वेत्यनुवृत्तेर्मतुश्रपि । तपस्वान् , सहस्रवान् । तपसोऽसन्तत्वादेव विनि सिद्धे वक्ष्यमाणेनाया बाधा माभूदिति पुनर्वचनम् ।

अण् ॥४।१।३०॥ अण् च भवति तपःसहस्राभ्यां मत्वर्थे । तापसः । साहस्रः । “अण्प्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । ज्योत्स्ना अस्मिन्नस्ति ज्योत्स्नः पत्नः । तमिस्रा । तामिस्रः । कुण्डल । कौरडलः । कुण्डलार्ह इत्यर्थः । कुतप । कौतुपः । विसर्प । वैषर्पः । विपादिका । वैपादिकः ।

१. ध्रुवका । ध्रुवका अ० । ध्रुवका ध्रुवका पू० । ध्रुवका । ध्रुवका इति काशिकायाम् ।

२. भरु अ०, पू० ।

३२

सिकताशर्कराभ्याम् ॥४११३१॥ सिकता शर्करा इत्येताभ्यामण् भवति मत्वर्थे । सैकतः । शार्करः । अदेशार्थं आरम्भः ।

उसिलौ च देशे ॥४११३२॥ सिकताशर्कराभ्यामुस् इल् इत्येतौ ल्यौ भवतः, चकारादण् मत्तुश्च देशोऽभिधेये । तदस्यास्त्यस्मिन्निति वर्तते । कस्योस् ? मतोः । तेन चत्वारः शब्दाः । सिकता देशः । सिकतिलः । सैकतः । सिकतावान् । शर्करा देशः । शर्करिलः । शार्करः । शर्करावान् । देश इति किम् ? सैकतो घटः । शार्करो घटः ।

मधुषण्डिमुष्काद्रः ॥४११३३॥ मधु ऊष शुषि मुष्क इत्येतैभ्यो रो भवति मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मेतुरपि भवति । इह मधुशब्दो रसवाची गृह्यते न द्रव्यवाची । मधु अस्मिन्नस्ति मधुरो गुडः । रसवाचिनि मधुशब्दे कथं मधुरो रसः ? इति चेत्, उपचारात् । रसवाचिनो मधुशब्दान्मतोरभिधानं नास्ति । ऊषं क्षेत्रम् । शुषिरो वंशः । मुष्करः पशुः । “रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] खं महत्कण्ठविवरमस्यास्ति खरः । मुखमस्यास्ति मुखरः । कुञ्जोऽस्यास्ति कुञ्जरः । “रविधिर्नगपांशुभ्याम्” [वा०] । (नगरः । पांशुरः) ।

द्युद्भ्यां मः ॥४११३४॥ द्युद्भ्यां मो भवति मत्वर्थे । द्यौरस्यास्तीति द्युमः । “द्व उल्” [४१११०८] इति उत् । द्युशब्दो वा प्रकृत्यन्तरम् । द्रूयस्य सन्ति द्युमः । रुटिशब्दावेतौ । यदा रूटिर्नास्ति तदा मत्तुरेव भवति । द्युमान् । द्युमान् ।

केशाद्वा वा ॥४११३५॥ केशशब्दाद् व इत्ययं ल्यो भवति वा मत्वर्थे । प्रकृतं वाग्रहणं मतुसमुच्च यार्थम् । इदं तु सर्वविकल्पार्थम् । तेन टेनावपि भवतः । केशवः । केशवान् । केशिकः । केशी । “मणिप्रभृतिभ्य इति वक्तव्यम्” [वा०] । मणिवः । हिरण्यवः । कुररावम् । इष्टकावम् । राजीवम् । “अर्णसः खं च” [वा०] । अर्णवः ।

गाण्ड्यजगात्खौ ॥४११३६॥ गाण्डी अजग इत्येताभ्यां वो भवति मत्वर्थखुविषये । गाण्डीवं धनुः । अजगवं धनुः । प्रादपि भवति । गाण्डिवं धनुः । मत्वन्तेन संज्ञा न गम्यते इति मतुर्न भवति । खाविति किम् ? गाण्डीमान् दण्डः ।

काण्डाण्डादोरः ॥४११३७॥ काण्ड-अण्डशब्दाभ्यामीर इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । ठेनोरपवादः । काण्डीरः । अण्डीरः । वेति मतुसमुच्चयार्थं वर्तते । काण्डवान् । अण्डवान् ।

रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलः ॥४११३८॥ रजः कृषि आसुति परिषद् इत्येतैभ्यो वलो भवति मत्वर्थे । रजसो विनि प्राप्ते इतरेभ्यो मतौ वचनम् । रजस्वला नारी । कृषीवलः कुटुम्बी । आसुतीवलः कल्पपालः । “बले” [४११२२१] इति दीत्वम् । परिषद्वलो नृपः । इतिशब्दः प्रयोगनिर्णयमार्थमनुवर्तते । परिषदः सामान्येन । इतरेभ्यः संज्ञायां प्रयोगः । तेनेह वलो न भवति । रजोऽस्मिन् ग्रामेऽस्ति, आसुति-रस्मिन् भाण्डेऽस्ति । “वल्प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि इत्येते इति वक्तव्यम्” [वा०] । पुत्रवलः । भ्रातृवलः । उत्सङ्गवलः । “बले” [४११२२१] इत्यत्र खवित्यनुवर्तनादलौ दीत्वं न भवति ।

दन्तशिखात्खौ ॥४११३९॥ दन्त-शिखाशब्दाद् वलो भवति मत्वर्थे खुविषये । दन्तवल्लो नम कश्चित् । शिखावलं नाम नगरम् । यत्र तदन्तेन संज्ञा गम्यते तत्र मतुरपि भवति । शिखावाज्जाम ऋषिः । ननु देशः खवित्युच्यमाने “शिखाया वलः” [३१२।६८] इत्यनेन चातुरर्थिकेन सिद्धे किमर्थमिदं वक्तव्यम् ? अदेशार्थमिदं वक्तव्यम् । तदपि निर्द्वैताद्यर्थं वक्तव्यम् ।

ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गणोर्जस्विन्नूर्जस्वलवत्सलांशलदन्तुरहस्तिनगोमिन्स्वामिन्वशिन्
मलिनमलीमसाः ॥४११४०॥ ज्योत्स्नादयः शब्दा निपात्यन्ते मत्वर्थे । “ज्योतिष उडः खं नश्च
सुषिष्ये निपात्यते ।” ज्योत्स्नेति चन्द्रप्रकाशस्याख्या । अन्यत्र ज्योतिष्मती रात्रिः । “समसः खं च
डकश्च इत्वं निपात्यते ।” तमिस्रा रात्रिः । स्त्रीत्वमतन्त्रम् । तेन तमिस्रं नमः । मतुरपि भवति ।
तमस्वती रात्रिः । “शृङ्गादिनो निपात्यते ।” शृङ्गिणः । शृङ्गवान् । “उर्जस्विन् उर्जस्वल इत्येतौ
निपात्येते ।” उर्जस्वी, उर्जस्वलः, उर्जस्वान् । “वत्सांशब्दाभ्यां यथासङ्गं कामवति बळवति च लो
निपात्यते ।” वत्सलः साधुः । स्नेहवान् इत्यर्थः । अंशलः पुरुषः । बलवानित्यर्थः । रूढिशब्दावेतौ । रूढिश्च
मत्वन्तेन न गम्यते इति रूढेरन्यत्र मतुर्वेदितव्यः । “दन्तशब्दादुन्नतोपाधिकाद्गुरः ।” दन्ता उन्नता अस्य
सन्ति दन्तुरः । उन्नतविशेषणादन्यत्र दन्तवान् । “हस्तशब्दाज्जातावभिधेयायामिन्” । हस्ती । अन्यत्र
हस्तवान् पुरुषः । “गोशब्दान्मिन्” । गावोऽस्य सन्ति गोमो । गोमानिति भवति । “स्वशब्दान्मिन् दात्वं च
निपात्यत ऐश्वर्ये गम्ये” । स्वमस्यास्ति स्वामी । अन्यत्र स्ववान् । “वर्णादिन् ब्रह्मचारिणि” । वर्णा । ब्रह्म-
चारीत्यर्थः । “मल्लशब्दादिन ईमस इत्येतौ निपात्येते” । मलिनः । मलीमसः ।

ठेनाघतः ॥४११४१॥ अकारान्तान्मृदष्ट इन् इत्येतौ त्रौ भवतो मत्वर्थे । दण्डकः । दण्डी ।
छत्रिकः । छत्री । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । दण्डवान् । अत इति किम् ? खट्वावान् । अत्रेष्टिः ।

“एकाक्षरात् कृतो जातेरीषर्थे” च न तौ स्मृतौ” [पा. म. १.३.११५] । एकाक्षरात्-खवान् ।
खवान् । कृदन्तात् । कारकवान् । हारकवान् । जातेः । व्याघ्रवान् । सिंहवान् । ईषर्थे । दण्डा अस्या
सन्ति दण्डवती शाला । नेदं वक्तव्यम् । अनभिधानादेवात्र ठेनौ न भवतः । यत्राभिधानं तत्र भवत एव ।
कार्यी । हार्यी । तन्दुलिक । तन्दुली । ईषर्थे । खलिनौ भूमिः । सा(शा)द्वलिनी भूमिः ।

ब्रीह्यादेः ॥४११४२॥ ब्रीहि इत्येवमादिभ्यष्टेनौ भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । ब्रीहयोऽस्य
सन्ति ब्रीहिकः, ब्रीही, ब्रीहिमान् । मायिकः, मायी, मायावान् । इतिशब्दः प्रयोगनियमार्थोऽनुवर्तते । न
ब्रीह्यादिषु ये शिखादयः पठ्यन्ते तेभ्य इन् भवति । यवखडादिभ्यष्टो भवति । परिशिष्टेभ्य उभयं भवति ।
सर्वत्र आदिशब्दः प्रकारवाची । शिखाऽस्यास्ति शिखी । शिखावान् । शिखा । माला । मेखला । शाखा ।
वीणा । संज्ञा । वडवा । अष्टका । बलाका । पताका । कर्मन् । धर्मन् । चर्मन् । यव । खड । नौ । कुमारी ।
एतेभ्य इन्नेष्यते । परिशिष्टेभ्यो द्रावपि भवतः । “शीर्षाञ्जः” [बा०] अशीर्षिकः । अशीर्षा । अशीर्ष-
वान् । शीर्षशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति ।

तुन्दादेरिलः ॥४११४३॥ तुन्द इत्येवमादिभ्य इलो भवति ठेनौ च मत्वर्थे । उत्तरान्नित्यग्रह-
णादिह ठेनोः समावेशो लभ्यते । मतोस्तु वेत्यनुवृत्तेरेव समुच्चयः । तुन्दमस्यास्ति तुन्दिलः । तुन्दिकः । तुन्दी ।
तुन्दवान् । तुन्द । उदर । पिचण्ड । चय । ब्रीहिस्रहणं सरूपार्थम्, अर्थनिर्देशार्थं च । ब्रीहिलः, ब्रीहिकः,
ब्रीहिमान् । शालिलः, शालिकः, शालिमान् । स्वाङ्गविवृष्टौ । कर्णौ विवृष्टावस्य कर्णिलः, कर्णिकः,
कर्णा, कर्णवान् । पिच्छादयोऽपि पठनीयाः । तेभ्यष्टेनोरभिधानं नास्ति । पिच्छा । उरस् । ध्रुवका । जटा-
घाटा काला त्रिभ्यः क्षेपे । पर्ण । उदक । प्रज्ञा ।

एकगोपूर्वाट्ठञ्जित्यम् ॥४११४४॥ एकपूर्वाद् गोपूर्वाच्च नित्यं ठञ् भवति मत्वर्थे । एक-
पूर्वात्समानाधिकरणाद्बसादेव विधिः । एकहलमस्यास्ति ऐकहलिकः । “हृदर्थ” [१.३.४६] इति रसे कृते
ठञ् । ननु लघुत्वात् परत्वाच्च बसे कृते वसेनोक्तत्वान्मत्वर्थीयो न प्राप्नोति यथा चित्रगुरिति । सत्यम् ।

इह तु वचनाद् भवति । एकस्य हलम्, एकहलम्, इत्यत्रानभिधानालेध्यते । एवम् ऐकशतिकः । ऐकसह-
स्रिकः । गवां शतं गोशतं तदस्यास्ति गौशतिकः । गौसहस्रिकः । यदि अत इति वर्तते इह न भवति ।
एकविंशतिरस्यास्ति, गोविंशतिरस्यास्ति । इदं तु न सिद्ध्यति । ऐकगविक इति सान्ते कृते भविष्यति ।
कथमेका शकटिरस्यास्ति, ऐकशकटिकः । गौशकटिक इति ? अव्यविकन्यायेन शकटान्ता इत्यन्ति
(न्तादुत्पत्तिः) । नित्यग्रहणं टेनोर्मतोश्च वाधनार्थम् । कथमेकद्रव्यलादिति ? चिन्त्यमेतत् ।

निष्काच्छतसहस्रान्तात् ॥४१॥४५॥ निष्कात्परौ यौ शतसहस्रशब्दौ तदन्तान्मृदो नित्यं ठञ्
भवति मत्वर्थे । निष्काणां शतम्, निष्कशतम्, तदस्यास्ति नैष्कशतिकः । नैष्कसहस्रिकः । सुवर्णनिष्कशत-
मस्यास्तीत्येवमादिष्वनभिधानान्न भविष्यति ।

रूप्यहिम्यगुण्याः ॥४१॥४६॥ रूप्य हिम्य गुण्य इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते मत्वर्थे । रूपशब्दादाहत-
विशिष्टान्च यत्यो निपात्यते । आहतं रूपमस्यास्ति रूप्यः कार्षापणः । प्रशस्तं रूपमस्यास्ति रूप्यो गौः । रूप्या
कन्या । आहतप्रशंसान्यामन्यत्र रूपवान् । हिममस्यास्तीति हिम्यः पर्वतः । गुणा अत्र सन्ति गुण्यस्तपस्वी ।
नित्यग्रहणं ठञा सह निवृत्तम् । वेत्यनुवृत्तेर्मतुगपि भवति । रूपवान् । हिमवान् । गुणवान् ।

विज्रस्मायामेधास्त्रजः ॥४१॥४७॥ असन्तान्मृदो माया मेधा स्रज् इत्येतेभ्यश्च विन् भवति ।
मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुगपि भवति । ओजस्वी । तेजस्वी । मायावी । मेधावी । स्रज्वी । तेजस्वान् । मेधावान् ।
स्रज्वान् । मायाशब्दस्य त्रीह्यादिपाठान्मृतुटेनो भवन्ति ।

वाचो गिमन् ॥४१॥४८॥ वाक्शब्दाद्गिमन् भवति मत्वर्थे । वाग्मी । “स्वाहावाचे” [१।२।१०६]
इति पदत्वात् पूर्वस्य कुत्वजस्त्वे । वाग्वान् । “ऋयः” [५।३।३१] इति मतोर्वत्वम् ।

बहुलापिन्यालाटो ॥४१॥४९॥ वाच आल आट् इत्येतौ ल्यौ भवतो मत्वर्थे बहुलापिन्यभिधेये ।
वाचालः । वाचाटः । “कुत्सायामयं योगो वक्तव्यः ।” यो हि समीचीनं बहु संलपति वाग्मीति भवति ।

अर्शाअदेरः ॥४१॥५०॥ अर्शस् इत्येवमादिभ्यः, अ इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । आदिशब्दः
प्रकारवाची । अर्शास्यस्य सन्ति, अर्शसः । अर्शस् । उरस् । तुन्द । मुण्ड । चतुर । पलित । जटा । घाटा ।
आभ्यां सिध्मादित्वात् लमत् अपि भवतः । तुन्दादित्वादिलोऽपि भवति । अभ्र । अम्ल । लवण । स्वाङ्गा-
दृशानात् । खञ्जः पादोऽस्याऽस्तीति खञ्जः । कायां चक्षुरस्य काणः । कथं कुण्ठिः पुरुषः कुण्ठिस्तः ?
तद्योगात्तयोक्तः । यथा पङ्कः । वर्णात् । शुक्लं हरितम् । ननु शुक्लादीनां भेदोपचारादेव भविष्यति । एवं
तर्हि द्रव्यवाचिभ्यो भविष्यति । शुक्लगुणयुक्ताः प्रासादाः शुक्ला अस्मिन् सन्ति शुक्लं नगरम् । “ज्योत्स्ना-
तमिस्त्राभ्यां णिद् भवति पक्षे” [वा०] ज्योत्स्नः पक्षः । तामिस्त्रः पक्षः । नेदं वक्तव्यम् । “अण्यप्रकरणे
ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानमिति” सिद्धम् । एवं च ज्योत्स्नी रात्रिः, तामिस्त्री रात्रिरिति ङीविधेरपि लाभः ।

द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिनीन् ॥४१॥५१॥ उपतापो व्याधिः, गर्ह्यं कुत्स्यम् । अत इति वर्तते ।
द्वन्द्वशब्दादुपतापवाचिनो गर्ह्यवाचिनश्च मृदः प्राणिनि वर्तमानादिन् भवति मत्वर्थे । शङ्कनूपुरिणी । कटक-
केयूरिणी । “अप्राण्यङ्गादिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । प्राणिपादवती । उपतापात् । कुष्ठी ।
किलासी । गर्ह्यात् । ककुदावती । काकतालकी । प्राणिनीति किम् ? पुष्पफलवान् वृक्षः । अत इत्येव ।
कटुकण्ठिकावती । ठमत्वोर्वचनार्थं (वाधनार्थं) सूत्रम् ।

वातातीसारभ्यां कुक् ॥४१॥५२॥ वात-अतीसारशब्दाभ्यां मत्वर्थे इन् भवति, तत्सन्नियोयेन
कुगागमः । उपतापत्वात्पूर्वेषु सिद्धे कुगर्थं आरम्भः । वातकी । अतीसारकी । “पिशाचाच्चेति वक्तव्यम्”
[वा०] पिशाचकी ।

डटो वयसि ॥४।१।५३॥ इन्निति वर्तते । डडन्तान्मृद इन्नेव भवति वयसि गम्यमाने । पञ्चमोऽ
स्यास्ति संवत्सरो मालो वा पञ्चमी उष्ट्रः । एवं नवमी । दशमी ।

सुखादेः ॥४।१।५४॥ सुख इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे । सुखमस्यास्ति सुखी । सुख । दुःख ।
तृप् । कृच्छ्र । अत्र । आस । अलीक । कर्ण । कृपण । सोढ । सोफ । प्रतीप । शील । हल । फल ।
माला क्षेपे । माली । अन्यत्र मालावान् माली च । व्रीह्यादिषु शिखादिमालाशब्दाः पठ्यन्ते, क्षेपे मतुबाध-
नार्थस्तस्येह पाठः ।

धर्मशीलवर्णान्तात् ॥४।१।५५॥ धर्मान्तात् शीलान्तात् वर्णान्ताच्च मृद इन्नेव भवति मत्वर्थे ।
तपस्विनां धर्मः तपस्विधर्मः, सोऽस्यास्तीति तपस्विधर्मा । तपस्विशीली । क्षत्रियवर्णा ।

पुष्करादेर्देशे ॥४।१।५६॥ पुष्कर इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे देशोऽभिधेये । पुष्करिणी ।
पद्मिनी । देश इति किम् ? पुष्करवान् हस्ती । पुष्कर । पद्म । उत्पल । कुमुद । तमाल । नड । कपित्थ । कर्दम ।
बिस । मृणाल । सत्वक । विगर्ह । करीष । शिरीष । यवास । हिरण्य । अत्रेष्टयः—“इन्द्रपुष्करयो बलाद् बाहूरु-
पूर्वाहुपसंख्यानम्” [वा०] । बाहुवली । ऊरुवली । “सर्वादेश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । सर्ववनी । सर्ववाजी ।
सर्वकेशी । “अर्थाद्वाऽसन्नहिते वर्तमानादिन् वक्तव्यः” [वा०] । अर्थासन्नहितस्यास्तित्वेन विरोध इति चेद्,
एवं तर्हि तद्विषयाऽभिलाषस्याविरोधः । अर्थी । अर्थाभिलाषयानित्यर्थः । असन्नहित इति किम् ? अर्थवान् ।
“तदन्ताद्वेति वक्तव्यम्” [वा०] । धान्यार्थी । हिरण्यार्थी । “शृङ्गवृन्दाभ्यामारको वक्तव्यः” [वा०] शृङ्गे अस्य
स्तः शृङ्गारकः । वृन्दारकः । “फलबर्हाभ्यामिनः” [वा०] फलिनो वृद्धः । बर्हिणो मयूरः । “हृदयाच्छालुर्वा
वक्तव्यः” [वा०] हृदयालुः । हृदयिकः । हृदयी । हृदयवान् । “शीतोष्णतृप्तेभ्यस्तन्न सहस्र इत्यालुर्वक्तव्यः”
[वा०] । शीतं न सहते शीतालुः । उष्णालुः । तृप्तालुः । “हिमाच्छैलुः” [वा०] । हिमं न सहते हिमेलुः ।
“बलादूलुः” [वा०] । बलं न सहते बलूलुः । “वातात्समूहे तन्न सहते इति च” [वा०] । वातसमूहो वातूलुः ।
वातं न सहते वातूलुः । “तः पर्वमरुद्भ्यां मत्वर्थे” [वा०] । पर्वारण्यस्य सन्ति पर्वतः । मरुतः ।

बलादेर्मतुर्वा ॥४।१।५७॥ बल इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति । वावचनेन पक्षे इन् प्रकृतः
समुच्चयते । ठोऽत्र न भवति । बलमस्यास्ति बलवान् । बली । इदमेव मतुवचनं ज्ञापकम्, इन्विषये मतुर्न
भवतीति । बल० उत्साह । उद्दास । उद्भास । बुल । दुष । पुल । दल । कुल । आयाभ । व्यायाम ।
प्रयाम । उपयाम । आरोह । अवरोह । परिणाह । शिखादेराकृतिगणत्वान्तिद्वे प्रपञ्चार्थमिदम् ।

मन्माभ्यां हौ ॥४।१।५८॥ मन्तान्मशब्दान्ताच्च मृद इन् भवति मत्वर्थे खुविषये । धर्मिणी ।
चर्मिणी । चर्मवतीति निपातनं वक्ष्यति । तत एव मतुः । मान्तात् । भामिनी । कामिनी ।

तुण्डवटिचलेर्भः ॥४।१।५९॥ तुण्ड वटि वलि इत्येतेभ्यो भ इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । विवृद्धा
नामिस्तुण्डः, सोऽस्यास्ति तुण्डभः । तुन्दादिषु स्वाङ्गविवृद्धाविति इलमनुठेनः प्राप्ताः । वटिभः । मतुः प्रातः ।
वलिभः । अस्मात्पामादिषु पाठात् नमत् च भवतः । बलिनः । वलिमान् ।

कंशभ्याम् ॥४।१।६०॥ कंशशब्दो मकारान्तो बलसुखयोर्वाचकौ । कं शं शब्दाभ्यां भत्यो भवति
मत्वर्थे । कम्भः । शम्भः ।

व्यस्तितुताः ॥४।१।६१॥ कंशभ्यां व यस्त्विति तु ता इत्येते ल्या भवन्ति मत्वर्थे । कम्भः, शम्भः,
कंयः, शंयः । सकारः “सिति” [१।१।१०५] इति पदसंज्ञार्थः । पदस्येत्यधिकृत्य यकारस्यानुस्वारपरस्वत्वे सिद्धे

भसंशयां हि कभ्यः शम्यः इत्यनिष्टं प्रसज्येत । कन्तिः, शन्तिः, कन्तुः, शन्तुः, कन्तः, शन्तः, । सर्वत्र पूर्वस्य पदत्वात् “भोऽनुस्वारः” [१।४।७] इत्यनुस्वारः । तस्य “वा पदान्तस्य” [१।४।१३३] इति परस्वत्वम् ।

ऊर्णाऽहंशुभंभ्यश्च युस् ॥४१।६२॥ ऊर्णा, अहम्, शुभम्, इत्येतेभ्यः कंशभ्यां च युस् इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । सकारः “सिति” [१।२।१०२] इति पदसंशयः । ऊर्णायुः । अहमित्यहङ्कारवाचि शब्दान्तरम् । अहंयुः । शुभमिति मकारान्तः शुभपर्यायः । शुभंयुः । कंयुः । शंयुः । नासिक्यस्य योरनादेशो वक्ष्यते इत्यस्य न भवति ।

सूक्तसाम्नोश्छुः ॥४।१।६३॥ मृदरञ्जो भवति मत्वर्थे सूक्ते साम्नि चाभिधेये । वेदे वाक्यसमूहः सूक्तम्, सामेति च संज्ञा । मरुठेनामपवादः । अञ्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति अञ्छावाकीयं सूक्तम् । मैत्रावरुणीयं सूक्तम् । यज्ञशब्दोऽस्मिन्नस्ति यज्ञीयं साम । वारतन्तवीयं साम । अनुकरणाशब्दा एतेऽनुकार्यशब्दैरर्थवन्त इति मूलंज्ञा सिद्धा । तेऽन्यपदसङ्घातादपि अनुकरणात्थो न भवति । अस्यवामशब्दोऽस्मिन्नस्त्यस्यवामीयम् । कयाशुभशब्दोऽस्मिन्नस्ति कयाशुभीयम् ।

अध्यायाऽनुवाकयोर्वोप् ॥४।१।६४॥ अध्यायाऽनुवाकयोरभिधेयोर्मृदरञ्जो भवति मत्वर्थे तस्य च वा उन्भवति । गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति गर्दभाण्डीयः । गर्दभाण्डः । कूर्चमुखः । उच्छिष्टीयः । उच्छिष्टः । दीर्घजीवितोः । दीर्घजीवितः । पदसमुदायात्थः । वलितस्कम्भीयः । वलितस्कम्भः ।

विमुक्तादिभ्योऽण् ॥४।१।६५॥ विमुक्त इत्येवमादिभ्योऽण् भवति मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयो-रभिधेयोः । विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्ति वैमुक्तोऽध्यायोऽनुवाको वा । विमुक्त । देवासुर । रत्नोऽसुर । उपसत् । परिसारक । वसु । मसत् । सखन्तु (त्) । पत्नीवन्तु (त्) । दशार्ह । वयस् । हविर्घाता । महिनी । सोमा-पूषन् । ईडा । आम्नाविषु (अग्नाविष्णू) । वृत्र । हर्तृ ।

घोषदादेर्बुन् ॥४।१।६६॥ अध्यायानुवाकयोरिति वर्तते । घोषदादिभ्यो मृद्व्यो बुन् भवति मत्वर्थे । घोषच्छब्दोऽस्मिन्नर्थे (स्मिन्नस्तीत्यर्थे) बुन् भवति । घोषदकोऽध्यायोऽनुवाको वा । घोषदिति केषाञ्चित्पाठः । घोषद् । ईषेत्वा । मातरिश्वन् । देवस्य त्वा । देवीराया (रापः) । देवीस्या । कृष्णो स्यात्खरेत्वा (खरेष्ट) । देवीन्विया (देवीं धियम्) । रत्नोहण । अर्जत । प्रतूर्त् । दृशान । अचार । अम्बन । प्रभूता (प्रभृत) । कृशानु ।

वनहिरण्ये कामे ॥४।१।६७॥ वनहिरण्यशब्दाभ्यामीप्समर्थभ्यां काम इत्येतस्मिन्नर्थे बुन् भवति । कामोऽभिलाषः । वने कामः, वनको देवदत्तस्य । हिरण्यको देवदत्तस्य ।

किं बहुसर्वनाम्नोऽद्वयादेः ॥४।१।६८॥ किमः, बहुशब्दात्, सर्वनाम्नश्च द्वयादिर्वाचिताद् वक्ष्यमाणास्त्या भवन्तीत्येषोऽधिकारो वंदितव्यः । “ते विभक्त्यः” [४।१।६९] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्मा-दयमधिकारः । द्वयादिपर्युदासेन प्रतिषेधे प्राते किमः पृथग्रहणम् । वक्ष्यमाणास्तसादयः स्वार्थिकाः । तेषुः समर्थग्रहणं प्रथमग्रहणं च प्रतियोगिनो द्वितीयस्याऽभावान्न सम्भवति । वाग्रहणं लनुवर्तत एव । कुतः । कस्मात् । बहुतः । बहुभ्यः । बहुशब्दश्चेह सङ्ख्यावाची गृह्यते, न वैपुल्यवाची । तेनेह (न) भवति बहोः सप्तात् । यतः । यस्मात् । ततः । तस्मात् ।

इदम इश् ॥४।१।६९॥ इदम इश् भवति वक्ष्यमाणेषु तसादिषु परतः । शकारः सर्वादेशार्थः । इतः । इह । इदानीम् ।

एतेतौ धीः ॥४११७०॥ इदम एत इत् इत्येतावादेशौ भवतो यथासङ्ख्यं रेफथकारादौ तसादौ परतः । इशोऽपवादः । अस्मिन् काले एतार्ह । अनेन प्रकारेण इत्थम् । “इदमो हि” [४११८२] “किमिदंभ्यां यम्” [४११६०] इति हिंयमौ ।

एतद्दः ॥४११७१॥ एतदश्च एत इत् इत्येतावादेशौ भवतो यथासङ्ख्यं रेफथकारादौ परतः । एतस्मिन्काले, एतार्ह । “वाऽनघतने हिं” [४११८६] इति हिंः । इदमो यो रेफथकारादिः, तस्मिन्परत इतीदं विशेषणम् । एतदोऽपि प्रकारे यं भवति । एतेन प्रकारेण इत्थम् ।

अश्र् ॥४११७२॥ एतदोऽशित्ययमादेशो भवति वक्ष्यमाणेषु तसादिषु परतः । शकारः सर्वादेशार्थः । अतः । अत्र ।

कायास्तस् ॥४११७३॥ किंबहुसर्वनाम्नोऽद्वयादेरिति वर्तते । कान्तात्तस् भवति । कस्मात् कुतः । बहुभ्यो बहुतः । यस्माद् यतः । तसि कृते पूर्वस्य सुपः “सुपो धुमृदोः” [११७१४२] इत्युप् । अद्वयादेरित्येव । द्वाभ्याम् । युष्मत् । अस्मत् ।

तसेः ॥४११७४॥ “प्रतियोगे कायास्तसिः” । [४२१४६] “अपादानेऽहीयरुहोः” [४२१२०] इत्येवमादिना विहितस्य तसेरिह ग्रहणम् । एतदर्थमेव च तत्रेकारेत्करणम् । किंबहुसर्वनाम्नः परस्य तसेस्तासादेशो भवति । कुत आगतः । बहुत आगतः । यत आगत । विभक्तीसंज्ञार्थं तसेस्तासादेशः । पूर्वेष्वैव तसा सिद्धमिति चेत्, नैवं शक्यम्, हीयरुहोः प्रयोगे कुतो हीनः यतो हीन इत्यत्र तसं पूर्वं सावकाशं नाधित्वा हीयरुहोरप्रयोगे (?) अपादाने किंबहुसर्वनाम-यः परत्वात्तसिर्भवति ।

पर्यभिभ्याम् ॥४११७५॥ परि अभि इत्येताभ्यां तस् भवति । परितः । अभितः । यथासङ्ख्यं सर्वोभयार्थं वर्तमानाभ्यामिष्यते । इह मा भूत् । परिभवति । अभ्येति ।

ईपस्त्रः ॥४११७६॥ किंबहुसर्वनामभ्यो द्वयादिर्वाजितेभ्य ईबन्तेभ्यस्त्र इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे । बहुषु बहुत्र । यस्मिन् यत्र । किमिदंभ्यामपवादो वक्ष्यति ।

इदमो हः ॥४११७७॥ इदम ईबन्तात् ह इत्ययं त्यो भवति । त्रस्यापवादः । अस्मिन्, इह ।

किमोऽः ॥४११७८॥ किम ईबन्तात् अ इत्ययं त्यो भवति । त्रस्यापवादः । कस्मिन् कः । “कुक्षौ तयोः (कुक्षौ तयोः)” [२१११६३] इति किमः कशब्दादेशः । कथं कुत्रचित् इति ? चिन्त्यमेतत् ।

दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि ॥४११७९॥ कामीपं च विहाय अन्यविभक्तयन्तेभ्योऽपि दृश्यन्ते तसादयः । किंबहुसर्वनाम्नोऽद्वयादेरिति वर्तते । क पुनर्दृश्यन्ते ? भवदादिशब्दस्य प्रयोगे । के पुनर्भवदादयः ? भवान् दीर्घायुर्देवानां प्रियः । आयुष्मानिति । स भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । तेन भवता । ततो भवता । तत्र भवता । तस्मै भवते । ततो भवते । तत्र भवते । तस्माद् भवतः । ततो भवतः । तत्र भवतः । तस्य भवतः । ततो भवतः । तत्र भवतः । तस्मिन् भवति । तत्र भवति । ततो भवति । एवमन्यत्राप्युदाहरणानि योज्यानि । भवदादिभ्योऽन्यत्रापि प्रयोगवशात्तसादयो वेदितव्याः । इतो गतः । अनेन गतः । इत आस्यताम् । इह आस्यताम् ।

दैकान्यकियत्तद् काले ॥४११८०॥ ईप् इति वर्तते । एक अन्य किं यत्तद् इत्येतेभ्य ईप्समर्थेभ्यः काले वर्तमानेभ्यो दा इत्ययं त्यो भवति । त्रादेरपवादः । एकस्मिन् काले एकदा । अन्यदा । कदा । तदा । यदा । काल इति किम् ? एकस्मिन् देशे एकत्र ।

सर्वस्य सो वा हि ॥४।१।८१॥ सर्वशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति वा दा इत्येतस्मिन्परतः । ईप् इति वर्तते । काल इति च । वृद्धकुमारीवरवाक्यम्यायेन इदमेव लक्षणं दाविधानस्य । सर्वस्मिन् काले सदा । सर्वदा ।

इदमो हि ॥४।१।८२॥ इदम ईबन्तात् काले वर्तमानात् हित्यो भवति । हस्याऽपवादः । अस्मिन् काले एतर्हि । काल इत्येव । इह देशे ।

अधुना ॥४।१।८३॥ अधुनेति निपात्यते । अस्मिन्काले अधुना । इदमः अशुभावो धुना त्यः । अथवा अधुना इति ल्यो निपात्यते । इदम इशादेशः । “यस्य कथाञ्च” [४।१।१३६] इति तस्य खम् ।

दानीम् ॥४।१।८४॥ इदम ईप्समर्थात्काले दानीमित्ययं ल्यो भवति । अस्मिन्काले इदानीम् ।

तद् ॥४।१।८५॥ तद् ईबन्तात्काले दानी भवति । तस्मिन्काले तदानीम् । तदः पूर्वं दाविहितः सोऽपि भवति । तदा ।

वाऽनद्यतने हि ॥४।१।८६॥ किंबहुसर्वनामभ्योऽद्वयादिभ्य ईबन्तैभ्योऽनद्यतने काले हित्यो वा भवति । पदे यो यतो विहितः स च भवति । कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा । अमुर्हि, अमुत्र ।

पूर्वान्यान्येत्तरेतरापराधरोभयोत्तरेभ्योऽहन्येद्युस् ॥४।१।८७॥ पूर्वादिभ्य ईप्समर्थेभ्योऽहनि वर्तमानेभ्य एद्युस् भवति । पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वैद्युः । अन्येद्युः । अन्यतरेद्युः । इतरेद्युः । अपरेद्युः । अवरेद्युः । उभयस्मिन्नहनि उभयेद्युः । उत्तरेद्युः । “द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः” [वा०] । उभयद्युः ।

सद्योऽद्यैषमः परेद्यविपरुत्परारि ॥४।१।८८॥ सद्य इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते । ईप् इति वर्तते काल इति च । समानस्य सभावो यश्चाहनि निपात्यते । समानेऽहनि सद्यः प्राणकरं जलपानम् । इदमोऽम् (श)भावोऽहनि य इत्ययं च त्यः । अस्मिन्नहनि अद्य । इदमः समसण संवत्सरे । अस्मिन् संवत्सरे ऐषमः । अकार उच्चारणार्थं । इदम इशादेशः । आदेरैप् । “स्यादेशयोः” [१।४।३६] इति षत्वम् । परशब्दादहनि एद्यवि । परस्मिन्नहनि परेद्यवि । पूर्वपूर्वतरयोः परभावः उदारी च ल्यौ संवत्सरे । पूर्वस्मिन् संवत्सरे परुत् । पूर्वतरे संवत्सरे परारि । कथं परुद्दास्यामि, परारि दास्यामि इति ? एवं तर्हि परपरतरयोरपि प्रकृत्योः परिग्रहः कर्तव्यः ।

प्रकारे था ॥४।१।८९॥ ईप् इति निवृत्तं काल इति च । किंबहुसर्वनामभ्योऽद्वयादिभ्यो यथा सम्भवं सर्वविभक्तयन्तैभ्यः प्रकारे वर्तमानेभ्यस्था इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । सामान्यस्य भेदको विशेषनिर्देशः प्रकारः । गच्छतीति सामान्यम् । तस्य विशेषनिर्देशः रथेन अश्वेन पादाभ्यामित्यादिः । पुरुष इति सामान्यम् । तस्य विशेषनिर्देशः बुद्धिमान् दत्तः शूर इत्यादि । वर्तते इति सामान्यम् । तस्य विशेषा अध्यापनादयः । सर्वेषां प्रकारेण सर्वथा । यथा । तथा । अद्वयादेरिति किम् ? द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां गच्छति । अयं प्रकारमात्रे भवति । जातीयः पुनः प्रकारवति । यजातीयः । तजातीयः ।

किमिदंभ्या यम् ॥४।१।९०॥ किम् इदम् इत्येताभ्यां प्रकारे वर्तमानाभ्यां यमित्ययं ल्यो भवति । था इत्यस्याऽपवादः । केन प्रकारेण कथम् । अनेन प्रकारेण इत्यम् ।

ते विभक्तस्यः ॥४।१।९१॥ ते तसादयस्त्या विभक्तीसंज्ञा वेदितव्याः । विभक्तीकार्यं कृत्वोदाहरणानि दत्तानि । “तसाद्विषूभशब्दस्य उभयादेशो वक्तव्यः” [वा०] । उमाभ्यामुभयतः उभयोर्भयत्र । उभाभ्यां प्रकाराभ्यामुभयथा । नेदं वक्तव्यम् । उभशब्दस्य तसाद्विषयेऽभिधानं नास्ति । यथा उभय-पुत्र इत्येवमादौ ।

दिकलुब्धेभ्यो वाकेभ्योऽस्ताद्दिग्देशयोः ॥४११।६२॥ दिशां शब्देभ्यः वा का ईप् इत्येवमन्तेभ्यो दिग्देशयोर्वर्तमानेभ्योऽस्तादित्ययं त्यो भवति स्वार्थे । पूर्वा दिग् रमणीया । पूर्वा दिशो रमणीयाः । पुरस्ताद् रमणीयम् । “अस्ताति” [४११।१०४] इति पूर्वावराधराणां पुरवध आदेशाः । अस्ताद्यन्ताः शब्दा अलिङ्ग-सङ्ख्या अनुप्रयोगाणां नपुंसलिङ्गहेतुर्भवति । पूर्वस्या दिश आगतः; पूर्वस्माद्देशादागतः, पुरस्तादागतः । पूर्वस्यां दिशि वसति, पूर्वस्मिन्देशे वसति, पुरस्ताद् वसति । एवमवस्ताद्रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद् वसति । दिकलुब्धेभ्य इति किम् ? ऐन्द्री दिग् रमणीया । ऐन्द्रीशब्द इन्द्रसम्बन्धिनः स्त्रीलिङ्गस्य वस्तुनो वाचको न तु दिकलुब्धः । वाकेभ्य इति किम् ? पूर्वा दिशां गतः । दिग्देश इति किम् ? पूर्वस्मिन् गुरो वसति । अत्र दिगाद्युपलक्षिते गुरौ पूर्वशब्दः प्रयुक्तः ।

काले ॥ ४११।६३ ॥ काले वर्तमानेभ्यो दिग्शब्देभ्यो वाकेवन्तेभ्योऽस्ताद् भवति । विभक्तीनां दिगादिभिर्यथासङ्ख्यं मा भूदित्येवमर्थं पृथक् सूत्रकरणम् । पूर्वकाले रमणीयः । पुरस्ताद् रमणीयः । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् वसति ।

दक्षिणोत्तराभ्यामतस् ॥४११।६४॥ दक्षिणोत्तरशब्दाभ्यां दिग्देशकालेषु वर्तमानाभ्यां वाकेवन्ताभ्यामतस् भवति । अस्ताताऽपवादः । दक्षिणशब्दस्य काले वृत्तिर्न सम्भवति । दक्षिणतो रमणीयम् । दक्षिणत आगतः । दक्षिणतो वसति । उत्तरतो रमणीयम् । उत्तरत आगतः । उत्तरतो वसति । किमर्थमतस्यकारः क्रियते ? स्त्रीलिङ्गोऽपि नास्ति विशेषः । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः” इति पुंवद्भावो भविष्यति । एवं तर्हि “तास्तसर्थं त्येन” [१।४।३६] इति विशेषणार्थः ।

वा परावराभ्याम् ॥४११।६५॥ पर-अवरशब्दाभ्यामतस् वा भवति अस्तादर्थे । परतो रमणीयम् । परस्ताद्रमणीयम् । परत आगतः । परस्तादागतः । परता वसति । परस्ताद्वसति । अवरतो रमणीयम् । अवरस्ताद्रमणीयम् । अवरत आगतः । अवरस्तादागतः । अवरतो वसति । अवरस्ताद्वसति । अवरशब्दो वाचनं न प्रयोजयति । “पूर्वापराधराणां पुरवधोऽसि” [४११।१०३] “अस्ताति” [४११।१०४] इति च वचनादस्तादर्थे भवतः ।

अञ्चेरुप् ॥४११।६६॥ अञ्च्यन्तेभ्यो दिकलुब्धेभ्यः परस्यास्तात् उन्भवति । प्राची दिग् रमणीया । प्राग्रमणीयम् । प्रागागतः । प्राग्वसति । अस्तात् अपि “हृद्व्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप् । एवं प्रत्यग्रमणीयम् । प्रत्यगागतः । प्रत्यग्वसति । देशकालयोरप्युदाहरणानि नेयानि ।

उपर्युपरिष्ठात्पश्चात् ॥४११।६७॥ उपरि उपरिष्ठात् पश्चात् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते अस्तादर्थे । ऊर्ध्वशब्दस्य उपभावो रिरस्तातो च त्यौ निपात्येते । ऊर्ध्वा दिग् रमणीया । उपरि रमणीयम् । उपरिष्ठाद्रमणीयम् । उपर्युर्गागतः । उपरिष्ठादागतः । उपरि वसति । उपरिष्ठाद् वसति । अपरशब्दस्य पश्चभाव आश्च त्यः । अपरो देशो रमणीयः । पश्चाद्रमणीयम् । पश्चादागतः । पश्चाद्वसति । केचित्परशब्दस्येदं निपातनमिच्छन्ति । “द्विकपूर्वपदस्य चापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः” [वा०] । आञ्च त्यः । दक्षिणा परा दिग् रमणीया । दक्षिण-पश्चाद्रमणीयम् । उत्तरपश्चाद्रमणीयम् । “अर्धोत्तरपदस्य च दिकलुब्धस्य पश्चभावो वक्तव्यः” [वा०] । दक्षिणापरमर्द्धम् । दक्षिणपश्चाद्धम् । उत्तरापरमर्द्धम्, उत्तरपदचाद्धम् । “अर्धं चोत्तरपदे केवलस्यार्धस्य पश्च-भावां वक्तव्यः” [वा०] । अपरमर्द्धं परचार्धम् ।

दक्षिणोत्तराऽव(ध)रादात् ॥४११।६८॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) इत्येतेभ्य आदित्ययं त्यो भवति अस्तादर्थे । दक्षिणाद्रमणीयम् । दक्षिणादागतः । दक्षिणाद् वसति । उत्तराद्रमणीयम् । उत्तरादागतः । उत्तराद्वसति । अव(ध)राद्रमणीयम् । अव(ध)रादागतः । अव(ध)राद् वसति । दक्षिणोत्तराभ्यामतसपि वचनाद् भवति । अस्तातः पुनरपवादोऽयम् । अवर (अधर) शब्दाद् वक्ष्यमाणवस्तातावपि भवतः ।

वैनोऽदूरेऽकायाः ॥४११६९॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) शब्देभ्यो वा एनो भवति अस्तादर्धेऽदूरे गम्येऽकायाः । कायाः पर्युदासेन वेपौ गृह्येते । दक्षिणेन रमणीयम् । दक्षिणेन वसति ग्रामम् । उत्तरेण रमणीयम् । उत्तरेण वसति । अवरेण (अधरेण) रमणीयम् । अवरेण (अधरेण) वसति । वावचनाद्यो यतो विहितः स च भवति । अदूर इति किम् ? हिमवतो दक्षिणाद् वसति । अत्रावरे रवविमादूरे (अत्रावधि-मान् दूरे) विवक्षितः । अकाया इति किम् ? दक्षिणादागतः । “दिवच्छब्दमात्राद्यमेनो वक्तव्यः” [वा०] दक्षिणोत्तरावर (धर) ग्रहणं नानुवर्तनीयमिति केचित् । अच्यन्ता दिक्छब्दादनभिधानान्न भवति ।

दक्षिणादा ॥४११७०॥ अकाया इति वर्तते । दक्षिणशब्दादा इत्ययं त्यो भवति अस्तादर्धे । दक्षिणा रमणीयम् । दक्षिणा वसति । सामान्येन दूरादूरयोरिहोदाहरणम् । उत्तरत्र दूरग्रहणात् । अकाया इत्येव । दक्षिणत आगतः ।

आहि च दूरे ॥४११७१॥ अकाया इति वर्तते । दक्षिणशब्दादाहिल्यो भवति आभा (चादा) अस्तादर्धे दूरे गम्यमाने । दक्षिणाहि रमणीयम् । दक्षिणाहि वसति । दक्षिणा वसति काञ्चीपुरात् । अकाया इत्येव । दक्षिणत आगतः ।

उत्तराच्च ॥४११७२॥ अकाया इति वर्तते दूर इति च । उत्तरशब्दादाहि आ इत्येतौ त्यौ भवतो अस्तादर्धे । आ इत्यनुकर्षणार्थश्चकारः । उत्तराहि रमणीयम् । उत्तरा रमणीयम् । उत्तराहि वसति । उत्तरा वसति । अकाया इत्येव । उत्तरत आगतः । दूर इत्येव । मार्गमुत्तरेण प्रया (पा) ।

पूर्वाविराधराणां पुरवधोऽस्ति ॥४११७३॥ अकाया इति निवृत्तम् दूर इति च । पूर्व, अवर, अधर, इत्येतेषां यथासङ्ख्यं पुर अर्ध अघ इत्येते आदेशा भवन्ति अस्तादर्धे अस्ति परतः । अनेनैवासौ विधानम् । पुरो रमणीयम् । पुर आगतः । पुरो वसति । अत्रो रमणीयम् । अत्र आगतः । अत्रो वसति । अघो रमणीयम् । अघ आगतः । अघो वसति ।

अस्ताति ॥४११७४॥ अस्ताति च परतः पूर्वादीनां पुरादयः आदेशा भवन्ति । इदमेव शापकम् । अस्तादपि भवतीति । अन्यथा विशेषविहितेनासा बाधा स्यात् । पुरस्ताद्रमणीयम् । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् वसति । अघस्ताद् रमणीयम् । अघस्तादागतः । अघस्ताद् वसति ।

वाऽवरह्य ॥४११७५॥ अस्ताति परतोऽवरस्यावादेशः । अवस्ताद्रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद् वसति ।

सङ्ख्याया विधार्थे धा ॥४११७६॥ यथासम्भवं विभक्तीयोगः । सङ्ख्याशब्देभ्यो विधाऽर्थे वर्तमानेभ्यो धा इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे । अर्थग्रहणसामर्थ्याद् विधाशब्द इह प्रकारवाची गृह्यते । स च प्रकारः द्रव्यगुणक्रियाविषयः । षड्भिः प्रकारैः षोढा द्रव्यम् । बहुधा गुणाः । पञ्चधा करोति रक्तम् । द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा करोति । त्रिधा । चतुर्धा । “अधिकरणविचाले चेति वक्तव्यम्” [वा०] । अधिकरणं द्रव्यम् । तस्य विचालः सङ्ख्यान्तरापादनम् । एकस्य नानात्वापादनम् । अनेकस्य वा एकत्वापादनमित्यर्थः । तस्मिन् गम्यमाने सङ्ख्याया धात्यो वक्तव्यः । एकं राशिं पञ्चधा कुरु । सप्तधा । नवधा । अनेकमेकधा कुरु । न वक्तव्यः । द्रव्यगुणक्रियामेदेन त्रिविधो विधार्थ इत्युक्तम् । तत्र वान्तर्भावात् । “प्रकारोक्तौ जातीयः” [४११२८] इत्यस्यापवादः ।

वैकाद्ध्यमुञ् ॥४११७७॥ एकशब्दाद्ध्यमुञ् भवति । पक्षे धा भवति । एकं राशिं कुरु, ऐक्यं कुरु । ऐक्यं भुङ्क्ते । एकधा भुङ्क्ते ।

द्वित्रैर्धमुञ् ॥४१११०८॥ वेति वर्तते । द्वित्रिभ्यां वा धमुञ् भवति विधायै । द्वैर्धं द्विधा । त्रैर्धं त्रिधा । “धमुञ्जन्तात् स्वार्थे ङो वक्तव्यः” [वा०] । मतिद्वैधानि । पथिद्वैधानि ।

एधा ॥४१११०९॥ द्वित्रिभ्यामेषा भवति विधायै । द्वेधा । त्रेधा । यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो योगविभागः ।

याप्ये पाशः ॥४११११०॥ याप्य इह कुत्सितोऽभिप्रेतः । याप्यन्ते अपनीयन्तेऽस्माद् गुणा इति याप्यः । बहुलवचनादपादाने व्यसंज्ञः । याप्येऽर्थे वर्तमानान्मृदः पाश इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । वैयाकरणो याप्यः, वैयाकरणपाशः । यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दविनिवेशः, तत्कुत्सने भवति । इह मा भूत् । चौ ये (रो) वैयाकरणः । इह याप्या कुमारी, कुमारपाशा । “जसादो” [४१३१४७] इति पुंवद्भावः । “वयस्यनन्ये” [२११२४] इत्यस्य ङाविधेः कृतत्वात्पाशान्तादृष्टाप् भवति । उक्तं च—

“स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।

समवेतस्य तु वचने लिङ्गं संख्या विभक्तोरथ ॥

अभिधाय तान्विशेषानपेक्षमाणस्तु कृत्स्नमात्मानम् ।

प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः” ॥ [४१३१७४ पात० भा०]

षष्ठाऽष्टमाद् भागे च ॥४१११११॥ षष्ठ-अष्टमशब्दाभ्यां भागे वर्तमानाभ्यां ज इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । षष्ठो भागः, षाष्ठः । आष्टमः । विकल्पाधिकारादनुत्पत्तिरपि भवति । षष्ठः । अष्टमः । भाग इति किम् ? षष्ठः पुरुषः ।

मानपश्वङ्गयोः कोपौ च ॥४११११२॥ भाग इति वर्तते । षष्ठाष्टमशब्दाभ्यां मानपश्वङ्गयो-र्भागविशेषयारभिमधेययोः क उप इत्येतौ भवतः । पूर्वेण विहितस्य अस्य उप द्रष्टव्यः । षष्ठशब्दान्माने भागविशेषे को भवति । अष्टमशब्दात्पश्वङ्गभागविशेषे अस्य उठ्भवति । षष्ठको भागो मानं चेत्तद् भवति । अष्टमो भागः पश्वङ्गं चेत्तद् भवति । विहितस्य अस्योत्पत्तिविधानसामर्थ्याद् वा जोऽपि भवति । षाष्ठः । षष्ठः । आष्टमः । अष्टमः ।

एकादाकश्चासहाये ॥४११११३॥ एकशब्दादसहायवाचिन आर्काङ्गत्ययं ल्यो भवति कोपौ च स्वार्थे । कस्योप् ? कार्कानोः । एकाकी । एककः । एकः । असहाय इति किम् ? यदैकशब्दः सङ्ख्यायामन्यार्थे वा वर्तते तदा मा भूत् । अत एव द्विवहू आपि भवतः । एकाकिनो । एकाकिनः । सख्यावाचिते (ल्ते) एकवचनमेव स्यात् । अन्यार्थत्वे बहुवचनमेव स्यात् ।

तमेष्ठावतिशायने ॥४११११४॥ अतिशायनं प्रकर्षः । “अन्यस्यापि” [४१३२३२] इति दीत्वम् । इदं च प्रकृत्यर्थविशेषणं सर्वेषां स्वार्थकानां द्योत्यम् । अतिशायनविशिष्टस्य वर्तमानान्मृदः स्वार्थे तम इष्ट इत्येतौ ल्यौ भवतः अतिशायने द्योत्ये । वान्ताभ्यात्पत्तिः । सर्वे इमे आढ्याः, अयमेषामाढ्य-तमः । सुकुमारतमः । सर्वे इमे पटवः, अयमेषां पटुतमः । कथं गीतमः । कारकतमः इति ? अत्रापि क्रियागुणद्वारेण प्रकर्षापकर्षयोगोऽस्ति । “शेषौ गुणवचनादेव” [४११११८] इति नियमो वक्ष्यते । सर्वे इमे पटवः, अयमेषा पटिष्टः । यदा प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षविवक्षा, तदा आतिशायिकान्तादपरः आतिशायिकः । श्रेष्ठतमः । अदूरविप्रकर्षिणां समानकक्षाणां स्पर्धा । तेनेह न भवति । सर्षपाणां महतामातिशायने महान् हिमवान् इति ।

मिडः ॥४११११५॥ यद्यपि मिडन्ते साधनप्रधाने अभिधानरूपेण गुणीभूता क्रिया, तथापि तस्याः साध्यमानत्वात्प्राधान्यम् । तदपेक्षायां साधनप्रकर्षेऽयं विधिर्वेदितव्यः । मिडन्तादतिशायने तम इत्ययं ल्यो भवति । इथाम्भृदधिकारात् पूर्वेण प्रातिनिर्नास्ति । सर्वे इमे पचन्ति, अयमेषां पचतितमाम् । पठतितमाम् । “किमेन्मिड्किफ्फादामद्रव्ये” [४१२।२०] इत्याम् । इष्टो “गुणवचनादेव” [४११।११८] इति नियमादिह न सम्भवति ।

द्विविभज्येतरस्यसू ॥४११११६॥ द्वौ च विभज्यं च, द्विविभज्यम् । द्विग्रहणमर्थनिर्देशपरम् । विभक्त्यं विभज्यं पृथक्कर्तव्यमित्यर्थः । इदमेव निपातनं यन्निधे । द्रव्ये विभज्ये च प्रयुक्ते सति इथाम्भृदो मिडश्च अतिशायने श्लोके तर इयमु इत्येतौ ल्यौ भवतः । तमेष्टयोरपवादः । यथासङ्ख्यमस्वरितत्वादिह नेष्यते । उभाविमावाद्यौ, अयमनयोराद्वयतरः । कारकतरः । द्वाविमौ पचतः । अयमनयोः पचतितराम् । ईयसुगुणवचनादेव । द्वाविमौ पट्ट, अयमनयोः पटीयान् । सूत्रे द्विशब्देन यद्यर्थग्रहणं द्वयोरर्थयोरकतर-स्यातिशायने इति तदा सिद्धमिदम् । अस्माकं देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतर इति द्वयर्थत्वादस्य । इदं तु न सिद्धयति । दन्तौष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः । पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतराविति । अत्रापि जात्यपेक्षयाऽ-र्थद्वित्वोपपत्तेः । विभज्ये । सांकाश्यका माथुरेभ्य आदयतराः । पटीयांसः । अत्र जात्यभावाद्द्वयर्थता नास्ति । तथापि नासौ शब्दोपात्ता । अत एव बह्वन्तप्रदाहरणम् ।

तादी भः ॥४११११७॥ अतिशायने चत्वारस्तथा विहित्वास्तेषु तकारादी भ्रमंज्ञौ भवतः । कुमारितरा । कुमारितमा । “भ्रूपककृपचेल्ङ्घुवगोत्रमवहते प्रो.नेकाचः” [४१३।१५५] इति पूर्वस्य प्रादेशः । भ्रान्तादतष्टाप् ।

शेषो गुणवचनादेव ॥४११११८॥ तादी मुक्त्वा इष्टेयसू शेषो । शेषो गुणवचनादेव भवतो नान्य-स्मादिति नियमोऽयम् । सर्वे इमे पटवः अयमेषां पारष्टः । द्वाविमौ पट्ट, अयमनयोः पटीयान् । अयमस्मात्पटी-यान् । शेषग्रहणं प्रकृततादिनिवृत्त्यर्थम् । गुणवचनादिति किम् ? गोतमः । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । मैवं विशायि, शेषावेव गुणवचनादिति । एवं द्विपट्टतम इति न स्यात् ।

प्रशस्यस्य भ्रः ॥४११११९॥ शेषग्रहणं प्रकृतम् । तदर्थवशादीपा विपरिणम्यते । प्रशस्यशब्दस्य भ्र इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । प्रशंसनीयः, प्रशस्यः । “शसिदुहिगुह्मिभ्यो वेति वक्तव्यम्” [१।१।११ बा०] इत्युपसङ्ख्यानात्कथम् । इदमेव ज्ञापकम् । इह शेषो गुणवचनादेवेति नियमो न प्रवर्तते । सर्वे इमे प्रशस्याः । अयमेषां श्रेष्ठः । द्वाविमौ प्रशस्यो अयमनयोः श्रयान् । “नैकाचः” [४।४।१५४] इति शेषे टिक्वं न । तरतमौ भवत एव । प्रशस्यतमः । प्रशस्यतरः ।

ज्यः ॥४१११२०॥ प्रशस्यशब्दस्य ज्य इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेषां ज्येष्ठः । द्वाविमौ प्रशस्यो, अयमनयोर्ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् । “ज्यादेयसः” [४।४।१२२] इति परस्यादेराकारः यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थं योगान्तरम् ।

वृद्धस्य ॥४१११२१॥ वृद्धशब्दस्य च ज्य इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । सर्वे इमे वृद्धाः, अयमेषां ज्येष्ठः । द्वाविमौ वृद्धौ अयमनयोर्ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् । आदेशार्थं वचनम् । तरतमौ सिद्धावेव । वृद्धतरः । वृद्धतमः । “बहुलगुरुरूद्धादि” [४।४।१४१] सूत्रेण वृद्धशब्दस्य वर्षादेशोऽपि भवति । वर्षिष्ठः । वर्षायान् ।

वाढान्तिकयोः साधनेदौ ॥४१११२२॥ वाढान्तिकशब्दयोः यथासङ्ख्यं साधनेद इत्येतावादेशौ भवतः शेषयोः परतः । निमित्ततां यथासङ्ख्यं नेष्यते, भिन्नयागनिर्दिष्टत्वात् । सर्वे इमे वाढं जल्पन्ति, अयमेषां

साधिष्टं जल्पति । अयमनयोः साधीयो जल्पति । यदि वादशब्दो द्रव्यवचनः साधीयानिति । सर्वाणीमानि अन्तिकानि, इदमेषां नेदिष्टम् । इदमेनयोर्नेदीयः । इदमस्मान्नेदीयः । तरतमौ भवत एव । वादतरम् । वादतमम् ।

युवाऽल्पयोः कन्वा ॥४१११२३॥ युव अल्प इत्येतयोः कन्नित्ययमादेशो भवति वा शेषयोः परतः । शेषयोर्विधानं पूर्ववद्व्याख्येयम् । सर्व इमे युवानः, अयमेषां कनिष्ठः । कनीयान् । यदा युवशब्दस्य कन्वादेशो न भवति तदा “स्थूलदूरेत्यादिना” [४१४।१४७] यणः खमिक एप् । यविष्टः । यवीयान् । सर्व इमेऽल्पा अयमेषां कनिष्ठः । कनीयान् । अल्पिष्टः । अल्पीयान् । तरतमौ भवत एव ।

विन्मतोरूप ॥४१११२४॥ विन् मत् इत्येतयोरेकमवति शेषयोः परतः । इदमेव शापकम् । शेषयोर्विधानस्य यथासङ्ख्यमत्र नेष्यते । सर्व इमे खग्विणः, अयमेषां सजिष्ठः । सजीयान् । सर्व इमे खग्वन्तः, अयमेषां लचिष्टः, लचीयान् ।

प्रशंसायां रूपः ॥४१११२५॥ इयाम्मृद इति वर्तते मिड इति च । प्रशंसायां वर्तमानान्द्वयाम्मृदो मिडश्च रूप इत्ययं त्यो भवति प्रशंसायां व्याख्यायाम् । स्वार्थिकानां प्रकृत्यर्थविशेषणं व्योत्यं भवति । बाव्यं पुनस्तत्प्रकृतेरेव । वैयाकरणः प्रशस्तः, वैयाकरणरूप । पटुरूपः । प्रशस्ता कुमारी कुमारिरूपा । “तसादौ” [४१३।१४७] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “ऋरूपेत्यादिना” [४१३।१५५] प्रादेशः । वयोलक्षणडीविधेः कृतत्वाद्रूपान्ताट्टाप् । कथं निन्दायां प्रयोगः ? वृषलरूपोऽयं यो मासेन सुरां पिबेत् । चौररूपोऽयं योऽर्द्धस्वमञ्जनमपि हरेत् । अत्रापि प्रकृत्यर्थस्य वैस्पष्ट्यम् । प्रशंसायां मिडः खल्वपि । पचति रूपम् । पचतो रूपम् । पचन्ति रूपम् । लोकाश्रयमिह नपुंसकलिङ्गम् । क्रियाप्रधानमाख्यातम् । एका च क्रियेति रूपान्तादेकवचनमेव भवति ।

आसिद्धौ देश्यदेशीयकल्पाः ॥४१११२६॥ सिद्धिः परिपूर्णता, न सिद्धिरसिद्धिः । ईषदसिद्धि-रासिद्धिः । तद्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्द्वयाम्मृदो मिडन्ताच्च देश्य देशीय कल्प इत्येते त्या भवन्ति स्वार्थे । ईषदसिद्धः पटुः, पटुदेश्यः । पटुदेशीयः । पटुकल्पः । स्त्रियां पट्विदेश्या तसादिध्वपरिगणनात् पुंवद्भावो नास्ति । पटुदेशीया । “पुवद्यजातीय” [४१३।१२४] इति पुंवद्भावनः । पट्विकल्पा कल्पस्य तस्यातसादित्वात् “तसादौ” [४१३।१४७] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “ऋरूप” [४१३।१५५] इत्यादिनेकारान्तस्य प्रः । “जात् स्त्रियाम्” [४१२।२२] इत्यत्र वदयते । अतिवर्तते च स्वार्थिकाः प्रकृतिं लिङ्गसङ्ख्ये इति । तेन गुडकल्पा द्राक्षा । तैलकल्पा प्रसन्ना । पयस्कल्पा यवागूः । मिडः । ईषदसिद्धं पचति, पचतिदेशीयम् । पचतिकल्पम् । पचतःकल्पम् । पचन्तिकल्पम् ।

वा सुपो बहुःप्राक्तु ॥४१११२७॥ आसिद्धाविति वर्तते । ईषदसिद्धिर्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाम्मृदः सुवन्ताद् बहुत्यो वा भवति । स तु प्राग्भवति । विभाषया त्योत्पत्तिर्यथा स्यात् प्राग्भावस्तु नित्यः । इत्यस्य व्यतिरेकस्य दर्शनार्थस्तुशब्दः । ईषदसिद्धं कृतं बहुकृतम् । त्ये कृते मृत्संज्ञायां पुनः सुप् । “ऋदृष्टसाः” [१।१।६] इत्ययं नियमस्तुल्यजातीयस्य सुबन्तसमुदायस्यान्यत्यान्तस्य च मृत्संज्ञां निवर्तयति । तेन बहुकृतशब्दात्सुबुत्पत्तिः । एवं बहुपटुः । बहुगुडः । यदा द्राक्षाविशेषणं भवति तदा टाप् । बहुगुडा द्राक्षा । वाग्रहणं देश्यादिसमावेशार्थम् । अन्यथा मिडन्ते सावकाशान् देश्यादीनयं बाधेत । सुप इति किमर्थं यावता “प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्त” इत्युक्तं पुनः सुवग्रहणं मिडन्निवृत्त्यर्थम् । परत्वाद्देश्यादिषु कृतेषु तमादयः । पटुदेश्यतमः । बहुपटुतमः । ईषदसिद्धेः प्रकर्षो नास्तीति प्रकृत्यर्थप्रकर्षे तमादयः ।

प्रकारोक्तौ जातीयः ॥४१११२८॥ प्रकारोक्तौ सुबन्ताजातीय इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । पटुप्रकारः पटुजातीयः । पण्डितजातीयः । यजातीयः । तजातीयः । प्रकारवति चायं वेदितव्यः । प्रकारमात्रे थायमौ । तेन तदन्तादपि । यथाजातीयः । कथंजातीयः । एवमर्थं वेहोक्तिप्रहरणम् ।

एवात्कः ॥४१११२९॥ “इवे प्रतिकृतौ कः” [४१११२०] इति वक्ष्यति । आ एतस्मादिव संशब्दनात् यदित ऊर्ध्वमनुक्तमिध्यामः, तत्र क इत्ययमधिकृतो वेदितव्यः । आङ्गिह मर्यादावचनः । वक्ष्यति “कुत्साऽज्ञातयोः” [४१११३१] । कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः । गर्दभकः । इह सुप इत्यनुवर्तनान्मिडन्तात्को नेष्यते ।

भिसर्वनाम्नोऽकप्राक्टेः को दः ॥४१११३०॥ मिड इति च वर्तते । भेः सर्वनाम्नश्च अगित्ययं ल्यः टेः प्राग्भवति ककारस्य च दकारः एवादर्थेषु । कस्यापवादः । मृदः सुप इति च वर्तते । तत्राभिधानवशाद् व्यवस्था । भिसंज्ञाके नास्ति विशेषः । उच्चकैः । नीचकैः । यदि ककारोऽस्ति तस्य दकारः । हिरक्, हिरकुत् । पृथक् पृथक्त् । सर्वनाम्नो मृदवस्थायामक् । सर्वके । विश्वके । उभकौ । उभयके । युष्मकाराभिः । अस्मकाराभिः । युष्मकासु । अस्मकासु । युष्मयोः । आवकयोः । इह सुबन्तादेव । त्वयका । त्वयकि । मयकि । सुप इत्यादिसम्बन्धादेव “रूपो धुमृदोः” [१४११४२ इत्युभेष्प्यते । मिडः खल्वपि । पचकति । पठताकि । “तन्मध्यपसितास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” इति मिडन्तमेवैतत् । “अक्प्रकरणे तूष्णीमः काम् वक्तव्यः” [वा०] मकारः “पराऽचो मिद्” [११११२५] विशेषणार्थः । तूष्णीकामास्ते । “शीले को मखं च” [वा०] तूष्णी शीनस्तूष्णीकः ।

कुत्साऽज्ञातयोः ॥४१११३१॥ कुत्साऽज्ञातत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानान्मृदः स्वार्थे यथाविहितं ल्यो भवति । कुत्सितोऽश्वः कस्यायमश्व इति वाऽश्वकः । उष्ट्रकः । उच्चकैः । सर्वके । पचतकि । इह कुत्सितक इत्यज्ञातार्थे । अज्ञातक इति कुत्सितेऽर्थे क । अतः कविधेस्तमादयो भवन्ति । पूर्वनिर्णयेन, पश्चात्कादिविधिः । पटुतरकः । मृदुतरकः । पचतितरकाम् । छिन्नकादिपु के कृते तमादयः । छिन्नकतरः । भिन्नकतरः ।

अनुकम्पायाम् ॥४१११३२॥ सौहृदेन कारुण्येन वा परस्यानुग्रहोऽनुकम्पा तत्र वर्तमानान्मृदः सुबन्तान्मिडश्च यथाविहितं ल्यो भवति । अनुकम्पितो माणवो माणवकः । बुभुक्षितक । नीचकैः । याचतके ।

नीतौ च तद्युक्तात् ॥४१११३३॥ अनुकम्पाविषयायां नीतौ गम्यमानायां तद्युक्तादनुकम्पायुक्ताद्यथाविहितं ल्यो भवति । चकारोऽनुकम्पाऽनुकर्षणार्थः । तेन सामोपप्रदानलक्षणा नीतिरिह गृह्यते, न भेदः दण्डलक्षणा । पूर्वसूत्रेणानुकम्प्यमानवाचिनस्त्यो विहितोऽनेन पुनस्तद्युक्ताद्विधीयते । पुत्रक उत्संगक । उपाविश कर्दमकेनासि दिग्भकः । हन्त ते तिलकाः । हन्त ते गुडकाः । एहकि । अदकि । उपविश, असि, ते, हन्त इत्येवमादिषु अनभिधानान्न भवति ।

बह्वृचो नृखोर्वा ठः ॥४१११३४॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति सर्वमनुवर्तते । बह्वृचो मृदो नृनामधेयाद् वा ठ इत्ययं ल्यो भवति । अनुकम्पायां “नीतौ च तद्युक्तात्” [४१११३३] इति नित्ये के प्राप्ते वा ठः । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः । देवदत्तकः । जिनिक । जिनदत्तकः । “ठाऽचि द्वितीयात्परोऽचः” [४१११३६] इति दत्तशब्दस्य खं ट्यस्येकादेशश्च । बह्वृच इति किम् ? रामकः । दत्तकः । नृग्रहणं किम् ? देवदत्तको हस्ती । खुग्रहणं किम् ? माणवकः ।

घेतौ ॥४१११३५॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तते । बह्वृचो नृखोर्घ इल इत्येतौ ल्यो भवतः । अनुकम्पितो देवदत्ता देवियः, देविज्ञः । पूर्वेण वा ठाऽपि भवति देविकः, देवदत्तकः ।

अडबू वोपादेः ॥४१११३६॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तते । उपशब्दादेर्मुदो बहुचो नृखोः अड बु इत्येतौ त्यौ भवतो घेलो च वा । अनुकम्पितो उपेन्द्रदत्तः उपडः, उपकः, उपियः, उपिलः, उपिकः, उपेन्द्रदत्तकः । यादिवृशब्दो यकारस्य खं कृत्वा निर्दिष्ट । तेन वोरकादेशः सिद्धः ।

जातिनाम्नः कः ॥४१११३७॥ जातेनाम जातिनाम जातिशब्द इत्यर्थः । बहुवृत्तोऽबहुवृत्तश्च सयान्येनायं विधिः । जातिशब्दान्मुखोः अनुकम्पाया नीतौ च गम्यमानायां क इत्ययं त्यो भवति । अनुकम्पितो महिषो महिषकः । बराहकः । शरभकः । व्याघ्रकः । सिंहकः । इह केचिद्वाग्रहणमनुवर्त्य व्याघ्रिलः, सिंहिलः इत्युदाहरन्ति तत्तु नातिश्लिष्टम्, अस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्माद् घादीनां वाधैव युक्ता ।

द्योः खं चाऽजिनस्य ॥४१११३८॥ नृखोरिति वर्तते । अजिनशब्दान्तान्मुदो नृखोः अनुकम्पायां नीतौ च गम्यमानायां क इत्ययं त्यो भवति तस्य च द्योः खं भवति । अनुकम्पितस्तुलाजिनस्तुलकः । व्याघ्रकः । मृगकः । द्युग्रहणं किमर्थम् ? अजिनशब्दान्तस्य द्योः खं यथा स्यात् । अनुकम्पितो व्याघ्रमष्टाजिनो व्याघ्रकः ।

ठाऽचि द्वितीयात्परोऽचः ॥४१११३९॥ खमिति वर्तते । प्रकृते टेऽजादौ च परतः । प्रकृते-द्वितीयादचः परशब्दो नाश्रयते । परग्रहणं सर्वनाशार्थम् । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः, देवियः, देविलः । अनुकम्पित उपेन्द्रदत्त उपडः, उपकः । अथाजातित्वादेव सिद्धं पृथक् उग्रहणं किमर्थम्, खे कृते इकादेशो यथा स्यादित्येवमर्थः । अन्यथा अनुकम्पितो भानुदत्तः भानुकः । पितृकः इत्येवमादि न सिद्ध्यन्ते । इकस्य स्थानिवद्भावाद्ग्रहणेन ग्रहणत्कादेशो भविष्यतीति चेन्न; “संज्ञिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विजातस्य” अजादिसंज्ञिपातकृतमुगन्तत्वम् । “चतुर्थादचः परस्य खं वक्तव्यम्” [वा०] बृहस्पतिदत्तः । बृहस्पतियः । बृहस्पतिलः । बृहस्पतिकः । “अनजादौ द्वितीयादचः परस्य वा खं वक्तव्यम्” [वा०] देवदत्तकः । देवकः । जिनदत्तकः । जिनकः । “पूर्वपद-य च ठाजादौ अजादौ च खं वक्तव्यम्” [वा०] दत्तिक । दत्तियः । दत्तिलः । दत्तकः । “विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्” [वा०] । सत्यमामा । मामा । सत्या वा । विष्णुगुप्तः । गुप्तः । विष्णुर्वा । “उवर्णादिलस्य च खं वक्तव्यम्” [वा०] । परस्यादेरितीकारस्य । भानुदत्तः, भानुलः । वसुलः । उक्तञ्च-

“चतुर्थादनजादौ च नाशः पूर्वपदस्य च । अनिमित्ते तथैवेष्टः उवर्णात्तादिलस्य च ॥”

“उगन्तादियेलयोः खं वक्तव्यम्” [वा०] । प्रकृते ठाचि द्वितीयात्परस्य खे कृते इयेलयोश्च परस्यादेः खे कृते भवादीकारो ये दीत्वं रीङ्भावः इत्येते विधयो न भवन्ति । भानुयः । मानुयः । भानुलः । “एचो द्वितीयत्वे तदादेः खं वक्तव्यम्” [वा०] । लहोडः । लहिकः । कहोडः । कहिकः । कपोतरोम । कपिकः । कपिलः । अमोघजिह्वः । अमिक । अमिलः । “एकाक्षरपूर्वपदानां द्योः खं वक्तव्यमषषः” [वा०] अनुकम्पितो वागाशी(दत्तः) वर्चिकः । त्वचिकः । श्रुचिकः । पूर्वस्य पदकार्यनिवृत्त्यर्थमेतत् । अषष इति किम् । षडङ्गुलिः षडिकः ।

शेवलसुपरिविशालवरुणार्थमादेस्तृतीयात् ॥४१११४०॥ शेवल सुपरि विशाल वरुण अर्थमन् इत्येवमादेर्मुखोर्मुदस्तृतीयादचः परो नाश्रयते ठाचि परतः । द्वितीयादचः परस्य खे प्राप्ते वचनम् । अनुकम्पितः शेवलदत्तः शेवलिकः । शेवलियः । शेवलिलः । सुपरिकः । सुपरियः । सुपरिलः । विशालिकः । विशालियः । विशालिलः । वरुणिकः । वरुणियः । वरुणिलः । अर्थभिकः । अर्थमियः । अर्थमिलः । “अकृतसन्धीनां शेवलादीनामित्ति वक्तव्यम्” [वा०] । शेवलेन्द्रदत्तः शेवलिकः । सुपर्याशीर्दत्तः सुपरिकः । शेवलिकः सुपरिक इति च माभूत् । नेदं वक्तव्यम् । अकृतवद्व्यूहेन सिद्धम् । अकृतवद्व्यूहो नाम अन्तरङ्गपरिभाषाया अव्यापारः ।

अल्पे ॥४११४१॥ समन्ततो हीनं महत्प्रतिपन्नभूतमल्पम् । अल्पत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् यथाविहितं त्यो भवति । सुप इति वर्तते । अड्याम्भृदो भि । सर्वनाम्नो मिड इति च । अल्पमन्नमन्नकम् । घृतकम् । उच्चकैः । सर्वकः । पचतकि । द्रव्यद्वारेण क्रियाया अल्पत्वमहत्त्वे ।

ह्रस्वे ॥४११४२॥ आयामतो हीनं दीर्घप्रतिपन्नभूतम् (ह्रस्वम्) । ह्रस्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् यथाविहितं त्यो भवति । ह्रस्व पट् । पटक । वृद्धकः । उच्चकैः । सर्वकैः । पचतकि ।

कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ॥४११४३॥ ह्रस्व इति वर्तते । कुटी शमी शुण्डा इत्येतेभ्यो र इत्यर्थं त्यो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कुटी कुटीरः । शमीरः । शुण्डारः । लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति पुंलिङ्गता ।

कुत्वा डुपः ॥४११४४॥ कुतः श्रावणम् । कुतूशब्दाद् डुप इत्यर्थं त्यो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कुतः कुतुपः स्नेहभाजनविशेषश्रममयः ।

कासूगोणीभ्यां तरट् ॥४११४५॥ कासूः शक्तिः आयुधविशेष इत्यर्थः । गोणीत्यावणमुच्यते । कासूगोणीशब्दाभ्यां तरट् भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कासूः कासूतरी । ह्रस्वा गोणी गोणीतरी ।

वत्साक्षात्श्वर्षभेभ्यस्तनुत्वे ॥४११४६॥ ह्रस्व इति निवृत्तं विशेषणान्तरोपादानात् । वत्स, उच्चन्, अश्व, ऋषभ इत्येतेभ्यस्तनुत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानेभ्यस्तरट् भवति स्वार्थं । यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दविनिवेशस्तस्य तनुत्वे तरट् । तनुर्वत्सो वत्सतरः । उच्चतरः । अश्वतरः । ऋषभतरः । वत्सस्य तनुत्वं यौवनप्राप्तिः । यौवन उपचीयमाने वत्सत्वं तनुर्भवति । उच्चा तरुण उच्यते तस्य तनुत्वं तस्मात्परस्य वयसः प्राप्तिः । अश्वेनाशवायामुत्पन्नोऽश्वः । तस्य तनुत्वं विजातीयानुत्पत्तिः । ऋषभो भारवहस्तस्य तनुत्वमसमर्थता ।

क्रियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरः ॥४११४७॥ किं यत् तद् इत्येतेभ्यो द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्यमाने डतर इत्यर्थं त्यो भवति । सामर्थ्यानिर्धार्यमाणवाचिभ्यः किमादिभ्यस्तस्यः । समुदायाजातिगुणक्रियासंज्ञाभिरेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । को भवताः कठः । कतरो भवतोः पटुः । कतरा भवतो कारकः । कतरो भवतो देवदत्तः । एवं यतरः । ततरः । महाविकल्पाधिकाराद्वाक्यमपि साधु । निर्धारणे इति किम् ? द्वयोर्ग्रामयोः कः स्वामी । द्वयोरेकस्य स्वामित्वे मा भूत् । द्वयोरिति किम् ? यस्मिन् कुले यः प्रधानं च (स) आगच्छत् । एकस्येति किम् ? एकग्रहणेऽक्रियमाणे बहुषु एकत्र वा द्वयोर्निर्धारणं सम्भाव्येत । तेनेहापि प्रसज्येत । को भवतां काञ्चीपुरको । को एतस्मिन् ग्रामे देवदत्तगुरुदत्ताविति ।

वा बहूनां जातिप्रश्ने डतमः ॥४११४८॥ एकस्य निर्धारण इति वर्तते । जातिश्च प्रश्नश्च जातिप्रश्नम् । बहूनामेकस्य निर्धारणे गम्यमाने किमादिभ्यो वा डतम इत्यर्थं त्यो भवति जातिप्रश्नविषये । किमो जातिविषये प्रश्नविषये च त्यः । इतरेभ्यो जातिविषये । वाचनमुत्सर्गस्याकः प्रापणार्थम् । को भवतां कठः । कतमो भवतां कठः । अकि साकः किमः कादेशे को भवतां कठः । यतमो भवतां कठः । यको भवतां कठः । कतमो भवतां कठः । अत्र वृत्त्यन्तरे पाठः । वा बहूनां परिप्रश्न इति । तेन को भवतां वैयाकरणस्तार्किको नैयायिको वा । कतम इति भवति । बहूनामिति किम् ? द्वयोरेकस्य निर्धारणे जातिप्रश्ने पूर्वेण डतर एव भवति । कतरो भवतोः कठ इति । जातिप्रश्न इति किम् ? को भवतां देवदत्तः । किमोऽस्मिन् विषये डतरमपीच्छन्ति केचित् । कतरो भवतां कठः । कतमो भवतां कलाप इति ।

एकाच्च ॥४११४९॥ एकशब्दाद् डतरडतमौ ययोपाधिविशिष्टौ भवतः । चकारो डतरानुकर्षार्थः ।

जातिप्रश्न इति नानुवर्तते । सामान्येन विधानम् । एवत्रो भवतोर्देवदत्तः । एकतमो भवतां देवदत्तः । किमादिष्वेकग्रहणं कर्तव्यमिति केचित् । न जातिप्रश्न एव इतमः स्यात् । उत्सर्गस्याको निवृत्त्यर्थं च योगविभागः । महाविकल्पोऽनुवर्तत एव ।

इवे प्रतिकृतौ कः ॥४११२०॥ इवार्थः सादृश्यम् । प्रतिकृतिः प्रतिबिम्बम् । विषयद्वारेण इवार्थ-विशेषणमेतत् । प्रतिकृतिविषये य इवार्थस्तस्मिन् वर्तमानामृदः को भवति स्वार्थे । अश्व इवायम् अश्वकः । अश्व-प्रतिकृतिरित्यर्थः । एवम् उष्ट्रकः । गर्दभकः । प्रतिकृताविति किम् ? गौरिव गवयः । अश्व इवायं स्त्री गौः ।

स्त्रौ ॥४११२१॥ इवार्थमात्रे गम्यमाने मृदः को भवति खुविषये । अप्रतिकृत्यर्थोऽयमारम्भः । अश्व इवायमश्वकः । उष्ट्रकः । गर्दभकः । संज्ञाशब्दा एते । संज्ञाशब्देषु च इवार्थो न गम्यते । केवलं वस्तुधर्मेण सादृश्येनान्वाख्यानं क्रियते, तेनेदमपि सिद्धम् । वंशकः । वेणुकः । नडकः । ह्रस्वत्वोपाधिका एताः संज्ञाः । कथं शूद्रकः । रावकः । पूर्वकः । एता अपि कुत्सितत्वोपाधिकाः संज्ञाः ।

उस्मनुष्ये उपमेये ॥४११२२॥ मनुष्य उपमेयत्वेनाभिधेये स्त्रौ वाऽस्त्रौ च विहितस्य कस्योस् भवति । कुक्कुट इव कुक्कुटो मनुष्यः । चञ्चेव चञ्चा । वर्द्धिका । खरकुटी । दासी । “युक्तवदुसि लिङ्ग-संख्ये” [१११६८] इति युक्तवद्भावः । मनुष्य इति किम् ? अश्वकः पाषाणः । देवपथादेराकृति-गणस्यायं प्रपञ्चः ।

जीविकार्थेऽपरये ॥४११२३॥ विक्रीयते यत्तपयम् । न परयमपरयम् । जीविकार्थं यदपरयं तस्मिन्नुपमेयत्वेनाभिधेये कस्यास्भवति । वासुदेव इवायं देवलकानां वासुदेवः । “इवे प्रतिकृतौ” [४११२०] इत्यनेनागतस्य कस्योस् । शिवः । स्कन्दः । विशालः । जीविकार्थादेव प्रतिकृतय एवमुच्यन्ते । जीविकार्थं हात किम् ? क्रोडायं हस्ताव हास्तकः । अपरय इति किम् ? यत्कं विक्रीयते । हास्तकं विक्रीयते । एषोऽपि देवपथादेः प्रपञ्चः ।

देवपथादिभ्यः ॥४११२४॥ “इवे प्रातिकृतौ” [४११२०] “स्त्रौ” [४११२१] इति चागतस्य कस्योस् भवति देवपथादिभ्यः परस्य । देवपथ इव देवपथः । हंसपथः । वारिपथः । अजापथः । राजपथः । शतपथः । सिद्धगतिः । उष्ट्रगीवः । वामः । रज्जुः । हस्तः । इन्द्रः । दण्डः । पुष्पः । मत्स्यः । आकृति-गणोऽयम् । “अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च । इवे प्रतिकृतौ नाशः कृतो देवपथादिषु ॥” अर्चासु—अर्हन् । शिवः । स्कन्दः । विष्णुः । चित्रकर्मणि—दुर्योधनः । भीमसेनः । अर्जुनः । ध्वजेषु च—ताल इवायं ध्वजतालः । कपिः । गरुडः । आकृतिगणत्वादेवेदमपि सिद्धम् ।

“मत्स्याश्चपुष्पाणि च तारकाश्च चण्डार्धचन्द्राश्च पतस्त्रिणशश्च ।

तस्मिन्नर्थो हृक्ममथाश्चरेज्जः (स्त्रिवार्थे उस्माचरेज्जः) प्रसार (प्रासाद) गुरुमार्कमया मृगारश्च ॥

इह दुर्योधन इवायं नटो दुर्योधनः । “उस्मनुष्ये” [४११२२] “जीविकार्थेऽपरये” [४११२३] इति वा उस् ।

वस्तुर्दृञ् ॥४११२५॥ इव इत्यनुवर्तते । वस्तिशब्दादिवार्थे दृञ् भवति । यस्मिन् प्रदेशे मल-मुपसम्प्राप्तं बहिर्निष्कमति स प्रदेशो वस्तिः । वस्तिरिवायं वास्तेयः वास्तेयी प्रणालिका । इत ऊर्ध्वं सामान्येन विधानमिवार्थमात्रे । देवप्रतिकृतौ स्त्रौ च के प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्ते दृञ् ।

शिलाया ढः ॥४११२६॥ शिलाशब्दादिवार्थे ढो भवति । शिलेव शिलेयं दधि । शिलाया इति योगविभागाद्गुणमपि केचिदिच्छन्ति । शैलेयम् ।

शाखादेर्यः ॥४११५७॥ शाखा इत्येवमादिभ्य इवार्थे यो भवति । शाखेव शाख्यः । मुखमिव मुख्यः । शाखा । मुख । जघन । स्कन्ध । मेघ । चरण । शृंग । उरस् । अग्र । शरण ।

द्रव्यं भव्ये ॥४११५८॥ द्रव्यमिति निपात्यते भव्येऽर्थे । भव्यविशेषे इवार्थे वर्तमानाद् दृशब्दाद् य इत्ययं ल्यो निपात्यते । द्रुविव द्रव्यम् कार्पापणम् । इष्टार्थक्रियाहेतुरित्यर्थः । द्रव्यमयं राजा आत्मवानित्यर्थः । भव्य इति किम् ? द्रुविवायं न चेतयते पुरुषः ।

कुशाग्राच्छ्रः ॥४११५९॥ कुशाग्रशब्दादिवार्थे ल्यो भवति । सूक्ष्मत्वेन कुशाग्रमिव कुशाग्रीया बुद्धिः । कुशाग्रीयं शास्त्रम् ।

सात्तद्विषयात् ॥४११६०॥ इवशब्दः सादृश्यायस्तच्छब्देन परामुच्यते । इवार्थविषयात् सात् ल्यो भवति । इवार्थविषयस्य च मध्येऽग्रेव जापकम् । यहच्छ्रया अतर्कितोपनते चित्रीकरणे इवार्थविषये सो भवति । सुप्तेति सविधानमेवविषयमेव दृष्टव्यम् । काकतालीयम् । तालशाखाग्रे काकः प्राप्तः, तालं च पतितं तेन च पतता तालेन स काको हतः । इदं चित्रीकरणम् । तथा देवदत्तश्च वृद्धं श्रितः । तत्राशनिश्च पतितः । तत्र देवदत्तस्याशनेश्च समागमः काकतालसमागमसदृशः । काकवधसदृशश्च देवदत्तवधः इति समागमसादृश्ये सविधानम् । वध सादृश्ये त्वविधिः । एवमन्धकवर्तकीयम् । इन्द्राकृपाणीयम् । इह शस्त्रीरयामा । पुरुषव्याघ्र इति समुदाय इवार्थविषयो न भवति । किन्तु पूर्वपदमुत्तरपदं वा । तेन ल्यो न भवति ।

शर्करादिभ्योऽण ॥४११६१॥ शर्करा इत्येवमादिभ्यो इवार्थेऽण भवति । शर्करेव शर्करम् । कपालिकेव कपालिकम् । “भस्य ह्यस्यदे” [४११६१ वा०] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “न बुहृत्कोः” [४११६१] इति प्रतिषेध । शर्करा । कपालिका । कपिष्ठिका । गोमत् । गोपुच्छ । पुण्डरीक । शतपत्र । नराची । नकुल । मिक्ता ।

अङ्गुल्यादेष्टण ॥४११६२॥ अङ्गुली इत्येवमादिभ्य इवार्थे टण भवति । अङ्गुलीव आङ्गुलिकम् । अङ्गुलि । भरुज । वध्रु । वल्लु । रुष । खल । उदशिवत् । गोणी । उरस् । मण्डर । मण्डल । शङ्कुल । कुलिश । हरि । कपि । मुनि ।

वैकशालायाष्टः ॥४११६३॥ एकशालाशब्दादिवार्थे वा ठो भवति । वाक्चनेनानन्तरस्य टणः समुच्चयः । एकशालेव एकशालिकः । ऐकशालिकः ।

कर्कलोहिताटीकण् ॥४११६४॥ कर्कलोहितशब्दाभ्यामिवार्थे टीकण् भवति । कर्कः शुक्लाश्वः । कर्क इव कार्कीकः । लोहितीकः । टकारः स्त्रियां ड्यर्थः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

पूगाञ्च्योऽग्रामणीपूर्वात् ॥४१२१॥ इव इति निवृत्तम् । पूगवाचिनो मृदोऽग्रामणीपूर्वात् स्वार्थे ञ्यो भवति । नानाभातीया अनियतवृत्तयोऽधर्म(ऽर्थ)कामपराः संघाः पूगाः । पूगशब्दः समुदायवचनस्तस्यैकत्वेन निर्देशः । यथा यूथं वनमिति । ये त्वस्य विशेषवाचिनः शब्दास्तेषां भेदवाचित्वात् एकद्विवहवो भवन्ति । लोहध्वजा इति पूगः । लोहध्वज्यः । लोहध्वज्यौ । लोहध्वजाः । शैव्यः । शैव्यौ । शिवयः । वातक्यः । वातक्यौ । वातकाः । “द्रैर्बहुपु ते वास्त्रियाम्” [१४११५] इति बहुवृत्तम् । ग्रामणीरित्यर्थनिर्देशः । पूर्वशब्दोऽवयववाचा । ग्रामण्यर्थः पूर्वोऽवयवो यस्य स ग्रामणीपूर्वः । अथवा ग्रामण्यर्थविषयो यस्य स साहचर्याद् ग्रामणीरित्युच्यते । स पूर्वमुपज्ञो यस्य पूगस्य स ग्रामणीपूर्वः । न ग्रामणीपूर्वाऽग्रामणीपूर्वः । ग्रामणीपूर्वात्पूगाञ्च्यो न भवति । देवदत्तो ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः । “स एषां ग्रामणीः” [४११२] इति कः ।

व्रातञ्फादस्त्रियाम् ॥४२।२॥ नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः मंधाः व्राताः । ञ्फ इति
 “वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ञ्फः” [१।८७] इत्यापत्यस्यो गृह्यते । व्रातविशेषवाचिभ्यो ञ्फान्तेभ्यश्च स्वार्थे यो भवत्य-
 स्त्रियाम् । कपोतपाक्यः । कपोतपाक्यौ । कपोतपाकाः । ब्रैहिमत्यः । ब्रैहिमत्यौ । ब्रैहिमताः । ञ्फान्तात्
 कुञ्जस्यापत्य कौञ्जायन्य । कौञ्जायन्यौ । कुञ्जायनाः । ब्राध्नायन्यः । ब्राध्नायन्यौ । ब्राध्नायनाः । अस्त्रिया-
 मिति किम् ? कपोतपाका । ब्रैहिमता । कौञ्जायनी । “वृद्धं च चरणैः सह” इति ञ्फान्तस्य जातिवाचि-
 त्वान्दोषविधिः ।

शस्त्रजीविभ्योऽञ्ज्याञ्ज् वाहीकेष्वविप्रराजन्यात् ॥४२।३॥ वाहीकेषु यः शस्त्रजीविसङ्घस्तद्वा-
 चिनो मृदो विप्रराजन्यवजितात् स्वार्थे ज्यङ् भवति । टिक्करणं स्त्रियां ल्यर्थम् । कौण्डीवृत्स्यः । कौण्डीवृत्स्यौ ।
 कुण्डीवृत्साः । दौद्रक्यः । दौद्रक्यौ । लुङ्काः । मालव्यः । मालव्यौ । मालवाः । कौण्डीवृत्सी । दौद्रकी ।
 मालवी स्त्री । “हलो हतो ल्याम्” [४।४।१३८] इति यकारस्य खम् । शस्त्रजीविप्रदहणं किम् ? मल्लाः ।
 सङ्घग्रहणं किम् ? वागुरः । सम्राट् । वाहीकेष्विति किम् ? शबराः । पुलिन्दाः । अविप्रराजन्यादिति किम् ?
 गौपालयः (ब्राह्मणः) । शालङ्कायनाः राजन्याः । विप्रप्रतिपेधे विप्रविशेषप्रतिपेधः । नहि विप्रशब्दवाच्यो
 वाहीकेषु शस्त्रजीविनां सङ्घोऽस्ति । राजन्यप्रतिपेधे तु स्वरूप इति प्रतिपेधः । राजन्यविशेषस्यापि प्रतिपेधं केचि-
 दिच्छन्ति । कांवच्य । कांवच्यौ । कांवच्याः । ज्यटि सति स्त्रिया ङी प्रसज्येत । शस्त्रजीविसङ्घादिति योगविभागा-
 दन्यत्रापि केचिदिच्छन्ति । शार्बरीः । शार्बरी । शबराः । पौलिन्यः । पौलिन्यौ । पुलिन्दाः । यागविभाग-
 कृतमनित्यम् ? तेन शबरः पुलिन्द इत्यापि भवति ।

वृक्वाट्टेयण ॥४२।४॥ शस्त्रजीविसङ्घवाचिनो वृक्शब्दात् स्वार्थे ट्ठेयण भवति । वार्केयः ।
 वार्केयौ । वृकाः । स्त्रियां वार्केयी । “हलो हतो ल्याम्” [४।४।१४०] इति यखम् । हल् उत्तरस्य यकारस्य
 खं भवति स चेद्यकारो गोरप्रथमभूत इति । वाहीकेषु ज्यटि प्राप्ते, अन्यत्राप्राप्ते विधानम् । शस्त्रजीविसङ्घ-
 विशेषणं किम् ? मृति (जाति) शब्दान्माभूत् ।

“कामक्रोधो मनुष्याणां खादितारौ वृकावव । तस्मात्क्रोधं च कामं च परित्यक्तुं बुधोऽर्हति ॥”

दामन्यादेऽङ् ॥४२।५॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति वर्तते । दामनि इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसङ्घ-
 वाचि यश्छो भवति स्वार्थे । दामनायः । दामनायाः । दामनयः । दानान् । आलाप । वजवापि । आदिक ।
 आन्युतन्ति । शाकुन्तिक । सार्धसान । विन्दु । तुलभ । माञ्जायन । सावत्रांपुत्र । त्रिगतपथाः । दामन्यादौ
 पठ्यन्ते । शस्त्रजीविनां षड्वर्गाः । तत्र त्रिगतवगः षष्ठा यथा तत्र त्रिगतपथाः । कौण्डापरथायः । कौण्डा-
 परथीयौ । कौण्डोपरथाः । दाण्डिकः । क्रौष्टिकः । जालमाली । ब्रह्मगुप्तः । जानिकः । उक्तं च-

“ज्ञेयास्त्रिगतषष्ठाः षट् कौण्डोपरथदाण्डकी । क्रौष्टिकर्जालमाला च ब्रह्मगुप्तोऽथ जानिकः ॥”

पश्वादेरण ॥४२।६॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति वर्तते । पशु इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसङ्घवाचिभ्योऽ-
 ण् भवति स्वार्थे । पाशवः । पार्शवौ । पशवः । पशु । रत्नस् । असुर । वाहीक । वयस् । वसु । मघत् ।
 सत्वत् । दशाहं । पिशाच । अशनि । कार्षापण । योधेय । शोभ्रेय । धातंय । ज्यावाण्येय । त्रिगतं । भरत ।
 उशीनर । भर्गादिषु योधेयादिभ्यः प्रतिपेधवचनं शपकम् आपत्यस्वाथिकाः आपत्यग्रहणन गृह्यन्ते इति ।
 तेनास्याण उप प्रातः प्रतिपेधार्थ वचनं तत्र सार्थम् । पश्वादिभ्यः पुनस्त्वन्नस्याणः स्वाथिकस्य स्त्रीविवक्षायां
 “कुन्त्यवान्तकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१२७] इत्यधिकृत्य “अतोऽप्राच्यभर्गादेः” [३।१।१५८] इत्युप ।
 “कस्तः” [३।१।५६] इत्युकारः । पशवः । असुरः (री) । रत्नः ।

अभिजिद्विदभृतोऽणो यञ् ॥४।२।७॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति निवृत्तम् । अभिजित् विदभृत् इत्येताः यामरणान्ताभ्यां स्वार्थे यञ् भवति । “वृद्धाद् वृद्धवदिति वक्तव्यम्” [वा०] वृद्धापत्ये योऽण् विहितः तदन्तादयं यञ् वृद्धवच्च भवति । अभिजितोऽपत्यमण् । आभिजितः । तदन्ताद्यञ् आभिजित्यः । आभिजित्यौ । आभिजिताः । वैदभृत्यः । वैदभृत्यौ । वैदभृताः । वृद्धादिति किम् ? अभिजिद् देवताऽस्य आभिजितः । विदभृत् इदं वैदभृतम् । वृद्धवदिति किम् ? आभिजित्यस्यापत्यं युवाऽऽभिजित्यायनः । “यजिजोः” [३।१।६०] इति फण् सिद्धः ।

शिखाशालाशम्यूर्णाश्रियां मतोः ॥४।२।८॥ शिखा, शाला, शमी, उर्णा, श्री, इत्येतेषां शब्दानां मतोर्योऽण् तदन्तात्स्वार्थे यञ् भवति । शिखावतोऽपत्यमित्यण् । तदन्तादयं यञ् । शैखावत्यः । शैखावत्यौ । शैखावताः । शालावत्यः । शालावत्यौ । शालावताः । शामीवत्यः । शामीवत्यौ । शामीवताः । श्रौर्णावत्यः । श्रौर्णावत्यौ । श्रौर्णावताः । श्रैमत्यः । श्रैमत्यौ । श्रैमताः । वृद्धादिव्येव शिखावत् इदं शैखावतम् । “वृद्धवदिति वक्तव्यम्” [वा०] शैखावत्यायनः । नेदं वक्तव्यम् । आपत्यस्वार्थिकाः आपत्यग्रहणं गृह्यन्त इत्येव सिद्धम् ।

ते द्वयः ॥४।२।९॥ ते ज्यादयो द्विसंज्ञका भवन्ति । तथैवोदाहृतम् । ते ग्रहणम् अनुक्रान्तसंज्ञि-
प्रतिपत्यर्थम् ।

संख्यायाः पादशतेभ्यो वीप्सादण्डत्यागे वुन् ॥४।२।१०॥ संख्यादेः पादशतान्तामृदः वीप्सा-
त्यागेषु गम्यमानेषु वुन् भवति । तासन्निधानेऽन्यस्यालः खं च । “यस्य ङर्या ङ” । [४।१।१३६] इति यदि खं क्रियते, तस्य परनिमित्तत्वात् “परेऽचः पूर्वावधौ” [१।१।२७] इति स्थानिवद्भावात् “पादः पत्” [४।१।१३६] इति पद्भावे न स्यात् । इदं पुनः खनिमित्तमिति न स्थानिवद्भावः । द्वौ द्वौ पादौ भुङ्क्ते द्विपदिकां भुङ्क्ते । त्रिपदिकां भुङ्क्ते । द्दर्थे रसः । वुनैव वीप्सारथस्य द्योतित्वात् वीप्सालक्षणं द्वित्वं निवर्तते । द्वे द्वे शते भुङ्क्ते द्विशतिकां भुङ्क्ते । त्रिशतिकां भुङ्क्ते । दण्डे—द्वौ पादौ दण्डितः द्विपदिकां दण्डितः । त्रिपदिकां दण्डितः । त्यागे—द्वौ पादौ व्यवसृजति द्विपदिकां व्यवसृजति । त्रिपदिकां व्यवसृजति । त्रिशतिकां व्यवसृजति । वुन्नन्तं स्वभावतः स्त्रियां वर्तते । संख्याया इति किम् ? पादं पादं ददाति । पादशतेभ्य इति किम् ? द्वौ द्वौ प्रस्यौ ददाति । बहुवचनेऽशादन्यत्रापि भवति । द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विमोदकिकां ददाति । द्विशतिकां ददाति । वीप्सादिग्रहणं किम् ? द्वौ पादौ भुङ्क्ते ।

स्थूलादिभ्यः प्रकारोक्तौ कः ॥४।२।११॥ स्थूल इत्येवमादिभ्यः प्रकारोक्तौ गम्यमानायां को भवति । जातीयस्यापवादः । अत्रापि प्रकारवति त्यः स्थूलाणुमाषेषु । स्थूलप्रकारः स्थूलकः । अणुकः । माषकः । इषुकः । अपरेषां व्याख्या । माषेष्वित्युपाधिः । स्थूलका माषाः । अणुका माषाः । स्थूलाणुमाषेषु । कृष्णतिलेषु । पादकालावदाताः सुरायाम् । गोमूत्र आन्ध्रदाने । सुराया अहौ । जीर्णशालिषु । पत्रमूले समस्तव्यस्ते । यवव्रीहिषु । कुमारीपुत्र । कुमारी । श्वसुरः । मणि इच्छु तिल । चञ्चद्वृहतोरप्यत्र पाठः कर्तव्यः ।

ह्लादनत्यन्ते ॥४।२।१२॥ अनत्यन्तमकार्त्स्न्यम् । अनत्यन्ते वर्तमानात् ह्लान्तामृदः को भवति । अनत्यन्ते भिन्नं भिन्नकम् । छिन्नकम् । अनत्यन्त इति किम् ? भिन्नम् । अत्र भेदनक्रियायाः कार्त्स्न्येन संबन्धः ।

न सामेः ॥४।२।१३॥ सामिशब्दात्परं यत्क्रान्तं तस्मात् को न भवति । सामिकृतम् । सामिभुक्तम् । सामिपर्यायाणामपि ग्रहणमिति केचित् । अर्धकृतम् । नेमकृतम् । ननु चात्र पदान्तरेणानत्यन्तगतैरभिहि-

तत्वात्को न प्राप्नोतीति प्रतिषेधवचनमनर्थकम् । एवं तर्हीदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं स्वार्थेऽप्यथं को भवति । तेन सिद्धम् । भिन्नतरकम् । बहुतरकम् । अर्धच्छिन्नकम् । अर्धभिन्नकम् ।

बृहतिका ॥४२।१४॥ बृहतिकेति निपात्यते । बृहतेशब्दादाच्छादने वर्तमानात्स्वार्थे नित्यं को निपात्यते । बृहतिका साटी । आच्छादनादन्यत्र को न भवति । बृहती ओषधिः ।

खोऽलङ्कर्मपुरुषात् ॥४२।१५॥ अलङ्कर्मन् अलम्पुरुष इत्येताभ्यां स्वार्थे खो भवति । अलङ्कर्मणोऽलङ्कर्मिणः । अलम्पुरुषायालम्पुरुषीणः । “नमस्वस्ति” [१।४।२६] इत्यादिनाऽपि । “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इत्यत्र “पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे अपा” [वा०] इति षसः ।

अपडत्ता सतङ्ग्वधिद्योः ४।२।१६॥ अपडत्त, आसितङ्ग, अधिद्यु इत्येतेभ्यः स्वार्थे खो भवति । अत्रियमानानि षड्दोष्यस्मिन्निति अपडत्तीणो देवदत्तः । पितृपितामहपुत्राणामक्षीणि न पश्यतीत्यर्थः । मन्त्रोऽपि द्वाभ्यां यः क्रियते, येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडतः सोऽप्येवमुक्तः । अथवाऽनशब्द इन्द्रियपर्यायोऽस्ति । अत्रियमानानि षड्दोष्यस्य अपडत्तीणो मत्स्यः । गुणदोषविचारक्षमं षष्ठमक्षमस्य नास्तीत्यर्थः । आसिता गावाऽस्मिन्नित्यासितङ्ग्वीनमरण्यम् । अतएव निपातनात्कर्तरि क्तः । पूर्वपदस्य च सुगागमः । राशि अधि राजाधीनम् । पुण्येऽधि पुण्याधीनम् । ‘ईश्वरेऽधिना’ [१।४।१८] इति अधिना योगे ईप् गिति संज्ञाप्रतिषेधश्च । अधिशब्दः शौण्डादेषु पठ्यते, तेन षसः । नित्यश्चेह ख इष्यते, उत्तरसूत्रे वाग्रहणात् ।

बाञ्चेरदिक् स्त्रियाम् ॥४२।१७॥ अञ्च्यन्तान्मृदोऽदिक् स्त्रियां वर्तमानात् खो भवति स्वार्थे वा । अदिकस्त्रियामिति प्रसज्यप्रतिषेधादिह तदन्तर्विधिलभ्यते । प्राञ्चतीति प्राङ् (प्राक्) प्राचीनम् । उदक् उदीचीनम् । अवाङ् (क्) अवाचीनम् । अदिकस्त्रियामिति किम् ? प्राची दिक् । प्रतीची । दिग्ग्रहणं किम् ? प्राचीना शाला । तिरश्चीना स्थूणा । स्त्रीग्रहणं किम् ? प्राचीनं दिग्मणीयम् । प्राची दिग्मणीयेति विग्रह्य “दिक्लुब्ध” [४।१।६२] इत्यादिना अस्तात् । “अञ्चेरुप्” [४।१।६६] इति तस्योप् । स्वभावत उप्यस्तातेर्नपुंसकलिङ्गम् । वाचचनात् स्वार्थकेषु निवृत्ता महाविकल्पाधिकार इति गम्यते । तेन पाशतमादयः प्राक् छेदेत्वा देशात्] कल्पदेशीयात् । ज्यादयः प्राग्बुनः । आमादयः प्राङ्मयटः नित्या वेदितव्याः । याप्यो वैयाकरणः । अयमेषामतिशयेन पटुर्नित्येवमादौ वाक्ये न प्रकृतिर्याप्येऽतिशयाने वा वर्तते किन्तु पदान्तरमतस्थो न भवति ।

जातेऽङ्गो बन्धुनि ॥४२।१८॥ बध्यतेऽस्मिन् जातिरिति बन्धुद्रव्यामह जात्यधिकरणभूतं गृह्यते नपा निर्देशात् । जातिशब्दाद्बन्धुनि वर्तमानात् ङो भवति । केवलजातिशब्दस्य बन्धुनि वृत्त्यसम्भवात्तदन्तर्विधिः । क्षत्रियो जातिरस्य क्षत्रियजातीयः । क्षत्रिय एवोच्यते । शोभना जातिरस्य शोभनजातीयः । दुष्टा जातिरस्य दुर्जातीयः । का जातिर्भवतः, किंजातीया भवान् । द्वयोर्विकल्पयोर्मध्ये नित्योऽयं विधिः । “प्रकारोक्तौ जातीयः” [४।१।१२८] इत्येव सिद्धे किमर्थमिदं जात्यन्तस्य वसस्य केवलस्य च प्रयोगो माभूत् इत्येवमर्थम् । कथं दुर्जातेः सूतपुत्रस्येति प्रयोगः । चिन्त्यमेतत् । बन्धुनीति किम् ? ब्राह्मणजातिरदृश्यपापा ।

वेवे स्थानान्तात् ॥४२।१९॥ स्थानान्तान्मृद इवार्थे वा ङो भवति । पितुः स्थानमिव स्थानमस्य पितृस्थानः । “इवोपमानपूर्वस्य ङुखं वा” [वा०] इति । उपमानपूर्वस्य वसो भवति योश्च खम् । यथा उग्रमुख इति । अयं स्थानान्तो वस इवार्थे वर्तते । अस्माद्वा ङो भवति । पितृस्थानीयः । पितृस्थानः । गुरुस्थानीयः । गुरुस्थानः । पुनर्वाग्रहणमनन्तरस्य नित्यतां ख्यापयति । इव इति किम् ? गवां स्थानम् गोस्थानम् । “मृद्वग्रहणे तदन्तर्विधिर्नास्ति” इति अन्तग्रहणं कृतम् । इह कस्मान्न भवति । गोः स्थानमिति । नैष दोषः । इवग्रहणं

स्थानविशेषणम् । इवार्थे यः स्थानशब्दो वर्तते, तदन्तादिति । बसे च स्थानशब्द इवार्थे वर्तते । बसे तु पद-
सङ्घात इवार्थे वर्तते इति न भवति ।

किमेमिङ्भिभादामद्रव्ये ॥४१२२०॥ किम एकारान्तस्य मिङः भिंसंज्ञकस्य च अनन्तरो यो
भक्तदन्तान्मृद आभित्ययं त्यो भवत्यद्रव्ये । लिङ्गसंख्यायुक्तप्रत्ययकारणं द्रव्यम् । द्वाविमौ किंपचतः,
अयमनयोः कितरां पचति । कितमाम् पचति । एतौ द्वाविमौ पूर्वाह्णे भुञ्जाते । अयमनयोः पूर्वाह्णेतरां भुङ्क्ते ।
एतद्ग्रहणसामर्थ्याद् द्रव्येऽपि काले विधिरयम् । इह कस्मान्न भवति । जयतेर्विचि तरे च कृते जेतर इति ।
अनभिधानादन विजेव नास्ति । मिङ्—पचतितराम् । पचतितमाम् । द्वाविमौ उच्चैर्हसतः । अयमनयो-
रुच्चैस्तरां हसति । अद्रव्य इति किम् ? उच्चैस्तरो वृत्तः । उच्चैस्तमो वृत्तः ।

जिनोऽण् ॥४१२२१॥ ‘जिञ्जभिविधौ’ [२।३।१६] इति भावे जिन् विहितः । जिन्न्तादण्
भवति स्वार्थे । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्थापि ग्रहणम्” [प] तांकोटिनम् । साराविणम् । सामाजिनम् ।
“प्रायोऽनपत्येणोः” [४।४।१५५] इति टिखप्रतिषेधः ।

वान्स्त्रियाम् ॥४१२२२॥ स्त्रियामित्यधिकृत्य ‘कर्मव्यतिहारे जः’ [२।३।७६] इति जो विहित-
स्तदन्तात्स्वार्थेऽण् भवति स्त्रियाम् । व्यावक्रोशी । व्यात्युद्धी । व्यावचर्ची वर्तते । “पदे खौरैयौव्” [१।२।८]
इति तस्य विधेः “न जे” [५।२।११] इति प्रतिषेधे कृते । आटेरैप । स्त्रीग्रहणं किम् ? स्त्रियामेव हि जो
विहितस्तस्मादयं स्वार्थिकः । स्वार्थिकाश्च प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्त इति ; एवं तर्हि इदमेव ज्ञापकम् ।
क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अतिवर्तन्तेऽपि । कुटीरः । देवता । गुडकल्पा द्राक्षा इत्येव-
मादि सिद्धम् ।

विसारिणो मत्स्ये ॥४१२२३॥ विसारिन्शब्दात्स्वार्थेऽण् भवति मत्स्येऽभिधेये । विसारीति
वैसारिणो मत्स्यः । ग्रहादिपाठाणिणन् । मत्स्य इति किम् ? विसारी तैलबिन्दुरिवाभसि ।

संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्वस् ॥४१२२४॥ ध्वर्थः क्रियारूपः साहचर्याद्दुशब्देनोक्तः ।
ध्वभ्यावृत्तिः आभिननकर्तृकायाः क्रियायाः पौनःपुन्यम् । ध्वभ्यावृत्तौ वर्तमानेभ्यः संख्याशब्देभ्यः स्वार्थे
कृत्वसित्ययं त्यो भवति । अस्वपदेनात्र विग्रहः । पञ्चवारान् भुङ्क्ते पञ्चकृत्वोऽहो भुङ्क्ते । शतं वारान्
भुङ्क्ते शतं वा वाराणां भुङ्क्ते शतकृत्वः । बहुकृत्वः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । संख्याया इति किम् ?
मुहुर्मुहुर्भुङ्क्ते । प्रभूतान् वारान् भुङ्क्ते । धुग्रहणं किम् ? द्रव्यस्य गुणस्य वा अभ्यावृत्तौ माभूत् । पञ्चसु
कालेषु दरडी । षट्सु कालेषु शुक्लः । अभ्यावृत्तिग्रहणं किम् ? पञ्च पाकाः । नात्राभिन्नस्य पाकस्य पौनः-
पुन्यं किन्त्वोदनमुद्गादीनां पाकाः ।

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥४१२२५॥ द्वि त्रि चतुर इत्येतेभ्यो ध्वभ्यावृत्तौ सुञ् भवति । कृत्वोऽ-
पवादः । चकारः “कालेऽधिकरणे सुजर्थे” [१।४।६७] इत्यत्र विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । द्वि-
र्भुङ्क्ते । त्रिर्भुङ्क्ते । त्रिर्भुङ्क्ते । मुञ्जिक्रिया सामान्येनैका । सा कालभेदाद्भिद्यते ।

एकस्य सकृत् ॥४१२२६॥ एकशब्दस्य सकृदित्ययमादेशो भवति मुच्चत्यः । ध्वभ्यावृत्तिरत्र व्यपदे
शिवद्भावेनाभिसंबध्यते । एकवारं भुङ्क्ते सकृद् भुङ्क्ते । एकः पाक इत्यत्राभिधानान्नास्ति ।

बहोर्बा वाऽऽसत्तौ ॥४१२२७॥ आसत्तिरविप्रकृष्टकालता । विषयद्वारेण ध्वभ्यावृत्तिविशेषणमेतत् ।
आसत्तौ या क्रियाया अभ्यावृत्तिस्तस्यां वर्तमानाद्बहुशब्दाद्वा इत्ययं त्यो भवति वा । बहुधा भुङ्क्ते । बहुकृत्वो
भुङ्क्ते । आसत्ताविति किम् ? बहुकृत्वो भुङ्क्ते मासस्य ।

तत्प्रकृतोक्तौ मयट् ॥४२।२८॥ प्रकर्षेण कृतं प्रकृतं प्रचुरमित्यर्थः । तदिति वासमर्थात् प्रकृतोक्तौ वर्तमानात् स्वार्थे मयड् भवति । अन्नं प्रकृतम् अन्नमयं पूजयाम् । दधिमयं पूजयाम् । यवागूः प्रकृता यवागून्धी । पेयामयी । स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्तेऽपि । अथवा नायं स्वार्थिकः । अधिकरणार्थेऽयं विधीयते । कथं ज्ञायते । उक्तिर्वचनम् । प्रकृतस्योक्तिः प्रकृतोक्तिः । तदिति वासमर्थात् प्रकृतोक्तावर्थे मयड् भवति । घृतं प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन् घृतमय उत्सवः । घृतमयी पूजा । पुष्पमय उत्सवः । पुष्पमयी पूजा । उक्तिग्रहणसामर्थ्यात् उभयार्थेपि सूत्रार्थः प्रमाणम् ।

समूहवच्च बहुषु ॥४२।२९॥ तत्प्रकृतोक्ताविति वर्तते । समूहवत् स्यविधिर्भवति मयट् च बहुषु प्रकृतेषु । यथेह भवति । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । 'अचित्तहस्तिधेनोऽण्' [३।२।३६] इति ङण् । एवम् अपूपाः प्रकृता आपूपिकम् । पक्षे अपूपमयम् । एवं मोदकिकम् । मोदकमयम् । शाङ्कुलिकम् । शाङ्कुलीमयम् । प्रकृतिलिङ्गसंख्यातिवर्तनम् । द्वितीयसूत्रार्थे अपूपाः प्रकृता अस्मिन्नुच्यन्ते आपूपिक उत्सवः । अपूपमयः । आपूपिकी अपूपमयी पूजा । शाङ्कुलिकः शाङ्कुलीमय उत्सवः । शाङ्कुलिकी शाङ्कुलीमयी पूजा ।

भेषजानन्तावसथेतिहाञ्ज्यः ॥४२।३०॥ भेषजादिभ्यः स्वार्थे ङ्यो भवति । कण्ड्वादिषु भिषजिति पठ्यते श्रौषधस्य कणम् । तस्य कर्तृत्वविवक्षायां भिषज्यतीति भेषजम् । पचादित्वाद्च् । "हलो यः" [३।१।११] इति यावत् । अत एव निपातनादेप् । भेषजमेव भेषज्यम् । अनन्तमेवानन्त्यम् । आवसथ एवावसथम् । इतिहेत्यैतिह्यम् । विभाषेह सम्बद्धथते ।

देवतान्तात्तादर्थ्ये यः ॥४२।३१॥ तस्मै इति तदर्थम् । तदेव तादर्थ्यम् । देवताशब्दान्तात्तादर्थ्ये वाच्ये यो भवति । गुरुदेवतायै इदम् गुरुदेवत्यम् । पितृदेवत्यम् ।

पाद्यार्घ्ये ॥४२।३२॥ पाद्यार्घ्यशब्दौ निपात्येते । पादशब्दात्तादर्थ्ये यः पाच्छब्दस्य पदादेशाभावश्च निपात्यते । पादार्घ्यशब्दकम् पाद्यम् । अर्घ्यशब्दात्तादर्थ्ये यः । अर्घ्यार्थमर्थ्यम् ।

रग्योऽन्तिथेः ॥४२।३३॥ तादर्थ्ये इति वर्तते । अतिथिशब्दात्तादर्थ्येऽभिधेये रग्यो भवति । अतिथ्यर्थमिदमातिथ्यम् ।

देवात्तल्ल ॥४२।३४॥ तादर्थ्ये इति निवृत्तम् । देवशब्दात् स्वार्थे तल् भवति । देव एव देवता ।

कोऽवियावादेः ॥४२।३५॥ अविशब्दाद् याव इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्वार्थे को भवति । अविरेव अविक्कः । यावादिभ्येव अविशब्द पठितव्यः । पृथग्रहणं किमर्थम् ? अवेर्विकार आविक्कमित्येवमादौ के कृतेऽण्यथा स्यात् । यवानां विकारो यावः । याव एव यावक्कः । यान् । मणि । अस्थि । लान्द्र । मड्ड । पीत । स्तम्भ । श्रुताबुष्णशीते । पशौ लूनविपाते । अणु निपुणे । पुत्रात् कुत्रिमे । पुण्य । ज्ञात । अज्ञात । स्नात वेदसमाप्तौ । शून्य रिक्ते । तनु सूत्रे । ईयसश्च । भूयस्कम् । श्रेयस्कम् । कुमार क्रीडकानि च । उत्कण्ठकः । कन्दुकः । वेत्यनुवर्तते ।

लोहितान्मणौ ॥४२।३६॥ लोहितशब्दान्मणौ वर्तमानात् स्वार्थे को भवति । लोहित एव लोहितको मणिः । "लोहितशब्दात् स्त्रीत्यस्य परत्वात् अनेन केन बाधनं वक्तव्यम्" [वा०] । परत्वात् के कृते सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एवेति नत्वङीविधावसति, अतश्चापि कृते लोहितका मणिरिति । यदात्वबाधनं तदा नत्वङीविधौ कृते पश्चात्कः । "केऽणः" [२।२।११५] इति प्रादेशः । लोहितिका मणिः । मणाविति किम् ? लोहितः खदिरः ।

वर्णोऽनित्ये ॥४१२३७॥ अनित्ये वर्णे वर्तमानाल्लोहितशब्दात्को भवति । कोपेन लोहितकं चक्षुः । स्त्रियां पूर्ववदुभयं भवति । लोहितिका कन्या कोपेन लोहिनि का वा । अनित्य इति किम् ? लोहित इन्द्रगोपकः । लोहितं वधिरम् ।

रक्ते ॥४१२३८॥ लाक्षाकृमिरागादिना रक्ते वस्त्रादिके वर्तमानात् लोहितशब्दात्को भवति । लोहितकः पट्टसाटकः । लोहितकः कम्बलः । अत्र योगवशात् यावद् द्रव्यमावि लोहितत्वमिति पूर्वेण प्रातिः । स्त्रियां पूर्ववदुभयम् । लोहितिका पट्टसाटिका लोहिनि का वा ।

कालाच्च ॥४१२३९॥ वर्णे नित्ये रक्ते इति द्वयस्यानुकर्षणार्थश्चकारः । अनित्ये वर्णे रक्ते च वर्तमानात् कालशब्दात् को भवति । कोपेन कालकं वस्त्रम् । कालिका साटी । अनुक्रान्तेषु चतुर्ष्वपि चेति वर्तते ।

विनयाद्देषण् ॥४१२४०॥ विनय इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे ठण् भवति । विनय एव वैनयिकम् । विनयः । समय । उपायात्प्रश्न । सङ्गति । कथञ्चित् । अकस्मात् । उपचार । समाचार । व्यवहार । सम्प्रदान । समुत्कर्ष । समूह । विशेष । अत्यय । वेत्यनुवर्तत एव । अनुगादिशब्दोऽपीह पठनीयः ।

वाचस्तदर्थायाः ॥४१२४१॥ सा वाक् अर्थोऽभिधेयोऽस्या इति तदर्था । तदर्थाया वाचः स्वार्थे ठण् भवति । देवदत्तेन सन्दिष्टा वाग् जिनदत्ते । सा यथा वाचा जिनदत्तेन परस्य प्रकाशयते सा वाक्तदर्था वागर्थे-त्यर्थः । वागेव वाचिकम् । तदर्थाया इति किम् ? स्निग्धवाक् सुजनस्य च व्यवहियते ।

तद्युक्ता-कर्मणोऽण् ॥४१२४२॥ तथा वाचा युक्तं यत्कर्म तदभिधायिनः स्वार्थेऽण् भवति । यदेव वाचा व्यवहियते इदं कर्म कुर्वति, तदेव क्रियमाणं कर्म वाग्युक्तमुच्यते । कर्मैव कार्मणाम् । तद्युक्तादिति किम् ? स्वयमेव देवदत्तेन कर्मकृतम् ।

ओषधेरजातो ॥४१२४३॥ ओषधिशब्दादजातौ वर्तमानादण् भवति । ओषधिरेव ओषधं पीयते । अजाताविति किम् ? स्थिरोऽयमस्त्वोषधिः क्षेत्रे ।

प्रज्ञादेः ॥४१२४४॥ प्रज्ञ इत्येवमादिभ्यः स्वार्थेऽण् भवति । प्रजानातीति प्रज्ञः । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । 'प्रज्ञाशब्दाऽर्चावृत्तिभ्यो णः' [१.१.२८] इति मत्वर्थीयेन सिद्धेऽपि स्त्रियां विशेषः । अणि प्राज्ञी । णे प्राज्ञा । प्रज्ञ । वणिज् । उशिक् । उष्णिज् । प्रत्यक्ष् । विद्वस् । विदन् । वशिक् । द्विदश । षोडन् । विद्या । मनस् । ओत्र शरीरे । जुहत् । कृष्ण मृगे । चिकीर्षत् । वसु । मरुत् । सत्वन्तु । दशार्ह । वयस् । कृष्ट् । रक्षस् । असुर । शत्रु । चोर । योष । चक्षुष् । पिशाच । अशनि । कार्पाण्ण । देवता । बन्धु । आकृति-गणोऽयम् । विकृतिरेव वैकृतम् ।

मृदस्तिकः ॥४१२४५॥ मृत्-शब्दात्स्वार्थे तिको भवति । मृदेव मृत्तिका । स्त्रीविषयत्वाद्वापि कृते 'त्यस्ये कयापीद' [१.२.५०] इत्यादिना इत्येन सिद्धे इकारोच्चारणं किम् ? द्वाभ्यां मृत्तिकाम्यां क्रीतं द्विमृत्तिकम् । 'इदुप्युप्' [१.१.३] इति स्त्रीत्वस्योपि श्रवणार्थम् ।

सस्ता प्रशंसे ॥४१२४६॥ प्रशंसे वर्तमानान्मृच्छन्दाग्निन्यं स स्त इत्येतौ त्यौ भवतः । रूपापवादः । प्रशंस इति प्रकृत्यर्थविशेषणमेतत् । मृत्सा । मृत्सना । उत्तरत्र वाग्रहणादिह नित्यो विधिः । यथा मृच्छन्देन प्रशंसो नाभिधीयते किन्तु शब्दान्तरेण गृह्यते तदा वाक्यतिक्रमो भवतः । मृत्प्रशस्ता । मृत्तिका प्रशस्ता ।

बह्वर्थादल्पार्थाच्च कारकविशेषणात् शष् भवति क्व । इह बहुशब्दो नानाधिकरणवाची न वैपुल्यवाची । अल्पशब्दोऽपि नानाधिकरणवाची नस्वीषदर्थवाची गृह्यते ।

बहुभ्य आगतः । बहुश आगतः । भूरिश आगतः । बहुभ्यो देहि । भूरिशो देहि । बहुभिर्लुनाति । बहुशो लुनाति । भूरिशो लुनाति । बहुषु वसति । बहुशो वसति । भूरिशो वसति । बहून् देहि । बहुशो देहि । भूरिशो देहि । बहुभिर्भुक्तम् । बहुशो भुक्तम् । भूरिशो भुङ्क्ते । अल्पेभ्य आगतः । अल्पश आगतः । स्तोकश आगतः । इत्येवमादि ज्ञेयम् । बहुल्यार्थादिति किम् ? ग्रामादागच्छति । कारकादिति किम् ? बहुभिः सह भुङ्क्ते । वाग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनर्वाग्रहणं पूर्वस्य विधेर्नित्यार्थम् । प्रशंस इति वर्तते तदिह बहुल्यार्थान्मङ्गले गम्यमाने शस् भवतीत्यर्थः । बहुशो ददाति आभ्युदयिकेषु कर्मसु । अल्पशो ददाति अनिष्टेषु कर्मसु ।

संख्यैकाद्वीप्सायाम् ॥४१२॥४८॥ कारकादिति वर्तते । संख्यावाचिनः एकान्ताच्च कारकाद्वीप्सायां वर्तमानाद्वा शस् भवति । वीप्साद्विलस्यापवादः । अथवा शसैवोक्तत्वाद् द्विलं निवर्तते । एकशो देहि । वाक्यपदे वीप्सायां द्वित्वम् । “एको बवत्” [५।३।७] इति बवद्भावात् “सुपो धुसृदोः” [१।४।१४२] इति सुप उपि कृते समुदायादम् । एकैकं देहि । द्वौ द्वौ देहि द्विशो देहि । त्रिशो देहि । एकान्तात् । माषं माषं देहि माषशो देहि । कार्षापणशो देहि । प्रस्थशो देहि । संख्यैकादिति किम् ? माषौ माषौ देहि । वीप्सायामिति किम् ? द्वौ ददाति । माषं ददाति । कारकादित्येव । द्वाभ्यां द्वाभ्यां सह भुङ्क्ते । प्रस्थस्य प्रस्थस्य स्वामां । कथमेकैकशो मन्त्रिणः पृच्छेदिति ? चिन्त्यमेतत् । यथा वा स्त्रीत्यान्तात् स्वार्थिके उत्पन्ने पुनः स्त्रीत्यः कुमारीतरिति । एवं द्वित्वे कृते पुनः शस् ।

प्रतियोगे कायास्तसिः ॥४१२॥४९॥ वेति वर्तते । ‘यतः प्रतिदाप्रतिनिधी प्रतिना’ [१।४।२२] इति प्रतिना योगे का विहिता । तदन्तात्तसिर्भवति वा । इकारः ‘कायास्तस्’ [४।१।७३] ‘तसेः’ [४।१।७४] इति विशेषणार्थं । अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति । श्रेणिकात् प्रति । प्रद्योतनो वृत्तिषेणतः प्रति । वृत्तिषेणात् प्रति । ‘तसिप्रकरणे आद्याद्विभ्यः उपसंख्यानम्’ [वा०] । आदौ । आदितः । मथ्यतः । अन्ततः । पृष्ठतः । आकृतिगणोऽयम् ।

अपादानेऽहीयरुहोः ॥४१२॥५०॥ ‘काऽपादाने’ [१।४।३७] इति अपादाने का विहिता । तदन्तात्तसिर्वा भवति हीयरुहसंबन्धि न चेदपादानम् । स्रुघ्नादागतः । स्रुघ्न आगतः । चौरभ्यो बिभेति चौरतो बिभेति । अपादान इति किम् ? अन्यो देवदत्तात् । अहीयरुहोरिति किम् ? सार्थाद्दीनः । कर्मण्ययं क्तः । पर्वतादवरोहति । हीय इति जहातेः कर्मणि यक् तस्यानुकरणम् । किमर्थम् ? जिहीतेः प्रतिषेधो माभूत् । उदधेरुज्जिहीते । उदधित उज्जिहीते । “मन्त्रो वर्णतो हीनः” इत्यत्र आद्यादित्वात् भान्तात्तसिः ।

क्षेपाव्यथाऽतिग्रहेष्वकर्तृभायाः ॥४१२॥५१॥ क्षेप, अव्यथा, अतिग्रह, इत्येतेषु विषयभूतेषु या कर्तुरन्यत्र विहिता भा तदन्ताद्वा तसिर्भवति । क्षेपे-वृत्तेन क्षिप्तः वृत्ततः क्षिप्तो निन्दित इत्यर्थः । अव्यथा-याम्-वृत्तेन न व्यथते वृत्ततो न व्यथते न चलतीत्यर्थः । अतिग्रहे-वृत्तेनातिग्रह्यते वृत्ततोऽतिग्रह्यते । अतिमात्रं गृह्यत इत्यर्थः । सर्वत्र करणे हेतौ वा भा । क्षेपादिविभक्ति किम् ? दात्रेण लुनाति । अकर्तृग्रहणं किम् ? देवदत्तेन क्षिप्तः । भाया इति किम् ? वृत्तमस्य क्षिप्यते ।

हीयमानपापयोगात् ॥४१२॥५२॥ अकर्तृभाया इति वर्तते । हीयमानपापभ्यां योगो यस्य तस्मादकर्तृरि भान्ताद्वा तसिर्भवति । हीयमानयोगात् वृत्तेन हीयते । वृत्ततो हीयते । चारित्र्येण हीयते । पाप-योगात् वृत्तेन पापः । अत्रापि करणे हेतौ वा भा द्रष्टव्या । नन्वत्रापि क्षेपोऽस्तीति पूर्वैशैव तसिः सिद्धः । नैष दोषः । पूजाप्यत्र गम्यते । नीचवृत्ततो हीयते । पापवृत्ततो हीयते । यदि वा तत्साख्यानमत्र सूत्रे विवक्षितम् न निन्दा । अकर्तृरीत्येव । देवदत्तेन हीयते ।

ताया व्याश्रये ॥४१२॥५३॥ नानापक्षाश्रयो व्याश्रयः । तान्ताद्वा तसिर्भवति व्याश्रये गम्यमाने ।

नमिर्ककीर्तितोऽभवत् । अर्ककीर्तेरभवत् । मेघप्रभो मेघेश्वरतोऽभवत् । गम्यमानपक्षापेक्षा ता । व्याश्रय इति किम् ? देवदत्तस्य हस्तः ।

रोगाक्षपनये ॥४२॥१५४॥ अप्रनयः चिकित्सेत्यर्थः । ताया इति वर्तते । रोगवाचिनस्तान्तात् वा तसिर्भवति अप्रनये गम्यमाने । प्रवाहिकायाः कुरु । प्रवाहिकातः अप्रनयमस्याः कुर्वित्यर्थः । अप्रनय इति किम् ? प्रवाहिकायाः करोति प्रकोपमित्यर्थः ।

कृभ्वस्तियोगेऽतत्त्वसम्पत्तिरि च्विः ॥४२॥१५५॥ वेतीहानुवर्तते । न सः असः कारणमित्यर्थः । अतस्य तत्त्वम् विकाररूपापत्तिः अतत्त्वम् । सम्पद्यते इति सम्पत्ता सम्पद्यतेः कर्तेत्यर्थः । अतत्त्वत्वे गम्यमाने सम्पद्यतेः कर्तरि वर्तमानात् सुबन्तात् उत्तरावस्थाभिधायिनश्चिर्भवति कृभ्वस्तिभिर्योगे । अल्पान्तरार्थेन शब्देन विग्रहः क्रियते । अशुक्लं शुक्लं करोति शुक्लीकरोति प्रासादम् । अत्र करोतेः कर्मभावमापन्नोऽपि प्रासादः सम्पद्यतेः कर्ता भवति अत एव विग्रहः । अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति शुक्लीकरोति । शुक्लीभवति । शुक्लीस्यात् । शुक्लशब्दाच्चि्वः । इकारः “च्वौ” [१२११३५] इति विशेषणार्थः । चकारोऽपि तत्रैव विशेषणार्थः । तत्र विरित्युच्यमाने दाविः, जागृविरित्यत्र “रीळ् ऋतः” [५१२१३६] इति रीड्भावः प्राप्नोति । वकारः “च्विडाज्जादिः” [१२११३२] इति विशेषणार्थः । तत्र हि विग्रहणेऽक्रियमाणे चिनोतेस्तद्विकाराणां वा ग्रहणं प्रसज्येत । पूर्वस्य सुपः “सुपो धुमृदोः” [११४११४२] इत्युप् । “अस्य च्वौ” [५१२११४१] इतीत्वम् । परस्य सुपः “सुपो ऋः” [११४११४०] इत्युप् । कर्मभावाभिधायिन्यापि कृञादौ च्विर्भवति । शुक्लीक्रियते । अशुक्लस्य शुक्लस्य क्रिया शुक्लीभवनमिति द्रव्यस्य गुणक्रियाद्रव्यसमूहविकारयोगेऽतत्त्वमुदाहार्य क्रियायोगे—कारकीभवति । कारकीकरोति । कारकीस्यात् । द्रव्ययोगे—दरडीकरोति । दरडीभवति । दरडीस्यात् । “दीरकृद्गो” [१२११३४] “च्वौ” [१२११३४] इति दीत्वम् । समूहे-गा असङ्घं सङ्घं करोति सङ्घीकरोति । सङ्घीभवन्ति गावः । सङ्घीस्युः । विकारे—पटीकरोति तन्तून् । पटीभवन्ति । पटीस्युः । घटीकरोति मृदः । घटीस्यात् । अत्रायमर्थः । यत्र कारणाद्विकारस्याभेदो विवक्ष्यते तत्रायं च्विः । न तु यत्र कारणात्कार्यस्य भेदः । यथा वीरणेभ्यः कटं करोति । मृदो षटं करोति । कृभ्वस्तियोगे इति किम् ? अशुक्लः शुक्लो जायते । अतत्त्वत्वे इति किम् ? शुक्लं करोति । घटं करोति । अत्र विकारस्यैव विवक्षा कारणस्याविवक्षितत्वात् । सम्पत्प्रग्रहणं किम् ? कर्तुरन्यास्मिन् कारके मा भूत् । अशुक्ले सत् शुक्ले सम्पद्यते । अदेवग्रहे सत् देवग्रहे सम्पद्यते । कथं समीपीभवति । दूरीभवति । अत्राप्युपचारात् । तस्थे द्रव्ये वर्तमानस्य कर्तृत्वम् ।

मनोऽकृश्चक्षुरचेतोरहोरजसः खम् ॥४२॥१५६॥ मनःप्रभृतीनां शब्दानामलोऽन्यस्य खं भवति च्वौ परतः । अविशेषेण पूर्वेष्वैव च्विः सिद्धः । खमनेन विधीयते । न च खविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधः । सत्यविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तदन्तानां केवलानां चेह ग्रहणम् । अनुन्मनसम् उन्मनसं करोति उन्मनीकरोति । उन्मनीभवति । उन्मनीस्यात् । अरूकरोति । अरूभवति । अरूस्यात् । “दीरकृद्गो” [१२११३४] “च्वौ” [५१२११५] इति दीत्वम् । उच्चतूकरोति । उच्चतूभवति । उच्चतूस्यात् । विचेतीकरोति । विचेतीभवति । विचेतीस्यात् । विरहीकरोति । विरहीभवति । विरहीस्यात् । विरजीकरोति । विरजीभवति । विरजीस्यात् ।

साद्वा कात्स्न्ये ॥४२॥१५७॥ कृभ्वस्तियोगेऽतत्त्वत्वे सम्पत्तरीति वर्तते । अतत्त्वविषये कात्स्न्ये गम्यमाने सादित्ययं ल्यो भवति वा । अनग्निम् कृत्स्नमखम् अग्निं करोति अग्निं सात्करोति । अग्निं साद्भवति । अग्निं सात्स्यात् । उदकसात्करोति । उदकसाद्भवति । उदकसात्स्यात् । वावचनाच्चि्वरपि समुच्चयते । अग्नीकरोति । उदकीकरोति । कात्स्न्यादन्यत्र चि्वरेव भवति ।

सम्पदा चाभिविधौ ॥४२॥१५८॥ नानाद्रव्याणां सर्वात्मना एकदेशेन वा विकाररूपापत्तिरभिविधिः । एकद्रव्यस्य सर्वात्मना विकाररूपापत्तिः कात्स्न्यमिति भेदः । अभिविधौ गम्यमाने च्विषिये साद्भवति सम्पदा

कृत्वस्तिभिश्च योगे । वर्षासु सर्वं लक्षणमनुदकमुदकं सम्पद्यते उदकसात्सम्पद्यते । उदकसात्करोति । उदकसाद्भवति । उदकसात्स्यात् । अस्मिन् कटके उत्पातेन सर्वं शस्त्रमग्निः सम्पद्यते अग्निसात्सम्पद्यते । अग्निसात्करोति । अग्निसाद्भवति । अग्निसात्स्यात् । वेत्यनुवृत्तेः कृत्वस्तिभिर्योगे च्चिरपि भवति । उदकीकरोति । उदकीभवति । उदकीस्यात् ।

तदधीनोक्तौ ॥४।२।१९॥ अतत्त्वे इति निवृत्तम् अर्थान्तरोपादानात् । तदधीनेऽभिधेये साद्भवति । कृत्वस्तिभिः सम्पदा च योगे । उक्लिप्रहणसामर्थ्यात् यत्र तदायत्तं प्रतीयते, तस्मात्स्वामिविशेषवाचिनस्तस्यः । राज्ञ आयत्तं राजाधीनं करोति । राजसात्करोति । राजसात्स्यात् । राजसात्सम्पद्यते । आचार्यसात्करोति । आचार्यसाद्भवति । आचार्यसात्स्यात् । आचार्यसात्सम्पद्यते । वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि साधु ।

देये त्रा च ॥४।२।६०॥ तदधीनोक्ताविति वर्तते । देयं दातव्यमित्यर्थः । तदधीने देयेऽभिधेये त्रा इत्ययं त्यो भवति साच्च कृत्वस्तिभिः सम्पदा च योगे । आचार्याधीनं देयं करोति आचार्यत्रा करोति । आचार्यसात्करोति । आचार्यसात्स्यात् । आचार्यत्रा सम्पद्यते । आचार्यसात्सम्पद्यते । वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि । देय इति किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् ।

अव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच् ॥४।२।६१॥ शब्द इति सामान्येन व्यक्तोऽव्यक्तोऽकारादिवर्षाविशेषेणाव्यक्तः । तस्यानुकरणं यत्तस्मादव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाजित्ययं त्यो भवति कृत्वस्तिभिर्योगे । पटकरोति । पटपटाकरोति । पटद्भवति । पटपटाभवति । पटस्यात् । पटपटास्यात् । पटदिति क्रियाविशेषणम् । एतत् प्रादिवत् करोत्यर्थं विशिनष्टि न पुनः कारकत्वेनाभिसम्बध्यते । डकारः टित्कार्थः । चकारो “डाच” इति विशेषणार्थः । डाचोति विशेष्यनिर्देशात् प्रागेव टित्वाद् द्वित्वम् “ओ डाचि” [४।३।८७] इति पूर्वस्य तकारस्य पररूपम् । डाजन्तस्य “चिवाजूर्वादिः” [१।२।१३२] इति तिसंज्ञा । एवं दमदमाकरोति । दमदमाभवति । दमदमास्यात् । अव्यक्तानुकरणादिति किम् ? इषत् करोति । अनेकाच इति किम् ? खात् करोति । अनिताविति किम् ? पठिति करोति । “डाजहंस्येतावतः” [४।३।८५] इत्यञ्छब्दस्य पररूपम् । अनिताविति प्रतिषेधार्थकः । कथमिति चेत् ? डाजन्तस्य तिसंज्ञा । तस्य “प्राग्बोस्ते” [१।२।१४६] इति कृत्वस्तिभ्यः प्राक्प्रयोगेऽनिति परतैव भवति । एवं तर्हि इतौ प्रतिषेधवचनम् अनिष्टशब्दनिवृत्त्यर्थम् । पटञ्छब्दादिति शब्दप्रयोगे डाचि कृते इति पटपटाकरातीत्यनिष्टः शब्दो मा भूत् ।

कृजो द्वितीयतृतीयशंखबीजात्कृषौ ॥४।२।६२॥ कृजो ग्रहणं भ्वस्त्योर्निवृत्त्यर्थम् । कृजो योगे द्वितीय तृतीय शंख बीज इत्येतेभ्यः शब्दभ्यो डाज्भवति कृषिविषये । द्वितीयं विलेपनं करोति क्षेत्रस्य द्वितीयाकरात् क्षेत्रम् । डाचि द्वित्वमनित्यमिति वक्ष्यते । याऽसौ करोतेः कर्मणश्च विग्रहे संबन्धः, स उत्पन्ने डाचि निवर्तते । द्वितीयादयस्तु शब्दाः प्रादिवत् क्रियाविशेषणभूताः । क्षेत्रं कर्म भावमुपयाति । एवं तृतीयाकरोति क्षेत्रम् । शंखं करोति कुलजस्य शंखाकरोति कुलजम् । अन्ये तु शंखाकरोतीत्येव सार्थं दर्शयन्ति । अनुलोमाविलोमाभ्यां कर्षतीत्यर्थः । बीजं करोति क्षेत्रस्य बीजाकरोति क्षेत्रम् । वपतीत्यर्थः । सह बीजेन विलेखनं करोतीत्यर्थः । कृषाविति किम् ? द्वितीयं विवरणं करोति सूत्राणाम् ।

गुणात्संख्यादेः ॥४।२।६३॥ कृज इति वर्तते । कृषाविति च । गुणशब्दान्तात्संख्यादेर्मृदो डाज्भवति कृजा योगे । द्विगुणं विलेखनं करोति क्षेत्रस्य द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् । अथवा द्वौ गुणौ विगृह्य हृदयं रसः । तस्मात्स्यः । गुणादिति किम् ? द्वे परिवर्तने करोति क्षेत्रस्य । संख्यादेरिति किम् ? समगुणं करोति क्षेत्रम् । कृषावित्येव । द्विगुणं करोति वज्रम् ।

स-प्रा-पत्रानेष्पत्रानिष्कुलासुखाप्रियादुःखाश्लुतासत्याभद्रामद्राः ॥४।२।६४॥ समया-

द्यः शब्दा डाबन्ता निपात्यन्ते । सर्वत्र कृद्योगे निपातनम् । समयशब्दाद्यापनायां गम्यमानायां डाब्नि-
पात्यते । कालकृता पुरुषकृता वा संस्था समयः । तस्यातिक्रमः कालक्षेपो यापना । समयं करोति पटस्य ।
श्वो दातास्मीति तस्यातिक्रमे समयाकरोति पटं कुविन्दः । यापनाया अन्यत्र डाञ् न भवति । समयं करोति
विवाहस्य । सपत्रनिष्पन्नशब्दाभ्याम् अतिव्यथने गम्यमाने डाच् । सपत्रशब्द इह विपरीतलक्ष्यतया
निष्पन्नशब्दार्थे वर्तते । सपत्राकरोति मृगं व्याधः । अतिपीडयतीत्यर्थः । एवं निष्पत्राकरोति । अतिव्यथना-
दन्यत्र सपत्रं वृद्धं करोति जलसेचकः । निष्पत्रं वृद्धतत्त्वं करोति याटिकापालः । निष्कुलशब्दान्निष्कोषणोऽर्थे
डाच् । प्रच्छन्नावयवानां ब्रह्मिष्कासनं निष्कोषणम् । निष्कुलाकरोति पशुं चाण्डालः । निष्कोषणादन्यत्र
निष्कुलं करोति पुरुषम् । उच्छिनत्तीत्यर्थः । सुखाप्रियशब्दाभ्यामानुलोभ्येऽर्थे डाच् । सुखाकरोति । प्रिया-
करोति । स्वाम्यादेरानुकूल्येन वर्तते इत्यर्थः । आनुकूल्यादन्यत्र सुखं करोति धर्मः । दुःखशब्दात् प्रातिलोभ्येऽ-
र्थे डाच् । दुःखाकरोति । प्रातिकूल्येन वर्तते इत्यर्थः । प्रातिकूल्यादन्यत्र दुःखं करोति दुष्कृतम् । शूलशब्दात्
पाकार्थप्राये डाच् । शूलाकरोति मांसम् । शूले मांसं पचतीत्यर्थः । पाकादन्यत्र शूलं करोति सिविषम्
(कदन्नम्) । सत्यशब्दादशपथेऽर्थे डाच् । सत्याकरोति वशिष्णुं भाण्डम् । अहमेतद्भाण्डं क्रेष्यामीति । अन्तराले
द्रव्यं सत्यंकारं व्यवस्थाप्य तथ्यं करोति । (अशपथे किम् ? सत्यं करोति ब्राह्मणः) । शपथं करोतीत्यर्थः ।
भद्रमद्रशब्दाभ्यां परिवापणोऽर्थे डाच् । भद्राकरोति नापितः शिशून् । मद्राकरोति नापितः शिशून् । परिवाप-
णादन्यत्र भद्रं करोति साधुः ।

सान्ताः ॥४२॥६५॥ सान्तामि(न्ता इ) त्ययमधिकारो वेदितव्यः । आपादपरिसमाप्तये विषयो वक्ष्यन्ते
सस्यान्ता अवयवास्ते भवन्तीत्यर्थः । ननु वक्ष्यमाणेषु सूत्रेषु क्वचित्सविशेषाधिकारोऽस्ति क्वचित्पूर्वपदोत्तरपद-
निर्देशः । ततः सामर्थ्यादेव सान्ता विषयो भविष्यन्तीति नार्थोऽनेन, यत्रार्थविभागोऽस्ति तदर्थोऽधिकारः ।
यथा “ऋक्पुरन्धुःपथोऽनक्षे” [४२॥७०] इति अर्धर्चम् । सग्रहणं किम् ? ऋक् । अन्तर्ग्रहणं किमर्थम् ?
तद्ग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् । हर-द्वन्द्वसज्ञाः प्रयाञ्चर्यान्त । उपराजम् । “हे शरदादेः” [४२॥१०६]
“अनः” [४२॥११०] इति सान्ते कृते हसंज्ञाश्रयाऽम्भावादिः सिद्धः । द्वे धुरो समाहृते द्विधुरो । त्रिधुरी । “रात्”
[३॥१२५] इत्यकारान्तलक्षणा ङीविधिः सिद्धः । नूपुरोपानहिनी । “द्वन्द्वान्चुदहषो रार्थे” [४२॥१०८]
इति सान्ते कृते “द्वन्द्वोपतापगर्ह्याऽर्थाऽनान्” [४१॥५१] इतीन्विधः सिद्धः । खादेशौ च प्रयोच्यतः ।
व्याघ्रपात् । “खं पादस्याहस्यादेः” [४२॥१३६] इति परस्यादेर्माभूत् । “गन्धस्यैरूपतिसुसुरभिभ्यः”
[४२॥१३६] इति परस्यादेरिवम्भा भूत् ।

न स्वतिक्रिमः ॥४२॥६६॥ सु अति किम् इत्येतेभ्यः परस्य सान्तो न भवति । वक्ष्यमाणेन
लक्षणेन विहितः सर्वः सान्तः प्रतिषिध्यते । शाभनो राजा सुराजा । सुसखा । सुगौः । अतिराजा । अतिसखा ।
अतिगौः । को राजा किराजा यो न रक्षति । किसखा यो न स्निह्यति । किगौर्यो न वहति । इह कस्मा-
त्प्रतिषेधो न भवति शाभने अक्षिणी यस्य स्वज्ञः । “स्वाङ्गाद्देऽक्षिसक्थः” [४२॥११३] इत्यसान्तः ।
अत्रोच्यते-“स्वती पूजायाम्” इति विशिष्योक्तत्वात्प्रतिपदोक्तस्य षसस्यैव ग्रहणम् न षसस्य । पूजायामनयो-
स्साहचर्यात् । पूजार्थस्यातेर्ग्रहणम्, तेन “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे इपा” इति प्रातिपदविधाने त्रिप्रतिषेधो न
भवति । अतिक्रान्तो राजानम् अतिराजः इति । क्षेपं किमिति प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणात् इहापि प्रतिषेधो न
भवति । को राजा किराजः । किसखः । किगवः ।

नञः ॥४२॥६७॥ नञः परस्याः प्रकृतेः सान्तो न भवति । अराजा । असखा । अगौः ।
इहापि नञिति प्रतिपदोक्तस्य षसस्य ग्रहणादन्यत्राप्रतिषेधः । अराजको देशः । अरुचो माणवकः ।

पथो वा ॥४२॥६८॥ नञः परो यः पथिशब्दस्तदन्ताद्वा सान्तो न भवति । पूर्वेषु नित्ये प्रतिषेधे
प्राप्ते विकल्पोऽयम् । अपथम् । अपथ्याः । इह नञः स्यानुवृत्तेरन्यत्र नित्यो विधिः । अपथं वनम् ।

संख्याबाहुऽबहुगणात् ॥४१॥६६॥ “संख्येये संख्यया भ्यासन्ना” [१।३।८७] इत्यादिना प्रतिपदोक्तो यः संख्याया बसस्तस्मादबहुगणान्ताहुः सान्तो भवति । समीपे दशानामिमे उपदशाः । आसन्ना विशतेरिमे आसन्नविंशाः । अदूरे त्रिंशतोऽदूरत्रिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । पञ्चषाः । संख्याग्रहणं किम् ? चित्रगुः । संख्याबसस्य प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणादिह न भवति । द्विगुः । दशगुः । अबहुगणादिति किम् ? उपबहवः । इदमेव ज्ञापकं बहुगणयोः संख्या संज्ञा भवति । गणशब्दस्य डं सत्यसति च नास्ति विशेषस्तस्य प्रतिषेधोऽन्यसंख्याकार्यलाभार्थः । गणकूलः । गणधा । “इप्रकरणे संख्याया ष्यस्थोपसंख्यानं निस्त्रिंशच्चार्थम्” । निर्गतानि त्रिंशतो निस्त्रिंशानि । निश्चत्वारिंशानि । निरशीतानि वर्षाणि वर्तन्ते । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खङ्गः । आदिशब्दः प्रकारवाची तेन व्यादेर्न भवति ।

ऋक्पूरब्धुःपथोऽनन्ते ॥४१॥७०॥ ऋच, पुर्, अप्, धूः, पथिन् इत्येवमन्तेभ्यः अ इत्ययं सान्तो भवति अन्तसंबन्धी चेद्भूःशब्दो न भवति । वादिति निवृत्तं सामान्येन विधानम् । सान्ताधिकारसामर्थ्यात्तदन्तग्रहणम् । अकारस्यानन्तशब्दे परतः स्वेऽको दीत्वं कस्मान्न कृतम् ? शकन्वादित्वात्पररूपं द्रष्टव्यम् । सौत्रो वा निर्देशः । अर्धचर्मम् । अनृचो माणवकः । अबह्वृचम् । ललाटस्य पूर्ललाटपुरम् । द्विर्गता आपोऽस्मिन् द्वीपः । समीपः । राज्यस्य धू राज्यधुरा । महाधुरा । मोक्षपथः । राजपथः । अनन्त इति किम् ? अन्नस्य धूः अन्नधूः । दृढधूरन्नः । अन्न केषाञ्चिदस्ति । “अनृचो माणवो ज्ञेयोः बह्वृचश्चरणे स्मृतः” तेनेह न भवति । अनृचकं साम । बह्वृचकं सूक्तम् ।

प्रत्यन्ववात्सामलोमनः ॥ ४१॥७१ ॥ प्रति अनु अव इत्येवभूर्वात्सामान्ताल्लोमान्ताच्च अः सान्तो भवति । प्रतिगत साम प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । अवलोमम् । “तकुमादयः” [१।३।८९] इति षसः । अन्यपदार्थे षयो वा कर्तव्यः । यदा तु हसः, तदा “अनः” [४।२।११०] “नपो वा” [४।२।१११] इति परत्वादिकल्पः । प्रतिसामम् । प्रतिसाम । प्रतिलोमम् । प्रतिलोम ।

“कृष्णोर्द्वेषाण्डुपूर्वाया भूमेरत्योऽयमिष्यते । गोदावर्याश्च न्धारश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥” [वा०] कृष्णभूमः । पाण्डुभूमः । बसो यसो वा । द्वे गोदावर्या समाहृते द्विगोदावरम् । पञ्चनदम् । “नदीभिरश्च” [१।३।१७] इति हसः । चकारान्दूमिरपि भवति । द्विभूमः । सप्तभूमः प्रासादः । क्वचिदन्यत्रापीष्यते । पद्मनाभः । ऊर्णनाभः । वर्षरात्रः ।

अजीवेऽक्ष्णः ॥४१॥७२॥ अजीवे वर्तते योऽन्तिशब्दस्तदन्तात्सात् अ इत्ययं त्यो भवति । कमलस्यान्ति कमलान्तम् । अथवा कमलमन्तीव कमलान्तम् । एवं लक्षणात्तम्^१ । पुष्करान्तम् । कवरस्यान्ति कवरान्तम् । अश्वानां मुखान्छादनं बहुच्छिद्रकमित्यर्थः । अजीव इति किम् ? अजात्ति । कथं प्रासादस्य गवान्तम् । कयान्त इति । एवमादयोऽपि रुटिशब्दा इति न जीवेऽन्तिशब्दस्य वृत्तिः ।

स्त्रीधेनुवाग्दारात्पुंसनडुमनोगोभ्यः^२ ॥४१॥७३॥ स्त्री, धेनु, वाक्, दार इत्येवपूर्वेषु यथासंख्यं पुंस, अनडुह्, मनस्, गो इत्येभ्यः अः सान्तो भवति । स्त्री च पुमाँश्च स्त्रीपुसौ । क्वचिद्यसेऽपि भवति । पूर्वं स्त्री पँश्चात्पुमान् स्त्रीपुंसं विद्धि राक्षसम् । स्त्रीपुंसः शिखण्डी । द्वन्द्वयसाम्यामन्यत्र न भवति । स्त्रियाः पुमान् । परिशिष्टेभ्यो इन्द्र एव त्यो भवति । धेनुश्च अनड्वाँश्च धेन्वनडुहो । वाक्च मनश्च वाङ्मनसम् ? दाराश्च गावश्च दारगवम् ।

१. कवशाक्षम् पू० । २. ‘गोभ्यः’ इति बहुवचनान्तः पाठचित्यः, ग्रन्थे सर्वत्रैकवचनस्यैव प्रयोगदर्शनात् ।

ऋचः सामयजुर्भ्याम् ॥४१२।७४॥ ऋचः पराभ्यां सामयजुर्भ्याम् अः सान्तो भवति द्वन्द्व-
एवाभिधानम् । ऋक्च साम च ऋक्सामे । ऋक्च यजुश्च ऋग्यजुषम् ।

नञ्विसूपत्रिभ्यश्चतुरः ॥४१२।७५॥ नञ्, वि, सु, उप, त्रि इत्येतेभ्यः परश्चतुरशब्दोऽत्यान्तो
निपात्यते । अदृश्यानि चत्वारि अनेन अचतुरः । विगतानि चत्वार्यस्य विचतुरः । शोभनानि चत्वार्यस्य
सुचतुरः । समीपे चतुर्णामयमुपचतुरः । त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः । त्रस एवेदं निपातनम्, नान्यत्र । न
चत्वारोऽचत्वार इति ।

नक्तंरात्रिमहोभ्यो द्विवम् ॥४१२।७६॥ नक्तम्, रात्रिम्, अहन् इत्येतेभ्यः परो दिवशब्दो
निपात्यते द्वन्द्वे । नक्तञ्च दिवा च नक्तन्दिवम् । अः सान्तो निपात्यते । रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम् । सूत्रे
निपातनादेव रात्रिराब्दस्य मुम् । अहश्च दिवा च अहर्दिवम् । अहःशब्दसन्निधाने दिवाशब्दो रात्रिपर्यायः
शक्तिस्वाभाव्यात् ।

द्वित्रिपुरुषादायुषः ॥४१२।७७॥ द्वि, त्रि, पुरुषशब्देभ्यः पर आयुषशब्दो निपात्यते । द्वे आयुषी
समाहृते द्वे आयुषम् । व्यायुषम् । अस्सान्तो निपात्यते । रसादन्यत्र न भवति । द्वयोरायुद्वर्थायुः । व्यायुः ।
पुरुषस्यायुर्वर्षाणि पुरुषायुषम् । तास एवेदं निपातनम्, द्वन्द्वे न भवति । पुरुषश्च आयुश्च पुरुषायुषी ।

जातमहद्वृद्धादुच्चाः ॥४१२।७८॥ जात, महत्, वृद्ध इत्येतेभ्यो पर उच्चा इति निपात्यते । सर्वत्र
यसेऽकारः सान्तो निपात्यते । जातश्च सा उच्चा च जाताच्चाः । महोच्चाः । वृद्धोच्चाः । यसादन्यत्र न भवति ।
जातस्य उच्चा जाताच्चा । मदुच्चा । वृद्धोच्चा ।

सरजसोर्वष्टोवपदष्टोवात्त्रिभ्रुवो(व दारगवो^१) पशुनगोष्ठश्वाः ॥४१२।७९॥ सरजसादयः
शब्दा अत्यान्ता निपात्यन्ते । सह रजसा सरजसमभ्यवहरति । साकल्ये हसः । हसादन्यत्र न भवति । सरजः
सलिलम् । उरु च अष्टीवन्तौ च उर्वष्टोवम् । अकारस्स्याष्टिखं च निपात्यते । अष्टीवन्तौ गुलकावुच्येते ।
प्राण्यङ्गलादेकवद्भावः । पादौ च अष्टीवन्तौ च पदष्टीवम् । द्वन्द्वेऽकारः सान्तष्टिखं पूर्वपदस्य एद्भावो निपात्यते ।
अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम् । द्वन्द्वे द्युवल्लिङ्गम् । दारगवमित्यवादेशश्च निपात्यते । शुकः समीपम् उप-
शुनम् । हसे अः सान्तष्टिखाभावां त्रिश्च निपात्यते । गाष्ठे श्वा गोष्ठश्च । अः सान्तः ।

पल्यराजहस्तिभ्यो वर्चसः ॥४१२।८०॥ पल्य, राजन्, हस्तिन् इत्येतेभ्यः परो यो वर्चःशब्दस्त-
न्तादः सान्तो भवति । अत्र तासः सम्भवति । पल्यस्य वर्चः पल्यवर्चसम् । राजवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् ।
“ब्रह्मवर्चसादिभ्योऽपि वक्तव्यम्” [वा०] । तेनात् (नाल्ये) ब्रह्मवर्चसमिति भवति ।

तमसोऽवसमन्धात् ॥४१२।८१॥ अव, सम्, अन्ध इत्येतेभ्यः परात्तमःशब्दादः सान्तो भवति ।
अवहीनं तमः, अवहीनं तमोऽस्मिन्वाऽवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धतमसम् । षसो वषो वा ।

निसः श्रेयसः ॥४१२।८२॥ निःशब्दात् परो यः श्रेयःशब्दस्तदन्तदस्यो भवति । निश्चितं श्रेयः
निःश्रेयसम् । अत्र (यस एव) विधानं न त्रस इति केचित् । निश्चितं श्रेयोऽनेन निःश्रेयस्कः ।

श्वसो वसीयसश्च ॥४१२।८३॥ श्वसः परात् वसीयसः श्रेयसश्च अः सान्तो भवति । वसुमन्च्छब्दात्
“विन्मतोरुप” [४।१।१२४] इति ईयसो मतोश्चोपि कृते वसीय इति भवति । श्वोवसीयसं कुलम् । श्वः
श्रेयसमस्तु ते । उभयत्र मयूरव्यंसकादित्वात्सः ।

१. वृत्त्यनुरोधे दारगवशब्दः सूत्रे सन्निवेश्य एव ।

तप्तान्ववाद्दहसः ॥४१२।८४॥ प्रच्छन्न उपशुप्रयोगो वा रहः । तप्त अनु अन्व इत्येतेभ्यः परो यो रहःशब्दस्तदन्तादस्त्यो भवति । सम्भवतः सस्य ग्रहणम् । तप्तं रहः तप्तग्रहसम् । अनुगतं रहः अनुरहसम् । अनुगतं रहोऽस्मिन्वाऽनुरहसम् । अवरहसम् ।

प्रतेरुरस ईपः ॥४१२।८५॥ प्रतेः परात् उरःशब्दादीर्भर्थे वृत्ते अस्सान्तो भवति । उरसि वर्तते प्रत्युरसम् । विभक्त्यर्थे हसः । अथवा विग्रहवाक्ये ईबन्तादुरःशब्दादस्त्यो भवति । प्रतिष्ठितमुरसि प्रत्युरसम् । “विष्णुभाष्यः” [१।३।८१] इति षसः । ईप इति किम् ? प्रतिगतमुरः प्रत्युरः ।

द्विस्तावात्रिस्तावाऽनुगवम् ॥४१२।८६॥ द्विस्तावा त्रिस्तावा, अनुगव इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । द्विस्तावतीति विग्रह्य द्विस्तावा वेदिः । काचिदभिधीयते । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । अः सान्तः पुंवद्भावादिष्वं च निपात्यते । एवं त्रिस्तावती त्रिस्तावा वेदिः । वेद्यभिधानादन्यत्र न भवति द्विस्तावती त्रिस्तावती परिखा । अत्रापि अध्याहृतक्रियापेक्षया क्रियाम्यावृत्तिरस्ति । द्विस्तावती मीयते परिच्छिद्यते वा । तेन सुप् सिद्धः । अनुग [वेऽभिधेये] वमिति [अस्सान्तो] अत्यान्तो निपात्यते आयामिन्यभिधेये । गामन्वायतम् अनुगवं यानम् । “आयामिना” [१।३।१३] इति हसः । यथा गौरायतस्तथा यानमप्यायतमित्यर्थः । आयाम्यभिधानादन्यत्र न भवति । गवां पश्चादनुगु ।

गेरध्वनः ॥४१२।८७॥ गिसंज्ञोपलक्षितेभ्यः पराध्वशब्दादस्त्यो भवति । सम्भवतः सस्य (षसस्य) ग्रहणम् । प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः । प्राध्वं शकटम् ।

षेऽङ्गुलेभिंसंख्यादेः ॥४१२।८८॥ भिसंख्यादेरङ्गुलिशब्दादस्सान्तो भवति । अतिक्रान्तमङ्गुली-रत्यङ्गुलम् । निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम् । संख्यादेः— द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्वयङ्गुलम् । त्र्यङ्गुलम् । चतुरङ्गुलम् । तथा द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुलम् । “हृदर्थ” [१।३।४६] इति रसः । प्रमाणेऽर्थे आगतस्य मात्रतः “रादुबलौ” [३।४।२६] इत्युप् । वस इति किम् ? पञ्चाङ्गुलीर्हस्तः ।

अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ॥४१२।८९॥ षे इति वर्तते । अहन्, सर्व, एकदेश, संख्यात, पुण्य इत्येतेभ्यः पराद्रात्रिशब्दाद् भिसंख्यादेश्च अस्त्यो भवति षसे । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः । षस्यासम्भवात् अत्र द्वन्द्वो वेदितव्यः । “अह्नो रिविचौ रात्रिरूपरथन्तरेषु” [वा०] इति रित्वम् । सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः । “पूर्वकालक” [१।३।४४] इत्यादिना षसः । एकदेशात्—पूर्वा रात्रिः पूर्वरात्रः । अपरा रात्रिः अपररात्रः । उत्तरा रात्रिः उत्तररात्रः । रात्र्येकदेशे रात्रिशब्दो वर्तते । ततः सामानाधिकरण्यम् । “विशेषणं विशेष्येणेति” [१।३।५२] इति षसः । संख्यातरात्रः । पुण्यरात्रः । भ्यादेः—अतिक्रान्तो रात्रिमतिरात्रः । नीरात्रः । संख्यादेः—द्वयो रात्र्योः समाहारो द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

एभ्योऽह्नोऽहः ॥४१२।९०॥ राजाऽहःसखिभ्यष्टो विधास्यते, तस्मिन् सति अह्नित्येतस्य अह्नादेशो भवति एभ्यः सर्वादिभ्यः परस्य । एभ्य इति निर्देशो भिसंख्यादेरपि ग्रहणार्थः । तत्संभवादहःशब्दपूर्वत्वं नाश्रियते । सर्वमहः सर्वाहः । “टखोरेवाहः” [४।४।१३३] इति टिखे प्राप्तेऽनेनाह्नादेशः । “अतोऽहः” [५।४।६१] इति गालम् । पूर्वाहः । अपराहः । संख्याताहः । पुण्यशब्दात्प्रतिषेधं वक्ष्यति । भिसंख्यादेः— निष्क्रान्ताऽह्नो निरह्नी कथा । द्वयोरह्नोर्भवा द्वयह्नी पूजा । त्र्यह्नी पूजा । हृदर्थे रसे कृते भवार्थे आगतस्थाणः “रस्योबनपत्ये” [१।३।७४] इत्युप् । द्यौ रसे संख्यादिः प्रयोजयति । द्वेऽहनी जातस्य द्वयह्नजातः । त्र्यह्नजातः । “काका मेयैः” [१।३।६७] इति त्रिपदः षसः । एकशब्दात्प्रतिषेधं वक्ष्यति ।

न समाहारे ॥४१२।९१॥ समाहारलक्षणे षसे अह्नित्येतस्याह्नादेशो न भवति । पूर्वसूत्रेण संख्यादे-रिति प्राप्तः प्रतिषिध्यते । द्वयोरह्नोः समाहारो द्वयह । त्र्यह । “टखोरेवाहः” [४।४।१३३] इति टिखम् ।

अत्र संख्यादेरिति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । सङ्गतानि समाहृतान्यहानि समहा इति नैष दोषः । प्रतिपदं “इदर्थेषु समाहारे” [१।३।४६] इति समाहारे विहितस्य षसस्येह ग्रहणं न प्रादिलक्ष्यम् । समाहार इति किम् ? द्वयोरहोर्भवे द्वयहः उत्सवः । हृदर्थे रसे कृतेऽण आगतस्य “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् ।

पुरयैकाभ्याम् ॥४।२।६२॥ पुरयैकशब्दाभ्यां परस्य अह्नित्येतस्य अह्नादेशो न भवति । पुरयमहः पुरयाहः । एकमहः एकाहः । “पूर्वकालैक” [१।३।४४] इत्यादिना षसः ।

**राजाऽहःसखिभ्यष्टः ॥४।२।६३ राजन्, अहन्, सखि, इत्येतदन्ताष्टो भवति । देवराजः । द्वयो-
रहोः समाहारो द्वयहः । परमाहः । राजसखः । स्त्रियाः पूर्वपदार्थप्राधान्येऽतिक्रान्ता राजानम् अतिराजी ।
नकारान्तलक्षणस्त्रीविधेः परत्वाद्नेन टः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” [५०] इतीह कस्माच्च भवति ?
मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी । मद्रसखी । अर्निस्त्यैषा परिभाषति न भवति ।**

गोरहृदुपि ॥ ४।२।९४ ॥ गोशब्दाष्टो भवति अहृदुन्विषये । पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् । महागवः । राजगवी । अतिगवी । पञ्चगवधनः । अहृदुपीति किम् ? पञ्चभिः क्रीतः पञ्चगुः । दशगुः । हृदर्थे “संख्यादी ररच” [१।३।४७] इति रसे कृते क्रीतार्थे आगतस्य आर्हीयस्य ठयो “शदुबलौ” [३।४।२६] इत्युप् । अत्रान्तरङ्गत्वात्प्रागेव सान्तो भविष्यतीति प्रतिषेधोऽनर्थकः । नैवं शङ्क्यम् अनुपीति विषयनिर्देशादुन्विषये प्रतिषेधः । हृद्ग्रहणं किम् ? सुबुन्विषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चगवमिच्छति पञ्चगवीयति । उन्ग्रहणं किम् ? हृतः श्रवणविषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चम्यो गोभ्य आगतं पञ्चगवरूपम् । पञ्चगवमयम् । हृदर्थे रसे कृते टः सान्तः । “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” । [३।३।५५] “मयट्” [३।३।२६] इति रूप्यमयटौ ।

उरसोऽग्रे ॥४।२।९५॥ अग्रं प्रधानम् । अग्रं वर्तते य उरःशब्दस्तदन्तात्वाष्टो भवति । इस्तिनामुरः हस्तुरसम् । अश्वोरसम् । रथोरसम् । समानाधिकरणे वा षसः । इस्तिन इवोरसः हस्तुरसम् । यथा देहावयवानाम् उरोऽग्रम् प्रधानम् एवमिहाप्युरःशब्देन प्रधानभूतं विवक्षितम् । अग्रं इति किम् ? पुरुषस्योरः पुरुषोरः ।

सरोऽनोऽश्मायसः खुजात्योः ॥४।२।९६॥ सरस्, अरस्, अश्मन्, अयस्, इत्येवमन्तात्वाष्टो भवति खुविषये जातौ च । जलसरसमिति संज्ञा । मण्डूकसरसमिति जातिः संज्ञा वा । महानसमिति संज्ञा । उपानसमिति जातिः संज्ञा वा । स्थूलाश्मः । अमृताश्म इति जातिः । पियडाश्म इति संज्ञा जातिर्वा । कनकाश्म इति जातिः । लोहितायस इति संज्ञा जातिर्वा । कालायसमिति जातिः । खुजात्यारिति किम् ? परमसरः ।

ग्रामकौटाभ्यां तक्षणः ॥४।२।९७॥ ग्राम कौट इत्येताभ्यां यस्तद्वशब्दस्तदन्तात्वाष्टो भवति । ग्रामस्य तद्वा ग्रामतक्षः । कुट्यां भवः कौटः, कौटश्चासौ तद्वा कौटतक्षः । स्वायत्तकर्मजीवीत्यर्थः । ग्रामकौटाभ्यामिति किम् ? राशस्तद्वा राजतद्वा ।

शुनोऽन्तेः ॥४।२।९८॥ अतिशब्दात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्वाष्टो भवति । अतिक्रान्तः श्वानमतिश्वो वयाहः । अतिश्वो नीचजनः ।

उपमानात् ॥ ४।२।९९॥ उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम् । उपमानात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्वाष्टो भवति । न्याग्र इव श्वा व्याघ्रश्चः । सिंहश्चः । मयूरव्यंसकादिलात्षसः ।

अजीवे ॥४।२।१००॥ पूर्वसूत्रे उपमानग्रहणं पूर्वपदविशेषणम् । इह शुनो विशेषणम् । अजीवे वर्तते यः श्वशब्द उपमानवाचो तदन्तात्वाष्टो भवति । आकर्षः श्वा इव आकर्षश्चः । फलकश्चः । “व्याघ्रैरुपमेयोऽवघोने” [१।३।५१] इति षः । अजीव इति किम् ? वानरोऽयं श्वा इव वानरश्वा ।

मृगोत्तरपूर्वात्सकथनः ॥४१२।१०१॥ मृग, उत्तर, पूर्व इत्येतेभ्यः परो यः सक्थिशब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । मृगस्य सक्थि मृगसकथम् । उत्तरमकथम् । पूर्वमकथम् । उपमानादिति वर्तते । फलकमिव सक्थि फलकसकथम् । “विशेषणम्” [१।३।५२] इत्यादिना पसः ।

नावो रात् ॥४१२।१०२॥ नौशब्दान्ताद्वाटो भवति । द्वयोर्नावोः समाहारो द्विनावम् । पञ्चनावम् । पञ्चनावप्रियः । द्वाभ्यां नौभ्यामागतं द्विनावरूप्यम् । द्विनावमयम् । अहदुपीत्यनुवर्तते । पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः । आर्दीयस्य ठणः “रादुबखौ” [३।४।१२६] इत्युत् । रादिति किम् ? परमनौः ।

अर्द्धाच्च ॥४१२।१०३॥ अर्द्धाच्च परो यो नौशब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । अर्द्धं च सा नौश्च अर्द्धनावी । “विशेषणम्” [१।३।५२] इत्यादिना सः । लोकाश्रयं नपुंसकलिङ्गमपि दृश्यते । अर्द्धनावमिति ।

खार्या वा ॥ ४१२।१०४॥ खारीशब्दान्ताद्वाटो भवति । द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम् । यदा टो न भवति तदा “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशः । द्विखारि । केचित्फुलिङ्गं पठन्ति । तेषां “खागोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशे द्विखारिरिति । पञ्चखारप्रियः । पञ्चखाररूप्यम् । पञ्चखाररूप्यम् । पञ्चखारमयम् । पञ्चखारी-मयम् । पञ्चमु खारीषु भवः पञ्चखारी । टपत्ते डी मिद्ध एव । इहार्द्धादिति वर्तते । अर्द्धशब्दान्तपरो यः खारीशब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । अर्द्धखारम् । अर्द्धखारी ।

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥४१२।१०५॥ द्वित्रिभ्यां परो योऽञ्जलिशब्दस्तदन्ताटो भवति । द्वयोरञ्जल्योः समाहारो द्वयञ्जलम् । त्र्यञ्जलम् । द्वयञ्जलं वनम् । त्र्यञ्जलरूप्यम् । द्वयञ्जलमयम् । केचिद् वेयनुवर्तयन्ति । तेन द्वयञ्जलिः । त्र्यञ्जलिप्रियः । इहाहदुपीति वर्तते । हदुपि न भवति । द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्वयञ्जलिः । रादित्येव । द्वयोरञ्जलिः द्वयञ्जलिः ।

ब्रह्मणो राष्ट्रेभ्यः ॥४१२।१०६॥ राष्ट्रभ्यः परो यो ब्रह्मणशब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । रादिति निवृत्तम् । अत्रन्ति ऽ ब्रह्मा अत्रन्तिब्रह्मः । मुगष्ट्रे ब्रह्मा मुगष्ट्रब्रह्मः । ईविति योगविभागात्सः । राष्ट्रभ्यः किम् ? देव-ब्रह्मा नारदः ।

कुमहद्भ्यां वा ॥४१२।१०७॥ कुमहद्भ्यां परो यो ब्रह्मस्तदन्तात्पाटो भवति । कुब्रह्मः । कुब्रह्मा । महाब्रह्मः । महाब्रह्मा ।

द्वन्द्वाच्चुद्दहपो रार्थं ॥४१२।१०८॥ रार्थः समाहारः । द्वन्द्वाद्गर्गे वर्तमानाच्चवर्गदकारङ्कार-प्रकारान्ताटो भवति । वाक्च त्वक्च वाक्त्वचम् । श्रीस्वजम् । वाग्पदम् । छत्रोपानम् । वाग्विप्रुपम् । द्वन्द्वादिति किम् ? पञ्चानां त्वचां समाहारः पञ्चत्वक् । चुद्दह इति किम् ? वाक्करित् । रार्थं इति किम् ? छत्रोपानदौ ।

हे शरदादेः ॥४१२।१०९॥ शरदाव्यन्ताटो भवति हेमे । शरदादिषु ये भूयन्तास्तेषां “गिरिनर्दी-पौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः” [४।२।११२] इति वा टः प्राप्तो निव्यर्थमिदं ग्रहणम् । हाधिकारः प्राग्वर्माधि-कागत् । शरदः समीपमुपशरदम् । प्रतिशरदम् । “लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती” [१।३।११] इति हसः । शरद् । विपाश् । अनम् । मीनम् । उपानद् । उपामद् । दिश् । दिव् । हिर्कृ । कियत् । चतुर् । हिमवत् । अनडुद् । तद् । यद् । जराया जरस् च । दृश् च । प्रतिपरसमनुभ्योऽङ्गणः । पथिन् ।

अनः ॥४१२।११०॥ अन्नन्तद्वाटो भवति । अत्र्यात्मम् । प्रत्यात्मम् । उपराजम् । परिगजम् ।

नपो वा ॥४१२।१११॥ अन इति वर्तते । अन्नन्तं यन्नप् तदन्ताद्वाटो भवति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । उपचर्मम् । उपचर्म । उपकर्मम् । उपकर्म ।

गिरिनदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ॥४१२।११२॥ वेति वर्तते । गिरि नदी पौर्णमासी आग्रहायणी भ्य इत्येवमन्ताद्वा टो भवति । गिरेरन्तरन्तगिरिम् । अन्तर्गिरि । तिष्ठद्वादिन्वात्सविधिः । अथवा विभक्त्यर्थे हमः । बहिर्गिरिम् । बहिर्गिरि । “पर्यपाङ् बहिरन्वचः” [१।३।१०] । उपनदम् । उपनदि । नपि प्रः । उपपौर्णमासम् । उपपौर्णमासि । उपाग्रहायणम् । उपाग्रहायणि । भ्यः—उपसमिवम् । उपसमिन् । उपदृपदम् । उपदृपत् ।

स्वाङ्गाद्देशिसकथनः ॥४१२।११३॥ स्वाङ्गशब्दाद् यो अक्षिप्तकथितशब्दो तदन्तात् वाट्टो भवति । ह इति वेति च निवृत्तम् । कल्याणेऽक्षिणी अस्य कल्याणात्तः । विशालाक्षी । गोरे सकथिनी अस्य गौरसकथः । स्वन्तः इत्यत्र “न स्वतिक्रिम्” [४।२।६६] इति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? पस्य प्रदणं तत्र व्याख्यातमित्यदोषः । स्वाङ्गादिति किम् ? स्थूलाक्षिरिक्तुः । दीर्घसकथ शक्यम् । अप्राणिस्थस्य स्वाङ्गस्य न भवति । व इति किम् ? उक्तमाक्षि । आपादपरिसमातेर्विमाधिकारः प्रत्येतव्यः ।

दुग्गडुलेः ॥४१२।११४॥ डु दाह । अर्जुलशब्दान्ताद्वाट्टो भवति दाहपरिमेषेयः । द्वे अङ्गुली अस्य द्व्यङ्गुलं दाह । व्यङ्गुलम् । चतुरङ्गुलम् । धान्यानां विक्षेपणम् अप्रेङ्गुलीमदशावयवं काष्ठं दाह तदिह गृह्यते । यत् द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलं दाह । तत्र हृदयं वसे कृते “अङ्गुलेर्किंसंख्यादेः” [४।२।६६] इत्यः सान्तः । मात्रटश्चोप् । दुग्गीति किम् ? पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः ।

द्वित्रिभ्यां मूर्धः ॥४१२।११५॥ द्वित्रिभ्यां परे यो मूर्धशब्दस्तदन्ताद्वाट्टो भवति । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः । सान्तो विधिरनित्य इति तेन द्विमूर्धा । त्रिमूर्धा ।

डन्त्रीप्रमाणीयोरः ॥४१२।११६॥ ट इति निवृत्तम्, त्यान्तरोपादानात् । डडन्ता येऽन्त्रीशब्दाः प्रमाणीशब्दश्च तदन्ताद्वा अस्त्यो भवति । कल्याणी पञ्चमी यामां रात्रीणां कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । कल्याणीदशमा भार्या । स्त्री प्रमाणी येषां स्त्रीप्रमाणाः । कल्याणी प्रमाणी आषां कल्याणप्रमाणा भार्याः । डन्त्रीप्रदणस्यावकाशः कल्याणीद्वितीया । कल्याणीतृतीया । कल्याणीपञ्चमा रात्रय इति । डन्त्रिभ्यां प्रधानस्त्रीप्रदणं कर्तव्यम् । अन्यपदार्थवाच्यानां डडन्ता स्त्री प्रधानं यदि भवति तदप्ये सान्तो भवतीत्यर्थः । अडट् प्रियादाविति पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्यस्मिन्नत्र विषये वक्ष्यते । तेनेह सान्तः पुंवद्भावप्रतिषेधश्च न भवति । कल्याणी पञ्चमी अस्मिन् पक्षे कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति । “नेतुर्नक्षत्रे उपसंख्यानम्” [वा०] । मृगो नेता आषां रात्रीणां मृगनेत्राः । पुष्यनेत्राः । नक्षत्रादन्यत्र न भवति । देवदत्तनेतृकं सैन्धम् ।

लोमोऽन्तर्वहिर्भ्याम् ॥४१२।११७॥ अन्तर बहिष् इत्येताभ्यां परे यो लोमशब्दस्तदन्ताद्वाट्टो भवति । अन्तर्गतानि लोमान्यस्य अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः । “मासाद्भृत्तित्यान्तपूर्वपदान् ठो वक्तव्यः” [वा०] पञ्च कार्पाण्या भृतिरस्य मामस्य “तदस्यांशवसनभृतयः” [३।४।५५] इत्यत्र “संख्यायाः कोऽतिशतः” [३।४।१६] इति कः । पञ्चको मासोऽस्येति वसे कृते ठः । पञ्चकमासिकः । दशकमासिकः ।

नासिकाया नश्चास्थूलान् खौ ॥४१२।११८॥ नासिकाशब्दान्ताद्वाट्टो भवति नश्चादेशो नासिकायाः खुविषये न चेत्स्थूलशब्दात्पर्यो नासिकाशब्दः । हुरिव नासिकाऽस्य दुग्गमः । गौरिव नासिका अस्य गोनमः । वद्धं भया वाद्धीं नासिका अस्य वाद्धीरणमः । “त्रिण्णद्दृढरक्तविकारे” [४।३।१५१] इति पुंवद्भावप्रतिषेधः । सर्वत्र “पूर्वपदान्त्वावगः” [५।४।८७] इति णत्वम् । स्थूलादिति किम् ? स्थूलनासिकः । ग्वाविति किम् ? तुङ्गनासिकः । “खुरखराभ्यां वा नस वक्तव्यः [वा०] खरस्येव नासिकाऽस्या अर्चनायाः खरणाः । खुरणाः । पक्षे अस्त्यो भवति खरणसः । कथं शिति नासिकाऽस्य शिनिनाः । अहिरिव नासिकाऽस्य अहिनाः । अर्चाया इव नासिकाऽस्य अर्चनाः । “त्वे ङयायोः कचित् खौ च” [४।३।१७३] इति प्रः । पद्यछान्दसा एते शब्दास्तदत्रापि नस वक्तव्यः ।

गेः ॥४१२१६॥ गेः परो यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद्वाद्स्यो भवति । नश्चादेशः अयमखुविपये विधिः । उन्नता नासिकाऽस्य उन्नसः । प्रवृद्धा नासिकाऽस्य प्रणसः । “एत्वविधौ गेर्नस उपसंख्यानम्” [वा०] इति एत्वम् अत्ये । “वेः खादेशो वक्तव्यः” [वा०] विगता नासिकाऽस्य विबुः ।

सोः प्रातर्दिवाश्वसः ॥४१२१७॥ सोः परे ये प्रातर्, दिवा, श्वम् शब्दास्तदन्ताद्वाद्स्यो भवति । शोभनं प्रातस्य सुप्रातः । “भेर्ममात्रे टिब्वम्” [वा०] इति टिब्वम् । विग्रहवाक्ये शोभनमिति नपुमकत्वं गम्यमानकर्मापेक्षम् । शोभनं प्रातःकाले कर्मास्त्येत्यर्थः । एवं शोभनं दिवा अस्त्येति सुदिवः । शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः ।

प्रोष्ठैरण्यजात्पदः ॥४१२१८॥ प्रोष्ठ, एणो, अत्र इत्येभ्यः परः पदशब्दो ब्रमे निपात्यते । प्रवृद्धोष्ठः प्रोष्ठो गौरित्यर्थः । प्रोष्ठस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः । अस्तान्तः पादशब्दस्य च पद्भावो निपात्यते । एण्या इव पादावस्य एणीपदः । अत्रपदः ।

चतुश्शारिरेरस्त्रिकुत्तेः ॥४१२१९॥ चतुश्शारिरेरशब्दाभ्यां परो यौ अस्त्रिकुत्तिशब्दौ तदन्ताद्वाद्स्यो भवति । चतस्रोऽक्षयोऽस्य चतुरस्रः । शारिरेव कुत्तिरस्य शारिकुत्तः ।

नञ्द्रुस्सोः सक्थिहलेर्वा ॥४१२२०॥ नञ्, दुम्, मु इत्येभ्यः परो यौ सक्थिहलिशब्दौ तदन्ताद्स्यो वा भवति । अविद्यमानं सक्थि अस्य अमकथः । असक्थिः । दुस्मकथः । दुस्सक्थिः । मुसकथः । मुसक्थिः । मद्द्वल हलिः । अविद्यमाना हतिरस्य अदलः । अदलिः । दुर्दलिः । दुर्दलिः । मुदलः । सुदलिः । सक्थि शब्दस्थानं सक्तिशब्दं केचित्पठन्ति । सञ्जनं सक्तिः ।

प्रजामेधाद्स् ॥४१२२१॥ वेति नाधिकृतम् । नञ्, दुम्, मु इत्येभ्यः परो यौ प्रजामेधाशब्दौ तदन्ताद्वाद्स्यो वा भवति । न विद्यते प्रजा अस्व अप्रजाः । दुध्रजाः । सुप्रजाः । न विद्यते मेधा अस्व अनेधाः । दुर्मेधाः । “अथाच्च मेधाया इति वक्तव्यम्” [वा०] अन्वमेधाः । अन्वमेधसो । अन्वमेधसः ।

धर्मत्किंवेलाद् ॥४१२२२॥ केवलो धर्मशब्द एव यत्रोत्तरपदम् अन्यथा (म)व्यपदं नास्ति तदन्ताद्वाद्स्यो वा भवति । माधुनामिव धर्मोऽस्य माधुधर्मा । प्रियधर्मा । केवलादिति किम् ? परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्मः । मन्दिग्धनाव्यधर्मः ।

सुहरित्तृणसोमाज्जम्भान् ॥४१२२३॥ जम्भशब्दो दन्तविशेषवाची अभ्यवहार्थवाची च । सु, हरित, तृण, सोम इत्येभ्यः परो यो जम्भशब्दस्तदन्ताद्वाद्स्यो वा भवति । शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भान् शोभनदंष्ट्रः शोभनाशरो वा । हरितमिव जम्भोऽस्य हरितानि वा जम्भान्यस्य वा हरितजम्भा । तृणमिव जम्भोऽस्य तृणानि जम्भोऽस्य वा तृणजम्भा । एवं सोमजम्भा । स्वादिभ्य इति किम् ? स्थूलजम्भः ।

दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ॥४१२२४॥ ईर्ममिति बहुनामयेयं व्रणनामत्रेयं वा । दक्षिणेर्ममिति वसोऽन्नन्तो निपात्यते लुब्धयोगे । दक्षिणेर्ममस्य दक्षिणेर्मा मृगः । व्याधस्य हन्तुकामस्य दक्षिणमङ्गं बहुकृत्वा स्थितः । अथवा दक्षिणमङ्गं व्रणतमस्य व्याधेत्यर्थः । लुब्धयोग इति किम् ? दक्षिणेर्मः पशुः ।

अ इच् ॥४१२२५॥ अशब्देन जार्थः कर्मव्यतिहारो ग्रहणप्रतिग्रहणदिलक्षणो गृह्यते । जार्थं यो चमस्तस्मादिजित्यर्थं त्यो भवति । चकारः तिष्ठद्गवादिषु इजिति पठ्यते तत्र विशेषणार्थः । “तत्रेदमिति सरूपे” [१।३।८६] “तेनेदम्” [१।३।९०] इति च अर्थं वसः कर्मव्यतिहारे वर्तते । केशोपु च केशोपु च गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि । कचाकचि । इचस्तिष्ठद्गवादिषु पाठात् हसंज्ञा । “अन्यस्यापि” [४।३।३२] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । दण्डैश्च दण्डैश्च इदं युद्धं दण्डादण्डि । मुसलामुसलि युद्धं वर्तते ।

द्विदण्ड्यादिः ॥४१२।१२६॥ द्विदण्ड्यादयः शब्दा इजन्ता निपात्यन्ते । यथा गणो पठितास्तथैव साधवो वसेऽन्यत्र च भवन्तीत्यर्थः । द्वौ दण्डौ श्रस्मिन् प्रहरणे द्विदण्डि प्रहरति । द्विमुसलि प्रहरति । क्रियाविशेषणा-
दन्यत्र न भवति । द्विदण्डा शालेति । पसेऽपि भवति । निकुच्य कर्णौ निकुच्यकर्णि धावति । आकुच्यपादौ
आकुच्यपदि शेते । मयूरव्यंसकादिन्वात्वसः । पादस्य च पद्मावो निपातनात् । प्रोह्य पादौ प्रोह्यपदि हस्तिनं
वाहयति । द्विदण्डि । द्विमुसलि । उमाञ्जलि । उभयाञ्जलि । उमाकर्णि । उभयाकर्णि । उमाहस्ति । उभया-
हस्ति । उमापाणि । उभयापाणि । उमाबाहु । उभयाबाहु । निपातनादिचः खम् । एकपदि । प्रोह्यपदि ।
आकुच्यपदि । निकुच्यकर्णि । संहतपुच्छि ।

सम्प्राजानुनो ज्ञः ॥४१२।३०॥ सम् प्र इत्येताभ्यां परस्य जानुशब्दस्य ज्ञ इत्ययमादेशो भवति वसे ।
सङ्गते जानुनी अस्य संज्ञः । प्रकृते जानुनी अस्य प्रज्ञः । ज्ञ इत्युकारान्तः केपाचिदादेशः । मतद्वयमपि प्रमाणम् ।

ऊध्वोऽर्ध्वान् ॥४१२।३१॥ ऊर्ध्वशब्दान्परस्य जानुशब्दस्य वा ज्ञ इत्यादेशो भवति वसे । ऊर्ध्वे
जानुनी अस्य ऊर्ध्वज्ञः, ऊर्ध्वजानुः, ऊर्ध्वजानुको वा ।

ऊधसोऽनङ् ॥४१२।३२॥ ऊधःशब्दान्तस्य वस्य अनङादेशो भवति सान्तः । कुण्डमिव ऊधोऽस्याः
कुण्डोऽध्नी । परत्वात्सकारस्य अनङादेशे कृते पश्चात् “ऊधसः” [३।१।१३] इति डीविधिः । एवं घट इव
ऊधोऽस्या घटोऽध्नी । इह मा भूत् । महोधाः पर्जन्यः । अनङ्यकार उत्तरत्र सार्थकः । इह नङादेशोऽपि न दोषः ।

धनुपः ॥४१२।३३॥ धनुःशब्दान्तस्य वस्य अनङादेशो भवति । गाण्डीवं धनुस्य गाण्डीवधन्वा ।
अजगवधन्वा । शाङ्गधन्वा ।

वा खौ ॥४१२।३४॥ धनुःशब्दान्तस्य वस्य वा अनङादेशो भवति सान्तः खुविषये । पूर्वण नित्ये
प्राप्ते विभाषयम् । दृढं धनुस्य दृढधन्वा । दृढधनुः । पुष्पधन्वा । पुष्पधनुः ।

जायाया निङ् ॥४१२।३५॥ जायाशब्दान्तस्य वस्य निङादेशो भवति । युवनिर्जाया यस्य युवजानिः ।
वधूजानिः । आकारस्य निङादेशः । “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यकारस्य खम् ।

गन्धस्येरुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥४१२।३६॥ उत्, पूति, सु, सुरभि इत्येतेभ्यः परस्य गन्धशब्दस्य
इकार आदेशो भवति सान्तो वसे । उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः । पूतिर्गन्धोऽस्य पूतिगन्धिः । सुगन्धिः । सुरभि-
गन्धिः । अयं गन्धशब्दोऽस्यैव गुणवचनः । तद्यथा उत्पलगन्धः । चन्दनगन्ध इति । अस्ति द्रव्यवचनः ।
तद्यथा गन्धान् पिनप्रीति । तद्यो मुग्धो गुणवचनस्तस्य ग्रहणम् । तेनह न भवति । शोभनो गन्धोऽस्य
सुगन्ध आर्पाणिकः ।

अल्पाख्यायाम् ॥४१२।३७॥ अल्पपर्यायो यो गन्धशब्दस्तदन्तस्य वस्य वा इकारादेशो भवति
सान्तः । अभिधानवशाद् व्यधिकरणोऽत्र वसः । अन्नस्य गन्धोऽस्मिन् अन्नगन्धिः । अन्नगन्धम् । घृतगन्धि ।
घृतगन्धम् । भोजनम् । अथवा अन्नं गन्धोऽल्पमस्मिन्निति समानानिकरणो वसः ।

उपमानान् ॥४१२।३८॥ उपमानात्परो यो गन्धशब्दस्तदन्तस्य वस्येकारादेशो भवति । पद्मस्य गन्ध
इव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः । पद्मगन्धः । उत्पलगन्धः । उत्पलगन्धिः ।

खं पादस्याहस्त्यादेः ॥४१२।३९॥ वेति निवृत्तम् । उपमानादिति वर्तते । हस्त्यादिवर्जितादुपमाना-
त्परस्य पादशब्दस्य खं भवति । वसे सान्त इत्यनुवर्तनात् इह “परस्यादेः” [१।१।५१] इति एपा परिभाषा
नोपतिष्ठते । व्याघ्रस्यैव पादावस्य व्याघ्रपाद् । सिंहपाद् । अहस्त्यादेरिति किम् ? हस्तिन इव पादावस्य हस्तिपादः ।
कपोत(लक) पादः । हस्तिन् । कपोलक । गण्डोलक । गण्डयक । महिला^१ । दासी । गणिका । कुसूल ।

सुसंख्यादेः ॥४१२१४०॥ सुश्च संख्या च सुसंख्ये ते आदौ यस्य तस्य स्वादेः संख्यादेश्च पाद-
शब्दस्य खं भवति बसे ! शोभनौ पादावस्य सुपाद् । द्वौ पादावस्य द्विपाद् । त्रिपाद् । चतुष्पाद् ।

कुम्भपद्यादिः ॥४१२१४१॥ कुम्भपदीप्रभृतयः शब्दा निपात्यन्ते । क्वचिद्वेऽपि खे कृते “पादो वा”
[३।१।१५] इति ङीविकल्पे प्राप्ते नित्यो ङीविधिर्निपात्यते । कुम्भ इव पादावस्था कुम्भपदी । एकः पादोऽस्या
एकपदी । शितिपदी । सूत्रपदी । सूत्रसितपदी । सितसूत्रपदी । गोधापदी । जालपदी । जलपदी । कलशपदी ।
विपदी । सुपदी । निष्पदी । आर्द्रपदी । द्रोणपदी । कुटीपदी । कृष्णपदी । सूकरपदी । मुनिपदी । शकृत्पदी ।
अष्टापदी ।

वयसि दन्तस्य दत् ॥४१२१४२॥ सुसंख्यादेरिति वर्तते । स्वादेः संख्यादेश्च दन्तशब्दस्य दत्
इत्ययमादेशो भवति बसे वयसि गम्यमाने । शोभना दन्ता अस्य सुजाता वा मुदन् कुमारकः । द्वौ दन्तावस्य
बालकस्य द्विदन् । त्रिदन् । चतुर्दन् । वयसीति किम् ? मुदन्तो दाक्षिणात्यः । चतुर्दन्त एरावतः ।

स्त्रियां खौ ॥४१२१४३॥ स्त्रीलिङ्गस्यपदार्थं दन्तशब्दस्य दत् इत्ययमादेशो भवति मान्तः खुविपद्ये ।
अय इव दन्ता अस्या अयोदती । फालदती । स्त्रियामिति किम् ? नागस्येव दन्ता अस्य नागदन्तको नाम
कश्चित् । खविति किम् ? समदन्ती । “नासिकोदरोष्ठ” [३।१।४०] इत्यादिना ङीविधिः ।

वा श्यावारोकान् ॥४१२१४४॥ स्त्रियामिति निवृत्तम् । खविति वर्तते । श्याव अरोक इयेताभ्यां
परस्य दन्तशब्दस्य वा दत् इत्ययमादेशो भवति मान्तो बसे । श्यावा दन्ता अस्य श्यावदन् । श्यावदन्तः । अरोका
निश्छिद्राः निर्दीप्तयो वा दन्ता अस्य अरोकदन् अरोकदन्तः ।

शुद्धाग्रान्तशुभ्रवृषवराहात् ॥४१२१४५॥ खविति निवृत्तम् । वेति वर्तते । शुद्ध, अग्रान्त, शुभ्र,
वृष, वराह इत्येभ्यः परस्य दन्तशब्दस्य दत् इत्ययमादेशो भवति बसे मान्तः । शुद्धा दन्ता अस्य शुद्धदन्,
शुद्धदन्तः । कुड्मलाग्रमिव दन्ता अस्य कुड्मलाग्रदन् । कुड्मलाग्रदन्तः । शिखराग्रदन् । शिखराग्रदन्तः ।
शुभ्रदन् । शुभ्रदन्तः । वृषदन् । वृषदन्तः । वराहदन् । वराहदन्तः । “अन्येभ्योऽपि भवतीति धक्त्वम्”
[वा०] अहिदन् । अहिदन्तः । मृषिकादन् । मृषिकादन्तः ।

ककुदस्यावस्थायां खम् ॥४१२१४६॥ कालादिकृतो बालादिभावोऽवस्था । ककुदशब्दान्तस्य खं
भवति मान्तः अवस्थायां गम्यमानायाम् । असञ्जातं ककुदमस्य असञ्जातककुत् । पूर्णककुद् । वृद्ध इत्यर्थः ।
यष्टिककुद् । मध्यशरीर इत्यर्थः । अवस्थायामिति किम् ? श्वेतककुदः । कथं ककुद्भानिति ? यावादिपु हलन्ता
त्रिपातनास्मिद्धम् ।

अद्रौ त्रिककुद् ॥४१२१४७॥ अद्रावन्यपदार्थं खं निपात्यते । त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुद् । अद्रे-
रियं संज्ञा । अन्यत्र त्रिककुद इति भवति ।

व्युदः काकुदान्तात् ॥४१२१४८॥ वि उद् इत्येताभ्यां परस्य काकुदशब्दस्य खं भवति सान्तं बसे । विशिष्टं
काकुदमस्य विकाकुद् । उत्कृष्टं काकुदमस्य उत्काकुत् ।

पूर्णाद्वा ॥४१२१४९॥ पूर्णशब्दात्परस्य काकुदस्य वा खं भवति सान्तं बसे । पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ।

सुहृद्दृढौ मित्रामित्रयोः ॥४१२१५०॥ सुहृद् दृढद् इत्येतां शब्दौ निपात्येते यथासंग्यं मित्रामित्र-
योर्मित्रेययोः । सुदुग्धशब्दाभ्यां परस्य हृदयशब्दस्य बसे हृदादेशो निपात्यते । शोभनं हृदयमस्य सुहृद् मित्रम् ।
दुष्टं हृदयमस्य दृढदमित्रम् । मित्रामित्रयोरिति किम् ? सुहृदयः साधुः । दृढदयः खलः ।

उरःप्रभृतिभ्यः कप् ॥४१२१५१॥ उरःप्रभृत्यन्ताद् बाल्कवित्ययं ल्यो भवति सान्तः । व्यूढमुरोऽस्य
व्यूढोरस्कः । “कुप्चोस्त्ये” [५।४।२६] इति रेफस्य सत्वम् । प्रभूतसर्पिकः । “इणः पः” [५।४।२७] इति प्रत्वम् ।

चित्रोपानत्कः । उरस् । सर्षिप् । उपानह् । पुमान् । अनड्वान् । पुमानित्येवमादयः पञ्चशब्दा विभक्त्यन्ताः पठ्यन्ते । एकवचनान्तानामेव यथा स्यात् । द्विवचनबहुवचनान्तानां मा भूत् । तत्र “शेषाद्वा” [४।२।१५४] इति विकल्प एव भवति । द्विपुंस्कः । द्विपुमान् । बहुपुंस्कः । बहुपुमान् । दरी । “ऋन्मोः” [४।२।१५३] इत्येव सिद्धः किमर्थं दरीशब्दः पठ्यते ? “सहेति तुल्ययोगे” [१।३।६१] इतीदं सूत्रं कवभावार्थमित्यस्मिन् पत्ने कप्रहणार्थमिदं वचनम् । दधि । मधु । शालि । अर्थान्नजः । कथमयं प्रयोगः । “अन्यथैवंकथमित्थं-स्वनर्थात्” [२।४।१३] इति सौत्रोऽयम् ।

इनः स्त्रियाम् ॥४।२।१५२॥ इनन्ताद् वात् कवित्ययं ल्यो भवति स्त्रियामन्यपदार्थे । बहवो दण्डि-
नोऽस्यां बहुदण्डिका । एवं बहुस्वामिका । बहुवाग्मिका । स्त्रियामिति किम् ? बहुदण्डी ग्रामः । बहुदण्डिको वा ।

ऋन्मोः ॥४।२।१५३॥ ऋकारान्तान्मुञ्जान्ताच्च वात्कच् भवति सान्तः । बहुकृत्कः । तकार उच्चा-
रणार्थः । बहुकुमारिकः । बहुब्रह्मन्धूकः ।

शेषाद् वा ॥४।२।१५४॥ यस्माद्वात्सान्तो न विहितः स शेषः । शेषाद्वात् वा कच् भवति सान्तः । बह्वयः
खट्वा यस्य सः बहुखट्वाकः । बहुखट्वः । “ऋक्पूरब्धूः” [४।२।७०] इत्यादिना सूत्रेण विशेषो व्याख्यातः ।
“अनृचो माणवो ज्ञेयो बह्वृचश्चरणे स्मृतः” ततोऽन्यथायं विकल्पः । अनृक्कम् साम । अनृक् साम । बह्वृक्कं
सूक्तम् । बह्वृक्सूक्तम् । शेषादिति किम् ? प्रियपुरः । प्रियपथः ।

न खौ ॥४।२।१५५॥ खुविपये वात् कच् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य कपोऽयं निषेधः नामग्र(ग्रा)-
मः ? . . . । विश्वदेवः । विश्वयशाः । श्वेता अश्वतयो यस्य श्वेताश्वतिः ।

ईयसश्च ॥४।२।१५६॥ ईयसन्ताद्वात्कच् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । बह्वयः श्रेयांसोऽ-
स्मिन् बहुश्रेयान् । विद्यमानश्रेयान् । “शेषाद्वा” [४।२।५४] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्ट-
स्यापि ग्रहणम्” [वा०] बह्वयः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी पुरुषः । “ऋन्मोः” [४।२।५३] इति प्राप्नस्य प्रतिषेधः ।
अत्र “खांगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशोऽपि न भवति । उक्तं हि तत्र—“ईयसो वसे पुंवद्भाववचनम्”
[वा०] । नात्र पुंवद्भावेन स्त्रीत्यस्य निवृत्तिरिष्टा किं नहि यथा पुंमि ईकारस्य प्रादेशो न भवति । ग्रामणी देवदत्त
इति । एवमोशमः परस्यापि स्त्रीत्यस्य । अथवा प्रश्लेषनिर्देशात् ईकारः सिद्धः । ई ईयमः ईयस इति । चकारः
स्त्रियामित्यस्यानुकर्षणार्थः । तेन स्त्रियामीकारो भवति । न प्रादेश इति ।

स्तुते भ्रातुः ॥४।२।१५७॥ स्तुतं पूजितमित्यर्थः । स्तुतेऽर्थे यो भ्रातृशब्दस्तदन्ताद्वात्कच् न भवति ।
शोभनो भ्राता यस्य सुभ्राता । दर्शनीयभ्राता । स्तुत इति किम् ? दुर्भ्रातृकः । मूर्खभ्रातृकः ।

नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे ॥४।२।१५८॥ स्वाङ्गमिह पारिभाषिकम् । स्वाङ्ग यौ नाडीतन्त्रीशब्दौ वतंते तद-
न्ताद्वात्कच् न भवति । बह्वयः नाड्योऽस्मिन् बहुनाडिर्देहः । बहुनाडिर्जङ्घा । बह्वयः तन्त्र्यो धमन्त्योऽस्या बहुतन्त्री-
र्गीवा । स्त्रीत्यो न भवतीति प्रादेशो नास्ति । स्वाङ्ग इति किम् ? बहुनाडीकः स्तम्भः । बहुतन्त्रीका वीणा ।

निप्रवाणिः ॥४।२।१५९॥ प्रकर्षेण ऊयतेऽस्यामिति प्रवाणीति निपात्यते । निर्गता प्रवाणी अस्य निप्र-
वाणिः कम्बलः । प्रत्यग्र इत्यर्थः । “ऋन्मोः” [३।२।५३] इत्यस्य प्रतिषेधः । ये तु प्रवाणीशब्दमिकारान्तं पठन्ति
तेषां “शेषाद्वा” [४।२।५४] इत्यस्य प्रतिषेधः । “ल्यः” [२।१।१] “परः” [२।१।२] “ङ्याम्मृदः” [३।१।१]
इत्येषामधिकाराणामिदमवसानम् ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

आदेरेकाचो द्वे ॥४१३१॥ आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येनदधिकृतं वेदितव्यम् । यदित ऊर्ध्वं वक्ष्याम आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येवं तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति “लिङ्गुक्चिधौः” [४१३१] धोरादेरवयवस्यैकाचो द्वे भवतः । पपाच । जुहोति । अपीपठत् । एकोऽच् अवयवोऽस्य सोऽयमेकाच् । अवयवेन विग्रहः, समुदायो वृत्त्यर्थः । तद्गुणविविज्ञाने वमे समुदायान्तभूतोऽवयव इति साचकस्य द्वित्वम् । परस्वादौपि कृते पाच्छब्दस्य शब्दतोऽर्थतश्चान्तरतमौ द्वो पाच्छब्दौ । द्विःप्रयोगश्च द्वित्वम् । स्थाने हि द्वित्वे जिघांसतीत्यत्र शब्दान्तरत्वाद्दन्तेः कुत्वं न स्यात् । आदेरिति किम् ? जजागार । इत्यनाद्यस्य माभूत् । एकाच् इति किम् ? हल्मात्रस्य माभूत् । पपाचेत्यत्रादित्वं व्यपदेशिवद्भावेन यथा प्रथमगर्भेण हता नारी । इयाय आरेत्यत्र एकाच्यमपि उपचारात् । यथा स्थूलशिवा राहुरिति ।

अचः ॥४१३२॥ इहादेरित्यचो विशेषणम् । आदेः परस्यैकाचो द्वे भवत इत्यधिक्रिये । अट्टिपति । अट्टयत्थने । आट्टित् । सत्यपि सम्भवे आर्द्रद्वित्वस्य बाधकमिदम् । दधिदानस्येव तक्रदानम् । शास्त्रेऽपि द्वीप इत्यत्र “द्वयनर्गोरादपः” [४१३२०२] इत्ययमादिविकारोऽन्यविकारस्य बाधकः । यथाऽन्यस्याचो द्वित्वं न भवति तथा व्यञ्जनस्यापीति न दोषः ।

न स्फादौ न्द्रोऽयि ॥४१३३॥ इहादेरच इति वर्तते । आदेरचः परे स्फादौ वर्तमाना नकारदकाररेफा न द्विरुच्यन्ते अयकारं । इन्द्रिपति । उन्द्रिपति । आड्डिपति । अर्चिचिपति । उच्चिजिपति । इत्यत्र दकारोऽपि पत्रे चुना योगे च “उद्देः” इति क्वमुक्तम् । तस्यामिद्वत्वात्प्रतिषेधः । अभ्युद्ग इत्यत्र कुत्वस्य मिद्वत्वाद्द्वत्वं न भवति । “ईर्यातेस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्” [वा०] कंचिदाहुस्तृतीयस्यैकाच इति । तेन मनो द्वित्वं ईरियति । अपर आहुस्तृतीयस्य हल इति । ईरियति । “कण्डवादानां तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवतिः” [वा०] कण्डूयिपति । “सुब्भूनांच तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति” । [वा०] अश्विथियिपति । अपर आहुः । “यथेष्टं मुव्युप वक्तव्यम्” [वा०] पुपुत्रीयिपति । पुत्रिथियिपति । पुत्रीयिपति ।

थः ॥४१३४॥ द्वे इति वर्तते । तस्य संज्ञित्वम् । ते द्विरुक्ते समुदिते थमंज्ञे भवतः । ददति । ददतु । अददुः । दधति । दधतु । अदधुः । थमंज्ञायां सत्याम् ऋस्य “अत्थात्” [५१३४] इत्यदादेशः । “थस्नोरातः” [४१३१००] इत्याकारस्य खम् । लडो ऋः “थक्त्सेः” [२१३१८८] इति ऋस्योम् । समुदायस्य थमंज्ञायां किं प्रयोजनम् ? चस्य खे मा भूत् । ईप्सन्ति । ऐप्सन् । प्रत्येकं पर्यायेण चः माभूत् । थप्रदेशाः । “थक्त्सेः” [२१३१८८] इत्येवमादयः ।

जक्षित्यादयः ॥४१३५॥ जक्षित्यादयश्च पञ्च थमंज्ञका भवन्ति । जक्षति । जक्षतु । अजक्षुः । जायति । दग्दति । चकासति । शासति । जक्षितेस्तिपीठं कृत्वा गुरुनिर्देशः किम् ? “रुदादेर्ग” [५१३१३५] इत्यत्र पञ्चग्रहणमनुवर्तते इति ज्ञापनार्थः ।

पूर्वश्चः ॥४१३६॥ द्विरुक्तयोः पूर्वोऽवयवश्चमंज्ञो भवति । पपाच । पिपदाति । पापच्यते । अपीपचत् । चमंज्ञायां सत्यां प्रादेशः । “सन्वतः” [५२११७६] इत्वम् । “हलोऽनादेः” [५२११६१] खम् । “दीरकितः” [५२११८०] इति “वेदीः” [५२११६०] प्रकृतिचरां प्रकृतिचर इत्यादि कार्यम् । चप्रदेशाः “चस्यात्र खप्” [५२११६०] इत्येवमादयः ।

लिङ्गुक्चि धोः ॥४१३७॥ लिटि, उचि, कचि च परतः धोरादेरवयवस्यैकाचोऽचः परस्य च द्वे भवतः । पपाच । प्रोणुनाव । उचि—जुहोति ! विभेति । उचि बुद्धिकृतं पौर्वापर्यम् । उक्तं च—

“सर्वाश्चेष्टा बुद्धौ कृत्वा वक्ता धीरस्तन्वर्त्ततिः ।

शुब्देनार्थान्वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पौर्वापर्यम् ॥”

कचि—अपीपचत् । पचेरिण्चि लुङि कचि च कृते णिखमुङः प्रादेशो द्वित्वम् । एवं हि योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तं

प्रतेः ॥४१३२०॥ प्रतिपूर्वस्य श्यायतेर्जिर्भवति ते परतः । प्रतिशीनः । प्रतिशीनवान् । अद्रव-
घनस्पर्शार्थोऽयमारम्भः ।

घाऽभ्यवात् ॥४१३२१॥ अभि अत्र इत्येवंपूर्वस्य श्यायतेर्वा जिर्भवति ते परतः । अभिशीनः ।
अभिश्यानः । अवशीनः । अवश्यानः । अभ्यवशीनः । अभ्यवश्यानः । विपर्याये प्रयोगो नास्ति ।
द्रवघनस्पर्शविवक्षायां प्रातेऽन्यत्राप्रात इत्युभयत्र विकल्पः । अन्यगियोगे केचिन्नेच्छन्ति । समभिश्यानम् ।
ममवश्यानम् । अन्ये तु पूर्वमात्रेऽन्यगियोगेऽपि विकल्पमिच्छन्ति । अभिमंशीनम् । अभिमंश्यानम् ।
अवमंशीनम् । अवमंश्यानम् ।

क्षीरहविषोः शृतम् ॥४१३२२॥ शृतमिति निपात्यते क्षीरहविषोः पाके । शृतं क्षीरम् । शृतं हविः
स्वयमेव देवदत्तेन वा । श्रे पाके इति कृतान्तस्य भौवादिकस्य आ पाके इत्यादादिकस्य च ग्रहणम् । तथा आ पाके इति
चौरादिकस्य गिचि पुकि च कृते आ पाक इति मित्म् पाटाद्यादंशंप्रपि । अनयोः आश्रयोः क्त परतः शृभावो
निपात्यते । क्षीरहविषोः गिति किम् ? आश्रयाणां यवाणुः । वेति व्यवस्थितविभाषानुवृत्तं तु मिति गिचि नेष्यते ।
श्रपितं हविर्देवदत्तेन जिनदत्तेन ।

प्यायः पी ॥४१३२३॥ प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः । पीनो स्तनो । पीनावनौ । “ओदितः”
[५१३६३] इति नन्वम् । प्रकृतो जिरुत्तस्य यस्य प्रमज्ज्येत् । लिङ्गाङोर्बलादौ च यत्वे नास्ति ।
तदर्थश्चादेशः ।

आङः ॥४१३२४॥ आङः परस्य प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः । आपीनः । आपीनवान् ।
आङ एव प्यायः पी भवति नान्यस्माद् । प्रप्यानश्चन्द्रमाः ।

अन्ध्रस्रोः ॥४१३२५॥ अन्ध्रस्रोः अन्ध्रस्रोः अन्ध्रस्रोः अन्ध्रस्रोः अन्ध्रस्रोः अन्ध्रस्रोः अन्ध्रस्रोः अन्ध्रस्रोः
अपीनमूधः । अन्ध्रस्रोः । ऊध्रः स्तनपर्यायः । अयमपि नियमः । आङ्पूर्वास्यान्ध्रस्रोरेव । नान्य-
स्मिन्नर्थे । आप्यानश्चन्द्रमाः ।

लिङ्ग्यङोः ॥४१३२६॥ त इति निवृत्तम् निर्मित्तान्नरोपादानान् । लिटि यङि च परतः प्यायः पी
इत्ययमादेशो भवति । आपिष्ये । आपिष्यते । आपिष्यरे । परन्वापीभावे कृते पुनः प्रसङ्गाद् द्वित्वम् ।
“एगिवाक्चादुङोऽमुधियः” [४१३७८] इति यगादेशः । यङि-आपेपीयते । आपेपीयते । आपेपीयन्ते । यङुपि
“न्यत्रे त्याश्रयम्” [१११६३] इति आपंपति । आपंपीतः । आपिष्यति ।

न वा श्वेः ॥४१३२७॥ जिरिति वर्तते । श्वयतेर्न वा जिर्भवति लिङ्ग्यङोः परतः । गुशाव । शिशवाय ।
शुशुवतुः । शिशिवतुः । शोश्रुते । शोश्रुयते । लिटि किति यजादिप्राप्तिर्नेति प्रतिषिध्यते । ततः समीकृते
विषये विकल्पः । पिति किति च लिटि यङि च प्रवर्तते । ननु शिशवायेत्यत्र जिना मुक्ते पक्षे “चस्यै-
पां लिटि” [४१३१३] इति चस्य प्राप्नोति नाथं दोषो नेत्यनेन श्वयतेर्यावती प्राप्तिः सा सर्वा प्रतिषिध्यते । ततो
विकल्पः । यदि चस्य क्रियेत प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ।

सन्कचोर्गौ ॥४१३२८॥ सन्परे कचपरे च गौ परतः श्वयतेर्न वा जिर्भवति । गुशावयिपति । अन्तरङ्ग-
परिभाषा ह्यनित्या । पूर्वविप्रतिपद्धेन जौ कृते ऐपि “ओ पुयण्ज्ये” [५१२१७८] इति जापकात्
स्थानिवद्भावेन द्वित्वम् । पक्षे शिशवाययिपति । कचि अश्रुशवत् । अशिश्वयत् ।

ह्यो जिः ॥४१३२९॥ ह्यतेर्जिर्भवति सन्परे कचपरे च गौ परतः । जुहावयिपति । जुहावयिपतः । जुहावयि-
पन्ति । कचि-अजूहवत् । अजूहवताम् । अजूहवन् । अनवकाशत्वाजिना सावकाशः “शाच्छासाह्लादि” [५१२१४२]
सूत्रेण यक् नाष्यते । पुनर्जिग्रहणं नित्यार्थम् । ननु थस्येति वक्ष्यते तेनैवायं जिः सिद्धः । ह्यतेरेवायं थ

आदेरेकाच इत्यनुवर्तनात् । एवं तर्हीदमेव ज्ञापकम् । थस्य निमित्तेऽन्येन व्यवहिते जिर्न भवति । तेन सिद्धम् । जिहायकीयिपति । ह्यायकमिच्छति । ह्यायकीयतेः सन् ।

थस्य ॥४१३३०॥ ह्यतेस्थस्य जिर्भवति । जुहूपति । जोहृयने । जुहाव । सामर्थ्यात्थनिमित्ते परतो जिर्वेदित्यः । अत्रोपचारात्थार्थो ह्यतिस्थः तस्य जौ कृते द्वित्वम् ।

न जौजिः ॥४१३३१॥ जौ परतः पूर्वस्य जिर्न भवति । विद्धः । विञ्चितः । संवीतः । वर्चेर्जिवचनं ज्ञापकम् । “अन्तेऽलः” [१११४६] इति नाश्रीयते । “अनन्त्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इत्यनित्या । तत एकेनापि योगेन यावन्तो यणस्तेषां सर्वेषां जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । ननु तथाप्येकयोगेन युगपज्जेः पूर्वस्य परस्य च निर्वृत्तत्वात्सिद्धस्य कथं प्रतिषेधः ? अत्रोच्यते—न जौ जिरिति स्वाश्रयकार्यस्य जेः परपूर्वस्य प्रतिषेधः । ततो यणादेशे मति सिध्यति रूपम् । पुनर्जिग्रहणं प्रकरणान्तरविहितस्यापि जेः प्रतिषेधार्थम् । यूना । यूने । “श्वयुवमघोनोऽहति” [४१३१२१] इति जिः । अत्र स्वेऽको दीत्वस्य स्थानिवद्भावादुकारेण व्यवधानं न चिन्तनीयम् । “प्रपूर्वस्य स्यः” [४१३१८] इत्यत्र पूर्वस्येति वर्तते । तेन पूर्वमात्रस्य प्रतिषेधः । उपोपुषा । उपोपुषे इत्यत्र भिन्ननिमित्तत्वान्न प्रतिषेधः । जावित्यत्रेकारोऽपि प्रश्लिष्यते ततः श्वयतेः कचि न जिः । अशिश्चियत् ।

लिटि वेञो यः ॥४१३३२॥ न जिरिति वर्तते । लिटि परतो वेञो यकारस्य जिर्न भवति । वेञो यकारस्याभावात् वयेर्यकारस्य प्रतिषेधः । वेञ्ग्रहणस्योत्तमत्र प्रयोजनम् । ऊयतुः । ऊयुः । स्थानिवद्भावेन यजादित्वात् किति जिः प्रातः । लिट्ग्रहणमुत्तमार्थम् ।

वो वा किति ॥४१३३३॥ लिटि किति परतो वेञो यकारस्य जिर्न भवति । ऊयतुः । ऊयुः । यजादित्वाजिः प्रातः “प्ये च” [४१३३४] इति वक्ष्यमाणेन प्रतिषेधोऽनेन विकल्प्यते । परन्वाजौ कृते द्वित्वम् । “वाणाद् गावं बर्तायः” [परि०] इत्युवादेशे कृते स्वेऽको दीत्वम् । पङ्गे-ववतुः । ववुः । वेञ्ग्रहणानुवृत्तः स्थानिवद्भावेन वयि वकारस्य न प्रतिषेधः । क्तीति किम् ? वविथ ।

प्ये च ॥४१३३४॥ प्ये लिटि च वेञो जिर्न भवति । प्रवाय । उपवाय । ववौ । ववतुः । ववुः । वविथ । किट्ग्रहणं वाग्रहणं चानधिकृतम् । “चस्यैषां लिटि” [४१३३३] इति यजादित्वाच्च जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । अस्मिन्नेव नित्ये प्राप्ते कित्स्वो ‘वो वा किति’ [४१३३३] इति विकल्पः । वेञ्ग्रहणानुवृत्तग्रह स्थानिवद्भावाभावाद् वयेरप्रतिषेधः । उवाय । ऊयतुः । ऊयुः । स्थानिवद्भावे हि “लिटि वेञो यः” [४१३३२] इत्यनर्थकं स्यात् । अनेनैव यकारस्यापि प्रतिषेधः स्यात् ।

ज्यः ॥४१३३५॥ ज्या इत्येतस्य प्ये जिर्न भवति । प्रज्याय । उपज्याय । चानुकृष्टत्वात्लिटीति निवृत्तः ।

व्यः ॥४१३३६॥ व्या इत्येतस्य च प्ये जिर्न भवति । प्रव्याय । उपव्याय । सूत्रान्तरमुत्तरार्थम् ।

परेर्वा ॥४१३३७॥ परेरुत्तरस्य व्या इत्येतस्य प्ये वा जिर्भवति । परिर्वीय । परिव्याय । परन्वादीत्वे कृते तुगभावः ।

एचोऽशित्याः ॥४१३३८॥ धोरिति वर्तते । एजन्तस्य धोरशित्यात्वं भवति । ग्लै । ग्लाता । ग्लानुम् । शो-निशाता । निशातुम् । “अन्तेऽलः” [१११४६] इत्येव आकारः । एच इति किम् ? कर्ता । कर्तुम् । अशितीति किम् ? ग्लायति । म्लायति । अशितीति प्रसज्यप्रतिषेधः शिति नेति । अनैमित्तिकमात्वम् । ग्लानीयम् । तेन आयाद्यभावः । मुत्रः । मुश्लः । “आतो गौ” [२१११०६] इति कः । मुश्लानम् । “युजातः” [२१३१०६] इति युञ्ज मिद्धः । “मिन्मीन्दीडां प्ये च” [४१३४३] इति चकारादंजिपये चान्वचनं ज्ञापकम् । परनिमित्तस्यैव आत्वं न भवति । चेना । स्तोता । प्रतिपदोक्तपरिभाषा त्वनित्या तेन क्रापयतीत्यादौ पुक् मिद्धः । शकार इत्यस्य मोऽयं शित् तदादौ न भवति । न तु तदन्ते । जग्ले मग्ले इति । धोरित्येव । गोभिः । नोभिः ।

न व्यो लिटि ॥४३३६॥ व्यतेर्लिट्यात्वं न भवति । संबिध्याय । संबिध्ययिथ । णलि “चस्यैषां लिटि” [४३१३] इति जिः । “णित्यचः” [५२३] इत्यैप् । आयादेशः । थे “वोपदेशे” [५११०८] इति सूत्रे “अव्याद्” इति प्रतिषेधात्क्रादिनियमादित् ।

स्फुरिस्फुल्यार्थजि ॥४३३७॥ स्फुरि स्फुलि इत्येतयोरेच आत्वं भवति प्रथि परतः । विस्फारः । विस्फालः । “भावे” [२३१७] “अकर्त्तरि” [२३१८] “हलः” [२३१०२] इति “करणाधिकरणयोः” [२३१६६] वा घन् । “स्फुरिस्फुन्योर्निनिवेः” [५४५८] इति वा पत्वम् ।

क्रीडजेणौ ॥४३३८॥ क्री ड् जि इत्येतेषामेच आत्वं भवति णौ परतः । क्रापयति । अध्यापयति । जापयति । परनिमित्तस्याप्येच आत्वमनेन विधीयते ।

सिध्यतेरहाने ॥४३३९॥ णाविति वर्तते । सिध्यतेरेच आत्वं भवति ज्ञानादन्यत्र णौ परतः । अन्नं माधयति । अर्थं साधयति । अज्ञान इति किम् ? आचारः कुलं सेधयति । क्षमा धर्मं सेधयति । ज्ञापयतीत्यर्थः । श्यावकरणनिर्देशात्पिथ गतावित्यस्य भौवादिकस्याग्रहणम् ।

मिञ्मीञ्दीङां प्ये च ॥४३४०॥ मिञ् मीञ् दीङ् इत्येतेषां प्ये च एचश्चात्वं भवति । प्ये प्रमाय । एद्विपये प्रमाता । प्रमातुम् । प्रमापयति । मिञो निमाय । निमाता । निमातुम् । निमापयति । दीङ-अवदाय । अवदाता । अवदातुम् । अवदापयति । चकारो ज्ञापकः । परनिमित्तस्यैच आत्वं न भवति । तेन चेनादिध्वात्वाभावः । एच इत्यर्थवशाद्विशेषणलक्षणात्ता । एचो या प्रकृतिस्त्वस्याः प्राक्योपत्तेर्यात्वं भवति । एवं चाकाराण्यव्युचः मिद्धाः । अवदायः “श्याद्व्यध” [२१११४] आदीनि णः । अवदायो वर्तते । मुदानम् । “निर्मिमांलियां खाचोरावप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] मुनिमयः । निर्मानाति निमानं वा निमयः । “अकर्त्तरि वाऽच्चि प्रतिषेधः” । एवं मिनोतेरपि । लियो “विभाषा लियोः” [४३४४] इति व्यवस्थितविभाषा ज्ञापनादेव खाचोः प्रतिषेधः मिद्धः ।

विभाषा लियोः ॥४३४४॥ लिनान्ते लीयित्श्च विभाषयाऽऽत्वं भवति प्ये एञ्चिपये च । विलाय विलीय । एञ्चिपये विलाता । विलेता । विभाषेति व्यवस्थितविभाषा । नेन धाष्ट्र्यमम्माननयोरालम् । श्येनो वर्तिकामपलापयेने ।

णम्यपगुरो वा ॥४३४५॥ एच इति वर्तते । णामि परतः अपगुर एच आत्वं भवति वा । अपगारम् । अपगोरम् । अस्यपगारं युध्यन्ते । अस्यपगोरं युध्यन्ते । “प्रमाणास्योः” [२३३६] इति णम् । “वा भादि” [१३८४] इति पमः । पुनर्वाग्रहणं पूर्वस्य व्यवस्थितविभाषाज्ञापनार्थम् ।

चिस्फुरोणौ ॥४३४६॥ चिञ् स्फुर इत्येतयोर्णौ परत एचो वाऽऽत्वं भवति । धर्मं चापयति । धर्मं चपयति । नयनं स्फारयति । नयनं स्फोरयति ।

प्रजने वातेः ॥४३४७॥ प्रजनेऽर्थे वातेर्णौ परतो वाऽऽत्वं भवति । पुरो वातो गाः प्रवापयति । पुरो वातो गाः प्रवपयति । लवणं गाः प्रवपयति । लवणं गाः प्रवापयति । प्रजनो गर्भाधानम् । वातेः प्रजनेऽर्थे वृत्तिर्नास्ति तेनारम्भः ।

विभेतेहेतुभये ॥४३४८॥ विभेतेहेतुभयेऽर्थे णौ परतो वाऽऽत्वं भवति । मुण्डो भापयते । जटिलो भापयते । मुण्डो भीपयते । जटिलो भीपयते । हेतुः स्वतन्त्रस्य कर्तुः प्रयोजकः । ततः साक्षाद्भयमत्र प्रतीयते । भयशब्दो भावसाधनोऽपदानसाधनो वा । नपुंसकलिङ्गे भावे “अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानाम्” [वा०] कादि-निवृत्त्यर्थम् । भावे-हेतोर्भयं हेतुभयम् । असादाने-हेतुरेव भयं हेतुभयमिति ज्ञेयम् । “णेर्भीस्मेहेतुभये” [१२१६४] इति दविधिः । आत्वाभावपक्षे “ईनः पुङ्गित्यम्” [४३४६] इति पुक् । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिकयैर्न भीपयति । नात्र प्रयोजकत्वंतोर्भयं किन्तर्हि कुञ्चिकारूपात्कारणात् । तिषा निर्देशो यद्भवन्निवृत्त्यर्थः विभेति तमन्यः प्रयुङ्क्ते (भाययति पुनः पुनरतिशयेन भाययति) विभाषयति ।

ईतः षुङ् नित्यम् ॥४१३४६॥ विभेतेरीकारान्तस्य हेतुभयेऽर्थं नित्यं पुगागमो भवति णौ परतः । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । ईत इति निर्देशादैपः प्रागेव पुक् । हेतुभय इत्येव । कुञ्चिकयैनं भाययति । नात्र साक्षात्प्रयोजको भयकारणम्ः किन्तर्हि ? करणात् । दविधिश्च न भवति ।

स्मिङ्ः ॥४१३१०॥ हेतुभय इति वर्तते णाविति च । स्मिङ् इत्येतस्य णौ परत आत्वं भवति हेतुभयेऽर्थं । मुण्डो विस्मापयते । जटिलो विस्मापयते “**शेभीस्मेहेतुभये**” [११२।६४] इति दः । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिकयैनं विस्माययति । स्मयत्यर्थ एव भयमित्युपचर्यते । नहि मुख्यवृत्त्या भये स्मयतेर्त्तः ।

भ्रूल्यकिति सृजृहशोऽम् ॥४१३५१॥ भ्रूलादावकिति परतः सृजृहशोरमागमो भवति । खष्टा । खष्टुम् । खष्टव्यम् । द्रष्टा । द्रष्टुम् । द्रष्टव्यम् । विशेषविहितत्वात्सामान्यविहितस्य “**घ्युङ्ः**” [५।२।८३] एषो वाधकोऽयम् अस्मात्नीत् इत्यत्र पूर्वममि कृते “**व्रजवद्**” [५।१।७६] इत्यादिनेप् । भ्रूलीति किम् ? सर्जनम् । दर्शनम् । अक्रीतीति प्रसज्यप्रतिषेधादिह न भवति रज्जुसृङ्भ्याम् । देवहृग्भ्याम् । धोः स्वरूपग्रहणे तत्त्वविज्ञानाद्वा ।

वाऽनुदात्तस्य ङुङ्ः ॥४१३५२॥ अनुदात्तस्य धोः ऋदुङ्ः वा अमागमो भवति भ्रूलादावकिति परतः । व्रमा । तर्मा । द्रप्ता । दर्ता । तृपिहपीरधादौ विकल्पितेदौ तत्रानुदात्तपाठोऽमागमार्थः । अनुदात्तस्येति किम् ? वदी तर्दा । वृट् । तृट् । उदित्वात्पन्नेऽनियौ । ऋदुङ्ः इति किम् ? भेत्ता । भेत्तुम् । भ्रूलीत्येव । तर्गम् । दर्पणम् । अक्रीतीत्येव । दृप्तः ।

ध्वादेः पस्सः ॥४१३५३॥ धोरादेः पकारस्य सकारदेशो भवति । अज्जन्त्यस्य मादयः पोपदेशाः । सृपिभृजिभृस्यास्तसेकसृवर्जम् । स्वादिस्मिङ्स्विदिस्वट्रिजस्वपयस्तु मूर्धन्यादिपाठाः । उदाहरणम् । पद् सहते । पिच भिचचति । त्रिष्वप् सुनः । “**न्यादेशयोः**” [५।१।३६] इति पचार्थ आदेशः । धोरिति किम् ? पोडन् । पडिकः । आदेरिति किम् ? लपति । धोरिति वर्तमाने पुनर्धुग्रहणे पुन्ये यो धुः तदादेः पकारस्य मत्वार्थम् । मुग्धोर्मा भूदिति । पांडीयते । पडोयति । “**घ्रावतिष्वपकतिष्वायतीनां प्रतिषेधो यत्कथ्यः**” [वा०] । षिव् थकारपरः ठकारपरश्चेत्यते । तेन चाविकारे तेषीव्यते । टेषीव्यते ।

णो नः ॥४१३५४॥ धोरादेर्गकारस्य नकार आदेशो भवति । मयं नादयो णोपदेशाः । नृतिनन्दिनकनदिनटिनाधुनाशृवर्जम् । गम्-नमति । णी-नयति । णह-नयति । “**गेरसेऽपि विकृतेः**” [५।४।६८] इति गन्वार्थमादेशः । पुनर्धुग्रहणात्सुब्धोर्गकारस्य नत्वं न भवति । णकागीयति । ध्वादेर्गन्वयं । चर्णति । योगावभागाः मत्वस्य घ्रावत्यादावनित्यन्वज्ञापनार्थः ।

वलि व्योः खम् ॥४१३५५॥ वलि परतो वकारयकारयोः खं भवति । धोराधोर्वा । देदिवः, मंसिवः । यदुवन्ताहमि वकारस्य खम् । जीवेरदानुक् । जीरदानुः । यकारस्य, ऊपो-ऊत्तम् । क्यूयी कन्तम् । “**असिद्धं बाहिरङ्गमन्तरङ्गं**” [प०] इत्यनित्या तेन बहिरङ्ग इयादेशे एयादेशे च मत्वन्तरङ्गं यखम् । पचेत् । दासेरः । किञ्चि कएङ्गयतेः शोभयतेश्च कण्डूः । वोभूः । अतः खे कृते “**वलि व्योः खम्**” नित्यत्वात्किञ्चपः खेऽपि क्वचिद्वर्णाश्रयोऽप्याश्रयमिति त्यक्त्वे त्याश्रयाद्बलादित्त्वम् । वलीति किम् ? दीव्यते । नाय्यते ।

हल्ङ्घ्यापो घः सुसिप्यनच् ॥४१३५६॥ हलन्तात् डी च आप् च या दीः तदन्ताच्च परेषां सुसिपीनां खम् । व्यर्थं स्फान्तयेन सिद्धमिति चेत्, न सिध्यति । उग्वार्थादित्यत्र स्फान्तखस्याभिद्धत्वं पदान्तत्वाभावात्त्वं न स्यात् । स्फादिसिप्ये वा विभक्तिसकारस्य रित्वविसर्जनीयौ स्याताम् । अभिनोऽत्रेति स्फान्तखस्यासिद्धत्वादेरुत्वं न स्यात् । अग्निर्भवानित्यत्र “**रात्सः**” [५।३।४२] इति नियमात्सिपः खं न स्यात् ।

केरेडः ॥४१३५७॥ केः खं भवति एङन्तादुत्तरस्य । हे अग्ने । हे वायो । प्रादिति खान्परत्वेन “**प्रस्यैप्**” [५।२।१०३] इति एप् ।

प्रात् ॥४१३१५॥ प्रान्तात्परस्य केः खं भवति । हे देवदत्त । हे जिनदत्त । षसपक्षेऽनजिति वर्तते तच्च प्रादिति कानिर्देशात् तान्तं सम्पद्यते । ततः केरवयवस्यानचः खं भवति । एवं हे कुण्डेल्यत्र हलो मकारस्य खं भवति । हे कतरदिल्यत्र स्वमोः परतः किकृते “नपः स्वमोः” [५११२०] इत्युप् ।

पिति कृति तुक् ॥४१३१६॥ प्रादित्यस्य ताप्रकृतिः । पिति कृति तुगागमो भवति प्रान्तस्य । प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । अग्निचित् । सोमसुत् । कृतीति वचनाद्दोरस्यं तुक् । पितीति किम् ? चितम् । स्तुतम् । कृतीति किम् ? बहुकर्वुकः । प्रस्येति किम् ? प्रलूय । ग्रामणीः । ग्रामणीकुलमित्यत्र ब्रह्माश्रयस्य प्रादेशस्यासिद्धत्वान्नान्तरङ्गस्तुक् ।

सन्धौ ॥४१३१७॥ सन्धावित्यधिकारो वेदितव्यः । यदित् ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः सन्धिविषये तद्वदितव्यम् । लोकत एव संश्लेषः सन्निकर्षो वा सन्धिरिति ज्ञानव्यम् । यथा “एष्यतोऽपदे” [४१३१८] अत्रेकारादिः । वक्ष्यति ‘अचीको यण्’ [४१३१९] । दध्यशान । सन्धाविति किम् ? दधि अशान ।

छे ॥४१३१८॥ छकारे परतः सन्धौ प्रस्य तुग्भवति । गच्छति । इच्छति । पृच्छति । प्रस्यात्र तुङ् न तदन्यस्य । यदि प्रान्तस्य स्याच्चिच्छुदुरित्यत्र “हलोऽनादेः” [५१२१६१] खं प्रमज्येत । नन्वयवावयवोऽपि समुदायावयव इति खं प्रान्नोति । एवं तर्हि पूर्वान्तकरणाधिकारात्खं न भवति ।

आड्माडोः ॥४१३१९॥ आड् माड् इत्येतयोश्छे परतस्तुग् भवति ।

“ईपदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः । एतमातं छितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित् ॥”

ईपच्छाया आच्छाया । क्रियायोगे—आच्छिनन्ति । मर्यादाऽभिविध्योः । आच्छायायाः । माडः । माच्छि-
दत् । माच्छामीत् । “वा पदस्य” [४१३१९] इति विकल्पः प्राप्तः । अनृत्व (नुन्ध) करणं किम् ? आच्छात्रमानय । आच्छात्रमानय । स्मरणे छित्वं नास्ति । उपमा छुत्रमानयति । “गामादाग्रहणेऽपि विशेषः” [प०] इति प्राप्तिः । अथवा नेदं प्रत्युदाहरणम् । आडा सहचरितस्य माडो निमज्जकस्य ग्रहणाद्दोरप्राप्तिः ।

द्यः ॥४१३२०॥ दीमंजस्य छे तुग्भवति । ह्रीच्छति । भ्लेच्छति । अपचाच्छाद्यते ।

वा पदस्य ॥४१३२१॥ अन्तस्य पदस्य छे वा तुग्भवति । कुवलीच्छाया । कुवलीछाया । शमीच्छाया । शमीछाया । दीमंजकस्य तुग्भवति य चेपदस्येति । तेनासामर्थ्येऽपि तुग्विकल्पः सिद्धः । तिष्ठतु कुमारी छत्रं हर देवदत्त ।

अचीको यण् ॥४१३२२॥ अचि परत इको यणादेशो भवति । दध्यशान । मध्वपनय । “अनचि” [५११२०] इति द्वित्वम् । भवर्थः । लाकृतिः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गं” [प०] इति यादीनां न स्फान्त्वम् । अचीति किम् ? दधि करोति । मधु कृतम् । इक इति किम् ? भवान्त । हलो मा भूत् । स्त्रेऽचि दीत्वं वक्ष्यति । पारिशेष्यादन्यत्र यण् ।

एचोऽयथायावः ॥४१३२३॥ एचः स्थाने अय् अच् आय् आव् इत्येते आदेशा भवन्ति अचि परतः । चयनम् । लवनम् । चायकः । लावकः । कथेते । पटविह ।

यि त्ये ॥४१३२४॥ यकारादौ त्ये अयादय आदेशा भवन्ति । वाभ्रव्यः । मारुडव्यः । गव्यः । नाव्यो हृदः । यीति किम् ? गोभ्याम् । नौभ्याम् । त्य इति किम् ? गोयानम् । नौयानम् । यीति योगविभागः । तेन गोर्युता-
वध्वपरिमाणे अनादेशो भवति । गव्युतिः । अयायादेशयोः केचित्प्रतिषेधमिच्छन्ति । तेन रायमिच्छति रैयति ।

क्षिज्योः ॥४१३२५॥ क्षि जि इत्येतयोरेचो यि त्येऽयादेशो भवति । क्षेत्तुं शक्यं क्षयम् पापम् । जेतुं शक्यो जय्यः शत्रुः । “शकि लिङ् च” [२१३१४८] इति व्या भवन्ति । नियमार्थोऽयमारम्भः । ध्रुपु क्षिज्योरेव नान्यस्य धोः । चयम् । नेयम् । तत्रापि तुल्यजातीययोरेकारैकार्योर्निवृत्तिः । धोरोकारौकारयोः पूर्वैणावावादेशौ भवतः । लव्यम् । पव्यम् । अवश्यलाव्यम् । अवश्यपाव्यम् । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । व्यान्ते षवश्यमोनाश इति ।

शक्तौ ॥४३।६९॥ अयमपि नियमः । शक्तावेव क्षिज्योरादेशो नान्यस्मिन्नर्थे । क्षेयम् ।

धोस्तस्मिन्नेव ॥४३।७०॥ धोस्तस्मिन्नेव यित्ये य एच् तस्यायादयो भवन्ति । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । धोरिति किम् ? मृदो नियमो मा भूत् । माण्डव्यः । गव्यम् । तन्निमित्तस्यातन्निमित्तस्य च “यित्ये” [४३।६७] इत्यादेशः । तन्निमित्तस्येति किम् ? उपोयते । औयत । लौयमानिश्चैत्रः । कर्मणि लट् । यक् जित्वम् । मिधोर्य-त्कार्यं तदन्तरङ्गमिति “आदेप्” [४३।७५] । लटि लावस्थायामडागमोऽन्तरङ्ग इति “अटश्च” [४३।७८] इत्यैप् । अन्तरङ्गपरिभाषा ह्यनित्या तेन बहिरङ्गत्वेऽप्यैप् । लौयमानिरिति प्रन्युदाहरणम् । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । धोरेव तस्मिन्निति नियमो मा भूत् । एवं हि बाभ्रव्य इत्यत्र न स्यात् ।

क्रय्यः स्वार्थे ॥४३।७१॥ क्रय्य इति निपात्यते स्वार्थे गभ्ये । स्वार्थो द्रव्यविनिमयः । क्रय्यः कम्बलः । क्रय्या गौः । क्रयार्थं प्रसारितः । अन्यवस्तुसंग्रहार्थमिति यावत् । क्षिज्योरिति नियमादप्राप्तोऽयादेशो निपात्यते । स्वार्थं इति किम् ? क्रेयं धान्यं न चास्ति क्रय्यं स्वीकर्तव्यं धान्यं किं तर्हि परकीयम् । क्रयार्थं प्रसारितं नास्तीत्यर्थः ।

द्वयोरेकः ॥४३।७२॥ “ख्यव्यादतः” [४३।६६] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद् द्वयोः पूर्वपरयोरेको भवतीत्येपोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति आदेप् । देवेन्द्रः । द्वयोःग्रहणं किम् ? पूर्वपरयोर्गुणपदादेशप्रतिपत्त्यर्थम् । इतरथा हि यत्र कानिदेशः सावकाशस्तत्र पूर्वस्य निर्देशः । यत्रेभिनदेशः सावकाशस्तत्र परस्य । ततश्च पर्यायेण कार्यं स्याद् यथा “सचस्योभौ” [५।४।१०५] इत्यत्र णकारद्वयम् । एवमिहापि कार्यद्वयं मामूर्द्धत्येकग्रहणं क्रियते ।

तद्वत् ॥४३।७३॥ द्वयोरेक इति वर्तते । तयोरेव तद्वत् । तयोर्विद्यमानयोर्व्यक्त्यर्थं कृतेऽप्येकादेशे यथा स्यात् । य-पूर्वमवयवमाश्रित्य कार्यं क्रियते, यच्च परं तत् कृतेऽप्येकादेशो भवति । अस्मिन् सूत्रेऽवयवग्रहणेन न गृह्येत । क्षीरोदकवत् । पृथक्वयवे प्रयोजनम् । वामोरुरिति मृद ऊरित्यमृदो मृदमृदोरेकादेशो मृद्वद्भवति । यथा शक्येन कर्तुं मृद इति स्वादिविधिः । अन्यथा वृद्धः प्लुच् इत्यादावेव स्यात् । परावयवं प्रयोजनम्-देवावित्यत्रौकारः सुप् । अमुवकारः । सुवमुपारेकादेशः सुववद् भवति । यथा शक्येन कर्तुम् “सुम्मिडन्नं पदम्” [१।२।१०३] इति । अन्यथा साधुः पूज्य इत्यादावेव स्यात् । अधोन्त्येयत्र द्वयोरेकादेशोऽपि प्राश्रयस्तुक् सिद्धः । “उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः” [वा०] । तेन उपोह्यते । प्रोह्यते इत्यत्र “गेरूहः प्रः” [५।२।१३२] इति उभयाश्रयः प्रादेशो न भवति । इह कार्यातिदेशोऽभिप्रतो न रूपातिदेशः । तेन वर्णाश्रये विधौ तद्वद्भावो न भवति । मालाभिरित्यत्र पूर्वान्तत्वमाश्रित्य “भिसोऽत ऐस्” [५।१।८८] इति न भवति । जुहावेत्यत्र “थस्य” [४।३।३०] इति ह्यतेजौ कृते “जेः” [४।३।६५] परपूर्वत्वे च तस्य परवद्भावात् “जातो णलः औ” [५।२।३७] इति न भवति । अस्यै अङ्कः परवद्भावाभावात् । “एङोऽति पदान्तात्” [४।३।६६] इति न भवति । अस्या अङ्क इति सिद्धम् । वत्करणात् स्वाश्रयमपि । तेन डीटोस्तुकं प्रति परादिवाभावे “वा पदस्य” [४।३।६४] इति विकल्पः सिद्धः । वृद्धेऽलुत्रम् । वृद्धेऽलुत्रम् । अपचेऽलुत्रम् । अपचेऽलुत्रम् । संवेजः क्षौ जिः । जेः पूर्वत्वम् । तस्य परादिवाभावे प्राश्रयस्तुक् सिद्धः । समुत् ।

पत्वेऽसद्वत् ॥४३।७४॥ पत्वे कर्तव्ये एकादेशोऽसद्वद्भवति । त्यादेशलक्षणो प्राप्ते प्रतिषेधार्थमिदम् । कोऽय । योऽस्य । कोऽस्मै । कोऽसिचत् । योऽसिचत् । “ह्यालिप्सिचः” [२।१।४६] इत्यट् । “एङोऽति पदान्तात्” [४।३।६६] इत्येकादेशस्यासिद्धत्वादिण उत्तरस्य त्यादेशसकारस्य षत्वं प्रसक्तं न भवति । “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इति पत्वप्रतिषेधो न सिध्यति तद्वद्भावेन परादिवादेकादेशस्य । ननु चैकपदाश्रये पत्वेऽन्तरङ्गे एकादेशस्यासिद्धत्वम् । अनित्यैषा परिभाषा । ततोऽन्तर्धूरित्यत्र बहिरङ्ग ऊठ् यणादेशो नासिद्धः । पेऽसद्वदिति सिद्धे पत्वे इति गुरुनिर्देशः किमर्थः ? पादान्तपदाद्योरेकादेशः पत्वेऽसद्वद्भवति । नान्यत्रेति

ज्ञापनार्थः । तेन उपसेदुपः पश्य । अनुपुपः पश्य । “वसोजिः” [४१११२०] “जेः [४१३१५] पूर्वत्वम् । उकाराकारयोरेकादेशः पत्वेऽसद्वन्न भवति ।

आदेप् ॥४१३१७५॥ अवरणान्तादचि परत एव भवति । देवेन्द्रः । गन्धोदकम् । महर्षिः । द्वयोः स्थाने एको भवति । “एङि पररूपम्” [४१३१८९] इत्यत्र परग्रहणं पूर्वापेक्षं तेन परस्यान्तरतमो एव ऋवृणं परतः प्रसज्यमान एव परस्यान्तरतमोऽकारः “रन्तोऽणुः” [११११४८] इति रन्तो भवति ।

एच्यैप् ॥४१३१७६॥ अवरणान्तादेचि परतो द्वयोरेक ऐव भवति ।

“प्रसिद्धैकसुरैश्यस्य सर्वज्ञस्य महौजसः । व्यतीतौपम्यधर्मार्थं वचः पायान्महौपधम् ॥”

“अज्ञादृहिन्यामैवन्नव्यः” [वा०] अज्ञौहिणी । “प्रादृहोढोढ्येप्येषु” [वा०] प्रोदः । प्रौट्टिः । प्रैपः । प्रैष्यः । “स्वार्दारेरिणोः” [वा०] स्वैरं । स्वैगी । लिङ्गविशिष्टस्य स्वैरिणी । “ऋते भासे” [वा०] दुःस्वातेः । ऋत इति किम् ? सुवेतः । भाम इति किम् ? परमर्तः । म इति किम् ? सुवेनर्तः । “ऋण-दशप्रवन्तरकम्बलवसनानामृणे” [वा०] ऋणार्णम् । दशार्णम् । प्रार्णम् । वन्तरार्णम् । कम्बलार्णम् । वसनार्णम् ।

इत्येधत्पृष्ठ सु ॥४१३१७७॥ एति एधति ऊट् इत्येतेषु परतोऽवरणान्तादैव भवति । एचीनि वर्तमानमेते-
‘विशेषणम् । एधतेर्व्यभिचाराभावात् । ऊट्स्वरूपेण गृह्यते । उपैमि । उपैपि । उपैति । उपैधते । प्रैधते । एङि-
पररूपापवादः । पुरस्तादपवादोऽनन्तरस्य एङि पररूपस्य बाधकः नोत्तरस्य “ओमाडोः” [४१३१८२] इति आ ड पर-
रूपस्य । तेन आ इतः । एतः । उपेतः । ऊट्-धौतः । धौतवान् । एचीत्येव । उपेतः । प्रेतः ।

अटश्च ॥४१३१७८॥ एचीति निवृत्तमचीति वर्तते । अटश्च अचि द्वयोरेक ऐव भवति । ऐत्तिष्ठ । ऐट्टिष्ठ । औञ्जीत् । औम्भोन् । ऐञ्जन् । ऐट्टन् । आध्नोन् । ऐत्तिष्यन् । औम्भिष्यन् । चशब्दोऽवधारणार्थः । अट एवैचि यथा स्यात् । यदन्य-प्रान्तात् तन्मा भूत् । औङ्कारमैच्छत् । औङ्गारीयत् । “एण्यतोऽपदे” [४१३१४४] “ओमाडोः” [४१३१८२] इति पररूपं प्राप्तम् । आ उट् ओदः ओट्मैच्छत् औटीयत् । “ओमाडोः” [४१३१८२] इत पररूपं प्राप्तम् । उन्मामैच्छत् औन्नीयत् । प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रयणे “उसि” [४१३१८३] इति पररूपं प्राप्तम् ।

धावृत्ति गेः ॥४१३१७९॥ आदिति वर्तते । अवरणान्ताद्देः ऋकारादौ धौ द्वयोरेक ऐव भवति । उपाळति । प्राञ्छति । उपाञ्चति । प्राञ्चति । प्रसज्यमान एवैप् “रन्तोऽणुः” [११११४८] इति रन्तो भवति । गेरिति किम् ? इट्छति । प्रगता ऋच्छका अस्मिन् देशे प्रच्छो देशः । ऋतीति किम् ? प्रेक्षते । तपरकरणं किम् ? उप ऋकारीयति उपक गीयति । “वा सुपि” [४१३१८०] इति विकल्पः प्रमज्येत । गेरिति निर्देशाद् धुग्रहणे लब्धे धाविति किम् ? धावेव यथा स्यात् “ऋत्यकः” [४१३१०५] इति प्रकृतिभावो धोर्मा भूत् ।

वा सुपि ॥४१३१८०॥ ऋकारादौ मुवधौ गेरिवर्णान्तस्य वा ऐव भवति । उपार्पमीयति । उपर्पमीयति । प्रार्पमीयति । प्रर्पमीयति । “गेरध्वनः” [४१३१८०] इत्यत्र यथा गिसंज्ञोपलक्षितानां प्रहणं तथेह मा भूदिति धुग्रहण-
मनुवर्तते । प्रर्पभं वनम् इत्यत्र न भवति ।

एङि पररूपम् ॥४१३१८१॥ आदिति वर्तते । गेर्धाविति च । अवरणान्ताद्देः एङादौ धौ पररूपमेकादेशो भवति । उपेलयति । प्रेलयति । उपोपनि । ऐपि प्राप्ते “वा सुपि” [४१३१८०] इत्यपि वर्तते । उपेलकीयते । उपैलकीयते । उपोदनीयति । उपौदनीयति । एङि परमित्ति सिद्धे रूपग्रहणादिष्टं लभ्यते । “एवे चानियोगे पररूपम्” [वा०] इहेव । अयेव । अनियोग इति किम् ? इहेव भव माऽय गाः । “शकन्धादिषु पररूपम्” [वा०] शक-
अन्धुः शकन्धुः । कर्क अन्धुः कर्कन्धुः । कुलटा । सीमन्तः केशेषु । सीमान्तोऽन्यत्र । “ओन्वोष्ठयोः से वा पररूपम्” [वा०] स्थूलोतुः । स्थूलोतुः । विम्बोष्ठी । विम्बौष्ठी । “नासिकोदरोष्ठ” [३१११४८] इत्यादिना डी । स इति किम् ? वाक्ये मा भूत् । पश्योष्ठं देवदत्त ।

ओमाडोः ॥४१३८२॥ गेरिति निवृत्तम् । आदिति वर्तते । ओम् आङ् इत्येतयोः परतोऽवर्णान्तात्पर-
रूपं भवति । का ओमित्यवोचत् कोमित्यवोचत् । योमित्यवोचत् । सोमित्यवोचत् स्त्री । आङि आ ऊढा
ओढा । अचोढा । कदोढा । सोढा स्त्री । आ उता ओता । कदोता । आङनाडोरेकादेशः तद्वदित्याङ्ग्रहणेन
गृह्यते । गिधोर्यत्कार्यं तदन्तरङ्गमिति पूर्वमाङः परेण योगः । मर्यादाभिविध्योश्च परेण योगे सति पूर्वेण सह
एच्यैप् प्रसज्येत । आ ऋणात् अर्णात् । अघर्णात् । आङीति पररूपम् । ननु मध्येऽपवादोऽयमेच्यैपो बाधकः
कथमुत्तरस्य स्वेऽको दीत्वस्य स्वेऽको दीत्वेऽपीदमनुवर्तत इति तस्यापि बाधा ।

उसि ॥४१३८३॥ उसि परतोऽवर्णान्तात्पररूपं भवति । भिन्युः । छिन्युः । अपुः । अबुः । “आतः”
[२।४।६०] “लडो वा” [२।४।६१] इति जुम् । लिङादेशे उभि प्रयोजनं नास्तीति जुमो ग्रहणम् । कोष्टा ।
कोषिता इत्यत्र अनर्थकत्वात्प्राणिकत्वाच्चाग्रहणम् । आदित्येव । अविभयुः ।

एप्यतोऽपदे ॥४१३८४॥ अकारस्य पररूपं भवति एप्यपदे परतः । पचन्ति । पचे । एपीति किम् ?
अपचे । आदिति वर्तमाने अत इति तपरकरणं किम् ? यान्ति । वान्ति । अपद इति किम् ? द्रष्टाग्रम् ।
पदादिरयमेप् ।

डाजर्हस्येताघतः ॥४१३८५॥ डाजर्हस्य योऽच्छब्दस्तस्येतौ पररूपं भवति । पटत् इति पठति । छुपत्
इति छुपिति “नानर्थक्येऽन्तेऽज्ञोऽन्त्यविधिः” [प०] । इति सर्गस्यातः परत्वम् । डाजर्हस्येति किम् ? श्रद्धित्याह
श्रद्धिति । अव्यक्तानुकरणेकाचौ डाजमुपादयतः । इतिविति किम् ? पटदत्र । अत इति किम् ? छुपिदिति

न भ्रेस्तो वा ॥४१३८६॥ भ्रिंशकस्य योऽच्छब्दस्तस्येतौ पररूपं न भवति तकारस्य तु वा भवति । पटत्
इति पटत्पठति । पटत्-पठति । छुपच्छुपेति । छुपच्छुपिदिति । “वीप्सा” [५।३।३] आदि सूत्रेण द्वित्वम् ।
समुदायानुकरणे भवत्येवातः पररूपम् । पटत्यटिति ।

प्रौ डाचि नित्यम् ॥४१३८७॥ डाजन्ते प्रौ परतो डाजर्हस्यातस्तकारस्य नित्यं पररूपं भवति । पट-
पठकरोति । इदमेव जापकम् । टिखात्पूर्वं “डाचि” इति द्वित्वम् ।

स्वेऽको दीः ॥४१३८८॥ अरुः स्वेऽचि परतो दीर्भवति । द्वयोरेक इति वर्तते । लोकाग्रम् । विद्यान्तः ।
कवीन्द्रः । मधूदकम् । पितृपभः । स्वे इति किम् ? दध्यत्र । अक इति किम् ? एप्यतोऽपदे इत्यनुवृत्तौ अग्रनये ।
नावाक्वियत्रैकारौकारयोर्दीत्वे द्वयोरेक्यं प्रसज्येत । यथा सागता । अचीत्येव । दीध शीतम् । दीत्ववचनं त्रिमात्रा-
द्यादेशप्रतिषेधार्थम् ।

सुटि पूर्वस्वम् ॥४१३८९॥ अको दीर्चीति वर्तते । अचि सुटि परतः पूर्वस्वं दीर्घयोरेको भवति । अग्नी ।
वायू । “एप्यतोऽपदे” [४।३।८४] इत्यनेन अकारे परतः पररूपविधिः स्वेऽको दीत्वमनन्तरं बाधते नोत्तरं सुटि
पूर्वस्वदीत्वम् । पूर्वग्रहणम् अग्नीत्यादिषु परस्वदीत्वनिवृत्त्यर्थम् । अक इत्येव । रायो । रायः । द्वयोरेकत्वं स्यात् ।
अचीत्येव । देवः ।

शसि ॥४१३९०॥ शसि परतः पूर्वस्वं दीर्भवति । मालाः । बुद्धीः । कुमारीः । धेनूः पश्य ।

नश्च पुंसि ॥४१३९१॥ शसि परतः पूर्वस्वं दीर्भवति नकारश्चान्तादेशः पुंसि गम्यमाने । देवान् ।
कवीन् । पटून् । कर्तून् । पुंसीति लिङ्गनिर्देशः । लिङ्गं च प्रत्ययधर्मः । वस्तुधर्मे सत्यसति वा यत्र शब्दः
पुंलिङ्गाकारं प्रत्ययं जनयति तस्मिन् प्रत्ययधर्मे पुंसि गम्ये नकारो भवति । वस्तुनि नपुंसकेऽपि पष्ठान्
पश्य । स्त्रीरूपेऽपि वस्तुनि दारान् पश्य । स्थूरान् पश्य । अररकान् पश्य । स्थूराया अररकाया अपत्यानि
गर्गादित्याद्यत्र, तस्य बहुत्वे “यज्जोः” [१।४।१३५] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्य टापो-
निवृत्तौ शस्न (शसो नः) । इह च पुंलिङ्गाकारप्रत्ययाभावात् सत्यपि प्राणिधर्मे पुंस्त्वे न भवति । चञ्चाः
पश्य । बर्धिकाः पश्य । चञ्चा इव चञ्चाः चञ्चामदशान् पुरुषान् पश्येत्यर्थः । स्त्रीवस्तुन्यपि भवति भ्रकुंसान्
पश्य । असत्यपि वस्तुधर्मे नत्वं वृत्तान् पश्य ।

नेच्यान् ॥४१३।६२॥ इचि सुटि परतोऽवर्णान्तापूर्वस्वं दीर्नं भवति । इन्द्रौ । चन्द्रौ । विद्ये । श्रद्धे । इत्यत्र परत्वादुत्तरसूत्रेण प्रतिषेधो न्याय्यः । इचीति किम् ? देवाः । आदिति किम् ? अग्नी ।

द्यो जसि च ॥४१३।६३॥ आदिति नाधिकृतम् । यन्ताज्जमिचि च परतः पूर्वस्वं दीर्नं भवति । कुमार्यौ । कुमार्यः । वामोर्वौ । वामोर्वः । विद्ये । शुद्धे । माला इत्यत्र “स्वेको दीः” [४१३।६८] इति दीर्नं द्रष्टव्यम् । अ इति स्पष्टार्थं वचनम् । इचि प्रसंज्ञयाऽपि अवर्णस्य यद्यनेन प्रतिषेधः स्यान्नेच्यादिति सूत्रमनर्थकं स्यात् । कवयः । पटव इत्यत्र जसि परत्वादेया भवितव्यम् । देवाः । अग्नीः । वायू इत्यत्र “सुटि पूर्वस्वम्” [४१३।६६] इति मुद्ग्रहणमामर्थ्यादीत्वम् ।

पूर्वोऽमि ॥४१३।६४॥ अकोऽमि परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । देवम् । कविम् । मालाम् । भानुम् । पूर्वग्रहणं पूर्वस्य दीर्नप्रतिषेधार्थम् । पूर्वरूपं यथा न्यात् । यदि पूर्वः प्रो द्वयोरेकादेशः प्रो भवति अथ दीर्नञो दीर्भवति । अचीत्यनुवर्तनान्मकारस्य पूर्वस्वं न भवति । अक इत्येव । गयम् । नावम् । मुटीत्येव । अचिनवम् । असुनवम् ।

जेः ॥४१३।६५॥ जेरचि परतः परः पूर्वो भवति । इष्टः । उभः । गृहीतः । जिविधानसामर्थ्याद्यणादेशो न स्यात् । पूर्वत्वं पुनर्लभ्येत । इदं शकहं शकहर्थमिति वोग्धः (ओरचः) प्रत्यामन्नस्य पूर्वत्वे कृते पुनः पूर्वत्वं न भवति ।

एडोऽति पदान्तात् ॥४१३।६६॥ एडः पदान्तादति परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । मुनेऽनघ । माधोऽनघ । एड इति क्विप् । इत्यत्र । अतीति किम् ? पटविद् । तपरकरणं किम् ? पटवायादि । पदान्तादिति किम् ? नयनम् । मुनयः ।

डसिडसोः ॥४१३।६७॥ एडोऽति वर्ति । एडो डमिडमोरति परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । अपदान्तोऽपमारम्भः । कवेरागच्छति । कवेः स्वम् । पटोरागच्छति । पटोः स्वम् । डमिडमोरेडश्च यथामख्यं न भवति । “ओरावशक्ये” [२।१।१०२] “ओः पुयण्ये” [५।२।१७८] इति डमिना डमा च निर्देशात् ।

ऋत उन् ॥४१३।६८॥ डमिडमोरति परत ऋत उद्भवति द्वयोरेक इत्येव । कर्तुगगच्छति । कर्तुः स्वम् । द्वयोः स्थान आदेशोऽन्यत्रेण व्यपदेशं लभते इति “रन्तोऽणुः” [१।१।४८] इति रन्त्वम् । “रात्सः” [५।३।४२] इति मत्वम् । डमिडमोः मकारस्य वा रित्वविसर्जनीयौ रन्त्वं दुस्वपादं चेत् । ऋत इति तपरकरणं किमर्थम् ? “ओऽत्रात्” [१।२।४७] इत्यादावनुकरणस्य द्विमात्रस्य माभूत् । उदिति तपरकरणं स्वग्रहणनिवृत्त्यर्थम् ।

ख्यत्यादतः ॥४१३।६९॥ ख्यत्यात्परयोर्डसिडमोरत उद्भवति । ख्यत्यादिति खीखिशब्दयोस्तीति-शब्दयोश्च यणादेशे कृते आगन्तुनाऽऽकारेणानुकरणनिर्देशः । सख्युगगच्छति । सख्युः स्वम् । पत्युरागच्छति । पत्युः स्वम् । अतीत्यनुवर्तमानेऽत इति स्थानिनिर्देशो द्वयोरेकस्य निवृत्त्यर्थः । ख्यत्यादिति विकृतनिर्देशः किम् ? यणादेशाभावे मा भूत् । अतिसखेरागच्छति । अतिमखेः स्वम् । अतिपतेरागच्छति । अतिपतेः स्वम् । “स्वसखि” [१।२।६७] इत्यत्र पर्युदास आश्रितः सखिशब्दादन्यः समुदायः सुमञ्जो भवति । इदं च विकृतनिर्देशस्य प्रयोजनम् । सह खेन वर्तते इति सखः सखमिच्छतीति सखीयति मखीयतेः क्विप् । अतः खम् । “बलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यकारस्य खम् । यत्रविधि प्रत्ययस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । ननु “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [५०] इति त्यक्त्वे त्याश्रयस्यापेनापि क्विपो नष्टस्य बलादित्त्वं नास्ति क्वावुपमंख्यानमित्यदोषः । डसिडसोः परतो यणादेशे सख्युपिति भवति । तथा लूत्युः । पूत्युः । लूनमिच्छति पूनमिच्छति । लूनीयतेः क्विबन्तस्य डसिडसोर्यणादेशः । नत्वस्यासिद्धत्वादुत्वं भवति ।

रेरद्धसोः ॥४१३१००॥ अत इत्यस्यार्थात्कान्तता । अतः परस्य रेरुत्वं भवति अकारे हसि च परतः । इन्द्रोऽत्र । यशोऽत्र । इन्द्रो भवति । यशो भाति । रेराश्रयात्सिद्धत्वम् । “ससजुषो रिः” [५१३१०६] इति रेनुबन्धकरणादिह सक्तस्य (सकारस्य) रेरुत्वं न भवति । अरिनाशः । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? स्वरत्र । प्रातर्भवति । अद्धसोरिति किम् ? इन्द्र इह । यशः शोभते । अदिति तपरकरणं किम् ? दीपयोः परतो मा भूत् । इन्द्र आयाति । तिष्ठतु पय-आ३ स्वदत् । “अनृतोऽनन्तस्य” [५१३१६४] इत्यादिना पः । “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४१३१०३] इति प्रकृतिवचनं ज्ञापकं सन्धिकार्ये पः सिद्ध इति प्रग्रहणेनाग्रहणम् । अत इत्येव । मुनिरसौ । अनुवर्तमानस्यातः तपरकरणं किम् ? स्वग्रहणं माभूत् । देवा अत्र । आगच्छ स्थूलशिरा अत्र ।

गोरिन्द्रेऽवड् ॥४१३१०१॥ अचीति वर्तते । गोः इन्द्रस्थेऽचि परतोऽवड्देशो भवति । गवामिन्द्रः गवेन्द्रः । डिङ्करणमन्त्यादेशार्थम् । अचीत्वप्राधान्यात्तदादावपि भवति । गवेन्द्रकुलम् ।

विभाषाऽन्यत्र ॥४१३१०२॥ इन्द्रशब्दादन्यत्र शब्दे योऽच् तस्मिन् विभाषया गोरवड्देशो भवति । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । गवाजिनम् । गोऽजिनम् । विभाषाग्रहणादिह नित्यं भवति । गवाच्तः ।

प्रकृत्याऽचि दिपाः ॥४१३१०३॥ दिसंज्ञाः पसंज्ञाश्च अचि परतः प्रकृत्या भवन्ति । मुनी इमौ । पट् इह । अचीयेते आगमम् । अमी अत्र । “ईदूदेद्विद्विः” [१११२०] “चः” [१११२१] इति च दिसंज्ञाः । पः गत्वपि देवदत्त ३ अत्र त्वमसि । जिनदत्त ३ इदमानय । पविधिगधयात्सिद्धः । नेति कर्मण्ये प्रकृतिग्रहणं कृत्स्नस्य स्वरसन्धेः प्रतिषेधार्थम् । अचीत्यनुवर्तमाने पुनरज्ग्रहणं किम् ? परमचमाश्रित्य कर्मार्थं क्रियते तत्र प्रकृतिभावो यथा स्यात् । पूर्वमचमाश्रित्य यत्क्रियते तत्र माभूदित्येवमर्थम् । जानु उ अस्य रुजति । जानू अस्य रुजति । जान्वस्य रुजति । “निरेकाजनाड्” [१११२२] इत्युकारस्य दिसंज्ञा । पूर्वेण सह स्वेऽको दीन्वे कृते । एकादेशो दिग्रहणेन गृह्यते । इति यणादेशस्य प्रकृतिभावः प्राप्तः । “मयो वो” [५१३१५] इति वकारदेशः ।

विभाषेकोऽस्वे प्रश्च ॥४१३१०४॥ इकोऽस्वेऽचि परतो विभाषया प्रकृत्या भवन्ति प्रादेशश्च प्रकृतिभावे । दधि अत्र । दध्यत्र । कुमारि अत्र । कुमार्यत्र । विभाषाग्रहणं व्यवस्थितविभाषार्थम् । तेन दिपानामस्वेऽचि अनेन प्रकृतिभावविकल्पः प्रादेशश्च न भवति । पट् अत्र । देवदत्ता ३ इहान्वर्ति । सविधौ च न भवति । व्याकरणम् । न्यायः । न्यासः । कुमार्यर्थः । अस्व इति किम् ? दधीदम् । कुमारीयम् ।

ऋत्यकः ॥४१३१०५॥ ऋकारे परतोऽको विभाषया प्रकृत्या भवन्ति पश्च भवति यदा प्रकृतिभावः । खट्व ऋश्यः । खट्वश्यः । माल ऋश्यः । मालश्यः । स्वेऽपि भवति । पितृ ऋश्यः । अन्यत्र पूर्वेणैव सिद्धम् । व्यवस्थितविभाषानुवर्तनादिह न भवति उपाध्नोति । प्राध्नोति । ऋतीति किम् ? दण्डाग्रम् । मालाग्रम् । तपरकरणं किम् ? देवदत्ताया ऋकारः देवदत्तकारः । दीपयोः परतो मा भूत् ।

घाऽपवदितौ ॥४१३१०६॥ अपवत्कार्यं पसंज्ञकस्य वा भवति इतौ परतः । देवदत्त ३ इति देवदत्तेति । सुमंगल ३ इति सुमङ्गलेति । “दूराद्धूते” [५१३१६२] इति पः । “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४१३१०३] इति नित्यं प्रकृतिभावः प्राप्नोति व्यवस्थितविभाषानुवर्तनाद्व्याख्यादवच्छिद्य पदं येन शब्दपदार्थतया स्वरूपे व्यवस्थाप्यते तस्मिन्नितौ विकल्पोऽयम् । क्वचिदनितावपि । वशाश्चैयम् वशेयम् । वत्करणं पकार्यप्रतिषेधार्थम् । अप इत्युच्यमाने पस्यैव प्रतिषेधः स्यात् । ततश्च अग्नीश्चैति । वायू ३ इति । अत्र दिसंज्ञाश्रये प्रकृतिभावे मति त्रिमात्रतायाः श्रवणं न स्यात् । पसंज्ञाश्रयकार्यप्रतिषेधे हि दिसंज्ञाश्रयकार्यप्रतिषेधे हि प्रकृतिभावे सति “अनृतोऽनन्तस्य” [५१३१६४] इत्यादिकृतायास्त्रिमात्रतायाः श्रवणं सिद्धम् ।

ई इत् ॥४१३१०७॥ ईदन्तस्य इद् वा भवति । अनितिपराथोऽयमारम्भः । लुनोहिश्चैदम् । लुनीहीदम् । पुनीहिश्चैदम् । पुनीहीदम् । “चि वाशीः प्रैषे लुनाकां चम्” [५१३१०२] इति पः ।

दिघ उत् ॥४१३१०८॥ “एङोऽति पदान्तात्” [४१३१६६] इत्यतः पदग्रहणमनुवर्तते । विवियेतस्य पदस्योकारादेशो भवति । द्युभ्याम् । द्युभिः । पदस्येति किम् ? दिवा । दिवे । “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [प०] इति मृद एव दिवोर्दिवित्यनन सिद्धस्य ग्रहणं न धोरकारानुबन्धकस्य । अन्त्युभ्याम् । अन्त्युभिः । दिव्यन्तः क्विप् । “च्छ्वोः शूट् च” [४१४१७३] इति ऊट् । उदिति तपरकरणं किम् ? यावताऽर्धमात्रस्य हलः स्थाने आनन्तर्यान्मात्रिक एव भविष्यति । “च्छ्वोः शूट् च” इत्यत्र ङ्ङिनीत्यनुवर्तनादूटोऽपि निवृत्त्यर्थं नोपपद्यते । इहाद्यौर्गो भवतीति च्वावागते निवृत्ते ऋ (भिः)संज्ञकस्य दिव उच्चे कृते घृ भवतीति “च्वा” [५१२१३५] इति दीत्व निवृत्त्यर्थम् ।

हल्येतत्तदोऽरनञ्सेऽकोः सुखम् ॥४१३१०९॥ सन्धाविति वर्तते । एतत्तदोरककारयोर्हलि परतः सुखं भक्त्यनञ्से । एष ददाति । स ददाति । हलीति किम् ? एणोऽत्र । सोऽत्र । एतत्तदोरिति किम् ? को दाता । यो धन्यः । अनञ्च इति किम् ? अनपो ददाति । असो ददाति । अनञ्च इति प्रसज्यप्रतिषेधः । पर्युदासे हि उत्तर-पदार्थप्रधानवृत्त्यन्तर एव सुखं स्यात् । परमैप ददाति । परमस ददाति । केवलयोरनञ्च इति किम् ? वाक्ये भक्त्येव । नैप ददाति । नस ददाति । अकोरिति किम् ? एणको ददाति । सको ददाति । “तन्मध्यपतित-स्तद्ग्रहणेन गृह्यते” [प०] इति प्राप्तिः । सग्रहणं किम् ? एतौ तौ चरतः । एतत्तदोरिति द्वित्वनिर्देशाद् वाया एकः सुर्यद्वयं । ईपो बहुत्वे हि एतत्तपामिति ब्रूयात् । सुर्यामिति गमकत्वात्सः ।

सम्पर्युपात्कृञः सुड्भूये ॥४१३११०॥ सम्, परि, उप इत्येतेभ्यः परस्य कृञः मुडागमो भवति भूयेऽर्थे । संस्कारोति । समास्कारोत् । संस्कारः । अन्तरङ्गत्वेन द्वित्वाडागमाभ्यां प्राक्सुट् । परिस्कारोति । “सिबु-सहसुट्स्तुस्वञ्जाम्” [५१४५२] इति पत्वम् । पर्यस्कारोत् । परिचस्कार । उपस्कारोति । उपास्कारोत् । उपचस्कार । भूय इति किम् ? उपस्कारोति ।

समवाये ॥४१३१११॥ संसर्गः समुदायो वा समवायः । तस्मिन् समादिभ्यः कृञः सुड् भवति । तत्र न संस्कृतमनित्यम् अत्रापि कारणसमवायो गम्यते ।

उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारे ॥४१३११२॥ उपात्परस्य कृञः प्रतियत्न वैकृत वाक्याध्याहार इत्येतेष्वर्थेषु सुड् भवति । विद्यमानस्य गुणाधानमपूर्वार्जनं वा प्रतियत्नः । तत्र एधोदकस्योपस्फुरते । काण्डं शरस्योपस्फुरते । “प्रतियत्ने कृञः” [११४६०] इति कर्मणि ता । विकृतत्वं वैकृतम् । तत्र उपस्कृतं मुङ्क्ते । उपस्कृतं गच्छति । वाक्यैकदेशो वाक्यगम्यमानार्थस्य वाक्यस्य वाक्यावयवस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्याध्याहारः । तस्मिन् उपस्कृतं जल्पति । उपस्कृतमधीते । सोपस्कारं व्याचष्टे । पदान्तराण्यध्याहृतानि कथयतीत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? उपस्कारोति ।

किरतेर्लवे ॥४१३११३॥ उपादिति वर्तते । उपात्परस्य किरतेर्लवविषये सुड् भवति । उपस्कीर्य मद्रका लुनन्ति । उपस्कारं मद्रा लुनन्ति । “णञ्वाभीक्षणे” [२१४८] इति णम् । “वा चेष्टिवेष्टयोः” [५१२१६३] इत्यतो विकल्पानुवृत्तेराभीक्षणेऽपि द्वित्वाभावः “युङ्भ्या बहुलम्” [२१३१६४] इति बहुलवचनादनाभीक्षणे वा णम् । लव इति किम् ? उपस्कारोति देवदत्तः ।

वधे प्रतेश्च ॥४१३११४॥ प्रतेरुपाच्च परस्य किरतेः सुड् भवति वधेऽर्थे । प्रतिस्कीर्णं हि ते वृषल ब्रूयात् । उपस्कीर्णं हि ते वृषल भूयात् । अत्र वधः किरतेरभिधेयत्वेन विवक्षितो न विपयतया । तदुक्तम्—

सटाच्छटाभिन्नघनेन विभ्रता नृसिंह सैहीमतनुं तनुं त्वया ।

स सुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥ [शिशु० ११४७]

हतः इत्यर्थः । वध इति किम् ? प्रतिस्कीर्णं बीजम् । “हनश्च वधः” [२१३१६३] इति हन्तेरचि वध इति भवति ।

चतुष्पाच्छकुनिष्वपाद्धर्षादौ ॥४३११५॥ अपात्परस्य किरतेश्चतुष्पात्सु शकुनिषु च यो हर्षादि-
स्तस्मिन् विषये सुङ् भवति । दविधिप्रकरणे “किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे” [१२।३३] इत्यत्र स्थितो
हर्षादिर्माणो गृह्यते । हर्षे-अपस्किरते वृषभो दृष्टः । जीविकायाम्-अपस्किरते कुक्कुरो भक्तार्थी । कुलायकरणे-
अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी । चतुष्पाच्छकुनिष्विति किम् ? अपस्किरति देवदत्तो दृष्टः । हर्षादाविति किम् ? अप-
स्किरति धान्यं काकश्चापलेन ।

कुस्तुम्बुरुषोष्पदास्पदाश्चर्यावस्करापस्करापरस्परविष्किरमस्करमस्करिप्रतिष्कशप्र-
स्करवहरिश्चन्द्रपारस्करप्रभृतीनि च ॥४३११६॥ कुस्तुम्बुरुषभृतीनि पारस्करप्रभृतीनि
च शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुस्तुम्बुरुशब्दो जातौ निपात्यते । कुस्तुम्बुरुषान्यकं तृणजातिः ।
तत्फलान्यपि कुस्तुम्बुरुणि । जातेरन्यत्र कुस्मितानि तुम्बुरुणि । कुस्मितानि तिन्दुक्रीफलानीत्यर्थः ।
गोष्पदशब्दे सुडागमः पत्वं च निपात्यते सेविते । गवां पदमस्मिन् देशे । गावः पत्यन्ते वाऽस्मिन्निति
गोष्पदो देशः । गोष्पदमरण्यम् । अमेविते नचपूर्वस्य निपात्यते । न विद्यते गवां पदमस्याम् अगोष्पदा
अरण्यानी । सेवितत्वप्रतिपद्ये हि यत्र सेवितत्वमभवस्तत्रैव स्यादन्यत्रामम्भवे न स्यादिति पृथगसेवित-
ग्रहणम् । न विद्यतेऽस्मिन्निति विग्रहात् । प्रमाणे गोष्पदमात्रं क्षेत्रम् । गोष्पदपूर्वं वृष्टो देवः । एतेष्विति किम् ?
गोपदम् । आस्पदमिति प्रतिष्ठायाम् । आस्पदमनेन लब्धम् । अन्यत्र आपदापदम् । आश्चर्यमित्यद्भुतेऽर्थे ।
आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । आश्चर्यमाकाशोऽनिबन्धनानि नक्षत्राणि न पतन्ति । आचर्यं व्रतमन्यत्र । “चरे-
राडि चागुरौ” [वा०२।१।८७] इति यः । अवस्कर इति वर्चस्के । अवपूर्वाकिरतेः कर्मणि “य्वृहवृहृगमोऽच्”
[२।३।५२] इति अच् । कुस्मितं वर्चो वर्चस्कम् अन्नमलम् । तत्सम्बन्धाद्देशोऽपि तथोक्तः । अवकरोऽन्यत्र ।
अपस्कर इति रथाङ्ग । अपकीर्यतेऽभावित्यपस्करे रथावयवः । अपकर इत्यन्यत्र । अपरस्पर इति क्रिया-
सातये । अपरस्परः सार्था गच्छन्ति । सततं गच्छन्तीत्यर्थः । अपरं परे चेति द्वन्द्वः ।

व्यान्तेऽहवश्यमोनाशस्तुमः कामे मनस्यपि । हिते तते समो वा खं मांसस्य पचि युङ्घजोः ॥

इति समो मकारस्य खे । सतत शब्दादृष्यणि मातव्यम् । अपरपराः सार्थाः गच्छन्तीत्यन्यत्र । “विष्किर इति शकुनौ
सुडागमो वा निपात्यन्ते । विष्किरतीति विष्किरः विक्रमे वा शकुनिः । “ज्ञाकृप्री” [४।१।१०८] इत्यादिना कः ।
सुट् पत्वे “सिबुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्” [५।४।५२] इति पत्वम् । मस्करमस्करिणो वेणुपरिव्राजकयोः । मस्करो
वेणुः दण्डो वा हस्तिदमनः । मस्करा भिन्तुः । मकरो ग्राहः मकरो समुद्रः इत्यत्र । अथवा “शमस्य करे शख-
माडः करिशब्दे प्रादेशश्च निपात्यते वेणुपरिव्राजकयोः । प्रतिष्कश इति निपात्यते सहायश्चेत् ।” कश् गति-
शासनयोगिन्यस्य प्रतिपूर्वस्य पचायच्चि सुडागमः पत्वं च निपात्यते । देशान्तरमहं ब्रजाभि भवने त्वं प्रतिष्कशः ।
प्रतिकशोऽन्यः । प्रस्कण्वदरिश्चन्द्रो भवत ऋषी चेत् । प्रकण्वो देशः । हरिश्चन्द्रो माणवक इत्यन्यत्र ।
पारस्करप्रभृतीनां च खौ सुडागमो निपात्यते । पारस्करो देशः । कारस्करो वृद्धः । वनस्पातिश्चैत्ररथं पातीति ।
रथस्या नदी । किष्कुः प्रमाणम् । किष्किन्वा गुहा । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तखं च ।
तस्करः । बृहस्पतिः । तस्करो बृहस्पतिरित्यन्यत्र । अजस्तुदम् । कास्तीरं च नगरम् । अजनुदम् कानीरमित्यन्यत्र ।
प्रात्तुम्पतौ गवि कर्तरि । प्रस्तुम्पति गौः । अन्यत्र प्रतुम्पति स्त्री । पारस्करप्रभृतिगकृतिगणः ।

प्रायाच्चित्तिचित्तयोः ॥४३११७॥ प्रायात्परयोः चित्तिचित्तयोः सुङ् भवति । प्रायस्य चित्तम् प्राय-
श्चित्तम् । प्रायश्चित्तः । “स्तो श्चुना श्चुः” [५।४।११६] इति सुट्ः श्चुत्वम् ।

भादाधिदमोऽन्वादेशेऽश् ॥४३११८॥ भादौ परत इदमोऽन्वादेशो भवत्यन्वादेशे । यस्य पूर्व
क्रियागुणद्रव्यैः संबन्धः कृतस्तस्यैव पश्चात्क्रियागुणद्रव्यान्तरं संबन्धे क्रियमाणेऽन्वादेशोऽनुकथनं भवति ।
क्रियासंबन्धे इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिश्रिता । अथो आभ्यां हिंसा च कृता । कुत्साऽज्ञातयोः “क्लिसर्वान्मोऽक्प्रावतेः

को दः” [४।१।१३०] इत्यकि कृते साकद्दमो हलि खं न भवति । “अनाप्यकः” [५।१।१७०] इत्यत्र अकारस्थेयनुवर्तनात् तेनादेशः । गुणसंबन्धे इमकस्य छात्रस्य कुलमशोभनम् अथो अस्य शीलमपि । द्रव्य-संबन्धे इमकस्य राज्ञो जनपदो दुर्विहितः अथो अस्य भृत्यश्चावश्याः ।

टौसिप्येनदेतदश्च ॥४।३।११६॥ टा ओम् इप् इत्येतेषु परत एतद् इदमश्च एनदित्ययमादेशो भवति अन्वादेशे । एतेन छात्रेण रात्रिरधीता अथो एनेन निपुणमधीता । एनदादेशे कृते त्यदाद्यत्वम् । दकारान्तत्वं नपुंसके प्रयोजयति । एतयोश्छात्रयोश्शोभनं शीलम् अथो एनयो रूपमपि । एतं छात्रं काव्यमध्यापय अथो एतं गणितमपि । एतं जैनेन्द्रमध्यापय अथो एतं तर्कमपि । एतमार्थिनः संबन्धते अथो एतं मित्राणि च । इदमः खल्वपि अनेन छात्रेण रात्रिरधीता अथ एनेन निपुणमधीता । अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम् अथो एनयो रूपमपि । इमं छात्रं काव्यमध्यापय अथो एतं गणितमपि । इदं सरो भ्रमराः सेवन्ते अथ एनद्विहङ्गाश्च । इदमस्त्रौसोः परतः पूर्वोणाशादेशः प्राप्तोऽन्यत्राप्राप्त एनदादेशः ।

द्यावनुप् ॥४।३।१२०॥ द्याविति अनुविति च एतद् द्वितयमधिकृतं वेदितव्यम् । “ज्योतिरुद्गता” [१।२।३६] इति निर्देशान्न सामान्येन द्यावनुप् । प्राग्वोरधिकाराद् द्यावित्यधिकारः । अनुबधिकारः प्रागानङ् । वक्ष्यति “कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] स्तोकान्मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्ते” [१।३।३४] इति पसः । द्विवचनद्वयोरनभिधानान्न सः । अभिधानेन भवति । गोपुचर्गः । वर्षामुजः इति । द्याविति किम् ? निष्कान्तः स्तोकादिःस्तोकः । “आनङ् द्वन्द्वे” [४।३।१३२] इति द्यावानङादेशः । होतापोतारौ । नद्योद्गातारौ । द्यावित्येव । होतारौ । होतृभ्याम् । मुपि माभूत् । “इकः प्रो ङ्याः” [४।३।१७२] इति प्रादेशो द्यौ । ग्रामणिपुत्रः । सेनानिपुत्रः । मुपि माभूत् । ग्रामणीभ्याम् ।

कायाः स्तोकादेः ॥४।३।१२१॥ स्तोकादिभ्यः परस्याः काया अनुब् भवति द्यौ । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्ते” [१।३।३४] इत्यत्र स्थितः स्तोकादिर्गृह्यते । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्ते” इति सः । अपादानलङ्गण्येयं का । काया इति किम् ? स्तोकेन मुक्तः स्तोकमुक्तः । स्तोकादेरिति किम् ? वृकान्द्रथं वृकभयम् । कथं ब्राह्मणाच्छंमी ऋत्विग्विरोपः । उच्यते रूढशब्दोऽयं गौराब्दवदस्य व्युत्पत्तिः । ब्राह्मणादध्याहृत्यावयवमर्थं वा शंसतीत्येवंशीलः ब्राह्मणाच्छंमी । अपादाने का । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति पसः । “पे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इत्यनुप् ।

भाया ओजस्सहोऽम्भस्तपोऽञ्जसः ॥४।३।१२२॥ ओजम्, सहम्, अम्भम्, तपम्, अञ्जम् इत्येतेभ्यः परस्या भाया अनुब् भवति । अञ्जना कृतम् । सहमा कृतम् । अम्भसा कृतम् । तपसा कृतम् । “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इति पसः ।

खौ मनसः ॥४।३।१२३॥ खुविपये मनसः परस्या भाया अनुब् भवति । मनसा गुप्ता । मनसा गता । करणे भा । द्याविति किम् ? मनोदत्ता ।

आज्ञायिनि ॥४।३।१२४॥ आज्ञायिनि द्यौ मनसः परस्या भाया अनुब् भवति । मनसा आज्ञानाति-त्येवंशीलो मनसाऽज्ञायी । अस्त्रावपि यत्नोऽयम् । “पुंसाऽनुजो जनुषान्ध इत्यनुब्बक्तव्यः” [वा०] । अनुजातोऽनुजः । पुंसा हेतुना करणेन वा अनुजः पुंसोऽनुजः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति पसः । यदा पुमांस-मनुजातस्तदा पुमनुज इति । जनुषा जन्मनाऽन्धो जनुषान्धः । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंस्थानम्” [वा०] इति भा । “भा गुणोक्त्याऽर्धेनोः” [१।३।२७] इति सः ।

डड्यात्मनः ॥४१३१२५॥ डडन्ते षौ आत्मनः परस्या भाया अनुब् भवति । आत्मना पञ्चमः आत्मना षष्ठः । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति भा । डडन्तेन भान्तस्य सविधेरिदमेव ज्ञापकम् । गम्यमानक्रियापेक्षया कारणे वा भा । आत्मना कृतः पञ्चमः आत्मना षष्ठमः कथमयं प्रयोगः । जनार्दनस्वात्मचतुर्थ एव । बसोऽयम् । आत्मा चतुर्थः । व्यपदेशिवद्भावादन्वपदार्थत्वम् । यथा चारुशरीरः शिलापुत्रक इति ।

डेः खौ पराच्च ॥४१३१२६॥ खुविषये पराच्चात्मनश्च परस्य डेरनुब् भवति । प्रतिपदोक्तस्य डेर्ग्रहणम् । परस्मैभाषः । परस्मैपदम् । आत्मनेभाषः । आत्मनेपदम् । तादर्थ्येऽबुक्ता । आत्मार्थं पदमात्मनेपदम् । सविधेरिदमेव ज्ञापकम् । असदर्थार्थं इति विकृतेः प्रकृत्या षस उक्तः ।

ईपोऽद्वलः ॥४१३१२७॥ अदन्ताद्वलन्ताच्च सामर्थ्यान्मृदः परस्या ईपोऽनुब् भवति खुविषये । अरण्येतिलकाः । अरण्येमाषकाः । वनेकिंशुकाः । वनेवल्वजकाः । वनेहरिद्रकाः । पूर्वाह्नेस्फोटकाः । कूर्पेपशाचकाः । “खौ” [११३१३८] इति पमः । हलन्तात् । त्वचिभारः । हृपदिमापकः । युधिष्ठिरः । निपातनाद्द्विष्ठिरः । नन्ववादेशेऽन्तरङ्गं कृते हलन्तता न । “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उन्वाधते” [प०] । अन्यथा नदीकुक्कुटिकादिपु यणादेशे सत्यनुप् प्रसज्येत । अद्वल इति किम् ? नद्यां कुक्कुटिका । भूमिशर्करा । भूमपाशः । “अखौ हृद्युभ्यामिबर्थे ईप् तस्याश्चानुब् वक्तव्यः” [प०] । हृदिस्थुक् । दिविस्थुक् । न वक्तव्यः । यो हि हृद्यं सृशति । “वे कृति बहुलम्” [४१३१३२] इत्यनुप् । स चानुप् हृदिति प्रकृत्यन्तरं यत्तस्मान्भवति । “अप्सुमति चाखौ वक्तव्यम्” [वा०] । अप्सुमान् “अप्सव्य इत्यादावपि वक्तव्यः” [वा०] । अप्सु भवोऽप्सव्यः । अप्सुयोनिः ।

कारे प्रायः ॥४१३१२८॥ यूथे गृहे क्षेत्रे धान्याद्यं वस्तु रक्षानिर्देशार्थं यदवश्यं राज्ञे देयं स कारः । तद्वाचिनि षौ ईपोऽनुब् भवति खौ प्रायः । खार्विति वर्तते । अद्वल इति च । अदन्तात् । स्तूपे शाणः । मुकुटे कार्पाणः । हले द्विपदिका । हले त्रिपदिका । द्वौ द्वौ पादौ देयौ । “वीप्सादण्डत्यागे वुन्” [४१२११०] इति वुन् । “खौ” [११३१३८] इति पमः । हलन्ताद्-हृपदि मापकः । समिधि मापकः । खुविषये पूर्वैगैव भिद्धे प्रायोग्रहणार्थमेतत् । तेन कारे क्वचिदनुम्न भवति । यूथे पशुः । यूथपशुः । यूथे वृषः । यूथवृषः । “खौ” [११३१३८] इति पमः । कार इति किम् ? अभ्याहिते पशुः । कारादन्यस्य देयस्य नामैतत् । उप र्युपरि पशुर्देय इत्यर्थः । “ईपोऽद्वलः” [४१३१२७] इत्यनेनापि कारग्रहणादिहानुम्न भवति । अद्वल इत्येव जङ्घाकार्पाणः । मपीकार्पाणः । नदीदीहः । कारसंज्ञा एताः ।

हलि ॥४१३१२९॥ हलादौ कारे षौ ईपोऽनुब् भवति । स्तूपेशाणम् । नियमार्थमिदम् । हलादावेव नाजादौ । अक्विकटोरणः ।

मध्यान्तादुरौ ॥४१३१३०॥ मध्य अन्त इत्येताभ्याम् ईपोऽनुब् भवति गुरौ षौ । मध्येगुरुः । अन्ते गुरुः । सविधेरिदमेव ज्ञापकम् । असंज्ञाऽर्थोऽयं यत्नः ।

अकामेऽमूर्धमस्तकास्वाङ्गात् ॥४१३१३१॥ मूर्धमस्तकवर्जितास्वाङ्गात्परस्या ईपोऽनुब् भवति अकामे षौ । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । वहे गडुः । उदरे मणिः । व्यधिकरणनामपि क्वचिद्भवसः । उरसिलोमश इत्यत्र मत्वर्थीये कृते उरसीत्यनेन योगः । अकाम इति किम् ? मुखे कामोऽस्याः मुखकामा स्त्री । अमूर्धमस्तकादिति किम् ? मूर्धशिशुः । मस्तकशिशुः । उभयप्रतिपेधास्त्वरूपग्रहणम् । तेन पर्यायादनुप् । शिरसिशिशुः । स्वाङ्गादिति किम् ? पानशौण्डः । स्वाङ्गादिति कर्तुमशक्यम् । मूर्धमस्तकपर्युदासेन स्वङ्ग एव सात्ययात् । तत्क्रियते “अद्रवं मूर्तिमद्” इत्यादिपरिभाषिकस्वाङ्गसम्प्रत्ययार्थम् । तेनाप्राणिस्थादनुम्न भवति । मुखे पुरुषा अस्याः मुखपुरुषा शाला । अद्वल इत्येव । अङ्गुलिब्रणः । जङ्घावलिः । बसाविमौ । असंज्ञार्थमारम्भः ।

षे कृति बहुलम् ॥४१३१३२॥ षे कृदन्ते धौ बहुलमीपोऽनुब् भवति । बहुलग्रहणं सर्वविकल्पसंग्र-
हार्थम् । स्तम्भेरमः । कर्णेजपः । “प्रावृद्ध वर्षाशरत्कालदिवां जेऽनुप्” [वा०] प्रावृषिजः । वर्षामुजः । शरदिजः ।
कालेजः । दिविजः । न भवति कुरुचरः । मद्रचरः । “इन्सिद्धबध्नातिस्येषु च न भवति” [वा०] स्थण्डिलशायी ।
स्थण्डिलवर्ती । “व्रते” [२।२।६८] इति णिन् । साङ्काश्यसिद्धः । काम्पित्यसिद्धः । चक्रवन्धनम् । चक्रवन्धनम् ।
समस्थः । विपमस्थः । कूटस्थः । पर्वतस्थः । समानाधिकरणे च नेप्यते । परमे कारके । “वर्षचरशरवराज्जे द्विधा”
[वा०] वर्षजः । वर्षेजः । क्षरजः । क्षरेजः । शरजः । शरेजः । वरजः । वरेजः । “शयवासवासिष्वकालवाचिनो द्विधा”
[वा०] स्वशयः । खेशयः । त्रिलशयः । त्रिलेशयः । वनवासः । वनेवासः । ग्रामवासः । ग्रामेवासः । नववामी ।
नवेवामी । ग्रामवामी । ग्रामेवामी । अकालवाचिन इति किम् ? पूर्वाह्णेशयः । अपराह्णेशयः । “बन्धे द्विधा”
[वा०] हस्तेबन्धः । हस्तबन्धः । स्वाङ्गादिति नित्यं प्रातिः । चक्रबन्धः । चक्रवन्धः । बध्नातौ अनुप् प्रतिषेधः प्रातः ।
अद्वल इत्येव । भूमिशयः । गुप्तिबन्धः । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि” [प०] अयततनकुलस्थितम् । उदके
विशीर्णम् । “क्षेपे” [१।३।४१] इति पसः । “क्वचिदन्यत्रापि ” । ब्राह्मणाच्छंसी । पूर्वस्वैवायं प्रपञ्चः ।

भकालतनेकालेभ्यो वा ॥४१३१३३॥ झसंज्ञके कालशब्दे तनशब्दे च परतः कालिवाचिभ्यः परस्या
ईपो वाऽनुब् भवति । भ इति तगतमौ । “तादी भः” [४।१।११७] इति वचनात् । पूर्वाह्नतगम् । पूर्वाह्नितरे ।
अस्मिंश्च पूर्वाह्णे अस्मिन्तिशयेन पूर्वाह्णे इति विग्रह्यते । “द्विविभज्ये तरेयसू” [४।१।११६] इति । अहराश्रयस्य
पूर्वस्य प्रकथंतरः । अनुप्यन्ते “किमेन्मिङ् भिभादामद्रव्ये” [४।२।२०] इति एतदन्तात्पर्ये भ इत्याम् भवति ।
सर्वेषु पूर्वाह्णेषु अतिशयेन पूर्वाह्णे इति विग्रह्यते । “तमेष्टावतिशयने” [४।१।११४] इति तमः । पूर्वाह्णमाम् ।
पूर्वाह्नतमे भुङ्क्ते । पूर्वाह्नकाले “विशेषणं विशेष्येणेति” [१।३।५२] पसे कृते । पूर्वाह्नकाले पूर्वाह्नकाले गतः ।
पूर्वाह्न जातो भवो वा पूर्वाह्नतनः । पूर्वाह्नतनः । “वा पूर्वापरादह्नात्” [३।२।१४१] इति तनट् । इदमेव ज्ञापकं मुच-
न्ताद् हृदुन्तः । कालेभ्य इति किम् ? शुक्लतरे । शुक्लतमे । अद्वल इत्येव । रात्रितगयां गतः । अस्यां च रात्रौ
अस्यामतिशयेन रात्राविति । “त्यग्रहणे चाकायः” [प०] इति कान्तात्पर्ये भूतनौ स्वरूपेण गृह्येते न तदन्तविधिना ।
अपि च “हृदयस्य हृत्क्षेत्र्यान्त्रलासेषु” [४।३।१६१] इत्यत्राणग्रहणेन सिद्धे लोखग्रहणं ज्ञापकं “द्यावित्यधि-
कारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणमेव” [प०] ।

ताया आक्रोशे ॥४१३१३४॥ ताया अनुब् भवति धौ आक्रोशे गम्यमाने । चौरस्य कुलम् । दामस्य
कुलम् । वृषलस्य भार्या । “ता” [१।३।७०] इति पसः । आक्रोश इति किम् ? मोक्षमार्गः । असूयाविग्रहे
दामकुलमिति भवति । ताया इति योगविभागः । “तेन वाक्चिद्वक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वनुप्” [वा०] वाचो युक्तः ।
दिशोदण्डः । पश्यतोदरः । “ता चानादरे” [१।४।४६] इति ता । “देवानां प्रियादिव्वनुप्” [वा०] देवानां प्रियः ।
दिवोदासः । आमृष्यायणः । नडादित्वात्फण् । आमृष्यपुत्रिका । आमृष्यकुलिका । मनोज्ञादिपाठाद्बुञ् । “शुनः
खौ शोफपुच्छलाङ्गलेषु” [वा०] शुनःशोफः । शुनःपुच्छः । शुनोलाङ्गलः ।

पुत्रे वा ॥४१३१३५॥ पुत्रे धौ ताया वाऽनुब् भवति आक्रोशे । दास्याः पुत्रः । दासीपुत्रः । चौर्याः
पुत्रः । चौर्यपुत्रः । पूर्वैण नित्यं प्राप्तः ।

ऋतो विद्यायोनिःसंबन्धान् ॥४१३१३६॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यासंबन्धेभ्यो योनिःसंबन्धेभ्यश्च
परस्यास्ताया अनुब् भवति । सामथ्याद्विद्यायोनिःसंबन्धि धौ । होतुः पुत्रः । होतुरन्तेवासी । पोतुः पुत्रः । पोतु-
रन्तेवासी । योनिःसंबन्धात् । मातुः पुत्रः । मातुरन्तेवासी । पितुः पुत्रः । पितुरन्तेवासी । ऋत इति किम् ?
उपाध्यायपुत्रः । मातुलपुत्रः । उपाध्यायशिष्यः । पुत्रशिष्यः । विद्यायोनिःसंबन्धादिति किम् ? कर्तृपुत्रः ।
कर्तृशिष्यः । विद्यायोनिःसंबन्ध्याविति किम् ? होतृग्रहम् । पितृधनम् ।

वा स्वसृपत्योः ॥४१३१३७॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यायोनिबंधेभ्यः परस्यास्ताया वाऽनुब् भवति स्वसृपत्योः परतः । मातृष्वसा । मातुः स्वसा । मातुः ष्वसा । पितृष्वसा । पितुः स्वसा । पितुः ष्वसा । उपि “मातृपितृभ्यां स्वसुः” [५१४१६६] इति षत्वम् । अन्यत्र “वाऽनुपि [५१४१६७] इति वा षत्वम् । दुहितुः पतिः । दुहितृपतिः । स्वसुः पतिः । स्वसृपतिः । पूर्वैण नित्ये प्राप्ते विकल्पः ।

आनङ् द्वन्द्वे ॥४१३१३८॥ ऋतो विद्यायोनिबंधादिति वर्तमानम् अर्थात्तान्तं सम्पद्यते । ऋकारान्तानां विद्यायोनिबंधानां यो द्वन्द्वस्तत्र यो पूर्वस्यानङादेशो भवति । होतापोनारौ । नेष्टोद्गातारौ । प्रशास्ताप्रतिहर्तारौ । एककर्तृकर्मणि विद्याकृतः संबन्धोऽस्ति । योनिबंधे मातापितरौ । मातानानन्दारौ । नकारोच्चारणं किम् ? आ इत्युच्यमाने “रन्तोऽणुः” [११३१४८] इति रन्तः स्यात् । ऋत इति किम् ? पितृपितामहौ । विद्यायोनिबंधादिति किम् ? कर्तृकारयितारौ । सम्बन्धग्रहणं किम् ? पितृभ्रातरौ । नात्र विद्यातो योनितो वा परस्परसंबन्धोऽस्ति । मण्डूकश्लुत्या पुत्रग्रहणमनुवर्तते । तेन पुत्रेऽपि यौ ऋकारान्तस्य आनङ् भवति । पितापुत्रौ । मातापुत्रौ ।

देवताद्वन्द्वे ॥४१३१३९॥ देवतावाचिनां च द्वन्द्वे द्यावानङादेशो भवति । इन्द्रावरुणौ । इन्द्रासोमौ । इन्द्रावृहस्पती । सूर्याचन्द्रमनौ । द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणं सहवापनिर्देशार्थम् । तेन ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ इत्येवमादिषु शास्त्रे सहदाननिर्देशाभावात् भवति । इष्टद्वन्द्वपरिग्रहार्थं वा पुनर्वचनम् । अत्यन्तसहचरिते लोकविज्ञाते द्वन्द्वशब्दो निपातितः । ततो लोकप्रसिद्धसाहचर्याणामानङ् भवति । “वायोरुभयत्र प्रतिषेधः इष्यते” [वा०] अग्निवायू । वायवर्गनी ।

सोमवरुणेऽग्नेरीः ॥४१३१४०॥ सोमवरुण इत्येतयोः परतोऽग्नेरीकारादेशो भवति देवताद्वन्द्वे । अग्नीपोमौ । अग्नीवरुणौ । अन्तस्यालः स्थाने आनङोऽपवाद ईकारः । “स्तुत्सोमौ चाग्नेः” [५१४१६५] इति षत्वम् । द्वन्द्वे इत्येव । उपचारादग्निमोमौ माणवकौ ।

ऐपीत् ॥४१३१४१॥ माहचर्यादैर् भाजि यौ अग्नेरिकारादेशो भवति देवताद्वन्द्वे । अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्या आग्निवारुणौ । आग्निमास्तम् । देवतार्थेऽपि उभयोः पदयोरैपि कृते ईत्वानङोरपवाद इकारः । “विष्णोः प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा] अग्निश्च विष्णुश्च देवतेऽस्य आग्नीवैष्णवम् । आनङेव भवति । ऐपीति किम् ? आग्नेन्द्रः । “नेन्द्रस्य” [५१२१०७] इतिधो रैप्रतिषेधः ।

दिवो द्यावा ॥४१३१४२॥ दिवो द्यावा इत्ययमादेशो भवति यौ देवताद्वन्द्वे । द्यौश्च भूमिश्च द्यावाभूमौ । द्यावानक्ते । द्यावाद्भूमौ । अनेकाल्वात्सर्वादेशः ।

दिवसश्च पृथिव्याम् ॥४१३१४३॥ दिवो दिवस इत्ययमादेशो भवति द्यावा च पृथिव्यां यौ देवताद्वन्द्वे । दिवसपृथिव्यौ । द्यावापृथिव्यौ । उच्चारणार्थेनाकारेण निर्देशो स्त्विवाधनार्थः ।

उपासोपसः ॥४१३१४४॥ उपस उपासा इत्ययमादेशो भवति यौ देवताद्वन्द्वे । उपश्च नक्तम् च उपासानक्तम् । उपासानक्ते । नक्तं शब्दो मकारान्तो भिसंज्ञकोऽकारान्तश्च नपुंसकलिङ्गोऽस्ति ।

मातरपितरौ वा ॥४१३१४५॥ मातरपितराविति वा निपात्यौ । मातरपितरौ । यौ ऋकारस्यारभावो निपात्यते । पक्षे “आनङ् द्वन्द्वे” [४१३१३८] इत्यानङि कृते मातापितरौ ।

स्त्र्युक्तपुंस्कादनूरेकार्थेऽडट्प्रियादौ स्त्रियां पुं वत् ॥४१३१४६॥ उक्तपुंस्कात्परो यः स्त्रीत्यः तदन्त एकार्थं यौ स्त्रियां वर्तमाने उडन्तप्रियादिर्वर्जिते पुं वद्भवति । स्थानेऽन्तरतम इत्यन्तरतमतः पुं शब्देन तुल्यो भवतीत्यर्थः । दर्शनीया भार्या अस्य दर्शनीयभार्यः । शोभनभार्यः । चारुजङ्घः । स्त्री इति किम् ? ग्रामणि कुलं दृष्टिस्य ग्रामणिदृष्टिः । उक्तपुंस्कादिति किम् ? माला वृन्दारिकः । तथा द्रणीभार्यः कच्छपः । वरदाभार्यौ

हंसः । बडवाभार्योऽश्वः । तथा अङ्गारकाः शकुनयः । कालिकारचैषां स्त्रियः । कालिकाभार्या अङ्गारकाः । नहि इण्यदयः शब्दाः समानायामाकृतौ पुंसि वृत्ताः । पुंवद्भावेऽर्थतः आन्तरतभ्ये कच्छुपादिप्रयोगः प्रसज्येत । अन्-रिति किम् ? वामोरुभार्यः । अन्-रिति स्त्रीत्यपर्युदासाद् अन्योऽपि स्त्रीत्य एव गृह्यते इति स्त्रीग्रहणमनर्थकं तत्कृतमस्त्रीत्यान्तापि स्त्री पुंवद्भवतीति ज्ञापनार्थम् । ऐडिविडभार्यः । पार्थभार्यः । दारदभार्यः । औभिजभार्य इति सिद्धम् । इडिविड पृथु अनयो राष्ट्रममानशब्दत्वात्पत्यार्थेऽञ् । दरद, उमिजा आभ्यां द्वयञ्मगधेत्यादिनाऽङ्ग । स्त्रियाम् “अतोऽप्राच्यभर्गादेः” [३।१।१५८] इत्यणञोऽप् । इडिविडभार्या अस्वेति पुंवद्भावे ऐडिविडभार्य इत्यादि । एकार्थ इति किम् ? कल्याण्या माता कल्याणीमाता । अडट्प्रियादाविति किम् ? कल्याणी पञ्चमा रात्रयः । कल्याणीपञ्चमः । कल्याणीदशमः । “डट्स्त्रीप्रमाणयोरः” [४।२।११६] इत्यः सान्तः । यदि डडन्ता स्त्री तद्गुणमविज्ञानादिना प्रधानं तदा पुंवद्भावप्रतिषेधः मानश्चाकारो वेदितव्यः । इह माभृत् कल्याण-पञ्चमीकः पत्नः । कल्याणीमनोः । प्रिया । मनोः । कल्याणी । मुभगा । दुर्भगा । भक्तिः । नचिवा । स्वा । कान्ता । समा । चपला । दुहिता । वामा इति प्रियादिः । डटं भक्तिरस्य डटभक्तिः । शोभनभक्तिरित्यादौ न पूर्वपदं स्त्रीलिङ्गमिति । तेन प्रियादौ यौ पूर्वस्य यावशांका न कर्तव्या । स्त्रियामिति किम् ? कल्याणी प्रधान-मेषां कल्याणीप्रधानाः । उक्तः पुमान् समानायामाकृतौ अभिन्ने प्रवृत्तिनिमित्ते जा-यादिके येन शब्देन स तथोक्तः । अथवा उक्तः पुमान् यस्मिन्नर्थे त्यादिके स तथोक्तः । तद्वाच्यपि शब्द उक्तपुंस्त्वं इति व्युत्पादनं निमित्तम् । द्रोणीभार्यः । कुटीभार्यः । अत्र द्रोणकुटशब्दौ आकृत्यन्तरे पुलिङ्गौ । कथं गर्गभार्यः, प्रमृतभार्यः । प्रजात-भार्यः इति । अत्राप्येकजात्यपेक्षया कथञ्चित्समानाकृतित्वमूह्यम् ।

तसादौ ॥४।३।१४७॥ तसादिषु परतः उक्तपुंस्कादन्तः स्त्रीपुंवद्भवति । आदिशब्दः प्रकारवाची । तस् । त्र । तर । तम । चरट् । जातीय । देश्य । देशीय । कल्प । पाश । रूप । था । थम् । दा । हिं । थ्य । केपु परतः । तस्यास्ततः । तस्यां तत्र । आग्रतरा । आग्रतमा । पट्शी भूतपूर्वा पट्चरी । पट्शीप्रकारा । पट् जातीया । ईपदसिद्धा पट्शी पट्देश्या । पट्देशीया । वृद्धकल्पा । याप्या वृद्धा वृद्धपाशा । प्रशस्ता वृद्धा वृद्धरूपा । तथा प्रकृत्या तथा । कया प्रकृत्या कथम् । तस्यां वेलायां तदा । अस्यां वेत्याम् एतर्हि । अजायं हितम् अजथ्यम् । “अजाविभ्यां थ्यः” [३।४।६] इति थ्यः । दरच्छुट्टाके पुंवद्भावे च कृते दारटिका । के पुंवद्भावात्परत्वेन प्रादेशः । पट्त्वका । मृद्विका । बह्वल्यार्थाच्छसि बह्वीभ्यो देदि बहुशो देदि । अल्यभ्यो देदि अल्पशो देदि । “गुणवचनात्त्वलोः” [वा०] पट्त्व्या भावः पट्त्वम् । पटुता । गुणवचनादिति किम् ? क्षत्रियात्वम् । क्षत्रियाता । कटीत्वम् । कटीता । “भस्य हत्यडे पुंवद्भावो वक्तव्यः” [वा०] हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् । ईश्वस्य स्थानिवद्भावाच्चिदं न स्यात् । अट इति किम् ? ईश्वस्यः अफयं ईश्वस्यः । रौहिण्येयः । कथम् अग्नयी देवता अस्य आग्नेयः ? “अग्निक्लिभ्यां ढण्” [३।२।२८] इति । “डोपि कचित्पुंवद्भावो वक्तव्यः” [वा०] “ठण्डसोश्च” [वा०] । भवत्या इदं भावन्कम् । भवदीयम् । अवस्यायां पुंवद्भावे “इमुसुक्तः कः” [५।२।५२] इति कादेशः ।

कण्ड मानिनोः ॥ ४।३।१४८ ॥ कर्ण्ड मानिनि च परत उक्तपुंस्कादन्तः स्त्री पुंवद्भवति । एनीवाचरति एतायते । हरिणीवाचरति हरितायते । मानिनि यौ । इमां दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानी देवदत्तः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” [प०] । दर्शनीयां मन्यते देवदत्तां जिनदत्ता दर्शनीयमानिनी । एकार्थं स्त्रीलिङ्गे यौ पूर्वैर्यैव सिद्धः पुंवद्भावः । दर्शनीयामात्मानं मन्यते दर्शनीयमानिनी स्त्री ।

न बुहत्कोडः ॥४।३।१४९॥ वोहृत्तश्च यः ककारस्तदुडः स्त्रिया न पुंवद्भावः । बु—पात्रिकाभार्यः । कारिकाभार्यः । लाक्षिकीतः । लाक्षिकीपाशा । लाक्षिकीयते । लाक्षिकीमानिनी स्त्री । विलोपिकाया धर्म्ये ‘वैले-पिकम् । “ऋन्महिष्यादेः” [३।३।१६६] इत्यणि कृते “भस्य हत्यडे” [वा०] इति पुंवद्भावः प्राप्तः । पुंवद्भावे हीत्वनिवृत्तिः स्यात् । सामान्येनायं प्रतिषेधः । बुहृद्ग्रहणं किम् ? मूकभार्यः । जागरूकभार्यः । वराकभार्यः ।

डट्खोः ॥४३११५०॥ डडिति प्रत्याहारेण डडन्ता खुरच स्त्री न पुंवद्भवति । पञ्चमीभार्यः । दशमी-भार्यः । पञ्चमीतमः । पञ्चमीपाशः । पञ्चमीयते । पञ्चमीमानिनी । स्त्री—दत्ताभार्यः । दानक्रिया व्युत्पत्तिद्वारेण संज्ञाशब्देऽप्युक्तपुंस्त्वमस्ति । दत्तो माणवकः इति पुंवद्भावः प्राप्तः । एवं गुमाभार्यः । दत्तातः । गुमातः । दत्तिकामानिनी । दत्तिकायते ।

त्रिणखुरदरक्तविकारे ४३११५१॥ रक्तविकारवर्जितेऽर्थे यो हृत् त्रिणत् तदन्तस्त्री न पुंवद्भवति । त्रिण-श्रौत्सीभार्यः । त्रिणत्-स्रौत्नीभार्यः । माथुरीभार्यः । अर्धखर्या भवा अर्धखारी । “परिमाणस्थानतोऽर्धाद्वा पूर्वस्य” [५१२।३२] नैप् । अर्धखारी भार्या अस्य अर्धखारीभार्यः । वैयाकरणी भार्या अस्य वैयाकरणीभार्यः । स्त्रीधनीतः । स्त्रीधनीपाशा । स्त्रीधनीयते । स्त्रीधनीमानिनी । त्रिणदिति किम् ? तावतीभार्या अस्य तावद्भार्यः । मध्ये भवा मध्यमा भार्या अस्य मध्यमभार्यः । त्रिष्टयायनिभार्यः । त्रिष्टयस्यापत्यं स्त्री “फिरदोः” [३।१।१४७] इति फिः । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति डी पुंवद्भावः । हृदिति किम् ? पुष्पलायी भार्या अस्य पुष्पलावभार्यः । अरक्त-विकार इति किम् ? कपायेण रक्ता कापायी वृद्धतिकाऽस्य कापायवृद्धतिकः । लोहस्य विकारो लौही ईषा अस्य लौहेपो रथः ।

अमानिनीत्स्वाङ्गात् ॥४३११५२॥ स्वाङ्गात्परो य ईत् तदन्ता स्त्री न पुंवद्भवति अमानिनि स्त्री । दीर्घकेशीभार्यः । श्लक्ष्णमुखीभार्यः । दीर्घकेशीतः । दीर्घकेशीपाशा । दीर्घकेशीयते । अमानिनीति किम् ? श्लक्ष्णमुखमानिनी । ईदिति किम् ? पृथुत्रघनभार्यः । अकेशभार्यः । “न क्रोडादिवह्वचः” [३।१।४६] “सहनञ् विद्यमानात्” [३।१।५०] इति च डीप्रतिषेधः । स्वाङ्गादिति किम् ? पटुभार्यः ।

जातिश्च ॥४३११५३॥ जातिश्च स्त्री न पुंवद्भवति अमानिनि स्त्री । कठीभार्यः । कट्टुचीभार्यः । कठीतः । कठीपाशा । कठीयते । “वृद्धं च चरणेः सह” इति वचनात्जातिः । अमानिनीत्येव । कटमानी । कटमानिनी । चशब्दः किमर्थः ? “भस्य हृत्यदे” [वा०] इति प्राप्तस्य पुंवद्भावस्य प्रतिषेधो न भवतीत्यनुक्त-समुच्चयार्थः । तेन हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् ।

पुंवद्यजातीयदेशीये ॥४३११५४॥ उक्तपुंस्कादन्तः स्त्री पुंवद्भवति यमंरुके मे स्त्रीलिङ्गे धौ जातीय-देशीय इत्येतयोश्च परतः । यमे आद्यसूत्रेण पुंवद्भावः सिद्धः । जातीयदेशीययोश्च तथादौ पाठात् । तस्मात्प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थं आरम्भः । “न बुह्वक्कोडः” [४।३।१४६] इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति । पाचकवृन्दारिका । पाच-कजातीया । पाचकदेशीया । “डट्खोः” [४।३।१५०] इत्युक्तं तत्रापि भवति । पञ्चमवृन्दारिका । पञ्चम-जातीया । पञ्चमदेशीया । दत्तवृन्दारिका । दत्तदेशीया । “त्रिणखुरदरक्तविकारे” [४।३।१५१] इत्युक्तं तत्रापि भवति श्रौत्सवृन्दारिका । श्रौत्सजातीया । श्रौत्सदेशीया । स्त्रौत्सवृन्दारिका । स्त्रौत्सजातीया । “अमानिनीत्स्वाङ्गात्” [४।३।१५२] इत्युक्तं तत्रापि भवति । दीर्घकेशवृन्दारिका । दीर्घकेशजातीया । दीर्घकेशदेशीया । “जातिश्च” [४।३।१५३] इत्युक्तं तत्रापि भवति । कठवृन्दारिका । कठजातीया । कठदेशीया । पुंवद्भाववचनात्सर्वस्य प्रतिषे-धस्य निवृत्तिः । उक्तपुंस्कादन्तरित्यनुवर्तते । उक्तपुंस्कादिति किम् ? मालावृन्दारिका । मालाजातीया । माला-देशीया । कालिकाश्च ता वृन्दारिकाश्च कालिकावृन्दारिका । कालिकाजातीया । कालिकादेशीया । अनूरीति किम् ? वामोरुवृन्दारिका । वामोरुजातीया । वामोरुदेशीया । “अडट्प्रियादाँ” [४।३।१४६] इत्युक्तम् । तत्राप्यनेन पुंवद्भवति । कल्याणी चासौ पञ्चमी कल्याणपञ्चमी । कल्याणी चासौ प्रिया कल्याणप्रिया । कल्याणमनोशा । अथात्र कथं पुंवद्भावः, मृग्याः क्षीरम् मृगक्षीरम् ; कुक्कुट्या अग्रडम् कुक्कुटाग्रडम् । काक्याः शावः काकशावः ? अस्त्रीलिङ्गस्य पूर्वपदस्य सामान्येन विवक्षितत्वाददोषः । अस्त्रीत्यान्तापि स्त्री पुंवद्भवतीत्युक्तम् । इडिविट् चासौ वृन्दारिका च ऐडिविडवृन्दारिका इत्यादौ पुंवद्भाव आद्यसूत्रेणैव सिद्धः ।

भ्रूपकल्पचेलङ्ब्रुवगोत्रमतहते प्रोऽनेकाचः ॥४१३१५५॥ ईदिति वर्तते । भ्रु, रूप, कल्प, चेल्ट्, ब्रुव, गोत्र, मत, हत इत्येतेषु परतः उक्तपुंस्कात्परो य ईकारः स्त्रीत्यस्तदन्तस्यानेकाचः प्रो भवति । कुमारितरा । कुमारितमा । कुमारिरूपा । कुमारिकल्पा । “तसादौ” इति पुंवद्भाव ईकारादन्यत्र सावकाशोऽनेन प्रादेशेन बाध्यते कुमारिचेली । कुमारिब्रुवा । कुमारिगोत्रा । कुमारिमता । कुमारिहता । चेल्ट्शब्दः पचादौ पठ्यते । ब्रूजः शं ब्रुव इहैव निपात्यते । चेलङ् ब्रुवगोत्रशब्दाः कुत्सनशब्दाः । “कुत्स्यं कुत्सनैः” [११३१४८] इति सः । मतहताभ्यां विशेषणलक्षणो यसः । अनेकाच इति किम् ? स्त्रीतरा । स्त्रितरा । “वा मोः” [४१३१५६] इति विकल्पः । उक्तपुंस्कादिति किम् ? आमलकीतरा । वदरीतरा । अनुक्तपुंस्कादपि क्वचित्प इष्यते । लक्ष्मीतरा । तन्त्रितरा । ईदिति किम् ? दत्तातरा । गुमातरा । स्त्रीत्य इति किम् ? ग्रामणीतरा । सेनानीतरा । वा मोरिति विकल्पे प्राप्ते पुस्तादपवादोऽयम् ।

वा मोः ॥४१३१५६॥ मुमंशकस्य वा प्रो भवति भ्रादिषु परतः । अनेन विशेषेण विकल्पे प्राप्ते पुस्तादनेकाच ईकारस्य नित्यः प्रादेश उक्तः । ततोऽन्यदुदाहरणम् । एकाच् ईकारः ऊकारः सर्वः । स्त्रितरा । स्त्रीतरा । स्त्रितमा । स्त्रीतमा । वामोरुतरा । वामोरुतरा । एवं रूपादिष्वपि नेयम् । उक्तपुंस्कादनूरिति निवृत्तम् । एकार्थ इत्येतदनुवर्तते । तेन स्त्रिया हतः स्त्रीहत इत्यत्र न प्रादेशः । कृत्संज्ञकस्य मोर्न भवतीत्येके । लक्ष्मीतरा । लक्ष्मीतमा ।

उगितश्च ॥ ४१३१५७॥ उगितश्च परस्य मोर्वा प्रादेशो भवति भ्रादिषु परतः । श्रेयसितरा । श्रेयसीतरा । विदुषितरा । विदुषीतरा । चशब्दः पक्षे पुंवद्भावसमुच्चयार्थः । श्रेयस्तरा । विद्वत्तरा । “भ्रूप” [४१३१५५] आदिना नित्यः प्रादेशः प्राप्तः पूर्वसूत्रादिति व्यवस्थितविभाषाऽपेक्ष्यते । तेनाञ्चतेर्नित्यः प्रादेशः । प्राचितरा ।

अन्महतो जातीये च ॥४१३१५८॥ आकारादेशो भवति महतो जातीये एकार्थे यौ च परतः । महाजातीयः । महापुरुषः । महतः सन्महत्परमेत्यादिना प्रतिपदोक्ते यौ आत्वं सिद्धम् । एकार्थवर्तनं वसेऽपि प्रापणार्थम् । महाप्राणः । महाबाहुः । जातीये चेति किम् ? महतः पुत्रो महत्पुत्रः । आदिति द्विमात्रोच्चारणसुत्तरार्थम् । पुंवद्वाजातीयादिसूत्रे पुंवदिति योगविभागात्पुंवद्भावः । इहादिति योगविभागादात्वम् । तेन “महत्या घासकारविशिष्टेषु व्यधिकरणत्येऽपि पुंवद्भावात्वे भवतः” [वा०] महत्या घासो महाघासः । महत्याः काशे महाकारः । महत्या विशिष्टो महाविशिष्टः । अमहान् महान् सम्पन्नो महद्भूतश्चन्द्रमा इत्यत्र च्यौ निवृत्ते “च्विडाज्यादिः” [११२१३२] इति तिसंज्ञा । भूतशब्देन “तिकुप्रादयः” [११३१८१] इति पसे कृते गौणत्वान्महदर्थस्यावाभावः । पूर्वोक्तयोगविभागाच्चिह्न महतीशब्दस्य पुंवद्भावः अमहती महती सम्पन्ना महद्भूता कन्या ।

द्व्यष्टनः संख्यायामवाशीत्योः प्राकृतात्त्रेख्यः ४१३१५९॥ द्वि अष्टन् इत्येतयोराकारादेशो भवति संख्यायां यौ प्राक् शतात् वसमशीतिं च वर्जयित्वा, त्रेश्च त्रयसित्ययमादेशो भवति । द्वादश । द्वौ च विंशतिश्च द्वाविंशतिः । “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात्” । अथवा द्वयधिकं विंशतिः द्वाविंशतिः । समानाधिकरणाधिक्युत्पन्नं शाकपार्थिवादिबद्धद्वयम् । अष्टादश । अष्टाविंशतिः । अष्टात्रिंशत् । त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । त्रयस्त्रिंशत् । द्व्यष्टनत्वेरिति किम् ? चतुर्दश । संख्यायामिति किम् ? द्विमूली । अष्टमूली । त्रिमूली । समाहारे पसः । “संख्यादी रश्च” [११३१७७] इति रसंज्ञः । “रात्” [३११२५] इति डीविधिः । अवाशीत्योरिति किम् ? द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । अष्टदशाः । त्रिदशाः । “संख्याबाहुोऽबहुगणात्” [४१२१६६] इति डः सान्तः । द्व्यशीतिः । त्र्यशीतिः । वसेऽशीतो च न भवति । प्राक्शतादिति किम् ? द्वयधिकं शतं द्विशतम् । त्रिशतम् । त्रिसहस्रम् ।

घा चत्वारिंशदादौ ॥४१३१६०॥ चत्वारिंशदादौ संख्यायां द्यौ अवाशीत्योद्वर्थादीनां यदुक्तं तद्वा भवति । द्वाचत्वारिंशत् । द्विचत्वारिंशत् । द्वापञ्चाशत् । द्विपञ्चाशत् । अष्टाचत्वारिंशत् । अष्टचत्वारिंशत् । अष्टाष्टिः । अष्टषष्टिः । त्रयश्चत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत् । अवाशीत्योरित्येव । द्विचत्वारिंशाः । द्वयशीतिः । अष्टचत्वारिंशाः । अष्टाशीतिः । त्रिचत्वारिंशाः । त्र्यशीतिः । प्राकशतादित्येव । द्विशतम् । “अष्टनः कपाले हविष्यात्वं वक्तव्यम्” [वा०] अष्टाकपालं हविः । अष्टमु कपालेषु संस्कृतं हृदर्थे षसः । “संख्यादी रश्च” [१३१४७] इति रसंज्ञः । “संस्कृतं भक्ष्याः” [३१२११] इत्यण् । तस्य “रस्योबनपत्ये” [३११७४] इत्युप् । हविषीति किम् ? अष्टानां कपालानां समाहारः अष्टकपालं भिक्षोः । पात्रादित्वात्पुंसकलिङ्गता । “गवे च युक्ते अष्टनः आत्वं वक्तव्यम्” [वा०] अष्टागवेन शकटेन वहति । अष्टौ गावो युक्ता अस्मिन्निति । अस्मादेव निपातनात् वसेऽपि टः सान्तः । युक्त इति किम् ? अष्टानां गवां समाहारः अष्टगवम् । नेदं वक्तव्यम् । आन्महत इति आदिति योगविभागादन्वयापीति दीत्वेन वा सिद्धेः ।

हृदयस्य हृदलेखयारलासेषु ॥ ४१३१६१ ॥ हृदयस्य हृदित्ययमादेशो भवति लेख य अण् लस इत्येतेषु परतः । हृदयं लिखतीति हृदलेखः । हृदयाय हितं हृद्यम् । “प्राण्यङ्गुरथ” [३१४१५] इत्यादिना यः । हृदयस्येदं हार्दम् । हृदयस्य भावो वा युवादिषु “हृदयादसे” [३१४१२० ग० सू०] इति पाठादण् । अणि घञि वा हृत्लासः । लेख इत्यण्णन्तस्य ग्रहणम् । घञि तु हृदादेशो नेष्यते । हृदयस्य लेखः हृदयलेखः । एवं च लेखग्रहणं ज्ञापकम् “द्व्यधिकारे त्यग्रहणे स्वरूपग्रहणं न तदन्तविधिः” [प०] “स्त्रित्यक्तेः” [४१३१७६] इत्यत्र ग्वित्यनन्तरः प्रादेशभाग्नास्तीति तदन्तविधिरिष्टः ।

वा ट्यण् रोगशोके ॥४१३१६२॥ ट्यण् रोग शोक इत्येतेषु परतो हृदयस्य वा हृदित्ययमादेशो भवति । सौहार्द्यम् । ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाटट्यण् । “हृत्सिन्धुभगे द्वयोः” [५१२२४] पदयोरैप् । पत्ने सौहृदय्यम् । हृद्रोगः । हृदयरोगः । हृत्श्लोकः । हृदयशोकः । ननु हृदयशब्देन समानार्थो हृच्छब्दोऽस्ति तेनोभयं सिद्धम् । न सिद्ध्यति । अन्येष्वप्युत्तरपदेषु हृच्छब्दस्य प्रयोगः प्रसज्येत ।

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ॥४१३१६३॥ पादस्य पद इत्ययमादेशो भवत्याजि आति ग उपहृत इत्येतेषु परतः । पादाभ्यामजति पादाभ्यामतति । अजातिभ्यां पाद इण् । वाक्सः । केंवलेन आजिशब्देन “साधनं कृता” [१३१२६] इति षसः । अतएव निपातनादजेर्विभावभावः । पदाजिः । पदातिः । पादाभ्यां गच्छति पदगः । गमेर्ङः । पादाभ्यामुपहतः पदोपहतः । पदशब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति तेन सिद्धेऽपि पादशब्दस्यास्मिन् विषये प्रयोगो मा भूदित्येवमर्थम् ।

पद्ये ॥४१३१६४॥ पादं विध्यन्ति पद्याः शर्कराः । “विध्यन्त्यकरणेन” [३१३१६४] इति यः । तादर्थ्यं तु “पाद्यार्थ्ये” [४१२३२] इति निपातनमुक्तम् । पादार्थमुदकं पाद्यम् । कथं पादाभ्यां चरति पदिक इति ? “पर्पादौ” [३१३१३३] पादः पदिति पाठादट्टा सिद्धम् । पूर्वसूत्रे पादस्येति संबन्धलक्षणा ता । तेन पादशब्दस्य यो यस्तस्मिन् पदित्ययमादेशो भवति । सामर्थ्यात्पादान्तस्य न भवति । द्वाभ्यां पादाभ्यां क्रीतं द्विपाद्यम् । त्रिपाद्यम् । “पणपादमापाद्यः” [३१४३१] इति यः ।

हिमकाषिहतौ ॥४१३१६५॥ हिम काषिन् हति इत्येतेषु परतः पादस्य पदित्ययमादेशो भवति । पादस्य हिमं पद्धिमम् । पत्कापी । वाक्सः । पादाभ्यां हतिः पद्धतिः । “साधनं कृता” [१३१२६] इति सः । षिनि तदन्तविधिरपि । परमपत्कापी ।

ऋचः शे ॥४१३१६६॥ ऋचः पादस्य शे परतः पद्धवति । पादं पादं गायत्र्याः शंसति पच्छो गायत्री शंसति । “संख्यैकाद्वीप्सायाम्” [४१२१४८] इति शस् । ऋच इति किम् ? पादं पादं कार्पापणमस्य ददाति पादशः कार्पापणं ददाति । “त्यात्यसभवे त्यस्य ग्रहणम्” [प०] इति शस एव ग्रहणादिह न भवति । पादशंसी गायत्र्याः ।

वा निष्कघोषमिश्रशब्दे ॥४१३१६७॥ निष्क घोष मिश्र शब्द इत्येतेषु परतः पादस्य वा पद्भवति । पादस्य निष्कः पन्निष्कः । पादनिष्कः । पद्घोषः । पादघोषः । पन्मिश्रः । पादमिश्रः । “पूर्वावरसदृश” [११३१२८] इत्यादिना भासः । पच्छब्दः । पादशब्दः ।

उदकस्योद् द्योश्च खौ ॥४१३१६८॥ उदकस्य उद् इत्ययमादेशो भवति द्योश्च तस्योदकस्य खुविषये । उदकस्य मेघ उदमेघो नाम यस्योदमेघिः [पुत्रः] । उदकं वहतीत्युदवाहो नाम यस्योदवाहिः पुत्रः । अपत्येन पिता लक्ष्यते । उदकस्य घोप उदघोपः । लोहितोदा क्षीरोदा नदी । खाविति किम् ? उदकपर्वतः ।

पेषमि ॥४१३१६९॥ पेषमि द्यो उदकस्य उद् इत्ययमादेशो भवति । उदकेन पिनष्टि उदपेषं पिनष्टि तगरम् । “स्नेहने पिषः” [२१४२७] इति णम् । कथम् उद्वास उदवाहनः उदधिरिति ? संज्ञाशब्दा अमी पूर्वैण सिद्धाः । कथमुदधिरघटः ? उपमानाद्भविष्यति ।

वैकहलि पूर्वे ॥४१३१७०॥ एकोऽसहायस्तुल्यजातीयेन यो हल् तदादौ यौ पूर्वं उदकस्य वा उद् इत्ययमादेशो भवति । उदकस्य कुम्भः उदकुम्भः । उदककुम्भः । उदघटः । उदकघटः । उदपात्रम् । उदकपात्रम् । एकहलीति किम् ? उदकस्थालम् । पूर्वं इति किम् ? उदकगिरिः । अखावप्राप्ते विभाषेयम् ।

मन्थौदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीवधगाहे ॥४१३१७१॥ मन्थ औदन सक्तु विन्दु वज्र भार हार वीवध गाह इत्येतेषु परत उदकस्य वा उद् इत्ययमादेशो भवति । अपूर्वार्थोऽयं यतः । उदमन्थः । उदकमन्थः । उदकनौदनः उदौदनः । उदकौदनः । उदकेन सक्तुः उदसक्तुः । उदकसक्तुः । “भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्यञ्जने” [११३१३०] इति भासः । उदविन्दुः । उदकविन्दुः । उदवज्रः । उदकवज्रः । उदभारः । उदकभारः । उदहारः । उदकहारः । उदवीवधः । उदकवीवधः । उदगाहः । उदकगाहः । मन्थभारहारा अण्णन्ता घञन्ता वा ।

इकः प्रोऽड्ढ्याः ॥४१३१७२॥ इगन्तस्य यौ वा प्रो भवत्यड्ढ्याः । ग्रामणिपुत्रः । ग्रामणीपुत्रः । यवलुपुत्रः । यवदुपुत्रः । अलावु कर्कन्धु दन्धु फलम् । अत्र पूर्वपूर्वस्य प्रादेशे सति उत्तरेण सविधिः । इक इति किम् ? खट्वापादः । मालापादः । अड्ढ्या इति किम् ? गागीपुत्रः । दासीपुत्रः । वेति व्यवस्थितविभाषाश्रयणादिह न भवति । कारीपगन्धीपुत्रः । कारीपगन्धीपतिः । भ्रिपञ्जेषुवां च न प्रादेशः । काण्डीभूतम् । कुड्डीभूतम् । श्रीकुलम् । भ्रुकुलम् । भ्रुकुंसादीनां तु प्रादेशो भवत्येव । भ्रुकुंसः । क्वचिदन्यदेव । भ्रुकुंसादीनामकारा-श्चान्तादेश इत्येते । भ्रुकुंसः । भ्रुकुटिः ।

त्वे ड्यापो क्वचित्खौ च ॥४१३१७३॥ त्वे परतो ड्यन्तस्य आवन्तस्य क्वचित्प्रो भवति खौ च द्यौ । अजत्वम् । अजात्वम् । रोहिणित्वम् । रोहिणोत्वम् । त्वे छान्दसः प्रयोग इति केचित् । खौ—रेवतिमित्रः । रोहिणिमित्रः । भरणिमित्रः । क्वचिन्न भवति । नान्दीकः । नान्दीघोषः । आवन्तस्य शिलया वहः शिलवहः । शिलप्रस्थः । शिंशपस्थलम् । न च भवति लोपिकागृहम् । लोपिकापरडम् । क्वचिद् ग्रहणं बहुलार्थम् ।

द्विति चैका ॥४१३१७४॥ द्विति परतो द्यौ च एका इत्येतस्य प्रो भवति । एकस्या आगतम् एकरूप्यम् । एकमयम् । “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” [३१३५५] “मयट्” [३१३५६] इति च रूप्यमयटौ । एकस्या-भाव एकत्वम् । एकता । गुणवचनत्वे “तसादौ” [४१३१४७] त्वतलोर्गुणवचनस्य इति पुंवद्भावेन सिद्धत्वा-दन्यत्रेदं द्रष्टव्यम् । द्यौ एकस्या क्षीरम् एकक्षीरम् । एकदुग्धम् । एका प्रिया अस्य एकप्रियः । एकमनोज्ञः ।

मालेयीकेष्टकानां भारितूलचित्ते ॥४१३१७५॥ माला, इषीका, इष्टका इत्येतेषां प्रो भवति भारित्नु तूल चित् इत्येतेषु परतः । मालभारी । मालभारिणी । इषीकतूलम् । इष्टकचित्तम् । क्वचिदित्यनुवृत्तेर्मालादिभि-स्तदन्तविधिरपि । उत्पलमालभारिणी । मुञ्जेषीकतूलम् । पक्वेष्टकचित्तम् ।

खित्यभेः ॥४३१७६॥ खिदन्ते द्यौ अजन्तस्य प्रो भवत्यभेः । कालीमात्मानं मन्यते कालिम्मन्या । रोहिणिम्मन्या । “खश्चात्मनः” [२।२।७१] इति खश् । खित्यन्तरः प्रादेशभाग्नास्तीत्युक्तम् । अभेरिति प्रतिषेधाच्च खिदन्ते द्यौ पूर्वस्य प्रपरोऽपि “मुमचः” [४।३।१७७] इति प्रादेशेन बाध्यते । अभेरिति किम् ? दोषामन्यमहः । दिवामन्या रात्रिः ।

मुमचः ॥४३१७७॥ पूर्वस्य पदस्याजन्तस्य खिदन्ते द्यौ मुम् भवत्यभेः । प्रियंवदः । वशंवदः । कालिम्मन्या । हरिणिम्मन्या । “विध्वरुपोस्तुदः सखम्” [२।२।३७] इति सखे कृते मुम् । विधुस्तुदः । अरुस्तुदः । “द्विषन्तपेरम्मद” [२।२।३८] इति निपातनाद् द्विषन्तपः । अच इति किम् ? विद्वन्मन्यः ।

अमेकाचोऽम्बत् ॥४३१७८॥ अच इति वर्तते । अजन्तस्य पूर्वपदस्यैकाचोऽम् भवति खिदन्ते द्यौ अमीवारिमन् कार्यं भवति । आत्वपूर्वस्यैव युवादिप्रयोजनम् । अवर्णान्तस्यामि नास्ति विशेषः । अनवर्णान्तमुदाहरणम् । गाम्मन्यः । स्त्रीम्मन्यः । स्त्रियम्मन्यः । नृशब्दस्य नरम्मन्यः । श्रियम्मन्यः । भ्रुवम्मन्यः । नावमात्मानं मन्यते नावम्मन्यः । प्रादेशमुमोरयमपवादः । एकाच इति किम् ? लेखाक्रं मन्यः । अच इत्येव द्विष्मन्यः । निपातनाद् वाचंयमपुरन्दरौ । अमित्यागमलिङ्गादपरोऽपि मकारः प्रयोगश्रवणार्थः स्फान्तत्वेन निर्दिष्टः । अथेह कथम्भवितव्यम्, श्रियमात्मानं कुलं मन्यते इति ? उच्यते-श्रीशब्द आविष्टलिङ्गः स्त्रियमेव वर्तते इति श्रियम्मन्यमिति भवितव्यम् । अन्ये मन्यन्ते स्वलिङ्गान्तरेऽपि वृत्तिर्दृष्टा । यथा प्रष्ठादिशब्दानां पुंयोगात् स्त्रियां वृत्तिः । प्रष्ठी । प्रचरी । गणकी । एवं श्रीशब्दस्य कुले वर्तमानस्य नपुंसकलिङ्गत्वं “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशः । अम्बदतिदेशात् “नपः स्वमोः” [५।१।२०] इत्युप् । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इति “सुपो धुष्टदोः” [१।१।१४२] इत्यस्यैवोपोऽमागमो बाधको नोत्तरस्य तेन श्रियम्मन्यमिति भवितव्यम् । एतच्च नातिश्लिष्टम् । वेदः प्रमाणमित्यादौ लिङ्गान्तरं प्रसज्येत ।

सत्यागदास्तोः कारे ॥४३१७९॥ सत्य, अगद, अस्तु इत्येतेषां कारे द्यौ मुमागमो भवति । सत्यङ्कारः । अगदङ्कारः । अणि घञि वा काररूपम् । अस्तुराब्दो निसंज्ञकोऽभ्युपगमे वर्तते । अस्त्वित्यस्य करणम् अस्तुङ्कारः ।

रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य ॥४३१८०॥ रात्रिशब्दस्य कृति द्यौ मुमागमो भवति प्रभाचन्द्रस्यांचार्यस्य मतैन । रात्रिञ्चरः । रात्रिचरः । रात्रिमाटः । रात्र्याटः । कृद्ग्रहणामार्थ्यादयमप्राप्ते विकल्पः । खिति पूर्वनिर्णयेन नित्यं मुमागमः । रात्रिमन्यमहः । रात्रेरन्तरः कृन्नास्तांति कृदन्तग्रहणम् । ननु रात्रिखाचरतीति “आचारे सर्वसृद्भ्यः क्तिप्” [२।१।६ वा०] इति तदन्तात्कृत्किञ्चस्ति । यदि तदर्थं कृद्ग्रहणं स्यात् । रात्रेः क्तिपीति निर्देशं कुर्यात् । क्विञ्चन्तस्य तु रात्रिशब्दस्य अन्यस्मिन् कृदन्ते मुम्न स्यात् गौणत्वात् ।

नजोऽन् ॥४३१८१॥ नजोऽनित्ययमादेशो भवति द्यौ । न हिंसा अहिंसा “नञ्” [१।३।६८] सुपा इति षसः । अनेकाञ्वात्सर्वादेशोऽन् । स्थानिवद्भावेन पदादेशः पदवद्भवति इति नखम् । एवम् अक्रोधः । अस्तेयम् । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? वामनपुत्रः पामनपुत्र इत्यत्र माभूत् । द्यावित्येव । न भुङ्क्ते । “नजोऽनुभावे क्षेपे मिह्युपसंस्थानम्” [वा०] । अक्रोरोपि त्वं जाल्म । अप्रचसि त्वं जाल्म ।

अच्चि ॥४३१८२॥ अजादौ च द्यौ नजोऽन् भवति । अनन्तः । अनादिः । अनुपभो जिनः । पुनर्वचन नखनिवृत्त्यर्थम् । “अद्वोऽनजे” [२।२।६०] इति ज्ञापकाजो नो ङमुण् न भवति ।

नभ्रात्नपात्रवेदानासत्यानमुचिनकुलनखलनः सकनक्षत्रनक्रनाकनागाः ॥४३१८३॥ नभ्राट् नपात् नवेदा नासत्या नमुचि नकुल नख नपुंसक नक्षत्र नक्र नाक नाग इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । न भ्राजते न वा न भ्राजते किन्तु भ्राजत एवेति नभ्राट् । भ्राजतौ क्व्यन्ते द्यौ नजः प्रकृतिभावः । द्वयोर्वा नजोः एको

नशब्दो निपात्यते । न पाति न वा न पाति नपात् । नपुंसकलिङ्गे शत्रन्ते पातौ पूर्ववन्निपातनम् । न वेत्ति न वा न वेत्ति नवेदाः । “अस् सर्वधुम्यः” [उ० सू०] इति विदेरस् । “अस्वसोऽधोः” [४।४।१२] इति दीत्वम् । सत्सु सार्वा सत्या न सत्या अस्त्या । पुनर्नञ्से नास्त्या । नञः प्रकृतिभावः । पुंस्यपीदं निपातनम् । नास्त्या नाम केचित् । न मुञ्चति न वा न मुञ्चति मुचेरौणादिके इकि नमुचिः । नास्य कुलमस्ति न वानकुलमस्ति नकुलम् । नास्य खमस्ति न वा न खमस्ति नखः । न स्त्री न पुमान् नपुंसकः । स्त्रीपुंसयोर्नपुंसकभावो नञश्च प्रकृतिभावः । न क्षरति न क्षीयते इति वा नक्षत्रम् । क्षन्तेः क्षीयतेर्वा क्षन्दावो नञश्च प्रकृतिभावः । न क्रीणाति न क्रामतीति वा नक्रः । क्रीजः क्रमेर्वा डत्यो नञश्च प्रकृतिभावः । अक्र अग्र कुटिलायां गतावित्यनयोः पचात्रचि अक्रागौ भवतः । नाकः । नागः । नञः प्रकृतिभावः अथवा नास्मिन् कं दुःखमस्ति नाकः । न गच्छतीत्याः । एतेषां रूढिशब्दानां यथा कथञ्चिद् व्युत्पत्तिः ।

एकान्नः ॥४।३।१८४॥ एकान्न इति निपात्यते द्यौ । एकेन न विंशतिः एकान्नविंशतिः । एकेन न त्रिंशत् । नञो विंशतिशब्देन “नञ्” [१।३।६८] इति पसः । एकशब्दस्य भान्तस्य न विंशतिशब्देन “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इति बहुलवचनाद् भेति योगविभागात्पसे कृते एकशब्दस्यादुक् नञश्च प्रकृतिभावो निपात्यते । अदुक्ः पूर्वान्तकरणं “यरो ङो विभाषा ङे” [५।४।१२५] इति विकल्पेन डार्थम् । एकाद्विंशतिः । एकाद्विंशत् ।

नगो वाऽजीवे ॥४।३।१८५॥ नग इति वा निपात्यते अजीवेऽर्थे । नगा वृक्षाः । नगाः शाल्यः । नगाः पर्वताः । अगा वृक्षाः । अगाः शाल्यः । अगाः पर्वताः । न गच्छन्तीति मुपि वाचि “गमेडः” [२।२।४६] वाक्सः । अजीव इति किम् ? अगो देवदत्तः शीतेन ।

सहस्य सः खा ॥४।३।१८६॥ सहस्य स इत्ययमादेशो भवति खुविपये । द्याविति वर्तते । सहाश्रत्येन वर्तते साश्वथम् । सपलाशम् । सशिशपम् । वननामधेयम् । सरसा दूर्वा । “तेन” [१।३।६०] “सहेति तुल्ययोगे” [१।३।६१] इति बसः । “वा नीचः” [४।३।१६०] इति विकल्पे प्राप्ते अयं विधिः । खाविति किम् ? सहयुध्वा । सहकृत्वा । सहयुद्धवान् । “राज्ञि युधि कृजः” [२।२।८२] “सहे” [२।२।८३] इति कनिष् ।

ग्रन्थान्तेऽधिके ॥४।३।१८७॥ ग्रन्थान्ते अधिके च वर्तमानस्य सहस्य स इत्ययमादेशो भवति । ग्रन्थान्ते हसः । सकलं ज्यौतिषमधीते । समुहूर्तमधीते । कला कलावशेषः मुहूर्तश्च तसहचरितो ग्रन्थोऽपि तथोक्तः । कलामन्तं कृत्वा मुहूर्तमन्तं कृत्वा । साकल्यान्तोक्तौ हसः । “हेऽकाले” [४।३।१८६] इति काले प्रतिषेधादनेन सादेशः । अधिके बसः । सह द्रोणेन वर्तते सद्रोणा खारी । समापः कार्पाणः । सकाकणीको भाषः । “वा नीचः” [४।३।१६०] इति विकल्पः प्राप्तः ।

द्वितीयेऽनुपाख्ये ॥४।३।१८८॥ द्वितीयेऽनुपाख्यायमाने सहस्य स इत्ययमादेशो भवति । द्वयोः सहयुक्तयोर्न्यग्भूतो द्वितीयः । स एवाप्रत्यक्षोऽनुपाख्य उक्तः । साग्निः कपोतः । समूसलः व्रीहिकंसः । सपिशाचा वात्या । सराक्षसीका शाला । अग्न्यादयोऽप्रत्यक्षेणानुपलभ्यमानाः कपोतादिभिरनुमीयमानत्वादानुपाख्याः । अनुपाख्य इति किम् ? सच्छात्रः सहच्छात्र उपाध्यायः । उपाख्यायत इत्युपाख्यः । “युड्व्या बहुलम्” [२।३।६४] इति बहुलवचनात् “आतो गौ” [२।१।१०६] इति कर्मणि कः ।

हेऽकाले ॥४।३।१८९॥ हसंशके सहस्य स इत्ययमादेशो भवत्यकालवाचिनि द्यौ । सचक्रं धेहि । सधुरं प्राज । युगपच्चक्रे । युगपद्धुरौ । “यौगपद्य” [१।३।५] इति हसः । “ऋक्पूरुषः पथोऽनन्धे” [४।२।७०] इति धुरोऽकारः सान्तः । अकाल इति किम् ? सहपूर्वाह्णम् । सहापराह्णम् । यौगपद्ये साकल्योक्तौ वा हसः ।

वा नीचः ॥४१३१६०॥ नीचोऽवयवस्य सहशब्दस्य वा स इत्ययमादेशो भवति च्यौ । सशिष्यः सहशिष्य आचार्यः । सपुत्रः सहपुत्रः पिता । नीच इति किम् ? सहयुध्वा । सहकृत्वा । नात्र समुदायस्य नीचोऽवयवः सहशब्दः । नीच इति समुदायस्य विशेषणं सहशब्दस्य सर्वत्र विभौ न्यक्त्वात् । इह सहयुद्धप्रियः । प्रियसहयुध्वेति च सहस्य सः क्रस्मान् भवति । यदत्र यु तदपेक्षया न सहशब्दो नीचोऽवयव इति न भवति ।

नाशिष्यगोवत्सहले ॥४१३१६१॥ आशिषि सहस्य सादेशो न भवति गोवत्सहलवर्जिते च्यौ । स्वस्ति सहशिष्याय गुरवे । स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय । अगोवत्सहल इति किम् ? स्वस्यस्तु सगवे सहगवे । सवत्साय सहवत्साय । सहलाय सहहलाय ।

समानस्य स ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु ॥४१३१६२॥ समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ज्योतिषू, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु इत्येतेषु परतः । समानं ज्योतिरस्य सज्योतिः । यदि वा समानं च तज्ज्योतिश्च सज्योतिः । “पूर्वापरप्रथम” [११३१५३] इत्यादिना यमः । सजनपदः । सरात्रिः । सनाभिः । सनामः । सगोत्रः । सरूपः । सस्थानः । [सवर्णः] । सवयाः ।] सवचनः । सवन्धुः । ससेऽभिधेयवस्त्रिङ्गम् । यसे च परवस्त्रिङ्गम् । समानस्येति योगविभागादन्येष्वपि सादेशः । तेन सधर्मा । सपक्षः । सगन्धः । सदेशः । समानजातीयः । “जातेरङ्गो बन्धुनि” [४१२११८] इति स्वार्थे ङुः । समाने तीर्थे भवः मतीर्थः । दिगादित्वाच्च इत्येवमादि सिद्धम् ।

सब्रह्मचारी ॥४१३१६३॥ सब्रह्मचारीति निपात्यते चरणे गम्यमाने । समानो ब्रह्मचारी समाने ब्रह्मणि व्रतं चरति वा सब्रह्मचारी । समाने आगमे व्रतचारीत्यर्थः ।

चोदर्ये ॥४१३१६४॥ उदर्यशब्दे च्यौ समानस्य वा स इत्ययमादेशो भवति । समानोदरे शयितः सोदर्यः । समानोदर्यः । “समानोदरे शयितः” [३१३२०८] इति यः । कथं युधिष्ठिरसोदरो वृकोदर इति । समानस्येति योगविभागात् ।

दृशदृक्षवतौ ॥४१३१६५॥ दृश दृक् दृक्ष वतु इत्येतेषु परतः समानस्य स इत्ययमादेशो भवति । समानो दृश्यते सदृशः । बहुलवचनत्कर्मणि टगादिः । अन्यथा वा व्युत्पत्तिमात्रं कार्यम् । समानमात्मानं पश्यति सदृशः । सदृक् । सदृक्षः । “त्यदादौ दृशोऽनालोके टक् च” [२१२१५८] इत्यत्र “समानान्ययोश्च” [वा०] इति वचनादृक्किश्च भवति । कसोऽप्यस्मादेव निर्देशात् तत्र स्मर्तव्यः । वतुः ममानशब्दात्परो न सम्भवतीति वतुप्रहणमुत्तरार्थम् ।

किमिदमोः कीश् ॥४१३१६६॥ किम् इदम् इत्येतयोः की ईश इत्येतावादेशौ भवतः दृशादिषु परतः । क इव दृश्यते कमिव पश्यति वा कीदृशः । कीदृक् । कीदृक्षः । किम्परिमाणमस्य कियान् । “किमः” [३१४१६२] इति वतुर्वकारस्य च घः । अयमिव दृश्यते इममिव पश्यति वा ईदृशः । ईदृक् । ईदृक्षः । इदम्परिमाणमस्य इयान् । “इदमो वो घः” [३१४१६१] इति वतुर्वकारस्य च घः । “आ सर्वनाम्नः” [४१३१६७] इत्यात्वस्यापवादोऽयम् ।

आ सर्वनाम्नः ॥४१३१६७॥ सर्वनाम्न आकारादेशो भवति दृशदृक्षवतुषु परतः । स इव दृश्यते तमिव पश्यति वा तादृशः । तादृक् । तादृक्षः । तत्परिमाणमस्य तावान् । “यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः” [३१४१६०] इति वतुः । यादृक्षः । यादृशः । यावान् । अन्यादृशः । अन्यादृक् । अन्यादृक्षः । आ इति द्विमात्रोच्चारणम् “एष्यतोऽपदे” [४१३१८४] इति पररूपनिवृत्त्यर्थम् । अकारोच्चारणं तु हस्तिनवृत्त्यर्थं स्यात् । अन्यशब्दे च दोषः प्रसज्येत । त्यदादेरिति सिद्धे सर्वनाम्न इति ग्रहणम् अन्यशब्दसंग्रहार्थमुत्तरार्थं च ।

विष्वग्देवयोश्च टेरद्रयञ्चौ कौ ॥४१३१६८॥ विष्वग् देव इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च टेरद्रिरादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । विपुवतीति विपुः । विपुमञ्चतीति ऋत्विगादिसूत्रेण द्यौ कृते विष्वक् । विष्वञ्चमञ्चतीति कावागतनिवृत्ते नखम् । वाक्ते सुः । “उगिदचाम्” [५।४।४६] इति नुम् । हल्ङथादिखे । स्कान्तखे । “क्वित्यस्य कुः” [५।३।७५] इति नकारस्य डकारः । विष्वद्रथङ् । यद्रथङ् । तद्रथङ् । कद्रथङ् । विष्वग्देवयोश्चेति किम् ? वृक्षमञ्चतीति वृक्षाङ् । अञ्चाविति किम् ? विष्वग्युक् । देवयुक् । काविति किम् ? विष्वगञ्चनम् । देवाञ्चनम् । ननु कावेवाञ्चतिः केवलो धुर्भवति तर्किं किग्रहणेन । इदं किग्रहणं ज्ञापकम्—“अन्यत्र धुग्रहणे ध्वादेः समुदायस्य ग्रहणम्” [प०] इति । तेन कृकम्पादिसूत्रे अयस्कृतमयस्कार इत्यादौ मत्वं सिद्धम् । अन्यथेहैव स्यात् । अयस्कृदिति ।

समः समि ॥४१३१६९॥ समः समीत्ययमादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । सम्यङ् । सम्यञ्चौ सम्यञ्चः । इका मिद्धे ममिगिति वचनम् “अनित्यमागमशासनम्” [प०] इति ज्ञापयति । तेनं वान्त इत्यादि सिद्धम् ।

तिरसस्तिर्यथे ॥४१३२००॥ तिमस्तिरित्ययमादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतो यत्राञ्चतेरकारस्य खं न भवति । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिर्यग्भ्याम् । तिर्यग्भिः । अत्र इति किम् ? तिरश्चः । तिरश्चा । अत्र इत्यकारस्य खम् । न विद्यते अञ्चतेर्विशेषविहितमकारस्य खं यस्मिन् । हलुडो नखं तु मर्धसाधारणं न तस्येह पर्युदासः । न त्वस्य ग्वमिति तस्मिन् तिरिभावः “तिरश्च्यपवर्गे” [२।४।४५] इति निर्देशात् । ननु च “तिदाकारकाणां कृद्धिः सविधिः” [प०] इति कृदन्ते नैवाञ्चनिना वृत्तौ कृतायां सुवन्तत्वाभावात्कथमञ्चतेर्धुमंज्ञा । नैप दोषः । अभ्रविलिमीत्येवमादौ विषये तिवाङ्कारकाणामिन्यस्य व्यापारो न मर्धत्र ।

सहस्य सध्विः ॥४१३२०१॥ सहस्य सध्विरादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । सध्व्यङ् । सध्व्यञ्चौ । सध्व्यञ्चः । सध्वीचः । सध्वीचा । “अचः” [४।४।१२५] इत्यखम् । “चौ” इति दीत्वम् ।

द्वयनगोरीदपः ॥४१३२०२॥ द्विशब्दादनवर्णान्ताच्च गोः परस्य अपशब्दस्य ईकारादेशो भवति । द्विगता आपो यस्मिन्निति द्वीपः । प्राक् “परस्यादेः” ईकारः पश्चात् “ऋक्पूरब्धुः” इत्यः सान्तः । “अन्तःशब्दस्य अ(सा)ङ्घित्तिधिणत्वेपु गिसंज्ञोक्ता” [वा०] अन्तर्गता आपोऽस्मिन्नन्तरीपः । समीपम् । वीपम् । इह क्रियायोगाभावाद्गमिंज्ञोपलक्षितानां प्राचीनां ग्रहणम् । अनगोरिति किम् ? प्रापम् । परापम् । समापम् ।

देशेऽनोरुः ॥४१३२०३॥ देशाभिधानेऽनोः परस्यापः उकारादेशो भवति । अनुगता आपोऽस्मिन्नित्यनूपो देशः । देश इति किम् ? अन्वीपं वनम् । कथं कृपः सूपः अनूप इति ? पृषोदरादिपाठात् ।

लुकारकेऽन्यस्य दुक् ॥४१३२०४॥ ल्हे कारके च परतोऽन्यस्य दुगागमो भवति । अन्यस्येदम् अन्यस्मिन् भवं वा अन्यदीयम् । गहादिपाठाच्छुः । अन्यस्य कारकम् अन्यत्कारकम् । अन्यः कारकः अन्यत्कारकः ।

अताभास्थस्याशीराशास्थ्यास्थितोत्सुकोतिरागे ॥४१३२०५॥ अतास्थस्याभास्थस्य चान्यस्य दुगागमो भवति आशिष् आशा आस्था आस्थित उत्सुक उति राग इत्येतेषु परतः । अन्या आशीः अन्यदाशीः अन्या आशा अन्यदाशा । अन्या आस्था अन्यदास्था । अन्य आस्थितः अन्यदास्थितः । अन्य उत्सुकः अन्यदुत्सुकः । अन्या उतिः अन्यदूतिः । अन्यो रागः अन्यद्रागः । “विशेषणं विशेष्येणेति” [१।३।५२] यतः । अताभास्थस्येति किम् ? अन्यस्याशा अन्याशा । अन्येनास्थितः अन्यास्थितः ।

वाऽर्थे द्यौ ॥४१३२०६॥ अन्यस्य वा दुग् भवति । अन्योऽर्थः, अन्यस्मै अर्थः अन्यदर्थः । अताभास्थस्येत्येव । अन्यस्यार्थोऽन्यार्थः । अन्येनार्थोऽन्यार्थः ।

कत्कोः षेऽच्चि ॥४१३२०७॥ कोः कृद्भवति पसंज्ञके सेऽजादौ द्यौ । कुत्सितोऽजः । “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति पसः । कदजः । कदधः । कदन्नम् । प इति किम् ? क्विभो राजा । अचीति किम् ? कुब्राह्मणः । कुवृषलः । कत्कोरिति योगविभागात्त्रिशब्देऽपि भविष्यति । कुत्सितास्त्रयः कत्त्रयः । “किमो वा त्रौ-कत्त्रयः” [वा०] के त्रयः कत्त्रयः ।

रथवदयोः ॥४१३२०८॥ रथ वद इत्येतयोः परतः कोः कद् भवति पसे । कुत्सितो रथः कद्रथः । कुत्सितो वदः कद्रदः ।

तृणे जातौ ॥४१३२०९॥ तृणे षो कोः कद्भवति समुदायेन जातावभिधेयाम् । कत्तृणा नाम जातिः । तस्या अवयवः कत्तृणम् । जाताविति किम् ? कुत्सितानि तृणानि कुत्तृणानि ।

का पथ्यक्तयोः ॥४१३२१०॥ कोः का इत्ययमादेशो भवति पथिन् अत्त इत्येतयोः परतः । कुत्सितः पन्थाः कापथः । कुत्सितमत्तं कात्तम् । अत्तशब्दस्य अकारान्तस्य कृतान्तस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । पस इति निवृत्तम् । कुत्सितेऽस्तिणी अस्य कात्तः । “स्वाङ्गाद्दोऽस्तिस्वध्नः” [४१२।११३] इति टः सान्तः । पथ-शब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । तस्य कुपथमिति पे भवति ।

ईपदर्थे ॥४१३२११॥ ईपदर्थे कोः का भवति । ईपत्कटुकं काकटुकम् । कामधुरम् । कालवणम् । “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति सः । “कक्कोः पेऽचि” [४।३।२०७] इति तत्रोपलक्षणमात्रम् । अजादावपि परत्वात्कादेश एव । काभ्लाम् ।

पुरुषे वा ॥४१३२१२॥ पुरुषशब्दे षो कोः का इत्ययमादेशो भवति वा । कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः । कुपुरुषः । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् । ईपदर्थे पूर्वनिर्णयेन नित्यं कादेशः ।

कवमुष्णे ॥४१३२१३॥ कोः स्थाने कवरूपं भवति उष्णे परतः का च वा । कवशब्दो नपुंसक-लिङ्गो निर्दिष्टः । कवोष्णम् । कोष्णम् । आभ्यां मुक्ते “कक्कोः पेऽचि” [४।३।२०७] इति कद्भावे कदुष्णम् । अनीपदर्थं कदुष्णमेव ।

पृपोदरादीनि यथोपदिष्टम् ॥४।३।२१४॥ पृपोदरप्रकाराणि शब्दरूपाणि यथोपदिष्टं साधुनि भवन्ति । यथा तेषु वर्णनाशागमवर्णाकाराः विशिष्टैः प्रयुक्ता दृश्यन्ते तथैव तेषां साधुत्वमित्यर्थः । उप-दिष्टानतिक्रमेण यथोपदिष्टम् । ये ये उपदिष्टाः इति वीष्मायां वा हमः । पृपदुदरमस्य पृपोदरः । पृपोदरा कन्या । पृपत उद्गानं पृपोद्गानम् । तकारस्य खं निपात्यम् । अश्वत्थः । कपित्थः । महित्थः । दधित्थः । अश्व इव तिष्ठति कपिरिव तिष्ठति मह्यां तिष्ठति दधीव तिष्ठति । “सुपि” [२।२।७] इति स्थः फः । सकारस्य तत्वं निपात्यम् । महीशब्दस्य “त्वे ङापोः क्वचित्त्वौ च” [४।३।१७३] इति प्रादेशः । वारिवाहको वलाहकः । वारि-शब्दस्य वराहः परस्य चादेर्जत्वं निपात्यम् । जीवनस्य मूतं जीमूतम् । वनशब्दस्य खम् । मह्यां रौतीति मयूरः । रौतेरचि टिवं महीशब्दस्य च मयूभावः । शवस्य शयनं शमशानम् । शवशब्दस्य शमादेशः शयनस्य च शानम् । ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति वृमी । ब्रुवच्छब्दस्य वृभावः सदर्लडन्तस्य च सीभावः । “षष उत्वं दत्तदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च” “धाशब्दे तु वा षष उत्वम्” । पङ् दन्ता अस्य पोडन् । “वयसि दन्तस्य दत्” इति दत्तादेशः । षट् च दश चेति षोडश । षड्भिः प्रकारैः षोडा । पङ्द्यावा । इह पङ् दधातीति स्त्री । आतः के कृते टापि च पङ्धा । लाक्षणिकत्वाद्ब्रुत्वाभावः “दिकृद्बुद्धेभ्यस्तीरस्य तारभावः” । दक्षिणस्य तीरम्, दक्षिणतारम् । उत्तरतारम् । “वाचो वादे ङत्वं वल्लभावश्चोत्तरपदस्येति निपात्पते” । वाग्वादेश्यापत्यं वाङ्बलिः । एवमन्येऽप्यूहाः शब्दाः । पिशिताशः । पिशाचः । मुहुः स्वनं लातीति मुसलः । ऊर्ध्वकर्णं उलकः । मेहनस्य खस्य माला मेलला । कौ जीर्यति कुञ्जरः । ऊर्ध्वं खमस्य उलूखलः ।

“वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णाधिकारनाशौ ।

धूनां तदर्थोऽतिशयेन योगास्तद्बुध्यते, वर्णविधौ निरुक्तम् ॥”

संख्याविस्वायादेरहनस्याहन्वा डौ ॥४।३।२१५॥ संख्या वि साय इत्येवमादेरहनशब्दस्य अङ्गित्ययमादेशो वा भवति डौ परतः । द्वयोरहनोर्भवो द्वयहनः । “ह्वर्थ” [१।३।४६] इति षसः । “संख्यादी रश्च” [१।३।४७] इति रसंज्ञा । सान्तष्टः । “पृभ्योऽङ्गोऽङ्गः” [४।२।१६०] इत्यत्र भ्रिसंख्यादेरित्यनुवर्तनादह्वादेशः ।

भवार्थे आगतस्य कालाद् टजः “रस्योवनपत्ये” [३११७४] इत्युपि डौ कृते “वा ङिशयोः [४१४१२४] इति वाऽनोऽखम् । द्वयह्नि । द्वयहनि । द्वयह्ने । यावत्सु अहस्सु भवो यावदहः । “वतोर्वेट्” [३१४२०] इत्यत्र वत्तन्तस्य संख्यासंज्ञोक्ता । डौ यावदहि । यावदहनि । यावदह्ने । विगतमहर्व्यहः । “तिकुप्रादयः” [११३१८१] इति पसः । डौ व्यह्नि । व्यहनि । व्यह्ने । सायमहः । सायाहः । विशेषणसविधिः । सायंशब्दस्य भिन्नञ्जकस्यात् एत्र निपातानामकारस्य खम् । अकारान्तस्य सम्भवेऽह्नादेशो निपात्यः । सायाहि । सायाहनि । सायाह्ने । संख्या-विसायादेरिति किम् ? पूर्वाह्ने गतः । पूर्वमहः पूर्वाहः । विशेषणसविधिः । “अतोऽहः” [५१४१६१] इति णत्तम् ।

दूखे पूर्वस्याणो दीः ॥४१३२१६॥ टकाररेफयोः खं यस्मिन् वर्णे स दूखस्तस्मिन् पूर्वस्याणो दीर्भवति । प्रसेऽप्यदोपः । खस्याभावरूपत्वेऽपि पौर्वापर्यं बुद्धिकृतम् । यथा वर्णयोर्यौगपद्येऽपि अचीको यणि-त्येवमादौ । लीटमुपगूढं मूढेन । अग्नी रथम् । वायू रथम् । पुना रक्तं वासः । दूख इतीन्निर्देशात् पूर्वस्येति लब्धे पूर्वग्रहणं किम् ? पूर्वमात्रस्य यथा द्यावेव स्यात् । अन्यथा द्यावेव स्यात् । नीरक्तम् । दूरक्तम् । इह न स्याद् अजर्घाः इति । जर्घधः लडः सिप् एप् । भष्भावः । धकारस्य जश्त्वम् । “सिपि रिवा” [५१३१८१] “दः” [५१३१८२] इति रिः । अण इति किम् ? वृहू वृढः । वृहू वृढः ।

सहिघहोऽस्यौः ॥४१३२१७॥ सहिवहोरवर्णस्य ओकारादेशो भवति दूखे । सोदा । सोढुम् । सोढव्यम् । वोदा । वोढुम् । वोढव्यम् । अस्येत्यणग्रहणादैपि कृतेऽपि भवति । उदवोढाम् । उदवोढम् । उदवोढ । उत्पूर्वाद्बहेर्लुङ् । तसस्ताम् । थसस्तम् । थस्य तः । “ऋजो ऋजि” [५१३१४४] इति सेः खम् । दत्वादेरसिद्धत्वाद् “वज्रवद्” [५११७६] इत्यादिना प्रागैप् । अस्येति किम् ? ऊढवान् ।

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चभिन्नछिन्नछिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य ॥४१३२१८॥ कर्णे यौ लक्षण-वाचिनो दीर्भवति विष्टादीन् वर्जयित्वा । दात्रमिव दात्राकर्णः । शंकूकर्णः । द्विगुणाकर्णः । द्वयडुलाकर्णः । द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्वयडुलम् । “नेऽङ्गुलेर्किसंख्यादेः” [४१२१८८] इति सान्तः । लक्षणस्येति किम् ? शोभनकर्णः । शोभनत्वं तत्त्वाख्यानं न तु लक्षणम् । अतएव तत्त्वाख्यानानिहापि न भवति । लभ्यकर्णः । अविद्धकर्णः । अथवा लक्षणशब्देन चिह्नविशेषोऽभिप्रेतः स्वामिविशेषसंबन्धज्ञापनार्थम् । पशूनां दात्राकारादि चिह्नं लक्षणम् । तदभावात्तन्भ्रकर्णादिषु न भवति । अविष्टादेरिति किम् ? विष्टकर्णः । अष्टकर्णः । पञ्चकर्णः । भिन्नकर्णः । छिन्नकर्णः । छिद्रकर्णः । स्रुवकर्णः । स्वस्तिककर्णः ।

नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु कौ ॥४१३२१९॥ नहि वृति वृषि व्यधि रुचि सहि तनि इत्येतेषु क्तिबन्तेषु परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति । नहि-उपानत् । परीणत् । वृत्-नीवृत् । उपावृत् । वृषि-प्रावृत् । व्यधि-मर्मवित् । हृदयावित् । श्वावित् । रुचि-अतीरक् । अमीरक् । कथं मलरक् । श्वेतरक् ? सम्पर्दादिक्रिपि न भवतीत्यदोपः । अथवा तिकारकरीत्वमिष्यते । सहि-जलासट् । तुरासट् । तनि-परीतत् । “गमः कौ” [४१४११] इत्यत्र “गमादीनां रुचिमिष्यते” [वा०] । क्त्वाविति किम् ? उपनहनम् ।

गिरिवने किंशुलुककोटराद्योः खौ ॥४१३२२०॥ गिरि वन इत्येतयोः परतो यथासंख्यं किंशुलुका-दीनां कोटरादीनां च दीर्भवति खौ । गिरौ-किंशुलुकागिरिः । अञ्जनागिरिः । नलागिरिः । वने-कोटरावणम् । मिश्रकावणम् । सिध्रकावणम् । किंशुलुककोटराद्योरिति किम् ? कृष्णगिरिः । भद्रसालवनम् । नन्दनवनम् ।

बले ॥४१३२२१॥ बले त्ये परतः पूर्वस्य दीर्भवति । आसुतीबलम् । दन्ताबलः । मत्वर्थे “रजःकृष्या-सुतिपरिवदो बलः” [४११३८] “दन्तशिखात् खौ” [४११३६] इति च बलः ।

मतौ ऋच्छरादेरिति **जिरादेः** ॥४३१२२२॥ मतौ परतः बह्वचः शरादीनां च दीर्भवति अजिरादीन् वज्रयित्वा खौ । उदुम्बरावती । मशकावती । वीरणावती । पुष्करावती । उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्ति “तदस्मिन्न-स्तीति देशः खौ” [३१२।५७] इत्यणि प्राप्ते “नद्यां मनुः” [३१२।६५] इति मनुः । शरादीनां शरावती । वंशावती । [शर] वंश । धूम । अहि । कपि । मणि । मुनि । शुचि । इति शरादिः । बह्वच्छरादेरिति किम् ? इच्छुवती । मधुवती । “खौ” [५३।३२] इति मतोर्वत्वम् । अनजिरादेरिति किम् ? अजिरवती । खदिरवती । अलिनधती । चक्रवाकवती । कारण्डवती । खाविति किम् ? वलयवती ।

इको वहेऽपीलोः ॥४३१२२३॥ इगन्तस्य पीलुवर्जितस्य वहे घौ दीर्भवति । खाविति वर्तते । ऋपीवहम् । मुनीवहम् । पचाद्यजन्तेन वहशब्देन तासः । इक इति किम् ? पिएडवहम् । अपीलोरिति किम् ? पीलुवहम् । “अपील्लादेरिति वक्तव्यम्” [वा०] । दाखवहम् ।

गेः कासे ॥४३१२२४॥ इक इति वर्तते । इगन्तस्य गेः कासे घौ दीर्भवति । नीकासम् । वीकासम् । अनूकासम् । पचाद्यजन्तस्य कासस्येदं ग्रहणम् । इक इत्येव । प्रकाशते इति प्रकाशः ।

दस्ति ॥४३१२२५॥ दा इत्येतस्य यस्तकार आदेशस्तदादौ परत इगन्तस्य गेर्दीर्भवति । नीत्तम् । वीत्तम् । परीत्तम् । “गेस्तोऽचः” [५२।१४६] इत्याकारस्य तकारः । दकारचर्त्वंस्यात् एव दीत्ववचनान्ति-द्वत्वम् । “गेस्तोऽचः” इत्यत्र द्वितकारको वा निर्देशः इति सर्वादेशः । द इति किम् ? वितोरिणम् । तीति किम् ? निदत्तमिति वेध्यते । इक इत्येव । प्रत्तम् । आत्तम् ।

घञ्यमनुष्ये प्रायः ॥४३१२२६॥ इक इति निवृत्तम् । घञन्ते घौ गेः प्रायो दीर्भवति अमनुष्येऽभि-धेये । अपामार्गः । नीमार्गः । नीकलेदः । प्रावारः । “आच्छादने वृञः” [२।३।५०] इति घञ् । नोवारः । “नौ बुधान्ये” [२।३।४४] इति घञ् । प्राकारः कर्मणि । अधिकरणे प्रासादः । अमनुष्य इति किम् ? निपीडत्यस्मि-न्निति निपादः । “हलः” [२।३।१०२] इत्यधिकरणे घञ् । “सदोऽप्रतेः” [५।४।४७] इति पत्वम् । प्राय इति किम् ? प्रसदनं प्रसादः । निवेशः । प्रकासः । प्रकरणं प्रकाशः । वेशादिपृथग्यम् । प्रतिवेशः । प्रतीवेशः । प्रतिबोधः । प्रतीबोधः । गेरित्येव । चन्दनसारः ।

खावष्टनः ॥४३१२२७॥ खुविपयेऽष्टन्नित्येतस्य दीर्भवति घौ । अष्टापदः । अष्टावक्रः । अष्टाबन्धनः । अष्टावितपः । खाविति किम् ? अष्टमहाप्रातिहार्यो जिनः । अष्टगुणः सिद्धः । “अष्टनः कपाले हविषि वक्तव्यम्” [वा०] । अष्टसु कपालेषु संस्कृतमष्टकपालं हविः । संस्कृतार्थे आगतस्याणः “रस्यो-बनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । “गवे च युक्ते” [वा०] । अष्टाभिर्गोभिर्युक्तम् अष्टागवं शकटम् । युक्त-शब्दस्याप्रयोगः । यथा भीमसेनशब्दे सेनशब्दस्य ।

चित्तेः कपि ॥४३१२२८॥ चित्तेर्दीर्भवति कपि परतः । एका चित्तिरस्य एकचित्तीकः । द्विचित्तीकः । त्रिचित्तीकः ।

विश्वस्य वसुराटोः ॥४३१२२९॥ विश्वस्य दीर्भवति वसु राडित्येतयोः परतः । विश्वतो वस्वस्य विश्वावसुः । विश्वस्मिन् राजत इति विश्वाराट् । “सस्त्वद्विष” [२।२।५६] आदिसूत्रेण क्विप् । राडिति विकृत-निर्देशो यत्रास्यैतद्रूपं तत्र यथा स्यादिह मा भूत् । विश्वराजौ । विश्वराजः ।

नरे खौ ॥४३१२३०॥ नरे घौ विश्वस्य दीर्भवति खुविपये विश्वा नरो यस्य विश्वानरः । वसेन यसेन वा ध्युत्पत्तिः । खाविति किम् ? विश्वे नरा अस्य विश्वनरो राजा ।

ऋषौ मित्रे ॥४३१२३१॥ ऋषावभिधेये मित्रे घौ विश्वस्य दीर्भवति । विश्वामित्रो नाम ऋषिः । ऋषाविति किम् ? विश्वामित्रः सुजनः ।

अन्यस्यापि ॥४३२३२॥ अन्यस्यापिशब्दस्य द्वावप्यद्वावपि दीर्भवति । कस्यान्यस्य ? यस्य शिष्टै-
दीर्त्वं प्रयुक्तम् । “शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्भवति” । श्वादन्तः । श्वादंष्ट्रः । श्वाकर्णः ।
श्वाकुन्दः । श्वावराहः । श्वापुच्छः । श्वापदम् । श्वावराहमिति द्वन्द्वोऽन्यत्र पसो वसो वा । एकश्च दश
चैकादश । केशाकेशि । केशेषु केशेषु च गृहीत्वेदं युद्धं वृत्तम् । “तत्रेदमिति सरूपे” [१३।८६] इति वसः ।
“अ इच्” [४।२।१२८] इति इत्स्यान्तः । तिष्ठद्गवादिषु इजन्तस्य हसंज्ञा । अद्यावपि पूरूपः । सादनम् ।
नारकः । न भक्त्यपि पुरुषः । सदनम् । नरक इति ।

चि ॥४३२३३॥ अण इति इक इति च निवृत्तम् । च् इति अञ्जतिर्नष्टनकागकारो गृह्यते ।
तस्मिन् परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति । प्राचः पश्य । प्राचा । प्राचे । दधीचः पश्य । दधीचा । दधीचे । मधूचः
पश्य । मधूचा । मधूचे । कर्तृचा । कर्तृचे । “अचश्च” [१।१।१२] इत्यचः स्थाने दीर्त्वम् । दधीच इत्यत्र
यणादेशमन्तरङ्गमपि बाधित्वा “अचः” [४।४।१२५] इत्यकारस्य खं भक्त्यस्मादेव वचनात् ।

जेः ॥४३२३४॥ जेर्दीर्भवति द्यौः । कारीरगन्धीपुत्रः । कारीरगन्धीपतिः । कौमुदगन्धीपुत्रः ।
कौमुदगन्धीपतिः । करीपस्येव गन्धो यस्य करीरगन्धिः । तस्यापत्यं स्त्री । आगतस्थानः “प्योऽश्रु रूपान्यथोः”
[३।१।६३] इति प्यादेशः । टप् । “वे प्यस्य पुत्रपत्योर्जिः” [४।३।६] इति जिः । जौ कृते अत्राकृते एव
जेर्दीर्त्वे ग्रामणि कुलमित्यत्र सावकाशः “इकः प्रोऽङ्घ्याः” [४।३।१७२] इत्ययं प्रादेशः प्रातः । प्रादेशाभाव-
पत्ने सावकाशमिदं च दीर्त्वं प्राप्तम् । परत्वादीर्त्वं भवति । सकृद्गतन्यायेन पुनः प्रसङ्गात् प्रादेशः ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

[गोः ॥४।४।१॥ हलः ॥४।४।२॥ नाम्यतिसृचतसृ ॥४।४।३॥ जुवा ॥४।४।४॥ नोङः ॥४।४।५॥
धेऽर्को ॥४।४।६॥ सन्तस्फमःतोः ॥४।४।७॥ स्वस्तनमृनेपृत्वष्टत्तृहोत्पोत्प्रशास्तृत्रपाम्
॥४।४।८॥ इन्हन्पूर्वार्यम्णाम् ॥४।४।९॥]

शौ ॥४।४।१०॥ शौ परत इन् हन् पूषन् अर्यमन् इत्येवमन्तानां दीर्भवति । बहुदण्डिनि । बहुस्रग्वीणि ।
बहुपूषाणि । बहुर्यमाणि । द्वितीयोऽयं नियमः । शावेवेनादीनां दीर्भवति नान्यत्र । दण्डिनौ । दण्डिनः ।
वृत्रहणौ । पूषणौ । अर्यमणौ । तदन्तस्यापि न भवति । परमदण्डिनौ । बहुदण्डिनौ । बहुदण्डिनः ।

सौ ॥४।४।११॥ सौ परत इनादीनामुञ्जे दीर्भवति । दम्भी । वाग्मी । तपस्वी । वृत्रहा । पूषा । अर्यमा ।
पूर्वेण नियमेनाप्राप्तविध्वर्थमिदम् । अकावित्येव । हे दण्डिन् । हे पूषन् । हे अर्यमन् ।

अत्वसोऽधोः ॥४।४।१२॥ साविति वर्तते । अत्वन्तस्य असन्तस्य च किवर्जिते सौ परतः उङः
दीर्भवत्यधोः । गोमान् । धनवान् । भुक्तवान् । तत्परिमाणमस्य तावान् । अतोरर्थवतोऽनर्थकस्य च ग्रहणम् ।
अन्यथा भवद्ग्रहणं कुर्यात् । असा साहचर्याद्वा । अतो ऋडो दीर्त्ववचनसामर्थ्यादीत्वे कृते नुम् । अस्-
सुपयाः । सुलोताः । पिबैरि चेति सुवस्तुडिति स्रोस्तुट् । अधोरिति किम् ? इषुमस्यति इष्वः । दृषदमस्यति दृषदः ।
यद्येवमधोरिति किमर्थम् ? अतस् इत्येवं वक्तव्यम् ? न । अन्येषां प्रतिषेधार्थम् । पिएडप्रः । चर्मणः । ज्ञापनार्थं

१. प्रतिषु [] कोष्कान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुदिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्यात्र
निर्दिष्टानि ।

चास्तीदम् । “अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च” [प०] इति । अधोरित्यानन्तर्यादसन्तस्यैव प्रतिषेधः । तेनात्र दीत्वम् । गोमन्तमिच्छति गोमत्यतेः क्विप् । गोमान् । अकावित्येव । हे गुणवन् । हे सुपयः ।

डस्य किभ्रलोः ङिति ॥४१४१३॥ डन्तस्य गोरुडो दीर्भवति कौ भ्रलादौ च ङिति परतः । प्रशान् । प्रतान् । प्रशान्भ्याम् । भ्रलि किम् ? शान्तः । तान्तः । ङ्ङितीति किम् ? शंशान्तः । तंतान्तः । यडु-पीदम् । डस्येति किम् ? ओदनपक् । पक्तिः । किभ्रलोरिति किम् ? गम्पते । ङ्ङितीति किम् ? यन्ता । यन्तुः ।

हनिङ्गम्यचां सनि ॥४१४१४॥ हन्तेरिङ्गमेरजन्तानां च दीर्भवति सनि भ्रलादौ परतः । जिघांसति । इङ्गमि-अधिजिगांसते । इङ् इति विशेषणं किम् ? संजिगंसते वत्सो मात्रा । अजन्तानां चिचीपति । मुस्रूपति । चिचीपति । उड इति निवृत्तम् । अचश्चेति हनिङ्गम्योऽन्तश्च तस्य स्थाने दीत्वे कृते द्वित्वम् । गोरित्येव । दधि सनोति ।

तनोतेर्वा ॥४१४१५॥ तनोतेः सनि भ्रलादौ वा दीर्भवति । तितांसति । तितंसति । भ्रलीत्येव । तित-निपति । “सनीवन्तर्ध” [५११६७] आदिसूत्रे तनिपतिद्विराद्वा इड्विकल्पः ।

क्रमः क्त्वि ॥४१४१६॥ वेति वर्तते । क्रमो वा दीर्भवति भ्रलादौ क्त्वान्ये परतः । क्रान्त्वा । क्रन्वा । अचश्चेत्यस्य गृह्यमाणेन विशेषणादचः स्थाने दीत्वम् । “डस्य” [४१४१३] इत्यादिना नित्यं प्राप्ते विकल्पः । भ्रलीत्येव । क्रामित्वाऽक्रम्येत्यत्र “प्यादेशोऽन्तरङ्गस्यापि विधेर्बाधकः” [वा०] इति पूर्वे दीत्वस्याप्रवृत्तिः । अनल्वि-धाविति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्पश्चादपि भ्रलादित्वं नास्ति ।

ह्रोः शूड्डेच ॥४१४१७॥ वेति निवृत्तम् । छकारवकारयोः स्थाने शू ऊट् इत्येतावादेशौ भवतो ड-संज्ञके परतः कौ ह्रलादौ च ङिति । प्रश्नः । विश्नः । “वाणाद् गावं बलीयः” [प०] इति छे तुकः परत्वान्नित्यत्वा-द्वा शादेशः । अपि च विच्छेदरेप्रतिषेधार्थं नडो डित्करणं ज्ञापकं प्रागेव तुकश्छस्य पशावाटशाविति । “प्रदने चान्तर्युगे” [२।२।६७] इति निपातनाजिर्न भवति वकारस्य । स्यो नः । सिवेरौणादिको नः । घेरुड एपः पूर्वमूडा-देशः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [प०] इत्यनित्यमेतत् । तेन यणादेशः । ऊट् एप् । सिवेरौणादिके मफि स्यूमः । छस्य कौ वर्मप्राट् । गोविट् । वकारस्य कौ हिरण्यद्युः । अक्षद्युः । अन्तद्युवौ । अक्षद्युवः । छस्य भ्रलादौ पृष्टः । पृष्टवान् । पृष्टा । पृष्टिः । वकारस्य द्यूतः । द्यूतवान् । ङ्ङितीत्येव द्युभ्याम् । द्युभिः । अत्र दिवित्यव्युत्पन्नं गृह्यते । ननु ङ्ङितिग्रहणं नानुवर्त्य “दिव उत्” [४।३।१०८] इति ऊठ उदादेशे कृते सिद्धम् । एवं च “ब्रश्च” [५।३।५३] आदिसूत्रे छकारग्रहणं न कर्तव्यं स्यात् । न चावश्यमुत्तरार्थं ङ्ङिद्ग्रहणमनुवर्त्यम् । प्रपञ्चार्थस्तिहं ब्रश्चादौ छकारः । ब्रश्चादिसूत्रेण यत्र पत्वं नास्ति तत्र श्रवणार्थः शकारः । प्रश्नः । वाङ्छेः क्विपि वान् । वांशौ । वांशः । गोविशौ । गोविशः । गोविशा । शकारसाहचर्यादूरप्यादेशः ङिद्वा ।

ज्वरज्वरस्त्रिव्यविमवां वोडोः ॥४१४१८॥ ज्वर त्वर स्त्रिवि अवि मव इत्येतेषां धूनां वकारोडोः स्थाने ऊडित्ययमादेशो भवति डे कौ भ्रलादौ च परतः । जूः । जुरौ । जुरः । जूर्तिः । त्वरः-तूः । तुरौ । तुरः । तूर्तिः । तेन “न वा ह्यमत्वर्” [५।१।१२८] इत्यादिना अनिट्पक्षे तूर्णः । तूर्णं वान् । अण्डं स्त्रीव्यतीति अण्डस्त्रुः । अण्डस्त्रुवौ । अण्डस्त्रुवः । स्त्रुत्वा । स्त्रुतः । स्त्रुतवान् । अवि-ऊः । उवौ । उवः । ऊतिः । मनि वर्तमाने अवेष्टिखं चेति मनष्टिखे डे परत ऊट् च । ओम् । मव-भूः । मुवौ । मुवः । मूतिः । ङ्ङितीति निवृत्तम् । तेन ओतुः । “सितनिगमिमव्यविधाङ्कुसिभ्यस्तुः” [उ० सू०] इति तुः । ज्वरादीनामुडः वकारस्यानन्त्यस्य च ग्रहणम् ।

रः खम् ॥४१४१९॥ रेफात्परयोः ह्रोः खं भवति कौ भ्रलादौ च परतः । हूर्छा-हूः । हुरौ । हुरः । हूर्तिः । हूर्णवान् । मूर्छा-मूः । मुरौ । मुरः । मूर्तिः । “अष्टमूर्द्धिमदाव” [५।३।५६] इति नत्वप्रतिषेधात् मूर्तः । मूर्तवान् । तुर्वी । तूः । तुरौ । तुरः । तूर्णः । तूर्णवान् । तूर्तिः । धुर्वः । धूः । धुरौ । धुरः । धूर्णः । धूर्तिः ।

शूडोरयमपवादः । झिनीति निवृत्तम् । यद्यपि जोहोति । मोमोति । “न खुत्वेजो” [११११८] इति गविपय एप्प्र-
तिषेधो न भवति ।

इटीटः ॥४१४२०॥ इटि परत इट उत्तरस्य खं भवति । इड्डीटोर्मध्ये सामर्थ्यात्सेः खम् । । अदेवीत् ।
अकोषीत् । अग्रहीदित्यत्र “ग्रहोऽलिटि दीः” [५११८५] इति दीव्ये कृते इटः स्थानिवद्भावात्सेः खम् ।

असिद्धवद्भावात् ॥४१४२१॥ असिद्धवच्छास्त्रं भवति आ भर्मशब्दनात् । अत्र शास्त्रे कर्तव्य
इत्यधिकारो वेदितव्यः । आडभिविधौ द्रष्टव्यः । एधि इत्यत्र नित्यत्वादम् एत्वत्प्रभावयोः कृतयोर्भक्तलक्षणं
धित्वमप्राप्तमसिद्धत्वाद्भवति । जहीत्यत्र जादेशो कृते “अतो हेः” [४१४१६] इत्युप् प्राप्नोति असिद्धत्वान्न भवति ।
गतमित्यत्र झिति भलि इव्ये कृते अतः खं प्राप्तमसिद्धत्वान्न भवति । एवं यथायोगमुत्तमं दक्षिणमाधेशः ।
आदेशलक्षणप्रतिषेधश्च वेदिदव्यः । वक्तरणं किम् ? स्वाश्रयमपि यथा स्यात् । टेभतुः । देभुः । दम्भेरुपम-
ख्यानेन लिटः कित्त्वे कृतेऽनु नखस्य सिद्धत्वात् “हल्मध्ये लिट्यतः” [४१४१०] इत्येव्यं भवति । तथा वुगागमं
उवादेशो सिद्धः । वभूव । वभूवतुः । वभूवुः । युडागमः “एगिवाक्चादुडोऽमुधियः” [४१४१७] इति यगादेशो
कर्तव्ये सिद्धः । उपदिदीये । उपदिदीयेते । उपदिदीयिरे । अद्यग्रहणं किम् ? अभाजि गगः । “उडोऽतः”
[५१२१४] इत्यैपि कर्तव्ये नकारस्य खं नामिदम् । आभादिति किम् ? गग्निश्च । गग्निश्च । हल्मध्ये लिट्यत
इति एत्वे कर्तव्ये नुमशास्त्रं नामिदम् ।

श्नान्नखम् ॥४१४२२॥ शनापरस्य नकारस्य खं भवति । व्यनक्ति । दिनम् । मशकारस्य ग्रहणं
किम् ? नन्दिता । नन्दकः । नैतदन्तिमण्डकालुत्या द्विदग्रहणानुवृत्तेः । झितो नात्परस्य खमिष्टम् । इह तर्हि मा भूत् ।
यज्ञानाम् । यन्नानाम् “नामि” [४१४३] इति दीव्यात्परत्वेन नखमिदं स्यात् । “सुपि” [५१२१७] इति तु दीव्यं
सन्निपातपरिभाषया वार्यते । स्थानिवद्भावाद्वा नखं प्राप्नोति । प्रश्नानाम्, विश्नानाम् इत्यत्र लाक्षणिकत्वान्न
भवति । शनादिति श्नमो नाटनकारस्य ग्रहणम् । न इति इमो नाशे अकारंणोच्चारणार्थं न निर्देशः ।

हलुडः झित्यनिद्रितः ॥४१४२३॥ हल उडो नकारस्य खं भवत्यनिद्रितो गोः झिति परतः । सन्तः ।
स्यने । ध्वन्तः । ध्वस्यते । सस्नाति । सनीवस्यते । भ्रश्नाति । वनीभ्रश्यते । हल इति जातिग्रहणमपि ।
मग्नः । मग्नवान् । हल इति किम् ? नीतम् । नेनीयते । उड इति किम् ? नद्धम् । नागव्यते । झिनीति किम् ?
संसित्वा । मृडादिनियमादकित्त्वम् । अनिद्रित इति किम् ? शङ्क्यते । मङ्क्यते । तपरकरणं किम् ? ममिद्धम् ।
हलुड इति योगविभागः । तेन “लङ्किरणयोः उपतापशरीरविकारयोर्नखम्” । विलगितः । विकपितः ।
विलङ्कितः । विकम्पितः इत्यन्यत्र ।

दंशसंजस्वञ्जां शपि ॥४१४२४॥ दंश सञ्ज स्वञ्ज इत्येतेषां शपि परत उडो नकारस्य खं
भवति । दशति । सजति । परिष्वजते ।

रञ्जेः ॥४१४२५॥ रञ्जश्च शपि परत उडो नकारस्य खं भवति । रजति । रजतः । रजन्ति । योग
विभाग उत्तरार्थः ।

रौ मृगरमणे ॥४१४२६॥ रञ्जेर्णो परतो मृगरमणेऽर्थं नकारस्य खं भवति । रजयति मृगान् व्याधः ।
मृगान् रममाणान् दर्शयतीत्यर्थः । “जर्नाज्जनसुरञ्जोऽमन्तारच” इति भित्वाडुडः प्रादेशः । मृगरमण इति
किम् ? रञ्जयति वज्रम् ।

घञि भावकरणे ॥४१४२७॥ भावकरणाभिधायिनि घञि परतो रञ्जेर्नकारस्य खं भवति ।
आश्चर्यो रागः । विचित्रो रागः । करणे रजति तेन रागः । भावकरणे इति किम् ? रज्यस्मिन्निति रङ्गः ।
करणेऽधिकरणे च “हलः” [२१३१०२] इति घञ् । घिनुणि कथं नखम् । रागी । “दुहानुख” [२१२११८]

आदि सूत्रे त्यजरजादि निपातनात्सिद्धम् । “दशनहः करणे ऋट्” इति सूत्रे दशेति विकरणनिर्देशेन निपातनम् । अजादिषु पाठाद् दंष्ट्रेति “रजकरजनरजत्सु नखे यन्नः कर्तव्यः” [वा०] “शिल्पिनि षुः” । युः । औणादिकश्च “अस् सर्वधुम्यः” इत्यम् ।

स्यदाचौदैधौअप्रश्रथहिमश्रथाः ॥४१४२८॥ स्यद्, अचोद, एध, ओद्यन्, प्रश्रथ, हिमश्रथ इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । स्यद् इति स्यन्देर्घञि नखमैत्रभावश्च निपात्यते जवेऽभिधेये । गोस्यदः । अश्वस्यदः । कृद्योगे तासः । जवादन्धत्र तैलस्यन्दो घृतस्यन्दः । अचोद इति उन्द्रेवपूर्वस्य घञि नखं निपात्यते । एध इन्धेर्घञि नखमेष् च निपात्यते । “न धुखेऽगे” [११११८] इति प्रतिषेधो मा भूत् । ओद्यन् इति उन्द्रेरौणादिके मनि नखम् । प्रश्रथः हिमश्रथ इति श्रन्थेः प्रपूर्वस्य हिमपूर्वस्य च घञि नखमैत्रभावश्च निपात्यते । “न धुखेऽगे” [११११८] इत्यत्र इकोऽनुवर्तनादेपः प्रतिषेधो न स्यात् ।

नाञ्जेः पूजे ॥४१४२९॥ अञ्जतेः पूजेऽर्थं नकारस्य खं न भवति । अञ्जिनोऽस्य गुरुः । समञ्ज्य जिनं गतः । “अञ्जेः पूजायाम्” [५१११०१] इति तक्त्वोरिट् । हलुङ् इति नखप्राप्तिः । पूज इति किम् ? उदक्तमुदकं कृपात् । अक्त्वा रज्जुम् । “वोदितः” [५१११०४] इत्यनेनेट्पक्षे मृडादिनियमादक्त्विम् । अञ्जित्वा । ते “यस्य” [५१११२१] इति प्रतिषेधः । नाञ्जेरित्यनेनैव प्रतिषेधेन नकारः कृतचुत्वो निर्दिष्टः ।

क्त्वि स्कन्दस्यन्दोः ॥४१४३०॥ क्त्वात्ये परतः स्कन्द स्यन्द इत्येतयोर्नकारस्य खं न भवति । स्कन्वा । स्यन्वा । त्यन्देः “स्वरति” [५१११६२] इत्यादिनाऽनित्पक्षे क्त्वात्प्रत्ययं प्राप्तम् । इट्पक्षे तु मृडादिनियमादेवाक्त्वि मति नखाभावः सिद्धः । क्वीति द्वितकारकनिर्देशः । तकागतौ क्त्वात्ये इति । तेन प्रस्कथ प्रस्यद्येभ्यश्च “अनखिर्धौ” [१११५६] इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधाच्चकारादित्वं नास्तीति खं भवत्येव ।

जनशोर्वा ॥४१४३१॥ ज इति वर्गग्रहणम् । जानस्य गोर्नशोश्च वा नखं भवति क्त्वात्ये परतः । रक्त्वा । रंक्त्वा । भक्त्वा । भंक्त्वा । नट्टा । नंट्टा । नशे “रधादेः” [५१११६३] इति विभाषितेऽनित्पक्षे “मस्जिनशोर्भलि” [५११२६] इति नुम् । “हलुङ्” [४१४२३] इति नित्ये नखे प्राप्ते विकल्पः । हल इति जातिग्रहणपक्षे मस्जेरपि नित्यं नखे प्राप्ते मंक्त्वा । अनखपक्षे द्वयोः स्फसंज्ञामाश्रित्य स्फादिसम्बन्धम् ।

भञ्जेः ॥४१४३२॥ भञ्जेः औ परतो वा नखं भवति । अभाजि । अभञ्जि पापं मुनिना । नखम-प्राप्तमनेन पक्षे विधीयते ।

शास इत् ॥४१४३३॥ गोःडः ङ्ङितीति वर्तते । शासेःड इदादेशो भवति ङ्ङिति परतः । किति-शिष्टा । शिष्टिः । शिष्टः । शिष्टवान् । शिष्ट्यः । “स्तुशासिण्वृद्धजुषः क्यप्” [२१११६९] इति क्यप् । ङिति-शिष्टः । शिष्ट्यः । “शास्वसवसाम्” [५१४४०] इति पत्वम् । अजादावङ्घ्ये वेति नियमो भविष्यति । मामर्थ्यादयं हलादौ ङ्ङिति विधिः । हलीति यदि क्रियेन “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [प०] इति क्वौ न स्यात् । मित्रं शास्तीति मित्रशीः । आर्यं शास्तीति आर्यशीरिति । शामु अनुशिष्टावित्यस्येह ग्रहणम् । अन्यस्य दीत्वस्य विधेरसम्भवात्तेन आडः शामु इच्छायामित्यस्येत्वं न भवति । आशास्यते । आशास्ते । “लिङ्गशिपि” [२१४१५] इति निर्देशादन्यस्यापि क्त्वावित्त्वम् ।

अङ्ङि ॥ ४१४३४॥ अङ्ङि परतः शास उङ् इद्भवति । अन्वशिपत् । अन्वशिपताम् । अन्वशिपन् । नियमार्थोऽयमारम्भः । अजादावङ्घ्येव ङ्ङिति नान्यस्मिन् । शशासुः । शासति । जज्ञादिन्वात्यमंज्ञा । “अथ्यात्” [५११४] इत्यदादेशः ।

शा हौ ॥४१४३५॥ शासः शा इत्ययमादेशो भवति हौ परतः । उङ्मपेक्ष्य पूर्वं शास इदित्यवयव-योगलक्षणा ता । सामर्थ्यात् स्थानलक्षणा संपद्यते । अनुशाधि । प्रशाधि । आहाविति यदि सूत्रं क्रियेत

अनेनान्यस्य सम्भवादाकारे कृते पूर्वेण उङ् इत्वे चानिष्टं रूपं स्यात् । ननुङ् आत्वे कृते “धि” [५।३।४३] इति सखे च सिद्धं शार्धाति उङ् इति तर्हि निवृत्तम् । अपि च प्रकृतिग्रहणे यद्ब्रुवन्तस्यापि सचस्य यथा स्यादित्येवमर्थः शादेशः ।

हन्तेर्जः ॥४।४।३६॥ हन्तेर्ज इत्ययमादेशो भवति द्वौ परतः । जहि मन्युम् । जहि पापम् । तिपा निर्देशाद् यद्ब्रुवन्तनिवृत्तिः । जंघहीति ।

अनुदात्तोपदेशवननितनोत्यादीनां ङ्खं भलि ङ्ङिति ॥४।४।३७॥ अनुदात्तोपदेशानां गूनां वनतेस्तनोत्यादीनां च ङ्स्य खं भवति झलादौ ङ्ङिति परतः । ङ्ङितीति निर्देशात्पूर्वस्याव्यवहितस्य खम् । यत्वा । यतिः । यतः । यतवान् । ङ्खे विहतनिमित्तत्वात् “ङ्स्य” [४।४।३३] इति दीव्यं न भवति । अनुदात्तोपदेशाः यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतयः पट् । वतिः । वनतेः स्त्रियां क्तौ । तनोत्यादीनां तत्वा । नतिः । ततः । ततवान् । मनोतेराख्यं वक्ष्यति । क्षतः । क्षतवान् । ङिति । दतः । हथः । अतत । अतथाः । “तनादिभ्यस्तथासोः” [१।४।१४८] इति सेरुप् । एतेषां ग्रहणं किम् ? शान्तः । तान्तः । ङ्स्येति किम् ? पक्ववान् । भलीत्येव । गम्यते । ङ्ङितीति किम् ? यन्ता । यन्तुम् । उपदेशग्रहणमुत्तरार्थम् । वनतेस्तिपा निर्देशाद्ब्रुवन्तस्य निवृत्तिः । वंवांतः ।

शपा तिपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणो न च ।

यच्चैकाग्रहणं किञ्चित्पञ्चैतानि न यद्ब्रु पि ॥

तनोतेर्गणनिर्देशादेव यद्ब्रुवन्तस्य न भवतीति सिद्धे तिपा निर्देशः “द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति” [५०] इति निर्देशान्तर्यस्तेन सकृदुक्त ऐप् क्वचिन्न भवति । ज्योतीष्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्यं तिपः । पुनः ङ्ङितीति ग्रहणं विस्पष्टार्थम् ।

प्ये ॥४।४।३८॥ प्ये च परतोऽनुदात्तोपदेशादीनां ङ्खं भवति । प्रहत्य । प्रमत्य । प्रवत्य । प्रतत्य । प्रसत्य । प्रक्षत्य । अभलादावपि विश्वर्थमिदम् ।

वा मः ॥४।४।३९॥ अनुदात्तोपदेशादिषु मकारान्तानां वा ङ्खं भवति प्ये परतः । प्रवत्य । प्रयम्य । प्ररत्य । प्रग्म्य । प्रणत्य । प्रणम्य । प्रगम्य । पूर्वेण नित्ये खे प्राप्ते विकल्पः ।

न क्तिचि दीश्च ॥४।४।४०॥ क्तिचि परतः अनुदात्तोपदेशादीनां ङ्खं दीश्च न भवति । यन्तिः । रन्तिः । नन्तिः । वन्तिः । तन्तिः । क्षन्तिः । अनुदात्तोपदेशादीनामित्येव । शान्तिः । दीत्वं भवत्येव ।

गमः क्वौ ॥ ४।४।४१॥ गमः क्वौ परतो ङ्स्य खं भवति । जनगत् । कलिगत् । मोक्षगतो मुनयः । “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [५०] इति भलाद्यभावादप्राप्तं ङखमनेन विधीयते । पूर्वसूत्राच्चकारोऽनुवर्तते, सोऽत्रानुक्तसमुच्चयार्थः । तेन गमादीनां क्वौ ङ्खं द्रष्टव्यम् । संयत् । परीतत् । “वागमिङ्” [१।३।८२] इति पमे कृते “नहिवृति” [४।३।२।१६] इत्यादिना परेर्दीत्वम् ।

वन्याः ॥४।४।४२॥ अनुदात्तोपदेशादि निवृत्तम् । ङ्स्येति वर्तते । ङन्तस्य गोर्धनि परत आत्वं भवति । विजायत इति विजावा । “मन्वन्कनिव्विचः क्विचि” [२।२।६३] इति वन् । “वशि” [५।१।११४] इतीट्प्रतिषेधः । अन्तेऽलः स्थाने आत्वम् । एवम् अग्रेगावा । दधिक्वावा । दीवोच्चारणं किमर्थम् ? ओण् अपनयन इत्यस्माद्द्विनि श्रवावा । घुण घूर्ण भ्रमणे । ध्वावा । इवि व्याप्तौ-यावा । “इदिद्धोर्नुम्” [५।१।३७] “वशि व्योः खम्” [४।३।५५] इति वनि परतो नकारस्य खम् । एतच्च वर्णनिमित्तं नागनिमित्तमिति न धखेऽवात् “घ्युङ्” [५।२।८३] इत्येप् प्राप्तस्तन्तरङ्गत्वाद्य एादेशो बाधते ।

जनसनखनाम् ॥४१४४३॥ जन सन खन इत्येतेषां डस्य भ्रूलादौ क्लिति परत आकारादेशो भवति । जातः । जातवान् । जातिः । सातः । सातवान् । सातिः । खातः । खातवान् । खातिः । सनोतेस्नादौ पाठस्य “तनादिभ्यस्तथासोः” [११४१४८] इत्यादिकार्यमवकाशः । इह पाठस्य च सनि परत आत्वमवकाशः । भ्रूलादौ क्लिति ङखादित्वं परत्वात् । ननुभयोः सिद्धत्वे स्पर्धः इह च “असिद्धवदत्राभात्” [४१४२१] इत्युभयमप्यमिद्धं तत्कथं परत्वम् । अत्रोच्यते “भुमास्थागा” [४१४६५] आदिसूत्रे हलीति हल्ग्रहणं ज्ञापकं भवत्यत्र स्पर्धः । तथाहि तस्यैतत्प्रयोजनं हलादावीत्वं यथा स्यात् । अजादौ मा भूत् । गोदः कम्बलदः इति । अस्त्वत्रापित्वं तस्यासिद्धत्वात् “इटि चात्” [४१४६३] खेन सेत्स्यति नाथां हल्ग्रहणेन । तदेतत्स्पर्धे सति सार्थकम् । क्रियमाणे हल्ग्रहणे गोद इत्यत्र परत्वादीत्वे “सकृद्गते परनिर्णये विधिर्बाधितो बाधित एव” [५०] इत्यात्वं न स्यादिति मन्यमानो हलीत्याह ।

सनि ॥४१४४४॥ सनि च भ्रूलादौ परतो जनादीनां डस्य आकारादेशो भवति । सिसासति । भलित्वेव । जिजनिपते । सिसनिपति । चिखनिपति । “सनीवन्तर्ध” [५११६७] इत्यादिनाऽनित्पक्षे सनोतेरेव सन् भ्रूलादिः सम्भवति । क्लिद्ग्रहणमसम्भवादिह न संव्रथ्यते ।

ये च ॥४१४४५॥ क्लिनीति वर्तते । क्लिति यकारे ल्ये परतो वा जनादीनामाकारादेशो भवति । जायते । जन्यते । जाजायते । जञ्जन्यते । श्ये परत्वाद् “ज्ञाजनोर्जा” [५२२७७] इति नित्यो जादेशः । सायते । सन्यते । सासायते । संसन्यते । खायते । खन्यते । चाखायते । चंखन्यते । अभ्रूलादावपि यथा स्यादित्यारम्भः । क्लितीत्येव । जन्यम् । “शकिसहश्च” [२११८६] इति चशब्देनान्येभ्योऽपि यः । एथे च मान्यम् । खान्यम् । य इति त्यनिर्देशो न वर्णनिर्देशः । तेनेह न भवति मन्यात् । खन्यात् । “किदाशिपि” [२१४८५] इति कित्त्वम् ।

तनोतेर्यकि ॥४१४४६॥ तनोतेर्यकि परतो वा आकारादेशो भवति । नायते । तन्यते । यकीति किम् ? तन्तन्यते । अप्राप्ते विकल्पः ।

सनः क्तिचि खं च ॥४१४४७॥ सनः क्तिचि परतः खं भक्त्याकारश्च वा । मतिः । सातिः । सन्तिः । “न क्तिचि दीश्च” [४१४४०] इति डखदीत्वयोः प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ।

अग्रे ॥४१४४८॥ वेति निवृत्तम् । अग्रे इत्ययमधिकारो वेदितव्यः । “लुङ्लृङ् लृङ् यट्” [४१४७०] इत्यतः प्राक् यदनुक्रमिष्यामः अग्रे इत्येवं तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति “अतः खम्” [४१४५०] चिकीर्षिता । अग्रे इति किम् ? चिकीर्षति । ननु भवतु गोप्यतः खम् । शपोऽकारस्य श्रवणं भविष्यति । एवं तर्हि शपोऽकारस्यैव गे खं माभूत् । ननु “शपोऽदादिभ्यः” [११४१४३] इत्युज्वचनं ज्ञापकम् । शपो गे खं न भवति । नैतदस्ति “नोमता गोः” [१११६४] इति त्याश्रयकार्यप्रतिषेधार्थं ता स्यात् । मृष्ट इति । “हल्यैबुप्युतः” [५२२८७] इत्यैपो विधानार्थं च । यौति । रौति । तत्त्वलोश्च खं मा भूत् । वृत्तेति । “हलो यः” [४१४५१] बेभिदिता । बेभिदितुम् । गे माभूत् । बेभिद्यते । “खेः” [४१४५३] कारणां । हारणा । अग्रे इति किम् ? कारयति । हारयति । “सिस्थसीयुटतासौ ङौ ग्रहाज्जनदशां जिवदित् च” [४१४६१] इति अग्रे सीयुट् । कारिणीष्ट । गे मा भूत् । प्रस्तुवीत । “सोश्च जिश्च” [२११५६] इति यक् प्रतिषिध्यते । इह च क्रियेत हियेत । “क्लिण्यच्चः” [५२२३] इति यक् ऐपि युक् प्रसज्येत । “इटि चात्त्वम्” [४१४६३] पपतुः । पपुः । ययतुः । ययुः । गे मा भूत् । पान्ति । वान्ति । “भुमास्थागाप” [४१४६५] इत्यादिनेत्वम् । दीयते धीयते । गे मा भूत् । अदाताम् । अघाताम् । “लिङ् येट्” [४१४६६] देयात् । गे मा भूत् । दद्यात् । दष्यात् । “वाऽस्थः स्फादेः” [४१४६७] ग्लेयात् । ग्लयात् । अग्रे इत्येव । विध्यादिलिङि-स्नायात् ।

अस्जोरसोरस्वा ॥४१४४६॥ अस्जो रेफसकारयोर्वा रमादेशो भवति । भर्षा । भ्रष्टा । भर्षुम् । भ्रष्टुम् । भर्षव्यम् । भ्रष्टव्यम् । रसोरिति पुनस्ताया उपादानादादेशोऽयं रसोः स्थाने भवति मित्त्वोच्चारणसामर्थ्यादचोऽन्यात्परो भवति । रमभावपक्षे स्फादेः सखम् । ननु रेफस्यैव रमादेशो वक्तव्यः । द्वयोः स्फसंज्ञामाश्रित्य सखेन सिद्धमिति चेदजादौ न सिध्यति । भर्जनम् । भ्रञ्जनम् । भर्गः । भर्द्गः । पक्षे “**भ्रूलां जश् भ्रशि**” [५१४१२८] इति सकारस्य दत्वम् । रमादेशस्यावकाशोऽङ्किति भ्रष्टा । भर्षा । जेरवकाशो भृञ्जति । इहोभयं प्राप्नोति भृष्टा । भृष्टवानिति । कृताकृतप्रसङ्गिन्धेन नित्यो जिर्भवति । जौ कृते रमादेशो न भवति । उपदेश इत्यनुवर्तनात् । तेनेहापि न भवति बरीभृज्यते ।

अतः खम् ॥४१४५०॥ अग्रेऽकारान्तस्य खं भवति । चिकीर्षिता । धिनोति । धिनुतः । कृणोति । कृणुतः । इवि द्विवि धिवि प्रीणने । कुवि हिंसाकरणयोश्च । “**इदिद्वोनुम्**” [५११३७] । “**धिन्विकृण्व्योर च**” [२११७५] इति उविकरणः । अकारश्चान्तादेशः । तस्य खे । तपरकरणं किम् ? याता । ऐपोऽवकाशः प्रियमाचष्टे प्रापयति । कारयति । अत्खस्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभयं प्राप्नोति चिकीर्षक इति । दीत्वस्यावकाशः परिडतायते । स्तूयते । अत्खस्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभयं प्राप्नोति चिकीर्ष्यते इति । किमत्र तत्त्वम् ? “**पेद्वीत्वाभ्यासमतः खं पूर्वनिर्णयेन**” [वा०] “**लिप्स्यसिद्धौ**” [२१३५] इत्यत्र लिप्स्य इति विग्रहनिर्देशात् ।

हलो यः ॥४१४५१॥ हलन्ताद्गोष्ठमस्य यकारस्य खं भवत्यग्रे । बेभिदिता । बेभिदितुम् । बेभिदित्व्यम् । पूर्वैणातः खे कृते यवविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादनेन यत्वम् । तुचमपेक्ष्य “**घ्युङः**” [५१२८३] एप्प्राप्तोऽतः खस्य स्थानिवद्भावान्न भवति । “**न धुखेजो**” [११११८] इत्ययं तु प्रतिषेधो हलचोः खे अल्मात्रस्य खे न प्रवर्तते । लोलुवः । देव्यः इति । अत्र “**यडोऽचि**” [११११४४] इत्युच्छ्रास्त्रं कृतप्रसङ्गेन नित्यम् । उर्पि तु कृतेऽतः खं शास्त्रं न प्रवर्तते इत्यनित्यम् । तेन हलचोरुपि कृते स्थानिवद्भावाभावात् “**न धुखेजो**” [११११८] इत्यनेन प्रतिषेधः । हल इति किम् ? लोलूयिता । पोपूयिता । गोर्निमित्तत्वेन विशेषणादिह न भवति । ईष्यिता । समिध्यता । अतः खे कृतेऽपि यकारमात्रस्य त्यस्य गुप्तज्ञानमित्त्वमस्ति यथा अकरोदित्यत्र तिप इकाराभावेऽपि ।

चा क्यस्य ॥४१४५२॥ क्यस्य हल उत्तरस्य वा खं भवत्यग्रे । समिधिता । समिध्यता । ह्यदिता । ह्ययिता । समिधमिच्छति आत्मनः “**स्वेपः क्यच्**” [२११६] समिधमिवाचरति “**गौणादाचारे**” [२११८] इति वा क्यच् । समिदिवाचरतीति “**कर्तुः क्यङ् स् खं विभाषा**” [२११६] इति क्यङ् । तान्येवोदाहरणानि । हलन्तात् क्यखोऽसम्भवः । “**नः क्ये**” [११२१०४] इति पूर्वपदत्वाभावः ।

शोः ॥४१४५३॥ अग्रे शोः खं भवति । अततत्तत् । इयादेशः प्रातः । आटिटत् । इयादेशापवादः “**पुर्गिवाक् चादुङोऽसुधियः**” [४१४७८] इति यत्वं प्रातम् । कारणा । हारणा । ऐप् प्रातः । शीप्स्यति सनि दीत्वं प्रातम् । कार्यते । हार्यते “**दीरकृद्गो**” [५१२१३४] इति दीत्वं प्रातम् । कारको हारकः । ऐप् प्रातः । णिङ् कामनम् । कामकः । काम्यते । इयादिभिः सर्वस्य विप्रयस्यावष्टब्धत्वात्सामान्यरूपेण तेषामयमपवादः ।

ते सेटि ॥४१४५४॥ तसंज्ञके सेटि परतो शोः खं भवति । कारितम् । गणितम् । लक्षितम् । संज्ञपितः । ज्ञपेः सनि विकल्पितेऽपि “**यस्य वा**” [५१११२१] इत्यनेन प्रतिषेधः । एकाच इत्यपेक्षणात् । कथं तर्हि विज्ञप्तः प्रभुरिति विकल्पेन “**छन्नज्ञसाः**” [५१११२४] इति निपातनात् । नियमार्थोऽयमारम्भः । त एव सेटि नान्यस्मिन् । कारयिता । हारयिता । तै सेट्ये क्येवधारणं न भवति शोः परस्यानिटस्तस्याव्यावर्त्यस्याभावात् । सेटीति वचनात्पूर्वमिडागमः पश्चात्पिण्यत्वम् । अन्यथा कृताकृतप्रसङ्गेन नित्ये णिखे कृते “**एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्**” [प०] कारितमित्यत्र “**एकाचोऽनुदात्तात्**” [५११११५] इतीट्प्रतिषेधः प्रसज्येत ।

अयामन्ताल्वाय्येत्नुषु ॥४१४१५५॥ गोरयादेशो भवति आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इत्येतेषु परतः । आम् । कारयांचकार । अन्त । गदयन्तः । मण्डयन्तः । “इविशिभ्यां ऋः” [३० सू०] । “गदिमदिमण्डिजिनदिभ्यश्च” [३० सू०] इति भः । आलुः । स्पृहयालुः । आय्यः । स्पृहयाय्यः । “महिसूद-चिसृह्यिभ्य आय्यः” [३० सू०] इत्याय्यः । इत्नुः । स्तनयित्नुः । गदयित्नुः । “स्तनिहृदियुपिगदिमदि-भ्यो गेरित्नुः” [३० सू०] । शिखस्यायमपवादः । नेति सिद्धेऽयादेश उत्तरार्थः ।

प्ये घिपूर्वात् ॥४१४१५६॥ प्ये परतो घिपूर्वाद्वर्णात्परस्य गोरयादेशो भवति । प्रशमय्य । प्रतमय्य । लवणं कृतवान् प्रलवणय्य । प्रस्तनय्य ! यडन्ताशिण्णञि प्रवेविदय्य गतः । ननु प्रादेशटिखत्त्वखानामाभाच्छा-स्त्रत्वादसिद्धत्वे कथं घिपूर्वाद्वर्णात्परो णिः । व्याश्रयत्वात्सिद्धत्वम् । प्रादेशादयो णौ प्ये परतो गोरयादेश इति वचनाद्वा सिद्धत्वम् । घिपूर्वादिति किम् ? प्रहास्य प्रचिकीर्ष्य गतः ।

वाऽऽपः ॥४१४१५७॥ आपः परस्य गेः प्ये परतो वाऽयादेशो भवति । प्रापय्य प्राप्य गतः । स्वादिकस्य चौरादिकस्य चापेर्ग्रहणम् । सूत्रमध्याप्य गतः इत्यत्र लादाणि कत्वान्न भवति । अपजवस्ते प्रापय्य गतः इत्यत्रैका देशस्यासिद्धत्वादयेव भवति ।

क्षियो दीः ॥४१४१५८॥ वेति नाधिकृतम् । क्षियो दीर्भवति प्ये परतः । आक्षीय । तुकि प्राप्ते दीत्वम् ।

तेऽस्ये ॥४१४१५९॥ अण्यार्थं विहिते ते परतः क्षियो दीर्भवति । कः पुनरर्थार्थो यः पर्युदस्यते । भावकर्मणो “तयोर्ब्यक्तस्यार्थः” [२१४१५५] इति वचनात् आक्षीणः । परिक्षीणः । “धिगत्यर्थाच्च” [२१४१५८] इति कर्तरि क्तः । दीत्वे कृते क्षीत इति तस्य नत्वम् । इदम् क्षीणं सार्थस्य । क्षीयतेऽस्मिन्निति “अधिकरणे चाद्यर्थाच्च” [२१४१५६] इत्यधिकरणे क्तः । “क्तस्याधिकरणे” [११४१७०] इति कर्तरि ता । अण्य इति किम् ? आक्षितमस्य । भावे दीत्वाभावान्नत्वं नास्ति । सगेः क्षियः सकर्मकत्वे कर्मण्यपि ।

वा दैन्याक्रोशे ॥४१४१६०॥ अण्यार्थं ते परतो दैन्ये आक्रोशे च गम्ये क्षियो वा दीर्भवति । दैन्ये क्षितोऽयं क्षीणोऽयं वराकः । आक्रोशे क्षितोऽसि क्षीणोऽसि जाल्म । क्षितायुः । क्षीणायुः । कर्तरि क्तः । अण्य इत्येव । क्षितं वराकस्य । क्षितं जाल्मस्य ।

सिस्वसीयुट्तासौ डौ ग्राहज्भनृदशां भिवदिट् च ॥४१४१६१॥ सि स्य सीयुट् तासि इत्येतेषु परतो ड्वायर्थे ग्रहेरजन्तानां हनि दृशि इत्येतयोश्च वा भिवत्कार्यं भवति । यदा भिवद्भावस्तदा इडागमश्च भवति स्पसिचसीयुट्तासीनाम् । अग्राहिषाताम् । अग्रहीपाताम् । “ग्रहोऽलिटि दीः” [५११८५] इत्यत्र प्रकृतस्येदो दीत्वम् । ग्राहिष्यते । ग्रहीष्यते । ग्राहिपीष्ट । ग्रहीपीष्ट । ग्राहिता । ग्रहीता । इदो दीत्वाभाव ऐप् च प्रयोजनम् । अजन्तानाम्—अचायिपाताम् । अचेपाताम् । अग्लायिपाताम् । अग्लासाताम् । अकारिपाताम् । अकृपाताम् । “उः” [१११८६] इति सेः क्त्वम् । चायिष्यते । चेप्यते । ग्लायिष्यते । ग्लस्यते । कारिष्यते । करिष्यते । चायिपीष्ट । चेप्रीष्ट । ग्लायिपीष्ट । ग्लासीष्ट । कारिपीष्ट । कृपीष्ट । “उः” [१११८६] इति लिङः क्त्वं च । चायिता । चेता । ग्लायिता । ग्लाता । कारिता । कर्ता । अनुदात्तादिडागमः । आतो युक्च प्रयोजनम् । अघानिपाताम् । अहसाताम् । अशिवद्भावे “बेकि” [११४११६] इति वधादेश उदात्तः । अवधिपाताम् । घानिष्यते । हनिष्यते । घानिपीष्ट । वधिपीष्ट । परत्वात् भिवद्भावे कृते “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] इति वधादेशो न भवति । द्यत्वं च प्रयोजनम् । अदर्शिपाताम् । अदृक्षाताम् । “सि लिङ्दे” [१११८५] इति क्त्वम् । दर्शिष्यते । द्रक्ष्यते । “ऋष्यकिति सृजदशोऽम्” [४१३१५१] इत्यमागमः । दर्शिपीष्ट । दृक्षीष्ट । दर्शिता । द्रष्टा । सिस्वसीयुट्तासाविति किम् ? दातव्यम् । दानम् । ड्वाविति किम् ? लविष्यति । दास्यति । ग्राहज्भनृदशामिति किम् ? पक्ष्यत ओदनम् । उपदेश इत्यनुवर्तनात् कारिष्यत इत्यत्र परत्वादेपि कृतेऽपि भिवद्भावः । शमयतैरजन्तस्य भिवद्भावपक्षे

“अण्यमोर्दीर्घिताम्” [४।४।८६] इति वा दीर्घे कृते द्वे रूपे शामिष्यते । शामिष्यते । नित्यत्वाद्बलाद्यगस्येत्
त्राधित्वा जिबदिट् । तस्यासिद्धत्वाणिष्वम् । अन्यत्र शमयिष्यते । जो दृष्टं कार्यं सामान्येनातिदिश्यते ।
तेन शानिष्यते । आयिष्यते । अथ्यापिष्यते इत्यत्र हनिणिङां त्रिवन्धावे वधाद्य आदेशाः लुङि विहिता
न भवन्ति ।

दीङोऽच्च ङिति युट् ॥४।४।६२॥ दीङोऽजादौ ङिति परतो युडागमो भवति । उपदिदीये । उपदि-
दीयाते । उपदिदीयिरे । दीङ इति कानिदेशोऽचीत्यस्योत्तरत्र सावकाशस्य तां कल्पयति । वचनाश्रुटः सिद्धत्वात्
“एर्गिवाक्चाडुङोऽसुधियः” [४।४।७८] इति यणादेशो न भवति । अतीति किम् ? उपदीयते । ङितीति किम् ?
उपादानम् । “गागयोः” [५।२।८१] इत्येप् । “मिन्मीर्द्दीङां प्ये च” [४।३।४३] इत्यात्वम् । यङुब्रन्ता-
दामा भवितव्यमित्यनुब्रन्धनिदेशो विस्पष्टार्थः । पूर्वान्तकरणे उपदिदीयिष्वे इत्यत्र इणन्ताद्गौरुत्तरस्य
दृत्वं प्रसज्येत ।

इटि चात्वम् ॥४।४।६३॥ इटि अजादौ च ङिति परत आकारान्तस्य गोः खं भवति । पपिथ ।
जग्लिथ । “बोपदेश” [५।१।१०८] इत्यादिनेट् । पपुः । पपुः । तस्थुः । तस्थुः । गोदः । कम्बलदः । डिति-
प्रपा । संस्था । अचीत्येव । दासीय । ग्लायते । “रञ्जकेटः” [२।४।८६] इतीटोऽकारादेशः । अग इत्येव ।
यान्ति । व्यत्यस्ते । इतीति ययविशेषणग्रहणं तद्गो गेऽप्यातः खेन भवितव्यम् । व्यन्यस्तोति । एतच्च अर्गाधि-
कारेण विरुद्धमिव लक्ष्यते ।

ईङे ॥४।४।६४॥ आकारान्तस्य गोरीकारादेशो भवति ये परतः । दंयम् । धेयम् । ग्लेयम् ।
“गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०] इति अनित्यमेतत् । “देयमृणे” [३।३।२२] इत्येपो निदेशात् ।
यद्येप् क्रियते दीत्वोच्चारणं किमर्थम् ? पीतम् । हीनम् । य इति “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [५०] ।
ग्लायते । म्लायते ।

भुमास्थागापाहाक्सां हलि ॥४।४।६५॥ ङितीति वर्तते । भु मा स्था गा पा हाक् सा इत्येतेषा-
मीकारादेशो भवति हलादौ ङिति परतः । भुमंज्ञानाम् । दीयते । देदीयते । धीयते । देधीयते । पीतं वत्सेन । मा
इत्यविशेषणं ग्रहणम् । “गामादाग्रहणेऽप्यविशेषः” [५०] इति । मीयते । स्था-स्थीयते । तेषीयते । गा
इत्यविशेषणं ग्रहणम् । गीयते । जेगीयते । अघ्यगीष्ट । “लुङ् लुङोर्वा” [१।४।१२२] इति ईङो गादेशः ।
पा इत्यनुबन्धकरणपिब्रतेग्रहणम् । पीयते । पेपीयते । पातेस्तु पायते । पानम् । हाक्-अवहीयते । अवजेहीयते ।
जिहीतेस्तु हायते । हातम् । सा-अवसीयते । अवसेपीयते । हलीति किम् ? ददुः । ददुः । ङितीत्येव । दाता ।

लिङ्येत् ॥४।४।६६॥ लिङि परतो भुमादीनामेकारादेशो भवति । देयात् । धेयात् । मेयात् । स्थेयात् ।
गेयात् । पेयात् । अवहेयात् । अवसेयात् । ङितीत्येव । दासीष्ट ।

वाऽस्थः स्फादेः ॥४।४।६७॥ आकारान्तस्य स्फादेः स्थावर्जितस्य गोरेकारादेशो भवति वा लिङि
परतः । ग्लेयात् । ग्लयात् । म्लेयात् । म्लयात् । अस्थ इति किम् ? स्थेयात् । अन्यथोभयप्राप्तौ परत्वादेतेन
विकल्पः स्यात् । स्फादेरिति किम् ? यायात् । ङितीत्येव । ग्लासीष्ट । गोरिस्त्वेव । निर्यायात् ।

न प्ये ॥४।४।६८॥ वेति नाधिकृतमुत्तरत्र वाग्रहणात् । प्ये परतो भुमादीनां यदुक्तं तन्न भवति ।
प्रदाय । प्रधाय । प्रमाय । प्रगाय । प्रस्थाप । प्रपाय । अवहाय । अवसाय । ईत्वप्रतिषेधोऽयम् । वचनात्
“अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते” [५०] इति ज्ञापितम् । तेन “दो दङ्गोः” [५।२।१४८]
इति दङ्गावः । दधातेर्हि-आदेशः । “हाकः क्त्वि” [५।२।१४७] । मास्थास्यतीनामित्त्वं च न भवति । प्यादेशो
कृतेऽनन्विधाविति स्थानिवन्धावाप्रतिषेधात्प्रातिः ।

वेमंडः ॥४४१६६॥ मेडः प्ये परतो वा इकारादेशो भवति । अपमित्य । अपमाय । “माडो व्यतीहारे” [२।४।५] इति क्त्वा ।

लुङ्लड्लुङ्ग्यत् ॥४४।७०॥ लुङि लडि लृङि च परतो गोरडागमो भवति । अकार्षात् । अकरोत् । अकरिष्यत् । ऐक्षिष्ट । औम्भीत् । ऐक्षत । औम्भत् । ऐक्षिष्यत् । औम्भिष्यत् “अटश्च [८।३।७८] इत्यैप् । आसन् आयन् इत्यत्र लावस्थायामडागमेऽन्तरङ्गत्वादप्यायादेशे च कृतेऽत इत्यनुवृत्तेः “श्नसः खम्” [४।४।१०१] यणादेशश्च न भवतः ।

न माङ्योगे ॥४४।७१॥ माङ्योगेऽडागमो न भवति । मा कार्षात् । मास्म करोत् । मानिरसीत् । मास्म निरस्ताम् । योगग्रहणं किम् ? मा भवान् कार्षात् । इदमेव ज्ञापकं “माङि लुङ्” [२।३।१५१] इत्यत्र माङ्योगे लुङ् द्रष्टव्यः ।

शुधुभ्रवां य्वोरचीयुचौ ॥४४।७२॥ शु धु भ्रू इत्येतेषां गूनामिवर्णोवर्णयोरजादौ परत इय् उच् इत्यादेशौ भवतः । शु । प्रानुवन्ति । राधुवन्ति । धु-चिधियतुः । चिधियुः । लुलुवतुः । लुलुवुः । नियौ । नियः । लुवौ । लुवः । भ्रू । भ्रुवौ । भ्रुवः । निर्दिश्यमानयोरिवर्णोवर्णयोरदेशः । यथा “पादः पद्” [४।४।११६] इति पाच्छब्दस्य पदादेशो न पादन्तस्य । नर्यात् । भवति । नायकः । भावकः इत्यत्र परत्वादेवैषौ । अचीतीभिर्दशाद् व्यवधाने न भवति । विविदतुः । विविदुः । गोरित्येव । स्त्र्यर्थम् । भ्र्वर्थम् ।

चस्याऽस्वे ॥४४।७३॥ चस्येवर्णोवर्णयोरस्वेऽचि परत इयुवौ भवतः । इयेप । इर्यात् । पूर्वेण गुनिमित्तेऽचि आदेश उक्त इति न प्रान्नोति । अस्व इति किम् ? ईपतुः । ईपुः । ऊपतुः । ऊपुः । अचीत्येव । इयाज । उवाय ।

स्त्रियाः ॥४४।७४॥ स्त्रियाश्च इयादेशो भवति अचि । परतः । स्त्रिया । स्त्रियः । परमस्त्रियौ । परमस्त्रियः । अलैवानर्थकेन तदन्तविधिः नास्मिंघातेन । तेन शस्त्रीशब्दस्य न भवति । स्त्रीणामित्यत्र परन्वान्तुट् । पृथक्करणमुत्तगार्थम् ।

वाशसोः ॥४४।७५॥ अमशसोः परतः स्त्रिया वा इयादेशो भवति । स्त्रियं पश्य । स्त्रीं पश्य । स्त्रियः पश्य । स्त्रीः पश्य ।

औतः ॥४४।७६॥ आकारादेशो भवति औतोऽमशसोः परतः । वेति न स्वरितं गां गाः पश्य । यां वाः पश्य च गोशब्दस्य अमि ऐपः पूर्वनिर्णयेनावम् । चित्रगुं पश्येयत्रान्तरङ्गत्वात्प्रादेशे सन्त्यावाभावः । शमा सहचरितस्यामो ग्रहणादिह न भवति । अचिनवम् । असुनवम् ।

यणेत्योः ॥४४।७७॥ यणादेशो भवति एत्योरचि परतः । यन्ति । यन्तु । अधियन्ति । अधियन्तु । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [प०] इतीयादेशस्य बाधा नत्वेवैषोः । अयनम् । आयुकः ।

र्गिवाक्चादुडोऽसुधियः ॥४४।७८॥ गिवाक्चात्परो य उङ् तस्मादुत्तरस्य इवर्णस्य यणादेशो भवत्यचि परतः सुधीशब्दं वर्जयित्वा । गिः-उन्न्यौ । उन्न्यः । परिण्यौ । परिण्यः । वाचः-ग्रामण्यौ । ग्रामण्यः । सेनान्यौ । सेनान्यः । चात्-चिच्यतुः । चिच्युः । तिन्यतुः । निन्युः । गिवाक्चादिति किम् ? नियौ । नियः । परमनियौ । परमनियः । उङ् इति किम् ? यवक्रियौ । यवक्रियः । उङ्त्र गिवाक्चात्परो न भवति । ककारेण व्यवधानात् । असुधिय इति किम् ? सुधियौ । सुधियः । “ध्याप्योर्जिश्च” [उ०सू०] इति क्तिप् जित्वं च ।

सुप्योः ॥४४।७९॥ अजादौ सुपि परतो गिवाक्चपूर्वादुङ्ः परस्य उवर्णस्य यणादेशो भवति । सुत्वौ । सुत्वः । सकृत्त्वौ । सकृत्त्वः । खलप्वौ । खलप्वः । शतस्वौ । शतस्वः । सुपीति किम् ? लुलुवतुः । एतदर्थं च योगान्तरम् । गिवाक्चादित्येव । भुवौ । भुवः । लुवौ । लुवः । परमलुवः । उङ् इत्येव कटप्रवौ । कटप्रवः ।

हन्कारापुनर्वर्षाभ्यो भुवः ॥ ४१४८० ॥ हन् कारा पुनर् वर्षा इत्येतेभ्य उत्तरस्य भुवो यणादेशो भवत्यचि मुपि परतः । हन्वौ । हन्वः । काराभ्वौ । काराभ्वः । पुनर्भ्वौ । पुनर्भ्वः । वर्षाभ्वौ । वर्षाभ्वः । नियमाथोऽयमारम्भः । एतेभ्यः एव भुवो यण् नान्यस्मात् । प्रतिभुवौ । प्रतिभुवः । स्वयम्भुवौ । स्वयम्भुवः । मित्रभुवौ । मित्रभुवः । “भुवः ख्वन्तरे” [२।२।१५२] इति क्विप् ।

लुङ्लिटोर्बुक् ॥ ४१४८१ ॥ भुवो वृगागमो भवति लुङ्लिटोरचि पग्नः । अभूवन् । अभूवम् । “स्थेणिव” [१।४।१४६] इत्यादिना मेरुप् । मिपोऽमादेशे “सुभवत्योमिङि” [५।२।८६] इत्येपि प्रतिपिद्धे बुक् । लिटि-अभूव । वभूविथ । वभूवतुः । वभूवुः । गालि थे च पूर्वविप्रतिषेधेनैत्रैपोर्बुक्का बाधा । लुङ्लिटोरिति किम् ? व्यतिभविपीठ । ओरित्यनुवर्तते तेन यदुबन्तस्य परत्वादेपि कृते न भवति । अत्रोभवम् ।

हुश्नुवोर्बो वः ॥ ४१४८२ ॥ हु श्नु इत्येतयोर्कारस्य वक्त्रागदेशो भवत्यजादी गे परतः । जुह्वति । जुह्वतु । चिन्वन्ति । “ग्रहाज्जन्तशाम्” [४।४।६१] इत्यतो मण्डूकगत्याऽज्जग्रहणमनुवर्तते । तेनाच उत्तरस्य शनोर्बक्त्रागदेशः । इह मा भूत्-प्रान्नुवन्ति । राध्नुवन्ति । हुश्नुवोरिति किम् ? योयुवति । गेरुवति । चादित्यनुवर्तनात्प्रमज्येत । ग इति किम् ? जुहुवतुः । जुहुवुः । जुह्वानि चिन्वानीत्यत्र परत्वादेप् ।

गोहेरूडः ॥ ४१४८३ ॥ गोह उड ऊकारादेशो भवत्यचि परतः । निगूहयति । निगूहकः । माधु निगूही । निगूहन्ति । निगूहम् । निगूहो वर्तते । गोहेरित्येपं कृत्वा विकृतनिर्देशः किम् ? यत्रास्मैतद्रूपं तत्र यथा स्यादिह माभूत् । निजुगुहतुः । निजुगुहुः । उड इति किम् ? अन्यस्य मा भूत् । प्रकृतिग्रहणे यदुबन्तस्य यत्रि जोगूह इत्यत्र चस्य च मा भूत् । ओरित्यनुवृत्तेः तद्विकारस्य चस्यापि प्रमज्येत । अचीन्वेव । निगोह्वा । निगोहुम् । ऊ इत्यत्रिभक्तिः को निर्देशः । द्विमात्रश्चायमादेशः । अन्यथा एप्प्रतिषेधः क्रियेत ।

दोपो रौ ॥ ४१४८४ ॥ दोप उडः ऊकारादेशो भवति रौ परतः । दूपयति । दूपयते । दोप इति विकृतग्रहणं किम् ? एपि कृते ऊकारो यथा स्यात् । अन्यथा प्रदूप्य गत इत्यत्र ऊकारस्यासिद्धत्वाणोरयादेशः प्रसज्येत । एपि कृते षिपूर्वत्वं नास्तीत्यप्राप्तिः । गाविति किम् ? दोषणं दोपः ।

वा चित्तविकारे ॥ ४१४८५ ॥ चित्तविकारेऽर्थं दोपो रौ परत उडो वा ऊकारादेशो भवति । चित्तं दूपयति । चित्तं दोपयति । प्रज्ञां दूपयति । प्रज्ञां दोपयति । दोपमाचष्टे दोपयतीत्यत्र टिप्पस्यासिद्धत्वादुडः ओः स्थाने विकारो न भवतीत्यप्राप्तिः । चित्तविकार इति किम् ? एकान्तवादप्रयोगं दूपयति । गावित्येव । चित्तस्य दोपः ।

जिण्मोदीर्मिताम् ॥ ४१४८६ ॥ जिण्मपरे गौ परतो मितां गूनामुडो वा दीर्भवति । अघटि । अघाटि । घटं घटम् । घाटं धाटम् । अशामि । अशामि । शमं शमम् । शामं शामम् । घटते कश्चित् । शाम्यति कश्चित् । तमन्यः प्रयुङ्क्ते इति णिच् । उड ऐप् । वक्ष्यमाणेन “प्रः” [४।४।८७] इत्यनेन प्रादेशः । औ णमि चानेनोडो वा दीत्वम् । ननु प्रादेश एव विकल्पः । दीरिति किमर्थम् ? न शक्यमेवम् । शमयतेर्णिचि कृते रौ णिखस्य स्थानिवद्भावात् उडः प्रादेशविकल्पो न स्यात् । दीत्वविधौ तु न स्थानिवद्भाव इति जिपरो णिर्मितोऽनन्तर इति दीत्वविकल्पः सिद्धः । अशामि । अशामि । तथा अत्र्यर्थं शाम्यतीति यद् । शंशम्यतेर्णिच् । “अतः खम्” [४।४।५०] । “हत्तो यः” [४।४।५१] इति यखम् । अत्रापि यडोऽकारस्य दीत्वविधिं प्रति न स्थानिवद्भाव इति अशंशामि । नवाऽत्रासिद्धत्वं शक्यम् व्याश्रयत्वात् । रौ हि णियडोः खं जिण्मपरे गौ गोदीर्त्वमिति ।

प्रः ॥ ४१४८७ ॥ णाविति वर्तते । मितां गूनामुडः प्रो भवति गौ परतः । घटयति । व्यथयति । जनयति । “जनिवधोः” इति जिङ्गतोः परत ऐप्प्रतिषेधः उक्तस्ततो जेरन्यदुदाहरणम् । मितामिति किम् ? कामयति । आमयति । चाममति । “न कस्यमिचमाम्” इति मित्संज्ञाप्रतिषेधः । प्रशमय्य गत इत्यत्र णावुडः प्रादेशः

प्ये परतो गोरयादेश इति व्याश्रयत्वात्प्रादेशस्यासिद्धत्वं न भवति । कथं संक्रामयति । केचिद् वेत्यनुवर्तयन्ति । सा च व्यवस्थितविभागा ततो न दोषः ।

खच्चि ॥४१४८८॥ खचरे गौ परतो जोरुडः प्रो भवति । युगन्धरः । वसुन्धरः । “भृतवृजिधारि-
सहितपिदमः खौ” [२।२।४४] इति खच् । “खित्यभेः” [४।३।१७६] “मुमचः” [४।३।१७७] इति
सुमागमः ।

ह्लादस्ते ॥४१४८९॥ ह्लादस्ते परत उडः प्रो भवति । प्रह्लन्नः । प्रह्लन्नवान् । त इति किम् ?
प्रह्लादयति । ह्लाद इति योगविभागान्प्रह्लत्तिः ।

छादेर्घे ॥४१४९०॥ छादेर्घे परत उडः प्रो भवति । प्रच्छदः । उपच्छदः । “तिकुप्रादयः” [१।३।८१]
इति पसः । उरश्छदः । तनुच्छदः । कृद्योगे तासः । छद अपवारणे इति चौरादिकः । अस्मात् “पुंखौ घः
प्रायेण” [२।३।१००] इति घे कृते णित्यस्यासिद्धत्वम् “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति म्यानिवद्भावो वा
वचनसामर्थ्यान्न भवति । ततः उडः प्रादेशः । घ इति किम् ? प्रच्छादनम् । तनुच्छादनम् ।

नानेकगोः ॥४१४९१॥ अनेको गिर्यस्य तस्य छादेरुडः प्रो न भवति । समुपच्छादः । एकगिरिगिश्च
छादिः पूर्वेण प्रादेशं प्रयोजयति ।

मन्त्रेस्किषु ॥४१४९२॥ मन् व इस् कि इत्येतेषु परतश्छादेरुडः प्रो भवति । छन्न । छत्रम् । छदिः
समुच्छद् । उपच्छन् । “सर्वधुभ्यो मन्वटौ” [३० सू०] उणादिषु विहितौ । “अर्चिश्चुच्चिजृम्पिच्छादिच्छृदिभ्य
इस्” [३० सू०] इति इम् । “छादेर्घे” [४।४।९०] इत्यतः पृथक्करणमनेकगोरपि प्रादेशार्थम् । समुपच्छत् ।
समुपाचिच्छत् । सिवसिघसामि पत्वम् ।

गमहनजनखनघसां किडत्यनडि ॥४१४९३॥ गम हन जन खन घस इत्येतेषां कुडः ग्वं भवति
अनडि किति डिति परतः । अनडीति किम् ? अगमत् । अघमत् । कडीति किम् ? गमनम् । गमनीयम् ।
अनीत्येव । गम्यते । हन्यते ।

हुभ्रल्भ्यो हेर्धिः ॥४१४९४॥ हु इत्येतेस्मात् झलन्तेभ्यश्चोत्तरस्य हेर्धित्ययमादेशो भवति ।
जुहुधि । झलन्तेभ्यः-छिन्धि । भिन्धि । “शनसः खम्” [४।४।१०१] इत्यखस्य अनुस्वारविधिं प्रति न स्थानिवचम्
इति अनुस्वारपरस्वत्वे । भ्रल्भ्य इति किम् ? लुनीहि । हेरिति किम् ? युवां जुहुतम् । “भुमास्थागापाहा-
क्सां हलि” [४।४।६५] इत्यतो मण्डूकगत्या हल्ग्रहणमनुवर्तते । तेनाह्लादेर्न भवति । रुदिहि । स्वपिहि । अथवा
अत्र परत्वादिति कृते “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] । जुहुतात्वं भिन्तात्वमित्यत्रापि
परत्वात्तातडादेशः ।

अेरुप् ॥४१४९५॥ अेरुत्तरस्य उव् भवति । अकारि । अलावि । लावस्थायामडागमः । पश्चादुप् ।
खमिति वर्तते । उव्ग्रहणे सर्वापहारार्थं परस्यादेर्मा भूत् । गोरित्यधिकारात् गोर्निमित्तस्य त्यस्योच्चिधानादिह
भवति अपाठि ग्रन्थः । अकारितरामित्यत्र तत्त्वस्यासिद्धत्वात् न भवति । व्यक्तौ हि पदार्थे प्रतिव्यक्ति लक्षणं भिद्यते
इति तदेव शास्त्रं तस्मिन् कथमसिद्धमिति नाशंकनीयम् ।

अतो हेः ॥४१४९६॥ अकान्ताद्गोरुत्तरस्य हेरुव् भवति । पच । कृष । गच्छ । अत इति किम् ? युहि ।
रुहि । तपरकरणं किम् ? याहि । लुनीहि । ईत्वस्यासिद्धत्वादाकारः । हेरिति वर्तमाने पुनर्हेरिति किम् ? हिरेव यो
हिस्तस्योव् यथा स्यात् इह माभूत् । जीवतात्वम् ।

उतस्त्वावस्फात् ॥४१४९७॥ अस्फात्वरो य उकारस्तदन्ताच्यादुत्तरस्य हेरुव् भवति । चिनु । सुनु ।
तनु । कुरु । तन्वादिषु व्यपदेशिवद्भावादुकारान्तत्वम् । उत इति किम् ? लुनीहि । जानीहि । त्यादिति किम् ?
युहि । रुहि । अस्यादिति किम् ? आप्नुहि । तच्छुहि ।

वा म्बोः खम् ॥४१४।६८॥ अस्फाल्यरो य उकारस्तदन्तस्य वा खं भवति मकारवकारादौ परतः । मुन्वः । मुनुवः । मुन्मः । मुनुमः । मुन्वहे । मुनुवहे । मुन्महे । मुनुमहे । तन्वः । तनुवः । तन्मः । तनुमः । उबिति वर्तमाने खग्रहणमन्तेऽलो नाशार्थम् । उत इत्येव । क्रीणीवः । क्रीणीमः । त्यस्केयेव । युवः । रुवः । अस्फादित्येव । आनुवः । तद्गुवः । मुनोभ्यादिपु परत्वादेप् ।

कृजो ये च ॥४१४।६९॥ कृज उत्तरस्य उनः खं भवति यकारादौ म्बोश्च परतः । कुर्यात् । कुर्याताम् । कुर्युः । कुर्यः । कुर्मः । कुर्वहे । कुर्महे । नित्यत्वात्स्वे कृते “त्यस्के त्याश्रयम्” [१।१।६३] इत्येप् । म्बोर्नुकर्षणार्थाच्चकारात् ज्ञायते वेति निवृत्तम् ।

गेऽन उन् ॥४१४।७०॥ उत्यान्तस्य करोतेरकारस्य उकारादेशो भवति ङिति परतः । कुरुतः । कुर्वन्ति । कुरुथः । कुरुथ । कुर्वः । कुर्मः । उदिति तपरकरणाद्विकरणमपेक्ष्य ध्युङ्मुन्न भवति । ग इति किम् ? भूतपूर्वेषु गे यथा स्यात् । अत इति तपरकरणमुत्तरार्थम् ? ङ्ङितीत्येव । करोमि । करोपि । करोति । एपि कृते उकारान्तत्वाभावाद्वा न भवति । “अनन्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इति अकुरुतामित्यत्राद्ये न भवति ।

श्नसः खम् ॥४१४।७१॥ श्नमः अस्तेश्च अतः खं भवति गे ङिति परतः । भिन्नः । भिन्दन्ति । छिन्नः । छिन्दन्ति । अत्यस्यामिद्वत्त्वाद्बलुडो नकारस्य खं न भवति । अन्तेः स्तः । सन्ति । ङ्ङितीत्येव । भिनन्ति । अस्ति । श्नस इति श्नमो नाटमकारस्य पररूपत्वं ज्ञापकं शकन्ध्वादिपु पररूपं भवति । अत इति तपरकरणस्यानुवृत्तिः किमर्था । आस्ताम् आमन्नित्यत्र लावस्थायामडागमे ऐपि च कृते माभूत् । नन्वदोऽसिद्धत्वादाकारखं न प्राप्तम् इदमेव तपरकरणं ज्ञापकम् अभाच्छास्त्रस्य क्वचिसिद्धता । तेन देभतुः । देभुरित्यत्र नखस्य सिद्धत्वादेत्वचये भवतः ।

थश्नोरातः ॥४१४।७२॥ थसंज्ञकस्य शना इत्येतस्य च य आकारस्तस्य खं भवति गे ङिति परतः । मिमते । मिमताम् । अमिमत । सञ्जिहते । संजिहताम् । ममजिहत । “देऽनतः” [५।१।५] इति भ्रस्यादादेशः । लुनते । लुनताम् । अलुनत । पुनते । पुनताम् । अपुनत । हलीत्वं वक्ष्यते । तस्मादचि खम् । भुसंज्ञकानां ह्यपि दत्तः । दत्से । थश्नोरिति किम् ? यान्ति । वान्ति । आत इति किम् ? विभ्रति । इयति । ङ्ङितीत्येव । जहाति । लुनाति ।

हल्यभोरीः ॥४१४।७३॥ हलादौ ङिति परतः थश्नोरात ईकारादेशो भयत्यभोः । सञ्जिहते । सञ्जिहते । सञ्जिहते । सञ्जिहते । मिमीते । मिमीपे । मिमीध्वे । भिमीवहे । मिमीमहे । लुनीतः । लुनीथः । लुनीपे । लुनीध्वे । लुनीवहे । लुनीमहे । अभोरिति किम् ? दत्तः । ङ्ङितीत्येव । जहाति । लुनाति ।

इहरिद्रः ॥४१४।७४॥ इकारादेशो भवति दरिद्रातेर्हलादौ गे ङिति परतः । दरिद्रितः । दरिद्रिथः । दरिद्रिवः । दरिद्रिमः । “जक्षित्यादयः” [४।३।५] इति थसंज्ञायाम् पूर्वेण हलादावीत्वं प्राप्तम् । हलीत्येव । दरिद्रति । ङ्ङितीत्येव । दरिद्राति । “भियो वा” [४।४।१०५] इत्यतः सिंहावलोकनेन वेति व्यवस्थितविभाषा संबध्यते ततो दरिद्रातेरगविषये बहुलं खं भवति । दरिद्रातीति दरिद्रः । अदरिद्रात् । खे सत्याकारान्तलक्षणौ “यमरमनमातः सक्च” [५।१।३३] इति सगिदौ न ।

भियो वा ॥४१४।७५॥ भी इत्येतस्य वा इकारादेशो भवति हलादौ गे ङिति परतः । विभितः । विभीतः । विभियः । विभीथः । विभिवः । विभीमः । विभीमः । विभीमः । हलीत्येव । विभ्यति । ग इत्येव भोतः । भीयते । ङ्ङित्येव । विभेति ।

हाकः ॥४१४।७६॥ हाकश्च वा इकारादेशो भवति हलादौ गे ङिति परतः । जहितः । जहीतः । जहित्यः । जहीथः । जहित्वः । जहीवः । जहितः । जहीमः । जहीमः । पक्षे “हल्यभोरीः” [४।४।१०३] इतीत्यम् । थस्ये-

त्यनुवर्तनात् हित्वे कृते इत्वादिविधिः । अथवा अल्पाश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्रागेव द्वित्वम् । हलीःयेव । जहति । ग इत्येव । हीनः । हीयते । जेहीयते । योगविभाग उत्तरार्थः ।

आ च हौ ॥४१४१०७॥ हाक आकारादेशो भवति इच्च वा हौ परतः । जहाहि । जहिहि । जहीहि ।
यि खम् ॥४१४१०८॥ यकारादौ गे ङिति परतो हाकः खं भवति । जह्यात् । जह्याताम् । जह्युः । ग इत्येव । हीयते । जेहीयते ।

भ्वसोरेच्च खं हौ ॥४१४१०९॥ भुसंज्ञकानाम् अस्तेश्च हौ परत एकारादेशो भवति चस्य च खम् । देहि । धेहि । एधि । खमिति वर्तमाने पुनः खग्रहणं सर्वस्य चस्य नाशार्थम् । अस्तेश्च खं न सम्भवति । “श्नसः खम्” [४१४१०९] इत्यखम् । अनेन सकारस्यैत्वम् । हाविति वर्तमाने पुनर्हाविति किम् ? रूपान्तरापत्तौ माभूत् । दत्तात् । धत्तात् । स्तात् ।

अतो हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥४१४११०॥ हलोर्मध्ये वर्तमानस्यात एकारादेशो भवति चस्य च खं लिटि ङिति परतः । पेचतुः । पेचुः । शेकतुः । शेकुः । रेणतुः । रेणुः । हल्मध्ये इति किम् ? आटतुः । आटुः । त्रपिग्रहणं नियमार्थं वक्ष्यति । अनेक हल्मध्यगतस्य त्रपेरेव नान्यस्य । ततत्तुतुः । पप्रथे । पप्रथाते । पप्रथिरे । लिटीति किम् ? पापच्यते । पापच्यते । अत इति किम् ? दिदिवतुः । दिदिवुः । तपरकरणं किम् ? शशासतुः । शशासुः । ङितीत्येव । अहं पपच । “फलिभजोः” [४१४३३२] इति नियमो वक्ष्यते । एतयोरेव लिट्यादेशाद्योरेच्चखे भवतो नान्यस्य । बभणतुः । बभणुः । चकणतुः । चकणुः । नमिमद्योस्तु लिङ्-त्पत्तेः प्रागेव नत्वसत्त्वे भवत इति नियमान्न निवृत्तिः । नेमतुः । नेमुः । सेहे । सेहाते । मेर्हे ।

सेटि ॥४१४१११॥ सेटि च लिटि परतो हल्मध्येऽत एत्वं भवति चस्य च खम् । अङ्गित्यपि यथा स्यादित्यारम्भः । पेचिथ । शेकिथ । नेमिथ । “वोपदेशे” [५१११०८] इत्यादिना वेत् । सेटीति किम् ? पपकथ । लिटीत्येव । पटितः । पटितवान् । अत इत्येव । दिदिविथ ।

फलिभजोः ॥४१४११२॥ फलि भजि इत्येतयोरत एत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि च परतः । फेलतुः । फेलुः । फेलिथ । भेजतुः । भेजुः । भेजिथ । भेजे । भेजाते । भेजिरे । नियमार्थोऽयमारम्भः । फलिभजोरेव लिट्यादेशाद्योर्नान्यस्य । चकणतुः । चकणुः । चकणिथ । बभणतुः । बभणुः । बभणिथ । फलिभजोर्विकारलक्षण आदेशः अन्यस्यापि विकारादेशादेर्निवृत्तिः शशितयोः प्रतिपद्याच्च । तेन प्रकृतिचरां प्रकृतिचरः प्रकृतिजशां प्रकृतिजशो भवन्तीति । नात्र नियमान्निवृत्तिः । तेनतुः । तेनुः । देमतुः । देमुः ।

तृत्रपोः ॥४१४११३॥ तृ त्रपित्येतयोरत एत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि थलि च परतः । तेरतुः । तेरुः । तेरिथ । “ऋच्छतृताम्” [५१२१२३] इत्येप् । त्रेपाते । त्रेपिरे । “अन्थेश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] श्रे यतुः । श्रे थुः । उपसंख्यानेन लिटः ङित्वम् । इदमपि नियमार्थं सूत्रम् । एभिर्वृत्तस्यातस्तरतेरेव नान्यस्य । विशाशरतुः । विशाशरुः । विशाशरिथ । लुलविथ । अनेकहल्मध्यगतस्य त्रपेरेव नान्यस्य । ततक्षतुः । ततक्षिथ । ममन्थतुः । ममन्थुः । ममन्थिथ ।

वधे राधेः ॥४१४११४॥ राधेर्वधेऽर्थे हल्मध्येऽवर्णस्यैत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि थलि च परतः । परिरेधे । परिरेधाते । परिरेधिरे । कर्मणि दविधिः । परिरेधतुः । परिरेधुः । परिरेधिथ । वध इति किम् ? आराराधतुः । आराराधुः । आराराधिथ ।

वा जृभ्रमृत्रसाम् ॥४१४११५॥ जृ भ्रम् त्रस् इत्येतेषामतो वा एत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि च परतः । जेरतुः । जेरुः । जेरिथ । भ्रेमतुः । भ्रेमुः । भ्रेमिथ । त्रेतुः । त्रेमुः । त्रेमिथ । पत्ने जजरतुः । जजरुः । जजरिथ । बभ्रमतुः । बभ्रमुः । बभ्रमिथ । तत्रमतुः । तत्रमुः । तत्रमिथ । तृग्रहणादन्यस्यैभिर्वृत्तस्य न भवतीति जृपोऽप्राप्ते । भ्रमेरादेशादित्वात् त्रसेरनेकहल्मध्यगतत्वात्प्राप्ते विकल्पः ।

फणां सप्तानाम् ॥४१४११६॥ फणादीनां सप्तानां वा एत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि च परतः । फेणतुः । फेणुः । फेणथ । पफणतुः । पफणुः । पफणथ । रेजतुः । रेजुः । रेजिथ । रराजतुः । रराजुः । रराजिथ । भ्रेजे । भ्रेजते । भ्रेजिरे । बभ्राजे । बभ्राजते । बभ्राजिरे । भ्रेमे । बभ्रामे । भ्लेसे । बभ्लासे । स्येमतुः । स्येमुः । स्येभिथ । सस्यमुः । सस्यमिथ । स्वेनतुः । स्वेनुः । स्वेनिथ । सस्वनतुः । सस्वनुः । सस्वनिथ । समानामिति किम् ? दध्वनतुः । दध्वनुः । जज्वलतुः । जज्वलुः । जज्वलिथ ।

न शसददवादीनाम् ॥४१४११७॥ शस दद इत्येतयोर्वादीनां च लिटि ङिति सेटि च परत एत्व-चखे न भवतः । विशशसतुः । विशशसिथ । दददे । दददते । दददिरे । वादीनाम्-ववणतुः । ववणुः । ववणिथ । ववले । ववलाते । ववलिरे ।

भस्य ॥४१४११८॥ भस्येत्ययमधिकारो वेदितव्य आ पादपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति “पादः पत्” [४१४१११६] इति । द्विपदा । द्विपदे । भस्येति किम् ? द्विपादौ । द्विपादः । धे भमंज्ञा न भवति ।

पादः पद् ॥४१४११९॥ पादन्तस्य गोर्भस्य पदित्ययमादेशो भवति । द्विपदः पश्य । द्विपदा । द्विपदे । द्वौ पादावस्येति वसे “सुसंख्यादेः” [४१२११४०] इति पादस्यातः खम् । “निर्दिश्यमानस्यादेशो भवन्ति” [प०] इति पाच्छब्दस्य पदादेशः । द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति । “संख्यायाः पादशतेभ्यो वीप्सा-दण्डन्यागे वुन्” [४१२११०] खं च । वैयाघ्रपद्यः । व्याघ्रस्येव पादौ यस्य “खं पादस्याहस्यादेः” [४१२११३६] इति खम् । गर्गादित्वाद्यञ् । भस्येति किम् ? द्विपाद्भ्याम् । द्विपाद्भिः । पादवतेः क्विञ्चन्तस्य प्रयोगो नास्ति ।

वसोर्जिः ॥४१४१२०॥ वस्वन्तस्य गोर्भस्य जिर्भवति । उपसेदुपः पश्य । उपसेदुषा । उपसेदुपे । “वस्सदिणो वसुलिणम्” [१२१२८] इति वसुः । द्वित्वम् । हल्मध्ये लिट्यत इति एत्वचखे । ऋदिनिय-मादिट् । जौ कृते निमित्ताभावादिणिञ्चुत्तिः । भस्येत्येव । विद्वस्यति । विद्वस्यते । क्यञ्क्यङोः स्वादित्वा-भावाद्भमंज्ञा नास्ति । “नः क्ये” [१२११०४] इति नियमात्पदमंज्ञाविरहेण रित्वाद्यभावः ।

श्वयुवमघोनेऽहृति ॥४१४१२१॥ श्वन् युवन् मघवन् इत्येतेषां जिर्भवति अहृति परतः । शुनः पश्य । शुना । शुने । यूनः पश्य । यूना । यूने । “अन्नन्थ विकारेऽन्थसदेशस्य” [प०] इति यकारस्य न भवति । मघोनः पश्य । मघोना । मघोने । अहृतीति किम् ? शौवनं मांसम् । यौवनं वर्तते । माघवनम् । शुनो विकारः “प्राणितालादेः” [३१३१०५] इत्यण् । “द्वारादेः” [५१२१६] इत्यौञ् । यूनो भावः “हायनान्त-युवादिभ्योऽण्” । मघोने इट्म् । उत्तरत्र अन इति योगविभागः । अन्नन्तानां श्वादीनां जिर्भवति । तेन युवतीः पश्येत्यत्र “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य” [प०] इति न भवति ।

अनोऽखमम्बस्फात् ॥४१४१२२॥ अन्नन्तस्याखं भवति स चेदन् मकारवकारान्तस्फात्परो न भवति । राज्ञः पश्य । राज्ञे । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इति चुत्वम् । तद्गणः पश्य । तद्गणा । तद्गणे । अन्नन्त-स्येति वचनान् राजकीय इत्यत्र न भवति । अम्बस्फादिति किम् ? धर्मणः । धर्मणे । तत्त्वदृश्वनः पश्य । तत्त्वदृश्वना । तत्त्वदृश्वने ।

पादिहनधृतराज्ञोऽणि ॥४१४१२३॥ पकारादेरनः हन् धृतराजन् इत्येतयोश्चाणि परतोऽकारस्य खं भवति । आद्गणः । ताद्गणः । हन्-भ्रौणध्नः । वार्त्रध्नः । धृतराजन्-धार्तराज्ञः । अपत्यार्थेऽण् “अनः” [४१४११५८] इति अखर्दिखयोः प्रतिपन्धे प्राप्ते सूत्रम् । एतेपामिति किम् ? सामनो धौमनः । ताक्षण्यः । “सेनान्त-लक्षण” [३१११४०] इत्यादिना एयः ।

वा ङिश्योः ॥४१४१२४॥ अनोऽकारस्य वा खं भवति डौ शीशब्दे च परतः । राज्ञि । राजनि । लोमिन् । लोमनि । साम्नी । सामनी । दाम्नी । दामनी । भस्येत्यधिकारात् “नपः” [५१११६] इत्यनेना-दिष्टः शीशब्दो गृह्यते ।

अचः ॥४१४१२५॥ अच इत्यञ्चेर्नष्टनकारो गृह्यते । तदन्तस्य गोरकारस्य खं भवति । प्रतीचः पश्य । प्रतीचा । प्रतीचे । मधूचः पश्य । मधूचा । मधूचे । भस्येत्येव । प्रत्यञ्चमिच्छति प्रत्यच्यति । क्यच् । स्वादिष्वभावात्पूर्वस्य भवंशा नास्ति । अच इति नष्टनकारग्रहणं किम् ? प्रत्यञ्चः पश्य । प्रत्यञ्चा । प्रत्यञ्चे । “नाञ्जेः पूजे” [४१४१२६] इति नखाभावः ।

ईदुदः ॥४१४१२६॥ उदः परस्याच ईकारादेशो भवति भस्य । उदीचः पश्य । उदीचा । उदीचे । उदीच्यः । “शुभ्रगपागुदकप्रतीचो यः” [३१२।८०] इति यः । अखापवादोऽयम् ।

आतो धोः ॥४१४१२७॥ आकारान्तस्य धोर्भस्य खं भवति । कीलालपः पश्य । कीलालपा । कीलालपे । शुभंयः पश्य । शुभंया । शुभंये । आत इति किम् ? ग्रामण्या । ग्रामण्ये । धोरिति किम् ? मालाः पश्य । “जृब्रश्चः क्वः” [५।१।१०३] “थन्नोरातः” [४।४।१०२] इत्यादयः सौत्रा निर्देशाः । भस्येत्येव । क्षीरपामिच्छति क्षीरपीयति ।

तेर्विंशतेर्डिति ॥४१४१२८॥ भस्य विंशतेर्डिति परतस्तिशब्दस्य खं भवति । विंशत्या क्रीतो विंशकः । “विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुरखौ” [३।४।२१] इति वुः । तिखे कृते “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपत्वम् । विंशतेः पूर्णं विंशं शतम् । विंशतिरधिका अस्मिन्निति “तदस्मिन्नधिकमिति शदशान्ताङ्गुः” [३।४।१६७] “विंशतेश्च” [३।४।१६८] इति डः । आसन्ना विंशतेरिमे आसन्नविंशाः । “संख्येये” [१।३।८७] इत्यादिना वसः । “संख्यावाङ्गोऽबहुगणात्” [४।२।६९] इति डः सान्तः । डितीति किम् ? विंशत्या ।

टेः ॥४१४१२९॥ टिसंज्ञकस्य डिति परतः खं भवति । त्रिंशता क्रीतः त्रिंशकः । त्रिंशं शतम् । आसन्नाश्चतुर्णामिमे आसन्नचताः । कुमुद्वान् । नड्वान् । वेतस्वान् । कुमुदान्यस्मिन् देशे सन्ति “कुमुदनडवेतसाङ्गित्” [३।२।६७] इति मनुः । नड्वलम् । नडा अस्मिन् देशे सन्ति “नडशादाङ्गित्” [३।२।६६] इति वलः । डित्करणवामर्थ्यादभस्यापि टेः खम् । अतएव उपसरे जात उपसरजः । मन्दुगयां जातः मन्दुरजः । “खे ङ्यापोः क्वचित्खौ च” [४।३।१७३] इति प्रः ।

नोऽपुंसो हति ॥४१४१३०॥ नकारान्तस्य भस्य हति परतष्टिखं भवत्यपुंसः । आग्निशर्मिः । देवशर्मिः । औडुलोमिः । गृह्वादिन्यादिञ् । न इति किम् ? वैद्युतोऽग्निः । अपुंस इति किम् ? पुंस इदं पौंसम् । “क्रीपुं सान्नुक्त्वात्” [३।१।७२] इति अञ्नुकौ । हतीति किम् ? शर्मणा । शर्मणे । भस्येव । शर्मण आगतं शर्मरूप्यम् । शर्ममयम् । “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” [३।३।५५] इति रूप्यमयदौ ।

सब्रह्मचारयोदेः ॥४१४१३१॥ सब्रह्मचारित्रित्येवमादीनां हति टेः खं भवति । सब्रह्मचारिणः शिष्यः साब्रह्मचारः । पीठसर्पिणोऽयं पैठसर्पः । कलापिनोऽयं कालापः । अथवा कलापिना प्रोक्तमधीते शौनकादिषु वैशम्पायनान्तेवासित्वाणिनि प्राप्ते “कलापिनोऽय्” [३।३।७६] इत्यण् । “तद्वेत्स्यधीते” [३।२।५१] इत्यण् । “उष्प्रोक्तात्” [३।२।५४] इत्युप् । “छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव” [३।२।५६] इति अध्येतृविषयता । कुथुमिनः शिष्यः कौथुमः । तितिलिनः तैतिलः । जजलिनः जाजलः । अन्येषां तैतिलिजाजलिशब्दावाचार्यवचनावुपचारद्ग्रन्थोऽपि तयोरुक्तः । तमधीते तैतिलः । जाजलः । लाङ्गलिनः शिष्यः लाङ्गलिनमधीते वा लाङ्गलः । शिलालिनोऽयं शैलालः । शिखण्डिनोऽयं शैखण्डः । सूकरसन्नोऽयं सौकरसन्नः । सुपर्वणः सौपर्वः । इनन्तानां “प्रायोऽनपत्येऽशीनः” [४।३।५५] इति टिखप्रतिषेधः प्राप्तः ।

श्वाश्मचर्मणां सङ्कोचविकारकोशेषु ॥४१४१३२॥ श्वन् अश्मन् चर्मन् इत्येतेषां संकोचविकारकोश इत्येष्वर्थेषु हति टेः खं भवति । शौवः संकोचः । शौवनोऽन्यत्र । कथं शौवं मांसम् । “अनः” [४।४।१५८] इत्यत्र प्रायोग्रहणानुवृत्तेर्विकारे टिखप्रतिषेधो नेष्यते । अश्मनो विकार आश्मः । आश्मनोऽन्यत्र । चार्मः कोशः । चार्मणोऽन्यः ।

टखोरेवाहः ॥४१४१३३॥ अह्नित्येतस्य टखोः परतः टः खं भवति । द्वयहः । व्यहः । द्वे अहनी समाहृते, त्रयाणामह्नां समाहारः रसे कृते “**राजाहःसखिभ्यष्टः**” [४१२।६३] इति टः सान्तः । “**न समाहारे**” [४।२।६१] इति अह्नादेशप्रतिषेधः । द्वे अहनी भूतो भावी वा द्वयहीनः । व्यहीणः । हृदयं रसः । “**समायाः खः**” [३।४।८२] इत्यधिकारे “**राव्यहःसंवत्सरात्**” [३।४।८४] इति खः । अह्नां समूहः अहीनः । हृत इति बहुवचननिर्देशात्खः । टखोरेवेति किम् ? अह्ना निर्वृत्तमाह्निकम् । “**तेन निर्वृत्तः**” [३।४।७५] इति प्राग्वतषष्ठ्यञ् । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । अह्न एव टखोरिति मा भूत् । एवं हि मद्रराज इति न स्यात् । “**खेऽध्वनः**” [४।४।१६०] इति प्रतिषेधारम्भात् इष्टतोऽवधारणे प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् ।

कद्रघोरोऽस्वयम्भुवः ॥४१४१३४॥ कद्रशब्दस्य उवर्णान्तस्य च भस्य हृति परत ओकारादेशो भवति स्वयम्भूशब्दं वर्जयित्वा । कद्र्वा अपत्यं काद्रवेयः । “**स्त्रीभ्यो ढण्**” [३।१।१०६] इति ढण् । “**ढे खम्**” [४।४।१३५] इत्यस्यापवादार्थं कद्रूप्रहणम् । उवर्णान्तस्य माण्डव्यः । बाभ्रव्यः । औपगवः । कापटवः । अस्वयम्भुव इति किम् ? स्वायम्भुवं धाम स्वायम्भुवी प्रक्रिया । “**तस्येदम्**” [३।३।८८] इत्यण् । ओत्वे प्रतिषेधे उवादेशः ।

ढे खम् ॥४१४१३५॥ ढे परत उवर्णान्तस्य खं भवति । कामण्डलेयः । शैतिवाहेयः । जाम्भेयः । “**बाह्वन्तकद्रुकमण्डलुभ्यः खौ**” [३।१।६०] इति ऊत्ये कृते । अपत्यार्थं “**चतुष्पाद्भ्यो ढञ्**” [३।१।१२३] इति ढञ् । जान्वाः जानेय । “**द्वयचः**” [३।१।११०] इति ढण् । इयुवौ परत्वान् खं बाधते । वाल्मिप्रेयः । लौगाभ्रेयः । वन्सप्रीः चतुष्पाद् । लेखाभ्रः शुभ्रादिः । ढ इति ङिम् ? कमण्डलवे हिता कमण्डलव्या मृत् ।

यस्य ड्यां च ॥४१४१३६॥ इवर्णान्तस्यावर्णान्तस्य च खं भवति डीत्ये हृति च परतः । दाक्षी । प्लाक्षी । “**इतो मनुष्यजातेः**” [३।१।५५] इति डीः । स्वेको दीत्ये क्रियमाणे अतिसखेरागच्छतीत्यत्र दोषः स्यात् । सखीमतिभ्रान्तः अतिसखिः । “**खीगोनीचः**” [१।१।८] इति प्रादेशे कृते सख्यसख्योरकादेशः सखिशब्दवद्भवतीति “**स्वसखि**” [१।२।६७] इति सुसंज्ञाविरहादेभ्यः स्यात् । खे तु न दोषः । अवर्णान्तस्य गौरी । कुमारी । हृति-नाभेयः । नभेयः । “**इतोऽनिजः**” [३।१।१११] “**द्वयचः**” [३।१।११०] इति ढण् । श्रैमतः । अवर्णान्तस्य-दैवदत्तः । वायुवेगेयः ।

मत्स्योऽद्यो ड्याम् ॥४१४१३७॥ मत्स्यशब्दस्य उडो यकारस्य खं भवति डीत्ये परतः । मत्सी । “**गौरादेः**” [३।१।२३] इति डः । मत्स्यस्यापत्यं स्त्री माल्सी । “**द्वयञ्मगध**” [३।१।५२] आदिसूत्रेणाण् । तदन्तान्डीः । ड्यामवर्णखस्यासिद्धत्वादुडो यकारस्य खम् । अणि परतोऽखस्य व्याश्रयत्वासिद्धत्वम् । उड इति किम् ? मत्स्यचरी । यग्रहणमुत्तारार्थम् । ड्यामिति किम् ? मत्स्यस्येदं मात्स्यम् ।

सूर्यागस्त्ययोश्छे च ॥४१४१३८॥ सूर्य अगस्त्य इत्येतयोश्छे ड्यां च परत उडो यकारस्य खं भवति । सौरीयः । सौरी । आगस्तीयः । आगस्ती । सूर्यागस्त्यशब्दौ केवलौ डीं न प्रयोजयत इत्यणन्तौ गृह्येते । सूर्यो देवता अ य सौर्यः तस्यायं सौरीयः । सूर्यस्येयं सौरी । अगस्त्यस्यापत्यम् ऋषिस्त्रिादण् । आगस्त्यः । तस्याय-मागस्तीयः । छे ड्यां चाऽतः खस्यासिद्धत्वादुडु यकारः । अण्यखस्य व्याश्रयत्वादसिद्धत्वं नास्ति । सूर्याय हितः अगस्त्याय हित इति प्राकठणश्छो नास्त्यनभिधानात् । छे चेति किम् ? सौर्यं तेजः । आगस्त्यं स्थानम् । उड इत्येव । सूर्यमयी ।

तिष्यपुष्ययोर्भाणि ॥४१४१३९॥ तिष्य पुष्य इत्येतयोर्भाणि परत उडो यखं भवति । तिष्येण युक्तः कालः तैपः । पौपः । तिष्यपुष्योरिति किम् ? तिष्येण युक्तं सैष्यमहः । भाणीति किम् ? पुष्यो देवताऽस्येति पौष्यः ।

हलो हतो ड्याम् ॥४१४१४०॥ हल उत्तरस्य ह्रस्वकारस्य उडः खं भवति ड्यां परतः । गार्गी । वात्सी । वाजी । “**यजः**” [३।१।१६] इति डीः । यखविधिं प्रति न स्थानिषदिति हलः परत्वं यकारस्य । हल इत्य-

विशेषेण ग्रहणम् । हृतोऽन्यस्य वा हलः परस्य हृद्यकारस्य खं भवति । तेन “वृकाट्टेऽय्यन्” [४।२।४] वाकंशी । हल इति किम् ? वायुवेगेयी । हृत इति किम् ? भ्रूय्याम् । गौरादित्वान्डीः । वैद्यस्य भार्या वैद्या । डधामिति किम् ? आवटया । अवटस्यापत्यं छी ।

क्वच्च-।धृत्यापत्यस्य ॥४।४।१४१॥ क्य च्वि इत्येतयोरनाकारादौ च हृति परत आपत्यस्य यकारस्य हलः परस्य खं भवति । गार्गीयति । वात्सीयति । गार्गीयते । वात्सायते । च्वि । गार्गीभूतः । वात्सीभूतः । अनाति हृति-गार्गीणां समूहो गार्गीकम् । वात्सकम् । “बृद्धोक्षोष्टोरञ्ज” [३।२।३४] आदिना वुञ् । गार्गीणां सङ्घोऽङ्घो वा गार्गीः । वात्सः । अनातीति किम् ? गार्गीयणः । हृतीति किम् ? सामान्येनापत्यस्य खं यथा रयात् । आपत्यस्येति किम् ? साङ्काशकः । काम्पिल्यः । सङ्काशेन निवृत्तः । काम्पिलेन निवृत्तः । “बुञ्छण्” [३।२।६०] आदिना एयः । ततो भवार्थे “बन्धयोङ्” [३।२।६६] इति वुञ् । हल इत्येव । वायुवेगेयः ।

तस्यन्तिकस्य कादेः ॥४।४।१४२॥ तसि परतोऽन्तिकस्य ककारादेः खं भवति । अन्तिकात् अन्तितः आगतः । “तमे परतः तादेः कादेश्चान्तिकस्य खं वक्तव्यम्” [वा०] । अतिशयेन अन्तिकः “तमेष्टावतिशयने” [४।१।११४] इति तमे कृते । अन्तमः । अन्तितमः । “भिसंज्ञकस्य भमात्रे टिखं च वक्तव्यं सायम्प्रातिकाथर्थम्” [वा०] । सायम्प्रातर्भवः सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः । आकस्मिकः । शाश्वतिक इत्यत्र “येवां च द्वेषः शाश्वतिकः” [१।४।८५] इति निपातनात् भवति । शाश्वच्छब्दो लक्षणम् । आशतीयः । शाश्वत इत्यादिषु च न भवति । “कालाट्टञ्” [३।२।१३१] इत्यतः कालादिति योगविभागः । तेन शाश्वच्छब्दादण् ।

विल्वकादेश्छस्य ॥४।४।१४३॥ विल्वकादीनां छस्य खं भवति हृति परतः । नडादिषु विल्ववादयः पठ्यन्ते कृतकुगागमाः इह निर्दिष्टाः । विल्व्वा अस्मिन् देशे सन्ति “उत्करादेश्छः” [३।२।७०] “नडादेः कुक्” [३।२।७१] चागमः । विल्वकीयः । तत्र भवो वैल्वकः । सर्वस्य छस्य खम् । अन्यथा अनर्थकं स्यात् । वेणुकीयः वैत्रकीयः । वक्रकः । वेतसकीयः । वैतसकः । तुणकीयः । तारुणकः । इन्दुकीयः । ऐन्दुकः । कपिष्ठलकीयः । कापिष्ठलकः । कपोतकीयः । कापोतकः । “क्रुञ्चायाः प्रश्च” । क्रुञ्चकीयः । क्रौञ्चकः । कुक् छ एव सम्भवति । छस्येति किमर्थम् ? कुको निवृत्तिर्मा भूत् । अन्यथा “सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः” [प०] इति यथा पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य “हृदर्थे” [१।३।४६] इति रसे कृते आगतस्याणो “रस्योवनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्य निवृत्तौ आनुकोऽपि निवृत्तिः । पञ्चेन्द्रः ।

तुरिष्ठेमेयस्सु ॥४।४।१४४॥ तृशब्दस्य खं भवति इष्टेमेयस्सु परतः । करिष्ठः । करीयान् । हरिष्ठः । हरीयान् । सर्वे कर्तृमन्तोऽयमेवामतिशयेन कर्तृमान् “विन्मतोरुप्” [४।१।१२४] इत्यनेनोप् । “इष्टेयसौ च सर्वस्य तुः खम्” । अन्त्यस्य “टेः” [४।४।१४५] इति सिद्धम् । इमन्ग्रहणमुत्तरार्थम् ।

टेः ॥४।४।१४५॥ टेश्च खं भवति इष्टेमेयस्सु परतः । पटिष्ठः । पटिमा । पटीयान् । लघिष्ठः । लघिमा । लघीयान् ।

एाविष्ठवन्मृदः ॥४।४।१४६॥ णौ परत इष्टे इव कार्यं भवति मृदः । पटयति । लघयति । कर्तृमन्तमाचष्टे करयति । प्रशस्यमाचष्टे “आदेप्” [४।३।७५] श्रयति । ज्ययति । वादस्य साधयति । युवानं करोति कनयति । सग्विणः सजयति । सर्वत्र “नैकाचः” [४।४।१५४] इति प्रतिषेधः । गुकार्ये निवृत्ते नैप् । एनीमाचष्टे एतयति । “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्भावः । उत्तरत्रापि प्रियमाचष्टे प्रापयति । स्थापयति । गुकार्यपरिमापाया अनित्यत्वादैःपुगागमौ । पृथु प्रथयति । स्थूलस्य स्थवयति ।

स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यण इक एण्व ॥४।४।१४७॥ स्थूल दूर युवन् ह्रस्व क्षिप्र क्षुद्र इत्येतेषां यणः खं भवति इक एण् च इष्टेमेयस्सु परतः । स्थविष्ठः । स्थवीयान् । दविष्ठः । दवीयान् । “युवाल्पयोः कन्वा” [४।१।१२३] इत्यानादेशपक्षे-यविष्ठः । यवीयान् । “अनन्यधिकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इति यकारस्य न भवति । हसिष्ठः । हसीयान् । हसिमा । क्षेपिष्ठः । क्षेपीयान् । क्षेपिमा । क्षोदिष्ठः ।

क्षोदीयान् । क्षोदिमा । ह्रस्वादयः पृथ्वादौ पठ्यन्ते । यणः परस्य तु “ऌः” [४१११४५] इति खम् । इक इति किमर्थम् ? क्षेपिष्ठ इत्यत्र अनन्त्यस्याप्येव यथा स्यात् । गौ ह्रस्वमाचष्टे ह्रसयति । गुकार्यस्य निवृत्तत्वात् उङ् एभ्य भवति ।

प्रियस्थिरस्फिरयादेशः ॥४१४१४८॥ प्रिय स्थिर स्फिर इत्येतेषाम् इकारादेर्वर्णमघातस्य अकारादेशो भवति इष्टेमेयस्सु परतः । प्रेष्ठः । प्रेयान् । प्रेमा । स्थेष्ठः । स्थेयान् । स्थेमा । स्फेष्ठः । स्फेयान् । स्फेमा । प्रियमाचष्टे प्रापयति । स्थापयति । “**देयमृष्टे**” [३१३२२] इति निर्देशात् गुकार्यपरिभाषाया अनित्यत्वम् । तेन शिचि “**ष्णित्यचः**” [५१२३] इत्यैप् । ।

बहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां वंहिगर्वर्षिन्नपद्वाघवृन्दाः ॥४१४१४९॥ बहुल गुरु वृद्ध तृप्र दीर्घ वृन्दारक इत्येतेषां वंहि गर् वर् वर्षि न्प द्राघ वृन्द् इत्येत आदेशा भवन्ति इष्टेमेयस्सु परतः । वंहिष्ठः । वंहियान् । वंहिमा । गरिष्ठः । गरीयान् । गरिमा । उरु-वरिष्ठः । वरीयान् । वरिमा । वृद्धस्य ज्यादेश उक्तः । वचनादयमपि भवति । वर्षिष्ठः । वर्षीयान् । त्रपिष्ठः । त्रपीयान् । द्राधिष्ठः । द्राधीयान् । द्राधिमा । वृन्दिष्ठः । वृन्दीयान् । णावपि वंहयति । गरयतीत्यादि योज्यम् । स्फिरवृद्धतृप्रवृन्दारकवर्जिताः पृथ्वादौ द्रष्टव्याः । अणुगुणवचनेभ्योऽपि अणुएव वचनान् इष्टेयम् ।

बहोर्ब्वस्मात्वम् ॥४१४१५०॥ बहोर्भू इत्ययमादेशो भवति अस्माच्च परेषाम् इष्टेमेयसां म् भवति । भूयान् । भूमा । “**परस्यादेः**” [१११५१] खम् । भूभावस्यासिद्धत्वात् उकारस्यौत्वं न भवति । बहोः पृथ्वादिन्वादिमन् ।

यिट् चेषुस्य ॥४१४१५१॥ इष्टस्य यिडागमो भवति बहोश्च भृगदेशः । भूयिष्ठः । खापवाडो यिडागमः । इकार उच्चारणार्थः । भूभावस्यासिद्धत्वादौत्वाभावः ।

ज्यादेशस्यः ॥४१४१५२॥ ज्यादेशात्परस्य ईय आकारादेशो भवति । ज्यायान् । ज्यायांसौ । ज्यायांसः । “**प्रशस्यस्य श्रः**” [४११११६] “**ज्यः**” [४१११२०] इति ज्यादेशः । प्रकृते खे परस्यादौ कृते “**दीरकृद्गे**” [५२११३४] इति पूर्वस्य च दीत्वे सिद्धमिति चेत् “**गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्**” [५०] इति दीत्वं न स्यादित्याकारवचनम् ।

ऊरोऽनादेर्घेः ॥४१४१५३॥ ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यनादेर्घिसंज्ञकस्य इष्टेमेयस्सु परतः । प्रथिष्ठः । प्रथीयान् । प्रथिमा । म्रदिष्ठः । म्रदीयान् । म्रदिमा । अकारान्तो रेफादेशः । उरिति किम् ? पटिष्ठः । अनादेरिति किम् ? अतिशयेन ऋतवान् ऋतीयान् “**विन्मतोरूप्**” [४१११२४] इति मतोरूप् । ईयम् । घेरिति किम् ? कृष्णिष्ठः । कृष्णीयान् । कृष्णिमा ।

पृथुमृद्धोः कृशभृशयोर्दृपरिवृढयोश्चरो भवत्येव ।

सिंहावलोकतोऽग्ने प्रायोग्रहणादयं नियमः ॥

तेनेह न भवति । मातरमाचष्टे मातयति । परत्वाट्टिखस्यायमपवादः स्यात् । तथा कृतमाचष्टे कृतयति ।

नैकाचः ४१४१५४॥ एकाचो भस्य यदुक्तं तन्न भवति । त्वचिष्ठः । त्वचीयान् । मुचिष्ठः । मुचीयान् । “**विन्मतोरूप्**” [४१११२४] इति मतोरूपि कृते “ऌः” [४१११४५] इति खं प्रातम् । णावपि त्वग्वन्तमाचष्टे त्वचयति । मुचयति । एकाच इति किम् ? अतिशयेन वसुमान् वसिष्ठः । वसीयान् । वसयति । नेति योगविभागः । तेन “**राजन्यमनुष्ययूनामके यदुक्तं तन्न भवति**” राजन्यानां समूहो राजन्यकम् । मनुष्याणां समूहो मानुष्यकम् । “**क्यस्यनादृष्ट्यापत्यस्य**” [४१४१४१] इति यखं प्रातम् । यूनो भावो यौबनिका । मनोज्ञादिपाठाद्बुञ् “**नोऽसुंसो हति**” [४१४१३०] इति टिखं प्रातम् ।

प्रायोऽनपत्येऽग्निः ४१४१५५॥ अनपत्यार्थेऽग्नि परत इन्नन्तस्य यदुक्तं तन्न भवति प्रायः । स्रग्विण इदं स्रग्विणम् । तथा सांकोटिनम् । सांघविणम् । सांभार्जिनम् । “**जिन्नभिधिर्धौ**” [२३३६६] इति

जिन् । तदन्तात् स्वार्थं “जिनोऽण्” [४।२।२१] इत्यण् । अनपत्य इति किम् ? बाहुबलिनोऽपत्यं बाहुबलः । अणीति किम् ? मेधाविने हितं मेधावीयम् । प्रायोग्रहणात्क्वचित्प्रतिषेधो न भवति । दण्डिनां समूहो दाण्डम् । छात्रम् ।

श्रौत्तम् ४।४।१५६॥ श्रौत्तमिति निपात्यतेऽनपत्ये । उद्गण इदम् श्रौत्तम् । अपत्ये श्रौद्गण इत्येव । “पादिहन्धतराज्ञोऽणि” [४।४।१२३] इत्यलम् । “अनः” [४।४।१५८] इत्यस्यापवादोऽयं योगः ।

गाथिधिदथिकेशिपणिरिष्कादेः ॥४।४।१५७॥ गाथिन् विदथिन् केशिन् पणिन् गणिन् । इत्येतेषां स्कादेश्च इनो यदुक्तं तन्न भवति । गाथिनोऽपत्यं गाथिनः । वैदथिनः । केशिनः । पणिनः । गणिनः । स्कादेः शाङ्खिनः । चाक्रिणः । भाद्रिणः । अपत्यार्थेऽप्यणि प्रतिषेधार्थभिदम् ।

अनः ॥४।४।१५८॥ अनपत्य इति निवृत्तम् । सामान्येनाणि परतोऽनो यदुक्तमखं टिखं च तन्न भवति । कर्मणा इदं कर्मणम् । साम देवता अस्य सामनः । हेम्नो विकारो हैमनः । यज्वनोऽपत्यं याज्वनः । प्राय इत्यनुवृत्तेरिष्केऽपि टिखाभावः । उपचारादथर्वा ग्रन्थोऽपि तमधीते आथर्वणिकः ।

येऽडौ ॥४।४।१५९॥ अडावर्थं यकारादौ हृति परतोऽनो यदुक्तं तन्न भवति । मामनि साधुः सामन्यः । वेमन्यः । कर्मण्यः । राज्ञोऽपत्यं राजन्यः । तद्गणोऽपत्यं तान्गण्यः । “सेनान्तलक्षण” [३।१।१४०] आनिना तद्गणो ण्यः । अडाविति किम् ? गज्यम् । “गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च” [३।४।११४] इति ट्यण् ।

खेऽध्वनः ॥४।४।१६०॥ अध्वनः खे परतो यदुक्तं तन्न भवति । अध्वानमलंगामी अध्वनीनः । “यत्नावध्वनः” [३।४।१३६] इति खः । खे इति किम् ? प्राध्वं कृत्वा गतः “गेरध्वनः” [४।२।८७] इत्यकारः सान्तः ।

न मादेरपत्येऽवर्मणः ॥४।४।१६१॥ मकारादेरनो वर्मवर्जितस्यापत्यार्थेऽणि परतो यदुक्तं तन्न भवति । मुपाम्नोऽपत्यं सौपामः । भाद्रसामः । “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिखं भवत्येव । मादेरिति किम् ? सौत्वनः । अपत्य इति किम् ? चर्मणा परिवृत्तश्चार्मणो रथः । “परिवृत्तो रथः” [३।२।८] इत्यण् । अवर्मण इति किम् ? हैरण्यवर्मणः । प्रायोग्रहणानुवृत्तेर्हितनाम्नो विकल्पः । हितनाम्नोऽपत्यं हैतनामः । हैतनामनः ।

ब्राह्मोऽजातौ ॥४।४।१६२॥ अपत्य इति वर्तमानं जातेर्विशेषणम् । ब्राह्म इति निपात्यतेऽपत्य-जातेरन्यत्र । ब्राह्मणो (ब्राह्मो) गर्भः । ब्राह्ममस्त्रम् । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् । अजाताविति किम् ? ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः । अपत्यजातिरियम् । अजाताविति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । तेन अपत्यजातेरन्यत्र जाना-वपि निपातनमिष्यते । ब्रह्मण इयं ब्राह्मी श्रौपथिः ।

कर्मः शीले ॥४।४।१६३॥ कर्म इति निपात्यते शीलेऽर्थं । कर्मशीलः कर्मः । “कृश्रादेर्णा” [३।३।१८०] इति णः । स तु “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इत्येव णे टिखे सिद्धः । “अनः” [४।४।१५८] इति त्यणि प्रतिषेधः । इदमेव ज्ञापकं “शेऽप्यण् कृतं भवति [प०] इति । तेन चुरा-शीला चौरी । णान्तान्-डी विधिः । शील इति किम् ? वायुक्तं कर्म कर्मणम् । “तद्युक्ताकर्मणोऽण्” [४।२।४२] इत्यण् ।

दण्डिहस्तिनोः फे ॥४।४।१६४॥ दण्डिन् हस्तिन् इत्येतयोः फकारादौ हृति यदुक्तं तन्न भवति । दण्डिनोऽपत्यं दण्डिनायनः । हास्तिनायनः । नडादित्वात्फण् ।

वाशिजिह्वाशिनोः फे ॥४।४।१६५॥ वाशिन् जिह्वाशिन् इत्येतयोः फे दे च यदुक्तं तन्न भवति । वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः । तिकादित्वात्फिञ् । जिह्वाशिनोऽपत्यं जैह्वाशिनेयः । “शुभ्रादेः” [३।१।११२] इति ट्यण् । “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिखं प्राप्तम् ।

श्रौणहृत्यधैवत्यसारवधैदवाकमैत्रेयहिरण्मयानि ॥४।४।१६६॥ श्रौणहृत्य धैवत्य सारव ऐच्वाक मैत्रय हिरण्मय इत्येतानि निपात्यन्ते । भ्रूणहन् धीवन् इत्येतयोश्चणि तत्त्वं निपात्यते । भ्रूणध्नो भावो

भ्रौणहृत्यम् । इदमेव ज्ञापकं “हनस्तोऽजिणलोः” [५।२।३६] इति धोस्त्य एव नान्यत्र हन्तेस्तत्वम् । तेनेह न भवति । वार्ध्न इति । धीव्नो भावो धैवत्यम् । सरयूशब्दस्य अणि परतो यत्वं निपात्यते । सारवं जलम् । इक्ष्वाक्रोरपत्यम् ऐक्ष्वाकः । “राष्ट्रशब्दाद्राज्ञोऽञ्” [३।१।१५०] इति अणि उकारस्य खं निपात्यते । “तस्येदम्” [३।३।८८] इति वा भवार्थे “कोङ्ः” [३।२।११०] इति वाऽणि । मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः “गृष्ट्यादेः” [३।१।१२४] इति ढणि कृते “यादेरिय्” [५।२।७] यादो युशब्दस्य खं निपात्यते । यादेरियादेशस्तु विदादित्वादिजि कृते द्रष्टव्यः । अत्रन्तस्य सङ्गादिविवक्षायां “सङ्गाङ्गलक्षणाघोषेऽभ्यजिजामण्” [३।३।१५५] इति अणि कृते मैत्रेयः सङ्घः । दणन्तस्य सङ्गादौ “वृद्धचरणाङ्गित्” [३।३।१६४] इति बुनि मैत्रेयकः सङ्घ इति भवति । हिरण्यस्य विकारः । “मयड्वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति मयटि कृते यशब्दस्य खम् । हिरण्यं जिनगृहम् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

पञ्चमोऽध्यायः

युवोरनाको ॥५।१।१॥ यु वु इत्येतयोर्गोनिमित्तभूतयोः अन अक इत्येतावादेशौ भवतः । युवोरित्युत्सृष्टविशेषणयोः सामान्यग्रहणम् । योरनः । वोरकः । नन्यादेत्युः नन्दनो रमणः । “एवुवृचौ” [२।१।१०६] कारको हारकः । एवमाङ्गको वाङ्गकः । अङ्गेणु जातो भवो वेति विगृह्य “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति वुञ् । योः कृत एव ग्रहणं व्याख्यानात् । तेनेह न भवति । उर्गायुः । शुभंयुः । उणादीनां बहुलं त्यमंजा तेनेह न भवति भुजुः । “भुजिमृद्भ्यां युक्त्युको” [उ० सू० ३।२१] इति युक् ।

आयनेयीनीयियः फटखल्लघ्यां त्यादीनाम् ॥५।१।२॥ फ ढ ख ल् घ इत्येतेषां त्यादौ वर्तमानानां निरचाम् आयन् एय् ईन् ईय् इय् इत्येदे आदेशा यथासंख्यं भवन्ति । “नडादेः फण्” [३।१।८८] नाडायनः । चारायणः । “स्त्राभ्यो ढण्” [३।१।१०६] वायुवेगेयः । वासवदत्तेयः । “प्रतिजनादेः खञ्” [३।३।२०३] । प्रतिजने साधुः प्रतिजनीनः । ऐदंयुगीनः । “दोश्छः” [३।२।६०] वासवीयो ध्वजः । वैश्रवणीया शिविका । क्षत्रस्या पत्यं क्षत्रियः । त्यग्रहणं किम् ? फक्कति । दौक्ते । आदिग्रहणं किम् ? जानुदधनम् । पण्डः । शङ्खः इत्यादौ “उणादयो बहुलम्” [२।२।१६७] इत्यादेशा न भवन्ति ।

भोऽन्तः ॥५।१।३॥ त्य इत्यनुवर्तते । आदिग्रहणं निवृत्तम् । स्वरितलिङ्गाभावात् । भ इति भ्रकारस्य त्यावयवस्य अन्त इत्ययमादेशो भवति । जानन्ति । पश्यन्ति । “जृविशिभ्यां भः” [उ० सू०] जरन्तः । वैरान्तः । त्यस्येति किम् ? उजिभक्तः ।

अत्थात् ॥५।१।४॥ थर्शकात्परस्य भस्य अत् इत्ययमादेशो भवति । ददति । ददतु । मिमते । मिमताम् । अन्तादेशापवादोऽयम् । न तु भेजुंसः । अददुः । अजन्तुः ।

देऽनतः ॥५।१।५॥ दविपये यो भ्रकारस्तस्यानकारान्ताद्रोरुत्तरस्य अदित्ययमादेशो भवति । लुनते । लुनताम् । अलुनत । पुनते । पुनताम् । अप्रुनत । द इति किम् ? लुनन्ति । पुनन्ति । अनत इति किम् ? च्यवन्ते । प्लवन्ते । नित्यत्वात् प्रागेव शाप् ।

शीङो रुट् ॥५।१।६॥ शीङो गोर्निमित्तभूतस्य भस्य रुडागमो भवति । शेरते । शेरताम् । अशेरत । रुडयं परादिः क्रियते भ्रग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात्तेन “शीङो गे” [५।३।१३०] इत्येप् । परत्वेन रुटि कृते आदिग्रहणनिवृत्तेर्मध्येऽपि त्यावयवस्य भस्यादादेशः । सानुबन्धग्रहणं किम् ? यडुबन्तस्य मा भूत् । व्यतिशेष्यते ।

वेत्तेः सिद्धसेनस्य ॥५११७॥ वेत्तेर्गोनिमित्तभूतस्य ऋस्य रुडागमो भवति सिद्धसेनस्याचार्यस्य मतेन । संविद्वते । संविदते । संविद्वताम् । संविद्वताम् । समविद्वत । समविद्वत । “समो गम्प्रच्छि” [११२२४] इत्यादिना विदेर्दः । तिपा निर्देश उच्चिकरणार्थः । तेन “विद विचारणे” [धा.] इत्यस्य रौवादिकस्य ग्रहणं न भवति । विन्दते ।

भिसोऽत ऐस् ॥५११८॥ अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः । अत इत्यकारान्ताद् गोरुत्तरस्य भिस ऐस् भवति । सुरैः । अमुरैः । अत्र “बहौ ऋध्येत्” [५१२१८] इति परत्वादेवं कस्मान्न भवति । कृतेऽप्येत्वे भूतपूर्व-गत्या पुनः प्राप्नोतीति नित्यत्वादौ । एषिति सिद्ध ऐस्ग्रहणं किम् ? अतिजरसैः । “तिक्रुप्रादयः” [११३८१] इति सं “स्त्रीगोर्नीचः” [१११८] इति प्रादेशे च कृते । “एकदेशविकृतमन्यवत्” [प०] इति जरशब्दस्या-सङ्गदेशः । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” [प०] इति परिभाषेयमनित्या “कष्टाय” [२१११२] इति ज्ञापकात् । अत इति किम् ? साधुभिः । तपरकरणं किम् ? विद्याभिः ।

इदमदसोः सकोः ॥५११९॥ इदम् अदस् इत्येतयोः सककारयोरेव भिस ऐस् भवति । इमकैः । “क्लिस्वर्वानाम्नेऽक् प्राप्तेः को दः” [४१११३०] इत्यक् “दः” [५१३८२] इति तस्य मत्वम् । अदसः “दादु-दोमोऽदसोऽसेः” [५१३८८] इति दात्परस्य वर्णमात्रस्योत्वं दस्य च मत्वम् । सकोरिति किम् ? एभिः । “बहौ ऋध्येत्” [५१२१८] इत्येत्वम् । “हलि खम्” [५१११७१] इतीदम् इदः खम् । अदयस्तु “बहावरीतः” [५१३८६] इतीत्वम् । इदमदसोरेव सकोरित्येवमवधारणं मा विज्ञाथीति ज्ञापनार्थः ।

स्तेनान्डस्ताडसेः ॥५११९०॥ अकारान्ताद्गोः परेषां ड्वा डभि इत्येतेषां स्य इन आत् इत्येत आदेशा भवन्ति । इन्द्रस्य । चन्द्रस्य । इन्द्रेण । चन्द्रेण । इन्द्रान् । चन्द्रान् । अत्र इत्येव । कर्त्रा । कर्तुः ।

डेर्यः ॥५११९१॥ अकारान्ताद्गोरुत्तरस्य डे इत्येतस्य य इत्ययमादेशो भवति । इन्द्राय । चन्द्राय । अत इति किम् ? गवे । नावे ।

सर्वनाम्नः स्मै ॥५११९२॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोरुत्तरस्य डे इत्येतस्य स्मै इत्ययमादेशो भवति । सर्वस्मै । तस्मै । अमुष्मै । अत इति किम् ? भवते ।

डस्तिडयोः स्मात्स्मिनौ ॥५११९३॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोरुत्तरयोर्डसि डि इत्येतयोः स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ भवतः । सर्वस्मात् । सर्वस्मिन् । यस्मात् । यस्मिन् । अत इत्येव । भवतः । भवति ।

जसः शी ॥५११९४॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोः परस्य जमः शी इत्ययमादेशो भवति । सर्वं । एते । के । दीत्वग्रहणमुत्तरार्थम् । पयसी । दधिनी ।

औड आपः ॥५११९५॥ आवन्ताद्गोः औडः शीत्ययमादेशो भवति । आधिति टापूडापोः सामान्येन ग्रहणम् । औडिति वेपोरौकारस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा । माले लम्बते । माले पश्य । बहुराजे तिष्ठतः । बहुराजे पश्य । “अनश्च वात्” [३१११०] इति डाप् । “अधिपरी अनर्थकौ” [११४१०] इति निर्देशात् “सोडिति” [५१११०६] इत्यादिषु स्वशास्त्रसंज्ञया डिदाध्रीयते ।

नपः ॥५११९६॥ नपो गोरुत्तरस्य औडः शीत्ययमादेशो भवति । दधिनी तिष्ठतः । दधिनी पश्य । एवं वने । जले । “नेच्यात्” [४१३१२] इति “सुटि पूर्वस्वम्” [४१३८६] दीर्न भवति ।

जशसोः शिः ॥५११९७॥ नपः परयोर्जस् शम् इत्येतयोः शिशित्ययमादेशो भवति । दधीनि तिष्ठन्ति । दधीनि पश्य । एवं मयूनि । वनानि । धनानि । जसा सहचरितस्य शसो ग्रहणादिह नैष्यते । पात्रशो ददाति ।

अष्टाभ्य औश् ॥५११९८॥ अष्टन्शाब्दात्परयोर्जम्शसोरौश् भवति । अष्टौ तिष्ठन्ति । अष्टौ पश्य । अष्टन इति सिद्धे अष्टाभ्य इति कृतात्वस्योच्चारणं किम् ? यत्रैवात्वं तत्रैवौशभावो यथा स्यात् । ननु नित्यमात्वम् । इदमेवं ज्ञापकमात्वविकल्पस्य । अष्ट तिष्ठन्ति । अष्ट पश्य ।

“अनुरक्तः शुचिर्दक्षः श्रुतवान् देशकालविद् ।
वपुष्मान् कान्तिमान् वाग्मी दूतः स्याद्यष्टभिर्गुणैः ॥”

“गोरधिकारे तदन्तस्य च” [५०] इति तदन्तादपि भवति । परमाष्टौ । प्रधाने कार्यसम्प्रत्यया-
द्वसे न भवति । प्रियाष्टान् इति । “उबिलः” [५१११६] इति उपि प्राप्ते औशारभ्यते न “सुपो धुमृदोः”
[११११४२] इति । तेन अष्टौ गुणा यस्य सोऽष्टगुणः । ओशिति सिद्धे औशग्रहणं किम् ? अष्टवाचक्षते
अष्टयन्तीति । क्विप्यागतनिवृत्ते अष्टाविति यथा स्यात् ।

उबिलः ॥५१११६॥ इत्संज्ञकादुत्तरयोर्जशशोरुभवति । षट् तिष्ठति । पट् पश्य । एवं पञ्च ।
नव । परमपञ्च । प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययादिह न भवति । प्रियवृषः । प्रियवृञ्चानः ।

नपः स्वमोः ॥५११२०॥ नविति नपुंसकलिङ्गं पूर्वाचार्यस्य संज्ञेयम् । तस्मादुत्तरयोः स्वमोरुभवति ।
दधि पश्य । मधु तिष्ठति । मधु पश्य । तत्कुलमित्यत्र त्यदाद्यत्वं बाधित्वा कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वादुपु ।
नन्वत्वे कृते लक्षणान्तरेणाभावे सत्यनित्य उपु ? नैवम् । “यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न
तदनित्यम्” [५०] इति ।

अतोऽम् ॥५११२१॥ अकारान्तान्नपः परयोः स्वमोरुभवति । धनम् । वनम् । तपरकरणं मुखमुखार्थम् ।
मादेशे क्रियमाणे सुपीति दीत्वं स्यात् । अतिजरसं कुलं परयेति च न स्यात् । “सन्निपातलक्षणो विधि-
रनिमित्तं तद्विघातस्य” [५०] इत्यम उम्न भवति ।

इतरादेः पञ्चकस्य दुक् ॥५११२२॥ इतरादेः पञ्चकस्य दुगागमो भवति स्वमोः परतः ।
कतरत्तिष्ठति । कतरत्पश्य । एवं कतमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् । पञ्चकस्येति किम् ? समम् ।
सिमम् । इतरेण सिद्धे अन्यतरग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्रमं वनम् । अनित्यमागमानुशासनमित्येकतरस्य न
भवति । एकतरं वनम् ।

युष्मदस्मदो ङसोऽश् ॥५११२३॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यामुत्तरस्य ङसोऽश् भवति । तव स्वम् । मम
स्वम् । शित्करणं सर्वोदेशार्थम् ।

ङेसुटोरम् ॥५११२४॥ युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य सुटश्च अमित्ययमादेशो भवति । तुभ्यम् ।
मह्यम् । त्वम् । अहम् । युवाम् । आवाम् । यूयम् । वयम् । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । “युवावौ द्वौ”
[५१११५१] । “आवि” [५१११४७] इति दस्यात्वम् । इपि पुनः “इपि” [५१११४६] इत्यात्वम् ।

शसो नः ॥५११२५॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यां परस्य शसो नकारादेशो भवति । युष्मान् । अस्मान् । पानु
जिनः । “परस्यादेः” [१११५१] इत्यकारस्य नकारः । “स्फान्तस्य खम् [५१३११] इति सकारस्य खम् ।
“इपि” [५१११४६] इत्यात्वम् । “नश्च पुंस्ति” [४१३१६१] इति नत्वं न सिध्यत्यलिङ्गत्वाद्युष्मदस्मदोः ।

भ्यसोऽभ्यम् ॥५११२६॥ युष्मदस्मद्भ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यमित्ययमादेशो भवति । युष्मभ्यं देयम् ।
अस्मभ्यं देयम् । “खमादेशे” [५१११४६] इति दत्वम् । “एष्यतोऽपदे” [४१३१८४] इति पररूपत्वम् ।

अत्कायाः ॥५११२७॥ युष्मदस्मद्भ्यां परस्य काया भ्यसोऽदित्ययमादेशो भवति । युष्मदधीते ।
अस्मदधीते ।

ङसेः ॥५११२८॥ युष्मदस्मद्भ्याम् परस्य ङसेरदादेशो भवति । “त्वमावेके” [५१११५६] । त्वत् । मत् ।

साम् आकम् ॥५११२९॥ युष्मदस्मद्भ्याम् परस्य साम् आकमादेशो भवति । युष्माकम् । अस्मा-
कम् । भाकिनं सुटं भूतवदुपादाय साम् इति निर्देशः कृतः । आकमि कृते सुण्निवृत्त्यर्थः । कमि क्रियमाणे

एत्वं स्यात् । अकभ्यकारोच्चारणसामर्थ्यात्पररूपाभावे श्वेऽको दीत्वेन सिद्धमाकारवचनं किम् ? हलन्तादपि यथा स्यात् । युष्मानाचक्षते युष्मयन्ति । तेषां युष्माकम् ।

तुह्योस्तातङ्ङाशिषि ॥५११३०॥ तु हि इत्येतथोराशिष्यर्थे तातङ्ङदेशो भवति वा । जीवताद्भवान् । जीवतु भवान् । जीवतात्वम् । जीव त्वम् । तातङ्ङि डित्करणमेवैपोर्बुव ईटश्च प्रतिषेधार्थं नत्वन्तादेशार्थं व्याख्यानान् । तेन कुरुतात् । मृष्टात् ब्रूताद्भवानिति सिद्धम् । आशिषीति किम् ? किं करोतु भवान् । कुरु त्वम् । जीवतात्वमित्यत्र “अतो हेः” [४।४।६६] इति स्थानिवद्भावात्पुं प्राप्नोति । नैवं “हुष्मभ्यो हेधिः” [४।४।६४] इत्यत्राधिकारे अतो हेरिति पुनर्हिप्रहणाद् हिरूपस्यैव हेष्मभवति । उक्तं च—

“तातङ्ङि डित्वं संक्रमकृस्यादन्यविधिश्चेत्तच्च तथा न ।

हेरधिकारे हेरधिकारो नाशविधौ तु ज्ञापकमाह ॥”

प्यस्तिवाक्से त्क्वः ॥५११३१॥ त्क्वा इत्येतस्य प्य इत्ययमादेशो भवति तिस्रे वाक्से च । तिस्रे-प्रकृत्य । वाक्से-उच्चैःकृत्य । नीचैःकृत्याचष्टे । तिवाक्स इति किम् ? अकृत्वा । परमकृत्वा ।

यभेऽश्ववृषयोः क्यचि सुक् ॥५११३२॥ यभविपये अश्व वृष इत्येतयोः क्यचि परतः सुग् भवति । अश्वस्यति ब्रह्मा । वृषस्यति गौः । यभ इति किम् ? अश्वीयति । वृषीयति देवदत्तः ।

क्षीरलवणयोलौल्ये ॥५११३३॥ क्षीरलवणयोलौल्ये क्यचि परतः सुग् भवति । क्षीरस्यति माणवकः । लवणस्यति उष्ट्रः । लौल्य इति किम् ? क्षीरीयति । लवणीयति वातकी । यभेऽश्ववृषाक्यचि स इति सिद्धे गुणनिर्देशात् “क्वचिदन्यत्रापि सुगसुकच सर्वमृद्भयो लौल्ये भवति” । दधिस्यति । मधुस्यति । दध्यस्यति । मध्वस्यति इत्यादि सिद्धम् ।

आम्यात्सर्वनाम्नः सुट् ॥५११३४॥ आवर्णान्तात्सर्वनाम्न आमि परतः सुट् भवति । सर्वेपाम् । येषाम् । तेषाम् । केषाम् । सर्वासाम् । यासाम् । तासाम् । कासाम् । आदिति कानिर्देशः आमीत्यस्योत्तरत्र सावकाशस्य तानिर्देशं प्रकल्पयति । आदिति किम् ? भवताम् । सर्वनाम्न इत्येव । नराणाम् ।

त्रेख्यः ॥५११३५॥ त्रि इत्येतस्य त्रय इत्ययमादेशो भवत्यामि परतः । त्रयाणाम् । परमत्रयाणाम् ।

प्रेल्वाप्चतुरो नुट् ॥५११३६॥ प्र इल्मु इत्येवंसंज्ञकेभ्य आवन्ताच्चतुःशब्दाच्च आमि परतो नुट् भवति । प्र-देवानाम् । कवीनाम् । साधूनाम् । इल्-षण्णाम् । पञ्चानाम् । मु-नदीनाम् । वधूनाम् । आप्-विद्यानाम् । बहुराजानाम् । चतुर-चतुर्णाम् । “गौरधिकारे तस्य तदन्तस्थ च” [५०] इति । परम-पणाम् । परमपञ्चानाम् । मुख्ये कार्यसंप्रत्ययादिह न भवति । प्रियपपाम् । प्रियपञ्चाम् ।

इदिद्धोर्नुम् ॥५११३७॥ इकारेतो धोर्नुमागमो भवति । नन्दिता । नन्दिनुम् । कुण्डिता । कुण्डिनुम् । इदिति किम् ? पचति । धोरिति किम् ? अमैस्तीत् । सिरयं त्यः । “धिन्विकृण्व्योर च” [२।१।७५] इति सनुष्कनिर्देशास्योत्पत्तेः प्रागेव नुम् । तेन कुण्डा । हुण्डा । “सरोर्हलः” [२।३।८५] इत्यः सिद्धः । “उबुन्दिर” [४०] इति ज्ञापकादिरितो नुम् भवति । भेदनम् ।

शे मुच्चाम् ॥५११३८॥ शे परतो मुच्चादीनां नुम् भवति आगणपरिसमाप्तेः । मृञ्चति । लुम्पति । विन्दति । श इति किम् ? मोक्ता । मोक्नुम् । एकस्य बहुत्वानुपपत्तेर्मुच्चादीनामिति विज्ञेयम् । शे इति योग-विभागात् “वृष्फादीनां नकारोऽङ्गं नुम् भवति” । वृष्फति । टृष्फति । गुष्फति । उम्भति । शुम्भति । “हलुङ्क्लिथनिदितः” [४।४।२३] इति नखम् । पश्चान्नुम् ।

मस्जिनशोर्भलि ॥५११३९॥ मस्जि नश् इत्येतयोर्नुम्भवति झलादौ परतः । मश्कता । मश्कम् । नंष्टा । नंष्टुम् । मस्जेर्नुमि कृते “हल्लोऽनन्तराः स्फः” [१।१।३] इति द्वयोस्त्रयाणां वा स्फसंज्ञा । द्वयोः स्फसंज्ञामा-

श्रित्य स्फादेः सस्य खम् । नुमोऽनुस्वारपरस्वत्वे । ऋलीति किम् ? मजनम् । नशिता । मस्जे: “ऋत्वां जश् ऋशि” [५।४।१२८] इति सकारस्य दत्वम् । दस्य च चुत्वं जकारः । “रधादेः” [५।१।६३] वेट् ।

रधिजभोरचि ॥५।१।४०॥ रधि जभ इत्येतयोः अजादौ परतो नुम् भवति । रन्धयति । रन्धकः । साधुरन्धी । रन्धं रन्धम् । रन्धो वर्तते । जम्भयति । जम्भकः । साधुजम्भी । जम्भो वर्तते । कृताकृतप्रसङ्गित्वेनैपः प्रागेव नुम् । अचीति किम् ? रद्धा । जभ्यम् ।

लिटीटि रधेः ॥५।१।४१॥ रधेनुम् भवति इडादौ लिटि परतः । ररन्धिव । ररन्धिम । नुम्विधान-सामर्थ्यत् “हलुङ्ः ङित्यनिदितः” [४।४।२२] इति नखं न भवति । नित्यार्थोऽयं योगः । लिट्येव इडादौ नान्यस्मिन् । रधिता । रधितुम् । विपरीतो नियमः कस्मान्न भवति ? इडादावेव लिटीति । इह न स्यात् । ररन्धतुः । ररन्धुः । नैवं योगविभागादिष्टप्रसिद्धेः । लिटीटीति योगः कर्तव्यः । तदनु रधेरिति । रधेलिटीटि नुम् भवति । रधेरिति पृथक्करणं किमर्थम् ? लिटीटीत्यत्रेष्टनियमसिद्धिर्यथा स्यात् । लिट्येवेडादौ रधेनुमिति ।

रभोऽशब्लिटोः ॥५।१।४२॥ रभो गोनुम् भवति अजादौ न तु शब्लिटोः । आरम्भयामि । आरम्भकः । साध्वारम्भी । आरम्भमारम्भम् । आरम्भो वर्तते । अशब्लिटोरिति किम् ? आरम्भते । आरेभे । अचीत्येव । आरम्भम् । अशब्लिटोरित्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः । नञः सापेक्षस्यापि गमकत्वादनुष्णभोज्यादिवत्सविधिः ।

लभेः ॥५।१।४३॥ लभेः शब्लिङ्वर्जितेऽजादौ नुम्भवति । आलम्भयति । आलम्भकः । साध्वालम्भी । आलम्भमालम्भम् । आलम्भो वर्तते । अशब्लिटोरित्येव । आलम्भते । आलेभे । अचीत्येव । लभ्यम् । पृथग्यो-गकरणमुत्तरार्थम् ।

आडो यि ॥५।१।४४॥ आङ्पूर्वस्य लभेर्यकारादौ त्ये परतो नुम् भवति । आलम्भ्या गौर्ब्राह्मणेन । आङ इति किम् ? लभ्यम् । यीति किम् ? आलम्भ्या । आलम्भ्य गत इत्यत्र कृतेऽपि नुमि “हलुङ्ः ङित्यनिदितः” [४।४।२३] इति नखम् । मुम्बचनं त्वन्यत्र सावकाशम् ।

उपात्प्रशंसायाम् ॥५।१।४५॥ उपात्परस्य लभेः प्रशंसायामर्थे नुम् भवति यकारादौ । उपलम्भ्या भवता विद्या । उपलम्भ्यानि धनानि । प्रशंसायामिति किम् ? उपलम्भ्यमस्माद् वृपलात् किञ्चित् ।

गेः खघञोः ॥५।१।४६॥ गेरुत्तरस्य लभेनुम् भवति खघञोः परतः । सुप्रलम्भः । दुष्प्रलम्भः । घञि-प्रलम्भः । उपलम्भः । गेरिति किम् ? ईषल्लभो लाभः । नियमार्थोऽयं योगः । गेरेव खघञोः । अथ गेः खघञोरेव कस्मान्न भवति ‘शप उपलम्भने’ [घा०] इत्यादिनिर्देशात् ।

न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम् ॥५।१।४७॥ सु दुम् इत्येताभ्यां केवलाभ्यां परस्य लभेनुम् भवति । सुलभो दुर्लभः । कृच्छाकृच्छार्थदन्यत्र घञ् । सुलाभो दुर्लभः । केवलाभ्यामिति किम् ? सुप्रलम्भः । दुष्प्रलम्भः । अतिसुलम्भः । जिग्रहणानुवृत्तेः सुदुसोर्ग्योर्ग्रहणम् । अतिसुलभमिति कथम् ? “अतिक्रमे चातिः” [१।४।८] इति अतैगिसंज्ञाऽभावात् सुः केवल एव गिः । केवलग्रहणं हि तुल्यजातीयस्य गर्निवर्तकम् । अक्रियमाणेऽपि केवल-ग्रहणे सुदुसोः सन्निधाने उच्यमानं कार्यं कथमन्याधिकयोरपि । इदमेव शपकं क्वचिकेवलस्य सन्निधाने उच्यमानमन्याधिकस्यापि भवति । तैव “निविश” [६।२।११] इत्यत्र निविशते अभिनिविशत इति सिद्धम् ।

अिणमोर्वाऽगेः ॥५।१।४८॥ अगिपूर्वस्य लभेर्वा नुम् भवति अिणमोः परतः । अलाभि । अलाभि । लभं लम्भम् । लाभं लाभम् । अगेरिति किम् ? प्रालभि । प्रलभं प्रलम्भम् ।

उगिद्वां धेऽधोः ॥५।१।४९॥ उगितां गृनाम् अञ्चतेश्च धे परतो नुम् भवत्यधोः । गोमान् । धन-वान् । निद्वान् । श्रेयान् । भवान् । पचन् । पचन्तौ । पचन्तः । अञ्चतेः प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । उगिद-चामिति किम् ? वाक् । वाचौ । वाचः । धे इति किम् ? पचतः पश्य । गोमतः पश्य । अञ्चतिग्रहणं निय-

मार्थम् । उगितकार्यं ध्रुवस्यैव । तेनेह न भवति । उखास्तु । पर्णध्वत् । अघोरिति ग्रहणं पर्युदासार्थम् । घोरन्यस्य अघुभूतपूर्वस्य यथा स्यात् । गोमत्यत इति गोमान् । गोमानिवाचरति “कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा” [२।१।६] इति क्यङि कृते क्विप्यागतनिवृत्ते अतः के यत्वे च कृते सौ नुम् “अखलोऽधोः” [४।४।१२] इति दीत्वम् ।

युजेरसे ॥५।१।५०॥ युजि इत्येतस्यासे नुम्भवति धे परतः । युङ् । युञ्जो । युञ्जः । “ऋत्विग्दृष्टक्” [२।२।५७] इत्यादिना क्विः । “क्वित्यस्य कुः” [५।३।७५] । अस इति किम् ? अश्वयुक् । अश्वयुजौ । ‘ससृद्विष’ [२।२।५६] इत्यादिना क्विप् । “वागमिङ्” [१।३।२२] इति षसः । अस इत्यनर्थकम् । युजे-रुच्यमानः कथं तदन्तस्य नुम् । इदमेव ज्ञापकम् “घोरधिकारे तदन्तविधिरप्यस्ति” [५०] इति । युजे-रितीकारनिर्देशः किम् ? “युज् समाधौ” [धा०] इत्यस्य ग्रहणं मा भूत् । युजमिच्छति मोक्षाय ।

नपोऽज्झलः ॥५।१।५१॥ नपुंसकलिङ्गस्याजन्तस्य झञ्जन्तस्य च नुम् भवति धे परतः । वनानि । धनानि । दधीनि । मधूनि । उदश्चिन्ति । सर्पाणि । अज्झल इति किम् ? विमलदिवि । चत्वारि । बहुगिरि । अहानि । “उगिदचां धेऽधोः” [५।१।४६] इति नुम् बाधित्वा परत्वाद्नेन नुम् । ददन्ति । जाग्रन्ति । जगन्ति ।

सुपीकोऽचि ॥५।१।५२॥ अजादौ सुपि परत इगन्तस्य नपो नुम् भवति । तुम्बुरुणे । त्रपुरणे । सुपीति किम् ? तुम्बुरुणे विकारः तौम्बुरुवं चूर्णम् । “कद्रुवोरोऽस्वयम्भुवः” [४।४।१३४] इत्युकारस्यौत्वम् । इक इति किम् ? वने । जने । अचीति किम् ? जनुभ्याम् । अज्ग्रहणमनर्थकम् । हल्पि नुमि नखे कृते सिध्यति जनुभ्यामिति । तथा अतिराभ्याम् प्रियतिसृभ्यां कुलाभ्यामित्यपि । रायमतिक्रान्ताभ्यां कुलाभ्याम् । “तिकुप्रादयः” [१।३।२३] इति षसे कृते । “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशः । प्रियास्तिस्रो ययोः कुलयोरिति विग्रहे त्रसः । अत्र परत्वान्नुम् बाधित्वा “रायो हलि” [५।१।१४४] इत्यात्वं तिसृभावः । “सकृद्गते परनिर्णये बाधित एव” [५८] इति तिसृशब्दस्य पुनर्नुम्न भवति । शुचिशब्दस्यापि नपुंसकलिङ्गविवक्षायांमामि परतः पूर्वविप्रतिषेधेन नुटि कृते नुम् । मृदन्तस्य नुमः खम् । “लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्” [५०] इति “इन्हन्पूर्वार्थभ्याम्” [४।४।६] “शौ” [४।४।१०] इत्यस्य नियमस्याभावात् “नोङः” [४।४।५] इति दीत्वे कृते सिद्धं शुचीनामिति । यत्र नखं नास्ति तत्र श्रवणं स्यात् । हे जानो । “नोमता गोः” [१।१।६४] इति प्रतिषेधात्कथन्नुम् ? इदमेवाज्ग्रहणं ज्ञापकम् । अनित्यः सप्रतिषेधः । तेन कौ प्रत्यैपि कृते सिद्धं हे त्रपो इति । उत्तरार्थं च ।

भादौ वोक्तपुंस्कं पुंवत् ॥५।१।५३॥ अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः । इगन्तं नप् उक्तपुंस्कं भादावजादौ परतो वा पुंवद्भवति । शुचिः साधुः । शुचि साधुवृत्तम् । शुचये । शुचिने वज्राय । अग्रणी-र्दण्डश्चक्रिणः । अग्रणि दण्डरत्नम् । पुंवद्भावपक्षे “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशाभावः । “एगिवाक्चा-दुङोऽसुधियः” [४।४।७८] इति यण् च । अग्रण्या । अग्रणिना । अग्रण्ये । अग्रणिने । अग्रण्यः । अग्रणिनः । अग्रण्योः । अग्रण्यिनोः । अग्रण्याम् । अग्रणीनाम् । पूर्वविप्रतिषेधेन नुट् । अग्रण्याम् । अग्रणिनि इत्यत्र कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् “ङेराम् म्वाग्नीभ्यः” [५।२।११०] इत्याम् । मृदवे मृदुने वज्राय । कर्ता नरः । कर्तुं कुलम् । कर्त्रा कर्तृणा । कत्रे । कर्तृणे । इक इत्येव । जलपाः पुरुषः । जलयं कुलम् । जलपेन । विचीदं रूपम् । अचीत्येव ग्रामणिभ्याम् । प्रादेशो भवत्येव । भादाविति किम् ? अग्रणिनी दण्डचक्ररत्ने । उक्तपुंस्कमिति किम् ? त्रपुरणे । भादावुक्तपुंस्काद्वेति सिद्धे नपो विकल्पे पुंवद्ग्रहणसामर्थ्याद-प्रकृतस्यापि प्रादेशस्य विकल्पः । उक्तः पुमान् येन तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्तेऽर्थे तदुक्तपुंस्कं शब्दरूपं गृह्यते । तेन भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसकशब्दस्य विकल्पो न भवति । पीलुने फलाय । पीलुशब्दस्य वृत्ते समुदायः प्रवृत्तिनिमित्तं फले तु तदवयवः ।

सक्थस्थिदध्यङ्गामनङ् ॥५१।५४॥ सक्थ अस्थि दधि अक्षि इत्येतेषां नपामनडादेशो भवति । सक्थना । सक्थने । अस्थना । अस्थने । दध्ना । दध्ने । अक्षणा । अक्षणे । भादावित्येव । अस्थिनी । अचीत्येव । अस्थिभ्याम् । प्रियसक्थना व्याधेन । गोः प्राधान्यात्तदन्तर्विधिरपि सक्थ्यादीनां नपुंसकानाम् । तदन्तस्य नपुंसकस्यानपुंसकस्य च गोरनडादेशो भवति । केवलानां सक्थ्यादीनां व्यपदेशिवद्भावाद्गुत्वम् । “व्यपदेशिवद्भावो न ऋदा” [प०] इतीयं परिभाषा त्यविषया नेहावतिष्ठते । नप इति किम् ? दधिर्नाम कश्चित् तेन दधिना । लोकप्रसिद्धशब्दानुशासनं हीदमिति लोकसिद्धेनानडा सूत्रनिर्देशः । सुभीकोऽचीत्येव । नप इति प्रकृतिविशेषमिह गृह्यमाणविशेषणमिति पुंलिङ्गः समुदायोऽनडोऽवकाशः प्रियसक्थना पुरुषेण । नुमस्तु दधिनी सक्थिनी । दध्नेत्यादौ परत्वादनङ् ।

विदेः शतुर्वसुः ॥५१।५५॥ भादावजादौ सुपीति निवृत्तम् । विदेः परस्य शतुर्वसुरादेशो भवति । विद्वान् । विद्वांसौ । विद्वांसम् । विद्वांसौ । विदेरिति कानिदेशाद्विद्वतेर्निवृत्तिः । वेत्यनुवर्तन इत्येके । विदन् । विदन्तौ ।

न थात् ॥५१।५६॥ नुमनुवर्तते प्रकृतत्वात् । थादुत्तरस्य शतुर्नुम् भवति । ददन् । ददतौ । ददतः । ददतम् । ददतौ । जाग्रत् । जाग्रतौ । जाग्रतः । जाग्रतम् । जाग्रतौ । “उगिदचं धेऽधोः” [५।१।१६] इत्यस्य प्रतिषेधः ।

वा नपः ॥५१।५७॥ थादुत्तरस्य नपुंसकस्य शतुर्वा नुम् भवति । ददन्ति कुलानि । ददति कुलानि । जाग्रन्ति कुलानि । जाग्रति कुलानि । “नपोऽऽकलः” [५।१।५१] इति नुम्बकल्पितः । उगिल्लक्षणस्तु “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [प०] इति ।

शीम्बोरात् ॥५१।५८॥ अवरणात्ताद् गोः परस्य शतुर्वा नुम् भवति शी मु इत्येतयोः परतः । तुदती कुले । तुदन्ती कुले । तुदती स्त्री । तुदन्ती स्त्री । याती कुले । यान्ती कुले । याती वड्वा । यांन्ती वड्वा । करिप्यती कुले । करिप्यन्ती कुले । करिप्यती स्त्री । करिप्यन्ती स्त्री । आदिति किम् ? अदती स्त्री । धन्ती स्त्री । अवर्णमात्राश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वाद्याङ्नुमः पररूपम् “वाणाद् गावं बलीयः” [प०] इत्यपि नास्ति भिन्नकालत्वात् । समकालं हि बलाबलं चिन्त्यते । भिन्नकालता च पूर्वमेकादेशः पश्चान्नुम् । एकादेशे कृते व्यण्वर्गाभावादवर्णान्ताद्गोरुत्तरस्य शतुरिति न घटते । “आद्यन्तवदेकस्मिन्” [तद्वत् ४।३।७३] इति तद्वद्भावोऽपि न सम्भवति । “उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः” [प०] इति वचनात् । उभयं ह्यत्राश्रयतेऽवर्णान्तो गुः शता च । यद्येकादेशः पूर्वं प्रत्यन्तवद्भवति तदा शता न विद्यते । अथ परं प्रत्यादिवत्तदाऽवर्णान्तो गुर्नास्ति । भूतपूर्वगत्याऽवर्णान्तस्य गौराश्रयणे अदतीत्यादिष्वपि स्यात् । अत्रापि भूतपूर्वगत्या शप् । एवं तर्हि सूत्रसामर्थ्याद्भूतपूर्वगतिराश्रयणीया । अदतीत्यादिषु तु नुम् भवति आदिति निर्देशात् । अन्यथा शीम्बोरित्येव वाच्येत अवर्णस्यासम्भवात् ।

श्यशपः ॥५१।५९॥ श्य शप् इत्येतान्यां परस्य शतुर्नुम् भवति शीम्बोः परतः । दीव्यन्ती कुले । दीव्यन्ती स्त्री । पचन्ती कुले । पचन्ती स्त्री । पुनरारम्भो नित्यार्थः ।

सावनडुहः ॥५१।६०॥ वेति निवृत्तम् । अनडुह इत्येतस्य नुम् भवति सौ परतः । अनड्वान् । हे अनड्वान् ।

दिच श्रौत् ॥५१।६१॥ दिव् इत्येतस्य सौ परत औकारादेशो भवति । द्यौरारुहते पुण्येन । हे द्यौः । सुखे प्राप्ते परत्वादौकारादेशः । “अनस्विधौ” [१।१।५६] इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्पुनर्न सुखम् । अथेह कस्मान्न भवति अक्षरिति । अत्रान्तरङ्गत्वाद्दृ । अन्तरङ्गता च कौ वकारस्योऽ् क्यन्तस्य सावौकारः । व्युत्पत्तिः “दिवेर्द्धिब्” [उ० सू०] इति दिव् ।

पथिमथ्यमुक्षामात् ॥५१।६२॥ पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन् इत्येतेषामाकारादेशो भवति सौ परतः । पन्थाः । मन्थाः । ऋभुक्षाः । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इति नकारस्यात्वम् । “पुर्थे” [५।१।६३] इतीकारस्यापि । “स्वेऽको दीः” [४।३।८८] ।

पुर्थे ॥५१।६३॥ पथ्यादीनामवयवस्येकारस्याकारादेशो भवति धे परतः । पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः । पन्थानम् । पन्थानौ । एवं मन्थाः । मन्थानौ । ऋभुक्षाः । ऋभुक्षाणौ । परित्यत्र तपरत्वाभावादिह कस्मान्न भवत्यात्वं पथीरिति ? पन्थानमिच्छति । “स्वेपः क्यच्” [२।१।६] । “नः क्ये” [१।२।१०४] इति पदत्वम् । मृरन्त-नखम् “दीरकृद्गो” [५।२।१३४] इति दीत्वम् । पथीयतेः क्विप् । “अतः खम्” [४।४।५०] । “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यत्वम् । इदानीं धे परत आत्वं प्राप्नोति । “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद्कारेण व्यवधानान्न भवति । “न पदान्तद्विष्व” [१।१।५८] इत्यादिना तु यत्नविधिमेव प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । आत्वविधिश्चायम् । ईविधि प्रति कस्मान्न स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । ईकारे विधिरीविधिरिति तत्र विग्रहः । धे चायं विधिर्नकारे । “कौ नष्टं न स्थानिवत्” [प०] इति कस्मान्न प्रतिषेधः । तत्रापि “कौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्” [प०] । धे चायं विधिर्न कौ । अवश्यमेवं विज्ञेयम् । अन्यथा कौ निमित्तभूते नष्टं न स्थानिवद्भवतीत्युच्यमाने लौरिति न सिध्यति । लवमाचष्टे णिच् । “अतः खम्” [४।४।५०] लवतेः क्विप् । णोः खम् । अत्रापि णिखमेव क्विनिमित्तम् नातः खम् । ततः “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद्कारेण व्यवधानादून स्यात् । “कौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्” [प०] इत्युच्यमाने सर्वस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधालौरिति सिद्धम् ।

थो न्थः ॥५१।६४॥ पथ्यादीनां थकारस्य न्थादेशो भवति धे परतः । उक्तान्येवोदाहरणानि । त्रयाणामप्यनुवृत्तौ सम्भवात्सार्थमथोस्थस्य न्थादेशः ।

भस्य टेः खम् ॥५१।६५॥ पथ्यादीनां भसंज्ञकानां टेः खं भवति । पथः पश्य । पथा । पथे । मथः मथा । मथे । ऋभुक्षः पश्य । ऋभुक्षा । ऋभुक्षे । भस्येति किम् ? पथिभ्याम् । ध इत्यनुवर्तमानमपीह न सम्बन्धते ।

पुंसोऽसुड् ॥५१।६६॥ पुंसोऽसुड्ङादेशो भवति धे परतः । पुमान् । पुमांसौ । पुमांसः । पुमांसम् । पुमांसौ । ध इत्येव पुंसः पश्य । “पुनातेर्मुकसुकौ प्रश्च” [उ. सू.] इति पुंम् ।

गोरिण् ॥५१।६७॥ धस्य विभक्तविपरिणामः । गोशब्दात्परं धं णिद्वद्भवति । णिक्कार्यं भवतीत्यर्थः । गौः । गच्छतीति “गमेहोस्” [उ. सू.] । गावः । सुगौः । इह कस्मान्न भवति ? हे चित्रगो । हे चित्रगवः । विहितविशेषणाददोषः । गोरेकत्वादिष्वर्थेषु विहितं धं णिद्वद्भवति । चित्रगुशब्दात्वन्यपदार्थादेकत्वादिषु धम् । अतिदेशोऽयं विनापि वतं लभ्यते । यथा गौर्वाहीकः । गौरित्युक्ते गोवदिति गम्यते । एवमिहाप्यणितं त्यं णितमाह । णिद्वदिति गम्यते । गौराविति सिद्धे णिदिति प्रतिपत्तिगौरवं किम् ? क्वचिदन्यत्राप्यतिदेशो यथा स्यात् । तेन योशब्दस्य द्यौः । द्यावौ । द्यावः ।

वास्मरणल् ॥५१।६८॥ अस्मदो वा णल् णिद्वद्भवति । अहं पपच । अहं पपाच । अहं चकर । अहं चकार । अस्मदिति त्रिकस्य संज्ञा । “मिळ्क्षिशोऽस्मद्युष्मदन्त्याः” [१।२।१५२] इति । अस्मदिति किम् ? स पपाच ।

सख्युरकौ ॥५१।६९॥ वेति नानुवर्तते । अकौ यः सखिशब्दस्तस्मात्परं धं णिद्वद्भवति । सखायौ । सखायः । सखायम् । सखायौ । अकाविति किम् ? हे सखे ।

अनड् सौ ॥५१।७०॥ सख्युरनडादेशो भवति अकौ सौ परतः । सखा । अकावित्येव । हे सखे ।

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसाम् ॥५१।७१॥ ऋकारान्तानाम् उशनम्, पुरुदंशस्, अनेहस् इत्येतेषां चानडादेशो भवति सावको परतः । कर्ता । पिता । माता । उशाना । पुरुदंशा । अनेहा । अकाविति किम् ? हे कर्तः । हे मातः । हे पितः । हे उशनः । हे पुरुदंशः । हे अनेहः । “उशनसः कौ त्रैरूप्यमेके वाञ्छन्ति” । नान्तमदन्तं सान्तमिति । कथं नान्तता । अकावित्यनुवर्तते । स च नञोपदर्थं द्रष्टव्यः । तेन क्वाचित्कावप्यनङ् । हे उशनन् । तथा “नखं मृदन्तस्याकौ” [५१।३०] इत्यत्रापि नञोपदर्थं एव । तेन कावपि नखम् । हे उशन । यदा अनङ् न भवति तदा हे उशनः । ऋदिति तपरकरणमसन्देहार्थम् । “गृ निगरणे” [घा०] इत्याद्यनुकरणनिवृत्त्यर्थं च गृरिति मया श्रुतः ।

चतुरङ्गदुहोर्वा ॥५१।७२॥ चतुर् अनङ् इत्येतेषुकारस्य वा इत्ययमादेशो भवति धे परतः । अनङ् इत्यत्र “द्वन्द्वाच्चुदहो राथे” [५२।१०८] इत्यः सान्तोऽन्यथाऽन्तर्वर्तिविभक्तिकृतपदाश्रयो हकारस्य दः स्यात् । चत्वारि । चत्वारः । अनङ्वान् । अनङ्वाहौ । अनङ्वाहः । गोः प्राधान्यात्तदन्तर्विधरपि । चतुरङ्गदुहन्तस्य गोत्रोऽऽदेशो भवत्यभिसंघनात् । केवलयोस्तु व्यपदेशिवद्भावः । प्रियचत्वारि । प्रियचत्वारः । प्रियानङ्वान् । प्रियानङ्वाहौ । प्रियानङ्वाहः । अनङ् इत् अनङ्वाह् इति गौरादावुभयग्रहणात् अनङ्गुही । अनङ्वाही । इह क्रोष्टु क्रोष्टुशब्दा एकायां ऋदुदन्तौ स्तस्त्र धे स्त्रियां च क्रोष्टुशब्दस्यैव प्रयोगः—क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ । क्रोष्ट्री । भाटिष्वजादिभूभयोः । क्रोष्ट्रा । क्रोष्टृना । क्रोष्ट्रे । क्रोष्टवे । क्रोष्टुः । क्रोष्टोः । क्रोष्टोः । क्रोष्टोः । क्रोष्टरि । क्रोष्ट्रौ । कौ शस्यामि हलादौ च क्रोष्टुशब्दस्यैव । हे क्रोष्टो । क्रोष्टून् । क्रोष्टुभ्याम् । क्रोष्टुभिः । क्रोष्टुभ्यः । क्रोष्टुनाम् । क्रोष्टुषु । अभिधानलक्षणाः कुब्दृत्साः । “सितनिगमिमिशच्यविधाञ्जुशुभ्यस्तुः” [उ० सू०] ।

वः कौ ॥५१।७३॥ चतुरङ्गदुहोर्कारस्य व इत्ययमादेशो भवति कौ परतः । हे अतिचत्वः । हे अनङ्गन् । वाऽऽदेशापवादोऽयम् ।

ऋन् इङ्गोः ॥५१।७४॥ ऋकारान्तस्य धोर्गोरिकारादेशो भवति । क्रिरिति । गिरिति । आस्तीर्णः । विस्तीर्णः । विकीर्णते । स्तूत्रः क्ते वृत्तः “सनीङ् वा” [५१।८६] इति विभाषित इत् । “यस्य वा” [५१।१२१] इति प्रतिषेधः । धोर्गिति किम् ? मातृणाम् । पितृणाम् । ननु लाक्षणिकं तदत्र कथं प्राप्तिर्लाक्षणिकस्याप्यत्र ग्रहणमिष्यते । विकीर्णिता ।

[उङ्ङः ॥५१।७५॥ पुवादुप् ॥५१।७६॥ सावेम्मे ॥५१।७७॥ हलामचः ॥५१।७८॥ ब्रजवदल्त्रोऽतः ॥५१।७९॥ नेटि ॥५१।८०॥ हभ्यक्षणाश्चसजागृणिश्चेदिताम् ॥५१।८१॥]

चोर्णुञ्जः ॥५१।८२॥ उणुञ्च इडादां सौ मपरे वा ऐञ्भवति । प्राप्ते विकल्पोऽयम् । प्रौर्णावीत् । प्रोर्णावीत् । यदा तु “इङ्विजः” [१।१।७६] इत्यनुवर्तमाने “बोर्णोः” [१।१।७७] इति डित्वम्, तदा एवैवौः प्रतिषेधः । प्रौर्णुवीत् ।

अतोऽनादेशैः ॥५१।८३॥ अनादेशतो घेर्वा ऐञ्भवति इडादौ सौ मपरे । अकणीत् । अकाणीत् । अरणीत् । अराणीत् । अत इति किम् ? अदेवीत् । असेवीत् । तथा न्यकुटीत् । न्यपुटीत् । ननु चात्र कुटादित्वादिङ्घञे सत्येप्रतिषेधो भविष्यति । इग्लक्षणस्य स प्रतिषेधः धिलक्षणश्रायम् । अनादेशरिति किम् ? मा निरशीत् । मा निरटीत् । घेरिति किम् ? अतन्नीत् । अरक्षीत् । इडादावित्येव । अधाक्षीत् । इह कस्मान्न भवति । अचक्रामीदिति चकारेऽकारस्य । यस्य न व्यवधानं तस्याकारस्य विकल्पः । अत्र तु कास्रशब्देन

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुष्टिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायी-मनुसूत्यात्र निर्दिष्टानि ।

व्यवधानम् । नन्वराणीदित्यत्रापि गकारेण व्यवधानमस्ति, नैवं “येन नाभ्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि” [५०] इति वचनप्रामाण्यात् । हलन्तानुवृत्तेरेकेण हला व्यवधानेऽप्यलसङ्घातेन व्यवधाने न भवति । यद्येवं घेरिति व्यर्थम् । अतस्तीदित्यत्र समुदायेन व्यवधानात् वर्णसङ्घातेन व्यवधानं भवति । न च न भवतीति परिभाषाऽऽश्रयणाद्दोषः ।

वलाद्यगस्येट् ॥५११८४॥ वलादेरगस्य इडागमो भवति । लविता । लवितम् । लवितव्यम् । वलादेरिति किम् ? लव्यम् । लवनीयम् । अगस्येति किम् ? आस्ते । शेते । ननु “ऋत इद्धोः” [५११७४] इत्यनुवर्तमाने धोः संशब्दनेन विहितस्य वलादेरिद्धवतीत्युच्यमाने “रुदादेर्गे” [५१११३५] इत्यत्र रुदादेरेव गे नान्यस्येति रुदादीनामुदात्त-पाठसामर्थ्येनेश्वरधारणात् स्वयमेवागस्येद्धविष्यतीति व्यर्थमगग्रहणम् । नैवं प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । जुगुप्सत इत्यादौ धोः संशब्दनेन मन्विहित इतीण न भवति ।

ग्रहोऽलिटि दीः ॥५११८५॥ ग्रह उत्तरस्य इयोऽलिटि दीर्भवति । वान्त इडनुवर्तमानोऽर्थवशात्तया विपरिणामते । ग्रहीता । ग्रहीतुम् । ग्रहीतव्यम् । अलिटिती किम् ? जगृहिम् । “लिङ्स्फात्किन्” [१११७९] “ग्रहिज्या” [४१२१२] आदिना जिः । यङन्तस्य कस्मादीर्न भवति । जरीगृहिता । जरीगृहितुम् । तत्र ग्रह्यो विहित इट् तस्य दीर्भवतीति विहितविशेषणम् । “प्रकृतिग्रहणे यङुबन्तस्य ग्रहणम्” [५०] कस्मान्न भवति ? “एकाचोऽनुदात्तात्” [५१११५५] इति सिंहावलोकनेनेकाजुग्रहणं सम्भ्रथते । तेन ग्रहरेकाचः कार्यं यङुबन्तस्य न भवति । ईटि कृते अग्रहीदित्यादौ “ईटीटः” [४११२०] इत्यादिकं दीन्वे कथमिद् कार्यम् ? स्थानि-वद्भावात् । “अनख्विर्धा” [१११५६] इति कथं न प्रतिषेधः ? नायमव्यविधिगममर्थाधरयम् । अप्रकृतस्येदं ग्रहणाभावात् प्रादिता प्राहिष्यते इत्यादौ अत्रिदियं दीर्न ।

[वृतो वा ॥५११८६॥ न लिङ् ॥५११८७॥]

सौ मे ॥५११८८॥ मपरं मो परतः वृत इयो दीर्न भवति । प्रावारिष्यम् । प्रावारिषुः । आस्तिरिष्याम् । आस्तिरिषुः । “मिष्यस्थ” [२१४८२] इत्यादिना तमस्ताम् । “वलाद्यगस्येट्” [५११८४] मे इति किम् ? प्रावरिष्ट । प्रावरीष्ट । “लिङ्स्योर्दे” [५१११६०] इतीट् ।

सनीङ् वा ॥५११८९॥ सनि परत वृत इड् वा भवति । वुवृर्पते । विवरिषते । विवरीषते । प्राबुवृर्पते । प्राविवरिषते । प्राविवरीषते । प्राबुवृर्पति । प्राविवरिषति । प्राविवरीषति । आतिस्तीर्पति । आतिस्तरिषति । आतिस्तरिषति । “सनि ग्रहगृहश्च” [५११११८] इतीट् प्रतिषेधे प्राप्तं पक्षे इट् । चिकीर्षतीत्यादौ दीन्वे ऋतो लाक्षणिकत्वादिडभावः ।

लिङ्स्योर्दे ॥५११९०॥ वृतः परयोः लिङ् सि इत्येतयोर्दे वा इड् भवति । द इति संरेव विशेषणम् । लिङो मविषये यासुटि सति अवलादित्वादिडभावः । वृपीष्ट । वरिपीष्ट । प्रावृपीष्ट । प्रावरिपीष्ट । आस्तीर्पाष्ट । आस्तरिपीष्ट । “न लिङ्” [५११८७] इति दीत्वाभावः । अनिट् पक्षे “उः” [१११८६] इति कित्त्वम् । सो । अवृत । अवरिष्ट । अवरीष्ट । प्रावृत । प्रावरिष्ट । प्रावरीष्ट । आस्तीर्पाताम् । आस्तरिपाताम् । आस्तीर्पाताम् । इयो “वृतो वा” [५११८६] इति दीत्वम् । अवृतेत्यादौ “प्राद्गोः” [५१३४५] इति सेः खम् । द इति किम् ? आस्तिरिष्याम् । आस्तिरिषुः । “सौ मे” [५११८८] इति दीत्वाभावः । वलाद्यगस्येयो विकल्पोऽयम् ।

स्फादतोऽसुटः ॥५११९१॥ स्फादसुटः परो य ऋकारस्तदन्तात् परयोर्लिङ्स्योर्दे वा इड् भवति । स्मृपीष्ट । स्मरिपीष्ट । ध्वृपीष्ट । ध्वरिपीष्ट । अस्मृपाताम् । अस्मरिपाताम् । “डौ” [११२१७] दः । स्फादिति किम् ? कृपीष्ट । अकृपत । ऋत इत इति किम् ? च्योपीष्ट । अच्योष्ट । असुट इति किम् ? संस्कृपीष्ट ।

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतयोः सूत्रयोर्वृत्तिर्नोपलब्धाऽतः जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्य सूत्र द्वयमत्र निर्दिष्टम् ।

समस्कृत । समपूर्वस्य कृजः “सम्पर्युपाकृजः” [४३।११०] इति सुट् । पूर्वे धुर्गिना युज्यते पश्चात्माधन-
वाचिना त्येनेत्यन्तरङ्गः सुट् । बहिरङ्गत्वे समकृतेत्यत्र कात्पूर्वमट् स्यात् ।

स्वरनिषृङ्धूञ्मूत्सूदितः ॥५।१।६२॥ स्वरनि षृङ् धूञ् सूति इत्येतेभ्यः ऊदित्भ्यश्च वलाद्यगस्य
वा इड् भवति । “लिङ् स्योर्दे” [५।१।६०] इत्येनन्नित्त्वत्तम् । वेत्यनुवर्तते । इष्टतोऽधिकाराणां प्रवृत्तिनिवृत्ती
इति स्वरतेरप्राप्ते विकल्पोऽन्येषां प्राप्ते । स्वर्ता । स्वर्गिता । स्वर्तुम् । स्वरितुम् । विसोता । विसविता ।
विधोता । विधविता । सोता । मविता । ऊदितः । विगाटा । विगाहिता । निगोटा । निगूहिता । स्वरतेस्तिपा
निर्देशो यद्ब्रन्तनिवृत्त्यर्थः । सरोस्वरिता । सूङ्धूञ्जोरनुवर्धनिर्देशः सुवतिधुवत्योर्विकल्पनिवृत्त्यर्थः । सविष्यति ।
धुविष्यति । स्वरतेः स्यविपये “हनुतः स्ये” [५।१।१२६] इति परत्वादिट् । स्वरिष्यति । किद्विपयेऽपि परत्वात्
“अयुकः किति” [५।१।११७] इति प्रतिषेधः । सत्वा । धूत्वा । स्वरत्यादीनां प्रतिपदग्रहणं किम् ? ऊदित एव
ते पठितव्याः ? पृथग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम् । अनुवर्धकृतमनित्यं भवति । तेन उपलब्धिः । दंष्ट्रा इत्यत्र
पित्वाद्दङ् पित्वाब्धीर्न भवति । अनुवर्धनिर्दिष्टं यद्ब्रन्तस्य न भवति । जोगूहिता ।

रधादेः ॥५।१।६३॥ रध इत्येवमादिभ्यश्च वा इड् भवति । रद्धा । रधिता । नंष्टा । नशिता ।
रधादयोऽष्टौ वृत्पर्यन्ताः । प्रकृतस्पष्टेः स्याद्विकल्पः, क्रादिनियमाल्लिटि कथम् ? रधादिषूदात्तानुदात्तपाठाभावात्
“येन नाप्राप्ते तस्य तद्ब्राधनम्” इत्यस्य न्यायस्यामम्भवात्, अविशेषेण विकल्पः । ररध्व । ररध्म ।
ररन्धिव । ररन्धिम ।

निष्कुपः ॥५।१।६४॥ निष्पूर्वात्कुपः बलाद्यगस्य वा इड् भवति । निष्कोष्टा । निष्कोष्ठिता ।
“इदुदुडोऽन्यपुम्मुहुमः” [५।१।२८] इति रेफस्य सत्वम् । इणः पत्वम् । निड् इति किम् ? कोपिता ।
प्रकोपिता ।

इट् ते ॥५।१।६५॥ निम्पूर्वात् कुपः ते परतः इड् भवति । निरकुपितः । निष्कुपितवान् । पुन-
रिड्ग्रहणं नित्यार्थमन्यथा विकल्पः स्यात् । आरम्भो हि “यस्य वा” [५।१।१२१] इत्यस्य ब्राधनार्थो न
नित्यार्थः । वेत्युत्तग्रानुवर्तते एव ।

तीपसहलुभरुपरिपः ॥५।१।६६॥ तकारादावगो परतः इप सह लुभ रूप रिप इत्येतेभ्यो वा इड्
भवति । पृष्टा । पृषिता । सोटा । सहिता । लोब्धा । लोभिता । रोष्टा । रोषिता । रेष्टा । रेपिता । तकारादा-
विति किम् ? एपिष्यति । इपेर्भावादिक्स्य ग्रहणं सहिसाहचर्यात् । तेनेतरयोर्विकल्पो न भवति । को
विशेषः ते “यस्य वा” [५।१।१२१] इति प्रतिषेधो न भवति । इषितः । इषितवान् । लुभ इत्यविशेषण-
ग्रहणम् ।

सनीचन्तर्द्ध्रस्जदम्भुस्वृधियूर्गुभरङ्गपिसनाम् ॥५।१।६७॥ इवन्तानां धूनाम् ऋभू भ्रस्ज
दम्भु स्वरि यु ऊर्णु भर ङपि सन इत्येषां च सनि परतः वा इड् भवति । दुद्यूपति । दिदेविपति । सूयूपति ।
सिसेविपति । अनिट्पक्षे “हलन्तात्” [१।१।८४] इति सनः कित्त्वम् । “द्वोः श्लड् च” [४।१।१७] इत्युट् ।
यणादेशो द्वित्वं च “पणि चाणित्स्तोरेव” [५।१।४१] इति नियमात् सिवेश्चात् परस्य पत्वं न भवति । ईत्सति
अर्दिधिपति । ऋध्नेः सन् । अच इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । “आप्ञ्जपृषामीत्” [५।२।१५७] इति
ऋकारस्य ईत्वम् । रन्तत्वम् । “चस्यात्र खम्” [५।२।१६०] । इटि अर्षिस इति । “न स्फादौ न्दोऽयि” [४।३।३]
इति धिशब्दस्य द्वित्वम् । “चे चत्वम्” [५।१।१२६] इति दः । विभर्षति । विभ्रक्षति । विभर्षिषति विभ्रज्जि-
पति । “अस्जो रसोरम्वा” [४।१।४६] इदि रेफसकारयोः वा परो रम् भवति । धिप्सति । धीप्सति । दिदिभ्रषति ।
“वग्भ इक्च” [५।२।१५८] इति अस्य इत्वमी ईत्वम् । “चस्यात्र खम्” । “हलन्तात्” [१।१।८४]
इति कित्त्वान्नैप् । “एकाचो वशः” [५।३।५४] इति धत्वम् । “खरि” [५।१।१३०] इति चत्वम् । सूस्वूर्षति ।

भक्त्यक्तियमागमार्थः । व्रता । तर्ता । द्रता । दर्ता । अदि (इदि)नुदितुदिस्कन्दिछ्दिभिदिशदिक्षुदिपदिखि-
दिस्विद्यति(विद्यति)विन्तयः पञ्चदश । १५। स्विद्यतीति स्यनिर्देशो जिस्विदा स्नेहने इत्यस्य निवृत्त्यर्थः ।
विद्यतिविन्त्योर्विकरणनिर्देशोऽन्यविकरणनिवृत्त्यर्थः । वेदिता शास्त्रस्य । वेदिता वनस्य । केचित्तु विन्दतिमनिट-
मिच्छन्ति । वेत्ता वनस्य । पचिवचिविचिरिचिसिचिणुचयः पट् । १६। प्रच्छि । १। युजिन्जिजिञ्जिभुञ्जि-
भञ्जिसृजिसञ्जित्यजियजिमस्जिनिजिभ्रस्जिस्वञ्जयश्चतुर्दश । १४। एकाच इति किम् ? बेभिदिना । अस्ययमये
यत्रे च कृते उदात्तः । न त्वेकाच् । नन्वयमप्युपदेशे एकाच् । नैवं बेभिरूपेणोपदेशात् । यद्येवं
विभित्ततीत्यथापि स्यात् । सन्नतन्स्येड्भक्त्येव । विभित्तता । सनि तु परे न भवति । द्वित्वमिति स एवायं
भिदिरेकाजदनुदात्तश्च । यदि वा उपदेशे अयमेकाच् ? अनुदात्तादिति किम् ? लविता । लवितुम् । उपदेश इति
किम् ? पेचिव । पेचिम । कथमिदमुदाहरणं युक्तम् । असत्युपदेशाधिकारे एकाचोऽनुदात्तस्य यदि लिटि प्रतिषेधः
सिद्धः स्यात्तदा नियमः स्याच्चकृवादी । न च लिटि प्रतिषेधः प्राप्नोति, द्वित्वे कृतेऽनेकात्त्वात् । सति तूपदेशा-
धिकारे उपदेशावस्थायामेकाजिति कृत्वा प्रतिषेधः सिद्धस्ततो नियमः ।

तितुत्रतथसिसुसरकसेऽग्रहादेः ॥५१।११६॥ अथस्यापि प्रतिषेधोऽयम् । ति तु त्र त थ मि सु
सर क स इत्येतेषु परतो नेड् भवति ग्रहादीन् वर्जयित्वा । तंतिः । क्तिच् । “न क्तिचि दीश्च” [४।४।४०] इति
नखदीत्वयोरभावः । सक्तुः । “सितनिगमिमनिमसिसच्यविधाञ्कृथिभ्यस्तुः” [३० सू०] । पत्रम् ।
“दाम्नीशस्युयुज” [२।२।१६०] इत्यादिना वट् । हस्तः । “हसिमृगृण्वमिदमिलूपूर्ध्विभ्यस्तुः” [३० सू०]
श्रीणादिकस्यैव तस्य ग्रहणं व्याख्यानान् । के तु हमितमित्येव भवति । काष्टम् । “हनिकुपिर्भारमिकाशिभ्यस्थः”
[३० सू०] । कुप्तिः । “प्रुपिप्लुपिसुपिकुप्यशिभ्यः क्विसः” [३० सू०] । इत्तुः । “इप्यशिभ्यां क्मुः”
[३० सू०] “कृधूभ्यां क्मरः” । धूसरः । शल्कः । “इणर्माकापाशल्यतिमचिभ्यः कः” [३० सू०] । वन्मः ।
“वृत्तदिहनिकमिकपिसुचिभ्यः सः” [३० सू०] । अग्रहादेरिति किम् ? निगृहीतिः । अपस्निदितिः । निकुचितिः ।

श्र्युकः किति ॥५१।११७॥ अत्रि इत्येतास्मादुगन्तेभ्यश्च कित्तीयन भवति । निपठितिः । “स्त्रियां क्तिः”
[२।३।७५] श्रित्वा । श्रितः । श्रितवान् । युत्वा । युतः । युतवान् । वृत्वा । वृतः । वृतवान् । उपदेश इत्येव ।
तीर्त्वा । तीर्णः । तीर्णवान् । श्र्युक इति किम् ? श्वयित्वा । श्वेः क्त्वा । अत्र जिस्ट् च युगपत्प्राप्तुतः ।
परत्वादिट् । “मृडादि” [१।१।८०] नियमादकित्त्वम् । कित्तीति किम् ? श्रयिता । यविता । भृगुर्गित्यत्र गिति
स्त्री कथं प्रतिषेधः कित्तीयत्र गकारोऽपि कृतचत्वं निर्दिष्टः । तस्य पूर्वनामिद्वत्त्वमाश्रित्य पूर्वं त्रिसर्जनीयः कृतो
यथा रेस्त्वं स्यात् । एवभावोऽपि “क्डिति” [१।१।१६] इति गकारप्रत्ययेनादेव । ऊर्णु षो णुवद्भावः ।
प्रोर्णुत । प्रोर्णुतवान् । एकाच इत्येव । जागरितः । जागरितवान् ।

सनि ग्रहगुहश्च ॥५१।११८॥ ग्रह गुह इत्येताभ्याम् उगन्तेभ्यश्च सनि नेड् भवति । जिष्टक्षति ।
जुष्टक्षति । ररूपति । “सुपग्रहिरुद्विदः संश्च” [१।१।८२] इति क्त्वाजिः । गुहैरुदित्वादिकल्पः प्रातः ।
लूजस्सनि “क्लिकः” [१।१।८२] इति कित्त्वं बाधित्वा परत्वादिट् प्रातस्तस्थानेन प्रतिषेधे भ्रूलादित्वात् किरवम् ।
श्रीग्रहणं न प्रयोजयति “श्रियूष्भर” [५।१।६७] विकल्पितेऽत्वात् ततोऽपि “सर्नाड् वा” [५।१।८६]
इति विकल्पः ।

कृसृभृवृस्तुद्रुसुश्रुवो लिटि ॥५१।११९॥ कृ सृ भृ वृ स्तु द्रु सु श्रु इत्येतेभ्यो लियेण् न भवति ।
चकृव । चकृम् । ससृव । ससृम् । बभृव । बभृम् । ववृव । ववृम् । ववृवइ । ववृमहे । तुष्टोथ । तुष्ट्व ।
तुष्टम् । दुद्रोथ । दुद्रुव । दुद्रुम् । सुस्रोथ । सुस्रुव । सुस्रुम् । शुश्रोथ । शुश्रुव । शुश्रुम् । सिद्धे सत्यरम्भो
नियमार्थः । क्रादय एव लिट्यनितस्ततोऽन्ये सेटः इति । न तु क्रादयो लिट्येवानित इति विपरीतो नियमः ।
“स्वतन्त्रः कर्ता” [१।२।१२५] इत्यादिनिर्देशात् । कृ सृ भृ इति प्रकृतिनियमोऽनुदात्ता एत एवानितो नान्ये ।

विभिदिव । विभिदिम । ददिव । ददिम । “**भ्रयुकः किति**” [५११११७] इति प्रतिषेधे सिद्धे वृग्रहणं स्यनियमार्थम् । वृत्रवृद्धोरेवोदात्तेषु लिटि नेङ् । तेन लुलुविव । लुलुविम । अथ (प्रति) पेधार्थं वृग्रहणं कस्मान्न भवति ? यदि प्रतिषेधः इष्टः स्यात् प्राधिकारे वृग्रहणं क्रियेत न किदधिकारे । इह करणं ज्ञापकं थे प्रतिषेधाभावस्य । ववरिथ । स्तुप्रभृतिग्रहणं तु प्रतिषेधार्थम् । (थे) “**बोपदेशे**” [५१११०६] इति प्रातः । वमयोस्तु कृसृभृ नियमादि (ट्) प्रातः प्रतिषिध्यते । असुट इत्यनुवर्तते । संचस्करिव । संचस्करिम ।

श्वीदितस्ते ॥५१११२०॥ श्वयतेरीदिद्भ्यश्च ते परतः इएन भवति । शूनः । शूनवान् । लग्नः । लग्नवान् । आपीनः । आपीनवान् । शिव ई ईदित ईकारोऽप्यत्र प्रश्लिष्यते । शीडः “**तः सेट् पूङ् शीङः**” [१११६२] इति ज्ञापकादिट् । पारिशेष्यादीकारान्तस्य डीडो ग्रहणम् । उडुनिः । उडुनिवान् । “**ओदितः**” [५१३६३] इति वत्वम् । स्वाद्य ओदितः ।

यस्य वा ५१११२१॥ यस्य वाऽन्यस्मिन्निडुक्तस्तस्य ते परत इएन भवति । रद्धः । रद्धवान् । इधः । इधवान् । द्यूतः । द्यूतवान् । “**तनिपतिदरिद्राणाम्**” [वा०] इति वेट्पि पतित इत्यत्र “**इसच्छ्रितातीनपतित**” [१३१२१] इति ज्ञापकादिट् ।

आदितः ॥५१११२२॥ आकारेतश्च धोस्ते परत इएन भवति । मिन्नः । मिन्नवान् । स्विन्नः । स्विन्नवान् । चित्रणः । चित्रणवान् । धृष्णः । धृष्णवान् । “**समः समि**” [४३११६६] इत्यत्र कथ्यन्ते इगागमवचनान्तिद्धे आदेशवचनं ज्ञापकमनित्यमागमशान्तिमिति । तेन वान्तः । विश्वस्तः ।

वा भावारम्भयोः ॥५१११२३॥ भावे आरम्भे च आदितो धोस्ते परतो वा इङ् भवति । मिन्नमस्य । मेऽेतमस्य । प्रमिन्नः । प्रमेदितः । चित्रणमस्य । चित्रेदितमस्य । प्रचित्रणः । वेति योगविभागात् कर्मणि वा शक्नेरिट् । आदित इति तु न सन्निधीयते । शक्तो घटः कर्तुम् । शक्तो घटः कर्तुम् । भावो ध्वर्यः । आद्यः क्रियाऽवयवः प्रेत्यादिना द्योत्यः आरम्भः । भावग्रहणं तस्य विशेषणम् आरम्भो धोः “**नटभावे क्तः**” [२३१६५] इति भावे क्तः । “**कर्तरि चारम्भे**” [५१४५६] इति कर्तरि क्तः ।

दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टलुघ्नज्ञप्ताः ॥५१११२४॥ दान्तादयः शब्दा ष्यन्ताद् वा निष्पात्यन्ते । दान्तः । दमितः । शान्तः । शमितः । पूर्णः । पूर्णितः । दस्तः । दासितः । स्पष्टः । स्पाशितः । लुघ्नः । लुघ्नितः । ज्ञनः । ज्ञापितः । ते वाऽनित्त्वं निपात्यते । दस्तादेरुडः प्रादेशश्च । शमिदम्भोर्णिग्वे दीत्वं प्रति न स्थानिवत् इति “**डस्य क्विक्ल्लोः क्विति**” [४१४१३] इति दीत्वम् । अन्यत्र मितो प्रः । जपेस्तु “**भरज्जपिसनाम्**” [५१११६७] इति विकल्पितेयो “**यस्य वा**” [५१११२१] इति प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम् ।

हृष्टापचितौ ॥५१११२५॥ हृष्टापचिन इत्येतौ वा ते परतो निपात्येते । हृष्टेर्लोमविस्मितप्रतिघातेषु वाऽनित्त्वम् । हृष्टानि लोमानि । हृष्टितानि लोमानि । हृष्टं लोमभिः । हृष्टो देवदत्तः । हृष्टितो देवदत्तः । हृष्टा दन्ताः । हृष्टिता दन्ताः । हृष्टेः “**बोदितः**” [५१११०४] इति विकल्पितेयो “**यस्य वा**” [५१११२२] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । अपचितोऽनेन गुरुः । अपचायितोऽनेन गुरुः । चायतेस्ते विभावोऽनित्त्वं च वा निपात्यते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन क्तं नित्यमपचितिः ।

लुब्धस्वान्तध्वान्तलग्नम्लिष्टविरिब्धफाण्टबाढविशस्तधृष्टकृष्टघुष्टदृष्टपरिवृद्धाभ्यर्णवृत्ताः ॥५१११२६॥ लुब्धादयः शब्दाः कान्ता अर्थविशेषे निपात्यन्ते । लुब्धो भवति मन्थश्चेत् । दध्यादिकं येन मथ्यते स मन्थः । ननु द्रवद्रव्यसंप्रयुक्ताः सक्तवो मन्थ इह गृह्यते । तदुक्तं “**शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भो-धिवर्णना**” इति । क्रियाभिधानेऽन्याभिधाने च न भवति । लुभितं मन्थेन । लुभिता सेना । स्वान्तमिति भवति मनश्चेत् । स्वनितमन्यत् । ध्वान्तमिति निपात्यते तमोऽभिधानं चेत् । ध्वनितमन्यत् । लग्नमिति भवति सक्तश्चेत् लगीतमन्यत् । म्लिष्टमिति भवति अविस्पष्टश्चेत् । म्लेच्छितमन्यत् । इत्वमेकारस्य निपातनादेव । विरिब्ध

इति निपात्यते स्वरश्चेत् । विरेभितमन्यत् । इत्वमेतो निपातनात् । फाएटमिति निपात्यते अनायासे । फणितमन्यत्र । अग्निना तप्तं यत्कथोष्णं तत्फाएटम् । अथवा यदपक्वमचूर्णितमन्यन्दिनमुदकादिसंयोगादिभक्तसम् । वादमिति भवति नष्टं (भृशं) चेत् वाहितमन्यत् । वाह प्रयत्ने इत्यस्थानिदृशम् । विशस्तभृष्टाविति भवतः वियातौ चेत् । विशस्तो वादी श्रुत्ये वादी प्रगल्भोऽविनीतो वा शमुश्रुपोः “यस्य वा” [५।१।१२१] “आदितः” [५।१।१२२] इति च प्रतिषेधे मिद्धे नियमार्थं वैयात्य एवेति । भावारम्भयोर्भृषिर्वैयात्येऽनभिधानम् । नियमादन्यचेद् । विशसितः पशुः । धर्षितः शत्रुणा । कष्टमिति भवति कृच्छ्रे गद्ने च । कृच्छ्रं दुःखं दुःखहेतुश्चोपचारात् । गद्नं वनम् । श्रुपेरविशब्दनेऽनिदृत्वं निपात्यते । श्रुष्टा रज्जुः । श्रुष्टौ पादौ । अविशब्दने इति किम् ? अश्रुपितं वाक्यमाह । शब्देनाभिप्रायनिवेदनं विशब्दं तदपि श्रुपेरर्थः । अनेकार्थत्वाद्भूनाम् । दृढ इति स्थूले बलवति च । दृढिः क्लेशनिदृत्वं न दृगं परस्य च दृत्वं निपात्यते । दृहेर्वा नग्यवर्जम् । ननु दृहेर्दृत्वं दृत्वं च न निपात्यं दृत्वे दृत्वे च कृते सिध्यति । नैवम् । दृदिमा । दृद्यति । परिदृद्यत गतः इत्यत्र पूर्वत्रासिद्धत्वात् “ऊ रोऽनादेशः” [४।४।१५३] इति रत्वम् “प्ये विपूर्वात्” [४।४।५६] इति रोग्यादेशश्च न स्यात् । इह च परिदृद्यस्यापत्यं पारिदृटी कन्यति “प्योऽक्षु रूपान्त्ययोः” [३।१।६३] इति प्यः प्रसज्येत । स्थूलवृत्तोरिति किम् ? दृहितम् । दृहितं वा । परिदृद्य इति निपात्यते ! प्रभुश्चेत् । परिपूर्वस्य वृहेर्वा न ह्यम् । दृत्वे प्रयोजनं पूर्वोक्तम् । परिदृद्यत गतः इत्यत्र संग्राम युद्धे इति मगोः पाठान्ति गिरहितस्य गिनुत्पद्यते । तेन “निकुप्रादयः” [१।३।८१] इति पसे क्वात्यस्य प्यादेशः । प्रभाविति किम् ? परिदृद्यितम् । परिदृद्यितम् । अभ्यर्ण इति निपात्ये आविदूर्ये । अभ्यर्णो शेते । अभ्यर्णा शरत् । विदूरं विप्रकृष्टं ततोऽन्यत्सर्वमविदूरं तस्य भाव आविदूर्यम् । “नञ्से चतुर” [३।४।११५] इत्यत्र नञ् स इति योगविभागात्सापेक्षत्वेऽपि द्यण् । आविदूर्य इति किम् ? अभ्यर्णितश्चौरः शीतेन । वृत्तमित्यध्ययनेऽर्थे निपात्यते । वृत्तेऽर्थन्तादिडभावो पोरुप् च क्ते निपात्यते । वृत्तं जैनेन्द्रम् । वृत्तस्तर्कं देवदत्तेन । अध्ययन इति किम् ? वर्तितो घटः कुम्भकारेण । यदा वृत्तिकर्मकस्तदाऽस्य एयन्तस्य वृत्तस्तर्क इति न भवति । यदा तु “तेन निवृत्तः” [३।२।५८] इति ज्ञापकादन्तर्भावितार्थः सकर्मकस्तदा कर्मणि क्तः “यस्य वा” [५।१।१२१] इति प्रतिषेधाद्बृत्तस्तर्कः । एयन्तस्य अध्ययने वर्तित इति भवति ।

सन्निविभ्योर्दे ॥५।१।१२७॥ सप्, नि वि इत्येवंपूर्वादेशैरिण भवति ते परतः । समर्णः । न्यर्णः । व्यर्णः । सन्निविभ्य इति किम् ? अर्दितः । प्रार्दितः ।

न वा रूप्यमत्वरसंघुपास्वनः ॥५।१।१२८॥ रूपि अम् त्वर संघुप आस्वन् इत्येतेभ्यः ते न वा इड् भवति । सृष्टः । रूपितः । अभ्यन्तः । अभ्यमितः । तूर्णः । त्वरितः । संघुष्टः पादः । संघुपितः पादः । संघुष्टं वाक्यम् । संघुपितं वाक्यम् । आस्वान्तो देवदत्तः । आस्वनितो देवदत्तः । आस्वान्तं मनः । आस्वनितं मनः । रूपेः “तीपसहलुभरुपरिपः” [५।१।१६६] इति विकल्पेयो “यस्य वा” [५।१।१२१] इति निषिद्धे अभ्यमः प्राप्ते त्वर “आदितः” [५।१।१२२] इति प्रतिषेधे संघुपास्वनोरविशब्दनमनसोरप्राप्ते सनोदि प्रातौ नेति प्रतिषिद्धायां सर्वत्र वेति विकल्पः ।

हनृतः स्ये ॥५।१।१२९॥ हन्तेः ऋकारान्तेभ्यश्च स्ये परत इड् भवति । हनिष्यति । अहनिष्यत् । करिष्यति । अकरिष्यत् । स्वरत्यादि विकल्पं बाधित्वाऽनेन परत्वादिट् । स्वरिष्यति । न वेति नानुवर्तते ।

सावज्जे ॥५।१।१३०॥ अज्जेः सौ परतः इड् भवति । आञ्जीत् । आञ्जिष्ठाम् । आञ्जिष्णुः । नित्यार्थ आरम्भः । साविति किम् ? अञ्जिता ।

स्तुसुधूजो मे ॥५।१।१३१॥ स्तु सु धूज इत्येतेभ्यः मपरं सौ परतः इड् भवति । अस्तावीत् । असावीत् । अधावीत् । म इति किम् ? अस्तोष्ट । असोष्ट । अघोष्ट । अधविष्ट । धूजो विकल्पः प्रातः । अकारो धुवतिनिवृत्त्यर्थः ।

यमरमनमातः सक् च ॥५१११३२॥ यम रम नम इत्येतेषाम् आकारान्तानां च मपरे सौ परतः सगागमो भवति इट् च । अयंसीत् । अयंसिष्टाम् । अयंसिपुः । व्यरंसीत् । व्यरंसिष्टाम् । व्यरंसिपुः । अनंसीत् । अनंसिष्टाम् । अनंसिपुः । असनीटि हलन्तलक्षण ऐप् स्यात् । सति तु “नेटि” [५१११८०] इति प्रति-पिष्यते । आतः—आयासीत् । आयासिष्टाम् । आयासिपुः । म इत्येव । उपायंस्त । उपायंसाताम् । उपायंसत । अरंसत । अरंसाताम् । अरंसत ।

स्मिपूङ्गञ्ज्वशः सनि ॥५१११३३॥ स्मिङ् पूङ् ऋ अञ्जू अञ्जूङ् इत्येतेभ्यः सनीङ् भवति । मिस्मथिपते । पिपथिपते । अरिपिपति । अजिजिपति । अशिशिपते । पूङ्ः सन् । “सनि ग्रहगुहश्च” [५११११८] इति प्रतिपिद्धेऽनेनेट् । द्वित्वात्पर एप् “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावेन द्वित्वम् । “ओः पुयण्ये” [५१२१७८] इति इत्वम् । अञ्ज्वशोरुदित्वादिकल्पः प्रातः अश्नातेरुदात्तस्य नेह ग्रहणम् ।

किरश्च पञ्चभ्यः ॥५१११३४॥ किरादिभ्यः पञ्चभ्यः सनीङ् भवति । उच्चिकरिपति । निजिगरिपति । दिदरिपते । दिधरिपते । पिपृच्छिपति । “प्रच्छेः” [४३११२] इति जिः । पञ्चभ्य इति किम् ? मिसृथति । किरतिगिरत्योः “सनीङ् वा” [५११८६] इति विकल्पः प्रातः । “वृत्तो वा” [५११८६] इति व्यवस्थित-विभाषाश्रयणादस्येयो दीर्घं भवति । किर इति आदिशब्दस्य खे “सूत्रेऽस्मिन् सुव्विधिरिष्टः” [५१२११४] इति भ्यसः स्थाने ङसिः । चकारः सनोऽनुकर्षणार्थः, अन्यथा निमित्ते सन्देहः स्यात् सेपि पूर्वं श्रुतत्वात् अनुक्तसमुच्चयार्थ इति केचित् । तेन क्वचिदन्यत्रापीट् । “जुगृह्णिपन् मत्तगजोऽभ्यधावत्” ।

रुदादेर्गे ॥५१११३५॥ रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः वलादौ गे इङ् भवति । रोदिति । रुदितः । स्वपिति । निःश्वथिति । प्राणिति । जलिति । “खोऽनितेः” [५१४१०४] इति णत्वम् । पञ्चभ्य इत्येव शास्ति । ग इति किम् ? स्वना । स्वप्नुम् । अन्ये नृजाताः । वलादावित्येव । रुदन्ति । स्वपन्ति । रुदादेरित्येव कानिर्देशो ग इत्यस्येगिर्देशस्योत्तरत्र सावकाशस्य तां प्रकल्पयति ।

ईडः र्ध्वे ॥५१११३६॥ ईडः सकारादौ ध्वे च गे परतः इङ् भवति । ईडिष्व । ईडिध्वे । ईध्वम् ।

ईशः ॥५१११३७॥ ईश इत्येतस्माच्च इङ् भवति सकारादौ गे ध्वे च । ईशिषे । ईशिष्व । ईशिध्वे । ईशिध्वम् । योगविभागे यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।

लिङोऽनन्त्यसखम् ॥५१११३८॥ लिङोऽनन्त्यस्य सस्य खं भवति गे । कुर्याताम् । कुर्युः । कुर्वीत । “सुट् तथोः” [२१४१८७] इति सुट् । सुट्यासुट्सीयुट्सखमनेन । तिपि स्फादौ सखेन सिद्धम् । “कृजो ये च” [४१४१६६] इत्युखम् । “उसि” [४३१८३] इति पररूपम् । अनन्त्य इति किम् ? कुर्युः । कुर्याः । कुर्वीथाः । वरमसोः “ङित्तः सखम्” [२१४१८०] तसस्तां थसस्तमिति भवितव्यम् । ग इत्येव । क्रियासुः । कृपीष्ट । “रिङ्यग्लिङ्शे” [५१२१३७] इति यादौ रिङादेशः । “उः” [१११८६] इति लिङो दे कित्त्वम् ।

अतो येय् ॥५१११३९॥ अकारान्ताद् गोस्तरस्म या इत्येतस्य इयादेशो भवति गे । पचेत् । दीव्येत् । “वलि ष्योः खम्” [४३१५५] पचेयुः इत्यत्र “उसि” [४३१८३] इति पररूपं न । “वाणाद्गावं वलीयः” [५०] इति इयादेशो भवति । “यन्थतो दीः” [५१२१६६] इति दीत्वं सामान्येनोक्तमनवकाशोऽयं विधिर्जायते । अत इति किम् ? चिनुयात् । तपरकरणं किम् ? यायात् । ग इत्येव । चिकीर्ष्यात् । अतः खे पूर्वगत्या स्यात् । या इत्येतत् “सूत्रेऽस्मिन्” [५१२११४] इति ङसः खम् ।

डिदातः ॥५१११४०॥ अकारादुत्तरस्य डिदवयवस्यात् इयित्ययमादेशो भवति । पचेते । पचेथे । सचेताम् । पचेथाम् । डकार इद्यस्य सोऽयं ङित् तस्यावयव आत् । “गाङ्कुटादेः” [१११७५] इत्यत्र

डिदिति । डिलीव डिद्विदिति कार्यातिदेशः । तेन चुकुटिपति इत्यत्र सनोऽडित्वाद्दो न भवति । “गोऽपित्” [१११७८] इत्यत्र तु डित इव डिद्विदिति द्रष्टव्यम् । न कार्यातिदेशः । कार्यस्यावयवासम्भवात् । डिति किम् ? पचावहे । आत इति किम् ? पचन्ति ।

आने मुक् ॥५१११४१॥ अत आने मुगागमो भवति । आन इति ईमिर्देशो अत इति कानिर्देशस्य पूर्वसूत्रे कृतार्थस्य ताप्रकृतृति करोतीति अकारान्तस्य मुक् । पचमानः । वपमानः ।

ईदासः ॥५१११४२॥ आस उत्तरस्य आनस्य ईकागदेशो भवति । आसीनोऽधीते । आस इति कानिर्देशोऽनवकाश आनस्य तां प्रकल्पयति । परस्यादेरीत् ।

विभक्त्यामाप्यन ॥५१११४३॥ अप्यन आकारादेशो भवति विभक्त्यां परतः । अप्याभिः । अप्याभ्यः । अप्यासु । अप्यानाभित्याप्यन आभ्यास्वे च कृते नान्तत्वाभावादित्स्त्रज्ञा नास्ति । कथं नुङ् । “प्यान्तेल्” [१११३४] इत्यत्रान्तग्रहणमुपदेशार्थमुक्तमित्यदोषः । विभक्त्यामिति किम् ? अप्यमहाप्रातिहार्यो जिनः । “नोमता गोः” [१११६४] इति प्रतिषेधात्प्राथम्यात्वं न भवति । कथं “दूतः स्यादप्यभिर्गुरौः” इति ? “अप्याभ्य औश्” [५१११८] इति कृतात्वोच्चारणं ज्ञापकम्, यत्रैवात्वं तत्रैवौशभाव इति तेनानित्यमात्वम् । आ इति विशेषनिर्देशो नकारस्य स्थाने ङसञ्ज्ञकाकारनिवृत्त्यर्थः । आत्वमिति जातिनिर्देशो प्रसज्येत ।

रायो हलि ॥५१११४४॥ रे इत्येतस्य हलादौ विभक्त्यामाकारादेशो भवति । राः । राभ्याम् । रामिः । राभ्यः । रामु । हलीति किम् ? रायो । रायः । विभक्त्यामेव । रैवम् । रैता ।

युष्मदस्मदोः ॥५१११४५॥ युष्मदस्मदित्येतयोर्हलादौ विभक्त्यां परतः आत्वं भवति । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः । युष्मामु । अस्मामु । “अन्तेऽलः” [१११४६] इति दकारस्य भवति ।

इपि ॥५१११४६॥ इपि च विभक्त्यां परतः युष्मदस्मदोरात्वं भवति । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । युष्मान् । अस्मान् । “खमादेशे” [५१११४६] इति खे प्राप्ते पुगस्तादपवादोऽयम् । “ङेसु-दोरम्” [५११२४] इत्यम् । “शसो नः” [५११२५] इति नकारः ।

आचि ॥५१११४७॥ औकारे परतः युष्मदस्मदोरात्वं भवति । युवां जैनेन्द्रमधीयाथे । आचाम् अभीवहे ।

यः ॥५१११४८॥ यकारादेशो भवति युष्मदस्मदोर्विभक्त्यां परतः । त्वया । मया । त्वयि । मयि । युवयोः । आचयोः । उत्सर्गोऽयम् । आत्वं खं चापवादः । पारिशेष्यादध्यनादेशोऽनतिष्ठते ।

खमादेशे ॥५१११४९॥ आदेशे विभक्त्यां युष्मदस्मदोः खं भवति । आदिश्यत इत्यादेशो विभक्ती । त्वम् । अहम् । यूयम् । वयम् । तुभ्यम् । मह्यम् । युस्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । त्वत् । मत् । युष्मत् । अस्मत् । तव । मम । युष्माकम् । अस्माकम् । विभक्त्यामिति किम् ? युष्मदीयः । “त्यदादि” [१११६६] इति हुसञ्ज्ञा । “दोश्चः” [३१२१६०] इति छः । इदं खवचनं ज्ञापकम् । अत्वविधिं प्रति द्विपर्यन्तास्यदादयः । तेन भवच्छब्दस्य भवानिति ।

मावधेः ॥५१११५०॥ युष्मदस्मदोर्मकारावधेः सङ्घातस्यादेशो भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । अवधि-ग्रहणं किम् ? मान्तस्येति वक्तव्यम् । नैवं शक्यम् । यत्र युष्मदस्मदौ मान्तौ णिचि क्प्यागतनिवृत्ते तत्रैवादेशाः स्युः । ननु षोः “परेश्चः पूर्वविधौ” [१११५७] स्थानिवद्भावान्मान्तता नास्ति व्यवधानात् । वचनाच्छ्रुतिकृत-मानन्तर्यं विभक्त्याः । अवधिग्रहणे सति दकारान्तयोरपि युष्मदस्मदोर्मावधेः समुदायावयवस्यादेशाः सिद्धा भवन्ति ।

युवावौ द्वौ ॥५१११५१॥ द्वावित्यन्वर्थग्रहणम् । “एकद्विवहवश्चैकशः” [११२१५५] इत्यत्रान्व-र्थसञ्ज्ञाकरणात् । द्वित्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्युव आव इत्येतावादेशौ भवतः । युवाम् । आवाम् । युवाभ्याम् ।

आवाभ्याम् । युवयोः । आवयोः । मावधेरित्येव । युवकाम् । आवकाम् । अकसहितस्य न भवति । सेऽपि यदा युष्मदस्मदी द्वित्वे वर्तते समुदायः एकत्वे बहुत्वे वा तदापि युवावौ भवतः । न चेत् परत्वाद् “यूयवयौ जसि” [५।१।१५२] “त्वाहौ सौ” [५।१।१५३] “तुभ्यमहौ ङयि” [५।१।१५४] “तवममौ ङसि” [५।१।१५५] इत्यादेशान्तरेण बाध्येते । अतिक्रान्तं युवाम् अतियुवाम् । अत्यावाम् । अतिक्रान्तान् युवाम् अतियुवान् । अतिक्रान्तेन युवाम् अतियुवया । अत्यावया । अतिक्रान्तैर्युवाम् अतियुवाभिः । अत्यावाभिः । अतिक्रान्तेभ्यो युवां देहि वा अतियुवभ्याम् । अत्यावभ्यम् । अतिक्रान्तात् युवां अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तेभ्यो युवाम् अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तानां युवाम् अतियुवाकम् । अत्यावाकम् । अतिक्रान्ते युवाम् अतियुवयि । अत्यावयि । अतिक्रान्तेषु युवाम् अतियुवासु । अत्यावासु । यदा समुदायोऽपि द्वित्वे वर्तते तदा सुतरां भवतः । अतिक्रान्तौ युवाम् अतियुवाम् । अत्यावामित्यादि । अपवादविषये न भवतः । अतिक्रान्तो युवाम् अतित्वम् । अत्यहम् । अतिक्रान्ता युवाम् अतियूयम् । अतिवयम् । अतिक्रान्ताय युवाम् अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । अतिक्रान्तस्य युवाम् अतितव । अतिमम । यदा च युष्मदस्मदी एकत्वे बहुत्वे च वर्तते समुदायो द्वित्वे तदापि न भवतः । अतिक्रान्तौ त्वाम् अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तौ युष्मान् अतियुष्मान् । अत्यस्मान् । इत्यप्येवम् । अतिक्रान्ताभ्यां त्वाम् अतित्वाभ्याम् । अतिमाभ्याम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्याम् । अत्यस्माभ्यां कृतम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्यां देहि । एवम् अतित्वाभ्याम् । अतियुष्माभ्यां विभेति । अतित्वयोः । अतियुष्मयोः स्वम् । अतित्वयोः । अतियुष्मयोर्निधेहि ।

यूयवयौ जसि ॥५।१।१५२॥ युष्मदस्मदोर्जसि परतो यूय वय इत्येतावादेशौ भवतः । यूयम् । वयम् । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरप्यत्र । अतिक्रान्तास्त्वां युवां युष्मान् वा अतियूयम् । अतिवयम् । परमयूयम् । परमवयम् ।

त्वाहौ सौ ॥५।१।१५३॥ युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व अह इत्येतावादेशौ भवतः सौ परतः । त्वम् । अहम् । परमत्वम् । परमाहम् । अतिक्रान्तस्त्वां युवां युष्मान् वा अतित्वम् । अत्यहम् ।

तुभ्यमहौ ङयि ॥५।१।१५४॥ तुभ्य मह्य इत्येतावादेशौ भवतः युष्मदस्मदोर्ङयि परतः । तुभ्यम् । मह्यम् । तदन्तविधिना अतिक्रान्ताय त्वां युवां युष्मान् वा अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । परमतुभ्यम् । परममह्यम् ।

तवममौ ङसि ॥५।१।१५५॥ युष्मदस्मदोर्ङसि परतः तव मम इत्येतावादेशौ भवतः । तव स्वम् । मम स्वम् । अतिक्रान्तस्य त्वां युवाम् युष्मान् वा अतितव । अतिमम । परमतव । परममम ।

त्वमावेके ॥५।१।१५६॥ एक इत्ययमन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशस्तेन एकत्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः । त्वाम् । माम् । त्वत् । मन् । त्वयि । मयि । अत्रापि यदा युष्मदस्मदावेकत्वे वर्तते समुदायो द्वित्वे बहुत्वे वा तदापि त्वमादेशौ भवतः, यदि “यूयवयौ जसि” [५।१।१५२] इत्यादिभिरादेशान्तरेण बाध्येते । कथं बाधा ? अतीताश्चत्वारो योगा इहानुवर्तन्ते । ततो बाधा तद्विषयादन्यत्रायं विधिः । अतिक्रान्तौ त्वां तिष्ठतः पश्येति वा अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तांस्त्वाम् अतित्वान् । एवम् अतित्वाभ्याम् । अतितुभ्यं देहि । अतित्वत् । अतित्वयोः । अतित्वाकम् । अतित्वयोः । अतित्वाम् । यदा समुदायोऽप्येकत्वे तदा सुतराम् । अतिक्रान्तं त्वाम् अतित्वाम् ।

त्यद्योश्च ॥५।१।१५७॥ त्वमावेक इत्यनुवर्तते । एकार्थविषयोर्युष्मदस्मदोः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः त्ये श्चौ च परतः । त्वत्तरो मत्तरः । त्वदीयो मदीयः । त्वत्प्रधानाः । मत्प्रधानाः । त्वद्धितम् । मद्धितम् । त्वच्छिष्यो मच्छिष्यः । विभक्त्यां परतः पूर्वो योगस्तस्या उपि प्रापणार्थं वचनम् । ननु नानापदाश्रयत्वाद्द्विहरङ्ग उप् विभक्तीमात्राश्रयत्वादन्तरङ्गस्त्वामादेशः पूर्वो भविष्यतीत्यनर्थकमिदम् । नानर्थकम् । त्वाह तुभ्यमह्य

तव मम विषये प्रापणार्थम् । चकारो मविध्यनुकर्षणार्थः । ननु तवममाद्यादेशापवादोऽत्र मावधित्वं लब्धम् । नैवं शक्यम् । विभक्त्या उपि कृते तवममाद्यादेशाभावात्कृत्स्नयोर्ध्मदस्मदोः स्थाने स्यात् । ननु बहिरंग उचित्युक्तम् । इदमेव च शब्दोपादानं ज्ञापकम् “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उब् बाधते” [प०] तेन यूयं पुत्रा यस्य स युष्मत्पुत्रः यूयादेशाभावः । गोमान् प्रियो यस्येति गोमत्प्रियः इत्यादौ नुमादीनामभावः सिद्धः ।

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥५॥१॥१५८॥ गोर्विभक्त्यां परतः त्रि चतुर् इत्येतयोः स्त्रियां वर्तमानयोस्तिस् चतसृ इत्येतावादेशौ भवतः । तिसृभिः । चतसृभिः । तिसृषु । चतसृषु । स्त्रियामित्येतन् त्रिचतुरोरेव श्रुत्वद्विशेषणं किमर्थम् ? यदा त्रिचतुरो स्त्रियां वर्तते समुदायः पुंसि नपुंसके वा तदापि तदन्तर्विधिनो तिसृचतसृभावो यथा स्यात् । प्रियतिसा । प्रियतिसौ । प्रियतिसः । प्रियतिस कुलम् । प्रियतिसृणी । प्रियतिसृणि । यदा तु त्रिचतुरौ पुंसि नपुंसके वा वर्तते समुदायः स्त्रियां तदा न भवति । प्रियाः त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्याः स प्रियत्रिः । एवं प्रियचत्वाः । स्त्रियामिति किम् ? त्रयश्चत्वारः । त्रीणि । चत्वारि । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनुवर्तते । तेन “क्वचित्केऽपि खौ” । तिसृका ग्रामः ।

रोऽच्युः ॥५॥१॥१५९॥ तिसृ चतसृ इत्येतयोः ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यचि परतः । तिसृस्तिष्ठन्ति । तिस्रः पश्य । चतस्रस्तिष्ठन्ति । चतस्रः पश्य । प्रियतिसौ भयम् । “ऋतो ङिधे” [५॥२॥१०५] इत्येप् शभि “सुष्टि पूर्वस्वम्” [४॥३॥८६] दीत्वं ङसिङ्सोः “ऋत उत्तः” [४॥३॥९८] इति उः प्रमज्यते । ननु “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [प०] इति ऋतो ङिधे इत्येपः कथं बाधा “स्पद्धे परम्” [१॥२॥९०] इति परशाब्दस्येष्टवाचिच्वादेरे फादेशः इष्टः । डावेप् । प्रियतिमरि । अथ प्रियतिस इत्यादौ कस्मान्तः कस्मान्न भवति । समुदायविभक्त्यां तिसृभाव इति तयाऽन्तो व्याप्त इति न कम् । अचीति किम् ? तिसृभिः । तिसृणी । नन्वामि परत्वादेरुः प्राप्नोति । नैवम् । “नाम्यतिसृचतसृ” [४॥४॥३] इति ज्ञापकान्नुटि नुम्रभावौ न स्तः । उरिति किम् ? “अन्तेऽलः” [१॥१॥४९] इत्येव सिद्धम् । उरित्यक्रियमाणे “येन नाप्राप्त” न्यायेन तिसृचतसृभावस्यापवादो रेफः स्यात् ।

जराया व्याऽसङ् ॥५॥१॥१६०॥ जराया अचि परतो वा अस्सङ्देशो भवति । जरसौ । जरे । जरसः । जरसम् । जरसा । जरया । आमि परत्वान्नुडोऽसङ् । जरसाम् । जराणाम् । नुमः परत्वादसङ् । अतिजरसि तपांसीति । प्रादेशे “एकदेशविकृतमनन्यवद्” [प०] इति । अतिजरसं कुलं पश्येत्यात्रामं विभक्तीमपेक्ष्यासङ् । अनकारान्तो जातः । स तस्योपो निमित्तं न भवति सन्निपातलक्षणत्वात् । अतिजरं तिष्ठति । अतिजरैरित्यत्र सन्निपातलक्षणत्वम्भावैस्त्वौ । तेन नाऽसङ् । अनित्यैषा परिभाषेति केचित्तेन अतिजरसं तिष्ठति । अतिजरैरिति ।

त्यदादेरः ॥५॥१॥१६१॥ अचीति निवृत्तम् । त्यदादीनामकारादेशो भवति विभक्त्याम् । स्यः । त्यौ । त्ये । सः । तौ । ते । यः । यौ । एपः । एतौ । इमौ । इमे । अमू । अमी । द्वौ । द्वाम्याम् । त्यदादिषु स्त्रीत्वविवक्षायां “भाविनि भूतबहुपचारात्” इति स्वादिमपेक्ष्यात्वे कृते टाप् । तेन स्या सेत्यादिसिद्धम् । अत्वविधि प्रति द्विपर्यन्तास्त्यदादयः । “भवतष्टण्डुसौ” [३॥२॥९१] इति निर्देशात् । तेन भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । गृह्यमाणेन त्यदादिना विभक्ती विशेष्यते । तेनाप्रधानानामस्त्वं न भवति । अतितदः । प्राधान्ये तु शोभनः सः मुनः । अतिसः । परमसः । सञ्ज्ञाशब्दानां तु त्यदादित्वाभावः सर्वनामान्तर्गणत्वात्त्यदादेः ।

किमः कः ॥५॥१॥१६२॥ किमित्येतस्य क इत्ययमादेशो भवति विभक्त्यां परतः । कः । कौ । के । किमोऽकार एवानुवर्त्यः । पूर्वेण मकारस्यानेन “अनन्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य” [प०] इतीकारस्यात्वे पररूपत्वे च कृते सिद्धमिति चेत् ; न, पूर्वेण सत्यपि मकारस्यात्वसम्भवे इकारस्यात्वं बाधकमेव स्यात् । तद्विधानमिव दधिनस्य । किञ्च कुत्साद्यर्थे सकेऽपि यथा स्यादिति कादेशः । विभक्त्यामित्येव । किं राजा यो न रक्षति ।

कुक्कौ तयोः ॥५१११६३॥ किमः कु क् इत्येतावादेशौ भवतस्तकारादावकारे च परतः । कुतः । क् । “कुतसोः” इति सूत्रे सित्करणसामर्थ्यात्पदसञ्ज्ञया भसञ्ज्ञाकार्ये उक्त्वे बाधिते यणादेशेन सिद्धे क् रूपे साको यथा स्यादित्येवमर्थः कादेशः ।

तोः सः साधनन्त्ये ॥५१११६४॥ त्यदादीनां तवर्गस्यानन्त्ये सकारादेशो भवति सौ परतः । स्यः । सः एपः । अनन्त्य इति किम् ? यः । सः । त्यदाद्यत्वस्येदमादयोऽवकाशाः । सत्वस्यानन्त्यस्तवर्गाः । परत्वाद् दस्य सत्त्वं स्यात् । ननु सत्त्वेऽपि यत्वे सिध्यति । नैवम् “अनिनस्मिन्ग्रहणेऽनर्थकस्यापि ग्रहणात्” [प० ४१४१२] इति दीत्वं स्यात् । इह च स पुरुष इति हलि सुखे दोषः स्यात् । सा इत्यत्र “अतः” [३११४] इति टाभ्न स्यात् । तस्मादनन्त्य इत्युच्यते । अनेप इत्यत्र नकारस्य कस्मान्न भवति ? “नञोञ्” [४३११८१] इति नकारस्य त्यदादिग्रहाणोनाग्रहणात् । भवानित्यत्र “स्फान्तस्य खम्” [५१३४१] इति तखस्यासिद्धत्वात्तकारस्य प्राप्नोति । यद्येवं परस्वत्वस्याप्यसिद्धत्वात्तकारो नास्ति । ततोऽन्तरङ्गत्वादनुस्वार एव स्यात् ।

असौ ॥५१११६५॥ असाविति निपात्यते । अदसः सकारस्यौत्वं सौ सुखम् । अत्ववाधनार्थम् । “तोः” [५१११६४] इति दस्य च सत्वम् । असौ । हे असौ । स्त्रीपुंसयोर्दम् । सावित्येव । अदः कुलम् । अदसः परस्य सौरौत्वमेव निपात्यमिति चेत्, न, कुत्साद्यर्थविवक्षायामकिं त्यदाद्यत्वे टापि कृते “त्यस्थे क्यार्पादतः” [५१२१५०] इति इत्वं स्यात् । तेन असकौ स्त्रीति न सिध्येत् । सकारस्य त्रौत्वे टाम्नास्तीति न दोषः ।

इदमो मः ॥५१११६६॥ इदमित्येतस्य मकारादेशो भवति विभक्त्यां परतः । साविति निवृत्तम् । उत्तरत्र साविति निर्देशात् । इमौ । इमे । इमे । इमाः । इमे । इमानि ।

दः ॥५१११६७॥

यः सौ ॥५१११६८॥ इदमो दस्य यकारादेशो भवति सौ परतः । उत्तरत्र पुंसीति निर्देशात् स्त्रियामयं विधिः । इयं स्त्री । नपुंसके सुखे नास्ति ।

पुंसोदोऽय् ॥५१११६९॥ इदम इद्रूपस्य अयादेशो भवति सौ परतः पुंस्यभिधेये । अयम् । परमायम् । “पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं पदचादेकादेशः” । “नेन्द्रस्य” [५१२१७] इति ज्ञापकात् ।

अनाप्यकः ॥५१११७०॥ इदम इद्रूपस्याककारस्यान इत्ययमादेशो भवति आपि विभक्त्यां परतः । अनेन । परमानेन । अनेयोः । अक इति किम् ? इमकेन । इमकयोः । आत्रिति प्रत्याहारः टादिरासुपः पकारेण ।

हलि खम् ॥५१११७१॥ हलादावापि परतः अककारस्येदम इद्रूपस्य खं भवति । आभ्याम् । एभिः । एभ्यः । एपु । अक इत्येव । इमकेभ्यः । “अन्तेऽलः” [११११४६] कस्मान्न भवति । “नानर्थकेऽन्तेऽल्लो विधिः” [प०] । अथवा अर्थवशाद्विभक्तीपरिणाम इति पूर्वेण सिद्धस्यानोऽन्तेऽल इति नखम् ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

मृजेरेप् ॥५१२१॥ गोरित्येतदेवानुवर्तते । मृजेरिक ऐभभवति । मार्घा । मृजेरितीग् निर्देशः “धोः स्वरूप-ग्रहणात्तस्यविज्ञानम्” [प०] भ्रौणहृत्येति तत्त्वनिपातनाज्जायते । अन्यथा “हनस्तो शिणल्लोः” [५१२३६] इत्येव तत्त्वं स्यात् । धोर्विहिते त्ये ऐभभवति । न मृदस्ये तेन कंसपरिमृड्भिरिति । ननु “किञ्चि” [११११६] इति प्रतिषेधः सिद्धो नैवम् । झिन्निमित्तयोरेवैपोः स प्रतिषेधः ।

किञ्चित्वा वा ॥५१२२॥ मृजेरजादौ किञ्चि वा ऐभभवति । परिमृजन्ति । परिमार्जन्ति । परिममृ-जतुः । परिममार्जतुः । किञ्चितीति किम् ? परिमार्जन्म् । अचीति किम् ? मृष्टः । क्ते तसि वा द्रष्टव्यम् ।

१. प्रतिषु सूत्रस्यास्य वृत्तिस्तुदिता ।

ञिणित्यच्चः ॥५।२।३॥ ञिति णिति च परतोऽजन्तस्य गोरैर्भवति । प्राकारः । अध्यायः । “अध्या-
यानुवाक्योर्नोप” [४।१।६४] इति निपातनाद्भवत् । कारको हारकः । नावकः । लावकः । सखायौ । सखायः ।
अनर्थकमिदम् । एपिगन्तवे अयवोश्च कृतयोः “उडोऽतः” [५।२।४] इत्यैषा मिद्धम् । मैवं शक्यम् । “गुकार्ये
निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०] इति असि च सख्युरेभ्यो विहितः गौर्जैत्रमित्यत्र चावयादेशाभावाद्भेन्न सिद्ध्येत् ।
अज्यहृणमनिगर्थं गौरिति । णित्करणं तु गावौ गावः इत्यत्रावादेशे सति “उडोऽतः” [५।२।४] इत्यैपि चरि-
तार्थं स्यात् ।

उडोऽतः ॥५।२।४॥ गोरकारस्य उडः ऐव् भवति ञिणिति परतः । पाकः । पाटः । पाचकः । पावकः ।
पाचयति । उड इति किम् ? पिपाटपकः । पकाराकारस्य मा भूत् ! अन्त्यस्य पूर्वेण प्राप्नोति । नैवम् । पूर्ववि-
प्रतिषेधेनातः खं भवति । अतः इति किम् ? भेदकः । तपरकरणं मुख्यमुखार्थम् ।

हृत्यचामादेः ॥५।२।५॥ अच इत्यनुवर्तते । हृति ञिणिति परतः अचामादेरच ऐव् भवति । आश्व-
ग्रीविः । त्रैपृष्ठिः । मौलोचनः । मौतारः । “नदीमानुषी” [३।१।१०२] इत्यादिनाम् । अचामिति किम् ? हला
मविवक्षार्थमन्यथा अजादीनामेव स्यात् । अजःतलक्षणस्योऽल्लक्षणस्य चैपः परत्वादादेरैप । त्वाष्ट्रः । जागतः ।
“तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् । “सङ्घट्गते परनिर्णये बाधितः एव” [५०] पुनः प्रसङ्गविज्ञानपक्षेऽपि न
दोषः । अनुशतिकादिषु पुष्करसच्छब्दपाठात् पौष्करसादिः । बाह्वादेरिञ् [३।१।८५] । अन्यथा तत्रोभयोः
पठयोरैवर्थापाठोऽनर्थकः स्यात् ।

देविकाशिशापादीर्घसत्रश्रेयसामाः ॥५।२।६॥ देविकादिभिराद्यचो विशेषणान् वेवल्यानां तदादीनां
च ग्रहणम् । देविकायां भवं दाविकमुदकम् । आद्यञ्जिशेषणाद्देविकुले भवा दाविकुलाः शालयः । शिशपाया
विकारः शांशपं भस्म । शिशपास्थले भवं शांशपाम्थलम् । दीर्घसत्रे भवं दार्धमत्रम् । श्रेयोऽधिकृत्य कृतो ग्रन्थः
श्रेयसि भवो वा श्रायसः स्याद्वादः । देविकादीनामादेरच इति किम् ? सुदेविकायां भवा सौदेविकाः । पूर्वर्द्धविकायां
भवः पूर्वदाविकः । पूर्वशांशपः । प्राचां ग्रामौ । “प्राचां ग्रामाणाम्” [५।२।१६] इति द्यौरैप्रसङ्गे अनेनाकारः ।

केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरिण्यु ॥५।२।७॥ केकय मित्रयु प्रलय इत्येतेषां यकारादेरियादेशो
भवति हृति ञिणिति परतः । केकयस्थापत्यम् । “राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽञ्” [३।१।१५०] । आदेरैप । कैकेयः ।
मित्रयोर्भावः “वृद्धचरणल्लाघान्याकारावते” [३।४।१२४] इति बुञ् । लौकिकं तत्र वृद्धं गृह्यते । मैत्रेयक-
माश्लाघते । प्रलयादागतं प्रालेयम् ।

पदे द्योरैयोव् ॥५।२।८॥ पदे परतः अचामादेरचः स्थाने कृतौ यौ यकारवकारौ तयोर्द्वयोव्
इत्येतावादेशौ भवतः हृति ञिणिति परतः । व्याकरणं केक्यधीते वा वैयाकरणः । एवं नैयायिकः “क्रतूक्थादि-
सूत्रान्तादृण्” [३।२।५२] इति ठण् । शोभना अश्वा अस्तेति स्वश्वः । तस्यापत्यं सौवश्वः । आदेरैपः
परत्वाद्वैयोवो भवतः । अर्हता प्रोक्तमार्हतं तत्त्वम् । पद इति किम् ? इणः शतरि यत् । यतः छात्रा याताः ।
अस्यचामादेरचः स्थाने “यण्योः” [४।४।७७] इति यकारो न तु पदे परतः । द्योरिति किम् ? आश्विः ।
अचामादेरचः इति किम् ? अभ्यञ्जनेन चरति आभ्यञ्जनिकः । दाध्यश्विः । इह कस्मान्न भवति द्वे
अशीती भूतो भावी वा द्वयाशीतिकः ? यत्रैवादेश्च ऐप्रातिस्तत्रायं विधिः । अत्र च “संख्यायाः संख्या-
संवत्सरस्य” [५।२।२०] इति द्योः प्रातिर्न द्विशब्दस्य । द्योरैपोऽप्ययमपवादः । पूर्वव्यलिन्दे जातः पूर्वत्रैयलिन्दः ।
“प्राचां ग्रामाणाम्” [५।२।१६] इति प्रातिः ।

द्वारादेः ॥५।२।९॥ द्वार इत्येवमादीनां च द्योरैयोवित्येतावादेशा भवतः ञिणिति हृति परतः । द्वारे
नियुक्तः दौवारिकः । नायं पदेऽचः स्थाने वकारः इति पूर्वेणाप्राप्तिः । अत्र द्वारादिभिर्द्यौरैर्विशेषणात्तदादि-

ग्रहणम् । द्वारपाल्या अपत्यं दौवारपालिकः । “रेवत्यादेष्टुम्” [३।१।१३४] इति ठण् । स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौवरः । तदादेरपि । स्वराध्याये भवः सौवराध्यायः । व्यल्कमे भवः वैयल्कसः । स्वस्तीत्याह सौवस्तिकः । तदाहेत्यस्मिन्नर्थे ऋणुक्तः । स्वर्भवं सौवम् । “कर्ममात्रे टिखम्” [वा०] इति टिखम् । स्वर्गमनमाह सौवर्गमनिकः । स्वः अध्याय स्वाध्यायः । स्वाध्यायेन चरति सौवाध्यायिकः । अचामादेरित्यनुवर्तनादाद्यचः समीपस्य यण् एयौवादेशौ स्वशब्दस्यैव । तदादिविधिना सिद्धमिति चेत्, न “स्वशब्देन तदादिविधिरनित्यः” इतीदमेव ज्ञापकम् । तेन स्वपतौ साधु स्वापतेयमिति । स्फ्यकृतस्यापत्यं स्फैयकृतः । “कुर्वृष्यन्धकवृष्योः” [३।१।१०३] इत्यण् । स्वादुष्यस्येदं सौवादुष्यम् । शुनो विकारः शौवः सङ्कोचः “श्वाश्मचर्मणां संकोचविकारकोशेषु” [४।४।१३२] इति टिखम् । शुनो दंष्ट्रा श्वादंष्ट्रा । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । तत्र भवः शौवादष्ट्रो मणिः । तथा शौवाहननम् । त्वस्येदं सौवम् । तदादेः स्वग्रामे भवः सौवग्रामिकः । अध्यात्मादित्वाहणम् ।

न्यग्रोधस्य केवलस्य ॥५।२।१०॥ न्यग्रोधस्य केवलस्य यो यकारस्तस्य ऐयित्ययमादेशो भवति हृति ङिति परतः । न्यग्रोधस्याथ नैयग्रोधो ढण्डः । केवलस्येति किम् ? न्यग्रोधा अस्मिन्देसो सन्ति “बुब्बुण्डु” [३।२।६१] इत्यादि पाठकः । टाप् “न्यस्थे क्यर्पा” [५।२।५०] इत्यादिनेत्वम् । न्यग्रोधिकायां भवः न्याग्रोधिकः । अत्र “भस्य ह्यन्ये” [वा०] इति पुंवद्भावः प्रातः । “न बुह्कोडः” [४।३।१४६] इति प्रतिषेधः । तथा न्यग्रोधमूले भवं न्याग्रोधमूलं तृणम् । ऐत्रेव भवति । ननु न्यग्रोधस्योऽन्यानां कथमन्याधिकस्य स्यात् ? तदन्तविधिना । अथेवं नार्थः केवलग्रहणेन न्यग्रोधस्य प्राधान्येनाश्रयणात्तदन्तविधिभाधः । एवं तर्हि तदादिनिवृत्त्यर्थं केवलग्रहणम् । अन्यत्रेह तदादिविधिरस्तीति ज्ञायते । न्यग्रोधनीति व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । केवलस्यैव । अव्युत्पत्तिपक्षे विध्यर्थं सूत्रम् ।

न जे ॥५।२।११॥ जे जाथे कर्मव्यतिहारे ङिति हृति यदुक्तं तत्र भवति । व्यात्युक्षी । व्याक्रोशी । व्यापचोरी वर्तते । “कर्मव्यतिहारे जः” [२।३।७६] इति जः । “जान् स्त्रियाम्” [४।२।२२] इत्यण् । तस्मिन् प्रतिषेधः ।

स्वागतादेः ॥५।२।१२॥ स्वागतादेश्च यदुक्तं तत्र भवति । स्वागतेन चरति स्वागतिकः । स्वध्वरस्यापत्यं स्वाध्वरिः । स्वङ्गः स्वाङ्गिः । व्यङ्गः व्याङ्गिः । व्यङ्गः व्याङ्गिः । व्यवहारेण चरति व्यावहारिकः । व्यवहारशब्दो न कर्मव्यतिहार एव वर्तते किन्तर्हि लोकवृत्तेऽपि । ततः पाठः । स्वपतौ साधु स्वापतेयम् ।

श्वादेरावतः ॥५।२।१३॥ श्वादेर्गोत्रिकादौ यदुक्तं तत्र भवति । अतश्च य उत्पद्यते तस्मिन्श्च । चकारमन्तरेणापि समुच्चयो गम्यते । यथा पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति । श्वाभान्नः । श्वादंष्ट्रः । श्वाकर्णः । श्वाशीर्षिः । श्वागणिकः । श्वेव भन्नास्य, शुन इव दंष्ट्राऽस्य, शुन इव कर्णावस्य, शुन इव शिरोऽस्य । स्वशिशोऽपत्यं बाह्वादिपाठादिभू । अजादौ हृति शिरसः शीर्षादेश उपसङ्ख्यानानेन । इकारदीत्यं व्यपदेशिवद्भावेन । अतो य उत्पद्यते तत्रापि प्रतिषेधः । श्वाभस्त्रेरिदं श्वाभस्त्रम् । श्वाकर्णम् । “इजः” [३।२।८६] इत्यण् । श्वन्शब्दो द्वारादिषु पठ्यते । तस्य तदादिविधिः अस्तीति इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् । श्वादेरिति किम् ? श्वभिश्चरति शौविकः । केवलस्य न प्रतिषेधः “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिखम् । आवत इति किम् ? श्वाभस्त्रस्येदं शौवाभस्त्रम् । शौवादंष्ट्रो मणिः ।

वा पदान्तस्य ॥५।२।१४॥ श्वादेर्गोः पदशब्दान्तस्य यदुक्तं तत्र भवति वा । किमुक्तम् ? द्वारादौ श्वशब्दस्य तदादिविधिना औबुक्तः । श्वापदानां समूहः श्वापदम् । शौवापदम् । शुन इव पदमस्य श्वापदः । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । इकारादौ पूर्वनिर्णयेन नित्यः प्रतिषेधः । श्वापदेन चरति श्वापदिकः । अन्तग्रहणं न कर्तव्यम् । “येनास्ति विधिस्तदन्ताद्योः” [१।१।६७] इति स्वयमेव पदान्तस्य श्वादेरित्यनु-

वर्तमानाच्च नान्यस्य कस्यचिद् भविष्यति । एवं तर्हन्तग्रहणं ज्ञापकमनित्यस्तदन्तविधिः । तेन “स-न्य-विधौ न तदन्तविधिः” [प०] इति न वक्तव्यम् ।

द्योः ॥५।२।१५॥ द्योरित्ययमधिकारो वेदितव्यः । यदि त ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः द्योरित्येवं तद् वेदितव्यम् । “हनस्तोऽञ्जिण्लोः [५।२।३६] इत्यतः प्राग्वक्ष्यति । “प्रोष्ठपदानां जाते” [५।२।२३] प्रोष्ठपदासु जातः प्रोष्ठपादो माणवकः । द्योरैप् । पूर्वपदस्य तेन न भवति । “येन नाप्राप्ते तस्य तद्वाधनम्” [प०] इति न्यायात् । ननु “ईकेयव्यवाये पूर्वपरयोः” [१।१।६०] इति न्यायेन “अवयवाहतोः” [५।२।१६] इत्यादौ कानिर्देशाद् द्योरैव भविष्यति नाथोऽनेन ? “प्रोष्ठपदानां जाते” इत्यादौ कानिर्देशो नास्ति तदर्थं वचनम् । अन्यथा प्रोष्ठपदादौ नियमो न शक्येत ।

अवयवाहतोः ॥५।२।१६॥ अवयववाचिनः शब्दादुत्तरस्य ऋतोर्वांरचामादेरच ऐभभवति । पूर्व-वार्पिकः । अपरवार्पिकः । पूर्वासु वर्षासु जातः । हृदर्थविवक्षायां “हृदर्थयुसमाहारे” [१।३।४६] इति पसः । “कालाट्टञ्” [३।२।१३१] इति ठञ् । ननु कालाट्टञुक्तः । “स-न्य-विधौ न तदन्तविधिः” [प०] । कथं कालान्तात् ? नैव दोषः । “ऋतोर्जिद्विधाववयवात्” इति तदन्तविधिरुपसङ्ख्यातः । एवं पूर्वहैमनः । अपरहैमनः । “भसन्ध्या” [३।२।१३७] इत्यादिनाण् । “हेमन्तात्तल्लम्” [३।१।१३८] इति तण्वम् । अवयवादिदि किम् ? पूर्वास्वतीतासु वर्षासु जातः पौर्ववर्षः । आपरवर्षः । “प्राग्दोरण्” [३।१।६८] । पूर्वशब्दोऽत्र कालवाची नावयववाची । अत एवावयवलक्षणतदन्तविध्यभावात् “कालाट्टञ्” [३।२।१३१] नेष्यते ।

सुसर्वाद्धाद्राप्स्य ॥५।२।१७॥ सु सर्वं अर्द्ध इत्येवं पूर्वस्य राष्ट्रवाचिनः शब्दस्य द्योरचामादेरच ऐव भवति । मुपाञ्चालकः । सर्वपाञ्चालकः । अर्द्धपाञ्चालकः । शोभनाः पाञ्चालाः । प्रादिलक्षणः प्रमः । सर्वे पाञ्चालाः । “पूर्वकाल” [१।३।४४] इत्यादिना यसः । अर्द्धपाञ्चाला इति । “विशेषणं विशेष्येणेति” [१।३।५२] पसः । मुपाञ्चालेषु जातः “राष्ट्रावध्वोः” [३।२।१०२] “बहुष्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति वुञ् । कथं राष्ट्रानुच्यमानस्तदन्ताद्बुञ् । “सुसर्वाद्धाद्रिकशब्देभ्यो जनपदस्य” इति तदन्तविधिरुपसङ्ख्यातः । एवं मुमागधकः । सर्वमागधकः । अर्द्धमागधकः ।

दिशोऽमद्राणाम् ॥५।२।१८॥ राष्ट्रस्येत्यनुवर्तते । दिक्शब्दादुत्तरस्य राष्ट्रस्य मद्रवर्जितस्य द्योरचामादेरच ऐव भवति । पूर्वपाञ्चालकः । अपरपाञ्चालकः । दक्षिणमागधकः । उत्तरमागधकः । पूर्वेषु पाञ्चालेषु जातः । हृदर्थे षसः । पूर्वांक्तेन तदन्तविधिना वुञ् । अमद्राणामिति किम् ? पौर्वमद्रः । “मद्रेभ्योऽण्” [३।२।८५] । दिश इति किम् ? पूर्वेष्ववयवभूतेषु पाञ्चालेषु भवः । अणि । पौर्वपाञ्चालः । दिशि यः पूर्वशब्दो वर्तते स दिक्शब्दोऽभिप्रेतो नावयवे वर्तमानः । अत एव तदन्तविध्यभावाद्बुञ् नास्ति । योगविभाग उत्तरार्थः ।

प्राचां ग्रामाणाम् ॥५।२।१९॥ दिश इत्यनुवर्तते । दिक्छब्दादुत्तरे प्राचां देशे ग्रामाणामचामादेरच ऐभभवति । राष्ट्रस्येत्यनुवर्तनात् प्राचामित्याचार्यग्रहणं नाशङ्क्यम् । यदि पूर्वोत्तरपदसमुदायो ग्रामनामधेयस्तदा ग्रामवाचिनो गोरवयवस्य दिक्छब्दात् परस्य ऐभभवतीत्यभिसम्बन्धः । इतरत्र तु दिश उत्तरेषां ग्रामाणामिति । पूर्वा चासौ इपुकामशमी च “दिकसङ्ख्यं स्त्री” [१।३।४५] इति पसः । पूर्वेषुकामशम्यां जातः । अणि । पूर्वेषुकामशमः । अपरैपुकामशमः । “नेन्द्रस्य” [५।२।२७] इति प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् । प्राक्पूर्वोत्तरपदयो-रैवादि कार्यं पश्चादेकादेश इति । एवं पूर्वा चासौ कृष्णमृत्तिका च पूर्वकार्णांमृत्तिकाः । असञ्ज्ञापत्वे पूर्वस्यामिपु-कामशम्यां जातः । “हृदर्थ” [१।३।४६] इति पसः । “दिगादेरस्त्री” [३।२।८४] इति रुः । शेषं पूर्ववत् । “अत्र ग्रामग्रहणे नगरस्यापि ग्रहणम्” [वा०] । यथा लोके अभ्रक्ष्यो ग्रामकुक्कुट इति नागरोऽपि न भक्ष्यते । सञ्ज्ञापत्वे पूर्वं च तपाटलिपुत्रं च । अन्यत्र पूर्वस्मिन् पाटलिपुत्रे जात इति “रोळीतो प्राचाम्” [३।२।१०१]

इति वुञ् । पूर्वपाटलिपुत्रकः । अपरपाटलिपुत्रकः । पूर्वकन्याकुब्जायां पूर्वस्यां कन्याकुब्जायां वा जातः अणि गो च कृते पूर्वकान्यकुब्जः । ननु चैकमेव पाटलिपुत्रम् । पाटलिपुत्रान्तरस्य व्यवच्छेद्यस्याभावाद् कथं पूर्वशब्देन विशेष्यते ? पाटलिपुत्रैकदेशे पाटलिपुत्रशब्दो वर्तते इत्यदोषः ।

सङ्ख्यायाः सङ्ख्यासंवत्सरस्य ॥५१२।२०॥ सङ्ख्यायाः परस्य सङ्ख्याशब्दस्य संवत्सरस्य च द्योरचामादेरच ऐब्भवति ङिति हृति परतः । द्विनावतिकम् । त्रिनावतिकम् । द्वाभ्यां नवतिभ्यां क्रीतम् । हृदर्थं रसः । “आर्हाट्टण्” [३।४।१७] । तस्य “रादुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् । द्विनवतिना द्रव्येण क्रीतं पुनष्टण् । अथवा द्वौ च नवतिश्च । “वा चत्वारिंशदादौ” [४।३।१६०] इत्यनात्वम् । “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य” [प०] इति नैकवद्भावेऽपि नपुंसकत्वम् । “द्वन्द्वे छुवल्लिङ्गम्” [१।४।१०२] द्विनवत्या क्रीतम् । एवं द्वे पृष्ठी भूतो भावी वा द्विपाष्ठिकः । द्विषष्ठ्यादिशब्दो वपंपु सङ्ख्ये येषु वर्तमानः कालवाची । तेन कालाधिकारविहितष्टण् । द्वौ संवत्सरौ भूतो भावी वा द्विसांवत्सरिकः । त्रिसांवत्सरिकः । संवत्सरग्रहणं निरर्थकम् । “परिमाणस्याखुशाणे” [५।२।२२] इत्येव सिद्धम् । तत्र अशाण इति प्रतिषेधात् परिच्छेदमात्रं गृह्यते नारोहपरिणाहलक्षणम् । तेन द्विवैतस्तिकम्, त्रिवैतस्तिकमिति सिद्धम् । एवं तर्हि संवत्सरग्रहणं ज्ञापकम् । “परिमाणग्रहणेन कालपरिमाणं गृह्यते” । तेन द्वे समे अधीष्टो द्वैसमिकः । द्यौरैश्च भवति तथा द्विवर्षमाणविका । “परिमाणदृष्टदुपि” [३।१।२६] “रात्” [३।१।२५] इति डीर्गं भवति । द्वे वर्षे भूता प्राग्वतपठजः “वर्षादुप् च” [३।४।८५] “प्राणिन्युप्” [३।४।८६] ।

वर्षस्याभाविनि ॥५१२।२१॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । सङ्ख्यायाः परस्य वर्षशब्दस्य अचामोदरच ऐब्भवति हृति ङिति परतः यद्यभाविन्यर्थे हृत्तदैव स्यात् । द्वे वर्षे भूते द्विवार्षिकम् । अभाविनीति किम् ? त्रीणि वर्षाणि भावि त्रैवर्षिकं धान्यम् । ननु द्वे वर्षे अधीष्टो भूतो वा कर्म करिष्यति द्विवार्षिको मनुष्य इति भाविता गम्यते कथं न प्रतिषेधः ? नैवम् ; करिष्यतीति प्रयोगे भाविता गम्यते न तु हृदर्थं भावी । ननु मनुष्याभिधाने “प्राणिन्युप्” [३।४।८६] इति टण् उप् कस्मान्न भवति । भूतविषये सोऽभ्युपगम्यते नाधीष्टादौ । ततो “वर्षादुप् च” [३।४।८५] इति विकल्प उच्च भवति ।

परिमाणस्याखुशाणे ॥५१२।२२॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । सङ्ख्यायाः परस्य परिमाणस्य समुदायेनाग्रां गम्यनानायामशाणे च द्योरचामादेरच ऐब् भवति । अखुशाण इति विषयलक्षणेयमीप् । द्विसौवर्णिकम् । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतम् । आर्हाट्टणः “कार्पाण्यासहस्रसुवर्णशतमानाद्वा” [३।४।२७] इति वानुप् । एवं द्विनैष्किकम् । त्रिनैष्किकम् । बहुनैष्किकम् । “द्वित्रिबहोर्निष्कविस्तात्” [३।४।२८] इति वोप् । द्विकोडविकम् । द्वाभ्यां कुडवाभ्यां क्रीतम् । “रादुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् । द्विकुडवेन द्रव्येण क्रीतं पुनष्टण् । अखुशाण इति किम् ? पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य, पञ्च कलापाः परिमाणमस्य पाञ्चलौहितिकम्, लोहिनीशब्दस्य “वा ठण् छसोः” [ठक् छसोश्च] [वा०] इति पुंवद्भावे रूपम् । पाञ्चकालापिकम् । “परिमाणसङ्ख्यायाः सङ्ख्युप्राध्ययने” [३।४।५६] इति टणः “रादुबखौ” [३।४।२६] इति नोप् । द्वैशाणम् । त्रैशाणम् । “द्वित्रिभ्यामण्” [३।४।३४] इत्यण् । “कुलि जस्यापि प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । द्विकुलिजे प्रयोजनमस्य द्वैकुलिजिकम् ।

प्रोष्ठपदानां जाते ॥५१२।२३॥ योरिति वर्तते । प्रोष्ठपदानां द्योरचामादेरच ऐब् भवति जातार्थे हृति ङिति परतः । प्रोष्ठपदाभिर्युक्तः कालः । “भाद्युक्तः कालः” [३।२।४] इत्यण् । तस्य “उसभेदे” [३।२।५] इत्युष् । उसि युक्तवल्लिङ्गसङ्ख्यातिदेशः । प्रोष्ठपदासु जातः । अण् । तस्य “भेभ्यो बहुलम्” [३।३।१३] इति बहुलवचनादिहानुप् । प्रोष्ठपादो माणवकः । जात इति किम् ? प्रोष्ठपदासु भवः प्रोष्ठपदो मेघः ।

हृत्स्विन्धुभगे द्वयोः ॥५१२।२४॥ हृत्स्विन्धु भग इत्येषु धुप् द्वयोः पदद्योरचामादेरच ऐब्भवति । सुहृदयस्येदं सौहार्दम् । “हृदयस्य हृत्स्वेल्लयात्सोः” [४।३।१६१] इति हृद्भावः । अथवा “सुहृदुहृदौ मित्रा-

मित्रयोः” [४।२।१५०] इत्यनयोर्ग्रहणम् । महासिन्धौ भवः माहासैन्धवः । “कच्छादेः” [३।२।१११] इत्यण् । सिन्धुशब्दस्य तत्र तदन्तविधिरपि ; सौभाग्यम् । दौर्भाग्यम् । सुभगाया अपत्यं ढणि “कल्याण्यादीनामिनङ्” [३।१।११५] सौभागिनेयः ।

अनुशतिकादेः ॥५।२।२५॥ अनुशतिक इत्येवमादीनां शब्दानां द्वयोः पदयोरचामादेरच ऐच् भवति । अनुशतिकस्येदम् आनुशतिकम् । आनुशातिकः । अनुहोड-आनुहौडिः । अनुमंवरण-आनुसांवरणः । अगारवैणोरिदम् आगारवैणवम् । असिहत्यायां भवम् आसिहात्यम् । अस्यहृत्य इति केपाञ्चित् पाठः । अस्य-हृत्यशब्दोऽस्मिन्नस्ति आस्यहात्यम् । “विमुक्तादिभ्योऽण् [४।१।६५] अस्यहेतीति पाठान्तरम् । अस्यहेतिः प्रयोजनमस्य आस्यहेतिकम् । अथ्ययः । आथ्यायिः । वध्योऽस्यापत्यं वाध्योऽणः । “विदादिभ्योऽनृष्यानन्तर्थेऽञ्” [३।१।६३] । पुष्करसद्-पौष्करसादिः । अनुवाहुः-सान्वावाहुः । सान्वावाह्विः । “बाह्वादेरिञ्” [३।१।६५] । कुरुकत्-कौरुकात्यः । “गर्गादेर्यञ्” [३।१।६४] । कुरुपञ्चालेषु भवः कौरुपाञ्चालः । “प्राग्द्वोरण्” [३।१।६८] । राष्ट्रसमुदायो राष्ट्रग्रहणेन न गृह्यते । तेन “राष्ट्रावध्योः” [३।२।१०२] इति वुञ् नास्ति । उदकशुद्ध-त्रौदक-शौद्धिः । इहलाक-ऐहलौकिकः । पारलौकिकः । प्रयोजनार्थं वुञ् । सर्वलोकः-सर्वस्मिन् लोके विदितः सार्वलौकिकः । “लोकान्” [३।४।४४] “सर्वात्” [३।४।४५] इति ठण् । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । “सर्वभूमिपृथिवी-भ्यामण्” [३।४।४१] । सार्वपौरुषम् । तस्येदमर्थं प्रायोगिकम् । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । भवार्थं अध्या-त्मादित्वाट्टण् । परस्त्री-पारस्त्रीण्येयः । ढणि “कल्याण्यादीनामिनङ्” [३।१।११५] । सूत्रनट-सौत्रनाटिः । अभिगममर्हति आभिगामिकः । राजपुरुषात्किञ् । राजपुरुषपायणिः ।

देवताद्वन्द्वे ॥५।२।२६॥ देवताद्वन्द्वे च द्वयोः पदयोरचामादेरच ऐच् भवति । आग्निवारुणम् । आग्निश्च वरुणश्च देवते अस्य । ऐन्विपये “ऐपीत्” [४।३।१४१] इत्यग्नेरित्त्वम् । एवम् आग्निमारुतम् । अभिधानवशादानङ् विपयेऽयं विधिरन्यत्र न भवति । स्कान्दविशालः । ब्राह्मप्रजापत्यः । तस्येदमर्थं अण् । “दिति” [३।१।७०] आदिना एयश्च ।

नेन्द्रस्य ॥५।२।२७॥ योरिति वर्तते । इन्द्रस्य द्यौरैभ्यो भवति । आग्नेद्रः । “देवताद्वन्द्वे” [५।२।२६] इति पूर्वपदस्यानङ् । इन्द्रस्य द्यौरैकादेशे कृते “यस्य ङथां च” [४।४।१३६] इत्यग्ने च आदेरचो नाशात्कथमैपः प्राप्तिः । इदमेव ज्ञापकम् “पूर्वोत्तरपदयोः कार्यमन्तरङ्गमप्येकादेशं बाधते” । तेन पूर्वेषुकाम-शामादयः मिद्धाः भवन्ति । योरिति किम् ? ऐन्द्राग्नेः । “अजाद्यत्” [१।३।६६] इत्यन्नेन्द्रस्य वा पूर्वनिपात इष्यते ।

द्यो वरुणस्य ॥५।२।२८॥ अन्तात्परस्य वरुणशब्दस्यैव न भवति । ऐन्द्रावरुणः । द्य इति किम् ? आग्निवारुणः । मैत्रावरुणः । ऐन्विपये “ऐपीत्” [४।३।१४१] इत्यग्नेरित्त्वम् पश्चाद्द्यौरैप् ।

प्राचां नगरे ॥५।२।२९॥ प्राप्त्यभावान्नेति न सम्बध्यते । द्वयोरिति वर्तते । अर्थवशाद्विभङ्गीपरिणामः । प्राचां देशे नगरे द्यौर्द्वयोः पदयोरैव भवति । सुहानगरे भवः सौहानागरः । पौण्ड्रनागरः । वैराटनागरः । दोरिति तत्रानुवर्तनाद्दोऽन्तात् “प्राचाम्” [३।२।१०१] इति वुञ् भवति । प्राचामिति किम् ? मलनगरे भवो मालनगरः ।

जङ्गलधेनु वलजे ॥५।२।३०॥ जङ्गल धेनु वलज इत्येतेषु द्युषु पूर्वपदस्य अचामादेरच ऐच् भवति । पूर्वपदस्येति कथं लभ्यत इति चेत् “बा षोः” [५।२।३१] इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् । कुरुजङ्गले भवः कौरु-जङ्गलः । वैश्वधेनवः । सौवर्णवलजः ।

वा घोः ॥५१२।३१॥ जङ्गल धेनु वलज इत्येतस्य घोश्चामादेरच ऐभभवति वा । कौरु-
जाङ्गलः । कौरुजङ्गलः । वैश्वधेनवः । वैश्वधेनवः । सौवर्णवालजः । सौवर्णवलजः । पूर्वण नित्ये
प्राप्ते विकल्पः ।

परिमाणस्याऽनतोऽर्धाद्वा पूर्वस्य ॥५१२।३२॥ परिमाणस्यार्द्धादुत्तरस्य अनतः स्थाने ऐच् भवति
पूर्वपदस्य तु वा । अर्धद्रोणं पचति आर्द्धद्रौणिकः । अर्द्धद्रौणिकः । आर्धकौडविकः । अर्द्धकौडविकः ।
“पूर्वपदस्य वा” इति वचनाद् द्युविशेषणं वाग्रहणं नेहाभिसम्बध्यते । अनत इति किम् ? आर्द्धप्रस्थिकः । अर्द्ध-
प्रस्थिकः । अर्धचमसेन क्रीतम् आर्धचमसिकम् । अर्धचमसिकम् ।

प्रवाहणस्य ढे ढस्य ॥५१२।३३॥ प्रवाहणस्य ढे परतः घोरेभू भवति पूर्वपदस्य तु वा दान्तस्य
चान्यस्मिन् हृति ङिणिति परतः । प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहण्येयः । “शुभ्रादेः” [३।१।११२] इति ढण् । दान्तस्य
प्रावाहण्येयस्यापत्यं प्रावाहण्येयिः । प्रावाहण्येयिः । प्रावाहण्येयस्येदम् । “वृद्धचरणञ्जित्” [३।१।१६४] इति वुञ् ।
प्रावाहण्येयकम् । घोरेपि सत्यसति च नास्ति विशेषः । पूर्वपदस्य विकल्पार्थः ।

नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलचपलनिपुणानाम् ॥५१२।३४॥ घोरेपूर्वस्य वेति वर्तते । नञः
परेषां शुचि ईश्वर क्षेत्रज्ञ कुशल चपल निपुण इत्येतेषामचामादेरच ऐभभवति पूर्वपदस्य तु वा । न शुचिरशुचिः
अशुचेरिदम् अशौचमाशौचम् । अथवा नास्य शुचिरस्ति अशुचिः । अशुचेर्भावः “ध्यादेरिकः” [३।१।१२१]
इत्यण् । “नञ्सेऽचतुरसङ्गत” [३।१।११५] इत्यत्र व्याख्यातम् । चतुरादिभ्यो नञ्स एव भावकर्मद्विधिः ।
अन्येभ्यस्तु नञ्सात्पूर्वमिति । न पठोर्भावः अपाठवम् । तेन नञ्सेभावाभिधायी त्यो नोक्तः । अनैश्वर्य-
मानैश्वर्यम् । अक्षौत्रज्ञ्यम् । आक्षौत्रज्ञ्यम् । ब्राह्मणादिषु नञ्सावेतौ । अकुशलस्येदम् अकौशलमाकौशलम् ।
अचपलस्येदम् अचापलमाचापलम् । अनिपुणस्येदम् अनैपुणमानैपुणम् । यद्यपि कुशलचपलनिपुणशब्दा
ब्राह्मणादिषु युवादिषु च पठ्यन्ते तथापि तत्र तदन्तविधेरभावाच्च नञ्से वा कृते ष्यण्णावप्राप्तावाकृति-
गणत्वाद्द्रष्टव्यौ ।

यथातथयथापुरयोः क्रमेण ॥५१२।३५॥ यथातथ यथापुर इत्येतयोः नञ उत्तरयोः क्रमेण द्वयोरेभ्य-
वति । अथाथातथयथातथम् । अथाथापुर्यमांयथापुर्यम् । ब्राह्मणादिषु नञ्सावेतौ । यथातथा यथापुरा
“सुप्सुपा” [१।३।३] इति सविधिः । अयथातथाभावः अयथापुरा मावः इति विग्रहः । सौत्रत्वान्निर्देशस्येति प्रान्तौ
पठितौ । यदि वा “यावद्यथावध्वत्ससाह्वये” [१।३।६] इति हसे कृते पश्चान्नञ्सः । नन्वेकत्र नञ्सात्पूर्वं त्यविधिः
अन्यत्र नञ्से । तेनोभयं सिद्धमतो व्यर्थमिदम् । न व्यर्थम् । नञ्सात्पूर्वं प्राप्नोतीत्युक्तम् ।

हनस्तोऽञ्जिणलोः ॥५१२।३६॥ हृतीति निवृत्तम् । अञ्जिणलोरिति प्रतिषेधात् सामान्येन ङिणतीति
वर्तते । हनस्तकारादेशो भवति ङिणिति परतः अञ्जिणलोः । घातयति । घातकः । “अन्त्सेऽलः” [१।१।४६]
इति नकारस्य तत्त्वम् । देशघाती । सर्वघाती । “सुपि शीलेऽजातौ णिन्” [२।२।६६] घातंघातम् । “णम् चा-
भोचये” [२।४८] इति णम् । द्वित्वम् । घञि घातः । सर्वत्र “हो हन्तेर्णिञ्जि” [५।२।५६] इति कुत्वम् ।
अञ्जिणलोरिति किम् ? अघानि । जघान । इह कस्मान् न भवति वृत्रं हतवानिति वृत्रहा । तस्येदं वार्त्रघ्नम् ।
“वादिहन्धतराज्ञोऽणि” [४।४।१२३] इत्यखम् । “घोः स्वरूपग्रहणे तस्यविज्ञानम्” [५०] इति घोरेभू भवति ।

आतो एल औः ॥५१२।३७॥ आकारान्ताद्गोरुत्तरस्य एल औकारादेशो भवति । पपौ । तस्यौ । पा
इत्येतस्माण्यलि परतः युगपत्त्रीणि कार्याणि प्राप्नुवन्ति द्वित्वमेकादेश औत्वं च । तत्रैकादेशादनवकाशत्वेन
परमौत्वम् । द्वित्वादिपि परत्वादपि । इदानीमपि कृते निमित्तनिमित्तोर्बिभागाभावात् लिटि परतो द्वित्वनुच्य-
मानं न स्यात् । “द्वित्वेऽचि” [१।१।५६] इति स्थानिवद्भवव्यति । ननु द्वित्वनिमित्ते अचि स्थानिवद्भाव उच्यते

चात्राचो निमित्तत्वं भेदाभावात् । एवं तर्हि “द्विन्वेऽचि” [१११५६] इति सूत्रे द्वित्व इति योगविभागादिह स्थानिवद्भावः ।

अिकृतोर्युक् ॥५१२१३८॥ आकारान्तस्य गोः जौ कृति ङिति च परतः युगागमो भवति । अदायि । अघायि । दायः । धायः । दायकः । धायकः । अिकृतोरिति किम् ? ययौ । बभौ । ववौ । ज्ञा देवता अस्य अणि ज्ञः ।

न सेटस्तासि मोऽवर्मिकमिचमः ॥५१२१३९॥ मान्तस्य गोः तामि सेटः जौ कृति ङिति च यदुक्तं तत्र भवति । किञ्चोक्तम् ? ङितीत्यनुवर्तनाद् “उडोऽतः” [५१२१४] इत्यैप् । अशमि । अतमि । अदमि । शमकः । दमकः । तमकः । शमः । तमः । दमः । विश्रमः । कथं सूर्यविश्रामभूमिः ? प्रमादप्रयोग एषः । तामि सेट इति किम् ? यामकः । रामकः । म इति किम् ? चारकः । पाठकः । अवर्मिकमिचम इति किम् ? वामः । कामः । आचामः । अिकृतोरिति किम् ? शशाम । तताम । कथमुद्यमः । उपरमः ? “अड उद्यमे” [धा०] “यम उपरमे” [धा०] इति निपातनात् ।

जनिवध्योः ॥५१२१४०॥ जनि वधि इत्येतयोश्च अिकृतोर्यदुक्तं तत्र भवति । अजनि । अवधि । जनकः । वधकः । जनः । वधः । वधिरिति प्रकृत्यन्तरं हलन्तमस्ति । तस्येदं ग्रहणम् । न हनादेशस्यादन्तत्वात् । तेन सिद्धम् । “भञ्जकश्चेन्न विद्येत वधकोऽपि न विद्यते” ।

अतिह्वीव्लीरीकन्यूीदमाययातां पुग् एावेप् ॥५१२१४१॥ गोरिति वर्तते । अति ह्वी व्ली री कन्यूी दमायी इत्येयामाकारान्तानां च गूनां गौ परतः पुग् भवति एप्च । अतिरिति तिपा निर्देशः ऋकारान्तनिवृत्त्यर्थः । इयति ऋच्छति वा कश्चित् तं प्रयुङ्क्ते अर्थयति । ह्यपयति । वित्नातेव्लंपयति । रीयते रिणातेश्च रेपयति । निरनुबन्धपरिभाषा नाश्रीयते । कन्यूी क्नोपयति । “वलि व्योः खम्” [४१३१५५] इति यखम् । “न धु-खेओ” [११११८] इत्येप्प्रतिषेधः प्राप्नोति अगनिमित्ते खे स प्रतिषेधः । वर्णनिमित्तं चेदम् । दमायी दमापयति । आकारान्तानाम् । दापयति । धापयति । लश्रणप्रतिपदोक्तपरिभाषेह नाश्रीयते । ग्लापयति । अ-ध्यापयति । “इकस्तौ” [११११७] इत्याश्रयणात् आतः एच् न भवति । पुकः पूर्वान्तकरणं किम् ? दापयतेर्लुङि अदीदपदित्यत्र “सौ कच्युङः” [५१२११५] प्रादेशार्थः ।

शाच्छासाहाव्यावेपां युक् ॥५१२१४२॥ शा च्छा सा हा व्या वे पा इत्येतेषां सौ परतः युगागमो भवति । निशाययति । अपच्छाययति । अवसाययति । संहाययति । मंवाययति । पाययति । शादीनां कृतात्वानां ग्रहणं लाक्षणिकस्यापि पूर्वेण पुकमाग्यानुम् । क्रापयति । जापयति । वेध एकारान्तनिर्देश “अौवै शोषणे” [धा०] इत्यस्य निवृत्त्यर्थः । वातेरुन्विकरणादग्रहणम् : पाग्रहणे “पै ओवै शोषणे” [धा०] इत्यस्यापि ग्रहणम् । आकारान्तवर्गात् पृथक् पाटो लाक्षणिकत्वागार्थः इत्यन्ये । पातेर्लुङं वक्ष्यति । युक्ः पूर्वान्तत्वं निशाययतेर्लुङि न्यशीशयदिति प्रादेशार्थम् ।

षो विधूनने जुक् ॥५१२१४३॥ वा इत्येतस्य विधूननेऽर्थे जुग्भवति सौ परतः । पञ्चकेषोपवाजयति । “वज्ज ब्रज गतौ” [धा०] इत्यस्य एयन्तस्य किन्न रूपम् । नैवं वातेर्युक् स्यात् । विधूनन इति किम् ? आवापयति केशान् । “ओवै शोषणे” [धा०] इत्यस्येदं रूपम् । “धून्प्रीओर्षौ नुगिष्यते” इति विधूननवचनं ज्ञापकम् ।

पातेर्लुक् ॥५१२१४४॥ पातेर्लुगागमो भवति गौ परतः । पालयति शीलं गुरुः । तिपा निर्देशोऽनुविकरणनिवृत्त्यर्थः । यदुन्तनिवृत्त्यर्थश्च । ननु पाल रक्षणे इति चौरादिकस्य रूपं भविष्यति । नात्रापि युक्त्यात् ।

लो वा स्नेहद्रवे ॥५१२।४५॥ ला इत्येतस्य णौ परतः वा लुगागमो भवति स्नेहद्रवेंऽर्थे। घृतं विलालयति विलापयति । विलाययति । ला इति लिनातेः द्रवीकरणार्थस्य “विभाषा लियोः” [४।३।४४] इति कृतात्वस्य धूनामनेकार्थत्वाल्लालादेश्च स्नेहद्रवे वृत्तिरित्युभयोर्ग्रहणम् । स्नेहद्रव इति किम् ? अयो विलापयति । जटाभिरालापयते । लीयतेः कृतात्वात् “लियोऽधाष्ठ्यसन्मानने च” [१।२।६६] इति दः ।

लियो नुक् ॥५१२।४६॥ ली इत्येतस्य णौ परतः स्नेहद्रवेऽर्थे वा नुग्भवति । घृतं विलीनयति । घृतं विलापयति । लियोऽनात्वपक्षे स्नेहद्रवार्थस्य ग्रहणम् । स्नेहद्रव इत्येव । अयो विलाययति । णो ऐवयादेशौ । अथ “विभाषा लियोः” [४।३।४४] इत्यात्वपक्षे एकदेशविकृतस्यानन्यत्वान्नुक् कस्मान्न भवति ? लिय इत्यत्र ली ई इतीकारप्रश्लेषादीकारान्तस्य नुक् ।

रुहः पः ॥५१२।४७॥ रुहः णौ परतः पकारादेशो भवति वा । आरोपयति । आरोहयति स्वर्गं जिनधर्मः । अथ “युप रूप लुप विमोहने” [धा०] इति रुप्यतेः रोपयति, रुहेः रोहयतीति भविष्यति । न शक्यमेवम्, आरोपयतीति भविष्यति न शक्यमेवम् । आरोपयतीत्यत्र रुहेरर्थः प्रतीयते न रुप्यतेः । अनेकार्था धव इति पादप्रसारिकैषा ।

स्फायो वः ॥५१२।४८॥ वेति निवृत्तम् । स्फायी इत्येतस्य वकारादेशो भवति णौ परतः । स्फाययति । स्फाययतः । स्फाययन्ति । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इत्यन्तस्य ।

शदोऽगतौ तः ॥५१२।४९॥ शदेशौ परतः अगतावर्थे तकारादेशो भवति । पुष्पाणि शातयति । फलानि शातयति । अगताविति किम् ? गाः शादयति यष्टया । “शद्ल् शातने” [धा०] इति निपातनात् सिद्धमिति चेत् ; निपातनंमत्राश्रकमितरस्य शक्येत । यथा “पूर्वकालैक” [१।३।४४] इत्यत्र पुराणशब्दः पुरातनशब्दस्य ।

त्यस्थे क्वापीदतोऽसुपोऽयत्तदौ ॥५१२।५०॥ त्यस्थे ककारे परतः पूर्वस्य अकारादेशो भवति असुपो य आप् तस्मिन् यत्तदित्येतौ वर्जयित्वा । कुत्सिता जटा जटिका । मुण्डिका । त्य इति किम् ? शक्नोतीति शका । तका । धोरयं कः । स्थग्रहणं किम् ? कारिका । हारिका । असति स्थग्रहणे त्ये कीत्युच्यमाने “येनाल्लविधिः” [१।१।६७] इति ककारादावेवं स्यात् । स्थग्रहणे सर्वत्र सिद्धम् । कीति किम् ? नन्दना । रमणा । कीतीपनिर्देशः किम् ? “ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [१।१।६०] इति परस्य मा भूत् । पटुका । मृदुका । आपीति किम् ? कारको हारकः । अत इति किम् ? गोका । नौका । तपरकरणं किम् ? बहुखट्वाका । बहुमालाका । “वाऽपः” [५।२।१२७] इत्यप्रादेशपक्षे । प्रपक्षे असुवः कपः परोऽयमाप् । असुप इति किम् ? बहवः परिव्राजका अस्यां बहुपरिव्राजका मथुरा । “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति सुवन्तात्परिव्राजकशब्दादयमाप् । ननु च बसे समुदायादसुवन्तादावित्त्वं प्राप्नोति, तदसत्, असुप इति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । न चाप्सुवन्तादवयवान्परो भवति । पर्युदासे हि दोषः । सुपोऽन्यः असुप् समुदायस्तस्मादावित्त्वं स्यात् । बहूनि चर्माणि अस्यां बहुचर्मिकेत्यत्र असुवन्तात्कपः परोऽयमावित्त्वम् । अयत्तदाधिति किम् ? यका । सका । यकां यकां पश्यति तकां तकां वृणीते । इह कथं प्रतिषेधः, यातीति स्यतीति विचि या सा इति स्थिते के प्रादेशे च कृते यका सका । क्षिपकादावेतौ द्रष्टव्यौ । ननु कीति वर्णनिर्देशः तस्यापीति परत्वेन विशेषणं नोपपद्यते आकारेण व्यवधानात् । एकादेशे भविष्यति । एकादेशः पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीति व्यवधानमेव । एवं तर्हि वर्णनैकेन व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्याद्भवति । सङ्घातेन पुनर्व्यवधानमिति । रथानां समूहो रथकट्या पुत्रकाम्यान् पुत्रकाम्या इत्यादौ न भवति ।

वाऽतोऽधोर्यकात् ॥५१२।५१॥ अधोर्यो यकारः ककारश्च ताभ्यामुत्तरस्यातः स्थाने यो अकारः तस्याप्यसुपः वा इद्भवति । कुत्सिता इभ्या इभ्यका । इभमर्हतीति “दृषडादेः” [३।४।६४] यः । एवं

क्षत्रियका । क्षत्रियिका । अर्यका । अर्यिका । चट्कका । चट्किका । मूपिकका । मूपिकिका । आन हति किम् ? साङ्कारये भवा साङ्कारयिका । अधोरिति किम् ? मुनयिका । सुर्शयिका । सुशोचिका । सुपाकिका । शोभनो नयोऽस्या मुनया । “केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशे कृते धोरन्तौ यकारक-कारावमू ताभ्यां परस्य न विकल्पः । यकारादिति किम् ? अश्वी । अश्विका । वेति योगविभागः । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन “तारका ज्योतिषि” । तारिकान्या । “आशिषि” जीवतादिति जीवका । नन्दका । जीविका नन्दिकाऽन्यत्र । अनुकम्पिता देवदत्ता । के कृते “अनजादौ वा शुखम्” [वा०] उक्तम्—“देवका” देवदत्तकान्यत्र । “वर्णका तन्तुविकारे” । वर्णिकान्या । “वर्तका शकुनौ प्राचाम्” । वर्तिकाऽन्यत्र । “अष्टका कर्मविशेषे” । अष्टिका तुलान्यत्र । अष्टौ परिमाणमस्या इति । सूतका । सूतिका । पुत्रका । पुत्रिका । वृन्दारका । वृन्दारिका । “क्षिपकादौ न भवत्येव” “क्षिप प्रेरणे” [धा०] । ध्रु स्थैर्य । क्षिपतीति क्षिपा, के क्षिपका । ध्रुवा, ध्रुवका । यका । सका । इत्येवमादिः क्षिपकादिः दक्षिणात्यिका । इहल्यिका इत्यादावित्वमेव ।

भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वानां नञ्सेऽपि ॥१।२।५२॥ भन्ना एषा अजा ज्ञा द्वा स्वा इत्येतेषां नञ्से असेऽपि आतः स्थाने यो अकारः तस्य वा इद् भवति । भस्त्राशब्दस्य “अनुक्तपुंस्कादाच्च” [५।२।५३] इतीमं विधिं वक्ष्यति । इह नञ्सादन्यत्रापि प्रतिपादयिष्यते । अभन्नका । अभन्निका । अविद्यमाना भन्ना अस्या इति अभन्ना । कुत्सार्थे कः । एषका । एषिका । एतदः सर्वनाम्नोऽकभाविनि मौ “त्यदा-देरः” [५।१।१६१] इत्यत्वम् । प्राक् सुपः टाप् । एपेति विकृतनिर्देशाद्यत्र पत्यं तत्र विकल्पः । एतिकास्ति-ष्ठन्ति इत्यत्र नित्यमित्वम् । अजका । अजिका । अनजका । अनजिका । नञ्से कृते कः । जानानीति ज्ञा । जका । जिका । अजिका । द्वके । द्विके । स्वका । स्विका । अस्वका । अस्विका । एषा द्वे नञ्पूर्वं अनुदाहरणे । सुवन्तादापो विहितत्वात् । नञ्सात् पूर्वभ्रश्चाद्रा अकि कृते “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति अन्तर्वर्तिनीं विभक्तोमाश्रित्य सुवन्तादाविति न प्राप्तिरित्यस्य । अनेपका । अद्रकं इति भवति । स्वशब्दस्य तु ज्ञातिभ्रनाख्यायां सर्वनामञ्चाविरहादग्नास्ति । अकि द्वि सति तस्य टेः प्राग्भावात्सुवन्तग्रहणेन ग्रहणम् । सुवन्तादास्यात् । ज्ञानिविबन्नायां तु न स्वा अस्वा कुत्सार्थे कः । अस्वका । अस्विका । अपिग्रहणं किम् ? नञ्से अम इत्येवास्तु । अन्यस्मिन्नपि मे क्वचिद्भावार्थम् । बहयो भन्ना अस्या इति के बहुभन्ना । बहु-भन्निका । निर्भन्नका । निर्भन्निका ।

अनुक्तपुंस्कादाच्च ॥१।२।५३॥ अनुक्तपुंस्काद्विहितस्यातः स्थाने योऽकारस्तस्य आच्च भवति इच्च वा । नञ्से असेऽर्पाति वर्तते । खट्वाका । खट्विका । खट्वाका । मालका । मालिका । मालका । भन्नाका । भन्निका । भन्नका । खट्वादिशब्दा नित्यं न्नियामेव वर्तन्ते इत्यनुक्तपुंस्काः । नञ्सेऽपि । अभ-न्नाका । अभन्निका । अभन्नका । अखट्वाका । अखट्विका । अखट्वाका । परमखट्वाका । परमखट्विका । परमखट्वाका । असेऽपि यदा कपि परतः “वाऽपः” [५।२।१२७] इति प्रादेशस्तदानुक्तपुंस्काद्विहित-स्यातः स्थाने अकार इत्ययमेव विधिः । अविद्यमाना खट्वाऽस्या अखट्वाका । अखट्विका । यदा न कप् तदा “क्षीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशादुक्तपुंस्कत्वम् । अखट्विका । अतिक्रान्ता खट्वाम् अतिखट्विका ।

टस्येकः ॥१।२।५४॥ गोर्निमित्तभूतस्य टस्य इक इत्ययमादेशो भवति । टस्येति त्यस्य ग्रहणम् । अक्षौर्दान्वयति आक्षिकः । शालाक्षिकः । “प्राग्यादृण्” [३।३।१२६] दधि संस्कृतं दाधिकम् । अप्रूपानां समूहः आपूपिकम् । “कण्ठेष्टः” [३० सू०] कण्ठ इत्यादिषु “उणादयो बहुलम्” [२।२।१६७] इति न भवति ।

इसुसुक्तः कः ॥५१२।५५॥ इस् उस् उक् इत्येवमन्तात्कारान्ताच्च गोः परस्य ठस्य क इत्यय-
मादेशो भवति । सर्पिः पण्यमस्य सर्पिष्कः । वार्हिष्कः “कुचोस्थे” [५।४।२६] इति रेफस्य सः ।
“इणः षः” [५।४।२७] इति पत्वम् । धनुः प्रहरणमस्य यजुः पण्यमस्य “प्राग्यादृण्” [३।३।१२६]
धानुष्कः । याजुष्कः । उक्-निषाहकर्ष्यां जातः नैषाहकर्षुः कः । शावरजम्बुकः । “ओर्देशे ठञ्” [३।२।६६] ।
“केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशः । मातुरागतं मातृकम् । “ऋतष्टञ्” [३।२।५२] । तान्तात्—
उदशिवत् पण्यमस्य औदशिवत्कः । भवतोऽयं भावत्कः । ननु मथितं पण्यमस्य माथितिक इत्यत्र “यस्य
ङ्यां च” [४।४।१३६] इति खे कृते तान्तादिकस्य स्थानिवद्भावेन कादेशः प्राप्नोति । अजादिति
निमित्तस्तकारो नाजादि हन्ति । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य” [५०] “अञ्चिंशुचिहु-
सृपिच्छद्विच्छद्विभ्य इत्” [३० सू०] इत्येवमादिना प्रतिपदोक्तयोरिसुसोर्ग्रहणादिह न भवति । आशिपा तरति
आशिषिकः । उपा चरति औषिकः । “आङः शासु इच्छायाम्” [धा०] “वस निवासे” [धा०] इत्येताभ्यां
क्विपि “लिङाशिषि” [२।४।१३६] इति निपातनादित्वम् । “वसोजिः” [४।४।१२०] “शासिवसिषसाम्”
[५।४।४०] इति पत्वं नञ्सेऽपीत्यतोऽपिशब्दवृत्तेः “दोषोऽर्षाप्यते” [वा०] । दोभ्यां तरति दौष्कः ।

चजोः कुघिण्ययोस्तेऽनितः ॥५१२।५६॥ चकारजकारयोः कुत्वं भवति घिति एये च परतः ।
पाकः । त्यागः । रागः । पाक्यम् । योग्यम् । भोग्यम् । न त्वत्र चकारस्य घिति जकारस्य णे साम्याद्यथासङ्ख्यं
प्राप्नोति “तेन रक्तं रागात्” [३।२।१] इति ज्ञापकात् स्वरिर्नालिङ्गाभावाद्वा न भवति । तेऽनितः इति किम् ? कजः ।
वर्जः । गर्जः । समाजः । परिव्राज्यम् । याच्यम् । अर्च्यम् । नन्वजेस्तेऽनित इति कुत्वं प्राप्नोति । नैप
दोषः । तेऽनित इति विद्यमानस्य विशेषणम् । अजेस्तु वीभावेनासच्चादविशेषणं तस्मात् समाज इति भवति ।

शुच्युवज्योर्घञि ॥५१२।५७॥ शुचि उञ्जि इत्येतयोर्घञि परतः कुत्वं भवति । ते सेटाविमौ ।
शोकः । समुद्रगः । उव्जेर्दकारोऽपन्ने कुत्वे कृते “उद्ग” इति । चुना योगे वत्वमुक्तं चुत्वाभावे न भवति ।
अथ समुद्रगतः । समुद्रग इति । गमेर्देन मिद्रम् । एवं तर्हि घञि उद्गोः जकारान्ततानिवृत्त्यर्थम् ।

न्यङ्क्वादेः ॥५१२।५८॥ पूर्वणाप्राप्ते विधिः । न्यङ्कु इत्येवमादीनां च कुत्वं भवति । “नावञ्चेः”
[३० सू०] इत्युः । मद्गुः । मस्जेः “भृशृशीतृचरितनिमिमस्त्रिभ्य उः” [३० सू०] जश्त्वम् । मस्य दः ।
भृगुः । भ्रस्जेः “प्रथिमृदिभ्रस्जां जिः सखं च” [३० सू०] इति कुः । तक्रम् । चक्रम् । “स्फायितञ्चि-
वञ्चि” [३० सू०] आदिस्त्रोण रक् । मेहतीति मेघः । इगुङ्लक्षणः कः गणपाठादेप् । शुनः पचतीति
श्वपाकः । पचादिषु श्वपचशब्दोऽस्ति सोऽपि साधुः । अर्षवदाघनिदाघाः घञन्तः सञ्ज्ञाशब्दाः । अविहित-
लक्षणं कुत्वमिह ज्ञेयम् ।

हो हन्तेर्ङिञ्चि ॥५१२।५९॥ हन्तेर्हकारस्य कुत्वं भवति ङिणिति त्ये नकारे घञि भावकरणे स्वपरतः ।
घातर्यति । घातकः । सर्वघाती । देशघाती । घातंघातम् । घातो वर्तते । नकारे-घ्निति । घन्तु । अघ्नन् । ह
इति किम् ? अलोऽन्त्यस्य मा भूत् । हन्तेरिति किम् ? विहारः । ङिणीति किम् ? हतः । कथं यद्दन्तस्य
जङ्घनीति । अत्र “चान्” [५।२।६०] इति कुत्वमिष्यते । धुनिर्देशार्थस्तिप् । ङिणद्ग्रहणं हन्तेर्विशेषणं त्रित्परस्य
हन्तेर्यो हकारस्तस्य । नकारो हकारस्य विशेषणम् । नकारे परतोऽनन्तरस्य हकारस्य स चेद् नोरिति श्रौतं चान-
न्तर्यं धन्तीत्यादाविष्टं स्थानिवद्भावादेकैव व्यवधानं नाश्रितम् । वचनप्रामाण्यात् । सङ्घातेन पुनर्व्यवधानम्,
हननमिच्छति हननीयति । तस्य ष्वौ हननीयकः ।

चात् ॥५१२।६०॥ चादुत्तरस्य हन्तेर्हकारस्य कुत्वं भवति । अहं जघन । अणित्यन्ते णलि ।
जङ्घन्ते । जिघामति । हन्तेर्यश्चः तस्माद्दत्परस्य कुत्वं च निमित्तत्वे तेनेह न भवति । हननीयितुमिच्छति
जिहननीयिषति ।

हेरकचि ॥५।२।६१॥ हिनोतेर्हकारस्य चात्परस्य अकचि कुत्वं भवति । प्रजिघाय । प्रजेचीयते । प्रजिघीपति । अकचीति किम् ? प्राजीहयत् । हेर्यन्ताल्लुडि “लिभिद्रुभु” [२।१।४३] इत्यादिना कच् । णिखम् “सौ कच्युः” [५।२।११५] इति प्रादेशः । सौ कृतं स्थानिवद्भवतीति कचि हिशब्दस्य द्वित्वम् । ननु हेः स्वनिमित्ते त्ये चादुत्तरस्य कुत्वमुक्तम् । एयन्तं च प्रकृत्यन्तरं कथं कचि प्रातिः । अयमेव प्रतिपेधो शापको एयधिकस्यापि भवति । प्रहाययितुमिच्छति प्रजिघाययिपति ।

सल्लिटोर्जेः ॥५।२।६२॥ सनि लिटि च यश्चस्तस्मात्परस्य जेः कुत्वं भवति । जिगीपति । जिगाय । संल्लिटोरिति किम् ? जेजीयते । जिनातेर्लिटि जित्वे कृते “हलः” [४।४।२] इति दीत्वे कृते एकदेशपरिभाषया जिग्रहणेन ग्रहणं नेप्यते लाक्षणिकत्वात् । “गुर्गिवाक्चादुडोऽसुधियः” [४।४।७८] इति यत्वम् । जिज्यतुः । जिज्युः ।

वा चेः ॥५।२।६३॥ चिनोतेः संल्लिटोः परतः चात्परस्य वा कुत्वं भवति । धर्मं चिकीपति । धर्मं चिकीपति । चिकाय । चिचाय । संल्लिटोरित्येव । चेचीयते । अप्राप्तं विकल्पोऽयम् ।

न वञ्चेर्गतौ ॥५।२।६४॥ वञ्चेर्गतौर्त्थस्य कुत्वं न भवति । वञ्च्यं वञ्चति वाणिजाः । गतौ किम् ? वङ्क्यं काष्ठम् । “यस्य वा” [५।१।१२१] इति “तेऽनितः” [५।२।५६] कुत्वं प्राप्तम् । ननु गतावेव वञ्चिः पठ्यते । सत्यम् । अनेकार्था धव इत्यन्यत्र मा भूत् ।

गय आवश्यके ॥५।२।६५॥ आवश्यकेऽर्थे परतः कुत्वं न भवति । अवश्यपाच्यम् । अवश्य-मेच्यम् । “आवश्यकधमर्ययोषिन्” [२।३।१४६] इत्यधिकृत्य “व्याः” [२।३।१४७] इति एयः । मयूरव्यमकादित्वात्मविधिः । “व्यान्ते ह्यवश्यमो नाशः” इति मयम् । आवश्यक इति किम् ? पाक्यम् । सेक्यम् ।

यजित्यजिप्रवचाम् ॥५।२।६६॥ यजि त्यजि प्रवच इत्येतेषां एये परतः कुत्वं न भवति । याज्यम् । त्याज्यम् । प्रवाच्यम् । अनावश्यकार्थमिदम् । प्रवचिग्रहणं शब्दखावपि प्रतिपेधार्थम् । प्रवाच्यो नाम पाठविशेषः । अन्ये तु पुनराहुः—प्रपूर्वस्यैव वचेः अशब्दत्वेः कुत्वप्रतिपेधो यथा स्यात् । अत्यगिपूर्वस्य मा भूत् । अधिवाक्यम् ।

वचोऽशब्दखौ ॥५।२।६७॥ वचोऽशब्दखौ एये परतः कुत्वं न भवति । वाच्यमाह । अशब्द-खाविति किम् ? अवधुर्पितं वाक्यमाह । शब्दस्यैव सञ्ज्ञावाक्यमिति । तदुक्तम्—आख्यातं सविशेषण-मित्यादि वाक्यम् ।

भुजप्रयाजानुयाजौकप्रयोज्यनियोज्यभोज्यानि ॥५।२।६८॥ भुज प्रयाज अनुयाज श्रोक प्रयोज्य नियोज्य भोज्य इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । भुज इति पाणौ । भुज्यतेऽनेनेति भुजः । “हलः” [२।३।१०२] इति करणे घञ् । एत्कुत्वयोरभावो निपात्यते । भोगोऽन्यः । अथ “भुजो कौटिल्ये” [धा०] इत्यस्य इगुङ्लक्षणे के रूपम् । न तस्याभ्यवहारार्था प्रतीतिः । रुटिशब्देऽप्यनुगमोऽस्ति । यथा गच्छीति गौः । प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्ग । “अकर्त्तरि” [२।३।१८] इति घञ् । प्रयागः । अनुयागः । इत्येवा-न्यत्र । श्रोक इति भवति । उचः के उच्यतीत्योक्तः । इगुङ्लक्षणे कः । न्युच्यत्यस्मिन्निति न्योक्तः । “वज्रर्थे कवियानम्” [वा०] इति कः । एप् कुत्वं च निपात्यते । उचिस्ते सेट् तदर्थम् । के उच इत्यस्य रूपस्य निवृत्त्यर्थं वेदम् । दिवोकस इत्यादिपु “उखादयो बहुलम्” [२।२।१६७] इति कुत्वम् । प्रयोज्यनि-योच्यौ शक्यार्थं । प्रयोक्तुं शक्यः प्रयोज्यः । नियोक्तुं शक्यो नियोज्यः । “शक्ति लिङ् च” [२।३।१४८] इति एयः । कुत्वाभावोऽनेन । प्रयोग्यो नियोग्य इत्येवान्यत्र । भोज्यमिति भुज पालनाभ्यवहारयोरित्यस्य भक्ष्येऽभिधेये । भोज्य श्रोदनः । भोज्या अप्रूपाः । ननु भक्षिरयं खरविशदं वर्तते न तु द्रवद्रव्ये तत्कथं

भोग्या यवागूरिति ? भक्षिरभ्यवहार्येऽपि वर्तते न खरविशद एव । अभ्यव-
हरणादन्यत्र न भवति । भोग्या अङ्गिपाः पालनीयाः इत्यर्थः । भोग्यः कम्बलः । इष्टार्थसङ्ग्रहो
निपातनात् । न्युञ्ज इति कथं सिध्यति ? न्युञ्जिताः शेरतेऽस्मिन्निति न्युञ्जो रोगः । “घञर्थे कविधानम्”
[वा०] इति एयन्तस्य वाऽचि रूपम् ।

कसस्याच्च खम् ॥१२।२।६६॥ कसस्याजादौ परतः खं भवति । “अन्तेऽलः” [१११४६] इत्यन्तस्य ।
अधुञ्जि । अधुञ्जाताम् । अधिञ्जि । अधिञ्जिताम् । दुहिदिदी स्वरितेतौ । “इगुङ्कः शलोऽनियोऽदशः कसः”
[२।११४०] । अचि किम् ? अधुञ्जत् । अधिञ्जत् । अधुञ्जन्तेत्यत्र कसस्य खे कृते “देऽनतः” [५।११५]
इत्यन्तादेशस्य स्थानिवद्भावेन भस्यादादेशः प्राप्नोति । “परेऽचः पूर्वविधौ” [१११५७] इत्यकारस्य
स्थानिवद्भावात् न भवति । पूर्वस्मादपि विधिः पूर्वविधिरित्युक्तम् । कसस्य कितो ग्रहणं किम् ? इह मा भूत् ।
क्तौ । कसाः “वृत्तवदिह निकमिकषिमुचिमाभ्यः सः” [३० सू०] ।

वोदुदुहदिहलिहगुहो दे दन्त्ये ॥१२।२।७०॥ दुह दिह लिह गुह इत्येतेभ्यः कसस्य वा उव् भवति दे
दन्त्यादौ परतः । अदुग्ध । अदुग्धाः । अधुक्षत । अधुक्षथाः । अधुग्ध्वम् । अधुक्ष्वम् । अदुद्वहि ।
अधुक्ष्वाहि । दिह । अदिग्ध । अधिक्षत । अलीद । अलिक्षत । न्यगृह् । न्यधुक्षत । दुहादिभ्य इति किम् ?
व्यत्यरक्षत । द इति किम् ? अधुक्षत् । दन्त्य इति किम् ? अधुक्षामहि । ग्वमिति वर्तमाने उन्ग्रहणं
सर्वापहारार्थम् ।

ओतः श्ये ॥१२।२।७१॥ ओकारान्तस्य गोः श्ये परतः खं भवति । निश्चयति । अपह्ययति ।
अवद्यति । अवस्यति । वोन्ग्रहणमस्वरितत्वान्नाधिकृतम् । श्य इति शित्करणं किम् ? गव्यम् ।

शमित्यामदो दीः ॥१२।२।७२॥ शमादीनामामदो दीर्भवति श्ये परतः । शाम्यति । ताम्यति ।
दाम्यति । शाम्यति । भ्राम्यति । क्षाम्यति । क्लाम्यति । माद्यति । “अचश्च” [११११२] इत्यचः स्थाने
दीः । आम इति किम् ? अस्यति । श्य इत्येव । भ्रमति । “वा भ्राशाभ्लाश” [२।१।६६] इत्यादिना वा शप् ।

ष्ठिवुक्लम्वाचमां शिति ॥१२।२।७३॥ ष्टिवुक्लम्वाचमां शिति परतः ।
ष्ठीवति । ष्ठीवेत् । क्लामति । क्लामेत् । आचामति । आचामेत् । क्लमः शितीति दीत्ववचनं शब्दार्थम् ।
चमेराङ्पूर्वस्यैव । केवलस्थान्यपूर्वस्य च मा भूत् । चमति । विचमति ।

क्रमो मे ॥१२।२।७४॥ क्रमो मपरे शिति दीर्भवति । क्रामति । क्रामेत् । म इति किम् ? आक्रमते
आदित्यः । “ज्योतिरुद्गतावाङ्” [१।२।३६] इति दः । शितीत्येव । क्रमिष्यति । ननु सर्वत्र गृह्यमाणेन
शमादिना अज्विशेष्यते । तेनादौऽपि दीत्वं स्यात् । अशाम्यत् । “अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशस्य कार्यम्”
[५०] इत्यदोपः । इह सङ्क्रामेति हेरुपि कृते “नोमता गोः” [१।१।६४] इति त्याश्रयकार्यप्रतिषेधाद्
दीत्वं न प्राप्नोति । न दोपोऽयम् । उमता वचनेन नष्टे यो गुस्तस्य कार्ये स प्रतिषेधः । तत्रायं क्रमिः
द्विवचने गुः । किं तर्हि शिति ।

गमिषुयमां छुः ॥१२।२।७५॥ गम् इषु यम् इत्येतेषां छो भवति शिति परतः । गच्छति । इच्छति ।
यच्छति । म इति नाधिकृतम् । संगच्छते । इषेरुदितः शन्विकरणस्य ग्रहणम् । “इष गतौ” [४०]
इत्यस्य इष्यति । “इष आभीष्ये” [४०] इष्णातीति ।

**पाघ्राध्मास्थाम्नादाण् द्रष्टिर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छुपश्यच्छुधौशीय-
सीदाः ॥१२।२।७६॥** पा घ्रा ध्मा स्था म्ना दाण् द्रष्टि अर्ति सर्ति शद सद इत्येतेषां पिब जिघ्र धम तिष्ठ मन
यच्छ पश्य ऋच्छ धौ शीय सीद इत्येते आदेशा शिति यथासङ्ख्यं भवन्ति । पा-पिबति । पिबतः ।

पिबन्ति । अत्र “घ्युङः” [५१२।८३] इति एप्प्राप्नोति । अकारान्तोऽयमादेशो अथवा गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तमिति न भवति । घ्रा-जिघ्रति । ध्मा-धमति । स्था-तिष्ठति । म्ना-मनति । दाण् । प्रयच्छति । द्रष्टि इति दृशेस्तिपि “शपोऽदादिभ्यः” [१।४।१४३] इत्यत्र शप इति योगविभागाच्छप उपि कृते “भ्रूल्यकिति सृजिदृशोऽम्” [४।३।५१] इत्यमा निर्देशः । एवमर्तिसत्योरपि ज्ञेयम् । पश्यति । पश्यतः । पश्यन्ति । अर्ति-अृच्छति । अनुब्विकरणस्य ग्रहणम् । सर्ति । धावति । सतेर्व्याख्यानात् शौत्र्ये धावादेशो नान्यत्र । संसरति । प्रसरतीत्यादि । शद्-शीयते । शीयेते । “सदेर्गात्” [१।२।५५] इति दः । सद् । सीदति । द्रष्ट्यादीनां तिपा निर्देशो यद्ब्रुवन्तनिवृत्त्यर्थः । शतरि शिति प्राप्तिः । दर्शत् । अरियत् । सर्वत् । अतेश्च रिक् । इतरयो रुक् ।

ज्ञाजोर्जा ॥५१२।७७॥ ज्ञा जन इत्येतयोः जा इत्ययमादेशो भवति शिति । जानाति । जायते । जा इति दीत्वोच्चारणं किम् ? “यञ्यतो दीः” [५१२।६६] इत्यत्र मिडीत्यनुवर्तनाद् दीत्वं न स्यात् ।

प्वादेः प्रः ॥५१२।७८॥ पू इत्येवमादीनां प्रादेशो भवति शिति परतः । पुनाति । लुनाति । प्वादयो रीलीवृद्धिः यावत् । ल्वादीनां समाप्त्यर्थं वृत्करणमेतदिति केचित् । आगणान्ताः प्वादयः । तदयुक्तम् । उभयगणपरिसमाप्त्यर्थता वृत्करणस्य न विरुद्धयेत । किञ्चागणान्तपक्षे व्रीणानि, भीणाति जानातीत्यत्र प्रः स्यात् ।

मिदेरेप् ॥५१२।७९॥ मिदंर्गोरेभभवति शिति । मेद्यति । मेद्यतः । मेद्यन्ति । मिदेर्य इक् तस्याय-मेप् । मिदेरिति किम् ? क्लियति । शितीत्येव । मिद्यते ।

जांस ॥५१२।८०॥ जुसि परतः इगन्तस्य गोरेप् भवति । कामचारेण विशेषणम् । इका सन्निहितेन गुर्विशोधयेत् । तेन तदन्तर्विधः । अजुह्युः । अविभ्युः । अविभरुः । लडो भिः । शप उप् । “थवित्सेः” [२।४।८६] इति जुम् । भृजश्चस्येवम् । इगन्तस्येति विशेषणं किम् ? अनेनिजुः । जुसीति जकारग्रहणं किम् ? लुलुधुः । अथ चिनुयुः सुनुयुरित्यत्र उसीति पररूपे कृते “तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” [५०] इति श्नोः कस्मान्न भवति । अत्र द्वे डित्वे गाश्रयं यासुडाश्रयं च । तत्र नाप्राप्ते गाश्रये डित्व-निमित्ते प्रतिषेधे एविविहितस्तमेव बाधते । यासुडाश्रये डित्वनिमित्ते तु प्रतिषेधे प्राप्ते चाप्राप्ते च । अतस्तं न बाधते ।

गागयोः ॥५१२।८१॥ गे चागे च परतः इगन्तस्य गोरेभभवति । तरति । नयति । करोति । अगे-कर्त्ता । भविता । चेता । स्तोता । गागयोरिति किम् ? अग्नित्वम् । अथ सङीति कर्त्तव्यम् । सनः सकारादारभ्य आ आडो डकारात्पत्याहारः । यदि सङीत्युच्येत अग्निकाभ्यतीत्यत्रापि स्यात् । अथ यङीत्युच्येत । शिशयिषत इत्यत्र न स्यात् ।

जागुरविजिणल्लिङ्गिति ॥५१२।८२॥ जाग् इत्येतस्य गोरेव भवति अविजिणल्लिङ्गिति परतः । जागर-यति । जागरकः । साधु जागरी । जागरं जागरम् । जागरो वर्तते । किति-जागरितः । जागरितवान् । ऐविव-षये प्रतिषेधविषये च प्रापणार्थो जागुरेविविहितोऽन्यत्र पूर्वैर्गैव सिद्धः । नायमेप् सावैपमन्तरङ्गं बाधते । तेन “ह्ययम्यक्षणाश्वस्” [५।१।८१] इत्यादिना जागुरैप्रतिषेधः । जागरयतीत्यादौ “उङोऽतः” [५।२।४] इति पुनरैप् कस्मान्न भवति ? यदि स्याद्वचनमनर्थकं भवेत् । जागरित इत्यत्र सार्थकमिति चेत् ; एवं तर्हि जिणलोः प्रति-षेधोऽनर्थकः स्यात् । कृते एपि “उङोऽतः” [५।२।४] ऐपा सिद्धवात् । अविजिणल्लिङ्गितीति किम् ? जागृविः । “जृशूस्तृजागृभ्यो कित्” [३० सू०] इति विः । अजागरि । जजागार । ङिति-जागृतः । जागृथः । अवि-जिणल्लिङ्गितीति पर्युदासोऽयम् । विजिणल्लिङ्गभ्योऽन्यत्रायमेव विधीयते तेन विजिणल्लिङ्गिति प्रतिषिध्यते । यदि लक्षणान्तरमस्ति भवत्येव । अजागरः । अहं जजागार । प्रसज्यप्रतिषेधे हि दोषः । विजिणल्लिङ्गिति न भव-

तीति ततश्च अजागरित्यत्र “जुसि” [५१२।८०] इत्यस्य अहं जजागर। अणित्पक्षे “गागयोः” [५१२।८१] इत्यस्य च प्रतिषेधः स्यात्। अथवा जागुरित्यनेनानन्तराप्तिः प्रतिषिध्यते न “जुसि” [५१२।८०] इत्यादि प्राप्तिः। अथ नत्रर्थः पर्युदासो नोपपद्यते अभावमात्रस्य वृत्त्यर्थत्वात्। न चोत्तरपदार्थाभावेन विधेर्निमित्तत्वमाश्रयितुं शक्यम्। तदयुक्तम्, यद्यभाव एव वृत्त्या गम्यते कथमब्राह्मणादिकाभ्ये क्षत्रियादेरानयनम्। अथापि स्यात्। कथमुत्तरपदं सादृश्येन विपरीते वर्तते। वृत्तौ वा वर्त्तिपदार्थव्यतिरेकेणान्यपदार्थसम्प्रत्ययादुपसर्जनीभूत-स्वार्थत्वे सत्यवर्षाहेमन्त इत्यत्र “जीगोर्नीचः” [१११।८] इति प्रादेशः प्राप्नोति। अनेकमित्यत्र च द्विबहू स्याता-मित्येदप्यसारम्। यथोत्तरपदं स्वार्थं वर्तते। स्वभावतः तथानञ्चुत्तौ परार्थि न वर्त्तिपदार्थकत्वं वर्तिष्यते। यथा च स्वार्थं वर्तमानं नोपसर्जनमेवं परार्थेऽपि सादृश्येन स्वार्थ एवेति कथमुपसर्जनत्वात् प्रादेशप्राप्तिः। अनेकमित्यत्र च एकशब्दः प्रधानभूत उपात्तस्वलिङ्गसंख्य एव परार्थं वर्तते इति द्वित्वबहुत्वयोरभावः। एवं तर्हि प्रसज्यप्रति-षेधो नञर्थो न युक्तो वृत्त्यभावप्रसङ्गात्। तथाहि क्रियामपेक्षमाणस्य नञः उत्तरपदेन सामर्थ्याभावाद्बृत्तिर्न प्राप्नोति। नैप दोषः, वचनाद् भविष्यति। देवदत्तस्य गौनीस्तीत्यनभिधानान्न भवति। ततो द्वावपि नञर्थो युक्तौ। यदोत्तरपदं स्वार्थविपरीते वस्तुनि वर्तते तदा निवृत्तपदार्थकत्वं द्योतयन्न वृत्तिं लभते। यदा नृत्तरपदं स्वार्थ एव वर्तते तदा नञ् क्रियाप्रतिषेधद्वारेण सामर्थ्यमनुभवन्न वृत्तिमाप्नोति।

घ्युङ् ॥५१२।८३॥ घिसञ्ज्ञस्योऽङ् एव भवति गागयोः। द्योतते। वर्पति। छेदनम्। भेदनम्। ननु च भेत्ता छेत्ता इत्यत्र त्यादेर्गौरवयवस्य च हलोरानन्तर्ये “स्फेरुः” [१२।११००] इति रुसञ्ज्ञया घिसञ्ज्ञा आधिता कथमेप्। उच्यते “त्रसिगुघिष्टिषिचिपः वनुः” [२।२।११६] इति “हलन्तात् [१११।८४] इति च वनुसनोः किकरणं ज्ञापकम्। त्यादेर्गौरन्तस्य च हलोरानन्तर्ये “घ्युङ्” एव न व्यावर्तते। घि चासावुङ् च शुर्डीति यसः किम्? भिनत्तीत्यत्र मा भूत्। इको घ्युङ् एवभवतीति सम्भन्धात् प्रसज्येत।

नेटः ॥५१२।८४॥ इट् एव न भवति। अकणिपम्। अरणिपम्। कणिता। रणिता। अमं डादेशे टिङ् च आश्रित्य पूर्वस्य गुसञ्ज्ञायां “घ्युङ्” [५१२।८३] इति एप्प्राप्तः।

थस्य गे पित्यच्चि ॥५१२।८५॥ थसञ्ज्ञस्य गोर्यो घ्युङ् तस्याजादौ गे पित्येच् न भवति। नेनिजानि। अनेनिजम्। वेविचानि। अवेविचम्। वेविषाणि। अवेविषम्। लोटि लडि च चस्य “निजामुच्चेप्” [५१२।१७४]। एवं बोबुधीति। बोभुजीति। बेभिदीति। भस्येति किम्? वेदानि। ग इति किम्? निनेज। अचीति किम्? नेनेक्ति। विद्ग्रहणमुत्तरार्थम्। अपिति गे ङ्ङितीति प्रतिषेधः सिद्धः। घ्युङ् इत्येव जुहवानि।

सूभवत्योर्मिडि ॥५१२।८६॥ सू भवति इत्येतयोर्मिडि पिति गे एच् न भवति। सुवै। सुवावहै। सुवा-महै। अभूवम्। अभूत्। सूग्रहणेन सूतिर्गृह्यते। सूयतिसुवत्योर्विकरणेन व्यवधानम्। विकरणस्य डित्वादेव प्रतिषेधः सिद्धः। मिडीति किम्? भवति। शक्यम्। भवतेस्तिपा निर्देशो यद्ब्रन्तनिवृत्त्यर्थः। बोभवीति। सूत्रोपलक्षणं चेदं तिपा निर्देशेन सूतेरपि यद्ब्रन्तस्य निवृत्तिः। सोपवीति।

हल्यैबुप्युतः ॥५१२।८७॥ हलादौ पिति गे परतः उपि सति उकारान्तस्य गोरैप् भवति। एपोऽपवा-दोऽयम्। योमि। यौपि। यौति। रौमि। रौपि। रौति। इदमेव ज्ञापकम्-पूर्वं विकरणः पश्चाद् गुकार्यम्। अन्यथा पूर्वमेपि सति उकारान्तता न भवेत्। तरतः। तरन्तीत्यत्र ऋत इत्वं च स्यात्। अथवा नित्यः शप्। हलीति किम्? यवानि। उपीति किम्? जुहोमि। मुनोमि। उत इति किम्? एमि। एपि। एति। तपर-करणं किम्? लोलोति। पितीत्येव। युतः। रुतः। हलि पितीभिर्देशादव्यवहितग्रहणम्। इह मा भूत्। अपि स्तुयाद्वाजानम्। थस्य नेत्येतदिहानुवर्त्यमिति केचित्। योयोति। रोरोतीत्यादिसिद्धये।

चोऽर्षोः ॥५१२।८८॥ उर्षोर्त्वा एवभवति हलादौ पिति गे। प्रोर्षोमि। प्रोर्षोमि। प्रोर्षोषि। प्रोर्षोषि। प्रोर्षोति। प्रोर्षोति। हलीत्येव। प्रोर्षवानि। पितीत्येव। प्रोर्षुतः। पूर्वेण प्राप्ते विकल्पः।

हल्येषु ॥५१२।८६॥ उणोतेर्हलि पिति गे एभभवति । प्रौणोः । प्रौणोत् । पुनर्हल्ग्रहणं केवलार्थम् । हलादौ मा भूत् । वेति नाधिकृतम् ।

तृणह इम् ॥५१२।९०॥ तृणह इत्येतस्य गोरिमागमो भवति हलादौ पिति गे परतः तृहिरागतश्नम्को गृह्यते । श्नमि कृते इमागमो यथा स्यादिति । तृणेभिः । तृणेदि । हलीत्येव । तृणहानि । पितीत्येव । तृणदः । अतृणेडित्यत्र तिस्योः “हल्ङ्वापः” [५१३।५६] इत्यादिना खं कृते हलाद्यभावादिम्न प्राप्नोति । “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] अपि न सम्भवति । वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयमिति । यथा गवे हितम् गोहितमित्यत्र अचीति वर्णाश्रये नास्त्यवादेशस्त्याश्रयः । नेदं वर्णाश्रयं कार्यम् । किं तर्हि मिडाश्रयम् । मेडि हलादौ परतः । तस्य च त्यखे त्याश्रयमित्यवस्थानादिम् ।

ब्रुव ईट ॥५१२।९१॥ ब्रुव ईडागमो भवति हलि पिति गे । ब्रुव इति कानिदेशात्परादिरीट् । ब्रवीति । ब्रवीतु । अब्रवीदित्यत्र व्यपदेशिवद्भावेन हलादित्वम् । हलीत्येव । ब्रवाणि । पितीत्येव । ब्रूतः । ग इत्येव । उवन्विथ । इटं बाधित्वा परत्वादीट् स्यात् । आत्थ इत्यत्र स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति “ब्रुव आहश्च” [२।४।७०] इति आहादेशः । सिपश्च थादेशः । “आहस्थः” [५।३।५२] इति हस्य थत्वम् । चर्त्वम् । नायं दोषः । अलि विधिरयम् । “अनल्विधौ” [१।१।५६] इति प्रतिषेधः ।

यडो वा ॥५१२।९२॥ यडुबन्ताद्वा ईड् भवति हलि पिति गे । अत्रापि यड इति कानिदेशात् परस्य तथा योगः । लालपीति । वावदीति । शाश्वमीति । चोक्रुशीति । “थस्य गे पित्यचि” [५।२।८५] इत्युङः एप्रतिषेधः । पन्ने लालति । वावत्ति । शाश्वत्ति । चोक्रोष्टि । यडन्तात्परस्य हलादेः पितो गस्याभावाद्ब्रुवत्तनाद्यडुबन्तस्य ग्रहणम् । इदमेव ज्ञापकं “यडोऽचि” [१।४।१४४] इत्यत्राविशेषेण यड उव् भवति । “चर्करीतम्” इत्यादिषु पठितम् । तस्यादादिकार्यम् । “मम्” [१।२।७५] इति मविधिः । “चर्करीतम्” इति यडुबन्तस्य सञ्ज्ञा ।

हल्यस्तेः ॥५१२।९३॥ हलि परतः अस्तेः स्यन्ताच्च ईड् भवति । अस्तिग्रहणं लडर्थम् । आसीत् । आमीः । स्यन्तात् । अकार्पाः । अलावीत् । अलावीः । पुनर्हल्ग्रहणं केवलार्थम् । इह मा भूत् । अस्ति । वेति नाधिकृतम् । नन्वभूदित्यत्र अस्तेः स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति । अस्मेरिति त्रिसकारको निदंशः । तेन अस्तेः सकारान्तादीट् ।

रदृभ्योऽड्वाऽज्जेः ॥५१२।९४॥ रुदादिभ्यो जङ्घिपर्यन्तेभ्यः अड्वागमो भवति ईट्च हलि पिति गे । आजन्नेरित्याडभिधौ द्रष्टव्यः । केवलहल्ग्रहणमनुवर्तते । अरोदत् । अरोदीत् । अस्वपत् । अस्वपात् । अश्वसत् । अश्वसीत् । प्राणत् । प्राणीत् । अजजत् । अजज्जीत् । सर्वत्र लङ् । “णोऽनितेः” [५।४।१०४] इति णत्वम् । आजजेरिति किम् ? अजागर्भवान् । एपि रन्तत्वे च कृते “हल्ङ्वा” [५।३।५६] आदिना खम् । “रुदादेर्गे” [५।१।१३५] इतीटि प्राप्ते तदपवादोऽयम् ।

अदोऽट् ॥५१२।९५॥ अदः अड् भवति हलि पिति गे । आदः । आदत् । केवलहलीति किम् ? अर्ति । पुनरड्ग्रहणमीपिनवृत्त्यर्थम् ।

यज्यतो दीः ॥५१२।९६॥ यत्रादौ मिडि अकारान्तस्य गोर्दीर्भवति । “सूभवत्योमिडि” [५।२।८६] इत्यनुवर्तते । पचामि । पचावः । पच्यामि । पद्यावः । पद्यामः । मिडीति किम् ? धनवान् । केशवः । केशा अस्य सन्ति “केशाद्गो वा” [५।१।३५] इति वः । यजीति किम् ? पचति । अत इति किम् ? चिनुवः । चिनुमः । तपरकरणं किम् ? क्रीणीवः इत्यत्र माभूत् । नन्वीत्वेनात्र भवितव्यम् । नैवम् । क्रीणीथः । क्रीणीतः इत्यत्र सावकाशमीत्वं दीत्वेन बाध्यते । यजीतीन्निदेशादव्यवहितस्य गोरन्तस्य दीत्वम् ।

सुपि ॥५।२।६७॥ अकारान्तस्य गोः यजादौ सुपि दीर्भवति । देवाय । देवाभ्याम् । यजीत्येव । देवस्य । सुपीति सु इत्यतः प्रभृति आ सुपः पकारेण ।

बहौ भल्येत् ॥५।२।६८॥ भलादौ बहौ सुपि परतः अकारान्तस्य गोरेकारदेशो भवति । देवेभ्यः । देवेषु । बहाविति किम् ? देवाभ्याम् । भलीति किम् ? देवानाम् । “नामि” [४।४।३] इति दीत्वम् अग्नीनाम्, वायूनामित्यत्र सावकाशम्, इहासति भल्लग्रहणे परत्वादेत्वं स्यात् । यजीत्यस्य निवृत्त्यर्थं च भल्लग्रहणम् । अन्यथा देवेश्विति न स्यात् । अत इत्येव । अग्निभ्यः । तपरकरणं किम् ? खट्वाभ्यः । सुपीत्येव । पचध्वम् ।

ओसि ॥५।२।६९॥ ओसि च परतः अकारान्तस्य गोरेकारदेशो भवति । देवयोः स्वम् । देवयोर्विधेहि ।

आडि चापः ॥५।२।१००॥ आडि ओसि च परतः आवन्तस्य गोरेकारदेशो भवति । आविति टाप्-डापोर्ग्रहणम् । विद्यया । विद्ययोः । बहुराजया । बहुराजयोः । “अनश्च बात्” [३।१।१०] । “वोङ् खे” [३।१।११] इति डाप् । आडिति टारूपस्य ग्रहणं पूर्वाचार्यसञ्ज्ञानिर्देशेन । आप इति पिदग्रहणं किम् ? कीलालपा नरेण । कीलालपोः । विद्यामतनिवृत्ते “आतो धोः” [४।४।१२७] इति खम् । अथातिखट्वेनेत्यत्र “कीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशे कृते स्थानिवद्भावादेत्वं कस्मान्न भवति ? उच्यते “हल्ङ्याप” [४।३।५६] इति सूत्रे हल्ङ्यापो व्य इति योगविभागस्तस्यार्थो ङ्यापोर्यत्कार्यं तद्दीत्वभाजोरिव । ननु दीत्वमपि स्थानिवद्भावाद्भवित्यति । “ङ्यापोर्दीत्वं न स्थानिवत्” [वा०] इति प्रतिषेधः ।

कौ ॥५।२।१०१॥ कौ च परतः आप एत्वं भवति । हे कन्ये । हे बहुराजे । “केरेङ्” [४।३।५७] इति सोः खम् ।

प्रोऽम्बार्थम्बोः ॥५।२।१०२॥ अम्बार्थवाचकानां मुसञ्जस्य च प्रो भवति कौ परतः । अम्बार्थाः मातृशब्दपर्यायाः । हे अम्ब । हे अक्क । हे अल्ल । हे अत्त । मुसञ्जकस्य । हे गौरि । हे वामोर । “यङो वा” [५।२।६२] इत्यतः मण्डूकप्लुत्या बहुलार्थो वाशब्दोऽत्र वर्तते । तेन बहुचोऽम्बार्थस्य प्रो न भवति । हे अम्बाले । हे अम्बिके । हे अम्बाडे । “तलन्तस्य ङिक्योरुभयम्” [वा०] । देवते भक्तिः । देवतायां भक्तिः । हे देवत । हे देवते । छान्दसमेतदिति केचित् । “बसे कौ मातुरदन्तत्वं पुत्रश्लाघायाम्” [वा०] । गार्गी माता अस्येति श्लघते । हे गार्गीमात । श्लघाया अन्यत्र । हे गार्गीमातृक । “जातिश्च” [४।३।१५३] इति न पुंवद्भावः ।

प्रस्यैप् ॥५।२।१०३॥ प्रान्तस्य गौरैव भवति कौ परतः । हे मुने । हे साधो । “अन्तेऽल्लः” [१।१।४६] इति न्यायादनन्त्यस्य न भवति । हे युव (बुध) । हे नदि । हे वधु । इत्यत्र प्रादेशवचनसामर्थ्या देव् न भवति ।

जसि ॥५।२।१०४॥ जसि परतः प्रान्तस्य सोरैव भवति । मुनयः । साधवः । “अन्तेऽल्लः” [१।१।४६] इति परिभाषया अनन्तस्येको न भवति बुधा इति ।

ऋनो ङिधे ॥५।२।१०५॥ ऋकारान्तस्य गोः डौ धसञ्जके च परतः एव् भवति । मातरि । पितरि । कर्तरि । धे । मातरौ । मातरः । मातरम् । मातरौ । पितरः । तपरकरणमसन्देहार्थम् । कृरिति ऋकारान्तः सम्भवति तन्निवृत्त्यर्थम् ।

सोडिति ॥५।२।१०६॥ स्वन्तस्य गोडिति एव् भवति । मुनये । साधवे । मुनेः । साधोः । सोरिति किम् ? सङ्घे । पत्ये । असखीति पर्युदासात् “पतिः से” [१।२।६८] इति नियमाच्च सुसञ्ज्ञा नास्ति । डित्तीति किम् ? मुनिभ्याम् । सुपीत्येव । पट्वी । कुरुतः । डीतसोडिनोरपि मा भूत् । ङकारश्चासाविच्च ङित् तस्मिन् ङित्यव्यवहितस्य कार्यम् । तेन वृद्ध्यै धेन्वै । इत्येप् (न) व्यवधाने । आडि औडि च न भवति । मत्या । मती । इति ।

अणु मोः ॥५॥२॥१०७॥ भ्वन्ताद्भोः परस्य डितोऽडागमो भवति । मोरित्यकृतार्थः कानिर्देशो डित्तीत्यस्य तां प्रकल्पयति । कुमार्यै । वामोर्वै । कुमार्याः । वामोर्वाः । परेण सह “अटरच्च” [४३१७८] इत्यैव वचनात् “एप्यतोऽपदे” [४३१८४] इति पररूपं न भवति ।

याडापः ॥५॥२॥१०८॥ आबन्तादुत्तरस्य डितो याडागमो भवति । विद्यायै । बहुराजायै । विद्यायाः । “एच्यैप्” [४३१७६] “स्वेको दीः” [४३१८८] इति दीत्वं वा । इ्यात्र ग्रहणेन दीत्वं न स्थानिवदिति । अतिखट्वाय । पुनर्दीत्वे लाक्षणिकत्वम् ।

सर्वनाम्नः स्याट् प्रश्च ॥५॥२॥१०९॥ आबन्तात् सर्वनाम्नः परस्य डितः स्याडागमो भवति प्रश्च भवत्यापः । सर्वस्यै । यस्यै । तस्यै । कस्यै । सर्वस्याः । यस्याः । तस्याः । एच्यैप् स्वेको दीत्वे । आप इत्येव । भवत्यै । भवत्याः ।

डेराम् स्वाप्नीस्यः ॥५॥२॥११०॥ “प्रे लिप्सायाम्” [२३१४२] इति निर्देशात् डेरिति डिवचनस्य ग्रहणम् । डेरामादेशो भवति भ्वन्तादाबन्तान्नी इत्येतस्माच्च परस्य । कुमार्याम् । वामोर्वाम् । विद्यायाम् । बहुराजायाम् । ग्रामयाम् । सेनान्याम् । “सत्सुद्धिप” [२३१५६] इत्यादिना क्विप् । “अग्रग्रामाभ्यां नियो णत्वम्” [वा०] । “पूर्वावाक्चतुडोऽसुधियः” [४३१७८] इति यत्वम् । अथ डेरामः नुट्कस्मात् भवति । परत्वादडादिभिरागमैर्भवितव्यम् । कृतेष्वपि “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [प०] । इयापोर्दीत्वभाजोः कार्यमुक्तम्” (इथाप) “ग्रहणे दीत्वं न स्थानिवत्” इति च । तेन निष्कौशाभ्यौ । अतिखट्वं निधेहि ।

इदुद्ग्रयाम् ॥५॥२॥१११॥ इकारोकाराभ्यां मुसञ्जकाभ्यां परस्य डेराम् भवति । बुद्ग्रयाम् । धेन्वाम् । ननु पूर्वैणैवाम्सिद्धोऽपार्थकमिदम् । “औदच्च सोः” [५२११२] इत्यौत्वं स्यात् तच्चविशेषेण वदयति । मुग्रहणमिहानुवर्तते तेनेदुतौ विशेष्येते ।

औदच्च सोः ॥५॥२॥११२॥ अमुसञ्जकाभ्यामिदुद्ग्रयाम् परस्य डेरौकारादेशो भवति सोश्चाकारादेशः । सख्यौ । पत्यौ । सोः मुनौ । साधौ । प्रधानशिष्टमिदुद्ग्रयामौत्वम् । अन्वाचयशिष्टं सोर्त्वं । यथा भिन्नां चरगां चानय । गोनयनम् । शाल्नेऽपि “कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा” [२३१६] इति अन्वाचयशिष्टं सखम् । तपरकरणां मुग्रमुग्रार्थम् । अत्वे कृते स्त्रियां टापौ निवृत्त्यर्थमित्यप्यन्ये । टापि को दोष इति चेत्, औकारस्य डिग्रहणेन ग्रहणादामादेशयाडागमौ स्याताम् । तदसत् । प्रागेव सुबुत्पत्तेः स्त्रीत्येन भाव्यम् । अन्यथा मातेत्यत्र नान्तच्छणो डीव्विधिः स्यात् ।

आडो नाऽस्त्रियाम् ॥५॥२॥११३॥ सोरिति वर्तमानमर्थत्वात् काविभक्त्यन्तं सम्पद्यते । सोश्चत्तरस्याडः ना इत्यादेशो भवत्यस्त्रियाम् । मुनिना । साधुना । सोरित्येव । सख्या । पत्या । अस्त्रियामिति किम् ? बुद्ग्र्या । धेन्वा । आडो ना पुंसीति कर्तव्यम् । त्रपुणा । जानुनेत्यादि । “सुर्पाकोऽचि” [५११५२] इति नुमैव सिद्धम् । नपुंसके अमुना कुलेनेति न सिद्ध्येत् । मुभावस्यासिद्धत्वान्मुन्न स्यात् । अस्त्रियामित्युच्यमाने नपुंसकेऽपि नाभावो भवति । ततश्च “न सु टाविधौ” [५३१२६] इति नाभावे मुभावस्य नासिद्धत्वम् ।

सूत्रेऽस्मिन् सुव्विधिरिष्टः ॥५॥२॥११४॥ सूत्रेऽस्मिन् जैनैन्द्रेषु यो विधिः सुपि च विधिरिष्टो भवति । सूत्रावयवेषु सूत्रशब्दो द्रष्टव्यः । उदाहरणम्—“स्त्रीगोर्नीचः” [१११८] स्त्रीगूनामिति प्राप्तं सुव्विधिरयम् । “सिद्धैकार्थे वाः” [११४५४] । हल्ङ्यादिना सुव्वं प्राप्तम् । सुपो विधिरयम् । अथ विरिति हल्ङ्यात् कथं टापु । अयमपि सुपो विधिरिष्टः । आ कपः पकारेण सुपो ग्रहणात् ।

शौ कच्युडः प्रोऽशास्वकख्युदितः ॥५॥२॥११५॥ शौ परतः कच्यरे गोरुडः भवति शासु अक्विल ऋदित् इत्येतान् वर्जयित्वा । अचीकरत् । अजीहरत् । अत्र “शिश्निदुक्षु” [२३१४३] इत्यादिना कचि कृते द्विर्वचनोऽप्रादेशयोः प्राप्तयोः परत्वादुडः प्रादेशः । तत्र कृते “ओः पुयण्ज्ये” [५२११७] इति

ज्ञापकात् णौ कृतं स्थानिवद्भवति । अथ वा “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावः । कृद्शब्दयोर्द्वित्वम् । “घौ कच्यनङ्खे सन्वत्” [५२११६०] इति सन्वद्भावेनेत्वम् । “वेर्दीः” [५२११५१] इति दीत्वमेव-अलीलवत् । अपीपवत् । “ओः पुयश्च्ये” [५२११७८] इति उकारस्येत्वम् । अथवा ओणृ अपनयने इत्यस्य प्रतिषेधार्थम् । ऋदित्करणं ज्ञापकं द्वित्वात्पूर्वं प्रादेश इति । अन्यथा मा ओणिण्णदित्यत्र द्वित्वे कृते परेण रूपेण व्यवधानात् प्रादेशस्याप्राप्तिः । अत एव मा भवानटिटत् अत्र प्रादेशे सति “अचः” [४३१२] इति द्वित्वम् । णाविति किम् ? कच्युङः प्र इत्युच्यमाने अलीलवदित्यत्र प्रादेशो वचनसामर्थ्यादन्तरङ्गमैपमावादेशं बाधित्वा नित्यत्वेन षोः खं च बाधित्वा वकारस्य स्यात् । इह चापीपचदपीपटदिति अनुङ्भूतत्वात् प्रो न स्यात् । किम् ? कारयति । हारयति । ननु मितं णौ प्रादेशवचनं ज्ञापकमन्यत्र प्रादेशाभावस्य । यद्येवमचीकरदित्यादावपि न स्यात् । अथ प्रवचनाद् भवति । कारयतीत्यादावपि स्यात्तद्विशेषहेत्वभावात् । उङः इति किम् ? अचकाङ्क्षत् । अनुङ् आकारस्य मा भूत् । अशास्वकल्प्यदित् इति किम् ? अशशासत् । परस्य घेरभावान्न सन्वद्भावः । अकः खम् अकवम् अकवमस्यास्तीति अकवी तस्य नेति । राजानमत्याख्यत् अन्यरराजत् । “तत्करोति तदाचष्टे” इति णिच् । यत्र केवलस्याचः खं तत्र “परेऽचः पूर्वविधौ” [१११५७] इति स्थानिवद्भावः । हलचोश्चायमादेशः । तदर्थमकिवप्रतिषेधः । ननु च अनकोरिदं खं कथमनकः खम् । यदत्राकः खं तदाश्रयः प्रतिषेधः । स्थानिवद्भावस्तु नास्याश्रयः । ताधिकारस्तत्रानुवर्तते । तानिर्दिष्टस्याचः स्थानिवद्भावो न समुदायरूपेण टिप्पस्य । ऋदित् । अङ्गुदौकत् । अतुत्रौकत् । इह कथं एयन्ताणिचि प्रादेशः । वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदद्वीणां परिवारकेन । णौ णिण्वस्य स्थानिवद्भावादनङ्गो न स्यात् । णावित्यत्र जातिग्रहणाददोषः ।

भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडो वा ॥५२१११६॥ भ्राज भास भाष दीप जीव मील पीड इत्येतेषां कचपरे णौ उङः वा प्रो भवति । अवभ्राजत् । अविभ्रजत् । अवभासत् । अवीभमत् । अवभापत् । अवीभपत् । अदिदीपत् । अदीदिपत् । अजिजीवत् । अजीजिवत् । अमीमिलत् । अमिमिलत् । अपिपीडत् । अपीपिडत् । पूर्वसूत्रेण प्रादेशे प्राप्ते विकल्पः । यदा प्रः तदा पूर्ववत्सन्वद्भावेनेत्वं वेर्दीत्वम् । वेति योगविभागात् कणादीनां विकल्पः । अचकाणत् । अचीकणत् । अवभाणत् । अवीभणत् इत्यादि । भ्राजग्रहणं किम् ? यावता फणादिषु भ्राज इत्यनुकारेदस्ति तस्य सिद्धः प्रः । एज् भेज् भ्राज् दीप्तावस्य ऋदितो नेति सिद्धमुभयम् । एवं तर्हि ज्ञापकार्थम् । अन्यत्र “यजराजभ्राजच्छसां पः” [५२१५३] इत्यादौ भ्राजग्रहणेन गजिसहचरितस्य अनृदितो ग्रहणम् । ऋदितो भ्रागिति भवति । भास ऋदित्करणमनर्थकम्

खं पिबश्चस्येत् ॥५२१११७॥ पिबतेरुङः णौ कचपरे खं भवति चस्य च ईकारादेशः । अपीप्यत् । अपीप्यताम् । अपीप्यन् । उङः खे कृते “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावाद्द्वित्वम् । पिब इति शब्दिकरणान्तो विकृतनिर्देशः । पिबतेरेकदेशो यङ्बन्तनिवृत्त्यर्थः । अपपायत् । घेरभावात्सन्वद्भावो न भवति । पातेरुक्चिकरणत्वात् “पै श्रावै शोपणे” इत्यस्य च लक्षणिकत्वादेव निवृत्तिः ।

स्थ इत् ॥५२१११८॥ तिष्ठतेः कचपरे णाबुङ् इकारादेशो भवति । अतिष्ठिपत् । अतिष्ठिपताम् । अतिष्ठिपन् । “लुङ्खिल्योः प्रतिपदोक्तानि” इत्यादि वचनाद्यङ्बन्तस्य न भवति । अततास्थपत् । ता स्था इति स्थिते णिचि पुक् कचि द्वित्वं घेरभावात् सन्वद्भावो नास्ति ।

घ्रो वा ॥५२१११९॥ जिघ्रतेः कचपरे णाबुङ् इकारादेशो भवति वा । अजिघ्रिपत् । अजिघ्रिपताम् । अजिघ्रिपन् । अजिघ्रपत् । अजिघ्रपताम् । अजिघ्रपन् । चस्य सन्वद्भावेनेत्वम् । अत्रापि यङ्बन्तस्य न भवति । अजजाघ्रपत् । उभयोर्विकल्पयोर्मध्ये योगा नित्या इति पूर्वो प्रापवादौ नित्यौ ।

उर्ध्वत् ॥५१२१२०॥ कच्यरे णौ ऋवर्णस्य उडः स्थाने ऋकारादेशो भवति वा । अनवकाशत्वादन्तरङ्गाणाम् इररारामपवादः । अचीकृतत् । अवीवृतत् । अमीमृजत् । पत्ने इ । अचकीर्तत् । अर् अववर्तत् । आर । अममार्जत् । “उडः” [५११७५] इति ऋकारस्येत्वम् । “द्युडः” [५१२८३] एप् । “मृजेरैप्” [५१२११] । ऋकागदेशस्य “रन्तोऽणुः” [१११४८] इति रन्तत्वं भवति । “अखुदिस्त्वस्या-” [१११७२] इतीमं ग्राहकाणां मुक्त्वा सर्वमण्ग्रहणं पूर्वेण एकारेणेति व्याख्यानात् ।

देडो दिगि लिटि ॥५१२१२२॥ देडो दिग्यादेशो भवति लिटि परतः । वेति निवृत्तम् । अर्वादिग्ये । अर्वादिग्याते । अर्वादिग्यिरे । चस्येत्यनुवर्तते । वचनाद्द्वित्वे कृते चस्य देडश्च यथासङ्ख्यं दिगी आदेशौ भवतः । “मेगिंवाक्चातुडोऽनुधिषः” [४१४७८] इति यणादेशः सिद्धोऽन्यथा हीयादेशः स्यात् ।

ऋतः स्फादेरेप् ॥५१२१२२॥ ऋकारान्तस्य गोः स्फादेरेप् भवति लिटि परतः । सस्मरतुः । सस्मरुः । दधरतुः । दधरुः । वचनात्प्राग्द्वित्वात्स्फादेरिति विशेषणम् । अन्यथा स्फादित्वासम्भवः । प्रतिषेधविषये लिटीदमारभ्यते । सस्मारेस्यादौ ऐच् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन । ऋत इति किम् ? चिन्धिपतुः । चिन्धिपुः । तपरकरणमसन्देहार्थम् । ऋकारास्याप्युत्तरसूत्रेण विधानात् । स्फादेरिति किम् ? चक्रतुः । चक्रुः । लिटीत्येव । स्मृतः । स्मृतवान् । ननु संचस्करतुः । संचस्करित्यत्र द्विपदाश्रयस्य सुटो वहिरङ्गलक्षणास्यासिद्धत्वात्कथमेप् । नैप दोषः । “पूर्वं धुगिना युज्यते पश्चात्साधनवाचिना त्येन” [५०] इत्यस्मिन् दर्शनेऽन्तरङ्गे मुटि कृते पश्चादेप् । अतएव “स्फादतोऽसुटः” [५११६१] । “स्फाद्यव्योरस्कुरेप्” [५१२१३८] इति प्रतिषेध उपपन्नो भवति ।

ऋच्छन्त्यनाम् ॥५१२१२३॥ ऋच्छत ऋइत्येतस्य ऋकारान्तानां च लिटि एच् भवति । आनच्छत् । आनच्छुः । एप् द्वित्वम् । “आद्यतः” [५१२१७०] इति दीत्वम् । “ततो नुट्” [५१२१७१] इति नुट् । ऋ । आगतुः । आरुः । “अरनोतेः” [५१२१७२] इति नियमान्तुण् न भवति । ऋत् । विचकरतु विचकरुः । निजगरतुः । निजगरुः । वितस्तरतुः । वितस्तरुः । ऋच्छेरन्तरङ्गत्वात् “छे” [४१३१६१] इति तुकि कृते सर्वभाषाप्रामः ऋतां तु लिटि ऋिति प्रतिषिद्ध एन्विधीयते । निजगारेत्यादावैप् पूर्वनिर्णयेन ।

शृहप्रां प्रो वा ॥५१२१२४॥ शृ ह ष्ट इत्येषां लिटि वा प्रो भवति । विशश्रतुः । विशश्रुः । पत्ने पूर्वेणैप् । विशशरतुः । विशशरुः । विदद्रतुः । विदद्रुः । विददरतुः । विददरुः । निपप्रतुः । निपप्रुः । निपपरतुः । निपपरुः । प्रादेशवचनादित्योत्वे न भवतः । ये तु आ पाके, द्रा कुत्सायां गतौ, द्रा पूरणे इत्येतेषामनेकार्थत्वात् पत्ने प्रयोगादनर्थकमिदमिति मन्यन्ते तेषां प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् ।

केऽणः ॥५१२१२५॥ के परतोऽणः प्रो भवति । नटिका । कुमारीका । वामोरुका । कुत्साद्यर्थविवक्षायां “एवाक्कः” [४१११२६] इति कः । “स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसङ्घे अनुवर्तन्ते” [५०] इति टाप् । क इति साच्चनिर्देशात्प्रग्रहणम् । वर्णग्रहणे तदादिविधिः स्यात् । ततश्च नदीकल्पः परीवाहः । कुमारी काम्यतीत्यत्रापि स्यात् । अण इति किम् ? गौका । नौका । पूर्वेण एकारेणाण् व्याख्यातः । राका काक इत्यादिषु “उखादयो बहुलम्” [२१२१६७] इति न भवति “कृदाधारार्थिकलिभ्यः कः” [३० सू०] “इष्भीकापाशल्णतिमर्चिभ्यः कः” [३० सू०] इति कायतेः कः । “न कपि” [५१२११६] इति प्रतिषेधादिहाननुबन्धकपरिभाषा नाश्रीयते । तेन निपाहकर्षां जात, “ओर्देशे ठञ्” [३१२१६५] तदादेशे के सानुबन्धकेऽपि प्रादेशः सिद्धो भवति । नैपाहकर्षुकः इति ।

न कपि ॥५१२१२६॥ कपि परतोऽणः प्रो न भवति । बहुकुमारीकः । बहुवामोरुकः । “ऋन्मोः” [४१२१५३] इति कप् सान्तः । खार्यां क्रीतं खारीकम् । काकणीकम् । “खारीकाकणीभ्यां कप्” [३१४३०] ।

वाऽऽपः ॥५१२१२७॥ कपि परतः आवन्तस्य वा प्रो भवति । बहुखट्वकः । बहुखट्वाकः । बहुदामकः । बहुदामाकः । “शेषाद्वा” [४१२१५४] इति कप् ।

श्व्यस्पद्धचोऽयुक् पुमुमोऽङि ॥५१२१२८॥ शिव असि पति वचि इत्येवामङि परतः अकार थुक् पुम् उम् इत्येते यथासङ्ख्ये भवन्ति । अकार आदेशः थुगादय आगमाः । अश्वत् । “जृशिव” [२११५०] इत्यादिनाङ् । “अन्तेऽङ्” [१११४६] स्थाने अकारस्तस्य पररूपम् । आस्थत् । आस्थताम् । आस्थन् । “वक्त्यसुख्यातेरङ्” [२११४५] । “अटश्च” [४३१७८] इत्यैप् । अपसत् । अपसताम् । अपसन् । “युत्युषा” [२११४८] आदिनाऽङ् । अवोचत् । अवोचताम् । अवोचन् । “आदेप्” [४३१७५] ।

दृशुरेप् ॥५१२१२९॥ दृशि इत्येतस्य गोः ऋवर्णान्तानां च अङि परतः एब् भवति । अदर्शत् । अदर्शताम् । अदर्शन् । “वेरितः” [२११४६] इत्युङ् । आरत् । असरत् । “द्युत्युषा” [२११४८] आदिना अङ् । अजरत् । अजरताम् । अजरन् । “जृशिव” [२११५०] इत्यादिनाङ् । जृषः पित्करणमङ्गर्थम् । “जराया वा” [५११९६०] इति वचनं ज्ञापकमुरिति ऋवर्णनिर्देशस्य ।

शीडो गे ॥५१२१३०॥ शीडो गे परतः एब् भवति । शेते । शयाते । शेरते । डिति गे विधानमिदम् । शयावहै । शयामहै इत्यत्र सिद्धत्वात् । ग इति किम् ? शिश्ये । सानुबन्धकनिर्देशो यद्बुवन्तनिवृत्त्यर्थः । शेशीतः । शेश्यति ।

यि किङ्त्त्ययङ् ॥५१२१३१॥ यकारादौ किङ्ति त्वे परतः शीङः अयङ्ङदेशो भवति । शय्यते । शाशय्यते । यङि परत्वेन च द्वित्वान्प्रागयङादेशः । ङकारो “ङित्” [१११५०] इत्यन्तादेशार्थः । अकारः उच्चारणार्थः । शय्या । “समजनिषद्” [२१३८१] इत्यादिना क्यप् । प्रशय्य । क्त्यान्तम् । यीति किम् ? शिश्ये । किङ्तीति किम् ? शोयम् ।

गेरूहः प्रः ॥५१२१३२॥ गेः परस्य ऊहतेः प्रो भवति यकारादौ किङ्ति परतः । अभ्युह्यते । समुह्यते । “अचश्च” [११११२] इत्युपपस्थानादूहेर्चः प्रादेशः । गेरिति किम् ? ऊह्यते । ऊह इति किम् ? समीह्यते । यीत्येव । समूहितम् । किङ्त्येव । अभ्यूह्यः श्लोकः । “केऽणः” [५१२१२५] इत्यतोऽणग्रहणमनुवर्तते । तेन आ ऊह्यते ओह्यते । समोह्यते इत्यत्र न भवति । प्रोह्यत इत्येकादेशे कृते व्यपवर्गाभावान्न भवति । तद्बद्धावेन व्यपवर्ग इति चेत् “उभयत आश्रये न तद्बद्धावः” [५०] इति गेः परत्वं नास्ति ।

लिघडेतेः ॥५१२१३३॥ एतेर्गोऽन्तरस्य लिङि यकारादौ किङ्ति प्रो भवति । उदियात् । र्मियात् । आशिपि लिङ् । यासुट् । “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [५१३४६] इति सखम् । “दीरकृद्गे” [५१२१३४] इति दीत्वम् । तस्यानेन प्रः । कृति गे च दीत्वं न सम्भवति । न गे उदाहरणम् । अभियादित्यत्र स्वेको दीत्वे कृते प्रादेशः । गेरित्येव । ईयात् । अण इत्येव । आ ईयात् एयात् । समेयात् । तिपा निर्देशो असन्देहार्थः ।

दीरकृद्गे ॥५१२१३४॥ अकृद्यकारे अगयकारे च किङ्ति गोर्दीर्भवति । “अचश्च” [११११२] इत्युपस्थानादचा विशेषणेन तदन्तविधिः । परिडतायते । चीयते । चेचीयते । स्तूयते । तोस्तूयते । चीयात् । स्तूयात् । आशिपि लिङ् । अकृदिति किम् ? प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । परत्वादीत्वे तुग्न स्यात् । अग इति किम् ? चिनुयात् । स्तुयात् ।

च्वौ ॥५१२१३५॥ च्वौ च त्वे परतः गोर्दीर्भवति । शुचीभवति । पट्टभवति । “कृभ्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वे सम्पत्तरि च्विः” [४१२५५] इति च्विः । अवयवनिवृत्तिः । “त्यख्ये त्याश्रयम्” [१११६३] इत्यजन्तस्य दीत्वम् ।

रीङ्गतः ॥५१२१३६॥ ऋकारान्तस्य गोः च्वौ अकृद्यकारे अगयकारे च परतः रीङादेशो भवति । मात्रीभवति । पित्रीभवति । मात्रीयति । पित्रीयति । “स्वेपः क्यच्” [२११६] । मात्रीयते । पित्रीयते । “क्तुः क्यङ् सखं विभाषा” [२११६] इति क्यङ् । चेकीयते । जेहीयते । किङ्तीत्येतदिह निवृत्तम् । तैन पित्र्यम् । पितुरागतम् “पितुर्यश्च” [३१३५३] ये रीङादेशः सन्निपातलक्षणस्यानित्यत्वात् “यस्य ङ्यां च” [४१४१३६]

इति खम् । उत्तरसूत्रे रिडिहैव कर्त्तव्यः । तस्य दीत्वेन सिद्धमिति चेत् ; “गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [प०] इति दीत्वं न स्यात् । ऋत इति तपरकरणं किम् ? कीर्यते । अन्यथा कीर्णमित्यादौ सावकाशम् ऋत इत्वं रीडा बाध्यते । उत्तरार्थमकृद्गो यि इत्येतदनुवर्तत इति ज्ञापनार्थं तपरकरणम् । अन्यथा अनन्तरे च्वावेवायं विधिः स्यात् । न च मृदन्त ऋकारो निवर्त्योऽस्तीत्यनर्थकं भवेत् ।

रिड्यग्लिङ्शो ॥५१२।१३७॥ ऋकारान्तस्य गोर्यक् लिङ् श इत्येतेषु परतः रिडादेशो भवति । यीति अकृद् इति चानुवर्तमानं सम्भवाद्ब्यभिचाराच्च लिङ एव विशेषणम् । यकारादावगो द्रष्टव्यम् । यक्-क्रियते । हियते । लिट्-क्रियात् । हियात् । यीत्येव । कृपीष्ट । हृपीष्ट । अग इत्येव । विभ्रयात् । विध्यादिलिङ्यम् । शो-आद्रियते । “शुशुभ्रुवाम्” [४।४।७२] इति यादेशः । ऋत इति तपरकरणं किम् ? किरिति । गिरिति । रीडिति वर्तमाने रिङ्ग्रहणं पुनर्दीत्वनिवृत्त्यर्थम् ।

स्फाद्यर्त्योरस्कुरेप् ॥५१२।१३८॥ स्फादेरर्तेश्च ऋतो यकि लिङि यकारादावगो च परतः एभभवति स्कृशब्दं वर्जयित्वा । श इत्यसम्भवान्नोक्तम् । स्मर्यते । स्मर्यात् । ध्वर्यते । ध्वर्यात् । अर्यते । अर्यात् । यासुटः “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [५।३।१६६] इति सत्वम् । यीत्येव । स्मृपीष्ट । अग इत्येव । इय्यात् । विध्यादिलिङ् । शप उप् । द्वित्वम् । “उरः” [५।२।१६६] इत्यत्वम् । “प्रोः” [५।२।१७६] इति चस्येत्वम् । “चस्यास्त्वे” [४।४।७३] इतीय् । अस्कुरिति किम् ? संस्क्रियते । “पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात् साधनवाचिना ल्येन” [प०] इति पूर्वं मुटि मति प्राप्नोति । अतिरिति ऋच्छतीयत्योर्ग्रहणम् ।

यङि ॥५१२।१३९॥ यङि च परतः स्फादेरर्तेश्च ऋत एव भवति । सास्मर्यते । दाध्वर्यते । अरार्यते । अर्तेश्च एप् । “अचः” [४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । “हलोऽनादेः” [५।२।१६१] इति यखम् । “दीरकृद् गो” [५।२।१३४] इति दीत्वम् । “हन्तेर्हिंसायां घ्नाभावो वक्तव्यः” [वा०] । जेघ्नीयते । हिंसायामिति किम् ? गतौ जङ्गन्त्ये ।

ई घ्राध्मोः ॥५१२।१४०॥ घ्रा ध्मा इत्येतयोर्यङि परतः ईकारादेशो भवति । जेघ्नीयते । देघ्नीयते । नित्यत्वेन परत्वेन च प्राग् द्वित्वादीकारः । ईकारस्य दीत्वं किम् ? गुकार्यत्वात्पुनर्न स्यात् । उत्तरार्थञ्च ।

अस्य च्वौ ॥५१२।१४१॥ अवर्णान्तस्य गोः च्वौ परत ईकारादेशो भवति । शुक्लीभवति । मालीभवति । “च्वौ” [५।२।१३५] इति दीत्वस्यायमपवादः ।

क्यचि ॥५१२।१४२॥ क्यचि परतः अवर्णान्तस्य गोरीकारादेशो भवति । पटीयति । मालीयति । “दीरकृद्गो” [५।२।१३४] इति दीत्वं प्राप्तम् । पृथक् सूत्रमुत्तरार्थम् ।

लुत्तृङ्गर्धेशनायोदन्यधनायाः ॥५१२।१४३॥ लुत् तृङ् गर्ध इत्येतैर्घर्षेषु अशनाय उदन्य धनाय इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । अशनायतीत्यात्वं क्यचि निपात्यते लुच्चेद्भव्यते । अशनीयत्यन्यत्र । उदन्यतोत्यत्र उदकस्योदभावो निपात्यते तृट् चेत् । उदकीयतीत्यन्यत्र । धनायतीत्यात्वं निपात्यते गर्डश्चेत् । धनीयतीत्यन्यत्र ।

द्यतिस्थितिमास्थां ति कितीत् ॥५१२।१४४॥ द्यति स्थिति मा स्था इत्येतेषां तकारादौ किति परत इकारादेशो भवति । निर्दितः । निर्दितवान् । अवसितः । अवसितवान् । मितः । मितवान् । “गामादाग्रहणे-ष्वविशेषः” [प०] इति मामाङ्मेङां ग्रहणम् । स्थितः । स्थितवान् । आद्यस्य “दो दङ्गोः” [५।२।१४८] इति दङ्गावे “भुसास्था” [४।४।६५] आदिना सूत्रेणान्येषामीत्वे च प्राप्ते इत्ववचनम् । तीति किम् ? दीयते । स्थीयते । कितीति किम् ? अवदाता । अवसाता । द्यतिस्थित्योस्तिपा निर्देशो यदुन्नन्तनिवृत्त्यर्थः । निर्दादत्तः । निर्दादत्तवान् । अवसासीतः । अवसासीतवान् । दङ्गाव ईत्वं च भवति । तपरकरणं सुखार्थम् ।

शाच्छोर्विभाषा ॥५१२।१४५॥ शा छा इत्येतयोर्विभाषया इकारादेशो भवति तकारादौ किति परतः । निशितः । निशितवान् । निशातः । निशातवान् । अपच्छितः । अपच्छितवान् । अवच्छातः । अपच्छातवान् ।

व्यवस्थितविभाषयम् । तेन श्यतेरित्त्वं व्रतविषये नित्यमिष्यते । संशितव्रतः साधुः । संशितं यत्नेन सम्यक्सम्पादितं व्रतं यस्य येन वा स एवमुक्तः । संशितः साधुरित्यपि भवति । यः प्रकरणादिना व्रते यत्नवान् गम्यते ।

धाञो हि ॥१२।१४६॥ धाञः हिरित्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । हितः । हितवान् । अनेकाल्त्वात् सर्वस्य स्थाने “भुमास्था” [४।४।६५] आदिनेत्वे प्राप्ते हिरादेशः । अनुबन्धनिर्देशो यद्बुबन्त-निवृत्त्यर्थः । देधीतः । देधीतवान् । धेटो लाक्षणिकत्वान्निवृत्तिः ।

हाकः कित्त्व ॥१२।१४७॥ हाकः क्त्वात्वे परतः हिरादेशो भवति । हित्वा गतः । हित्वा गच्छति कर्माणि । मोक्षम् । पूर्ववदीत्वे प्राप्ते हिरादेशः । अनुबन्धनिर्देशस्तु हाङो निवृत्त्यर्थः । यद्बुबन्तनिवृत्त्यर्थश्च । ईत्वमपि यद्बुबन्तस्य नेष्यते । क्लीति सौत्रो निर्देशः ।

दो दन्तोः ॥१२।१४८॥ दा इत्येतस्य भुसञ्जकस्य दद् इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । दत्तः । दत्तवान् । दत्त्वा । दत्तिः । द इति किम् ? धीतः । धीतवान् । धेट इदं रूपम् । धाञो हिरादेश उक्तः । भोरिति किम् ? दातम् बर्हिः । ते आदेशो मुदत्तमित्यत्र “दस्ति” [४।३।२२५] इत्यनेन इगन्तस्य गेदीत्वं स्यात् । दान्तो “दान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इति नत्वम् । धान्ते “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] इति ऋषः परस्य धत्वम् । थान्ते नास्ति दोषः । तान्तो वास्तु । “दस्ति” [४।३।२२५] इत्यत्र द्वौ पक्षौ । दा इत्येतस्मिन्तकारादौ तकारान्ते वा दीत्वम् । तत्र तकारादौ नास्ति दोषः । थान्तपक्षे “खरि” [५।४।१३०] इति चत्वम् ।

गेस्तोऽचः ॥१२।१४९॥ अजन्ताद्गोरुत्तरस्य दा इत्येतस्य भुसञ्जकस्य त इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । नीत्तम् । वीत्तम् । परीत्तम् । प्रत्तम् । अवत्तम् । “अन्तेऽञ्जः” [१।१।४६] इत्याकारस्य तकारः । अकार उच्चारणः । दकारस्य चत्वम् । गेरिति कानिर्देशात् “परस्यादेः” [१।१।५१] इति चेददोषोऽयम् । “अस्य च्चौ” [५।२।१४१] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या अवर्यास्येति वर्तते । तेनाकारस्य भविष्यति । द्वितकारको वा निर्देशोऽनेकाल्त्वात् सर्वस्य स्थाने भवति । गेरिति किम् ? दधि दत्तम् । अच इति किम् ? संदत्तम् । द इत्येव । निधीता गौर्वत्सेन । भोरित्येव । अचदत्तं मुक्त्वा । अतेरित्वात्तो भवति परत्वात् । अवत्तः । अवत्तवान् । ननु च—

अवदत्तं विदत्तञ्च प्रदत्तं चादिकर्मणि ।

सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेप्यते ॥

तत्कथं सिद्ध्यति । अत्रादीनां गम्यमानक्रियान्तरविषयत्वेन ददाति प्रत्यगित्वात् सिद्धम् । “यक्रिया-युक्तस्तं प्रति गीतिसञ्ज्ञको भवति” इति वचनात् । अवहीनमवगतं वा दत्तमवदत्तमिति क्रियान्तरविषयत्वं योज्यम् । अथ वा “शाच्छोर्विभाषा” [५।२।१४५] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेः ।

भ्यपः ॥१२।१५०॥ भकारादौ परतः अप् इत्यस्य गोः तकारादेशो भवति । अन्धिः । अद्भ्यः । भीति किम् ? अम्बु । द्वितकारकनिर्देशपक्षे तु पूर्वस्यापि तकारस्य जश्त्वम् । अनेकाल्त्वात् सर्वादेश इति चेन्न । अच इति वर्तते । अचः परस्य भवति । गोरिति विशेषणात्प्ये भादौ सम्प्रत्ययः । तेन पदे न भवति । अम्भारः । अम्भक्षः ।

स्यगे सः ॥१२।१५१॥ सकारादावगे परतः सकारान्तस्य गोस्त इत्ययमादेशो भवति । वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवत्सति । “अन्तेऽञ्जः” [१।१।४६] इति वा । “निर्दिश्यमानस्यादेशा” [५०] इति वा सकारस्य तत्वम् । द्वितकारकपक्षे अच इति काविभक्त्यन्तमनुवर्त्यम् ? सीति किम् ? प्रवासः । अगे इति

किम् ? आस्से । वस्से । स इति किम् ? पद्यति । अशिष्यत इत्यत्र इटः सकारं प्रति भक्त त्वेऽपि सीति वचनान्न भवति । द्विसकारको वास्सीति निर्देशः ।

तासस्त्योः खम् ॥५१२।१५२॥ तासेः अस्तेश्च सकारस्य सकारादौ खं भवति । कर्तासि । कर्तासे । अस्तेः-असि । अग इति निवृत्तमसम्भवात् । तासिर्गे विहितः । अस्तेरप्यगो भूभावेन भवितव्यमिति । व्यतिषे इत्यत्र परत्वात्सखमेकदेशविकृतस्यानन्यात् “श्नसः खम्” [५१४।१०१] इत्यखम् । त्यमात्रमेव पदम् । पत्वं प्राप्तम् “नाद्यन्ते” [५१४।७६] इति प्रतिपिद्धम् । “गिप्रादुभ्यां यच्चस्तेः” [५१४।६८] इति । तत्र पदस्येति वर्तते । गिपूर्वस्यास्तेः पदस्य यकाराच्चपरस्य इति पत्वम् ।

रि ॥५१२।१५३॥ रेफादौ त्ये परतः तासस्त्योः सखं भवति । कर्तारौ । कर्तारः । अस्ते रेफादिर्नास्ति ।

एति हः ॥५१२।१५४॥ एकारे परतः तासस्त्योः सकारस्य हकारादेशो भवति । कर्ताहे । लविताहे । अस्तेः । व्यतिहे । तपरत्वमसन्देहार्थम् “इटि ह” इति सूत्रे व्यत्यासीति न स्यात् ।

स्सनि मीमाभुरभलभशकपतपदोऽच इस् ॥५१२।१५५॥ सनि सकारादौ परतः मी मा भु रभ लभ शक पत पद इत्येतेषामचः स्थाने इस् भवति । मी इति मीनातिमिनोत्योर्ग्रहणम् । “हनिङ्गम्यचां सनि” [५१४।१४] इति दीत्वे कृते विशेषाभावात् । मिनाति । प्रमित्सति । मा इति “गामादाग्रहणेऽप्यविशेषः” [५०] इति प्रतिपदोक्तपरिभाषा नापेक्षिता । मित्सति । मेड् । अपमित्सते । माङ्-मित्सते । भु-दित्सति । धित्सति । आरिप्सते । आलिप्सते । शिञ्चति । पित्सति । प्रपित्सते । अनेकाल्वात्सर्वादेशो मा भूदच इस् विधीयते । द्वित्वम् । “चस्यात्र खम्” [५१२।१६०] इति चखम् । “स्यो सः” [५१२।१५१] इति सकारस्य तत्त्वम् । रभादिषु “स्फादेः स्कोन्ते च” [५१३।४६] इति इसः सखम् । सकारादाविति किम् ? पिपतिषति । “तनिपतिदरिद्रां वेद्” [वा०] । सनीति किम् ? दास्यति । सीत्येतद्व्यवहितम् । सनीति द्विसकारको निर्देशः ।

राधोः वधे ॥५१२।१५६॥ राधेः वधेऽर्थे वर्तमानस्य अच इस् भवति सनि सकारादौ । प्रतिरित्सति श्वानम् । वध इति किम् ? आरिरात्सति ।

आपूञ्जप्यधामीत् ॥५१२।१५७॥ आपूञ्जपि ऋध इत्येतेषामच ईकारादेशो भवति सनि सकारादौ । ईप्सति । जीप्सति । ईर्त्सति । ज्ञपेः पूर्वनिर्णयेन णिष्वे आद्यच ईत्वम् । सकारादावित्येव । जिज्ञपयिषति । अर्दिधिप्रति । “सनीवन्त” [५११।६७] इतीट्त्विकल्पः ।

दम्भ इच्च ॥५१२।१५८॥ दम्भेर्च इकारादेशो भवति ईच्च सनि सकारादौ । धिप्सति । धीप्सति । दम्भेरनिट्पक्षे इकारादेशे कृते “हलन्तात्” [१११।८४] इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवचनत्वात् सनः कित्त्वे “हलुङ्कः विहृत्यनिद्रितः” [५१४।२३] इति नग्वं भग्भावः । सकारादावित्येव । दिदम्भिपति ।

वा मुचो धेरेप् ॥५१२।१५९॥ मुचेर्धिसञ्ज्ञकस्य वा एप् भवति सनि सकारादौ । मोक्षते वत्सः स्वयमेव । मुमुक्षते वत्सः स्वयमेव । आत्मनो मोक्षुमिच्छतीति सन् । वत्सो हि मोक्षुमिष्यमाणो मुक्तिक्रियां प्रत्यानुकूल्यं यदा प्रतिपद्यते तदा मुमुक्षत्वात् कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितमिति शास्त्रकर्माभावात्सुचिरकर्मकः । इक एप् चस्य खम् । अच इत्येतन्निवृत्तम् । अन्यथा “चस्यात्र खम्” [५१२।१६०] इत्यत्र चस्याचः खं स्यात् । धेरिति किम् ? मुमुक्षति कर्माणि मुनिः ।

चस्यात्र खम् ॥५१२।१६०॥ यदेतदनुक्रान्तं सनि सकारादौ मुचेरेपर्यन्तम् एतस्मिन् चस्य खं भवति । तथा चैवोदाहृतम् । यच्चेत ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आपादपरिसमाप्तेश्चस्येतद्वेदितव्यम् । ननु सनि सकारादावित्यधिकारेणाभिसम्बन्धात् सिद्धम् अत्रग्रहणं किम् ? सर्वस्य चस्य खं यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

हलोऽनादेः ॥५।२।१६१॥ अनादेर्हलः खं भवति चस्य । हुटौके । तुत्रौके । पपाच । आटतुः । आट । अनादेर्हलः अच उत्तरस्य चखम् ।

शरः खयि ॥५।२।१६२॥ शरः खं भवति खयि परतश्चस्य । चुश्च्योतिषति । तिष्ठासति । पिस्पदिपते । शर इति किम् ? पपाच । एकारो पकारेऽकारस्य मा भूत् । खयीति किम् ? ससौ । उचिच्छिषति । उच्छेरन्तरङ्गत्वात्तुकि चुत्वे च कृते चुत्वस्यासिद्धत्वात् सतकारस्य छत्स्य द्वित्वे उचिच्छिषतीति प्राप्तम् । “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वक्ष्यत्यतो द्वित्वे चुत्वं सिद्धम् ।

प्रः ॥५।२।१६३॥ प्रो भवति चस्य । पिपासति । निनीषति । हुटौके । हुटौकिपते । “अचश्च” [१।१।१२] इत्यचः प्रादेशः ।

कुहोश्चुः ॥५।२।१६४॥ चस्य कवर्गहकारयोः चवर्ग आदेशो भवति । चिकीर्षति । चग्नान । जगाम । जिघत्सति । जुहुवे । जहास । जहार । नादवतो महाप्राणस्य हस्य चुत्वे तादृश एव भकारः । जश्वं जकारः ।

वा कोर्यङि ॥५।२।१६५॥ कोश्चस्य यङि वा चुर्भवति । कोरिति यस्य कस्यचिच्छब्दक्रियस्य ग्रहणो रूपद्वयं सिद्धयति । उष्ट्रश्चोकूयते । उष्ट्रः कोकूयते । यङीति किम् ? चुकुवे ।

उरः ॥५।२।१६६॥ ऋवर्णान्तस्य चस्य अकारादेशो भवति । ववृते । ववृधे । चक्रे । जहे । अथ नर्नर्यादौ परत्वाद्ग्रादिषु कृतेषु ऋकारान्तत्वाभावाच्चस्यात्वं न प्राप्नोति । नैवं शङ्क्यम्, “चविकारे ष्वपवादा प्र उत्सर्गान्न बाधन्ते” [५०] इति उरत्वे कृते रगादयः ।

द्युतिस्वाप्योर्जिः ॥५।२।१६७॥ द्युति स्वापीत्येतयोश्चस्य जिर्भवति । दिद्युते । अदिद्युतत् । देद्युयते । दिद्योतिपसे । सनि “व्युडोऽवो हलः संश्च” [१।१।१७] इति विकल्पेन कित्त्वम् । यदा नास्ति तदा “व्युङ्ङः” [५।२।८३] इत्येप् । स्वापि-सुष्वापयिषति । सुष्वापयिषतः । सुष्वापयिषन्ति । स्वापेऽर्प्यन्तस्य ग्रहणं किम् ? हेतुमति ष्यन्तस्यैव यथा स्यादिह मा भूत् । स्वापं करोतीति णिच् । स्वापयितु-मिच्छति । सिष्वापयिषति ।

व्यथो लिटि ॥५।२।१६८॥ व्यथः लिटि परतश्चस्य जिर्भवति । विव्यथे । विव्यथाते । विव्यथिरे । ननु वकारस्यापि प्राप्नोति । अनादेरित्यनुवर्तनान्न भवति ।

कितीणो दीः ॥५।२।१६९॥ लिटि किति परतः इणश्चस्य दीर्भवति । ईयतुः । ईयुः । परत्वात् “यथेत्योः” [४।४।७७] इति यणादेशः । तस्य “द्वित्वेऽचि” [१।१।५६] इति स्थानिवद्भावादिकारस्य द्वित्वम् । द्वित्वे एव स्थानिवद्भावो न तु स्वेऽको दीत्वे । कितीति किम् ? इयाय । इययिथ । ऐवेपोः । कृतयोः स्थानिवद्भावाद्वित्वम् । “चस्यास्वे” [४।४।७३] इति यादेशः ।

आद्यतः ॥५।२।१७०॥ आदेरतश्चस्य दीर्भवति लिटि परतः । लिटीति वर्तते । कितीति निवृत्तम् । आटतुः । आटुः । आटिथ । “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपत्वे प्राप्ते चस्य दीत्वम् । आदेरिति किम् ? दददे । दददाते । चान्तस्य न भवति । अत इति किम् ? इयेष । उवोप । तपरकरणं किम् ? य उपदेश आकार-स्तस्य प्रादेशो कृते अनेन दीत्वं मा भूत् । “आङ्घ्रि आयामे” [धा०] आच्छ्रुतुः । आच्छ्रुरिति । यद्यनेन दीत्वं स्यात् “ततो नुट्” [५।२।१७१] इति नुट् प्रसज्येत ।

ततो नुट् ॥५।२।१७१॥ तस्मात् कृतदीत्वान्नुडागमो भवति । आनङ्ग । आनङ्गतुः । आनङ्गः । आनञ्ज ! आनञ्जतुः । आनञ्जुः । नुगिति पूर्वान्तः कर्तव्यः । चस्येति वर्तते । चस्य कृतदीत्वस्य भविष्यति । एवं लघुना निर्देशेन सिद्धे परादिवचनं ज्ञापकम् “अस्मिन्प्रकरणे पूर्वान्तः आगमः स्वनिमित्तमन्तरेणषि क्रियते” तेनात्मलादावप्यनुस्वारः । यंयम्यते । रंरम्यते ।

अश्नोतेः ॥५१२१७२॥ अश्नोतेश्च कृतदीत्वान्नुङ् भवति । व्यानशो । व्यानशाते । व्यानशिरे । नियमार्थोऽयमारम्भः । अश्नोतेरेवाकारोऽङ् नुङ् भवति नान्यस्य । आटुः । आटुः । तुल्यजातीयस्य नियमादिह भवत्येव । आनृचतुः । आनृचुः । अश्नोतेरिति विकरणनिर्देशादर्शनातेर्न भवति । आशतुः । आशुः ।

भवतेरः ॥५१२१७३॥ भवतेश्चस्य अकारादेशो भवति लिटि परतः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः । व्यतिबभूवे । “लुङ् लिटोर्बुक् [४१४८१] इति वुगागमः । लिटीत्येव । बुभूषति । बोभूयते । तिपा निर्देशो यङ्प्रत्ययवृत्त्यर्थः । बोभवाञ्चकर । नैतदस्ति “कास्यनेकाक्ष्याल्लिङ्ग्याम्” [२११३१] इति आमाव्यवहिते लिटि कथं प्राप्तिः । “इकस्तिपौ धुनिर्देशो” इत्यस्य सूचनार्थस्तर्हि ।

निजामुच्येप् ॥५१२१७४॥ निजादीनामुचि चस्यैव भवति । बहुत्वनिर्देशादाद्यर्थो गम्यते । नेनेक्ति । वेवेक्ति । वेवेष्टि । नेनक्ति इत्यत्र चस्य “किङ्कति” [११११६] इत्येप्रतिप्रेषो न भवति । धुरूपेण व्यवहितत्वात् । उचीति किम् ? निनेज । निजादयस्त्रयो वृत्पर्यन्ताः ।

भृजां त्रयाणामिः ॥५१२१७५॥ भृजादीनां त्रयाणामुचि चस्य इकारादेशो भवति । विभर्ति । मिमीते । सञ्जिहीते । “अन्तेऽञ्जः” [१११४६] इति अच् इत्वम् । त्रयाणामिति किम् ? जहाति । उचीत्येव । बभार ।

प्रोः ॥५१२१७६॥ पिपति इयति इत्येतयोः उचि चस्येत्वं भवति । पिपत्ति । पिपृयात् । अपिपः । इयति । इय्यात् । ऐपः । अर्तेर्लट् शप् । उच् एप् द्वित्वमित्थं “चस्यास्वे” [४१४७३] इतीय् । “हल्ङ्घापः [४१३५६] इति तिपः खम् । अडागमः । “अटश्च” [४१३७८] इत्यैप् । उचीत्यनुवर्तनम् । जुहोत्याद्योः प्रोरिदं ग्रहणम् । अर्तेर्भाषायामपि प्रयोगः ।

सन्त्यतः ॥५१२१७७॥ सनि परतश्चस्यात् इत्वं भवति । पिपत्ति । पिपासति । मनीति किम् ? पपाच । अत इति किम् ? तुष्टूपति । सनि यश्चस्तस्यैत्वम् । पापच्यतेः सन् पिपापचिषतै । तपरकरणं मुखाथम् ।

ओः पुयण्ज्ये ॥५१२१७८॥ उवर्णान्तस्य पवर्गयण्जकारेषु अवर्णपरेषु सनि परतः इत्वं भवति । पिपावयिषति । विभावयिषति । अण् । यियावयिषति । रिरावयिषति । लिलावयिषति । जु इति सौत्रो धुः । जिजावयिषति । प्वादिभ्यो एयतैभ्यः सन् । ओरिति वचनं ज्ञापकम् “द्वित्वे कर्तव्ये षौ कृतं स्थानिवद्भवति” ननु वचनस्येदं प्रयोजनम् । पिपत्रिषते यियत्रिषतीति । “स्मिङ् पूङ् र्ज्वशः सनि” [५११३३] । “सनीवन्त-र्द्धभ्रस्ज” [५११६७] इत्यादिना वेट् । एववादेशौ । “द्वित्वेऽचि” [१११५७] इति स्थानिवद्भावद्वित्वमने-नेत्वम् । यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात् । पकारयकारग्रहणमेव क्रियेत । पवर्गयण्जग्रहणमनर्थकं स्यात् । पुयण्जोति किम् ? नुनावयिषयिति । अवर्णपर इति किम् ? लुलूपति ।

सुभ्रद् प्रुप्लुङ्च्युङो वा ॥५१२१७९॥ स्रवत्यादीनां चस्य ओः अवर्णपरं यणि परतः सनि वा इकारादेशो भवति । सिस्त्रावयिषति । सुस्त्रावयिषति । शिश्रावयिषति । शुश्रावयिषति । दिद्रावयिषति । दुद्रावयिषति । पिप्रावयिषति । पुप्रावयिषति । पिप्ल्वावयिषति । पुप्ल्वावयिषति । चिच्यार्वायिषति । चुच्यार्वायिषति । अवर्णपर इति वचनात् प्यन्तात्सन् । धचनसामर्थ्यात् सकारादिनैकेन यणो व्यवधानमिहाश्रितम् । अवर्णपर इत्येव । शुभ्रूपति । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

यङुपोरेप् ॥५१२१८०॥ यङ् यङुपि च परत इगन्तस्य चस्य एप् भवति । नेनीयते । बोभूयते । नेनयीति । बोभवीति । न हि यङुपोऽन्यत्रोपि चः सम्भवन्तीत्युपलब्धेन यङुप्सम्प्रत्ययः । “नोमता गोः” [१११६४] इत्याश्रयकार्यप्रतिषेधाद्यङुपि विधानम् ।

दीरकितः ॥५१२।१८१॥ अकितश्चस्य पुहुःपोर्दीर्भवति । पापच्यते । पापचीति । पापञ्च्यते । पाप-
ठीति । “यङो वा” [५१२।१८२] वचनं शापकमविशेषेण यङुपः । अकित इति किम् ? यंयम्यते । यंयमीति ।
ननु दीत्वापवादे परत्वान्नुकि कृते अनजन्तत्वात् कथं दीत्वप्राप्तिः । इदमेवाकित इति वचनं शापयति—“चविका-
रेष्वपवादा नोत्सर्गान् बाधन्ते” [प०] इति । तेन किं सिद्धम् ? मीमांसत इत्यादौ ईत्वं दीत्वेन न बाध्यते । डोटो-
क्यत इति दीत्वेन प्रादेशस्य न बाधा । अचीकरदित्यत्र “वेदीः” [५१२।१८१] इत्यनेन “सन्त्यतः” [५१२।१७७]
इत्वं न बाध्यते । अजीगणदिति “ईच्च गणः” [५१२।१८४] इत्यनेन “ह्रस्वोऽनादेः” [५११।१६१] खस्य
न बाधा ।

नीगवञ्चुसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ॥५१२।१८२॥ वञ्चु सुंसु ध्वंसु भ्रंसु कस पत
पद स्कन्द इत्येतेषां यङुपोश्चस्य नीगागमो भवति । वनीवच्यते । वनीवञ्चीति । सनीस्रस्यते । सनीस्रसीति ।
दनीध्वस्यते । दनीध्वसीति । वनीभ्रश्यते । वनीभ्रशीति । चनीकस्यते । चनीकसीति । पनीपत्यते ।
पनीपतीति । आपनीपद्यते । आपनीपदीति । चनीस्कद्यते । चनीस्कन्दीति । यङुपि “नोमता गोः” [११।१६४]
इति प्रतिषेधात् “ह्रस्वः” [४।४।२३] इति नखं न भवति । नीगिति दीत्वोच्चारणसामर्थ्यात् प्रादेशः ।
अकित इति दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तकरणम् ।

डस्यातो नुक् ॥५१२।१८३॥ डसञ्ज्ञान्तस्य गोर्यश्चेऽकारान्तस्तस्य नुगागमो भवति यङुपोः परतः ।
बंभस्यते । बंभणीति । तन्तन्यते । तन्तनीति । जङ्गम्यते । जङ्गमीति । नुको “नश्चापदान्तस्य ऋत्वि”
[५।४।८] इत्यनुस्वारस्य परस्वत्वम् । असत्यपि स्वनिमित्ते ऋलादौ अनुस्वारो भवतीत्युक्तम् । तेन यंयम्यते ।
रंरम्यते इत्यनुस्वारः । अत्रापि दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तत्वम् । डस्येति किम् ? पापच्यते । अत इति किम् ?
तेतिम्यते । तपरकरणं किम् ? आकारभूतपूर्वस्य मा भूत् । ब्राम्भ्यते ।

जपजभदहदशभञ्जपशाम् ॥५१२।१८४॥ जप जभ दह दश भञ्ज पश इत्येतेषां चस्य नुगागमो
भवति यङुपोः परतः । जञ्जप्यते । जञ्जपीति । जञ्जम्यते । जञ्जमीति । दन्दह्यते । दन्दहीति । दंदश्यते ।
दंदशीति । बम्भज्यते । बम्भजीति । पम्पश्यते । पम्पशीति । पश इति सौत्रो धुः । जपादिषु दंशिपर्यन्तेषु
“लुपसदचर” [२।१।२१] इत्यादिना यङ् । अन्यत्र क्रियामभिमहारे । दश इति सूत्रनिर्देशाद्यङुप्यपि नखं
भवतीति केचित् । तदयुक्तम् । विकरणादिदेशोऽयम् । यथा “पतदशनहः करणे ऋट्” [२।२।१६०] इति ।

चरफलोरुच्चोडः ॥५१२।१८५॥ चर फल इत्येतयोश्चस्य नुगभवति यङुपोः उडश्च उकारादेशश्चर-
फलोः । चञ्चूर्यते । “ह्रस्वभकुच्छुरः” [५।३।८६] इति दीत्वम् । चञ्चुरीति । पम्फुल्यते । पम्फुलीति ।
उदिति तपरकरणं किम् ? चञ्चूर्ति । पम्फुल्लीत्यत्र “घ्युडः” [५।२।८३] एमिनवृत्त्यर्थं दीत्वस्यासिद्धत्वादेप्
प्राप्नोति । नन्वेप इव दीत्वस्यापि तपरकरणात् किञ्च निवृत्तिः । अत्रोच्यते—यथा “गोऽत उट्” [४।४।१००]
इति तपरकरणे न दीत्वमशक्यं निवर्तयितुम् अभकुच्छुर इति प्रतिषेधारम्भात्तथाऽत्रापि ।

ति ॥५१२।१८६॥ तकारादौ चपरतः चरफलोरुडः उकारादेशो भवति । देवचूर्तिः । “क्विचकौखौ”
[२।३।१५०] इति क्विच् । एवं चरणं चूर्तिः । फलनं फुलितः । प्रफुल्ला लता । यङुपोश्चस्येति चानुवर्तमान-
मिह वचनसामर्थ्यात् नाभिसम्बध्यते ।

रीगृत्वतः ॥५१२।१८७॥ ऋत्वतो गोश्चस्य रीगागमो भवति यङ् । वरीवृत्त्यते । नरीनृत्त्यते । यदि
ऋदुड इति क्रियेत । सरोसृज्यते इति न स्यात् । ऋमत इति तर्हि कर्तव्यम् । चिकीर्षत इत्यत्र तु कृताकृत-
प्रसङ्गित्वाद्दतः ईर्भविष्यति । एवं सिद्धे तपरकरणं लाक्षणिकस्यापि रीगर्धम् । तेन वरीवृत्त्यते । वरीभृज्यते ।
परीपृच्छ्यते ? चेक्रीयते जेह्रीयते इत्यत्र कस्मान्न रीगिति चेत् ; द्वित्वात् । परत्वेन रीडादेशो कृते ऋकारा-
भावात् भवति ।

रुग्रिकौ चोपि ॥५१२।१८८॥ ऋत्वतो गोश्वस्य यङुपि रुग्रिकौ भवतः रीक् च । नर्नति । नरि-
नति । नरीनर्ति ।

ऋतः ॥५१२।१८९॥ ऋकारान्तस्य गोर्यश्चस्तस्य यङुपि रुग्रिकौ भवतः रीक् च । तपरकरणसामर्थ्याद्वा
गुर्विशेष्यते । चर्कति । चरिर्कति । चरीर्कति । जर्हति । जरिर्हति । जरीर्हति । “अदोऽ” [५१२।१९५] इत्यत्रोक्तं
चानुङ्गमपि क्वचिदुत्तरत्रानुवर्तते तेन रीक् । तपरकरणं किम् ? कृ गृ । चाकर्ति । जागर्ति । ननु च “रुग्रिकौ
चोपि” [५१२।१८७] इत्यनेनैव तृतयं सिद्धम् । तत्रापि “ऋत्वतः” [५१२।१८६] इति तपरकरणमस्ति तेन चाक-
र्त्यादौ न भविष्यतीति चेत् ; तत्र तपरकरणं लाक्षणिकार्थमुक्तमिति किरत्यादेर्निवृत्तिर्न स्यात् ।

घौ कच्यनक्वे सन्वत् ॥५१२।१९०॥ कच्यरे घिसञ्ज्ञके वर्णं यश्चस्तस्य सनीव कार्यं भवति
अनक्वे । “सन्वतः” [५१२।१७७] इतीत्वमुक्तम् । कच्यपि तथा अचीकरत् । अपीपचत् । “ओः पुयण्डे”
[५१२।१७८] कच्यपि तथा । अपीपठत् । अलीलवत् । अजीजवत् । वा स्रवत्यादीनां कच्यपि तथा ।
असिस्रवत् । असुस्रवत् । अदिद्रवत् । अदुद्रवत् । ननु हला व्यवधानात् कथं कच्यरो पवर्णः ? वचन-
प्रामाण्यादेकेन व्यवधानमाश्रितम् । घाविति किम् ? अततत्त् । अवभासत् । कचीति किम् ? अहं
पपच । अनक्व इति किम् ? स्तनमाख्यत् अतस्तनत् । वनमाख्यत् । अववनत् । “णाविष्टन्मृदः” [४।४।१४६]
इति इष्टद्भावः “तुरिष्टेमेयस्तु” [४।४।१४४] “टेः” [४।४।१४५] इति टिवम् । इह कस्मान् न भवति ।
अचकमतेति कञ्विपये । “वाग्ने” [२।१।२७] इति णिङोऽनुत्पत्तिपक्षे कचि कृते । अत्रोच्यते-नैवं ज्ञातव्यम् ।
अकः खम् अक्खम् । अक्खेनेति । किं तर्हि ? अक् खं यस्मिन्निमित्तभूते सोऽयमक्खो न अक्खो अनक्खः
तस्मिन् । पशुदासवृत्त्या अनक्खनिमित्ते णौ मध्यगते सन्वद्भाव इत्यदोषः । तथा अकः खं यस्मिणिसामान्ये
अन्यस्य । न तु णौ णिखमकः खम् । तेन वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदत् । ननु अजजागरदित्यत्र गकार-
ऋकारे घिसञ्ज्ञामाश्रित्य प्राप्नोति सन्वद्भावः । वचनप्रामाण्याद् व्यवधानेऽपि सन्वद्भावेन भवितव्यम् । सर्व-
त्रापिपचदित्यादावपि चस्यानान्तर्यं घिना नास्ति । नायं दोषः । वचनप्रामाण्यादिहैकवर्णेन व्यवधानमिष्टं
सङ्घातेन पुनर्व्यवधाने भवति न भवति च । तत्र “त्वर” [५१२।१९२] आदीनामित्वापवादार्थमत्ववचनं ज्ञापकम् ।
हलङ्घातेन व्यवधाने भवति । अचिक्कणत् । अचिक्कणत् इति । अज्जल्लसङ्घातेन व्यवधाने तु न भवति । अमीमप-
दित्यादौ “स्सनि मीमा” [५१२।१५५] इत्येव विधिः कस्मान्न भवति ? णिजन्तस्य प्रकृत्यन्तरत्वात् ।

घेर्दीः ॥५१२।१९१॥ चस्य घेर्दीर्भवति घौ कच्यरेऽनक्वे । अचीकरत् । अजीहरत् । अब्रूबुधत् ।
घेरिति किम् ? अचिक्कणत् । अचिक्कणत् । अचिक्कणत् । “द्वित्वेऽचि” [१।१।५६] णिङ्वस्य स्थानिवद्भावात् “अचः”
[४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । अत्र कच्यरो घिवर्णो नास्ति । कचीत्येव । अहं पपच । यत्र सन्व-
द्भावो नास्ति तत्र दीत्वमिह मा भूत् । अचकमत । अनक्व इत्येव । अचकथत् । “आद्यतः” [५१२।१७०]
इत्यतः आदेरिति वर्तते तेनादेशस्य दीर्भवति । न द्वितीयस्यैकाचो यश्चस्तस्येति । प्रौणु नवदिति ।

स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशोऽत् ॥५१२।१९२॥ स्मृ दृत्वर प्रथम्रद तृस्पश इत्येतेषां चस्य अदा-
देशो भवति कच्यरे घौ परतः । असस्मरत् । अददरत् । अतत्वरत् । अप्रप्रथत् । अमम्रदत् । अतस्तरत् ।
अपस्पशत् । सन्वद्भावादित्ये प्राप्ते वचनम् । अदिति तपरकरणं घेर्दीत्विनिवृत्त्यर्थम् । अददरत् ।

वा वेष्टिचेष्टयोः ॥५१२।१९३॥ वेष्टि चेष्टि इत्येतयोश्चस्य वा अद्भवति कचि परतः । अववेष्टत् ।
अविवेष्टत् । अचचेष्टत् । अचिचेष्टत् । इकारस्यानेनात्वम् ।

ईच्च गणः ॥५१२।१९४॥ गणयतेश्चस्य ईकारादेशो भवति अच्च कचि परतः । अजीगणत् ।
अजगणत् । अनक्व इति प्रतिषेधात् सन्वद्भावो नास्ति । तदर्थमिदम् । चकारोऽदनुकर्षणार्थः ।

इत्यभयनन्दिबिरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

[सर्वस्य द्वे ॥५१३१॥ परो त्रिः ॥५१३२॥ नित्यवीप्सयोः ॥५१३३॥ परेर्वर्जने ॥५१३४॥
उपर्यध्यधसः सामीप्ये ॥५१३५॥ वाक्यादेर्बोध्यस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ॥५१३६॥
एको बवत् ॥५१३७॥ आवाधे च ॥५१३८॥]

.....कश्चिदेवं प्रयुङ्क्ते इत्यावाधः । प्रयोक्तव्या । (?)

यवदुत्तरे ॥५१३९॥ उत्तरे द्वित्वे यस्येव कार्यं भवति । वक्ष्यति “प्रकारे गुणोक्तेः” [५१३१०] इति । पटुपटुः । पटुपटुवी । कालककालिका । वसातिदेशे “न बुहृत्कोङः” [४३१४६] इति पुंवद्भाव-प्रतिषेधः स्यात् । यसे तु “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४३१५४] इति भवति । अधिकारेणाऽप्येतत्सिद्धम् । उत्तरग्रहणं ज्ञापकार्थम् । अयमधिकारः । “एको बवत्” [५१३७] इत्यादिलक्षणं चाधिकारश्च । तेन एष तवाञ्जलिरेष तवाञ्जलिः । अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया । आधिक्येऽपि द्वित्वमुक्तम् । “स्वार्थेऽवधार्य-माख्येऽनेकस्मिन् द्वे भवतः” [वा०] अस्मात्सुवर्णादिह भवद्भ्यां माषं माषं देहि । अत्र द्वावेव माषौ दीयेते न सर्वे माषाः । तेन वीप्सा नास्ति । अवधार्यमाण इति किम् ? इह भवद्भ्यां माषमेकं देहि । “पूर्व-प्रथमयोरतिशये द्वे भवतः” [वा०] पूर्वं पूर्वं पुष्यन्ति । प्रथमं प्रथमं पच्यते । वेत्यधिकाराद्यदा न द्वित्वं तदाऽतिशायिकः । पूर्वतरं पुष्यन्ति । प्रथमतरं पच्यन्ते । “समसप्रधारणायां किम आक्षेपे द्वे भवतः” [वा०] । उभाविमावाट्यौ कतराकतराऽनयोस्तथोराद्यता । कतमा कतमाऽनयोराद्यता । कीदृशी कीदृशी अनयोराद्यता । कतरः कतरोऽनयोर्विभवः । “कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वं सवच्च बहुलम्” [वा०] तत्र वेत्यधिकारात्लभ्यते । असत्त्वज्ञे पूर्वपदस्यान्यशब्दस्य सुरेव । सवद्भावे च मिभूतस्यादेरुत्वं परशब्दस्य सुट् । अन्योन्यमिमे ग्रामा भोजयन्ति । अन्योन्यस्य भोजयन्ति । पुत्रादीति गम्यते । एवमितरेतरेषाम् । इतरेतरस्य । परस्परं परस्परस्य भोजयन्ति । “स्त्रीनपुंसकयोर्विभक्त्या वाऽऽभावो द्योस्तु” [वा०] अन्योन्यं नार्यो भोजयतः । अन्योन्यां वा । अन्योन्यं कुले भोजयतः । अन्योन्यं वा । अन्योन्यं नार्यो भोजयन्ति । अन्योन्यां वा । अन्योन्यं वा कुलानि भोजयन्ति । अन्योन्यं वा । इत्यादि सिद्धम् ।

प्रकारे गुणोक्तेः ॥५१३१०॥ प्रकारे वर्तमानस्य गुणोक्तेर्द्वं भवतः । प्रकारः सादृश्यमिह गृह्यते । उच्यते इत्युक्तिरभिधेयं वस्तु । गुण उक्तिरभिधेयोऽस्येति गुणोक्तिः, तस्य द्वित्वम् । पटुपटुः । परिडत-परिडतः । पटुपटुवी । परिडतपरिडता । उत्तरसूत्रे वाग्रहणमिह सिंहावलोकनेन सम्बन्धते । तेन जातीयोऽपि भवति । पटुजातीयः । मृदुजातीयः । द्वित्वजातीययोर्विधेयाभेदे मृदुमृदुजातीय इत्यनिष्टं स्यात् । प्रचार इति किम् ? शुल्को गुणः । अग्निमार्णवकः । गौर्वाहीकः । सदागुणवचनो यः प्रकारे वर्तते तस्य द्वित्वम् । अयं तूपमानात्सर्वद्रव्यवचनः ।

प्रियसुखयोर्वाऽकृच्छ्रे ॥५१३११॥ प्रिय सुख इत्येतयोरकृच्छ्रे वा द्वे भवतः । प्रियप्रियेण ददाति । प्रियेण ददाति । सुखसुखेनाधीते । सुखेनाधीते जैनेन्द्रम् । अप्रयासेनेत्यर्थः । अकृच्छ्रे इति किम् ? प्रियः पुत्रः । सुखो रथः । प्रीणातीति प्रियः । सुखयतीति सुखः ।

यथास्वे यथायथम् ॥५१३१२॥ यथायथमिति निपात्यते यथास्वेऽर्थे । सर्वं ज्ञाता यथायथम् । यथा-स्वभावं यथाऽऽत्मीयं चेत्यर्थः । यथाशब्दस्य द्वित्वमभावश्चान्ते निपात्यते । यो य ज्ञात्मा यो य आत्मीयो वा यथास्वम् । “यावद्यथा” [१३१६] इति वीप्सायां हसः । क्षिसंज्ञकं वा यथायथमिति शब्दान्तरमस्मिन्नर्थे साधुत्वेनान्वाख्यातम् ।

१ . प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिरुचिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्याय्यामनु-सृत्यान् निर्दिष्टानि ।

द्वन्द्वं रहस्यादौ ॥५॥३॥१३॥ द्वन्द्वमिति निपात्यते रहस्यादावर्थे । द्वि औ इत्यस्य द्वित्वे सुबुधि पूर्वोत्तरपदयोरिकारस्याम्भावोऽस्त्वं च निपात्यते रहस्यप्रकारेऽर्थे रहस्याभिधाने । द्वन्द्वं मन्त्रयते । द्वन्द्वं मन्त्रयेते । द्वौ द्वौ रहसि मन्त्रयेते इत्यर्थः । मर्यादावचनादयो विषयत्वेनाश्रीयन्ते । मर्यादायाम् आसप्तमनरकादधोऽधो द्वन्द्वं नरकपटलानि हीनानि व्युत्क्रमणं भेदः पृथक्स्थानम् । तत्र द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः । द्विवर्गसम्बन्धेन भिन्ना इत्यर्थः । यज्ञपात्रप्रयोगे, द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । अभिव्यक्तौ, द्वन्द्वं नारदपर्वतौ । द्वन्द्वं सूर्याचन्द्रमसौ । विधिब्राह्मणौ द्वन्द्वम् । “वा वीप्सायां द्वन्द्वः” वीप्सायां द्वन्द्वं द्वौ द्वौ । वृत्तिविशेषे “चार्थे द्वन्द्वः” [१३।६२] अन्यत्रापि दृश्यते । द्वन्द्वानि सहते । द्वन्द्वं युद्धं कृतम् ! अतएव च रहस्य-मर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिरूपं परिगणनं न कृतम् ।

पदस्य ॥५॥३॥१४॥ पदस्येत्ययमधिकारो वेदितव्य आ शास्त्रपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति “नखं मृदन्त-स्याकौ” [५।३।३०] इति । राजभ्याम् । राजभिः । तथा “स्फान्तस्य खम्” [५।३।४१] इति पतन् । यजन् । अत्रार्थवशात्पदस्येत्यवयवे ता द्रष्टव्या । पदस्येति किम् ? राज्ञे । राज्ञः । भसंज्ञया नपुंसकलिङ्गा पदसंज्ञा बाध्यते

पदादपादादौ ॥५॥३॥१५॥ पदादिति अपादादाविति च एतद्द्वितयमधिकृतं वेदितव्यं प्रागसिद्धाधि-कारात् । वक्ष्यति “बहोर्वस्नसौ” [५।३।१७] इति । ग्रामो वो दीयते । नगरं नो दीयते । पदादिति किम् ? युष्मभ्यं ग्रामो दीयते । अपादादाविति किम् ?

शान्तिनाथो जिनः सोऽस्तु युष्माकमवशान्तये ।

येन संसारताभीतिरस्माकमिह नाशिता ॥

युष्मदस्मदोऽविपतास्थस्य घानावौ ॥५॥३॥१६॥ पदात्परयोरपादादौ वर्तमानयोर्युष्मदस्मदित्येत-योरुद्भूतासु स्थितयोर्त्रांसो इत्येतावादेशौ भवतः । युष्मदस्मदिति इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः । ओसः स्थाने ङ्कृतः सौत्रत्वान्निर्देशस्य । पदस्य सर्वस्येति च वर्तते । यदि वा पदस्येति स्थानलक्षणाऽत्र ता सम्पद्यते, सर्वस्य पदस्य स्थाने आदेशः । एकबहोरादेशान्तरं वक्ष्यति । अतो द्विविषये विधिः । ज्ञानं वां दीयते । शीलं नौ दीयते । ज्ञानं वां रक्षतु । शीलं नौ रक्षतु । ज्ञानं वां स्वम् । शीलं नौ स्वम् । अत्रितास्थस्येति किम् ? दानं युवाभ्यां कृतम् । स्थग्रहणं किम् ? श्रूयमाणविभक्त्यां यथा स्यात् । इह मा भूत् । इति युष्मदुपाध्यायः । पदविधिरयम् । असामर्थ्यं न भवति । आवाभ्यां भाव्यते ज्ञानम् । युवाभ्यां दीयते दानमिति । अथेह सामर्थ्येऽपि कस्मान्न भवति ? ओदनं पच तव भविष्यति मम भविष्यतीति । “समाने वाक्ये युष्मदस्मदादेशविधिरिष्यते” । इह तु ओदनं पचेत्येकं वाक्यं तव भविष्यतीति द्वितीयं वाक्यम् । अवश्यं समानवाक्याधिकार एष्टव्यः । शालीनां ते ओदनं ददातीत्यत्रापि यथा स्यात् । अन्यथा शालीनामित्यस्य ते इत्यनेन सामर्थ्याभावात् स्यात् ।

बहोर्वस्नसौ ॥५॥३॥१७॥ बह्वन्तयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नस् इत्येतावादेशौ भवतस्तास्वेव विभक्तीषु । ज्ञानं वो दीयते । शीलं नो दीयते । ज्ञानं वो रक्षतु । शीलं नो रक्षतु । ज्ञानं वः स्वम् । शीलं नः स्वम् ।

एकस्य ते मे ॥५॥३॥१८॥ एकान्तयोर्युष्मदस्मदोस्ते मे इत्येतावादेशौ भवतः । एक इति त्यः । “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणम्” [प०] । ज्ञानं ते दीयते । शीलं मे दीयते । इपो वक्ष्यति । ज्ञानं ते स्वम् । शीलं मे स्वम् ।

त्वामाविपः ॥५॥३॥१९॥ एकस्येति वर्तते । इवेकान्तयोर्युष्मदस्मदोस्त्वा मा इत्येतावादेशौ भवतः । ज्ञानं त्वा रक्षतु । शीलं मा रक्षतु ।

न चवाहाऽहैवयोगे ॥५॥३॥२०॥ च वा ह अह एव इत्येतैर्योगे युष्मदस्मदोर्वाग्भावादयो न भवन्ति ; ज्ञानं तुभ्यं मयं च दीयते । युवाभ्यां आषाभ्यां च दीयते । युष्मभ्यं अस्मभ्यं च दीयते । ज्ञानं त्वां मां च रक्षतु ।

युवां आवां च रक्षतु । युष्मान् अस्माँश्च रक्षतु । ज्ञानं पिव च स्वम् । ज्ञानं मम च स्वम् । युवयोः आवयोश्च स्वम् । युष्माकं अस्माकं च स्वम् । ज्ञानं तुभ्यं मह्यं वा दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यं ह दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यमह दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यमेव दीयते । इत्यादि योज्यम् । योग इति किम् ? ज्ञानं च मे स्वम् । नात्र चादिभिर्युष्मदस्मदोर्योगः । किन्तर्हि ? ज्ञानस्य ।

दृश्यर्थैश्चिन्तायाम् ॥५१३२१॥ चिन्तायां वक्तमानैदृश्यर्थैर्धुभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वाग्नावाढयो न भवन्ति । अत्र साक्षाद्योगे तद्युक्तयोगे च प्रतिषेधः । ज्ञानं तुभ्यं दीयमानं समीच्यागतो जनः । ज्ञानं मह्यं दीयमानं समीच्यागतः । साक्षाद्योगे ग्रामस्त्वां समीच्यागतः । ग्रामो मां समीच्यागतः । ज्ञानं तव स्वं समीच्यागतः । शीलं मम स्वं समीच्यागतः । सन्दृश्य संचिन्त्य निरूप्येति यावत् । दृश्यर्थैरिति किम् ? ग्रामस्त्वा मन्यते । अस्ति चिन्तार्थो मन् धुर्न तु दृश्यर्थः । चिन्तायामिति किम् ? ग्रामस्त्वा पश्यति । अत्र चक्षुर्दृशने दृशिर्वर्तते । तेन न प्रतिषेधः ।

वाऽनन्वादेशे ॥५१३२२॥ युष्मदस्मदोर्वाग्नावाढयो वा भवन्ति अनन्वादेशे । आदेशः कथनम् । अनन्वादेशोऽनुकथनम् । नान्वादेशोऽनन्वादेशः । तत्र विकल्पोऽन्वादेशो नित्यो विधिः । ज्ञानं ते दीयते । ज्ञानं तुभ्यं दीयते । ज्ञानं मे दीयते । ज्ञानं मह्यं दीयते । इत्यादि योज्यम् । अनन्वादेश इति किम् ? अथो ज्ञानं ते दीयते । अथो ज्ञानं मे दीयते । पूर्वं किञ्चिदादिश्य इदमादिश्यते इत्यन्वादेशोऽयम् ।

सपूर्वाया वायाः ॥५१२२३॥ विद्यमानपूर्वाद् वान्तात्परयोर्युष्मदस्मदोर्वाग्नावाढयो भवन्ति । अनन्वादेशे सामान्येन सिद्धम् । अनन्वादेशार्थमिडम् । अथो आचार्येण ज्ञानं ते दीयते । अथो आचार्येण ज्ञानं तुभ्यं दीयते । इत्यादि ।

बोध्यमसद्वत् ॥५१३२४॥ बोध्यान्तं पदमसद्वद् भवति । बोध्यमिति सम्बोधनलक्षणया वाया ग्रहणम् । असद्वद्भावे प्रयोजनम् । बोध्यान्तात्परयोर्युष्मदस्मदोरादेशनिवृत्तिः । देवदत्त तुभ्यं दीयते । देवदत्त मह्यं दीयते । इत्यादि नेयम् । इह च देवदत्त ज्ञानं ते । देवदत्त ज्ञानं मे । “सपूर्वाया वायाः” [५१३२३] इत्यन्वादेशे विकल्पो न भवति । वत्करणं स्वश्रुत्यनिवृत्त्यर्थं कार्यं प्रत्यसद् भवति ।

नैकार्थं बोध्ये सामान्यवचनम् ॥५१३२५॥ एकार्थं बोध्यान्ते परतः सामान्यवचनं बोध्यान्तं नासद् भवति किन्तु सद्देव भवति एकार्थः विशेषलक्षणो यस्य तदिदमेकार्थं विशेषवचनमित्यर्थः । कथं ज्ञायते ? सामान्यवचनम् इति निर्देशान् । परस्य विशेषवचनत्वमपेक्ष्य सामान्यवचनत्वं भवति । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो दीयते । क्षत्रिय श्रेणिक त्वाऽर्हन् रक्षतु । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो वर्धताम् । एकार्थ इति किम् ? क्षत्रिय ब्राह्मण युवाभ्यां धर्मो दीयते । बोध्य इति किम् ? क्षत्रिय धनवान् मे त्वं देहि । पूर्वस्य सत्त्वे “सपूर्वाया वायाः” [५१३२३] इत्येव विधिः प्रसज्येत । सामान्यवचनमिति किम् ? श्रेणिक क्षत्रिय तुभ्यं धर्मो दीयते ।

वा विशेषवचने बहौ ॥५१३२६॥ विशेषवचने बोध्ये बहन्ते परतः सामान्यवचनं वा बोध्यान्तमसद् भवति । देवाः शरण्या वो दीयते । देवाः शरण्या युष्मभ्यं दीयते । “नैकार्थं बोध्ये सामान्यवचनम्” [५१३२५] इत्यस्यायं विकल्पः । सामान्यवचनमित्यनुवृत्तेः परस्य विशेषवचनमनुक्तं सिद्धम् । तत्कृतं स्पष्टार्थमुत्तरार्थं च ।

पूर्वत्रासिद्धम् ॥५१३२७॥ पूर्वत्र इति असिद्धमिति च एतदधिकृतं वेदितव्यम् आ शास्त्रपरिसमाप्तेः । येयं चतुरध्यागी सार्धद्विपादाऽतिक्रान्ता तस्यामयं सार्धद्विपादोऽसिद्धो भवति । इत उत्तरं च उत्तरोत्तरो योगः पूर्वत्र पूर्वत्रासिद्धो भवति । असिद्धवद्भवति । शास्त्रासिद्धत्वेन तदाश्रयं कार्यं न भवतीत्यर्थः । अस्मा उद्भूति सिद्धा अत्र । असा आदित्यः । “ब्योः खम्” [५१३५] इत्यस्य यवत्वशास्त्रस्याऽसिद्धत्वात् “आदेप्”

[४।३।७५] “स्वेऽको दीः [४।३।८८] इति च न भवति। अमुष्मै। अमुष्मात्। अमुष्मिन्। उत्वशास्त्रस्यासिद्धत्वात्स्मायादयो भवन्ति।

शुष्किका यन् सुशर्माणः क्षामिमानौजिदत् सुर्गाः ।

पक्वमाशीःषु गोलियमान् कुर्वन्ति पिपठीः सुभुत् ॥

शुष्किकेति “शुषि पचेः क्वौ” [५।३।६७] इति कादेशः। टाप्। कुत्साद्यर्थे कः। पुनष्टाप्। “केऽणः” [५।२।१२५] प्रः। कत्वस्यासिद्धत्वात् “वातोऽधोर्यकात्” [५।२।५१] इति विकल्पो न भवति। “त्यस्ये क्वापी” [५।२।५०] इति नित्यमित्वम्। यन्निति स्फान्तत्वस्यासिद्धत्वान्मृदन्तनखं न भवति। सुशर्माण इति णस्यासिद्धत्वात् नोङः “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वम्। क्वौ जै सै क्षये क्तः। “क्षौ मः” [५।३।६८] इति मत्वम्। क्षामोऽस्यास्तीति क्षामी। सोऽस्यास्तीति क्षामिमान्। मत्वस्यासिद्धत्वात् “ममोङ् ऋयो मतोर्वोऽयवादेः” [५।३।३१] इति मनोर्वत्वं न भवति। ऊढमाख्यत् णिचि लुङि कचि च कृते “अचः” [४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वे कर्तव्ये ढत्वादेरसिद्धत्वात् हतकारयोर्द्वित्वम्। “हलोऽनादेः” [५।२।१६१] इति तस्यम्। हकारस्य चुत्वम्। औजिदत्। ननु णौ च यद्विखं तस्य स्थानिवद्भावाद्विरुच्यते। अनक्त्व इति प्रतिषेधात् सनीत्वं नास्ति। तत् औजिदत् इति भवितव्यमिति केचित्। तदयुक्तम्। णौ कृतं स्थानिवद् भवति। न च टिखं णौ कृतम्। किन्तर्हीष्टे। ततो “द्वित्वेऽचि” [१।१।५६] इति स्थानिवद्भावात् सणोर्द्वित्वम्। ननु च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वक्ष्यति। तत्कथमसिद्धत्वं ढत्वादेः। न। “सर्वस्य द्वे” [५।३।११] इत्येतद्द्वित्वं तत्र गृह्यते। तेन गलो गल इति लत्वं सिद्धम्। सुगीरिति विसर्जनीयस्यासिद्धत्वात् “इको दी वोरुङ्ः” [५।३।८५] इति दीत्वम्। पक्वमिति वत्वस्यासिद्धत्वात् भलि चोः कुत्वम्। आशीःष्विति “रेश्च सुपि” [५।२।२४] इति सत्वस्यासिद्धत्वात् “इको दी वोरुङ्ः” [५।३।८५] इति दीत्वम्। गोलियमान् इति ढत्वस्यासिद्धत्वात् “ऋयः” [५।३।३१] इति व्रत्वं न भवति। कुर्वन्ति इत्यनुस्वारपरस्वस्यासिद्धत्वात्त्वं नास्ति। पिपठीरिति पत्वस्यासिद्धत्वाद्वित्वम् “परेऽचः पूर्वत्रिषौ” [१।१।५७] इति अतः खस्य स्थानिवद्भाव इति चेत् ; न; पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इति। सुभुदिति जश्त्वस्यासिद्धत्वात् ऋणन्तस्य वशो भभावः। वृद्धो हसतीति रेरसिद्धत्वेऽप्युत्वं वचनाद् भवति। अपत्रादस्य परस्यापि वचनप्रामाण्यान्नासिद्धत्वम्। वृद्धा इति जश्त्वापवादो रित्वम्। दोग्धा इति ढत्वापवादो व्रत्वम्। काष्ठतडिते स्फान्तत्वापवादः स्फादित्वम्। येऽत्र कानिर्देशास्तानिर्देशा ईभिर्देशाश्च “रान्सः” [५।३।४२]। “स्फान्तस्य खम्” [५।३।४१] “ऋतो भलि” [५।३।४४] इत्यादयस्तेषाम् “ईष्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [१।१।६०] “तास्थाने” [१।१।४६] इति च नियमे कर्तव्ये नासिद्धत्वम्। “कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्” [५०] इति पूर्वत्वं नास्ति। इह विस्फोर्यम् अवगोर्यम् इत्येवं बाधित्वा परत्वेन “हल्यभकुर्तुरः” [५।३।८६] इति दीत्वं नास्ति। “पूर्वत्रासिद्धे नास्ति स्पद्धोऽसत्त्वादुत्तरस्य”। विशेषवचन इति वर्तते। विशेषे इदमसिद्धम्। तेन क्वचिदिष्टे विषये सिद्धत्वं भवति। तादेशः पत्वत्येङ्विधिषु सिद्धेः। अन्यथा वृक्णाः वृक्णावन् इति भलीति पत्वं स्यात्। क्षीव्रेण तरति दीविकः। द्रयज्जलज्ञाण्टो न स्यात्। क्षीव इति वलादित्वादिट् स्यात्। छे तुकि पविधिः सिद्धः अग्नाश् इ छत्रम्। पटाश् उ छत्रम्। छ इति किम्? अग्निचीश्त्। चस्य जश्त्वचर्त्वेत्वनुकोः सिद्धम्। बभणतुः। बभणुः। आदेशस्यासिद्धत्वादेत्वं प्राप्नोति। उचिच्छ्रुपतीति चादेशस्यासिद्धत्वाच्छे तुक् प्राप्नोति। यद्वित्वे परस्वत्वं सिद्धम्। संयतः। संवत्सरः। यँल्लोकम्। दँल्लोकम्। यर इति द्वित्वं न स्यात्। “सर्वस्य द्वे” [५।३।११] इति द्वित्वे ढत्वादयः सिद्धाः। द्रोघा द्रोघा। द्रोढा द्रोढा। गरोगरः। गल्लोगल इत्यादि। षत्वादीनामसिद्धत्वात्। प्राग्द्वित्वे पश्चाद्विकल्पे सति रूपवैषम्यं स्यात्। गरोगल इति।

नखं सुब्विधिकृत्तु कि ॥५।३।२८॥ सुपः स्थाने विधिं सुपि च विधिं कृति विहितं च तुकं प्रति नखमसिद्धं भवति। विधीयते इति विधिः कार्यम्। ऐस्भावदौत्वादिः। सुपो विधिः सुब्विधिः एको विग्रहः सुवा-

अयो विधिरित्यर्थः । कृतस्तुक् कृत्तुक् । कृदाश्रयो हि तुक् कृतस्तुगुच्यते । राजभ्याम् । राजभिः । “सुपि” [५।२।६७] इति दीत्वम् । “भिसोऽत ऐस्” [५।१।८] इति च न भवति । वृत्रहभ्याम् । वृत्रहभिः । “पिति कृति तुक्” [४।३।५६] इति तुङ् न भवति । कृतीति किम् ? वृत्रहच्छत्रम् । छे तुगयम् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” [५०] । एतयोरेव नखमसिद्धं नान्यत्र । हस्त्यश्वम् । राजीयति । राजाबला । कृत्तुकीति न कर्तव्यम् । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य” [५०] इति तुङ् न भावप्यति । तत् क्रियते शापकार्यम् । “अबयव-नाशिनामतः खं न भवति” इति । अन्यथा तुक् प्राप्तिरत्र नास्ति । नखेऽतः खे च कृते प्रान्तत्वाभावात् । एवं च सुपमेति सिद्धम् । अय वय पय गतौ । पयतेर्मनि कृते “वशि” [५।१।११४] इतीटि प्रतिषिद्धे “वलि ध्योः खम्” [४।३।५५] इति यत्वे कृतेऽतः खं न भवति । किं च सन्निपातपरिभाषाश्रयणे वृत्रहच्छत्रमिति तुङ् न स्यात् । अथ “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [५०] इत्येव सिद्धं कृत्तुकीति व्यर्थम् । अनित्यैषा परिभाषा । तेन एषा द्वे इति सिद्धम् । अत्राऽन्तरङ्गे टापि कर्तव्ये बहिरङ्गत्वं तदाद्यत्वं सिद्धम् । पञ्च नार्य इत्यत्र मृदवस्थायामित्संज्ञा । एकया च संज्ञया अनेकं कार्यं क्रियते इति डीप्रतिषेधो जश्शसोः “उबिलः” [५।१।१६] उपि कृते टापः प्राप्ति-नास्त्यलिङ्गत्वात्पदार्थस्य । तेनेत्संज्ञाविधौ नखमसिद्धं न कर्तव्यम् ।

न मु टाविधौ ॥५।३।२६॥ मुभावो नासिद्धः सिद्ध एव टाविधौ कर्तव्ये । टा इत्येतस्य स्थाने टा इत्येत-स्मिंश्च यो विधिः स टाविधिरुच्यते । अमुना । अदम् टा इति स्थिते त्यदाद्यत्वे “दादुर्दो मोऽदसोऽसेः” [५।३।८८] इति उक्त्वे मत्वे च कृते मुभावस्याऽसिद्धत्वात् “आङो नाऽस्त्रियाम्” [५।२।११३] इति सुलक्षणो नाभावो न स्यात् । सिद्धत्वाद् भवति । नाभावेऽपि कृते मुभावस्यासिद्धत्वात् । “यज्यतो दीः” [५।२।६६] “सुपि” [५।२।८७] इति दीत्वं प्राप्नोति । तच्च न भवति । टाविधाविति किम् ? इह अमुना नपि “सुपीकोऽचि” [५।१।५२] इगभावात्तुम्भ भवति । नेति योगविभागादिष्टसिद्धिः । तेन “हलुक्” [४।४।२३] इति नखे कर्तव्ये द्वयोः स्फमंशमाश्रित्य स्फादिसखं सिद्धम् । मग्नः । मग्नवानिति । “धुटः प्रासौ श्चुत्वं सिद्धम्” । अट् श्च्योतति । अटतीत्यट् । जश्त्वं डकारः । सकारश्चुत्वस्यासिद्धत्वात् । “इनाद् धुट् सोऽश्वः” [५।४।१३] इति धुट्स्याम् । श्च्योततिः सकारादिः पठ्यते । तथा “अहो नखे कर्तव्ये रिरैफौ सिद्धौ” । अहोभ्याम् । अहोभिः । अहर्गच्छति । मृदन्तनखं स्यात् । नखं इति विशेषणादन्यत्रासिद्धत्वम् । दीर्घाहास्तत्रेति “नोक्” [४।४।५] “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वम् । अहन् । “रोऽसुपि” [५।३।७८] इति वचनं किविपये साव-काशम् । हे दीर्घाहोऽत्रेति । हे अहः ।

नखं मृदन्तस्याकौ ॥५।३।३०॥ मृदन्तस्य नस्य खं भवत्यको परतः । पदस्येति वर्तते । किवर्जिते स्वादौ पदस्य योऽवयवो मृदन्तस्तस्य नस्य खं भवतीत्यर्थः । राजभ्याम् । राजभिः । राजत्वम् । राजता । राजतरः । राजतमः । मृदग्रहणं किम् ? जिनेन्द्रान् वन्देरन् । अस्ति पदस्य नकारोऽन्तश्च न तु मृदः । किन्तु विभक्त्याः । अन्तस्येति किम् ? नटाभ्याम् । वनाभ्याम् । अयं पदस्यावयवो नकारो न तु मृदन्तः । पदस्येति किम् ? राजानौ । राजानः । राज्ञे । अस्ति मृदन्तो नकारो न तु पदसंज्ञकस्य । अकाविति किम् ? हे राजन् । अकावित्पदार्थे नञ् । तेन “नपुंसके वा प्रतिषेधः” । हे चर्मन् । हे चर्मैति । अकाविति नखप्रतिषेधवचनं शापकम् । त्यखे त्याश्रयन्याये-न कृद्घृन्नियमान्मूर्त्संज्ञा न निवर्तते । भसंज्ञा च न भवति । तेन राजेत्यत्र राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इत्यत्र च नखं सिद्धम् । “अनोऽखमम्बस्फात्” [४।४।१२२] इति भकार्यं च न भवति । हे राजवृन्दारक इत्यादौ क्यन्तयोरनभिधानाद्य ससमुदायात्किः । तत् उत्तरपदे नखं न वक्तव्यम् ।

ममोङ्भयो मतोर्वोऽयवादेः ॥५।३।३१॥ मकारान्तात् अर्बणान्तात् मकारोङ्ः अर्बणोङो भयन्ताच्च यवादिर्वजितात् उत्तरस्य मतोर्वकारादेशो भवति । मृदो हि मतुर्विहितस्ततः “परस्यादेः” [१।१।५१] इति वत्वम् । नुभ्वान् । गुणवान् । विद्यावान् । मोङ् । शमीवान् । दाडिमीवान् । यशस्वान् । भास्वान् । भयः । मरु-

व्यम् । तडित्वान् । उदशित्वान् । “मत्वर्थे स्तौ” [१।२।१०८] इति भंशः । ममोङ्क्षय इति किम् ? अग्निमान् । अयवादेरिति किम् ? यवमान् । ऊर्मिमान् । भूमिमान् । कृमिमान् । मोड इति । ककुब्बान् । गरुत्मान् । हरित्मान् । भय इति । शिखिमान् । इक्षुमती । द्रुमती । मधुमात्राम गिरिः । “खौ” [५।३।३२] इति प्राप्तेः प्रतिषेधः । आकृतिगणोऽयम् । नृमत इदं नार्मतमिति बहिरङ्ग आकारः । तेन क्त्वाभावः । पदावयवस्य क्त्वम् । ततः शीलवतः शीलवद्भ्य इति च सिद्धम् ।

खौ ॥५।३।३२॥ खुविपये च मतोर्वो भवति । कपीवती । ऋपीवती । मुनीवती । “नशां मनुः” [३।२।६५] इति चातुरर्थिको मनुः । “मतौ बह्वच्छरादेरनजिरादेः” [४।३।२२२] इति दीत्वम् । आसन्दीवान्नाम ग्रामः । आसन्दीवदहिस्थलम् । आसनपर्याय आसन्दीशब्दोऽस्ति । तदुक्तम्—**श्रौदुम्बरी राज्ञ आसन्दी भवति ।**

चर्मणवदष्टीवच्चक्रीवत्कक्षीवद् रुमण्वत् ॥५।३।३३॥ चर्मण्वत् अष्टीवत् चक्रीवत् कक्षीवत् रुमण्वत् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते खुविपये । चर्मणः परस्य मतोर्नुडागमो निपात्यते मृदन्तनग्वम् । “अट्कुप्वाङ् व्यवाये” [५।४।८६] इति णत्वम् । चर्मण्वती नदी । चर्मवतीत्यन्यत्र । अस्थनोऽप्रीभावो वत्त्वं च निपात्यते । अष्टीवानिति कायैकदेशभंशः । अस्थिमानित्यन्यत्र । चक्रस्य ईत्वम् । चक्रीवान् । चक्रवानित्यन्यत्र । कक्ष्याया जिर्निपात्यः । “हलः” [४।४।२] इति दीत्वम् । कक्षीवान् । कक्ष्यावानित्यन्यत्र । लवणस्य रुमणभावो निपात्यते । रुमण्वान्नाम पर्वतः । लवणवानित्यन्यत्र । रुमन् इति शब्दान्तरं वा मतोर्नुडर्थे निपातनम् ।

उदन्वानुद्धौ ॥५।३।३४॥ उदन्वानीति निपात्यते । उदकस्य उदन्भावो मतौ निपात्यते । यत्र प्रयोगो दृश्यते । उदन्वानुद्धिः । उदन्वानाश्रमः । अयं तु विशेषः । यदा उदकमस्यास्तीति उदकसम्बन्धमात्र-विघ्नता तदा उदकवान् षट् । यदा तु उदकं धेयमस्मिन्नस्ति तदा उदन्वान् घट इति ।

राजन्वान् सौराज्ये ॥५।३।३५॥ राजन्वानिति निपात्यते सौराज्ये गम्ये । राजाऽस्मिन्नस्ति प्रशंसायामर्थं मनुस्तस्येदन्निपात्यते । राजन्वान्देशः । राजन्वती पृथिवी । सुराज्ञो भावः सौराज्यम् । शोभनेन राज्ञ सम्बन्धस्तदभावे राजवान् इति भवति ।

कृपो रौ लोऽकृपादेः ॥५।३।३६॥ कृपेर्धो रेफस्य लकारादेशो भवति कृपादीन् वर्जयित्वा । र इति एपि कृते यः केवलो रेफः वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते इति यश्च ऋकारस्थः तयोरिह सामान्येन ग्रहणम् । कृता । कल्पिष्यते । कल्पस्यति । क्लृप्तः । क्लृप्तवान् । “लुटि च क्लृपः” [१।२।८६] इत्यादि च ज्ञापकम् ऋकारस्थस्यापि रेफस्य लश्रुतिर्भवतीति । अकृपादेरिति किम् ? कृपा । भिदादित्वाद्ङ् । कृपणः । कर्पूरादय औणादिकाः । ये तु प्रतिषेधं नारभन्ते क्रुपेः कृतजित्त्वस्य लाश्रणिकत्वाद्ग्रहणमिति तेषां यत्नगौरवं स्यात् ।

गेरयत्तौ ॥५।३।३७॥ गेयो रेफस्तस्यायतिपरस्य लत्वम् । प्लायते । पलायते । ननु चायतिपरत्वं रेफस्य न सम्भवति । “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इत्येकादेशस्य स्थानिवद्भावात् । वचनप्रामाण्यथादे-केन व्यवधानमाश्रितम् । एवं च पत्ययते इत्यत्राऽप्यदोषः । सङ्घातेन पुनर्व्यवधानमेव प्रत्ययते इति । ननु वचनस्यावकाशो निलयनं दुलयनमिति भविष्यति । न शक्यमेवम् “पूर्वत्रासिद्धम्” [५।३।२७] इति रेफस्यासिद्धत्वाल्लत्वाभावः । निरणम् । दुरयणमिति । यटि लत्वं दृश्यते कपिलकाटिपु द्रष्टव्यम् ।

प्रो यङि ॥५।३।३८॥ गिरते रेफस्य लत्वं भवति । निजेगित्यते । निजेगित्येते । निजेगित्यन्ते । “लुपसद्” [२।१।२१] इत्यादिना यङ् । नित्यत्वाच्च । “इको दी वोरुडः” [५।३।८५] इति दीत्वम् । विकरणान्तिर्देशो गृणतैर्निवृत्त्यर्थः । जेगीर्यते । यङीति किम् ? निगीर्यते ।

विभाषाऽचि ॥५।३।३९॥ गिरते रेफस्य विभाषया लत्वं भवति अज्ञादौ परतः । गिरति । गिलति । निगरणम् । निगलनम् । व्यवस्थितविभाषेयम् । “प्राण्यङ्गे नित्यं लत्वम्” [वा०] । गलः कण्ठः । “विषे न

भवत्येव" [वा०] । गरः । निगार्यते । निगाल्यते इत्त्र "परेऽचः पूर्वविधौ" [१११५७] इति षोः स्थानिवद्-
भावादजादित्वम् । ननु "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" [प०] इति प्रतिषेधः प्राप्नोति । "नेयं परिभाषास्फादि-
खलत्वखल्वेषु व्याप्रियते" । अथवा वर्णाश्रयमन्तरङ्गलत्वमगाश्रयं बहिरङ्गं णिखलम् । इयमप्राप्ते विभाषा ।
प्राप्त नित्यो विधिः । निजेगिलः । "धोः स्वरूपग्रहणे तथ्यविज्ञानम्" [प०] इति मृदस्त्ये न भवति । गिरो
गिर इति । विभाषेति योगविभागादिष्टे कपिलकादौ विकल्पः । कपिरकः । कपिलकः । तिर्थिरीकम् । तिर्थि-
लीकम् । रोमाणि । लोमानि । "संज्ञाछन्दसोः पूर्वो विधिः" [प०] । "डलयोः समानविषयत्वं स्मर्यते" [प०] ।
व्याडः । व्यालः । वारः । वालः । भूरम् । मूलम् । रघुः । लघुः । अरे । अले । अमुरः । असुलः । अङ्गुरिः ।
अङ्गुलिः ।

परेर्घ्राङ्कयोगे ॥५१३४०॥ परे रेफस्य विभाषया लत्वं भवति घशब्दे अङ्के योगे च परतः । परिघः ।
पलिघः । "घनान्तर्घण" [२१३६६] इत्यादौ परिघशब्दो निपातितः । पर्यङ्कः । पत्यङ्कः । परियोगः ।
पलियोगः ।

स्फान्तस्य खम् ॥५१३४१॥ स्फान्तस्य पदस्य खं भवति । गोमान् । कृतवान् । इह श्रेयान्
भूयान् इति रित्वस्यासिद्धत्वात्स्फान्तस्य खं भवति । इहापि तर्हि पयः शिर इति रित्वस्यासिद्धत्वाज्जस्त्वं प्राप्नोति ।
"येन नाप्राप्ते तस्य बाधनम्" [प०] इति रित्वं जस्त्वस्य बाधकमेव । स्फान्तखे पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च
रित्वमारभ्यते । दध्यत्र । मध्यत्रेति बहिरङ्गस्य यणादेशस्यासिद्धत्वात्स्फान्तखं न भवति । स्फ इति किम् ?
वाक् । अन्तग्रहणं किमर्थम् ? आदौ मध्ये च पदावयवस्य स्फस्य खं मा भूत् । "येनालि विधिस्तदन्ताद्योः"
[१११६७] इति सिद्धे स्पष्टार्थं चान्तग्रहणम् । पदस्येति किम् ? गोमन्तौ । गोमन्तः ।

रात्सः ॥५१३४२॥ स्फान्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्य खं भवति । "अन्तेऽलः"
[१११४६] इत्यन्तस्य । चिकीः । जिहीः । क्विपि अतः खे च कृते पत्वस्यासिद्धत्वात् सखम् । "पूर्वत्रासिद्धे
च न स्थानिवत्" [प०] इत्यजादेशस्य न स्थानिवद्भावः । एवं मातुः । पितुः । "ऋत उत्" [४१३६८]
इत्युत्वम् । द्वयोरेकत्वम् । रन्त्वम् । "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः" [प०] रेफनियमोऽयम् । षादुत्तरस्य सकार-
स्यैव खं नान्यस्य । न्यमाटं । ऊर्कम् । लडि क्विपि च रूपम् । रादेव सकारस्येति कस्मान्न नियमः । व्याख्या-
नात् । उरःप्रभृतिषु पुमानित्यस्य कृतसखस्य निर्देशाद्वा ।

धि ॥५१३४३॥ धकारादौ च परतः सस्य खं भवति । आध्वम् । आशाध्वम् । सकारस्य जस्त्वेना-
प्येतत्सिध्येत् । श्रुतिकृतविशेषाभावादिति चेत् ? इह दोषः स्यात् । अलविध्वम् । आलविध्वम् । "वेटः"
[५१४६९] इति वा धस्य दत्वम् । यद्यत्र सखं न स्यात् ; तदा सेः पत्वे जस्त्वे च डकारे धस्य च दत्वे
दत्वाभावपक्षेऽपि धकारो न श्रूयेत । चक्राधिपलितं शिरः इत्यत्रापि अविशेषेण सखं भवति । "दादेर्घोर्घः"
[५१३४६] इत्यतो धुग्रहणं सिंहावलोकनेन संबध्यते । तेन धोर्विहिते धीत्यभिषम्बन्धादिह न भवति ।
पयो धावति ।

भल्लो भल्लि ॥५१३४४॥ भल्ल उत्तरस्य सकारस्य भल्लि परतः खं भवति । अभित्त । अभित्थाः ।
"सिल्लिङ्गे" [१११८५] इति कित्वादेशप्रतिषेधः । अवात्तामिति वसतेस्तसस्ताम् । सखस्यसिद्धत्वात् "स्यरो
सः" [५१२१५१] इति तत्वम् । भल्ल इति किम् ? अमंस्त । भल्लीति किम् ? अमैत्सम् ।

प्राद्गोः ॥५१३४५॥ प्रान्ताद्गोरुत्तरस्य सकारस्य खं भवति भल्लि परतः । अकृत । अकृथाः ।
अहृत । अहृथाः । प्रादिति किम् ? अव्योष्ट । अप्लोष्ट । गोरिति किम् ? अलाविष्टाम् । अलाविष्टम् ।
अस्ति प्रादितः परः सकारो न तु गोः । भल्लीति किम् ? अकृषाताम् । अकृषत । "डः" [१११८६] इति

किन्वादेप्रतिषेधः । सिंहावलोकनेन धोरिति किम् ? द्विष्टम् । द्विष्टमाम् । “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्” [४।२।२५] तदन्तात् अतिशयिते तरतमौ “किमेमिङ्क्किक्तात्” [४।२।२०] इत्यादिनाऽम् । “प्राक्धृत्यमिङ्गस्ति” [५।४।७३] पत्वम् ।

स्फादेः स्फोऽन्ते च ॥५।३।४६॥ सकारस्य ककारस्य च स्फादेः भलि परतः पदान्ते च त्वं भवति । भलि पदस्यावयवः पदान्ते च यः स्फस्तदाद्योः स्फोः खं भवतीत्यर्थः । लग्नः । लग्नवान् । साधुलक् । तष्टः । तष्टवान् । काष्ठतट् । आचष्टे मुनिर्धम्मम् । वास्यर्थः । शक्यर्थः । इत्यत्राजादेशस्य स्थानिवद्भावान्न स्फादि-
खम् । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” [५०] इतीदं “स्फादिखलत्वखल्लेषु नास्ति” [५०] इत्युक्तम् ।
अथवा बहिरङ्गस्य यणादेशस्यासिद्धत्वान्न स्फादिखम् । काष्ठशक्यतातेत्यत्र गोरधिकारात् सिंहावलोकनेन
धोरिति वा न भवति । स्फादेरिति किम् ? न्यस्तः । शक्तः । भलीदं द्रष्टव्यम् । स्क इति किम् ? नर्नत्ति ।
अन्ते चेति किम् ? तद्धिता ।

चोः कुः ॥५।३।४७॥ चवर्गस्य कवर्ग आदेशो भवति भलि पदान्ते च । वक्ता । वक्तुम् ।
वक्तव्यम् । वाक् । “क्विपि ववि [२।२।१५७ वा०] इत्यादिना क्विपि दीत्वमजित्वं च । पक्ता । पक्तुम् ।
पक्तव्यम् । साधुपक् । क्रुञ्चेत्यत्र अनुस्वारस्य परस्वत्वस्य चासिद्धत्वात् ञकार एव नास्ति । चकारे भलि
कुत्वं न भवति । “युजिक्रुञ्चः” [२।२।५७] इति निपातनान्नखं न भवति । रेफरहितस्य धोः क्रुञ्चिसमानार्थस्य
नखं भवत्येव । निकुञ्चिरिति ।

हो ढः ॥५।३।४८॥ हकारस्य ढकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । सोढा । सोढुम् । सोढव्यम् ।
ढत्वे कृते परस्य “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] इति धत्वम् । ढत्वम् । “ढो ढे खम्” [५।४।१७] “सहिवहोऽस्यौः”
[४।३।२१७] इत्योत्वम् । अन्ते । परिपट् । सट् विचीदं रूपम् । अन्यथा “नहिवृत्तिवृषियधिरुचिसहि-
तनिषु कौ” [४।३।२१६] इति दीत्वं स्यात् । एवं वोढा । वोढुम् । गुणवट् । विचीदं क्विपि जित्वं स्यात् ।
पृथग् योगकरणमुत्तार्यम् ।

दादेर्धोर्घः ॥५।३।४९॥ दकारादेर्धोर्घकारस्य घकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । दग्धा । दग्धुम् ।
दग्धव्यम् । कर्मन्धनम् । दोग्धा । दोग्धुम् । दोग्धव्यम् । गोधुक् । पदान्ते षत्वे कृते “एकाचो वशो”
[५।३।५४] इत्यादिना भ्रुपन्तस्य वशो भ्रुवम् । धोरिति किम् ? दामलिट् । धुपाटे यो दादिः स दादेरित्यनेन
गृह्यते । तेन अधोक् इत्यत्र अडागमेऽपि सति दादित्वं सिद्धम् । इह च दामलिह्यतेः क्विपि षत्वं न भवति ।
दामलिडिति ।

वा द्र हमुहण्णुहण्णिहाम् ॥५।३।५०॥ द्रुह मुह षणुह षिणह इत्येतेषां हकारस्य वा षत्वं भवति भलि
पदान्ते च । द्रोग्धा । मित्रभ्रक् । द्रोढा । मित्रभ्रुट् । उन्मोग्धा । उन्मुक् । उन्मोढा । उन्मुट् । स्नोग्धा ।
उत्स्तुक् । स्नोढा । उत्स्तुट् । स्नेग्धा । चेलस्निक् । स्नेढा । चेलस्निट् । द्रुहेः पूर्वेण प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते
विकल्पः ।

नहो धः ॥५।३।५१॥ नहेर्हकारस्य धकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । नद्धम् । नद्धव्यम् ।
उपानत् । “नहिवृत्ति” [४।३।२१६] इत्यादिना दीत्वम् । “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] परस्य धत्वं यथा स्यादिति
धकारादेशः कृतः ।

आहस्थः ॥५।३।५२॥ आहो हकारस्य थकारादेशो भवति भलि परतः । धर्ममाथ । सुखमाथ ।
“ब्रुव आहथ” [२।४।७०] इति ब्रुव आहादेशो लडादेशस्य च सिपस्थादेशः । अनेन हस्य थत्वम् ।
“खरि” [५।४।१३०] इति चत्वम् । आहस्तकारादेशेनैव सिद्धे थकारस्य “खरि” इति चत्वं शापकम् ।

आहो ब्रूञ्ग्रहणेन ग्रहणात् ब्रुव ईण्मा भूत् । झलौदिवचनाद् वा न भवति । पदान्तत्वं नास्ति । भलीत्येव ।
आहतुः । आहुः ।

ब्रश्चभ्रस्जस्तृजमृजयजराजभ्राजछृशां षः ॥५१३१५३॥ ब्रश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राज
इत्येतेषां चकारशकारयोश्च वो भवति झलि पदान्ते च । ऋष्ठा । मूलवृट् । स्फादिसखम् । “ग्रहज्यावधि”
[४१३।१२] इत्यादिना जित्वम् । भ्रष्ठा । धानाभृट् । स्रष्ठा । तीर्थसृट् । मार्ष्ठा । कर्मपरिमृट् । यष्ठा । देवयट् ।
विचीदं रूपम् । राजिभ्राजोः क्तिरेव झलादिः । राष्ठिः । भ्राष्ठिः । सुराट् । सुभ्राट् । विभ्राट् । प्रष्ठा ।
धर्मप्राट् । “क्लिपि वचिप्रच्छायतस्तु कट्प्रजुग्रीणां दीरजिश्च” [१।२।१५७ वा०] इति क्लिपि दीत्वाजित्वे ।
“छ्वोः शूङ् डे च” [४।४।१७] इत्ययं विधिरुक्तः । लिशि । लेष्ट । धर्मलिट् । विश । वेष्ट । स्वर्गविट् ।

एकाचो वशो भष् भषः स्वध्वोः ॥५१३।१५४॥ धोरेकाचो झपन्तस्य योऽवयवस्तस्य यथासङ्ख्यं
भप्भावो भवति झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः पदान्ते च । भोत्स्यते । अभुदध्वम् । “सिलिङ् दे” [१।१।८५]
इति कित्त्वम् । धर्मभुत् । धोक्ष्यते । अयुग्धम् । गोधुक् । निषोक्ष्यते । न्यबुदध्वम् । मन्त्रबुट् । एकाच
इति किम् ? दामलिहमिच्छति दामलिह्यतेः क्लिप् । दामलिट् । असत्येकाज्ग्रहणे भपन्तस्य धोरवयवस्य वशो
भप् अत्रापि स्यात् । वश इति किम् ? क्रोत्स्यति । भपन्तस्येति किम् ? दास्यति । स्वधोरिति किम् ? बोद्धां ।
बोद्धुम् । धकारस्य वकारपरस्य ग्रहणं किम् ? दादद्धि । दध धारणे इत्यस्य यडुपि लोटि “हुभल्ल्यो हेधिः”
[४।४।६४] इति धिभावे रूपम् । अबुद्ध । अबुद्धाः इत्यत्र “भलो भलि” [५।३।४४] इति सखे कृते “त्यखे
त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति कस्मान्न भवति । “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [५०] इत्यदोषः ।

धः ॥५१३।१५५॥ धो धातोर्भपन्तस्य वशो भप् भवति झलि परतः । धत्से । धत्स्व । धदध्वे ।
धदध्वम् । धत्तः । धत्थः । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” [५०] इति अजादेशस्य न स्थानिवद्भावः । वचन-
सामर्थ्याद्वा श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भपन्तता । धस्यापि जश्त्वमाश्रयात्सिद्धम् । “प्रकृतिग्रहणे यङ्बन्तस्यापि
ग्रहणम्” [५०] । धात्तः । धात्थः । भपन्तस्येत्येव । दधाति । दधासि । भलीत्येव । दधे । दधते ।

तथोर्धोऽधः ॥५१३।१५६॥ भपन्तादुत्तरयोः तकारथकारयोर्धकारादेशो भवत्यदधातेः । दोग्धा ।
दोग्धुम् । अदुग्ध । अदुग्धाः । बोद्धा । बोद्धुम् । अबुद्ध । अबुद्धाः । अधः इति किम् ? धत्तः । धत्थः ।

भलो जश् ॥५१३।१५७॥ झलो जश् भवति पदान्ते वर्तमानस्य । पदमध्ये “भलां जश् भशि”
[५।४।१२८] इति वक्ष्यति । झलीति निवृत्तम् । वागत्र । मधुलिङत्र । अग्निचिदत्र । झलीत्यस्य निवृत्तिः
किम् ? वस्ता । वेष्टव्यम् ।

पढोः कः सि ॥५१३।१५८॥ षकारदकारयोः वकारादेशो भवति सकारादौ परतः । वेक्ष्यति । तोक्ष्यति ।
दस्य । लेक्ष्यति । वक्ष्यति । सीति किम् ? पिनष्टि ।

द्रात्तस्य तो नः पूर्वस्य दोऽपृमूर्च्छिमदात् ॥५१३।१५९॥ दकारेफाभ्यां परस्य तसञ्ज्ञकस्य तका-
रस्य नकारादेशो भवति पूर्वस्य च दकारस्य पूर्वमूर्च्छिमदो वर्जयित्वा । भिन्नः । भिन्नवान् । छिन्नः । छिन्नवान् ।
आस्तीर्णम् । अवगूर्णम् । द्रादिति किम् ? शक्तः । शक्तवान् । तसञ्ज्ञकस्येति किम् ? कर्त्ता । हर्त्ता । त इति
किम् ? मुदितम् । चरितम् । द्रादित्यनेन तकारो विशोध्यते । स चेत्तसञ्ज्ञ इति । तेनेटा व्यवधाने न भवति । पूर्व-
स्येति किम् ? परस्य मा भूत् । भिन्नवद्भ्याम् । भिन्नवद्भिः । “अधिकृत्य कृते ग्रन्थे” [३।३।६१] इत्यादि
निर्देशात् “इह वर्यैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते” । तेन हृतम् कृतमित्यादि सिद्धम् । कृतस्यापत्यं कार्त्तिरिति
बहिरङ्को रेफः । अपृमूर्च्छिमदामिति किम् ? प्रपूर्त्तः । मूर्त्तः । मत्तः ।

स्फादेरातो धोर्यएवतोऽध्याख्यः ॥५१३।१६०॥ स्फादिर्यो धुः आकारान्तः यएवत् तस्मात्परस्य तत-
कारस्य नो भवति ध्या ख्या इत्येतौ वर्जयित्वा । प्रद्राणः । प्रद्राणवान् । ग्लानः । म्लानः । ध्या इत्येतस्य

प्रतिषेधात् प्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रिता । स्फादेरिति किम् ? यातः । यातवान् । आत इति किम् ? च्युतः । प्लुतः । धोरिति किम् ? निर्यातः । दुर्यातः । यएव इति किम् ? स्नातः । प्सातः । अभ्याख्य इति किम् ? ध्यातः । ख्यातः ।

ल्वान्तेः ॥५१३१६१॥ लू इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य ततकारस्य नो भवति । लूनः । लूनवान् । लीनः । लीनवान् । लू इत्यतः प्रभृति वृद्धि वृत्पर्यन्ता ल्वाटयः । तत्र स्तृभित्येवमादिभ्यो नत्वं पूर्वैर्णैव सिद्धम् ।

ऋतश्च क्तेः ॥५१३१६२॥ ऋकारान्तेभ्यो ल्वादिभ्यश्च परस्य क्तेस्तकारस्य नो भवति । ल्वादिभ्यो अत्ये ऋद्ग्रहणं प्रयोजयन्ति । कीर्णिः । गीर्णिः । शीर्णिः । ल्वादिभ्यः । लृनिः । लीनिः । गूर्णिः । चूर्णिः । घूर्णिः । इति त्रयं चिन्त्यम् ।

ओदितः ॥५१३१६३॥ ओकारेत्श्च धोः परस्य ततकारस्य नो भवति । लग्नः । लग्नवान् । उद्विग्नः । उद्विग्नवान् । आपीनः । आपीनवान् “प्यायः पी” [४१३१२३] “आळः” [४१३१२४] इति पीभावः । आति-देशिकाः स्वादयः ओदितः । पूङ् प्राणिप्रसव इत्यादयो व्रीङ् वृणोत्यर्थे इत्येवमन्ता दैवादिकाः । सूनः । सूनवान् । दूनः । दीनः । उड्डीनः इत्यादि ।

क्षीणः ॥५१३१६४॥ क्षी इत्येतस्मात् कृतदीत्वात्परस्य ततकारस्य नो भवति । तपरकरणमसन्दे-हार्थम् । प्रक्षीणः । प्रक्षीणवान् । “तेऽण्ये” [४१४१५६] इति दीत्वम् । यदा दीत्वं तदाऽनेन नत्वम् । क्षीणोऽसि जाल्म । “वा दैन्याक्रोशे” [४१४१६०] इति दीत्वम् । दीत्वनिर्देशः किमर्थः ? क्षितोऽसि जाल्म ।

श्याञ्चिदिवोऽस्पर्शनिपादानाजये ॥५१३१६५॥ श्या अञ्चि दिव इत्येतेभ्यः परस्य ततकारस्य नो भवत्यस्पर्शं अनपादाने अजये यथासङ्कथम् । शीनं घृतम् । शीनं मेदः । “द्रवघनस्पर्शयोः श्यः” [४३११६] इति जित्वम् । “हलः” [४१४१२] इति दीत्वम् । अजित्वपक्षे “स्फादेरातो” [५३१६०] इति नत्वं सिद्धम् । अस्पर्श इति किम् ? शीतं वर्तते । शीतो वातः । शीतमुदकमित्यत्र स्पर्शाभिधानद्वारेणैव द्रव्ये वृत्तिः । तेन नत्वाभावो जित्वं च सिद्धम् । स्पर्शां गुणो गृह्यते । ननु “सृष्टश उपतापे” इत्येतस्य स्पर्शो रोगः । तत्र प्रतिशीनः । कथं ज्ञायते “द्रवघनस्पर्शयोः” [४३११६] इति जित्वे सिद्धे “प्रतेः” [४३१२०] इति वचनात् । अञ्चु । समक्नौ शकुनेः पक्षौ । अनपादान इति किम् ? उदक्तमुदकं कृपात् । व्यक्त इत्यञ्जेः प्रयोगः । दिव । आद्यूनः । आद्यूनवान् । “द्वोः शृणुक् च” [४१४१७७] इत्यूट् । अजय इति किम् ? द्यूतं वर्तते । क्रीडायामप्युपमानाद्विजिगीवा गम्यते ।

निर्वाणोऽवाते ॥५१३१६६॥ निर्वाण इति निपात्यते अवातेऽर्थे । यदि ध्वर्थो वाताधारो न भवतीत्यर्थः । निःपूर्वाद्वातेः परस्य ततकारस्य नत्वं निपात्यते । निर्वाणो मुनिः । निर्वाणो दीपः । “धिगत्यर्थाच्च” [२१४१५८] इति कर्तरि क्तः । अवात इति किम् ? निर्वातो वातः । निर्वातं वातेन । वातोऽत्र निर्वातिक्रियायाः आधारः । निर्वाणो दीपो वातेनेत्यत्र दीपाधारो ध्वर्थो वातस्तु करणं तेन नत्वम् ।

शुषिपचेः कौ ॥५१३१६७॥ शुषि पचि इत्येताभ्यां परस्य ततकारस्य ककारवकारादेशौ भवतः । शुष्कः । शुष्कवान् । पक्कः । पक्कवान् ।

क्षौ मः ॥५१३१६८॥ क्षौ इत्येतस्मात्परस्य ततकारस्य मकारादेशो भवति । क्षामः । क्षामवान् ।

प्रस्त्यो वा ॥५१३१६९॥ प्रपूर्वास्त्यायतेः परस्य ततकारस्य मकारादेशो वा भवति । प्रस्तीमः । प्रस्तीमवान् । प्रस्तीतः । प्रस्तीतवान् । “प्रपूर्वस्य स्यः” [४३११८] इति जिः । “हलः” [४१४१२] इति दीत्वम् । यदा मत्वं न भवति तदा “स्फादेरातो धोर्यवतः” [५३१६०] इत्यस्यासिद्धत्वात् पूर्वं ज । कृते विहतनिमित्तत्वा-

त्रत्वं न भवति । प्रग्रहणं किम् ? केवलदन्यगिपूर्वाच्चान् भवति । स्त्यानः । संस्त्यानः । त्र्यै स्त्र्यै इत्यनयोः परस्य ग्रहणं पूर्वस्य सत्त्वाभावात् ।

फुल्लः ॥५१३७०॥ फुल्ल इति निपात्यते । फुल्लः । फुल्लवान् । जिफला विशरण इत्यस्मात्परस्य ततकारस्य लत्वं निपात्यते । “ति” [५१२१८६] इति उड् उत्त्वम् । कथं फलितः । फलान्यस्य सञ्जातानीति द्रष्टव्यम् । अथवा फल निष्पत्तावित्यस्य इडभाव उड् उत्वं लत्वं च निपात्यते । फुल्ल विकसन इत्यस्य पचाद्यचि रूपमिति चेत्, नैवं फलेस्ते लत्वमन्तरेण प्रयोगः स्यात् ।

समुदः ॥५१३७१॥ सम् उद् इत्येताभ्यां परः फुल्लो निपात्यते । सम्फुल्लः । सम्फुल्लवान् । उत्फुल्लः । उत्फुल्लवान् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” [५०] । समुद्ग्रथामेव गोः । इह मा भूत् । प्रफुल्ला लता ।

क्षीवकृशोलाघाः ॥५१३७२॥ क्षीव कृशः उल्लाघ इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते । क्षीवादिभ्यः क्ते कृते तकारस्य खं निपात्यते । इष्टि वा कृते इत्शब्दस्य । क्षीवः । कृशः । उल्लाघः । अचि इगुड्लक्षणे के च कृते रूपं सिद्ध्येत् । किं तु कृते क्ते अनिष्टं स्यात् । लाघेर्गिपूर्वस्य ग्रहणं किम् ? अस्यैव गिपूर्वस्य निपातनमन्यस्य मा भूत् । प्रक्षीवितः । परिकृशितः । उदिति विशेषनिर्देशात् अन्यगिपूर्वस्य न भवति । प्रोक्षितः । परिकृशः इत्यादिषु निपातितस्य शब्दस्य पश्चात् प्रादिसविधिः । परिगतः कृशः परिकृशः । प्रगतः क्षीवः प्रक्षीवः । नात्र गिसञ्ज्ञा । यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गिसञ्ज्ञा भवन्ति ।

त्राघ्राहीनुदोन्दविन्तेर्विभाषा ॥५१३७३॥ त्रा घ्रा ही नुद उन्द विन्ति इत्येतेभ्यः परस्य ततकारस्य विभाषया नत्वं भवति । त्रातः । त्राणः । प्रातः । प्राणः । हीतः । हीणः । नुत्तः । नुन्तः । समुत्तः । समुत्तः । वित्तः । वित्तः । ही इत्येतस्याप्राप्ते इतरेषां प्राप्ते नत्वं विकल्प्यते । विन्तेरिति श्नुन्विकरणनिर्देशाद् “विद् विचारणे” [धा०] इत्यस्य ग्रहणम् । तदुक्तम्—

वेत्तेस्तु विदितो ज्ञेयो विद्यतेवित्त इत्यते ।

विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च वित्तं भोगे तु विन्दते ॥

विभाषेति व्यवस्थितविभाषाविज्ञानम् । तेन—

देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्भिधिः ।

मिथस्तेन विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥

इति सिद्धम् । देवैस्त्रातः देवत्रातः । सञ्ज्ञायामपि त्रातेति भवति । प्राण्यङ्गे गलः । विषे गर एव । नक्रे ग्राहः । “विभाषा ग्राहः” [२११११७] इति णः । आदित्यादिषु पचाद्यजेव ग्राहः । इतियोगे च सद्भिधिर्न भवति वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । “लक्षणहोत्वोः क्रियायाः” [२१२१०४] इति शतृशानौ न भवतः । “न वा साकाङ्क्षे” [२१२१६४] इत्यतो मण्डूकश्रुत्या विभाषाऽनुवर्तते । अनितियोगे नित्यं भवतः । अर्जयन् वसति । अधीयानो वसतीति । ननु चेतिशब्देनैव हेत्वर्थस्य द्योतितत्वात् वर्षतीत्यादौ कथं सद्भिधिः ? इदं तद्दुर्गुदाहरणम् “विभाषा लृटः सत्” [२१३१३] इत्यनेन करिष्यामीति ब्रजति क्रियायां तदर्थायामितियोगे लृटः सद्भिधिर्न भवति । अत्रान्तसमानाधिकरणे अनितियोगे च सद्भिधिः । करिष्यन्तं पश्येति । वान्तसमानाधिकरणेऽपि विकल्प इति केचित् । करिष्यन् पुरुषः । करिष्यति पुरुषः । वातायने नित्यम् । गवाक्षः । प्राण्यङ्गे गोऽन्तम् । अन्यत्रोभयम् । गोग्रम् । गवाग्रम् । व्रतविषये नित्यमित्त्वम् । संशितव्रतः । विधिप्रतिषेधयोर्बभयरूपेण विविधमवस्थितया विभाषया सर्वं लभ्यते । आकृतौ पदार्थे सर्वं लक्ष्यराशिमैकत्वमुपनीय विधिः प्रतिषेधश्चेति द्वयमुपदिश्यते । व्यक्तौ पदार्थे उभयमत्र भवतीति प्रतिपाद्यते ।

वित्तमित्तदूनगूनपूनसितसर्णानि ॥५१३७४॥ वित्त मित्त दून गून पून सित ऋण इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । वित्तमिति “विद् वृ ङाभे” इत्यस्य भोगे प्रतीतौ च निपात्यते । भोगे वित्तमस्य । बहुवित्तः ।

भुज्यत इति भोगो धनादिप्रतीतौ वित्तोऽयं पुरुषः । विन्नमन्यत् । भित्तमिति निपात्यते शकलं चेत् । भिन्नं खण्डमित्यर्थः । उक्तञ्च—

तत्त्वमभिधायकं चेच्छकलस्यानर्थकः प्रयोगः स्यात् ।
सकलेनाप्यभिहिते न भवति तत्त्वं निगमयामः ॥

भिदि क्रिया शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तम् । प्रवृत्तिनिमित्तं तु शकलवजातिः । क्रियाभिधाने भिन्नं शकलमित्यपि भवति । दूनः । गूनः । दुग्बोर्दीत्वं नत्वं च निपात्यते । पूजो विनाशो नत्वम् । पूना यवाः । विनाश इति किम् ? पूता यवाः । पूतं धान्यम् । सित इति सिनोतेर्प्रासकर्मकर्तृकस्य भवति । सितो ग्रासः स्वयमेव । ग्रास इति किम् ? सिता पाशेन शूकरी । कर्मकर्तृकस्येति किम् ? सितो ग्रासो देवदत्तेन । ऋण इति ऋ इत्येतस्मात् उत्तमर्णाधमर्णयोर्नत्वम् । ऋणं ददाति । ऋणं धारयति । ऋतमन्यत् ।

कित्यस्य कुः ॥५१३।७५॥ क्वित्यस्यो यस्य तस्य धोः कवर्गोऽन्तादेशः पदान्ते । घृतस्पृक् । “स्युशोऽनुदके किः” [२।२।५६] इति क्विचः । एवं यादृक् । तादृक् । युङ् । नस्य कुत्वम् । त्यग्रहणपरिभाषया “क्वेः कुः” इति सिद्धे क्वित्यस्यो यस्येति असनिर्देशात् असत्यपि क्वौ क्विविधानेनोपलक्षितस्य क्विवन्तस्यापि भवति । सहस्रदृगिति । इहापि तर्हि स्यात् । रज्जुसृष्टभ्याम् । रज्जुसृष्टिभिः । स्रगिति निपातनात् क्यन्तोपलक्षणं नास्तीत्यदोषः । “नशेर्वा” [वा०] । जीवनक् । जीवनट् । क्विपि विचि वा । अथवा जीवस्य नाशो जीवनडिति सम्पदादित्वात्क्विप् ।

ससजुषो रिः ॥५१३।७६॥ सकारान्तस्य पदस्य सजुष् इत्येतस्य च रिर्भवति । “अन्तेऽल्लः” [१।१।४६] इत्यन्तस्य । जश्वापवादोऽयम् । सर्वज्ञः साधुभिरासेव्यते । सजुः । सह जुषा वर्तते “सहेति तुल्ययोगे” [१।३।६१] असः । “वा नीचः” [४।३।१६०] इति सहस्य सो भवति । यदि वा सह जुषते इति सजुः ।

अहन ॥५१३।७७॥ अहन्तित्यस्य पदस्य रिर्भवति । अहोभ्याम् । अहोभिः । दीर्घाहा कालः । हे दीर्घाहोऽत्र । अहन्निति विकृतनिर्देशात् रेरसिद्धत्वेन नत्वं न भवति । वचनं तु हे दीर्घाहोऽत्रेति सावकाशम् । हन्तेर्लङि अहन्नित्यस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति । “अह्नो रिविधौ रूपरात्रिरथन्तरेषूपसङ्ख्यानम्” [वा०] इति । रोऽसुपीत्यस्य बाधनार्थम् अहोरूपम् । अहोरात्रिः । एकदेशविकृतत्वादिहापि भवति । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः । अह्नो रथन्तरम् अहोरथन्तरम् ।

रोऽसुपि ॥५१३।७८॥ अहन्नित्येतस्य रेफदेशो भवत्यसुपि परतः । अहर्गच्छति । अहर्ददाति । असुपीति किम् ? अहोभ्याम् । अहोभिः । ननु अहर्ददातीत्यत्रापि “त्यस्वे त्याश्रयम्” [१।१।६७] इति सुवस्ति । एवं तर्हि रेफविधानसामर्थ्यात् अह्नो रिविधौ उपि त्यलक्षणं न भवति । यत्र तु खं तत्र त्याश्रयेण रित्वम् । दीर्घाहा निदाघः । हे दीर्घाहोऽत्रेति ।

वसुसंभुध्वंस्वनडुहां दः ॥५१३।७९॥ वस्वन्तस्य पदस्य संभु ध्वंसु अनडुह् इत्येतेषां च दकारादेशो भवति । विद्वत्कुलम् । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भिः । उखाया संसते उखासत् । उखासद्भ्याम् । उखासद्भिः । पर्णध्वत् । पर्णध्वद्भिः । स्वनडुकुलम् । अनडुद्भ्याम् । अनडुद्भिः । पदस्येति किम् ? अनडुहा । वस्वादीनामिति किम् ? पयोभ्याम् । अनडुहो दत्वप्राप्तिरितरेषां रित्वम् । “ससजुषो रिः” [५।३।७६] इत्यतः सकारान्तग्रहणमनुवर्तते । तेन विद्वानिति नकारस्य न भवति । “येन नाप्राप्ते” इति न्यायेन रित्वस्य दत्वं बाधकम् । स्फान्तखे प्राप्ते चाप्राप्ते च दत्वमतो विद्वानित्यत्र स्फान्तखस्य न बाधकम् । अनडुहो वचनसामर्थ्याद् दत्वं न भवति । नुमो दत्वं वचनसामर्थ्यान्न भवति । पदाधिकारादिहापि भवति । विद्वत्काम्यति । “नः क्ये” [१।२।१०४] इति नियमाद् विद्वस्यतीत्यत्र भसञ्ज्ञा ।

तिपि धोः ॥५१३।८०॥ तिपि परतः धोः सकारान्तस्य पदस्य दकारादेशो भवति । अचकाद्भवान् । अन्वशाद्भवान् । लङ् । “हृङ्घ्यापः” [४।३।५६] इति तिपः खम् । तिपीति किम् ? क्विपि चकाः । रिक्त्वा-पवादो योगः ।

सिपि रिवा ॥५१३।८१॥ सिपि परतो धोः सकारान्तस्य पदस्य रिर्भवति दकारो वा । अचकास्त्वम् । अचकात्त्वम् । अन्वशास्त्वम् । अन्वशात्त्वम् । दकारस्य विकल्पपक्षे रित्वं सिद्धमेव । रिग्रहणमुत्तरार्थम् । “दः” [५।३।८२] इत्यत्र पक्षे रिर्था स्यात् । तिपि सिपि च परतो धुरेव सम्भवति । धुग्रहणमुत्तरार्थम् ।

दः ॥५१३।८२॥ धोर्दकारान्तस्य पदस्य सिपि परतो रिर्भवति दकारो वा । अभिनत्त्वम् । अभिनत्त्वम् । अजर्घास्त्वम् । अजर्घत्वं । गृध इत्येतस्मात् यङुच् । द्वित्वादिकार्यम् । लङ् सिप् उङ् एप् “एकाचः” [५।३।५४] इत्यादिना भष्भावः । हृङ्घ्यापः खम् । जर्त्वं दकारः ।

मो नः ॥५१३।८३॥ धोर्मकारान्तस्य पदस्य नकारादेशो भवति । प्रताम्यतीति प्रतान् । प्रशान् । प्रदान् । नत्वस्यासिद्धत्वात् न मृदन्तनखम् । न इति किम् ? विद् । भिद् । धोरित्येव । इदम् । किम् । अनयोर्मकारो-च्चारणस्यावकाशः इदामतीत्यादौ “नः क्ये” [१।२।१०४] इति पदत्वाभावः । पदस्येत्येव । प्रशामौ । प्रशामः ।

म्बोः ॥५१३।८४॥ धोर्मकारस्य मकारस्वकारयोश्च परतः नकारादेशो भवति । जङ्गन्वः । जङ्गन्मः । अपदान्तार्थं आरम्भः ।

इको दी वोरुडः ॥५१३।८५॥ रेफवकारान्तस्य धोः पदस्य उङ् इको दीर्भवति । गीः । आशीः । आङ्पूर्वस्य शासोऽनुदात्तेतो ग्रहणादप्रातमित्वम् । “आशिषि” [२।४।१४६] इति निपातनाद्भवति । धुर्वा । धूर्वा । धूर्वः पदान्तस्य वकारस्य ऊठा भवितव्यमिति वग्रहणमुत्तरार्थम् । इक इति किम् ? अत्रिभर्भवान् । मकारे अकारस्य मा भूत् । वोरिति किम् ? भिद् । छिद् । उङ् इति किम् ? अत्रिभर्भवान् । चस्य वेर्मा भूत् । धोरिति किम् ? साधुः । मुनिः । पदस्येत्येव । गिरौ । गिरः ।

हल्पभकुर्बुरः ॥५१३।८६॥ हल्परौ यौ रेफवकारौ तदन्तस्य धोरुड इको दीर्भवति भसंज्ञकं कुरङ्कुरौ च वर्जयित्वा । आस्तीर्णम् । अत्रगूर्णम् । दीव्यति । सीव्यति । अमकुर्बुर इति किम् ? भस्य धुरं वहतीति धुर्ये । दिवि भवो दिव्यः । क्विबन्तस्येदं ग्रहणम् । कुर । कुर्यात् । कृञो विकृतनिर्देशात् चिकीर्षतीत्यत्र दीत्वं भवत्येव । छुर् । छुर्यात् । आशिषि लिङ् । धोरित्येव । चतुर इच्छति चतुर्यति । दिवमिच्छति दिव्यति । त्यस्येमौ रेफवकारौ । इक इत्येव । गव्यति । “यि त्ये” [४।३।६७] इत्यवादेशः । हल्पराविति विशेषणं किम् ? मुमुरीयतीत्यत्र मा भूत् । अपदान्तार्थं वचनम् ।

उङ्ङि ॥५१३।८७॥ धोरुडभूतौ यौ रेफवकारौ तयोर्दुड इकः दीर्भवति । कीर्तयति । हृङ्ङिता । मूर्ङ्ङिता । तूर्विता । धूर्विता । “अचो रहाद् द्वे” [५।४।१२६] इत्यस्यासिद्धत्वाद्दुङ्भूतत्वम् । प्रतिदीव्ना । प्रतिपूर्वाद्दिवः “कन् युवृषितक्षि” [३० सू०] इत्यादिना कन् । “अनोऽखमम्बस्फात्” [४।४।१२२] इत्यखम् । “न पदान्त” [१।१।५८] इत्यादिना स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [५०] इत्यस्यानित्यत्वाच्च दीत्वम् । अथ वाऽत्र “हलि” [४।३।१२६] इति दीत्वम् । तस्य नेति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति । रेफवकारान्तस्य सस्य [भस्य] स प्रतिषेधः । इह कस्मान्न भवति । री गतिरमणयोः । वी गतिप्रजनकान्यशनेषु । रिर्यतुः । [रिर्युः । विव्यतुः । विव्युः । यणादेशस्य] स्थानिवद्भावात् बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा असिद्धत्वमिति न भवति । चतुर्यितेत्यत्र अतः खस्य बहिरङ्गत्वात् धोरुडभूतो रेफो नास्तीति न दीत्वम् । गुणादीनामव्युत्पन्नत्वात् । जिभिः । कियो । गियोरित्यादिषु “हलि” दीत्वं न भवति । व्युत्पन्नौ बहुलवचनात् । “जीर्यतेः किरच वः” [३०] । इति क्रिः । “ऋत इङ्ङोः” [५।१।७४] इतीत्वम् । रन्तत्वम् । रेफस्य वकारः । (कृगृभ्यां) “कृ गृ पृ कुटिभिविभ्यश्च” [३०] इति इः । उङ्गेरिति प्राप्ते उङ्गीति सौत्रो निर्देशः ।

दादुर्दो मोऽदसोऽसेः ॥५१३८८॥ अदसः असकारस्य दात्परस्य वर्णमात्रस्य उवर्णादेशो भवति दकारस्य च मकारः । अमुम् । अम् । अमून् । अमुना । अमूभ्याम् । उत्वस्यासिद्धत्वात्प्राक् सन्धिकार्यम् । भाव्योपि क्वचित्स्वं गृह्णात्युक्तम् । नतः “स्थानेऽन्तरतमः” [१११४७] इति मात्रिकार्धमात्रिकयोर्मात्रिको द्विमात्रिकस्य द्विमात्रिक उकारो भवति । असेरिति किम् ? अदस्यति । “स्वेपः क्यच्” [२११६] । असेरिति यद्यविद्यमानसकारस्येयुच्यते । अदः कुलम् । अदोऽत्र इत्यत्रापि स्यात् । एवं तर्हि अः सिर्यसिमन् सोऽयमसिः । अकारीभूतः सिर्यसिन्मित्यर्थः । तस्यासेरत्वम् । तेन त्यदाद्यत्वविषये विधिः । “विष्वग्देवयोश्च टेर्द्रथञ्चौ कौ” [३१४१९८] इति अद्रथादेशे कृते दर्शनभेदः । “अन्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इति परिभाषा नाश्रिता तेषाम् “अदे सोऽदौ” परतः उक्तं भवति । अमुद्रथङ् । “पृथङ् मत्वं केचिद्विच्छन्ति लत्ववन्” । चलीकृत्यते । क्लृप्तः । कल्पकः । इत्यत्र लाक्षणिकस्य रेफस्य ऋकारस्य च लत्वम् । एवमन्यत्रापि । अमुमुयङ् । परिभाषाश्रयणे तु “केचिदन्यसदेशस्य” अदमुयङ् । त्यदाद्यत्र विषय एव मुत्वम् । “नेत्येकेऽनेहिं दृश्यते” । अद्रथङिति चत्वारो भेदाः । दादिति किम् ? अमुश । अमुयोः । स्त्रियां टौमोः परतः त्यदाद्यत्वे टापि “आडि चापः” [५२११००] इति एत्वे अयादेशे च कृते “अन्तेऽलः” [१११४६] इति यकारस्योत्वं मा भूत् ।

वहावीरेतः ॥५१३८९॥ वहौ निमित्ते निष्पन्नस्य अदसः दात्परस्यः एतः ईकारादेशो भवति । अमी । अमीभिः । अमीभ्यः । अमीपाम् । अमीषु । अथवा ब्रह्मवित्यर्थनिर्देशः । ब्रह्मवर्षं वर्तमानस्य अदसः इति ज्ञेयम् । पारिभाषिके हि अमी इत्यत्र परत्वासम्भवाच्च स्यात् ।

वाक्यस्य टेः पः ॥५१३९०॥ वाक्यस्य टेः पो भवतीत्येपोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति “दूराद्धृते” [५१३९२] आगच्छ भो देवदत्ता ३ । वाक्यग्रहणं किम् ? अन्यस्य यथा स्यात् । पदाधिकारात् सर्वेषां पदानां मा भूत् । टेरिति किम् ? “अचश्च” [११११२] इति अनन्तस्याप्यचो यथा स्यात् । अन्यथा अत्र वाक्ये विशेष्यमागे हलन्तस्य न स्यात् । अचो विशेष्यत्वे सर्वेषामचां स्यात् ।

प्रत्यभिवादेऽशूद्रस्यस्यके ॥५१३९१॥ शूद्र स्त्री अस्यक विषयवर्जिते प्रत्यभिवादे यद्वाक्यं वर्तते तस्य टेः पो भवति । अभिवाद्ये देवदत्तोऽहं भो ३ । आयुष्मानेधि देवदत्ता ३ । अत्राभिवाद्यमाने गुरुणा प्रयुक्तमाशीःपूर्वकं प्रियहितयुक्तं प्रतिवचनम् इत्यभिवादः । अशूद्रस्यस्यक इति किम् ? अभिवादये तुपजकोऽहम् । भो आयुष्मानेधि तुपजक । शूद्रे पो न विहितः । अभिवादये गार्ग्यहं भो । आयुष्मती भव गार्गी । स्त्रियां पो न भवति । अभिवादये स्थाल्यहं भो । आयुष्मानेधि स्थालिन् । अत्र दृष्टवदसञ्ज्ञाशब्दे पो न भवति । सञ्ज्ञाशब्दे भक्तयेव । यदा तु विहेठयितुकामः सञ्ज्ञामसञ्ज्ञां च तस्य कथयति तदा अस्यकोऽयमिति ज्ञाते भिद्यस्व वृषल स्थालिन् न त्वं प्रत्यभिवादमर्हसीत्युच्यते । लोकव्यवहारात्प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाद्वा नामान्तस्य गोत्रान्तस्य च पविधिः । इह न भवति देवदत्त कुशल्यसि । देवदत्त आयुष्मानेधि । इन्द्रधर्मन् कुशल्यसि । सर्वः पविधिर्वा भवतीति वक्ष्यति । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन “भोराजन्यविशां वा भवति” । अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः । आयुष्मानेधि देवदत्त भो ३ । आयुष्मानेधि देवदत्त भो । राजन्यः । अभिवादये इन्द्रवर्माऽहं भोः । आयुष्मानेधि इन्द्रवर्मन् । आयुष्मानेधि इन्द्रवर्मन् । विशः । अभिवादये इन्द्रपालितोऽहं भोः । आयुष्मानेधि इन्द्रपालिता ३ । आयुष्मानेधि इन्द्रपालित । भोशब्दस्याप्राप्ते राजन्यविशोर्गोत्रत्वात्प्राप्ते विकल्पः ।

दूराद्धृते ॥५१३९२॥ दूराद्धृते आह्वाने वर्तमानस्य वाक्यस्य टेः पो भवति । आगच्छ भो देवदत्ता ३ । दूराद्धृत इति किम् ? आगच्छ भो जिनदत्त । प्रयत्नविशेषेण आह्वाने यत्र शब्दः श्रूयते तद्दूरमिह नास्ति । हृतग्रहणं सम्बोधनमात्रोपलक्षणम् । तेनेहापि पः सिद्धः । सक्तून् पिव देवदत्ता ३ इति । सूत्रे दूरादिति “तेभ्य इप् च” [११४४३] इति का ।

हैहप्रयोगे हैहयोः ॥५१३।६३॥ है हे इत्येतयोः प्रयोगे हैहयोः पो भवति दूराद्भूते । हैरे जिनदत्त । जिनदत्त हैरे । हैरे जिनदत्त । जिनदत्त हैरे । पुनर्हैहयोर्ग्रहणं किम् ? अन्यस्य मा भूत् । हैहयोरेव यथा स्यात् । प्रथमं हैहग्रहणम् अनन्तयोरपि यथा स्यात् । अन्यथा वाक्यस्य टेः प्राप्नोति । सूत्रारम्भस्तु अनृतोऽनन्तस्येयादिवाचकः सम्भाव्येत । प्रयोगग्रहणादनर्थकयोरपि भवति । आगच्छ भो माणव हैरे देवदत्त इति ।

अनृतोऽनन्तस्याटोऽहोऽन्य रोः ॥५१३।६४॥ ऋकारवर्जितस्य रोरनन्त्यस्यापि अन्यस्यापि टेः एकैकस्य पो भवति । हैरेदेवदत्त । हे देवदत्त । अनृत इति किम् ? कृष्णमित्रा । रोरिति किम् ? देवदत्तस्य वकारात्परत्र माभूत् । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् ।

ओमभ्यादाने ॥५१३।६५॥ अभ्यादानं प्रारम्भः । ओमित्येष शब्दः अभ्यादाने पो भवति । ओरे-मृषभं पवित्रम् । ओरेमृषभमृषभगामिनं प्रणमत । अभ्यादान इति किम् ? ओं भो ददाति । अयमोमशब्दः प्रतिश्रवणे वर्तते ।

वा हेः पृष्टप्रत्युक्तौ ॥५१३।६६॥ पृष्टप्रत्युक्तौ हेः पो भवति वा । अकार्पाः कटं देवदत्त ! इति पृष्टः अकार्पा हीरे । अकार्पा हि । अलावीः केदारं देवदत्त ! अलाविषं हीरे । अलाविषं हि । हेरिति किम् ? करोमि ननु । पृष्टप्रत्युक्ताविति किम् ? देवदत्तः कटं करिष्यति । प्रत्युक्ताविति किम् ? देवदत्त कटमकार्पाहिं । वेति योगविभागः । तेन सर्व एव पविधिः साहसमनिच्छता वा प्रयोक्तव्यः ।

विचार्यं पूर्वम् ॥५१३।६७॥ विचार्यं पूर्वं पविधिमापद्यते । अर्हिनुरे रज्जुर्नु । स्थानुर्नु रे पुरुषो नु । द्वयोर्बहूनां वा वाक्यानां पूर्वस्य टेः पो भवति ।

प्रतिश्रवणे ॥५१३।६८॥ प्रतिश्रवणे च वाक्यस्य टेः पो भवति । प्रतिश्रवणं श्रवणाभिमुख्यं प्रतिज्ञानम् अभ्युपगमश्चाविशेषेण गृह्यते । श्रवणाभिमुख्ये देवदत्त भो किमात्थरे इति । प्रतिज्ञाने कृतकः शब्दो भोः । एवं भवितुमर्हतीरे । अभ्युपगमे भोज्यं मे देहि भोः । हन्त ते दास्यामीरे ।

पूजिते ॥५१३।६९॥ पूजिते च वाक्यस्य टेः पो भवति । शोभनः खल्वसि अग्निभूतारेइ । पयारेइ । कावेपि च कृते “एचोऽदेः” [५।३।१०४] इत्यादिना आकार इदुतौ च । अथवा शोभनः खल्वसि देवदत्तारे इत्युदाहरणम् ।

चिदित्युपमार्थे ॥५१३।१००॥ चिदित्येतस्मिन्ननुपमार्थं प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेः पो भवति । अग्निश्चिद्व्यायारेत् । राजाचिद्ब्रूयारेत् । चिदिति किम् ? राजेव ब्रूयात् । अग्निर्माणवको भायात् । इवशब्दस्य प्रयोगाप्रयोगयोरुपमार्थोऽस्ति । न तु चिच्छब्दः । उपमार्थ इति किम् ? कथञ्चिद्ब्रवीपि । कृच्छेऽत्र चिच्छब्दः । इतिकरणं किम् ? चिच्छब्दस्य मा भूत् । वाक्यस्य टेरेया स्यात् ।

कोपाऽसूयासम्मतौ औ वा ॥५१३।१०१॥ कोपा असूया सम्मति इत्येतेभ्यर्थेषु औ परतः पो भवति वा । कोपे-माणवकारे । माणवक । अविनीतकारे । अविनीतक । इदानीं शास्यसि जाल्मारे । असूयायाम्-माणवकारे । माणवक । अभिरूपकारे । अभिरूपक । शोभनः खल्वसि माणवक । कुत्सन-मसूयान्तर्भूतं तत्कार्यत्वात् । शाक्तीकारे । शाक्तीक । याष्टीकारे । याष्टीक रिक्ता ते शक्तिः । “वाक्यादेर्बो-ध्यस्य” [५।३।१६] इत्यादिना द्वित्वम् । वेति व्यवस्थितविभाषा विज्ञानात् कोपकार्ये भर्त्सने च पर्यायेण पः । चौर । चौरारे । वृषल । वृषलारे । चौरारे । चौर । वृषलारे । वृषल । प्रातयिष्यामि त्वाम् । बन्ध यिष्यामि त्वाम् । भर्त्सने च मिडः साकाङ्क्षस्याङ्गयुक्तस्य टेः पविधिरद्वित्वं च । अङ्ग कृजारे अङ्ग व्याहरारे इदानीं शास्यसि जाल्म । मिड इति किम् ? अङ्ग देवदत्त । साकाङ्क्षस्येति किम् ? अङ्ग पच । नैतत्पर-माकाङ्क्षति । भर्त्सने इत्येव । अङ्ग पठ पुस्तकं ते दास्यामि ।

क्षियाशीःप्रैषेषु मिडकाङ्कम् ॥५१३१७२॥ क्षिया क्षेपः । इष्टाशंसनमाशीः । असत्कार-पूर्विका व्यापारणा प्रैषः । क्षियादिषु मिडन्तमाकाङ्क्षं पविधिं लभते । क्षियायाम्-स्वयं ह रथेन याती३ उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयं ह श्रोदनं भुङ्क्ते३ उपाध्यायं सक्तृन् पाययति । भुङ्क्ता इति मिडन्तमाकाङ्क्षकम् । आकाङ्क्ष्यमपि मिडन्तमाकाङ्क्षग्रहणसामर्थ्यात् । सुवन्ते सिद्धैवाकाङ्क्षा । आशिपि—पुत्रांश्च लप्सीष्टाः३ धनं च । अत्र लप्सीष्टा इत्यस्य गम्यमानमिडन्तापेक्षस्य पविधिः । तात तर्कं चाध्ये-पीष्टाः३ जैनेन्द्रं च । प्रैषे—त्वं ह पूर्वग्रामं गच्छा३ देवदत्तो दक्षिणं व्रजतु । आकाङ्क्षमिति किम् ? दीर्घमायु-रस्तु । प्रैप इत्यत्र “प्रादूहोढोव्यैष्येषु” [४१३।७६ वा०] इत्यनेन एडि पररूपापवाद् ऐप् ।

अनन्तस्यापि प्रश्नाख्याः योः ॥५१३१७३॥ प्रश्ने आख्याने च अनन्तस्यापि मिडन्तस्य अनन्तस्यापि यस्य कस्यचित् पदस्य टेः पो भवति । प्रश्ने—आगमः३ पूर्वात् ग्रामान् अग्निभूता३ इ । पटा३ उ । आख्याने—आगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् भोः३ । अत्र सर्वेषामपि पदानां पदान्ते केचित् पमिच्छन्ति ।

एचोऽदेः पूर्वस्यात्परस्येदुतौ ॥५१३१७४॥ एचः अदिसञ्ज्ञकस्य पप्रसङ्गे पूर्वस्यार्थस्य आकारः पो भवति परस्य चार्द्धस्य इदुतौ भवतः । “एचोऽद्रेरद्विदुस्परः” इति सिद्धे गुरुसूत्रकरणं किम् ? इदुतौः पो न भवति । प्रश्नान्तपूजितप्रत्यभिवादिषु पदान्तस्य च एचः पो भवतीति ज्ञापनार्थम् । प्रश्नान्ते अगमः३ पूर्वग्रामान् अग्निभूता३इ । पटा३ उ । पूजिते—शोभनः खल्वसि अग्निभूता३इ । पटा३उ । प्रत्यभिवादे—आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ । पटा३उ । परिगणनं किम् ? दस्यो३ दस्यो घातयिष्यामि त्वाम् । आगच्छ भो अग्निभूते३ । पदान्तस्येति वचनादिह न भवति । भद्रं करोमि गौ३रिति । पूजिते पः । आदिति किम् ? अपाक्ता३मोदनं कन्ये३ । प्रश्ने पविधिः ।

य्वावचि सन्धौ ॥५१३१७५॥ अर्थवशाद्विभक्तीपरिणामः । इदुतोरचि परतः यकारवकारादेशौ भवतः सन्धौ विवक्षिते । आ अध्यायपरिसमाप्तेः सन्धावित्यधिकारः । अग्ना३विन्द्रम् । पटा३बुदकम् । सिद्धः पविधिः सन्धाविति ज्ञापितं पुरस्तात् । तेन “अचीको यण्” [४१३।६५] इति यत्र यणादेशो नास्ति तदर्थमिदम् । अचीति किम् ? अग्ना३इ गतम् । पटा३उ गतम् । सन्धाविति किम् ? अग्ना३इ इन्द्रम् । पटा३उ उदकम् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

पुमः खय्यम्परे सोऽनुस्वारपूर्वः ॥५१४।१॥ पुमित्येतस्याम्परे खयि परतः सो भवत्यनुस्वारपूर्वः । पुमिति पुंसः स्फान्तखे कृतेऽनुकरणम् । खयीति प्रत्याहारसाहचर्यात् अमोऽपि प्रत्याहारग्रहणम् । पुंस्कामा । पुंश्चली । पुंस्पुत्रा । पुंस्कोकिलः । पुंसि कामोऽस्याः । पुमांसं चलयतीत्यादि ज्ञेयम् । सकारस्यासिद्धत्वाद्द्वित्वं न । खयीति किम् ? पुंदासः । पुंगवः । अम्पर इति किम् ? पुंक्षीरः । अनुस्वार इति विन्दोः सञ्ज्ञा पूर्वैः कृता । पुङ्ख इत्यत्र पुंशब्दस्यानर्थकत्वाद्ग्रहणम् ।

नश्छव्यप्रशान् ॥५१४।२॥ नकारान्तस्य पदस्य अम्परे छवि परतः सो भवत्यनुस्वारपूर्वः प्रशान्शब्दं वर्जयित्वा । भवाँश्छादयति । भवाँश्छाकारीयति । भवाँस्थुडति । भवाँश्चरति । भवाँष्टीकते । भवाँस्तरति । छवीति किम् ? भवान् करोति । अप्रशानिति किम् ? प्रशान् चिनोति । “मो नः” [५१३।८३] इति नत्वस्यासिद्धत्वा-न्नलाभावः । अम्पर इत्येव । भवान् त्सरुकः । त्सरौ कुशलः । “आकषादिः कः” [३३।१७] इति कः ।

भवद्भगवद्घवतो वा रिः काववस्यौः ॥५१४।३॥ भवत् भगवत् अघवत् इत्येतेषां कौ परतः वा रिर्भवति । यदा रिस्तदा अघवन्दस्यौकारः रित्वं प्रति भवदादीनां स्थानार्थस्तानिर्देशः सोऽर्थादघवन्दापेक्षयाऽव-
५१

यवार्थः सम्पद्यते । अवस्येति निर्देशात् “नानर्थकेऽन्तेऽलो विधिः” [५०] इति वा सर्वस्य स्थाने ओकारः । हे भोः । हे भवन् । हे भगोः । हे भगवन् । हे अघोः । हे अघवन् । भवच्छब्दो “भातेर्भवतुः” [३० सू०] इति डवत्वन्तः । तेन विशेषवाचित्वात्सम्बोधनम् । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” [५०] इतीयं परिभाषा विभक्तौविषये नेष्यत इति स्त्रियां विधिर्न भवति । हे भवति । हे भगवति । हे अघवति । भो इति भि-संज्ञकं शब्दान्तरमस्ति तस्यायं प्रयोगः । भो सुन्दरि । भो भो नरेन्द्राः सुखमाध्वम् ।

ओदपूर्वस्य योऽशि ॥५१४४॥ रिरिति वर्तमानो विपरिणम्यते । ओकारपूर्वस्यावर्णपूर्वस्य च रेः यकारादेशो भवति अशि परतः । भोयत्र । भगोयत्र । अघोयत्र । भोयाहि । भगोयाहि । अघोयाहि । अवर्णपूर्वस्य-सर्वज्ञयास्ते । देवायासते । नरा गच्छन्ति । अनन्तरसूत्रेण निवर्तितस्य ओकारस्य ग्रहणादिह न भवति । गोरत्र । पटोरत्र । ओदपूर्वस्येति किम् ? मुनिरत्र । अशीति किम् ? वृक्षस्तत्र । छुवीति सत्वस्यासिद्धत्वाद्यत्वं प्रसज्येत । रेरित्येव । पुनरत्र ।

व्योः खं वा ॥५१४५॥ वकारयकारयोरशि परतः खं भवति वा । पदस्येत्यनेन विशेषणात्पदान्तयोर्व्योः सञ्ज्ञातव्यम् । पट इह । पटविह । वृक्षा अत्र । वृक्षावत्र । वकारसाहचर्याद्यकारस्याविशेषेण खम् । भो अत्र । भोयत्र । सर्वज्ञ आस्ते । सर्वज्ञयास्ते । देवा आसते । देवायासते । ते आसते । तयामते ।

हलि ॥५१४६॥ अशीति वर्तते । व्योः खं भवति अशि हलि परतः । नित्यार्थं आरम्भः । देवा यान्ति । वाता वान्ति । वकारादौ “बलि व्योः खम्” [४३।५५] इत्यनेन यखं नाशङ्कनीयम् । तस्मिन् यकारस्यासिद्धत्वात् । अशीति हलो विशेषणं किम् ? वृक्षं करोतीत्यत्र मा भूत् । वृक्षं वनतीति वृक्षवन् । वृक्षवनमाचष्टे णिच् । वृक्षवयतेः पुनः क्विप् । “पूर्वश्रासिद्धे न स्थानिवत्” [५०] इति णोः स्थानिवद्भावो नास्ति । अशि तु हलि खं भवत्येव । वृक्ष हसति ।

मोऽनुस्वारः ॥५१४७॥ अशीति निवृत्तम् । मकारान्तस्य पदस्य अनुस्वारो भवति हलि परतः । व्रतं रक्षति । धर्मं शृणोति । अयं षडिकः । स्वर्गं साधयति । पादं हन्ति । हलीत्येव । इदमत्र । पदान्तस्येत्येव । रम्यते ।

नश्चापदान्तस्य भ्रल्लि ॥५१४८॥ नकारस्य मकारस्य चापदान्तस्यानुस्वारो भवति भ्रल्लि परतः । यशांसि । तितांसति । अनुस्वारस्यासिद्धत्वात् “सन्तस्फमहतोः” [४।१७] इति दीत्वम् । मकारस्य-रस्यते । अधिजिगांसते । “सनि” [१।४।११६] “इङ्” [१।४।१२०] इति गमादेशः । अपदान्तस्येति किम् ? हे राजन् भवान् स्थास्यति । भ्रलीति किम् ? राजन्यः । गम्यः ।

सम्राट् ॥५१४९॥ सम्राडिति निपात्यते क्व्यन्ते राजतौ परतः । समो मकारस्य मकार एव निपात्यते । “सत्सुद्विष” [२।२।५६] आदि सूत्रेण क्विप् । सम्राट् सगरः ।

हि म्परे घा ॥५१५०॥ म इति वर्तते । हकारे मकारपरे परतः मकारस्य वानुस्वारो भवति । किं हल्लयति । किम्हल्लयति । कथं हल्लयति । कथम्हल्लयति । ज्वल हल हल चलन इत्यस्य णिचि “ज्वल-हल हलनमामगं वा” [ग० सू०] इति मित्सञ्ज्ञा । हीति किम् ? कथं स्मरसि । म्पर इति किम् ? किं ज्वलयति ! प्राप्ते विकल्पोऽयेम् । वाग्रहणं बहुलार्थम् । तेन “यज्वलपरे हकारे नकारस्य वा यज्वला भवन्ति” । किं ह्यः । किं ह्यः । किं हल्लयति । किं हल्लयति । किं हल्लयति । किं हल्लादयति । किं हल्लादयति ।

नपरे नः ॥५१५१॥ नकारपरे हकारे परतः मकारस्य वा नकारादेशो भवति । किन् हुते । किं हुते । कथन्हुते । कथं हुते ।

ङ्णोः कुक्कुक्छुरि ॥५१५२॥ ङकारणकारयोः पदान्ते वर्तमानयोः वा कुक् कुक् इत्येतावागमौ भवतः शरि परतः । प्राङ्क छेते । प्राङ्शेते । पदान्ताङ्भयः परस्य छत्वार्यं पूर्वान्तकरणम् । प्राङ्क्षण्डे । प्राङ्-

षण्डं । प्राङ्साये । प्राङ्साये । कुकः पूर्वान्तत्वात् परस्य “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इति पत्वप्रतिषेधः ।
 टुकू—सुपण्ट् शेते । सुपण् शेते । सुपण्ट् षण्डं । सुपण् षण्डे । सुपण्ट् साये । सुपण्साये । टुकूः पूर्वान्तत्वे
 परस्य “पदस्य टोः” [५।४।१२१] इत्यादिनियमात् ष्टुत्वाभावः ।

[ड्नां धुट् सोश्चः ॥१।४।१३॥]

नश्शि तुक् ॥१।४।१४॥ नकारस्य पदान्तस्य शकारे परतो वा तुगागमो भवति । अत्रापि छुत्वार्थं
 पूर्वान्तत्वम् । भवाञ्छेते । भवाञ्छेते । भवाञ्छेते ।

[मयो वोञ्च्युजः ॥१।४।१५॥]

डमो नित्यं डमुट् प्रात् ॥१।४।१६॥ प्रात्परो यो डम् तदन्तात्परस्याचो नित्यं डमुट् भवति ।
 कुङ्ङास्ते । सुगणिणह । कुर्वनास्ते । प्रादिति किम् ? प्राडास्ते । अचीत्येव । कुङ् शेते । ननु परमर्दण्डना-
 वित्यत्र कस्मान्न भवति । अत्र हि “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इत्यवयवविभक्तीमाश्रित्य पदान्तत्वमस्तीति चेत् ;
 नायं दोषः—त्याश्रयलक्षणेन पदत्वमुत्तरपदे एव भवति नान्यत्र । कथामिति चेत्, “भवद्गवद्वधवतः” [५।४।३]
 इति निर्देशात् । अन्यथा अश्रवत्कारस्यापि जश्त्वं स्यात् । एवं च पीतपयसौ सुराजानावित्यत्र रित्वनक्षे न भवतः ।

ढो ढे खम् ॥१।४।१७॥ ढकारस्य ढकारे परतः खं भवति । ऊढिः । गूढम् । लीढम् । पदान्ते
 ढकारस्यासम्भवात् वचनात्पदमध्ये विधिः । नन्विह सम्भवति मधुलिङ्गद्वैकत इति । ढत्वस्यासिद्धत्वात्
 जश्त्वमत्र भविष्यति । ननु मध्येऽपि ढत्वस्यासिद्धत्वात्परो ढकारो नास्ति तत्र यदि वचनाद्ढखम् । पदान्तेऽपि
 स्यात् । पदमध्ये श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भवति । पदान्ते न श्रुतिकृतं नापि शास्त्रकृतमानन्तर्यम् ।
 जश्त्वस्य सिद्धत्वात् ।

रो रि ॥१।४।१८॥ रेफस्य रेफे परतः खं भवति । नीरक्तम् । दूरक्तम् । अग्नीरथः । इन्दूरथः ।
 पुना रक्तं वासः । “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [प०] इतीयं परिभाषा नेहाश्रीयते “रेश्च सुषि”
 [५।४।२४] इति ज्ञापकात् । तत्र रेरेव सुपीति नियमो वक्ष्यते । इह यदि निरनुबन्धकस्य रेफस्य ग्रहणं स्यात्
 इदमेव तत्रानुवर्तते । इति रेः प्राप्त्यभावान्नियमोऽनर्थकः स्यात् । इह पदस्यावयवो यो रेफः तस्य खं भवतीत्या-
 श्रयणादपदान्तरस्यापि रेफस्य खं भवति । अजर्वा इति जर्गुध् इत्यस्माच्चडुवन्ताल्लडः सिप् । “हल्ङ्थापः”
 [४।३।५६] इति सिपः खम् । “घ्युङ्” [५।२।८३] एप् । रन्त्वम् । “कळो जश्” [५।३।१७] इति धकारस्य
 दत्वम् । “सिपि रिवां” [५।३।८१] “दः” [५।३।८२] इति दकारस्य रित्वादेशः । अत्र रो रीति पूर्वस्य
 खं परस्य विसर्जनीयः । एवं स्पर्द्धेयङुब्रन्तस्य अपास्पाः । रो रीति निर्देशात् “रादिफः” [३० सू०] इति
 विधानमनित्यम् । “ढो ढे खम्” [५।४।१७] इति निर्देशात् “वर्णाकारः” [३० सू०] अप्यनित्यः ।

विरामे विसर्जनीयः ॥१।४।१९॥ विरामविषये रेफान्तस्य पदस्य विसर्जनीयादेशो भवति । देवः ।
 कविः । साधुः । स्वः । अत्तः । विराम इति किम् ? अग्निरत्र । प्रातरत्र । वायुर्वाति । विरतिः वर्णस्यानुच्चारणं
 विरामः । विसर्जनीय इति अयोगवाद्देषु त्रिन्दुद्वयस्य सञ्ज्ञा ।

शर्परे खरि ॥१।४।२०॥ शर्परे खरि परतः रेफान्तस्य विसर्जनीय आदेशो भवति । पुरुषःत्सरुकः ।
 नरः त्सरति । “छवि” [५।४।२५] सत्वस्यायमपवादः ।

कुप्चोः ॥१।४।२१॥ शर्परे खरीति वर्तते । खरि यो कुपू तयोः शर्परयोः परतः रेफस्य विसर्जनीय
 आदेशो भवति । वासः क्षौमम् । अद्भिः प्सातम् । ननु पूर्वेण सिद्धे किमर्थमिदम् । अस्मिन्ननुच्यमाने स
 पुरस्तादपवादः सन् ऽक ऽपयोरेव बाधकः स्यात् न छवि सत्वस्य । कुप्चोरित्यनेनारम्भेण ऽक ऽपयोर्बाधा ।
 पूर्वेण छवि सत्वस्येति ।

२कःपौ ॥५।४।२२॥ शर्पर इति निवृत्तम् । खरीति वर्तते । इष्टत्वात् । खरि यौ कुपू तयोः परतः रेफस्य २ क २ प इत्येतावादेशौ भवतः विसर्जनीयश्च । कः करोति । कः करोति । कः खनति । कः खनति । कः पचति । कः पचति । कः फलति । कः फलति । केवलौ जिहामूलीयोपध्यानीयाबुच्चारयितुमशक्यौ ककारपकारा उच्चारणार्थौ । इह नृकुट्यां भवः नाकुट्यः । नृपतेरपत्यं नार्पत्य इति रेफस्य बहिरङ्गत्वान्नायं विधिः । ननु सति विसर्जनीये अन्तरङ्गेऽस्य प्रतिद्वन्द्वित्वाद्बहिरङ्गत्वम् । विसर्जनीयश्चासिद्धः । कथं तन्मूलपरिभाषाव्यापारः । नैषः दोषः । ईषत्सिद्धमसिद्धं क्वचित् सिद्धमित्याश्रयणाद्विसर्जनीयः सिद्धः ।

शरि सश्च ॥५।४।२३॥ शरि परतः रेफस्य सकारादेशो भवति विसर्जनीयश्च । कश्शते । कः शेते । कष्वक्कते । कः ष्वक्कते । कस्सरति । कः सरति ।

रेश्च सुपि ॥५।४।२४॥ सुपि परतः रेश्च सकारादेशो भवति विसर्जनीयश्च । चकारो विसर्जनीयानु-कर्षणार्थः । शरीत्यनुवर्तते । सुपीति ईपो बहोर्ग्रहणम् । पयस्सु । पयःसु । सर्पिष्णु । सर्पिःपु इत्यत्र सत्वपक्षे “नुमशर्ष्ववाये” [५।४।३८] इति परस्य पत्वे कृते पूर्वस्य पदान्तत्वात् “नाघन्ते” [५।४।७६] प्रतिषेधे सति ष्टुत्वम् । विसर्जनीयपक्षे परस्य पत्वम् अयोगवाहस्य शर्ष्वहणेन ग्रहणात् पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम् । रेरेव सुपि सत्वविसर्जनीयौ नान्यस्य । गीर्षु । धूपु । सुप्येव रेरिति कस्मान्न नियमः । “सस्सेऽणुस्थस्य” [५।४।३३] इति सकारद्वयनिर्देशात् ।

ह्रवि ॥५।४।२५॥ रोरीत्यतो रेफमात्रमनुवर्तते । विसर्जनीय इति निवृत्तम् । ह्रवि परतः रेफस्य सकारादेशो भवति । कश्छिनति । कश्छरीयति । कस्थुडति । कश्चरति । कष्टीकते । कस्तगति । पुनश्चरति ।

कुप्वोस्त्ये ॥५।४।२६॥ स इति वर्तते । पदान्तरेफस्य सकारादेशो भवति कवर्गयवर्गादौ त्ये परतः । “पाशकल्पकाम्याः प्रयोजयन्ति” [वा०] । याप्यं पयः । पयस्पाशम् । अयस्पाशम् । “याप्ये पाशः” [४।१।११०] इति पाशः । ईपदसिद्धं पयः पयस्कल्पम् । अयस्कल्पम् । “आसिद्धौ देश्यदेशीयकल्पाः” [४।१।१२६] इति कल्पः । महोरस्कः । पयस्कम् । पयस्काम्यति । कुप्वोरिति किम् ? पयोभ्याम् । नन्वत्रापि पक्वात्वात् प्राप्नोति । खरीत्यनुवर्तनान्न भवति । त्य इति किम् ? अयः करोति । पयः पिबति । “उब्ज आज्जै” इत्यस्योपध्यानीयोऽणुपक्षे कुत्वविषये “उपध्यानीयस्य सत्त्वं वक्तव्यम्, द्वित्वप्रतिषेधश्च” [वा०] अर्भुदगः । समुदगः । उब्जिजिपीति । दकारोऽणुपक्षे तु कुत्वादन्यत्र । असिद्धकाण्डे “व उद्गोः” [वा०] इति वचनात् वत्वस्यासिद्धत्वात् “न स्फादौ न्द्रोऽधि” [४।३।३] इति द्वित्वप्रतिषेधः । उब्जिजिपति । “अत्राफिसन्श्चक्येति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । प्रातःकल्पम् । मुहुः काम्यति । “रेरेव काम्ये वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । गीः काम्यति । धूः काम्यति ।

इणः षः ॥५।४।२७॥ इण उत्तरस्य सकारस्य पकारादेशो भवति कवर्गपवर्गादौ त्ये परतः । सर्पिष्कल्पम् । सर्पिष्कः । सर्पिष्काम्यति । “कुप्वोस्त्ये” [५।४।२६] इत्यनेन निवृत्तस्य सकारस्य षत्वमनेन विधीयते इति लक्षणमिदमधिकारश्च । इत ऊर्ध्वं यत्स्त्वं विधीयते तस्य इण उत्तरस्य पत्वं भवतीत्येतदधिक्रियते ।

हृदुदुडोऽत्यपुं मुहुसः ॥५।४।२८॥ त्ये हि पूर्वेण सिद्धमत्यार्थोऽयमारम्भः । इकारोकारोडोः रेफस्य सकारादेशो भवति कुप्वोः परतः त्यपुंमुहुसो वर्जयित्वा । “निदुर्बहिराविश्चतुःप्रादुर्षः प्रायः प्रयोजयन्ति” निष्कृतम् । निष्पीतम् । बहिष्कृतम् । बहिष्पीतम् । आविष्कृतम् । आविष्पीतम् । चतुष्कुण्डिका । चतुष्कण्टकः । चतुर्षु कण्टकेषु भवः इत्यण् । हृदुऽर्थे रसे कृते “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्यण् उप् । प्रादुष्कृतम् । प्रादुष्पीतम् । सर्वत्र “इणः ष” [५।४।२७] इत्यनुवर्तनात् षत्वम् । तपरकरणं किम् ? गीः करोति । अत्यपुंमुहुस इति किम् ? मुनिः करोति तपम् । पटुः पठति । पुंस्कामा । मुहुःकामा । ननु पुंस्कामेत्यत्र रेफाभावात् प्रतिषेधोऽनर्थकः । लक्षयान्तरेण सत्वस्य विधानाच्च षत्वप्रतिषेधोऽप्ययुक्तः । नैष दोषः । उक्तं हि भाष्ये अविशेषण सत्वमुक्त्वा

“इणः षः” [५।४।३७] इति षत्वं विधीयते इति प्रातिरस्ति । इह मातुः करोति । पितुः करोतीति “रात्सः” [५।३।४२] इति सकारस्य खे कृते नायं त्यस्य रेफ इति कस्मान्न षत्वम् । कस्कादिषु भ्रातृपुत्रग्रहणं ज्ञापकमेकादेशनिमित्तकस्य न भवति । नैष्कुल्यम् । दौष्पुरुष्यम् । बहीरेष्कृतम् इत्यत्र बहिरङ्गत्वादपैविध्योरसिद्धत्वात्षत्वम् ।

नमःपुरसोस्त्योः ॥५।४।२६॥ त्य इति निवृत्तम् । नमस् पुरस् इत्येतयोस्तिसंज्ञकयोः रेफस्य सकारादेशो भवति कुण्डोः परतः । नमस्कर्ता । नमस्कर्तुम् । नमस्कर्तव्यम् । पुरस्कर्ता । पुरस्कर्तुम् । पुरस्कर्तव्यम् । नमः शब्दस्य “साक्षादादिः” [१।२।१४३] इति तिसंज्ञा वर्तते ।

तिरसो वा ॥५।४।३०॥ तिरसो रेफस्य वा सकारादेशो भवति कुण्डोः परतः । तिरस्कर्ता । तिरस्कृत्य । तिरः कृत्य । “तिरोऽन्तर्द्धी” [१।२।१४०], “वा कृञि” [१।२।१४१] इति तिसंज्ञा । इह तिरस्ति सञ्ज्ञकस्येति विशेषणं विषयद्वारकम् । तेनान्तर्द्धी विषये “वा कृञि” इति सञ्ज्ञाविरहेऽपि सत्वम् । तिरस्कृत्वा । तिरः कृत्वा । तिसंज्ञकस्येति किम् ? तिरः कृत्वा काण्डं गतः । नात्रान्तर्द्धिः प्रतीयते । अन्तरेण कृत्वा गत इत्यर्थः । षत्वमौदासीन्येन गच्छति ।

सुचः ५।४।३१॥ सुजन्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्य वा सकारादेशो भवति कुण्डोः परतः । द्विष्करोति । द्विष्पचति । त्रिष्करोति । त्रिष्पचति । चतुष्करोति । चतुष्पचति । अन्यस्मिन् पक्षे “ऋऋऋऋ च” [५।४।२२] इत्येव विधिः । द्विष्करोति । द्विष्करोतीत्यादि योज्यम् । द्वौ वारौ करोतीति विग्रह “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्” [४।२।२५] इति सुच् । द्वित्रिभ्यां परस्य अत्युपमुहसः इति प्रतिषेधादप्राप्तं चतुःशब्दस्य तु “इदुदुङ्” [५।४।२८] इति प्राप्तं सत्वं विकल्प्यते । “इणः षः” [५।४।२७] इत्यधिकारात्षत्वम् ।

इसुसोः सामर्थ्ये ॥५।४।३२॥ इस् उस् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति सामर्थ्ये सति कुण्डादिना । सर्पिष्करोति । सर्पिः करोति । सर्पिष्पिचति । सर्पिः पिचति । धनुष्करोति । धनुःकरोति । धनुष्पतति । धनुः पतति । सर्पिर्धनुःप्रभृतयः शब्दा इसुसन्ता व्युत्पाद्यन्ते इति दर्शने त्यस्य नेत्यप्राप्ते अव्युत्पत्तौ “इदुदुङ्” [५।४।२८] इति प्राप्ते विकल्पः । सामर्थ्ये इति किम् ? तिष्ठतु सर्पिः पिचतु पयः । ननु पदाधिकारे समर्थपरिभाषाव्यापारात् सामर्थ्यग्रहणं किम् ? कर्गपवर्गादिना धुना व्यपेक्षालक्षण एव सामर्थ्ये यथा स्यादित्येवमर्थम् । इह मा भूत् । सर्पिःकालकम् । यजुः पीतकमिति । सापेक्षमसमर्थमिति नायं पक्षस्तत्र स्थितः । तेनेहापि गमकत्वात्सत्वम् । देवदत्तस्य सर्पिष्करोति ।

सस्सेऽद्युस्थस्य ॥५।४।३३॥ इसुसो रेफस्याद्युस्थस्य सकारादेशो भवति । सर्पिष्कुण्डिका । सर्पिष्पात्रम् । धनुष्काण्डः । धनुष्पतिः । पुनः सग्रहणं नित्यार्थम् । अद्युस्थस्येति किम् ? परमसर्पिःकुण्डिका । पूर्वेणाप्यत्रैकार्थीभावे विकल्पो न भवति । यदा तु व्यपेक्षा सामर्थ्यम् ; तदा द्युस्थस्यापि पूर्वेण विकल्पः । परमसर्पिष्करोति । परमसर्पिः करोति । इदमेवाद्युस्थस्येति प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् “इसुसोः” [५।४।३२] इत्यत्र “स्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः” [५०] इति नियमाभावादधिकस्यापि ग्रहणम् ।

कृकमिकंसकुम्भपुराणोपात्रेऽतोऽभेः ॥५।४।३४॥ कृ कमि कंस कुम्भ कुशा कर्णा पात्र इत्येतेषु परतः अकारत उत्तरस्य रेफस्याद्युस्थस्य सकारादेशो भवति । कृकम्पोः सर्वान्तयोर्ग्रहणम् । अयस्कारः । यशस्कारः । तपस्कामः । यशस्कामः । अयस्कान्तः । अयस्कंसः । पयस्कंसः । कंस इति कमेरव्युत्पत्तिपक्षे पृथग्रहणम् । अयस्कुम्भः । “मृदग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” [५०] अयस्कुम्भी । पयस्कुम्भी । गौरादित्वानुङी । अयस्कुरा । पयस्कुरा । अय इव कर्णावस्थाः “नासिकोदरौष्ठ” [३।१।४८] आदिना ङी । अयस्कर्णा । पयस्कर्णा । शुनस्कर्णास्तु “कस्कादी” [५।४।३६] । अयस्पात्रम् । पयस्पात्रम् । अयस्पात्री । पयस्पात्री ।

कृकम्यादिग्रहणं किम् ? पयःपानम् । अत इति किम् ? गीःकारः । धूःकारः । तपरकरणं किम् ? भाः कामः । भास्कर इति “कस्कादौ” । अभेरिति किम् ? प्रातःकारः । स इत्येव । यशः करोति । अद्युस्थ-स्येत्येव । परमयशःकारः । कमेरणिङन्तस्य सूत्रे निर्देशः किम् ? अयस्कान्तः ।

शिरोऽधसोः पदे ॥५१४३५॥ शिरस् अधस् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति पदशब्दे परतः । शिरस्पदम् । अधस्पदम् । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । से इत्येव । शिरसः पदम् । अद्युस्थस्येव । परमशिरःपदम् ।

कस्कादौ ॥५१४३६॥ कस्क इत्येवमादिषु रेफस्य सकारादेशो भवति । यथा ते तत्र पठ्यन्ते तथैव तेषां साधुत्वम् । कस्कः । किमः तसन्तस्य वीप्सायां द्वित्वम् । कौतस्कुतः । समुदायस्यामृत्त्वेऽपि वचनात् तत आगतेऽर्थेऽण् । भातुष्पुत्रः । सेऽपि “ऋतो विद्यायोनिःसम्बन्धात्” [४१२।१३६] इत्यनुप् । “इणः षः” [५१४।२७] इति पत्वम् । शुनस्कर्णः ! असञ्ज्ञायां “ताया आक्रोशे” [४३।१३४] इत्यनुप् । सञ्ज्ञायां तु श्वकर्ण इति । सद्यस्कालः । सद्यस्त्रीः । सम्पदादित्वात् क्विप् । तत्र भवः साद्यस्कः । तमस्कारण्डम् । अयस्कारण्डम् । तपस्कारण्डम् । मेदास्परण्डः । आकृतिगणोऽयमविहितलक्षणं सत्वमिति द्रष्टव्यम् ।

इण्कोः सः षः ॥५१४३७॥ इणः कवर्गाच्चोत्तरस्य सकारस्य पत्वं भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति “त्यादेशयोः” [५१४।३६] । मुनिषु । देवेषु । गीर्षु । वान्तु । प्राङ्तु । उदङ्तु । सिषेव । सुष्वाप । इणोरिति किम् ? यास्यति । “क्षियाशीःप्रैषेषु” [५३।१०२] इति निर्देशादिण्परेण णकारेण गृह्यते । स इति स्थानिर्निर्देशो रेफस्य स्थानित्वनिवृत्त्यर्थः । पुनः पग्रहणं कुण्वोरित्यस्य निवृत्त्यर्थम् । उत्तरत्र “नाद्यन्ते” [५१४।७६] इति प्रतिषेधात् पदस्येत्येतदनुवर्तमानमिह विशेषणरूपेण सम्बन्ध्यते ।

नुमश्चर्व्यवायेऽपि ॥५१४३८॥ नुम्यवाये शर्च्यवाये अच्यवायेऽपि इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य पकारादेशो भवति । सर्पापि । धनूपि । अत्र नुमादेशो नुम् । तेनेह न भवति । पुंषु । शर्च्यवाये । सर्पिषु । धनुषु । रेः सत्त्वे कृते वरस्य पत्वम् ।

[त्यादेशयोः ॥५१४३६॥ शास्वस्वसाम् ॥५१४४०॥ षणि चाण्णिस्तोरेध ॥५१४४१॥ सखिद्विस्वदिसहेः ॥५१४४२॥ प्राक् सितादटापि ॥५१४४३॥ स्थादेश्चेन चस्य ॥५१४४४॥ गेः सूञ्सूतोस्तुस्तुभः ॥५१४४५॥]

.....म इति पत्वे य.....माश्रीयते । अभितप्टावित्यत्र चस्य टवर्गः स्यात् । चस्य च गेः परस्य सत्त्वं भवतीदमपि नियमार्थवचनम् । अभिषिपिन्नति । परिषिपिन्नति । अत्र द्विः प्रयोगो द्वित्वं गोः सिच इत्येव पत्वं सिद्धम् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय ।” स्यादीनामेव वक्ष्यमाणानां चस्य षत्वम् । चेन च व्यवाये-नान्येषां सुनोःयादीनाम् । अभिसुपूति । अभिसिषासति । स्यादीनां चस्यैवेति न शङ्क्यम्.....ये विधान-मनर्थं स्यात् ।

स्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ॥५१४४६॥ गौरिति वर्तते । गेः परेषां स्था से नय सेध सिच् सञ्ज स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य पत्वं भवति । अभिष्ठास्यति । परिष्ठास्यति । अटा व्यवाये-अभ्यष्ठात् । पर्यष्ठात् । चेन च व्यवाये-अभितप्टौ । अभिषेणयति । अभ्यषेणयत् । अतिषिषेणयिषति । अत्रादेशसकारा-भावादप्राप्ते विधिः । सेध इति भौवादिकस्य ग्रहणम् । अभिषेधति । निषेधति । अभ्यषेधत् । न्यषेधत् । चस्य च । अभिषिषेध । निषिषेध । अभिषिञ्चति । अभ्यषिञ्चत् । चेन च व्यवाये-अभिषिषिन्नति । अभिषजति ।

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुदिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीमनुसूत्यात्र निर्दिष्टानि ।

अभ्यषजत् । चेन च व्यवाये-अभिषिषङ्कति । अभिष्वजते । अभ्यष्वजत् । चेन च व्यवाये । अभिषिष्वङ्कते । गेरित्येव । दधि सिञ्चति ।

सदोऽप्रतेः ॥१५४४७॥ अप्रतेर्गेः परस्य सदेः सकारस्य पत्वं भवति । अभिषीदति । निषीदति । अभ्यषीदत् । न्यषीदत् । चस्य । अभिषिषत्सति । अभिषसादेत्यत्र “सदेः षडोः परस्य लिटि” [५४८४] इति धोः पत्वप्रतिषेधः । अप्रतेरिति किम् ? प्रतिसीदति ।

स्तम्भेः ॥१५४४८॥ गेरिणः परस्य स्तम्भेः सकारस्य पत्वं भवति । अभिष्यन्नाति । प्रतिष्यन्नाति । अभ्यष्यन्नात् । पर्यष्यन्नात् । चेन च व्यवाये-अभितप्यन्म । प्रतिताप्यन्ते । स्तम्भः सौत्रो धुः । तस्य अपोपदेशत्वाद्वाप्रते प्रतिषिद्धे वा पत्वे सूत्रं प्रतिसङ्ग्रहार्थम् । उत्तरार्थं च पृथक्करणम् ।

आलम्बनाविदूरेऽवात् ॥५४४९॥ अनिर्णय आरम्भः । अवाद्गोरुत्तरस्य स्तम्भेः सकारस्य पत्वं भवति आलम्बने अविदूरे चार्थे । अवष्टभ्य आस्ते । अवष्टभ्नाति । अवाष्टभ्नात् । अवतप्यन्म । अविदूरे-अवष्टब्धे सेने । अवष्टब्धा शस्त् । आलम्बनाविदूरे किम् ? अवस्तब्धो वृषभः । विदूरप्रतिषेधान्नातिदूरमासन्नं च सङ्ग्रहीतम् ।

वेश्च स्वनोऽशने ॥१५४५०॥ वेरवाच्चोत्तरस्य स्वनः सकारस्य पत्वं भवत्यशनेऽर्थे । विष्वणति । सशब्दमशनातीत्यर्थः । अवष्वणति । व्यष्वणत् । अवाष्वणत् । चेन च व्यवाये-विपष्वण । अवष्वणत् । विपष्वण्यते । अशन इति किम् ? विस्वनति । अवस्वनति मृदङ्गः । नात्राभ्यवहारविशेषः ।

परिनिविभ्यः सेवसितसयाम् ॥१५४५१॥ परि नि वि इत्येतेभ्यः परेषां सेव सित सय इत्येतेषां सकारस्य पो भवति । सेव इति भौवादिकः नेवार्थो ध्रुर्ह्यते । परिपेवते । निपेवते । विपेवते । पर्यपेवत । न्यपेवत । व्यपेवत । चेन व्यवाये-परिषिपेविपते । परिपितः । निपितः । विपितः । परिपयः । निपयः । विपयः । पित्र बन्धन इत्यस्य क्तान्तस्याजन्तस्य च ग्रहणम् । केचित्तु-सह (योगाकराणान्निवयमार्थमेषां) ग्रहणमिच्छन्ति । एतेभ्य एव परस्य पत्वमिति । सेवादीनां स्वरितत्वाभावाद्यथासङ्ख्यं न भवति ।

सिवुसंहसुट्स्तुस्वञ्जाम् ॥१५४५२॥ परिनिविभ्यः परेषां सिव सह सुट् स्तु स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य पो भवति । परिषीव्यति । निषीव्यति । विषीव्यति । परिषहते । विषहते । निषहते । सुट् परिमेव प्रयोजयति । परिष्कर्ता । परिष्करोति । “संपर्युपात्कृञः सुट् भूषे” [४३११०] इति सुट् । तस्यानादेशत्वाद्वाप्रते इतरयोर्नाद्यन्त इति प्रतिषिद्धे पत्वे वचनम् । गोः परयोः पत्वसिद्धेः स्तुस्वञ्जोर्ग्रहणमुत्तरार्थम् । अटो व्यवाये विकल्पो यथा स्यात् ।

वाऽटा ॥१५४५३॥ सिवादीनामया व्यवाये वा पो भवति । परिनिवेरिति वर्तते । पर्यषीव्यत् । न्यषीव्यत् । पर्यसीव्यत् । न्यसीव्यत् । व्यषीव्यत् । पर्यपहत । व्यसीव्यत् । न्यपहत । व्यपहत । पर्यसहत । न्यसहत । व्यसहत । पर्यप्यौत् । न्यप्यौत् । व्यप्यौत् । पर्यस्तौत् । न्यस्तौत् । व्यस्तौत् । पर्यष्वजत । न्यष्वजत । व्यष्वजत । पर्यस्वजत । न्यस्वजत । व्यस्वजत । सिवुसहसयामप्राप्ते स्तुस्वञ्जेः प्राप्ते विभाषा ।

निव्यभ्यनुपरेः स्यन्दोऽजीवे ॥१५४५४॥ नि वि अभि अनु परि इत्येतेभ्यः परस्य स्यन्देः सकारस्य वा पत्वं भवत्यजीवे । परिष्यन्दते । निष्यन्दते । विष्यन्दते । अभिष्यन्दते । अनुष्यन्दते । विष्यन्दते । अभिष्यन्दते । परिष्यन्दते जलम् । अजीव इति किम् ? अनुष्यन्दते मत्स्यः । अजीव इति पर्युदासोऽयम् । जीवा जीवसमुदायो जीवादन्यो भवतीति विकल्पः सिद्धः । अनुष्यन्दते मत्स्योदके । अनुष्यन्दते । अप्राप्ते विकल्पः ।

वेः स्क्न्वोऽस्ते ॥१५४५५॥ वेरुत्तरस्य स्क्न्देः सकारस्य वा पत्वं भवत्येते परतः । विष्कन्ता । विष्कन्तुम् । विष्कन्ता । विष्कन्तुम् । अत इति किम् ? विष्कन्नः । विष्कन्नवान् ।

पटेः ॥५।४।५६॥ परेरुत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा पत्वं भवति । परिष्कन्ता । परिस्कन्ता । तसञ्ज-
केऽपि यथा स्यादिति योगविभागः । परिष्करणः । परिष्कन्नः ।

परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु ॥५।४।५७॥ प्राच्यभरतेषु परिस्कन्द इति निपात्यते । पचाद्यच्चि पूर्वेषु पक्षे
प्रातस्य पत्वस्थाभावो निपात्यते । परिस्कन्दो बहति । प्राच्यभरतेष्विति किम् ? परिष्कन्दः । परिस्कदः ।

स्फुरिस्फुल्योर्निनिवेः ॥५।४।५८॥ निस् नि वि इत्येतेभ्यः परयोः स्फुरि स्फुलि इत्येतयोः सकारस्य वा
पकारो भवति । शर्व्यवायेऽपि पत्वम् । निःस्फुरति । निःस्फुरति । निष्फुरति । निस्फुरति । विष्फुरति । विस्फुरति ।
निःस्फुलति । निःस्फुलति । निष्फुलति । निस्फुलति । विष्फुलति । विस्फुलति ।

वेः स्कम्भेः षः ॥५।४।५९॥ वेरुत्तरस्य स्कम्भातेः सकारस्य षकारो भवति । विष्कम्भाति । विष्कम्भकः ।
पुनः षग्रहणं नित्यार्थम् । स्वग्भिः सौत्रो धुः षोपदेशः ।

इणः षीध्वंलुङ्लितां धो गोर्धः ॥५।४।६०॥ इणन्ताद्गोरुत्तरेषां षीध्वंलुङ्लितां धकारस्य ढकारादेशो
भवति । च्योषीढ्वम् । प्लोषीढ्वम् । अच्योढ्वम् । अत्लोढ्वम् । “धि” [५।३।४३] इति सखम् । चकृढ्वे ।
ववृढ्वे । “कृ” [५।१।११६] आदिनेट्प्रतिषेधः । इण इति किम् ? कवर्गान्मा भूत् । पक्षीध्वम् । यक्षीध्वम् ।
षीध्वंलुङ्लितामिति किम् ? स्तुध्वे । स्तुध्वम् । लिङ्गीति कर्तव्यं षीध्वमिति किम् ? अधीयीध्वम् । स्तुवीध्वम्
इत्यत्र मा भूत् । ध इति किम् ? च्योषीढ्वमित्यत्र परस्यादेर्माभूत् । गोरिति किम् ? परिवेविषीध्वम् । अत्र धोः
पकारस्य ईध्वंशब्दस्य च समुदायः षीध्वंशब्दो न तु गोः परः । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा चानित्या । तेन
“अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन” [५०] इति सिद्धम् ।

वेटः ॥५।४।६१॥ इणन्ताद्गोरुत्तरो यः इट् ततः परेषां षीध्वंलुङ्लितां धकारस्य ढकारादेशो वा
भवति । इट् पक्षे परत्वं श्रुतिकृतमाश्रीयते । लविपीढ्वम् । लविपीध्वम् । इट् इणग्रहणेन ग्रहणात् । पूर्वेषु नित्ये
प्राप्ते । अलविढ्वम् । अलविध्वम् । सेरिडागमो न लुङ् इति तद्ग्रहणाभावाद् व्यवधानमस्तीत्यप्राप्ते लुलुविढ्वे ।
लुलुविध्वे । अत्र लिट् एवेडागम इति प्राप्ते विकल्पः । इणन्ताद्गोरित्येव । आसिपीध्वम् । उपदिदीयिध्वे इत्यत्र
“दीङोऽचि षिङ्गिति युट्” [४।४।६२] इति युटि कृते इणन्ताद्गोरानन्तर्यमिटस्समुदायभक्तेन युटा विहतामिति
दत्वं न भवति । तस्मान्न नित्यो विधिः । अस्ति ह्यत्रेणन्ताद्गोरुत्तरो लिट् तत्सम्बन्धी च यकारः । एवं तर्हि वेति
व्यवस्थितविभाषा पूर्वमवलोकते । ततोऽत्रापि विकल्पः ।

सेऽङ्गुलेः सङ्गः ॥५।४।६२॥ अङ्गुलेरुत्तरस्य सङ्गसकारस्य पत्वं भवति से । सङ्ग इत्यत्र “सूत्रेऽस्मिन्
सुन्विधिरिष्टः” [५।२।११४] इति ङसः स्थाने सुः । अङ्गुलिपङ्गो दृढः । अङ्गुलिपङ्गा यवागूः । भावं
कर्मणि च घञ् । इत्येव अङ्गुलेः सङ्गः । अङ्गुलिपदात्परस्य पदस्य पत्वारम्भाद्विभक्त्या व्यवधानेऽपि
प्रसज्यते ।

भीरोः स्थानम् ॥५।४।६३॥ भीरोरुत्तरस्य स्थानसकारस्य पत्वं भवति से । भीरुष्ठानम् । स इत्येव ।
भीरोः स्थानम् । अधिकारणे युट् । पृथग्योगकरणं स्पष्टार्थम् ।

ज्योतिरायुषः स्तोमः ॥५।४।६४॥ ज्योतिष् आयुष् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्तोमसकारस्य पो भवति ।
ज्योतिःप्योमः । आयुःप्योमः । “शरि सरश्च” [५।४।२३] इति विसर्जनीयः सत्वं वा । तस्य ष्टुत्वम् । ज्योतिः
स्तोमस्य दाहकम् ।

द्वत्सोमौ चाग्नेः ॥५।४।६५॥ अग्नेरुत्तरयोः स्तुत् सोम इत्येतयोः स्तोमस्य यः सकारस्तस्य से पो
भवति । अग्निष्णुत् । विवदन्तेन वाक्सः । अग्नीषोमौ । “गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययात्” [५०] इह न भवति ।
अग्निगुणसोमगुणौ अग्निसोमौ मनुष्यौ । अत एवाग्नेरीत्वाभावः । अग्निप्योमः । व्युत्पत्तिपक्षे “नाद्यन्ते”
[५।४।७६] इति प्रतिषेधः प्राप्तः ।

मातृपितृभ्यां स्वसुः ॥५।४।६६॥ मातृपितृभ्यां परस्य स्वसुसकारस्य षो भवति । मातृष्वसा । पितृष्वसा । अनादेशसकारोऽयम् । स इत्येव । वाक्ये न भवति । मातुः स्वसा । पितुः स्वसा ।

वाऽनुपि ॥५।४।६७॥ अनुपि से मातृपितृभ्यामुत्तरस्य स्वसुसकारस्य वा षो भवति । मातुःष्वसा । मातुः स्वसा । पितुःष्वसा । पितुः स्वसा । ताया अनुप् ।

गिप्रादुभ्यां यच्यस्तेः ॥५।४।६८॥ स इति निवृत्तम् । गेरिणः प्रादुःशब्दाच्चोत्तरस्य अस्तेः सकारस्य यकारादौ अजादौ च पत्वं भवति । अभिष्यात् । निष्यात् । प्रादुःष्यात् । अभिषन्ति । निषन्ति । प्रादुःषन्ति । गिप्रादुभ्यामिति किम् ? दधि स्यात् । मधु स्यात् । यचोति किम् ? अनुस्वः । अनुस्मः । अस्तेरिति किम् ? केवलं सकारं क्रियावाचिनं प्रति गिसञ्ज्ञायां पत्वमत्र स्यात् । अनुसूते इति अनुसूः । अनुस्वः अपत्यम् आनुसेयः । “चतुष्पाद्भ्यो ढञ्” [३।१।१२३] इति ढञ् । “ढेः खम्” [४।४।१३५] इति उकारस्य खम् । प्रादुःशब्दस्य तु कृभ्वस्तिष्वेव प्रयोगात् प्रत्युदाहरणं नास्ति ।

निर्दुस्सुवेः सुपिसृत्तिसमाः ॥५।४।६९॥ निस् दुस् सु वि इत्येतेभ्यो गिभ्य उत्तरेषां सुपिसृत्तिसमानां सकारस्य षो भवति । निष्पुतः । दुष्पुतः । सुपुतः । विपुतः । निःपूतः । दुःपूतः । सुपूतः । विपूतः । निःषमः । दुःषमः । सुषमः । विषमः । “गिप्रकरणे सर्वत्र सुदुभ्यां योगे पत्वं नेष्यते” इति वचनम् । “सुदुसोः प्रतिषेधो नुविधिनत्वपञ्चणत्वेपु” इति वचनात् । सम इति सर्वादिषु पठ्यते । तस्य “सम ष्टम अवैकल्ये” [धा०] इत्यनेन व्युत्पत्तिपद्मेऽपि ग्रहणम् । सूतिरिति सूतेः सूयतेः सुयतेश्च क्यन्तमेव रूपं समशब्दसाहचर्याद्गृह्यते । तेन विसृतमित्यादौ पत्वं न । सुपीति विकृतनिर्देशादिह मा भूत्-विस्वन इति । विमुष्वापेत्यत्र तर्हि कस्मान्न भवति । “हलोऽनादेः” [५।२।१६१] इति खे कृते पश्चाज्जिरिति सुपिरत्र नास्ति । नैप युक्तः समाधिः । हलोऽनादेः खाद्याग्निर्भवतीत्युक्तम् । एकदेशविकृतस्य चानन्यत्वात् सुपिरेवायमिति प्राप्नोति । स्थादीनामेव चस्य नान्येषामित्यपि नास्ति । मुनोत्यादिषु म नियमो निवर्तकः । एवमप्यनर्थकोऽयं सुपिः । द्विःप्रयोगेऽपि द्वित्वे समुदायस्यैवार्थवत्तान् केवलस्य धोर्नापि चस्य । विषुपुपतुर्विपुपुस्तित्यत्र “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” [५०] इति सुपिः षत्वभूतो द्विरुच्यते । रोरित्येव । निर्गता सूतिः निःसूतिः ।

विकुशमीपरेः स्थलम् ॥५।४।७०॥ वि कु शमी परि इत्येतेभ्यः परस्य स्थलसकारस्य पत्वं भवति । विष्टलम् । कुष्टलम् । विकृ यदि तिसञ्ज्ञौ तदा स्थलशब्देनाजन्तेन “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति सः । अतिसञ्ज्ञा चेत्तामः । शमिष्टलमिति सञ्ज्ञायां “त्वे ङ्यापोः क्वचित् खौ च” [४।३।१७३] इति परिष्टलम् ।

अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशोकुराङ्क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमेवहिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ॥५।४।७१॥ अम्बा अम्ब गो भूमि सव्य अप द्वि त्रि कु शोकु शङ्कु अङ्ग मञ्जि पुञ्जि परमे ब्रह्मिपु दिवि अग्नि इत्येतेभ्यः उत्तरस्य स्थासकारस्य षो भवति । अम्बाष्टः । सञ्ज्ञायां तु “त्वे ङ्यापोः क्वचित् खौ च” [४।३।१७३] इति प्रादेशे सत्यम्बाष्टः । अम्बष्टः । गोष्टः । गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति घञर्थे कविधानम् । भूमिष्टः । सव्येष्टः सारथिः । अपष्टः । द्विष्टः । त्रिष्टः । कौ कुत्सितं तिष्ठतीति कुष्टः । शोकुष्टः । शङ्कुष्टः । अङ्गुष्टः । मञ्जिष्टः । पुञ्जिष्टः । परमेष्टः । ब्रह्मिष्टः । दिविष्टः । अग्निष्टः । सर्वत्र “सुपि” [२।२।७] “स्थः” [२।२।८] इति कः । स्थ इत्यकारान्तो निर्देशः किम् ? गोस्थानम् । गोस्थितिः । अथ सव्येष्टा सारथिः । परमेष्टी विधिः । “परमे क्ति” [३० सू०] इति इनि च कथं षत्वम् ? सुपामादिष्वेतौ द्रष्टव्यौ । “षे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इतीपोऽनुप् ।

सुषामादिषु च ॥५।४।७२॥ सकारस्य षो भवति । स्यतेर्मनि साम । शोभनं सामाऽस्य सुषामा । एवं निःषामा । दुःषामा । सुषेधः । निःषेधः । दुःषेधः । “सुः पूजायां न मिति” [१।४।७] इति सोः निर्दुषोश्च क्रियान्तरविषयत्वादिगित्वमिति गिलक्षणां षत्वं नास्ति । गित्वेऽपि सेधतेः “सेधो गतौ” [५।४।७६]

इति प्रतिषेधो मा भूत् । सुपन्धिः । निःपन्धिः । दुःपन्धिः । अयमनादेशसकारः । मुष्टु । दुष्टु । तिष्ठते-
रौणादिकः कुः । अत्र “नाघन्ते” [५।४।७६] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । गौरिसन्धः । “असिसञ्जिभ्यां क्थिः”
[३० सू०] इति क्थिः । गौर्याः सक्थीव सक्थि यस्येति बसे “स्वाङ्गाद्देशि सक्थनः” [४।२।११३]
इति टः सान्तः । अनङ् । “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिल्वम् “त्वे ऋयापोः” [४।३।१७३] इत्यादिना
प्रादेशः । प्रतिष्णिका । प्रतिपूर्वात् स्नातेः “आतो गौ” [२।३।८८] इति कः । टाप् । तदन्तात् स्वार्थे कः ।
पुनष्टाप् “केऽणः” [५।२।१२५] इति । प्रत्ययस्थेत्यादिनेत्वम् । नौपेविका । दुन्दुभिसेवनम् । सञ्ज्ञैषा ।
“एति सञ्ज्ञायामगकारात्” [१० सू०] । हरिषेणः । साधुषेणः । एतीति किमर्थः ? हरिसन्धिः ।
सञ्ज्ञायामिति किम् ? पृथ्वी सेनाऽस्य पृथुसेनः । अगकारादिति किम् ? विष्वक्सेनः । इण्कोरित्सेवासर्वसेनः ।
“नक्षत्राद्वा एतिसञ्ज्ञायामगकारात्” [६।० सू०] । रोहिण्यिषेणः । रोहिण्यिसेनः । भरणिषेणः । भरणिसेनः ।
अगकारादित्येव । शतभिषक्सेनः । अविहितलक्षणं पत्वमिह द्रष्टव्यम् ।

प्राद्धृत्यमिडस्ति ॥५।४।७३॥ प्रादुत्तरस्य अमिडः सकारस्य पो भवति तकारादौ हृति परतः ।
सर्पिष्टरम् । सर्पिष्टमम् । चतुष्टयम् । सर्पिष्टा । सर्पिष्ट्वम् । सर्पिष्टो त्रिभेति । पदान्तेऽपि पत्वार्थमिदम् । प्रादिति
किम् ? गौस्तरा । धूस्तरा । हृतीति किम् ? सर्पिस्तत्र । अमिड इति किम् ? भिन्युस्तराम् । छिन्नुस्तराम् ।
तकारादाविति किम् ? सर्पिस्साद् भवति । पूर्वस्य मा भूत् । परस्य “सात्” [५।४।७७] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः ।

निसस्तपतावनासेवने ॥५।४।७४॥ निसः सकारस्य तपतौ परतः पो भवत्यनासेवनेऽर्थे । मुहुर्महुः
क्रियायाः सेवनमासेवनम् । निष्टः सुवर्णम् । निस्तप्ता अरातयः । सकृत्ता इत्यर्थः । अनासेवन इति
किम् ? निस्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । मुहुर्मुहुस्तपतीत्यर्थः । इदमप्यन्ते विधानार्थम् । धुनिर्देशार्थस्तिपा निर्देशः ।

निष्णातनदीष्णातप्रतिष्णाताभिनिष्ठानकपिष्ठलप्रष्टविष्टरविष्टारगविष्टिरयुधिष्टिराः ॥५।४।७५॥
निष्णात नदीष्णात प्रतिष्णात अभिनिष्ठान कपिष्ठल प्रष्ट विष्टर विष्टार गविष्टिर युधिष्टिर इत्येते शब्दा
निपात्यन्ते । “निनदीभ्यां स्नातस्य कौशले षत्वम्” । निष्णातः काव्यकरणे । नदीष्णातः । नदीस्नाने
कुशल इत्यर्थः । निस्नाननदीस्नातावन्यत्र । योपि “सुपि” [२।२।७] “स्थः” [२।२।८] इति योगविभागात्के
कृते नदीष्ण इति । तस्य सुषामादिषु पत्वम् । प्रतिष्णातं भवति सूत्रं चेत् । प्रतिस्नातमन्यत् । अभिनिःष्ठानो
भवति वर्णश्चेत् । अभिनिःष्ठानं परस्य स्तन ध्वन इत्यस्य कर्तारि घञि रूपम् । अभिनिःस्तन्यत इति अभिनि-
ष्ठानो विसर्जनीयः । अभिनिःस्तानोऽन्यः । कपिष्ठलो भवति गोत्रशब्दश्चेत् । कपिष्ठलोऽपत्यं यस्य कपिष्ठलिः ।
आद्यः पुमानपत्यसन्ततेः प्रवर्तयिता लोके गोत्रम् । ततोऽन्यः कपिस्थलम् । प्रष्ट इति प्रात् स्थस्य षत्वमग्रे
ग्रामिणि प्रतिष्ठते इति प्रष्टो देवदत्तः । प्रष्टो गौः । प्रस्थ इत्यन्यत्र । अग्रेग्रामिणीत्यत्र “कुमति” [५।४।६७]
इति णत्वम् । “न भाभूपूज्कमिगमि” [५।४।११३] इति गेः कृत्स्थस्य प्रतिषेधः । “वेः स्तारस्य वृक्षासनयोः
षत्वम्” । विष्टरो वृक्षः । विष्टरमासनम् । विस्तर इत्यन्यत्र । “वेः स्तारस्य छन्दोनाग्नि षत्वम्” । विष्टारः
पङ्क्तिः । विष्टारः बृहती छन्दः । “छन्दः खौ” [२।३।३२] इति घञ् । पदस्य विस्तर इत्यन्यत्र ।
“गवियुधिपूर्वस्य स्थिरस्य सञ्ज्ञायां पत्वम्” । गविष्टिरो युधिष्टिरो गोशब्दाद्दहलन्तादपि निपातनादीपोऽनुप ।
गविस्थिरो युधिस्थिर इत्यन्यत्र ।

नाघन्ते ॥५।४।७६॥ पदस्य आदावन्ते च षत्वं न भवति । दधि सिञ्चति । मधु सिञ्चति । अग्निस्तत्र ।
वायुस्तत्र । “इण्कोः” [५।४।३७] “त्यादेशयोः” [५।४।३६] इति षत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः ।

सात् ॥५।४।७७॥ सादित्येतस्य च षत्वं न भवति । अग्निसात् । मधुसात् ।

सिचो यङि ॥५।४।७८॥ सिचो यङि परतः षत्वं न भवति । सेसिच्यते । “त्यादेशयोः”
[५।४।३६] इति प्राप्तिः । अयामिसेसिच्यते परिसिच्यते इत्यत्र गिलक्षणां षत्वं कस्मान्न भवति ? “येन

नाप्राप्तन्यायेन" [५०] "नाद्यन्ते" [५१४७६] इत्यस्यैव प्रतिषेधस्य बाधकं गिलक्षणं न सिद्धो यद्वीत्यस्य । अथवा "पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" [५०] इति यद्धि सर्वत्र प्रतिषेधः । यद्वीति किम् ? परिधिषिद्धति ।

सेधो गतौ ॥५१४७६॥ सेधतेर्गत्यर्थस्य पत्वं न भवति । अभिसेधति । प्रतिसेधति गाः । "स्थासेन-यसेध" [५१४७६] इत्यादिना प्रातस्य प्रतिषेधः । गताविति किम् ? प्रतिषेधति पापम् । निवारयतीत्यर्थः ।

निस्तब्धप्रतिस्तब्धौ ॥५१४८०॥ निस्तब्ध प्रतिस्तब्ध इतीमौ शब्दौ निपात्येते । निस्तब्धः । प्रतिस्तब्धः । क्तं परतः "स्तम्भेः" [५१४८८] इति प्राप्ते प्रतिषेधः ।

सोटः ॥५१४८१॥ सहेः सोटभूतस्य पत्वं न भवति । परिसोटा । परिसोटुम् । एवं निसोटा । विसोटा । परिनिविभ्यः "सिवुसहसुट्स्त्वञ्जाम्" [५१४५२] इत्यनेन प्राप्तिः । सोटभूतस्य ग्रहणं किम् ? परिग्रहते । निग्रहते । सोट इति सहेः सोटभूतस्यानुकरणं ङसा निर्दिष्टः ।

स्तम्भुसिवुसहां कचि ॥५१४८२॥ स्तम्भु सिवु सह इत्येतेषां कचि परतः पत्वं न भवति । अभ्यत-स्तम्भत् । पर्यतस्तम्भत् । "स्तम्भेः" [५१४८८] इत्यया चेन च व्यवयाये गिनिमित्तं प्रतिषिध्यते । सिवुसहोस्तु परिनिविभ्यः परयोः "वाञ्ज" [५१४५३] इति विकल्पः प्राप्तः । पर्यसीषियत् । न्यसीषिवत् । पर्यसीषहत् । न्यसीषश्त् । सर्वत्र गियुक्ताणि च क्रियते । गिलक्षणस्य पत्वस्यायं प्रतिषेधो न तु "त्यादेशयोः" [५१४३६] इत्यनेन चादुत्तरस्य व्यवहितत्वात् ।

सुञ्जः स्यसनोः ॥५१४८३॥ सुनोतेः सकारस्य स्य सन् इत्येतयोः परतः पत्वं न भवति । अभिसोप्यते । परिसोप्यते । अभ्यसोप्यत । पर्यसोप्यत । सनि । सुसूपति । नैतद्युक्तम् । "षणि चाणिस्तोरेव" [५१४४१] इति नियमादत्राप्राप्तिः । इदं तर्हि अभिसुसुषति । अत्रापि "स्थादेशचेन चस्य" [५१४४४] इति नियमादप्राप्तिः । तत्रोक्तम् । गिनिमित्तं स्थादीनामेव पत्वं नान्यस्येति । किञ्चि तस्मिन् दाहरणम् । अभिसुसुः । रिक्त्वे विसर्जनीये च कृते "षणि" [५१४४१] इति नियमाभावाच्चात्परस्य प्राप्तं पत्वं प्रतिषिध्यते । स्यसनोरिति किम् ? सुषाव ।

सदिस्वञ्ज्योः परस्य लिटि ॥५१४८४॥ सदि स्वञ्जि इत्येतयोर्लिटि परस्य पत्वं न भवति । अभिपसाद् । निप्रसाद् । अभिप्रस्वञ्जे । निप्रस्वञ्जे । "लिटि स्वञ्जे वा न खं भवतीत्युपसंख्यातव्यम्" [५०] अभिप्रस्वञ्जे । विप्रस्वञ्जे । सदेशचेन व्यवयाये "सदोऽप्रतेः" [५१४४७] इति स्वञ्जेस्तु "स्थासेनय" [५१४४६] इत्यादिना पत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः ।

षो नो णः समाने ॥५१४८५॥ पदस्येति वर्तमानं समान इत्यनेन समानधिकरणं जायते । प्रकाररेफाभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति समाने पदे चेन्निमित्तनिमित्तिनौ भवतः । कुष्णाति । मुष्णाति । आस्तीर्यम् । विस्तीर्यम् । समान इति किम् ? मुनिर्नयति । साधुर्नयति स्वर्गम् । "धिन्विक्कण्ड्योर च" [२।१।७५] इत्यत्र णत्वनिर्देशात् ऋकारादपि परस्य णत्वं भवति । तिसृणाम् । मातृणाम् । प्रकारग्रहणमुत्तरार्थम् । अव्यवयाये ष्टुत्वेनापि सिद्धमेतत् ।

अट्कुप्वाङ्गव्यवायेऽपि ॥५१४८६॥ अट् कु पु आङ् इत्येतैर्व्यवाये अव्यवयायेऽप्यनेन प्रकाररेफाभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णो भवति । अट् । वषेण । वृषेण । गिरिणा । मेरुणा । कु । निष्केण । शुष्केण । अर्केण । मूर्खेण । वर्गेण । दीर्घेण । पु । पुष्पेण । सपेण । दपेण । रेफेण । गर्भेण । दर्भेण । धर्मेण । आङ् । पर्याण्डम् । निराणीतम् । अङ्ग्रहणेनैव सिद्धे आङ् ग्रहणं "पदव्यवायेऽपि" [५१४११६] अस्य बाधनार्थम् । अडादिष्वेकेनाकेन च व्यवयाये णत्वं ज्ञातव्यम् । उभयथा वाक्यपरिसमाप्तौराश्रयणात् । यथा गौः सह न भोक्तव्यमेकेनाकेनेन च सह न भुज्यते । इह कथं णत्वम् बृंहणम् । बृंहणीयम् । "वृह् वृह् वृह् हिंसार्थोः" । तृंहणम् । तृंहणीयमिति । अनुस्वारस्यायोगवाहत्वाद्ग्रहणेन ग्रहणमिति णत्वम् । तदुक्तम्— "अयोगवाहो वनेष्टस्तत्र तत्र

तद्वा भवेत्” इति । “रिवि रवि गतौ” इत्यस्य । रिखनम् । रिखनीयम् । झल्यरत्वाभावादनुस्वारो नास्तीति एत्वाभावः । तृष्णम् । तृष्णीयमित्यत्र परस्वत्वस्यासिद्धत्वादनुस्वारोऽस्तीति एत्वं भवति ।

पूर्वपदात् खावगः ॥५।४।८७॥ खु इति वर्तते । प्रकारेफवतः पूर्वपदात् अगकारान्तात् उत्तरस्य नकारस्य णो भवति खुविपये । पुष्पण्दी । श्रीण्दी । श्रीनन्दिशब्दस्य जुभ्नादिषु णत्वं निषिद्धम् । खरणसः । वाघ्रीणसः । खाविति किम् ? शुष्कनासिकः । दीर्घनासिकः । अग इति किम् ? ऋगयनम् । जुभ्नादिषु नृनमन-तृप्नोतिशब्दयोः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् ऋकारस्थाद्रेफादजंशेन व्यवहितत्वात् पदस्य एत्वं भवतीति एत्वप्राप्तिः । नियमार्थोऽयं योगः । पूर्वपदात्खावेव नान्यत्र । अथ पूर्वपदादेव खाविति कस्मान्न नियमो भवति । एवं सति खु-नियमः स्यात् । अखुविपये पूर्वेण एत्वसिद्धेः “बाष्णाद्वाहनम्” [५।४।९२] इत्याद्यारम्भोऽनर्थकः स्यात् । अत्र से कृते समुदायाद्या विभक्ती तथा समुदायस्यैकपदत्वे पूर्वेण प्राप्तिरस्तीति नियमो घटते । पूर्वपदत्वं तु स्मर्यमाणाव-यवापेक्षम् । पूर्वपदशब्दश्च सम्बन्धशब्दः । तेनोत्तरपदस्थस्य नकारस्य एत्वं नियमो निवर्तयति न पूर्वपदस्थस्य नापि त्यस्यस्य । करणप्रियः । खारपायणः । करणं प्रियमस्य । खरपस्यापत्यमिति विग्रहः । अग इत्यनन्तरस्य प्रतिषेधः प्राप्नोतीति चेत् ; तत्र को दोषः ? खौ चाखौ च पूर्वेण एत्वं स्यात् । एवं तर्हि अग इति योगविभागः । तेन विधिनियमयोः प्रतिषेधः ।

वनं पुरगामिश्रकासिद्धकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः ॥५।४।८८॥ खाविति वर्तते । पुरगा मिश्रका सिद्धका शारिका कोटरा अग्र इत्येतेभ्यः परं वनं विनम्यते । विनाम इति प्रत्यणत्वयोः सञ्ज्ञा । पुरगा-वणम् । मिश्रकावणम् । सिद्धकावणम् । शारिकावणम् । कोटरावणम् । तासे कृते पूर्वपदस्य “गिरिवने किंशुलुक-कोटराद्योः खौ” [४।३।२२०] इति दीत्वम् । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । “राजदन्त” [३।३।९६] आदित्वात्पूर्वनिपातः । “ईपोऽद्बलः” [४।३।१२७] इत्यनुप् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” । एतेभ्य एव वनं विनम्यते नान्येभ्यः । मनोहरवनम् । अथ पुरगादिभ्यो वनमेव विनम्यते नान्यदिति कस्मान्न नियमः । एवं सति पुरगादिनियमः स्यात् । वनं त्वनियतं तस्य खौ पूर्वेणैव एत्वं सिद्धमित्युत्तरसूत्रे खावपि प्रादिभ्यः परं वनं विनम्यत इत्यपिशब्दोऽनर्थकः स्यात् । ज्ञायते पुरगादिभ्य एव वनं विनम्यते इति नियमः । पुरगादीनां कृतदीत्वानामुच्चारणं किम् ? यत्रैव दीत्वं तत्रैव एत्वं यथा स्यात् । इदमेव ज्ञापकमनित्यं द्यौ दीत्वमिति तेन लम्बकरणः । विद्धकरणः । अलिरुक् । कमलरुक् इत्येवमादि सिद्धम् ।

प्रान्तर्निःशरेऽप्लक्ष्णाप्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽखावपि ॥५।४।८९॥ प्र अन्तरं निस् शर इच्छु प्लक्ष्ण भाम्न कार्ष्यं खदिर पीयूक्षा इत्येतेभ्यः परं वनं विनम्यते अखावपि खावपि च । प्रवणम् । अन्त-र्वणम् । निर्वणम् । शरवणम् । इक्षुवणम् । प्लक्षवणम् । कार्ष्यवणम् । खदिरवणम् । पीयूक्षावणम् । प्रगतं वनम्, अन्तर्गतं वनम्, निर्गतं वनमिति विग्रहः । शरवणादिषु तासः । ये ओषधिवनस्पतिशब्दा न भवन्ति तेभ्यः अखौ खौ च पूर्वाभ्यामप्राप्ते विधिः । ओषधिवनस्पतिशब्देभ्यस्तु खावप्राप्ते विधिः । अखौ त्तरसूत्रेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । अपिशब्दस्य पूर्वसूत्रे प्रयोजनमुक्तम् ।

विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ॥५।४।९०॥ ओषधिवनस्पतिशब्देभ्यः परं वनं विभाषा विनम्यते । ओषधिभ्यः—दूर्वावणम् । दूर्वावनम् । ब्रोहिवणम् । ब्रीहिवणम् । वनस्पतिभ्यः—करीरवणम् । करीरवनम् । आरुकवणम् । आरुकवनम् । व्यवस्थितविभाषाऽऽभयगात् द्वयक्षरव्यक्षरयोर्विकल्पः । तेनेह न भवति । भद्रदारु-वनम् । “ईरिकादिभ्यश्च न भवति” [बा०] । ईरिकावनम् । तिमिरवनम् । समीरवनम् । खौ पुरगादिभ्य एव वनं विनम्यते इत्यखावियं विभाषा । खौ त्वसिद्धत्वान्नियमेन बाध्यते । यदि खावपि प्रयोगोऽस्ति विभाषेति योगविभाषान्नियमबाधा द्रष्टव्या । बहुत्वनिर्देशः पर्यायार्थः । इह वनस्पतिग्रहणे वृक्षाणामपि ग्रहणम् । यतः—

“फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः ।”

पुष्पफले अन्यतरच्चोपगच्छन्ति ये ते वृक्षाः । तत्र यो वनस्पतिः स वृक्षो भवत्येव । वृक्षस्तु नावश्यं वनस्पतिरिति वनस्पतिग्रहणं कृतम् । एतेभ्य इति किम् ? शिरीषवनम् । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः तस्य वनम् । “वरणादेः” [३।२।६२] इत्युप् । उपि कृते “युक्तवदुलि लिङ्गसङ्ख्ये” [१।१।६८] इत्यनेन लिङ्गसङ्ख्ययोरेवातिदेशो न वनस्पतित्वस्येति श्लवाभावः ।

अतोऽहः ॥५।४।११॥ अकारान्तात्पूर्वपदादुत्तरस्य अह्नो नकारस्य णत्वं भवति । पूर्वाहणः । अपराहणः । “पूर्वापरप्रथम” [१।३।५३] आदि सूत्रेण पसः । “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४।२।६३] इति टः । “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।६०] इत्यहनादेशः । अत इति किम् ? निरहः । दुरहः । निर्गतमहः । दुष्टमहः । तपरकरणं किम् ? परावृत्तमहः पराहनः । अहन इति सूत्रे वृत्तिघटितैकदेशो वान्तः । “सूत्रेऽस्मिन् सुष्विधिरिष्टः” [५।२।११४] इति तास्थाने वानिर्देशाद् व्याख्येयः । अहन इति अकारान्तनिर्देशाद्दीर्घाहना शरदित्यत्र न भवति । दीर्घाण्यहान्यस्यामिति यसे “बोङ्खे” [३।१।११] इति वा डीविधिः ।

वाह्याद्वाहनम् ॥५।४।१२॥ कालसामान्ये वोढव्यं वाह्यम् । वाह्यादुत्तरस्य वाहनस्य णत्वं भवति । ऊह्यतेऽनेनेति वहनम् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण् । अतो वा निपातनादुञ्चो दीत्वम् । इच्छुवाहणम् । शरवाहणम् । कर्मणि तासः । वाह्यादिति किम् ? सुरवाहनम् । सुरस्वामिकमित्यर्थः । एवं नरवाहनः । नात्र वाह्यात्परं वाहनम्, किन्तु वाहनात् । वाह्यवाहकसम्बन्धे णत्वं भवत्येव । सुरवाहणम् । नरवाहणम् । नौ पूर्वेण सिद्धं णत्वं नरवाहण इति ।

पानं देशे ॥५।४।१३॥ पाननकारस्य णत्वं भवति देशे गम्ये । सर्वत्र पूर्वपदस्थान्निमित्तादिति वर्तते । कपायपाणाः गान्धारयः । क्षीरपाणाः आन्ध्राः । सौवीरपाणाः द्रमिणाः । सुरापाणाः प्राच्याः । अतिशयोऽत्र गम्यते । तात्स्थयात्ताच्छब्दमिति मनुष्याभिधाने देशाभिधानम् । पीयते इति पानम् । “युङ्ख्या बहुलम्” [२।३।६४] इति कर्मणि युट् । कपायं पानमेवामिति कर्तरि ता । देश इति किम् ? दाक्षिपानम् । क्षीरपाना गोपालकाः ।

वा भावकरणे ॥५।४।१४॥ भावे करणे च यः पानशब्दस्तन्नकारस्य वा णत्वं भवति । भावे-क्षीरपाणम् । क्षीरपानं वर्तते । करणे-पीयतेऽनेनेति पानः । वारिपाणः । वारिपानः कंसः । वेति योगविभागाद्भिरिनद्यादिषु वा णत्वम् । चक्रणदी । चक्रनदी । चक्रणितम्बा । चक्रनितम्बा ।

मृदन्तनुम्विभक्त्याम् ॥५।४।१५॥ मृदन्ते नुमि विभक्त्यां च यो नकारः तस्य पूर्वपदस्थान्निमित्ताद् वा णत्वं भवति । मृदन्ते-मापवापिणौ । मापवापिनौ । व्रीहिवापिणौ । व्रीहिवापिनौ । “प्रायोऽभीक्ष्ये” [२।२।६६] इति णिन् । नुमि । मापवापाणि । मापवापानि । “लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव” [प०] इति नुमो मृदन्तग्रहणेनाग्रहणम् । विभक्त्याम्-मापवापेण । मापवापेन । व्रीहिवापेण । व्रीहिवापेन । नियमादप्राप्ते विकल्पः । पूर्वपदादिति वर्तते तेन सम्बन्धादुत्तरपदं यन्मृत्सञ्ज्ञं तदन्तस्य विकल्पः । तेनेह न भवति । गर्गाणां भगिनीः गर्गभगिनीति । यदा यु गर्गभगशब्दान्मत्वर्थीय इन् तदा णत्वं भवत्येव । गर्गभगिणीति । “पूर्वपदास्त्वावगः” [५।४।८७] इत्यनेनोत्तरपदस्थस्य नकारस्य णत्वं निवर्त्यते । न त्यस्यस्येयुक्तम् । यथा मानुभोगीण इत्यत्र समुदायस्य समानपदत्वे । पुरुवारिणी इत्यत्र विकल्पस्य बहिरङ्गत्वादसिद्धत्वाच्चादिसूत्रेण नत्वम् । मापवापिणा मापवापिना इत्यत्र पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य विधिरिति । मृदन्तत्वाद्विकल्पः । वेति व्यवस्थितविभाषाऽनुवर्तनादिह न भवति । आचार्ययूना । क्षत्रिययूना । प्रपक्वानि । परिपक्वानि । दीर्घाङ्गी शरदिति ।

एकाच्चौ णः ॥५।४।१६॥ एकाचि चौ पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य मृदन्तनुम्विभक्तौनकारस्य णकारो भवति । ब्रह्महणौ । वृत्रहणौ । क्षीरपाणि । सुरापाणि । क्षीरपेण । सुरापेण । “आतः कः”

[२।२।३] इति कः । सुरायां वाचि पिबते: “सुराशीध्वोः पिबः” [२।२।१२] इति टक् । पुनर्याग्रहणं नित्यार्थम् ।

कुमति ॥५।४।६७॥ कवर्गवति च द्यौ मृदन्तनुम्बिभक्तीनकारस्य णत्वं भवति । इच्छुयुगिणौ । करयुगिणौ । इच्छुयुगेण । अनेकाज्ज्वर्थं वचनम् । काविति सिद्धे कुमतीति मत्वर्थीयः किम् ? अकवर्गादावपि यौ प्रापणार्थम् । अन्यथा “येनालि विधि” न्यायेन कवर्गादावेव स्यात् ।

गेरसेऽपि विकृतेः ॥५।४।६८॥ गेरत्तरस्य सामर्थ्याद्भोर्विकारस्यासेऽपि णो भवति । असे । प्रणमति । परिणमति । से-प्रणायकः । परिणायकः । विक्रियते इति विकृतिः नकारः । अवयवविकारे समुदायस्य धोर्विकारो यथैकदेशाऽलङ्कारेऽलङ्कृतो देवदत्त इति । ततो विकृते प्रति क्रियायोगित्वात् प्रादीनां गित्वम् । गेरिति किम् ? मुनिर्नयति स्वर्गम् । प्रगता नायका अस्माद्ग्रामात् प्रनायको ग्रामः । अपिग्रहणं किम् ? से पूर्व-पदात् खाविति नियमात् णत्वं न स्यात् । ननु णत्वस्यासिद्धत्वान्न नियमप्राप्तिः । इदमेवापिग्रहणं ज्ञापकम् । “न योगे योगोऽसिद्धोऽपि तु प्रकरणे प्रकरणमसिद्धं भवति” । तेन निष्कृतं दुष्कृतमित्यत्र “इणः षः” [५।४।२७] इति पत्वे क्रियमाणे “इङुडुङुः” [५।४।२८] इति सत्वं नासिद्धम् । विकृतैरिति किम् ? प्रनृत्यति । प्रनर्तकः । अयमौपदेशिको नकारो न तु “णो नः” [४।३।५४] इत्यनेन विकृतः । “नृतिनन्दिनङ्किनाधुनाथ-वज्जम्” इति वचनात् ।

नशोः शः ॥५।४।६९॥ नशोः शकारान्तस्य णत्वं भवति । प्रणश्यति । परिणश्यति । प्रणाशकः । परिणाशकः । श इति किम् ? प्रनष्टः । प्रनश्यति । शकारस्यैवेति नियमात् णत्वभावः । नशोरेव शकारान्तस्येति कस्मान्न नियमः । अन्यस्य शकारान्तस्यासम्भवात् । सम्भवे वा णत्वोपदेशादेव व्यावृत्तिः । णत्वोपदेशो हि “णो नः” [४।३।५४] इति विकृतिद्वारेण णत्वार्थः ।

नेर्गदनदपतपदभुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु ॥५।४।१००॥ गिस्थान्निमित्तात् परस्य गेर्नकारस्य णत्वं भवत्यसेऽपि गदादिषु परतः । प्रणिगदति । परिणिगदति । सेऽपि । प्रणिगदिता । परिणिगदिता । प्रणिनदति । परिणिनदति । प्रणिनदिता । परिणिनदिता । प्रणिपति । प्रणिपतिता । प्रणिपद्यते । प्रणिपत्ता । भुसञ्जे-प्रणिददाति । प्रणिदाता । प्रणिदधाति । प्रणिधाता । मा इति माङ्-मेङोर्ग्रहणम् । प्रणिमिमीते । प्रणिमाता । मेङः कृतात्वस्यैव ग्रहणम् । प्रणिमास्यते । प्रणिमाता । “मीञ् हिंसायाम्” । “ङुमिञ् प्रचेपणे” इत्यनयोः “मिन्मीब्दीळां प्ये च” [४।३।४३] इति कृतात्वयोः “मा माने” इत्यस्य च न ग्रहणम् । अस्य शेषत्वेनोत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषाऽतः सर्वमिदं लभ्यते । प्रणिष्यति । प्रणिपाता । प्रणिहन्ति । प्रणिहन्ता । प्रणिष्याति । प्रणिष्याता । प्रणिष्याति । प्रणिष्याता । प्रणिद्राति । प्रणिद्राता । प्रणिप्साति । प्रणिप्साता । प्रणिवपति । प्रणिवप्ता । प्रणिवहति । प्रणिवोढा । प्रणिशाम्यति । प्रणिशामिता । प्रणिचिनोति । प्रणिचेता । प्रणिदेग्धि । प्रणिदेग्धा । गदादिष्वीमिन्दैशादनन्तरस्य कार्यमित्यटा व्यावाये कथं णत्वम् । प्रणयगदत् । परिणयगददिति । अडागमश्च गोर्विहितो विकरणान्तश्च गुरशक्यो गदग्रहणेन प्रहीतुमिति । नैप दोषः । अड्व्यवाये इति मण्डूकखुत्या सम्बध्यते । तिपा निर्देशा यद्ब्रह्मन्निवृत्त्यर्थाः ।

षाऽपान्तेऽकखाद्दौ ॥५।४।१०१॥ गेरिति वर्तते । अपकारान्ते अककारखकारादौ यौ परतः गिस्थान्निमित्ताद्वा नेषां भवति । प्रणिवपत्ति । प्रनिपचिति । परिणिभिन्नति । परिनिभिन्नति । अपान्त इति किम् ? प्रनिपेष्टा । अन्तग्रहणमुपदेशार्थमिहापि न भवति । प्रनिपेक्ष्यति । प्रच्छेच्छककारान्तत्वाद् भवति । प्रतिप्रष्टा । अकखादाविति किम् ? प्रनिकरोति । प्रनिखादति । अचापि अकखोरिति सिद्धे आदिग्रहणमुपदेशार्थम् । प्रनि-चकार । प्रनिचखाद ।

हिम्योर्नुनोः ॥५।४।१०२॥ हि मी इत्येतयोर्नौ नुनौ तयोर्णात्वं भवति गिस्थान्निमित्तात् । प्रह्रियोति । प्रह्रिणुतः । प्रमीणाति । प्रमीणीतः । एबीत्वयोः कृतयोः एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाएणत्वम् ।

आनि ॥५।४।१०३॥ आनीत्येनस्य धोः परस्य णो भवति । आनि प्रति गित्वाभावादिह गिग्रहणं आदि-मात्रोपलक्षणम् । प्रवपाणि । प्रापयाणि । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषयाऽर्थवत् एव नेर्ग्रहणादिह न भवति । प्रवृद्धा वपा येषां तानि प्रवपानि मांसानि । आनीत्यविभक्तीको निर्देशः ।

णोऽनितेः ॥५।४।१०४॥ गेः परस्यानितेर्नकारस्य णो भवति । प्राणिति । पर्यणिति । अड्व्यवायेऽपि । पर्याणीत् । पुनर्णग्रहणमपवादविषयेऽपि णत्वार्थम् । हे प्राण् ? इति । कथन्तस्य किः । “अन्तस्य” [५।४।११५] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । तिपा निर्देशो यदुब्रन्तनिवृत्त्यर्थः ।

सचस्योभौ ॥५।४।१०५॥ सचस्यानितेर्धौ नकारो विनभ्येते । गेरिति वर्तते । प्राणिणपति । पराणिणपति ! पराणिणत् । अत्र द्वित्वे कृते चरूपेण व्यवधानाद्धोर्नकारस्य न प्राप्नोतीत्येवमर्थं सूत्रम् । उभौ-ग्रहणं किमर्थम् ? यावता पूर्वनकारस्य पूर्वसूत्रेण णत्वं सिद्धम् । धोस्त्वारम्भसामर्थ्यान्नकारस्य व्यवधानेऽपि भविष्यति । नापि द्वितीयस्य णत्वमुच्यमानं पूर्वस्यापवादः । सचस्येति वसनिर्देशात् । अन्यथा चादित्येवोच्येत । नियमार्थं तद्भुभौग्रहणम्-गेरनन्तरमुभयोरेव णत्वं न तृतीयस्य । प्राणिणिपयतेः लुङि कचि च कृते पुनः कचि द्वित्वे सति प्राणिणिनिपत् । ननु च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वचनात् कृतणत्वस्य द्वित्वे सति उभयोर्णत्वं लभ्यत इति नाथोऽनेनेति उभौग्रहणार्थं तर्हि सूत्रं कर्तव्यम् । न च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इतीदं सर्वविषयम् अन्यथा श्रौजिददित्यत्र दत्वधत्वध्दुत्वदृत्वानामसिद्धत्वाभावात् हति इत्येतस्य द्वित्वं न स्यात् ।

हन्तेरघः ॥५।४।१०६॥ घवर्तिस्य हन्तेर्नकारस्य णो भवति । गेरिति वर्तते । प्रहण्यते । परिहणनम् । अन्तःशब्दस्य गिसञ्ज्ञोक्ता । अन्तर्हण्यते । अन्तर्हणनम् । उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषावलोकनात् देशविषये न भवति । अन्तर्हणनो देशः । अघ इति किम् ? प्रध्नन्ति । प्राघ्नानि । “घनान्तर्घण” [२।३।६६] आदि सूत्रे अन्तर्घणादीनां निपातनाएणत्वम् । अघ इति योगविभागात् । हन्तेर्ग्रपूर्वस्यैव णत्वम् । तेनेह न भवति । वृत्रघ्न इति । सञ्ज्ञायां “पूर्वपदात्खावगः” [५।४।८७] इति णत्वं प्राप्तम् । असञ्ज्ञान्वे “एकाञ् घौ णः” [५।४।६६] इति ।

वा म्वोः ॥५।४।१०७॥ मकारवकारयोः परतः हन्तेर्नकारस्य वा णत्वं भवति । प्रहण्यः । प्रहण्यः । प्रहण्यः । प्रहण्यः । वाग्रहणं पूर्वविधीनां नित्यार्थम् ।

कृत्यचः ॥५।४।१०८॥ कृत्यो यो नकारः तस्याच उत्तरस्य णो भवति स चेन्नकारपरो भवति गिस्थान्निमित्तात् । कृतीति नकारस्य विशेषणं नाचः । कृत्सञ्ज्ञकाच्चाचः परस्य नकारस्य णत्वं भवतीत्यर्थः । प्रयाणम् । प्रवहणम् । प्रयायमाणम् । प्रयाणीयम् । अप्रयाणिर्हन्त ते वृपल । प्रयादिणः । प्रहीणः । प्रहीणवान् । अन्तःशब्दस्य गित्वे अन्तर्याणम् । अन्तरयणम् । वेति व्यवस्थितविभाषाभिःसम्बन्धादिह न भवति । अन्तरयणो देश इति । इहापि भवति । निर्विण्णः प्रात्राजीदिति । अच इति किम् ? प्रभुगनः ।

गेर्वा ॥५।४।१०९॥ एयन्ताद्यो विहितः कृत्तस्थस्याच उत्तरस्य नकारस्य वा णत्वं भवति । गेरिति वर्तते । प्रयापणम् । प्रयापनम् । ननु प्रयाप्यमाण इत्यत्र यका व्यवहितत्वात् कथं कृतो णत्वम् ? अड्व्यवाय इति वर्तते । एयन्ताद्विहितस्य कृतो व्यावायेऽपि णत्वं भविष्यति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

हलश्चेजुङः ॥५।४।११०॥ हजुङः सर्वस्य हलन्तत्वात् हलग्रहणमादिविशेषणम् । हजादेरिजुङो धोः परस्य कृति नकारस्य वा णत्वं भवति गेर्निमित्तात् । प्रकोपणम् । प्रकोपनम् । प्रमोहणम् । प्रमोहनम् । “कृत्यचः” [५।४।१०८] इति नित्ये प्राप्ते विकल्पः ।

[संनुम इजादेः ॥५।४।१११॥ निंसनिक्कनिन्दो वा ॥५।४।११२॥ न भाभूपूकमिगमिप्या-
यीवेपाम् ॥५।४।११३॥ षात् पदान्तात् ॥५।४।११४॥ अन्तस्य ॥५।४।११५॥ पद्व्यघायेऽपि
॥५।४।११६॥]

क्षुभ्नादिषु ॥५।४।११७॥ क्षुभ्ना इत्येवमादिषु शब्देषु नकारस्य णकारादेशो न भवति । क्षुभ ।
क्षुभ्नाति । नृप । नृप्नोति । इदमेव ज्ञापकम् । नृपिः स्वादावप्यस्ति । एकदेशविकृतस्यानन्तत्वात् क्षुम्नीतः ।
क्षुम्नन्ति । नृप्नुतः । नृप्नुवन्ति । विकरणान्तनिर्देशः किम् ? क्षोभणम् । तर्षणम् । नन्दिन् । नन्दन नगर इत्येतेषां
“पूर्वपदात्खावगः” [५।४।८७] इति णत्वं प्राप्तम् । हरिनन्दी । हरिनन्दनः । गिरिनगरम् । नर्त्तन नदन गहन
निवेश निवास अग्नि अनूप एतान्युत्तरपदानि सञ्ज्ञायामेव । परिनर्तनम् । परिनन्दनम् । भेरीनदनः । परिगहनम् ।
शरनिवेशः । शरनिवासः । शराग्निः । दर्भानूपम् । आचार्यभोगीनः । “आचार्यादणत्वं च” [ग० सू०] ।
आचार्यानी । “चतुर्ह्यायनी वयसि द्रष्टव्या” [वा०] । “ईरिकादीनि च वनोत्तरपदानि सञ्ज्ञायाम्” [वा०] ।
ईरिका । तिमिर । समीर । कुबेर । हरि । कर्मार । इति ईरिकादिः । आचार्ययूना । क्षत्रिययूना । दीर्घाहनी
शरदिति । अविहितलक्षणो णत्वप्रतिषेधः क्षुभ्नादिषु द्रष्टव्यः ।

न नृतेर्यङि ॥५।४।११८॥ नृतेर्यङि णत्वं न भवति । नरीनृत्यते । नरीनृत्येते । नरीनृत्यन्ते । त्यखे ।
त्याश्रयात् । नर्नर्ति । नरिनर्ति । नरीनर्ति ।

स्तोः श्चुना श्चुः ॥५।४।११९॥ सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ भवतः । अत्र
स्थान्यादेशयोर्यथासंख्यम्, स्थानिनिमित्तयोस्तु नेष्यते । “शात्” [५।४।१२३] इति तवर्गस्य चत्वं प्रतिषेधाज्जायते ।
सकारस्य शकारेण । जिनालयश्शोभते । तस्यैव चवर्गेण । धन्यश्चिनोति पुरयम् । श्रोत्रश्चू । वृश्चति पापम् ।
मुनिश्छिनन्ति कर्मबन्धम् । तवर्गस्य शकारेण । अग्निचिच्छेते । छ्वमसिद्धमिति शे चुत्वम् । पूर्वेषां शकारेण ।
“शात्” [५।४।१२३] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तवर्गस्य चवर्गेण । तत्त्वविचिचिनोति । तत्त्वविच्छादयति । तत्त्वविज-
यति । सरिञ्जपः । भवाञ्जकारीयति । श्राविति सिद्धे श्चुनेति निर्देशः शादिति प्रतिषेधश्च ज्ञापकः । परेण
पूर्वेषां च चुना योगे चुत्वमिति । तेन राज्ञः । याञ्जा । “मस्तिजनशोर्भलि” [५।१।३६] इति निर्देशात् मज्जति ।
भृञ्जतीत्यत्र चुत्वे कर्तव्ये जश्त्वं नासिद्धम् ।

पुना घुः ॥५।४।१२०॥ सकारतवर्गयोः पकारटवर्गाभ्यां योगे पकारटवर्गौ भवतः । अत्रापि “न तोः पि”
[५।४।१२२] इति प्रतिषेधात् स्थानिनिमित्तयोर्यथासंख्याभावः । सकारस्य पकारेण । कण्पण्डे । तस्यैव टवर्गेण ।
अश्वघीकते । पुरुषघृक्वयति । तवर्गस्य पकारेण परेण प्रतिषेधं वक्ष्यति । पूर्वेषां पेष्टा । पेष्टुम् । तवर्गस्य टवर्गेण ।
वृष्टटङ्कः । अट्ट अट्टेते । तकारोपदेशः क्विपि स्फान्तखे च कृते श्रवणार्थः । मरुड्टक्वयति । अडु । अडुति ।
श्राविङ्घौकते । भवाण्णकारोयति ।

पदस्य टोर्नाम्नवतिनगरी ॥५।४।१२१॥ पदस्य टोः परेषां नाम्नवति नगरी इत्येतेषां टुत्वं भवति ।
पण्णाम् । पण्णवतिः । पण्णगर्ग्यः । नियमार्थमिदम् । पदान्तटोः परस्य नाम्नवतिनगरीत्यस्यैव नान्यस्येति ।
तत्त्वामृतलिट् तरति दुःखम् । पदान्तस्यैव नियमादिहाप्रतिषेधः । ईड स्तुतौ । ईष्टे । पदस्येति वर्तमाने पुनः
पदस्येति ग्रहणमन्तार्थम् । ननु तथापि नाम्नवतिनगरीषु परतः पूर्वस्य पदान्तत्वसिद्धेः पदस्येति किमर्थम् ?
अतुल्यजातीयस्य सकारस्यापि परस्य ष्टुत्वनिवृत्तिर्यथा स्यात् । मधुलिट् सीदति ।

न तोः पि ॥५।४।१२२॥ तवर्गस्य पकारे यदुक्तं तन्न भवति । टुत्वमुक्तम् । तीर्थकृत् पोडशः ।
भवान्यण्डः ।

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिः खण्डिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायी-
मनुसूत्रात्र निर्दिष्टानि ।

शात् ॥५१४१२३॥ शकारात् परस्य तवर्गस्य यदुक्तं तन्न भवति । किमुक्तम् ? चुत्वम् । प्रश्नः ।
विश्नः । पदान्तस्य शकारस्याभावात् अपदान्ते प्रतिषेधः ।

ख्शः शो यो वा ॥५१४१२४॥ ख्श इत्येतस्य शकारस्य यकारो भवति वा । आख्याता ।
आख्याता । पर्याख्यानमिति यत्वस्यासिद्धत्वात् “कृत्यचः” [५१४१०८] इति णत्वं नास्ति । वेति योगविभागः ।
तेन चुना योगे “व उञ्जेः” इति लब्धम् । उञ्जिता । उञ्जितुम् । उञ्जितव्यम् ।

यरो ङो विभाषा ङे ॥५१४१२५॥ पुनः पदस्येति सामर्थ्यात् पदान्त इति लभ्यते । यरः पदान्तस्य
विभाषया ङदेशो भवति ङे परतः । सुवाङ्मनयति । सुवाग् नयति । ष्यमुखः । षड्मुखः । सन्नयनम् । सदनयनम् ।
ककुम्भण्डलम् । ककुब्भण्डलम् । पदान्तस्येति किम् ? सद्म । स्तम्नाति । वेत्यनुवृत्तौ विभाषाग्रहणं व्यवस्थार्थम् ।
तेन त्ये नित्यं भवति । वाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । पण्णाम् । वाचो विकारः । “नित्यं दुशरादेः” [३१३१०६]
इति मयङ् । त्वचः आगतं “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” [३१३१५५] । “मयट्” [३१३१५६] इति मयट् ।

अचो रहाद् द्वे ॥५१४१२६॥ अच उत्तरौ यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो विभाषया द्वे रूपे
भवतः । अर्कः । अर्कः । तर्कः । तर्कः । ब्रह्मन् । ब्रह्मन् । सद्यम् । सद्यम् । अच इति किम् ? हनुते ।
विभाषेत्यनुवृत्तेर्व्यवस्था । शरोऽचि द्वित्वन्न भवत्येव । आदर्शः । वर्षति । तर्षम् । “रहौ निमित्तभूतौ द्वित्वस्य न
च निमित्तिकार्यं निमित्तस्य” । तेनेह न भवति । भद्रहृदः ।

अनचि ॥५१४१२७॥ रहादिति निवृत्तम् । अच इति वर्तते यर इति च । अच उत्तरस्य यरो
विभाषया द्वे भवतः अनचि । दद्धयत्र । दध्यत्र । मद्धयत्र । मध्यत्र । अत्र यकारवकारौ निमित्तम् । अनचीति
यदि पर्युदासः हल्यग्रहणं कर्तव्यम् । एवं तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । अचि नेति । तेन हल्यवसाने च द्वित्वम् ।
वाक्क् । वाक् । त्वक्क् । त्वक् । अच इत्येव । स्नातम् । प्सातम् । व्यवस्थितविभाषाधिकारात् “त्रिप्रभृतिषु न
भवति” [वा०] । इन्द्रः । राष्ट्रम् । “थणः परस्य मयोऽचि विकल्पः” [वा०] । उल्का । उल्का । वल्मीकः ।
वल्मीकः । “शर उत्तरस्य खयः” [वा०] । स्थाली । स्थाली । “खय उत्तरस्य शरोऽपि” [वा०] । अप्सरः ।
अप्सरः । “पुत्रादिनी त्वमसि पापे इत्याक्रोशे नेप्यते” [वा०] । “द्विमात्रात्परस्यापि” [या०] । पात्रम् । सूत्रम् ।

भलां जश् भशि ॥५१४१२८॥ भलां वर्णानां जशादेशो भवति भशि परतः । लब्धा । दोग्धा ।
अबुद्धाः । अपदान्तार्थं आरम्भः । भशीति किम् ? दध्मे ।

चे चत्वंम् ॥५१४१२९॥ चे वर्तमानानां भलां चत्वं भवति जश्त्वं च । चिखनिषति । चिच्छेद ।
डिटक्कायिषति । तिष्ठासति । पम्फुल्यते । जिघत्सति । बुभुत्सते । ड्टौके । दधौ । प्रकृतिचरां प्रकृतिचरः
प्रकृतिजशां प्रकृतिजशो भवन्ति । अभिन्नरूपा इत्यर्थः । चिचीपति । टिटीके । ततार । पपौ । जिजनिपते ।
बुबुधे । डिडेप । ददौ । सर्वत्र “स्थानेऽन्तरतमः” [१११४७] इति व्यवस्था ।

खरि ॥५१४१३०॥ भलां खरि परतः चर्भवति । भेत्ता । भेत्तुम् । त्रिभित्सति ।

विरामे वा ॥५१४१३१॥ विरामे वर्तमानानां भलां वा चत्वं भवति । वाक् । वाग् । मधुलिट् ।
मधुलिङ् । तत्त्वभुत् । तत्त्वभुद् । ककुप् । ककुब् ।

यय्यनुस्वारस्य परस्वम् ॥५१४१३२॥ ययि परतः अनुस्वारस्य परस्वं भवति । शङ्कितः ।
अङ्कितः । द्विषिङतः । शान्तः । कृषन्तीत्यत्र एत्वप्राप्तेरसिद्धत्वादनुस्वारः । परस्वत्वम् । तस्यासिद्धत्वात्पश्चादपि
णत्वाभावः । ययीति किम् ? रिरंसते ।

वा पदान्तस्य ॥५१४१३३॥ पदान्तस्यानुस्वारस्य वा परस्वत्वं भवति ययि परतः । शुद्धं करोति ।
शुद्धकरोति । ययीत्येव । त्वं शोपे ।

तोलिं ॥५१४१३४॥ तवर्गस्य लकारे परतः परस्वत्वं भवति । तडिल्लोला । भवाँल्लोकेशः । नकारस्य नासिक्यो लकारः । वेति नाधिकृतम् ।

स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः ॥५१४१३५॥ स्था स्तम्भ इत्येतयोर्दः परयोः पूर्वस्य स्वं भवति । उत्थाता उत्थातुम् । उत्थातव्यम् । उत्ताम्भिता । उत्ताम्भितुम् । उत्ताम्भितव्यम् । उद इति कानिदेशात् परस्यादेः अधोपस्य सकारस्य तकारः । स्थास्तम्भोरिति किम् ? उत्स्विन्नः । पूर्वस्येति किम् ? परस्वनिवृत्त्यर्थम् । उद इति किम् ? संस्थितिः ! उद इति योगविभागः कल्पनीयः । तेन स्कन्देरपि रोगे पूर्वस्वम् । उत्कन्दको नाम रोगः ।

भयो हः ॥५१४१३६॥ भयः पदान्तादुत्तरस्य हकारस्य पूर्वस्वं भवति । सुवाग्घसति । मधुलिङ्हरति । धर्मविद्धितम् । ककुब्भसति । महाप्राणस्योष्मणः स्थाने तादृश एव पूर्वचतुर्थो भवति । “चतुष्टयं समन्तभद्रस्य” [५१४१४०] इति वक्ष्यति तेन विकल्पः । सुवाग् हसति । मधुलिङ् हरति । धर्मविद् हितम् । ककुब् हसति । भय इति किम् । प्राङ् हसति ।

शश्छोऽपि ॥५१४१३७॥ शयः पदान्तादुत्तरस्य शकारस्य ऋटि परतश्छकारो भवति । वाक्छोभते । धर्मविच्छेते । ककुप्छोभते । पक्षे न भवति । वाक् शोभते । धर्मवित् शेते । ककुप्शोभते । केचित् शश्छोऽपीति पठन्ति । तेन तच्छ्लोकः । तच्छ्वसनमिति ।

हलो यमां यमि खम् ॥५१४१३८॥ हल उत्तरेषां यमां यमि परतः खं भवति । शय्या इत्यत्र “समज” [२।३।८१] आदिसूत्रेण क्यपि अयञ्चि च कृते द्वौ यकारौ । क्रमजश्चतुर्थः । मध्यमस्यानेन खम् । पक्षे न भवति । शय्या । आदित्य इत्यत्र अपत्यार्थे द्वौ यकारौ । “सास्य देवता” [३।२।१६] इति तृतीयः । क्रमजश्चतुर्थः । मध्यमस्य मध्यमयोर्वा खम् । हल इति किम् ? अन्नम् । यमामिति किम् ? अर्घ्यं मधु । अर्घमर्हति । अर्घार्थं वा । “पाद्यार्घ्ये” [४।२।३२] इति निपातनन् । यमीति किम् ? शाङ्गम् । यथासंख्यविज्ञानादिह न भवति । पित्र्यम् ।

भरो भरि स्वे ॥५१४१३९॥ हल उत्तरस्य भरो भरि स्वे परतः खं भवति । प्रत्तमवत्तमित्यत्र “ने स्तोऽचः” [५।२।१४६] इत्याकारस्य तकारे कृते त्रयस्तकाराः । क्रमजश्चतुर्थः । मध्यमस्य मध्यमयोर्वा खं विकल्पावलोकनात् । मरुत् इत्यत्र मरुच्छब्दस्य गित्वोपसंख्यानंसामर्थ्यादनजन्तादापि तकारे कृते चत्वा रस्तकाराः । क्रमजः पञ्चमः । मध्यमस्य मध्यमयोर्मध्यमानां वा खम् । भर इति किम् ? शाङ्गम् । भरीति किम् ? प्राध्नोति । स्वे इति किम् ? तर्प्ता । याथासंख्यात्मिद्धमिति चेत् । उञ्जिभृता । शिण्ठि । पिण्ठि इत्यत्र चतुर्थेऽपि स्वे तृतीयस्य खं यथा स्यात् ।

चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ॥५१४१४०॥ झयो ह इत्यादि चतुष्टयं समन्तभद्राचार्यस्य मतेन भवति नान्येषां मते । तथा चैवोदाहृतम् ।

इत्यभयनन्दिदिवरिचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पञ्चमस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः समाप्तः । समाप्तश्च पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ प्रशस्तिः

जिनमतं जयताञ्जितदुर्मतं सकलसत्त्वहितं सुमतिप्रदम् ।
नयचयाङ्कितमिष्टविशिष्टवाग्भवभयातपवारणबारिदम् ॥१॥

पाणिनिना यद्युक्तं लिपितं कृत्वाष्टकं मोहात् ।
तदिह निरस्तं निखिलं श्रीगुरुभिः पूज्यपादाख्यैः ॥२॥

जगन्नाथनाम्ना द्वितीयाभिधानास्सतां वादिराजार्यमोपाख्यसाधोः ।
जनन्याः सुतेनापि वीराभिधायाः दयादानपूजादिसंशुद्धमूर्तेः ॥३॥

जैनेन्द्रशब्दशास्त्रं स्वोपक्रमतो नरेन्द्रकीर्तिसुगुरोः ।
अन्ते लिखितं पठितं पाठितमपि भारतीभक्त्या ॥४॥

जीवोऽस्वप्नगुरुत्वमेवमुशानाः काव्याङ्क्यं भास्करो
मिश्रत्वं च विचक्षणत्वमगमन्निन्दुः सुधाधामताम् ।
गीर्वाणत्वमनन्ततां सुरगणाः शेषो वृषा जिष्णुतां
जैनेन्द्रं समधीत्य शब्दविलयं श्रीपूज्यपादोदितम् ॥५॥

पूज्यपादापराख्याय नमः श्रीदेवनन्दिने ।
व्यधायि पञ्चकं येन सूत्रं जैनेन्द्रमूलकम् ॥६॥

महावृत्तिकृते तस्मै नमोऽस्त्वभयनन्दिने ।
यद्वाक्यादभया धीराः शब्दविद्यासु सन्ततम् ॥७॥

स्रष्टा इष्ट्वा सुसृष्टिं स्तुतिमकृत मुखैश्चाथ जैनेन्द्रशाब्दीं
जिह्वाभूयस्त्वभावादुरगपतिरतोऽध्येति नात्येति पारम् ।
रीढां दुःखावलीढां निजमदवशगाः प्रापुरिन्द्रादयोऽपि
कृत्वेमां देवनन्दी विविधसुरगणैः पूज्यपादाङ्कयोऽभूत् ॥८॥

प्रमाणमकलङ्कीयं पूज्यपादीयलक्षणम् ।
धानञ्जयं च सत्काव्यं रत्नत्रयमुदाहृतम् ॥९॥

इति प्रशस्तिः सम्पूर्णा शुभम्भवतु

जैनेन्द्रसूत्राणामकारादिक्रमः

अ	अतिक्रमे चातिः	१।४।८	अनवकलृप्त्यमर्षे	२।३।१२१
अकथितञ्च	अतेः	२।२।१२३	अनश्च बात्	३।१।१०
अकर्तरि	अतोऽनादर्षेः	५।१।८३	अनाप्यकः	५।१।१७०
अकर्मको धिः	अतोऽप्राच्यभर्गादेः	३।१।१५८	अनाश्वाननूचानौ	२।२।६०
अकामेऽमूर्धमस्तकात्	अतोऽम्	५।१।२१	अनितावनुकरणम्	१।२।१३३
अक्षाद्यैन्दुः	अतो येप्	५।१।१३६	अनीचः	३।१।१७
अग्रे	अतो हल्मध्येऽनादेशादेः	४।४।११०	अनुकम्पायाम्	४।१।१३२
अग्नौ चेः	अतो हेः	४।४।६६	अनुक्तपुंस्कादाच्च	५।२।५३
अङ्घ्रि	अतोऽहः	५।४।६१	अनुक्ते	१।४।१
अङ्गल्यादेष्टण्	अत्कायाः	५।१।२७	अनुग्वलंगामी	३।४।१३८
अचः	अत्थात्	५।१।४	अनुदात्तेतोऽपसूददीप-	२।२।१३१
अचश्च	अत्वसोऽधोः	४।४।१२	अनुदात्तोपदेशवनति-	४।४।३७
अचि	अदेष्टेप्	१।१।१६	अनुपदेशेऽदः	१।२।१३६
अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्	अदेशकालाष्टण्	३।३।७१	अनुशक्तिकादेः	५।२।२५
अचीको यण्	अदोऽट्	५।२।६५	अनृतोऽनन्तस्याप्येकै-	५।४।६४
अचो रहाद् द्वे	अदोऽनन्ने	२।२।६०	अनोऽखमम्बस्फात्	४।४।१२२
अजाद्यत्	अद् बाह्वादेरिञ्	३।१।८५	अनोर्धेः	१।२।४५
अजाद्यतष्टाप्	अद्रौ त्रिककुद्	४।२।१४७	अन्तरादेष्टञ्	३।३।३५
अजाविभ्यां थः	अधिकरणे चाद्यर्थाच्च	२।४।५६	अन्तरान्तरेण योगे	१।४।३
अजीवे	अधिकृत्य कृते ग्रन्थे	३।३।६१	अन्तस्य	५।४।११५
अजीवेऽच्णः	अधिपरी अनर्थकौ	१।४।१०	अन्तेऽलः	१।१।४९
अञ्चेः पूजायाम्	अधीत्याऽदूराख्यानाम्	१।४।८१	अन्त्यादचष्टिः	१।१।६५
अञ्चेरुप्	अधीष्टे	२।३।१४२	अन्त्येनेतादिः	१।१।७३
अटश्च	अधुना	४।१।८३	अन्धूधसोः	४।३।२५
अटकुप्वाङ्व्यवायेऽपि	अधु मृत्	१।१।५	अन्यथैवंकथमित्थं-	२।४।१३
अडवू वोपादेः	अध्यायानुवाकयोर्वोप्	४।१।६४	अन्यपदार्थेऽनेकं बम्	१।३।८६
अण्	अध्यायिन्यदेशकालात्	३।३।१८८	अन्यस्यापि	४।३।२३२
अणि	अध्वर्युक्रतुरनप्	१।४।८०	अन्येभ्योऽपि	२।२।१५७
अणुदित्स्वस्यात्मनो	अनः	४।२।११०; ४।४।१५८	अन्वच्यानुलोम्ये	२।४।४६
अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्	अनङ् सौ	५।१।७०	अपथम्	१।४।१०७
अण् कुटिलिकायाः	अनचि	५।४।१२७	अपादानेऽहीयरुहोः	४।२।५०
अण् मोः	अनद्यतने लङ्	२।२।६२	अपे क्लेशतमसोः	२।२।४८
अतः खम्	अनद्यतने लुट्	२।३।१४	अपे च लषः	२।२।२२१
अताभास्थस्याशी-	अनन्तरस्यापि	५।३।१०३	अपो नप्त्रपान्नप्तुभ्याम्	३।२।१२

अपु चाशिष्यायुष्यमद्र-	१।४।७७
अपु तदर्थार्थबलिहित-	१।३।३१
अप्राणजतेः	१।४।८२
अभिजनः	३।३।६४
अभिजिद्विदभृतोऽणो यज्-	४।२।७
अभिनिविशश्च	१।२।११९
अभिनिष्कामति द्वारम्	३।३।६०
अमानिनीत्स्वाङ्गात्	४।३।१५२
अमावस्या वा	२।१।१०३
अमेकाचोऽम्बत्	४।३।१७८
अम्बाम्बगोभूमिसव्याप-	५।४।७१
अयद्यभिज्ञोक्तौ लृट्	२।२।६३
अयामन्तालवाय्येत्नुपु	४।४।५५
अर्जुनाद् बुन्	३।३।७३
अर्तिह्रीब्लीरीकनूयीक्ष्मा-	५।२।४१
अर्तेः	५।१।११०
अर्थैतावत्त्वे च	१।४।६१
अर्थाच्च	४।२।१०३
अर्शाआदेरः	४।१।५०
अर्हः	२।२।१७
अलङ्कृञ्जिनिराकृञ्	२।२।११४
अल्पाख्यायाम्	४।२।१३७
अल्पात्तरम्	१।३।१००
अल्पे	४।१।१४१
अवक्रयः	३।३।१७०
अवयवाहतोः	५।२।१६
अवारपारात्यन्तानु-	३।४।१३६
अविच्छेदे	१।३।२६
अव्यक्तानु करणादनेका-	४।२।६१
अशु	४।१।७२
अशाला	१।४।१००
अश्नोतेः	५।२।१७२
अश्वत्थामहायणीभ्यां	३।२।१७
अश्वपत्यादेः	३।१।६६
अश्ववडवौ पूर्ववत्	१।४।१०३
अश्वदेः फञ्	३।१।६६
अषडक्षासितंग्वषिद्यः	४।२।१६
अष्टाम्य औशु	५।१।१८

असंख्यं द्विः	१।१।७४
असिद्धवदत्रामात्	४।४।२१
असौ	५।१।१६५
अस्ताति	४।१।१०४
अस्तिब्रूजोभूवची	१।४।१२४
अस्त्यात्	२।३।८४
अस्य च्वौ	५।२।१४१
अस्विदिस्विदिसहेः	५।४।४६
अहः	१।४।१०५
अहस्सवैक देशसंख्यात-	४।२।८६
अहन	५।३।७७

आ

आकर्पादेः कः	३।३।१७
आकालोऽच् प्रदीपः	१।१।११
आक्रोशे नञ्यनिः	२।३।६३
आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः	२।३।४१
आक्तेः शीलधर्मसाधुत्वे	२।२।११२
आङः	४।३।२४
आङः स्पद्धं	१।२।२६
आङि चापः	५।२।१००
आङि यमियसिक्रीडि-	२।२।१२५
आङि शीले	२।२।१६
आङो दोऽव्यसने	१।२।१४
आङो नाऽन्नियाम्	५।२।११३
आङो यमहनः	१।२।२३
आङो यि	५।१।४४
आङ्माङोः	४।३।६२
आङ्याञौ	२।३।६०
आ च त्वात्	३।४।१११
आ च हौ	४।४।१०७
आ चार्थवेदसत्यानाम्	२।१।२३
आच्छादने वृजः	२।३।५०
आज्ञायिनि	४।३।१२४
आतः	२।४।६०
आतः कः	२।२।३
आतो गौ	२।१।१०६; २।३।८८
आतो णल औः	५।२।३७

आतो धोः	४।४।१२७
आथर्वणः	३।३।१०१
आदितः	५।१।१२२
आदेप्	४।३।७५
आदेरेकाचो द्वे	४।३।१
आदैगैप्	१।१।५
आद्यतः	५।२।१७०
आधमर्त्ये चैनः	१।४।७४
आधारोऽधिकरणः	१।२।११६
आनङ् द्वन्द्वे	४।३।१३८
आनि	५।४।१०३
आने मुक्	५।१।१४१
आन्महतो जातीये च	४।३।१५८
आपृञ्पृधामीत्	५।२।१५७
आपपदम्	३।४।१३३
आवाधे च	५।३।८
आमः	१।४।१४९
आमीयुवोः	१।२।९४
आमेतः	२।४।७६
आम्यात् सर्वनाम्नः सुट्	५।१।३४
आम्बत् तत्कुञ्जः	१।२।५६
आयनेयीनीयियः फट्म्ब-	५।१।२
आयस्थानेभ्यष्टण्	३।३।४९
आयामिना	१।३।१३
आर्हाङ्ण्	३।४।१७
आलम्बनाविदूरेऽवात्	५।४।४६
आवट्यात्	३।१।५
आवश्यकाधमर्त्ययोः	२।३।१४६
आवि	५।१।१४७
आशितम्भवः	२।२।४३
आशिषि	२।१।१२३
आशिषि नाथः	१।४।६२
आशिषि लिङ्लोटौ	२।४।४६
आशिषि हनः	२।२।४७
आश्वयुज्या वुञ्	३।३।२०
आषाढाच्च	३।३।८
आ सर्वनाम्नः	४।३।१६७
आसिद्धौ देश्यदेशीय-	४।१।१२६

आहस्थः	५।३।५२
आहि च दूरे	४।१।१०१
इ	
इकः प्रोऽङ्याः	४।३।१७२
इकस्तौ	१।१।१७
इको दी वोंकः	५।१।८५
इको वहेऽपीलोः	४।३।२२३
इगुडः शलोऽनियो-	२।१।४०
इग्यणो जिः	१।१।४५
इङः	१।४।१२० ; २।३।२०
इङानं दः	१।२।१५१
इच्छा	२।३।८३
इच्छायें लिङ् लोटौ	२।३।१३३
इच्छोद्बोधेऽकच्चिति	२।३।१२६
इजः	३।२।८८
इजो बह्वचः प्राच्यभरतैषु	१।४।१३७
इटि चात्त्वम्	४।४।६३
इट् ते	५।१।६५
इडविजः	१।१।७६
इणः षः	५।४।२७
इणः षीध्वंलुङ्लिटां-	५।४।६०
इण्को सः षः	५।४।३७
इतोऽनिजः	३।१।१११
इतो मनुष्यजातेः	३।१।५५
इदम इश	४।१।६६
इदमदसोः सकोः	५।१।६
इदमो मः	५।१।१६६
इदमो वो षः	३।४।१६१
इदमो हः	४।१।७७
इदमो हिं	४।१।८२
इदिद्धोर्नुम्	५।१।३७
इदुदुङोऽन्यपुं मुहुसः	५।४।२८
इदुदभ्याम्	५।२।१११
इद्गोण्याः	१।१।१०
इद्दरिद्रिः	४।४।१०४
इन्	४।१।१६
इनः जियाम्	४।२।१५२
इनहनपूर्वार्यम्	४।४।६

इपा च प्राप्तापन्ने	१।३।२०
इपि	२।४।३८ ; ५।१।१४६
इपु तच्छ्रूतातीतपतित-	१।३।२१
इवेनेन	१।४।४०
इवे प्रतिकृतौ कः	४।१।१५०
इष्टादेः	४।१।२२
इसुसुक्तः कः	५।२।५२
इसुसोः सामर्थ्ये	५।४।३२
ई	
ई उत्	४।३।१०७
ई प्राध्मोः	५।२।१४०
ईच गणः	५।२।१६४
ईटीटः	४।४।२०
ईडः स्वध्वे	५।१।१३६
ईतः पुङ् नित्यम्	४।३।४९
ईदासः	४।४।१२६
ईदुदः	४।४।१२३
ईदूदेद् द्विदिः	१।१।२०
ईधे	४।४।६४
ईपत्रः	४।१।७६
ईपात्र वाक्	२।१।६६
ईपि चोपपोडरुधकर्षः	२।४।३५
ईपोऽङ्गलः	४।३।१२७
ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः	१।१।६०
ईपुष्ठीरडैः	१।३।१५
ईत्रधिकरणे च	१।४।४४
ईबधिके	१।४।१७
ईन्विशेषणे बे	१।३।१०१
ईन्भयोर्विभाषा	१।४।१५३
ईयसश्च	४।२।१५६
ईशः	५।१।१३७
ईश्वरः	३।४।४२
ईश्वरेऽधिना	१।४।१८
ईषदर्थे	४।३।२११
उ	
उः	१।१।८६
उगवादेयं	३।४।२
उगितश्च	४।३।१५७

उगिदचां धेऽधोः	५।१।४९
उगिद्वन्नान्डी	३।१।६
उङः	५।१।७५
उङि	५।३।८७
उङोऽतः	५।२।४
उच्चनीचाबुदात्तानुदात्तौ	१।१।१३
उच्चरोऽधेः	१।२।४६
उज्जुहोत्यादिभ्यः	१।४।१४५
उज्	१।१।२५
उणादयोऽन्यत्राभ्याम्	२।४।६२
उणादयो बहुलम्	२।२।१६७
उतस्त्यादस्फात्	४।४।९७
उताप्योः पृष्ठोक्तौ लिङ्	२।३।१२८
उत्कारदेशङ्	३।२।७०
उत्तरपथेनाहृतं च	३।४।७३
उत्तरपदं घु	१।३।१०५
उत्तराच्च	४।१।१०२
उत्सादेरज्	३।१।७१
उदः	१।२।६१
उद ईहे	१।२।१९
उदकस्योदयोश्च खौ	४।३।१६८
उद्वानुदधौ	५।३।३४
उदिकूले रुजिवहोः	२।२।३४
उदि ग्रहः	२।३।३४
उदि पुद्भयोतिश्रिजः	२।३।४५
उन्नयोर्ग्रः	२।३।२७
उपज्ञाते	३।३।८४
उपज्ञोपक्रमं तदायुक्तौ	१।४।६७
उपत्यकाधित्यके	३।४।१५५
उपदंशो भायाम्	२।४।३३
उपमानात्	४।२।६६ ; ४।२।१३८
उपर्यध्यधसः सामीप्ये	५।३।५
उपर्य्युपरिष्टात्परं चात्	४।१।६७
उपाजेऽन्वाजे	१।२।१४२
उपाज्जानुनीविकर्णात्	३।३।३६
उपात्	१।२।८१
उपात्प्रतिबलवैकृत्व-	४।३।११२
उपात्प्रशांशायाम्	५।१।४५

उपान्त्यालुङ्	१११६६	ऋतः	५१११०६; ५१२१८६	एच्यैप्	४१३७६
उपान्मन्त्रकरणे	११२१०	ऋतः स्फादेरेप्	५१२१२२	एजेः खशः	२१२३२
उपेन	११४१६	ऋत इद्धोः	५११७४	एत ऐ	२१४७६
उप्चोलादेः	३१११५६	ऋत उत्	४१३१९८	एतदः	४११७१
उप्ते	३१३१६	ऋतश्च क्तेः	५१३६२	एति हः	५१२१५४
उप्पोक्तात्	३१२१५४	ऋतश्चञ्	३१३५२	एतेतौ थोः	४११७०
उष्फले	३१३१२१	ऋतो ङिधे	५१२१०५	एत्येधत्थूट् सु	४१३७७
उबिलः	५१११६	ऋतोरण्	३१४१९९	एधा	४११२०६
उबुजुष्	१११६२	ऋतो विद्याथोनि-	४१२१३६	एप्यतोऽपदे	४१३८४
उभात्वम्	३१४१६५	ऋत्यकः	४१३१०५	एभ्योऽहोऽहः	४१२१६०
उरः	५१२१६६	ऋत्विग्दधृक्स्त्रिदगुष्णि-	२१२१५७	एरुः	२१४७३
उरःप्रभृतिभ्यः कप्	४१२१५१	ऋदुडोऽकलृपिचृतेः	२११६२	एर्गिवाक्चादुडो-	४१४७८
उऋत्	५१२१२०	ऋदुशनस्फुरदंशोऽनेह-	५११७१	एथं	५११६३
उरसोऽण् च	३१३२००	ऋन्महिष्यादेरण्	३१३१६९	एमं	२१४८१
उरसोऽग्रे	४१२१५	ऋन्मोः	४१२१५३	एवात्कः	४११२२६
उपासोपसः	४१३१४४	ऋषौ मित्रे	४१३२३१	ए	
उष्ठाद् बुञ्	३१३११६	ए		एपीत्	४१३१४१
उसभेदे	३२१५	एकः	३११७६	ओ	
उसि	४१३८३	एकः किः	११४५६	ओः पुयण्ल्ये	५१२१७८
उसि मे	११४५३	एकगोपूर्वाङ्ग नित्यम्	४११४४	ओजः सहोम्भसा वर्तते	३१३१५०
उसिलौ च देशे	४११३२	एकदिक्	३१३८१	ओत्	११२२३
उस्मनुष्ये उपमेये	४१११५२	एकद्विबहवश्चैकशः	१२२१५५	ओतः श्ये	५१२७१
ऊ		एकविभक्ति	११३१९४	ओदपूर्वस्य योऽशि	५१४१४
ऊधसः	३१११३	एकस्य ते मे	५१३१८	ओदितः	५१३६३
ऊधसोऽनङ्	४१२१३२	एकस्य सकृत्	४१२२६	ओमभ्यादाने	५१३१५
ऊम्(ॐ)	११२२६	एकाचोऽनुदात्तात्	५११११५	ओमाङोः	४१३८२
ऊरुतः	३११५६	एकाचो वशो भष् ह्रस्वः	५१३१५४	ओरावश्यके	२११२०२
ऊरुयोरिवे	३११५८	एकाञ्च	४१११४९	ओर्देशे ठञ्	३१२६५
ऊ रोऽनादेर्धेः	४१४१५३	एकाच् वौ णः	५१४१६	ओपधेरजातौ	४१२४३
ऊर्णाहंशुभंभ्यश्च युस्	४११६२	एकादाकिंश्चासहाये	४११११३	ओसि	५१२६६
ऊर्ध्वे शुषिपूरोः	२१४३१	एकान्नः	४१३१८४	ओ	
ऋ		एको बवत्	५१३७	ओक्षम्	४१४१५६
ऋक्पूरब्धूःपथोऽनन्ते	४१२७०	एङि पररूपम्	४१३८१	ओङ् आपः	५१११५
ऋगयनादेश्चाण्	३१३४७	एङोऽति पदान्तात्	४१३६६	ओतः	४१४७६
ऋचः शे	४१३१६६	एङ् प्रादेशे	१११७०	ओदञ्च सोः	५१२१२२
ऋचः सामयजुर्भ्याम्	४१२१८४	एचोऽदेः पूर्वस्यात्परस्ये	३११०४	क	
ऋच्छत्यताम्	५१२१२३	एचोऽयवायावः	४१३६६	कंशंभ्याम्	४११६०
ऋणो व्यैः	११३३७	एचोऽशित्याः	४१३३८	कंसाट्टन्	३१४२२

कः खौ	३।३।१११	कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा	२।१।६	काण्डाण्डादीरः	४।१।३७
ककुदस्यावस्थायां खम्	४।२।१४६	कर्तृकरणे भा	१।४।२६	काण्डात् क्षेत्रे	३।१।२८
कचि स्वप्नेः	४।३।१४	कर्तृकर्मणोः कृति	१।४।६८	का पथ्यन्तयोः	४।३।२१०
कच्छाग्निवक्त्रवर्तयोः	३।२।१०४	कर्तृकर्मणोर्भूकृञ्	२।३।१०५	का भोमिः	१।३।३२
कच्छादं:	३।२।१११	कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तो	१।२।३२	काभ्यः	२।१।७
कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु	३।३।१८६	कर्त्राभ्यम्	१।२।१२०	कायाः स्तोकादेः	४।३।१२१
कडङ्गरदक्षिणास्थाली-	३।४।६६	कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्न	२।४।३०	कायास्तस्	४।१।७३
करोमनःश्रद्धाघाते	१।२।१३६	कर्मठः	३।४।१५६	कारके	१।२।१०६
कण्डवादेर्यक्	२।१।२५	कर्मणि च	१।३।७६	कारे प्रायः	४।३।१२८
कतरकतमौ समर्थौ	१।३।५८	कर्मणि चाण्	२।३।१०	कार्मः शीले	४।४।१६३
कतिः संख्या	१।१।३३	कर्मणि चेषे	२।४।३२	कार्यार्थोऽपयोगीत्	१।२।३
कत्को घेऽचि	४।३।२०७	कर्मणि भृतौ	२।२।२७	कार्षापणसहस्रसुवर्णशत-	३।४।२७
कन्यादेर्दकञ्	३।२।७५	कर्मणि यत्स्पर्शात्कर्त्रङ्	२।३।६८	कार्षापणाद् वा प्रतिश्च	३।४।२३
कथादेश्चण्	३।३।२०६	कर्मणि हनः	२।२।७४	कालप्रयोजनाद् रोगस्य	४।१।१६
कद्र्वो रोऽस्वयम्भुवः	४।४।१३४	कर्मणीन् विक्रियः	२।२।८०	कालविभागेऽनहोरात्रा-	२।३।११३
कन्थापलदनगरग्राम-	३।२।११८	कर्मणीप्	१।४।२	कालसमयवेलामु तुम्	२।३।१४३
कन्थायाः	३।२।६७	कर्मणोपेयः सम्प्रदानम्	१।२।१११	कालाः	१।३।२५
कन्यायाः कनीन् च	३।१।१०५	कर्मण्यन्याख्यायाम्	२।२।७९	कालाच्च	४।२।६९
कन् पौ च	५।४।२२	कर्मण्यण्	२।२।१	कालाड्ज्	३।२।१३१
कपिज्ञातेर्दञ्	३।४।११७	कर्मण्यधिकरणे	२।३।७४	कालात्साधुपुण्यत्पच्य-	३।३।१८
कपिबोधदाङ्गिरसे	३।१।६६	कर्मण्यशेषे दृशिचिदः	२।४।१५	कालाद्यः	३।१।१००
कमृत्वोरिण् डीयङ्	२।१।२८	कर्मण्याक्रोशे कृञः	२।४।११	काल्यध्वन्यविच्छेदे	१।४।४
करणाधिकरणयोः	२।३।६६	कर्मण्यात्मनि	२।१।५३	काला मैत्रैः	१।३।६७
करणे	२।४।२४	कर्मवेषाद्यः	३।४।९४	काले	४।१।६३
करणे यजः	२।२।७३	कर्मव्यतिहारे जः	२।३।७६	कालेऽधिकरणे सुजर्थे	१।४।६७
कर्कलोहिताद्रीकण्	४।१।१६४	कर्माध्ययने वृत्तम्	३।३।१८१	कालेभ्यः	३।४।७४
कर्णाललाटभूषणे कः	३।३।४१	कर्मेवाधिशीङ्स्थासः	१।२।११७	कालेभ्यो भववत्	३।२।२९
कर्णेऽकर्तरि	१।४।३३	कलापिनोऽण्	३।३।७६	काश्यादेश्चञ्जिठौ	३।२।६२
कर्णे लक्षणस्याविष्टा-	४।३।२१८	कलाप्यश्वत्थयवबुसाद्	३।३।२३	कासूगोणीभ्यां तरट्	४।१।१४५
कर्तरि	१।३।७६	कल्याणयादीनामिन्ड्	३।१।११५	कास्यनेकाञ्च्यल्लिलट्याम्	२।१।३१
कर्तरि कृञ्	२।४।५२	कव उज्ये	४।३।२१३	किंकिलास्त्यर्थे लृट्	२।३।१२२
कर्तरि कृति	५।१।११३	कष्टाय	२।१।१२	किञ्चहुसर्वनाम्नो-	४।१।६८
कर्तरि च्चेन	१।३।७७	कस्कादौ	५।४।३६	किञ्चिदो निर्धारणे	४।१।१४७
कर्तरि चर्षिदेवतयोः	२।२।१६४	कस्येः	३।२।२०	किञ्चिदत्तद्बहुष्वः	२।२।२८
कर्तरि चारम्भे क्तः	२।४।५६	कांस्यपारशवौ	३।३।१२५	किञ्चिदे लिङ्लृटौ	२।३।१२०
कर्तरि जे	१।२।८	काऽपादाने	१।४।३७	किञ्चिदे लिप्सायाम्	२।३।४
कर्तरि शप्	२।१।६४	काकिनादेः कुक्	३।१।१४५	कितीणो दीः	५।२।१६९
कर्तरीबे	२।२।६७	काऽऽङ्गा मर्यादावचने	१।४।२०	किदन्तः	१।१।५४

किदाशिपि	२।४।८५	कुशलयायुक्तेन चासेवायाम्	१।४।४८	कौरव्यामुरिमाण्डूकात्	३।१।२२
किमः	३।४।१६२	कुशाप्राच्छुः	४।१।१५६	कौ वेतौ	१।१।२४
किमः कः	५।१।१६२	कुशिरञ्जेः श्यो मे वा	२।१।६०	कौशल्येभ्यः	३।१।१४२
किमिदंभ्यां थम्	४।१।६०	कुसीददशैकादशाष्टौ	३।३।१५४	कौशेय्या दण्	३।३।११५
किमिदमोः कीदृ	४।३।१९६	कुस्तुम्बुरुगोप्पदा	४।३।११६	किडति	१।१।१६
किमेमिड्भिक्कादामद्रव्ये	४।२।२०	कुहोश्चुः	५।२।१६४	किडत्यचि वा	५।२।२
किमोऽः	४।१।७८	कुकमिकंसकुम्भकुशा	५।४।३४	कक्कवतु नः	१।१।२८
किरतेर्लवे	४।३।११३	कृञः करणे ख्युट्	२।२।५५	कस्याधिकरणे	१।४।७०
किरतेर्हर्षजीविकाकुला-	१।२।३३	कृञः श च	२।३।८२	क्तादनत्यन्ते	४।२।१२
किरश्च पञ्चभ्यः	५।१।१३४	कृञो द्वितीयतृतीयशभ्य-	४।२।६२	क्तादल्पे	३।१।४४
किसरादेश्ट्	३।३।१७२	कृञो मिथ्यायोगेऽभ्यासे	१।२।६७	क्तिचक्तौ खौ	२।३।१५०
कुक्वौ तयोः	५।१।१६३	कृञो ये च	४।४।६६	केनाहोरात्रभेदाः	१।३।३६
कुटारश्चावात	३।४।२५०	कृञो हेतुशीलानुलोभ्ये	२।२।२५	क्त्वा	१।३।८५
कुटीशमीशुरडाम्यो रः	४।१।१४३	कृञ् तनादेरुः	२।१।७४	क्त्वि स्कन्दस्यदोः	४।४।३०
कुण्डगोणस्थलभाजनाग	३।१।३७	कृतलब्धक्रीतमभूताः	३।३।१४	क्यङ्मानिनोः	४।३।१४८
कुण्डपायसंचाय्य	२।१।१०५	कृति	१।३।७१	क्यचि	५।२।१४२
कुत्वा डुपः	४।१।१४४	कृते ग्रन्थे	३।३।८५	क्यच्यनादधृत्यापत्यस्य	४।४।१४१
कुत्साऽज्ञातयोः	४।१।१३१	कृत्यचः	५।४।१०८	क्यपो वा	१।२।८६
कुत्स्यं कुत्सनैः	१।३।४८	कृदमिड्	२।१।८०	कृन्कथादिगूत्रान्ताष्टण्	३।२।५२
कुत्स्यवन्तिकुरुभ्यः	३।१।१५७	कृदधृत्साः	१।१।६	क्रमः	५।१।११२
कुप्पोः	५।४।२१	कृम्यस्तियोगेऽतत्त्वं-	४।२।५५	क्रमः क्त्वि	४।४।१६
कुप्पोस्त्ये	५।४।२६	कृपां गो लेऽकृपादः	५।३।३६	क्रमादंवेन्	३।२।५३
कुमति	५।४।६७	कृवृपिभृजां यशोभद्रस्य	२।१।९९	क्रमिद्रमो यङः	३।२।१३४
कुमहदभ्याम्	४।२।१०७	कृस्भृवृस्तद्रुश्रुचो	५।१।११६	क्रमो मे	५।२।७४
कुमारः भ्रमणादिभिः	१।३।६५	कृ धान्ये	२।३।२८	क्रय्यः स्वार्थं	४।३।७१
कुमारशीर्षयोर्णिन्	२।२।४६	कृक्यामित्रयुप्रलयानां	५।२।७	क्रव्ये	२।२।६१
कुमुदनडवेतसाड्डत्	३।२।६७	केऽणः	५।२।१२५	क्रियामध्ये केषौ	१।४।६
कुम्भपत्रादिः	४।२।१४१	केदारद्यञ्च	३।२।३५	क्रियायोगं मि	१।२।१३०
कुरुयुगन्धरेभ्यो वा	३।२।१०८	केनौ वि (चि) कृ	३।४।१५३	क्रियागममिहारे लोट् तस्य	२।४।२
कुर्वादिर्ग्यः	३।१।१३६	केरेडः	४।३।५७	क्रीङ्जेर्गौ	४।३।४१
कुर्वृष्णन्धकवृष्णोः	३।१।१०३	केशाद्वो वा	४।१।३५	क्रीडोऽनुपर्याङः	१।३।८०
कुलटाया वा	३।१।११६	केशाश्वाभ्यां यञ्छौ वा	३।२।४०	क्रीतवत्परिमाणात्	३।३।११४
कुलथकोऽडोऽण्	३।३।१२६	कोडोऽण्	३।२।११०	क्रीतात्करणादेः	३।१।४३
कुलाङ्कञ् च	३।१।१२७	कोपासूयासभ्तौ	५।३।१०१	क्रभ्रमण्डार्थात्	२।२।१३३
कुलालादेवुञ्	३।३।८७	कोऽवियावादः	४।२।३५	क्रीडथ्यादेः	३।१।६५
कुलिजाच्च	३।४।५४	कौ	५।२।१०१	क्र्यादेः शना	२।१।७६
कुल्मापादण्	४।१।१५	कौशिड्न्यागस्त्ययोः	१।४।१४१	क्लिशः	१।१।८१
कुशलः	३।३।१५	कौपिञ्जलहास्तिपदादण्	३।३।१००		

क्लिशस्तक्त्वोः	५।१।१६८
क्वणो वीणायां च	२।३।६८
क्वित्यस्य कुः	५।३।७५
क्विव्	२।२।६३
क्वत्राद् घः	३।१।१२५
क्वित्योः	४।३।६८
क्षिप्रवचने लृट्	२।३।१०६
क्वियाशीः प्रैपेपु	५।३।१०२
क्वियो दीः	४।४।५८
क्वीणः	५।३।६४
क्वीकृशोल्लाघाः	५।३।७२
क्षीणलवणयोर्लौल्ये	५।१।३३
क्वीरह्विविपो श्रुतम्	४।३।२२
क्वीराड्ढण्	३।२।१५
क्वुत्तुडगर्भेऽशानायो-	५।२।१४३
क्वुद्रजीवाः	१।४।८४
क्वुद्राभ्यो वा	३।१।१२०
क्षद्रवसतेरिट्	५।१।१००
क्वुब्धस्थान्तन्धान्तलग्न-	५।१।१२६
क्वुभ्नाटिपु	५।४।११७
क्वुश्रुवः	२।३।३३
क्वोपाव्यथातिग्रहोऽप्यकर्तृ-	४।२।५१
क्वोपे	१।३।४१
क्वोपे किमः	१।३।५९
क्वोमप्रियमद्रेऽण् च	२।२।४२
क्वो मः	५।३।६८
क्वसस्याचि खम्	५।२।६६
ख	
खं पादस्याहस्यादेः	४।२।१३६
खं पिबश्चस्येत्	५।२।११७
खः	३।१।१२८
खचि	४।४।८८
खट्वाऽक्रमे	१।३।२३
खमादेशे	५।१।१४६
खरि	५।४।१३०
खश्चात्मनः	२।२।७१
खलीकाकणीभ्यां कप्	३।४।३०
खार्या वा	४।२।१०४

खावन्यपदार्थं	१।३।१८
खावटनः	४।३।२२७
खित्यभेः	४।३।१७६
खेऽध्वनः	४।४।१६०
खेयराजसूर्यसूर्यमृषोद्य	२।१।६४
खोऽलं कर्मपुरुषात्	४।२।१५
खौ	१।३।३८; २।४।२६;
	३।३।८६; ३।४।५७;
	४।१।१५१; ५।३।३२
खौ कन्धोशीनरेपु	१।४।६६
खौ मनसः	४।३।१२३
खौ विभाषा वुण्	२।३।६०
खौ शरदो वुञ्	३।३।३
खौ श्रमणाश्क्त्याभ्याम्	३।२।६
ख्यत्यादतः	४।३।६६
ख्यः शो यो वा	५।४।१२४
ग	
गत्यर्थवदंऽच्छः	१।२।१३८
गत्वरः	२।२।१४७
गदमदचरयमांऽगं:	२।१।८७
गन्धनावक्षेपसेवाऽन्याय-	१।२।२७
गन्धस्येत्पूतिमुसुरभि-	४।२।१३६
गमः	२।२।४५
गमः क्वौ	४।४।४१
गमहनजनखन-	४।४।९३
गमिपुयमां छः	५।२।७५
गमेरिण् मे	५।२।१०६
गमो वा	१।१।८७
गम्भीराञ्ज्यः	३।३।३३
गम्यादिवर्त्त्यति	२।३।१
गर्गादियञ्	३।१।६४
गर्तद्युगहादिभ्यश्छः	३।२।११४
गर्हं	२।३।१२५
गवाश्वादीनि च	१।४।८७
गष्टक्	२।२।११
गाऽगयोः	५।२।८१
गाङ्कुटादेर्घ्णिङित्	१।१।७५
गाङ्ग्लिटि	१।४।१२१

गारुड्यजगात्त्वौ	४।१।३६
गाथिवदधिकेशिपणि	४।४।१५७
गावटः	२।३।५३
गिप्रादुभ्यां यऽच्यऽस्तेः	५।४।६८
गिरिनदीपौरुणमास्याग्रहा-	४।२।११२
गिरिवने किंशुलुकक्रोटरा	४।३।२२०
गिरेश्छः शस्त्रजीविपु	३।३।६५
गुणात्संख्यादेः	४।२।६३
गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम्	१।४।३४
गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः	३।४।११४
गुणोक्ते स्तोऽखरुस्फोडः	३।१।३०
गुणोक्तयेपत्	१।३।६६
गुपूधूपविच्छिपणि-	२।१।२६
गुपूतिज्किद्भ्यः सन्	२।१।३
गुष्ट्यादेः	३।१।१२४
गोः	४।२।११९
गोः काशे	४।३।२२४
गोः खद्यजोः	५।१।४६
गोः मुत्र सुतोस्तुन्तुमः	५।४।४५
गोऽत उत्	४।४।१००
गो यक्	२।१।६३
गोरध्वनः	४।२।८७
गोरयतो	५।३।३७
गोरसेऽपि विकृतेः	५।४।६८
गोरूहः प्रः	५।२।१३२
गो स्तोऽचः	५।२।१४९
गोहे कः	२।१।११८
गोः	४।४।१
गोखलरथात्	३।२।४३
गोत्रावयवात्	३।१।६४
गोघाया णारः	३।१।११८
गोपयसोर्यः	३।३।११८
गोऽपित्	१।१।७८
गोब्रह्मवर्चसात्	३।४।३६
गोयवाग्वपदाती	३।२।११३
गोरह्दु पि	४।२।९४
गोरिन्द्रे ऽवह्	४।३।१०१
गोर्णित्	५।१।६७

गोत्रीहेः शकृत्पुरोडाशे	३।३।११३
गोहे रूढः	४।४।८३
गोणादाचारे	२।१।८
गौण्युथकौ	२।१।१२०
गौ भोः क्रिः	२।३।७३
गौराटः	३।१।२३
गौ रुवः	२।३।२१
गौष्ठीनाश्वीनकौपीन-	३।४।१४१
ग्रन्थान्तेऽधिके	४।३।१८७
ग्रहिल्यावयिव्यधिवशि	४।३।१२
ग्रहेरः	२।२।१३
ग्रहोऽलिति दीः	५।१।८५
ग्रहोऽवे वर्षप्रतिबन्धे	२।३।४७
ग्रामकौट्याभ्यां तद्गगः	४।२।६७
ग्रामजनबन्धुमहायेभ्य-	३।२।३७
ग्रामभारष्ट्रयोरण्ट्यौ	३।२।१२७
ग्रामात्यर्थन्वोः	३।३।३७
ग्रामाद्यखत्रौ	३।२।७४
ग्रामस्तुवः क्विप्	२।२।१५६
ग्रीवाभ्योऽण् च	३।३।३२
ग्रीमवसन्ताद्वा	३।३।२१
ग्रीमवारसमाद् वुञ्	३।३।२४
ग्रो यडि	५।३।३८
ग्रोऽवान्	१।२।४७
ग्लहोऽन्ते	२।३।५७
ग्लाम्बूजिस्थः कस्तुः	२।२।११५
घ	
घञि भावकरगो	४।४।२७
घञ्यमनुष्ये प्रायः	४।३।२२६
घनान्तर्घणप्रघणप्रघाणो	२।३।६९
घस्त्वुल्लुङ्गमनक्त्वु-	१।४।१११
घेर्दीः	५।२।१६१
घेलौ	४।१।१३५
घोषदादेवुन्	४।१।६६
घौ कच्यनक्वे सन्वत्	५।२।१६०
घ्यादेरिकः	३।४।१२१
घ्युङः	५।२।८३

घ्रो वा	५।२।११६
ङ	
ङनुदात्ते तो दः	१।२।६
ङमो नित्य ङमुट् प्रात्	५।४।११६
ङसिङ्सोः	४।३।६७
ङसिङयोः स्मास्मिनौ	५।१।१३
ङसेः	५।१।२८
ङस्य क्विभ्रलोः क्विङिति	४।४।१३
ङस्यातो नुकृ	५।२।१८३
ङिङस्योरतः	१।१।४३
ङित्	१।१।५०
ङितः सखम्	२।४।८०
ङिति प्रश्च	१।२।६६
ङिदातः	५।१।१४०
ङोत्वौ	३।१।१२
ङः ग्यौ पराञ्च	४।३।१२६
ङेराम् भ्वाभ्नीभ्यः	५।२।११०
ङेर्यः	५।१।११
ङमुट् प्रात्	५।१।२४
ङौ	१।२।७
ङणोः कुक्कुट् शरि	५।४।१२
ङथ्याम्मुटः	३।१।१
च	
चक्षः कशाञ्	१।४।१२५
चजोः कुघ्रिण्ययोस्ते-	५।२।५६
चटकाण्यैरः	३।१।११७
चतुरनडुहोर्वा	५।१।७२
चतुश्शारिरस्त्रिकुन्तेः	४।२।१२२
चतुष्टयं समन्तभद्रस्य	५।४।१४०
चतुष्पाञ्छकुनिष्पत्-	४।३।११५
चतुष्पाद् गर्मिण्याः	१।३।६१
चतुष्पाद्भ्यो टञ्	३।१।१२३
चरणानामनृत्तौ	१।४।७६
चरणेभ्यो धर्मवत्	३।२।३८
चरति	३।३।१३२
चरफलेरुच्चोङः	५।२।१८५
चरेः	२।२।१२२
चरेष्टः	२।२।२१

चर्मणोऽञ्	३।४।१४
चर्मणवदष्टीवञ्चक्रीवट्	५।३।३३
चर्मोदस्योः पूरेः	२।४।१७
चल्यद्य र्थात्	१।२।८४
चरयात्र ग्वम्	५।२।१६०
चस्याऽस्वे	४।४।७३
चस्यैषां लिति	४।३।१३
चात्	५।२।६०
चादिरसत्वे	१।२।१२८
चायः कीः	४।३।१६
चाथे ब्रह्मन् ;	१।३।६२
चि	४।३।२३३
चित्तेः कपि	४।३।२२८
चित्रार्थे	२।३।१२६
चिद्विन्युपमार्थे	५।३।१००
चिन्तिपूजिकथिकुम्भ-	२।३।८७
चिस्फुरोर्णौ	४।३।४६
चे चर्त्वम्	५।४।१२६
चेलेषु वनोपेः	२।४।१९
चोः कुः	५।३।४७
च्विडाज्ज्यादिः	१।२।१३२
च्यौ	५।२।१३५
छ	
छः	३।२।२३
छकारकेऽन्यस्य टुकृ	४।३।२०४
छगलिनो दिनिया	३।३।८०
छत्रादंर्णः	३।३।१८०
छदिरुपाधवलेर्हञ्	३।१।१२
छन्दः खौ	२।३।३२
छन्दसा निर्मिते	३।३।१९९
छन्दसो यः	३।३।४६
छन्दोगौक्थिकयाज्ञिक-	३।३।६७
छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव	३।२।५६
छवि	५।४।२५
छश्चाभ्यमित्रात्	३।४।१४०
छश्चायुषात्	३।३।१३७
छादेशे	४।४।९०
छाया बहूनाम्	१।४।९८

छे	४।३।६१
छेदादेर्नित्यम्	३।४।६२
छोऽनुप्रवचनार्थः	३।४।१०४
छ्, वोः शूङ्ङे च	४।४।१७
ज	
जक्षित्यादयः	४।३।५
जङ्गलधेनुवलजे	५।२।३०
जनपद उस्	३।२।६१
जनशोर्वा	४।४।३१
जनसन्धनाम्	४।४।४३
जनिवन्ध्याः	५।२।४०
जनेर्ङः	२।२।८४
जन्यधेनुप्यान्नवश्यवन्ध-३।३।१६५	
जयजभदहदशभङ्गपशाम्	५।२।१८४
जम्भ्वा वोश्च	३।३।१२३
जय्यलभ्यकार्यसुकरम्	३।४।९२
जराया वासङ्	५।१।१६०
जल्पभिभक्षकुट्टलुण्ट-	२।२।१३८
जशशोः शिः	५।१।१७
जसः शी	५।१।१४
जसि	५।२।१०४
जागुः	२।२।३६
जागुरवित्रिणलुङिति	५।२।८२
जातमहद्वृद्धादुद्धः	४।२।७८
जातरूपेभ्यः परिमाणे	३।३।१०४
जातिनाम्नः कः	४।१।१३७
जातिश्च	४।३।१५३
जातुयद्यदायदौ लिङ्	२।३।१२३
जातेरयोङः	३।१।५३
जातेर्वात्	३।१।४५
जातेश्छो बन्धुनि	४।२।१८
जायापत्योर्लक्षणौ	२।२।५१
जायाया निङ्	४।१।३५
जासनिप्रहणनाटकाथ-	१।४।६३
जिहामूलाङ्गुलेश्छुः	३।३।३८
जीवति वंश्ये युवाऽस्त्री	३।१।८१
जीवाकृते ग्रहिकृजः	२।४।२१
जीविकार्थेऽपण्ये	४।१।१५३

जीविकोपनिपदाविंश	१।२।१४८
जुसि	५।२।८०
जपोऽट्	२।२।८७
जत्रश्च क्तः	५।१।१०३
जूश्चिस्तम्भुभ्रुचुम्बुचु-	२।१।५०
जं:	४।३।९५; ४।३।२३४
ज्ञः	१।२।५३
ज्ञाकृप्रीगुडः कः	२।१।१०८
ज्ञाम्यद्यर्थधेरणि कर्ता णौ	१।२।१२२
ज्ञाजनोर्जा	५।२।७७
ज्ञीप्थास्थेयोक्तौ	१।२।१८
ज्ञोऽगोः	१।२।७१
ज्ञोऽपह्वे	१।२।४०
ज्ञो स्वार्थे करणे	१।४।५८
ज्यः	४।१।१२०; ४।३।३५
ज्यादेयसः	४।४।१५२
ज्योतिरायुषः स्तोमः	५।४।६४
ज्योतिरुद्गतावाङः	१।२।३६
ज्योत्सनातमिन्नाश्टङ्गिणी-	४।१।४०
ज्वरत्वरन्वित्यविमनां वोङोः	४।४।१८
ज्वलितिकसन्नाएणः	२।१।११३
झ	
झकाल्यतनेकालेभ्यो वा	४।३।१३३
झयो हः	५।४।१३६
झरूपकल्पचेलङ्ब्रुवगोत्र	४।३।१५५
झरो झरि स्वे	५।४।१३६
झलां जश् भ्रशि	५।४।१२८
झलिकः	१।१।८३
झलो जश्	५।३।५७
झलो झलि	५।३।४४
झल्यकिति सृष्टशोऽम्	४।३।५१
झावर्निष्टोक्तौ कृजः	२।४।४४
झि विभक्त्यभ्यासद्धर्थार्थ-१।३।५	
झिसर्वनाम्नोऽकप्राक्तेः	४।१।१३०
भेर्जुस्	२।४।८८
भेस्तुद्	३।२।८१
झोऽन्तः	५।१।३

ञ

ञ इच्	४।२।१२८
ञस्वरितेतः कर्त्राण्ये फले	१।२।६८
जात् स्त्रियाम्	४।२।२२
जिकृतो मुक्	५।२।३८
जिणमोर्दीर्मिताम्	४।४।८६
जिणमोर्वाऽगो	५।१।४८
जिण्यराजार्पाय्यन्युवणि-	१।४।३०
जिनोऽण्	४।२।२१
जिन्नभिविधौ	२।३।६६
जिडौ	२।१।६२
जिस्ते पदः	२।१।५१
जीतः क्तः	२।२।१६५
जरुपः	४।४।६५
ज्रिण्यचः	५।२।३
ज्रिण्यद्धृदरक्तविकारे	४।३।१५१

ट

टखोरेवाहः	४।४।१३३
टगमनुष्ये	२।२।५०
टावृचि	३।१।१६
टिड्ढाणञ् ट्णञ्क्वरपः	३।१।१८
टिदादिः	१।१।५३
टिहृदरे	२।४।६५
टैः	४।४।१२६; ४।४।१४५
टौसिण्येनदंतश्च	४।३।११९
ट्ण् कापिश्याः	३।२।७८
टिवतोऽथुः	२।३।७१

ठ

ठञ् क्वचिन्श्च	३।२।२६
ठड्भस्त्रादेः	३।३।३९
ठण्छौ	३।२।६४
ठश्चावयसि	३।४।८१
ठस्येकः	५।२।५४
ठाऽचि द्वितीयात्परोऽञ्चः	४।१।१३६
ठेनावतः	४।१।४१
ठोऽगारान्तात्	३।३।१८७
ड	
डः	२।२।४६

डयो ग्रहणे कः ४।१।११
 डयो वयसि ४।१।५३
 डट्त्वोः ४।३।१५०
 डट्यात्मनः ४।३।१२५
 डट्स्त्रीप्रमाणयोरः ४।२।११६
 डडर्धाट्ठः ३।४।४७
 डड् गुणतृमार्थ- १।३।७५
 डतरादः पञ्चकस्य टुक् ५।१।३२
 डनाद् धुट् मोश्चः ५।४।१३
 डाजर्हस्येतावतः ४।३।८५
 डाज्जलोहितात् क्यप् २।१।११
 डिव्तः क्विः २।३।७०

ढ

ढणि खम् ३।१।२२२
 ढण् च मण्डकात् ३।१।१०८
 ढेः खम् ४।४।१३५
 ढां ढे खम् ५।४।१७
 ढ्मे पूर्वस्याणो ढीः ४।३।२१६
 ढ्ण् ३।१।११६

ण

णम् चाभौद्धये २।४।८
 णभ्यपगुरो वा ४।३।४५
 णाविष्टवन्मृदः ४।४।१४६
 णिचः १।२।७२
 णिश्रद्भ्रुकर्मः कर्तरि कच् २।१।४३
 णोः २।३।७७; ४।४।५३
 णोर्भास्मेहेतुभये १।२।६४
 णोर्वा ५।४।१०९
 णो नः ४।३।५४
 णोऽनितेः ५।४।१०४
 णौ कच्युडः प्रोऽशा ५।२।११५
 णौ गमज्ञाने १।४।११८
 णौ मृगरमणे ४।४।२६
 णौ सन्कचोः १।४।१२३
 ण्यः २।१।१०१
 ण्य आवश्यके ५।२।६५
 ण्यासश्रथिघट्टिवन्दि- २।३।८९
 ण्योऽतिथेः ४।२।३३

एवुतृचौ २।१।१०६
 एवोर्व्याः २।१।८२

त

तः ३।३।१०२; २।२।८५
 तः सेट् पूङ्शीङ्स्विन् १।६।६२
 तद्गः स्वार्थं २।१।७२
 ततः आगतः ३।३।४८
 ततो नुट् ५।२।१७१
 ततो यूनि ३।१।८०
 तत्र १।३।४०
 तत्र जातः ३।३।१
 तत्र दीयते भववत् ३।४।८९
 तत्र नियुक्तः ३।३।१८६
 तत्र भवः ३।३।२८
 तत्र विदितः ३।४।४३
 तत्र साधुः ३।३।२०२
 तत्रेदमिति रूपे १।३।८६
 तत्रेव ३।४।१०८
 तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ३।२।९
 तत्रप्रकृतोक्तौ मयट् ४।२।२८
 तत्रप्रत्यनुमीपलोमकूलान् ३।३।१५१
 तथोर्वोऽधः ५।३।५६
 तदः ४।१।८५
 तदधीनोक्तौ ४।३।५९
 तदन्ता धवः २।१।२६
 तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ३।४।११
 तदर्हति ३।४।६०
 तदर्हे वत् ३।४।१०६
 तदस्मिन्नधिकमिति ३।४।१६७
 तदस्मिन्नन्नं प्राये न्यौ ४।१।१४
 तदस्मिन्नस्तीति देशः स्त्री ३।२।५७
 तदस्मिन् युद्धं योद्धृ ३।२।४८
 तदस्मिन् वृद्ध्यायत्नाभ ३।४।४६
 तदस्य पण्यम् ३।३।१७१
 तदस्य ब्रह्मचर्यम् ३।६।८७
 तदस्य संजातं तारका- ३।४।१५७
 तदस्य सोढम् ३।३।२७
 तदस्यांशवस्नभृतयः ३।४।५५

तदस्यास्त्यास्मिन्निति मतुः ४।१।२३
 तदस्यास्मिन्निति ३।४।१५
 तद्वच्छति पथिदूतयोः ३।३।५९
 तद्दीयते नियुक्तम् ३।३।८४
 तद्धारति वहत्यावहति ३।४।४६
 तद्युक्तात् कर्मणोऽण् ४।२।४२
 तद्योजको हेतुः १।२।२२६
 तद्वत् ४।३।७३
 तद्वहतिरथ युगप्रासङ्ग- ३।३।१६१
 तद्वान्नि धौ वाऽयदि २।३।१३१
 तद्वैर्यधीते ३।२।५१
 तनादिभ्यस्तथासोः १।४।१४८
 तनोतेर्यकि ४।४।४६
 तनोतेर्वा ४।४।१५
 तपःसहस्राभ्यां विनिनौ ४।१।२६
 तपस्तपःकर्मकस्य कर्मवत् २।१।६१
 तपोऽनुतापे च २।१।५६
 तप्तान्वाद्ब्रह्मसः ४।२।८४
 तमधीष्टो भृतो भूतो भावी ३।४।७६
 तमसोऽवसमन्वात् ४।२।८१
 तमेष्टावतिशायने ४।१।११४
 तयोर्व्यक्तस्वार्थः २।४।५५
 तरति ३।३।१३०
 तवकममकावेकार्थे ३।२।१२३
 तवममौ डसि ५।१।१५५
 तव्यानीयौ २।१।८३
 तम् ३।३।८२
 तसादौ ४।३।१४७
 तसेः ४।१।७४
 तस्मै प्रभवति सन्तापादेः ३।४।६५
 तस्मै हितम् ३।४।४
 तस्य ३।४।१०६
 तस्य दक्षिणायज्ञाख्यात् ३।४।८८
 तस्य धर्म्यम् ३।३।१६८
 तस्य निवासादूरभवौ ३।२।५६
 तस्यन्तिकस्य कादेः ४।४।१४२
 तस्य पूरणे ङट् ४।१।१
 तस्य वापः ३।४।३६

तस्य विकारः	३।३।१०२	तुन्दादेरिलः	४।१।४३	त्यदादि	१।१।६९
तस्य व्याख्यान इति च	३।३।४२	तुभ्यमह्यौ ङधि	५।१।१५४	त्यदादेरः	५।१।११६
तस्य शतृशानाववैकार्थे	२।२।१०२	तुमर्थाद् भावे	१।४।२५	त्यदादौ दृशोऽनलोके ट्क्च	२।२।५८
तस्य समूहः	३।३।३२	तुमीच्छायां धोवोप्	२।१।५	त्यद्योश्च	५।१।१५७
तस्यापर्ययम्	३।१।७७	तुमेककर्तृके	२।३।१३४	त्यस्थे क्यापीदतोऽसुपो	५।२।५०
तस्येदम्	३।३।८८	तुग्निमेयस्सु	४।४।१४४	त्यादेशयोः	५।४।३६
ता	१।३।७०	तुह्योस्तातङ्ङाशिपि	५।१।३०	त्रपुञ्जतुनोः पुक्	३।३।१०६
ता चानादरे	१।४।४६	तूदीवर्मतीभ्यां ट्गु	३।३।६८	त्रसिगृधिधूर्तिपिः क्तुः	२।२।११६
ताऽस्तसर्थं त्येन	१।४।३९	तृष्णीमि भुवः	२।४।४८	त्राघ्नाहीनुदोन्द्रविन्ते-	५।३।७३
तादी भः	४।१।११७	तृजकान्यां योगे	१।३।७८	त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ-	५।१।१५८
ताया आक्रोशे	४।३।१३४	तृज्याश्चाहं	२।३।१४५	त्रेः	३।३।१४४
ताया रूप्यश्च	३।४।१४३	तृणह इम्	५।२।६०	त्रेन् कट्याः	३।२।४४
ताया व्याश्रये	४।२।५३	तृणे जातौ	४।३।२०६	त्रेस्तु च	४।१।७
ता शेषे	१।४।५७	तृन्	२।२।११३	त्रेस्त्रयः	५।१।३५
तासस्त्योः खम्	५।२।१५२	तृप्यस्वोः क्रियान्तरे	२।४।४२	त्वमावेके	५।१।१५६
तासामाप्यरास्तद्धलचः	१।२।१५८	तृतपोः	४।४।११३	त्वय्यपादाने	२।४।३७
तास्थाने	१।१।४६	तृम्भोरवे घञ्	२।३।१०१	त्वामाविपः	५।३।१६
ता हेतौ	१।४।३५	तृष्ण्ये	४।४।५९	त्वानौ सौ	५।१।१५३
ति	१।२।१३१; ५।२।१८६	तृत्वे	४।२।९	त्वे इ्यापोः क्वचित्त्यौ	४।३।१७३
तिकर्कितवादिभ्यो द्वन्द्वे	१।४।१४०	तृत्वे	१।३।६०		
तिकादेः क्तिञ्	३।१।१४१	तेन क्रियानुन्ये	३।४।१०७	थः	४।३।४
तिक्रियेऽदो जग्धिः	१।४।११०	तेन क्रीतम्	३।४।३५	थविस्तेः	२।४।८६
तिकुप्रादयः	१।३।८१	तेन दीव्यति ग्वनति	३।३।१२७	थस्नोरातः	४।४।१०२
तिकुत्रतथसिसुरकसे-	५।१।११६	तेन निवृत्तः	३।२।५८; ३।४।७५	थस्य	४।३।३०
तिचिरिवरतन्तुग्रण्ड-	३।३।७८	तेन प्रोक्तम्	३।३।७६	थस्य मे पित्यन्ति	५।२।८५
तिपि भोः	५।३।८०	तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां	३।४।६१	थासः से	२।४।६६
तिरश्च्यपवर्गं	२।४।४५	तेन रक्तं रागात्	३।२।१	थो न्यः	५।१।६४
तिरसस्तिर्यखे	४।३।२००	तेन वित्तश्चुञ्चुचणौ	३।४।१४६		
तिरसो वा	५।४।३०	तेभ्य इप् च	१।४।४३	द	
तिरोऽन्तद्धौ	१।२।१४०	तेभ्यो भवति वा	२।३।१३६	दंशसंजस्वजां शपि	४।४।२४
तिलयवादर्धौ	३।३।११२	तेरसंख्यादेः	४।१।६	दः	५।३।८२
तिष्ठद्वादीनि च	१।३।१४	ते विभक्त्यः	४।१।६१	दक्षिणादा	४।१।१००
तिथ्यपुनर्वसूनां भद्रन्द्वे	१।१।६६	ते विशतेऽिति	४।४।१२८	दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्	३।२।७७
तिथ्यपुण्ययोर्भाणि	४।४।१३९	ते सेटि	४।४।५४	दक्षिणोर्मा लुब्धयोगे	४।२।३७
तीयस्य डिति	१।१।४४	तोः सः सावनन्त्ये	५।१।१६४	दक्षिणोत्तराधरादात्	४।१।६८
तीषसहस्रभरुपरिषः	५।१।९६	तोर्लि	५।४।१३४	दक्षिणोत्तराभ्यामतस्	४।१।६४
तुण्डवतिवलेर्भः	४।१।५६	तौ सद्	२।२।१०५	दण्डादेः	३।४।६४
तुन्दशोकयोः पीरमृजाप-	२।२।१०	त्यः	२।१।१	दण्डिहस्तिनो स्के	४।४।१६४
		त्यखे त्याश्रयम्	१।१।६३	दध्नष्टक्	३।२।१३

दन्तशिखात्वौ	४।१।३६	दीरकृद्गो	५।२।१३४	घ तिस्यतिमास्यां ति	५।२।१४४
दम्भ इच्च	५।२।१५८	दुन्योरगौ	२।१।११६	घावनुप्	४।२।१२०
दयायासः	२।१।३३	दुमो दग्	३।१।१३१	घावाप्रथिवीमुनाशीर-	३।२।२७
दस्ति	४।३।२२५	दुहानुरुधदुपद्विपट्टह-	२।२।११८	घुतिस्वाप्नोजिः	५।२।१६७
दाज्ञः	२।२।५	दुहो घश्च	२।२।६	घुत्पुपादिलिस्सर्ति-	२।१।४८
दाज ध्राजोर्वा	२।१।११२	दूराद्घूते	५।३।६२	घुद्भ्यो लुङि	१।२।८७
दादुदोमोऽदसोऽसेः	५।३।८८	दूरान्तिकार्थेस्ता च	१।४।४२	घुद्भ्यो मः	४।१।३४
दादेधोर्धः	५।३।४६	दृत्तिकृत्तिकलसिवस्यस्व-	३।३।३१	घुप्रागपागुदकृप्रतीचो	३।२।८०
दाधा भ्वपित्	१।१।२७	दृतिनाथयोः पशौ ह्रजः	१।२।३०	घोः	५।२।१५
दाघेत् सिशदसदो रुः	२।२।१४२	दृन्कारापुनर्वर्षाभ्योऽभुवः	४।४।८०	घोः स्वं चाऽजिनस्य	४।१।१३८
दानीम्	४।१।८४	दृशदृष्टश्चवतौ	४।२।१६५	घो जमि च	४।३।६३
दान्तशान्तपूर्णदस्त	५।१।१२४	दृशुरेप्	५।३।१२६	घो वरुणस्य	५।२।२८
दामन्यादेश्छः	४।२।५	दृशो क्वनिम्	२।१।८१	दृष्यघनस्पर्शयोः श्यः	४।३।१६
दामहायनात् संग्यादेः	३।१।१४	दृश्यर्थे शिचन्तायाम्	५।३।२१	दृष्यं भव्ये	४।१।१५८
दाम्नीशमयुजस्तुद-	२।२।१६०	दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि	४।१।७६	द्रान्तस्य तो नः पूर्वस्य दो	५।३।५६
दासगोचनौ सम्प्रदाने	२।५।६०	दृङो दिगि लिटि	५।२।१२१	द्विः	३।१।१४६
दिकच्छ्रदाऽन्यारादितरते	१।४।३८	द्वेऽनतः	५।१।५	द्व्यञ्जुलेः	४।२।११४
दिकच्छ्रदेभ्यो वाकेभ्योऽ	४।१।६२	द्वेयमृगो	३।३।२२	द्वे र्भद्रु तेनेवान्त्रियाम्	१।४।१३३
दिकसंख्यं खौ	१।३।४५	द्वेये वा च	४।२।६०	द्वोः	३।३।११९
दिगादेरखौ	३।२।८४	देवताद्वन्द्वे	४।३।३९; ५।२।२६	द्रोग् पर्यतजीवन्ताद् वा	३।१।६२
दिगादेर्यः	३।३।२९	देवतान्तात्तादर्थ्यं यः	४।२।३१	द्रन्दं रहस्यादौ	५।३।१३
दिगादेष्टृण् च	३।२।१२६	देवपथादिभ्यः	४।१।१५४	द्रन्दमनोजादेः	३।४।२२३
दित्यदित्यादित्यपतिद्योर्ष्यः	३।१।७०	दे वा	२।१।४७	द्रन्दाञ्चुददपो रार्थे	४।२।१०८
दिवः कर्म	१।२।११५	देवात्तल्	४।२।३४	द्रन्दाच्छुः	३।२।७
दिव उत्	४।३।१०८	देविकशिंशपादीर्घसत्रश्रय-	५।२।६	द्रन्दाद्वुन् वैरमैथुनकयोः	३।३।६३
दिव श्रौत्	५।१।६१	देविक्रुशो गौ	२।२।१२६	द्रन्दे	१।१।३६
दिवश्च	१।४।६७	देशेऽनोरुः	४।२।२०३	द्रन्दे द्युवल्लिङ्गम्	१।४।१०२
दिवसश्च पृथिव्याम्	४।३।१४३	देहाङ्गात्	३।३।३०	द्रन्दे सुः	१।३।६८
दिवादेः श्यः	२।१।६५	दैकान्यकियत्तदः काले	४।१।८०	द्रन्दोपतापगर्ह्याप्राणि-	४।१।५१
दिवाविभानिशाप्रभाभा-	२।२।२६	दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्य-	३।१।६६	द्वयोरकः	४।३।७२
दिवो व्यावा	४।३।१४२	दोः क्योडः	३।२।११७	द्रागदेः	५।२।६
दिशोऽन्तराले	१।३।८८	दोः प्राच्याम्	३।२।६६	द्वितीयेऽनुपाम्ये	४।३।१०८
दिशोऽमद्राणाम्	५।२।१८	दो द्दभोः	५।२।१४८	द्विःकुरुनायजाटकोश-	३।१।१५३
दीः	१।२।१०१	दोपो गौ	४।४।८४	द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्	४।२।२५
दीडोऽचि विडति युट्	४।४।६२	दोष्ठण् सौवीरुपु प्रायः	३।१।१३६	द्वित्रिपुरुपादायुपः	४।२।७७
दीपजनबुधपूर्तिायिष्या-	२।१।५२	दोश्छः	३।२।९०	द्वित्रिबहोर्निष्कविस्तात्	३।४।२८
दीप्युपोक्तिज्ञाने हवि-	१।२।४३	द्वः	१।१।२१	द्वित्रिभ्यां मूर्धनः	४।२।११५
दीरकितः	५।२।१८१	द्व्यः	४।३।३६	द्वित्रिभ्यां वा	३।४।१६७

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः	४।२।१०५
द्वित्रिभ्यामण् च	३।४।३४
द्वित्रैर्धमुञ्	४।१।१०८
द्वित्वेऽचि	१।१।५६
द्विदण्ड्यादिः	४।२।१२६
द्विप्राप्तौ परे	१।४।६९
द्विविभज्ये तरेयसू	४।१।११६
द्विपः	२।४।६२
द्विपोऽरौ	२।२।१०६
द्विस्तावान्निस्तावानुगमम्	४।२।८६
द्वीपादनसमुद्रे यञ्	३।२।१३०
द्वेस्तीयः	४।१।६
द्वयचः	३।१।११०
द्वयचोऽण्	३।१।१४३
द्वयञ्चः	३।३।४४
द्वयज्यगधकलिङ्गसूरम्	३।१।१५२
द्वयनगरीदपः	४।३।२०२
द्वयष्टनः संख्यायामवाऽ	४।३।१५६

ध

धः	५।३।५५
धनुपः	४।२।१३३
धन्वयोऽः	३।२।६६
धर्मं चरति	३।३।१६२
धर्मपथ्यर्थन्यायादनपते	३।३।९८
धर्मशीलवर्णान्तात्	४।१।५५
धर्मात् केवलादन्	४।२।१२५
धात्रो हिः	५।२।१४६
धात्रपोत्रे	२।२।१६१
धान्यप्ररोहगो खञ्	३।४।१२७
धावृत्ति गेः	४।३।७९
धारीडः शत्रुकृच्छ्रिणि	२।२।१०८
धारेरुत्तमर्गः	१।२।११२
धि	५।३।४३
धिगत्यर्थान्च	२।४।५८
धिन्विक्रण्भ्योर च	२।१।७५
धुयोगे न्याः	२।४।१
धुरो दण् च	३।३।१६२

धूमदेः	३।२।१०५
धेः १।२।२१; १।२।३०; १।२।४१	
धेऽकौ	४।४।६
धोर्यङ् क्रियासमभिहारे	२।१।१०
धोस्तस्मिन्नेव	४।३।७०
ध्यपाये ध्रुवमपादानम्	१।२।११०
ध्वर्थवाचः कर्मणि	१।४।२४
ध्वाङ्ङैः	१।३।४२
ध्वादेः पस्सः	४।३।५३

न

नः कये	१।२।१०४
न कपि	५।२।११६
नक्तं गत्रिमहोभ्यो डियम्	४।२।७६
न क्तिचि दीश्च	४।४।४०
न क्रोडादिब्रह्मचः	३।१।४६
नग्वं मृदन्तस्याकौ	५।३।३०
नग्वं मुञ्चिधिं कृत्तुकि	५।३।२८
नग्वमुञ्चान्वौ	३।१।५१
न खौ	४।२।१५५
न गतिहिंसाथेभ्यः	१।२।६
नगगन्कुत्सादाद्ययोः	३।२।१०६
न गोपवनादेः	१।४।१३८
नगो वाऽजीवे	४।३।१८५
न चवाहहैवयोगे	५।३।२०
न जौ जिः	४।३।३१
न जितलोकस्वार्थतृनाम्	१।४।७२
नञ्	१।३।६८
नञः	४।२।६७
नञः शुचीश्चरत्तैवञ्	५।२।३४
न जे	५।२।११
नञोऽन्	४।३।१८१
नञ् दुस्सोः सक्थिहले-	४।२।१२३
नञ् विसुर्पात्रिभ्यश्चतुरः	४।२।७५
नञ् मे चतुरसंगतलवण	३।४।११५
नडशादाङ्ङित्	३।२।६६
नडादेः कुक्	३।२।७१
नडादेः फण्	३।१।८८

न ते नासिकायाः खौ	३।४।१५१
न थात्	५।१।५६
न थास्मदः	२।४।७१
न दण्डमाणवान्तेवासिपु	३।३।६८
न दधिपयन्नादीनि	१।४।६०
नदीभिश्च	१।३।१७
नदीमानुपीभ्योऽदुभ्य-	३।१।१०२
नद्यादेर्दञ्	३।२।७६
नद्याम्मतुः	३।२।६५
न द्वयचः प्राच्यभरतेपु	३।२।८६
न ध्रुवेऽङ्गे	१।१।१८
नन्दिग्रहिर्पाचिभ्यो ल्यु-	२।१।१०७
नपः	५।१।१६
नपः स्वमोः	५।१।२०
न पदान्तद्वित्ववरंयलोप-	१।१।५८
नपरे नः	५।४।११
नपोऽञ्भलः	५।१।५१
नपो वा	४।२।१११
न प्ये	४।४।६८
न प्रतिपदम्	१।३।७३
न विस्ताचितकम्बल्यात्	३।१।२७
न त्रे	१।१।३७
नब्बाध्य आसम्	१।२।६१
नब्भावे क्तः	२।३।९५
न भामूपकमिगमित्या	५।४।११३
नभ्रान्नपान्नवेदानासत्य-	४।३।१८३
नमः पुरसोऽस्योः	५।४।२६
नमः शप्नु	२।१।५८
नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽ	१।४।२६
न माङ्योगे	४।४।७१
न माटेरपत्येऽवर्मणः	४।४।१६१
नमिकम्पिस्म्यजस्कमर्हि-	२।२।१४८
न मु टाविधौ	५।३।२९
नमोचरित्रश्चित्रडः क्यच्	२।१।१६
न म्रेस्तो वा	४।३।८६
न यदनाकाङ्ङ्क्षे	२।४।९
न रुधः	२।१।५५
नरे खौ	४।३।२३०

न लङ्लुट् सामीप्याव्यु-	२।३।१११
न लिङि	५।१।८७
न वञ्चेर्गतौ	५।२।६४
न वर्जने	१।४।१२६
न वा रुप्यमत्वरसंघुपा	५।१।१२८
न वा श्वेः	४।३।२७
न वा साकाङ्क्षे	२।२।६४
न विस्तान्चितकभ्रल्यात्	३।१।२७
न बुद्ध्कोडः	४।३।१४६
न वृतादेः	५।१।१०७
न व्यो लिटि	४।३।३६
न शशददवादीनाम्	४।४।११७
नशः श	५।४।९९
नश्च पुंभि	४।३।६१
नश्चापदान्तस्य भ्रलि	५।४।८
नश्छव्यप्रशान्	५।४।२
नश्श तुक्	५।४।१४
न समाहारं	४।२।६१
न सामेः	४।२।१३
न सुदुर्भ्यां केवलभ्याम्	५।१।७७
न सेटस्तासि मोऽवमि-	५।२।३६
न स्कादौ न्दोऽयि	४।३।३
न सर्वातिक्रिमः	४।२।६६
नहिह्रितवृषिभ्यधिरुचि-	४।३।२१६
नहो धः	५।३।५१
नाञ्चेः पूजे	४।४।२६
नाडीयन्धयोः स्वाङ्गे	४।२।१५८
नातोऽम् त्वकायाः	१।४।१५२
नायन्ते	५।४।७६
नाघार्थत्ये च्यर्थे	२।४।४७
नानेकगोः	४।४।६१
नानोः	१।२।५४
नाभ्याऽऽदिशिग्रहैः	२।४।४३
नाभ्यतिसृचतसृ	४।४।३
नावो रात्	४।२।१०२
नाशः खम्	१।१।६१
नाशिष्यगोवत्सहले	४।३।१६१
नासिकादौ धेट्धमः	२।२।३३

नासिकाया नश्चात्थू-	४।२।११८
नासिकोदरोष्ठजङ्घादन्त-	३।१।४८
नासिभ्यो ङः	१।१।४
नास्तिकास्तिकद्वैष्टिकाः	३।३।१७८
निसनिच्चनिन्दो वा	५।४।११२
निः	१।२।१२७
निकटावसथे वसति	३।३।१९०
निजामुच्येप्	५।२।१७४
नित्यं गतिविशेषे	२।१।२०
नित्यं दुशरादेः	३।३।१०६
नित्यम्	३।३।१४५
नित्यव्रीषयोः	५।३।३
निन्दहिंसकिलशाखाद-	२।२।१२७
निपानमाहावः	२।३।६१
निमित्तं संयोगोत्पादौ	३।४।३७
निमूले कपः	२।४।२२
नियोऽवोदोः	२।३।२५
निरभ्योः पूर्वोः	२।३।२६
निरकाजनाङ्	१।१।२२
निर्दुस्सुवेः सुपिसूतिसमाः	५।४।६६
निर्धारणे	१।३।७४
निर्वाणोऽवाते	५।३।६६
निर्वृत्ते ऽक्षद्युतादेः	३।३।१४२
निवासचितिशरीरोपसमा-	२।३।३६
निविशः	१।२।११
निव्यभ्रनुपरैः ल्यन्दोऽ-	५।४।५४
निशाप्रदोषाभ्याम्	३।२।१३४
निपेधेऽलंखल्वोः क्त्वा	२।४।४
निष्काच्छ्रुतसहस्रान्तात्	४।१।४५
निष्कृपः	५।१।६४
निष्णातनदीष्णातप्रतिष्णा	५।४।७५
निष्प्रवाणिः	४।२।१५६
निसः श्रेयसः	४।२।८२
निसस्तपतावनासेवने	५।४।७४
निसंब्युपाद् हः	१।२।२५
निस्तब्धप्रतिस्तब्धौ	५।४।८०
नीग्वञ्चुलंसुध्वंसुभ्रंसु-	५।२।१८२
नीतौ च तद्युक्तात्	४।१।१३३

नीलपीतादकौ	३।२।२
नुमशर्व्यवायेऽपि	५।४।३८
नुवा	४।४।४
नृतस्थयोर्बुञ्	३।२।१२२
नृतेर्याङि	५।४।११८
नेच्यात्	४।३।६२
नेटः	५।२।८४
नेटि	५।१।८०
नेन्द्रस्य	५।२।२७
नेर्गदनदपतपदभुमा-	५।४।१००
नेर्विड्विरीसौ	३।४।१५२
नेल् स्वस्वाटः	३।१।८
नैकाचः	४।४।१५४
नैकार्थ्ये बोध्ये सामान्य-	५।२।३५
नोङः	४।४।५
नोङस्थफात् क्त्वा	१।१।६५
नोऽपुंसो ह्यति	४।४।३०
नोमता गोः	१।१।६४
नोऽसे मट्	४।१।२
नौ गदनदपठस्वनः	२।३।६७
नौ णश्च	२।३।५४
नौ द्वयचष्टः	३।३।३३१
नौ धर्मविषसीताभ्यस्ता-	३।३।१६७
नौ बुभान्ये	२।३।४४
न्यग्रोधस्य कंवलस्य	५।२।१०
न्यङ्क्वाटः	५।२।५८
न्यायपरिणायपर्य्यायः	२।३।३६
प	
पक्षातिः	३।४।१४५
पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति	३।३।१५७
पंक्तिविंशतित्रिंशच्चत्वा	३।४।५८
पङ्गोः	३।१।५७
पञ्चदशतौ वगं वा	३।४।५८
पणः परिमाणे	२।३।५५
पणपादमापाद्यः	३।४।३१
पण्यावद्यवर्थावह्यायोपस-	२।१।८८
पतिः से	१।२।६८
पतिवत्यन्तवर्त्यौ	३।१।३१

पत्नी	३।१।३३
पत्यन्तपुरोहितादेर्ण्यः	३।३।११८
पत्रात्	३।३।६१
पत्रादण्	३।३।९०
पथः कट्	३।४।७१
पथः पन्थः	३।३।६
पथिमध्यभुक्षामात्	५।१।६२
पथो वा	४।२।६८
पथो बुन्	३।३।१६
पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्र-	३।४।१३२
पथ्यतिथिवसतिस्वपते-	३।३।२०७
पदघोर्गृह्णाति	३।३।१६०
पदरुजविशस्पृशो घञ्	२।३।१५
पदव्यवायेऽपि	५।४।११६
पदस्य	५।३।१४
पदस्य योर्नाम्नवतिनगरी	५।४।१२१
पदादपादादौ	५।३।१५
पदार्थसम्भावनानुज्ञा	१।४।६
पदास्वैरिवाहयवचयेषु	२।१।९८
पदे योरैयौव्	५।२।८
पद् ये	४।३।१६४
पन्थो ण नित्यम्	३।४।७२
परः	२।१।२
परकालैककर्तृकात्	२।४।७
परम्	१।३।६५
परस्परान्धोन्धेतरेतरे	१।२।१०
परस्यादेः	१।१।५१
परानुकृञः	१।२।७६
परावरयोगे	२।४।६
परावराधमोत्तमादेः	३।२।१२५
परिक्रयणम्	१।२।११३
परिखाया टञ्	३।४।१६
परिणाऽञ्जालाकासंख्याः	१।३।८
परिनिविभ्यः सेवसितसयाम्	५।४।५१
परिपन्थं तिष्ठति	३।३।१५८
परिभूजिह्विह्विश्रीएव-	२।२।१४०
परिमाणस्याखुशाणे	५।२।२२
परिमाणस्थानतोऽर्धाद्वा	५।२।३२

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः	२।३।१९
परिमाणात्संख्यायाःसङ्ख-	३।४।५६
परिमाणाद्भृदुपि	३।१।२६
परिमुखम्	३।३।५२
परिवृतो रथः	३।२।८
परिव्यवक्रियः	१।२।१२
परिषदो ण्यः	३।३।१६५; ३।३।२०५
परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु	५।४।५७
परेः	५।४।५६
परेः सृदेविन्निपरटवद-	२।२।११९
परेऽचः पूर्वविधौ	१।१।५७
परेर्धाङ्कयोगे	५।३।४०
परेर्वर्जने	५।३।४
परेर्वा	४।३।३७
परोक्षे लिट्	२।२।६५
परोऽचो मित्	१।१।५५
परोपात्	१।२।३५
परो म्निः	५।३।२
परोवरपरंपरपुत्रपौत्र-	३।४।१३५
परौ भुवोऽवज्ञाने	२।३।५१
परौ यज्ञे	२।३।४३
परौ वादिच्छिपरटः	२।२।१२८
पर्यादेष्टट्	३।३।१३३
पर्यपाङ्गहिरञ्चवः कया	१।३।१०
पर्यभिभ्याम्	४।१।७५
पर्यासिवचनेऽलमर्थे	२।४।५१
पर्यायार्हणोत्पत्तौ बुण्	२।३।६२
पर्वतात्	३।२।११६
पश्वादेरण्	४।२।६
पल्लव्यादेः	३।२।८६
पत्यराजहस्तिभ्यो वर्चसः	४।२।८०
पशुष्वजः समुदोः	२।३।५६
पाककर्णपर्यापुष्पफलमूल	३।१।५४
पाकमूले पीलुकर्णा-	३।४।१४४
पान्नाध्माघेट्टृशः शः	२।१।११०
पान्नाध्मास्थान्नादाण्	५।२।३६
पाणिघताङ्घ्रराजघ्राः	२।२।५३
पाण्डोर्द्वयण्	३।१।१५५

पातेर्लुक्	५।२।४४
पात्राद् घश्च	३।४।६५
पात्रेसमितादयश्च	१।३।४३
पादः पत्	४।४।११६
पादभ्याङ्ग्यमाङ्ग्यसपरि-	१।२।७३
पादस्य पदाज्यातिगोप-	४।३।१६३
पादो वा	३।१।१५
पाद्यार्थे	४।२।३२
पानं देशे	५।४।६३
पापाणके कुत्स्यैः	१।३।४९
पायसान्नाय्यनिकाय्य-	२।१।१०४
पारायणतुरायणचान्द्राय	३।४।६८
पारे मध्ये तथा वा	१।३।१५
पाशरूपवीणानृलश्लोक-	२।१।२२
पाशादेर्यः	३।२।४१
पिच्वाम्रदः	२।४।७८
पिटे चिः	३।४।१५४
पिति कृति तुक्	४।३।५६
पितुर्यश्च	३।३।५३
पितृव्यमानुलमातामह-	३।२।३१
पिष्टात्	३।३।११०
पीलाया वा	३।१।१०७
पुंल्लौ घः प्रायेण	२।३।१००
पुंयोगात् खोरगोपाल-	३।१।३८
पुंवय्रजातीयदेशीये	४।३।१५४
पुंसि चाद्धर्चाः	१।४।१०८
पुंसीदोऽय्	५।१।१६९
पुंसोऽसुङ्	५।१।६६
पुच्छभाण्डचीवराणिङ्	२।१।१७
पुरयसुदिवाभ्यां नप्	१।४।१०६
पुण्यैकाभ्याम्	४।२।६२
पुत्राच्छ वा	३।४।४०
पुत्रान्ताद्वा	३।१।१४६
पुत्रे वा	४।३।१३५
पुमः खय्यम्परे सोऽनुस्वा-	५।४।१
पुरायावतोर्लट्	२।३।२
पुरि लुङ् वा	२।२।६८
पुरुषहस्तिनोऽण् च	३।४।१५९

पुरुषाङ्गम्	३।४।६
पुरुषात् प्रमाणे वा	३।१।२९
पुरुषे वा	४।३।२१२
पुरोऽप्रतोऽप्रेषु सुः	२।२।२३
पुरोडाशाङ्गम्	३।३।४५
पुरोऽस्तं किः	१।२।१३७
पुवः खौ	२।२।१६३
पुवादुत्	५।१।७६
पुस्करादेर्देशे	४।१।५६
पुष्यसिद्धौ भे	२।१।६६
पूगाञ्च्योऽग्रामणीपूर्वात्	४।२।१
पूङः	५।१।९६
पूङ्यजोः शानः	२।२।१०६
पूजाकुत्सयोर्भ्यत्ययः	३।१।८४
पूजिते	५।३।६६
पूतक्रतोरै च	३।१।३६
पूर्णाद् वा	४।२।१४६
पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराण	१।३।४४
पूर्वत्रासिद्धम्	५।३।२७
पूर्वपदात्स्वावगः	५।४।८७
पूर्वम्	१।३।६७
पूर्वश्च	४।३।६
पूर्वात्	४।१।२०
पूर्वादयो नव	१।१।४२
पूर्वान्यायेतरेतरापरानरो	४।१।८७
पूर्वापरप्रथमचरम-	१।३।५३
पूर्वावरसदृशकलहनिपुण	१।३।२८
पूर्वावराधराणां पुरव-	४।१।१०३
पूर्वाह्णापरह्णाऽऽर्द्राम्ल-	३।३।५
पूर्वं कर्तरि	२।२।२४
पूर्वोऽमि	४।३।६४
पृथग्विनानानाभिर्वा	१।४।४१
पृथ्वादेर्वैमन्	३।४।११२
पृषोदरादीनि यथोपद्-	४।३।२१४
पेषमि	४।३।१६६
पैलादेः	१।४।१३१
पोटायुवतिस्तोक-	१।३।६०
पोरदुडोऽत्रिपिपरिपि-	२।१।८५

पौत्रादि वृद्धम्	३।१।७८
प्यस्तिवाक्से क्वः	५।१।३१
प्यायः पी	४।३।२३
प्ये	४।४।३८
प्ये त्रिपूर्वात्	४।४।५६
प्ये च	४।३।३४
प्रः	४।४।८७; ५।२।१६३
प्रकारे गुणोक्तेः	५।३।१०
प्रकारे था	४।१।८६
प्रकारोक्तौ जातीयः	४।१।१२८
प्रकृत्याऽचि दिपाः	४।३।१०३
प्रकृष्टे ठः	३।४।१०१
प्रकृष्यगर्हं मन्यकर्मण्य-	१।४।२७
प्रचये वा	२।४।३
प्रजने वातेः	४।३।४७
प्रजने सुः	२।३।५८
प्रजामेधादम्	४।२।२४
प्रशादेः	४।२।४४
प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः	४।१।२८
प्रतिकण्डललामार्थात्	३।३।१६१
प्रतिजनादेः खञ्	३।३।२०३
प्रतिज्ञाने समः	१।२।४८
प्रतिपदमेति ठश्च	३।३।१६३
प्रतियत्ने कृञः	१।४।६०
प्रतियोगे कायास्तसिः	४।२।४६
प्रतिश्रवणे	५।३।६६
प्रतेः	४।३।१०
प्रतेरुरस ङंपः	४।२।८५
प्रत्यन्ववात्सामलोम्नः	४।२।७१
प्रत्यभिवादेऽश्रुद्रस्यसूयके	५।३।६१
प्रत्यभ्यतिक्षिपः	१।२।७७
प्रत्याङ्भवः	१।२।५५
प्रथने वावशब्दे	२।३।३१
प्रथमचरमतयात्पार्धकति-	१।१।४१
प्रपूर्वस्य स्त्यः	४।३।१८
प्रभवति	३।३।५७
प्रमाणासत्थोः	२।४।३६
प्रमाणे द्वयसङ्घट्टन-	३।४।१५८

प्रयच्छति गृह्यम्	३।३।१५३
प्रयोजनम्	३।४।१०२
प्रवहः	१।२।७८
प्रवाहणस्य टे दस्य	५।२।३३
प्रशंसायां रूपः	४।१।१२५
प्रशंसेऽर्हेः	२।२।१११
प्रशंसोक्त्या	१।३।६२
प्रशस्यस्य श्रः	४।१।११९
प्रश्ने चान्तर्युगे	२।२।९७
प्रसहनेऽधेः	१।२।२८
प्रसितोत्सुकाम्यां भा च	१।४।५२
प्रस्त्यो वा	५।३।६६
प्रस्थपुरवहान्तात्	३।२।१००
प्रस्थैप्	५।२।१०३
प्रहरणम्	३।३।१७६
प्रहरणमिति क्रीडायां णः	३।२।४६
प्रहासे मन्यवाचि युष्म-	१।२।२५४
प्राक्काणश्छः	३।४।१
प्राक्तैर्वाऽसमः	२।१।८१
प्राक्सितादयापि	५।४।४३
प्राग्द्रोरण	३।१।६८
प्राग् धोस्ते	१।२।१४६
प्राग्याङ्ग	३।३।२६
प्राग्वतष्ठञ्	३।४।६१
प्राचां कटादेः	३।२।११५
प्राचां ग्रामाणाम्	५।२।१६
प्राचां नगरे	५।२।२६
प्राचामिजोऽतौल्वलिभ्यः	१।४।१३२
प्राणितालादेः	३।३।१०५
प्राणितूर्यसेनाज्ञानां द्वन्द्व	१।४।७८
प्राणिन्युप्	३।४।८६
प्राण्यङ्करथखलयवमाषवृत्र-	३।४।५
प्राण्यङ्गादातो वाऽलः	४।१।२४
प्राण्योषधिवृक्षेभ्योऽवयव	३।१।१०३
प्रात्	४।३।५८
प्रातर्निःशरेच्छुप्लक्षाम्-	५।४।८६
प्रादारम्भे	१।२।३८
प्रादिः	१।२।१२६

प्रादगोः	५।३।४५
प्रादधृत्यमिडस्ति	५।४।७३
प्राध्वं बन्धे	१।२।१४७
प्रायाच्चित्तिचित्तयोः	४।३।११७
प्रायोऽनपत्येऽणीनः	४।४।१५५
प्रायो (य आ) भीक्षये	२।२।६९
प्रावृष एण्यः	३।२।१३६
प्रावृषष्ठः	३।३।२
प्रियवशे वदः खच्	२।२।३६
प्रियस्थिरस्फिरण्यदंरः	४।४।१४८
पुस्रुवः साधुकारिणि	२।१।१२२
प्रे	२।२।४
प्रेद्वस्तु श्रवः	२।३।२६
प्रेलपसृष्टमधवदवमः	२।२।१२६
प्रे लिप्तयाम्	२।३।४२
प्रेल्वाप्चतुरो नुट्	५।१।३६
प्रे वणिजाम्	२।३।४८
प्रे सुजोरिन्	२।२।१३६
प्रे पातिसर्गप्राप्तकाले	२।३।१३६
प्रोः	५।२।१७६
प्रो धि च	१।२।६६
प्रो नपि	१।१।७
प्रोऽम्भार्थम्बोः	५।२।१०२
प्रोष्ठपदानां जाते	५।२।२३
प्रोष्ठैयजात्वदः	४।२।१२१
प्लक्षादिभ्योऽण्	३।३।१२२
प्लादेः प्रः	५।२।७८
फ	
फट्	३।१।२०
फणां सप्तानाम्	४।४।११६
फण् फिजोर्वा	३।१।७६
फलिभजोः	४।४।११२
फलेप्रह्यात्मभरिकुक्षि-	२।२।३१
फल्गुन्याष्टः	३।३।६
फाण्टाहृतेर्णः	३।१।१३८
फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकी	३।२।१८
फिरदोः	३।१।१४७
फुल्लः	५।३।७०

फेनादिलश्च	४।१।२६
फेरुञ्ज च	३।१।१३७
ब	
बन्धोऽधिकरणे	२।४।२८
बन्धो वे	४।३।१०
बलादेर्मंतुर्वा	५।१।५७
बले	४।३।२२१
बहावीरेतः	५।३।८६
बहुत्वेऽदोरपि	३।२।१०३
बहुपूगणसङ्घस्य	४।१।४
बहुलं खौ	१।४।१२६
बहुल गुरुवृद्धतुप्रदीर्घं	४।४।१४९
बहुलापिन्याल्लौ	४।१।४६
बहोर्धा वासत्तौ	४।२।२७
बहोर्वस्नसौ	५।३।१७
बहौ भल्येत्	५।२।६८
बह्वचो नृगोर्वा टः	४।१।१३४
बह्वजादेष्टः	३।३।१८२
बह्वल्पाच्छुस्कारकाद्वा	४।२।४७
बह्वानेः	३।१।३१
बह्वृचो बहुलं टञ्	३।३।४३
बाह्वान्तिकयोः साधनेदौ	४।१।१२२
बाह्वन्तकद्रुकमण्डलुभ्यः	३।१।६०
बिभेतेहेतुभये	४।३।४८
बिल्वकादेश्छस्य	४।४।१४३
बुध्युध्नश्जनेड्प्रद्रुमोर्णः	१।२।८३
बृहतिका	४।२।१४
बोध्यमसद्वत्	५।३।२४
ब्रह्मणस्त्वः	३।४।१२६
ब्रह्मणो राष्ट्रभ्यः	४।२।१०६
ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्	२।२।७५
ब्राह्मणमाणववाडवात्	३।२।४२
ब्राह्मोऽजातौ	४।४।१६२
ब्रुव आहश्च	२।४।७०
ब्रुव ईट्	५।२।६१
भ	
भक्ताण्यः	३।३।२०४
भक्ताद्वाऽण्	३।३।१८५

भक्तिः	३।३।७०
भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्य-	१।३।३०
भजो शिवः	२।२।६५
भजभासमिदो सुरः	२।२।१४४
भञ्जेर्जौ	४।४।३२
भर्गात् त्रैगर्तं	३।१।१००
भवतष्टण्कुसौ	३।२।६१
भवति	१।४।७१
भवतेरः	५।२।१७३
भवद्भगवदघवतो वा रिः	५।४।३
भवद्वद्वा तत्सामीप्ये	२।३।१०७
भव्यगेयप्रवचनीयो-	२।४।५३
भसन्व्यावृत्तुभ्योऽवर्षा-	३।२।१३७
भन्त्रौपाजाज्ञाद्वास्वानां	५।२।५२
भस्य	४।४।११८
भस्य टेः खम्	५।१।६५
भागाद्यश्च	३।४।४८
भा गुणोक्त्याऽर्थनोनैः	१।३।१७
भागे चानुप्रतिपरिणा	१।४।२२
भाऽनुलोपमाभ्यां तुल्यार्थः	१।४।७६
भादाविदमोऽन्वादेशो	४।३।११८
भादौ वीक्तपुंस्कं	५।१।५३
भाद्युक्तः कालः	३।२।४
भाया त्रीजस्तदो	४।३।१२२
भार्थे	१।४।१४
भावकर्म डि०ः	१।१।३०
भाववाचिनः	२।३।६
भावादिमः	३।३।१४३
भावे	२।३।१७
भावेऽगौ	२।२।६२
भावे त्वन्तलौ	३।४।११०
भासे	१।१।३८
भिन्नादेः	३।२।३३
भिन्नासेनादाये	२।२।२२
भिद्योद्ध्यौ नदे	२।१।६५
भिन्नलिङ्गो नदीदेशो-	१।४।८३
भियः क्रुक्लुक्कौ	२।२।१५३
भियो वा	४।४।१०५

भिसोऽत ऐस्	५।१।८
भोमादयोऽपादाने	२।४।६१
भीरोः स्थानम्	५।४।६३
भीहीभृहुवामुज्वत्	२।१।३५
भुजप्रयाजानुयाजौकप्रयोज्य-	५।२।६८
भुजोऽदौ	१।२।६३
भुमास्थागापाहाक्सां	४।४।६५
भुवः खन्तरे	२।२।१५२
भुस्थोरिः	१।१।६१
भूतपूर्वं चरट्	३।४।१४२
भूतवच्चाशंसायाम्	२।३।१०८
भूते	२।२।७२; २।३।११६
भूयहत्ये	२।१।९०
भूवादयो धुः	१।२।१
भूपाऽपरिग्रहेऽलमन्तः	१।२।१३५
भृग्वत्रिकुत्सवशिष्टगोत-	१।४।१३६
भृत्रां त्रयाणामिः	५।२।१७५
भृत्रोऽखौ	२।१।६३
भृतृवृजिधारिसहि-	२।२।४४
भृशदेश्चौ हलो भुवि	२।१।१०
भेभ्यो बहुलम्	३।३।१३
भेपजानन्तावसुधेतिहाऽभ्यः	४।२।३०
भौरिकावैपुकार्योदिभ्यो	३।२।४७
भ्यपः	५।२।१५०
भ्यसोऽभ्यम्	५।२।२६
भ्रञ्जोरसोरभ्या	४।४।४६
भ्राजभासभापदीपजीव-	५।२।११६
भ्रातरि च ज्यायसि	३।१।८२
भ्रातुर्व्यश्च	३।१।३३
भ्रुवो बुक्	३।१।११४
भ्रौणहत्यधैक्यसार-	४।४।१६६
भ्वसोरेच्च खं हौ	४।४।१०६
म	
मड्डुकर्म्मभ्राद्वाऽण्	३।३।१७५
मतिबुद्धिपूजार्थाच्च	२।२।१६६
मतौ बह्वृच्छरादेर-	४।३।२२२
मत्वर्थे स्तौ	१।२।१०८
मत्स्योऽयो ड्याम्	४।४।१३७

मदजनहत्यात्करण-	३।३।२०१
मद्रेभ्योऽण्	३।२।८५
मधुचभ्रोर्ब्राह्मणकौशिकयोः	३।१।६५
मधूपशुचिमुक्काद्रः	४।१।३३
मध्यान्ताद्गुरौ	४।३।१३०
मध्यान्मः	३।२।१२८
मध्ये पदे निवचने	१।२।१४५
मध्यादेः	३।२।६६
मनः	२।२।७०
मनस्युरनस्यनत्याधाने	१।२।१४४
मनुष्यादिध्वरण्यात्	३।२।१०७
मनो डाप्च	३।१।६
मनोरश्चक्षुरचेतोरहोर-	४।२।५६
मनोरौ च	३।१।४१
मनोर्जातौ षुक् चाऽजौ	३।१।१४८
मन्त्रेसक्विगु	४।४।६२
मन्थौदनमक्तुविन्दुवज्र-	४।३।१७१
मन्माभ्यां खौ	४।१।५८
मन्वन्कनिव्यचः क्वचित्	२।२।६२
मम्	१।२।७५
ममोऽङ्गयो मतोर्बोऽ	५।३।३१
मयट्	३।३।५६
मयड्वैतयोरभन्ताच्छा-	३।३।१०८
मयूरव्यंसकादयश्च	१।३।६६
मयो वोऽच्युजः	५।४।१५
मस्तिजनशोर्भलि	५।१।३६
महतोऽज खजौ	३।१।३०
महाराजप्रोष्ठपदाभ्यां टण्	३।२।३०
महाराजात्	३।३।७२
महेन्द्राद् घाणौ च	३।२।२४
माडि लुङ्	२।३।१५१
माडो व्यतिहारे	२।४।५
माणवचरकात् खञ्	३।४।१०
मातरपितरौ वा	४।३।१४५
मातुस्तसंख्यासम्भद्रादेः	३।१।१०४
मातृपितृभ्यां स्वसुः	५।४।६६
माथद्युपदव्यनुपदाक्रन्दं	३।३।१५६
मानपश्वङ्गयोः कोपौ	४।१।११२

मानां एत्वमथाथुसण्-	२।४।६८
माने क्यः	३।३।१२०
मानवधदानशान्भ्यो दीश्वर	२।१।४
मालेप्रीकेष्टकानां भारि-	४।३।१७५
मावधेः	५।१।१५०
मासाद् वयसि खञ्	३।४।७७
मिङ्	४।१।११५
मिङ्छिशोऽस्मद्युप्म-	१।२।१५२
मिङ्कैकार्थे वा	१।४।५४
मिङ्शिद्गः	२।४।६३
मिन्मीञ् दीडां प्ये च	४।३।४३
मितनखपरिमाणो पञ्चः	२।२।३६
मिदरेप्	५।२।७६
मिथ्यस्थतसोऽमत्तंसाम्	२।४।८२
मिथ्वस्मत्सिन्धस्थितित्स्	२।४।६४
मुक्तापेतापोटपतितापत्र-	१।३।३३
मुण्डमिश्रलक्षणलवण	२।१।१८
मुद्गादण्	३।३।१४८
मुमचः	४।३।७७
मुपग्रहिद्विदः संश्च	१।१।८२
मृगोत्तरपूर्वात्सक्थनः	४।२।१०१
मृजैरैप्	५।२।१
मृडमृदगुधकुथवदवसः	१।१।८०
मृदन्तनुम्विभक्त्याम्	५।४।६५
मृदस्तिकः	४।२।४५
मृदो लुङ्लिङोश्च	१।२।५७
मृषः परेः	१।२।७६
मृषः स्वार्थे	१।१।९३
मेघर्तिभयेषु कृत्रः	२।२।४१
मेनिः	२।४।७५
मो नः	५।३।८३
मोऽनुस्वारः	५।४।७
म्रौ डाचि नित्यम्	४।३।८७
म्बोः	५।३।८४
य	
यः	३।४।७८; ५।१।१४८
यः सौ	५।१।१६८
यखावध्वनः	३।४।३९

यत्नौ वाऽशब्दे	३३३४०
यग् दुहः	२११५७
यङि	५१२१३६
यङुङोरेप्	५१२१८०
यङोऽचि	११४१४४
यङो वा	५१२१९२
यचि भः	११२१०७
यच्चयत्रयोः	२१३१२४
यजयाचयतविच्छप्रच्छ-	२१३१७२
यजिजपिवददशामूकः	२१२१३५
यजितजिप्रवचाम्	५१२१६६
यज्ञत्विग्भ्यां षखजौ	३१४१६७
यज्ञेः स्तुवः	२१३१२३
यज्ञः	३११११६
यज्ञोः	११४१३५
यज्ञिजोः	३१११९०
यञ्यतो दीः	५१२१६६
यगेल्योः	४१४१७७
यतः प्रतिदाप्रतिनिधी	११४१२२
यतश्च निर्धारणम्	११४१४९
यत्तदेतेभ्यः परिमाणे	३१४१६०
यत्ये तदादि गुः	११२१०२
यत्समयाऽनुः	११३११२
यथातथयथापुरयोः क्रमेण	५१२१३५
यथातथयोरसूयाप्रत्युक्तौ	२१४११४
यथामुखसम्मुखस्य	३१४१३१
यथासंख्यं समाः	११२१४
यथास्वे यथायथम्	५१३११२
यद्भावाद् भावगतिः	११४१४५
यभेऽश्चवृषभयोः क्यचि	५१११३२
यमः सन्निव्युपे च	२१३१६६
यमः सूचने	१११८६
यमरमनमातः सक् च	५१११३२
यय्यनुस्वारस्य परस्वम्	५१४१३२
यरो ङो विभाषा ङे	५१४१२५
यवदुत्तरे	५१३१६
यवयवकषष्टिकाद्यः	३१४१२६
यश्चोरसः	३१३८३

यसः	२११६७
यस्कादिभ्यो वृद्धे	११४१३४
यस्य ङ्यां च	४१४१३६
यस्य वा	५१११२१
याचितापमित्यात्करण्	३१३१४६
याजकादिभिः	११३१७२
याडापः	५१२१०८
याप्ये पाशः	४११११०
यावति विन्दजीवः	२१४१६६
यावद्य थावधृत्यसादृश्ये	११३१६
यासुण् मो ङित्	२१४८४
यि किङ्कल्ययङ्	५१२१३१
यि खम्	४१४१०८
यिट् चेष्यस्य	४१४१५१
यित्ये	४१३१६७
युक्तवदुसि लिङ्गसंख्ये	११११६८
युग्यं पत्रे	२१११००
युजातः	२१३१०६
युजेरसे	५१११५०
युजोऽयज्ञपात्रे गेः	११२१६०
युट्	२१३१६७
युड्या बहुलम्	२१३१९४
युवा खलतिपलितवलि-	११३१६३
युवाल्पयोः कन् वा	४१११२३
युवावौ द्वौ	५१११५१
युवोरनाकौ	५११११
युष्मदस्मदोः	५१११४५
युष्मदस्मदोऽकङ्खञ्	३१२१२१
युष्मदस्मदो ङसोऽश्	५११२३
युष्मदस्मदोऽविपृतास्थस्य	५१३१६६
यूतिजूतिसातिहेतिर्कीर्तयः	२१३१७८
यूनस्तिः	३११६२
यूनि	३११७५
यूयवयौ जसि	५१११५२
ये कङाराः	११३१०४
येऽङौ	४१४१५६
ये वा	४१४१५५
येनाङ्गविकारेऽथम्भावौ	११४१३१

येनालि विधिस्तदन्ताद्योः	१११६७
येषां च द्वेषः शाश्वतिकः	११४८५
योगाद्यश्च	३१४६६
योङो रूपोत्तमाद् बुञ्	३१४१२२
योऽचोऽरासुयुवः	२११८४
योजनं याति	३१४७०
यो यङः	२१२१५५
योऽर्धात्	३१२१२४
योऽसंख्यापरिमाणा-	३१४३८
यौनमौखाद् बुञ्	३१३५१
य्वावचि सन्धौ	५१३१०५
य्वृग्रहवृहगमोऽच्	२१३५२
य्वौ स्त्र्याख्यौ मुः	११२१९२
र	
रः खम्	४१४१६
रक्ते	४१२१८
रक्षत्युञ्जति	३१३१५५
रङ्कोः	३१२७६
रजःकृष्यासुतिपरिपदो	४११३८
रञ्जेः	४१४२५
रथवदयोः	४१३२०८
रथाद्यः	३१३८६
रघादेः	५११९३
रधिञ्जभोरचि	५११४०
रन्तोऽणुः	१११४८
रन्नञ्भेदः	२१४८६
रभोऽशब्दिलोः	५११४२
रश्मौ	२१३४६
रस्थोबनपत्ये	३११७४
राजदन्तादौ	११३६६
राजन्यादेर्बुञ्	३१२४६
राजन्वान् सौराज्ये	५१३३५
राजश्चक्राराद्यः	३११२६
राजाहःसखिभ्यष्टः	४१२६३
राज्ञः क च	३१२१६
राज्ञि युधि कृजः	२१२८२
राहट् च	३१४५३

रात्	३।१।२५;	३।४।७६
रात्राहौ पुंसि	१।४।१०४	
रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य	४।३।१८०	
रात्र्यहःसंवत्सरात्	३।४।८४	
रात्सः	५।३।४२	
रादुबलौ	३।४।२६	
राद् भूतबलेः	३।४।८३	
राधो वधे	५।३।१५६	
रायो हलि	५।३।१४४	
राष्ट्रवत्तद्वतां सर्व-	३।३।७५	
राष्ट्रशब्दाद् राज्ञोऽञ्	३।३।१५०	
राष्ट्रावधयोः	३।३।१०२	
राष्ट्रावारपाराद्घलौ	३।३।७३	
राष्ट्रे	३।३।४५	
रि	५।३।५३	
रीङ्यग्लिङ्शो	५।३।१३७	
रीगृत्वतः	५।३।१८७	
रीङृतः	५।३।१३६	
रुग्रिकौ चोपि	५।३।१८८	
रुचलार्थाद्धेर्युच्	२।३।१३०	
रुजर्थश्च भाववाचिनोऽ-	१।४।६२	
रुदादेर्गे	५।३।१३५	
रुद्भ्योऽड्वाजन्त्रेः	५।३।९४	
रुधितुदादिभ्यां शनम्शौ	२।३।४७	
रुहः पः	५।३।४७	
रुप्यद्योर्यः	३।३।८३	
रुप्यह्म्यगुण्याः	४।३।४६	
रेरद्धशोः	४।३।१००	
रेवत्याष्ठगा	३।३।१३४	
रेश्च सुपि	५।३।२४	
रेवतिकादेश्छः	३।३।९६	
रोगापदनये	४।३।५४	
रोडीतोः प्राचाम्	३।३।१०१	
रोऽच्युः	५।३।१५६	
रोमन्थतपःशब्दवैरकल-	२।३।१४	
रो रि	५।३।१८	
रोऽसुपि	५।३।७८	
रोति मृगः	३।३।२६	
ल		
लः कर्मणि च भावे	२।४।५४	

लक्षणाहेत्वोः	२।३।१०४
लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती	१।३।११
लङो वा	२।४।६१
लट्	२।३।६६
लभेः	५।३।४३
लभपतपदस्थाभूवृषहन-	२।३।१३७
लस्य	२।४।६३
लान्नारोचनाशकलकर्दमा-	३।३।३
लालाटिककौकुकुटिकौ	३।३।१६७
लिङ्	२।३।१३५
लिङः सीयुट्	२।४।८३
लिङाशंसोक्तौ	२।३।११०
लिङाशिषि	२।४।६६
लिङोऽनन्त्यसखम्	५।३।१३८
लिङ् चौर्ध्व-	२।३।७;२।३।१४०
लिङ् यदि	२।३।१४४
लिङ्येत्	४।४।६६
लिङ्येतेः	५।३।१३३
लिङ्स्थोर्दे	५।३।६०
लिङ्हेतौ लृङ्क्रियावृत्तोर	३।३।१५
लिट्	२।४।६५
लिटस्तभ्योरेशिरे	२।४।६७
लिटि वा	१।४।११२
लिटि वेजो यः	४।३।३२
लिटीटि रधेः	५।३।४१
लिङ्स्फात् कित्	१।३।७६
लिङ्क्चि धोः	४।३।७
लिङ्यङोः	४।३।२६
लिङ्वत् कृञि	२।३।३६
लिप्स्यसिद्धौ	२।३।५
लिक्वाविन्दधारिपारि-	२।३।१११
लियोऽघाष्ट्यसम्मानने च	१।३।६६
लियो नुक्	५।३।४६
लुङ्	२।३।९१
लुङि	१।४।५१
लुङ्येस्योर्गाः	१।४।११७
लुङ्लङ्लङ्यट्	४।४।७०
लुङ्लिटोर्बुक्	४।४।८१

लुङ्लङोर्वा	१।४।१२२
लुटि च क्लृपः	१।३।८६
लुटोऽन्यस्य डारौरसः	१।४।१५४
लुपसदचरजभजभदह-	२।३।२१
लुधूसूखनर्तिसहचरइत्रः	२।३।१६२
लृट्	२।३।११
लोकात्	३।४।४४
लोट्	२।३।१३८
लोटो लङ्वत्	२।४।७२
लोडर्थलक्षणे	२।३।६
लोमपामादिभ्यां शनौ	४।३।२७
लो मम्	१।३।१५०
लोम्नोऽन्तर्बहिभ्याम्	४।३।११७
लो वा स्नेहद्रवे	१।३।४५
लोहितादिसकलान्तात्	३।३।२१
लोहितान्मणौ	४।३।३६
ल्वदेः	५।३।६१

व

वः कौ	५।३।७३
वक्त्यसुख्यातेरङ्	२।३।४५
वचने गृधिवच्चेः	१।३।६५
वाचिस्वपियजादीनां-	४।३।११
वचोऽशब्दलौ	५।३।६७
वञ्चिलुञ्च्यृत्तृषि-	१।३।६६
वतणडात्	३।३।९७
वतोरिथुक्	४।३।५
वतोर्वेट्	३।४।२०
वत्साद्वा	३।३।१२
वत्सोच्चारवर्षभेभ्यस्त-	४।३।१४६
वदः सुपि क्यप् च	२।३।८६
वदोऽपात्	१।३।६९
वधे प्रतेश्च	४।३।११४
वधे राधेः	४।४।११४
वनं पुरगामिश्रकासिद्ध्का	५।३।८८
वनहिरण्ये कामे	४।३।६७
वनाऽहशो रश्च	३।३।७
वन्याः	४।४।४२

वयःशक्तिशीले	२।२।१०७
वयसि	२।२।१५
वयसि दन्तस्य दन्तु	४।२।१४२
वयस्तिस्तुताः	४।१।६१
वयस्तुलाभ्यां सम्मिते	३।३।१६६
वयस्यनन्त्ये	३।१।२४
वयोवाक्प्राणि जाल्यु-	३।४।११६
वरणादेः	३।२।६२
वरुणभवशर्वरुद्रेन्द्र-	३।१।४२
वर्गान्तात्	३।३।३६
वर्जनेऽपपरिभ्याम्	१।४।२१
वर्णहृदादेष्ट्यण् च	३।४।११३
वर्णाद् बहुलं तो नस्तु	३।१।३६
वर्णेनाहर्द्वपायोग्यानाम्	१।४।८६
वर्णे नित्ये	४।२।३७
वर्णां वुञ्	३।२।६८
वत्स्यत्यकस्य	१।४।७३
वत्स्यत्यवरेऽवधे	१।३।११२
वर्षप्रमाणे	२।४।१८
वर्षस्याभाविनि	५।२।२१०
वर्षादुप् च	३।४।८५
वलाद्यगस्येत्	५।१।८४
वलि व्योः खम्	४।३।५५
वशि	५।१।११४
वसुसंमुखंस्वनडुहां दः	५।३।७६
वसोऽनूपाध्याङः	१।२।११८
वसोर्जिः	४।४।१२०
वस्तेर्हञ्	४।१।१५५
वस्नक्रयविक्रयाद्यः	३।३।१३६
वस्नद्रव्याभ्यां ठकौ	३।४।५०
वस्सदिणो वसुलिणम्	२।२।८८
वहाभ्रे लिहः	२।२।३५
वा	१।२।६५; १।३।६
वा कथमि लिङ् च	२।३।११६
वा कदाकह्योः	२।३।३
वा कृत्रधिः	१।४।१६
वा कृभि	१।२।१४१
वा कोर्यङि	५।२।१६५

वा क्यस्य	४।४।५२
वाक्यस्य टेः पः	५।३।६०
वाक्यादेर्बोध्यासूर्या-	५।३।६
वाऽक्षः	२।१।७१
वा खौ	४।२।१३४
वागमिङ्	१।३।८२
वाऽगे	२।१।२७
वाऽगेः	१।२।३९
वा गौ	१।४।६६
वाऽग्रेप्रथमपूर्वं	२।४।१०
वा घ्राधेट्छाशासः	१।४।१४७
वाङिर्लुवोः	२।३।४६
वा ङिश्योः	४।४।१२४
वाचंयमासूर्यपश्योग्रंपश्य	२।२।३८
वा चत्वारिंशदादौ	४।३।६०
वाचस्तदर्थ्याः	४।२।४१
वा चित्तविकारे	४।४।८५
वाचेः	५।२।६३
वाचो ग्मिन्	४।१।४८
वा जसि	१।१।४०
वा जृभ्रमुत्रसाम्	४।४।११५
वाऽञ्चेरदिक्स्त्रियाम्	४।२।१७
वाऽटा	५।४।५३
वा ट्यण्गोगशोके	४।३।१६२
वाऽऽट्काचितपात्रात्खः	३।४।५२
वा तरुमृगतृणधान्यव्य-	१।४।८८
वातातीसाराभ्यां कुक्	४।१।५२
वाऽतोऽघोर्यकात्	५।२।५१
वा दिक्सवे	१।१।३६
वा टैन्याक्रोशे	४।४।६०
वा द्योः	५।२।३१
वा द्रुहमुहपुहृष्णिहाम्	५।३।५०
वा धेः	१।२।८२
वा धेट्श्योः	२।१।४४
वाऽनद्यतने हिंः	४।१।८६
वा नपः	५।१।५७
वाऽनन्वादेशे	५।३।२२
वा नाम्नः	१।१।७१

वा निष्कषोषमिश्रशब्देऽ	३।१।६७
वा नीचः	४।३।१६०
वाऽनुदात्तस्यर्दुङः	४।३।५२
वाऽनुपि	५।४।६७
वाऽन्यस्मिन् सपिण्डं स्थ-	३।१।८३
वाऽऽपः	४।४।५७; ५।२।१२७
वा पदस्य	४।३।६४
वा पदान्तस्य	२।१।४; ५।४।१३३
वा परावगभ्याम्	४।१।६५
वा परे	२।३।११४
वाऽपवदितौ	४।३।१०६
वा पूर्वापरदहनात्	३।२।१४०
वा बहूनां जातिप्रश्ने	४।१।१४८
वा भादि	१।३।८४
वा मावकरणे	५।४।९४
वा भावारम्भयोः	५।१।१२३
वाऽभ्यवात्	४।३।२१
वाभ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमु-	२।१।६६
वा मः	४।४।३६
वाऽमर्त्ये	३।२।१२०
वाऽमावास्यायाः	३।३।७
वा मुचो धेरेप्	५।२।१५६
वा मोः	४।३।१५६
वा म्योः	५।४।१०७
वा म्योः खम्	४।४।६८
वाम्शसोः	४।४।७५
वाय्वृतुपितृप्रसो यः	३।२।२६
वा रोगातपयोः	३।२।१३३
वाऽर्थं द्यौ	४।३।२०६
वा लिटि	१।४।१२७
वाऽवरस्य	४।१।१०५
वा वाग्म्ये	१।२।७४
वा विवधवीवधात्	३।३।१४०
वा विपादे	१।२।४६
वा विशेषवचने बहौ	५।३।२६
वाऽवृद्धाङ्गोः	३।१।१४४
वावेष्टिचेष्टयोः	५।२।१६३
वाशि	५।१।११४

वाशिजिह्वाशिनोः फे टे	४।१।१६५
वाऽशेषात्	२।३।११७
वा श्यावारोकात्	४।२।१४४
वाऽषान्तेऽकखादौ	५।४।१०१
वाष्पोष्मफेनादुद्धमे	२।१।१३
वा समीपे	१।४।६२
वाऽसुपि	४।३।८०
वा सुपो बहुः प्राकृतु	४।१।१२७
वा से	३।१।३५
वाऽस्थः स्फादेः	४।४।६७
वा स्वसृपत्योः	४।३।१३७
वाऽस्वाङ्गादेः	३।१।४६
वा स्मरणल्	५।१।६८
वाऽऽहिताग्न्यादौ	१।३।१०३
वाहीकग्रामेभ्यः	३।१।६३
वा हेः पृष्ठप्रत्युक्तौ	५।३।६६
वाह्याद् वाहनम्	५।४।९२
विशंतिक्त्वात्	३।४।२९
विशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुरस्त्रौ	३।४।२१
विंशतेश्च	३।४।१६८
विंशत्यादेर्वा	४।१।१०
विकर्णकुपीतकात्का-	३।१।११३
विकर्णशुङ्गललात्-	३।१।१०६
विकुशमीपरेः स्थलम्	५।४।७०
विचार्यं पूर्वम्	५।३।९७
वित्तभित्तदूनगून-	५।३।७४
विदांकुर्वन्तु वा	२।१।३७
विदाभ्योऽनृष्यानन्तर्ये-	३।१।६३
विदूराञ्च्यः	३।३।५८
विदेः शतुर्वसुः	५।१।५५
विदो लटो वा	२।४।६९
विद्भिच्छिदः कुरः	२।२।१४५
विधिनिमन्त्रणामन्त्र-	२।३।१३७
विध्यत्यकरणेन	३।३।१६४
विध्वरुषोस्तुदः सखम्	२।२।३७
विनञ्भ्यां नाञौ न सह	३।४।१४७
विनयादिष्टण्	४।२।४०
विन्द्रिच्छू	२।२।१५०

विन्नस्मायामेधात्रजः	४।१।४७
विन्मतोरुप्	५।१।१२४
विपराजेः	१।२।१३
विपूयविनीयजित्या-	२।१।६७
विप्रसमोऽखौ डुः	२।२।१५६
विभक्ती	१।२।१५७
विभक्ते का	१।४।५०
विभक्त्यामाष्टनः	५।१।१४३
विभाषा ग्रहः	२।१।११७
विभाषाऽचि	५।३।३६
विभाषाऽन्यत्र	४।३।१०२
विभाषा लियोः	४।३।४४
विभाषा लृटः सत्	२।३।१३
विभाषेकोऽस्वे प्रश्च	४।३।१०४
विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः	५।४।६०
विमुक्तादिभ्योऽण्	४।१।६५
विरामे वा	५।४।१३१
विरामे विसर्जनीयः	५।४।१६
विरोधि चानाश्रये	१।४।८६
विशिपतिपदिस्कन्दो-	२।४।४१
विशेषणं विशेष्येणेति	१।३।५२
विश्वदेवयोश्च टेर	४।३।१६८
विश्वजनात्मभोगान्तात्	३।४।७
विश्वस्य वसुराटोः	४।३।२२६
विसमाप्तौ क्तोऽनञ्	१।३।५५
विसारिणो मत्स्ये	४।२।२३
वीप्सेत्थम्भूतलक्षणो-	१।४।११
वुञ्जण्कठेन्नदण्य-	३।२।६०
वुण्णुमौ क्रियायां तदर्थाया	२।३।८
वृकाट्टे ण्यण्	४।२।४
वृजिमद्राक्	३।२।१०६
वृत्तिसर्गतायने क्रमः	१।२।३४
वृद्धचरणाक्छलाघाऽ-	३।४।१२४
वृद्धचरणाञ्जित्	३।३।९४
वृद्धराजाख्येभ्यो-	३।३।७४
वृद्धलिया क्षेपे णश्च	३।१।४५
वृद्धस्य	४।१।१२१
वृद्धादङ्कवत्	३।३।५४

वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ञ्फः	३।१।८७
वृद्धेऽन्यनुप्	३।१।७३
वृद्धोक्षोष्टोरभ्रराजन्य-	३।२।३४
वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत्	१।३।५७
वृषभोपनहो ज्यः	३।४।१३
वृषाकप्यग्निकुसित-	३।१।४०
वृतो वा	५।१।८६
वेः शालशङ्कटौ	३।४।१४८
वेः स्कन्दोऽते	५।४।५५
वेः स्कम्भेः षः	५।४।५९
वेः स्वार्थे	१।२।३७
वेङ्कि	१।४।१६६
वेञो वयिः	१।४।११३
वेञ्च प्रश्नाख्याने	२।३।६१
वेटः	५।४।६१
वेतनादेर्जावति	३।३।१३५
वेत्तेः सिद्धसेनस्य	५।१।७
वेरितः	२।१।४९
वेर्मेडः	४।४।६९
वेवे स्थानान्तात्	४।२।१६
वेश्च स्वनोऽज्ञाने	५।४।५०
वैकशालायाष्टः	४।१।१६३
वैकहलि पूर्वे	४।३।१७०
वैकाद्धथमञ्	४।१।१०७
वैनोऽदूरेऽकायाः	४।१।६६
वैशाखाषाढपष्टिकैका-	३।४।१०३
वैषमोह्यसृश्वसः	३।२।८२
वोक्तं न्यक्	१।३।६३
वोङ्गे	३।१।११
वोदये	४।३।१०४
वोदशिवतः	३।२।१४
वोदितः	५।१।१०४
वोडुडो भावारभ्योःशपः	१।१।६४
वोपकादिभ्यः	१।४।१३९
वोपदेशोऽत्वद्चसृजि-	५।१।१०८
वोपयमे	१।१।९०
वोब्दुद्दहिलिहगुहो दे	५।२।७०
वोमोर्णात्	३।३।११७

बोगुञ्जः	५।१।८२
बोगोः	१।१।७७ ; ५।२।८८
बोर्धात्	४।२।१३१
बो वा किति	४।३।३३
बो विधूनने लुक्	५।२।४३
बोषजाग्रविदात्	२।१।३४
बोशीनरेषु	३।२।६४
बो कषविचलसकत्थ-	२।२।१२०
व्यः	४।३।३६
व्यक्तवाक्समुक्तौ	१।२।४४
व्यजोऽप्रचोः	१।४।१२८
व्यञ्जनैष्यसिक्ते	३।३।१४६
व्यतुल्याख्या अजात्या	१।३।६४
व्यथो लिटि	५।२।१६८
व्यधमदज्ञपोऽगौ	२।३।६४
व्यवहृत्पयोः सामर्थ्ये	१।४।६४
व्यस्य वा कर्तरि	१।४।७५
व्याः	२।३।१४७
व्याङ्श्च रमः	१।२।८०
व्याघ्रैरुपमेयोऽतद्योगे	१।३।५१
व्यामिश्रः स्वरितः	१।१।१४
व्युङोऽबो हलः संश्च	१।१।९७
व्युत्तपः	१।२।२२
व्युदः काकुदान्तात्	४।२।१४८
व्युपेशीङोऽन्त्ये	२।३।३७
व्युष्टादेरणा	३।४।६०
व्यो खं वा	५।४।५
व्रजयजः क्यप्	२।३।८०
व्रजवदलोऽतः	५।१।७६
व्रते	२।२।६८
व्रश्चअस्जसृजमृजयजरा	५।३।५३
व्रातस्कादस्त्रियाम्	४।२।२
व्रीहिशालेर्दञ्	३।४।१२८
व्रीह्यादेः	४।१।४२
श	
शकलादिभ्यो वृद्धे	३।२।८७
शकवृषशाग्लामटरभ-	२।४।५०
शकि ङिङ् च	२।३।१४८

शकि सहश्च	२।१।८६
शकि हस्तिकवाटे	२।२।५२
शक्तियष्टेष्टीकण्	३।३।१७७
शक्तौ	४।३।६६
शरिङ्कादेऽर्ज्यः	३।३।६६
शतमानविंशतिसहस्रवस	३।४।२४
शतादस्वार्येऽसे ठ्यौ	३।४।१८
शतादिमासार्धमाससर्वस-	४।१।८
शताद्वा	३।४।३२
शदर्गात्	१।२।५६
शदोऽगतौ तः	५।२।४६
शपोऽदादिभ्यः	१।४।१४३
शब्दकर्मणो वेः	१।२।२६
शब्दददुरं करोति	३।३।१५६
शब्दे च	१।२।१२३
शमित्यामदर्धिणिन्	२।२।११७
शमित्यामदो दीः	५।२।७२
शमि धोः खौ	२।२।१६
शम्याष्ट्लञ्	३।३।१०७
शरः खयि	५।२।१६२
शरद्वच्छुनकदर्माद्	३।१।६१
शरि सश्च	५।४।२३
शर्करादिभ्योऽण्	४।१।१६१
शर्कराया वा	३।२।६३
शर्परे खरि	५।४।२०
शलालुनो वा	३।३।१७३
शश्छोऽटि	५।४।१३७
शसि	५।१।२५
शसो नः	५।१।२५
शलज्जीविसङ्घाञ्ज्यऽवाही	४।२।३
शकलाद्वा	३।३।६६
शालादेर्यः	४।१।१५७
शाच्छासाङ्गाव्यावेपां युक्	५।२।४२
शाच्छोर्विभाषा	५।२।१४५
शाण्यात्	३।४।३३
शात्	५।४।१२३
शालातुरकूचवाराच्छण्यौ	३।३।६६
शालाद् गोखरात्	३।३।११

शास इत्	४।४।३३
शास्वस्वसाम्	५।४।४०
शा हौ	४।४।३५
शाखाया बलः	३।२।६८
शाखाशालाशम्भूर्णाभ्रियां	४।२।८
शात्सर्वस्य	१।१।५२
शा धम्	१।१।३१
शारोऽधसे पदे	५।४।३५
शिलाया ढः	४।१।१५६
शिल्पम्	३।३।१७४
शिल्पिनि ट्बुः	२।१।११९
शिवादिभ्योऽण्	३।१।१०१
शिशुकन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्र-	३।३।६२
शीङो ने	५।३।१३०
शीङोऽधिकरणे	२।२।२०
शीङोऽट्	५।१।६
शीम्भोरात्	५।१।५८
शीर्षच्छेदाद्यश्च	३।४।६३
शीलम्	३।३।१७६
शुक्राद् घः	३।२।२१
शुन्युञ्जोर्घञि	५।२।५७
शुण्डिकादिभ्योऽण्	३।३।५०
शुद्धाग्रान्तशुभृषव-	४।२।१४५
शुनोऽतेः	४।२।६८
शुभ्रादेः	३।१।११२
शुषिपचेः क्वौ	५।३।६७
शुष्कचूर्णभक्षेषु पिषः	२।४।२०
शूलोखाद्यः	३।२।१२
शृङ्खलकोदरिकसस्यकां-	४।१।१७
शृङ्ख्योराकः	२।२।१५२
शृङ्मां प्रो वा	५।२।१२४
शो मुचाम्	५।१।३८
शेवलसुपरिविशाल-	४।१।१४०
शेषाद्वा	४।२।१५४
शेषे	२।३।१२ ; ३।२।७२
शेषेऽयदौ लुट्	२।३।१२७
शेषोऽग एव	२।४।९४
शेषौ गुणवचनादेव	४।१।११८

शौ	४४११०
शौनकादिभ्यश्छन्दसि	३१३७७
शनसः खम्	४४११०१
शनान्नखम्	४४१२२
शनुधुभ्रुवां व्योरचीयुवौ	४४१७२
शयशपः	५११५९
श्याऽञ्चिदिवोऽस्पर्शापा-	५१३६५
श्याद्व्यधाखुसंसुलिह-	२११११४
श्यैनापातातैलपाता	३२१५०
श्राद्धं भुक्तं ठोऽनेन	४१११८
श्राद्धे शरदः	३२११३२
श्रिणीभुवोऽगौ	२१३२४
श्रुवः शृ	२११७०
श्रुवोऽनिट्	२१२८९
श्रुस्मृदृशः सनः	११२५२
श्रेण्यादि कृतैः	११३५४
श्र्युकः किति	५११११७
श्लिषः	२११४१
श्लिषशीङ्स्थासवसज-	२४१५७
श्वगणाद्वा	३१३१३४
श्वयुवमघोनोऽहृति	४४१२२१
श्वसस्तुट् च	३१२१३५
श्वसो वसीयसश्च	४१२८३
श्वदेरावतः	५१२१३
श्वार्शमचर्मणां संकोच-	४४११३२
श्वीदितस्ते	५१११२०
श्व्यस्पद्वचोऽथुक्	५१२१२८
ष	
षट्कृतिकतिपयचतुरां थुक्	४११३
षटोः कः सिः	५१३५८
षणि चाणिणस्तोरेव	५१४४१
षणमासाण्यश्च	३४८८०
षत्वेऽसद्वत्	४१३७४
षम्	११३१६
षष्ठाष्टमाद् भागे जः	४१११११
षात् पदान्तात्	५१४११४
षादिहन्धृतराज्ञोऽणि	४४१२३
षिद्भिदादिभ्योऽङ्	२१३८६

षे कृति बहुलम्	४१३१३२
षेऽङ्कुलेर्भिसंख्यादेः	४१२८८
षे ष्यस्य पुत्रपत्योर्जिः	४१३१६
षोऽन्यः	१४१६५
षुना षुः	५४१२२०
षित्तुक्लम्बाचमां शिति	५१२७३
ष्यान्तेल्	१११३४
ष्योऽन्तु रूपान्त्ययो वृद्धे	३११६३
प्रो नो णः समाने	५४१८५
स	
संक्षोः	११२६२
संख्यः	२१२१६
संख्यादी रश्च	११३४७
संख्यापरिमाणो ङतिश्च	३४१६३
संख्यात्राङ्गोऽबहुगणात्	४१२६६
संख्यायाः कोऽतिशतः	३४११६
संख्यायाः पादशतेभ्यो	४१२१०
संख्यायाः संख्यासंवत्स-	५१२१२०
संख्याया अत्रयवे तयट्	३४१६४
संख्याया गुणस्य नि-	३४१६६
संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्व	४१२२४
संख्याया विधार्थे धा	४११०६
संख्या वंश्येन	११३१६
संख्याविषयादेरहन्	४१३२५
संख्ये संख्यया भयासन्ना	११३८७
संख्यैकाद्वीप्तायाम्	४१२४८
संज्ञा लुः	११२२६
संज्ञो भा	१४१२८
संवत्सराग्रहायणीभ्यां	३१३२५
संशयमापन्नः	३४१६९
संसृष्टे	३१३४७
संस्कृतं भक्षाः	३२१११
संस्कृतम्	३१३२८
संहारोद्यावानाया-	२१३१०३
सहितशफलक्षणवामादेः	३११५६
सः	११३१२
स एषां ग्रामणीः	४१११२
सङ्कस्ताम्ने वत्सनीहोरिः	२१२१९

सकथ्यन्निदध्यङ्गामनङ्	५११५४
सकलेशे	२४१४०
सख्यशिश्वी	३११५२
सख्युरकौ	५११६६
साङ्घाङ्कलक्षणघोषे-	३१३६५
सङ्घेऽनूद्धे	२१३४०
सचस्योभौ	५४११०५
सत्यागतास्तोः कारे	४१३१७९
सत्सद्विषद्विद्वयुजविद-	२१२५६
सदादरानादरयोः	११२१३४
सदिस्वञ्च्योः परस्य लिटि	५४१८४
सदोऽप्रतेः	५४१४७
सद्योद्येषमः परेद्यविपर-	४११८८
सनः क्तिच खं च	४४१४७
सनः पूर्ववत्	११२५८
स नप्	१४१९३
सनाशंसमिक्ष उः	२१२१४६
सनि	१४१११६; ४४१४४
सहिग्रहगुहश्च	५११११८
सनिमीमाघुरभलभ-	५१२१५५
सनीङ् वा	५११८६
सनीवन्तद्धंभ्रस्जदम्भु-	५११९७
सनुमः इजादेः	५४११११
सन्कचोर्णौ	४१३२८
सन्तस्फमहतोः	४४१७
सन्धौ	४१३६०
सन्निविभ्योऽर्द्धे	५१११२७
सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं	११३५६
सन्यलोः	४१३१८
सन्यतः	५१२१७७
सन्लिटोर्जेः	५१२६२
सपत्यादौ	३११३४
सपूर्वात्	४११२१
सपूर्वाया वायाः	५१३२३
सब्रह्मचारी	४१३१६३
सब्रह्मचर्यादेः	४४१३१
सभाऽराजामनुष्यात्	१४१६९
समः	२११६८

समः समि	४।३।१६६
समजनिषदनपदमन-	२।३।८१
समयस्तदस्य प्राप्तम्	३।४।९७
समथासपत्रानिष्पत्रा-	४।२।६४
समर्थः पदविधिः	१।३।१
समर्थत् प्रथमाद् वा	३।१।६७
समवायात् समवैति	३।३।१६४
समवाये	४।३।१११
समां समां विजायते	३।४।१३७
समानस्य स ज्योतिर्ज-	४।३।१६२
समानोदरे शयितः	३।३।२०८
समापनात्सादेः	३।४।८२
समायाः खः	३।४।१०५
समिपृचिसृजिवरः	२।२।१२४
समि मुद्यौ	२।३।३५
समियुद्रुवः	२।३।२२
समुदः	५।३।७१
समुदाङ्ग्यमोऽग्रन्थे	१।२।७०
समूले हनश्च	२।४।२३
समूहवच्च बहुषु	४।२।२६
समोऽकृजे	१।२।१६
समो गम्प्रच्छिस्वृच्छि-	१।२।२४
समो भया	१।२।५०
सम्पदा चाभिविधौ	४।२।५८
सम्पर्युपात्कृजः सुड्भूषे	४।३।११०
सम्पादिनि	३।४।६३
सम्प्रति	२।२।१०१
सम्प्रतेरस्मृतौ	१।२।४२
सम्प्रत्यः	३।१।१२६
सम्प्रदानेऽपु	१।४।२३
सम्प्राज्जानुनो ज्ञः	४।२।१३०
सम्प्रोदश्च कटः	३।४।४६
सम्बोधने	२।२।१०३
सम्बोधने बोध्यम्	१।४।५५
सम्भवत्ववहरति पचति	३।४।५१
सम्भावनेऽल्भि स्थानि	२।३।१३०
सम्मानत्नोसञ्जनोपनयन	१।२।३१
सम्नाट्	५।४।९

सरजसोर्वष्टीवपदष्टीवा-	४।२।७६
सरोरिजादेः	२।१।३२
सरोऽनोऽश्यामायसः	४।२।९६
सरोर्हलः	२।३।८५
सर्वकूलभ्रकरीषेषु कषः	२।२।५०
सर्वचर्मणः कृतः	३।४।१३०
सर्वत्राग्निकलिभ्यां टण्	३।२।२८
सर्वनाम्नः स्मै	५।१।१२
सर्वनाम्नः स्याट् प्रश्चपु।	२।१।०९
सर्वनाम्नो भा च	१।४।३६
सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण्	३।४।४१
सर्वस्य द्वे	५।३।१
सर्वस्य सो वा दि	४।१।८१
सर्वाण्यो वा	३।४।८
सर्वात्	३।४।४५
सर्वादिः सर्वनाम	१।१।३५
सर्वावीनानुपदीनायान-	३।४।१३४
सर्वैकाभ्यां खः	३।३।१६३
ससजुषो रिः	५।३।७६
सस्थानक्रियं स्वम्	१।१।२
सहनौ प्रशंसे	४।२।४६
सस्मे लङ् च	२।३।१५२
सस्तेऽद्युस्थस्य	५।४।३३
सहनञ्विद्यमानाद्	३।१।५०
सहस्य सः खौ	४।३।१८६
सहस्य सध्रिः	४।३।२०१
सहार्थेन	१।४।३०
सहिवहोऽस्योः	४।३।२१७
सहे	२।२।८३
सहेति तुल्ययोगे	१।३।६१
साक्षादादिः	१।२।१४३
सात्	५।४।७७
सात्तद्विषयात्	४।१।१६०
सादेः	३।१।१२६
साद्वा कात्स्न्ये	४।२।५७
साधकतमं करणम्	१।२।११४
साधनं कृता बहुलम्	१।३।२६
साधने स्वार्थे	१।२।१५३

साधुनिपुरोनार्चामीवप्रते	१।४।५१
सान्ताः	४।२।६५
साम आकम्	५।१।२९
सामान्येनोपमानम्	१।३।५०
सामि	१।३।२४
सायश्चिरं प्राहृणोप्रगे-	३।२।१३६
साल्वावयवप्रत्यग्रथ-	३।१।१५४
साल्वेयगान्धारिभ्याम्	३।१।१५१
सावञ्जेः	५।१।१३०
सावनहुहः	५।१।६०
सावैम्मे	५।१।७७
साऽस्मिन् पौर्णमासीति	३।२।१६
साऽस्य देवता	३।२।१९
सिकताशर्कराभ्याम्	४।१।३१
सिन्धो यङि	५।४।७८
सिति	१।२।१०५
सिद्ध शुष्कपक्वबन्धैः	१।३।३६
सिद्धिरनेकान्तात्	१।१।१
सिद्धौ भा	१।४।५
सिध्मादेः	४।१।२५
सिन्ध्वतेरज्ञाते	४।३।४२
सिन्ध्वपकरादण्	३।३।४
सिन्ध्वदेरणा	३।३।६७
सिपि रिवां	५।३।८१
सिर्लुङि	२।१।३८
सिलिङ् दे	१।१।८५
सिबुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्	५।४।५२
सिस्यसीयुत्तासौ डौ	४।४।६१
सुः पूजायां न गिति	१।४।७
सुकर्मपापमन्त्रपुरण्ये कृञ्	२।२।७६
सुखदुःखयोर्वा कृच्छे	५।३।११
सुखादेः	४।१।५४
सुखादेः स्वभोगे	२।१।१५
सुचः	५।४।२१
सुजः स्यसनोः	५।४।८३
सुजो यज्ञसंयोगे	२।२।११०
सुटि पूर्वस्वम्	४।३।८६
सुट् तथोः	२।४।८७

सुडनपः	१११३२
सुधातुरकङ्क च	३११८६
सुपश्च	११२१५६
सुपि	२१२७;५१२१६७
सुपि शीलेऽजातौ षिन्	२१२६६
सुपीकोऽचि	५११५२
सुपो भेः	११४१५०
सुपो धुमृदोः	११४१४२
सुप्योः	४१४७६
सुप् सुपा	१३३
सुभगाद् यस्थूलपलित-	२१२५४
सुम्मिडन्तं पदम्	१२११०३
सुयजोर्वनिप्	२१२८६
सुराशीध्वोः पिबः	२१२१२
सुषामादिषु च	५१४७२
सुसंख्यादेः	४१२१४०
सुसर्वाद्वाष्टस्य	५१२१७
सुहरिततृणसोमाज-	४१२१२६
सुहृद्दुहृद्दौ मित्रा-	४१२१५०
सूक्तसाम्नोश्ङ्कः	४११६३
सूत्राकोडः	३१२५५
सूत्रेऽस्मिन् सुब्रिधि-	५१२११४
सूभवत्योर्मिडि	५१२८६
सूर्पाद्वा	३१४२५
सूर्यागस्त्ययोश्छे च	४१४१३८
सूषस्यदः कमरः	२१२१४३
सृजीग्नशः कवरप्	२१२१४६
सृजुज्वलगृधशुचलष-	२१२१३२
सृस्थिरे	२१३१६
सेऽङ्गुले सङ्गः	५१४६२
सेटि	४१४१११
सेधो गतो	५१४७९
सेनान्तलक्षणकारिभ्य	३१११४०
सेनाया वा	३३१६६
सेनासुराच्छायाशाला-	११४१०१
सेर्षापिच्च	२१४७४
सेवलसुपरिविशाल-	४१११४०
सोः प्रातर्दिवाश्वासः	४१२१२०

सोटः	५१४८१
सोमवरुणोऽग्नेरीः	४१३१४०
सोमाट्ठ्यण्	३१२२५
सोमे सुजः	२१२७७
सोडिति	५१२१०६
सोऽस्य निवासः	३३३६३
सौ	४१४११
सौ मे	५११८८
स्तम्बेरमकरणौजपौ	२१२१८
स्तम्भुसिबुसहां कचि	५१४८२
स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कु-	२११७७
स्तम्भेः	५१४४८
स्तुते भ्रातुः	४१२१५७
स्तुत् सोमौ चाग्नेः	५१४६५
स्तुशासिण्वृद्भुपःक्यप्	२११९१
स्तुसुधूजो मे	५१११३१
स्तैयसख्ये	३१४११६
स्तोः श्चु ना श्चुः	५१४११६
स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं	११३३४
स्तोके प्रतिना	१३३७
स्त्रियाः	४१४७४
स्त्रियां क्तिः	२१३७५
स्त्रियां खौ	४१२१४३
स्त्रियाम्	३११३
स्त्रियामुप्	३११६८
स्त्री	११२६३
स्त्रीगोनीचः	१११८
स्त्रीधेनुवाग्दारात्पुंसनङ्क-	४१२७३
स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्	३११७२
स्त्रीभ्यो ढण्	३१११०६
स्त्रोऽयज्ञे	२१३३०
स्त्र्युक्तपुंस्कादनुरेथार्थे	४१३१४६
स्थः	२१२८
स्थः कः	२१२६४
स्थ इत्	५१२११८
स्थागापापचो भावे	२१३७८
स्थायिडलः	३१२१०
स्थानान्तादुप्	३३११०

स्थानीवादेशोऽनल्विधौ	१११५६
स्थानेऽन्तरतमः	१११४७
स्थादेशचेन चस्य	५१४४४
स्थासेनयसेधसिचसञ्ज-	४१४४६
स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः	५१४१३५
स्थूलदूरयुवहस्वक्षिप्र-	४१४१४७
स्थूलादिभ्यः प्रकरोक्तौ	४१२११
स्थेणुपिबभूभ्यः सेमँ	११४१४६
स्थेशभासपिसक्तसो वरः	२१२१५४
स्थोऽवविप्राच्च	१२११७
स्नेहने पिपः	२१४२७
स्नोर्दार्थात्	५१११११
स्नोश्च जिश्च	२११५६
स्पद्धं परम्	१२१६०
स्पृशमृशकृषत्पटपो वा	२१३३९
स्पृशोऽनुदके क्विः	२१२५६
स्पृष्टिग्रहिपतिदयि-	२१२१४१
स्फाहतोऽसुटः	५११६१
स्फादेः स्कोऽन्ते च	५१३४६
स्फादेरातो धोर्यण्वतोऽ	५१३६०
स्फाद्यत्पोरस्फुरेप्	५१२१३८
स्फान्तस्य खम्	५१३४१
स्फायः स्फीस्ते	४१३१७
स्फायो वः	५१२१४८
स्फुरिस्फुत्योर्धञि	४१३४०
स्फुरिस्फुत्योर्निनिवेः	५१४५८
स्फेरः	१२११००
स्मिडः	४१३५०
स्मिपूड्पञ्चशः सनि	५१११३३
स्मृहत्वरप्रथमस्तृपशो-	५१२१६२
स्मे	२१२१००
स्मे लोट्	२३१४१
स्म्रदर्थदयेशां कर्मणि	११४५६
स्यगे सः	५१२१५१
स्यतासी लृलुटोः	२११३०
स्यदावोदैधौघप्रश्रथहिम-	४१४१८८
स्यसनोवृद्भ्यः	१२१८८
स्यसौ कृतचृत्तच्छद-	५१११०५

स्येनाम्बस्ताडसेः	५।१।१०
सुभ्रुद्प्लुङ्च्युङो वा	५।२।१७६
स्वतन्त्रः कर्ता	१।२।१२५
स्वनहसोर्षा	२।३।६५
स्वपितृषोर्नञिङ्	२।२।१५१
स्वपिस्थमिन्व्येजां यङि	४।३।१५
स्वयं क्तेन	१।३।२२
स्वरतिषूङ्धूञ्स्त्व्युदितः	५।१।६२
स्वरितैनाधिकारः	१।२।५
स्वसखि	१।२।६७
स्वसुश्लुः	३।१।१३२
स्वसुश्लुणुः	३।१।१२१
स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्	४।४।८
स्वागतादेः	५।२।१२
स्वाङ्गाद्वेक्षिसक्थनः	४।२।११३
स्वाङ्गान्नीचोऽस्फोडः	३।१।४७
स्वाङ्गोतस्त्ये क्रमुवः	२।४।४६
स्वाङ्गेऽश्रुवे	२।४।३९
स्वाङ्गेषु प्रथिते	४।१।१३
स्वादावधे	१।२।१०६
स्वाडुमि णम्	२।४।१२
स्वादेः श्नः	२।१।६६
स्वाभाविकत्वाभिधान-	१।१।१००
स्वामीश्वराधिपति-	१।४।४७
स्वार्थे	२।१।४२
स्वार्थे लुभात्	५।१।१०२
स्वीकृताबुपाद्यमः	१।२।५१
स्वीषद् दुसिकृच्छाकृ-	२।३।१०३
स्वेको दीः	४।३।८
स्वेपः क्यच्	२।१।६
स्वेषु पुषः	२।४।२६
स्वोवामौ	२।४।७७
स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्	३।१।२
ह	
हः	१।३।४
हनः सिः	१।१।८
हनश्च वधः	२।३।६३
हनस्तोऽभिणलोः	५।२।३६
हनिङ्गम्यचां सनि	४।४।१४
हन्तः स्ये	५।१।१२९

हनो वध लिङि	१।४।११४
हन्तैरघः	५।४।१०६
हन्तेर्जः	४।४।३६
हरत्युत्सङ्गादेः	३।३।१३८
हरिताद्यघः	३।१।८९
हरीतक्यादेः	२।३।१२४
हलः	२।३।१०२; ४।४।२
हलन्तात्	१।१।८४
हलश्चेजुङः	५।४।११०
हलसीराद्वणु	३।३।६२
हलामचः	५।१।७८
हलि	४।३।१२६; ५।४।६
हलि खम्	५।१।१७१
हलुङः किङ्त्वनिदितः	४।४।२३
इलोऽनन्तराः स्फः	१।१।३
हलोऽनादेः	५।२।१६१
हलो यः	४।४।५१
हलो यमां यमि खम्	५।४।१३८
हलो ह्रतो ङयाम्	४।४।१४०
हल्ङ्यापो घः सुसिप्य	४।३।५६
हल्यभकुर्छुरः	५।३।८६
हल्यभोरीः	४।४।१०३
हल्यस्सेः	५।२।६३
हल्येतत्तदोरनञ्सेऽकोः	४।३।१०६
हल्येप्	५।२।८६
हल्यैबुप्युतः	५।२।८७
हविरपूपादेर्वा	३।४।३
हशश्चतोरलङ्	२।२।९६
हश्च	१।४।६४
हस्तादाने चेरस्तेये	२।३।३८
हस्ते पाणौ स्वीकृतौ	१।२।१४६
हस्ते वतिर्भ्रहः	२।४।२५
हाकः	४।४।१०६
हाकः क्त्वि	५।२।१४७
हात्	१।४।१५१; ३।३।३४
हायनः	२।१।१२१
हायनान्तयुवादिभ्योऽण-	३।४।१२०
हिंसायां देककर्मकात्	२।३।३४
हितमस्मै भक्ताः	३।३।१८३

हिमकाविहतौ	४।३।१६५
हि म्परे वा	५।४।१०
हिम्योर्नुनोः	५।४।१०२
हीने	१।४।१५
हीयमानपापयोगात्	४।२।५२
हुस्रल्भ्यो हेंधिः	४।४।६४
हुस्तुवोर्गवः	४।४।८२
हुक्रोर्न वा	१।२।१२४
हुओऽनुत्सेधे	२।२।१४
हुतः	३।१।६१
हुति चैका	४।३।१७४
हुत्यचामादेः	५।२।५
हुत्सिन्धुभगे द्वयोः	५।२।२४
हुदयस्य हृल्लेखयाण्	४।३।१६१
हुदर्थद्युसमाहारे	१।३।४६
हुदुप्युप्	१।१।६
हुष्टार्पचतौ	५।१।१२५
हुसोऽवे	२।१।११५
हुेऽकाले	४।३।१८६
हेतावनुना	१।४।१३
हेतुफलयोर्लिङ्	२।३।१३२
हेतुमति	२।१।२४
हेतुमनुष्याद् वा रूप्य	३।३।५५
हेतौ	१।४।३२
हेमन्तात्तखम्	३।२।१३८
हेरकचि	५।२।६१
हे शरदादेः	४।२।१०६
हैदेप्रयोगे हैहयोः	५।३।६३
हो ढः	५।३।४८
होनाभ्यश्छः	३।४।१२५
हो हन्तोर्णिणि	५।२।५९
हौ हलः शनः शानः	२।१।७८
ह्यक्ष्णश्चसजागृणिश्वे-	५।१।८१
ह्रस्वे	४।१।१४२
ह्र्लादस्ते	४।४।८६
ह्रालिप्सिचः	२।१।४६
ह्र्वावामः	२।२।२
ह्रो जिः	४।३।२९
ह्रो भिश्च न्यभ्युपविषु	२।३।५९

जैनेन्द्रवार्तिकानामकारादिक्रमः

अ		अनौ कर्मणि वाच्यभिधानम्	२।२।८४
अकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्	१।४।७९	अन्तशब्दस्य अ(सा)ङ्किविधिणत्वेषु गिसञ्ज्ञोक्ता	४।३।२०२
अकृतसन्धीनां शेवलादीनामिति वक्तव्यम्	४।१।१४०	अन्तादिमो वक्तव्यः	३।२।१३६
अक्षप्रकरणे तूष्णीमः काम् वक्तव्यः	४।१।१३०	अन्नन्तस्य नखं स्त्रियां वा वृत्तिः	१।४।६३
अक्षाद्दृष्ट्यामैवक्तव्यः	४।३।७५	अन्यत्रापि दृश्यते	१।४।३
अगोरस्यस्यत्योर्वचनम्	२।१।४५	अन्यस्मिन्नपि वाचि दृश्यते कारकान्तरेऽपि च	२।२।८४
अग्नीधः शरणे वाच्ये रण् वक्तव्यो भसञ्ज्ञा च	३।३।८८	अन्यादेष्टण् वक्तव्यः	३।२।१२६
अग्रप्रामाभ्यां नियो णत्वम्	५।२।११०	अन्येभ्योऽपि भवतीति वक्तव्यम्	४।२।१४५
अग्रतश्च आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्	२।२।२३	अपुरीति वक्तव्यम्	४।१।४२
अग्रपश्चाद्भुमिः	३।१।६१	अप्राण्यङ्गादिति वक्तव्यम्	४।१।५१
अङ्गात्रकण्ठेभ्यो वा प्रतिषेधः	३।१।४७	अप्सव्य इत्यादावपि वक्तव्यः	४।३।१२७
अजातेरिति वक्तव्यम्	१।१।९८	अप्सुमति चाखौ वक्तव्यम्	४।३।१२७
अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानं नपुंसके क्तादिनि- वृत्त्यर्थम्	२।३।५२	अभयाच्चेति वक्तव्यम्	२।२।४१
अटाट्टाशोकाकोटापोटासोटाप्रुष्टाभ्योऽपीति केचित्	२।१।१४	अभितःपरितःसमायानिकषाहाप्रतियोगेषूपसंख्यानम्	
अशिञ्जेरप्यब्राह्मणगौत्रमात्राद्युक्तस्योपसंख्यानम्	३।१।१३		१।४।३
अण् प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्	३।४।९०; ४।१।१८	अभ्यर्हितस्य च	१।३।१००
अण्प्रकरणे ज्योस्नादिभ्य उपसंख्यानम्	४।१।३०; ४।१।५०	अरण्याण्यो वक्तव्यः	३।२।१०७
अतन्निमित्तादपि समाहारलक्षणाद् राटुब् वक्तव्यः	३।४।२६	अर्णसः खं च	४।१।३५
अत्यन्तापह्ववे लिङ् वक्तव्यः	२।२।६५	अर्थातिदेशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता सिद्धा	१।१।६८
अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे इपा	१।३।८१	अर्थाद्वाऽसन्नहिते वर्तमानादिन्वक्तव्यः	४।१।५६
अत्र ग्रामग्रहणे नगरस्थापि ग्रहणम्	५।२।१६	अर्धाच्चेति वक्तव्यम्	३।४।२२
अत्राभिप्रञ्जकस्येति वक्तव्यम्	५।४।२६	अर्धे चोत्तरपदे केवलस्यार्धस्य पश्चभावो वक्तव्यः	४।१।९७
अद्यर्थेषु अदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः	१।२।१२२	अर्धोत्तरपदस्य च दिक्छन्दस्य पश्चभावो वक्तव्यः	४।१।६७
अधर्माच्चेति वक्तव्यम्	३।३।१६२	अर्हतो नुम् च	३।४।११४
अधिकरणविचाले चेति वक्तव्यम्	४।१।१०६	अलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्	३।४।१४६
अधिकरणे प्यत्वे का वक्तव्या	१।४।३७	अल्पाच्च मेधाया इति वक्तव्यम्	४।२।१२४
अनजादौ द्वितीयादचः परस्य वा खं वक्तव्यम्	४।१।१३६	अल्पील्वादेरिति वक्तव्यम्	४।३।२२२
अनजादौ वा दुखम्	५।२।५१	अवयवयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः	१।४।३८
अनुब्राह्मणादिन्वक्तव्यः	३।२।५३	अवादयः ऋष्टाद्यर्थे भया	१।३।८१
अनुवाकादयश्चेति वक्तव्यम्	३।२।५२	अवादिभ्यस्तनेरिति वक्तव्यम्	२।१।११४
अनुसूलादयलक्षणेभ्यश्च टण्	१।१।१६५	अवाधयोः (अवोऽधसोः)सखच्चेति वक्तव्यम्	३।२।१२८
		अवान्तरदीक्षादिभ्यो डिन्वक्तव्यः	३।३।८७
		अष्टनः कपाले हविष्यात्वं वक्तव्यम्	४।३।१६०
		अष्टनः कपाले हविषि वक्तव्यम्	४।३।२२७

अष्टाचत्वारिंशतो डबुडिनौ च वक्तव्यौ	३।४।८७
अस्मिन्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य	
उपसंख्यानम्	३।३।१५६
अहो रिविधौ रूपरात्रिरथन्तरेषूपसंख्यानम्	४।२।८६; ५।३।७७;
आ	
आख्यातमाख्यातेन सातत्ये	१।३।६६
आख्यानशब्दात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।२४
आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च	३।२।५२
आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति कृदुपप्रत्यापत्तिः	
प्रकृतिवच्च कारकमिति	२।१।२४
आङ्गिनवृत्तिश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्	२।१।२४
आङ्पूर्वाद्ञ्जेः सञ्ज्ञायां क्यवक्तव्यः	२।१।६१
आचारे सर्वमृद्ग्रथः क्विन्वा भवतीत्येके	२।१।६; ४।३।१८०
आचार्यादणत्वं च	३।१।४२
आदिभ्य उपसंख्यानम्	२।४।४६
आदेशचेति वक्तव्यम्	३।२।१२८
आपदादिपूर्वपदात्कालान्ताद् ठञ्जिठौ वक्तव्यौ	३।२।६२
आर्थज्ञत्रियाभ्यामपुंयोगे वेति वक्तव्यम्	३।१।४२
इ	
इज उपसंख्यानमजात्यर्थं कर्त्तव्यम्	३।१।५५; ३।१।६६
इएवदिकः	५।१।१०६
इन्द्रकरणे बलाद्ब्राह्मणपूर्वाद्दुपसंख्यानम्	४।१।५६
इन्सिद्धबन्धातिस्थेषु च न भवति	४।३।१३२
इवोपमानपूर्वस्य द्युलं वा	४।२।१६
इषोऽनिच्छायां युञ्ज वक्तव्यः	२।३।८६
इह तदस्मै दीयते इति वक्तव्यम्	३।४।४६
इह प्रकरणे राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्य राजन्य-	
पत्यवदिति वक्तव्यम्	३।१।१५५
ई	
ईकण् च	३।१।७०
ईबुपमानपूर्वस्य द्युलं वक्तव्यम्	१।३।८६
ईयसो वसे पुंबन्नावचनम्	४।२।१५६
ईयसो वसे प्रतिषेधो वक्तव्यः	१।१।८
ईर्ष्यतेस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्	४।३।३
उ	
उगन्तादियेल्योः खं वक्तव्यम्	४।१।१३६

उगित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति	
वक्तव्यम्	१।१।६७
उत्तानादिषु च कर्तृषु	२।२।२०
उत्पातेन ज्ञायमानेऽवक्तव्या	१।४।२६
उदीच्यग्रामात् प्रस्थघोरण् वक्तव्यः	३।२।१०
उपध्मानीयस्य सत्त्वं वक्तव्यं द्वित्वप्रतिषेधश्च	५।४।२६
उपमानात् पक्षपुच्छाभ्यामिति वक्तव्यम्	३।१।४८
उपवल्गादिभ्य उपसंख्यानम्	३।४।९९
उप् स्थामान्तदजिनान्ताच्च वक्तव्यः	३।३।३५
उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः	४।३।७३
उभसर्वतसोः कार्यो धिगुपर्यादिषु त्रिषु । कृतद्वित्वेष्वि-	
पा योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥	१।४।३
उवर्णादिलस्य च खं वक्तव्यम्	४।१।१३९
उसाख्यायिकासु बहुलमिति वक्तव्यम्	३।३।६१

ऋ

ऋकारलृकारयोः स्वसञ्ज्ञा वक्तव्या	१।१।२
ऋकारान्तत्वादिभ्यः क्तिस्तवद्भवतीति वक्तव्यम्	२।३।७५
ऋणदशप्रवत्सतरकम्बलवसनानामृणो	४।३।७६
ऋतुनक्षत्राणां समानान्तराणामानुपूर्व्येण	
वक्तव्यम्	१।३।१००
ऋते भासे	४।३।७६

ए

एकधुराशब्दात्स्वस्योस्वक्तव्यः	३।३।१६३
एकाक्षरपूर्वपदानां द्योः खं वक्तव्यमषषः	४।१।१३९
एचो द्वितीयत्वे तदादेः खं वक्तव्यम्	४।१।१३६
एवे चानियोगे पररूपम्	४।३।८१
एहीडादयोऽन्यपदार्थे	१।३।६६

ऐ

ऐन्दीत्वाभ्यासमतः खं पूर्वनिर्णयेन	४।४।५०
------------------------------------	--------

ओ

ओजोऽप्सरसोर्नित्यं पयसस्तु विभाषया सखम्	२।१।६
ओत्वोष्ठयोर्वा से पररूपमुपसंख्यास्यते	३।१।४८; ४।३।८१
ओदनशब्दाद्वक्तव्यः	३।३।१८२
ओनयत्यादेः कच्प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।४३

क

कण्वादीनां तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति	४।३।३
कन्नरमणिशरविषेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम्	३।१।४८

बहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ये कर्तारं चाभिदधाति १।३।६६	
जागत्तेशौ वक्तव्यौ	२।३।८३
जातान्तात्प्रतिपेधो वक्तव्यः	३।१।४५
जिज्ञासावैरूप्यार्जवनिशानेषु यथाक्रमं सन्निष्यते	२।१।४
जिह्वाकात्यहरितकात्ययोर्न भवत्येव	१।१।७१
जीवितपरिणाम इति च वक्तव्यम्	३।४।५६
ज्योत्स्नातमिस्राभ्यां णिद् भवति पद्धे	४।१।५०

झ

झिसंख्यादेरिति वक्तव्यम्	१।४।१०७
झिसंज्ञकस्य भमात्रे टिखं च वक्तव्यं सायम्प्राति-	
काद्यर्थम्	४।४।१४२
भेर्ममात्रे टिखम्	१।४।८५; ४।२।१२०; ५।२।१६

ञ

जियञोः प्रतिपेधे णिश्रन्थिग्रन्थिग्रूजां दविधौ धीनां	
चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्	२।१।५६

ट

ठण् लुप्तोश्च	४।३।१४७
ठण् प्रकरणे तदस्मिन्वर्त्तते इति नवयज्ञादिभ्य उप-	
संख्यानम्	३।२।३०
ठेनोः समानकालग्रहणं वक्तव्यम्	४।१।१९

ड

डटो वा उव्वक्तव्यः	४।१।११
डट् स्तोमे वक्तव्यः	३।४।१५८
डुप्रकरणे मितद्रुप्रभृतीनामुपसंख्यानम्	२।२।१५६

ढ

ढेऽपि क्वचिद् पुंवद्भावो वक्तव्यः	४।३।१४७
-----------------------------------	---------

ण

णत्वविधौ गर्त्तस उपसंख्यानम्	४।२।११९
णिश्रन्थिग्रन्थिग्रूजां दविधौ धीनाञ्च	२।१।४३

त

तः पर्वमरुद्भ्यां मत्वर्थे	४।१।५६
तच्चरतीति च महानान्यादिभ्य उपसंख्यानम्	३।४।८७
ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम्	३।४।७०
तदन्ताद्वेति वक्तव्यम्	४।१।५६
तनिर्पतिदरिद्रां वेट्	५।२।१५५
तपसो मञ्चेति वक्तव्यम्	२।१।१४

तमे परतः तादेः कादेश्चान्तिकस्य खं वक्तव्यम् ४।४।१४२	
तलन्तस्य ङिक्योरुभयम्	५।२।१०२
तसादिभूभशब्दस्य उभयादेशो वक्तव्यः	४।१।९१
तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्	४।२।४६
तस्य ह्रत्यटे	३।४।२६; ३।१।४
ताभ्यामेव पितरि डामहः	३।२।३१
तीयान्तात्स्वार्थे वा ईकण् वक्तव्यः	३।२।८
तुरभुजयोश्च	२।२।४५
तृप्त्यर्थे तृपसंख्यानम्	१।३।७५
तृप्त्यर्थे योगे उपसंख्यानम्	१।२।३०
तैन वाक्दिक्यशयद्रथो युक्तिदण्डहरेष्वनुप्	४।३।१३३
त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वमपि वयसीष्यते	३।१।१४
त्रिप्रभृतिषु न भवति	५।४।१२७

द

दाणश्च सा चेद्वर्थेऽशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्	१।२।५०
दिक्लुब्दमात्रादयमेनो वक्तव्यः	४।१।६६
दिक्पूर्वपदस्य चापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः	४।१।९७
दिग्धसहपूर्वाच्च अत्यो भवति	२।२।२०
दुःशब्दे वाचि शासियुषिदृशिधुषिमृषिभ्यः युज्	
भवति	२।३।१०६
दूतवणिग्भ्यां यो वक्तव्यः	३।४।११६
दृष्टे सामनि वृद्धादङ्कवद्वक्तव्यम्	३।२।७३
देवस्य यज्जौ	३।१।७०
देवानां प्रियादिष्वनुप्	४।३।१३४
देवासुरादिभ्यो वुनः प्रतिपेधो वक्तव्यः	३।३।६३
दुश्वोभयाद्वक्तव्यः	४।१।८७
द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिपेधो वक्तव्यः	३।३।६२
द्वित्वे गीयुगः	३।४।१५०
द्विबह्वन्ताच्च करणात्प्रतिपेधो वक्तव्यः	३।४।३५
द्विमात्रात्परस्यापि	५।४।१२७
द्विषः शतुर्वा वचनम् १।३।७५; १।४।७२; ३।२।१०६	
द्वयङ्क्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः	१।३।१००

ध

धमुजन्तात् स्वार्थे डो वक्तव्यः	४।१।१०८
धेनोर्नञ्-पूर्वाया नेष्यते	३।२।३६

न

नक्षत्रयोगे ज्ञार्थे	२।१।२४
----------------------	--------

नओऽनुभावे क्षेपे मिङ्पसंख्यानम्	४।३।१८१
ननौ पृष्ठप्रतिवचने भूतमात्रे लट् वक्तव्यः	२।२।१००
नभोऽङ्ङिरोमनुषां वक्तव्यसंख्यानम्	१।२।१०७
नशब्दे नुशब्दे च वाचि पृष्ठप्रतिवचने भूते वा लट् वक्तव्यः	२।२।१००
नाभि नभञ्च	३।४।२
निन्दाक्षमारोगापनयेषु यथाक्रमं सन्निष्यते	२।१।३
निमित्तात्कर्मसंयोगे ईव्वक्तव्या	१।४।४४
निमिमीलियां खाचोरात्वप्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।४३
निरादयः क्रान्ताद्यर्थे कया	१।३।८१; १।४।१०२
निसो गत इति वक्तव्यम्	३।२।८१
निसो देशे	२।२।४६
नुप्रच्छिभ्यां च	१।२।१४
नृनरयो रैप्च	३।२।२३
नेतुर्नक्षत्रे उपसंख्यानम्	४।२।११६
नेर्भ्रुव इति वक्तव्यम्	३।२।८१

प

पञ्चजनशब्दानुपसंख्यानम्	३।४।७
पद्यछान्दसा एते शब्दास्तदत्रापि नस् वक्तव्यः	४।२।११८
परिचर्यापरिसर्यामृगयाणां निपातनं वक्तव्यम्	२।३।८३
परिपाशर्वाञ्चेति वक्तव्यम्	३।३।१५२
परेर्वा	२।३।८९
परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः	२।२।६२
पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे अपा	१।३।८१; ४।२।१५
पर्श्या गास् वक्तव्यः	३।२।३६
पाणिगृहीत्यादीनां गुर्वनुज्ञातेन डी वक्तव्यः	३।१।४५
पाणौ समवशब्दे च सृजेण्यौ वक्तव्यः	२।१।६२
पात्रादिभ्यश्च प्रतिषेधः	१।४।९३
पाशाकल्पकाम्याः प्रयोजयन्ति	५।४।२६
पाशाद्विमोचने	२।१।२२
पिच्छादेश्चेति वक्तव्यम्	४।१।२६
पिशाचाञ्चेति वक्तव्यम्	४।१।५२
पुंसाऽनुजो अनुषान्ध इत्यनुवक्तव्यः	४।३।१२४
पुच्छाञ्चेति वक्तव्यम्	३।१।४८
पुच्छाद्दुदसने पर्यसने वा	२।१।१७
पुण्याहवाचनादिभ्य उव्वक्तव्यः	३।४।१०५
पुत्रादिनी त्वमसि पापे इत्याक्रोशे नेष्यते	५।४।१२७

पुरान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।३।३५
पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्	३।४।९
पुष्पमूलेषु बहुलम्	३।३।२२४
पूर्वपदस्य च टाजादौ अनजादौ च खं वक्तव्यम्	४।१।१३६
पूर्वप्रथमयोरतिशये द्वे भवतः पूर्वमासादण् वक्तव्यः	३।२।३०
पृच्छतौ सुस्नातादिभ्य इरसमर्थेभ्यः	३।३।१५६
पृथिव्या जाजौ	३।१।७०
पौङ्गीपुत्रादिभ्यश्छो वक्तव्यः	३।२।२३
प्यखे कर्मणि का वक्तव्या	१।४।३७
प्यादेशोऽन्तरङ्गस्यापि विधेर्बाधकः	४।४।१६
प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवः	३।४।१५०
प्रकृत्याके राजन्यमनुष्ययुवानः	३।४।१२३
प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्	२।४।४; ४।३।२२४; ४।३।२२५

प्रथमाधिकारे द्वितीयस्यापि वृद्धेऽच्यनुवक्तव्यः	३।३।६३
प्रभूतादिभ्यश्च	३।३।१५६
प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रङ्-वक्तव्यः	३।४।१५८
प्रमाणशब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसडादीनां ध्वंसनं-वक्तव्यम्	३।४।१५८
प्ररोहणे शाकटशाकिनौ	३।४।१५०
प्रश्नाख्यातयोश्च का वक्तव्या	१।४।३७
प्राणिनीति वक्तव्यम्	४।२।७६
प्राण्यङ्गे नित्यं लत्वम्	५।३।३६
प्रादयो गताद्यर्थे च वया	१।३।८१; १।३।८६
प्रादूहोदोक्त्ये पैष्येषु	४।३।७५; ५।३।१०२
प्रावृड् वर्षाशरत्कालदिवां जेऽनुप्	४।३।३२

फ

फलबर्हाभ्यामिनः	४।१।५६
फिजप्यत्र भवतीति वक्तव्यम्	३।१।१३८

ब

बन्धे द्विधा	४।३।३२
बलादूलः	४।१।५६
बसे कौ मानुरदन्तत्वं पुत्रश्लाघायाम्	५।२।१०२
बहिषष्टित्वं यञ्च	३।१।७०

बहुष्पनियमः	१।३।१००
बाह्व्युर्दिभ्यश्चेति वक्तव्यम्	३।२।७८
त्रिव्ववनादिभ्यो नित्यमुस् न भवतीति वक्तव्यम्	३।२।४५
ब्रह्मचर्यमित्यस्मिन्नर्थे महानाम्यादिभ्य उप- संख्यानम्	३।४।८७
ब्रह्मणि वदेरिण् वक्तव्यः	२।२।६६
ब्रह्मवर्चसादिभ्योऽपि वक्तव्यम्	४।२।८०

भ

भक्षिरर्हिसार्थः कर्मसंज्ञो न भवतीति वक्तव्यम्	१।३।१२२
भगे दारेः खञ् वक्तव्यः	२।२।४०
भस्य हृत्थडे	३।१।२१; ३।१।६४; ४।१।१६१; ४।३।१४७; ४।३।१५३; ५।२।१०
भारडात्सञ्चयने परिचयने वा	२।१।१७
भ्रातुश्च ज्यायसः	१।३।१००
भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यां शिष्यत इति न वक्तव्यम्	१।१।१००

म

मणिप्रभृतिभ्य इति वक्तव्यम्	४।१।३५
मणीवादिषु नेष्यते	१।१।२०
मधुकमरिचयोः स्थलपूर्वाद्ण् वक्तव्यः	३।४।७३
मध्यादीयो वक्तव्यः	३।३।३५
मध्यो मध्यन्दिनश्चात्मादुप् स्थान्नो ह्यजि- नात्तथा	३।३।३५
मरुच्छब्दस्योपसंख्यानम्	१।२।१३०
महत्या घासकारविशिष्टेषु व्यधिकरणत्येऽपि पुंवद्भावा- त्वे भवतः	४।३।१५८
महाजनाद्वज्वक्तव्यः	३।४।७
महिषाच्चेति वक्तव्यम्	३।२।६७
मासाद्भृतित्यान्तपूर्वपदाद्धो वक्तव्यः	४।२।११७
मुखपाश्वरतसोरीयः कुग्जनस्य परस्य च । ईयः कायोंऽथ मध्यस्य मरणीयौ च हृतौ मतौ ॥	३।३।३५
मूलविभुजादिभ्यः	३।४।८८
मूलान्ताच्च टाप्	३।१।४
मूल्यादिति च वक्तव्यम्	३।४।३५
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य भवतीशब्दस्य ग्रहणे- ठण्णसोः	३।२।६१
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्	४।२।१५६

य

यजादीनामेकत्वद्वित्वयोर्वा तासे इति वक्तव्यम्	१।४।१३५
यणः परस्य मयोऽन्वि विकल्पः	५।४।१२७
यतश्चाध्वकालपरिच्छेदस्ततः का वक्तव्या	१।४।३७
यथेष्टं सुब्धुषु वक्तव्यम्	४।३।३
यमाच्चेति वक्तव्यम्	३।१।७०
यवनास्त्रिप्याम्	३।१।४२
यवाद्दोषे	३।१।४२
यस्य प्रकरणे वातपित्तश्लेष्मसन्निपातैभ्यः शमनकोप- नयोरुपसंख्यानम्	३।४।३६
येनां च पाकनिमित्तः शोषः तेभ्यश्च उस् फले	३।३।१२४

र

रजकरजनरजस्तु नखे यत्नः कर्तव्यः	४।४।२७
रणिवशिभ्यामज्वक्तव्यः	२।३।५२
रथसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरुपसंख्यातः	३।३।८६
रथसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरपीभ्यते	३।३।१९७
रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्	४।१।३३
रविधिर्नगपंशुभ्याम्	४।१।३३
रसादिभ्यो मतुर्वक्तव्यः	४।१।२३
राच्च ध्वसनं वक्तव्यम्	३।४।१५८
राजन्यादिभ्यो वा वुञ् उस्वक्तव्यः	३।२।४५
राजाचार्याभ्यां भोगान्ताभ्यां नित्यमिति वक्तव्यम्	३।४।८
राष्ट्राभिधाने बहुत्वे उस्वक्तव्यः	३।३।४५
रूपाद्दर्शने	२।१।२२
रेरेव काम्ये वक्तव्यम्	५।४।३६

ल

लिटि स्वञ्जेर्वा न खं भवतीत्युपसंख्यानम्	५।४।८४
लोमनश्चापत्येषु बहुषु	३।१।७०
लोहितशब्दात्स्त्रीत्यस्य परत्वादनेन केन बाधनं वक्तव्यम्	४।२।३६

व

व उद्ग्रेः	५।४।२६
वटकेभ्य इन्वक्तव्यः	४।१।१४
वर्णानामानुपूर्व्येण	१।३।१००
वर्षक्षरक्षरबराज्जे द्विधा	४।३।३२
वलप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते इति वक्तव्यम्	४।१।३८
वशेर्यङि प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।१५
वज्रात् समाच्छादने	२।१।१८

वा गोमयेष्विति वक्तव्यम्	३।२।१०७
वा ठण् छसोः [ठक्छसोश्च]	५।२।२२
वाततिलसार्धेषु अजतुदजहातिभ्यः खश्वक्तव्यः	२।२।३२
वा तदन्तवालललाटानामूङ् च	४।१।२५
वातात्समूहे तन्न सहते इति च	४।१।५६
वा प्रियंस्य	१।३।१०१
वाब्रन्त इति वक्तव्यम्	१।४।९३
वामदेवाद्यो वक्तव्यः	३।२।७२
वायोरुभयत्र प्रतिषेधः इष्यते	४।३।१३६
वारिजङ्गलस्थलकान्तराजशङ्कपूर्वपदादिति वक्तव्यम्	३।४।७३
वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्	१।२।२०
वा समर्थायाः संख्याया गुणस्य निमेये वर्त्तमानयोः	३।४।१६९
विकारे स्नेहे तैलः	३।४।१५०
विद्यामाननक्षत्र (विद्या च नाङ्गक्षेत्र) धर्मत्रिपूर्वा	३।२।५२
विद्यालक्षणकाल्पसूत्रान्तादकल्पादेः	३।२।५२
विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्	४।१।१३६
विपरीताच्चेति वक्तव्यम्	३।४।१३६
विभाजयितुर्णिखञ्च	३।३।११६
विरोधेऽण् वक्तव्यः	३।४।११४
विंशतेश्चेति वक्तव्यम्	३।४।१५८
विशसितुरिटः खञ्च	३।३।१६६
विशिपूरिपादिरुहिप्रकृतैरनात्सपूर्वपदादुप- संख्यानम्	३।४।१०४
विप्रेन भक्त्येव	५।३।३६
विष्णोः प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।१४१
विस्तारे पटः	३।४।१५०
विहायसो विहं च	२।२।४६
विहायसो विहादेशः खञ्च वा ङिद्वक्तव्यः	२।२।४५
वीप्सायां वा हसो वक्तव्यः	१।३।५
वीरात्तेजसि यः	३।४।११४
वृद्धवदिति वक्तव्यम्	४।२।७
वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्	३।२।३४
वृद्धाद्बृद्धवदिति वक्तव्यम्	४।२।७
(वृ) द्वेषिण्य वृधुषिभावो वक्तव्यः	३।३।१५३
वेः ख्वादेशो वक्तव्यः	४।२।११६

व्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बादीनामिति वक्तव्यम्	३।१।८६
प्रताद्भोजने तन्नितृसौ च	२।१।१८
श	
शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्	१।१।६१
शकटादण् वक्तव्यः	३।३।१६१
शकन्धादिषु पररूपम्	४।३।८१
शतरुद्राद्घश्च	३।२।२३
शतषष्टिभ्यां पथष्टिकः	३।२।५२
शन्शतोर्ङिनिर्वक्तव्यः	३।४।१५७
शप उपलम्भन इति च वक्तव्यम्	१।२।१५
शयवासवासिष्वकालवाचिनो द्विधा	४।३।१३३
शर उत्तरस्य खयः	५।४।१२७
शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्	४।१।११६
शिद्धैर्जिज्ञासायां दो वक्तव्यः	१।२।१५
शीतोष्णतृप्तेभ्यस्तन्न सहत इत्यालुर्वक्तव्यः	४।१।५६
शीर्षान्नजः	४।१।४२
शीलादिप्रकरणे धाञ् कृत्सृजनिनिदिभ्य इलिट् वक्तव्यः	२।२।१५५
शीलिकामिभक्त्याचरीत्तित्तिमिभ्यो णो वक्तव्यः	२।२।१
शीले को मखं च	४।१।१३०
शुनः खौ शेषपुच्छलाङ्गलेषु	४।३।१३४
शुभिरुचिभ्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।२९
शूद्राच्चामहत्पूर्वात् जातिश्चेत्	३।१।१४
शृङ्गवृंदाभ्यामारको वक्तव्यः	४।१।५६
शृणोतैर्वायुवर्षयोर्घञ् वक्तव्यः	२।३।२०
शेषे विभाषा	१।४।६९
श्रद्धादिभ्योऽण् वक्तव्यः	३।४।१०५
श्रन्थेश्चेति वक्तव्यम्	४।४।११३
श्रविष्ठाषाढाभ्यां लुजिति वक्तव्यम्	३।३।८
श्रुयजीषिस्तुभ्यः स्त्रियां करणे युङ्वाघनाथं क्तिर्वक्तव्यः	२।३।७९
ष	
ष्ठीवतिष्वकतिष्ठथायतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।५३
स	
संवादुः संवहितृभावश्च स्वे वक्तव्यः	३।३।८८
संस्कृते शूल्यः	३।४।१५०

स एव डामहो मातरि वाच्यायां टिच्च	३।२।३१	सुदुरोरधिकरणे डो वक्तव्यः	३।२।४६
सकर्मकादिति वक्तव्यम्	१।२।५४	सु [शु] नोजिर्वाचदीत्वम्	३।४।२
सग्योश्च क्रुधिद्रुह्योः	१।२।११२	सुब्धूनाञ्च तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति	४।३।३
सङ्ख्याप्रकृतैरिति वक्तव्यम्	३।२।५५	सुसर्वाद्धंदिक्छब्देभ्यो जनपदस्य सूत्रान्ताद-	
सङ्ख्याया अल्पीयसो वाचिकायाः	१।३।१००	कल्पादेरिष्यते	३।२।५२
सञ्ज्ञायामण् वक्तव्यः	३।४।८७	सेनाङ्गफललुद्रजीवितरुमृगतृणधान्यपक्षिणां	
सत्प्राक्कारणप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पाट्टाप्	३।१।४	प्रकृत्यर्थबहुत्वे एकवद्भावः	१।४।८८
समसम्प्रधारणायां किम आक्षेपे द्वे भवतः	५।३।६	सेनाङ्गेषु बहुत्वे	१।४।७८
समानाञ्च तदादेश्च अध्यात्मादिषु चेष्यते ।		सौवीरेषु भिमतशब्दाणफिजौ वक्तव्यौ	३।१।१३८
ऊर्ध्वाद्दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदादपि ॥	३।३।३५	स्तोमे डो वक्तव्यः	३।४।५६
समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्	२।२।५८; ४।३।१९५	स्त्रियामपत्ये उव्वक्तव्यः	३।१।११७
समिधामाधाने टेन्यण् वक्तव्यः	३।३।८८	स्त्रीनपुंसकयोर्विभक्त्या वाऽम्भावो द्योऽस्तु	५।३।९
समूहे कटः	३।४।१५०	स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः	३।४।१०५
सम्पदादिभ्यः क्त्रिप् वक्तव्यः	२।३।७५	स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्	१।२।१४; १।२।२२
सम्पूर्वाद्धेति वक्तव्यम्	२।१।९३	स्वादीरेरिणोः	४।३।७६
सम्भ्रान्जिनशरणपिण्डेभ्यः फलाट्टाप्	३।१।४	स्वार्थेऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन् द्वे भवतः	५।३।९
सम्भूयोऽम्भसोः सखं च	३।१।८५	स्वार्थे द्वयसन्मित्रौ बहुलं वक्तव्यौ	३।४।१५८
सर्वजनाट्ठरण् खश्च वक्तव्यः	३।४।७		
सर्वत्र गोरजादिप्रसंगे यः	३।१।७०	ह	
सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः	१।३।१०१	हनो वा वध इति च वक्तव्यम्	२।१।८६
सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुं वद्भावः	१।१।३६	हन्तीत्यपि वक्तव्यम्	३।३।१५८
सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुं वद्भावः	१।३।८८	हन्तेर्हिंसायां ध्नीभावो वक्तव्यः	५।२।१३९
सर्वमद्यर्थकार्यमदेर्न भवतीति वक्तव्यमधिकरणे		हरतेर्गतिताच्छील्ये	१।२।२५
तविधं मुक्त्वा	१।२।१२२	हलसीराट्ठरण् वक्तव्यः	३।३।१६१
सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे	३।४।११४	हलिकल्योरकारान्ता गिञ्चा योगे निपात्यते	२।१।१८
सर्वसादेरसाञ्चोप्	३।२।५२	हायनाद्वयसि स्मृतः	३।१।१४
सर्वादेश्चेति वक्तव्यम्	४।१।५६	हितशब्दयोगे उपसंख्यानम्	१।४।२६
सवच्च बहुलम्	१।२।१०	हिमाञ्चैलुः	४।१।५६
सहायाद्धेति वक्तव्यम्	३।४।१२२	हिमारण्ययोर्महत्त्वे	३।१।४२
सहितसहाभ्याञ्चेति वक्तव्यम्	३।१।५६	हृदयाञ्चालुर्वा वक्तव्यः	४।१।५६
सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्	२।१।१४	हृवह्योरप्रतिषेधो वक्तव्यः	१।२।६
		होत्रायाः स्वार्थे को [छो] वक्तव्यः	३।४।१२५

जैनेन्द्रपरिभाषाणामकारादिक्रमः

अ	
अखौ हृद्युभ्यामिवर्थे ईप् तस्याश्चानुव्वक्तव्यः	४।३।१२७
अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य	४।३।३१; ४।४।१००
४।४।१२१; ४।४।१४७; ५।१।१६२; ५।३।८८	
अनित्यमागमशासनम्	४।३।१६९
अग्निस्मिन्ग्रहणेष्वर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिः	
३।१।६; ४।४।१२; ५।१।१६४; ५।४।६०	
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उन्नाधते	४।३।१२७;
५।१।१५७	
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते	
४।४।६८	
अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशस्य कार्यम्	५।२।७४
अन्यत्र धुग्रहणे ध्वादेः समुदायस्य ग्रहणम्	४।३।१९८
असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे	१।१।५८; ४।३।५५; ४।३।३५;
४।४।१७; ५।३।२८; ५।३।८७	
उ	
उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः	५।१।५८; ५।२।१३२
ए	
एकदेशविकृतस्यानन्तत्वात्	४।४।५४; ५।१।८; ५।१।१६०;
एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गानपि जग्ध्यादिविधीन् बहिरंगः	
प्यादेशो बाधते	१।४।११०
एकानुबन्धग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य	२।१।६
क	
कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्	१।१।४५; १।२।६०;
५।३।२७	
कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्	१।१।६; १।२।२२;
१।२।२६; १।३।४१; २।३।७६; ३।१।१८	
क्वौ नष्टं न स्थानिवत्	५।१।६३
ग्रामादाग्रहणेष्वविशेषः	१।४।१४६; ४।३।६२; ४।४।६५;
५।२।१४४; ५।२।१५५	

ग	
गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्	४।४।६४; ४।४।१५२;
५।२।३; ५।२।१३६	
गोरधिकारे तदन्तस्य च	५।१।१८; ५।१।३६
गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययात्	५।४।६५
च	
चविकारेष्वपवादा प्र उत्सर्गान्न बाधन्ते	५।२।१६६;
५।२।१८१	
ङ	
ङलयोः समानविषयत्वं स्मर्यते	५।३।३९
ण	
णेऽप्यण् कृतं भवति	४।४।१६३
त	
तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	५।२।८०
तदादेशास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	५।१।१०८
तन्मध्यपतितास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	४।३।१०९
तिवाक्कारकणां प्राक्सुबुत्पत्तेः कृद्भिः	
सविधिः	१।३।८२; ३।१।४३; ४।३।१६६
त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः	१।१।८; ५।३।१८;
त्यग्रहणे चाकायः	४।३।१३३
त्यात्यसंभवे त्यस्य ग्रहणम्	४।३।१६६
द	
धावित्यधिकारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणमेव	४।३।१३३
ध्वधिकारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणं न	
तदन्तविधिः	४।३।१६१
द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति	४।४।३७
ध	
धोरधिकारे तदन्तविधिरप्यस्ति	५।१।५०
धोः स्वरूपग्रहणात्तत्त्वविज्ञानम्	५।२।१; ५।२।३६;
५।३।२६	
न	
नञिव्युक्तमन्यसहशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः	१।३।६८

नानर्थकेऽन्तेऽलोऽन्त्यविधिः	४।३।८५; ५।१।१७१;	येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितैऽपि	५।१।८३
	५।४।३		
नानुबन्धकृतं हलन्तत्वम्	२।४।५	ल	
नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः	१।१।१३	लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रपिपदोक्तस्यैव	५।१।५२; ५।४।९५
निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य	४।३।१०८; ४।४।६४	लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वास्त्रिङ्गस्य	५।२।२०
	५।४।१८	व	
निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति	४।४।११६; ५।२।१५१	वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्	४।३।९९; ४।४।३३;
			४।४।४१; ५।३।५४
प		वार्णाद्गावं बलीयः	१।१।७८; १।४।११३; ४।३।३३;
पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्	२।१।४१		४।४।१७; ५।१।१३६
पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात्साधनवाचिना त्येन		व्यपदेशिवद्भावो न मृदा	५।१।५४
	५।२।१२२; ५।२।१३८	स	
पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे	५।४।६६	सकृद्गते परनिर्णये विधिर्बाधितो बाधित एव	
पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्	५।३।३६; ५।३।४६;	१।२।९०; ४।४।४३; ४।४।६४; ४।४।९४; ५।१।५५;	
	५।३।५५; ५।४।६	५।१।५७; ५।२।५; ५।२।११०	
प्रकल्प्यापवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते	१।४।१२३	सञ्ज्ञाल्पसोः पूर्वो विधिः	५।३।३९
प्रकृतिग्रहणे यद्ब्रुवन्तस्य ग्रहणम्	५।१।८५; ५।३।५५	सञ्ज्ञाविधौ त्यग्रहणात्तदन्तविधिर्नास्ति	१।१।६;
प्रकृतिवदनुकरणं भवति	२।४।४६		१।१।२०; २।१।२६
म		सन्त्यविधौ न तदन्तविधिः	१।१।६७; ५।२।१६
मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्	१।१।५३;	सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य	१।१।६४;
	२।१।१११; २।३।७६; ४।३।१७८; ४।४।७७;	२।१।३२; ५।१।८; ५।१।२१; ५।२।५५; ५।३।२८	
	५।१।१५६	सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यभावः	१।१।६;
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्	१।३।६३;		३।१।७; ४।४।१४३
४।२।६३; ४।३।१४८; ४।४।१२१; ५।४।३; ५।४।३४		सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः	१।१।६; ५।३।२८;
य			५।३।४२; ५।३।७१
यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न		स्फादिखलत्वणत्वेषु नास्ति	५।३।४६
तदन्त्यम्	५।१।२०	स्वार्थिका प्रकृतिलिङ्गसङ्ख्ये अनुवर्तन्ते	५।२।१२५
येन नाप्राप्ते तस्य तद्बाधनम्	५।२।१५; ५।३।४१		

जैनेन्द्र-गणपाठसूची

	अ				
अक्षयूतादि:	३१११४८	कर्णादि:	३१२।६०	तिकादि:	१।१।१४१
अङ् गुल्यादि:	४।१।१६२	कल्याण्यादि:	३।१।११५	तुन्दादि:	४।१।४३
अजादि:	३।१।४	कस्कदि:	५।४।३६	तृणादि:	३।२।६०
अपूपादि:	३।४।३	काशादि:	३।२।६०	तौल्वल्यादि:	१।४।१३२
अरीह्यादि:	३।२।६०	काश्यादि:	३।२।६२	त्यदादि:	१।१।६९; ५।१।१६१
अर्धर्चादि:	१।४।१०८	किसरादि:	३।३।१७२	द	
अर्शादि:	४।१।५०	कुञ्जादि:	३।१।८७	दण्डादि:	३।४।६४
अश्मादि:	३।२।६०	कुमुदादि:	३।२।६०	दधिपयआदि:	१।४।६०
अश्वपत्यादि:	३।१।६६	कुम्भपद्यादि:	३।२।८७	दामन्यादि:	३।३।२६
अश्वादि:	३।१।९६	कुर्वादि:	३।१।३९	दृढादि:	३।४।११३
आ		कुलालादि:	३।३।८७	देवपथादि:	४।१।१५४
आहिताग्न्यादि:	१।३।१०३	कृशाश्वदि:	३।२।६०	द्वारादि:	५।२।९
इ		कौशल्यादि:	३।१।१४२	द्विदण्ड्यादि:	४।२।१२६
इन्द्रजननादि:	३।३।६२	क्रोडादि:	३।१।४६	ध	
इष्टादि:	४।१।२२	क्रौड्यादि:	३।१।६५	धूमादि:	३।२।१०५
उ		कुम्भादि:	५।४।११७	न	
उगवादि:	३।४।२	ग		नडादि:	३।१।८८; ३।२।७१
उणादि:	२।२।१६७	गर्गादि:	३।१।६३	नद्यादि:	३।२।७६
उत्करादि:	३।२।७०	गवाश्वदि:	१।४।८७	प	
उत्सङ्गादि:	३।३।१३८	गहादि:	३।२।११४	पक्षादि:	३।२।६०
उत्सादि:	३।१।७१	गृष्ट्यादि:	३।१।१२४	पर्पादि:	३।३।१३३
उद्गान्नादि:	३।४।११६	गोपवनादि:	१।४।१३९	पर्वादि:	४।२।६
उपकादि:	१।४।१३९	गोपालकादि:	३।१।३८	पलयादि:	३।२।८६
उरः प्रभृति	४।२।१५१	गौरादि:	३।१।२३	पात्रेसमितादि:	१।३।४३
ऊ		घ		पामादि:	४।१।२७
ऊर्वादि:	१।२।१३२	घोषदादि:	४।१।६६	पारस्करादि:	४।३।११६
ऋ		च		पाशादि:	३।२।४१
ऋश्यादि:	३।२।६०	चादि:	१।२।१२८	पुरोहितादि:	३।४।११८
क		छ		पुष्करादि:	४।१।५६
कच्छादि:	३।२।१११	छेदादि:	३।४।६२	पूर्वादि:	१।१।४२
कडारादि:	१।३।१०४	त		पृथ्वादि:	३।४।११२
कल्यादि:	३।२।७५	तारकादि:	३।४।१५७	पैलादि:	१।४।१३१
कथादि:	३।३।२०६	तालादि:	३।३।१०५	प्रशादि:	४।२।४४
		ति रुकितवादि:	१।४।१४०	प्रादि:	१।३।८१

प्रेक्षादिः	३।२।६०	रेवत्यादिः	३।१।१३४	शुभ्रादिः	३।१।११२
प्लक्षादिः	३।३।१२२	रैवतिकदिः	३।३।९९	शौण्डादिः	१।३।३५
	ब		ल	शौनकादिः	३।३।७७
बहादिः	३।१।३१	लोमादिः	४।१।२७	रवादिः	५।२।१३
बाहादिः	३।१।८५	लोहितादिः	३।१।२१	श्रेण्यादिः	१।३।५४
ब्राह्मणादिः	३।४।११४				स
बीह्यादिः	४।१।४२		घ	सख्यादिः	३।२।६०
	भ	वरणादिः	३।२।६२	सङ्काशादिः	३।२।६०
भर्गादिः	३।१।१५८	वराहादिः	३।२।६०	सन्तापादिः	३।४।६५
भस्त्रादिः	३।३।१३६	वलादिः	३।२।६९; ४।१।५७	सपत्यादिः	३।१।३४
भिक्षादिः	३।२।३३	वाक्किनादिः	३।१।१४५	सब्रह्मचार्यादिः	४।४।१३१
भीमादिः	२।४।६१	विदादिः	३।१।६३	सर्वादः	१।१।३५
	म	विनयादिः	४।२।४०	सान्नादादिः	१।२।१४३
मनोज्ञादिः	३।४।१२३	विमुक्तादिः	४।१।६५	सिध्मादिः	४।१।२५
मयूरव्यंसकादिः	१।३।६६	वेतनादिः	३।३।१३५	सिन्ध्वादिः	३।३।६७
महिष्यादिः	३।३।१६९	व्याघ्रादिः	१।३।५१	सुखादिः	४।१।५४
	य		श	सुतङ्गमादिः	३।२।६०
यवादिः	५।३।३१	शकलादिः	३।२।८७	सुषामादिः	५।४।७२
यस्कादिः	१।४।१३४	शण्डिकादिः	३।३।६६	स्थूलादिः	४।२।११
याजकादिः	१।३।७२	शरदादिः	४।२।१०६	स्वस्त्रादिः	३।१।८
यावादिः	४।२।३५	शरादिः	३।३।१०६	स्वागतादिः	५।२।१२
युवादिः	३।४।१२०	शर्करादिः	४।१।१६१		ह
	र	शाखादिः	४।१।१५७	हरितादिः	३।१।८६
राजदन्तादिः	१।३।९६	शिवादिः	३।१।१०१	हरीतक्यादिः	३।३।१२४
राजन्यादिः	३।२।४६	शुण्डिकादिः	३।३।५०	हस्त्यादिः	४।२।१३६

जैनेन्द्र और पाणिनि-व्याकरणकी तुलनात्मक सूत्र-सूची

जैनेन्द्र-सूत्र- संख्या	पाणिनि-सूत्र- संख्या	जैनेन्द्र-सूत्र- संख्या	पाणिनि-सूत्र- संख्या	जैनेन्द्र-सूत्र- संख्या	पाणिनि-सूत्र- संख्या
११११	×	१११३३	१११२३	१११६५	१११६४
१११२	१११९	१११३४	१११२४	१११६६	१११६५
१११३	१११७	१११३५	१११२७	१११६७	१११५२
१११४	१११८	१११३६	१११२८	१११६८	१११७२
१११५	१११४५	१११३७	१११२९	१११६८	१११७३
१११६	१११४६	१११३८	१११३०	१११६९	१११७४
१११७	१११४७	१११३९	१११३१	१११७०	१११७५
१११८	१११४८	१११४०	१११३२	१११७१	×
१११९	१११४९	१११४१	१११३३	१११७२	१११६९
११११०	१११५०	१११४२	१११३४-३६	१११७३	१११७०
१११११	१११२७	१११४३	७१११६	१११७४	१११७१
११११२	१११२८	१११४४	×	१११७५	१११३७
११११३	१११२९, ३०	१११४५	१११४५	१११७५	१११३१
११११४	१११३१	१११४६	१११४६	१११७६	१११२२
११११५	११११	१११४७	१११४९	१११७७	१११३३
११११६	१११२	१११४७	१११५०	१११७८	१११३४
११११७	१११३	१११४८	१११५१	१११७९	१११३५
११११८	१११४	१११४९	१११५२	१११८०	१११३७
११११९	१११५	१११५०	१११५३	१११८१	}
१११२०	१११११	१११५१	१११५४	१११८२	१११३८
१११२१	१११२	१११५२	१११५५	१११८३	१११३९
१११२२	११११४	१११५३	१११४६	१११८४	११११०
१११२३	११११५	१११५५	१११४७	१११८५	१११११
१११२४	११११६	१११५६	१११४७	१११८६	११११२
१११२५	११११७	१११५७	१११४८	१११८७	११११३
१११२६	११११८	१११५८	१११४८	१११८८	११११४
१११२७	१११२०	१११५९	१११४९	१११८९	११११५
१११२८	१११२६	१११६०	१११५९	१११९०	११११६
१११२९	×	१११६१	१११६६, ६७	१११९१	११११७
१११३०	×	१११६२	१११६०	१११९२	११११८, १९
१११३१	१११४२	१११६३	१११६१	१११९३	१११२०
१११३२	१११४३	१११६४	१११६२	१११९४	१११२१
			१११६३	१११९५	१११२२, २३

१११९६	११२४, २६	११२३३	×	११२७१	११२७६
१११९७	११२५	११२३४	११३३८	११२७२	११३७४
१११९८	११२५१	११२३५	११३३९	११२७३	११३८९
१११९९	११२६३	११२३६	११३४०	११२७४	११३७७
१११९००	×	११२३७	११३४१	११२७५	११३७८
अध्याय १ पाद २		११२३८	११३४२	११२७६	११३७९
११२१	११३१	११२३९	११३४३	११२७७	११३८०
११२२	×	११२४०	११३४४	११२७८	११३८१
११२३	११३२	११२४१	११३४५	११२७९	११३८२
११२४	११३१०	११२४२	११३४६	११२८०	११३८३
११२५	११३११	११२४३	११३४७	११२८१	११३८४
११२६	११३१२	११२४४	११३४८	११२८२	११३८५
११२७	११३१३	११२४५	११३४९	११२८३	११३८६
११२८	११३१४	११२४६	११३५०	११२८४	११३८७
११२९	११३१५	११२४७	११३५१	११२८५	११३८८
११२१०	११३१६	११२४८	११३५२	११२८६	११३९०
११२११	११३१७	११२४९	११३५३	११२८७	११३९१
११२१२	११३१८	११२५०	११३५४	११२८८	११३९२
११२१३	११३१९	११२५१	११३५६	११२८९	११३९३
११२१४	११३२०	११२५२	११३५७	११२९०	११४२
११२१५	११३२१	११२५३ } ११२५४ }	११३५८	११२९१	×
११२१६ } ११२१७ }	११३२२	११२५५	११३५९	११२९२	११४३
११२१८	११३२३	११२५६	११३६०	११२९३	११४४
११२१९	११३२४	११२५७	११३६१	११२९४ } ११२९५ }	११४५
११२२०	११३२५	११२५८	११३६२	११२९६	११४६
११२२१	११३२६	११२५९	११३६३	११२९७	११४७
११२२२	११३२७	११२६०	११३६४	११२९८	११४८
११२२३	११३२८	११२६१	×	११२९९	११४१०
११२२४	११३२९	११२६२	११३६५	११३००	११४११
११२२५	११३३०	११२६३	११३६६	११३०१	११४१२
११२२६	११३३१	११२६४	११३६८	११३०२	११४१३
११२२७	११३३२	११२६५	११३६९	११३०३	११४१४
११२२८	११३३३	११२६६	११३७०	११३०४	११४१५
११२२९	११३३४	११२६७	११३७१	११३०५	११४१६
११२३०	११३३५	११२६८	११३७२	११३०६	११४१७
११२३१	११३३६	११२६९	११३७३	११३०७	११४१८
११२३२	११३३७	११२७०	११३७५	११३०८	११४१९

१।२।१०६	१।४।२३	१।२।१४७	१।४।७८	१।३।२५	२।१।२८
१।२।११०	१।४।२४	१।२।१४८	१।४।७९	१।३।२६	२।१।२९
१।२।१११	१।२।३२	१।२।१४९	१।४।८०	१।३।२७	२।१।३०
१।२।११२	१।४।३५	१।२।१५०	१।४।८१	१।३।२८	२।१।३१
१।२।११३	१।४।४४	१।२।१५१	१।४।१००	१।३।२९	२।१।३२
१।२।११४	१।४।४२	१।२।१५२	१।४।१०१	१।३।३०	२।१।३४, ३५
१।२।११५	१।४।४३	१।२।१५३	१।४।१०५, १०७, १०८	१।३।३१	२।१।३६
१।२।११६	१।४।४५			१।३।३२	२।१।३७
१।२।११७	१।४।४६	१।२।१५४	१।४।१०६	१।३।३३	२।१।३८
१।२।११८	१।४।४८	१।२।१५५	१।४।१०२	१।३।३४	२।१।३९
१।२।११९	१।४।४७	१।२।१५६	१।४।१०३	१।३।३५	२।१।४०
१।२।१२०	१।४।४९	१।२।१५७	१।४।१०४	१।३।३६	२।१।४१
१।२।१२१	१।४।५१	१।२।१५८	X	१।३।३७	२।१।४३
१।२।१२२ } १।२।१२३ }	१।४।५२	अध्याय १ पाद ३		१।३।३८	२।१।४४
१।२।१२४	१।४।५३	१।३।१	२।१।१	१।३।३९	२।१।४५
१।२।१२५	१।४।५४	१।३।२	२।१।३	१।३।४०	२।१।४६
१।२।१२६	१।४।५५	१।३।३	२।१।४	१।३।४१	२।१।४७
१।२।१२७	१।४।५६	१।३।४	२।१।५	१।३।४२	२।१।४२
१।२।१२८	१।४।५७	१।३।५	२।१।६	१।३।४३	२।१।४८
१।२।१२९	१।४।५८	१।३।६	२।१।७, ८	१।३।४४	२।१।४९
१।२।१३०	१।४।५९	१।३।७	२।१।९	१।३।४५	२।१।५०
१।२।१३१	१।४।६०	१।३।८	२।१।१०	१।३।४६	२।१।५१
१।२।१३२	१।४।६१	१।३।९	२।१।११	१।३।४७	२।१।५२
१।२।१३३	१।४।६२	१।३।१०	२।१।१२	१।३।४८	२।१।५३
१।२।१३४	१।४।६३	१।३।११	२।१।१४	१।३।४९	२।१।५४
१।२।१३५	१।४।६४, ६५	१।३।१२	२।१।१५	१।३।५०	२।१।५५
१।२।१३६	१।४।६६	१।३।१३	२।१।१६	१।३।५१	२।१।५६
१।२।१३७	१।४।६७, ६८	१।३।१४	२।१।१७	१।३।५२	२।१।५७
१।२।१३८	१।४।६९	१।३।१५	२।१।१८	१।३।५३	२।१।५८
१।२।१३९	१।४।७०	१।३।१६	२।१।१९	१।३।५४	२।१।५९
१।२।१४०	१।४।७१	१।३।१७	२।१।२०	१।३।५५	२।१।६०
१।२।१४१	१।४।७२	१।३।१८	२।१।२१	१।३।५६	२।१।६१
१।२।१४२	१।४।७३	१।३।१९	२।१।२२	१।३।५७	२।१।६२
१।२।१४३	१।४।७४	१।३।२० } १।३।२१ }	२।१।२४	१।३।५८	२।१।६३
१।२।१४४	१।४।७५	१।३।२२	२।१।२५	१।३।५९	२।१।६४
१।२।१४५	१।४।७६	१।३।२३	२।१।२६	१।३।६०	२।१।६५
१।२।१४६	१।४।७७	१।३।२४	२।१।२७	१।३।६१	२।१।७१
				१।३।६२	२।१।६६

१३३३ २१३७
 १३३४ २१३८
 १३३५ २१३९
 १३३६ २१४०
 १३३७ २१४१
 १३३८ २१४२
 १३३९ २१४३
 १३४० २१४४
 १३४१ ×
 १३४२ २१४५
 १३४३ ×
 १३४४ २१४६
 १३४५ २१४७
 १३४६ २१४८
 १३४७ } २१४९
 १३४८ }
 १३४९ २१५०
 १३५० २१५१
 १३५१ २१५२
 १३५२ २१५३
 १३५३ २१५४
 १३५४ २१५५
 १३५५ २१५६
 १३५६ २१५७
 १३५७ २१५८
 १३५८ २१५९
 १३५९ } २१६०
 १३६० }
 १३६१ } २१६१
 १३६२ २१६२
 १३६३ २१६३
 १३६४ २१६४
 १३६५ ×
 २३६६ २३६७
 १३६७ २३६८
 १३६८ २३६९
 १३६९ २३७०
 १३७० २३७१

१३१०१ २३१५
 १३१०२ २३१६
 १३१०३ २३१७
 १३१०४ २३१८
 १३१०५ ×

अध्याय १ पाद ४

१४१ २३१९
 १४२ २३२०
 १४३ २३२१
 १४४ २३२२
 १४५ २३२३
 १४६ २३२४
 १४७ २३२५
 १४८ २३२६
 १४९ २३२७
 १५० २३२८
 १५१ २३२९
 १५२ ×
 १५३ ×
 १५४ ×
 १५५ ×
 १५६ ×
 १५७ } २३३०
 १५८ }
 १५९ } २३३१
 १६० }
 १६१ } २३३२
 १६२ }
 १६३ } २३३३
 १६४ }
 १६५ } २३३४
 १६६ }
 १६७ } २३३५
 १६८ }
 १६९ } २३३६
 १७० }
 १७१ } २३३७
 १७२ }
 १७३ } २३३८
 १७४ }
 १७५ } २३३९
 १७६ }
 १७७ } २३४०
 १७८ }
 १७९ } २३४१
 १८० }
 १८१ } २३४२
 १८२ }
 १८३ } २३४३
 १८४ }
 १८५ } २३४४
 १८६ }
 १८७ } २३४५
 १८८ }
 १८९ } २३४६
 १९० }
 १९१ } २३४७
 १९२ }
 १९३ } २३४८
 १९४ }
 १९५ } २३४९
 १९६ }
 १९७ } २३५०
 १९८ }
 १९९ } २३५१
 २०० } २३५२
 २०१ }
 २०२ } २३५३
 २०३ }
 २०४ } २३५४
 २०५ }
 २०६ } २३५५
 २०७ }
 २०८ } २३५६
 २०९ }
 २१० } २३५७
 २११ }
 २१२ } २३५८
 २१३ }
 २१४ } २३५९
 २१५ }
 २१६ } २३६०
 २१७ }
 २१८ } २३६१
 २१९ }
 २२० } २३६२
 २२१ }
 २२२ } २३६३
 २२३ }
 २२४ } २३६४
 २२५ }
 २२६ } २३६५
 २२७ }
 २२८ } २३६६
 २२९ }
 २३० } २३६७
 २३१ }
 २३२ } २३६८
 २३३ }
 २३४ } २३६९
 २३५ }
 २३६ } २३७०
 २३७ }
 २३८ } २३७१
 २३९ }
 २४० } २३७२
 २४१ }
 २४२ } २३७३
 २४३ }
 २४४ } २३७४
 २४५ }
 २४६ } २३७५
 २४७ }
 २४८ } २३७६
 २४९ }
 २५० } २३७७
 २५१ }
 २५२ } २३७८
 २५३ }
 २५४ } २३७९
 २५५ }
 २५६ } २३८०
 २५७ }
 २५८ } २३८१
 २५९ }
 २६० } २३८२
 २६१ }
 २६२ } २३८३
 २६३ }
 २६४ } २३८४
 २६५ }
 २६६ } २३८५
 २६७ }
 २६८ } २३८६
 २६९ }
 २७० } २३८७
 २७१ }
 २७२ } २३८८
 २७३ }
 २७४ } २३८९
 २७५ }
 २७६ } २३९०
 २७७ }
 २७८ } २३९१
 २७९ }
 २८० } २३९२
 २८१ }
 २८२ } २३९३
 २८३ }
 २८४ } २३९४
 २८५ }
 २८६ } २३९५
 २८७ }
 २८८ } २३९६
 २८९ }
 २९० } २३९७
 २९१ }
 २९२ } २३९८
 २९३ }
 २९४ } २३९९
 २९५ }
 २९६ } २४००
 २९७ }
 २९८ } २४०१
 २९९ }
 ३०० } २४०२

१४३३ २३२४
 १४३४ २३२५
 १४३५ २३२६
 १४३६ २३२७
 १४३७ २३२८
 १४३८ २३२९
 १४३९ २३३०
 १४४० २३३१
 १४४१ २३३२
 १४४२ २३३३
 १४४३ २३३४
 १४४४ २३३५
 १४४५ २३३६
 १४४६ २३३७
 १४४७ २३३८
 १४४८ २३३९
 १४४९ २३४०
 १४५० २३४१
 १४५१ २३४२
 १४५२ २३४३
 १४५३ २३४४
 १४५४ २३४५
 १४५५ २३४६
 १४५६ २३४७
 १४५७ २३४८
 १४५८ २३४९
 १४५९ २३५०
 १४६० २३५१
 १४६१ २३५२
 १४६२ २३५३
 १४६३ २३५४
 १४६४ २३५५
 १४६५ २३५६
 १४६६ २३५७
 १४६७ २३५८
 १४६८ २३५९
 १४६९ २३६०
 १४७० २३६१
 १४७१ २३६२
 १४७२ २३६३
 १४७३ २३६४
 १४७४ २३६५
 १४७५ २३६६
 १४७६ २३६७
 १४७७ २३६८
 १४७८ २३६९
 १४७९ २३७०
 १४८० २३७१
 १४८१ २३७२
 १४८२ २३७३
 १४८३ २३७४
 १४८४ २३७५
 १४८५ २३७६
 १४८६ २३७७
 १४८७ २३७८
 १४८८ २३७९
 १४८९ २३८०
 १४९० २३८१
 १४९१ २३८२
 १४९२ २३८३
 १४९३ २३८४
 १४९४ २३८५
 १४९५ २३८६
 १४९६ २३८७
 १४९७ २३८८
 १४९८ २३८९
 १४९९ २३९०
 १५०० २३९१

१४७२	२३६६	१४११०	२४३६	१४१४७	२४७८
१४७३	२३७०	१४१११	२४३७ २४३८	१४१४८	२४७९
१४७४		१४११२		२४४०	१४१४९
१४७५	२३७१	१४११३	२४४१	१४१५० } २४८२	२४८२
१४७६	२३७२	१४११४	२४४२	१४१५१ } २४८३	
१४७७	२३७३	१४११५	२४४३	१४१५२	२४८४
१४७८	२४	१४११६	२४४४	१४१५३	२४८५
१४७९	२४३	१४११७	२४४५	१४१५४	२४८५
१४८०	२४४	१४११८	२४४६	अध्याय २ पाद १	
१४८१	२४५	१४११९	२४४७	२११	३११
१४८२	२४६	१४१२०	२४४८	२१२	३१२
१४८३	२४७	१४१२१	२४४९	२१३	३१५
१४८४	२४८	१४१२२	२४५०	२१४	३१६
१४८५	२४९	१४१२३	२४५१	२१५	३१७
१४८६	२४१०	१४१२४	२४५२, ५३	२१६	३१८
१४८७	२४११	१४१२५	२४५४	२१७	३१९
१४८८	२४१२	१४१२६	X	२१८	३११०
१४८९	२४१३	१४१२७	२४५५	२१९	३१११
१४९०	२४१४	१४१२८	२४५६	२११०	३११२
१४९१	२४१५	१४१२९	२४५७	२१११	३११३
१४९२	२४१६	१४१३०	२४५८	२११२	३११४
१४९३	२४१७	१४१३१	२४५९	२११३	३११५
१४९४	२४१८	१४१३२	२४६०, ६१	२११४	} ३११५ ३११७
१४९५	२४१९	१४१३३	२४६२	२११५	
१४९६	२४२०	१४१३४	२४६३	२११६	३११९
१४९७	२४२१	१४१३५	२४६४	२११७	३१२०
१४९८	२४२२	१४१३६	२४६५	२११८	३१२१
१४९९	२४२३	१४१३७	२४६६	२११९	३१२२
१५००	२४२४	१४१३८	२४६७	२१२०	३१२३
१५०१	२४२५	१४१३९	२४६८	२१२१	३१२४
१५०२	२४२६	१४१४०	२४६८	२१२२ } ३१२५	३१२५
१५०३	२४२७	१४१४१	२४७०	२१२३ } ३१२५	
१५०४	२४२९	१४१४२	२४७१	२१२४	३१२६
१५०५		१४१४३	२४७२	२१२५	३१२७
१५०६	X	१४१४४	२४७२	२१२६	३१२८
१५०७	२४३०	१४१४५	२४७४	२१२७	३१३१
१५०८	२४३१	१४१४६	२४७५	२१२८	} ३१२९, ३१३०
१५०९	२४३५			२१२९	

२।१।२६ ३।१।३२
 २।१।३० ३।१।३३
 २।१।३१ ३।१।३५
 २।१।३२ ३।१।३६
 २।१।३३ ३।१।३७
 २।१।३४ ३।१।३८
 २।१।३५ ३।१।३९
 २।१।३६ ३।१।४०
 २।१।३७ ३।१।४१
 २।१।३८ ३।१।४३, ४४
 २।१।३९ X
 २।१।४० ३।१।४५
 २।१।४१ } ३।१।४६
 २।१।४२ }
 २।१।४३ ३।१।४८
 २।१।४४ ३।१।४९
 २।१।४५ ३।१।५२
 २।१।४६ ३।१।५३
 २।१।४७ ३।१।५४
 २।१।४८ { ३।१।५५
 { ३।१।५६
 २।१।४९ ३।१।५७
 २।१।५० ३।१।५८
 २।१।५१ ३।१।६०
 २।१।५२ ३।१।६१
 २।१।५३ ३।१।६२
 २।१।५४ ३।१।६३
 २।१।५५ ३।१।६४
 २।१।५६ ३।१।६५
 २।१।५७ X
 २।१।५८ X
 २।१।५९ X
 २।१।६० ३।१।९०
 २।१।६१ ३।१।८८
 २।१।६२ X
 २।१।६३ ३।१।६७
 २।१।६४ ३।१।६८
 २।१।६५ ३।१।६९
 २।१।६६ ३।१।७०

२।१।६७ ३।१।७१
 २।१।६८ ३।१।७२
 २।१।६९ ३।१।७३
 २।१।७० ३।१।७४
 २।१।७१ ३।१।७५
 २।१।७२ ३।१।७६
 २।१।७३ ३।१।७७, ७८
 २।१।७४ ३।१।७९
 २।१।७५ ३।१।८०
 २।१।७६ ३।१।८१
 २।१।७७ ३।१।८२
 २।१।७८ ३।१।८३
 २।१।७९ ३।१।८४
 २।१।८० ३।१।८५
 २।१।८१ ३।१।८६
 २।१।८२ ३।१।८७
 २।१।८३ ३।१।८८
 २।१।८४ ३।१।८९
 २।१।८५ { ३।१।९०
 { ३।१।९१
 २।१।८६ ३।१।९२
 २।१।८७ ३।१।९३
 २।१।८८ ३।१।९४
 २।१।८९ ३।१।९५
 २।१।९० ३।१।९६
 २।१।९१ ३।१।९७
 २।१।९२ ३।१।९८
 २।१।९३ ३।१।९९
 २।१।९४ ३।१।९९
 २।१।९५ ३।१।९९
 २।१।९६ ३।१।९९
 २।१।९७ ३।१।९९
 २।१।९८ ३।१।९९
 २।१।९९ ३।१।९९

२।१।१०१ X
 २।१।१०२ ३।१।१२५
 २।१।१०३ ३।१।१२२
 २।१।१०४ ३।१।१२९
 २।१।१०५ ३।१।१३०,
 १३१, १३२
 २।१।१०६ ३।१।१३३
 २।१।१०७ ३।१।१३४
 २।१।१०८ ३।१।१३५
 २।१।१०९ ३।१।१३६
 २।१।११० ३।१।१३७
 २।१।१११ ३।१।१३८
 २।१।११२ ३।१।१३९
 २।१।११३ ३।१।१४०
 २।१।११४ } ३।१।१४१
 २।१।११५ }
 २।१।११६ ३।१।१४२
 २।१।११७ ३।१।१४३
 २।१।११८ ३।१।१४४
 २।१।११९ ३।१।१४५
 २।१।१२० ३।१।१४६,
 १४७
 २।१।१२१ ३।१।१४८
 २।१।१२२ ३।१।१४९
 २।१।१२३ ३।१।१५०
 अध्याय २ पाद २
 २।२।१ ३।२।१
 २।२।२ ३।२।२
 २।२।३ ३।२।३
 २।२।४ } ३।२।६
 २।२।५ }
 २।२।६ ३।२।७
 २।२।७ } ३।२।४
 २।२।८ }
 २।२।९ X
 २।२।१० ३।२।५
 २।२।११ ३।२।८
 २।२।१२ ३।२।८
 [वा०]

रा२१३	रा२१	रा२४६	रा२५१	रा२८७	रा२१०४
	[वा०]	रा२५० }	रा२५२, ५३	रा२८८ }	रा२१०७,
रा२१४	रा२१	रा२५१ }		रा२८९ }	१०८
रा२१५	रा२१०	रा२५२	रा२५४	रा२९०	रा२१०९
रा२१६	रा२११	रा२५३	रा२५५	रा२९१	रा२११०
रा२१७	रा२१२	रा२५४ }	{ रा२५६	रा२९२	रा२१११
रा२१८	रा२१३	रा२५५ }	{ रा२५७	रा२९३	रा२११२,
रा२१९	रा२१४	रा२५६	रा२५८		११३
रा२२०	रा२१५	रा२५७	रा२५९	रा२९४	रा२११४
रा२२१	रा२१६	रा२५८	रा२६०	रा२९५	रा२११५
रा२२२	रा२१७	रा२५९	रा२६१	रा२९६	रा२११६
रा२२३	रा२१८	रा२६०	रा२६८	रा२९७	रा२११७
रा२२४	रा२१९	रा२६१	रा२६९	रा२९८	रा२१२२
रा२२५	रा२२०	रा२६२	रा२७४	रा२९९ }	रा२११८
रा२२६	रा२२१	रा२६३	रा२७५	रा२१०० }	
रा२२७	रा२२२	रा२६४	रा२७६	रा२१०१	रा२११९
रा२२८	X	रा२६५	रा२६२	रा२१०२	रा२१२४
रा२२९	रा२२४	रा२६६	रा२७८	रा२१०३	रा२१२५
रा२३०	रा२२५	रा२६७	रा२७९	रा२१०४	रा२१२६
रा२३१	रा२२६	रा२६८	रा२८०	रा२१०५	रा२१२७
रा२३२	रा२२८	रा२६९	रा२८१	रा२१०६	रा२१२८
रा२३३	{ रा२२९	रा२७०	रा२८२	रा२१०७	रा२१२९
	{ रा२३०	रा२७१	रा२८३	रा२१०८	रा२१३०
रा२३४	रा२३१	रा२७२	रा२८४	रा२१०९	रा२१३१
रा२३५	रा२३२	रा२७३	रा२८५	रा२११०	रा२१३२
रा२३६	रा२३३, ३४	रा२७४	रा२८६	रा२१११	रा२१३३
रा२३७	रा२३५	रा२७५	रा२८७	रा२११२	रा२१३४
रा२३८	रा२३६, ३७	रा२७६	रा२८९	रा२११३	रा२१३५
रा२३९	रा२३८	रा२७७	रा२९०	रा२११४	रा२१३६
रा२४०	रा२४२	रा२७८	रा२९१	रा२११५	रा२१३८,
रा२४१	रा२४३	रा२७९	रा२९२		१३९
रा२४२	रा२४४	रा२८०	रा२९३	रा२११६	रा२१४०
रा२४३	रा२४५	रा२८१	रा२९४	रा२११७	रा२१४१
रा२४४	रा२४६	रा२८२	रा२९५	रा२११८ }	रा२१४२
रा२४५	रा२४७	रा२८३	रा२९६	रा२११९ }	
रा२४६	रा२४८	रा२८४	रा२९७	रा२१२०	रा२१४३
रा२४७	रा२४९	रा२८५	रा२९८	रा२१२१	रा२१४४
रा२४८	रा२५०	रा२८६	रा२९९	रा२१२२	रा२१४५

रा३३६८	रा३३६५	रा३३१०२	रा३३१२१	रा३३१४०	रा३३१६४
रा३३६९	रा३३६८, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७	रा३३१०३	रा३३१२२	रा३३१४१	रा३३१६५
		रा३३१०४	रा३३१२६	रा३३१४२	रा३३१६६
		रा३३१०५	रा३३१२७	रा३३१४३	रा३३१६७
		रा३३१०६	रा३३१२८	रा३३१४४	रा३३१६८
		रा३३१०७	रा३३१३१	रा३३१४५	रा३३१६९
रा३३७०	रा३३८८	रा३३१०८	रा३३१३२	रा३३१४६	रा३३१७०
रा३३७१	रा३३८९	रा३३१०९	रा३३१३३	रा३३१४७	रा३३१७१
रा३३७२	रा३३९०, ९१	रा३३११०	रा३३१३४	रा३३१४८	रा३३१७२
रा३३७३	रा३३९२	रा३३१११	रा३३१३५	रा३३१४९	रा३३१७३
रा३३७४	रा३३९३	रा३३११२	रा३३१३६	रा३३१५०	रा३३१७४
रा३३७५	रा३३९४	रा३३११३	रा३३१३७	रा३३१५१	रा३३१७५
रा३३७६	} रा३३४२	रा३३११४	रा३३१३८	रा३३१५२	रा३३१७६
रा३३७७		रा३३११५	रा३३१३९	अध्याय २ पाद ४	
रा३३७८	रा३३९७	रा३३११६	रा३३१४०	रा३३१	रा३३१
रा३३७९	रा३३९५	रा३३११७	रा३३१४१	रा३३२	रा३३२
रा३३८०	रा३३९८	रा३३११८	रा३३१४२	रा३३३	रा३३३
रा३३८१	रा३३९९	रा३३११९	रा३३१४३	रा३३४	रा३३४
रा३३८२	रा३३१००	रा३३१२०	रा३३१४४	रा३३५	रा३३५
रा३३८३	रा३३१०१	रा३३१२१	रा३३१४५	रा३३६	रा३३६
रा३३८४	रा३३१०२	रा३३१२२	रा३३१४६	रा३३७	रा३३७
रा३३८५	रा३३१०३	रा३३१२३	रा३३१४७	रा३३८	रा३३८
रा३३८६	रा३३१०४	रा३३१२४	रा३३१४८	रा३३९	रा३३९
रा३३८७	रा३३१०५	रा३३१२५	रा३३१४९	रा३३१०	रा३३१०
रा३३८८	रा३३१०६	रा३३१२६	रा३३१५०	रा३३११	रा३३११
रा३३८९	रा३३१०७	रा३३१२७	रा३३१५१	रा३३१२	रा३३१२
रा३३९०	रा३३१०९	रा३३१२८	रा३३१५२	रा३३१३	रा३३१३
रा३३९१	रा३३११०	रा३३१२९	रा३३१५३	रा३३१४	रा३३१४
रा३३९२	रा३३१११	रा३३१३०	रा३३१५४	रा३३१५	रा३३१५
रा३३९३	रा३३११२	रा३३१३१	रा३३१५५	रा३३१६	रा३३१६
रा३३९४	रा३३११३	रा३३१३२	रा३३१५६	रा३३१७	रा३३१७
रा३३९५	रा३३११४	रा३३१३३	रा३३१५७	रा३३१८	रा३३१८
रा३३९६	×	रा३३१३४	रा३३१५८	रा३३१९	रा३३१९
रा३३९७	रा३३११५	रा३३१३५	रा३३१५९	रा३३२०	रा३३२०
रा३३९८	रा३३११६	रा३३१३६	रा३३१६०	रा३३२१	रा३३२१
रा३३९९	रा३३११७	रा३३१३७	रा३३१६१	रा३३२२	रा३३२२
रा३३१००	रा३३११८	रा३३१३८	रा३३१६२	रा३३२३	रा३३२३
रा३३१०१	रा३३१२०	रा३३१३९	रा३३१६३	रा३३२४	रा३३२४

२।४।२५ २।४।३६
 २।४।२६ २।४।४०
 २।४।२७ २।४।३८
 २।४।२८ २।४।४१
 २।४।२९ २।४।४२
 २।४।३० २।४।४३
 २।४।३१ २।४।४४
 २।४।३२ २।४।४५
 २।४।३३ २।४।४६
 २।४।३४ २।४।४८
 २।४।३५ २।४।४९
 २।४।३६ २।४।५०, ५१
 २।४।३७ २।४।५२
 २।४।३८ २।४।५३
 २।४।३९ २।४।५४
 २।४।४० २।४।५५
 २।४।४१ २।४।५६
 २।४।४२ २।४।५७
 २।४।४३ २।४।५८
 २।४।४४ २।४।५९
 २।४।४५ २।४।६०
 २।४।४६ २।४।६१
 २।४।४७ २।४।६२
 २।४।४८ २।४।६३
 २।४।४९ २।४।६४
 २।४।५० २।४।६५
 २।४।५१ २।४।६६
 २।४।५२ २।४।६७
 २।४।५३ २।४।६८
 २।४।५४ २।४।६९
 २।४।५५ २।४।७०
 २।४।५६ २।४।७१
 २।४।५७ } २।४।७२
 २।४।५८ }
 २।४।५९ २।४।७६
 २।४।६० २।४।७३
 २।४।६१ २।४।७४
 २।४।६२ २।४।७५

२।४।६३ २।४।७७
 २।४।६४ २।४।७८
 २।४।६५ २।४।७९
 २।४।६६ २।४।८०
 २।४।६७ २।४।८१
 २।४।६८ २।४।८२
 २।४।६९ २।४।८३
 २।४।७० } २।४।८४
 २।४।७१ }
 २।४।७२ २।४।८५
 २।४।७३ २।४।८६
 २।४।७४ २।४।८७
 २।४।७५ २।४।८९
 २।४।७६ २।४।९०
 २।४।७७ २।४।९१
 २।४।७८ २।४।९२
 २।४।७९ २।४।९३
 २।४।८० २।४।९६
 २।४।८१ २।४।१००
 २।४।८२ २।४।१०१
 २।४।८३ २।४।१०२
 २।४।८४ २।४।१०३
 २।४।८५ २।४।१०४
 २।४।८६ २।४।१०५,
 १०६
 २।४।८७ २।४।१०७
 २।४।८८ २।४।१०८
 २।४।८९ २।४।१०९
 २।४।९० २।४।११०
 २।४।९१ २।४।१११
 २।४।९२ २।४।११२
 २।४।९३ २।४।११३
 २।४।९४ २।४।११४
 २।४।९५ २।४।११५
 २।४।९६ २।४।११६
 २।४।९७ }
 २।४।९८ }
 २।४।९९ २।४।११७
 २।४।१०० २।४।११८
 २।४।१०१ २।४।११९
 २।४।१०२ २।४।१२०
 २।४।१०३ २।४।१२१
 २।४।१०४ २।४।१२२
 २।४।१०५ २।४।१२३
 २।४।१०६ २।४।१२४
 २।४।१०७ २।४।१२५
 २।४।१०८ २।४।१२६
 २।४।१०९ २।४।१२७
 २।४।११० २।४।१२८
 २।४।१११ २।४।१२९
 २।४।११२ २।४।१३०
 २।४।११३ २।४।१३१
 २।४।११४ २।४।१३२
 २।४।११५ २।४।१३३
 २।४।११६ २।४।१३४
 २।४।११७ २।४।१३५
 २।४।११८ २।४।१३६
 २।४।११९ २।४।१३७
 २।४।१२० २।४।१३८
 २।४।१२१ २।४।१३९
 २।४।१२२ २।४।१४०

अध्याय ३ पाद १

२।१।३ ४।१।३
 २।१।४ ४।१।४
 २।१।५ ४।१।७५
 २।१।६ ४।१।५, ६
 २।१।७ ४।१।७
 २।१।८ ४।१।१०
 २।१।९ ४।१।११
 २।१।१० ४।१।१२
 २।१।११ ४।१।१३
 २।१।१२ ४।१।१९
 २।१।१३ ४।१।२५
 २।१।१४ ४।१।२६, २७
 २।१।१५ ४।१।८
 २।१।१६ ४।१।९
 २।१।१७ ४।१।१४
 २।१।१८ ४।१।१५
 २।१।१९ ४।१।१६
 २।१।२० ४।१।१७
 २।१।२१ ४।१।१८
 २।१।२२ ४।१।१९
 २।१।२३ ४।१।४१
 २।१।२४ ४।१।२०
 २।१।२५ ४।१।२१
 २।१।२६ } ४।१।२२
 २।१।२७ }
 २।१।२८ ४।१।२३
 २।१।२९ ४।१।२४
 २।१।३० ४।१।४४
 २।१।३१ ४।१।४५
 २।१।३२ ४।१।३२
 २।१।३३ ४।१।३३
 २।१।३४ ४।१।३५
 २।१।३५ ४।१।३४
 २।१।३६ ४।१।३९
 २।१।३७ ४।१।४२
 २।१।३८ ४।१।४८
 २।१।३९ ४।१।३६
 २।१।४० ४।१।३७

३११४१	४११३८	३११७६	४११६३	३११११६	४१११२७
३११४२	४११४६	३११८०	४११६४	३११११७	४१११२८
३११४३	४११५०	३११८१	४११६३	३११११८	४१११३०
३११४४	४११५१	३११८२	४११६४	३११११९	४१११२९
३११४५	४११५२	३११८३	४११६५	३१११२०	४१११३१
३११४६	४११५३	३११८४	४११६६,	३१११२१	४१११३२,
३११४७	४११५४		१६७		१३४
३११४८	४११५५	३११८५	४११६५, ९६	३१११२२	४१११३३
३११४९	४११५६	३११८६	४११९७	३१११२३	४१११३५
३११५०	४११५७	३११८७	४११९८	३१११२४	४१११३६
३११५१	४११५८	३११८८	४११९९	३१११२५	४१११३८
३११५२	४११६२	३११८९	४११९००	३१११२६	४१११३७
३११५३	४११६३	३११९०	४११९०१	३१११२७	४१११४०
३११५४	४११६४	३११९१	४११९०२	३१११२८	४१११३९
३११५५	४११६५	३११९२	४११९०३	३१११२९	
३११५६	४११६६	३११९३	४११९०४	३१११३०	४१११४१
३११५७	४११६८	३११९४	४११९०५	३१११३१	४१११४२
३११५८	४११६९	३११९५	४११९०६	३१११३२	४१११४३
३११५९	४११७०	३११९६	४११९०७	३१११३३	४१११४४
३११६०	४११६७, ७१	३११९७	४११९०८	३१११३४	४१११४६
३११६१	४११७६	३११९८	४११९०९	३१११३५	४१११४७
३११६२	४११७७	३११९९	४११९१०	३१११३६	४१११४८
३११६३	४११७८	३११९००	४११९११	३१११३७	४१११४९
३११६४	४११७९	३११९०१	४११९१२	३१११३८	४१११५०
३११६५	४११८०	३११९०२	४११९१३	३१११३९	४१११५१
३११६६	४११८१	३११९०३	४११९१४	३१११४०	४१११५२,
३११६७	४११८२	३११९०४	४११९१५		१५३
३११६८	४११८३	३११९०५	४११९१६	३१११४१	४१११५४
३११६९	४११८४	३११९०६	४११९१७	३१११४२	४१११५५
३११७०	४११८५	३११९०७	४११९१८	३१११४३	४१११५६
३११७१	४११८६	३११९०८	४११९१९	३१११४४	४१११५७
३११७२	४११८७	३११९०९	४११९२०	३१११४५	४१११५८
३११७३	४११८९	३११९१०	४११९२१	३१११४६	४१११५९
३११७४	४११८८	३११९११	४११९२२	३१११४७	४१११६०
३११७५	४११९०	३११९१२	४११९२३	३१११४८	४१११६१
३११७६	४११९१	३११९१३	४११९२४	३१११४९	४१११७४
३११७७	४११९२	३११९१४	४११९२५	३१११५०	४१११६८
३११७८	४११९३	३११९१५	४११९२६	३१११५१	४१११६९

३१११५२	४१११७०
३१११५३	४१११७१, १७२
३१११५४	४१११७३
३१११५५	×
३१११५६	४१११७५
३१११५७	४१११७६
३१११५८	४१११७७, १७८

अध्याय ३ पाद २

३१११	४१११
३११२	×
३११३	४११२
३११४	४११३
३११५	४११४
३११६	४११५
३११७	४११६
३११८	४११७
३११९	४११८
३१११०	४१११९
३११११	४११२०
३१११२	४११२१
३१११३	४११२२
३१११४	४११२३
३१११५	४११२४
३१११६	४११२५
३१११७	४११२६
३१११८	४११२७
३१११९	४११२८
३११२०	४११२९
३११२१	४११३०
३११२२	४११३१
३११२३	४११३२
३११२४	४११३३
३११२५	४११३४
३११२६	४११३५
३११२७	४११३६
३११२८	४११३७

३११२९	४११३८
३११३०	४११३९
३११३१	४११४०
३११३२	४११४१
३११३३	४११४२
३११३४	४११४३
३११३५	४११४४
३११३६	४११४५
३११३७	४११४६
३११३८	४११४७
३११३९	४११४८
३११४०	४११४९
३११४१	४११५०
३११४२	४११५१
३११४३	४११५२
३११४४	४११५३
३११४५	४११५४
३११४६	४११५५
३११४७	४११५६
३११४८	४११५७
३११४९	४११५८
३११५०	४११५९
३११५१	४११६०
३११५२	४११६१
३११५३	४११६२
३११५४	४११६३
३११५५	४११६४
३११५६	४११६५
३११५७	४११६६
३११५८	४११६७
३११५९	४११६८
३११६०	४११६९, ७०
३११६१	४११७०
३११६२	४११७१
३११६३	४११७२
३११६४	४११७३
३११६५	४११७४
३११६६	४११७५
३११६७	४११७६

३११६७	४११७७
३११६८	४११७८
३११६९	४११७९
३११७०	४११८०
३११७१	४११८१
३११७२	४११८२
३११७३	४११८३
३११७४	४११८४
३११७५	४११८५
३११७६	४११८६
३११७७	४११८७
३११७८	४११८८
३११७९	४११८९
३११८०	४११९०
३११८१	४११९१
३११८२	४११९२
३११८३	४११९३
३११८४	४११९४
३११८५	४११९५
३११८६	४११९६
३११८७	४११९७
३११८८	×
३११८९	४११९८
३११९०	४११९९
३११९१	४१२००
३११९२	४१२०१
३११९३	४१२०२
३११९४	४१२०३
३११९५	४१२०४
३११९६	४१२०५
३११९७	४१२०६
३११९८	४१२०७
३११९९	४१२०८
३१२००	४१२०९
३१२०१	४१२१०
३१२०२	४१२११
३१२०३	४१२१२
३१२०४	४१२१३
३१२०५	४१२१४
३१२०६	४१२१५
३१२०७	४१२१६

३३३७७	४३३१०६	३३३११४	४३३१५६	३३३१५२	४३३१९
३३३७८	४३३१०७	३३३११५	४३३१५६	३३३१५३	४३३३०
३३३७९	४३३१०८	३३३११६	४३३१५७	३३३१५४	४३३३१
३३३८०	४३३१०९	३३३११७	४३३१५८	३३३१५५	४३३३२, ३३
३३३८१	४३३११०	३३३११८	४३३१६०	३३३१५६	४३३३४
३३३८२	४३३१११	३३३११९	४३३१६१	३३३१५७	४३३३५
३३३८३	४३३११४	३३३१२०	४३३१६२	३३३१५८	४३३३६
३३३८४	४३३११५	३३३१२१	४३३१६३	३३३१५९	४३३३७, ३८
३३३८५	४३३११६	३३३१२२	४३३१६४	३३३१६०	४३३३९
३३३८६	४३३११७	३३३१२३	४३३१६५	३३३१६१	४३३४०
३३३८७	४३३११८	३३३१२४	४३३१६७	३३३१६२	४३३४१
३३३८८	४३३१२०	३३३१२५	४३३१६८	३३३१६३	४३३४२
३३३८९	४३३१२१	३३३१२६	४३३१	३३३१६४	४३३४३
३३३९०	४३३१२२	३३३१२७	४३३२	३३३१६५	४३३४४
३३३९१	४३३१२३	३३३१२८	४३३३	३३३१६६	४३३४५
३३३९२	४३३१२४	३३३१२९	४३३४	३३३१६७	४३३४६
३३३९३	४३३१२५	३३३१३०	४३३५	३३३१६८	४३३४७
३३३९४	४३३१२६	३३३१३१	४३३७	३३३१६९	४३३४८, ४९
३३३९५	४३३१२७	३३३१३२	४३३८	३३३१७०	४३३५०
३३३९६	४३३१२८	३३३१३३	४३३९	३३३१७१	४३३५१
३३३९७	४३३१२९	३३३१३४	४३३९	३३३१७२	४३३५३
३३३९८	४३३१३०	३३३१३५	४३३९	३३३१७३	४३३५४
३३३९९	४३३१३१	३३३१३६	४३३९	३३३१७४	४३३५५
३३३९००	४३३१३२	३३३१३७	४३३९	३३३१७५	४३३५६
३३३९०१	४३३१३३	३३३१३८	४३३९	३३३१७६	४३३५७
३३३९०२	४३३१३४	३३३१३९	४३३९	३३३१७७	४३३५९
३३३९०३	४३३१३५	३३३१४०	४३३९	३३३१७८	४३३६०
३३३९०४	४३३१३६	३३३१४१	४३३९	३३३१७९	४३३६१
३३३९०५	४३३१३७	३३३१४२	४३३९	३३३१८०	४३३६२
३३३९०६	४३३१३८	३३३१४३	४३३९ वा०	३३३१८१	४३३६३
३३३९०७	४३३१४२	३३३१४४	४३३९	३३३१८२	४३३६४
३३३९०८	४३३१४३	३३३१४५	४३३९	३३३१८३	४३३६५
३३३९०९	४३३१४४	३३३१४६	४३३९	३३३१८४	४३३६६
३३३९१०	४३३१४६	३३३१४७	४३३९	३३३१८५	४३३६८
३३३९११	४३३१४७	३३३१४८	४३३९	३३३१८६	४३३६९
३३३९१२	४३३१४८	३३३१४९	४३३९	३३३१८७	४३३७०
३३३९१३	४३३१४५, १४८	३३३१५०	४३३९	३३३१८८	४३३७१
		३३३१५१	४३३९	३३३१८९	४३३७२

३३३१९०	४४७३,७४	३४१७	प्रा११८	३४१५५	प्रा११५६
३३३१९१	४४७६	३४१८	प्रा११९	३४१५६	प्रा११५७,५८
३३३१९२	४२१७७	३४१९	प्रा१२०	३४१५७	X
३३३१९३	४४७८,७९	३४२०	प्रा१२१	३४१५८	प्रा११५९
३३३१९४	४४८३	३४२१	प्रा१२२	३४१५९	५११६०
३३३१९५	४४८२,८४	३४२२	प्रा१२३	३४१६०	प्रा११६१
	८५,८६,८७	३४२३	X	३४१६१	X
	८८, ८९, ९०	३४२४	प्रा१२४	३४१६२	प्रा११६४
३३३१९६ } ३३३१९७ }	४४९१	३४२५	प्रा१२५	३४१६३	५११६५
३३३१९८	४४९२	३४२६	प्रा१२६	३३१६४	प्रा११६६
३३३१९९	४४९३	३४२७	प्रा१२७,	३४१६५	प्रा११६८
३३३२००	४४९४	३४२८	प्रा१२८,३१	३४१६६	प्रा११६९,७०
३३३२०१	४४९५	३४२९	प्रा१२९	३४१६७	प्रा११७१
३३३२०२	४४९८	३४३०	प्रा१३०	३४१६८	प्रा११७२
३३३२०३	४४९९	३४३१ } ३४३२ }	प्रा१३१	३४१६९	प्रा११७३
३३३२०४	४४१००	३४३३	प्रा१३२	३४१७०	प्रा११७४
३३३२०५	४४१०१	३४३४	प्रा१३३	३४१७१	प्रा११७५
३३३२०६	४४१०२	३४३५	प्रा१३४	३४१७२	प्रा११७६
३३३२०७	४४१०४	३४३६	प्रा१३५	३४१७३	प्रा११७७
३३३२०८	४४१०५	३४३७	प्रा१३६	३४१७४	प्रा११७८
		३४३८ } ३४३९ }	प्रा१३७	३४१७५	प्रा११७९
		३४४०	प्रा१३८	३४१७६	प्रा११८०
		३४४१	प्रा१३९	३४१७७	प्रा११८१
		३४४२	प्रा१४०	३४१७८ } ३४१७९ }	प्रा११८२
		३४४३	प्रा१४१	३४१८०	प्रा११८३
		३४४४ } ३४४५ }	प्रा१४२	३४१८१	प्रा११८४
		३४४६	प्रा१४३	३४१८२	प्रा११८५
		३४४७	प्रा१४४	३४१८३	प्रा११८६
		३४४८	प्रा१४५	३४१८४	प्रा११८७
		३४४९	प्रा१४६	३४१८५	प्रा११८८
		३४५०	प्रा१४७	३४१८६	प्रा११८९
		३४५१	प्रा१४८	३४१८७	प्रा११९०
		३४५२	प्रा१४९	३४१८८	प्रा११९१
		३४५३	प्रा१५०	३४१८९	प्रा११९२
		३४५४	प्रा१५१	३४१९०	प्रा११९३
		३४५५	प्रा१५२	३४१९१	प्रा११९४
		३४५६	प्रा१५३	३४१९२	प्रा११९५
		३४५७	प्रा१५४	३४१९३	प्रा११९६
		३४५८	प्रा१५५	३४१९४	प्रा११९७
		३४५९	प्रा१५६	३४१९५	प्रा११९८
		३४६०	प्रा१५७	३४१९६	प्रा११९९
		३४६१	प्रा१५८	३४१९७	प्रा१२००
		३४६२	प्रा१५९	३४१९८	प्रा१२०१
		३४६३	प्रा१६०	३४१९९	प्रा१२०२
		३४६४	प्रा१६१	३४२००	प्रा१२०३
		३४६५	प्रा१६२	३४२०१	प्रा१२०४
		३४६६	प्रा१६३	३४२०२	प्रा१२०५
		३४६७	प्रा१६४	३४२०३	प्रा१२०६
		३४६८	प्रा१६५	३४२०४	प्रा१२०७
		३४६९	प्रा१६६	३४२०५	प्रा१२०८
		३४७०	प्रा१६७	३४२०६	प्रा१२०९
		३४७१	प्रा१६८	३४२०७	प्रा१२१०
		३४७२	प्रा१६९	३४२०८	प्रा१२११
		३४७३	प्रा१७०	३४२०९	प्रा१२१२
		३४७४	प्रा१७१	३४२१०	प्रा१२१३
		३४७५	प्रा१७२	३४२११	प्रा१२१४
		३४७६	प्रा१७३	३४२१२	प्रा१२१५
		३४७७	प्रा१७४	३४२१३	प्रा१२१६
		३४७८	प्रा१७५	३४२१४	प्रा१२१७
		३४७९	प्रा१७६	३४२१५	प्रा१२१८
		३४८०	प्रा१७७	३४२१६	प्रा१२१९
		३४८१	प्रा१७८	३४२१७	प्रा१२२०
		३४८२	प्रा१७९	३४२१८	प्रा१२२१
		३४८३	प्रा१८०	३४२१९	प्रा१२२२
		३४८४	प्रा१८१	३४२२०	प्रा१२२३
		३४८५	प्रा१८२	३४२२१	प्रा१२२४
		३४८६	प्रा१८३	३४२२२	प्रा१२२५
		३४८७	प्रा१८४	३४२२३	प्रा१२२६
		३४८८	प्रा१८५	३४२२४	प्रा१२२७
		३४८९	प्रा१८६	३४२२५	प्रा१२२८
		३४९०	प्रा१८७	३४२२६	प्रा१२२९
		३४९१	प्रा१८८	३४२२७	प्रा१२३०
		३४९२	प्रा१८९	३४२२८	प्रा१२३१
		३४९३	प्रा१९०	३४२२९	प्रा१२३२
		३४९४	प्रा१९१	३४२३०	प्रा१२३३
		३४९५	प्रा१९२	३४२३१	प्रा१२३४
		३४९६	प्रा१९३	३४२३२	प्रा१२३५
		३४९७	प्रा१९४	३४२३३	प्रा१२३६
		३४९८	प्रा१९५	३४२३४	प्रा१२३७
		३४९९	प्रा१९६	३४२३५	प्रा१२३८
		३५००	प्रा१९७	३४२३६	प्रा१२३९

अध्याय ३ पाद ४

३४१	प्रा११
३४२	प्रा१२
३४३	प्रा१४
३४४	प्रा१५
३४५	प्रा१६,७
३४६	प्रा१८
३४७	प्रा१९
३४८ } ३४९ }	प्रा११०
३४१०	प्रा१११
३४११	प्रा११२
३४१२	प्रा११३
३४१३	प्रा११४
३४१४	प्रा११५
३४१५	प्रा११६
३४१६	प्रा११७

३४१३	प्रा११६६
३४१४	प्रा११००
३४१५	प्रा११०१
३४१६	प्रा११०२
३४१७	प्रा११०३
३४१८	प्रा११०४
३४१९	प्रा११०५
३४१००	प्रा११०७
३४१०१	प्रा११०८
३४१०२	प्रा११०९
३४१०३	प्रा१११०
३४१०४	प्रा११११
३४१०५	प्रा१११२
३४१०६	प्रा१११७
३४१०७	प्रा१११५
३४१०८	प्रा१११६
३४१०९	
३४११०	प्रा१११६
३४१११	प्रा११२०
३४११२	प्रा११२२
३४११३	प्रा११२३
३४११४	प्रा११२४
३४११५	प्रा११२१
३४११६	प्रा११२५, १२६
३४११७	प्रा११२७
३४११८	प्रा११२८
३४११९	प्रा११२९
३४१२०	प्रा११३०
३४१२१	प्रा११३१
३४१२२	प्रा११३२
३४१२३	प्रा११३३
३४१२४	प्रा११३४
३४१२५	प्रा११३५
३४१२६	प्रा११३६
३४१२७	प्रा११३७
३४१२८	प्रा११३८
३४१२९	प्रा११३९
३४१३०	प्रा११४०
३४१३१	प्रा११४१
३४१३२	प्रा११४२
३४१३३	प्रा११४३
३४१३४	प्रा११४४
३४१३५	प्रा११४५
३४१३६	प्रा११४६

३४१३०	प्रा११५
३४१३१	प्रा११६
३४१३२	प्रा११७
३४१३३	प्रा११८
३४१३४	प्रा११९, १३, १४
३४१३५	प्रा११०
३४१३६	प्रा१११
३४१३७	प्रा११२
३४१३८	प्रा११५
३४१३९	प्रा११६
३४१४०	प्रा११७
३४१४१	प्रा११८, १९, २०, २१, २२, २३
३४१४२	प्रा११५३
३४१४३	प्रा११५४
३४१४४	प्रा११२४
३४१४५	प्रा११२५
३४१४६	प्रा११२६
३४१४७	प्रा११२७
३४१४८	प्रा११२८
३४१४९	प्रा११२९
३४१५०	प्रा११३०
३४१५१	प्रा११३१
३४१५२	प्रा११३२
३४१५३	प्रा११३३
३४१५४	
३४१५५	प्रा११३४
३४१५६	प्रा११३५
३४१५७	प्रा११३६
३४१५८	प्रा११३७
३४१५९	प्रा११३८
३४१६०	प्रा११३९
३४१६१	प्रा११४०
३४१६२	
३४१६३	प्रा११४१
३४१६४	प्रा११४२
३४१६५	प्रा११४३
३४१६६	प्रा११४४

३४१६७	प्रा११४५
३४१६८	प्रा११४६
३४१६९	प्रा११४७
अध्याय ४ पाद १	
४१११	प्रा११४८
४११२	प्रा११४९
४११३	प्रा११५१
४११४	प्रा११५२
४११५	प्रा११५३
४११६	प्रा११५४
४११७	प्रा११५५
४११८	प्रा११५७
४११९	प्रा११५८
४११०	प्रा११५६
४१११	प्रा११७७
४११२	प्रा११७८
४११३	×
४११४	प्रा११८२
४११५	प्रा११८३
४११६	प्रा११८१
४११७	४११६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७९, ८०, ८४, ८०, ९१, ९२, ९३
४११८	प्रा११८५
४११९	प्रा११८६
४१२०	
४१२१	प्रा११८७
४१२२	प्रा११८८
४१२३	प्रा११८४
४१२४	प्रा११९६
४१२५	प्रा११९७
४१२६	प्रा११९९
४१२७	प्रा१२००
४१२८	प्रा१२०१
४१२९	प्रा१२०२
४१३०	प्रा१२०३

४११३१	प्रा११०४	४११६८	प्रा३१२	४१११०७	प्रा३१४४
४११३२	प्रा११०५	४११६९	प्रा३१३	४१११०८	प्रा३१४५
४११३३	प्रा११०७	४११७०	प्रा३१४	४१११०९	प्रा३१४६
४११३४	प्रा११०८	४११७१ } ४११७२ }	प्रा३१५	४११११०	प्रा३१४७
४११३५	प्रा११०९	४११७३	प्रा३१७	४१११११	प्रा३१५०
४११३६	प्रा१११०	४११७४	प्रा३१८	४११११२	प्रा३१५१
४११३७	प्रा११११	४११७५	प्रा३१९	४११११३	प्रा३१५२
४११३८	प्रा१११२	४११७६	प्रा३११०	४११११४	प्रा३१५५
४११३९	प्रा१११३	४११७७	प्रा३१११	४११११५	प्रा३१५६
४११४०	प्रा१११४	४११७८	प्रा३११२	४११११६	६३१५७
४११४१	प्रा१११५	४११७९	प्रा३११४	४११११७	×
४११४२	प्रा१११६	४११८०	प्रा३११५	४११११८	प्रा३१५८
४११४३	प्रा१११७	४११८१	प्रा३१६	४११११९	प्रा३१६०
४११४४	प्रा१११८	४११८२	प्रा३११६	४१११२०	प्रा३१६१
४११४५	प्रा१११९	४११८३	प्रा३११७	४१११२१	प्रा३१६२
४११४६	प्रा११२०	४११८४	प्रा३११८	४१११२२	प्रा३१६३
४११४७	प्रा११२१	४११८५	प्रा३११९	४१११२३	प्रा३१६४
४११४८	प्रा११२४	४११८६	प्रा३१२१	४१११२४	प्रा३१६५
४११४९	प्रा११२५	४११८७ } ४११८८ }	प्रा३१२२	४१११२६	प्रा३१६७
४११५०	प्रा११२७	४११८९	प्रा३१२३	४१११२७	प्रा३१६८
४११५१	प्रा११२८	४११९०	प्रा३१२४, २५	४१११२८	प्रा३१६९
४११५२	प्रा११२९	४११९१	×	४१११२९	प्रा३१७०
४११५३	प्रा११३०	४११९२ } ४११९३ }	प्रा३१२७	४१११३०	प्रा११७१, ७२
४११५४	प्रा११३१	४११९४	प्रा३१२८	४१११३१	प्रा३१७३, ७४
४११५५	प्रा११३२	४११९५	प्रा३१२९	४१११३२	प्रा३१७६
४११५६	प्रा११३५	४११९६	प्रा३१३०	४१११३३	प्रा३१७७
४११५७	प्रा११३६	४११९७	प्रा३१३१, ३२	४१११३४	प्रा३१७८
४११५८	प्रा११३७	४११९८	प्रा३१३४	४१११३५	प्रा३१७९
४११५९	प्रा११३९	४११९९	प्रा३१३५	४१११३६	प्रा३१८०
४११६० } ४११६१ }	प्रा११३८	४११९९	प्रा३१३६	४१११३७	प्रा३१८१
४११६२	प्रा११४०, १२३	४११९९	प्रा३१३७	४१११३८	प्रा३१८२
४११६३	प्रा११५९	४११९९	प्रा३१३८	४१११३९	प्रा३१८३
४११६४	प्रा११६०	४११९९	प्रा३१३९	४१११४०	प्रा३१८४
४११६५	प्रा११६१	४११९९	प्रा३१४०	४१११४१	प्रा३१८५
४११६६	प्रा११६२	४११९९	प्रा३१४१	४१११४२	प्रा३१८६
४११६७	प्रा११६५	४११९९	प्रा३१४२	४१११४३	प्रा३१८८
		४११९९		४१११४४	प्रा३१८९

૪૧૧૧૪૫	પ્રા૩૧૬૦
૪૧૧૧૪૬	પ્રા૩૧૬૧
૪૧૧૧૪૭	પ્રા૩૧૬૨
૪૧૧૧૪૮	પ્રા૩૧૬૩
૪૧૧૧૪૯	પ્રા૩૧૬૪
૪૧૧૧૫૦	પ્રા૩૧૬૬
૪૧૧૧૫૧	પ્રા૩૧૬૭
૪૧૧૧૫૨	પ્રા૩૧૬૮
૪૧૧૧૫૩	પ્રા૩૧૬૯
૪૧૧૧૫૪	પ્રા૩૧૭૦
૪૧૧૧૫૫	પ્રા૩૧૭૧
૪૧૧૧૫૬	પ્રા૩૧૭૨
૪૧૧૧૫૭	પ્રા૩૧૭૩
૪૧૧૧૫૮	પ્રા૩૧૭૪
૪૧૧૧૫૯	પ્રા૩૧૭૫
૪૧૧૧૬૦	પ્રા૩૧૭૬
૪૧૧૧૬૧	પ્રા૩૧૭૭
૪૧૧૧૬૨	પ્રા૩૧૭૮
૪૧૧૧૬૩	પ્રા૩૧૭૯
૪૧૧૧૬૪	પ્રા૩૧૮૦

અધ્યાય ૪ પાદ ૨

૪૨૧૧	પ્રા૩૧૧૨
૪૨૧૨	પ્રા૩૧૧૩
૪૨૧૩	પ્રા૩૧૧૪
૪૨૧૪	પ્રા૩૧૧૫
૪૨૧૫	પ્રા૩૧૧૬
૪૨૧૬	પ્રા૩૧૧૭
૪૨૧૭ } ૪૨૧૮ }	પ્રા૩૧૧૮
૪૨૧૯	પ્રા૩૧૧૯
૪૨૧૦	પ્રા૪૧, ૨
૪૨૧૧	પ્રા૪૩
૪૨૧૨	પ્રા૪૪
૪૨૧૩	પ્રા૪૫
૪૨૧૪	પ્રા૪૬
૪૨૧૫ } ૪૨૧૬ }	પ્રા૪૭
૪૨૧૭	પ્રા૪૮

૪૨૧૧૮	પ્રા૪૯
૪૨૧૧૯	પ્રા૪૧૦
૪૨૧૨૦	પ્રા૪૧૧
૪૨૧૨૧	પ્રા૪૧૫
૪૨૧૨૨	પ્રા૪૧૪
૪૨૧૨૩	પ્રા૪૧૬
૪૨૧૨૪	પ્રા૪૧૭
૪૨૧૨૫	પ્રા૪૧૮
૪૨૧૨૬	પ્રા૪૧૯
૪૨૧૨૭	પ્રા૪૨૦
૪૨૧૨૮	પ્રા૪૨૧
૪૨૧૨૯	પ્રા૪૨૨
૪૨૧૩૦	પ્રા૪૨૩
૪૨૧૩૧	પ્રા૪૨૪
૪૨૧૩૨	પ્રા૪૨૫
૪૨૧૩૩	પ્રા૪૨૬
૪૨૧૩૪	પ્રા૪૨૭
૪૨૧૩૫	પ્રા૪૨૮, ૨૯
૪૨૧૩૬	પ્રા૪૩૦
૪૨૧૩૭	પ્રા૪૩૧
૪૨૧૩૮	પ્રા૪૩૨
૪૨૧૩૯	પ્રા૪૩૩
૪૨૧૪૦	પ્રા૪૩૪
૪૨૧૪૧	પ્રા૪૩૫
૪૨૧૪૨	પ્રા૪૩૬
૪૨૧૪૩	પ્રા૪૩૭
૪૨૧૪૪	પ્રા૪૩૮
૪૨૧૪૫	પ્રા૪૩૯
૪૨૧૪૬	પ્રા૪૪૦
૪૨૧૪૭	પ્રા૪૪૨
૪૨૧૪૮	પ્રા૪૪૩
૪૨૧૪૯	પ્રા૪૪૪
૪૨૧૫૦	પ્રા૪૪૫
૪૨૧૫૧	પ્રા૪૪૬
૪૨૧૫૨	પ્રા૪૪૭
૪૨૧૫૩	પ્રા૪૪૮
૪૨૧૫૪	પ્રા૪૪૯
૪૨૧૫૫	પ્રા૪૫૦

૪૨૧૫૬	પ્રા૪૫૧
૪૨૧૫૭	પ્રા૪૫૨
૪૨૧૫૮	પ્રા૪૫૩
૪૨૧૫૯	પ્રા૪૫૪
૪૨૧૬૦	પ્રા૪૫૫
૪૨૧૬૧	પ્રા૪૫૭
૪૨૧૬૨	પ્રા૪૫૮
૪૨૧૬૩	પ્રા૪૫૯
૪૨૧૬૪	પ્રા૪૬૦, ૬૧, ૬૨, ૬૩, ૬૪, ૬૬, ૬૭,
૪૨૧૬૫	પ્રા૪૬૮
૪૨૧૬૬	પ્રા૪૬૯, ૭૦
૪૨૧૬૭	પ્રા૪૭૧
૪૨૧૬૮	પ્રા૪૭૨
૪૨૧૬૯	પ્રા૪૭૩
૪૨૧૭૦	પ્રા૪૭૪
૪૨૧૭૧	પ્રા૪૭૫
૪૨૧૭૨	પ્રા૪૭૬
૪૨૧૭૩	}
૪૨૧૭૪	
૪૨૧૭૫	
૪૨૧૭૬	
૪૨૧૭૭	
૪૨૧૭૮	}
૪૨૧૭૯	
૪૨૧૮૦	પ્રા૪૭૮
૪૨૧૮૧	પ્રા૪૭૯
૪૨૧૮૨	}
૪૨૧૮૩	
૪૨૧૮૪	પ્રા૪૮૧
૪૨૧૮૫	પ્રા૪૮૨
૪૨૧૮૬	પ્રા૪૮૩, ૮૪
૪૨૧૮૭	પ્રા૪૮૫
૪૨૧૮૮	પ્રા૪૮૬
૪૨૧૮૯	પ્રા૪૮૭
૪૨૧૯૦	પ્રા૪૮૮
૪૨૧૯૧	પ્રા૪૮૯
૪૨૧૯૨	પ્રા૪૯૦

४रा६३	प्रा४६१
४रा६४	प्रा४६२
४रा६५	प्रा४६३
४रा६६	प्रा४६४
४रा६७	प्रा४६५
४रा६८	प्रा४६६
४रा९६	} प्रा४६७
४रा१००	
४रा१०१	प्रा४६८
४रा१०२	प्रा४६९
४रा१०३	प्रा४१००
४रा१०४	प्रा४१०१
४रा१०५	प्रा४१०२
४रा१०६	प्रा४१०४
४रा१०७	प्रा४१०५
४रा१०८	प्रा४१०६
४रा१०९	प्रा४१०७
४रा११०	प्रा४१०८
४रा१११	प्रा४१०९
४रा११२	प्रा४११०, १११, ११२
४रा११३	प्रा४११३
४रा११४	प्रा४११४
४रा११५	प्रा४११५
४रा११६	प्रा४११६
४रा११७	प्रा४११७
४रा११८	प्रा४११८
४रा११७	प्रा४११९
४रा१२०	} प्रा४१२०
४रा१२१	
४रा१२२	
४रा१२३	प्रा४१२१
४रा१२४	प्रा४१२२
४रा१२५	प्रा४१२४
४रा१२६	प्रा४१२५
४रा१२७	प्रा४१२७
४रा१२८	प्रा४१२७
४रा१२९	प्रा४१२८

४रा१३०	प्रा४१२९
४रा१३१	प्रा४१३०
४रा१३२	प्रा४१३१
४रा१३३	प्रा४१३२
४रा१३४	प्रा४१३३
४रा१३५	प्रा४१३४
प्रा४१३६	प्रा४१३५
४रा१३७	प्रा४१३६
४रा१३८	प्रा४१३७
४रा१३९	प्रा४१३८
४रा१४०	प्रा४१४०
४रा१४१	प्रा४१३९
४रा१४२	प्रा४१४१
४रा१४३	प्रा४१४३
४रा१४४	प्रा४१४४
४रा१४५	प्रा४१४५
४रा१४६	प्रा४१४६
४रा१४७	प्रा४१४७
४रा१४८	प्रा४१४८
४रा१४९	प्रा४१४९
४रा१५०	प्रा४१५०
४रा१५१	प्रा४१५१
४रा१५२	प्रा४१५२
४रा१५३	प्रा४१५३
४रा१५४	प्रा४१५४
४रा१५५	प्रा४१५५
४रा१५६	प्रा४१५६
४रा१५७	प्रा४१५७
४रा१५८	प्रा४१५८
४रा१५९	प्रा४१६०
अध्याय ४ पाद ३	
४३१	दा११
४३२	दा१२
४३३	दा१३
४३४	दा१५
४३५	दा१६
४३६	दा१४
४३७	दा१८

४३८	दा१९
४३९	दा११३
४३१०	दा११४
४३११	दा११५
४३१२	दा११६
४३१३	दा११७
४३१४	दा११८
४३१५	दा११९
४३१६	दा१२१
४३१७	दा१२२
४३१८	दा१२३
४३१९	दा१२४
४३२०	दा१२५
४३२१	दा१२६
४३२२	दा१२७
४३२३	} दा१२८
४३२४	
४३२५	
४३२६	दा१२९
४३२७	दा१३०
४३२८	दा१३१
४३२९	दा१३२
४३३०	दा१३३
४३३१	दा१३७
४३३२	दा१३८
४३३३	दा१३९
४३३४	दा१४१
४३३५	दा१४२
४३३६	दा१४३
४३३७	दा१४४
४३३८	दा१४५
४३३९	दा१४६
४३४०	दा१४७
४३४१	दा१४८
४३४२	दा१४९
४३४३	दा१५०
४३४४	दा१५१
४३४५	दा१५३

જા રા ૪૬	દા ૧૧૫૪	જા રા ૮૪	દા ૧૧૯૭	જા રા ૧૧૭	૧૫૬, ૧૫૭
જા રા ૪૭	દા ૧૧૫૫	જા રા ૮૫	દા ૧૧૯૮	જા રા ૧૧૮	X
જા રા ૪૮	દા ૧૧૫૬	જા રા ૮૬	દા ૧૧૯૯	જા રા ૧૧૯	રા ૪૩૨
જા રા ૪૯	૭૩૪૦	જા રા ૮૭	દા ૧૨૦૦	જા રા ૧૨૦	રા ૪૩૪
જા રા ૫૦	દા ૧૧૫૭	જા રા ૮૮	દા ૧૨૦૧	જા રા ૧૨૦	દા રા ૧
જા રા ૫૧	દા ૧૧૫૮	જા રા ૮૯	} દા ૧૨૦૨	જા રા ૧૨૧	દા રા ૨
જા રા ૫૨	દા ૧૧૫૯	જા રા ૯૦		જા રા ૧૨૨	દા રા ૩
જા રા ૫૩	દા ૧૧૬૪	જા રા ૯૧	દા ૧૨૦૩	જા રા ૧૨૩	દા રા ૪
જા રા ૫૪	દા ૧૧૬૫	જા રા ૯૨	દા ૧૨૦૪	જા રા ૧૨૪	દા રા ૫
જા રા ૫૫	દા ૧૧૬૬	જા રા ૯૩	દા ૧૨૦૫	જા રા ૧૨૫	દા રા ૬
જા રા ૫૬	દા ૧૧૬૮	જા રા ૯૪	દા ૧૨૦૭	જા રા ૧૨૬	દા રા ૭, ૮
જા રા ૫૭	} દા ૧૧૬૯	જા રા ૯૫	દા ૧૨૦૮	જા રા ૧૨૭	દા રા ૯
જા રા ૫૮		જા રા ૯૬	દા ૧૨૦૯	જા રા ૧૨૮	} દા રા ૧૦
જા રા ૫૯	દા ૧૧૭૧	જા રા ૯૭	દા ૧૨૧૦	જા રા ૧૨૯	
જા રા ૬૦	દા ૧૧૭૨	જા રા ૯૮	દા ૧૨૧૧	જા રા ૧૩૦	દા રા ૧૨
જા રા ૬૧	દા ૧૧૭૩	જા રા ૯૯	દા ૧૨૧૨	જા રા ૧૩૧	દા રા ૧૨
જા રા ૬૨	દા ૧૧૭૪	જા રા ૧૦૦	દા ૧૨૧૩, ૧૨૪	જા રા ૧૩૨	દા રા ૧૪
જા રા ૬૩	દા ૧૧૭૫	જા રા ૧૦૧	દા ૧૨૨૪	જા રા ૧૩૩	દા રા ૧૭
જા રા ૬૪	દા ૧૧૭૬	જા રા ૧૦૨	દા ૧૨૨૩	જા રા ૧૩૪	દા રા ૨
જા રા ૬૫	દા ૧૧૭૭	જા રા ૧૦૩	દા ૧૨૨૫	જા રા ૧૩૫	દા રા ૨૨
જા રા ૬૬	દા ૧૧૭૮	જા રા ૧૦૪	દા ૧૨૨૭	જા રા ૧૩૬	દા રા ૨૩
જા રા ૬૭	દા ૧૧૭૯	જા રા ૧૦૫	દા ૧૨૨૮	જા રા ૧૩૭	દા રા ૨૪
જા રા ૬૮	} દા ૧૨૦૧	જા રા ૧૦૬	દા ૧૨૨૯	જા રા ૧૩૮	દા રા ૨૫
જા રા ૬૯		જા રા ૧૦૭	દા ૧૨૩૦	જા રા ૧૩૯	દા રા ૨૬
જા રા ૭૦	દા ૧૨૦૦	જા રા ૧૦૮	દા ૧૨૩૧	જા રા ૧૪૦	દા રા ૨૭
જા રા ૭૧	દા ૧૨૦૨	જા રા ૧૦૯	દા ૧૨૩૨	જા રા ૧૪૧	દા રા ૨૮
જા રા ૭૨	દા ૧૨૦૪	જા રા ૧૧૦	દા ૧૨૩૭	જા રા ૧૪૨	દા રા ૨૯
જા રા ૭૩	દા ૧૨૦૫	જા રા ૧૧૧	દા ૧૨૩૮	જા રા ૧૪૩	દા રા ૩૦
જા રા ૭૪	દા ૧૨૦૬	જા રા ૧૧૨	દા ૧૨૩૯	જા રા ૧૪૪	દા રા ૩૧
જા રા ૭૫	દા ૧૨૦૭	જા રા ૧૧૩	દા ૧૨૪૦	જા રા ૧૪૫	દા રા ૩૨
જા રા ૭૬	દા ૧૨૦૮	જા રા ૧૧૪	દા ૧૨૪૧	જા રા ૧૪૬	દા રા ૩૪
જા રા ૭૭	દા ૧૨૦૯	જા રા ૧૧૫	દા ૧૨૪૨	જા રા ૧૪૭	દા રા ૩૫
જા રા ૭૮	દા ૧૨૧૦	જા રા ૧૧૬	દા ૧૨૪૩,	જા રા ૧૪૮	દા રા ૩૬
જા રા ૭૯	દા ૧૨૧૧		૧૪૪, ૧૪૫,	જા રા ૧૪૯	દા રા ૩૭
જા રા ૮૦	દા ૧૨૧૨		૧૪૬, ૧૪૭,	જા રા ૧૫૦	દા રા ૩૮
જા રા ૮૧	દા ૧૨૧૪		૧૪૮, ૧૪૯,	જા રા ૧૫૧	દા રા ૩૯
જા રા ૮૨	દા ૧૨૧૫		૧૫૦, ૧૫૨,	જા રા ૧૫૨	દા રા ૪૦
જા રા ૮૩	દા ૧૨૧૬		૧૫૩, ૧૫૪,	જા રા ૧૫૩	દા રા ૪૧

४३११५४	४३१४२	४३११६२	४३१८४, ८५	४३१२२६	४३१२८
४३११५५	४३१४३	४३११६३	४३१८६	४३१२३०	४३१२२९
४३११५६	४३१४४	४३११६४	४३१८८	४३१२३१	४३१२३०
४३११५७	४३१४५	४३११६५	४३१८९	४३१२३२	४३१२३७
४३११५८	४३१४६	४३११६६	४३१९०	४३१२३३	४३१२३८
४३११५९	४३१४७, ४८	४३११६७	४३१९१	४३१२३४	४३१२३६
४३११६०	४३१४९	४३११६८	४३१९२	अध्याय ४ पाद ४	
४३११६१	४३१५०	४३११९९	४३१९३	४४१	४४१
४३११६२	४३१५१	४३१२००	४३१९४	४४२	४४२
४३११६३	४३१५२	४३१२०१	४३१९५	४४३	४४३, ४
४३११६४	४३१५३	४३१२०२	४३१९७	४४४	४४६
४३११६५	४३१५४	४३१२०३	४३१९८	४४५	४४७
४३११६६	४३१५५	४३१२०४	४३१९९	४४६	४४८
४३११६७	४३१५६	४३१२०५		४४७	४४१०
४३११६८	४३१५७	४३१२०६	४३१२००	४४८	४४११
४३११६९	४३१५८	४३१२०७	४३१२०१	४४९	४४१२
४३११७०	४३१५९	४३१२०८	४३१२०२	४४१०	
४३११७१	४३१६०	४३१२०९	४३१२०३	४४११	४४१३
४३११७२	४३१६१	४३१२१०	४३१२०४	४४१२	४४१४
४३११७३	४३१६३, ६४	४३१२११	४३१२०५	४४१३	४४१५
४३११७४	४३१६२	४३१२१२	४३१२०६	४४१४	४४१६
४३११७५	४३१६५	४३१२१३	४३१२०७	४४१५	४४१७
४३११७६	४३१६६	४३१२१४	४३१२०९	४४१६	४४१८
४३११७७	४३१६७	४३१२१५	४३१२१०	४४१७	४४१९
४३११७८	४३१६८	४३१२१६	४३१२११	४४१८	४४२०
४३११७९	४३१७०	४३१२१७	४३१२१२	४४१९	४४२१
४३११८०	४३१७२	४३१२१८	४३१२१५	४४२०	४४२८
४३११८१	४३१७३, ७४	४३१२१९	४३१२१६	४४२१	४४२२
४३११८२		४३१२२०	४३१२१७	४४२२	४४२३
४३११८३	४३१७५	४३१२२१	४३१२१८	४४२३	४४२४
४३११८४	४३१७६	४३१२२२	४३१२१९,	४४२४	४४२५
४३११८५	४३१७७		१२०	४४२५	४४२६
४३११८६	४३१७८	४३१२२३	४३१२२१	४४२६	×
४३११८७	४३१७९	४३१२२४	४३१२२३	४४२७	४४२७
४३११८८	४३१८०	४३१२२५	४३१२२४	४४२८	४४२८, २९
४३११८९	४३१८१	४३१२२६	४३१२२२	४४२९	४४३०
४३११९०	४३१८२	४३१२२७	४३१२२५	४४३०	४४३१
४३११९१	४३१८३	४३१२२८	४३१२२७	४४३१	४४३२

४४१४४	दा४१५४	प्रा११४	० ७११७	प्रा११५२	७११७३
४४१४५	दा४१५५	प्रा११५	७११८	प्रा११५३	७११७४
४४१४६	दा४१५५ वा०	प्रा११६	७११९	प्रा११५४	७११७५
४४१४७	दा४१५६	प्रा११७	७१२०	प्रा११५५	७११७६
४४१४८ } ४४१४९ }	दा४१५७	प्रा११८	७१२१	प्रा११५६	७११७८
४४१५०	दा४१५८	प्रा११९	७१२२	प्रा११५७	७११७९
४४१५१	दा४१५८	प्रा१२०	७१२३	प्रा११५८	७११८०
४४१५२	दा४१५९	प्रा१२१	७१२४	प्रा११५९	७११८१
४४१५३	दा४१६०	प्रा१२२	७१२५	प्रा११६०	७११८२
४४१५४	दा४१६१	प्रा१२३	७१२७	प्रा११६१	७११८४
४४१५५	दा४१६३	प्रा१२४	७१२८	प्रा११६२	७११८५
४४१५५	दा४१६४	प्रा१२५	७१२९	प्रा११६३	७११८६
४४१५६	दा४१७३	प्रा१२६	७१३०	प्रा११६४	७११८७
४४१५७	दा४१६५, १६६	प्रा१२७	७१३१	प्रा११६५	७११८८
		प्रा१२८	७१३२	प्रा११६६	७११८९
४४१५८	दा४१६७	प्रा१२९	७१३३	प्रा११६७	७११९०
४४१५९	दा४१६८	प्रा१३०	७१३५	प्रा११६८	७११९१
४४१६०	दा४१६९	प्रा१३१	७१३७	प्रा११६९	७११९२
४४१६१	दा४१७०	प्रा१३२ } प्रा१३३ }	७१३७	प्रा११७०	७११९३
४४१६२	दा४१७१	प्रा१३३	७१३७	प्रा११७१	७११९४
४४१६३	दा४१७२	प्रा१३४	७१३७	प्रा११७२	७११९८
४४१६४ } ४४१६५ } ४४१६६ }	दा४१७४	प्रा१३५ प्रा१३६ प्रा१३७	७१३७ ७१३७ ७१३७	प्रा११७३ प्रा११७४, पुपु प्रा११७५	७११९९ ७१२०० ७१२०१
		प्रा१३८	७१३७	प्रा११७६	७१२०२
		प्रा१३९	७१३७	प्रा११७७	७२१
		प्रा१४०	७१३७	प्रा११७८ } प्रा११७९ }	७२२, ३
		प्रा१४१	७१३७	प्रा११८०	७२४
		प्रा१४२	७१३७	प्रा११८१	७२५
		प्रा१४३	७१३७	प्रा११८२	७२६
		प्रा१४४	७१३७	प्रा११८३	७२७
		प्रा१४५	७१३७	प्रा११८४	७२३५
		प्रा१४६	७१३७	प्रा११८५	७२३७
		प्रा१४७	७१३७	प्रा११८६	७२३८
		प्रा१४८	७१३७	प्रा११८७	७२३९
		प्रा१४९	७१३७	प्रा११८८	७२४०
		प्रा१५०	७१३७	प्रा११८९	७२४१
		प्रा१५१	७१३७	प्रा११९०	७२४२

अध्याय ५ पाद १

प्रा११	७११	प्रा१३९	७१६०	प्रा११७७	७२१
प्रा१२	७१२	प्रा१४०	७१६१	प्रा११७८ } प्रा११७९ }	७२२, ३
प्रा१३	७१३	प्रा१४१	७१६२	प्रा११८०	७२४
प्रा१४	७१४	प्रा१४२	७१६३	प्रा११८१	७२५
प्रा१५	७१५	प्रा१४३	७१६४	प्रा११८२	७२६
प्रा१६	७१६	प्रा१४४	७१६५	प्रा११८३	७२७
प्रा१७	७१७	प्रा१४५	७१६६	प्रा११८४	७२३५
प्रा१८	७१८	प्रा१४६	७१६७	प्रा११८५	७२३७
प्रा१९	७१९	प्रा१४७	७१६८	प्रा११८६	७२३८
प्रा२०	७२०	प्रा१४८	७१६९	प्रा११८७	७२३९
प्रा२१	७२१	प्रा१४९	७२३०	प्रा११८८	७२४०
प्रा२२	७२२	प्रा१५०	७२३१	प्रा११८९	७२४१
प्रा२३	७२३	प्रा१५१	७२३२	प्रा११९०	७२४२

ପ୍ରା ୧୧୦	ଭା ୧୪୨		୨୦, ୨୧, ୨୨,	ପ୍ରା ୧୧୬୩	ଭା ୧୦୪, ୧୦୫
ପ୍ରା ୧୧୧	ଭା ୧୪୩		୨୩, ୨୫, ୨୬	ପ୍ରା ୧୧୬୪	ଭା ୧୦୬
ପ୍ରା ୧୧୨	ଭା ୧୪୪	ପ୍ରା ୧୧୨୭	ଭା ୧୨୪	ପ୍ରା ୧୧୬୫	ଭା ୧୦୭
ପ୍ରା ୧୧୩	ଭା ୧୪୫	ପ୍ରା ୧୧୨୮	ଭା ୧୨୭	ପ୍ରା ୧୧୬୬	ଭା ୧୦୮
ପ୍ରା ୧୧୪	ଭା ୧୪୬	ପ୍ରା ୧୧୨୯	ଭା ୧୩୦	ପ୍ରା ୧୧୬୭	ଭା ୧୦୯
ପ୍ରା ୧୧୫	ଭା ୧୪୭	ପ୍ରା ୧୧୩୦	ଭା ୧୩୧	ପ୍ରା ୧୧୬୮	ଭା ୧୧୦
ପ୍ରା ୧୧୬	ଭା ୧୪୮	ପ୍ରା ୧୧୩୧	ଭା ୧୩୨	ପ୍ରା ୧୧୬୯	ଭା ୧୧୧
ପ୍ରା ୧୧୭	ଭା ୧୪୯	ପ୍ରା ୧୧୩୨	ଭା ୧୩୩	ପ୍ରା ୧୧୭୦	ଭା ୧୧୨
ପ୍ରା ୧୧୮	ଭା ୧୫୦	୧୧୩୩	ଭା ୧୩୪	ପ୍ରା ୧୧୭୧	ଭା ୧୧୩
ପ୍ରା ୧୧୯	ଭା ୧୫୧	ପ୍ରା ୧୧୩୪	ଭା ୧୩୫	ଅଧ୍ୟାୟ ୫ ପାଦ ୨	
ପ୍ରା ୧୧୧୦	ଭା ୧୫୨	ପ୍ରା ୧୧୩୫	ଭା ୧୩୬	ପ୍ରା ୧୧	ଭା ୧୧୪
ପ୍ରା ୧୧୧୧	ଭା ୧୫୩	ପ୍ରା ୧୧୩୬	ଭା ୧୩୮	ପ୍ରା ୧୧୨	X
ପ୍ରା ୧୧୧୨	ଭା ୧୫୪	ପ୍ରା ୧୧୩୭	ଭା ୧୩୭	ପ୍ରା ୧୧୩	ଭା ୧୧୫
ପ୍ରା ୧୧୧୩	ଭା ୧୫୫	ପ୍ରା ୧୧୩୮	ଭା ୧୩୯	ପ୍ରା ୧୧୪	ଭା ୧୧୬
ପ୍ରା ୧୧୧୪	ଭା ୧୫୬	ପ୍ରା ୧୧୩୯	ଭା ୧୪୦	୧୧୧୫	ଭା ୧୧୭
ପ୍ରା ୧୧୧୫	ଭା ୧୫୭	ପ୍ରା ୧୧୪୦	ଭା ୧୪୧	ପ୍ରା ୧୧୬	ଭା ୧୧୮
ପ୍ରା ୧୧୧୬	ଭା ୧୫୮	୧୧୪୧	ଭା ୧୪୨	ପ୍ରା ୧୧୭	ଭା ୧୧୯
ପ୍ରା ୧୧୧୭	ଭା ୧୫୯	ପ୍ରା ୧୧୪୨	ଭା ୧୪୩	ପ୍ରା ୧୧୮	ଭା ୧୨୦
ପ୍ରା ୧୧୧୮	ଭା ୧୬୦,	ପ୍ରା ୧୧୪୩	ଭା ୧୪୪	ପ୍ରା ୧୧୯	ଭା ୧୨୧
	୬୧, ୬୨	ପ୍ରା ୧୧୪୪	ଭା ୧୪୫	ପ୍ରା ୧୧୧୦	ଭା ୧୨୨
ପ୍ରା ୧୧୧୯	ଭା ୧୬୩	ପ୍ରା ୧୧୪୫	ଭା ୧୪୬	ପ୍ରା ୧୧୧୧	ଭା ୧୨୩
ପ୍ରା ୧୧୧୧୦	ଭା ୧୬୬	ପ୍ରା ୧୧୪୬	ଭା ୧୪୭	ପ୍ରା ୧୧୧୨	ଭା ୧୨୪
ପ୍ରା ୧୧୧୧୧	ଭା ୧୬୯	ପ୍ରା ୧୧୪୭	ଭା ୧୪୮	ପ୍ରା ୧୧୧୩	ଭା ୧୨୫
ପ୍ରା ୧୧୧୧୨	X	ପ୍ରା ୧୧୪୮	ଭା ୧୪୯	ପ୍ରା ୧୧୧୪	ଭା ୧୨୬
ପ୍ରା ୧୧୧୧୩	} ଭା ୧୬୮	ପ୍ରା ୧୧୪୯	ଭା ୧୫୦	ପ୍ରା ୧୧୧୫	ଭା ୧୨୭
ପ୍ରା ୧୧୧୧୪		ପ୍ରା ୧୧୫୦	ଭା ୧୫୧	ପ୍ରା ୧୧୧୬	ଭା ୧୨୮
ପ୍ରା ୧୧୧୧୫	ଭା ୧୭୦	ପ୍ରା ୧୧୫୧	ଭା ୧୫୨	ପ୍ରା ୧୧୧୭	ଭା ୧୨୯
ପ୍ରା ୧୧୧୧୬	ଭା ୧୬୯	ପ୍ରା ୧୧୫୨	ଭା ୧୫୩	ପ୍ରା ୧୧୧୮	ଭା ୧୩୦
ପ୍ରା ୧୧୧୧୭	ଭା ୧୬୯	ପ୍ରା ୧୧୫୩	ଭା ୧୫୪	ପ୍ରା ୧୧୧୯	ଭା ୧୩୧
ପ୍ରା ୧୧୧୧୮	ଭା ୧୭୦	ପ୍ରା ୧୧୫୪	ଭା ୧୫୫	ପ୍ରା ୧୧୨୦	ଭା ୧୩୨
ପ୍ରା ୧୧୧୧୯	ଭା ୧୭୩	ପ୍ରା ୧୧୫୫	ଭା ୧୫୬	ପ୍ରା ୧୧୨୧	ଭା ୧୩୩
ପ୍ରା ୧୧୧୨୦	ଭା ୧୭୪	ପ୍ରା ୧୧୫୬	ଭା ୧୫୭	ପ୍ରା ୧୧୨୨	ଭା ୧୩୪
ପ୍ରା ୧୧୧୨୧	ଭା ୧୭୫	ପ୍ରା ୧୧୫୭	ଭା ୧୫୮	ପ୍ରା ୧୧୨୩	ଭା ୧୩୫
ପ୍ରା ୧୧୧୨୨	ଭା ୧୭୬	ପ୍ରା ୧୧୫୮	ଭା ୧୫୯	ପ୍ରା ୧୧୨୪	ଭା ୧୩୬
ପ୍ରା ୧୧୧୨୩	ଭା ୧୭୭	ପ୍ରା ୧୧୫୯	ଭା ୧୬୦	ପ୍ରା ୧୧୨୫	ଭା ୧୩୭
ପ୍ରା ୧୧୧୨୪	ଭା ୧୭୮	ପ୍ରା ୧୧୬୦	ଭା ୧୬୧	ପ୍ରା ୧୧୨୬	ଭା ୧୩୮
ପ୍ରା ୧୧୧୨୫	ଭା ୧୭୯, ୩୦	ପ୍ରା ୧୧୬୧	ଭା ୧୬୨	ପ୍ରା ୧୧୨୭	ଭା ୧୩୯
ପ୍ରା ୧୧୧୨୬	ଭା ୧୮୦, ୧୧,	ପ୍ରା ୧୧୬୨	ଭା ୧୬୩	ପ୍ରା ୧୧୨୮	ଭା ୧୪୦

प्रा०२६	अ०२४	प्रा०६७	अ०६७	प्रा०१०४	अ०१०६
प्रा०३० } प्रा०३१ }	अ०२५	प्रा०६८	अ०६१, ६२ ६४, ६८	प्रा०१०५	अ०११०
प्रा०३२	अ०२६, २७	प्रा०६९	अ०७२	प्रा०१०६	अ०१११
प्रा०३३	अ०२८, २९	प्रा०७०	अ०७३	प्रा०१०७	अ०११२
प्रा०३४	अ०३०	प्रा०७१	अ०७१	प्रा०१०८	अ०११३
प्रा०३५	अ०३१	प्रा०७२	अ०७४	प्रा०१०९	अ०११४
प्रा०३६	अ०३२	प्रा०७३	अ०७५	प्रा०११०	अ०११६
प्रा०३७	अ०३४	प्रा०७४	अ०७६	प्रा०१११	अ०११७
प्रा०३८	अ०३३	प्रा०७५	अ०७७	प्रा०११२	अ०११८, ११९
प्रा०३९	अ०३४	प्रा०७६	अ०७८	प्रा०११३	अ०१२०
प्रा०४०	अ०३५	प्रा०७७	अ०७९	प्रा०११४	×
प्रा०४१	अ०३६	प्रा०७८	अ०८०	प्रा०११५	अ०४१
प्रा०४२	अ०३७	प्रा०७९	अ०८२	प्रा०११६	अ०४३
प्रा०४३	अ०३८	प्रा०८०	अ०८३	प्रा०११७	अ०४४
प्रा०४४	अ०३८ वा०	प्रा०८१	अ०८४	प्रा०११८	अ०४५
प्रा०४५ } प्रा०४६ }	अ०३९	प्रा०८२	अ०८५	प्रा०११९	अ०४६
प्रा०४७	अ०४३	प्रा०८३	अ०८३	प्रा०१२०	अ०४७
प्रा०४८	अ०४३	प्रा०८४	×	प्रा०१२१	अ०४९
प्रा०४९	अ०४१	प्रा०८५	अ०८७	प्रा०१२२	अ०४१०
प्रा०५०	अ०४२	प्रा०८६	अ०८८	प्रा०१२३	अ०४११
प्रा०५१	अ०४३	प्रा०८७	अ०८९	प्रा०१२४	अ०४१२
प्रा०५२	अ०४६	प्रा०८८	अ०९०	प्रा०१२५	अ०४१३
प्रा०५३	अ०४७	प्रा०८९	अ०९१	प्रा०१२६	अ०४१४
प्रा०५४	अ०४८, ४९	प्रा०९०	अ०९२	प्रा०१२७	अ०४१५
प्रा०५५	अ०५०	प्रा०९१	अ०९३	प्रा०१२८	अ०४१७, १८, १९, २०
प्रा०५६	अ०५१	प्रा०९२	अ०९४	प्रा०१२९	अ०४१६
प्रा०५७	अ०५२	प्रा०९३	अ०९६	प्रा०१३०	अ०४२१
प्रा०५८	×	प्रा०९४	अ०९८, ९९	प्रा०१३१	अ०४२२
प्रा०५९	अ०५३	प्रा०९५	अ०९०	प्रा०१३२	अ०४२३
प्रा०६०	अ०५४	प्रा०९६	अ०९१	प्रा०१३३	अ०४२४
प्रा०६१	अ०५५	प्रा०९७	अ०९२	प्रा०१३४	अ०४२५
प्रा०६२	अ०५६	प्रा०९८	अ०९३	प्रा०१३५	अ०४२६
प्रा०६३	अ०५७	प्रा०९९	अ०९४	प्रा०१३६	अ०४२७
प्रा०६४	अ०५८	प्रा०१००	अ०१००	प्रा०१३७	अ०४२८
प्रा०६५	अ०६३	प्रा०१०१	अ०१०६	प्रा०१३८	अ०४२९
प्रा०६६	अ०६५	प्रा०१०२	अ०१०७	प्रा०१३९	अ०४३०
प्रा०६६	अ०६६	प्रा०१०३	अ०१०८	प्रा०१४०	अ०४३०

प्रा३१४० ७४३१
 प्रा३१४१ ७४३२
 प्रा३१४२ ७४३३
 प्रा३१४३ ७४३४
 प्रा३१४४ ७४४०
 प्रा३१४५ ७४४१
 प्रा३१४६ ७४४२
 प्रा३१४७ ७४४३
 प्रा३१४८ ७४४६
 प्रा३१४९ ७४४७
 प्रा३१५० ७४४८
 प्रा३१५१ ७४४९
 प्रा३१५२ ७४५०
 प्रा३१५३ ७४५१
 प्रा३१५४ ७४५२
 प्रा३१५५ ७४५४
 प्रा३१५६ ७४५४ वा०
 प्रा३१५७ ७४५५
 प्रा३१५८ ७४५६
 प्रा३१५९ ७४५७
 प्रा३१६० ७४५८
 प्रा३१६१ ७४६०
 प्रा३१६२ ७४६१
 प्रा३१६३ ७४६१
 प्रा३१६४ ७४६२
 प्रा३१६५ ७४६३
 प्रा३१६६ ७४६६
 प्रा३१६७ ७४६७
 प्रा३१६८ ७४६८
 प्रा३१६९ ७४६९
 प्रा३१७० ७४७०
 प्रा३१७१ ७४७१
 प्रा३१७२ ७४७२
 प्रा३१७३ ७४७३
 प्रा३१७४ ७४७५
 प्रा३१७५ ७४७६
 प्रा३१७६ ७४७७
 प्रा३१७७ ७४७९

प्रा३१७८ " ७४८०
 प्रा३१७९ ७४८१
 प्रा३१८० ७४८२
 प्रा३१८१ ७४८३
 प्रा३१८२ ७४८४
 प्रा३१८३ ७४८५
 प्रा३१८४ ७४८६
 प्रा३१८५ ७४८७, ८८
 प्रा३१८६ ७४८९
 प्रा३१८७ ७४९०
 प्रा३१८८ ७४९१
 प्रा३१८९ ७४९२
 प्रा३१९० ७४९३
 प्रा३१९१ ७४९४
 प्रा३१९२ ७४९५
 प्रा३१९३ ७४९६
 प्रा३१९४ ७४९७
 प्रा३१९
 प्रा३२
 प्रा३३
 प्रा३४
 प्रा३५
 प्रा३६
 प्रा३७
 प्रा३८
 प्रा३९
 प्रा३१०
 प्रा३११
 प्रा३१२
 प्रा३१३
 प्रा३१४
 प्रा३१५
 प्रा३१६
 प्रा३१७
 प्रा३१८
 प्रा३१९
 प्रा३२०
 प्रा३२१
 प्रा३२२
 प्रा३२३
 प्रा३२४
 प्रा३२५
 प्रा३२६
 प्रा३२७
 प्रा३२८
 प्रा३२९
 प्रा३३०

अध्याय ५ पाद ३

प्रा३२१ ८१२५
 प्रा३२२ X
 प्रा३२३ ८१२६
 प्रा३२४ ८१७२
 प्रा३२५ ८१७३
 प्रा३२६ ८१७४
 प्रा३२७ ८२१
 प्रा३२८ ८२२
 प्रा३२९ ८२३
 प्रा३३० ८२७, ८
 प्रा३३१ ८२९, १०
 प्रा३३२ ८२११
 प्रा३३३ ८२१२
 प्रा३३४ ८२१३
 प्रा३३५ ८२१४
 प्रा३३६ ८२१८
 प्रा३३७ ८२१९
 प्रा३३८ ८२२०
 प्रा३३९ ८२२१
 प्रा३४० ८२२२
 प्रा३४१ ८२२३
 प्रा३४२ ८२२४
 प्रा३४३ ८२२५
 प्रा३४४ ८२२६
 प्रा३४५ ८२२७
 प्रा३४६ ८२२९
 प्रा३४७ ८२३०
 प्रा३४८ ८२३१
 प्रा३४९ ८२३२
 प्रा३५० ८२३३
 प्रा३५१ ८२३४
 प्रा३५२ ८२३५
 प्रा३५३ ८२३६
 प्रा३५४ ८२३७
 प्रा३५५ ८२३८
 प्रा३५६ ८२४०
 प्रा३५७ ८२३९
 प्रा३५८ ८२४१

प्रा३५६	द्वारा४२	प्रा३९५	द्वारा८७	प्रा४२७	द्वारा३६
प्रा३६०	द्वारा४३	प्रा३९६	द्वारा९३	प्रा४२८	द्वारा४१
प्रा३६१	द्वारा४४	प्रा३९७	द्वारा९८	प्रा४२९	द्वारा४०
प्रा३६२	द्वारा४४ वा०	प्रा३९८	द्वारा९९	प्रा४३०	द्वारा४२
प्रा३६३	द्वारा४५	प्रा३९९	द्वारा१००	प्रा४३१	द्वारा४३
प्रा३६४	द्वारा४६	प्रा३१००	द्वारा१०१	प्रा४३२	द्वारा४४
प्रा३६५	द्वारा४७	प्रा३१०१	द्वारा१०३	प्रा४३३	द्वारा४५
	४८, ४९	प्रा३१०२	द्वारा१०४	प्रा४३४	द्वारा४६
प्रा३६६	द्वारा५०	प्रा३१०३	द्वारा१०५	प्रा४३५	द्वारा४७
प्रा३६७	द्वारा५१, ५२	प्रा३१०४	द्वारा१०७	प्रा४३६	द्वारा४८
प्रा३६८	द्वारा५३	प्रा३१०५	द्वारा१०८	प्रा४३७	द्वारा५७
प्रा३६९	द्वारा५४	अध्याय ५ पाद ४		प्रा४३८	द्वारा५८
प्रा३७०	द्वारा५५	प्रा४१	द्वारा४, ६	प्रा४३९	द्वारा५९
प्रा३७१		प्रा४२	द्वारा७	प्रा४४०	द्वारा६०
प्रा३७२		प्रा४३	X	प्रा४४१	द्वारा६१
प्रा३७३	द्वारा५६	प्रा४४	द्वारा१७	प्रा४४२	द्वारा६२
प्रा३७४	द्वारा५७, ५८, ६०	प्रा४५	द्वारा२०	प्रा४४३	द्वारा६३
		प्रा४६	द्वारा२२	प्रा४४४	द्वारा६४
प्रा३७५	द्वारा६२	प्रा४७	द्वारा२३	प्रा४४५	द्वारा६५
प्रा३७६	द्वारा६६	प्रा४८	द्वारा२४	प्रा४४६	
प्रा३७७	द्वारा६८	प्रा४९	द्वारा२५	प्रा४४७	द्वारा६६
प्रा३७८	द्वारा६९	प्रा४१०	द्वारा२६	प्रा४४८	द्वारा६७
प्रा३७९	द्वारा७२	प्रा४११	द्वारा२७	प्रा४४९	द्वारा६८
प्रा३८०	द्वारा७३	प्रा४१२	द्वारा२८	प्रा४५०	द्वारा६९
प्रा३८१	द्वारा७४	प्रा४१३	द्वारा२९	प्रा४५१	द्वारा७०
प्रा३८२	द्वारा७५	प्रा४१४	द्वारा३०, ३१	प्रा४५२	
प्रा३८३	द्वारा६४	प्रा४१५	द्वारा३३	प्रा४५३	द्वारा७१
प्रा३८४	द्वारा६५	प्रा४१६	द्वारा३२	प्रा४५४	प्रा४७२
प्रा३८५	द्वारा७६	प्रा४१७	द्वारा३३	प्रा४५५	द्वारा७३
प्रा३८६	द्वारा७७, ७९	प्रा४१८	द्वारा३४	प्रा४५६	द्वारा७४
प्रा३८७	द्वारा७८	प्रा४१९	द्वारा३५	प्रा४५७	द्वारा७५
प्रा३८८	द्वारा८०	प्रा४२०	द्वारा३५	प्रा४५८	द्वारा७६
प्रा३८९	द्वारा८१	प्रा४२१	द्वारा३७	प्रा४५९	द्वारा७७
प्रा३९०	द्वारा८२	प्रा४२२		प्रा४६०	द्वारा७८
प्रा३९१	द्वारा८३	प्रा४२३	द्वारा३६	प्रा४६१	द्वारा७९
प्रा३९२	द्वारा८४	प्रा४२४	द्वारा३६	प्रा४६२	द्वारा८०
प्रा३९३	द्वारा८५	प्रा४२५	X	प्रा४६३	द्वारा८१
प्रा३९४	द्वारा८६	प्रा४२६	द्वारा३८	प्रा४६४	द्वारा८३

प्रा०४६५	दा०३८२
प्रा०४६६	दा०३८४
प्रा०४६७	दा०३८५
प्रा०४६८	दा०३८७
प्रा०४६९	दा०३८८
प्रा०४७०	दा०३९६
प्रा०४७१	दा०३९७
प्रा०४७२	दा०३९८
प्रा०४७३	दा०३९०१
प्रा०४७४	दा०३९०२
प्रा०४७५	दा०३९६, ८६, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५
प्रा०४७६ } प्रा०४७७ }	दा०३९११
प्रा०४७८	दा०३९१२
प्रा०४७९	दा०३९१३
प्रा०४८०	दा०३९१४
प्रा०४८१	दा०३९१५
प्रा०४८२	दा०३९१६
प्रा०४८३	दा०३९१७
प्रा०४८४	दा०३९१८
प्रा०४८५	दा०४१
प्रा०४८६	दा०४२
प्रा०४८७	दा०४३
प्रा०४८८	दा०४४

प्रा०४८९	दा०४५
प्रा०४९०	दा०४६
प्रा०४९१	दा०४७
प्रा०४९२	दा०४८
प्रा०४९३	दा०४९
प्रा०४९४	दा०४१०
प्रा०४९५	दा०४११
प्रा०४९६	दा०४१२
प्रा०४९७	दा०४१३
प्रा०४९८	दा०४१४
प्रा०४९९	दा०४३६
प्रा०४९००	दा०४१७
प्रा०४९०१	दा०४१८
प्रा०४९०२	दा०४१५
प्रा०४९०३	दा०४१६
प्रा०४९०४	दा०४१९
प्रा०४९०५	दा०४२१
प्रा०४९०६	दा०४२२
प्रा०४९०७	दा०४२३
प्रा०४९०८	दा०४२९
प्रा०४९०९	दा०४३०
प्रा०४९१०	दा०४३१
प्रा०४९११	दा०४३२
प्रा०४९१२	दा०४३३
प्रा०४९१३	दा०४३४
प्रा०४९१४	दा०४३५

प्रा०४९१५	दा०४३७
प्रा०४९१६	दा०४३८
प्रा०४९१७ } प्रा०४९१८ }	दा०४३९
प्रा०४९१९	दा०४४०
प्रा०४९२०	दा०४४१
प्रा०४९२१	दा०४४२
प्रा०४९२२	दा०४४३
प्रा०४९२३	दा०४४४
प्रा०४९२४	X
प्रा०४९२५	दा०४४५
प्रा०४९२६	दा०४४६
प्रा०४९२७	दा०४४७
प्रा०४९२८	दा०४५३
प्रा०४९२९	दा०४५४
प्रा०४९३०	दा०४५५
प्रा०४९३१	दा०४५६
प्रा०४९३२	दा०४५८
प्रा०४९३३	दा०४५९
प्रा०४९३४	दा०४६०
प्रा०४९३५	दा०४६१
प्रा०४९३६	दा०४६२
प्रा०४९३७	दा०४६३
प्रा०४९३८	दा०४६४
प्रा०४९३९	दा०४६५
प्रा०४९४०	X

अथ जैनेन्द्रधुपाठः

प्रप्रणम्य जिनं भक्त्या संसंश्रित्याभिधागमम् ।

उपोपपाद्यते धूनामुदुत्कृष्टा मया स्थितिः ॥ १ ॥

धुः	अर्थः
भूः	सत्तायाम्
एधै	वृद्धौ
स्पद्धँ	संघर्षे
गाद्धँ	प्रतिष्ठालिप्सा-
गाद्धँ	ग्रन्थेषु
बाधृङ्	प्रतीघाते
नाधृङ्	याच्ञाशीरुप-
नाधृङ्	तापैश्वर्येषु
दधै	धारणे
बाधे	बन्धने
स्कुदिङ्	आप्रवणे
शिवदिङ्	शैत्ये
वदिङ्	स्तुत्यभिवादनयोः
मदिङ्	प्रियमुखयोः
मदिङ्	स्तुतिमोदमदस्वप्न-
	गतिषु
स्पदिङ्	किञ्चिच्चलने
क्लिदिङ्	परिदेवने
मुट्टे	हर्षे
ददौ	दाने
दहौङ्	पुरीषोत्सर्गे
कुद्धँ	
खुद्धँ	
गुद्धँ	क्रीडायाम्
गुद्धँ	
उद्धँ	माने
पूद्धँ	क्षरणे
हाद्धँ	शब्दे
ह्लादीङ्	सुखे
ध्वद्धँ	
स्वद्धँ	
स्वाद्धँ	आस्वादे

धुः	अर्थः
पद्धँ	कुत्सिते शब्दे
यतीङ्	प्रयत्ने
युतुङ्	दीप्तौ
जुतुङ्	
विथुङ्	याचने
वेथुङ्	
श्रथिङ्	शैथिल्ये
प्रथिङ्	कौटिल्ये
कथ्ये	शलाघायाम्
शीकृङ्	सेचने
लोकृङ्	लोचने
श्लोकृङ्	संघाते
ट्रेकृङ्	शब्दोत्साहे
ध्रेकृङ्	
रेकृङ्	शंकायाम्
शकिङ्	
अकिङ्	लक्षण्ये
वकिङ्	कौटिल्ये
मकिङ्	मण्डने
ककै	लौल्ये
कुकै	गृहीतौ
वुकै	
चकै	तृप्तिप्रतिघातयोः
सेकृङ्	गतौ
स्नेकृङ्	
शेकृङ्	
श्लेकृङ्	
श्रकिङ्	
श्लेकिङ्	
ककिङ्	
श्वकिङ्	
त्रकिङ्	

धुः	अर्थः
दौकृङ्	गतौ
त्रौकृङ्	
ध्वस्कै	
वध्वकै	
मस्कै	
तिकै	
टिकै	
टीकृङ्	गत्याक्षेपे
रधिङ्	
लाधिङ्	
अधिङ्	कैतवे च
वधिङ्	
मधिङ्	सामर्थ्ये
राधृङ्	
लाधृङ्	
द्राधृङ्	आयासे च
श्लाधृङ्	कथने
पचै	सेवायाम्
लोचङ्	दर्शने
शचै	व्यक्तायां वाचि
श्वचै	गतौ
श्वचिङ्	
कचै	बन्धने
कचिङ्	दीप्तौ च
मचै	कल्कने
मचिङ्	धारणोच्छ्राय-
	पूजासु च
पचिङ्	व्यक्तीकरणे
पुचै	प्रसादे
तिजौङ्	क्षमानिशानयोः
ईजौ	गतिकुत्सनयोः
ऋजौ	गतिस्थानोर्जनेषु

भृजिङ्	भर्जने	मठिङ्	शोके	मानै	पूजायाम्	
भृजीङ्		कठिङ्		पनै	स्तुतौ	
एजङ्	दीप्तौ	मुठिङ्	पलायने (पालने)	परौ	व्यवहारे च	
भ्रंजङ्		एटै		युगौ	भ्रमणौ	
भ्राजै		हेटै	घूर्णौ	ग्रहणौ		
वर्चै		गुपौङ्	गुप्तौ		घृणिङ्	क्रोधे
अष्टै	हिसातिक्रमयोः	तिपृङ्	स्तुतौ	घृणिङ्	सहने	
यष्टै	चलने	प्रेपृङ्	कम्पे च	भामै		कान्तौ
स्फुटै	त्रिकसने	तेपृङ्	दैन्ये	क्षमपौ	अये	
चेष्टै	चेष्टायाम्	ग्लेपृङ्	चलने	कमुङ्		वयै
गोष्टै	संघाते	हुवेपृङ्		खेपृङ्	वयै	
लोष्टै		केपृङ्		गेपृङ्	मयै	पयै
हुडिङ्		रुजायां च		ग्लेपृङ्	कपिङ्	
पिडिङ्		गत्यनादरयोः	मेपृङ्	रेपृङ्	रयै	रेवृङ्
शडिङ्	दाहे	त्रपूपै	त्रपूपै	लजायाम्	तयै	
हिडिङ्	वेष्टने	रेभृङ्	रेभृङ्	शब्दे		दयै
कुडिङ्		परिभाषायाम्	रभिङ्	अभिङ्	श्रवणसे	
वडिङ्	शुद्धौ	अभिङ्	अभिङ्	वरणौ		उयीङ्
मडिङ्	तोडने	अभिङ्	अभिङ्	अधाष्ट्यं च	तन्तुसन्ताने	
वेष्टै	मृतौ	अभिङ्	अभिङ्	मदे		दुर्गन्धविशरणयोः
भडिङ्	कोपे	अभिङ्	अभिङ्	कथने	विधूनने	
मडिङ्	ताडने	अभिङ्	अभिङ्	भोजने		वृद्धौ
तुडिङ्	मदे	अभिङ्	अभिङ्	धाष्ट्यं	सन्तानपालनयोः	
भुडिङ्	मंथे	अभिङ्	अभिङ्	गात्रविनामे		कले
चडिङ्	अनादरे	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे	कल्लै	
तडिङ्	आप्लाव्ये	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे		वल्लै
कडिङ्	विशरणौ	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे	गल्लै	
खडिङ्		शलाधायाम्	अभिङ्	अभिङ्		स्तम्भे
हेडृङ्	गतौ	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे	धारणौ	
वाडृङ्	एकचर्यायाम्	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे		
द्राडृङ्	गतौ	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे		
धाडृङ्		एकचर्यायाम्	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे	
शलाडृङ्	गतौ	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे		
पडिङ्		एकचर्यायाम्	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे	
अठिङ्	गतौ	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे		
वठिङ्		एकचर्यायाम्	अभिङ्	अभिङ्	स्तम्भे	

भलै	} दानहिंसापारभाषणेषु	कासृङ्	शब्दकुत्सायाम्	गुङ्	अव्यक्ते शब्दे
भल्लै		सासृङ्	शब्दे	गाङ्	} गतौ
कल्लै	} संख्याशब्दयोः	भासै	} दीप्तौ	च्युङ्	
तेवृङ्		देवने		रासृङ्	ड्युङ्
देवृङ्	} देवने	काशृङ्	} कौटिल्ये	पुङ्	}
देवृङ्		रासै		भ्ये	
पेवृङ्	} देवने	भ्यगै	भये	श्यैङ्	} रांपे च
शेवृङ्		आङःशसुङ्	इच्छायाम्	रुङ्	
केवृङ्	} सेवने	श्रमुङ्	प्रमादे	धृङ्	अविध्वंसने
खेवृङ्		ग्रमुङ्	अदने	मिङ्	प्रतिदाने
गेवृङ्	} सेवने	ग्लमुङ्	अदने	दङे	रक्षणे
ग्लेवृङ्		ईहै	चेष्टायाम्	त्रेङ्	पालने
पेवृङ्	} सेवने	वहिङ्	} वृद्धौ	पूङ्	पवने
प्लेवृङ्		महिङ्		शौघ्य च	प्येङ्
मेवृङ्	} सेवने	दक्षै	} कुत्सायाम्	मृङ्	बन्धने
म्लेवृङ्		गहँ		कुत्सायाम्	डीङ्
धुक्षै	} संदीपनजीवनक्लेशेषु	गल्है	} प्राधान्ये	श्रुतै	} दीप्तौ
धिक्षै		वृक्षौ		वहँ	
वृक्षै	विद्योप्रादाने	वलहँ	} परिभाषणाच्छाद- नहिंसासु	श्रुभै	} अभिप्रीतौ च वर्णं
शिक्षै	याञ्जायाम्	वरहै		रुचै	
मिक्षै	मौढ्योपनयननिय-	वेहृङ्	} प्रयत्ने	शिवताङ्	स्नेहे
दीक्षै	मत्रतादंशेज्यासु	जेहृङ्		जिभिङ्	मोक्षे च
ईक्षै	दृष्टौ	वाहृङ्	} पतिघाते	शुटै	परिवृतौ च
ईपै	गतिहिंसयोश्च	एषृङ्		रुटै	} पतिघाते
कनेशै	} व्यक्तायां वाचि	वेपृङ्	लुटै	लुटै	
भापै		स्नेहे	द्राहृङ्	लुभै	संज्ञोभे
वपै	अन्विच्छायाम्	ऊहै	राभै	हिंसायाम्	
गेषृङ्	} गतौ	गाहृङ्	संसुङ्	} अवस्रसे	
जेषृङ्		निक्षेपे	अंसुङ्		
गेषृङ्	} गतौ	ग्लहृङ्	ध्वंसुङ्	गतौ च	
एषृङ्		वितर्के	संसुङ्	विश्वासे	
हेषृङ्	} गतौ	घषिङ्	वृत्तुङ्	वृत्तौ	
अहिङ्		विश्लोडने	वृधुङ्	वृद्धौ	
सिहै	} अव्यक्त शब्दे	स्मिङ्	श्रुधुङ्	शब्दकुत्सायाम्	
रेषृङ्		प्रहणे	स्यंदूङ्	स्नेहे	
		धुङ्	त्रपूङ्	सामर्थ्ये	
		कुङ्	वृत्		
		डुङ्			
		तुङ्			

घटैष्	चेष्टायाम्	मथ	}	हिंसायाम्	फल	}	गमने	
व्यथैष्	चलभीत्योः	वनथ			शल			
प्रथैष्	प्रख्यातौ	ऋथ			हुल			
प्रसैष्	विस्तारे	क्लथ			पेत्लृ			
मुदैष्	मदे	चण		पथे				
स्वदैष्	खनने	हल	}	चलने	हुल	}	हिंसासंवरणयोश्च	
जित्वरापै	संभ्रमे	हल			कथे			निष्पचने
ऋदैष्	} वैक्लव्ये	ज्वल		दीप्तौ	दुवमु		उद्गरणे	
क्लदैष्		स्मृ		आध्याने	क्षर		संचलने	
ऋदिङ्		द		भये	पहै		मर्पणे	
क्षजिङ्	गतिदानयोः	नृ		नये	रमुङ्		क्रीडायाम्	
दक्षै	गतिहिंसायाम्	श्रा		पाके	शद्लृ		शातने	
कृपै	कृपायाम्	चलि		कम्पने	पद्लृ		गतिविशरणयोश्च	
	डैदितोऽमी	छदिर्		ऊर्जने	क्रुशौ		रोदनाह्वानयोः	
ज्वर	रोगे	लडि		जिह्वोन्मथने	कुच		संवर्चनकौटिल्य-	
गड	सेचने	मदी		हर्षगपलेनयोः			प्रतिस्तंभविलेखनेषु	
हेड	वेष्टने	स्वनिर्		श्रवतंसने	रुहौ		जनने	
वट	} परिभाषणे	ध्वन		शब्दे	कस्		गमने	
भट		वृत्तौ	फल		गतौ	भू		भुवि
नट		लोटने			वृत् घटादिः	बुधञ्		बोधने
ष्टक	तृप्तौ च	स्यमु	}	शब्दे		}	वृत् ज्वलादिः	
चक	हसने	स्वन						अत
कखे	शंकने	राञ्जृङ्	}	दीप्तौ	चित्ती		संज्ञाने	
रगे	संजने	दुभ्राशृङ्				कितौ	निवासे	
लगे		दुभ्लाशृङ्				कृत	गतिघृणास्पद्धेषु	
हगे	} संवरणे	भ्राजै			ज्युतिर्		विभासे	
ह्रगे		कुटिलायां गतौ			च्युतिर्	}	क्षरणे	
षगे			ज्वल		श्च्युतिर्			
ष्टगे		चल		स्युतिर्				
अक	} कुटिलायां गतौ	जल		धान्ये	कुथि	}	हिंसासंक्लेशयोः	
अग			टल	}	पुथि			
कण			ट्वल		वैक्लव्ये			
रण	गतौ	ष्ठल		स्थाने	मथि			
चण		हल		विभेखने	मंथ			
वण	दाने	वल		प्राणधान्यावरोधयोः	षिधू		शास्त्रमाङ्गल्ययोः	
अण		पुल		महस्वे	षिधु		गतौ	
		कुल		संस्त्यानसंतानयोः	खाद्		भक्षणे	

वद	स्थैर्ये	लगि	}	गर्तं	तुज	}	हिंसने		
खद	हिंसायां च	अगि			तुजि		}	पालने च	
गद	व्यक्तायां वाचि	तगि			पिजि				
रद	विलेखने	वगि			गज				
जिद्धिबदा	} अव्यक्ते शब्दे	मगि			गुजि			}	शब्दे
णद		गतियाचनयोः			स्वगि				
अर्द	} शब्दे	इगि			गृजि				
नर्द		हिंसायाम्			मृज				
गर्द	कुत्सिते शब्दे	रिगि			मृजि				
तर्द	दशने	लिगि			रुज				
कर्द	बन्धने	त्वगि	क्षज						
खर्द	परमैश्वर्ये	पुगि	क्षीज						
अदि	अवयवे	जुगि	गर्ज						
इदि	कुत्सने	बुगि	गज	मदने च					
विदि	समृद्धौ	दीघ	त्यजौ	त्यागे					
णिदि	दीप्तिहादनयोः	लीघ	शुच	पाके					
टुनदि	चेष्टायाम्	शिधि	कुच	उच्चैः शब्दे					
चदि	} आह्वानरोदनयोः	ओखृ	क्रुच	कौटिल्याल्पीभावयोः					
त्रदि		परिदेवने	राखृ	लुच	अपनयने				
कदि	गतिशोषणयोः	लाखृ	अंच	गतिपूजनयोः					
क्रदि	शुद्धौ	द्राखृ	वंचु	}	गतौ				
क्लदि	} गतौ	प्राखृ	चंचु						
स्कंदिरौ		शाखृ	तंचु						
शुध	गतिशोषणयोः	श्रुखृ	त्वंचु						
उख	शुद्धौ	फक्	मंचु						
णख	}	तक्	मुंचु						
वख		कक्	मुचु						
मख		गघ	मुंचु						
रख		तकि	मुचु						
लख		वक्	भ्लुचु						
रखि		लप	भ्लुचु						
लखि		लज	मुचु						
इखि		लजि	ग्लुचु						
ईखि		तर्ज	पंच						
वल्ग		लज	ध्वज						
रगि	लाजि	ध्वजि							
	जज	धृज							
	जजि	धृजि							
		वज							
		व्रजि							
		युद्ध							

शुचु	स्तैयकरणे	रट	परिभाषणे	कठ	कृच्छ्रजीवे
खुचु		रठ		हठ	स्तुतिशठत्वयोः
कुजु		लट		उठ	उपघाते
खुजु		शट		पिटि	हिसासंकलेशयोः
अर्च	पूजायाम्	वट	वेष्टने	शठ	कैतवे
म्लेच्छ		खिट		उत्रासने	
लछ	लछणे	षिट	अनादरे	शुठ	गतिप्रतिघाते
लाछि		शिट			
वाछि	इच्छायाम्	रौडू		लुठि	आलस्ये
	आयामे च	जट	संघाते	श्रुठ	शोषणे
ह्रीच्छ	लजायाम्	भट			लुठि
हुर्वा	कौटिल्ये	पिट	शब्दे च	विड	उद्यमे
मुच्छा	मोहसमुल्लययोः	भट		भृतौ	अड
स्फूर्च्छा	विस्तृतौ	तट	उच्छ्राये	लड	मदे
युच्छ	प्रमोदे	नट	नृतौ	कड	कार्कश्ये
उछि	उच्छ्रने	खट	कांक्षायाम्	कडु	भावकरणे
गुज	अव्यक्ते शब्दे	हट	दोसौ	चुडु	अभियोगे
गुजि		अव्यक्ते शब्दे	घट	अवयवे	अडु
कूज	सर्जने	लुट	विलोडने	मडि	प्रमर्दने
अर्ज		सर्जने	चिट	परप्रैष्ये	घुडि
सर्ज	व्यथने	स्फुटिर्	विशरणे	चुडि	खण्डने
खर्ज		मार्जने च	हेट	विनाधायाम्	मुडि
अज	गतिक्षेपणयोः	कुटि	वैकल्ये	वडि	
तेज	पालने	अट		रुटि	स्तेये
खज	मंथने	पट		लुटि	
खजि	गतिवैकल्ये	इट		गाडि	मुखैकदेशे
एजु	कंपने	किट	गतौ	क्रीडू	विहारे
दुओस्फूर्जा	वज्रनिर्घोषे	किटी			तूडू
षञ्जौ	संगे	रुठि		गुपू	रक्षणे
शौटू	गर्वे	लुठि		धूप	तपःसंतापे
यौटू	बंधे	अठ		जल्प	व्यक्तायां वाचि
मेडू		डूडू	व्यक्तायां वाचि	रप	
मेडू	उन्मादे	पठ		स्थौल्ये	लप
लोडू		वठ		जप	मानसे च
कठे	वर्षावरणयोः	मठ		चप	सांत्वने
		भद	मदनिवासयोः	षच	समवाये
				चुप	मन्दायां गतौ

तुप	हिंसायाम्	कण	शब्दे	शूल	रुजायाम्
तुंप		धण		तूल	निष्कर्षे
तुफ		ध्वण		पूल	संघाते
तुंफ		ध्रण		मूल	प्रतिष्ठायाम्
त्रुप		व्रण		फल	निष्पत्तौ
त्रुंप		स्तन		फुल्ल	विकसने
त्रुफ		वन		चुल्ल	भावकरणे
त्रुंफ		वन		चिल्ल	शैथिल्ये
षिभु		षण		वेल्ल	चलने
षिभु		श्रोण		वेलु	
शुंभ	शोण	केलु			
यभौ	श्रोण	खेलु			
जभ	श्लोण	कनेलु			
पंप	पैण	द्वेलु			
रफ	कनी	स्वल			
रफि	अम	स्वल	संवये		
अर्व	णमौ	गल	अदने		
वर्व	क्रमु	चर्व			
कर्ष	मठ	श्वल	आशुगमने		
खर्व	कील	श्वल्ल			
गर्व	मध्य	खोलु	गतिप्रतिघाते		
शर्व	सूर्ध	धोअहं	गतिचातुर्ये		
पर्व	ईर्ध	त्सर	छद्मगतौ		
चर्व	सूर्ध	कमर	हूर्द्धने		
गम्लु	हय	पेलु	गतौ		
मृ	हय्य	फेलु			
प्रु	चुच्यी	शोलु			
चुवि	अल	पेलु			
अरण	दल	शल			
रण	जिफल	चल्ल			
वण	मील	तिल्ल			
मण	स्मील	व्यभ्र			
कण	दमील	मभ्र			
बण	पील	अभ्र			
भण	नील	शिवि			
अण	शील	रिवि			
	कूल	रवि	धवि		
		आवरणे			

चर	भक्षणे	क्व	रोषे	मृषु	सहने च
क्षिबु }	निरसने	तक्ष	त्वचने	पुष	पुष्टौ च
क्षिबु }	प्राणधारणे	सूर्क्ष	अनादरे	तुषु	
जीव		काक्षि		श्रिषु	
पीव }		वाक्षि	कांक्षायाम्	त्रिषु	दाहे
मीव }	स्थौल्ये	माक्षि		प्रुषु	
णीव }		द्राक्षि	घोरवासिते च	प्लुषु	
तीव }		ध्वाक्षि		घृषु	संघर्षे
तुर्वी }		चूप	पाने	द्वषु	अलीके
थुर्वी }		तूष	तुष्टौ	कृषौ	विलिखितौ
धुर्वी }		लूष	स्तेये	लस	श्लेषक्रोडनयोः
जुर्वी }	हिंसने	मूष		जर्ज	
भर्वी }		शूष	प्रसवे	चर्च	परिभाषणहिंसातर्जनेषु
शर्व }		भूष	अलंकारे	शर्म	
अर्व }		ऊष	रुजायाम्	हसे	हसने
गुर्वी }	उद्यमने	ईष	उञ्छे	नुस	
हिवि }		कष		हस	
दिवि }	प्रीणने	शिष		हस	शब्दे
धिषि }		धष		रस	
कृषि	हिंसाविकरणयोः	भ्रष		पुषि	
अव	गतिप्रीतिवृष्टिदीप्तिवृ-	वष		मिषा	रोपकृते च
	द्धिकांत्यवस्यवगमन-	मष	हिंसायाम्	मशा	
	प्रवेशश्रवणस्वाभ्यर्थ-	रुष		णिस	समाधौ
	याचनक्रियेच्छालिंग-	रिष		शश	प्लुतिगतौ
	नहिंसादनभावरक्षणेपु	जूष		दृशिरौ	प्रेक्षणे
मक्ष	संघाते	शष		दंशौ	दशने
अक्ष	व्याप्तौ च	शसु		शंसु	स्तुतौ
तक्ष	तनूकरणे	यूष	संघाते च	दहौ	भस्मीकरणे
त्वक्ष		भृषु		मिहौ	सेचने
रक्ष	पालने	भप	भर्त्सने	चह	परिकल्कने
णिक्ष	चुम्बने	जिषु		रह	त्यागे
तृक्ष		विषु		दह	
स्तृक्ष		मिषु	सेचने	दहि	वृद्धौ
णक्ष	गतौ	पृषु		वृह	
शव		वृषु		पूष	
रहि		उक्ष		वृहि	शब्दे च
पिस्त					
पेस्त					

उहिर	}	अर्दने
उहिर		
अहं	}	पूजने
सु		प्रसवैश्वर्ययोः
शु	}	गतौ
हु		
द्रु		
श्रु		
ध्र	}	स्थैर्ये च
जि		अभिभावे
जि	}	पाने
पा		
घेट्	}	गंधोपादाने
प्रा		शब्दाग्निसंयोगयोः
ध्मा	}	गतिनिवृत्तौ
ष्ठा		अभ्यासे
म्ना	}	दाने
दाणु		शोधने
दैप	}	हर्षक्षये
रुलै		गात्रविनामे
म्लै	}	न्यक्करणे
इ		स्वने
इ	}	तृप्तौ
इ		
इ	}	शब्दे
इ		
इ	}	संधाते
इ		
इ	}	खदेन
इ		
इ	}	क्षये
इ		
इ	}	पाके
इ		
इ	}	शोषणे
इ		

है	}	वैष्टने
धै		
स्मृ	}	चिंतायाम्
दुवृ		वरणे
धृ	}	कौटिल्ये
हृ		
स्वृ	}	शब्दोपतापयोः
सृ		गतौ
ऋ	}	प्रापणे च
गृ		
घृ	}	सेचने
तृ		प्लवनतरणयोः
ट्वोश्चि	}	गतिवृद्धयोः
वसौ		निवासे
वद	}	व्यक्तायां वाचि
यजौञ्		एते मवंतः
दुवपौञ्	}	दानदेवपूजा-
वहौञ्		संगतकरणेषु
वेञ्	}	बीजसंताने
व्येञ्		प्रापणे
भजौञ्	}	ततुमताने
रंजौञ्		पाके
दुयाचृञ्	}	सेवायाम्
चतेञ्		रागे
चदेञ्	}	याचने
रेट्		परिभाषणे
पोथृञ्	}	पर्याप्तौ
मिधृञ्		मेधाहिंसायाम्
मेधृञ्	}	संगमे च
णिहृञ्		उन्दे
रोहृञ्	}	बोधने
बुधुञ्		निशामने
बुंदिहृञ्	}	पूजायां च
चायृञ्		गतिचिन्ताज्ञाननि
वेणुञ्	}	शामनवादित्रग्रहणेषु

खनुञ्	अवदारणे	
दानञ्	खंडने	
शानञ्	तैजने	
शपौञ्	आक्रोशे	
भेषुञ्	दीप्तौ	
श्रव	पूर्वोपादाननि-	
	रसनयोश्च	
छषञ्	हिंसायाम्	
चषञ्	}	भुक्तौ
चुषञ्		
घासुञ्	}	दाने
दासुञ्		
माहृञ्	}	माने
गुहृञ्		संवरणे
भपुञ्	}	आदाने च
जीषुञ्		
श्रिञ्	}	सेवायाम्
हृञ्		हरणे
भृञ्	}	भरणे
धृञ्		धारणे
डुकृञ्	}	करणे
णीञ्		प्रापणे
एते मवंतः		
इति ६४६ भूवादयो न्याय्य-		
विकरणाः धवः ।		
हु	दानादनयोः	
जिभी	भये	
ही	लज्जायाम्	
पृ	पालनपूरणे	
ऋ	गतौ	
ओहाक्	त्यागे	
ओहाड्	गतौ	
माड्	माने	
डुभृञ्	धारणपोषणयोः	
डुदाञ्	दाने	
डुधाञ्	धारणे च	
णिजिञ्च्यौ	शौचपोषणयोः	

विजिञ्च्यो	पृथक्भावे
विविञ्च्यो	व्याप्तौ
इति १४	ह्लादयः उच्चिहरणा धवः ।
अदो	भक्षणे
विद	ज्ञाने
हनौ	हिंसागत्योः
अस	भुवि
मृजू	शुद्धौ
वचो	परिभाषणे
रुदिर्	अश्रुविमोचने
जिष्ण्वो	शये
अन	} प्राणने
श्वस	
जन्	भक्षहसनयोः
जागृ	वृत्
दरिद्रा	निन्दाक्षये
चकास्	दुर्गतौ
शासु	दीप्तौ
	अनुशिष्टौ
	वृत्
सस्ति	} स्वप्ने
षस	
वश	कान्तौ
धु	अभिगमने
सु	ऐश्वर्यप्रमवयोः
वु	वृत्तिहिंसापूरणेपु
कु	} शब्दे
क	
ड्कु	
चणु	तैजने
सु	क्षरणे
णु	स्तुतौ
यु	मिश्रणे
इणु	गतौ
इक्	स्मरणे
वी	गतिप्रजनकांत्यशनेषु
या	प्रापणे

वा	गतिगंधनयोः
भा	दीप्तौ
ष्णा	शौचे
श्रा	पाके
द्रा	कुत्सायां गतौ
प्सा	भक्षणे
पा	रक्षणे
रा	दाने
ला	आदाने
दाप्	लवने
ख्या	प्रकथने
प्रा	पूरणे
मा	माने

चर्करीतं च

चक्षौङ्	व्यक्तायां वाचि
ईरै	गतौ
ईडै	स्तुतौ
ईशै	ऐश्वर्ये
आसै	उपवेशने
वसै	आच्छादने
आङः-शासुङ्	इच्छायाम्
कासिङ्	गतिसंतानयोः
णिसिङ्	चुंबने
णिजिङ्	शुद्धौ
शिसिङ्	अव्यक्ते शब्दे
पिजिङ्	} संपर्चने
पृजिङ्	
पृचीङ्	
ऊपूङ्	प्राणिगर्भविमोचने
शीङ्	स्वप्ने
इङ्	अध्ययने
हुङ्	अपनयने
द्विबौञ्	अप्रीतौ
दुहौञ्	क्षरणे
दिहौञ्	लेपे
लिहौञ्	आस्वादाने
ऊणुञ्	आच्छादने

घुञ्	स्तुतौ
ब्रञ्	व्यक्तायां वाचि
इत्यदादयः	७० उच्चिहरणाः
	धवः
दिवु	क्रीडाजयेच्छापणि-
षिवु	द्युतिगतिषु
गुध	तंतुसंताने
क्षिप	परिवेष्टने
पुध	प्रेरणे
तिम	विकसने
ष्टिम	} आर्द्रभावे
ष्टीम	
व्रीड	लजायाम्
इष	गत्याम्
षुह	शकने
राधौ	वृद्धावेव
ध्यधौ	ताडने
पुषौ	पुष्टौ
शुषौ	शोषणे
तुषौ	तोषणे
दुषौ	वितत्ये
श्रिषौ	आस्निगने
शकौ	मर्षणे
ध्विदा	गात्रप्रक्षरणे
श्रुधै	कोपे
क्षुधै	बुभुक्षणे
शुधै	शोधने
विधु	संराध्ये
रधू	हिंसने च
णश	अदर्शने
तृपू	प्रीणने
दृपू	मोहने च
दृह	जिघांसायाम्
मुह	वैचित्र्ये
षुह	उद्गिरणे
धिणह	प्रीतौ

असु	क्षेपणे
यसु	प्रयत्ने
जसु	मोक्षणे
तसु	स्तम्भे
दसु	
पृष	दाहे
प्लुष	
व्युष	विभागे
विस	प्रेरणे
कुस	श्लेषणे
वुस	उत्सर्गे
मुस	खंडने
मसी	परिमाणे
लुठ	विलोडने
उच	समवाये
भ्रशु	अधःपतने
भ्रंशु	
वृश	वरणे
कृश	तनूकरणे
जितृष	पिपासायाम्
हृष	तुष्टौ
रुष	रोपे
डिप	क्षेपे
कुप	क्रोधे
गुप	व्याकुले च
युप	विमोहने
रुप	
लुप	गार्ध्वे
लुभ	
लुभ	संचलने
णभ	हिंसने
तुभ	
क्लिदू	आर्द्रभावे
ज्मिदा	स्नेहे
जिद्विदा	मोक्षे च
श्रुधु	वर्धने
गुधु	अभिकांक्षायाम्

शसु	उपशमने
दसु	
तसु	कांक्षायाम्
भ्रसु	क्लेशने
भ्रमु	चलने
क्षमु	सहने
क्लमु	ग्लाने
मदी	हर्षे
	वृत्
जृषु	वयोहानौ
भ्रृषु	
शो	तनूकरणे
छो	छेदे
दो	
षो	अंतकर्माणि
	एते मवंतः
शनीङ्	प्रादुर्भावे
काशौ	दीप्तौ
दीपीङ्	
पूरीङ्	आप्यायने
तूरीङ्	हिंसागतित्वरणयोः
थूरीङ्	हिंसावयोहान्योः
जूरीङ्	
धूरीङ्	गतिहिंसयोः
गूरीङ्	
शूरीङ्	हिंसास्तंभयोः
चूरीङ्	दाहे
तपै	ऐश्वर्ये वा
वृतुङ्	वरणे
क्लिशौ	उपतापे
वाशौ	शब्दे
पादोङ्	गतौ
विदौङ्	सत्तायाम्
खिदौङ्	दैन्ये
युधौङ्	संप्रहारे
बुधौङ्	ज्ञाने
मनौङ्	

अनै	प्राणने
अनो रुषौङ्	कामे
युजौङ्	समाधौ
सुजौङ्	विसर्गे
लिशौङ्	अल्पे च
उषूङ्	प्राणिप्रसवे
दूङ्	परितापे
दीङ्	क्षये
डीङ्	गतौ
धोङ्	अनादरे
मीङ्	हिंसायाम्
रीङ्	भ्रवणे
लीङ्	श्लेषणे
व्रीङ्	वृणोत्यर्थे
पीङ्	पाने
ईङ्	गतौ
प्रीङ्	प्रीतौ
माङ्	माने
	एते डैदितः
मृषौञ्	तितिक्षायाम्
शुचिरीञ्	पूतिभावे
णहौञ्	बंधने
रञ्जौञ्	रागे
शपौञ्	आक्रोशे
	एते जितः
	इति १२८ दिवादयः श्यविकरणाः
	धवः
षुञ्	अभिषवे
षिञ्	बंधने
श्रिञ्	निशाने
डुमिञ्	प्रक्षेपणे
चिञ्	चयने
स्तुञ्	आच्छादने
कृञ्	हिंसायाम्
वृञ्	वरणे
धुञ्	कंपने
धूञ्	
	एते जितः

डुडु	उपतापे
भु	श्रवणे
हि	गतिवृद्धयोः
पृ	प्रीतौ
सृ	चलने च
आप्लृ	व्याप्तौ
शक्लृ	शक्तौ
राधै	} संसिद्धौ
साधै	
तिक	} हिंसायाम्
तिग	
पघ	
जिधृषा	प्रागल्भ्ये
दंभु	दंभे
ऋधु	वर्द्धने
एते मवंतः	
अशूङ्	व्याप्तौ
धिघङ्	आस्कंदने
ङितावेतौ	
इति २७ इनुविकरणाः धवः ।	

तुदौञ्	व्यथने
दिशौञ्	अतिसर्जने
भ्रस्जौञ्	पाके
क्षिवौञ्	प्रेरणे
एते जितः	
कृती	छेदने
खिदौ	परितापे
पिश	अवयवे
वृत्	
रि	} गतौ
पि	
धि	धारणे
क्षि	निवासगत्योः
षू	प्रेरणे
मृ	प्राणत्यागे
क	विज्ञेपणे

गृ	निगारेणे
एते मवंतः	
हङ्	अनादरे
धृङ्	स्थाने
ङितावेतौ	
प्रच्छो	ज्ञीप्तने
वृत्	
सृजौ	विसर्गं
टौमस्जौ	शुद्धौ
ऊरुजौ	भंगे
ऊमुजौ	कौटिल्ये
रुशौ	} हिंसने
रिशौ	
छुपौ	} स्पर्शे
सृशौ	
लिशौ	} गतौ
विच्छौ	
मृशौ	आमर्शं
विशौ	प्रवेशे
गुदो	क्षोभे
पद्लृ	अवसातने
ओब्रश्चृ	छेदने
उच्छौ	विवासे
ऋच्छ	इंद्रियप्रलयमूर्ति- भावयोः
मिच्छ	उत्कलेशे
चर्च	} परिभाषणे
जर्ज	
झर्झ	} संवरणे
त्वच	
ऋच	स्तुतौ
उञ्ज	आर्जवे
उज्ज	उपसर्गं
लुभ	विमोहने
रिफ	कथनयुद्धनिर्दाहि- सादानेषु
ऋफ	} हिंसःयाम्
ऋम्फ	

वृफ	} वृत्तौ
वृम्फ	
हफ	} उत्कलेशे
हम्फ	
गुफ	} ग्रंथने
गुम्फ	
तुभ	} पूरणे
तुम्भ	
शुभ	} शोभायें
शुंभ	
हभी	ग्रंथे
चूती	हिंसायां च
भपी	} गतौ
जुन	
शुन	} विधाने
विध	
पृड	} सुखने
मृड	
पृण	प्रीणने
मृण	हिंसायाम्
तुण	कौटिल्ये
पुण	कर्मणि शुभे
मुण	प्रतिज्ञाने
कुण	शब्दोपकरणयोः
द्रुण	हिंसागतिकौटिल्येषु
शुण	} भ्रमणे
धूर्ण	
पु	दीप्तैश्वर्ययोः
कुर	शब्दे
क्षुर	विलेखने
खुर	छेदने च
मुर	संवेष्टने
धुर	भीमार्थशब्दयोः
पुर	उद्यमने
वृहू	उद्यमने
तृहू	} हिंसार्थाः
तृन्हू	
स्तृहू	

शुभ	इच्छायाम्
मेष	स्पर्धायाम्
किल	शैत्यक्रीडनयोः
तिल	स्नेहने
चल	विलसने
श्रिल	संवरणे
इल	स्वप्नक्षेपणयोः
विल	भेदने
निल	गहने
हिल	भावकरणे
सिल	
शिल	उच्छे
उच्छि	
लिख	अक्षरविन्यासे
कुट	कौटिल्ये
पुट	संश्लेषणे
कुच	संकोचने
व्यच	व्याजीकरणे
गुज	शब्दे
गुड	रक्षणे
लिप	क्षेपणे
छुर	
चुट	
छुट	छेदने
वुट	
स्फुट	विक्रसने
मुट	आक्षेपप्रमर्दनयोः
तुट	कलहकर्मणि
जुड	बंधे
कड	मदे
लुट	संश्लेषणे
तड	घसने
कुड	बाल्ये च
घुट	प्रतिघाते
तुड	तोडने
धुड	
स्थुड	संवरणे

स्फुर	} स्फुरणे
स्फुर	
ब्रुड	उत्सर्गे
वृड	
मृड	} संघाते
हुड	
तृड	निमज्जने
स्फल	चलने
स्तुल	संचये च
णू	स्तवने
धू	विधूनने
गु	पुरीषोत्सर्गे
धु	गतिस्थैर्ययोः
	एते मवतः
कुड्	} शब्दे
कूड्	
गुरीड्	उद्यमने
	वृत्
पृड्	व्यायामे
जुषीड्	प्रीतिसेवनयोः
विजीडो	भयचलनयोः
लजीडो	} व्रीडे
लमुजीडो	
ष्वजौड्	संगे
रभौड्	राभस्ये
उप्लतौड्	प्रीतौ
	डितः
	इति १४६ तुदादयः शविकरणाः
	धवः
रुधिर्जो	आवरणे
भिदिर्जो	विदारणे
छिदिर्जो	द्वैधीकरणे
रिचिर्जो	विरचने
विचिर्जो	पृथग्भावे
लुदिर्जो	संप्रेक्षणे
युजिर्जो	योगे

द्विदिर्जं	दीतिदेवनयोः
तुदिर्जं	हिंसानादरयोः
	एते अितः
जिइन्धीड्	दीप्तौ
खिदौड्	दैन्ये
विदोड्	विचारे
	डितः
कृती	वेष्टने
शिप्लू	विशेषणे
पिप्लू	संचूर्णने
उभंजो	श्रामर्दने
भुजो	रक्षाशनयोः
तृह	} हिंसने
शिसि	
उन्दी	कलेदने
अंजू	गतिव्यक्तिप्रक्षणे
तंचू	संकोचने
अविजी	भये
वृजी	वर्जने
पृची	संपर्चने
	एते मवतः
	इति २५ रुधादयः शनम्बिकरणाः
	धवः
तनुज्	विस्तारे
षणुज्	दाने
क्षणुज्	} हिसायाम्
क्षिणुज्	
अणुज्	गतौ
तृणुज्	अदने
घृणुज्	दीप्तौ
	अितः
वनुड्	याचने
मनुड्	बोधने
	डितः
	इति ६ तनादय उबिकरणाः
	धवः

डुकीञ्	द्रव्यविनिमये	क्षीषु	हिंसायाम्	ओलडि	} उत्क्षेपे
प्रीञ्	तृप्तिदीप्तयोः	शा	श्रवबोधने	डुल	
श्रीञ्	पाके	बंधो	बंधने	जल	} अपवारणे
मीञ्	हिंसायाम्	श्रंथ	प्रतिहर्षविमोचनयोः	पीड	
षिञ्	बन्धने	मंथ	विलोडने	नट	} श्रवस्यंदने
स्कुञ्	आप्रवणे	ग्रंथ	संदर्भे	श्रथ	
क्नूञ्	शब्दे	कुंथ	संकलेशे	वध	} संयमने
हञ्	गतौ	मृद	क्षोदे	पृ	
गृहञ्	उपादाने	मृड	सुखने	वर्द्धं	} पूरणे
पूञ्	पवने	गुध	रोषे	ऊर्जं	
स्तृञ्	आच्छादने	कुष	निष्कर्षे	इल	} प्रेरणे
कृञ्	हिंसायाम्	क्षुभ	संचलने	शुड	
वृञ्	वरणे	णभ	हिंसायाम्	चूर्णं	} प्रक्षेपे
शृञ्	अतः	तुभ	विबंधने	पृथ	
शृ	} हिंसायाम्	किलशू	भोजने	संब	} संबंधे
कृ		अश	उंछे	मक्ष	
मृ	} पालनपूरणयोः	भस	आभीक्ष्ये	चुटि	} छेदने
पृ		इषू	विप्रयोगे	चुट	
वृ	वरणे	प्रुष	} स्नेहनसेचनसेवनपूरणेषु	छुट	} कुत्सने च
भृ	भर्त्सने	प्लुष		स्तेये	
दृ	भये	मुष	पुष्टौ	चुट्ट	} अल्पीभावे
नृ	नये	पुष	भूतप्रादुर्भावे	अट्ट	
जू	वयोहानौ	खच	एते मचंतः	शुट्ट	} अनादरे
जू	} गतौ	वृड्	संभक्तौ	श्वठ	
शृ		शब्दे	इति ५६ क्रयादयः श्नाविकरणाः	डित्	श्वठि
टृ	} एते मचन्तः	चुर	धवः	तुजि	
गृ		कंपने	लुंठ		पिजि
धूञ्	तर्पणे	चित्ति	स्तेये	पिश	} निकेतनेषु
प्रीञ्	अतौ	यन्नि	स्मरणे	सांत्व	
ज्या	हानौ	स्फुट	चूर्णसंकोचने	श्वल्क	} भाषणे
व्ली	वरणे	कुद्रि	परिहासे	वल्क	
प्ली	गतौ	लड	अनृतभाषणे	श्लिष	} श्लेषणे
री	रेषणे	मिदि	उपसेवायाम्	पथि	
ली	श्लेषणे	तिल	स्नेहने	पिच्च	} गतौ
वृत्	वृत्	स्निह		छुद	
व्री	वरणे			भ्रण	} कुट्टने
व्री	भये			तड	
					संवरणे
					दाने
					आघाते

खड	भेदे	घट्ट	चलने	अकं	स्तुतौ
खाडि		खट्ट	संवरणे	ईड	
कडि	विभाजने	व्यय	क्षये	रुष	रोषणे
वडि		मुस्त	संघाते	चर्च	अध्ययने
मडि	भूषायाम्	डयि		बुक्क	भाषणे
मडि	कल्याणे	डिपि		शब्द	सगिराविष्करणे
छर्दं	वमने	पिडि		कण	निमीलने
पुस्त	आदरानादरयोः	पूण	जभि	नाशने	
चुद	संचोदने	पुंस	अभिवर्द्धने	सूद	आश्रवणे
नक्क	नाशने	टकि	बंधने	जस	ताडने
धक्क		धूस	कांतिकरणे	पश	बंधने
णशि		कीट	वर्णने	अम	रोगे
चक्क	व्यथने	पूज	पूजने	चट	हंत्यर्थाः
चुक्क		शुठ	आलस्ये	स्फुट	
क्षल	शौचकर्मणि	शुठि	शोषणे	घट	मर्दने
तल	प्रतिष्ठाकरणे	मार्जं	शब्दे	दितु	
तुल	उन्माने	गर्जं		शब्दे	अर्जं
पुल	समुच्चये	घृ	स्ररणे	घुप	विशब्दे
स्तूल		रोहणे	पचि	विस्तारे	आङः
मूल	क्षेपे	तिज	निशाने	लस	शिल्पयोगे
डिप		क्षेपे	कृत	आख्याने	भूष
कल	रक्षणे	कुबि	छादने	मोक्ष	असने
विक		क्षेपे	खुबि	अर्हने	अर्ह
जसि	रक्षणे	तुबि	व्यक्तायां वाचि		ज्ञा
कुडि		हृप		यत	निकारोपस्कारयोः
पल	माने	प्रच	म्लेच्छने	निसश्च	प्रसङ्गे
शुल्व		प्रछ		भज	
शूर्प	संचूर्णने	शठ	हिंसायाम्	वस	स्नेहछेदापहरणेषु
मुट		शुठि		चर	संचये
वज	मार्गणसंस्कारयोः	जस	अभिकांक्षणे	च्यु	सहने
व्रज		रज		भू	भावकरणे
शुल्क	संजने	धूस	पूर्वनिकेतने	कृप	
छवि	गत्याम्	लुष		रक	
क्षपि	क्षांत्याम्	वर्हं	रज	विशेषणे	
क्षजि	कुच्छ्जीवने	गर्हं	अंच		चित्रकरणे
श्वर्त	गमने च :-	गुर्हं	लिगि		

मुद
त्रस
मुच
(आस्वदः सकर्मकात्)

पुष
दल
पट

पुट
छुट
छुजि
तुजि
पिजि
भजि
पिसि
कुसि
दसि
लसि
त्रसि
कुशि
घटि
वृहि
गुप
धूप
विच्छ
चीव
वह
वल्ह
पुथ
लोकृ
लेचृ
मद
श्रुप
तर्क
वृत्तु
पूर
त्वद

भाषार्थाः

आप्यायने
संवरणे

सूत्र
मूत्र
रुक्ष
बष्क
कच्छ
चित्र
अंस
मिश्र
छिद्र
अंध
दंड
अंक
अंग
पर्ण
वर्ण
कथ
वर
गण
शठ
श्वठ
पट
वट
मृष
रह
स्तन
गदी
पत
पष (अगिः)
स्वर
रच
कल
चह
मह
सर
कृप
भय

अवमोचने
प्रसवणे
पारुष्ये
दर्शने
शैथिल्ये
चित्रकरणे
कदाचिद्दर्शने च
समाघाते
संपर्चने
कर्णभेदे
दृष्ट्युपसंहारे
दण्डनिपाते
लक्षण्ये
पदलक्षण्ये च
हरितभावे
वर्णक्रियाविस्तार-
गुणवचनेषु
वदने
ईप्सायाम्
संख्याने
सम्यगवभाषणे
ग्रंथे
तितित्तायाम्
त्यागे
देवशब्दे
गतौ वा
" "
आक्षेपे
प्रतियत्ने
गतौ
परिकल्पने
पूजायाम्
शैथिल्ये

स्पृह
भाम
सूच
खेट
खोट
गोम
कुमार
शील
साम
वेल
पल्यूल
वास
गवेष
वास
निवास
भाज
सभाज
ऊन
कूट
केत
ग्राम
कुण
स्तेन
वत्रि
लजि
पार
तीर
स्तोम
सुख
दुःख
रस
व्यय
रूप
छेद
लाभ
व्रण

ईप्सायाम्
क्रोधे
पैशुन्ये
भक्षण्ये
क्षेपे
उपक्षेपे
क्रीडने
उपधारणे
सांत्वने
कालोपदेशे
लवनपवनयोः
गतिमुखसेवनयोः
मार्गणे
उपसेवायाम्
आच्छादने
पृथक्करणे
प्रीतिदर्शनयोः
परिहाने
दाहे
आमंत्रणे
चौर्ये
विभाजने
प्रकाशने
कर्मसमाप्तौ
श्लाघायाम्
तत्क्रियायाम्
आस्वादस्नेहयोः
वित्तसमुत्सर्गे
रूपक्रियायाम्
द्वैधीकरणे
प्रेरणे
गात्रविचूर्णने

पते मघंतः

पदै	गतौ	स्यम्यै	वितर्कणे	अथ	}	हिंसायाम्
ग्रहे	ग्रहणे	गुरै	उद्यमने	क्रथ		
मृगे	अन्वेषणे	कुस्मै	कुस्मृतौ	हिसि	}	बंधने च
कुहे	विस्मापने	समै	} आलोचने	प्रथ		
शूरे	} विक्रांतौ	लक्ष्मै		अवक्षेपे	चीक	}
वैरै		परिबृंहणे	कुस्मै	प्रतापने	शीक	
स्थूळ	वृत्	कुटे	आभंडने	आरूः सद	गतौ	
अर्थे	उपयाञ्जयाम्	भलौ	प्रलंभने	जुष	परितर्पणे	
सत्रे	संदानक्रियायाम्	वचै	शक्तिबंधने	अंथ	}	संदर्भे
गर्वे	माने	वृषै	तृप्ति योगे	ग्रंथ		
संप्रामै	युद्धे	मदै	परिकूजे	आसृ	लंभने	
चित्ते	संविचौ	मदै	ख्याननिवासेषु	तनु	अद्भोपहिंसायाम्	
छद्वै	संवरणे	विषै	स्तभे	गेः (गिपूर्वस्तनुः) दैर्घ्ये		
दंशौ	दशने	मनै	जुगुप्सायाम्	वच	संदेशवचने	
दशौ	दर्शने च	युक्	विज्ञापने	मान	पूजायाम्	
डंभै	} संघाते	गृह्	उदितः	गर्ह	विनिन्दने	
डिभै		लक्ष्ण्	दशनांकनयः	अदितः	मार्गं	अन्वेषणे
तजै	कुटुम्बधारणे	युजौ	अदितः	कठि	शोके	
मंत्रै	गुप्तभाषणे	पिच	अदितः	मुजू	शौचालंकारयोः	
स्पर्शौ	ग्रहणश्लेषणयोः	षह	संयमने	धृष	प्रसहने	
भर्त्सै	} संतर्जने	ईर	मर्षणे	मृपै	तितिक्षायाम्	
तजै		अर्द्धने	ली	क्षेपणे	तपै	दाहे
वृस्तै	} अर्द्धने	वृजी	द्रवीकरणे	वदै	भाषणे	
ग्रथै		हिंसायाम्	जू	वर्जने	अचै	पूजायाम्
किष्कै	परिमाणे	रिच	वयोहानौ	अर्द्धै	हिंसायाम्	
निष्कै	ईप्सायाम्	शिष	वियोजनसंपर्चनयोः	शुंदै	शोधने	
चलै	संकोचने	विपूर्वौ (वि-शिष)	असर्वोपयोगे		पेदितः	
कूणौ	पूरणे	तृप	प्रिणने	वृज्	वरणे	
तूणौ	आशायाम्	छृद्	संदीपने	धूज्	कंपने	
भूणौ	श्लघायाम्	छृद्	अप्रवारणे	प्रीज्	तर्पणे	
शठै	पूजायाम्	दृभी	भये	प्रीज्		
यत्नै		मी	गतौ		अदितः	

इति १५१ चुरादयो धवः समाप्ताः ।

पाठप्रयोजनमनिषिवमनिह्विकल्पे द्वेष्यप्रभृत्तरिभ्योनिह्ववागनैश्च ।

दोनत्वमिह्विकलता च यथाक्रमेण धूनां सुधीभिरधिगम्यमितां स्वरायाम् (?) ॥

पादाभ्यो जानमन्मानवपतिमकुटानर्घ्यमागिष्यतारानीकासंसेदिताद्यद्युल्लिखितनखानीकशीतांशुभिः ।

दुर्बाराण्यथायाम्बुरुहहिमकरोद्भवस्तमिध्यान्धकारः शब्दग्रहा स जीवाद् गुणविधिगुणान्दिब्रतीशस्सुसौख्यः ॥

भारतीय ज्ञानपीठ के सांस्कृतिक प्रकाशन

[प्राकृत, संस्कृत ग्रन्थ]

१. महाबन्ध [महाधवल सिद्धान्त शास्त्र] [भाग १-५] हिन्दी अनुवाद सहित	५६)
२. करलक्ष्ण [सामुद्रिक शास्त्र]—इस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ	॥१॥
३. मदनपराजय—भाषानुवाद तथा ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना	८)
४. कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची—	१३)
५. न्यायविनिश्चय विवरण [भाग १-२]	३०)
६. तत्त्वार्थवृत्ति—श्रुतसागर सूरिरचित टीका । हिन्दी सार सहित	१६)
७. आदिपुराण भाग [१]—भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र	१०)
८. आदिपुराण भाग [२]—भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र	१०)
९. उत्तर पुराण [२३ तीर्थंकरों का पुण्य चरित्र]	१०)
१०. नाममाला सभाष्य—	३॥१॥
११. केवलज्ञानप्रश्नचूडमणि—ज्योतिष ग्रन्थ	४)
✓ १२. सभाष्यरत्नमंजूषा—छन्दशास्त्र	२)
१३. वसुनन्दि-श्रावकाचार	५)
१४. जिनसहस्रनाम	४)
१५. समयसार—[अंग्रेजी]	८)
१६. कुरलकाव्य—तामिल भाषाटीका पञ्चमवेद [तामिल लिपि]	५)
१७. तत्त्वार्थराजवार्तिक [भाग १-२]	२४)

[हिन्दी जैन ग्रन्थ]

१८. पुराणसार-संग्रह [भाग १-२]	४)
१९. व्रततिथिनिर्णय	३)
२०. मुक्तिदूत [उपन्यास]—श्रद्धा पवनश्रद्धाकी पुण्यगाथा	५)
२१. भारतीय विचार धारा—	२)
२२. धर्द्धमान [महाकाव्य]	६)
२३. जैन-जागरणके अग्रदूत	६)
२४. आधुनिक जैन कवि	३॥१॥
२५. जैनशासन—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करानेवाली सुन्दर रचना	३)
२६. कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न—	२)
२७. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास	२॥१॥
२८. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन [भाग १-२]	५)
२९. धर्मशर्माभ्युदय	३)
३०. खराडहरोंका वैभव	६)
३१. खोजकी पगडंडियाँ	४)
३२. अध्यात्म-पदावली	४॥१॥
३३. चौलुक्य कुमारपाल	४)

